ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक–४६

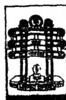
पण्डितप्रवर आशाधर विरचित

धर्मामृत (अनगार)

['ज्ञानदीपिका' संस्कृत पञ्जिका तथा हिन्दी टीका सहित]

सम्पादन-अनुवाद

सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २५०३ : वि० संवत् २०३४ : सन् १९७७

प्रथम संस्करण : मूल्य तीस रुपये

स्व. पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें
श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक
सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन

•

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय : बी/४५-४७, कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१
मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२२१००१

•

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७०, विक्रम सं० २०००, १८ फरवरी १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ : स्थापना 1944



मूल प्रेरणा
स्वर्गीया श्रीमती मूर्तिदेवी जी
मातुश्री श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन



अधिष्ठात्री
स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन
धर्मपत्नी श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ GRANTHAMĀLĀ : Sanskrit Grantha No. 46

DHARMĀMṚTA (ANAGĀRA)

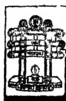
of

PT. ĀŚĀDHARA

Edited with a Jñānadīpikā Sanskrit Commentary & Hindī Translation

by

Pt KAILASH CHANDRA SHASTRI, Siddhantacharya



BHARATIYA JNANPITH PUBLICATION

VĪRA NIRVĀṆ SAMVATA 2503 : V. SAMVATA 2034 : A D 1977
First Edition : Price Rs 30/-

BHARATIYA JNANAPIṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MURTIDEVI

AND

PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE

LATE SHRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL PURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRITS, SANSKRIT, APABHRAMŚA, HINDI, KANNAḌA, TAMIL, ETC, ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAINA-BHANDĀRAS, INSCRIPTIONS, ART AND ARCHITECTURE STUDIES BY COMPETENT SCHOLARS AND POPULAR JAINA LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.



General Editors

Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Dr. Jyoti Prasad Jain



Published by

Bharatiya Jnanpith

Head Office B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001



Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam 2470, Vikrama Sam 2000, 18th Feb, 1944

प्रधान सम्पादकीय

दिगम्बर जैन परम्पराके साधुवर्ग और श्रावक वर्गमें जिस आचार धर्मका पालन किया जाता है उसके लिए आचार्यकल्प पं आशाधरका धर्मामृत एक विद्वत्तापूर्ण कृति है। विद्वान् ग्रन्थकारने प्रकृत विषयसे सम्बद्ध पूर्ववर्ती साहित्यका गम्भीरतासे अध्ययन किया था। उन्होंने अपने इस ग्रन्थमें उसको बहुत ही प्रामाणिक और सुव्यवस्थित रीतिसे उपस्थित किया है। यह ग्रन्थ दो भागोंमें विभाजित है—प्रथम भागका नाम 'अनगार धर्मामृत' है और दूसरे भागका नाम 'सागार धर्मामृत'। ग्रन्थकारने स्वयं ही अपने इस ग्रन्थपर संस्कृतमें ही एक टीका और एक पंजिका रची थी। टीकाका नाम 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' और पंजिकाका नाम 'ज्ञानदीपिका' है। टीका और पंजिका दोनोकी एक विशेषता यह है कि ये केवल श्लोकोंकी व्याख्यामात्र नही करती, अपितु उनमें आगत विषयोंको विशेष रूपसे स्पष्ट करनेके लिए और उससे सम्बद्ध अन्य आवश्यक जानकारी देनेके लिए ग्रन्थान्तरोसे भी उद्धरण देते हुए उसपर समुचित प्रकाश भी डालती हैं। इस तरह मूलग्रन्थसे भी अधिक उसकी इन टीकाओंका महत्त्व है।

भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाके साथ अनगार धर्मामृत और सागार धर्मामृतका प्रकाशन श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बईसे हुआ है। किन्तु ज्ञानदीपिका एक तरहसे अनुपलब्ध थी। भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके विद्वान् सम्पादक डॉ. ए. एन. उपाध्ये उसकी खोजमें थे और वह प्राप्त हो गयी। उन्होने ही सन् १९६३ मे यह योजना रखी कि भारतीय ज्ञानपीठसे धर्मामृतका एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो जिसमें—

(१) धर्मामृतके दोनो भाग एक ही जिल्दमें हो, क्योकि तबतक दोनों भाग पृथक्-पृथक् ही प्रकाशित हुए थे।

(२) सस्कृत मूल ग्रन्थ शुद्ध और प्रामाणिक पाठके रूपमें दिया जाये। यदि कुछ प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हो सकें तो उनका उपयोग किया जाये।

(३) प्रथम, श्लोकका शब्दशः अनुवाद रहे। उसके पश्चात् विशेषार्थ रहे जिसमें संस्कृत टीकामें चर्चित विषयोंको व्यवस्थित रीतिसे संक्षेपमे दिया जाये। साथ ही, जहाँ आशाधरका अपने पूर्व ग्रन्थकारोके साथ मतभेद हो वहाँ उसे स्पष्ट किया जाये। विशेष अध्येताओके लिए उसमें आवश्यक सूचनाएँ भी रहे।

(४) यदि ज्ञानदीपिकाकी पूर्ण प्रति प्राप्त हो तो उसे परिशिष्टके रूपमे दिया जाये।

सारांश यह कि संस्करण सम्पूर्ण जैनाचारको जाननेके लिए अधिकाधिक उपयोगी हो, आदि।

डॉ उपाध्येकी इसी योजनाके अनुसार धर्मामृतका यह संस्करण प्रकाशित हो रहा है। किन्तु हमे खेद है कि हम धर्मामृतके दोनों भागोंको एक जिल्दके रूपमें प्रकाशित नही कर सके, क्योकि ग्रन्थका कलेवर अधिक बृहत्काय हो जाता। अतः हमें भी उसे दो भागोंमें ही प्रकाशित करना पडा है। प्रथम भाग अनगार धर्मामृत है।

पं. आशाधरने गृहत्यागी साधुके लिए अनगार और गृहस्थ श्रावकके लिए सागार शब्दका प्रयोग किया है। ये दोनों शब्द पूर्वाचार्य सम्मत हैं। आगम ग्रन्थोंमें जैन साधुके लिए अणगार शब्द प्रयुक्त हुआ है। तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतीके दो भेद किये हैं—अगारी और अनगार (अगार्यनगारश्च ७।१९)। जो गृहवास

करता है वह अगारी है और जिसके घरबार नहीं है वह अनगार है। तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें इसपर शंका की गयी है कि इस व्याख्याके अनुसार तो विपरीतता भी प्राप्त हो सकती है। कोई साधु किसी शून्य घर या देवालयमें ठहरा हो तो वह अगारी कहलायेगा और किसी घरेलू परिस्थितिके कारण कोई गृहस्थ घर त्यागकर वनमें जा बसे तो वह अनगार कहलायेगा। इसके उत्तरमें कहा गया है कि यहाँ अगारसे भावागार लिया गया है। मोहवश घरसे जिसका परिणाम नहीं हटा है वह वनमें रहते हुए भी अगारी है और जिसका परिणाम हट गया है वह शून्यगृह आदिमें ठहरनेपर भी अनगार है। उसी अनगारके धर्मका वर्णन अनगार धर्मामृतमें है।

अनगार पाँच महाव्रतोंका पालक होता है। वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका पूर्ण रूपसे पालन करता है। दिगम्बर परम्पराके अनगार अपने पास केवल दो उपकरण रखते हैं—एक जीव रक्षाके लिए मयूरके परोंसे निर्मित पिच्छिका और दूसरा शौचादिके लिए कमण्डलु। शरीरसे बिलकुल नग्न रहते हैं और श्रावकके घरपर ही दिनमें एक बार खड़े होकर हाथोंकी अंजुलिको पात्रका रूप देकर भोजन करते हैं। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके अनगार पाँच महाव्रतोंका पालन करते हुए भी वस्त्र, पात्र रखते हैं। अनगारोंकी इस प्रवृत्ति भेदके कारण ही जैन सम्प्रदाय दो भागोंमें विभाजित हो गया और वे विभाग दिगम्बर और श्वेताम्बर कहलाये।

वैसे दोनों ही परम्पराओंके अनगारोंके अन्य नियमादि प्रायः समान ही हैं। किन्तु दिगम्बर अनगारों की चर्या बहुत कठोर है और शरीरसे भी निस्पृह व्यक्ति ही उसका पालन कर सकता है। जैन अनगारका वर्णन करते हुए कहा है—

येषां भूषणमङ्गसंगतरजः स्थानं शिलायास्तलं
शय्या शर्करिला मही सुविहिता गेहं गुहा द्वीपिनाम्।
आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थयः
ते नो ज्ञानधना मनांसि पुनतां मुक्तिस्पृहा निस्पृहाः ॥ आत्मानु. २५९।

अर्थात् शरीरमें लगी धूलि ही जिनका भूषण है, स्थान शिलातल है, शय्या कंकरीली भूमि है, प्राकृत रूपसे निर्मित सिंहोंकी गुफा जिनका घर है, जो मैं और मेरे की विकल्प बुद्धिसे अर्थात् ममत्वभावसे रहित हैं, जिनकी अज्ञानरूपी गाँठ खुल गयी है, जो केवल मुक्तिकी ही स्पृहा रखते हैं अन्यत्र सर्वत्र निस्पृह हैं, वे ज्ञानरूप धनसे सम्पन्न मुनीश्वर हमारे मनको पवित्र करें।

भर्तृहरिने भी अपने वैराग्य शतकमें उनका गुणगान करते हुए कहा है—

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ॥
येषां निःसंगताङ्गीकरणपरिणतस्वान्तसंतोषिणस्ते
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥ —वैराग्यशतक, ९९।

अर्थात् हाथ ही जिनका पवित्र पात्र है, भ्रमणसे प्राप्त भिक्षा अविनाशी भोजन है, दस दिशाएँ ही विस्तीर्ण वस्त्र हैं, महान् निश्चल भूमि ही शय्या है, निःसंगताको स्वीकार करनेसे परिपक्व हुए मनसे सन्तुष्ट तथा समस्त दीनताको दूर भगानेवाले वे सौभाग्यशाली कर्मोंका विनाश करते हैं।

कर्मबन्धनके विनाशके बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती और कर्मबन्धनका विनाश कर्मबन्धनके कारणोंसे बचाव हुए बिना नहीं होता। इसीसे मुक्तिके लिए कठोर मार्ग अपनाना होता है। व्रत, तप, संयम ये सब मनुष्यकी वैषयिक प्रवृत्तिको नियन्त्रित करनेके लिए हैं। इनके बिना आत्मसाधना सम्भव नहीं है जबकि आत्मसाधना करनेका नाम ही साधुता है। इसका मतलब यह नहीं है कि शरीरको कष्ट देनेसे ही मुक्ति

मिलती है। सच तो यह है कि आत्मज्ञानके बिना बाह्य साधनोंकी कोई उपयोगिता नहीं है। आत्मरति होनेपर शारीरिक कष्टका अनुभव ही नहीं होता।

वस्तुत: इस देशमें प्रवृत्ति और निवृत्तिकी दो परम्पराएँ अतिप्राचीन कालसे ही प्रचलित रही हैं। ऋग्वेदके दशम मण्डलके १३५वें सूक्तके कर्ता सात वातरशना मुनि थे। वातरशनाका वही अर्थ है जो दिगम्बरका है। वायु जिनकी मेखला है अथवा दिशाएँ जिनका वस्त्र है, दोनों शब्द एक ही भावके सूचक हैं।

भगवान् ऋषभदेव प्रथम जैन तीर्थंकर थे। जैन कलामें उनका अंकन घोर तपश्चर्याके रूपमें मिलता है। इनका चरित श्रीमद्भागवतमें भी विस्तारसे आता है। सिन्धुघाटीसे भी दो नग्न मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से एक कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित पुरुषमूर्ति है। इसकी नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्राके आधारपर कतिपय विद्वान् इसे ऐसी मूर्ति मानते हैं जिसका सम्बन्ध किसी जैन तीर्थंकरसे होना चाहिए।

जैन अनगारका भी यही रूप होता है। उसीके आचारका वर्णन इस अनगार धर्मामृतमें है। इससे पूर्व अनगार धर्मका वर्णन प्राकृतके मूलाचार ग्रन्थमें भी है। किन्तु संस्कृतमें यह इस विषयकी प्रथम प्रामाणिक कृति है। पं. आशाधर साधु नहीं थे, गृहस्थ थे। पर थे बहुश्रुत विद्वान्। उनकी टीकाओंमें सैकड़ों ग्रन्थोंसे प्रमाण रूपमें उद्धृत पद्य हजारसे भी अधिक हैं।

इस संस्करणमें केवल 'अनगार धर्मामृत' ज्ञानदीपिका पंजिका सहित सानुवाद दिया गया है। विशेषार्थमें भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक टीकाका हिन्दी सार भी समाहित कर लिया गया है, मूल टीका नहीं दी गयी है क्योंकि वह अन्यत्र कई स्थानोंसे प्रकाशित हो चुकी है। फिर इस ज्ञानदीपिका पंजिकाको प्रकाशमें लाना ही इस संस्करणका मुख्य उद्देश्य है। 'सागार धर्मामृत' दूसरे भागमें प्रकाशित होगा। उसका मुद्रणकार्य चालू है।

साहू शान्तिप्रसादजीने भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना करके मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राचीन प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं कन्नड जैन साहित्यके प्रकाशन द्वारा जैन वाङ्मयके उद्धारका जो सत्कार्य किया है उसके लिए प्राचीन वाङ्मयके प्रेमी सदा उनके कृतज्ञ रहेंगे। ज्ञानपीठकी अध्यक्षा श्रीमती रमारानीके स्वर्गवास हो जानेसे एक बहुत बड़ी क्षति पहुँची है। किन्तु साहूजीने उनके इस भारको भी वहन करके ज्ञानपीठकी उस क्षतिकी पूर्ति की है यह प्रसन्नताकी बात है।

ज्ञानपीठके मन्त्री बा. लक्ष्मीचन्द्रजी इस अवस्थामें भी उसी लगनसे ज्ञानपीठके प्रकाशन कार्यको बराबर प्रगति दे रहे हैं। डॉ. गुलाबचन्द्रजी भी इस दिशामें जागरूक हैं। उक्त सभीके प्रति हम अपना आभार प्रदर्शन करते हुए अपने सहयोगी स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्येको अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री
—ज्योतिप्रसाद जैन

प्रस्तावना

१. सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका परिचय

प आशाधर रचित धर्मामृतके दो भाग हैं—अनगार धर्मामृत और सागार धर्मामृत। दोनों भागोंकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी पृथक्-पृथक् ही पायी जाती हैं। तदनुसार इनका प्रकाशन भी पृथक्-पृथक् ही हुआ है। सबसे प्रथम भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक स्वोपज्ञ टीकाके साथ सागार धर्मामृतका प्रकाशन श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे उसके दूसरे पुष्पके रूपमें स. १९७२मे हुआ। पश्चात् उसी ग्रन्थमालासे स्वोपज्ञ टीकाके साथ अनगार धर्मामृतका प्रकाशन उसके चौदहवें पुष्पके रूपमे सं. १९७६ में हुआ। आगे इन दोनोंके जो प्रकाशन हिन्दी अनुवाद या मराठी अनुवादके साथ हुए उनका आधार उक्त संस्करण ही रहे। दोनो ही मूल सस्करण प्राय. शुद्ध हैं। क्वचित् ही उनमें अशुद्धियाँ पायी गयी। साथमे खण्डान्वयके रूपमें टीका होने से भी मूल श्लोकोका सशोधन करनेमें सरलता होती है। फिर भी हमने महावीर भवन जयपुरके शास्त्र भण्डारसे अनगार धर्मामृतकी एक हस्तलिखित प्राचीन प्रति प्राप्त की। उसमें मूल श्लोकोके साथ उसकी भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका भी है। उसके आधारसे भी श्लोकोके मूल पाठका संशोधन किया गया।

वह प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुरकी है। इसकी वेष्टन सख्या १३६ है। पृष्ठ सख्या ३४४ है। किन्तु अन्तिम पत्रपर ३४५ अक लिखा है। प्रत्येक पृष्ठमें ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमे ५०से ६० तक अक्षर पाये जाते है। लेखन आधुनिक है। मुद्रित प्रतिके बिलकुल एकरूप है। मिलान करनेपर क्वचित् ही अशुद्धि मुद्रित प्रतिमे मिली। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे इसी या इसीके समान किसी अन्य शुद्ध प्रतिके आधारपर अनगार धर्मामृतके प्रथम संस्करणका शोधन हुआ है। अपने निवेदनमे सशोधक प. मनोहर लालजी-ने इतना ही लिखा है कि इसका सशोधन प्राचीन दो प्रतियोसे किया गया है जो प्राय. शुद्ध थी।

प्रतिकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि ग्वालियरमे सं १५४६मे कर्णाटक लिपिसे यह प्रति परिवर्तित की गयी है। तथा जिस कर्णाटक प्रतिसे यह परिवर्तित की गयी उसका लेखनकाल शक संवत् १२८३ अर्थात् वि. सं १४१८ है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

स्वस्ति श्रीमतु शक वर्षे १२८३ प्लव संवत्सरद मार्गसि शुद्ध १४ भानुवार दलु श्रीमतु राय राजगुरु-मण्डलाचार्यवं कुडोकडियाणरूप णरघर विक्रमादित्यसम ध्यानकल्पवृक्षरुं सेनगणाग्रगण्यरुं श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक प्रियगुड्डुकव्वेपनीति सेट्टीयमगपायणनु श्रीकाणूर्गणाग्रगण्य क. कवन्द पण्डित देवरप्रियाग्रशिष्यरु सकलगुणसंपन-रप्य श्री भानुमुनिगलियो केवलज्ञान स्वरूप धर्मनिमित्तधाति आशाधरकृत धर्मामृत महाशास्त्रमंबरसिकोष्नु मंगलमाह।

श्री गोपाचलमहादुर्गे राजाधिराजमानसिंघराज्यप्रवर्तमाने संवत् १५४६ वर्षे आषाढ़ सुदी १० सोमदिने इदं पुस्तकं कर्णाटलिपेन उद्धरितं कायस्थठाणे सर्मसुत डाउधू। शुभमस्तु।

अनगार धर्मामृत पंजिकाकी केवल एक ही प्रति पं. रामचन्द्रजी जैन श्री भट्टारक यशःकीर्ति दि. जैन धर्मार्थ ट्रस्ट ऋषभदेव (उदयपुर) से प्राप्त हुई थी। इसकी पत्र संख्या १२७ है। किन्तु १२वाँ पत्र नही है। प्रत्येक पत्रमें १४ पंक्ति और प्रत्येक पंक्तिमें ४२से ४९ तक अक्षर हैं। लेख स्पष्ट है किन्तु अशुद्ध है। मात्राएँ बराबरमें भी है और ऊपर-नीचे भी। संयुक्त अक्षरोको लिखनेका एक क्रम नही है। प्रायः संयुक्त अक्षर

विचित्र ढंगसे लिखे गये हैं। त को न और न को त तो प्राय. लिखा है। इसी तरह य को भी गलत ढंगसे लिखा है। च और व की भी ऐसी ही स्थिति है। अन्तिम लिपि प्रशस्ति इस प्रकार है—

नागद्राधीराल्लिखितम् ॥ संवत् १५४१ वर्षे माहा वदि ३ सोमे अद्येह श्रीगिरिपुरे राउ श्रीगंगदाव्यनिय राज्ये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगणे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ. श्रीसुकलकीर्तिदेवा त. भ. श्रीभुवनकीर्ति देवा त. भ श्रीज्ञानभूषण स्वगुरु भगिनी क्षातिका गौतमश्री पठनार्थम् ॥ शुभ भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥

१. धर्म

२. धर्मका अर्थ

वैदिक साहित्यमें धर्म शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। अथर्व वेदमें (९-९-१७) धार्मिक क्रिया संस्कारसे अर्जित गुणके अर्थमें धर्म शब्दका प्रयोग हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मणमें सकल धार्मिक कर्तव्योंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् (२।२३) में धर्मकी तीन शाखाएँ मानी हैं—यज्ञ अध्ययन दान, तपस्या और ब्रह्मचारित्व। यहाँ धर्म शब्द आश्रमोंके विलक्षण कर्तव्यकी ओर संकेत करता है। तन्त्रवार्तिकके अनुसार धर्मशास्त्रोंका कार्य है वर्णों और आश्रमोंके धर्मकी शिक्षा देना। मनुस्मृतिके व्याख्याता मेधातिथिके अनुसार स्मृतिकारोंने धर्मके पाँच स्वरूप माने हैं—१ वर्णधर्म, २. आश्रमधर्म, ३. वर्णाश्रमधर्म, ४. नैमित्तिकधर्म यथा प्रायश्चित्त, तथा ५. गुणधर्म अर्थात् अभिषिक्त राजाके कर्तव्य। डॉ काणेने अपने धर्मशास्त्रके इतिहासमें धर्म शब्दका यही अर्थ लिया है।

पूर्वमीमांसा सूत्रमें जैमिनिने धर्मको वेदविहित प्रेरक लक्षणोंके अर्थमें स्वीकार किया है। अर्थात् वेदोंमें निर्दिष्ट अनुशासनोंके अनुसार चलना ही धर्म है। वैशेषिक सूत्रकारने उसे ही धर्म कहा है जिससे अभ्युदय और निश्रेयसकी प्राप्ति हो। महाभारतके अनुशासन पर्वमें (११५-१) अहिंसाको परम धर्म कहा है। और वनपर्व (३७३–७६) में आनृशंस्यको परम धर्म कहा है। मनुस्मृतिमें (१-१०८) आचारको परम धर्म कहा है। इसी तरह बौद्ध धर्म साहित्यमें भी धर्म शब्द कई अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं इसे भगवान् बुद्धकी सम्पूर्ण शिक्षाका द्योतक माना है। जैन परम्परामें भी धर्म शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। किन्तु उसकी अनेकार्थता वैदिक साहित्य-जैसी नहीं है।

धर्मका प्राचीनतम लक्षण आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारमें मिलता है 'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र ही धर्म है। यह मनुस्मृतिके 'आचार परमो धर्म' से मिलता हुआ है। किन्तु मनुस्मृतिके आचाररूप परम धर्ममें और कुन्दकुन्दके चारित्रमें बहुत अन्तर है। आचार केवल क्रियाकाण्डरूप है किन्तु चारित्र उसकी निवृत्तिसे प्रतिफलित आन्तरिक प्रवृत्तिरूप है। इसका कथन आगे किया जायेगा।

धर्म शब्द संस्कृतकी 'धृ' धातुसे निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है 'धरना'। इसीसे कहा है 'धारणाद् धर्ममित्याहुः'। धारण करनेसे धर्म कहते हैं। अर्थात् जो धारण किया जाता है वह धर्म है। किन्तु आचार्य समन्तभद्रने 'जो धरता है वह धर्म है' ऐसा कहा है। जैसे किसी वस्तुको एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानपर धरना। उसी तरह जो जीवोंको संसारके दु.खोंसे छुडाकर उत्तम सुखमें धरता है वह धर्म है। इसमें धारणवाली बात भी आ जाती है। जब कोई धर्मको धारण करेगा तभी तो वह उसे संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धरेगा। यदि कोई धर्मको धारण ही नहीं करेगा तो वह उसे संसारके दु खोंसे छुडाकर उत्तम सुखमें धरेगा कैसे ? क्योंकि उत्तम सुखको प्राप्त करनेके लिए संसारके दु.खोंसे छुटकारा आवश्यक है। और संसारके दु.खोंसे छूटनेके लिए उन दु.खोंके कारणोंसे छूटना आवश्यक है। अत. जो संसारके दुःखोंके कारणों-को मिटानेमें समर्थ है वही धर्म है।

संसारके दु.खोंका कारण है कर्मोंका बन्धन। जो जीवकी अपनी ही गलतीका परिणाम है। वह कर्म-बन्धन जिससे कटे वही धर्म है। वह कर्मबन्धन कटता है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे।

अतः वही धर्म है। यही बात आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके प्रारम्भमें कही[1] है कि मैं कर्मबन्धनको मेटनेवाले उस समीचीन धर्मका उपदेश करता हूँ जो संसारके दुःखोंसे छुडाकर जीवोको उत्तम सुखमें धरता है। वह धर्म है सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र संसारके मार्ग हैं। अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही जीवोके सासारिक दुःखोंके कारण है। यदि इनसे मिथ्यापना दूर होकर सम्यक्पना आ जाये तो संसारके दुःखोसे छुटकारा हो जाये। आचार्य कुन्दकुन्दने केवल चारित्रको धर्म कहा है। और आचार्य समन्तभद्रने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है। किन्तु इन दोनों कथनोमें कोई विरोध नही है क्योकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना सम्यक्चारित्र नही होता। अतः सम्यक्चारित्रमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान गर्भित हो हैं। किन्तु इसका यह मतलब नही है कि कोई चारित्र धारण करे तो उसके चारित्र धारण कर लेनेसे ही उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जायेगी। ऐसा तीन कालमे सम्भव नही है। धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे होता है क्योकि जिन आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्रको धर्म कहा है उन्होने ही सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल कहा है। और यही बात आचार्य [2]समन्तभद्रने कही है कि जैसे बीजके अभावमें वृक्ष नही होता—उसकी उत्पत्ति, वृद्धि और फलोदय नही होता, वैसे ही सम्यग्दर्शनके अभावमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय नही होते। इसीसे उन्होने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके पश्चात् चारित्र धारण करनेकी बात [3]कही है। यही बात आचार्य [4]अमृतचन्द्रने कही है। समस्त जिनशासन इस विषयमे एकमत है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना सम्यक्चारित्र नही होता। इन तीनोकी सम्पूर्णतासे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता होनेपर भी सम्यक्चारित्रकी पूर्णता न होनेसे मोक्ष नही होता, उसकी पूर्णता हानेपर ही मोक्ष होता है। अतः यद्यपि चारित्र ही धर्म है। किन्तु चारित्र सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञानके साथ जो चारित्र होता है वह सम्यक् है और वही धर्म है।

धर्म शब्दका व्यवहार स्वभावके अर्थमे भी होता है। जैसे अग्निका धर्म उष्णता है। या जीवका धर्म ज्ञानदर्शन है। कोशोमें धर्मका अर्थ स्वभाव कहा है। अतः वस्तुके स्वभावको भी धर्म कहा है। वैदिक धर्मके साहित्यमें हमने धर्म शब्दका व्यवहार स्वभावके अर्थमें नही देखा। किन्तु जैनधार्मिक साहित्यमे वस्तु स्वभावको धर्म कहा है। अर्थात् जैसे चारित्रको धर्म कहा है वैसे ही वस्तु-स्वभावको भी धर्म कहा है। जैसे जीवका चारित्र धर्म है वैसे ही उसका वास्तविक स्वभाव भी धर्म है। उदाहरणके लिए जिस स्वर्णमें मैल होता है वह मलिन होता है। मलिनता स्वर्णका स्वभाव नही है वह तो आगन्तुक है, सोनेमे ताम्बा, राँगा आदिके मेलसे आयी है। स्वर्णका स्वभाव तो पीतता आदि है। उसे उसके स्वभावमे लानेके लिए स्वर्णकार सोनेको तपाकर शुद्ध करता है तो सोना शुद्ध होनेपर चमक उठता है और इस तरह अपने स्वभावको प्राप्त करता है। इसी तरह जीव संसारमें अपनी प्रवृत्तियोंके कारण कर्मबन्धनसे मलिन है। उसके सब स्वाभाविक गुण

---

१. देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
ससारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति. ॥३॥

२. विद्यावृत्तस्य सम्भूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥—र. श्रा. ३२।

३. मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ —र. श्रा. ४७।

४. विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निष्प्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥ —पुरुषार्थ. ३७४।

मलिन हो रहे हैं। वह चारित्ररूप धर्मको धारण करके जब निर्मल होता है तो उसके सभी स्वाभाविक गुण शुद्ध स्वर्णके समान चमक उठते हैं। उसका यह अपने स्वभावको प्राप्त कर लेना ही वास्तवमें धर्म है जो उसमें सदाकाल रहनेवाला है। अतः धर्मका वास्तविक अर्थ वस्तुस्वभाव है। उसीकी प्राप्तिके लिए चारित्ररूप धर्मको धारण किया जाता है। इसीसे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें धर्मके लक्षणोंका संग्रह करते हुए उसे प्रथम स्थान दिया है। यथा—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाण रक्खणं धम्मो ॥४७८॥

वस्तुका स्वभाव धर्म है। उत्तम क्षमादिरूप भाव दस भेदरूप धर्म है। रत्नत्रय धर्म है और जीवोंकी रक्षा करना धर्म है। इन चारोंमें धर्मके सब जिनागमसम्मत अर्थोंका समावेश हो जाता है। जिनागममें धर्मका अर्थ, वस्तुस्वभाव, उत्तम क्षमा आदि दस धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय और अहिंसा अभीष्ट है।

३. धर्म अमृत है

अमृतके विषयमें ऐसी किंवदन्ती है कि वह अमरता प्रदान करता है। अमृतका अर्थ भी अमरतासे सम्बद्ध है। अमृत नामकी कोई ऐसी वस्तु कभी थी जिसके सेवनसे अमरता प्राप्त होती थी, यह तो सन्दिग्ध है। क्योंकि संसारकी चार गतियोंमें अमरताका अभाव है। देवोंका एक नाम अमर भी है। किन्तु देव भी सदा अमर नहीं हैं। यतः मनुष्य मरणधर्मा हैं अतः प्राचीन कालसे ही उसे अमरत्व प्राप्तिकी जिज्ञासा रही है।

कठोपनिषद्में एक उपाख्यान है। नचिकेता नामका एक बालक मृत्युके देवता यमराजसे जिज्ञासा करता है कि मरे हुए मनुष्यके विषयमें कोई तो कहते हैं कि वह रहता है और कोई कहते हैं 'नहीं रहता' अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे अतिरिक्त आत्मा है या नहीं? यह बतलावें। यमराज नचिकेताको संसारके भोगोंका प्रलोभन देकर उसे अपनी जिज्ञासासे विरत करते हैं। किन्तु नचिकेता उत्तर देता है—हे यमराज! ये भोग तो 'कल रहेंगे या नहीं' इस प्रकारके हैं। ये इन्द्रियोंके तेजको क्षीण करनेवाले हैं। यह जीवन तो बहुत थोड़ा है। आपके भोग आपके ही पास रहें उनकी मुझे आवश्यकता नहीं है। हे यमराज, जिसके सम्बन्धमें लोग 'है या नहीं' यह सन्देह करते हैं उसे ही कहिए।

इस तरह विवेकशील मनुष्य इस मरणधर्मा जीवनके रहस्यको जाननेके लिए उत्कण्ठित रहे हैं और उन्होंने अपने अनुभवोंके आधारपर लोक और परलोकके विषयमें अनुसन्धान किये हैं और उनके उन अनुसन्धानोंका फल ही धर्म है। किन्तु धर्मके रूपमें विविधताने मनुष्यको सन्देहमें डाल दिया है। यद्यपि इस विषयमें अनुसन्धान करनेवाले परलोकके अस्तित्व और आत्माके अमरत्वके विषयमें प्रायः एकमत हैं, केवल एक चार्वाक दर्शन ही परलोक और परलोकीको नहीं मानता। शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूपमें उन्हें स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि अमुक मार्गका अवलम्बन करनेसे आत्मा जन्ममरणके चक्रसे छुटकारा पाकर शाश्वत दशाको प्राप्त करता है। वह मार्ग ही धर्म कहा जाता है। और चूँकि उस धर्मके आचरणसे अमरत्व प्राप्त होता है अतः धर्म अमृत कहा जाता है उसे पीकर प्राणी सचमुचमें अमर हो जाता है। यह प्रत्येक अनुसन्धाता या धर्मके आविष्कर्ताका विश्वास है। किन्तु धर्मके स्वरूपमें तो विवाद है ही। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है' की उत्थानिकामें भट्टाकलंकदेवने जो कथन किया है उसे यहाँ देना उचित होगा। वह कहते हैं कि यह तो प्रसिद्ध है कि एक जानने-देखनेवाला आत्मा है और वह अपने कल्याणमें लगना चाहता है अतः उसे कल्याण या मोक्षके मार्गको जाननेकी इच्छा उत्पन्न होती है। दूसरी बात यह है कि संसारी पुरुषके सब पुरुषार्थोंमें मोक्ष प्रधान है। और

प्रधान के लिए किया गया यत्न फलवाला होता है अतः मोक्षमार्गका उपदेश करना चाहिए क्योंकि उसीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

शंका—सर्वप्रथम मोक्षका उपदेश ही करना चाहिए, मार्गका नहीं। क्योंकि सब पुरुषार्थोंमें मोक्ष प्रधान है वही परम कल्याणरूप है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मोक्षके इच्छुक जिज्ञासुने मार्ग ही पूछा है मोक्ष नहीं। अत. उसके प्रश्नके अनुरूप ही शास्त्रकारको उत्तर देना आवश्यक है।

शंका—पूछनेवालेने मोक्षके सम्बन्धमें जिज्ञासा क्यों नहीं की, मार्गके सम्बन्धमें ही क्यों जिज्ञासा की ?

समाधान—क्योंकि सभी आस्तिक मोक्षके अस्तित्वमें आस्था रखते हैं। किन्तु उसके कारणोमें विवाद है। जैसे पाटलीपुत्र जानेके इच्छुक मनुष्योंमें पाटलीपुत्रको जानेवाले मार्गमें विवाद हो सकता है, पाटलीपुत्रके विषयमें नहीं। उसी तरह सब आस्तिक मोक्षको स्वीकार करके भी उसके कारणोमें विवाद करते हैं।

शका—मोक्षके स्वरूपमें भी तो ऐकमत्य नहीं है, विवाद ही है। सब वादी मोक्षका स्वरूप भिन्न-भिन्न मानते है ?

समाधान—सभी वादी जिस किसी अवस्थाको प्राप्त करके समस्त प्रकारके कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेको ही मोक्ष मानते हैं और यह हमें भी इष्ट है अत. मोक्षकार्यमें विवाद नहीं है।

इसी तरह धर्मसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है अतः धर्म अमृत है इसमे कोई विवाद नहीं है। सभी धार्मिकों की ऐसी आस्था है। तथा ऊपर जो धर्मके चार अर्थ कहे हैं वे चारों ही ऐसे है जिनको लेकर विचारशील पुरुष धर्मको बुरा नहीं कह सकते है। यदि वस्तु अपने स्वभावको छोड दे तो क्या वह वस्तु सत् रह सकती है। यदि आग अपना स्वभाव छोडकर शीतल हो जाये तो क्या आग रह सकती है। इसी तरह जितने भी पदार्थ हैं वे यदि अपने अपने असाधारण स्वभावको छोड दें तो क्या वे पदार्थ अस्तित्वमें रह सकते है। प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व अपने अपने स्वभावके ही कारण बना है।

इसी तरह लोक मर्यादामें माता, पिता, पुत्र, पति, पत्नी आदि तथा राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक आदि अपने अपने कर्तव्यसे च्युत हो जायें तो क्या लोक मर्यादा कायम रह सकती है। यह प्रत्येकका धर्म या कर्तव्य ही है जो संसारकी व्यवस्थाको बनाये हुए है। उसके अभाव में तो सर्वत्र अव्यवस्था ही फैलेगी।

हम जो मानव प्राणी हैं जिन्होंने मनुष्य जातिमें जन्म लिया है और अपनी आयु पूरी करके अवश्य ही विदा हो जायेंगे। हम क्या जडसे भी गये गुजरे हैं। हमारा जड़ शरीर तो आगमें राख होकर यहीं वर्तमान रहेगा। और उस जड शरीरमें रहने वाला चैतन्य क्या शून्यमें विलीन हो जायेगा ? अनेक प्रकारके आविष्कारोंका आविष्कर्ता, समस्त जड तत्त्वोंको गति प्रदान करनेवाला, सूक्ष्मसे सूक्ष्म विचारका प्रवर्तक क्या इतना तुच्छ है। यह गर्भद्वारा आने वाला और आकरके अपने बुद्धि वैभव और चातुर्य द्वारा विश्वमें सनसनी पैदा करनेवाला मरनेके बाद क्या पुनर्जन्म लेकर हमारे मध्यमें नहीं ही आता। ऐसा क्या कुछ विचार किया है। धर्म भी उसीकी उपज है और असलमें उसीका धर्म धर्म है। उसीका श्रद्धान सम्यग्दर्शन, उसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और उसीका आचरण सम्यक्चारित्र है। वही सच्चा धर्म है। उसीके आचरण रूपमें दस धर्म आते है। वे दस धर्म है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य। क्रोध मत करो, घमण्ड मत करो, मायाचार मत करो, लोभ लालच मत करो, सदा हित मित सत्य वचन बोलो, अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखो, अपनी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाओ, अपनी और दूसरोंकी भलाईके लिये अपने द्रव्यका त्याग करो, संचय वृत्ति पर अंकुश लगाओ। यह सदा ध्यानमें रखो कि जिस परिवारके मध्यमें रहते हो और चोरी बेईमानी करके जो धन उपार्जन करते हो वह सब तुम्हारा नहीं है, एक दिन तुम्हें यह सब छोड़कर मृत्युके मुखमें जाना होगा। अपनी

भोगवृत्ति पर अंकुश लगाओ, परस्त्री गमन छोडो। ये सब कर्म क्या मानवधर्म नही हैं ? क्या इनका भी सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेषसे है ? कौन बुद्धिमान् ऐसा कहनेका साहस कर सकता है।

यदि मनुष्य इन दस मानवधर्मोको जीवनमे उतार ले तो धर्म मनुष्य समाजके लिए वरदान बनकर अमृतत्वकी ओर ले जानेमें समर्थ होता है। आज जितना कष्ट है वह इन्हीके अभावसे है। आजका मनुष्य अपने भारतीय चारित्रको भुलाकर विलासिता, धनलिप्सा, भोगतृष्णाके चक्रमे पड़कर क्या नही करता। और धर्मसे विमुख होकर धर्मकी हँसी उडाता है, धर्मको ढकोसला बतलाता है। क्यो न बतलावे, जब वह धर्मका बाना धारण करने वालोको भी अपने ही समकक्ष पाता है तो उसकी आस्था धर्मसे डिगना स्वाभाविक है। इसमें उसका दोष नही है। दोष है धर्मका यथार्थ रूप दृष्टिसे ओझल हो जानेका। जब धर्म भी वही रूप धारण कर लेता है जो धनका है तब धन और धर्ममे गठबन्धन हो जानेसे धन धर्मको भी खा बैठता है। आज धर्म भी धनका दास बन गया है। धर्मका कार्य आज धनके बिना नही चलता। फलत धर्म पर आस्था हो तो कैसे हो। धन भोग का प्रतिरूप है और धर्म त्यागका। अत: दोनोमें तीन और छह जैसा वैमुख्य है। इस तथ्यको हृदयंगम करना आवश्यक है।

४. धर्मके भेद

जैनधर्मके उपदेष्टा या प्रवर्तक सभी तीर्थंकर संसार त्यागी तपस्वी महात्मा थे। इस युगमे जैनधर्मके आद्य प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव तो महान् योगी थे। उनकी जो प्राचीन मूर्तियाँ मिलती हैं वे प्राय. कायोत्सर्ग मुद्रामें और सिर पर जटाजूटके साथ मिलती है जो उनकी तपस्विताकी सूचक है। गृहस्थाश्रमके साथ सर्वस्व त्यागकर वर्षों पर्यन्त वनमे आत्मध्यान करनेके पश्चात् ही पूर्णज्ञानकी प्राप्ति होती है और पूर्णज्ञान होने पर ही धर्मका उपदेश होता है। धर्मोपदेश कालमे तीर्थंकर पूर्ण निरीह होते है उन्हे अपने धर्मप्रवर्तनकी भी इच्छा नही होती। इच्छा तो मोहकी पर्याय है और मोह रागद्वेषके नष्ट हुए बिना पूर्णज्ञान नही होता।

इस तरह जब आत्मा परमात्मा बन जाता है तभी वह उपदेशका पात्र होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामीने कहा है—

अनात्मार्थं विना रागै शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरज. किमपेक्षते ॥ —र श्रा.

अर्थात् धर्मोपदेष्टा तीर्थंकर कुछ भी निजी प्रयोजन और रागके बिना सज्जनोको हितका उपदेश देते है। मृदगवादकके हाथके स्पर्शसे शब्द करनेवाला मृदंग क्या अपेक्षा करता है। अर्थात् जैसे वादकके हाथका स्पर्श होते ही मृदग शब्द करता है उसी तरह श्रोताओंकी भावनाओका स्पर्श होते ही समवसरणमें विराजमान तीर्थंकरके मुखसे दिव्यध्वनि खिरने लगती है।

उसके द्वारा धर्मके दो मुख्य भेद प्रकाशमें आते है अनगार या मुनि धर्म और सागार या श्रावक धर्म। मुनिधर्म ही उत्सर्ग धर्म माना गया है क्योकि वही मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् मार्ग है। मुनिधर्म धारण किये बिना मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती। जो मुनि धर्म धारण करनेमे असमर्थ होते है किन्तु उसमे आस्था रखते है वे भविष्यमें मुनि बननेकी भावनासे श्रावकधर्म अगीकार करते है। अत. श्रावकधर्म अपवादधर्म है।

पुरुषार्थसिद्धयुपायसे ज्ञात होता है कि पहले जिनशासनका ऐसा आदेश था कि साधुके पास जो भी उपदेश सुननेके लिए आवे उसे वे मुनि धर्मका ही उपदेश देवें। यदि वह मुनिधर्मको ग्रहण करनमे असमर्थ हो तो उसे पीछेसे श्रावकधर्मका उपदेश देवें। क्योकि—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमति: ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि संप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

जो अल्पमति उपदेशक मुनिधर्मको न कहकर श्रावकधर्मका उपदेश देता है उसको जिनागममें दण्डका पात्र कहा है। क्योंकि उस दुर्बुद्धिके क्रमका भंग करके उपदेश देनेसे अत्यन्त दूर तक उत्साहित हुआ भी शिष्य श्रोता तुच्छ स्थानमें ही सन्तुष्ट होकर ठगाया जाता है। अतः वक्ताको प्रथम मुनिधर्मका उपदेश करना चाहिये, ऐसा पुराना विधान था।

इससे अन्वेषक विद्वानोंके इस कथनमें कि जैन धर्म और बौद्धधर्म मूलतः साधुमार्गी धर्म थे यथार्थता प्रतीत होती है।

लोकमान्य तिलकने अपने गीता रहस्यमें लिखा है कि वेदसंहिता और ब्राह्मणोंमें संन्यास आश्रम आवश्यक नहीं कहा गया। उलटा जैमिनिने वेदोंका यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रममें रहनेसे ही मोक्ष मिलता है। उन्होंने यह भी लिखा है कि जैन और बौद्धधर्मके प्रवर्तकोंने इस मतका विशेष प्रचार किया कि संसारका त्याग किये बिना मोक्ष नहीं मिलता। यद्यपि शंकराचार्यने जैन और बौद्धोंका खण्डन किया तथापि जैन और बौद्धोंने जिस संन्यासधर्मका विशेष प्रचार किया था, उसे ही श्रौतस्मार्त संन्यास कहकर कायम रखा।

कुछ विदेशी विद्वानोंका जिनमें डा० जेकोबी[1] का नाम उल्लेखनीय है यह मत है कि जैन और बौद्ध श्रमणोंके नियम ब्राह्मणधर्मके चतुर्थ आश्रमके नियमोंकी ही अनुकृति हैं।

किन्तु एतद्देशीय विद्वानोंका ऐसा मत नहीं है क्योंकि प्राचीन उपनिषदोंमें दो या तीन ही आश्रमोंका निर्देश मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद्के अनुसार गृहस्थाश्रमसे ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। शतपथ ब्राह्मणमें गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा है और तैत्तिरीयोपनिषद्में भी सन्तान उत्पन्न करनेपर ही जोर दिया है। गौतम धर्म-सूत्र (८।८) में एक प्राचीन आचार्यका मत दिया है कि वेदोंको तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है। वेदमें उसीका विधान है अन्य आश्रमोंका नहीं। वाल्मीकि रामायणमें संन्यासीके दर्शन नहीं होते। वानप्रस्थ ही दृष्टिगोचर होते हैं। महाभारतमें जब युधिष्ठिर महायुद्धके पश्चात् सन्यास लेना चाहते हैं तब भीम कहता है— शास्त्रमें लिखा है कि जब मनुष्य संकटमें हो, या वृद्ध हो गया हो, या शत्रुओंसे त्रस्त हो तब उसे सन्यास लेना चाहिए। भाग्यहीन नास्तिकोंने ही संन्यास चलाया है।

अतः विद्वानोंका मत है कि वानप्रस्थ और संन्यासको वैदिक आर्योंने अवैदिक संस्कृतिसे लिया है (हिन्दूधर्म समीक्षा पृ १२७) अस्तु।

जहाँ तक जैन साहित्यके पर्यालोचनका प्रश्न है उससे तो यही प्रतीत होता है कि प्राचीन समयमें एक मात्र अनगार या मुनिधर्मका ही प्राधान्य था, श्रावक धर्म आनुषंगिक था। जब मुनिधर्मको धारण करनेकी ओर अभिरुचि कम हुई तब श्रावक धर्मका विस्तार अवश्य हुआ किन्तु मुनि धर्मका महत्त्व कभी भी कम नहीं हुआ, क्योंकि परमपुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति मुनिधर्मके बिना नहीं हो सकती। यह सिद्धान्त जैन धर्ममें आज तक भी अक्षुण्ण है।

५. धार्मिक साहित्यका अनुशीलन

हमने ऊपर जो तथ्य प्रकाशित किया है उपलब्ध जैन साहित्यके अनुशीलनसे भी उसीका समर्थन होता है।

सबसे प्रथम हम आचार्य कुन्दकुन्दको लेते हैं। उनके प्रवचनसार और नियमसारमें जो आचार विषयक चर्चा है वह सब केवल अनगार धर्मसे ही सम्बद्ध है। प्रवचनसारका तीसरा अन्तिम अधिकार

[1] से. बु. ई. जिल्द २२ की प्रस्तावना पृ. ३२

चारित्राधिकार है। इसके प्रारम्भमें ग्रन्थकारने धर्मतीर्थके कर्ता वर्धमान, शेष तीर्थंकर, श्रमण आदिको नमस्कार करके लिखा है—

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥४॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाण-पहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥५॥

अर्थात् समस्त अरहन्तो, सिद्धो, आचार्यों, उपाध्यायो और साधुओंको नमस्कार करके उनके विशुद्ध दर्शन और ज्ञान प्रधान आश्रमको प्राप्त करके साम्यभावको स्वीकार करता हूँ जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

इसके पश्चात् इस ग्रन्थका प्रारम्भ 'चारित्त खलु धम्मो' से होता है। इस चारित्रके भी दो रूप है— सराग और वीतराग। सरागी श्रमणोको शुभोपयोगी और वीतरागी श्रमणोको शुद्धोपयोगी कहते है। वीतरागी श्रमण ही मुक्ति प्राप्त करते है जैसा कि ऊपर कहा है।

कुन्दकुन्दके आठ प्राभृत उपलब्ध है। उनमें-से एक चारित्तपाहुड है। उसमें कतिपय गाथाओसे श्रावकधर्मका बारह व्रतरूप सामान्य कथन है। शेष जिन प्राभृतोमें भी आचार विषयक चर्चा है वह केवल मुनि आचारसे सम्बद्ध है। उसमें शिथिलाचारीकी कडी आलोचना आदि है। इससे लगता है कि उस समय तक मुनिधर्मका पालन बहुतायत से होता था। किन्तु उसके पश्चात् मुनिधर्ममें कमी आती गयी और शिथिलाचार भी बढता गया है। मुनिधर्मका एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ मूलाचार भी कुन्दकुन्दकृत कहा जाता है। वे ही मूलसंघके मान्य आचार्य थे। मूलाचारके पश्चात् मुनिधर्मका प्रतिपादक कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नही होता। और श्रावकके आचार सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जो प्राय दसवी शताब्दी और उसके बादके रचे गये हैं। पं. आशाधरका अनगार धर्मामृत ही एक मुनिआचार-विषयक ग्रन्थ उत्तरकालमें मिलता है।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें मुनिआचार-विषयक विपुल साहित्य है। और उसमे श्रमणो और श्रमणियोके आचार, सघ व्यवस्था, प्रायश्चित्त आदिका बहुत विस्तारसे कथन मिलता है जो परिग्रहसे सम्बद्ध होनेके कारण दिगम्बर परम्पराके अनुकूल नही पडता। किन्तु उससे तत्कालीन आचार- विषयक अनेक बातोपर प्रकाश पडता है।

श्वेताम्बर परम्परा भी गृहस्थाश्रमसे मुक्ति स्वीकार नही करती। किन्तु उसमें वस्त्रत्याग अनिवार्य न होनेसे, बल्कि उसके विपरीत उत्तरकालमें मुक्तिके लिए वस्त्रधारण आवश्यक कर दिये जानेसे ऐसे प्रसग मिलते हैं कि गृहस्थ अवस्थामें ही केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। फिर भी प्राचीन आगमिक साहित्य अनगार-धर्मसे ही सम्बद्ध मिलता है।

इस तरह आचार विषयक साहित्यसे भी यही प्रमाणित होता है कि जैनधर्ममें मुनि आचारका ही महत्त्व रहा है। इतने प्राथमिक कथनके पश्चात् हम अपने प्रकृत विषय पर आते है।

६. अनगार धर्म

पं आशाधरजीने अपने धर्मामृतको दो भागोमें रचा है। प्रथम भाग अनगार धर्मामृत है और दूसरा भाग सागार धर्मामृत है। जहाँ तक हम जानते है आचार विषयक-उत्तरकालीन ग्रन्थ निर्माताओमे वे ही ऐसे ग्रन्थकार हैं जिन्होने सागार धर्मसे पूर्व अनगार धर्मपर भी ग्रन्थ रचना की है और एक तरहसे मूलाचारके पश्चात् अनगारधर्म पर वही एक अधिकृत ग्रन्थ दि. परम्परामे है। उसमे नौ अध्याय है। पहले अध्यायमें धर्मके स्वरूपका निरूपण है। दूसरेमें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति आदिका कथन है। तीसरेमें ज्ञानकी आराधनाका, चतुर्थ अध्यायमें सम्यक् चारित्रका, पाँचवेंमें भोजन सम्बन्धी दोषो आदिका, छठे अध्यायमे दस धर्म,

इन्द्रियजय, संयम, बारह भावना आदिका कथन है। सातवें अध्यायमें अन्तरंग-बहिरंग तपोंका वर्णन है। आठवें अध्यायमे छह आवश्यकोंका वर्णन है और नौवें अध्यायमें नित्यनैमित्तिक क्रियाओंका वर्णन है।

यहाँ हम अनगार धर्मपर विशेष रूपसे प्रकाश डालेंगे क्योंकि इसपर बहुत कम लिखा गया है और श्रावकोंकी तो बात ही क्या, अनगार धर्मका पालन करनेवाले भी अनगार धर्मका साधारण ज्ञान ही रखते हैं। अपने इस लेखनमें हम श्वेताम्बर साहित्यका भी उपयोग करेंगे। जहाँ दिगम्बर मान्यतासे भेद होगा वहाँ उसका निर्देश कर देंगे अन्यथा उसका पृथक् निर्देश नहीं करेंगे।

मुनिदीक्षा

प्रवचनसारके तीसरे अधिकारके प्रारम्भमें मुनिपदकी दीक्षाके सम्बन्धमें कहा है—जो श्रमण होना चाहता है वह अपने परिजनोंसे आज्ञा लेकर किसी कुल, रूप और वयसे विशिष्ट गणीके पास जाकर उनसे प्रार्थना करता है। मुनिसंघकी अनुमति मिलनेपर वह अपने हाथसे अपने सिर और दाढ़ीके बालोंका लोच करता है और 'यथा जात रूप धर' अर्थात् नग्न हो जाता है। यह रूप स्वीकार करके वह गुरुजनसे अपने कर्तव्यकर्मको सुनता है और उसे स्वीकार करके श्रमण हो जाता है।

दीक्षाके अयोग्य व्यक्ति

जैन श्रमणका पद एक बहुत ही आदरणीय और उच्च नैतिक मापदण्डका स्थान है। अत. उसे धारण करनेवालेमे कुछ विशेषताएँ होना आवश्यक है। श्वे. साहित्यके अनुसार नीचे लिखे व्यक्ति श्रमण संघमे प्रवेश करनेके अयोग्य माने गये हैं—

१. जिसकी आयु आठ वर्षसे कम है, २ वृद्ध, ३. नपुंसक, ४. रोगी, ५. अंगहीन, ६ कायर या भीरु, ७ जडबुद्धि, ८ चोर, ९. राजविरोधी, १० पागल, ११. अन्ध, १२ दास, १३. धूर्त, १४. मूढ़, १५. कर्जदार, १६. भागा हुआ या भगाया हुआ, १७. गर्भिणी स्त्री तथा बालकवाली स्त्री। जहाँ तक हम जानते है दिगम्बर परम्परामें भी उक्त व्यक्ति मुनिदीक्षाके अयोग्य माने गये है।

श्वे. परम्परामे चारो वर्णोंके व्यक्ति श्रमण हो सकते हैं किन्तु दि परम्परामे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको ही उसके योग्य माना गया है।

संघके व्यवस्थापक

मूलाचार (४।१५५) मे कहा है कि जिस गुरुकुलमें आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर न हो उसमें नही रहना चाहिए। आचार्यके सम्बन्धमें कहा है कि वह शिष्योंके अनुशासनमे कुशल होता है, उपाध्याय धर्मका उपदेशक होता है। प्रवर्तक संघका प्रवर्तक, उसकी चर्या आदिका व्यवस्थापक होता है। स्थविर मर्यादाका रक्षक होता है और गणधर गणका धारक होता है। श्वे साहित्यमें इनके सम्बन्धमें विस्तारसे कथन मिलता है।

गण, गच्छ और कुल

उक्त संघ-व्यवस्थापकोंके अन्तर्गत श्रमण विभिन्न समूहोंमें रहते हैं। तीन श्रमणोंका समूह गण कहलाता था और उसका प्रधान गणधर होता था। सात श्रमणोंका समूह गच्छ होता था। मूलाचारकी टीकासे लगता है कि टीकाकारके समयमें इनका यथार्थ स्वरूप लुप्त हो गया था क्योंकि ४।१७४ की टीकामें वह गच्छका अर्थ ऋषिसमुदाय, अथवा चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघ अथवा सात पुरुष या तीन पुरुषोंका समूह करते है। तथा 'कुल' का अर्थ गुरुसन्तान (४।१६६) किया है इसके सम्बन्धमें भी विशेष नही लिखा। आगे (५।१९३)

कुलका अर्थ शुक्रकुल अर्थात् स्त्री-पुरुषसन्तान किया है, जो लोकप्रसिद्ध है। इसी गाथामें कहा है कि बाल और वृद्धोंसे आकुल गच्छमें रहकर वैयावृत्य करना चाहिए। आगे कहा है—

वरं गणपवेसादो विवाहस्स प्रवेसणं।
विवाहे राग उप्पत्ति गणो दोसाणमागरो ॥ —मूलाचार १०।९२।

अर्थात् गणमें प्रवेश करनेसे विवाह कर लेना उत्तम है। क्योंकि विवाहमें स्त्री स्वीकार करनेपर रागकी उत्पत्ति होती है उधर गण भी सब दोषोंका आकर है।

इससे यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि गणमें रहनेपर रागद्वेषकी सम्भावना तो रहती है। फिर गुरुकी अपनी मृत्यु उपस्थित होनेपर उनका वियोग दुःखदायक हो सकता है। अतः गणमें भी सावधानीसे रहना चाहिए।

मूलगुण

श्वेताम्बर परम्परामें पांच महाव्रत और छठे रात्रिभोजनविरतिको ही मूलगुण कहा है। किन्तु दिगम्बर परम्परामें सर्वत्र साधुके २८ मूलगुण माने हैं—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँचो इन्द्रियोंका निरोध, छह आवश्यक, केशलोच, नग्नता, अस्नान, भूमिशयन, दन्तघर्षण न करना, खडे होकर भोजन करना और एक बार भोजन।

भ्रमण या विहार

दोनो ही परम्पराओंमें वर्षाऋतुके चार मासके सिवाय शेष आठ महीनोंमें साधुको भ्रमण करते रहना चाहिए। श्वेताम्बर साहित्यमें 'गामानुगामं' पदसे एक गाँवसे दूसरे गाँव जानेका कथन है। ऐसा ही दि. परम्परामें भी है।

ईर्यासमिति साधुका मूलगुण है। उसका कथन करते हुए मूलाचार (५।१०७-१०९) में कहा है कि जब सूर्यके प्रकाशसे समस्त दिशाएँ प्रकाशमान हो जायें और मार्ग स्पष्ट दिखाई देता हो तब स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, देववन्दना आदि नित्यकृत्य करनेके पश्चात् सम्मुख चार हाथ प्रमाण भूमिको अच्छी तरहसे देखते हुए सावधानतापूर्वक मन-वचन-कायके द्वारा शास्त्रमें उपयोग रखते हुए चलना चाहिए।

मार्गशुद्धि

जिस मार्गपर बैलगाडी, हाथी, घोडे, पालकी, रथ आदि चलते हो, गाय, बैल आदि सदा आते जाते रहते हो, स्त्री-पुरुष चलते रहते हो, जो धूपसे तप्त होता रहता हो, जहाँ हल आदि चलता हो, ऐसे प्रासुक मार्गसे ही साधुको जाना-आना चाहिए। चलते हुए वे पत्र-पुष्प-लता-वृक्ष आदिका छेदन-भेदन, पृथ्वीका घर्षण आदि नही करते है। वे वायुकी तरह एकदम नि सग होते है।

श्वे. साहित्यमे कहा है कि चलते समय साधुको सावधान रहना चाहिए, अधिक वार्तालाप नही करना चाहिए। साथमें गृहस्थ या पाखण्डी साधु नही होना चाहिए। अपनी सब आवश्यक वस्तुएँ अपने पास ही रखनी चाहिए-उसे पनीले प्रदेश, हिलते हुए पुल और कीचडमें से नही जाना चाहिए। जिस मार्गमें चोर, डाकू, उचक्के बसते हो उधरसे नही जाना चाहिए। जिस प्रदेशमें कोई राजा न हो, अराजकता फैली हो वहाँ नही जाना चाहिए। या जहाँ सेनाका पडाव हो वहाँ भी नही जाना चाहिए। उसे खुफिया गुप्तचर समझा जा सकता है। ऐसे वनोमे भी न जाना चाहिए जिन्हे अधिकसे अधिक पाँच दिनमें भी पार न किया जा सकता हो।

जलपर यात्रा

साधु और साध्वी खरीदी गयी या उनके सत्कारकर्ताके द्वारा तैयार की गयी नावसे नहीं जाते। नावके मालिककी आज्ञासे नावपर बैठ सकते हैं। साधुको नावके चलानेमें या उसे धक्का वगैरह देनेमें भाग नहीं लेना चाहिए। उसे नावके छिद्र भी बन्द नहीं करना चाहिए। यदि नाववाला साधुको पानीमें फेंक दे तो उसे तैरकर किनारेपर पहुँचने की अनुज्ञा है। पानीसे निकलकर वह तबतक खड़ा रहे जबतक उसका शरीर सूख जाये। उसे शरीरको जल्दी सुखानेका कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यदि साधुको छिछला जल पार करना पड़े तो उसे सावधानीसे किसीको भी छुए बिना पार करना चाहिए। यदि उसके पैरोंमें कीचड़ लग जाये तो उसे पैर साफ करनेके लिए घास पर नहीं चलना चाहिए।

साधुको गंगा, यमुना, सरयू, इरावती और मही इन पाँच महानदियोंको एक मासमें दो या तीन बार पार नहीं करना चाहिए। किन्तु यदि राजभय हो, या दुर्भिक्ष पड़ा हो, या किसीने उसे नदीमें गिरा दिया हो, या बाढ़ आयी हो, या अनार्योंका भय हो तो वह इन नदियोंको पार कर सकता है। यह सब आचारांगके दूसरे भागमें है। दि. परम्परामें इतना विस्तारसे कथन नहीं है।

एक स्थानपर ठहरनेका समय

वर्षाऋतुके अतिरिक्त साधुको गाँवमें एक दिन और नगरमें पाँच दिन ठहरना चाहिए। दोनों परम्पराओंको यह नियम मान्य है। श्वे. साहित्यके अनुसार पाँच कारणोंसे वर्षाऋतुमें भी स्थान-परिवर्तन किया जा सकता है—

१. किसी ऐसे आचार्यसे जिन्होंने आमरण आहारका त्याग किया हो, कोई आवश्यक अध्ययन करनेके लिए।
२. किसी खतरनाक स्थानमें किसीको पथभ्रष्ट होनेसे रोकनेके लिए।
३. धर्मप्रचारके लिए।
४. यदि आचार्य या उपाध्यायका मरण हो जाये।
५. यदि आचार्य या उपाध्याय ऐसे प्रदेशमें ठहरे हो जहाँ वर्षा नहीं होती तो उनके पास जानेके लिए।

कोई साधु एक ही स्थानपर दो वर्षावास नहीं कर सकता। वर्षाकाल बीत जानेपर भी यदि मार्ग कीचड़से या जन्तुओंसे भरा हो तो साधु पाँचसे दस दिन तक उसी स्थानपर अधिक भी ठहर सकते है।

साधु-आवास

जिस घरमें गृहस्थोंका आवास हो या उनके और साधुके जाने-आनेका मार्ग एक हो, साधुको नहीं रहना चाहिए। जहाँ स्त्रियोंका, पशुओं आदिका आना-जाना हो ऐसे स्थान भी साधु-निवासके लिए वर्जित हैं। प्राचीन कालमें तो साधु नगरके बाहर वन, गुफा आदि में रहा करते थे।

उत्तराध्ययनमें भी साधुको शून्य घर, श्मशान तथा वृक्षमूलमें निवास करनेके लिए कहा है। और कहा है कि एकान्तवास करनेसे समाधि ठीक होती है, कलह, कषाय, आदि नहीं होते तथा आत्मनियन्त्रण होता है। उपाश्रय और बिहारका निर्देश होनेपर भी श्वेताम्बर साहित्यमें भी साधुको समाजसे दूर एकाकी जीवन बितानेकी ही ध्वनि गूँजती है (हि. जै. मो. १६०)

सामाजिक सम्पर्क

प्रवचनसार (३।४५) में कहा है कि आगममें दो प्रकारके मुनि कहे हैं—एक शुभोपयोगी और एक शुद्धोपयोगी। इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने यह प्रश्न किया है कि मुनिपद धारण करके भी जो कषाय-

का लेश होनेसे शुद्धोपयोगकी भूमिकापर आरोहण करनेमें असमर्थ हैं उन्हे श्रमण माना जाये या नहीं ? इसका उत्तर देते हुए उन्होने कहा है कि आचार्य कुन्दकुन्दने 'धम्मेण परिणदप्पा' इत्यादि गाथासे स्वयं ही कहा है कि शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय है। अत. शुभोपयोगीके भी धर्मका सद्भाव होनेसे शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं किन्तु वे शुद्धोपयोगियोके समकक्ष नही होते। आचार्य कुन्दकुन्दने शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति इस प्रकार कही है—शुभोपयोगी श्रमण शुद्धात्माके अनुरागी होते हैं। अत. वे शुद्धात्मयोगी श्रमणोंका वन्दन, नमस्कार, उनके लिए उठना, उनके पीछे-पीछे जाना उनकी वैयावृत्य आदि करते हैं। इसमें कोई दोष नही है। दूसरोके अनुग्रहकी भावनासे दर्शन ज्ञानके उपदेशमें प्रवृत्ति, शिष्योका ग्रहण, उनका संरक्षण, तथा जिनपूजाके उपदेशमें प्रवृत्ति शुभोपयोगी मुनि करते हैं। किन्तु जो शुभोपयोगी मुनि ऐसा करते हुए अपने संयमकी विराधना करता है वह गृहस्थधर्ममें प्रवेश करनेके कारण मुनिपदसे च्युत हो जाता है। इसलिए प्रत्येक प्रवृत्ति संयमके अनुकूल ही होना चाहिए क्योकि प्रवृत्ति सयमकी सिद्धिके लिए ही की जाती है। यद्यपि शुद्धात्मवृत्तिको प्राप्त रोगी, बाल या वृद्ध श्रमणोकी वैयावृत्यके निमित्त ही शुद्धात्मवृत्तिसे शून्य जनोके साथ सम्भाषण निषिद्ध नही है, किन्तु जो निश्चय व्यवहाररूप मोक्षमार्गको नही जानते और पुण्यको ही मोक्षका कारण मानते हैं उनके साथ संसर्ग करनेसे हानि ही होती है अतः शुभोपयोगी भी साधु लौकिक जनोके साथ सम्पर्कसे बचते है।

परिग्रह

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही साधु परिग्रह त्याग महाव्रतके धारी होते है। किन्तु इसीके कारण दोनोमें मुख्य भेद पैदा हुआ है। दिगम्बर साधु तो नग्न रहते है। नग्नता उनके मूलगुणोमें-से है। किन्तु श्वेताम्बर साधु वस्त्र धारण करते है और वस्त्रको संयमका साधन मानते है।

यद्यपि आचारागमे कहा है कि भगवान् महावीर प्रव्रजित होनेसे तेरह महीने पश्चात् नग्न हो गये। स्थानागमें महावीरके मुखसे कहलाया है—'मए समणाणं अचेलत्ते धम्मे पण्णत्ते।' अर्थात् मैंने श्रमणोके लिए अचेलता धर्म कहा है। दशवैकालिकमे भी नग्नताका उल्लेख है। उत्तराध्ययनमे नग्नताको छठी परीषह कहा है। किन्तु उत्तरकालीन टीकाकारोने अचेलताका अर्थ अल्पचेल या अल्पमूल्य चेल आदि किया, सम्पूर्ण नग्नता अर्थ नही किया।

स्थानागसूत्रमें नग्नताके अनेक लाभ बतलाये है। यथा—अल्प प्रतिलेखना, लाघव, विश्वासकर रूप, जिनरूपताका पालन आदि। किन्तु टीकाकारने इसे जिनकल्पियोके साथ जोड दिया।

वस्त्रधारणके तीन कारण कहे हैं—लज्जानिवारण, कामविकारका आच्छादन और शीत आदि परीषहका निवारण। साधु तीन वस्त्र धारण करता है। बौद्धोमे भी तीन चीवरका विधान है—संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरावासक। आचारागके अनुसार ग्रीष्मऋतुमें साधु या तो एक वस्त्र रखते हैं या वस्त्र नही रखते।

वस्त्रका विधान होनेसे वस्त्र कैसे प्राप्त करना, कहाँसे प्राप्त करना, किस प्रकार पहिरना, कब धोना आदिका विधान श्वे. साहित्यमें वर्णित है।

जिनकल्पिक साधु हाथमे भोजन करते है, पीछी रखते हैं, वस्त्र धारण नही करते। अंगसाहित्यमें सर्वत्र जिनकल्प और स्थविर कल्पकी चर्चा नही होने पर भी टीकाकारोने उक्त प्रकारके कठोर आचारको जिनकल्पका बतलाया है। किन्तु उत्तरकालमें तो जिनकल्पियोको भी वस्त्रधारी कहा है।

श्वे. साधु ऊनसे बनी पीछी रखते हैं और दि. साधु मयूरपंखकी पीछी रखते है। दि. साधु हाथमें भोजन करते हैं अतः भिक्षापात्र नही रखते। कल्पसूत्रमें भगवान् महावीरको भी पाणिपात्रभोजी बतलाया

है। श्वे. साधु वस्त्रके सिवाय भी कम्बल, पात्र, पायपुंछन आदि अनेक उपकरण रखते हैं। दि. साहित्यमें इन सबकी कोई चर्चा नहीं है क्योंकि दि. साधुके लिए ये सब अनावश्यक हैं।

श्वे. साधु श्रावकोंसे पीठफलक, तख्ता, चटाई आदि उपयोगके लिए लेते हैं। उपयोग होने पर लौटा देते हैं। उनमें भी शयनके लिए घास, पत्थर या लकड़ीका तख्ता श्रेष्ठ कहा है। साधुको घास पर अच्छी तरह जीव जन्तु देखकर ही सावधानीसे इस तरह लेटना चाहिए कि किसी दूसरेसे अंग स्पर्श न हो। आवश्यकता होने पर साधु सुई, उस्तरा, नखच्छेदनी तथा कान सलाईका भी उपयोग करता है किन्तु छाता जूता वर्जित है।

भिक्षा और भोजन

साधुको सूर्योदयसे तीन घडीके पश्चात् और सूर्यास्तसे तीन घडी पहले भोजन कर लेना चाहिए। छियालीस दोष रहित और नवकोटिसे विशुद्ध आहार ही ग्राह्य होता है। कहा है—

> णवकोडिपरिसुद्धं असणं बादालदोसपरिहीणं।
> संजोयणाय हीणं पमाणसहियं विहिसुदिण्णं॥ —मूलाचार ६।६३॥

श्वे. साधु भी भिक्षाके उचित समय पर भिक्षाके लिए जाता है। वह साथमें किसी श्रावक वगैरहको नहीं रखता और चार हाथ आगे देखकर सावधानता पूर्वक जाता है। यदि मूसलाधार वृष्टि होती हो, गहरा कोहरा छाया हो, जोरकी आँधी हो, हवामें जन्तुओंका बाहुल्य हो तो साधुको भिक्षाके लिए जानेका निषेध है। उसे ऐसे समयमें भी नहीं जाना चाहिए जब भोजन तैयार न हो या भोजनका समय बीत चुका हो। उसे ऐसे मार्गसे जाना चाहिए जिसपर कीचड़, जीवजन्तु, जंगली जानवर, गढ़े, नाला, पुल, गोबर वगैरह न हो। वेश्यावाट, अधिकारियोंके निवास, तथा राजप्रासाद वर्जित है। उसे अपना भिक्षा भ्रमण प्रारम्भ करनेसे पहले अपने सम्बन्धियोंके घर नहीं जाना चाहिए। इससे स्पेशल भोजनकी व्यवस्था हो सकती है। यदि घरका द्वार बन्द हो तो उसे न तो खोलना चाहिए और न उसमें से झांकना चाहिए।

सूत्रकृतांगसूत्रमें यद्यपि भोजनके छियालीस दोषोंका निर्देश है किन्तु किसी भी अंग या मूल सूत्रमें उनका ब्योरेवार एकत्र वर्णन नहीं मिलता जैसा मूलाचारमें मिलता है।

भिक्षा लेकर लौटने पर उसे गुरुको दिखाना चाहिए और पूछना चाहिए कि किसीको भोजनकी आवश्यकता है क्या। हो तो उसे देकर शेष स्वयं खा लेना चाहिए। यदि साधुको भूख लगी हो तो एकान्त स्थानमें किसी दीवारकी ओटमें स्थानके स्वामीसे आज्ञा लेकर भोजन कर सकता है। यदि एक बार घूमने पर पर्याप्त भोजन न मिले तो दूसरा चक्कर लगा सकता है।

साधुके लिए भोजनका परिमाण बत्तीस ग्रास कहा है। और ग्रासका परिमाण मुर्गीके अण्डेके बराबर कहा है। साधुको अपने उदरका आधा भाग अन्नसे, चतुर्थ भाग जलसे और चतुर्थ भाग वायुसे भरना चाहिए। अर्थात् भूखसे आधा खाना चाहिए।

श्वे. साधु गृहस्थके पात्रका उपयोग नहीं कर सकता। उसे अपने भिक्षा पात्रमें ही भोजन लेना चाहिए। जब भोजन करे तो भोजनको स्वादिष्ट बनानेके लिए विविध व्यंजनोंको मिलानेका प्रयत्न न करे। और न केवल स्वादिष्ट भोजन ही ग्रहण करे। उसे किसी विशेष भोजनका इच्छुक भी नहीं होना चाहिए।

इस तरह पाणि भोजन और पात्र भोजनके सिवाय दोनों परम्पराओंमें भोजनके अन्य नियमोंमें विशेष अन्तर नहीं है। नवकोटि परिशुद्ध, दस दोष रहित और उद्गम उत्पादन एषणा परिशुद्ध भोजन ही जैन साधुके लिए ग्राह्य कहा है।

प्रायश्चित्त

साधुको प्रमाद, दर्प आदिसे लगे हुए अपने दोषोंका शोधन करना चाहिए। अकलंक देवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें कहा है कि जैसे अपने आय व्ययका विचार न करनेवाला व्यापारी अन्तमें पछताता है उसी तरह जो साधु अपने दोषोका परिमार्जन नहीं करता वह भी उस व्यापारीकी तरह कष्ट उठाता है। अतः सदाचारी कुलीन साधुको अपने गुरुके सम्मुख अपने दोषोंकी आलोचना करनी चाहिए। जिसके सम्मुख आलोचना की जाय वह व्यक्ति स्वयं सच्चरित्र होना चाहिए। और उसमें इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह आलोचकसे अपने दोषोको स्वीकार करा सके तथा उसके सामने आलोचकने जो दोष स्वीकार किये हैं उन्हें किसी अन्य पर प्रकट न करे। यह आलोचना दस दोषोको टालकर करनी चाहिए। आलोचना करनेसे पहले गुरुको अपने विषयमे दयाद्रवित या प्रसन्न नहीं करना चाहिए जिससे वह अल्प प्रायश्चित्त देवें। उपायसे गुरुका अभिप्राय जानकर आलोचना करना अनुमानित नामक दूसरा दोष है। श्वे. के अनुसार आलोचकको ऐसे गुरुके पास नहीं जाना चाहिए जो अल्प प्रायश्चित्त देनेमें प्रसिद्ध है। जो दोष करते गुरुने देखा वही दोष प्रकट करना तीसरा दोष है। मोटे दोषको निवेदन करना चतुर्थ दोष है। सूक्ष्म दोषको निवेदन करना पाँचवाँ दोष है। इस तरह दोष कहना कि आचार्य सुन न सकें छन्न है। या अदृष्टकी आलोचना छन्न दोष है। या व्याजसे दोष कहकर जो स्वतः प्रायश्चित्त लेता है वह छन्न दोष है इस तरह श्वे. साहित्य, अपराजिता और मूलाचारकी टीकामें छन्नका स्वरूप क्रमसे कहा है। बहुत जोरसे दोषका निवेदन करना या जब बहुत हल्ला होता हो तब दोषका निवेदन करना शब्दाकुल दोष है। बहुतसे गुरुओंसे दोषकी आलोचना बहुजन दोष है। जो प्रायश्चित्तमे अकुशल है उससे दोषका निवेदन करना अव्यक्त दोष है। जो गुरु स्वय उस दोषका सेवी हो उससे दोषका निवेदन करना तत्सेवी दोष है। ये सब आलोचना दोष है।

आलोचनाके सिवाय नौ प्रायश्चित्त है—प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल ये दोनोंमें समान है। श्वे. में अनवस्थाप्य पारंचिय है तथा दि. में परिहार और श्रद्धान है। अकलक देवने तत्त्वार्थ वार्तिक (९।२२) में अनुपस्थापन और पारंचिक प्रायश्चित्तका कथन किया है। मूलाचारमें इनका कथन नहीं है। दोनों ही सम्प्रदायोके मूल साहित्य में इन प्रायश्चित्तोंको उदाहरण देकर स्पष्ट नहीं किया है कि अमुक दोष होनेपर अमुक प्रायश्चित्त होता है। श्वे. साहित्यमें अनवस्थापन और पारंचितका कुछ विशेष कथन मिलता है।

दिनचर्या

साधुको अपना समय बहुत करके स्वाध्याय और ध्यानमें बितानेका ही निर्देश मिलता है। मूलाचार (५।१२१) टीकामें कहा है—

सूर्योदय हुए जब दो घडी बीत जाये तब देववन्दना करनेके पश्चात् श्रुतभक्ति और गुरुभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको ग्रहण करके सिद्धान्त आदिको वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन आदि करे। जब मध्याह्नकाल होनेमें दो घड़ी समय शेष रहे तब आदरके साथ श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको समाप्त करे। अपने निवास-स्थानसे दूर जाकर मलत्याग करे। शरीरका आगा-पीछा देखकर हाथ-पैर आदि धोकर कमण्डलु और पीछी ग्रहण करके मध्याह्नकालकी देववन्दना करे। बालकोके भरे पेटसे तथा अन्य लिंगियोसे भिक्षाका समय जानकर जब धूम और मूसल आदिका शब्द शान्त हो, गोचरीके लिए प्रवेश करे। गोचरीको जाते हुए न तो अतिशीघ्र चले, न अति धीरे चले और न रुक-रुककर चले। गरीब-अमीर घरका विचार न करे। मार्गमें न ठहरे, न वार्तालाप करे। हँसी आदि न करे। नीचकुलोमें प्रवेश न करे। शुद्धकुलोमे भी यदि सूतक आदिका दोष हो तो न जावे। द्वारपाल आदि रोके तो न जावे। जहाँतक अन्य भिक्षाटन करनेवाले जाते हैं वहीं

तक ही जावे। जहाँ विरोधके निमित्त हों वहाँ न जावे। दुष्ट गधा, ऊँट, भैंस, बैल, हाथी, सर्प आदिको दूरसे ही बचा जाये। मदोन्मत्त जनोंसे दूर रहे। स्नान, विलेपन, मण्डन तथा रतिक्रीडामें आसक्त स्त्रियोंकी ओर न देखे। सम्यक् विधिसे दिये हुए आहारको सिद्धभक्ति करके ग्रहण करे। छिद्र रहित पाणिपात्रको नाभि-प्रदेशके समीप करके शुरशुर आदि शब्द रहित भोजन करे। भोजन करके मुख, हाथ, पैर धोकर शुद्ध जलसे पूर्ण कमण्डलु लेकर घरसे निकले। धर्मकार्यके बिना अन्य घरमें न जावे। इस प्रकार जिनालय आदिमें जाकर प्रत्याख्यान ग्रहण करके प्रतिक्रमण करे।

उत्तराध्ययनके २६वें अध्ययनमें साधुकी दिनचर्या दी हुई है। दिन और रातको चार पहरोंमें विभाजित किया है। रात्रिके प्रथम पहरमें स्वाध्याय, दूसरेमें ध्यान, तीसरेमें शयन और चतुर्थमें स्वाध्यायका विधान किया है। उसकी दैनिक चर्याके मुख्य कार्य हैं प्रतिलेखना, स्वाध्याय, आलोचना, गोचरी, कायोत्सर्ग और प्रतिक्रमण।

छह आवश्यक

छह आवश्यक दोनो परम्पराओंमें समान हैं। वे हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

साधु प्रतिलेखना करके शुद्ध होकर प्रतिलेखनाके साथ हाथोंकी अंजलि बनाकर कायोत्सर्गपूर्वक एकाग्रमनसे सामायिक करता है। उस समय साधु समस्त सावद्यसे विरत, तीन गुप्तियोंसे युक्त, इन्द्रियोंको वशमें करके सामायिक करता है अतः वह स्वयं सामायिकस्वरूप होता है। उस समय उसका सबमें समता भाव होता है।

दोनो पैरोके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर कायोत्सर्गपूर्वक चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन चतुर्विंशतिस्तव है।

कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये सब वन्दनाके ही नाम हैं। बत्तीस दोष टालकर वन्दना करनी चाहिए। वन्दनाका मतलब है तीर्थंकर, आचार्य आदिके प्रति विनय करना। इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है। इसका विस्तृत वर्णन मूलाचारके षडावश्यक अधिकारमें है।

लगे हुए दोषोकी विशुद्धिको प्रतिक्रमण कहते है। दोनों परम्पराओंमें प्रतिक्रमणके छह भेद समान है—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक। यह आलोचनापूर्वक होता है।

वन्दनाके पश्चात् बैठनेके स्थानको पिच्छिकासे परिशुद्ध करके साधुको गुरुके सम्मुख दोनों हाथोंकी अंजलि करके सरलतापूर्वक अपने दोषोको स्वीकार करना चाहिए।

दोनो ही परम्पराएँ इस विषयमें एकमत है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके समयमें प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, चाहे दोष हुआ हो या न हुआ हो। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोके साधु दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते थे।[1]

प्रत्याख्यानके दस भेद है[2]—अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाण-गत, अपरिशेष, अध्वानगत और सहेतुक। जैसे चतुर्दशीका उपवास तेरसको करना अनागत प्रत्याख्यान है। चतुर्दशीका उपवास प्रतिपदा आदिमें करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है। यदि शक्ति होगी तो उपवास करूँगा, इस प्रकार सकल्प सहित प्रत्याख्यान कोटिसहित है। यथासमय उपवास आदि अवश्य करना निखण्डित है।

---

१. मूलाचार ७।१२९।

२. मूला. ७।१४०-१४१।

कनकावली सर्वतोभद्र आदि उपवास करना साकार प्रत्याख्यान है। इच्छानुसार कभी भी उपवास आदि करना अनाकार प्रत्याख्यान है। कालका परिमाण करके षष्ठम उपवास आदि करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है। जीवनपर्यन्तके लिए चारो प्रकारके आहारको त्यागना अपरिशेष प्रत्याख्यान है। अटवी, नदी आदिके मार्गको लाँघनेपर जो उपवास किया जाता है वह अध्वगत प्रत्याख्यान है। उपसर्ग आदिको लेकर जो उपवासादि किया जाता है वह सहेतुक प्रत्याख्यान है।

यह प्रत्याख्यान पाँच प्रकारकी विनयसे शुद्ध होना चाहिए, अनुभाषणा शुद्ध होना चाहिए अर्थात् गुरु जिस प्रकार प्रत्याख्यानके शब्दोका उच्चारण करें उसी प्रकार उच्चारण करना चाहिए। उपसर्ग, रोग, भयानक प्रदेश आदिमें भी जिसका पालन किया गया हो इस प्रकार अनुपालन शुद्ध होना चाहिए तथा भाव-विशुद्ध होना चाहिए।

दोनो हाथोको नीचे लटकाकर तथा दोनो पैरोके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखते हुए निश्चल खड़े होना कायोत्सर्ग है। इस कायोत्सर्गका उत्कृष्टकाल एक वर्ष और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। अन्य कायोत्सर्गोंके कालका प्रमाण इस प्रकार कहा है—

१. दैनिक प्रतिक्रमण	१०८	उच्छ्वास	१०. अन्य ग्रामको जानेपर	२५	उच्छ्वास
२. रात्रि प्रतिक्रमण	५४	,,	११. पवित्र स्थानोंको जानेपर	२५	,,
३. पाक्षिक प्रतिक्रमण	३००	,,	१२. लौटनेपर	२५	,,
४. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण	४००	,,	१३. मलत्याग करनेपर	२५	,,
५. वार्षिक ,,	५००	,,	१४. मूत्र त्यागनेपर	२५	,,
६. पाँच महाव्रतोंमें-से किसीमें भी दोष लगनेपर	१०८	,,	१५. ग्रन्थ प्रारम्भ करनेपर	२७	,,
			१६. ग्रन्थ समाप्त होनेपर	२७	,,
७. भोजन लेनेपर	२५	,,	१७. स्वाध्याय करनेपर	२७	,,
८. पानी लेने पर	२५	,,	१८. वन्दनामें	२७	,,
९. भोजन करके लौटनेपर	२५	,,	१९. उस समय मनमें विकार उत्पन्न होनेपर	२७	,,

इन इन कार्योंमें जो कायोत्सर्ग किये जाते है उसके उच्छ्वासोंका प्रमाण मूलाचार (७।१५९-१६४) में उक्त रूपमें कहा है। ईर्यापथ सम्बन्धी अतिचारोकी विशुद्धिके लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्गमें स्थित होकर ईर्यापथके अतीचारोंके विनाशका चिन्तन करके उसे समाप्त करके धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिन्तन करना चाहिए। कायोत्सर्गके अनेक दोष कहे हैं तथा चार भेद कहे है।

स्वाध्यायका महत्त्व

साधु जीवनमें अन्य अन्य कर्तव्योके साथ स्वाध्यायका विशेष महत्त्व है। साधुके पाँच आचारोमेंसे एक ज्ञानाचार भी है। स्वाध्याय उसीका अग है। स्वाध्यायके प्रतिष्ठापन और निष्ठापनकी विधिमें कहा है कि प्रभातकालमें दो घडी बीतने पर जब तीसरी घडी लगे तो स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और मध्याह्न कालसे दो घडी पूर्व समाप्त करना चाहिए। इसी तरह मध्याह्नकालसे दो घडी बीतने पर स्वाध्याय प्रारम्भ करे और दिनका अन्त होनेमें दो घडी शेष रहने पर समाप्त करे। प्रदोषसे दो घडी बीतनेपर प्रारम्भ करे और अर्धरात्रिमें दो घडी शेष रहनेपर समाप्त करे। तथा आधी रातसे दो घडी बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करे और रात्रि बीतनेमें दो घड़ी शेष रहने पर समाप्त कर दे। इस तरह स्वाध्यायके चार काल कहे हैं। यह बतलाता है कि साधुको कभी भी खाली नहीं बैठना चाहिए। सर्वदा अपना उपयोग धर्मध्यानमें लगाये रखना चाहिए।

सामाचारी

साधुओंकी सामाचारी भी अपना एक विशेष स्थान रखती है। मूलाचारकी टीकामें इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है—समता अर्थात् रागद्वेषके अभावको समाचार कहते हैं। अथवा त्रिकालदेव वन्दना या पंचनमस्कार रूप परिणाम या सामायिकव्रतको समता कहते हैं। निरतिचार मूलगुणोंका पालन या निर्दोष भिक्षाग्रहण समाचार है। इत्यादि ये सब साधुओंका समान आचार है। इसे ही सामाचारी कहते हैं। पारस्परिक अभिवादन, गुरु आदिके प्रति विनय ये सब इसीमें गर्भित है।

सूर्योदयसे लेकर समस्त रातदिनमें श्रमण जो आचरण करते हैं वह सब पदविभागी सामाचार कहलाता है। जो कुछ भी करणीय होता है वह आचार्य आदिसे पूछकर ही करना होता है। यदि गुरु या साधर्मीकी पुस्तक आदि लेना हो तो विनयपूर्वक याचना करना चाहिए।

पदविभागी सामाचारका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—कोई श्रमण अपने गुरुसे समस्त श्रुत जाननेके बाद विनय सहित पूछता है—मैं आपके चरणोंके प्रसादसे सर्वशास्त्र पारंगत अन्य आचार्यके पास जाना चाहता हूँ। पाँच छै बार पूछता है। गुरुकी आज्ञा मिलनेपर वह तीन, दो या एक अन्य साधुके साथ जाता है। एकाकी विहार वही श्रमण कर सकता है जो आगमका पूर्ण ज्ञाता होनेके साथ शरीर और भावसे सुदृढ़ होता है, तपसे वृद्ध तथा आचार और सिद्धान्तमें पूर्ण होता है। जब वह दूसरे आचार्यके संघमें पहुँचता है तो सब श्रमण वात्सल्य भावसे उसे प्रणाम करनेके लिए खड़े हो जाते हैं। सात पग आगे बढ़कर परस्परमें प्रणामादि करते हैं। तीन दिन साथ रखकर उसकी परीक्षा करते हैं कि इसका आचार-विचार कैसा है। उसके पश्चात् वह आचार्यसे अपने आनेका प्रयोजन कहता है। गुरु उसका नाम, कुल, गुरु, दीक्षाकाल, वर्षावास, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि पूछते हैं। यदि वह अयोग्य प्रमाणित होता है तो उसे छेद या उपस्थापना आदि प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते हैं।

यदि वह स्वीकार नहीं करता तो उसे स्वीकार नहीं किया जाता। यदि आचार्य छेदयोग्यको भी स्वीकार करते हैं वे स्वयं छेदके योग्य होते हैं।

मृत्यु

सल्लेखनापूर्वक मरण ही यथार्थ मरण है। भगवती आराधनामें भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन संन्यासपूर्वक मरणकी विधि तथा मृतकके संस्कारकी विधिका विस्तारसे वर्णन किया है। प्राचीन साधु संघमें मृतकका दाहसंस्कार नहीं होता था। वनवासियोंके पास उसके प्रबन्धके कोई साधन भी नहीं होते थे। अतः शवको किसी झाडी वगैरहमें रख देते थे और उसकी दशाके ऊपरसे देश और राजा तथा संघका शुभाशुभ विचारा जाता था।

प्राचीन परिपाटी और आजकी परिपाटीमें बहुत अन्तर आ गया है। यद्यपि प्रक्रिया सब पुरातन ही है किन्तु देशकालकी परिस्थितिने उसे प्रभावित किया है और उससे मुनिमार्गमें शिथिलाचार बढ़ा है। फिर भी दिगम्बर मुनिमार्ग-जैसा कठोर संयम मार्ग दूसरा नहीं है। और इतने कठोर अनुशासित संयममार्गके बिना इस संसारके बन्धनसे छुटकारा होना भी सम्भव नहीं है।

कषाय और इन्द्रियासक्ति इस संसारकी जड़ है और इस जड़की जड़ है मिथ्याभाव, आत्मस्वरूपके प्रति अरुचि। अपने यथार्थ स्वरूपको न जाननेके कारण ही जीवको आसक्ति संसारमें होती है। कदाचित् उसमें जिज्ञासा जाग्रत् हो जाये तो इसे शुभ लक्षण ही मानना चाहिए।

२. अनगार धर्मामृत

विषय परिचय

भगवान् महावीरका धर्म दो भागोंमें विभाजित है—अनगार या साधुका धर्म और सागार या गृहस्थका धर्म। तदनुसार आशाधरजीके धर्मामृतके भी दो भाग हैं—प्रथम भागका नाम अनगारधर्मामृत है। इससे पूर्वमें साधुधर्मका वर्णन करनेवाले दो ग्रन्थ दिगम्बर परम्परामें अतिमान्य रहे हैं—मूलाचार और भगवती आराधना। दोनो ही प्राकृत गाथाबद्ध हैं। उनमें भी मात्र एक मूलाचार ही साधु आचारका मौलिक ग्रन्थ है उसमें जैन साधुका पूरा आचार वर्णित है। भगवती आराधनाका तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय सल्लेखना या समाधिमरण है। उसमें तथा उसके टीका-ग्रन्थोंमें प्रसगवश साधुका आचार भी वर्णित है। आचार्य कुन्द-कुन्दके प्रवचनसारके अन्तमें तथा उनके पाहुडोंमें भी साधुका आचार वर्णित है। उसके पश्चात् तत्त्वार्थ सूत्रके नवम अध्याय तथा उसके टीका ग्रन्थोंमें भी साधुका आचार—गुप्ति, समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, परीषहजय चारित्र—तप, ध्यान आदिका वर्णन है। चामुण्डरायके छोटे-से ग्रन्थ चारित्रसारमें भी संक्षेपमें साधुका आचार है। इन्ही सबको आधार बनाकर आशाधरजीने अपना अनगार धर्मामृत रचा था। उसमें नौ अध्याय हैं—

१. प्रथम अध्यायका नाम धर्मस्वरूप निरूपण है। इसमें ११४ श्लोक हैं। भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाको सम्मिलित करनेसे परिमाण १६०० श्लोक प्रमाण होता है। इसके प्रारम्भमें आवश्यक नमस्कारादि करनेके पश्चात् धर्मके उपदेष्टा आचार्यका स्वरूप बतलाते हुए उसे 'तीर्थतत्त्वप्रणयननिपुण' होना आवश्यक कहा है। तीर्थका अर्थ किया है अनेकान्त और तत्त्वका अर्थ किया है अध्यात्मरहस्य। उन दोनोके कथनमें चतुर होना चाहिए। यदि वह एकमें ही निपुण हुआ तो दूसरेका लोप हो जायेगा। अर्थात् आगम और अध्यात्म दोनोको ही साधकर बोलनेवाला होना चाहिए। जो व्यवहारनिश्चयरूप रत्नत्रयात्मक धर्मका स्वरूप जानकर और शक्तिके अनुसार उसका पालन करते हुए परोपकारकी भावनासे धर्मोपदेश करता है वह वक्ता उत्तम होता है। तथा जो सदा प्रवचन सुननेका इच्छुक रहता है, प्रवचनको आदरपूर्वक सुनता है, उसे धारण करता है, सन्देह दूर करनेके लिए विज्ञोंसे पूछता है, दूसरोंको प्रोत्साहित करता है वह श्रोता धर्म सुननेका पात्र होता है। जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होती है उसे धर्म कहते है। अत. प्रथम धर्मके अभ्युदयरूप फलका कथन किया है और इस तरह यह पुण्यरूप धर्मका फल है। अत पुण्यकी प्रशंसा की है। उसके पश्चात् संसारकी असारता बतलाकर यथार्थ धर्म निश्चयरत्नत्रयका कथन किया है। टीकामें लिखा है—अशुभ कर्म अर्थात् पुण्य और पाप दोनों। क्योंकि सभी कर्म जीवके अपकारी होनेसे अशुभ होते हैं। इसीसे आगे कहा है—निश्चय निरपेक्ष व्यवहार व्यर्थ है तथा व्यवहारके विना निश्चयकी सिद्धि नही होती। यहाँ निश्चय और व्यवहारके भेदोका स्वरूप वर्णित है।

२. दूसरे अध्यायका नाम है सम्यक्त्वोत्पादनादिक्रम। इसमें एक सौ चौदह श्लोक है। टीकाके साथ मिलानेसे लगभग १५०० श्लोक प्रमाण होता है। इसमें मिथ्यात्वके वर्णनके साथ सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया तथा उसके भेदादिका वर्णन है। प्रारम्भमें नौ पदार्थोंका स्वरूप कहा है। फिर सम्यक्त्वके दोषोंका तथा उसके अंगोंका वर्णन है। इसीमें मिथ्यादृष्टियोंके साथ संसर्गका निषेध करते हुए जिनरूपधारी आचार-भ्रष्ट मुनियो और भट्टारकोंसे दूर रहनेके लिए कहा है।

३. तीसरे अधिकारका नाम है ज्ञानाराधन। इसमें ज्ञानके भेदोंका वर्णन करते हुए श्रुतज्ञानकी आराधनाको परम्परासे मुक्तिका कारण कहा है। इसकी श्लोक संख्या चौबीस है।

४. चतुर्थ अध्यायका नाम है चारित्राराधन। इसमें एक सौ तेरासी श्लोक हैं। टीकाका परिमाण

मिलकर ढाई हजारसे भी ऊपर जाता है। विस्तृत है, इसमें पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति और पाँच समितिका वर्णन है।

५. पाँचवें अध्यायका नाम पिण्डशुद्धि है। इसमें ६९ श्लोक हैं। पिण्ड भोजनको कहते हैं। भोजनके छियालीस दोष हैं। सोलह उद्गम दोष हैं, सोलह उत्पादन दोष हैं, चौदह अन्य दोष हैं। इन सब दोषोंसे रहित भोजन ही साधुके द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है। उन्हींका विस्तृत वर्णन इस अध्यायमें है।

६. छठे अध्यायका नाम मार्गमहोद्योग है। इसमें एक सौ बारह श्लोक हैं। इसमें दस धर्म, बारह भावना, बाईस परीषहोंका वर्णन है।

७. सातवें अध्यायका नाम तप आराधना है। इसमें १०४ श्लोक द्वारा बारह तपोंका वर्णन है।

८. आठवें अध्यायका नाम है आवश्यक निर्युक्ति। इसमें १३४ श्लोक हैं। टीकाके मिलानेसे परिमाण १५४५ श्लोक प्रमाण होता है। साधुके षट्कर्मोंको षडावश्यक कहते हैं। इनका करना आवश्यक होता है। व्याधि और इन्द्रियोंके वशीभूत जो नहीं है उसे अवश्य कहते हैं और उसके कर्मको आवश्यक कहते हैं। साधुकी दिन-रातकी चर्याका इसमें वर्णन है। छह आवश्यक हैं—सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग। इन्हींका वर्णन इस अध्यायमें है। अन्तमें कृतिकर्मका वर्णन है। इसके वर्णनमें कृतिकर्मके योग्य काल, आसन, स्थान, मुद्रा, आवर्त और शिरोनतिका कथन किया है। साधुको तीन बार नित्य देव-वन्दना करना चाहिए। प्रत्येकका उत्कृष्ट काल छह घटिका है। रात्रिकी अन्तिम तीन घटिका और दिनकी प्रथम तीन घटिका पूर्वाह्ण वन्दनाका काल है। अपराह्णमें छह घटिका है। इसी तरह सन्ध्याको दिनकी अन्तिम तीन घटिका और रात्रिकी आदि तीन घटिका काल उत्कृष्ट है। आसनके पद्मासन आदि भेद हैं। वन्दनाके दो स्थान खड़े होना और बैठना। कृतिकर्मके योग्य चार मुद्रा हैं। उनका स्वरूप (श्लो. ८५–८६) कहा है। वन्दनामें वन्दनामुद्रा, सामायिक और स्तवमें मुक्ताशुक्ति मुद्रा, बैठकर कायोत्सर्ग करनेपर योगमुद्रा और खड़े होकर करने पर जिनमुद्रा धारण की जाती है। बारह आवर्त होते हैं, चार शिरोनति होती है।

आगे चौदह श्लोकोंसे (९८-१११) वन्दनाके बत्तीस दोषोंका तथा ग्यारह श्लोकोंसे (११२-१२१) कायोत्सर्गके बत्तीस दोषोंका कथन किया है। साधुके लिए यह अधिकार बहुत महत्त्वपूर्ण है।

९ नवम अध्यायका नाम नित्यनैमित्तिक क्रिया है। इसमें सौ श्लोक हैं। प्रथम चवालीस श्लोकोंमें नित्यक्रियाके प्रयोगकी विधि बतलायी है। स्वाध्याय कब किस प्रकार प्रारम्भ करना चाहिए और कब किस प्रकार समाप्त करना चाहिए। प्रातःकालीन देववन्दना करनी चाहिए। कृतिकर्मके छह प्रकार कहे हैं—१. वन्दना करनेवालेकी स्वाधीनता, २ तीन प्रदक्षिणा, ३. तीन निषद्या (बैठना), ४. तीन कायोत्सर्ग, ५. बारह आवर्त, ६. चार शिरोनति। आगे णमोकार मन्त्रके जपकी विधि और भेद कहे हैं।

इस अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिनदेव तो वीतरागी हैं न निन्दासे नाराज होते हैं और न स्तुतिसे प्रसन्न। तब उनकी स्तुतिसे फल-प्राप्ति कैसे होती है, इसीका समाधान करते हुए कहा है—भगवान्‌के गुणोंमें अनुराग करनेसे जो शुभ भाव होते हैं उनसे कार्योंमें विघ्न डालनेवाले अन्तराय कर्मके फल देनेकी शक्ति क्षीण होती है अतः अन्तराय कर्म इष्टका घात करनेमें असमर्थ होता है। इससे वीतरागकी स्तुति इष्टसिद्धिकारक होती है।

प्रातःकालीन देववन्दनाके पश्चात् आचार्य आदिकी वन्दना करनेकी विधि कही है। देववन्दना करनेके पश्चात् दो घटिका कम मध्याह्न तक स्वाध्याय करना चाहिए। तदनन्तर भिक्षाके लिए जाना चाहिए। फिर प्रतिक्रमण करके मध्याह्न कालके दो घटिका पश्चात् पूर्ववत् स्वाध्याय करना चाहिए। जब दो घड़ी दिन शेष रहे तो स्वाध्यायका समापन करके दैवसिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। फिर रात्रियोग ग्रहण करके आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। आचार्यवन्दनाके पश्चात् देववन्दना करनी चाहिए। दो घटिका रात

बीतनेपर स्वाध्याय आरम्भ करके अर्धरात्रिसे दो घड़ी पूर्व ही समाप्त कर देना चाहिए। स्वाध्याय न कर सके तो देववन्दना करे।

इस प्रकार नित्यविधि बतलाकर नैमित्तिक विधि बतलायी है। नैमित्तिक क्रियाविधिमें चतुर्दशी क्रियाविधि, अष्टमी क्रियाविधि, पक्षान्त क्रियाविधि है, सन्यास क्रियाविधि, श्रुतपंचमी क्रियाविधि, अष्टाह्निक क्रियाविधि, वर्षायोग ग्रहण, वर्षायोग मोक्ष, वीरनिर्वाण क्रिया आदि आती हैं। इन सब क्रियाओंमें यथायोग्य भक्तियोंका प्रयोग आवश्यक होता है। भक्तिपाठके बिना कोई क्रिया नहीं होती।

आगे आचार्य पद प्रतिष्ठापनकी क्रियाविधि बतलायी है। आचारवत्त्व आदि आठ, बारह तप, छह आवश्यक और दस कल्प ये आचार्यके छत्तीस गुण कहे हैं। इनका भी वर्णन है। अन्तमें दीक्षा ग्रहण, केशलोच आदिकी विधि है।

इस ग्रन्थमें साधुके अठाईस मूलगुणोंका वर्णन तो है किन्तु उन्हें एकत्र नहीं गिनाया है। ग्रन्थके अन्त में स्थितिभोजन, एकभक्त, भूमिशयन आदिका कथन अवश्य किया है।

३. अनगार धर्मामृतमें चर्चित कुछ विषय

धर्म और पुण्य

अनगार धर्मामृतके प्रथम अध्यायमें धर्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए ग्रन्थकारने सुख और दुःखसे निवृत्ति ये दो पुरुषार्थ बतलाये हैं और उनका कारण धर्मको कहा है। अर्थात् धर्मसे सुखकी प्राप्ति और दुःख-से निवृत्ति होती है। आगे कहा है—जो पुरुष मुक्तिके लिए धर्माचरण करता है उसको सांसारिक सुख तो स्वयं प्राप्त होता है अर्थात् सासारिक सुखकी प्राप्तिकी भावनासे धर्माचरण करनेसे सासारिक सुखकी प्राप्ति निश्चित नहीं है। किन्तु मुक्तिकी भावनासे जो धर्माचरण करते हैं उन्हें सासारिक सुख अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु वह धर्म है क्या? कौन-सा वह धर्म है जो मुक्तिके साथ सासारिक सुखका भी दाता है। वह धर्म है—

'सम्यग्दर्शनादियौगपद्यप्रवृत्तैकाग्रतालक्षणरूपशुद्धात्मपरिणाम।' आत्माके स्वरूपका विशेष रूपसे निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसका परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें लीनता सम्यक्चारित्र है। ये तीनों एक साथ एकाग्रतारूप जब होते है उसे ही शुद्धात्मपरिणाम कहते हैं और यथार्थमें यही धर्म है। इसीसे मुक्तिके साथ सासारिक सुख भी मिलता है। ऐसे धर्ममें जो अनुराग होता है उस अनुरागसे जो पुण्यबन्ध होता है उसे भी उपचारसे धर्म कहते हैं क्योंकि उस पुण्यबन्धके साथ ही नवीन पापकर्मका आस्रव रुकता है और पूर्वबद्ध पापकर्मकी निर्जरा होती है। पापका निरोध हुए बिना पुण्यकर्मका बन्ध नहीं हो सकता। अतः पुण्य-बन्धके भयसे धर्मानुरागको नहीं छोडना चाहिए। हाँ, जो पुण्यबन्धकी भावना रखकर संसारसुखकी अभि-लाषासे धर्मकर्म करते हैं वे पुण्यबन्धके यथार्थ भागी नहीं होते। पुण्य बाँधा नहीं जाता, बँध जाता है और वह उन्हीके बँधता है जो उसे बाँधनेकी भावना नहीं रखते। इसका कारण यह है कि शुभभावसे पुण्यबन्ध होता है और शुभभाव कषायकी मन्दतामें होते हैं। जो संसारके विषयसुखमें मग्न हैं और उसीकी प्राप्तिके लिए धर्म करते है उनके कषायकी मन्दता कहाँ। और कषायकी मन्दताके अभावमें शुभभाव कहाँ? और शुभभावके अभावमें पुण्यबन्ध कैसा?

आशाधरजीने पुण्यको अनुषंग शब्दसे ही कहा है क्योंकि वह धर्मसे प्राप्त होता है। धर्मके बिना पुण्यबन्ध भी नहीं होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप धर्मका सेवन करते हुए जो शुभराग रहता है उससे पुण्यबन्ध होता है। सम्यग्दर्शन आदिसे पुण्यबन्ध नहीं होता। रत्नत्रय तो मोक्षका ही कारण है, बन्धका कारण नहीं है क्योंकि जो मोक्षका कारण होता है वह बन्धका कारण नहीं होता। पुरुषार्थ-

सिद्धयुपायमें आचार्य अमृतचन्द्रजीने इसे अत्यन्त स्पष्ट किया है। आशाधरजीने भी इसी अध्यायके ९१वें श्लोकमें रत्नत्रयकी पूर्णताको मोक्षका ही कारण कहा है और इसी प्रसंगसे पुरुषार्थसिद्धयुपायके बहुचर्चित श्लोकोंको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—'

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगस्य सोऽयमपराधः ॥२२०॥
असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

पुरुषार्थसिद्धयुपायमें नीचेवाला श्लोक पहले है। उसकी क्रम संख्या २११ है और ऊपरवाला श्लोक बादमें है। उसकी क्रमसंख्या २२० है। इस दूसरे श्लोकका अर्थ प्रायः विद्वान् तक यह करते हैं कि 'असमग्र—एकदेश रत्नत्रयका पालन करनेवालेके जो कर्मबन्ध होता है वह विपक्षकृत—रागकृत होनेपर भी अवश्य मोक्षका उपाय है बन्धनका उपाय नहीं है।' किन्तु यह अर्थ गलत है। पं. आशाधरजीके द्वारा इस श्लोकको पूर्वमें न रखकर पीछे देनेसे इसके अर्थमें जो भ्रम है वह दूर हो जाना चाहिए। अर्थ इस प्रकार है—'यहाँ रत्नत्रय निर्वाणका ही कारण है, बन्धका कारण नहीं है। किन्तु (एकदेश) रत्नत्रयका पालन करते हुए जो पुण्यका आस्रव होता है वह तो शुभोपयोगका अपराध है। अर्थात् उस समय जो शुभोपयोग होता है उसके कारण पुण्य कर्मका आस्रव होता है'।

'एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो कर्मबन्ध होता है वह कर्मबन्ध अवश्य ही विपक्ष-रागकृत है। क्योंकि मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नहीं होता'।

अर्थात् रत्नत्रयके साथ होनेवाले शुभोपयोगसे बन्ध होता है। रत्नत्रयसे बन्ध नहीं होता। रत्नत्रय तो मोक्षका ही उपाय है। और मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नहीं होता। यही यथार्थ है। प्रबुद्ध पाठक २११ से २२० तकके श्लोकोंको पढ़ें तो उनका भ्रम अवश्य दूर होगा। यदि आचार्य अमृतचन्द्रको पुण्यबन्धको मोक्षका कारण बतलाना इष्ट होता तो प्रथम तो वे 'कर्मबन्धो'के स्थानमें ही पुण्यबन्ध शब्द रखते। दूसरे जो आगे कहा है कि जितने अंशमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है उतने अंशसे बन्ध नहीं होता। जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध होता है, यह कहना व्यर्थ हो जाता है। उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता।

किसी भी श्लोकका अर्थ पूर्वापर सापेक्ष ही यथार्थ होता है। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें गृहस्थके एकदेश रत्नत्रयके कथनका उपसंहार करते हुए २०९ नम्बरके श्लोकमें कहा है कि मुक्तिके अभिलाषी गृहस्थको प्रति समय एकदेश रत्नत्रयका पालन करना चाहिए। इस परसे यह आशंका होना स्वाभाविक है कि एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए भी कर्मबन्ध तो होता है। तो २१० नम्बरके पद्यमें उसे स्वीकार करते हुए कहा गया कि वह कर्मबन्ध रत्नत्रयसे नहीं होता किन्तु रत्नत्रयके विपक्षी रागके कारण होता है अर्थात् एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो राग रहता है वही बन्धका कारण है, रत्नत्रय बन्धका कारण नहीं है। वह तो मोक्षका कारण है और जो मोक्षका कारण होता है वह बन्धका कारण नहीं होता। आगेके सब पद्य इसीकी पुष्टिमें कहे गये हैं—जिस अंशसे सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्ज्ञानी है, सम्यक्चारित्री है उस अंशसे बन्ध नहीं होता। जिस अंशसे राग है उस अंशसे बन्ध होता है। योगसे प्रदेशबन्ध होता है। कषायसे स्थितिबन्ध होता है। दर्शन ज्ञान चारित्र न तो योगरूप हैं न कषायरूप हैं। तब इनसे बन्ध कैसे होता है। अतः रत्नत्रय तो निर्वाणका ही हेतु है बन्धका हेतु नहीं है। उसके होते हुए जो पुण्यका आस्रव होता है वह तो शुभोपयोगका अपराध है।'

यदि श्लोक २११ का अर्थ यह करते हैं कि वह कर्मबन्ध मोक्षका ही उपाय है तो आगेके कथनके साथ उसकी संगति नहीं बैठती और दोनोंमें पूर्वापर विरोध तो आता ही है।

पुरुषार्थसिद्धयुपायका जो प्राचीन संस्करण प्रचलित रहा है। वह रायचन्द्र शास्त्रमालासे १९०४ में प्रकाशित हुआ था। उसका हिन्दी अनुवाद नाथूरामजी प्रेमीने किया था। पं. टोडरमलजी तो पुरुषार्थसिद्धयुपाय की पूरी टीका नहीं लिख सके थे। उसकी पूर्ति पं. दौलतरामजीने की थी। एक टीका पं भूधर मिश्रने लिखी थी। वह पहले ब्राह्मण थे और पुरुषार्थसिद्धयुपायके अहिंसा प्रकरणसे प्रभावित होकर पीछे प्रसिद्ध पं. भूधरदास हुए। प्रेमोजीने अपने अनुवादके उत्तर भागमें पं. भूधर मिश्रकी टीकासे सहायता ली थी। इसीसे प्रेमीजी भी २११ के अर्थमें गलती कर गये और इस तरह उस गलत अर्थकी ऐसी परम्परा चली कि आजके विद्वान् भी उसी अर्थको ठीक मानने लगे। इसी तरहसे गलत परम्परा चलती है और उससे जिनागमके कथनमें भी पूर्वापर विरोध उपस्थित होता है। अतः पु. सि. के श्लोक २११ का तो यह अर्थ है ही नहीं कि पुण्य बन्ध मोक्षका कारण है। यह एक भिन्न प्रश्न है। पुण्यबन्धको साक्षात् मोक्षका कारण तो कोई भी नहीं मानता। जो मानते हैं वे भी उसे परम्परा कारण मानते हैं और वह भी सम्यग्दृष्टिका पुण्यबन्ध ही परम्परा मोक्षका कारण होता है मिथ्यादृष्टिका नहीं। क्योंकि सम्यग्दृष्टि पुण्यबन्धकी भावना रख-कर धर्मकार्य नहीं करता। पुण्यको तो वह हेय ही मानता है किन्तु रागके सद्भावसे पुण्यबन्ध तो होता है। निरीह भावसे संचित हुए ऐसे पुण्यबन्धको ही किन्हींने परम्परासे मोक्षका कारण कहा है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें तथा उसकी संस्कृत टीकामें पुण्यके सम्बन्धमें बहुत ही उपयोगी और श्रद्धान करने योग्य कथन है। गाथाओंका क्रमांक ४०९ से ४१३ तक है। नीचे हम उनका अर्थ देते हैं—

ये दस धर्म पापकर्मके नाशक और पुण्यके जनक कहे हैं। किन्तु पुण्यके लिए उन्हें नहीं करना चाहिए ॥४०९॥

इसकी टीकामें आचार्य शुभचन्द्रने कहा है कि पुण्य संसारका कारण है इसलिए पुण्यके लिए दस धर्म नहीं करना चाहिए।

जो पुण्यकी इच्छा करता है वह संसारकी इच्छा करता है। क्योंकि पुण्य सुगतिका कारण है और पुण्यके क्षय होनेसे निर्वाण होता है ॥४१०॥

जो विषयसुखकी तृष्णासे पुण्यकी इच्छा करता है उस मनुष्यके तीव्र कषाय है। क्योंकि तीव्र कषायके विना विषय सुखकी इच्छा नहीं होती। अतः विशुद्धि उससे कोसों दूर है और विशुद्धिके विना पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता ॥४११॥

तथा पुण्यकी इच्छा करनेसे पुण्यबन्ध नहीं होता। जो निरीह होता है अर्थात् परलोकमें सुखकी वांछा नहीं रखता, देखे हुए सुने हुए भोगे हुए भोगोंकी आकांक्षा रूप निदानसे रहित है, उसीको पुण्यरूप सम्पत्ति प्राप्त होती है। ऐसा जानकर हे मुनिजनो! पुण्यमें भी आदर भाव मत करो ॥४१२॥

मन्द कषायी जीव पुण्यबन्ध करता है अत. पुण्यबन्धका कारण मन्दकषाय है, पुण्यकी इच्छा पुण्यबन्ध-का कारण नहीं है ॥४१३॥

सारांश यह है कि जिनागममें जो पुण्यकी प्रशंसा की गयी है वह विषय कषायमें आसक्त संसारी जीवोंको पाप कर्मसे छुड़ानेके लिए की गयी है। उनके लिए पापकी अपेक्षा पुण्यबन्ध उपादेय हो सकता है किन्तु मोक्षाभिलाषीके लिए तो जैसे पाप त्याज्य है वैसे ही पुण्यबन्ध भी त्याज्य है। देवपूजा मुनिदान व्रतादि पुण्यकर्म भी वह मोक्ष सुखकी भावनासे ही करता है, पुण्यबन्धकी भावनासे नहीं करता। यदि करता है तो उसका पुण्यबन्ध संसारका ही कारण है।

निश्चय और व्यवहार

आचार विषयक ग्रन्थोंमें एक पुरुषार्थ सिद्धयुपायके प्रारम्भमें ही निश्चय और व्यवहारकी चर्चा मिलती है। उसमें कहा है कि भूतार्थको निश्चय और अभूतार्थको व्यवहार कहते हैं। प्रायः सारा संसार भूतार्थको

नहीं जानता और न जानना ही चाहता है। मुनीश्वर अज्ञानीको समझानेके लिए अभूतार्थका उपदेश देते हैं। जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह उपदेशका पात्र नहीं है। जैसे जो शेरको नहीं जानता उसे समझानेके लिए बिलावके समान सिंह होता है ऐसा कहनेपर वह बिलावको ही सिंह मानता है। उसी प्रकार निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय मानता है। यह कथन यथार्थ है। अज्ञानी ही नहीं ज्ञानी पुरुष भी व्यवहारको ही निश्चय मानकर बैठ जाते हैं।

पं. आशाधरजी इस रहस्यसे अभिज्ञ थे। अतः उन्होंने अनगार धर्मामृतके प्रारम्भमें निश्चय और व्यवहारका स्वरूप तथा उसके भेदोंका स्वरूप कहा है। तथा अन्यत्र भी यथास्थान निश्चयधर्म और व्यवहार धर्मको स्पष्ट किया है।

निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने लिखा है (१।९१) जिसका निश्चय किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं। अर्थसे अभिप्राय है वस्तु। विपरीत या प्रमाणसे बाधित अर्थ मिथ्या होता है। उस सर्वथा एकान्तरूप मिथ्या अर्थके आग्रहको मिथ्यार्थ अभिनिवेश कहते हैं। उससे शून्य अर्थात् रहित जो आत्मरूप है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। अथवा जिसके कारण मिथ्या अर्थका आग्रह होता है वह भी मिथ्यार्थ अभिनिवेश कहाता है। वह है दर्शनमोहनीय कर्म, उससे रहित जो आत्मरूप है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे विशिष्ट आत्मरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शनके होनेपर ही अनादि संसार सान्त हो जाता है।

तत्त्वरुचिको जो सम्यक्त्व कहा है वह उपचारसे कहा है। क्योंकि यदि तत्त्वरुचिको सम्यक्त्व कहा जायेगा तो क्षीणमोह आदि गुणस्थानोंमें सम्यक्त्वका अभाव प्राप्त होगा क्योंकि वहाँ रुचि नहीं है। रुचि तो मोहकी दशामें होती है।

यह सम्यक्त्व तत्त्वश्रद्धाके बिना नहीं होता। और तत्त्वश्रद्धा तत्त्वोपदेशके बिना नहीं होती। अतः जीव अजीव आदि तत्त्वोंका परिज्ञानपूर्वक श्रद्धान सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना चारित्र धारण करनेपर भी सम्यक्त्व प्रकट नहीं हो सकता। और चारित्रके बिना तत्त्व श्रद्धा मात्रसे सम्यक्त्व प्रकट हो सकता है। सम्यक्त्वपूर्वक चारित्र ही सम्यक्चारित्र होता है। सम्यक्त्वके बिना मुनिव्रत भी मिथ्याचारित्र कहलाता है। तभी तो कहा है—

मुनिव्रतधार अनन्तबार ग्रैवेयक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुखलेश न पायो ॥—छहढाला।

अतः संसारका अन्त करनेके लिए आत्मपरिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आत्मज्ञानकी ओरसे उदासीन रहकर चारित्र धारण करनेसे कोई लाभ नहीं है। अतः सबसे प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। कहा है—

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चारित्रं च ॥२१॥—पुरुषार्थसि.

'उस रत्नत्रयमें-से सर्वप्रथम समस्त प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्वको सम्यक्रूपसे प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि उसके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।'

तथा संशय, विपर्यय और अज्ञानसे रहित यथार्थ परिज्ञानरूप निश्चय सम्यग्ज्ञान है। वह भी आत्मस्वरूप है। और आत्माका अत्यन्त उदासीनरूप निश्चय सम्यक्चारित्र है जो समस्त कषायोंके और ज्ञानावरण आदि कर्मोंके अभावमें प्रकट होता है। ये तीनों जब पूर्ण अवस्थाको प्राप्त होते हैं तो मोक्षके ही मार्ग होते हैं। तथा व्यवहाररूप अपूर्ण रत्नत्रय अशुभकर्म पुण्य पाप दोनोंका संवर और निर्जरा करता है। जीवादितत्त्व विषयक श्रद्धानको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। उनके ज्ञानको व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं और मन, वचन, कायकी कृत कारित अनुमोदनासे हिंसादिका त्याग व्यवहार सम्यक्चारित्र है।

व्यवहारनयका अर्थ पं. आशाधरजी-ने अशुद्ध द्रव्यार्थिक लिया है। जो विधिपूर्वक विभाग करता है वह व्यवहारनय है। अर्थात् गुण और गुणीमें भेद करना व्यवहारनय है। जैसे आत्मा और रत्नत्रयमें भेद बुद्धि व्यवहारनय है। शुद्ध द्रव्यार्थिककी दृष्टिमें ये तीनों आत्मस्वरूप ही होते हैं। अतः निश्चयनयसे उन तीनोंसे समाहित अर्थात् रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्षका मार्ग है। पंचास्तिकायमें कहा है—

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। उनमें-से द्रव्यके भेद धर्मादि और पदार्थके भेद तत्त्वार्थोंके श्रद्धानरूप भावको सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा तत्त्वार्थश्रद्धानके सद्भावमें अंग और पूर्वगत पदार्थोंका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और आचारांग आदि सूत्रोंमें जो मुनिके आचारोंका समुदायरूप तप कहा है उसमें प्रवृत्ति सम्यक् चारित्र है। यह व्यवहारनयकी अपेक्षा मोक्षमार्ग है। (जिसमें साध्य और साधनमें भेद दृष्टि होती है और जो स्वपर हेतुक पर्यायके आश्रित है वह व्यवहारनय है) उस व्यवहारनय या अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह मोक्षमार्ग है। इसका अवलम्बन लेकर जीव ऊपरकी भूमिकामें आरोहण करता हुआ स्वयं रत्नत्रयरूप परिणमन करते हुए भिन्न साध्य-साधन भावका अभाव होनेसे स्वयं शुद्ध स्वभावरूप परिणमन करता है और इस तरह वह निश्चय मोक्षमार्गके साधनपनेको प्राप्त होता है। यथा—

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंच वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे समाहित आत्मा ही निश्चयसे मोक्षमार्ग है।

इस व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गमें साध्य-साधनभावको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रजीने कहा है कि कोई जीव अनादि अज्ञानके हटनेसे व्यवहार मोक्षमार्गको धारण करता है तो वह तत्त्वार्थका अश्रद्धान, अंगपूर्वगत अर्थका अज्ञान और तपमें अचेष्टाको त्यागकर तत्त्वार्थ श्रद्धान, अंगपूर्वगत अर्थके ज्ञान और तपमें चेष्टा रूप व्यवहार रत्नत्रयको अपनाता है। कदाचित् त्यागने योग्यका ग्रहण और ग्रहण करने योग्यका त्याग हो जाता है तो उसका प्रतीकार करके सुधार करता है। इस तरह व्यवहार अर्थात् भेद रत्नत्रयकी आराधना करते-करते एक दिन वह स्वयं त्याग और ग्रहणके विकल्पसे शून्य होकर स्वयं रत्नत्रय रूप परिणत होकर निश्चय मोक्षमार्ग रूप हो जाता है।

जबतक साध्य और साधनमें भेददृष्टि है तबतक व्यवहारनय है और जब आत्मा आत्माको आत्मासे जानता है, देखता है, आचरता है तब आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होनेसे अभेद दृष्टि-रूप निश्चयनय है। आशाधरजीने व्यवहार और निश्चयका यही लक्षण किया है—

कर्ताद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१-१०२।

जिसके द्वारा निश्चयकी सिद्धिके लिए कर्ता-कर्म-करण आदि कारक वस्तु—जीवादिसे भिन्न जाने जाते हैं वह व्यवहारनय है। और कर्ता आदिको जीवसे अभिन्न देखनेवाला निश्चयनय है।

इससे स्पष्ट है कि निश्चयकी सिद्धि ही व्यवहारका प्रयोजन है। उसके बिना व्यवहार भी व्यवहार कहे जानेका अपात्र है। ऐसा व्यवहार ही निश्चयका साधक होता है। निश्चयको जाने बिना किया गया व्यवहार निश्चयका साधक न होनेसे व्यवहार भी नहीं है। आशाधरजीने एक दृष्टान्त दिया है। जैसे नट रस्सीपर चलनेके लिए बाँसका सहारा लेता है और जब उसमें अभ्यस्त हो जाता है तो बाँसका सहारा छोड़ देता है उसी प्रकार निश्चयकी सिद्धिके लिए व्यवहारका अवलम्बन लेना होता है किन्तु उसकी सिद्धि होनेपर व्यवहार स्वतः छूट जाता है। व्यवहारके बिना निश्चयकी सिद्धि सम्भव नहीं है किन्तु व्यवहारका लक्ष्य

निश्चय होना चाहिए और वह सतत दृष्टिमें रहना चाहिए। निश्चयरूप धर्म धर्मकी आत्मा है और व्यवहाररूप धर्म उसका शरीर है। जैसे आत्मासे रहित शरीर मुर्दा—शवमात्र होता है वैसे ही निश्चयशून्य व्यवहार भी जीवनहीन होता है, उससे धर्मसेवनका उद्देश सफल नहीं होता। धर्म यथार्थमें वही कहलाता है जिससे संवरपूर्वक निर्जरा होकर अन्तमें समस्त कर्मबन्धनसे छुटकारा होता है।

आठवें अध्यायमें छह आवश्यकोंके कथनका सूत्रपात करते हुए आशाधरजीने कहा है—स्वात्मामें निःशंक स्थिर होनेके लिए छह आवश्यक करना चाहिए। यहाँ स्वात्मा या स्व-स्वरूपका चित्रण करते हुए वह कहते हैं—

शुद्धज्ञानघनस्वरूप जैसा आत्मा है, उसी रूपमें स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा अनुभव करता हुआ 'यह मैं अनुभूति हूँ' इस प्रकारकी स्वसंवित्तिके साथ अभेद रूपसे संगत जो श्रद्धा है उस रूप आत्मामें अर्थात् आत्माके द्वारा आत्मामें निश्चित मैं उसीमें स्थिर होनेके लिए छह आवश्यक करता हूँ। षडावश्यक करते हुए यह भावना होनी चाहिए। अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न साधु निश्चयचारित्रकी प्राप्तिके लिए षडावश्यक करता है।

इस प्रकरणके प्रारम्भमें आशाधरजीने समयसारमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपको अपनाया है। उसके बिना मोक्षमार्गकी गाड़ी चल ही नहीं सकती। जो आत्मज्ञानके बिना जिनलिंग धारण करके पूजापाठमें अपना कालयापन करते हैं वे बाह्यवेश मात्रसे दिगम्बर होनेपर भी यथार्थमें निर्ग्रन्थ लिंगके अधिकारी ही नहीं हैं।

समयसारकलशमें कहा है—

'यतः यह संवर साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेसे होता है और शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि भेदविज्ञानसे होती है अतः भेदविज्ञानकी भावना विशेष रूपसे करना चाहिए। यह भेदविज्ञान निरन्तर धारा-प्रवाह रूपसे तबतक करना चाहिए जबतक ज्ञान परपदार्थोंसे हटकर अपने स्वरूपमें स्थिर न हो जाये। क्योंकि जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए हैं। और जितने भी बद्ध हैं वे सब भेदविज्ञानके अभावमें ही बद्ध हैं'[1]॥

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि ज्ञानका ज्ञानमें स्थिर रहना दो प्रकारसे होता है—एक तो मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञानका होना और दूसरे शुद्धोपयोगरूप होकर ज्ञान विकाररूप न परिणमें। अतः मिथ्यात्वकी दशामें भेदविज्ञानकी भावनासे मिथ्यात्व हटता है। और मिथ्यात्व हटनेपर भेदविज्ञानकी भावना भानेसे शुद्धोपयोगरूप दशा प्राप्त होती है। अतः भेदविज्ञानका अनवच्छिन्न चिन्तन आवश्यक है।

आवश्यक करते हुए भी यह भेदविज्ञानकी धारा सतत प्रवाहित रहती है। अतः आवश्यक करते हुए साधु विचारता है कि भेदविज्ञानके बलसे साक्षात् कर्मोंका विनाश करनेवाली शुद्ध आत्माकी संवित्तिको जब-तक मैं प्राप्त नहीं कर लेता तबतक ही मैं इस आवश्यक क्रियाको करता हूँ।

वैसे मोक्षाभिलाषीको तो सभी कर्म त्याज्य हैं। उसमें पुण्य और पापका भेद नहीं है अर्थात् साधुको पुण्य कर्म करना चाहिए, पापकर्म नहीं करना चाहिए, ऐसा भेद नहीं है। क्योंकि कर्ममात्र बन्धका कारण है और ज्ञानमात्र मोक्षका कारण है। किन्तु जबतक कर्मका उदय है तबतक कर्म और ज्ञानका समुच्चय करनेमें कोई हानि नहीं है अर्थात् ज्ञानधाराके साथ कर्मकी भी धारा चलती ही है। किन्तु कर्मधारासे बन्ध ही

१. संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥
भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम् ॥१३०॥

होता है, ज्ञानधारासे ही मोक्ष होता है। समयसार कलश १११ के भावार्थमें पं. जयचन्दजी साहबने लिखा है—

'जो परमार्थभूत ज्ञानस्वभाव आत्माको तो जानते नहीं, और व्यवहार, दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप क्रियाकाण्डके आडम्बरको ही मोक्षका कारण जान उसीमें तत्पर रहते हैं उसीका पक्षपात करते हैं वे कर्मनयावलम्बी संसार समुद्रमें डूबते हैं। और जो परमार्थभूत आत्मस्वरूपको यथार्थ तो जानते नहीं और मिथ्यादृष्टि सर्वथा एकान्तवादियोंके उपदेशसे अथवा स्वयं ही अपने अन्तरंगमें ज्ञानका मिथ्यास्वरूप कल्पना करके उसीका पक्षपात करते हैं तथा व्यवहार, दर्शन, ज्ञान, चारित्रके क्रियाकाण्डको निरर्थक जानकर छोड़ते हैं वे ज्ञाननयके पक्षपाती भी संसार समुद्रमें डूबते हैं। किन्तु जो पक्षपातका अभिप्राय छोड़ निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए कर्मकाण्डको छोड़ते हैं और जब ज्ञानरूपमें स्थिर रहनेमें असमर्थ होते हैं तब अशुभ कर्मको छोड़ आत्मस्वरूपके साधनरूप शुभ क्रियाकाण्डमें लगते हैं वे संसारसे निवृत्त हो लोकके ऊपर विराजमान होते हैं।'

अतः आचार्य जयसेनने समयसार गाथा २०४ की टीकामें लिखा है—जो शुद्धात्मानुभूतिसे शून्य व्रततपश्चरण आदि कायक्लेश करते हैं वे परमात्मपदको प्राप्त नहीं कर सकते। सिद्धान्तशास्त्रमें जिसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहा है अध्यात्ममें उसे ही शुद्धात्मसंवित्ति कहा है।

किन्तु क्या शुद्धात्माकी संवित्ति सम्भव है ? और वह प्रत्यक्षरूप होती है क्या ? इसके उत्तरमें आचार्य जयसेनने संवराधिकारके अन्तमें कहा है—

'यद्यपि रागादि विकल्परहित स्वसंवेदनरूप भावश्रुतज्ञान शुद्धनिश्चयनयसे केवलज्ञानकी तुलनामें परोक्ष है। तथापि इन्द्रिय और मनोजन्य सविकल्प ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है। इससे आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है। परन्तु केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष भी है। सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा नहीं कह सकते। क्या चतुर्थकालमें भी केवली आत्माको हाथपर रखकर दिखाते थे ? वे भी दिव्यध्वनिके द्वारा कहते थे और श्रोता उसे सुनकर परोक्ष रूपसे उसका ग्रहण करते थे। पीछे वे परमसमाधिके समय प्रत्यक्ष करते थे। उसी प्रकार इस कालमें भी सम्भव है। अतः जो कहते हैं कि परोक्ष आत्माका ध्यान कैसे होता है उनके लिए उक्त कथन किया है।'

समयसार गाथा ९६ के व्याख्यान में कहा है कि विकल्प करनेपर द्रव्यकर्मका बन्ध होता है। इसपर शंकाकार पूछता है—

भगवन् ! ज्ञेयतत्त्वका विचाररूप विकल्प करनेपर यदि कर्मबन्ध होता है तो ज्ञेयतत्त्वका विचार व्यर्थ है, उसे नहीं करना चाहिए ? इसके समाधानमें आचार्य कहते हैं—'ऐसा नहीं कहना चाहिए। जब साधु तीन गुप्तिरूप परिणत होता हुआ निर्विकल्प समाधिमें लीन है उस समय तत्त्वविचार नहीं करना चाहिए। तथापि उस ध्यानके अभावमें शुद्धात्माको उपादेय मानकर या आगमकी भाषामें मोक्षको उपादेय मानकर सराग सम्यक्त्वकी दशामें विषयकषायसे बचनेके लिए तत्त्वविचार करना चाहिए। उस तत्त्वविचारसे मुख्य रूपसे तो पुण्यबन्ध होता है और परम्परासे निर्वाण होता है अतः कोई दोष नहीं है। किन्तु उस तत्त्वविचारके समय वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणत शुद्धात्मा ही साक्षात् उपादेय है ऐसा ध्यान रखना चाहिए'। इसपर-से शंकाकार पुनः शंका करता है—

१. 'मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये,
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च' ॥१११॥

भगवन् ! वीतराग स्वसंवेदनज्ञानका विचार करते समय आप वीतराग विशेषणका प्रयोग क्यों करते हैं ? क्या स्वसंवेदनज्ञान सराग भी होता है ?

उत्तर—विषयसुखके अनुभवका आनन्दरूप स्वसंवेदन ज्ञान सब जनोंमें प्रसिद्ध है किन्तु वह सरागस्वसंवेदन ज्ञान है। परन्तु शुद्धात्म सुखकी अनुभूतिरूप स्वसंवेदन ज्ञान वीतराग है। स्वसंवेदन ज्ञानके व्याख्यानमें सर्वत्र ऐसा जानना चाहिए।

इससे भोगीजन भी यह अनुभवन कर सकते हैं कि स्वसंवेदनज्ञान कैसा होता है। भोगके समय जब मनुष्यका वीर्यस्खलन होता है तब उसके विकल्पमें एकमात्र 'स्व' की ही अनुभूति रहती है। किन्तु वह अनुभूति रागाविष्ट है। ऐसी ही अनुभूति योगीको जब होती है जिसमें द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित केवल शुद्धात्माका अनुभवन रहता है वह वीतराग स्वसंवेदन होता है। वस्तुतः वह भावश्रुतज्ञानरूप होनेसे परोक्ष है तथापि उस कालमें उसे प्रत्यक्ष तुल्य माना गया है। उसीका विकास निरावरण अवस्थामें केवलज्ञानरूपसे होता है।

उसीको दृष्टिमें रखकर सागार धर्मामृत (८।९२) में समाधिमें स्थित श्रावकको लक्ष्य करके आशाधरजीने कहा है—

'शुद्ध श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वार्य स्वसंविदा।
भावयस्तल्लयापास्तचिन्तो मृत्वैहि निर्वृत्तिम् ॥'

हे आर्य ! श्रुतज्ञानके द्वारा राग-द्वेष-मोहसे रहित शुद्ध आत्माको स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा ग्रहण करके और उसीमें लीन हो, सब चिन्ताओंसे निर्मुक्त होकर मरण करो और मुक्ति प्राप्त करो।

इसीसे मुमुक्षुके लिए मुख्यरूपसे अध्यात्मका श्रवण, मनन, चिन्तन बहुत उपयोगी है। उसके बिना इस अशुद्ध दशामें भी शुद्धात्माकी अनुभूति सम्भव नहीं है। और शुद्धात्माकी अनुभूतिके बिना समस्त व्रत, तप आदि निरर्थक हैं। अर्थात् उससे शुद्धात्माकी उपलब्धिरूप मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर

समयसारके निर्जराधिकारमें कहा है कि सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि निश्चयसे राग पौद्गलिक है। पुद्गल कर्मके उदयके विपाकसे उत्पन्न होता है। यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव-स्वरूप हूँ। इस प्रकार तत्त्वको अच्छी तरह जानता हुआ स्वभावको ग्रहण करता है और परभावको त्यागता है। अतः जैसे कोई वैद्य विषकी मारणशक्तिको मन्त्र-तन्त्र, औषध आदिसे रोककर विष भक्षण करे तो मरणको प्राप्त नहीं होता उसी तरह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुद्गल कर्मके उदयको भोगता हुआ भी नवीन कर्मोंसे नहीं बँधता। अथवा जैसे कोई व्यापार कराता है यद्यपि वह स्वय व्यापार नहीं करता किन्तु व्यापारी मुनीमके द्वारा व्यापारका स्वामी होनेके कारण हानि-लाभका जिम्मेदार होता है। और मुनीम व्यापार करते हुए भी उसका स्वामी न होनेसे हानि-लाभका जिम्मेदार नहीं होता। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्व सचित कर्मके उदयसे प्राप्त इन्द्रियविषयोंको भोगता है तो भी रागादि भावोंके अभावके कारण विषयसेवनके फलमें स्वामित्वका भाव न होनेसे उसका सेवन करनेवाला नहीं कहा जाता। और मिथ्यादृष्टि विषयोंका सेवन नहीं करते हुए भी रागादि भावोंका सद्भाव होनेसे विषयसेवन करनेवाला और उसका स्वामी होता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि तो मुनीमके समान है और मिथ्यादृष्टि व्यापारीके समान है। एक भोग भोगते हुए भी बँधता नहीं है और दूसरा भोग नहीं भोगते हुए भी बँधता है। यहाँ यह शंका होती है कि परद्रव्यसे जबतक राग रहता है तबतक यदि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है तो अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंमें चारित्रमोहके उदयसे रागादिभाव होते हैं तब वहाँ सम्यक्त्व कैसे कहा है ? इसका समाधान यह है कि अध्यात्ममें मिथ्यात्वसहित अनन्तानुबन्धी-जन्य रागको ही प्रधान रूपसे राग कहा है क्योंकि वही अनन्त संसारका कारण है। उसके जानेपर रहनेवाला

चारित्रमोहनीयजन्य राग अनन्त संसारका कारण नहीं है अतः तज्जन्य बन्धको भी बन्ध नहीं कहा है। अतः सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहजन्य प्रवृत्तियोंको ऐसा मानता है कि यह कर्मका उदय है इससे निवृत्त होनेमें ही मेरा हित है। उसको वह रोगके समान आगन्तुक मानता है। और उसको मेटनेका उपाय करता है।

सिद्धान्तमें मिथ्यात्वको ही पाप कहा है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—

न मिथ्यात्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च सम्यक्त्वसम नान्यत्तनुभृताम् ॥

अर्थात् तीनों कालों और तीनों लोकोंमें प्राणियोंका मिथ्यात्वके समान कोई अकल्याणकारी नहीं है और सम्यक्त्वके समान कोई कल्याणकारी नहीं है।

अतः अध्यात्ममें जबतक मिथ्यात्व है तबतक शुभ क्रियाओंको भी पाप ही कहा है। किन्तु व्यवहार-नयकी प्रधानतामें व्यवहारी जीवोंको अशुभसे छुड़ाकर शुभमें लगानेकी दृष्टिसे पुण्य भी कहा है।

पं. आशाधरजीने आठवें अध्यायके प्रारम्भमें षडावश्यक क्रियाओंका कथन करनेसे पूर्व यह सब कथन किया है। और अन्तमें मुमुक्षुसे कहलाया है कि जबतक इस प्रकारके भेदज्ञानके बलसे मैं कर्मोंका साक्षात् विनाश करनेवाली शुद्धात्म संवित्तिको प्राप्त नहीं होता तबतक मैं षडावश्यकरूप क्रियाको करता हूँ। इस तरह नीचेकी भूमिकामें ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों पृथक्-पृथक् रूपसे चला करती है। यदि ज्ञानधारा न हो और केवल कर्मधारा हो तो वह निष्फल है उससे सन्यास ग्रहणका उद्देश कभी पूरा नहीं हो सकता। हाँ, ज्ञानधाराके साथ भी कर्मधाराके होनेपर बन्ध तो होता ही है। किन्तु पुण्यबन्धके साथ ही पापबन्धमें स्थिति अनुभागका ह्रास तो होता ही है पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा भी होती है। यह सम्यक् आवश्यक विधिका फल है।

शासनदेवता अवन्दनीय है

आठवें अध्यायमें वन्दना नामक आवश्यकका वर्णन करते हुए आशाधरजीने कहा है—

श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसयताः।
कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपिसंयतैः ॥५२॥

श्रावकको भी वन्दना करते समय असंयमी माता-पिता, गुरु, राजा, कुलिंगी और कुदेवकी वन्दना नहीं करना चाहिए। इसकी टीकामें आशाधरजीने 'कुदेवा' का अर्थ रुद्र आदि और शासनदेवता आदि किया है। और लिखा है कि साधुकी तो बात ही दूर, श्रावकको भी इनकी वन्दना नहीं करना चाहिए।

आशाधरजीके पूर्वज टीकाकार ब्रह्मदेवजीने भी बृहद्द्रव्यसग्रहकी टीकामें क्षेत्रपालको मिथ्यादेव लिखा है, यथा—'रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवाना'—(टीका. गा. ४१)

अतः शासनदेवो, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदिकी पूजना घोर मिथ्यात्व है। आजकलके कुछ दिगम्बरवेशी साधु और आचार्य अपने साथ पद्मावतीकी मूर्ति रखकर उसे पुजाते हैं और इस तरह मिथ्यात्वका प्रचार करते हैं और कुछ पण्डितगण भी उसमें सहयोग देते हैं, उनका समर्थन करते हैं। ऐसे ही साधुओं और पण्डितोंके लिए कहा है—

'पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

चारित्रभ्रष्ट पण्डितों और ठग तपस्वियोंने जिनभगवान्‌के निर्मल शासनको मलिन कर दिया।

मठाधीशोंकी निन्दा

दूसरे अध्यायके श्लोक ९६ तथा उसकी टीकामें आशाधरजीने मिथ्यादृष्टियोंके साथ संसर्गका निषेध करते हुए जटाधारी तथा शरीरमें भस्म रमानेवाले तापसियोंके साथ द्रव्यजिनलिंगके धारी अजितेन्द्रिय

दिगम्बर मुनियों और द्रव्यजिनलिंगके धारी मठपति भट्टारकोंको भी संसर्गके अयोग्य कहा है; क्योंकि उनका आचरण म्लेच्छोके समान होता है। वे शरीरसे दिगम्बर वेश धारण करके भी लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध आचरण करते हैं।

पं. आशाधरजीके समयमें भट्टारक पन्थ प्रवर्तित हो चुका था। किन्तु भट्टारक भी मुनियोकी तरह दिगम्बर वेशमें ही रहते थे। असलमें जब मुनिगण वनवास त्यागकर मन्दिर आदिमें रहने लगे और मन्दिरोंके लिए दानादि ग्रहण करने लगे तो वे भट्टारक कहे जाने लगे। क्रमशः भट्टारकोंकी गद्दियाँ स्थापित हो गयी और आचार्य शंकरके मठोंकी तरह जैन भट्टारकोंके भी मठ बन गये और इस तरह भट्टारक पन्थकी परम्परा प्रवर्तित हुई। भट्टारकोने मुस्लिम युगमे जिनायतनोकी तथा शास्त्र भण्डारोंकी सुरक्षा भी की और मन्त्र-तन्त्रसे अपना प्रभाव भी डाला। उनमें अनेक अच्छे विद्वान् और ग्रन्थकार भी हुए। किन्तु परिग्रह और अधिकार ऐसी वस्तुएँ है जिन्हे पाकर मद न होना ही आश्चर्य है। ये साधुको भी गिराये बिना नही रहते। पं आशाधरजीके लेखसे प्रकट है कि विक्रमकी तेरहवी शताब्दीमें भट्टारकोका आचरण इतना गिर गया था कि उसे म्लेच्छोका आचरण कहा गया। उस समय तो वे सब दिगम्बर वेशमें ही रहते थे। उत्तर कालमें तो उन्होने वस्त्र ही धारण कर लिया। आजके अनेक मुनि और आचार्य भी वस्तुत. भट्टारक-जैसे ही है। उनके साथमे परिग्रहका भार रहता है। उसे ढोनेके लिए वे मोटरें रखते है, मन्त्र-तन्त्र करते हैं, हाथ देखते हैं, भविष्य बताते हैं, पूजा-पाठ-अनुष्ठानमें कराते हैं। ये सब क्रियाएँ दिगम्बर मुनियोके भ्रष्टरूप भट्टारकोकी है।

सत् शूद्र दानका अधिकारी—

आचार्य सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें कहा है—

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिता.।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥७९१॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन ही वर्ण जिनदीक्षाके योग्य हैं किन्तु आहारदानके योग्य चारों है। क्योंकि सभी प्राणियोंको मानसिक, वाचनिक और कायिक धर्मका पालन करनेकी अनुमति है।

इसमे शूद्रको भी आहारदानके योग्य कहा है। अर्थात् वह जिनदीक्षा तो धारण नही कर सकता किन्तु मुनियोको दान दे सकता है। अनगारधर्मामृतके चतुर्थ अध्यायके १६७वें श्लोकमें एषणा समितिके स्वरूपमें कहा है कि विधिपूर्वक अन्यके द्वारा दिये गये भोजनको साधु ग्रहण करता है। टीकामें आशाधरजीने 'अन्यै.' का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सत्शूद्र किया है। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी तरह सत् शूद्र भी मुनिको आहारदान दे सकता है।

उक्त सोमदेव आचार्यने अपने नीतिवाक्यामृतमें कहा है—

सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥११॥

आचारानवद्यत्व शुचिरुपस्कर. शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्वीपरिकर्मसु योग्यम् ॥१२॥

अर्थात् एक बार विवाह करनेवालेको सत् शूद्र कहते हैं। आचारकी निर्दोषता, घर और उपकरणोकी पवित्रता और शारीरिक विशुद्धि शूद्रको भी देव, द्विज और तपस्वी जनोंके परिकर्मके योग्य बनाती है।

आशाधरजीने सोमदेवके उक्त कथन के ही आधारपर शूद्रको भी धर्मसेवनका अधिकारी कहा है—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुःशुद्धयाऽस्तु तादृशः।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥—सागारधर्म.

अर्थात् शूद्र भी उपस्कर अर्थात् आसनादि उपकरण, आचार अर्थात् मद्यमांस आदिका त्याग और शारीरिक विशुद्धि होनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके समान धर्मपालनका अधिकारी है। जन्मसे हीन होनेपर भी आत्मा काल आदिकी लब्धि आनेपर धर्मका सेवन कर सकता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जिन शूद्रोंमें पुनर्विवाह नहीं होता तथा खान-पान और रहन-सहन भी पवित्र है वे जैनधर्मका पालन करते हुए मुनिको आहारदान दे सकते हैं।

अतः आजकल जो मुनिगण आहार लेते समय श्रावकसे शूद्रके हाथका पानी न लेनेकी प्रतिज्ञा कराते हैं वह शास्त्रसम्मत नहीं है। सत् शूद्रके हाथका आहार तक साधुगण भी ले सकते हैं। गृहस्थकी तो बात ही क्या ?

४. ग्रन्थकार आशाधर

अनगार धर्मामृतके रचयिता आशाधर अपने समयके एक बहुश्रुत विद्वान् थे। न्याय, व्याकरण, काव्य, साहित्य, कोश, वैद्यक, धर्मशास्त्र, अध्यात्म, पुराण आदि विविध विषयोंपर उन्होंने ग्रन्थरचना की है। सभी विषयोंमें उनकी अस्खलित गति थी और तत्सम्बन्धी तत्कालीन साहित्यसे वे सुपरिचित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका समस्त जीवन विद्याव्यासंगमें ही बीता था और वे बड़े ही विद्यारसिक और ज्ञानघन थे। आचार्य जिनसेनने अपनी जयधवला टीकाकी प्रशस्तिमें अपने गुरु वीरसेनके सम्बन्धमें लिखा है कि उन्होंने चिरन्तन पुस्तकोंका गुरुत्व करते हुए सब पूर्वके पुस्तकशिष्यकोंको पीछे छोड़ दिया था अर्थात् चिरन्तनं शास्त्रोंके वे पारगामी थे। पं. आशाधर भी पुस्तकशिष्य कहलानेके सुयोग्य पात्र है। उन्होंने भी अपने समयमें उपलब्ध समस्त जैन पुस्तकोंको आत्मसात् कर लिया था। जिनका उद्धरण उनकी टीकाओंमें नहीं है उनके कालके सम्बन्धमें सन्देह रहता है कि ये आशाधरके पश्चात् तो नहीं हुए ?

आज सिद्धान्त और अध्यात्मकी चर्चाके प्रसंगसे दोनोंमें भेद-जैसा प्रतीत होता है क्योंकि सिद्धान्तके अभ्यासी अध्यात्ममें पिछड़े है और अध्यात्मके अभ्यासी सिद्धान्तमें। किन्तु भट्टारक युगमें पैदा हुए पं आशाधर सिद्धान्त और अध्यात्म दोनोंमें ही निष्णात थे। उन्होंने मुनिधर्मके व्यवहारचारित्र षडावश्यक आदिका कथन करनेसे पूर्व उसका लक्ष्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वात्मामें निःशंक अवस्थान करनेके लिए षडावश्यक करना चाहिए। और इस अध्यात्म चर्चाका उपसंहार करते हुए कहा है कि इस प्रकारके भेद-विज्ञानके बलसे जबतक मैं शुद्धात्माके ज्ञानको, जो कर्मोंका साक्षात् विनाशक है प्राप्त नहीं करता, तबतक ही सम्यग्ज्ञानपूर्वक आवश्यक क्रियाको करता हूँ। यह सब कथन करनेके पश्चात् ही उन्होंने षडावश्यकोंका वर्णन किया है।

मुनि और श्रावकका आचार सम्बन्धी उनकी धर्मामृत नामक कृति तथा उसकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका और ज्ञानदीपिका पंजिका यह एक ही ग्रन्थ उनके जिनागम सम्बन्धी वैदुष्यके लिए पर्याप्त है। वे मुनि या आचार्य नहीं थे, गृहस्थ पण्डित थे। किन्तु उन्होंने प्रत्येक प्रकारके व्यक्तिगत अभिनिवेशसे अपनेको दूर रखते हुए सिद्धान्तके वर्णनमें आचार्यपरम्परासम्मत वीतराग मार्गको ही दर्शाया है। उनकी सम्पूर्ण कृति किसी भी प्रकारके दुरभिनिवेशसे सर्वथा मुक्त है। यह उनके वैदुष्यकी एक बड़ी विशेषता है। तभी तो उनके पास मुनि तक पढ़नेके लिए आते थे।

भट्टारक युगमें रहकर भी वह उस युगसे प्रभावित नहीं थे। उन्होंने भट्टारकों और मुनिवेषियोंकी समान रूपसे भर्त्सना की है। और शासनदेवताओंको स्पष्ट रूपसे कुदेव कहा है।

विषयकी तरह संस्कृत भाषा और काव्यरचनापर भी उनका असाधारण अधिकार था। धर्मामृत धर्मशास्त्रका आकर ग्रन्थ है किन्तु उसकी रचना श्रेष्ठतम काव्यसे टक्कर लेती है: उसमें केवल अनुष्टुप् श्लोक ही नहीं हैं, विविध छन्द हैं और उनमें उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारकी बहुतायत है। संस्कृत भाषाका शब्द भण्डार भी उनके पास अपरिमित है और वे उसका प्रयोग करनेमें भी कुशल हैं। इसीसे उनकी रचना

क्लिष्ट हो गयी है। यदि उन्होंने उसपर टीका न रची होती तो उसको समझना संस्कृतके पण्डितके लिए भी कठिन हो जाता तथा उस टीकामें उन्होंने जो विविध ग्रन्थोंसे उद्धरण दिये हैं और विविध आगमिक चर्चाएँ की हैं उन सबके बिना तो धर्मामृत भी फीका ही रहता।

२. जीवन परिचय

आशाधरने अपनी तीन रचनाओंके अन्तमें अपनी प्रशस्ति विस्तारसे दी है। सबसे अन्तमें उन्होंने अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका रची थी। अतः उसमें पूर्ण प्रशस्ति है। उसके अनुसार उनके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका श्रीरत्नी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका नाम छाहड़ था। वे बघेरवाल वैश्य थे। माडलगढ़ (मेवाड़) के निवासी थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणसे त्रस्त होकर अपने परिवारके साथ मालवाकी राजधानी धारामें आकर बस गये थे। वहाँ उन्होंने पण्डित महावीरसे जैनेन्द्र व्याकरण और जैनन्याय पढ़ा।

३. रचनाओंका परिचय

१. प्रमेयरत्नाकर—इसकी प्रशंसा करते हुए इसे स्याद्वाद विद्याका विशद प्रसाद कहा है। यह तर्कप्रबन्ध है, जिससे निर्दोष पद्यामृतका प्रवाह प्रवाहित होता है अर्थात् पद्योंमें स्याद्वाद विद्या गुम्फित तर्क-शास्त्रपर यह ग्रन्थ रचा गया था। किन्तु यह अप्राप्य है। अतः इसके सम्बन्धमें विशेष कथन शक्य नहीं है।

२. भरतेश्वराभ्युदयकाव्य—इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम वृत्तमें सिद्धि शब्द आनेसे इसे सिद्धयंक कहा है। इस काव्यपर स्वोपज्ञ टीका भी थी। यह काव्य कविने अपने कल्याणके लिए रचा था। इसके दो-एक पद्य अनगार धर्मामृतकी टीकामें उद्धृत हैं। उनसे प्रतीत होता है यह अध्यात्मरससे परिपूर्ण था। नवम अध्यायके सातवें श्लोककी टीकामें लिखा है—

एतदेव च स्वयमप्यन्वाख्य सिद्धयङ्कमहाकाव्ये यथा—

परमसमयसाराभ्यासानन्दसर्प-
त्सहजमहसि साय स्वे स्वयं स्वं विदित्वा।
पुनरुदयदविद्यावैभवाः प्राणचार-
स्फुरदरुणविजृम्भा योगिनो यं स्तुवन्ति ॥

काव्यके नामसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें भरत चक्रवर्तीकी मोक्षप्राप्तिका वर्णन रहा हो।

३. पंजिका सहित धर्मामृत—तीसरी रचना है धर्मामृत। उसके दो भाग हैं—अनगार और सागार। इनमें क्रमसे जैन मुनियों और श्रावकोंके आचारका वर्णन है। इनका प्रकाशन हो चुका है तथा इस संस्करणमें अनगार प्रथमबार पंजिका सहित प्रकाशित हो रहा है। इसके पश्चात् प्रथमबार पंजिका सहित सागार प्रकाशित होगा। ऐसा प्रतीत होता है धर्मामृतके साथ ही उसकी पंजिका रची गयी थी। क्योंकि प्रशस्तिमें इसके सम्बन्धमें लिखा है—

योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि ॥

इसकी व्याख्या करते हुए आशाधरजीने 'अर्हद्वाक्यरसं' का अर्थ जिनागमनिर्यासभूत और 'निबन्धरुचिरं' का अर्थ 'स्वयंकृतज्ञानदीपिकाख्यपञ्जिकया रमणीयं' किया है अर्थात् धर्मामृत जिनागमका सारभूत है और स्वोपज्ञ ज्ञानदीपिका पंजिकासे रमणीय है। पंजिकाका लक्षण है 'पदभञ्जिका'। अर्थात् जिसमें केवल कुछ पदोंका विश्लेषण होता है, पूर्ण श्लोककी व्याख्या नहीं होती, उसे पंजिका कहते हैं। अनगार धर्मामृतकी पंजिकाके प्रारम्भमें कहा है—

'स्वोपज्ञधर्मामृतधर्मशास्त्रपदानि किंचित् प्रकटीकरोति'

अर्थात् स्वरचित धर्मामृत नामक धर्मशास्त्रके पदोंको किंचित् रूपसे प्रकट करता हूँ। अतः इसमें प्रत्येक पद्यके कुछ पदोंकी व्याख्या मात्र है। अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाका प्रारम्भ करते हुए तो ग्रन्थकारने ज्ञानदीपिकाका कोई उल्लेख नहीं किया है। किन्तु सागार धर्मामृतकी टीकाके प्रारम्भमें लिखा है—

समर्थनादि यन्नात्र ब्रुवे व्यासभयात् क्वचित्।
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत् पञ्जिकायां विलोक्यताम् ॥

अर्थात् विस्तारके भयसे किसी विषयका समर्थन आदि जो यहाँ नहीं कहा है उसे इसकी ज्ञानदीपिका नामक पंजिकामें देखो। अतः पंजिकामें आगत विषयसे सम्बद्ध ग्रन्थान्तरोंसे उद्धृत पद्योंका बाहुल्य है। उदाहरणके लिए दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें मिथ्यामतोंका निर्देश करनेके लिए अमितगतिके पंचसंग्रह तथा मिथ्यात्वके भेदोंके समर्थनमें अमितगतिके श्रावकाचारसे बहुत-से श्लोकादि उद्धृत किये हैं। इस तरह ज्ञानदीपिकामें भी ग्रन्थान्तरोंके प्रमाणोंका संग्रह अधिक है। इसी दृष्टिसे उसका महत्त्व है।

४. अष्टांगहृदयोद्योत—वाग्भट विरचित अष्टांगहृदय नामक ग्रन्थ आयुर्वेदका बहुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह उसकी टीका थी जो वाग्भटसंहिताको व्यक्त करनेके लिए रची गयी थी। यह अप्राप्य है। धर्मामृतकी टीकामें आयुर्वेदसे सम्बद्ध जो श्लोक उद्धृत हैं वे प्रायः वाग्भट संहिताके हैं।

५ मूलाराधनाटीका—भगवती आराधना अतिप्राचीन प्रसिद्ध आगम ग्रन्थ है। इसमें साधुके समाधिमरणकी विधिका विस्तारसे कथन है। इसपर अपराजित सूरिकी विजयोदया टीका संस्कृतमें अतिविस्तृत है। उसीके आधारपर आशाधरजीने भी संस्कृतमें यह टीका रची थी जो विजयोदया टीकाके साथ ही शोलापुरसे प्रथमबार १९३५में प्रकाशित हुई थी। इसमें विजयोदया टीका तथा एक टिप्पण और आराधनाकी प्राकृत टीकाका निर्देश आशाधरजीने किया है। इसमें भी ग्रन्थान्तरोंसे उद्धरणोंकी बहुतायत है। प्राकृत पंचसंग्रहका निर्देश इसी टीकामें प्रथमबार मिलता है। इससे पूर्व किसीने इसका उल्लेख नहीं किया था।

६ इष्टोपदेश टीका—पूज्यपाद स्वामीके इष्टोपदेश पर यह टीका रची गयी है और माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाके अन्तर्गत तत्त्वानुशासनादि संग्रहमें प्रथम बार मुद्रित हुई थी। उसके पश्चात् वीर सेवामन्दिर ग्रन्थमाला दिल्लीसे हिन्दी टीकाके साथ १९५४ में प्रकाशित हुई। यह टीका मूल ग्रन्थका हार्द समझनेके लिए अति उपयोगी है। इसमें अनेक उद्धृत पद्य पाये जाते हैं।

७ अमरकोश टीका—यह अप्राप्य है।

८. क्रिया कलाप—इसकी प्रति बम्बई ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें बतलायी गयी है।

९. आराधनासार टीका—यह अप्राप्य है।

१०. भूपाल चतुर्विंशतिका टीका—भूपाल चतुर्विंशतिका स्तोत्रकी यह टीका अप्रकाशित है।

११. काव्यालंकार—संस्कृत साहित्यमें रुद्रटका काव्यालंकार एक मान्य ग्रन्थ है उसपर यह टीका रची थी जो अप्राप्य है। अनगार धर्मामृतकी टीकामें (पृ. २५५) रुद्रटके काव्यालंकारका नामनिर्देश पूर्वक उद्धरण दिया है।

१२. जिन सहस्रनामस्तवन सटीक—जिन सहस्र स्तवन टीका सहित भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है। इसपर श्रुतसागर सूरिने भी टीका रची है वह भी उसीके साथ प्रकाशित हुई है।

१३. नित्यमहोद्योत—यह भगवान् अर्हन्तके महाभिषेकसे सम्बन्धित स्नान शास्त्र है इसका प्रकाशन श्रुतसागरी टीकाके साथ हो चुका है।

१४. रत्नत्रयविधान—इसमें रत्नत्रयके विधानकी पूजाका माहात्म्य वर्णित है। अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

१५. जिनयज्ञकल्प—प्राचीन जिनप्रतिष्ठाशास्त्रोंको देखकर आशाधरजीने युगके अनुरूप यह प्रतिष्ठा-शास्त्र रचा था। यह नलकच्छपुरके निवासी खण्डेलवाल वंशके भूषण अल्हणके पुत्र पापासाहुके आग्रहसे विक्रम संवत् १२८५ में आश्विन शुक्ला पूर्णिमाको प्रमारवंशभूषण श्री देवपाल राजाके राज्यमें नलकच्छपुरमें नेमिनाथ जिनालयमें रचा गया था। जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालयसे संवत् १९७४ में प्रतिष्ठासारोद्धारके नामसे हिन्दी टीकाके साथ इसका प्रकाशन हुआ था। अन्तिम सन्धिमें इसे जिनयज्ञकल्प नामक प्रतिष्ठा सारोद्धार संज्ञा दी है। उसके अन्तमें प्रशस्ति है जिसमें उक्त रचनाओंका उल्लेख है।

अतः ये पन्द्रह रचनाएँ वि. सं. १२८५ तक रची गयी थीं। सागार धर्मामृत टीकाकी प्रशस्तिमें इस जिनयज्ञकल्पका जिनयज्ञकल्पदीपक नामक टीकाके साथ उल्लेख है। अतः यह टीका १२८५ के पश्चात् ही रची गयी है क्योंकि जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें इसका निर्देश नहीं है।

१६ त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र—इसका प्रकाशन मराठी भाषाकी टीकाके साथ १९३७ में माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमालासे उसके ३६वें पुष्पके रूपमें हुआ है। इसमें आचार्य जिनसेन और गुणभद्रके महापुराणका सार है। इसको पढ़नेसे महापुराणका कथाभाग स्मृतिगोचर हो जाता है। शायद इसीसे इसका नाम त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र रखा है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र ये त्रेसठ शलाका पुरुष होते हैं। ये सब तीर्थंकरोंके साथ या उनके पश्चात् उन्हींके तीर्थमें होते हैं। आशाधरजी ने बड़ी कुशलतासे प्रत्येक तीर्थंकरके साथ उसके कालमें हुए चक्रवर्ती आदिका भी कथन कर दिया है। जैसे प्रथम चालीस श्लोकोंमें ऋषभ तीर्थंकर और भरत चक्रवर्ती आदिका कथन है। दूसरेमें सात श्लोकोंमें अजितनाथ तीर्थंकर और सगर चक्रवर्तीका कथन है। ग्यारहवेंमें दस श्लोकोंमें श्रेयासनाथ तीर्थंकरके साथ अश्वग्रीव प्रतिनारायण, विजय बलदेव और त्रिपृष्ठ नारायणका कथन है। इसी तरह बीसवेंमें इक्यासी श्लोकोंमें मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके साथ राम, लक्ष्मण और रावणकी कथा है। बाईसवेंमें सौ श्लोकोंमें नेमिनाथ तीर्थंकरके साथ कृष्ण, जरासन्ध और ब्रह्मदत्त चक्रीका कथन है। अन्तिममें पचास श्लोकोंमें भगवान् महावीर-के पूर्वभव वर्णित है।

इसकी अन्तिम प्रशस्तिमें इसकी पंजिकाका भी निर्देश है। अर्थात् इसपर पंजिका भी रची थी जो इसीके साथ मुद्रित है। यह पण्डित जाजाककी प्रेरणासे सवत् १२९२ में नलकच्छपुरमें राजा देवपालके पुत्र जैतुगिदेवके अवन्तीमे राज्य करते हुए रचा गया है। इसकी प्रशस्तिमें किसी अन्य नवीन रचनाका निर्देश नहीं है।

१७. सागारधर्मामृत टीका—इस टीकाके साथ सागार धर्मामृतका प्रथम संस्करण वि. सं. १९७२ में माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईके दूसरे पुष्पके रूपमें प्रकाशित हुआ था। इसकी रचना वि. सं १२९६ में नलकच्छपुरमें नेमिनाथ चैत्यालयमें जैतुगिदेवके राज्यमें हुई। इसका नाम भव्यकुमुदचन्द्रिका है। पोरवाड् वंशके समुद्धर श्रेष्ठीके पुत्र महीचन्द साहुकी प्रार्थनासे यह टीका रची गयी और उन्हींने इसकी प्रथम पुस्तक लिखी।

१८ राजीमती विप्रलम्भ—इसका निर्देश वि. सं. १३०० मे रचकर समाप्त हुई अनगार धर्मामृतकी टीका प्रशस्तिमें है। इससे पूर्वकी प्रशस्तिमें नहीं है अत. यह खण्डकाव्य जिसमें नेमिनाथ और राजुलके वैराग्यका वर्णन था स्वोपज्ञ टीकाके साथ १२९६ और १३०० के मध्यमें किसी समय रचा गया। यह अप्राप्य है।

१९. अध्यात्मरहस्य—अनगार धर्मामृत टीकाकी प्रशस्तिमें ही राजीमती विप्रलम्भके पश्चात् इसका उल्लेख है। यह पिताके आदेशसे रचा गया था। यह प्रसन्न किन्तु गम्भीर था। इसे पढ़ते ही अर्थबोध हो जाता था। तथा उसका रहस्य समझनेके लिए अन्य शास्त्रोंकी सहायता लेनी होती है; जो योगाभ्यासका प्रारम्भ करते उनके लिए यह बहुत प्रिय था। किन्तु यह भी अप्राप्य है।

२०. अनगारधर्मामृतटीका—अनगार धर्मामृतपर रचित भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका भी माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे उसके चौदहवें पुष्पके रूपमें १९१९ में प्रकाशित हुई थी। इसकी रचना भी नलकच्छपुरके नेमिजिनालयमें जैतुगिदेवके राज्यमें वि. स. १३०० में हुई थी। जिस पापा साहुके अनुरोधसे जिनयज्ञकल्प रचा गया था उसके दो पुत्र थे—बहुदेव और पद्मसिंह। बहुदेवके तीन पुत्र थे—हरदेव, उदयी और स्तम्भदेव। हरदेवने प्रार्थना की कि मुग्धबुद्धियोंको समझानेके लिए महीचन्द्र साहुके अनुरोधसे आपने सागार धर्मकी तो टीका बना दी किन्तु अनगार धर्मामृत तो कुशाग्र बुद्धिवालोंके लिए भी अत्यन्त दुर्बोध है इसकी भी टीका बनानेकी कृपा करें। तब आशाधरजीने इसकी टीका रची। इसका परिमाण १२२०० श्लोक जितना है। यही टीका आशाधरजीके पाण्डित्य और विस्तृत अध्ययनकी परिचायिका है। इसमें मूलग्रन्थसे सम्बद्ध आचारविषयक चर्चाओंको स्पष्ट तथा ग्रन्थान्तरोंसे प्रमाण देकर पुष्ट किया गया है।

रचनाकाल—रचनाओंके उक्त परिचयमें दिये गये उनको रचनाओंके कालसे आशाधरजीका रचनाकाल एक तरहसे निर्णीत-सा हो जाता है। वि. स. १३०० के पश्चात् की उनकी किसी कृतिका निर्देश नहीं मिलता। तथा वि. सं. १२८५ तक वे पन्द्रह रचनाएँ रच चुके थे। १२८५ के पश्चात् पन्द्रह वर्षोंमें अपनी पाँच रचनाओंका ही उल्लेख उन्होंने किया है। अत: उनका मुख्य रचनाकाल १२८५ से पूर्व ही रहा है। मोटे तौरपर विक्रमकी तेरहवीं शतीका उत्तरार्ध ही उनका रचनाकाल था।

४. आशाधरके द्वारा स्मृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

आशाधरने अपनी टीकाओंमें पूर्वके अनेक ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका निर्देश किया है और अनेक ग्रन्थोंसे बिना नामोल्लेखके उद्धरण दिये हैं। अनगार धर्मामृतकी टीकामें ही उद्धृत पद्योंकी संख्या एक हजारसे ऊपर है। यदि उन सबके स्थलोंका पता लग सके तो एक विशाल साहित्य भण्डार हमारे सामने उपस्थित हो जाये। किन्तु प्रयत्न करनेपर भी अनेक प्राचीन ग्रन्थोंके अप्राप्य या लुप्त हो जानेसे सफलता नहीं मिलती। नीचे हम संक्षेपमें उनका परिचय अंकित करते हैं—

१. आचार्य समन्तभद्रका निर्देश प्राय: स्वामी शब्दसे ही किया गया है। अन. टी. में पृ. १६० पर स्वामिसूक्त करके उनके रत्नकरण्ड श्रावकाचारसे अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। सागार धर्मामृतके दूसरे अध्यायमें अष्ट मूलगुणोंके कथनमें रत्नकरण्डका मत दिया है। वहाँ उसकी टीकामें 'स्वामीसमन्तभद्रमते' लिखकर उनका नामनिर्देश भी किया है। इसीमें भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचारोंके कथनमें 'अत्राह स्वामी यथा' लिखकर र. श्रा. का श्लोक देकर उसकी व्याख्या भी की है। अन्य भी अनेक स्थलोंपर रत्नकरण्ड श्रावकाचारका उपयोग किया गया है। अन. ध. टी. पृ. ९५ में यह प्रश्न किया गया है कि इस युगके लोग आप्तका निर्णय कैसे करें? उत्तरमें कहा गया है आगमसे और शिष्टोंके उपदेशसे निर्णय करें। इसकी टीकामें आगमके स्थानमें र. श्रा. का 'आप्तेनोत्सन्नदोषेण' आदि श्लोक उद्धृत किया है और 'शिष्टा:' की व्याख्या 'आप्तोपदेशसम्पादितशिक्षाविशेषा: स्वामिसमन्तभद्रादय:' की है। इस तरह उनके प्रति बहुत ही आदरभाव प्रदर्शित किया है।

२. भट्टाकलंकदेव—अन. टी. पृ. १६९ पर 'तथा चाहुर्भट्टाकलंकदेवा:' करके कुछ श्लोक उद्धृत हैं जो लघीयस्त्रयके अन्तिम श्लोक हैं।

३. भगवज्जिनसेनाचार्य—अन. टी. पृ. १७७ पर भगवज्जिनसेनाचार्यको मेघकी उपमा दी है क्योंकि वे विश्वके उपकारक हैं। उनके महापुराणका उल्लेख आर्ष रूपमें ही पृ. ७,२०,४०,४८०, ५६६ आदि पर सर्वत्र किया गया है। सागार धर्मामृतकी पंजिका तथा टीकामें भी आर्षके नामसे महापुराणके ३८-३९ पर्वके बहुत-से श्लोक उद्धृत हैं। सागारधर्मके निर्माणमें उससे बहुत सहायता ली गयी है।

४. कुन्दकुन्दाचार्य—अन. टी. पृ. १३२ पर 'यतास्त्विकाः' लिखकर एक गाथा उद्धृत की है जो आचार्य कुन्दकुन्दकृत द्वादश अनुप्रेक्षा की है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दका उल्लेख तात्त्विक शब्दसे किया है।

५. अपराजिताचार्य—विजयाचार्य—भगवती आराधनापर अपराजित सूरिकी विजयोदया नामक एक विस्तृत संस्कृत टीका है जो शोलापुरमें १९३५ में प्रकाशित हुई थी। अन. टी. पृ. १६६ पर भगवती आराधनाकी गाथा उद्धृत करके लिखा है कि इसका व्याख्यान विस्तारसे अपराजिताचार्य विरचित मूलाराधना टीकामें तथा हमारे (आशाधरके) रचे मूलाराधनादर्पण नामक निबन्धमें देखो। तथा पृ. ६७३ पर आचेलक्यका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि इसका समर्थन श्रीविजयाचार्य विरचित संस्कृत मूलाराधना टीकामें विस्तारसे किया है। अपराजित सूरिका ही नाम विजयाचार्य था या विजयोदया टीकाके नामपर-से इन्हें विजयाचार्य कहा जाता था। अनगार धर्मके कथनमें आशाधरने इनका बहुत उपयोग किया है।

६. अमृतचन्द्राचार्य—आचार्य अमृतचन्द्रका निर्देश प्रायः ठक्कुर (ठाकुर) शब्दके साथ किया है यथा पृ ५८८ पर लिखा है—'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रविरचित समयसार टीकायां द्रष्टव्यम्'। अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्धयुपायका भी उपयोग धर्मामृतकी रचनामें बहुतायतसे मिलता है। पृ. १६० पर रत्नकरण्डसे श्लोक उद्धृत करके लिखा है-'एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्' और पु. सि. से 'लोके शास्त्राभासे' आदि श्लोक उद्धृत किया है।

७. गुणभद्राचार्य—आत्मानुशासन और उत्तर पुराणके रचयिता गुणभद्रका निर्देश 'श्रीमद्गुणभद्रदेवपादाः' लिखकर आत्मानुशासनसे (पृ. ६३२) एक श्लोक उद्धृत किया है। ये गुणभद्र आचार्य जिनसेनके शिष्य थे।

८. रामसेन—पृ. ६३३ पर 'श्रीमद्रामसेनपूज्यैरप्यवाचि' लिखकर उनके तत्त्वानुशासनसे एक पद्य उद्धृत किया है।

९. आचार्य सोमदेव—यशस्तिलक चम्पू और नीतिवाक्यामृतके रचयिता आचार्य सोमदेवका उल्लेख प्रायः 'सोमदेव पण्डित' के नामसे ही किया गया मिलता है। अन. टी. पृ. ६८४ पर 'उक्तं च सोमदेवपण्डितै' लिखकर उनके उपासकाध्ययनसे तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। सागार धर्मामृत टीकामें तो कई स्थलोंपर इसी नामसे उनका निर्देश मिलता है। उनके उपासकाध्ययनका उपयोग धर्मामृतकी रचनामें बहुतायतसे किया गया है।

१०. आचार्य अमितगति—अमितगति नामसे इनका निर्देश मिलता है। इनके श्रावकाचार और पंचसंग्रहसे सर्वाधिक पद्य उद्धृत किये गये हैं।

११. आचार्य वसुनन्दि—वसुनन्दि श्रावकाचार तथा मूलाचार टीकाके कर्ता आचार्य वसुनन्दिका उल्लेख अन. टी. (पृ. ६०५) पर इस प्रकार मिलता है—'एतच्च भगवद् वसुनन्दिसैद्धान्तदेवपादैराचारटीकायां व्याख्यातं द्रष्टव्यम्।'

मूलाचारकी टीकाका अनगार धर्मामृतकी टीकामें (पृ. ३३९, ३४४, ३५८, ३५९, ५६८, ६८२, ६०५, ६८१) बहुधा उल्लेख पाया जाता है।

धर्मामृतकी रचनामें मूलाचार और उसकी टीकाका बहुत उपयोग हुआ है। तथा सागार धर्मामृतकी रचनामें उनके श्रावकाचारका उपयोग बहुतायतसे हुआ है।

१२. प्रभाचन्द्र—रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीकाके साथ उसके कर्ताका निर्देश अन. टी. (पृ. ६०८) पर इस प्रकार किया है—

'यथाहुः भगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादाः रत्नकरण्डकटीकायां'। इस निर्देशसे ऐसा प्रतीत होता है कि आशाधरजी प्रसिद्ध तार्किक प्रभाचन्द्रको ही टीकाकार मानते थे।

१३. पद्मनन्दि आचार्य—अन. टी. (पृ. ६७३) में सचेलता दूषणमें श्रीपद्मनन्दिपादके नामसे पद्मनन्दि पंचविंशतिकाका एक श्लोक उद्धृत है। पद्म. पं. का भी उपयोग आशाधरजीने विशेष किया है। इनमें विक्रमकी बारहवीं शताब्दी पर्यन्तके कुछ प्रमुख ग्रन्थकार आते हैं। अब हम कुछ ग्रन्थोंके नामोंका उल्लेख करेंगे जिनका निर्देश उनकी टीकाओंमें मिलता है—

तत्त्वार्थ वृत्ति (पृ. १४), यशोधरचरित, पद्मचरित (पृ ५०), तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक (पृ. ७३), स्वरचित ज्ञानदीपिका (९२, ९८), द्रव्यसंग्रह (११८), संन्यासविधि (१३३), आराधनाशास्त्र (१४८, १६१), नीति (नीतिवाक्यामृत, १७१), सिद्धान्त (म. आरा १६७), आगम (त्रिलोकसार १९३), आगम (गोमट्टसार २३३, २८९, २६४, २३५), प्रतिक्रमणशास्त्र (२२८), नीत्यागम (नीतिवाक्यामृत २४५), मन्त्रमहोदधि (२५२), जातकर्म (२७६), महापुराण (२७४), भारत (२७४), रामायण (२७४), प्रवचनसारचूलिका (३२६), आचार टीका (मूलाचार टीका), (३३९, ३४४, ३५८, ३५९), टिप्पण (मूलाचार टी ३५९), वार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक ४३१), माघकाव्य (४६२), शतक (४६५), त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (५२४), मूलाचार (५५४), चारित्रसार (५६४, ६६९), समयसार (५८६), समयसार टीका (५८८), क्रियाकाण्ड (६०५, ६५४), सिद्धचक महाकाव्य (६:३), सिद्धान्त सूत्र (षट्खण्डागम ६३८), संस्कृत क्रियाकाण्ड (६५३-६५४), प्राकृत क्रियाकाण्ड (६५४), ये तो मात्र अनगार धर्मामृतकी टीकामें निर्दिष्ट हैं। इनमें कुछ जैनेतर ग्रन्थ भी प्रतीत होते हैं जैसे संन्यास विधि, माघ काव्य, जातकर्म, भारत, रामायण।

मूलाराधनादर्पण नामक टीकामें दो उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—एक ज्ञानार्णवका, दूसरे प्राकृत पंच संग्रहका। प्राकृत पंच संग्रह प्राचीन है किन्तु इससे पहले उसके इस नामका निर्देश अन्य किसी भी ग्रन्थमें नहीं देखा। नामोल्लेख किये बिना जो उद्धरण दिये गये हैं उनसे सम्बद्ध ग्रन्थ भी अनेक हैं यथा—इष्टोपदेश, समाधितन्त्र, तत्त्वानुशासन, पंचास्तिकाय, आप्तस्वरूप, वरांगचरित, चन्द्रप्रभचरित, समयसारकलश, नयचक्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, योगशास्त्र, सम्मतिसूत्र, भावसंग्रह, प्रमाणपरीक्षा, अनर्घराघव नाटक, परमात्मप्रकाश, स्वयम्भूस्तोत्र, तत्त्वार्थसार, समवसरणस्तोत्र, ब्रह्मपुराण, वादन्याय आदि। अनेक श्लोकों और गाथाओंका तो पता ही नहीं चलता कि किस ग्रन्थसे ली गयी हैं। उनकी संख्या बहुत अधिक है। उक्त जैन ग्रन्थकारों और ग्रन्थोंके सिवाय कुछ जैनेतर ग्रन्थकारोंका भी निर्देश मिलता है, यथा—

१. भद्र रुद्रट—अन. टी. (पृ. १४, २५५) में भद्र रुद्रट तथा उनके काव्यालंकारका निर्देश है। साहित्य शास्त्रमें रुद्रट और उनके काव्यालंकारका विशेष स्थान है। इसीपर आशाधरजीने अपनी टीका रची थी।

२. वाग्भट—वाग्भटका अष्टांगहृदय नामक वैद्यक ग्रन्थ आयुर्वेदका प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें १२० अध्याय हैं। इसपर आशाधरजीने टीका रची थी। धर्मामृतकी टीकामें इसके अनेक उद्धरण पाये जाते हैं और यदाह वाग्भट (२३५) करके उनका नामोल्लेख भी है।

३. वात्स्यायन—वात्स्यायनका कामसूत्र अति प्रसिद्ध है। पृ २३८ में इनके नामके साथ एक श्लोक उद्धृत है जिसमें योनिमें सूक्ष्म जीव बतलाये हैं।

४. मनु—मनु महाराजकी मनुस्मृति अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। पृ. २७४ आदिमें मनुस्मृतिके अनेक श्लोक उद्धृत हैं।

५. व्यास—महाभारतके रचयिता व्यास ऋषि प्रसिद्ध हैं। पृ. ३८९ में इनके नामके साथ महाभारतसे एक श्लोक उद्धृत है। इस प्रकार आशाधरजीने अनेक ग्रन्थकारों और ग्रन्थोंका निर्देश किया है।

ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें आवश्यक प्रकाश डालनेके पश्चात् इसके अनुवादके सम्बन्धमें भी दो शब्द लिखना आवश्यक है। स्व. डॉ. ए. एन. उपाध्येने धर्मामृतके प्रकाशनकी एक योजना बनायी थी। उसीके अनुसार मैंने इसके सम्पादन भारको स्वीकार किया था। योजनामें प्रथम प्रत्येक श्लोकका

शाब्दिक अनुवाद तदनन्तर विशेषार्थ देनेका विधान है। विशेषार्थमें भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकामें आगत चर्चाओंको बिना विस्तारके संक्षेप रूपमें देना आवश्यक है। यदि आशाधरका किसी विषयपर अन्य ग्रन्थकारोंसे मतभेद हो तो उसे भी स्पष्ट करना चाहिए तथा आवश्यक प्रमाण उद्धृत करना चाहिए इत्यादि बातें हैं। इन सबका ध्यान रखते हुए ही मैंने यह अनुवाद किया है। प्रारम्भमें ज्ञानदीपिका पंजिका प्राप्त नहीं हुई थी। प्राप्त होनेपर उसका भी उपयोग यथायोग किया गया है। पं. आशाधरने अपनी टीकामें आगत विषयके समर्थनमें ग्रन्थान्तरोंके इतने अधिक उद्धरण दिये हैं कि उन सबको समेटना ही कठिन होता है। मतभेद यदि कहीं हुआ तो उसे भी स्वयं उन्होंने ही स्पष्ट कर दिया है कि इस विषयमें अमुकका मत ऐसा है। आशाधर किसी भी विषयमें आग्रही नहीं हैं। वे तो पूर्व परम्पराके सम्यक् अध्येता और अनुगामी विद्वान् रहे हैं। अस्तु,

खेद है कि डॉ. उपाध्ये इसका मुद्रण प्रारम्भ होते ही स्वर्गत हो गये। उनके जैसा साहित्यानुरागी और अध्यवसायी ग्रन्थ-सम्पादक होना कठिन है। उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी जयपुरके मन्त्रीजी तथा महावीर भवनके कार्यकर्ता डॉ. कस्तूरचन्दजी काशलीवालके द्वारा हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त होती रहती हैं अतः उनके प्रति भी आभारी हूँ। भट्टारक श्री यश:कीर्ति दि. जैन शास्त्र भण्डार श्री ऋषभदेवके श्री प. रामचन्द्रजी से ज्ञानदीपिकाकी एकमात्र प्रति प्राप्त हो सकी। जिससे उसका प्रकाशन हो सका। अतः उनका विशेष रूपसे आभारी हूँ। भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री बा. लक्ष्मीचन्द्रजी, मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके व्यवस्थापक डॉ. गुलाबचन्द्रजीको भी उनके सहयोगके लिए धन्यवाद देता हूँ।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
भदैनी, वाराणसी
महावीर जयन्ती २५०१

—*कैलाशचन्द्र शास्त्री*

विषय सूची

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय



प्रथम अध्याय

नमः सिद्धेभ्यः

प्रणम्य वीरं परमावबोधमाशाधरो मुग्धविबोधनाय ।
स्वोपज्ञधर्मामृतधर्मशास्त्रपदानि किंचित् प्रकटीकरोति ॥१॥

तत्र

नास्तिकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम् ।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥

इति मनसिकृत्य ग्रन्थकारः परमाराध्य-सिद्धार्हत्परमागमकर्तृव्याख्यातृदेशनाः स्वेष्टसिद्ध्यर्थं क्रमशः सप्रश्रयमाश्रयते । तत्रादौ तावदात्मनि परमात्मनः परिस्फूर्तिमाशंसति—हेत्वित्यादि—

हेतुद्वैतबलादुदीर्णसुदृशः सर्वंसहाः सर्वश-
स्त्यक्त्वा संगमजस्रसुश्रुतपराः संयम्य साक्षं मनः ।
ध्यात्वा स्वे शमिनः स्वयं स्वममलं निर्मूल्य कर्माखिलं,
ये शर्मप्रगुणैश्चकासति गुणैस्ते भान्तु सिद्धा मयि ॥१॥

हेतुद्वैतबलात्—अन्तरङ्गबहिरङ्गकारणद्वयावष्टम्भात् । तदुक्तम्[1]—
आसन्नभव्यता-कर्महानिसंज्ञित्व-शुद्धपरिणामाः ।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥

'शास्त्रके प्रारम्भमें आप्तका स्तवन करनेसे नास्तिकताका परिहार, शिष्टाचारका पालन और निर्विघ्न पुण्यकी प्राप्ति होती है'।

मनमें ऐसा विचार कर ग्रन्थकार अपनी इष्टसिद्धिके लिए क्रमसे परम आराध्य सिद्ध परमेष्ठी, अर्हन्त परमेष्ठी, परमागमके कर्ता गणधर, व्याख्याता आचार्य और धर्म-देशनाका विनयपूर्वक आश्रय लेते हैं। उनमें-से सर्व-प्रथम आत्मामें परमात्माके प्रतिभासकी कामना करते हैं—हेत्वित्यादि।

अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके बलसे सम्यक्त्वको प्राप्त करके, समस्त अन्तरंग व बहिरंग परिग्रहोंको त्यागकर, समस्त उपसर्ग और परीषहोंको सहन करके निरन्तर स्वात्मोन्मुख संवित्तिरूप श्रुतज्ञानमें तत्पर होते हुए मन और इन्द्रियोंका नियमन करके, तृष्णारहित होकर अपने में अपने द्वारा अपनी निर्मल आत्माका ध्यान करके जो समस्त द्रव्यभावकर्मोंको निर्मूलन करते हैं और सुख रूप प्रमुख गुणोंसे सर्वदा शोभित होते हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी मेरी आत्मामें भासमान हों—स्वसंवेदनके द्वारा सुस्पष्ट हों ॥१॥

विशेषार्थ—यद्यपि 'अन्तरंग व बहिरंग कारणोंके बलसे' यह पद सम्यग्दर्शनके साथ प्रयुक्त किया गया है किन्तु यह पद आदि दीपक है और इसलिए आगेके समस्त परिग्रहका

---

१. उद्धृतमिदं सोमदेव उपासकाध्ययने षष्ठप्रस्तावे ।

एतच्च सङ्गत्यागादावपि यथास्वं व्याख्यातव्यं सकलकार्याणामन्तरङ्गबहिरङ्ग-कारणद्वयाधीनजन्मत्वात्। उदीर्णसुदृशः—अप्रतिपातवृत्त्या प्रवृत्तसम्यक्त्वा.। सर्वशः—सर्वं सर्विकया संगं दशधा बाह्य चतुर्दशधाभ्यन्तरं च। व्याख्यास्यते च द्वयोरपि संगस्तद्ग्रन्थानबहिरित्यत्र। [४।१०५]

सर्वशः इत्यत्र शसा त्यागस्य प्राशस्त्यं द्योत्यते। तदुक्तम्—

अर्थिभ्यस्तृणवद् विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्
पापं तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात्परस्त्यक्तवान्।
प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रही-
दित्येते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः॥ [आत्मानु १०२]

त्याग, निरन्तर सम्यक्श्रुतमें तत्परता, इन्द्रिय और मनका नियमन, शुद्धात्माका ध्यान और समस्त कर्मोंका निर्मूलन, इनके साथ भी लगा लेना चाहिए; क्योंकि समस्तकार्य अन्तरंग और बहिरंग कारणोंसे ही उत्पन्न होते हैं। उनमें से सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण निकटभव्यता आदि हैं और बाह्य कारण उपदेशक आदि हैं। कहा भी है—निकटभव्यता सम्यक्त्वके प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मोंका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम, उपदेश आदि को ग्रहण कर सकने की योग्यता, संज्ञित्व और परिणामोंकी शुद्धता ये सम्यग्दर्शनके अन्तरंग कारण हैं और उपदेशक आदि बाह्य कारण हैं। इसी तरह परिग्रह त्याग आदिके भी अन्तरंग और बहिरंग कारण जानने चाहिए।

सम्यग्दर्शनमें आगत दर्शन शब्द दृश् धातुसे निष्पन्न हुआ है। यद्यपि दृश् धातुका प्रसिद्ध अर्थ देखना है किन्तु यहाँ श्रद्धान अर्थ लिया गया है क्योंकि धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं। कहा भी है[1]—'विद्वानोंने निपात, उपसर्ग और धातुको अनेक अर्थवाला माना है।'

कहा जा सकता है कि प्रसिद्ध अर्थका त्याग क्यों किया? उसका उत्तर है कि सम्यग्दर्शन मोक्षका कारण है अतः तत्त्वार्थका श्रद्धान आत्माका परिणाम है। वह मोक्षका कारण हो सकता है क्योंकि वह भव्य जीवोंके ही सम्भव है। किन्तु देखना तो आँखोंका काम है, और आँखें तो चौइन्द्रियसे लेकर सभी संसारी जीवोंके होती हैं अतः उसे मोक्षका मार्ग नहीं कहा जा सकता। अस्तु,

सम्यग्दर्शनमें जो सम्यक् शब्द है उसका अर्थ प्रशंसा आदि है। तत्त्वार्थसूत्रकारने भी सम्यग्दर्शनका लक्षण इसी प्रकार कहा है—तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। दर्शन मोहनीय कर्मका उपशमादि होने पर आत्मामें जो शक्ति विशेष प्रकट होती है जिसके होनेसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, उस तत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणतिको दर्शन कहते हैं।

आगममें मुमुक्षुओंके लिए सहन करने योग्य परीषहों और उपसर्गोंका कथन किया है उन्हें जो धैर्य आदि भावना विशेषके साहाय्यसे सहन करते हैं। अर्थात् अपने-अपने निमित्तोंके मिलने पर आये हुए परीषहों और उपसर्गोंसे महासात्त्विक और वज्रकाय होनेके कारण अभिभूत नहीं होते हैं, तथा समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़ देते हैं। चेष्टा और उपयोगरूप वृत्तिके द्वारा ममकार और अहंकार (मैं और मेरा) से जीव उसमें आसक्त होता है इसलिए परिग्रहको संग कहते हैं। सर्वशः शब्दमें प्रयुक्त प्रशंसार्थक शस् प्रत्ययसे त्यागकी उत्तमता प्रकट होती है। क्योंकि सभी मुक्तिवादी मतोंने समस्त परिग्रहके त्यागको मुक्तिका अंग अवश्य माना है। उसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। इस उक्त कथन

१ निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः। अनेकार्थाः स्मृताः सद्भिः पाठस्तेषां निदर्शनम्॥

एतेन सम्यक्त्वचारित्राराधनाद्वयमासूत्रितं प्रतिपत्तव्यम्। अजस्रसुश्रुतपराः—संततस्वात्मोन्मुखसंवित्तिलक्षणश्रुतज्ञाननिष्ठाः। यदवोचत् स्वयमेव स्तुतिषु—

से संक्षेपरुचि शिष्योंकी अपेक्षा यहाँ ग्रन्थकारने सम्यक्त्व आराधना और चारित्र आराधनाको सूचित किया है। सम्यग्ज्ञानका सम्यग्दर्शनके साथ और तपका चारित्रके साथ अविनाभाव होनेसे उन दोनोंमें दोनोंका अन्तर्भाव हो जाता है।

सम्यग्दर्शनके साथ सम्यक्चारित्रको धारण करनेके पश्चात् साधुको निरन्तर सम्यक् श्रुतज्ञानमें तत्पर रहना चाहिए। अस्पष्ट ऊहापोहको श्रुतज्ञान कहते हैं। जब वह श्रुतज्ञान स्वात्मोन्मुख होता है, आत्मस्वरूपके चिन्तन और मननमें व्यापृत होता है तो वह सम्यक् श्रुत कहा जाता है। श्रुत शब्द 'श्रु' धातुसे बना है जिसका अर्थ है सुनना। किन्तु जैसे दर्शनमें दृश् धातुका देखना अर्थ छोड़कर श्रद्धान अर्थ लिया गया है उसी प्रकार श्रुतसे ज्ञानविशेष लिया गया है। अर्थात् श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर जिस आत्मामें श्रुतज्ञानकी शक्ति प्रकट हुई है और साक्षात् या परम्परासे मतिज्ञानपूर्वक होनेसे उसमें अतिशय आ गया है उस आत्माकी अस्पष्ट रूपसे नाना अर्थोंके प्ररूपणमें समर्थ जो ज्ञानविशेषरूप परिणति है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। कहा भी है—'मतिज्ञान पूर्वक शब्द योजना सहित जो ऊहापोह होता है वह श्रुतज्ञान है। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान पूर्वक जो विशेष ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान होते ही जो श्रुतज्ञान होता है वह साक्षात् मतिज्ञान पूर्वक है और उस श्रुतज्ञानके बाद जो श्रुतज्ञान होता है वह परम्परा मतिज्ञान पूर्वक है। मतिज्ञानके बिना श्रुतज्ञान नहीं होता और मतिज्ञान होनेपर भी यदि श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम न हो तो भी श्रुतज्ञान नहीं होता। यद्यपि श्रुतज्ञान पाँचों इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए मतिज्ञान पूर्वक होता है तथापि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवको होनेवाले श्रुतज्ञानमें शब्दयोजनाकी विशेषता है। शास्त्रीय चिन्तन शब्दको सुनकर चलता है। जैसे—'मेरी एक आत्मा ही शाश्वत है। ज्ञान और दर्शन उसका लक्षण है। शेष मेरे सब भाव बाह्य हैं जो कर्मसंयोगसे प्राप्त हुए हैं। जीवने जो दुःख-परम्परा प्राप्त की है उसका मूल यह संयोग ही है अतः समस्त संयोग सम्बन्धको मन वचन कायसे त्यागता हूँ'। इस आगम-वचनको सुननेसे मनमें जो आत्मोन्मुख विचारधारा चलती है वस्तुतः वही सम्यक् श्रुत है उसीमें साधु तत्पर रहते हैं। यहाँ पर शब्दका अर्थ प्रधान है। उससे यह अभिप्राय है कि श्रुत स्वार्थ भी होता है और परार्थ भी है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ है और वचनात्मक श्रुत परार्थ है। सर्वदा स्वार्थश्रुतज्ञान भावनामें दत्तचित्त साधु भी कभी कभी अनादिवासनाके वशीभूत होकर शब्दात्मक परार्थ श्रुतमें भी लग जाते हैं। इस परार्थ श्रुतज्ञानीकी अपेक्षा 'जो सुना' जाये उसे श्रुत कहते हैं। अतः श्रुतका अर्थ शब्द होता है। शोभनीय श्रुतको सुश्रुत कहते हैं अर्थात् शुद्धचिदानन्दस्वरूप आत्माका कथन और तद्विषयक पूछताछ आदि रूपसे मुमुक्षुओंके लिए अभिमत जो श्रुत है वही सुश्रुत है यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसार (३।३२-३३) में लिखा है कि साधु वही है जिसका मन एकाग्र है और एकाग्र मन वही हो सकता है जिसको आत्मतत्त्वका निश्चय है। यह निश्चय आगमसे होता है। अतः आगमके अभ्यासमें लगना ही सर्वोत्कृष्ट है। साधुके लिए स्व-परका ज्ञान तथा परमात्माका ज्ञान आवश्यक है अतः उसे ऐसे ही द्रव्यश्रुतका

स्वात्माभिमुखसंवित्तिलक्षणश्रुतचक्षुषाम् ।
पश्यन् पश्यामि देव त्वां केवलज्ञानचक्षुषा ॥

यच्छ्रुतं यथा—

एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
संजोगमूलं जीवेण पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥ [मूलाचार ४८-४९]

इत्यादि । सेयं ज्ञानाराधना ।

अभ्यास करना चाहिए जिसमें स्व और परके तथा परमात्माके स्वरूपका वर्णन हो। फिर ध्यानावस्थामें उसीका चिन्तन करना चाहिए। यह चिन्तन ही स्वार्थ श्रुतज्ञान भावना है। ग्रन्थकारने उसीको प्रथम स्थान दिया है तभी तो लिखा है कि सदा स्वार्थश्रुतज्ञान भावनामें संलग्न रहनेवाले साधु भी अनादि वासनाके वशीभूत होकर परार्थ शब्दात्मक श्रुतमें भी उद्यत होते हैं, दूसरे साधुओंसे चर्चा वार्ता करते हैं—वार्तालाप करते हैं। यह व्यर्थका वार्तालाप रूप शब्दात्मक श्रुत वस्तुतः सु-श्रुत नहीं है। वही शब्दात्मक श्रुत वस्तुतः सुश्रुत है जिसके द्वारा शुद्ध आत्म-तत्त्वका प्रतिपादन या पृच्छा वगैरह की जाती है। ऐसा ही सुश्रुत मुमुक्षुओंके लिए इष्ट होता है। कहा भी है—

"वही बोलना चाहिए, वही दूसरोंसे पूछना चाहिए, उसीकी इच्छा करनी चाहिए, उसीमें उद्यत होना चाहिए जिसके द्वारा अज्ञानमय रूपको छोड़कर ज्ञानमयरूप प्राप्त होता है।'[1]

पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें भी कहा है—

वह महत् ज्ञानमय उत्कृष्ट ज्योति अज्ञानकी उच्छेदक है। अतः मुमुक्षुओंको गुरुजनोंसे उसीके विषयमें पूछना चाहिए, उसीकी कामना करना चाहिए और उसीका अनुभव करना चाहिए। यह साधुओंकी ज्ञानाराधना है।"[2]

ज्ञानाराधनाके पश्चात् ग्रन्थकारने चारित्राराधनाका कथन करते हुए अक्ष और मनके नियमनकी बात कही है। पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (१।१२) में 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अक्षका अर्थ आत्मा किया है। उसी व्युत्पत्तिको अपनाकर ग्रन्थकारने अक्षका अर्थ इन्द्रिय किया है। यथायोग्य अपने आचरण और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेपर जिनके द्वारा स्पर्शादि विषयोंको आत्मा जानता है उन्हें अक्ष कहते हैं। वे अक्ष हैं लब्धि और उपयोग रूप स्पर्शन आदि भावेन्द्रियाँ। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं उसके होनेपर ही द्रव्येन्द्रियोंकी रचना होती है। उसके निमित्तसे जो आत्माका परिणाम होता है वह उपयोग है। ये लब्धि और उपयोग दोनों भावेन्द्रिय हैं।

नोइन्द्रियावरण और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर द्रव्यमनसे उपकृत आत्मा जिसके द्वारा मूर्त और अमूर्त वस्तुको जानता है, गुण दोषका विचार, स्मरण आदिका

१. तद्ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् । येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥
२. अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् । तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ॥

संयम्य—तत्तद्विषयान्निवर्त्य । सैषा तप-आराधना । 'इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं तपः' इत्यभिधानात् । शमिनः—ध्यायप्पि (ध्येयेऽपि) वितृष्णाः सन्तः । अमलं—द्रव्य-भावकर्मनिर्मुक्तम् । सोऽयं ध्यात्वेत्यादिना निश्चयमोक्षमार्गः । उक्तं च—

'रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्मि ।
तम्हा तत्तियमइओ हंदि (होदि) हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥'

[द्रव्यसं. ४० गा.]

निर्मूल्य—मूलादपि निरस्य । कर्म—ज्ञानावरणादिकं आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपं वा । शर्मप्रगुणैः—शर्म सुखं तदेव प्रकृष्टः सर्वेषामभीष्टतमत्वात्, गुणो धर्मो येषा ते तथोक्ता. परमानन्दामृतखचिता इत्यर्थः । चकासति—नित्यं दीप्यन्ते, नित्यप्रवृत्तस्य वर्तमानस्य विवक्षितत्वात् । एवमुत्तरत्रापि । गुणैः सम्यक्त्वादिभिः । तद्यथा—

प्रणिधान रूपसे विकल्प करता है वह भावमन है। कहा भी है[1]—आत्माके गुणदोष-विचार, स्मरण आदि प्रणिधानको भावमन कहते हैं। और गुणदोषका विचार तथा स्मरणादि प्रणिधानके अभिमुख आत्माके अनुग्राहक पुद्गलोंके समूहको द्रव्यमन कहते हैं।

यह तप आराधना है क्योंकि इन्द्रिय और मनके द्वारा नियमके अनुष्ठानका नाम तप है। ऐसा आगममें कहा है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

आगे 'ध्यात्वा' इत्यादि पदोंके द्वारा ग्रन्थकारने निश्चय मोक्षमार्गका कथन किया है। एक ही विषयमें मनके नियमनको ध्यान कहते है। जब चिन्ता के अनेक विषय होते हैं तो वह चंचल रहती है, उसको सब ओर से हटाकर एक ही विषयमें संलग्न करना ध्यान है। इस ध्यानका विषय द्रव्यकर्म और भावकर्मसे रहित तथा मिथ्याअभिनिवेश, संशय विपर्यय अनध्यवसायमें रहित ज्ञानस्वरूप या परम औदासीन्यरूप निर्मल आत्मा होती है। ऐसी आत्माका ध्यान करनेवाले आनन्दसे ओतप्रोत शुद्ध स्वात्मानुभूतिके कारण अत्यन्त तृप्त होते हैं। ध्येयमें भी उनकी वितृष्णा रहती है। कहा भी है[2]—अधिक कहनेसे क्या? तात्त्विक रूपसे श्रद्धान करके तथा जानकर ध्येयमें भी मध्यस्थभाव धारण करके इस समस्त तत्त्वका ध्यान करना चाहिए। यह निश्चय मोक्षमार्ग है। द्रव्यसंग्रहमें कहा है—आत्माके सिवाय अन्य द्रव्यमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय नहीं रहता। इसलिए रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्षका कारण है।

मोक्षकी प्राप्ति कर्मोंका निर्मूलन किये बिना नहीं होती। मिथ्यादर्शन आदिसे परतन्त्र आत्माके द्वारा जो किया जाता है—बाँधा जाता है उसे कर्म कहते हैं। आत्माकी परतन्त्रतामें निमित्त ज्ञानावरण आदि अथवा आत्मप्रदेशोंके हलनचलनरूप कर्मको कर्म कहते हैं। समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म या घातिकर्म और अघातिकर्मका क्षय करके अनादि मिथ्यादृष्टि या सादिमिथ्यादृष्टि भव्यजीव अनन्तज्ञान आदि जिन आठ गुणोंसे सदा शोभित होते हैं उनमें सबसे उत्कृष्ट गुण सुख है क्योंकि सभी उसे चाहते हैं। मोहनीय कर्मके क्षयसे परम सम्यक्त्व

१. गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमनः ।
तदभिमुखस्यैवानुग्राही पुद्गलोच्चयो द्रव्यमनः ॥—इष्टोप. ४९ ।

२. किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः ।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता ॥—तत्त्वानु. १३८ श्लोक ।

'सम्मत्तणाण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव ओगहणं ।
अगुरुगलहुगमवाहं अट्ठ गुणा होंति सिद्धाणं ।।' [भावसंग्रह ६९४ गा.]

भान्तु—परिस्फुरन्तु स्वसंवेदनसुव्यक्ताः सन्त्वित्यर्थः । सिद्धाः—सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरेषामतिशयेनास्तीति । अर्श आदित्वादः । त एते नोआगमभावसिद्धा द्रव्यभावकर्मनिर्मुक्तत्वात् । तथा चोक्तम्—'संसाराभावे पुंसः स्वात्मलाभो मोक्ष' इति । मयि ग्रन्थकर्तर्यात्मनि ॥१॥

या परम सुख प्राप्त होता है, ज्ञानावरणके क्षयसे अनन्तज्ञान और दर्शनावरणके क्षयसे अनन्तदर्शन गुण प्रकट होते हैं। अन्तरायकर्मके क्षयसे अनन्तवीर्य प्रकट होता है, वेदनीयकर्मके क्षयसे अव्याबाधत्व गुण या इन्द्रियजन्य सुखका अभाव होता है, आयुकर्मके क्षयसे परमसौख्य की प्राप्ति या जन्ममरणका विनाश होता है। नामकर्मके क्षयसे परम अवगाहना या अमूर्तत्व प्रकट होता है। गोत्रकर्मके क्षयसे अगुरुलघुत्व या दोनों कुलोंका अभाव प्राप्त होता है। इस तरह जिन्होंने स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धिको प्राप्त कर लिया है वे सिद्ध सर्वप्रथम ग्रन्थकारकी आत्मामें और पश्चात् उसके पाठकोंकी आत्मामें स्वसंवेदनके द्वारा सुस्पष्ट होवें यह ग्रन्थकारकी भावना है।

सारांश यह है कि अन्तरंग व बहिरंग कारणके बलसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके फिर समस्त परिग्रहको त्याग कर सदा सम्यक् श्रुतज्ञानकी भावनामें तत्पर रहते हुए समस्त इन्द्रियों और मनको अपने-अपने विषयोंसे हटाकर अपनी शुद्ध आत्माको शुद्ध आत्मामें स्थिर करके उसमें भी तृष्णारहित होकर, घातिकर्मोंको नष्ट करके स्वाभाविक निश्चल चैतन्य स्वरूप होकर, पुनः अघातिकर्मोंको भी नष्ट करके लोकके अग्रभागमें स्थिर होकर जो सदा केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व और सिद्धत्वभावसे शोभित होते हैं वे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी नोआगमभाव रूपसे मेरेमें स्वात्माका दर्शन देवें। अर्थात् मैं उस सिद्ध स्वरूपको प्राप्त कर सकूँ।

अर्हन्त आदिके गुणोंमें सभी प्रकारका अनुराग शुभ परिणाम रूप होनेसे अशुभ कर्मप्रकृतियोंमें रसकी अधिकताका उन्मूलन करके वांछित अर्थको प्राप्त करनेमें सहायक होता है इसलिए विचारशील पूर्वाचार्य अपने ज्ञानसम्बन्धी दानान्तराय कर्मको और श्रोताओंके ज्ञानसम्बन्धी लाभान्तराय कर्मको दूर करनेके लिए अपने-अपने शास्त्रके प्रारम्भमें अर्हन्त आदि समस्त पञ्चपरमेष्ठियोंका या उनमेंसे किसी एकका अथवा उनके गुणोंका इच्छानुसार संस्तवनरूप मंगल करते हुए पाये जाते हैं। इस शास्त्रके प्रारम्भमें भी ग्रन्थकारने अपने और दूसरोंके विघ्नोंकी शान्तिके लिए सर्वप्रथम सिद्धोंका, उनके पश्चात् अर्हन्त आदिका विनयकर्म नान्दीमंगलरूप से किया है।

तथा, जो जिस गुणका प्रार्थी होता है वह उस गुणवाले का आश्रय लेता है इस नियमके अनुसार चूँकि ग्रन्थकार सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके प्रार्थी हैं अतः प्रथम सिद्धोंकी वन्दना करते हैं तथा उनकी प्राप्तिके उपायोंका उपदेश करनेवालोंमें सबसे ज्येष्ठ अर्हन्तपरमेष्ठी होते हैं अतः सिद्धोंके पश्चात् अर्हन्त आदिका भी स्मरण करते हैं। कहा[1] भी है—

---

१. अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय. सुबोधः प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥'

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें उद्धृत

अथैवं तद्गुणग्रामस्य सहसा प्राप्त्यर्थितया प्रथमं सिद्धानाराध्य इदानीं तदुपायोपदेशकज्येष्ठतया त्रिजगज्ज्येष्ठतया त्रिजगज्ज्येष्ठमर्हद्भट्टारकमखिलजगदेकशरणं प्रपत्तुमनाः 'श्रेयोमार्गानभिज्ञान्' इत्याद्याह—

श्रेयोमर्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलद्दुःखदाव- १
स्कन्धे चङ्क्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान् ।
इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्य-
प्रक्रान्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात् ॥२॥ ६

'इष्ट फलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञानसे प्राप्त होता है, सम्यग्ज्ञान शास्त्रसे प्राप्त होता है, शास्त्रकी उत्पत्ति आप्तसे होती है इसलिए आप्तके प्रसादसे प्रबुद्ध हुए लोगोंके द्वारा आप्त पूज्य होता है क्योंकि साधुजन किये हुए उपकारको भूलते नहीं हैं।'

इसके सिवाय, शीघ्र मोक्षके इच्छुकको परमार्थसे मुक्तात्माओंकी ही भक्ति करनी चाहिए, यह उपदेश देनेके लिए ग्रन्थकारने प्रथम सिद्धोंकी आराधना की है। कहा[1] भी है—

संयम और तपसे संयुक्त होनेपर भी जिसकी बुद्धिका रुझान नवपदार्थ और तीर्थंकर की ओर हो तथा जो सूत्रोंमें रुचि रखता है उसका निर्वाण बहुत दूर है। इसलिए मोक्षार्थी जीव परिग्रह और ममत्वको छोड़कर सिद्धोंमें भक्ति करता है उससे वह निर्वाणको प्राप्त करता है। अर्थात् शुद्ध आत्मद्रव्यमें विश्रान्ति ही परमार्थसे सिद्धभक्ति है उसीसे निर्वाणपद प्राप्त होता है।

इस प्रकार सिद्धोंके गुणोंकी प्राप्तिका इच्छुक होनेसे प्रथम सिद्धोंकी आराधना करके ग्रन्थकार आगे उसके उपायोंका उपदेश करनेवालोंमें ज्येष्ठ होनेसे तीनों लोकोंमें ज्येष्ठ, समस्त जगत्के एक मात्र शरणभूत अर्हन्त भट्टारककी शरण प्राप्त करनेकी भावनासे उनका स्मरण करते हैं—

—इस भवरूपी भीषण वनोंमें दुःखरूपी दावानल बड़े जोरसे जल रही है और श्रेयोमार्गसे अनजान ये बेचारे प्राणी अत्यन्त भयभीत होकर इधर-उधर भटक रहे हैं। मैं इनका उद्धार करूँ इस बढ़ते हुए परोपकारके रससे विशेषरूपसे शोभित भावनासे संचित पुण्यसे उत्पन्न हुए वचनोंके द्वारा जो उसके योग्य प्राणियोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं वे अर्हन्त-जिन हमारी रक्षा करें ॥२॥

विशेषार्थ—जिसमें जीव चार गतियोंमें भ्रमण करते रहते हैं तथा प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप वृत्तिका आलम्बन करते हैं उसे भव या संसार कहते हैं। यह भव जो हमारे सम्मुख विद्यमान है नाना दुःखोंका कारण होनेसे भीषण वनके तुल्य है। इसमें होने वाले शारीरिक मानसिक आगन्तुक तथा सहज दुःख दावानलके समान हैं। जैसे वनमें लगी आग वनके प्राणियोंको शारीरिक और मानसिक कष्टके साथ अन्तमें उनका विनाश ही कर देती है वैसे ही ये संसारके दुःख भी अन्तमें विनाशक ही होते हैं। यह दुःख ज्वाला बड़ी तेजीसे रह-रहकर प्रज्वलित होती है इससे भयभीत होकर भी बेचारे प्राणी इधर-उधर भटकते हुए उसीकी ओर चले जाते हैं क्योंकि उन्हें श्रेयोमार्गका ज्ञान नहीं है। श्रेय है मोक्ष,

---

१. सपयत्थं तित्थयरं अधिगतबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स। दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स ॥
तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य भविय पुणो। सिद्धेसु कुणदि भत्ती णिव्वाणं तेण पप्पोदी ॥
—पञ्चास्तिकाय १७०–१६२

श्रेयोमार्गः—मुक्तिपथः प्रशस्तमार्गश्च । आज्वलन्—देदीप्यमानः । दावः—दवाग्निः । चंक्रम्यमाणान्—कुटिलं क्रामतः । दुःखदावाग्निमुखं गच्छत इति भावः । उद्धरेयम्—तादृग्भवगहननिस्सरणोपायोपदेशेन उपकुर्याम्यहम् । अर्हे सप्तमी । सैषा तीर्थकरत्वभावना । तथा चोक्तमार्षे गर्भान्वयक्रियाप्रक्रमे—

'मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्त्वस्य भावना ।
गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥ इति । [महापु. ३८।५८]

आरोहदित्यादि । आरोहन् क्षणे क्षणे वर्धमानः, परेषामनुग्राह्य देहिनामनुग्रहः उपकारस्तस्य रसप्रकर्षस्तद्भवहर्षो वा, तेन विलसन्त्यो विशेषेणानन्यसामान्यतया द्योतमाना भावनाः परमतीर्थकरत्वाख्यनामकारणभूताः षोडशदर्शनविशुद्ध्यादिनमस्कारसंस्कारा: ताभिरुपात्तमुपार्जितं पुण्यं तीर्थकरत्वाख्यः सुकृतविशेषः तेन केवलज्ञानसन्निधानलब्धोदयेन प्रक्रान्तैः प्रारब्धैः, तत्प्रक्रान्तैरेव न विवक्षादिजनितैः, वीतरागे भगवति तद्विरोधात् । तथा चोक्तम्—

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितौष्ठद्वयं,
नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम् ।
शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,
तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः ॥ [समवसरणस्तोत्र ३०] इति ।

संसारके बन्धनसे छूटकर जीव जो स्वरूप लाभ करता है उसीको श्रेय या मोक्ष कहते हैं। उसका मार्ग या प्राप्तिका उपाय व्यवहारनयसे तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है किन्तु निश्चयनयसे रत्नत्रयमय स्वात्मा ही मोक्षका मार्ग है। इससे या तो वे बिलकुल ही अनजान हैं या निःसंशय रूपसे नहीं जानते अथवा व्यवहार और निश्चय रूपसे पूरी तरह नहीं जानते। उन्हें देखकर जिनके मनमें यह भावना उठती है कि नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित इन तीनों लोकोंके प्राणियोंका मैं उद्धार करूँ, उन्हें इन दुःखोंसे छूटनेका उपाय बतलाऊँ। यह भावना ही मुख्यरूपसे अपायविचय नामक धर्मध्यानरूप तीर्थंकर भावना है। महापुराणमें गर्भान्वय क्रियाके वर्णनमें तीर्थंकर भावनाका उल्लेख है।

"मैं एक साथ तीनों लोकोंका उपकार करनेमें समर्थ बनूँ" इस प्रकारकी परम करुणासे अनुरंजित अन्तश्चैतन्य परिणाम प्रतिसमय वर्धमान होनेसे परोपकारका जब आधिक्य होता है उससे दर्शनविशुद्धि आदि १६ भावनाएँ होती हैं जो परमपुण्य तीर्थंकर नामकर्मके बन्धमें कारण होती हैं। ये भावनाएँ सभीके नहीं होतीं, इनका होना दुर्लभ है। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करनेके पश्चात् केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर बिना इच्छाके भगवान् अर्हन्तकी वाणी खिरती है। चूँकि वे वीतराग होते हैं अतः वहाँ विवक्षा—बोलनेकी इच्छा नहीं होती। कहा भी है—'जो समस्त प्राणियोंके लिए हितकर है, वर्णसहित नहीं है, जिसके बोलते समय दोनों ओष्ठ नहीं चलते, जो इच्छा पूर्वक नहीं हैं, न दोषोंसे मलिन हैं, जिनका क्रम श्वाससे रुद्ध नहीं होता, जिन वचनोंको पारस्परिक वैर भाव त्यागकर प्रशान्त पशुगणोंके साथ सभी श्रोता सुनते हैं, समस्त विपत्तियोंको नष्ट कर देनेवाले सर्वज्ञ देवके अपूर्व वचन हमारी रक्षा करें।'[1] आचार्य जिनसेन स्वामीने अपने महापुराण (२३।६९-७३) में लिखा है कि भगवान्के मुखरूपी कमलसे मेघोंकी गर्जनाका अनुकरण करनेवाली दिव्यध्वनि निकल रही थी। यद्यपि वह एक प्रकार की थी तथापि सर्वभाषारूप परिणमन करती थी।

१. समवसरण स्तोत्र ३०।

वाक्यैः—दिव्यध्वनिभिः । उक्तं च—

'पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाए रत्तीए ।
छच्छघडियाणिग्गय दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थे ॥'

उचितान्—योग्यान् समासमायातभव्यानित्यर्थः ।—अर्हन्—अरिहननात् रजोरहस्यहरणाच्च परिप्राप्तानन्तचतुष्टयस्वरूपः सन् इन्द्रादिनिर्मितामतिशयवतीं पूजामर्हतीति निरुक्तिविषयः ॥२॥

अथेदानीमर्हद्भट्टारकोपदिष्टार्थसमयग्रन्थकत्वेन सकलजगदुपकारकान् गणधरदेवादीन् मनसि निधत्ते—

**सूत्रग्रथो गणधरानभिन्नदशपूर्विणः ।
प्रत्येकबुद्धानध्येमि श्रुतकेवलिनस्तथा ॥३॥**

सूत्रग्रथः—सूत्रमर्हद्भासितमर्थसमयं ग्रथ्नन्ति अङ्गपूर्वप्रकीर्णकरूपेण रचयन्तीत्येतान् । गणधरान्—गणान् द्वादश यत्यादीन् जिनेन्द्रसभ्यान् धारयन्ति मिथ्यादर्शनादौ (मिथ्यादर्शनादेर्विनिवृत्य सम्यग्दर्शनादौ) स्थाप-

---

आगे आचार्यने लिखा है कि कोई लोग ऐसा कहते हैं कि दिव्यध्वनि देवोंके द्वारा की जाती है किन्तु ऐसा कहना मिथ्या है क्योंकि ऐसा कहनेमें भगवान्के गुणका घात होता है। इसके सिवाय दिव्यध्वनि साक्षर होती है क्योंकि लोकमें अक्षरोंके समूहके बिना अर्थका ज्ञान नहीं होता।

यह दिव्य ध्वनि प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रिके मध्यमें छह छह घड़ी तक अर्थात् एक बारमें एक घण्टा ४४ मिनिट तक खिरती है, ऐसा आगममें कथन है।

अर्हन्त परमेष्ठी इस दिव्य ध्वनिके द्वारा मोक्षमार्गकी जिज्ञासासे समवसरणमें समागत भव्य जीवोंको उपदेश देते हैं। कहा भी[1] है—दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओंसे बाँधे गये तीर्थंकर पुण्य कर्मके उदयसे भगवान् तीर्थंकर अर्हन्त जिज्ञासु प्राणियोंको इष्ट वस्तुको देनेवाले और संसारकी पीड़ाको हरनेवाले तीर्थका उपदेश देते हैं। अरि—मोहनीय कर्मका हनन करनेसे अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मका घात करनेसे उन्हें अरिहन्त कहते हैं और उक्त कर्मोंको नष्ट करके अनन्तचतुष्टय स्वरूपको प्राप्त कर लेनेसे इन्द्रादिके द्वारा निर्मित अतिशय युक्त पूजाके पात्र होनेसे अर्हन्त कहते हैं। वे अर्हन्त हमारी रक्षा करें—अभ्युदय और मोक्षसे भ्रष्ट करनेवाली बुराइयोंसे हमें बचावें ॥२॥

आगे अर्हन्त भगवान्के द्वारा उपदिष्ट अर्थको शास्त्रमें निबद्ध करनेके द्वारा सकल जगत्के उपकारक गणधर देव आदिका स्मरण करते हैं—

सूत्रोंकी रचना करनेवाले गणधरों, अभिन्न दसपूर्वियों, प्रत्येक बुद्धों और श्रुतकेवलियोंका मैं ध्यान करता हूँ ॥३॥

विशेषार्थ—जिनेन्द्रदेवके समवसरणमें आये हुए मुनि आदि बारह गणोंको जो धारण करते हैं, उन्हें मिथ्यात्व आदिसे हटाकर सम्यग्दर्शन आदिमें स्थापित करते हैं उन्हें गणधर या धर्माचार्य कहते हैं। वे अर्हन्त भगवान्के द्वारा उपदिष्ट अर्थकी बारह अंगों और चौदह पूर्वोंमें रचना करते हैं। दशपूर्वी भिन्न और अभिन्नके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे जो ग्यारह अंगोंको पढ़कर पुनः परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका इन पाँच अधिकारोंमें निबद्ध बारहवें दृष्टिवाद अंगको पढ़ते समय जब उत्पादपूर्वसे लेकर दसवें

१. दृग्विशुद्ध्याद्युत्थतीर्थंकृत्त्वपुण्योदयात् स हि ।
शास्त्यायुष्मान् सतोऽर्तिघ्नं जिज्ञासूंस्तीर्थमिष्टदम् ॥

यन्तीत्येतान् धर्माचार्यान् । अभिन्नदशपूर्विणः—अभिन्नाः विद्यानुवादपाठे स्वयमायातद्वादशशतविद्याभिरप्रच्यावितचारित्रास्ते च ते दशपूर्वाण्युत्पादपूर्वादिविद्यानुवादान्तान्येषां सन्तीति दशपूर्विणश्च तान् । प्रत्येकबुद्धान्—एकं केवलं परोपदेशनिरपेक्षं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषं प्रतीत्य बुद्धान् संप्राप्तज्ञानातिशयान् श्रुतकेवलिनः—समस्तश्रुतधारिणः ॥३॥

अधुना जिनागमव्याख्यातॄनारातीयसूरीनभिष्टौति—

ग्रन्थार्थतो गुरुपरम्परया यथावच्छ्रुत्वावधार्य भवभीरुतया विनेयान् ।
ये ग्राहयन्त्युभयनीतिबलेन सूत्रं रत्नत्रयप्रणयिनो गणिनः स्तुमस्तान् ॥४॥

ग्राहयन्ति—निश्चाययन्ति, उभयनीतिबलेन—उभयी चासौ नीतिः—व्यवहारनिश्चयद्वयी, तदवष्टम्भेन गणिनः—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यप्रभृतीन् इत्यर्थः ॥४॥

पूर्व विद्यानुवादको पढ़ते हैं तो विद्यानुवादके समाप्त होनेपर सात सौ लघुविद्याओंके साथ पाँच सौ महाविद्याएँ उपस्थित होकर पूछती हैं—भगवन् ! क्या आज्ञा है ? ऐसा पूछने पर जो उनके लोभमें आ जाता है वह भिन्न दसपूर्वी होता है। किन्तु जो उनके लोभमें नहीं आता और कर्मक्षयका ही अभिलाषी रहता है वह अभिन्न दसपूर्वी है। परोपदेशसे निरपेक्ष जो श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषसे स्वयं ज्ञानातिशयको प्राप्त होते हैं उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहते हैं। समस्त श्रुतके धारीको श्रुतकेवली कहते है। वे श्रुतज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ केवलज्ञानीके सदृश होते हैं इसलिए उन्हें श्रुतकेवली कहते हैं। आचार्य समन्तभद्रने अपने आप्तमीमांसामें श्रुतज्ञान और केवलज्ञानको सर्वतत्त्वप्रकाशक कहा है। अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष होता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष होता है। ये सब—गणधर, अभिन्नदसपूर्वी, प्रत्येक बुद्ध और श्रुतकेवली ग्रन्थकार होते हैं, भगवान्‌की वाणीके आधारपर ग्रन्थोंकी रचना करते है, इसीसे ग्रन्थकार उनके ग्रन्थकारता और गणधरपना आदि गुणोंका प्रार्थी होकर उनका ध्यान करता है तथा उन्हें अपना ध्येय-ध्यानका विषय—निश्चय करके ध्यानमें प्रवृत्त होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आगममें (मूलाराधना गा. ३४, मूलाचार ५।८०) गणधर, प्रत्येकबुद्ध, अभिन्नदसपूर्वी और श्रुतकेवलीके द्वारा रचितको ही सूत्र कहा है। उसीको दृष्टिमें रखकर आशाधरजीने सूत्र ग्रन्थके रूपमें उनका स्मरण किया है। यहाँ सूत्रकारपना और गणधरपना या प्रत्येकबुद्धपना या श्रुतकेवलीपना दोनों ही करणीय हैं। अतः उन गुणोंकी प्राप्ति की इच्छासे ध्यान करनेवालेके लिए वे ध्यान करनेके योग्य हैं ऐसा निश्चय होनेसे ही उनके ध्यानमें ध्याताकी प्रवृत्ति होती है ॥३॥

आगे जिनागमके व्याख्याता आरातीय आचार्योंका स्तवन करते हैं—

जो गुरुपरम्परासे ग्रन्थ, अर्थ और उभयरूपसे सूत्रको सम्यक् रीतिसे सुनकर और अवधारण करके संसारसे भयभीत शिष्योंको दोनों नयोंके बलसे ग्रहण कराते हैं, रत्नत्रयरूप परिणत उन आचार्योंका मैं स्तवन करता हूँ ॥४॥

विशेषार्थ—यहाँ ग्रन्थकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आदि धर्माचार्योंकी वन्दना करते हैं। 'उस उस जातिमें जो उत्कृष्ट होता है उसे उसका रत्न कहा जाता है, इस कथनके अनुसार जीवके परिणामोंके मध्यमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणाम उत्कृष्ट हैं क्योंकि वे सांसारिक अभ्युदय और मोक्षके प्रदाता हैं इसलिए उन्हें रत्नत्रय कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द आदि धर्माचार्य रत्नत्रयके धारी थे—उनका रत्नत्रयके साथ तादात्म्य सम्बन्ध था अतः वे रत्नत्रय रूप परिणत थे। तथा उन्होंने तीर्थंकर, गणधर आदि की शिष्य-

अथ धर्मोपदेशमभिनन्दति—

धर्मं केऽपि विदन्ति तत्र धुनते सन्देहमन्येऽपरे,
तद्भ्रान्तेरपयन्ति सुष्ठु तमुशन्त्यन्येऽनुतिष्ठन्ति वा।
श्रोतारो यदनुग्रहादहरहर्वक्ता तु रुन्धन्नघं,
विष्वग्निर्जरयंश्च नन्दति शुभैः सा नन्दताद्देशना ॥५॥

विदन्ति—निश्चिन्वन्ति, उशन्ति—कामयन्ते, रुन्धन्नघं, विष्वक्—समन्तादागामिपातकं निवार-

---

प्रशिष्य रूप चली आती परम्परा से सूत्रको सुना और अवधारण किया था। सत्य सयुक्तिक प्रवचनको सूत्र कहते हैं। इस समय यहाँ पर गणधर आदिके द्वारा रचित अंगप्रविष्टका कुछ अंश और आरातीय आचार्योंके द्वारा रचित अंगबाह्य, जो कि कालिक उत्कालिक भेदसे अनेक प्रकार है 'सूत्र' शब्दसे ग्रहण किया गया है। जिसका स्वाध्याय काल नियत होता है उसे कालिक श्रुत कहते हैं और जिसका स्वाध्यायकाल नियत नहीं होता उसे उत्कालिक कहते हैं। उस सूत्रको वे आचार्य ग्रन्थ रूपसे, अर्थरूपसे और उभयरूपसे सुनते हैं। विवक्षित अर्थका प्रतिपादन करनेमें समर्थ जो सूत्र, प्रकरण या आह्निक आदि रूपसे वचन रचना की जाती है उसे ग्रन्थ कहते हैं और उसका जो अभिप्राय होता है उसे अर्थ कहते हैं। वे धर्माचार्य कभी ग्रन्थ रूपसे, कभी अर्थ रूपसे और कभी ग्रन्थ और अर्थ दोनों रूपसे सूत्रको ठीक-ठीक सुनकर तथा उसकी जितनी विशेषताएँ हैं उन सबको ऐसा अवधारण करते हैं कि कालान्तरमें भी उन्हें भूले नहीं। तभी तो वे संसारसे भयभीत शिष्योंको उसका यथावत् ज्ञान कराते हैं। यथावत् ज्ञान करानेके लिए वे नयबलका आश्रय लेते हैं। आगमकी भाषामें उन्हें द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय कहते हैं और अध्यात्मकी भाषामें निश्चयनय और व्यवहार नय कहते हैं। श्रुतज्ञान से जाने गये पदार्थके एकदेशको जाननेवाले ज्ञान या उसके वचनको नय कहते हैं। नय श्रुतज्ञानके ही भेद हैं और नयोंके मूल भेद दो हैं। शेष सब नय उन्हींके भेद-प्रभेद हैं। दोनों ही नयोंसे वस्तु तत्त्वका निर्णय करना उचित है यही उनका बल है। उसीके कारण सर्वथा एकान्तवादियोंके द्वारा उस निर्णीत तत्त्वमें बाधा नहीं दी जा सकती। ऐसे जिनागमके व्याख्याता आरातीय आचार्य वन्दनीय हैं। प्रत्येक आचार्य आरातीय नहीं होते। उक्त विशेषताओंसे युक्त आचार्य ही आरातीय कहलाते हैं ॥४॥

इस प्रकार सिद्ध भगवान्‌के स्वरूपका तथा उसकी प्राप्तिके उपायका कथन करनेमें समर्थ परमागमके उपदेष्टा, रचयिता और व्याख्याता होनेसे जिन्होंने अत्यन्त महान् गुरु संज्ञाको प्राप्त किया है, उन अर्हन्त भट्टारक, गणधर, श्रुतकेवली, अभिन्नदसपूर्वी, प्रत्येक बुद्ध और इस युगके धर्माचार्योंकी स्तुति करके, अब वक्ता और श्रोताओंका कल्याण करनेवाले उनके धर्मोपदेश का स्तवन करते हैं—

जिस देशना—धर्मोपदेशके अनुग्रहसे प्रतिदिन अनेक श्रोतागण धर्मको ठीक रीतिसे जानते हैं, अनेक श्रोतागण अपने सन्देहको दूर करते हैं, अनेक अन्य श्रोतागण धर्मविषयक भ्रान्तिसे बचते हैं, कुछ अन्य श्रोतागण धर्म पर अपनी श्रद्धाको दृढ़ करते हैं तथा कुछ अन्य श्रोतागण धर्मका पालन करते हैं, और जिस देशनाके अनुग्रहसे वक्ता प्रतिदिन अपने शुभ-परिणामोंसे आगामी पापबन्धको चहुँ ओरसे रोकता है और पूर्व उपार्जित कर्मकी निर्जरा करता हुआ, आनन्दित होता है वह देशना फूले-फले—उसकी खूब वृद्धि हो ॥५॥

विशेषार्थ—जिसके द्वारा जीव नरक आदि गतियोंसे निवृत्त होकर सुगतिमें रहते हैं

यन्नित्यर्थः। निर्जरयन्—पुरार्जितपातकमेकदेशेन क्षपयन्। शुभैः—अपूर्वपुण्यैः पूर्वार्जितपुण्यपवित्रम-कल्याणैश्च ॥५॥

३ अथैवं भगवद्‌सिद्धादिगुणगणस्तवनलक्षणं मुख्यमङ्गलमभिधाय इदानीं प्रमाणगर्भमभिधेयव्यपदेश-मुखप्रकाशितव्यपदेशं शास्त्रविशेषं कर्तव्यतया प्रतिजानीते—

या जो आत्माको सुगतिमें धरता है—ले जाता है उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है जो व्यावहारिक धर्मका सूचक है। यथार्थमें तो जो जीवोंको संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उन्हें उत्तम सुख रूप मोक्ष गतिमें ले जाता है वही धर्म[1] है। वह धर्म रत्नत्रयस्वरूप है, अथवा मोह और क्षोभसे रहित आत्मपरिणाम[2] स्वरूप है, अथवा[3] वस्तुका यथार्थस्वभाव ही उसका धर्म है या उत्तम क्षमा आदि दसलक्षण रूप है। ऐसे धर्मके उपदेश-को देशना कहते हैं। देशनाको सुनकर अपने क्षयोपशमके अनुसार श्रोतामें जो अतिशयका आधान होता है वही उस देशनाका अनुग्रह या उपकार है। श्रोता अनेक प्रकारके होते हैं। जिन भव्य श्रोताओंके तीव्र ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है वे धर्मोपदेश सुनकर धर्मका यही स्वरूप है या धर्म ऐसा ही होता है ऐसा निश्चय करते हैं इस तरह उनका धर्मविपयक अज्ञान दूर होता है। जिन श्रोताओंके ज्ञानावरण कर्मका मन्द उदय होता है वे देशनाको सुनकर धर्मविषयक सन्देहको—यही धर्म है या धर्मका अन्य स्वरूप है, धर्म इसी प्रकार होता है या अन्य प्रकार होता है—दूर करते हैं। जिनके ज्ञानावरण कर्मका मध्यम उदय होता है ऐसे श्रोता उपदेशको सुनकर धर्मविषयक अपनी भ्रान्तिसे—धर्मके यथोक्त स्वरूपको अन्य प्रकारसे समझ लेनेसे—विरत हो जाते हैं। अर्थात् धर्मको ठीक-ठीक समझने लगते हैं। ये तीनों ही प्रकारके श्रोता भद्रपरिणामी मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यक्त्वके विषयमें अव्युत्पन्न होते हैं। क्रूर परिणामी मिथ्यादृष्टि तो उपदेशका पात्र ही नहीं है।

जो सम्यग्दृष्टि भव्य होते हैं, उपदेशको सुनकर उनकी आस्था और दृढ़ हो जाती है कि यह ऐसा ही है। जो उनसे भी उत्तम सम्यग्दृष्टि होते हैं वे उपदेशको सुनकर उसके आच-रणमें तत्पर होते हैं। प्रतिदिन उपदेश सुननेसे श्रोताओंको प्रतिदिन यह लाभ होता है। वक्ता-को भी लाभ होता है। पूर्वार्जित पुण्य कर्मके विपाकसे होनेवाले शुभपरिणामोंसे ज्ञानावरण आदि कर्म रूप आगामी पापबन्धका निरोध होता है अर्थात् मन वचन कायके व्यापाररूप योगके द्वारा आगामी पाप कर्म रूप होनेके योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ उस रूपसे परिणमन करतीं वे तद्रूप परिणमन नहीं करती हैं। इस तरह वक्ताके केवल पाप कर्मके बन्धका निरोध ही होता हो ऐसा नहीं है, पूर्व संचित पापकर्मका भी एकदेशसे क्षय होता है। सारांश यह है कि देशना धर्मोपदेश रूप होनेसे स्वाध्याय नामक तपका भेद है अतः अशुभ कर्मोंके संवर-के साथ निर्जराके होनेपर भी वक्ताका देशनामें प्रशस्त राग रहता है अतः उस प्रशस्त रागके योगसे प्रचुर पुण्य कर्मका आस्रव होता है और पूर्व पुण्य कर्मके विपाककी अधिकतासे नवीन कल्याण परम्पराकी प्राप्ति होती है ॥५॥

इस प्रकार भगवान् सिद्धपरमेष्ठी आदिके गुणोंका स्मरणरूप मुख्य मंगल करके अब

---

१. रत्न. श्रा., २ श्लो.। २. प्रवचनसार, गा. ७।

३. धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥—स्वा. कार्ति, ४।७८ गा.

अथ धर्मामृतं पद्यद्विसहस्र्या विशाम्यहम् ।
निर्दुःखं सुखमिच्छन्तो भव्याः शृणुत धीधनाः ॥६॥

अथ—मङ्गले अधिकारे आनन्तर्ये वा । धर्मामृतं—धर्मो वक्ष्यमाणलक्षण. योऽमृतमिवोपयोक्तॄणामजरामरत्वहेतुत्वात् । तदभिधेयमनेनेतीदं शास्त्रं धर्मामृतमिति व्यपदिश्यते । श्रूयन्ते चाभिधेयव्यपदेशेन शास्त्रं व्यपदिशन्त तत्पूर्वकवयः । यथा तत्त्वार्थवृत्तिर्यशोधरचरितं च । भट्टरुद्रटोऽपि तथैवाह—'काव्यालङ्कारोऽयं ग्रन्थ. क्रियते तथायुक्ति' इति । पद्यं—परिमिताक्षरमात्रापिण्ड. पाद., तन्निबद्धं वाङ्मयं वृत्तश्लोकार्यारूपम् । निर्दुःखं सुखं—नैश्रेयसं शर्म न सासारिकम्, संसारे हि दु.खानुषक्तमेव सुखम् । तदुक्तम्—

'सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥' [प्रव. १।७६]

ग्रन्थकार ग्रन्थका प्रमाण और ग्रन्थमें कहे जानेवाले विषयके बहानेसे ग्रन्थका नाम बतलाते हुए प्रकृत ग्रन्थको रचनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

इसके अनन्तर मैं दो हजार पद्योंसे धर्मामृत ग्रन्थको कहता हूँ। दुःखसे रहित सुखके अभिलाषी बुद्धिशाली भव्य उसे सुनें ॥६॥

विशेषार्थ—इस श्लोकके प्रारम्भमें आये 'अथ' शब्दका अर्थ मंगल है। कहा है—'सिद्धि, बुद्धि, जय, वृद्धि, राज्यपुष्टि, तथा ओंकार, अथ शब्द और नान्दी ये मंगलवाचक हैं।' 'अथ' शब्दका अर्थ 'अधिकार' है। यहाँसे शास्त्रका अधिकार प्रारम्भ होता है। 'अथ' शब्दका 'अनन्तर' अर्थ भी है। 'निबद्ध मुख्य मंगल करनेके अनन्तर' ऐसा उसका अर्थ होता है। धवलाकार वीरसेन स्वामीने धवलाके प्रारम्भमें मंगलके दो भेद किये हैं—निबद्ध और अनिबद्ध। ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा जो इष्ट देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है—श्लोकादिके रूपमें लिख दिया जाता है उसे निबद्ध मंगल कहते हैं। जैसे इस ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारने सिद्ध परमेष्ठी आदिका स्तवन निबद्ध कर दिया है अतः यह निबद्धमंगल है। धर्मका लक्षण पहले कहा है। वह धर्म अमृतके तुल्य होता है क्योंकि जो उसका आचरण करते हैं वे अजर-अमर पदको प्राप्त करते हैं। इस शास्त्रमें उसीका कथन है इसलिए इस शास्त्रको धर्मामृत नाम दिया गया है। पूर्व आचार्यों और कवियोंने भी शास्त्रमें प्रतिपादित वस्तुतत्त्वके कथन द्वारा शास्त्रका नाम कहा है ऐसा सुना जाता है। जैसे तत्त्वार्थवृत्ति या यशोधरचरित। रुद्रट भट्टने भी ऐसा ही कहा है—"यह काव्यालंकार ग्रन्थ युक्ति अनुसार करता हूँ।" परिमित अक्षर और मात्राओंके समूहको पाद कहते हैं। पादोंके द्वारा रचित छन्द, श्लोक या आर्यारूप वाङ्मयको पद्य कहते हैं। इस धर्मामृत ग्रन्थको दो हजार पद्योंमें रचनेका संकल्प ग्रन्थकारने किया है। वे भव्यजीवोंसे उसको श्रवण करनेका अनुरोध करते हैं। जिन जीवोंमें अनन्त ज्ञानादिको प्रकट करनेकी योग्यता होती है उन्हें भव्य कहते हैं। उन भव्योंको ग्रन्थकारने 'धीधनाः' कहा है—धी अर्थात् अष्टगुणसहित' बुद्धि ही जिनका धन है जो उसे ही अति पसन्द करते हैं। इस शास्त्रको श्रवण करनेका लाभ बतलाते हुए वह कहते हैं—यदि दुःखोंसे रहित अनाकुलतारूप मोक्ष सुखको चाहते हो तो इस शास्त्रको सुनो। सांसारिक सुख तो दुःखोंसे रिला-मिला होता है। आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें कहा

---

१. 'सिद्धिर्बुद्धिर्जयो वृद्धी राज्यपुष्टी तथैव च ।
ओंकारश्चाथशब्दश्च नान्दीमङ्गलवाचिन. ॥'

अथवा दुःखस्याभावान्निदुःखं (दुःखानामभावो निर्दुःखं) सुखं चेति ग्राह्यम् । चशब्दश्चात्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । भव्याः—हे अनन्तज्ञानाद्याविर्भावयोग्या जीवाः । किंच—

मंगल-निमित्त-हेतु-प्रमाण-नामानि शास्त्रकर्तृ इच ।
व्याकृत्य षडपि पश्चाद् व्याचष्टां शास्त्रमाचार्यः ॥ [ ]

इति मङ्गलादिषट्कमिह प्रदर्श्यंते—तत्र, मलं पापं गालयति मङ्गं वा पुण्यं लाति ददातीति मङ्गलम् । परमार्थतः सिद्धादिगुणस्तवनमुक्तमेव । शाब्दं तु मङ्गलमथेति प्रतिनिर्दिष्टम् । यमुद्दिश्य शास्त्रमभिधीयते तन्निमित्तम् । तच्चेह 'भव्याः' इति निर्दिष्टम् । हेतुः प्रयोजनम् । तच्चेह सम्यग् धर्मस्वरूपादिज्ञानलक्षणं 'विशामीति शृणुत' इति च पदद्वयेन सूचितं लक्ष्यते । येन हि क्रियायां प्रयुज्यते तत्प्रयोजनम् । शास्त्रश्रवणादि-क्रियाया च ज्ञानेन प्रयुज्यत इति सम्यग्धर्मस्वरूपज्ञानमेवास्य शास्त्रस्य मुख्यं प्रयोजनम् । आनुषङ्गिकं धर्म-सामग्र्यादि ज्ञानमपि । भवति चात्र श्लोकः—

'शास्त्रे लक्ष्मविकल्पास्तदुपायः साधकास्तथा ।
सहायाः फलमित्याह दृगाद्याराधनाविधेः ॥' [ ]

है कि 'जो सुख इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है वह पराधीन है, बाधासहित है, असातावेदनीयका उदय आ जानेपर विच्छिन्न हो जाता है, उसके भोगनेसे राग-द्वेष होता है अतः नवीन कर्मबन्धका कारण है तथा घटता-बढ़ता होनेसे अस्थिर है, अतः दुख रूप ही है।" अतः दुखोंसे रहित सुखके इच्छुक भव्य जीव ही इस शास्त्रको सुननेके अधिकारी हैं ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

ऐसी प्रसिद्धि है कि 'मंगल, निमित्त, हेतु, प्रमाण, नाम और शास्त्रकर्ता—इन छहका कथन करनेके पश्चात् आचार्यको शास्त्रका कथन करना चाहिए। अतः यहाँ इन छहोंका कथन किया जाता है। 'मं' अर्थात् मलका—पापका जो गालन करता है—नाश करता है या मंग अर्थात् पुण्यको लाता है उसे मंगल कहते हैं। वह मंगल प्रारम्भ किये गये इच्छित कार्यकी निर्विघ्न परिसमाप्तिके लिए किया जाता है। मंगलके दो प्रकार हैं—मुख्य और गौण। तथा मुख्य मंगलके भी दो प्रकार हैं—एक अर्थरूप और दूसरा शब्दरूप। उनमें-से अर्थरूप मुख्य मंगल भगवान् सिद्धपरमेष्ठी आदिके गुणोंके स्मरणादि रूपमें पहले ही किया गया है। उससे प्रारम्भ करनेके लिए इष्ट शास्त्रकी सिद्धिमें निमित्त अधर्मविशेषका विनाश और धर्मविशेषका स्वीकार सम्पन्न होता है। शब्दरूप मुख्य मंगल अनन्तर ही श्लोकके आदिमें 'अथ' शब्दका उच्चारण करके किया है क्योंकि 'अथ' शब्द भी मंगलकारक प्रसिद्ध है। कहा[1] भी है—'शास्त्रके आदिमें तीन लोकोंके स्वामीको नमस्कार करना अथवा विशिष्ट शब्दोंको स्मरण करना मंगल माना गया है।'

सम्पूर्ण कलश, दही, अक्षत, सफेद फूलका उपहार आदि तो मुख्य मंगलकी प्राप्तिका उपाय होनेसे अमुख्य मंगल कहे जाते हैं। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने इस ग्रन्थके आरम्भ-में उक्त अमुख्य मंगलको भी किया है उनके बिना शास्त्रकी सिद्धि सम्भव नहीं है। जिसके उद्देश्यसे शास्त्रकी रचना की जाती है वह निमित्त होता है। 'भव्याः' रूपसे यहाँ उसका कथन किया ही है क्योंकि उन्हींके लिए यह शास्त्र रचा जाता है।

---

१. 'त्रैलोक्येशनमस्कार लक्षणं मङ्गलं मतम् ।
विशिष्टभूतशब्दानां शास्त्रादावथवा स्मृतिः ॥'

तत्परिज्ञानात् पुनः सम्यग्धर्मानुष्ठाने प्रवर्तमानोऽनाकुलत्वलक्षणमनन्तं सुखं परमाव्याबाधत्वं च प्राप्नोतीति परम्परया तदुभयमप्यस्य शास्त्रस्य प्रयोजनं वस्तुतः सुखस्य दुःखनिवृत्तेर्वा पुरुषेणार्थ्यमानत्वात्; तत्र (तच्च) निर्दुःखं सुखमिति पदद्वयेनोक्तमेव । प्रमाणं तु 'पद्यद्विसहस्र्या' इत्यनेनैवोक्तं तावत् । ग्रन्थतस्तु द्विसहस्रप्रमाणमस्य । नाम पुनरस्य 'धर्मामृत'मिति प्राग् व्युत्पादितम् । कर्ता त्वस्यार्थतोऽनुवादकत्वेन ग्रन्थतश्च पद्यसन्दर्भनिर्मापकत्वेन 'अहं' इत्यनेनोक्तः । संबन्धश्चास्य शास्त्रस्य सम्यग्धर्मस्वरूपादेश्चाभिधानाभिधेयलक्षणो नाम्नैवाभिहित इति सर्वं सुस्थम् ॥६॥

अथ दुर्जनापवादशङ्कामपनुदति—

परानुग्रहबुद्धीनां महिमा कोऽप्यहो महान् ।
येन दुर्जनवाग्वज्रः पतन्नेव विहन्यते ॥७॥

स्पष्टम् ॥७॥

अथ सम्यग्धर्मोपदेशकानां समासोक्त्या कलिकाले दुर्लभत्वं भावयति—

हेतु प्रयोजनको कहते हैं। 'सम्यक् धर्मके स्वरूप आदिका कथन करूँगा, उसे सुनो', इन दो पदोंसे प्रयोजनकी सूचना की गयी प्रतीत होती है। जिसके द्वारा कार्यमें प्रेरित किया जाता है उसे प्रयोजन कहते हैं। ज्ञानके द्वारा ही शास्त्र-श्रवण आदि क्रियामें प्रेरित होता है इसलिए वही शास्त्रका मुख्य प्रयोजन है। शास्त्र-श्रवण आदिसे मुझे ज्ञानकी प्राप्ति होगी इस हेतुसे ही शास्त्रमें प्रवृत्त होता है। इसलिए इस शास्त्रका मुख्य प्रयोजन सम्यग्धर्मके स्वरूपका ज्ञान ही है। आनुषंगिक प्रयोजन धर्मकी सामग्री आदिका ज्ञान भी है। उसको जानकर सम्यग्धर्मका पालन करनेमें लगा व्यक्ति अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, वितृष्णामय अविनाशी, अतीन्द्रिय सुख और परम अव्याबाधत्व गुणोंको प्राप्त करता है। इस प्रकार परम्परासे ये सब भी इस शास्त्रके प्रयोजन हैं। वास्तवमें पुरुष सुख या दुःखनिवृत्तिको ही चाहता है। 'निर्दुःख सुख' इन दो पदोंसे वह बात कही ही है। प्रमाण दो हजार पद्य द्वारा बतला दिया गया है अर्थात् इस ग्रन्थका प्रमाण दो हजार पद्य हैं। इसका नाम 'धर्मामृत है' यह भी पहले व्युत्पत्ति द्वारा बतला दिया है। 'अहं' (मैं) पदसे कर्ता भी कह दिया है। अर्थरूपसे और ग्रन्थरूपसे मैंने (आशाधरने) इसकी रचना की है, अर्थरूपसे मैं इसका अनुवादक मात्र हूँ। जो बात पूर्वाचार्योंने कही है उसे ही मैंने कहा है और ग्रन्थरूपसे मैंने इसके पद्योंकी रचना की है। इस शास्त्रका और इसमें प्रतिपाद्य सम्यग्धर्म स्वरूप आदिका वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध है यह इस ग्रन्थके नामसे ही कह दिया गया है। अतः यह ग्रन्थ सम्यग्धर्मके अनुष्ठान और अनन्त सुख आदिका साधनरूप ही है यह निश्चित रूपसे समझ लेना चाहिए।

इससे इस शास्त्रके सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन रहित होनेकी शंकाका निराश हो जाता है ॥६॥

आगे दुर्जनोंके द्वारा अपवाद किये जानेकी शंकाको दूर करते हैं—

जिनकी मति दूसरोंके कल्याणमें तत्पर रहती है उनकी कोई अनिर्वचनीय महान् महिमा है जिससे दुर्जनोंका वचनरूपी वज्र गिरते ही नष्ट हो जाता है ॥७॥

आगे ग्रन्थकार समासोक्ति अलंकारके द्वारा कलिकालमें सम्यग्धर्मके उपदेशकोंकी दुर्लभता बतलाते हैं—

सुप्रापाः स्तनयित्नवः शरदि ते साटोपमुत्थाय ये,
प्रत्याशं प्रसृताश्चलप्रकृतयो गर्जन्त्यमन्दं मुधा ।
ये प्रागब्दचितान् फलर्द्धिमुदकैर्व्रीहीन्नयन्तो नवान्
सत्क्षेत्राणि पृणन्त्यालं जनयितुं ते दुर्लभास्तद्घनाः ॥८॥

स्तनयित्नवः—मेघाः, सूक्त्या देशकाश्च । शरदि—घनान्ते दुष्षमायां च, उत्थाय—उत्पद्य उद्धतीभूय च, प्रत्याशं—प्रतिदिशं प्रतिस्पृहं च, प्रागब्दचितान्—प्रावृड्मेघपुष्टान् पूर्वाचार्यव्युत्पादितानि च, फलर्द्धि—सस्यसम्पत्ति सदाचरणप्रकर्षं च, उदकैः—पक्षे सम्यगुपदेशैः व्रीहीन्—धान्यानि प्रागब्दचितानि (—तानिति) विशेषणाच्छाल्यादिस्तम्बान् शास्त्रार्थरहस्यानि च । नवान्—गोधूमादिस्तम्बान् अपूर्वव्युत्पत्तिविशेषाश्च । सत्क्षेत्राणि—पक्षे विनीतविनेयान्, पृणन्ति—पूरयन्ति, तद्घनाः—शरन्मेघाः ऐदंयुगीनगणिनश्च ॥८॥

अथ व्यवहारप्रधानदेशनायाः कर्तारमाशंसन्ति—

शरद् ऋतुमें ऐसे मेघ सुलभ हैं जो बड़े आडम्बरके साथ उठकर और प्रत्येक दिशामें फैलकर वृथा ही बड़े जोरसे गरजते हैं और देखते देखते विलीन हो जाते हैं। किन्तु जो वर्षाकालके मेघोंसे पुष्ट हुए धान्यको फल सम्पन्न करते तथा नवीन धान्योंको उत्पन्न करनेके लिए खेतोंको जलसे भर देते हैं ऐसे मेघ दुर्लभ हैं ॥८॥

विशेषार्थ—रुद्रट भट्टने समासोक्ति अलंकारका लक्षण इस प्रकार कहा है—'जहाँ समस्त समान विशेषणोंके साथ एक उपमानका ही इस प्रकार कथन किया जाये कि उससे उपमेयका बोध हो जाये उसे समासोक्ति अलंकार कहते हैं'। प्रकृत कथन उसी समासोक्ति अलंकारका निदर्शन है। श्लोकके पूर्वार्धमें मेघ उपमान है और मिथ्या उपदेशक उपमेय है। मेघके साथ समस्त विशेषणोंकी समानता होनेसे समासोक्ति अलंकारके बलसे मिथ्या उपदेशकोंकी प्रतीति होती है। शरद् ऋतुमें वर्षाकालका अन्त आता है। उस समय बनावटी मेघ बड़े घटाटोपसे उठते हैं, खूब गरजते हैं किन्तु बरसे बिना ही जल्द विलीन हो जाते हैं। इसी तरह इस पंचम कालमें मिथ्या उपदेशदाता भी अभ्युदय और निश्रेयस मार्गका उपदेश दिये बिना ही विलीन हो जाते हैं यद्यपि उनका आडम्बर बड़ी धूमधामका रहता है। इसी तरह श्लोकके उत्तरार्धमें जो मेघ उपमान रूप हैं उनसे समस्त विशेषणोंकी समानता होनेसे समासोक्ति अलंकारके बलसे सम्यक् उपदेशकोंकी उपमेय रूपसे प्रतीति होती है। जैसे शरद्कालमें ऐसे मेघ दुर्लभ हैं जो वर्षाकालके मेघोंसे पुष्ट हुए पहलेके धान्योंको फल सम्पन्न करनेके लिए तथा नवीन धान्योंको उत्पन्न करनेके लिए खेतोंको जलसे भर देते हैं। वैसे ही पंचम कालमें ऐसे सच्चे उपदेष्टा दुर्लभ हैं जो पूर्वाचार्योंके उपदेशसे व्युत्पन्न हुए पुरुषोंको सम्यक् उपदेशके द्वारा सदाचारसे सम्पन्न करते हैं और नये विनीत धर्म प्रेमियोंको उत्पन्न करते हैं। यहाँ वर्षाकालके मेघ उपमान हैं, पूर्वाचार्य उपमेय हैं; फल सम्पत्ति उपमान है, सदाचारकी प्रकर्षता उपमेय है। जल उपमान है, सम्यक् उपदेश उपमेय है। नवीन गेहूँकी बालें उपमान हैं; नयी व्युत्पत्तियाँ या शास्त्रोंके अर्थका रहस्य उपमेय है। अच्छे खेत उपमान हैं, विनीत शिष्य उपमेय हैं। शरदकालके मेघ उपमान हैं, इस युगके गणी उपमेय हैं ॥८॥

पहले कहा है कि मंगल आदिका कथन करके आचार्योंको शास्त्रका व्याख्यान करना चाहिए। अतः आगे ग्रन्थकार आचार्यका लक्षण बतलानेके उद्देश्यसे व्यवहार प्रधान उपदेशके कर्ताका कथन करते हैं—

प्रोद्यन्निर्वेदपुष्यद्व्रतचरणरसः सम्यगाम्नायधर्ता,
धीरो लोकस्थितिज्ञः स्वपरमतविदां वाग्मिनां चोपजीव्यः ।
सम्मूर्तिस्तीर्थतत्त्वप्रणयननिपुणः प्राणवाक्योऽभिगम्यो,
निर्ग्रन्थाचार्यवर्यः परहितनिरतः सत्पथं शास्तु भव्यान् ॥९॥]

निर्वेदः—भवाङ्गभोगवैराग्यम्, आम्नायः कुलमागमश्च । उक्तं च—

'[1]रूपाम्नायगुणैराढ्यो यतीनां मान्य एव च ।
तपोज्येष्ठो गुरुश्रेष्ठो विज्ञेयो गणनायकः ॥'

अतिशय रूपसे बढ़ते हुए वैराग्यसे जिनका व्रताचरणमें रस पुष्ट होता जाता है, जो सम्यक् आम्नायके—गुरुपरम्परा और कुलपरम्पराके धारक हैं, धीर हैं—परीषह उपसर्ग आदिसे विचलित नहीं होते, लोककी स्थितिको जानते हैं, स्वमत और परमतके ज्ञाताओंमें तथा वक्ताओंमें अग्रणी हैं, प्रशस्त मूर्ति हैं, तीर्थ और तत्त्व दोनोंके कथनमें निपुण हैं, जिनका शासन प्राणवान् है उसका कोई उलंघन नहीं करता, जिनके पास प्रत्येक व्यक्ति जा सकता है, तथा जो सदा परोपकारमें लीन रहते हैं ऐसे श्रेष्ठ निर्ग्रन्थाचार्य भव्य जीवोंको सन्मार्गका उपदेश देवें ॥९॥

विशेषार्थ—गुप्ति और समितिके साथ व्रतोंके पालन करनेको व्रताचरण कहते हैं। और संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्तिको वैराग्य या निर्वेद कहते हैं। शान्तरसकी प्राप्तिके अभिमुख होनेसे उत्पन्न हुए आत्मा और शरीरके भेदज्ञानकी भावनाके अवलम्बनसे जिनका व्रताचरणका रस प्रति समय वृद्धिकी ओर होता है, तथा जो सम्यक् आम्नायके धारी होते हैं—आम्नाय आगमको भी कहते हैं और आम्नाय वंशपरम्परा और गुरुपरम्पराको भी कहते हैं। अतः जो चारों अनुयोगोंसे विशिष्ट सम्पूर्ण आगमके ज्ञाता और प्रशस्त गुरुपरम्परा तथा कुलपरम्पराके धारक हैं, दूसरे शब्दोंमें—परम्परागत उपदेश और सन्तानक्रमसे आये हुए तत्त्वज्ञान और सदाचरणमें तत्पर हैं, परीषह और उपसर्गसे भी अधीर नहीं होते हैं, चराचर जगत्के व्यवहारके ज्ञाता होते हैं, अपने स्याद्वाद सिद्धान्तको तथा अन्य दर्शनोंके एकान्तवादको जाननेवालोंके पिछलग्गू न होकर अग्रणी होते हैं, इसी तरह वक्तृत्व शक्तिसे विशिष्ट पुरुषोंमें भी अग्रणी होते हैं, जिनकी मूर्ति सामुद्रिक शास्त्रमें कहे गये लक्षणोंसे शोभित तथा घने रोम, स्थूलता और दीर्घता इन तीन दोषोंसे रहित होनेके कारण प्रशस्त होती है। आगममें कहा है—'रूप, आम्नाय और गुणोंसे सम्पन्न, यतियोंको मान्य, तपसे ज्येष्ठ और गुरुओंमें जो श्रेष्ठ होता है उसे गणनायक—संघका अधिपति गणधर कहते हैं।'

तथा जो तीर्थ और तत्त्वके प्रणयनमें निपुण होते हैं—जिसके द्वारा संसार-समुद्रको तिरा जाता है उसे तीर्थ कहते हैं। 'सब अनेकान्तात्मक है' इस प्रकारका मत ही तीर्थ है और समस्त मतवादोंको तिरस्कृत करते हुए व्यवहार और निश्चयनयके प्रयोगसे प्रकाशित विचित्र आकारवाली चक्रात्मक वस्तुका कथन करना प्रणयन है। तथा अध्यात्म रहस्यको तत्त्व कहते हैं। भूतार्थनय और अभूतार्थनयके द्वारा व्यवस्थापित दया, इन्द्रिय दमन, त्याग, समाधिमें प्रवर्तनसे होनेवाले परमानन्द पदका उपदेश उसका प्रणयन है। अर्थात् तीर्थ और तत्त्व दोनोंके प्रणयनमें—मुख्य और उपचारके कथनमें निपुण होना चाहिए। यदि वह किसी

१. म. कु. च. टीकायां 'उक्तं चार्षे' इति लिखितं किन्तु महापुराणे नास्ति श्लोकोऽयम् ।

धीरः—परीषहोसपर्गैरविकार्यः । लोकस्थितिज्ञः—लोकस्य चराचरस्य जगतः स्थितिमित्थंभावनियमं जानन् वर्णाश्रमव्यवहारचतुरो वा, तीर्थतत्त्वे—जिनागमतदभिधेयौ व्यवहारनिश्चयनयौ वा । प्राणदाज्ञः—जीवन्ती जीवितप्रदा वा आज्ञा यस्य । अभिगम्यः—सेव्यः । निर्ग्रन्थाः—ग्रथ्नन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्था मिथ्यात्वादयस्तेभ्यो निष्क्रान्ता यतयस्तेषामाचार्या । उक्तं च—

पञ्चधा चरन्त्याचारं शिष्यानाचारयन्ति च ।
सर्वशास्त्रविदो धीरास्तेऽत्राचार्याः प्रकीर्तिताः ॥९॥ [ ]

अथाध्यात्मरहस्यगुरोः सेवाया मुमुक्षून्नियुङ्क्ते—

एकमें ही निपुण हुए तो दूसरेका लोप हो जायेगा अर्थात् केवल निश्चयनयमें निपुण होनेसे व्यवहारका लोप होगा और केवल व्यवहारनयमें निपुण होनेसे निश्चयका लोप होगा। कहा भी है—'यदि जिनमतका प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयको मत छोड़ो। व्यवहारके बिना तीर्थका उच्छेद होता है और निश्चयके बिना तत्त्वका उच्छेद होता है'। जिनकी प्रवृत्ति स्वसमयरूप परमार्थसे रहित है और जो कर्मकाण्डमें लगे रहते हैं वे निश्चय शुद्ध रूप चारित्रके रहस्यको नहीं जानते। तथा जो निश्चयका आलम्बन लेते हैं किन्तु निश्चयसे निश्चयको नहीं जानते, वे बाह्य क्रियाकाण्डमें आलसी चारित्राचारको नष्ट कर देते हैं। अत. आचार्यको निश्चय और व्यवहारके निरूपणमें दक्ष होना आवश्यक है। तथा प्रियवचन और हितकारी वचन बोलना चाहिए। यदि कोई श्रोता प्रश्न करे तो उत्तेजित होकर सौमनस्य नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसा व्यक्ति निर्ग्रन्थाचार्योंमें भी श्रेष्ठ होना चाहिए। जो संसारको दीर्घ करते हैं ऐसे मिथ्यात्व आदिको ग्रन्थ कहते हैं। उनको जिन्होंने छोड़ दिया है उन साधुओंको निर्ग्रन्थ कहते हैं। तथा जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पाँच आचारोंको स्वयं पालते हैं और दूसरोंसे—शिष्योंसे उनका पालन कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। कहा भी है—'जो पाँच प्रकारके आचारको स्वयं पालते हैं और शिष्योंसे पालन कराते हैं—समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता उन धीर महापुरुषोंको आचार्य कहते हैं।' निर्ग्रन्थोंके आचार्य निर्ग्रन्थाचार्य होते हैं और उनमें भी जो श्रेष्ठ होते हैं उन्हें निर्ग्रन्थाचार्यवर्य कहते हैं। उक्त विशेषताओंसे युक्त ऐसे आचार्य ही, जो कि सदा परोपकारमें लगे रहते हैं, सन्मार्गका—व्यवहार निश्चय मोक्षमार्गका उपदेश देनेमें समर्थ होते हैं। अतः ग्रन्थकार आशा करते हैं कि उपदेशकाचार्य उक्त गुणोंसे विशिष्ट होवें। उक्त गुणोंसे विशिष्ट आचार्यको ही आदरपूर्वक उपदेशमें लगना चाहिए।

आगे अध्यात्मरहस्यके ज्ञाता गुरुकी सेवामें मुमुक्षुओंको लगनेकी प्रेरणा करते हैं—

---

१. जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहारणिच्छए मुअह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥
'चरणकरणप्पहाणा ससमय परमत्थ मुक्कवावारा ।
चरणकरणं ससारं णिच्छयसुद्धं ण जाणन्ति ॥'—सन्मति., ३।६७ ।
णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अजाणंता ।
णासंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केई ॥

विधिवद्धर्मसर्वस्वं यो बुद्ध्वा शक्तितश्चरन् ।
प्रवक्ति कृपयाऽन्येषां श्रेयः श्रेयोर्थिनां हि सः ॥१०॥

विधिवत्—विधानार्हं, धर्मसर्वस्वं—रत्नत्रयसमाहितमात्मानं श्रेयः—सेव्यः ॥१०॥

अथ वाचनाचार्याध्यात्मरहस्यदेशकयोर्लोके प्रभावप्राकट्यमाशास्ते—

स्वार्थैकमतयो भान्तु मा भान्तु घटदीपवत् ।
परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद् भान्त्वहर्दिवम् ॥११॥

भान्तु—लोके आत्मानं प्रकाशयन्तु । त्रिविधा हि मुमुक्षव केचित् परोपकारा. अन्ये स्वोपकारा[1], अन्यतरे च स्वोपकारैकपरा इति । ब्रह्मवत्—सर्वज्ञतुल्यम्, अहर्दिवं—दिने दिने नित्यमित्यर्थ. । अत्रेयं भावना प्रकटप्रभावे देशके लोक. परं विश्वासमुपेत्य तद्वचसा निरारेकमामुत्रिकार्थाय यतते ॥११॥

जो विधिपूर्वक व्यवहार और निश्चयरत्नत्रयात्मक सम्पूर्ण धर्मको परमागमसे और गुरुपरम्परासे जानकर या रत्नत्रयसे समाविष्ट आत्माको स्वसंवेदनसे जानकर शक्तिके अनुसार उसका पालन करते हुए लाभ पूजा ख्यातिकी अपेक्षा न करके कृपाभावसे दूसरोंको उसका उपदेश करते हैं, अपने परम कल्याणके इच्छुक जनोंको उन्हींकी सेवा करनी चाहिए, उन्हींसे धर्मश्रवण करना चाहिए ॥१०॥

उपदेशकाचार्य और अध्यात्मरहस्यके उपदेष्टाका लोकमें प्रभाव फैले ऐसी आशा करते हैं—

जिनकी मति परार्थमें न होकर केवल स्वार्थमें ही रहती है वे घटमें रखे दीपककी तरह लोकमें चमके या न चमके, उनमें हमें कोई रुचि नहीं है। किन्तु जो स्वार्थकी तरह परार्थमे भी तत्पर रहते है वे ब्रह्मकी तरह दिन-रात प्रकाशमान रहें ॥११॥

विशेषार्थ—तीन प्रकार के मुमुक्षु होते हैं। उनमें-से कुछ तो अपना उपकार करते हुए भी परोपकार को प्रधान रूपसे करते हैं जैसा कि आगममें[1] कहा है—'मुमुक्षुजन अपने दु:खको दूर करनेके लिए प्रयत्न करना भी उचित नहीं मानते, तथा परदु:खसे दुखी होकर बिना किसी अपेक्षाके परोपकारके लिए सदा तत्पर रहते हैं'।

कुछ मुमुक्षु स्वोपकारको प्रधानता देते हुए परोपकार करते हैं। कहा[2] भी है—'अपना हित करना चाहिए, यदि शक्य हो तो परहित करना। किन्तु आत्महित और परहितमें-से आत्महित ही सम्यक् रूपसे करना चाहिए।'

कुछ अन्य मुमुक्षु केवल स्वोपकारमें ही तत्पर रहते हैं। कहा[3] भी है—

'परोपकारको छोड़कर स्वोपकारमें तत्पर रहो। लोकके समान दृश्यमान परपदार्थों का उपकार करनेवाला मूढ़ होता है।'

१. स्वदु:खनिर्घृणारम्भाः परदु:खेषु दु:खिता. ।
निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्षा मुमुक्षवः ॥—महापु. ९।१६४ ।

२. आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥

३. परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥—इष्टोप ३२ श्लो. ।

अथेदानीमासन्नभव्यानामतिदुर्लभत्वेऽपि न देशना निष्फला इति ता प्रतिवक्तुमुत्सहते—

पश्यन् संसृतिनाटकं स्फुटरसप्राग्भारकिर्मीरितं,
स्वस्थश्चर्वति निर्वृतः सुखसुधामात्यन्तिकीमित्यरम् ।
ये सन्तः प्रतियन्ति तेऽद्य विरला देश्य तथापि क्वचित्
काले कोऽपि हितं श्रयेदिति सदोत्पाद्यापि शुश्रूषुताम् ॥१२॥

पश्यन्—निर्विकल्पमनुभवन् । नाटकं—अभिनेयकाव्यम् । स्फुटाः—विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यज्यमाना., रसाः—शृङ्गारादयः । तत्सामान्यलक्षणं यथा—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥

इन तीन प्रकारके मुमुक्षुओंमें-से अन्तिममें तटस्थ भावना दिखानेके लिए ग्रन्थकारने उक्त कथन किया है। उसका सार यह है कि घटमें रखा हुआ दीपक प्रकाशमान हो या न हो, उससे लोगोंमें न हर्ष होता है और न विषाद। वह हेय और उपादेय पदार्थोंका प्रकाशक न होने से उपेक्षाके योग्य माना जाता है। किन्तु जो स्वार्थकी तरह ही परार्थमे लीन रहते हैं वे सदा प्रकाशमान रहें। इसका आशय यह है कि प्रभावशाली वक्ताके वचनोंपर विश्वास करके लोग उसकी वाणीसे प्रेरणा लेकर बिना किसी प्रकारकी शंकाके परलोकसम्बन्धी धार्मिक कृत्योंमें प्रवृत्ति करते हैं अतः परोपकारी पुरुषसे बड़ा लोकोपकार होता है। इसलिए परोपकारी प्रवक्ता सदा अभिनन्दनीय है।

यद्यपि इस कालमें निकट भव्य जीव अति दुर्लभ हैं तथापि उपदेश करना निष्फल नहीं होता, इसलिए उपदेशके प्रति वक्ताको उत्साहित करते है—

'कर्मसे रहित अपने शुद्ध स्वरूपमे विराजमान मुक्तात्मा व्यक्त स्थायी भावों और रसोंके समूहसे नानारूप हुए संसार रूपी नाटकको देखते हुए—निर्विकल्प रूपसे अनुभव करते हुए अनन्तकाल तक सुखरूपी अमृतका आस्वादन करते हैं', ऐसा उपदेश सुनकर जो तत्काल उसपर श्रद्धा कर लेते हैं कि ऐसा ही है, ऐसे निकट भव्य जीव इस कालमें बहुत विरले हैं। तथापि किसी भी समय कोई भी भव्यजीव अपने हित में लग सकता है इस भावनासे श्रवण करनेकी इच्छाको उत्पन्न करके भी सदा उपदेश करना चाहिए ॥१२॥

विशेषार्थ—यह संसार एक नाटककी तरह है। नाटक दर्शकोंके लिए बड़ा आनन्द-दायक होता है। उसमें विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावोंके संयोगसे रति आदि स्थायी भावोंकी पुष्टि होती है। पुष्ट हुए उन्हीं स्थायी भावोंको रस कहते हैं। मनके द्वारा जिनका आस्वादन किया जाता है उन्हें रस कहते हैं। वे शृङ्गारादिके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। उनका सामान्य लक्षण इस प्रकार है—"रति आदिके कारण रूप, कार्य रूप और सहकारीरूप जितने भाव हैं उन्हें लोकमें स्थायी भाव कहते हैं। यदि इनका नाटक और काव्यमें प्रयोग किया जाये तो उन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहते हैं। उन विभाव आदिके द्वारा व्यक्त होनेवाले स्थायी भावको रस कहते हैं।" तथा—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावोंके द्वारा साधे जानेवाले स्थायी भावको रस कहते

प्राग्भारः—व्यूहः। किर्मीरितं—नानारूपतां नीतम्। स्वस्थः—स्वस्मिन् कर्मविविक्ते आत्मनि तिष्ठन् निरातङ्कश्च, निर्वृतः—मुक्तात्मा, आत्यन्तिकीम्—अनन्तकालवतीम्। अरं—झटिति सदुपदेशश्रवणानन्तरमेव। सन्तः—आसन्नभव्याः। प्रतियन्ति—तथेति प्रतिपत्तिगोचरं कुर्वन्ति। तथा चोक्तम्—

जेण विआणदि सव्वं(व्वं) पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि।
इदि तं जाणदि भविओ अभवियसत्तो ण सद्दहदि॥ [पञ्चास्ति० १६३ गा.]

देश्यं—प्रतिपाद्यं तत्त्वम् ॥१२॥

हैं। ऐसा भी अन्यत्र कहा है। यहाँ बतलाया है कि रति आदिकी उत्पत्तिके जो कारण हैं वे विभाव शब्दसे, कार्य अनुभाव शब्दसे और सहकारी व्यभिचारी भाव नामसे कहे जाते हैं। रति आदिके कारण दो प्रकारके होते हैं—एक आलम्बन रूप और दूसरे उद्दीपन रूप। स्त्री आदि आलम्बन रूप कारण हैं क्योंकि स्त्रीको देखकर पुरुषके मनमें प्रीति उत्पन्न होती है। इस प्रीतिको उद्बुद्ध करनेवाले चाँदनी, उद्यान आदि सामग्री उद्दीपन विभाव हैं क्योंकि वे प्रीतिको उद्दीप्त करते हैं। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन दोनों मिलकर स्थायी भावको व्यक्त करते हैं। ये दोनों रसके बाह्य कारण हैं। रसानुभूतिका मुख्य कारण स्थायीभाव है। स्थायीभाव मनके भीतर रहनेवाला एक संस्कार है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपनको पाकर उद्दीप्त होता है। इस स्थायी भावकी अभिव्यक्ति ही रस शब्दसे कही जाती है। इसीसे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोंके संयोगसे व्यक्त होनेवाले स्थायी भावको रस कहते हैं। व्यवहारदशामें मनुष्यको जिस जिस प्रकारकी अनुभूति होती है उसको ध्यानमें रखकर प्रायः आठ प्रकारके स्थायी भाव साहित्य शास्त्रमें माने गये हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा या घृणा और विस्मय। इनके अतिरिक्त निर्वेदको भी नौवाँ स्थायी भाव माना गया है। इनके अनुसार ही नौ रस माने गये हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। शान्त रसकी स्थितिके विषयमें मतभेद है। भरत मुनिने अपने नाट्यशास्त्रमें (६-१६) आठ ही रस नाट्यमें बतलाये हैं। काव्यप्रकाशकारने भी उन्हींका अनुसरण किया है। इसके विपरीत उद्भट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तने स्पष्ट रूपसे शान्त रसका कथन किया है। अस्तु, व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सोना, जागना, क्रोध, अवहित्था (लज्जा आदिके कारण आकार गोपन), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।

यद्यपि यहाँ निर्वेदकी गणना व्यभिचारी भावोंमें की गयी है परन्तु यह शान्त रसका स्थायी भाव भी है। जिसका निर्वेद भाव पुष्ट हो जाता है उसका वह रस हो जाता है। जिसका परिपुष्ट नहीं होता उसका भाव ही रहता है। इस प्रकारके भावों और रसोंकी बहुतायतसे यह संसाररूपी नाटक भी विचित्र रूप है। इसका निर्विकल्प अनुभवन करनेवाले मुक्तात्मा आत्मिक सुखमें ही सदा निमग्न रहते हैं, ऐसे उपदेशको सुनकर उसपर तत्काल विश्वास कर लेनेवाले अत्यन्त अल्प हैं। कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—'जीव जिस केवलज्ञान, केवलदर्शनके द्वारा सबको जानता देखता है उसी के द्वारा वह आत्मिक सुख का अनुभव करता है। इस बातको भव्य जीव जानता है, उसकी श्रद्धा करता है किन्तु अभव्य जीव श्रद्धा

अथाभव्यस्याप्रतिपाद्यत्वे हेतुमुपन्यस्यति—

बहुशोऽप्युपदेशः स्यान्न मन्दस्यार्थसंविदे ।
भवति ह्यन्धपाषाणः केनोपायेन काञ्चनम् ॥१३॥

मन्दस्य—अशक्यसम्यग्दर्शनादिपाटवस्य सदा मिथ्यात्वरोगितस्य इत्यर्थः । अर्थसंविदे—अर्थे हेय उपादेये च विषये संगता अन्तर्विधिनियता वित् ज्ञानं तस्मै न स्यात् । तथा चोक्तम्—

'जले तैलमिवैतिह्यं वृथा तत्र बहिर्द्युति ।
रसवत्स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वेधाय धातुषु ॥' [सोम. उपास. १८१ श्लो.]

अन्धपाषाणः—अविभाज्यकाञ्चनाश्म । तदुक्तम्—

अन्धपाषाणकल्पं स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम् ।
यस्माज्जन्मशतेनापि नात्मतत्त्वं पृथग् भवेत् ॥१३॥ [ ]

नहीं करता ।' फिर भी ग्रन्थकार कहते है कि ऐसी परिस्थिति होते हुए भी उपदेशक को निराश न होकर सुननेकी इच्छा नहीं होनेपर भी उस इच्छाको उत्पन्न करके उपदेश करना चाहिए क्योंकि न जाने कब किसकी मति अपने हित में लग जाये । अतः समय प्रतिकूल होते हुए भी सुवक्ता को धर्मका उपदेश करना ही चाहिए ।

अभव्य को उपदेश न देनेमें युक्ति उपस्थित करते हैं—

जो मन्द है अर्थात् जिसमें सम्यग्दर्शन आदिको प्रकट कर सकना अशक्य है क्योंकि वह मिथ्यात्वरूपी रोगसे स्थायीरूपसे ग्रस्त है दूसरे शब्दोंमें जो अभव्य है—उसे दो-तीन बारकी तो बात ही क्या, बहुत बार भी उपदेश देनेपर हेय-उपादेय रूप अर्थका बोध नहीं होता । ठीक ही है—क्या किसी भी उपायसे अन्धपाषाण सुवर्ण हो सकता है ?

विशेषार्थ—जैसे खानसे एक स्वर्णपाषाण निकलता है और एक अन्धपाषाण निकलता है । जिस पाषाणमें-से सोना अलग किया जा सकता है उसे स्वर्णपाषाण कहते है और जिसमें-से किसी भी रीतिसे सोनेको अलग करना शक्य नहीं है उसे अन्धपाषाण कहते हैं । इसी तरह संसारमें भी दो तरहके जीव पाये जाते हैं—एक भव्य कहे जाते हैं और दूसरे अभव्य कहे जाते हैं । जिनमें सम्यग्दर्शन आदिके प्रकट होनेकी योग्यता होती है उन जीवोंको भव्य कहते हैं और जिनमें उस योग्यताका अभाव होता है उन्हें अभव्य कहते हैं । जैसे एक ही खेतसे पैदा होनेवाले उड़द-मूँगमें से किन्हीं में तो पचनशक्ति होती है, आग आदिका निमित्त मिलनेपर वे पक जाते हैं । उनमें कुछ ऐसे भी उड़द मूँग होते हैं जिनमें वह शक्ति नहीं होती, वे कभी भी नहीं पकते । इस तरह जैसे उनमें पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति होती है वैसे ही जीवों में भी भव्यत्व और अभव्य शक्ति स्वाभाविक होती है । दोनों ही शक्तियाँ अनादि हैं । किन्तु भव्यत्वमें भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति सादि है । आशय यह है कि भव्य जीवोंमें भी अभव्य जीवोंकी तरह मिथ्यादर्शन आदि परिणामरूप अशुद्धि रहती है । किन्तु उनमें सम्यग्दर्शन आदि परिणाम रूप शुद्धि भी सम्भव है । अतः सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्ति के पहले भव्यमें जो अशुद्धि है वह अनादि है । क्योंकि मिथ्यादर्शनकी परम्परा अनादि कालसे उसमें आ रही है । किन्तु सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिरूप शक्तिकी व्यक्ति सादि है । अभव्यमें भी अशुद्धता अनादि है क्योंकि उसमें भी मिथ्यादर्शनकी सन्तान अनादि है किन्तु उसका कभी अन्त नहीं आता अतः उसकी अशुद्धता अनादि अनन्त है । दोनोंमें

भव्योऽपीदृश एव प्रतिपाद्यः स्यादित्याह—

श्रोतुं वाञ्छति यः सदा प्रवचनं प्रोक्तं शृणोत्यादरात्
गृह्णाति प्रयतस्तदर्थमचलं तं धारयत्यात्मवत् ।
तद्विद्यैः सह संविदत्यपि ततोऽन्यांश्चोहतेऽपोहते,
तत्तस्वाभिनिवेशमावहति च ज्ञाप्यः स धर्मं सुधीः ॥१४॥

अत्र शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारण-विज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशा अष्टौ बुद्धिगुणाः क्रमेणोक्ताः प्रतिपत्तव्याः। प्रवचनं—प्रमाणाबाधितं वचनं जिनागममित्यर्थः। आत्मवत्—आत्मना तुल्यं शश्वदसत्त्ववियोगत्वात्। संवदति मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन व्यवस्यति। ततः—तं विज्ञातमर्थमाश्रित्य व्याप्त्यातवाधिनान्वितर्कत (व्याप्त्या तथाविधान् वितर्कयति) अपोहते—उक्तियुक्तिभ्यां प्रत्यवायसंभावनया विरुद्धानर्थान् व्यावर्तयति सुधीः। एतेन धीघना. इति विशेषणं व्याख्यातम् ॥१४॥

इस प्रकारकी स्थिति स्वाभाविक मानी गयी है। सारांश यह है—संसारी जीव—वह भव्य हो अथवा अभव्य हो—अनादिसे अशुद्ध है। यदि उसकी अशुद्धताको सादि माना जाये तो उससे पहले उसे शुद्ध मानना होगा। और ऐसी स्थितिमें शुद्ध जीवके पुनः बन्धन असम्भव हो जायेगा क्योंकि शुद्धता बन्धनका कारण नहीं है। अशुद्धदशामें ही बन्ध सम्भव है अतः अशुद्धि अनादि है और शुद्धि सादि है। जैसे स्वर्णपाषाणमें विद्यमान स्वर्णकी अशुद्धि अनादि है, शुद्धि सादि है। किन्तु अन्धपाषाणमें वर्तमान स्वर्ण अनादिसे अशुद्ध होनेपर भी कभी शुद्ध नहीं होता। अतः उसकी अशुद्धि अनादिके साथ अनन्त भी है ॥१३॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकारका ही भव्य जीव उपदेशका पात्र है—

सम्यक्त्वसे युक्त समीचीन बुद्धिवाला जो भव्य जीव सदा प्रवचनको सुननेके लिए इच्छुक रहता है, और जो कुछ कहा जाता है उसे आदरपूर्वक सुनता है, सुनकर प्रयत्नपूर्वक उसके अर्थका निश्चय करता है, तथा प्रयत्नपूर्वक निश्चित किये उस अर्थको आत्माके समान यह मेरा है इस भावसे स्थिर रूपसे धारण करता है, जो उस विद्याके ज्ञाता होते हैं उनके साथ संवाद करके अपने संशय, विपर्यय और अनध्यवसायको दूर करता है, इतना ही नहीं, उस ज्ञात विषयसे सम्बद्ध अन्य अज्ञात विषयोंको भी तर्क-वितर्कसे जाननेका प्रयत्न करता है, तथा युक्ति और आगमसे जो विषय प्रमाणबाधित प्रतीत होते हैं उनको हेय जानकर छोड़ देता है तथा प्रवचनके अर्थमें हेय, उपादेय और उपेक्षणीय रूपसे यथावत् अभिप्राय रखता है, ऐसा ही भव्य जीव उपदेशका पात्र होता है ॥१४॥

विशेषार्थ—यद्यपि भव्य जीव ही उपदेशका पात्र होता है तथापि उसमें भी शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, अपोह और तत्त्वाभिनिवेश ये आठ गुण होना आवश्यक है। इन गुणोंसे युक्त समीचीन बुद्धिशाली भव्य ही उपदेशका पात्र होता है। जैन उपदेशको प्रवचन कहा जाता है। 'प्र' का अर्थ है प्रकृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणोंसे अविरुद्ध वचनको ही प्रवचन कहते हैं। जैसे 'सब अनेकान्तात्मक है' इत्यादि वाक्य जिनागमके अनुकूल होनेसे प्रवचन कहलाता है। ऐसे प्रवचनका प्रवक्ता भी कल्याण का इच्छुक होना चाहिए, अपने और श्रोताओंके कल्याणकी भावनासे ही जो धर्मोपदेश करता है उसीकी बात सुननेके योग्य होती है। ऐसे प्रवक्तासे प्रवचन सुनने के लिए जो सदा इच्छुक रहता है, और जब सुननेको मिलता है तो जो कुछ कहा जाता है उसे आदरपूर्वक सुनता है, शास्त्रसभामें बैठकर ऊँघता नहीं है और न गप्पबाजी करता है, सुन करके प्रवचनके

एवंविधप्रज्ञस्यापि सदुपदेशं विना धर्मे प्रज्ञा न क्रमते इत्याचष्टे—

महामोहतमश्छन्नं श्रेयोमार्गं न पश्यति ।
विपुलाऽपि दृगालोकादिव श्रुत्या विना मतिः ॥१५॥

दृक्—चक्षुः, आलोकात्—प्रदीपादिप्रकाशात्, श्रुत्याः—धर्मश्रवणात्, 'श्रुत्वा धर्मं विजानाति' इत्यभिधानात् ॥१५॥

अथ शास्त्रसंस्कारान्मतेः परिच्छेदातिशयं शंसति—

दृष्टमात्रपरिच्छेत्री मतिः शास्त्रेण संस्कृता ।
व्यनक्त्यदृष्टमप्यर्थं दर्पणेनेव दृङ् मुखम् ॥१६॥

मतिः—इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमवग्रहादिज्ञानम् । शास्त्रेण—आप्तवचनादिजन्मना दृष्टादृष्टार्थज्ञानेन । तदुक्तम्—

मतिर्जागर्ति दृष्टेऽर्थे दृष्टेऽदृष्टे तथा गतिः ।
अतो न दुर्लभं तत्त्वं यदि निर्मत्सरं मनः ॥ [सोम उपा. २५८ श्लो.] ॥१६॥

अथ श्रोतॄणा चातुर्विध्याद् द्वयोरेव प्रतिपाद्यत्वं दृढयति—

अर्थको प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करता है और जो ग्रहण करता है उसे इस तरह धारण करता है मानो वह उसका जीवन प्राण है उसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता, उसके समझनेमें यदि कुछ सन्देह, विपरीतता या अनजानपना लगता है तो विशिष्ट ज्ञाताओंके साथ बैठकर चर्चा वार्ता करके अपने सन्देह आदिको दूर करता है। फिर उस ज्ञात तत्त्वके प्रकाशमे तर्क-वितर्क करके अन्य विषयोंको भी सुदृढ़ करता है और यदि उसे यह ज्ञात होता है कि अवतक जो अमुक विषयको हमने अमुक प्रकारसे समझा था वह प्रमाणबाधित है तो उसे छोड़कर अपनी गलतीमें सुधार कर लेता है, तथा प्रवचन सुनने आदिका मुख्य प्रयोजन तो हेय और उपादेयका विचार करके अपने अभिप्रायको यथार्थ करना है, हेयका हेय रूपसे और उपादेय-का उपादेयरूपसे श्रद्धान करना ही अभिप्रायकी यथार्थता है। यदि उसमें कमी रही तो श्रवण आदि निष्फल ही हैं। अतः जो भव्य जीव इस प्रकारके बौद्धिक गुणोंसे युक्त होता है वस्तुतः वही उपयुक्त श्रोता है ॥१४॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकारके बुद्धिशाली भव्य जीवकी मति भी सदुपदेशके बिना धर्ममें नहीं लगती—

जैसे दीपक आदिके प्रकाशके बिना खुली हुई बड़ी-बड़ी आँखे भी अन्धकारसे ढके हुए प्रशस्त मार्ग को नहीं देख सकतीं, वैसे ही धर्मश्रवणके बिना विशाल बुद्धि भी महा-मोहरूपी अन्धकारसे व्याप्त कल्याण-मार्गको नहीं देख सकती ॥१५॥

आगे शास्त्रके संस्कारसे जो बुद्धिमें ज्ञानातिशय होता है उसकी प्रशंसा करते हैं—

जैसे दर्पणके योगसे चक्षु स्वयं देखनेमें अशक्य भी मुखको देख लेती है वैसे ही इन्द्रिय और मनसे जानने योग्य वस्तुको ही जाननेवाली मति (मतिज्ञान) शास्त्रसे संस्कृत होकर अर्थात् शास्त्रश्रवणसे अतिशयको पाकर इन्द्रिय और मनके द्वारा जाननेमें अशक्य पदार्थको भी प्रकाशित करती है ॥१६॥

आगे चार प्रकारके श्रोताओंमें से दो प्रकारके श्रोता ही उपदेशके पात्र होते हैं इस बातका समर्थन करते हैं—

अव्युत्पन्नमनुप्रविश्य तदभिप्रायं प्रलोभ्याप्यलं,
कारुण्यात्प्रतिपादयन्ति सुधियो धर्मं सदा शर्मदम् ।
संदिग्धं पुनरन्तमेत्य विनयात्पृच्छन्तमिच्छावशा-
न्न व्युत्पन्नविपर्ययाकुलमती व्युत्पत्त्यनर्थित्वतः ॥१७॥

प्रलोभ्य—लाभपूजादिना प्ररोचनामुत्पाद्य, इच्छावशात्—व्युत्पत्तिवाञ्छानुरोधात् । विपर्ययाकुलमतिः—विपर्यस्तः ॥१७॥

ननु दृष्टफलाभिलाषदूषितमतिः कथं प्रतिपाद्य इत्याशङ्कां दृष्टान्तावष्टम्भेन निराचष्टे—

यः शृणोति यथा धर्ममनुवृत्यस्तथैव सः ।
भजन् पथ्यमपथ्येन बालः किं नानुमोदते ॥१८॥

यथा—लाभपूजादिप्रलोभनप्रकारेण, अनुवृत्यः—अनुगम्यो न दूष्यः । पथ्यं—कटुतिक्तादिद्रव्यं व्याधिहरं, अपथ्येन—द्राक्षाशर्करादिना सह ॥१८॥

अथ विनयफलं दर्शयति—

वृद्धेष्वनुद्धताचारो ना महिम्नानुबध्यते ।
कुलशैलाननुत्क्रामन् सरिद्भिः पूर्यतेऽर्णवः ॥१९॥

चार प्रकारके श्रोता होते है—अव्युत्पन्न, सन्दिग्ध, व्युत्पन्न और विपर्यस्त। प्रवक्ता आचार्य धर्मके स्वरूपसे अनजान अव्युत्पन्न श्रोताको, उसके अभिप्रायके अनुसार धर्मसे मिलनेवाले लाभ, पूजा आदिका प्रलोभन देकर भी कृपाभावसे सदा सुखदायी धर्मका उपदेश देते हैं। तथा धर्मके विषयमें सन्दिग्ध श्रोता विनयपूर्वक समीपमें आकर पूछता है कि यह ऐसे ही है या अन्य प्रकारसे है तो उसको समझानेकी भावनासे धर्मका उपदेश देते हैं। किन्तु जो धर्मका ज्ञाता व्युत्पन्न श्रोता है अथवा विपरीत ज्ञानके कारण जिसकी मति विपरीत है, जो शास्त्रोक्त धर्मका अन्यथा समर्थन करनेके लिए कटिबद्ध है, ऐसे विपर्यस्त श्रोताको धर्मका उपदेश नहीं देते हैं क्योंकि व्युत्पन्न श्रोता तो धर्मको जानता है और विपर्यस्त श्रोता धर्मसे द्वेष रखता है ॥१७॥

यहाँ यह शंका होती है कि लौकिक फलकी इच्छासे जिसकी मति दूषित है वह कैसे उपदेशका पात्र है, इस आशंकाका निराकरण दृष्टान्त द्वारा करते हैं—

जो जिस प्रकार धर्मको सुनता है उसे उसी प्रकार धर्म सुनाना चाहिए। क्या अपथ्यके द्वारा पथ्यका सेवन करनेवाले बालककी सब अनुमोदना नहीं करते हैं ॥१८॥

विशेषार्थ—जैसे बालक रोग दूर करनेके लिए कटुक औषधिका सेवन यदि नहीं करता तो माता-पिता मिठाई वगैरहका लालच देकर उसे कटुक औषधि खिलाते हैं। यद्यपि मिठाई उसके लिए हितकारी नहीं है। तथा जब बालक मिठाईके लोभसे कटुक औषधि खाता है तो माता-पिता उसकी प्रशंसा करते हैं कि बड़ा अच्छा लड़का है। उसी प्रकार जो सांसारिक प्रलोभनके बिना धर्मकी ओर आकृष्ट नहीं होते उन्हें सांसारिक सुखका प्रलोभन देकर धर्म सुनाना बुरा नहीं है। यद्यपि सांसारिक सुख अहितकर है, किन्तु धर्म सुननेसे वह उसे अहितकर जानकर छोड़ सकेगा, इसी भावनासे ऐसा किया जाता है ॥१८॥

आगे विनयका फल बतलाते हैं—

तप, श्रुत आदिमें ज्येष्ठ गुरुजनोंके प्रति विनम्र व्यवहार करनेवाला मनुष्य नित्य ही

वृद्धेषु—तपःश्रुतादिज्येष्ठेसु, ना महिम्ना—ना पुमान्, महिम्ना—लोकोत्तरानुभावेन, अथवा न अमहिम्ना किं तर्हि ? माहात्म्येनैव, अनुबध्यते—नित्यमधिष्ठीयते । कुलशैलान्—एक-द्वि-चतुर्योजनशतोच्छ्रितान् हिमवदादीन् अनुत्क्रामन्—अनुल्लंघ्य वर्तमानः ॥१९॥

अथ व्युत्पन्नस्याप्रतिपाद्यत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते—

> यो यद्विजानाति स तन्न शिष्यो
> यो वा न यद्वष्टि स तन्न लभ्यः ।
> को दीपयेद्धामनिधिं हि दीपैः
> कः पूरयेद्वाम्बुनिधिं पयोभिः ॥२०॥

वष्टि—कामयति ॥२०॥

अथ विपर्यस्तस्य प्रतिपाद्यत्वे दोषं दर्शयति—

> यत्र मुष्णाति वा शुद्धिच्छायां पुष्णाति वा तमः ।
> गुरूक्तिज्योतिरुन्मीलत् कस्तत्रोन्मीलयेद्गिरम् ॥२१॥

शुद्धच्छायां—अभ्रान्ति वा चित्तप्रसत्तिम् । तमः—विपरीताभिनिवेशम् ॥२१॥

अथैवं प्रतिपादकप्रतिपाद्यौ प्रतिपाद्य तत्प्रवृत्त्यङ्गतया सिद्धं धर्मफलं निर्दिशति—

लोकोत्तर माहात्म्यसे परिपूरित होता है । ठीक ही है—हिमवान् आदि कुलपर्वतोंका उल्लंघन न करनेवाला समुद्र गंगा आदि नदियोंके द्वारा भरा जाता है ॥१९॥

व्युत्पन्न पुरुष उपदेशका पात्र नहीं है, इसका समर्थन दृष्टान्त द्वारा करते हैं—

जो पुरुष जिस वस्तुको अच्छी रीतिसे जानता है उसे उस वस्तुका शिक्षण देनेकी आवश्यकता नहीं है और जो पुरुष जिस वस्तुको नहीं चाहता उसे उस वस्तुको देना अनावश्यक है । कौन मनुष्य सूर्यको दीपकोंके द्वारा प्रकाशित करता है और कौन मनुष्य समुद्रको जलसे भरता है ? अर्थात् जैसे सूर्यको दीपक दिखाना और समुद्रको जलसे भरना व्यर्थ है क्योंकि सूर्य स्वयं प्रकाशमान है और समुद्रमें अथाह जल है, वैसे ही ज्ञानी पुरुषको उपदेश देना व्यर्थ है क्योंकि वह तो स्वयं ज्ञानी है ॥२०॥

आगे विपर्यस्त श्रोताको उपदेश देनेमें दोष बतलाते हैं—

गुरुकी उक्तिरूपी ज्योति प्रकाशित होते ही जिसमें वर्तमान शुद्धिकी छायाको हर लेती है और अन्धकारको बढ़ाती है उसे कौन उपदेश कर सकेगा ॥२१॥

विशेषार्थ—गुरुके वचन दीपकके तुल्य हैं । दीपकके प्रकाशित होते ही यदि प्रकाशके स्थान पर अन्धकार ही बढ़ता हो तो ऐसे स्थानपर कौन दीपक जलाना पसन्द करेगा । उसी तरह गुरुके वचनोंको सुनकर जिसके चित्तमें वर्तमान थोड़ी-सी भी शान्ति नष्ट हो जाती हो और उलटा विपरीत अभिनिवेश ही पुष्ट होता हो तो ऐसे व्यक्तिको उपदेश देनेसे क्या लाभ है ? उसे कोई भी बुद्धिमान् प्रवक्ता उपदेश देना पसन्द नहीं कर सकता ॥२१॥

धर्मके फलको सुनकर धर्ममें प्रवृत्ति होती है इस तरह धर्मका फल भी धर्ममें प्रवृत्तिका एक अंग है । इसलिए वक्ता और श्रोताका स्वरूप बतलाकर ग्रन्थकार धर्मके फलका कथन करते हैं—

सुखं दुःखनिवृत्तिश्च पुरुषार्थावुभौ स्मृतौ ।
धर्मस्तत्कारणं सम्यक् सर्वेषामविगानतः ॥२२॥

उभौ—द्वावेव सुखाद् दुःखनिवृत्तेश्चातिरिक्तस्य सर्वे (सर्वेषाम्)—पुरुषाणामभिलाषाऽविषयत्वात् । सर्वेषा लौकिकपरीक्षकाणा अविगानतः—अविप्रतिपत्तेः ॥२२॥

अथोक्तमेवार्थं प्रपञ्चयितुं मुख्यफलसंपादनपरस्य धर्मस्यानुषंङ्गिकफलसर्वस्वमभिनन्दति—

येन मुक्तिश्रिये पुंसि वास्यमाने जगच्छ्रियः ।
स्वयं रज्यन्त्ययं धर्मः केन वर्ण्योऽनुभावतः ॥२३॥

वास्यमाने—अनुरज्यमाने आत्मीयमाणे वा जगच्छ्रियः । अत्रागमो यथा—

'संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणपहाणादो ॥'—प्रवचनसार १।६

पूर्वाचार्योंने सुख और दुःखसे निवृत्ति ये दो पुरुषार्थ माने हैं। उनका कारण सच्चा धर्म है इसमें किसीको भी विवाद नहीं है ॥२२॥

विशेषार्थ—यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ सभीने स्वीकार किये हैं। जो पुरुषोंकी अभिलाषाका विषय होता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं। सभी पुरुष ही नहीं, प्राणिमात्र चाहते हैं कि हमें सुखकी प्राप्ति हो और दुःखसे हमारा छुटकारा हो। उक्त चार पुरुषार्थोंका भी मूल प्रयोजन सुखकी प्राप्ति और दुःखसे निवृत्ति ही है। अतः इन दोनोंको पुरुषार्थ कहा है। यद्यपि दुःखसे निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति एक-जैसी ही लगती है क्योंकि दुःख निवृत्ति होनेसे सुखकी प्राप्ति होती है और सुखकी प्राप्ति होनेसे दुःखकी निवृत्ति होती है, तथापि वैशेषिक आदि दर्शन मुक्तावस्थामें दुःखनिवृत्ति तो मानते हैं किन्तु सुखानुभूति नहीं मानते। इसलिए ग्रन्थकारने दोनोंको गिनाया है। वैशेषिक दर्शनमें कहा है—

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ आत्मगुणोंका अत्यन्त विनाश हो जाना मोक्ष है। उक्त दोनों पुरुषार्थोंका कारण धर्म है यह सभीने स्वीकार किया है। जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्षका यह लक्षण सभीने माना है।[1]

यतः धर्मका फल सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति है अतः उसमें प्रवृत्ति करना योग्य है॥२२॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए मुख्यफलको देनेमें समर्थ धर्मके समस्त आनुषंगिक फलका अभिनन्दन करते हैं—

मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए जिस धर्मको धारण करनेवाले मनुष्यपर संसारकी लक्ष्मियाँ स्वयं अनुरक्त होती हैं उस धर्मके माहात्म्यका वर्णन कौन कर सकनेमें समर्थ है? ॥२३॥

विशेषार्थ—धर्मपालनका मुख्य फल है संसारके दुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति। आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके प्रारम्भमें धर्मका

---

१. वैशेषिक दर्शनमें कहा है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।" महापुराणमें आचार्य जिनसेनने कहा है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता स धर्मः ॥५।२०॥"

केन न केनापि ब्रह्मादिना अनुभावतः प्रभावं कार्यं वाऽश्रित्य ॥२३॥

ननु कथमेतन्मोक्षबन्धफलयोरेककारणत्वं न विरुध्यते—

निरुन्धति नवं पापमुपात्तं क्षपयत्यपि ।
धर्मेऽनुरागाद्यत्कर्म स धर्मोऽभ्युदयप्रदः ॥२४॥

क्षपयति एकदेशेन नाशयति सति धर्मे सम्यग्दर्शनादियौगपद्यप्रवृत्तैकत्वलक्षणे शुद्धात्मपरिणामे । यत् कर्म सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षणं पुण्यं स धर्मः । यथोक्तधर्मानुरागहेतुकोऽपि पुण्यबन्धो धर्म इत्युपचर्यते । निमित्तं चोपचारस्यैकार्थसंबन्धित्वम् । प्रयोजनं पुनर्लोकशास्त्रव्यवहारः लोके यथा—'स्याद्धर्ममस्त्रिया पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः ।' [अमरकोश १।४।२४] इति

कथन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए भी धर्मके इसी फलका कथन किया है यथा[1]—

'मैं कर्मबन्धनको नष्ट करनेवाले समीचीन धर्मका कथन करता हूँ जो प्राणियोंको संसारके दुःखसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धरता है।'

इस मुख्यफलके साथ धर्मका आनुषंगिक फल भी है और वह है सांसारिक सुखोंकी प्राप्ति। जो मोक्षके लिए धर्माचरण करता है उसे उत्तम देवपद, राजपद आदि अनायास प्राप्त हो जाते हैं ॥२३॥

इससे यह शंका होती है कि उत्तम देवपद आदि सांसारिक सुख तो पुण्यबन्धसे प्राप्त होता है और मोक्ष पुण्यबन्धके भी अभावमें होता है। तो एक ही धर्मरूप कारणसे मोक्ष और बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है? मोक्ष और बन्धका एक कारण होनेमें विरोध क्यों नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

नवीन पापबन्धको रोकनेवाले और पूर्वबद्ध पापकर्मका क्षय करनेवाले धर्ममें अनुराग होनेसे जो पुण्यकर्मका बन्ध होता है वह भी धर्म कहा जाता है और वह धर्म अभ्युदयको—स्वर्ग आदिकी सम्पदाको देता है ॥२४॥

विशेषार्थ—प्रश्नकर्ताका प्रश्न था कि धर्मसे मोक्ष और लौकिक अभ्युदय दोनों कैसे सम्भव हैं? मोक्ष कर्मबन्धके नाशसे मिलता है और लौकिक अभ्युदय पुण्यबन्धसे मिलते हैं। इसके उत्तरमें ग्रन्थकार कहते हैं कि नवीन पापबन्धको रोकनेवाले और पुराने बँधे हुए पापकर्मका एकदेशसे नाश करनेवाले धर्ममें विशेष प्रीति करनेसे जो सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्ररूप पुण्यकर्मका बन्ध होता है उसे भी उपचारसे धर्म कहा है और उस धर्मसे स्वर्गादि रूप लौकिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है। यथार्थमें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें एक साथ प्रवृत्त एकाग्रतारूप शुद्ध आत्मपरिणामका नाम धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारके प्रारम्भमें धर्मका स्वरूप बतलाते हुए कहा है[2]—

'निश्चयसे चारित्र धर्म है और जो धर्म है उसे ही समभाव कहा है। तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम सम है।'

---

१. 'देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥'—रत्न. श्रा., २ श्लो.।

२. 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥'
—प्रव., गा. ७ ।

शास्त्रे यथा—

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु ।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीबलस्तस्य बीजमिव ॥—[आत्मानु., २१ श्लो.]

अपि च—

'यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः ।
वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः' ॥२४॥
—[सोम. उपा., २१ श्लो.]

इन्हीं आचार्य कुन्दकुन्दने अपने भावपाहुडमें धर्म और पुण्यका भेद करते हुए कहा है[1]—

'जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा अपने धर्मोपदेशमें कहा गया है कि देवपूजा आदिके साथ व्रताचरण करना पुण्य है। और मोह और क्षोभसे रहित आत्माके परिणामको धर्म कहते हैं।'

ऐसे धर्ममें अनुराग करनेसे जो पुण्यबन्ध होता है उसे भी उपचारसे धर्म कहते हैं। शास्त्रोंमें कहा है कि प्रयोजन और निमित्तमें उपचारकी प्रवृत्ति होती है। पुण्यको उपचारसे धर्म कहनेका प्रयोजन यह है कि लोकमें और शास्त्रमें पुण्यके लिए धर्म शब्दका व्यवहार किया जाता है। लोकमें शब्दकोशोंमें पुण्यको धर्म शब्दसे कहा है।

शास्त्रोंमें भी पुण्यको धर्म शब्दसे कहा है। पहले लिख आये हैं कि आचार्य जिनसेनने जिससे सांसारिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है उसे भी धर्म कहा है। तथा उनके शिष्य आचार्य गुणभद्रने कहा है—

"जैसे किसान बीजसे धान्य प्राप्त करके उसे भोगता भी है और भविष्यके लिए कुछ बीज सुरक्षित भी रखता है उसी प्रकार धर्मसे सुख-सम्पत्तिको पाकर धर्मका पालन करते हुए भोगोंका अनुभवन कर।"

यहाँ भी पुण्यके लिए ही धर्म शब्दका व्यवहार किया गया है। इस तरह लोकमें शास्त्रोंमें पुण्यको भी धर्म कहा जाता है। यह प्रयोजन है उपचारका और निमित्त है धर्म और पुण्यका एकार्थसम्बन्धी होना। धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे होता है। सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करके निज शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रुचिका नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप दोनोंको ही हेय मानता है फिर भी पुण्यबन्धसे बचता नहीं है। हेय मानकर भी वह पुण्यबन्ध कैसे करता है इसे एक दृष्टान्तके द्वारा ब्रह्मदेवजीने द्रव्य-संग्रह [गा. ३८] की टीकामें इस प्रकार स्पष्ट किया है—जैसे कोई पुरुष किसी अन्य देशमें स्थित किसी सुन्दरीके पाससे आये हुए मनुष्योंका उस सुन्दरीकी प्राप्तिके लिए दान-सम्मान आदि करता है उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी उपादेय रूपसे अपने शुद्ध आत्माकी ही भावना करता है, परन्तु चारित्र मोहके उदयसे उसमें असमर्थ होनेपर निर्दोष परमात्मस्वरूप अर्हन्तों और सिद्धोंकी तथा उनके आराधक आचार्य उपाध्याय और साधुओंकी दान-पूजा आदिसे

1. 'पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥'
—भा. पा., गा. ८१ ।

अथ धर्मस्यानुषङ्गिकफलदानपुरस्सरं मुख्यफलसंपादनमुपदिशति—

धर्माद् दृक्फलमभ्युदेति करणैरुद्दीर्यमाणोऽनिशं,
यत्प्रीणाति मनो बहुन् भवरसो यत्पुंस्यवस्थान्तरम् ।
स्याज्जन्मज्वरसंज्वरव्युपरमोपक्रम्य निस्सीम तत्,
तादृक् शर्म सुखाम्बुधिप्लवमयं सेवाफलं स्वस्य तत् ॥२५॥

दृक्फलं—दृष्टिफलं धर्मविषयश्रद्धानजनितपुण्यसाध्यमित्यर्थः । यथा राजादेः सकाशादागन्तुसेवकस्य दृष्टिफलं सेवका(सेवा)फलं च द्वे स्त इत्युक्तिलेशः । करणैः—चक्षुरादिभिः श्रीकरणादिनियुक्तैश्च । भवरसः—संसारसारमिन्द्रादिपदं ग्राम-सुवर्ण-वस्तु-वाहनादि च । पुंसि—जीवे सेवकपुरुषे च । अवस्थान्तरं—अशरीरत्वं सामन्तादिपदं च । संज्वरः—संतापः । प्लवः—अवगाहनम् । अस्य धर्मस्य । तदुक्तम्—

तथा उनके गुणोंके स्तवन आदिसे परम भक्ति करता है । इस भक्तिका उद्देश्य भी परमात्मपद की प्राप्ति ही होता है । तथा प्रयोजन होता है विषय कषायसे मनको रोकना । न तो उसके इस भव-सम्बन्धी भोगोंकी चाह होती है और न परभव-सम्बन्धी भोगोंकी चाह होती है । इस प्रकार निदान रहित परिणामसे नहीं चाहते हुए भी पुण्यकर्मका आस्रव होता है । उस पुण्यबन्धसे वह मरकर स्वर्गमें देव—इन्द्र आदि होता है और वहाँ भी स्वर्गकी सम्पदाको जीर्ण तृणके समान मानता है । वहाँसे वन्दनाके लिए विदेह क्षेत्रमें जाकर देखता है कि समवसरणमें वीतराग जिनदेव विराजमान हैं, भेद रूप या अभेद रूप रत्नत्रयके आराधक गणधर देव विराजमान हैं । उससे उसकी आस्था धर्ममें और भी दृढ़ हो जाती है । वह चतुर्थ गुणस्थानके योग्य अपनी अविरत अवस्थाको नहीं छोड़ते हुए भोगोंको भोगते हुए भी धर्मध्यान पूर्वक काल बिताकर स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य पर्यायमें जन्म लेता है किन्तु तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि पद पाने पर भी मोह नहीं करता और जिनदीक्षा लेकर पुण्य और पाप दोनोसे रहित निज परमात्माके ध्यानसे मोक्ष प्राप्त करता है । किन्तु मिथ्यादृष्टि तीव्र निदान पूर्वक बाँधे गये पुण्यसे भोगोंको प्राप्त करके रावणकी तरह नरकमें जाता है ।

इस तरह धर्म और पुण्य दोनों एकार्थसम्बन्धी हैं इसलिए पुण्यको उपचारसे धर्म कहा है । वस्तुतः पुण्य धर्म नहीं है । धर्म पुण्यसे बहुत ऊँची वस्तु है । जब तक पुण्य है संसारसे छुटकारा सम्भव नहीं है । पापकी तरह पुण्यसे भी मुक्ति मिलने पर ही संसारसे मुक्ति मिलती है ॥२४॥

आगे कहते हैं कि धर्म आनुषंगिक फलदानपूर्वक मुख्य फलको भी पूर्णतया देता है—

जैसे राजाके समीप आनेवाले सेवकको दृष्टिफल और सेवाफलकी प्राप्ति होती है वैसे ही धर्मका सेवन करनेवालेको धर्मसे ये दो फल प्राप्त होते हैं । इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाला और दिन-रात रहनेवाला जो संसारका रस मनको प्रसन्न करता है वह दृष्टिफल है । तथा संसाररूप महाज्वरके विनाशसे उत्पन्न होनेवाला अमर्याद अनिर्वचनीय आगमप्रसिद्ध सुख रूपी अमृतके समुद्रमें अवगाहन रूप जो पुरुषकी अवस्थान्तर है—संसार अवस्थासे विपरीत आत्मिक अवस्था है उसकी प्राप्ति सेवाफल है ॥२५॥

विशेषार्थ—राजा आदिके समीपमें आनेवाले सेवकको दो फलोंकी प्राप्ति होती है । प्रथम दर्शनमें राजा उसे ग्राम, सोना, वस्त्र आदि देता है । यह तो दृष्टिफल या राजदर्शन फल है और सेवा करने पर उसे सामन्त आदि बना देता है यह सेवाफल है । इसी तरह

विट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जम्हा खणेण सिद्धा य ।
आराधया चरित्तस्स तेण आराधणासारे ॥२५॥—[भ. आरा. १७ गा.]

अथ त्रयोविंशत्या वृत्तैरभ्युदयलक्षणं धर्मफलं वर्णयति, तत्रादौ तावत् समासतः (सामान्यतः)—

वंशे विश्वमहिम्नि जन्म महिमा काम्यः समेषां क्षमो,
मन्दाक्षं सुतपोजुषां श्रुतमृषिब्रह्मर्द्धिसंघर्षकृत् ।
त्यागः श्रीदकुराधिवासनिरनुक्रोशः प्रतापो रिपु-
स्त्रीशृङ्गारगरस्तरङ्गितजगद्धर्मात्यशश्चाङ्गिनाम् ॥२६॥

विश्वमहिम्नि—जगद्व्यापिमाहात्म्ये, समेषां—सर्वेषाम् । मन्दाक्षं—लज्जा । ब्रह्मर्द्धिः—ज्ञानातिशयः । संहर्षः (संघर्षः)—स्पर्द्धा । श्रीदः—कुबेरः । निरनुक्रोशः—निर्दयः । गरः—कृत्रिमविषम् । तरङ्गितं—तरङ्गवदाचरितं स्वल्पीभूतमित्यर्थः ॥२६॥

बुद्धयादिसामग्र्यपि फलदाने पुण्यमुखं प्रेक्षत एवेत्याह—

धीस्तीक्ष्णानुगुणः कालो व्यवसायः सुसाहसः ।
धैर्यमुद्यत्तथोत्साहः सर्वं पुण्यादृते वृथा ॥२७॥

धर्मका सेवन करनेवालेको भी दो फलोंकी प्राप्ति होती है। उसे मनको प्रसन्न करनेवाला सांसारिक सुख मिलता है यह दृष्टिफल है। दृष्टिफलका मतलब है—धर्मविषयक श्रद्धानसे होनेवाले पुण्यका फल। सांसारिक सुख उसीका फल है। तथा धर्मका सेवन करते हुए निज शुद्धात्म तत्त्वकी भावनाके फलस्वरूप जो शुद्धात्म स्वरूपकी प्राप्ति होती है जो अनन्त सुखका समुद्र है वह सेवाफल है। इस तरह धर्मसे आनुषंगिक सांसारिक सुखपूर्वक मुख्य फल मोक्षकी प्राप्ति होता है ॥२५॥

आगे तेईस पद्योंके द्वारा धर्मके अभ्युदयरूप फलका वर्णन करते हैं। उनमेंसे प्रथम चौदह श्लोकोंके द्वारा सामान्य रूपसे उसे स्पष्ट करते हैं—

धर्मसे प्राणियोंका ऐसे वंशमें जन्म होता है जिसकी महिमा जगत्-व्यापी है अर्थात् जिसकी महिमा तीर्थंकर आदि पदको प्राप्त करानेमें समर्थ होती है। धर्मसे प्राणियोंको ऐसे तीर्थंकर आदि पद प्राप्त होते हैं जिनकी चाह सब लोग करते हैं। अपराध करनेवालोंको दण्ड देनेकी सामर्थ्य होते हुए भी धर्म से ऐसी सहन शक्ति प्राप्त होती है जिसे देखकर अच्छे-अच्छे तपस्वियोंकी भी दृष्टि लज्जासे झुक जाती है। धर्मसे प्राणियोंको ऐसा श्रुतज्ञान प्राप्त होता है जो तपोबलके द्वारा बुद्धि आदि ऋद्धिको प्राप्त ऋषियोंके ज्ञानातिशयसे भी टक्कर लेता है। धर्मसे प्राणियोंको दान देनेकी ऐसी क्षमता प्राप्त होती है जो कुबेरके मनको भी निर्दयतापूर्वक व्यथित करती है। धर्मसे प्राणियोंको ऐसा प्रताप प्राप्त होता है जो शत्रुओंकी स्त्रियोंके शृङ्गारके लिए विषके समान है। तथा धर्मसे ऐसा यश प्राप्त होता है जिसमें जगत् एक लहरकी तरह प्रतीत होता है अर्थात् तीनों लोकोंमें व्याप्त होता हुआ वह यश अलोकको भी व्याप्त करनेके लिए तत्पर होता है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि बुद्धि आदि सामग्री भी अपना फल देनेमें पुण्यका ही मुख देखा करती है—

कुशके अग्रभागके समान तीक्ष्ण बुद्धि, कार्यके अनुकूल समय, कार्यके प्रति साहसपूर्ण अध्यवसाय, बढ़ता हुआ धैर्य और वृद्धिंगत उत्साह, ये सब पुण्यके बिना व्यर्थ हैं अर्थात्

अनुगुण:—कार्यं प्रत्युपकारी। व्यवसाय:—क्रियां प्रत्युद्यमः। सुसाहसः—यत्र नाहमित्यध्यवसायस्तत्साहसं, स्वाम्यं यत्रास्ति (सोऽयं यत्रास्ति)। उद्यत्—आरोहत् प्रकर्षम्। तथा चोक्तम्—

आदौ पश्यति बुद्धिर्व्यवसायो हीनकालमारभते।
धैर्यं व्यूढमहाभरमुत्साहः साधयत्यर्थम्॥ [ ]

ऋते विना ॥२७॥

ननु यदीष्टसिद्धौ पुण्यस्य स्वातन्त्र्यं तत्किमेतत् स्वकर्तुस्तत्र क्रियामपेक्षते इति प्रश्ने सति प्रत्यक्षमुत्तरयति—

मनस्विनामीप्सितवस्तुलाभाद्रम्योऽभिमानः सुतरामितीव।
पुण्यं सुहृत्पौरुषदुर्मदानां क्रियाः करोतीष्टफलाभिदृप्ताः ॥२८॥

मनस्विनां मानिनाम् ॥२८॥

विशिष्टा आयुरादयोऽपि पुण्योदयनिमित्ता एवेत्यावेदयति—

आयुः श्रेयोनुबन्धि प्रचुरमुरुगुणं वज्रसारः शरीरं,
श्रीस्त्यागप्रायभोगा सततमुदयनी धीः परार्ध्या श्रुताढ्या।
गीरादेया सदस्या व्यवहृतिरपथोन्माथिनी सद्भिरर्थ्या,
स्वाम्यं प्रत्यर्थिकाम्यं प्रणयिपरवशं प्राणिनां पुण्यपाकात् ॥२९॥

पुण्यका उदय होने पर ही ये सब प्राप्त होते हैं और पुण्यके उदयमें ही कार्यकारी होते हैं ॥२७॥

यदि इष्टकी सिद्धिमें पुण्य कर्म स्वतन्त्र है अर्थात् यदि पुण्यके ही प्रतापसे कार्यसिद्धि होती है तो पुण्य अपने कर्ताके क्रियाकी अपेक्षा क्यों करता है अर्थात् विना कुछ किये पुण्यसे ही इष्टसिद्धि क्यों नहीं होती इस प्रश्नका उत्तर उत्प्रेक्षापूर्वक देते हैं—

अभिमानी पुरुषोंको इच्छित वस्तुका लाभ हो जाने पर अत्यन्त मनोरम अभिमान हुआ करता है। मानो इसीलिए छलरहित उपकारक पुण्य अपने पौरुषका मिथ्या अहंकार करनेवालोंकी क्रियाओंको—कार्योंको इष्टफलकी प्राप्तिके अभिमानरससे रंजित कर देता है। अर्थात् इष्टफलकी प्राप्ति तो पुण्यके प्रतापसे होती है किन्तु मनुष्य मिथ्या अहंकार करते हैं कि हमने अपने पौरुषसे प्राप्ति की है ॥२८॥

आगे कहते हैं कि विशिष्ट आयु आदि भी पुण्योदयके निमित्तसे ही होती है—

पुण्य कर्मके उदयसे प्राणियोंको सतत कल्याणकारी उत्कृष्ट आयु प्राप्त होती है, सौरूप्य आदि गुणोंसे युक्त तथा वज्रकी तरह अभेद्य शरीर प्राप्त होता है, जीवन पर्यन्त दिनोंदिन बढ़नेवाली तथा प्रायः करके अर्थीजनोंके भोगमें आनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है, सेवा आदि गुणोंसे सम्पन्न होनेके कारण उत्कृष्ट तथा शास्त्रज्ञानसे समृद्ध बुद्धि प्राप्त होती है, सभाके योग्य और सबके द्वारा आदरणीय वाणी प्राप्त होती है, साधुजनोंके द्वारा अभिलषणीय तथा दूसरोंको कुमार्गसे बचानेवाला हितमें प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्तिरूप व्यवहार प्राप्त होता है, तथा शत्रु भी जिसकी अभिलाषा करते हैं कि हम भी ऐसे हों, ऐसा प्रभुत्व प्राप्त होता है जो केवल प्रियजनोंकी ही परवशता स्वीकार करता है। ये सब पुण्यकर्मके उदयके निमित्तसे प्राप्त होते हैं ॥२९॥

श्रेयोनुबन्धि—अविच्छिन्नकल्याणम् । वज्रसारः—वज्रस्य सार इव अभि(भे-)द्यत्वात् । त्यागप्रायभोगाः—त्यागोऽर्थिषु संविभागः प्रायेण बाहुल्येन भोगे अनुभवे यस्याः । सततं—यावज्जीवम् । उदयिनी—दिने दिने वर्धमाना । परार्ध्या—उत्कृष्टा शुश्रूषादिगुणसंपन्नत्वाद् । आदेया—अनुल्लङ्घ्या । सदस्या—सभाया पत्नी । व्यवहृतिः—हिते प्रवृत्तिरहितान्निवृत्तिश्च । प्रणयिपरवशं—बन्धुमित्रादीनामेव परतन्त्रं न शत्रूणाम् ॥२९॥

अथ पुण्यस्य बहुफलयौगपद्यं दर्शयति—

चिद्भूम्युत्थः प्रकृतिशिखरिश्रेणिरापूरिताशा-
चक्रः सज्जीकृतरसभरः स्वच्छभावाम्बुपूरैः ।
नानाशक्ति-प्रसव-विसरः साधुपान्थौघसेव्यः,
पुण्यारामः फलति सुकृतां प्रार्थितांल्लुम्बिशोऽर्थान् ॥३०॥

चित्—चेतना पुण्यस्य जीवोपश्लिष्टत्वात् । प्रकृतयः—सद्वेद्यादयः । शिखरिणः—वृक्षाः । आशाः—भविष्यार्थवाञ्छा दिशश्च । रसः—विपाको मधुरादिश्च । भावः—परिणामः । विसरः—समूहः । सुष्ठु—शोभनं तपोदानादिकृतवताम् । लुम्बिशः—त्रिचतुरादिफलस्तोमं प्रशस्तं कृत्वा ॥३०॥

अथ सहभाविवाञ्छितार्थफलस्तोमं पुण्यस्य लक्षयति—

पित्र्यैर्वैनयिकैश्च विक्रमकलासौन्दर्यचर्यादिभि-
र्गोष्ठीनिष्ठुरसैर्नृणां पृथगपि प्रार्थ्यैः प्रतीतो गुणैः ।
सम्यक्स्निग्ध-विदग्ध-मित्रसरसालापोल्लसन्मानसो,
धन्यः सौधतलेऽखिलर्तुमधुरे कान्तेक्षणैः पीयते ॥३१॥

आगे बतलाते हैं कि पुण्यसे एक साथ बहुत फल प्राप्त होते हैं—

पुण्य उपवनके तुल्य है। यह पुण्यरूपी उपवन चित्तरूपी भूमिमें उगता है, इसमें कर्मप्रकृतिरूपी वृक्षोंकी पंक्तियाँ होती हैं। उपवन दिशाचक्रको अपने फलभारसे घेरे होता है, पुण्य भी भविष्यके मनोरथोंसे पूरित होता है। उपवन स्वच्छ जलके समूहके कारण रसभारसे भरपूर होता है, पुण्य भी निर्मल परिणामरूपी जलके समूहसे होनेवाले अनुभागरूप रसभारसे भरपूर रहता है अर्थात् जितने ही अधिक मन्द कषायको लिये हुए निर्मल परिणाम होते हैं उतना ही अधिक शुभ प्रकृतियोंमें फलदानकी शक्ति प्रचुर होती है। उपवन नाना प्रकारके फूलोंके समूहसे युक्त होता है; पुण्य भी नाना प्रकारकी फलदान शक्तिसे युक्त होता है। चूँकि फूलसे ही फल लगते हैं अतः शक्तिको फूलोंकी उपमा दी है। उपवनमें सदा पथिक जन आते रहते हैं। पुण्य भी साधुजनोंके द्वारा सेवनीय होता है। यहाँ साधुजनसे धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेवाले लेना चाहिए।

इस तरह पुण्यरूपी उपवनमें दान तप आदि करनेवाले पुण्यशालियोंके द्वारा प्राथित पदार्थ प्रचुर रूपमें फलते हैं ॥३०॥

आगे कहते हैं कि पुण्यसे बहुत सहभावी इच्छित पदार्थ फलरूपमें प्राप्त होते हैं—

माता-पितासे आये हुए और शिक्षासे प्राप्त विक्रम, कला, सौन्दर्य, आचार आदि गुणोंसे, जिनकी चर्चा पारस्परिक गोष्ठीमें भी आनन्ददायक होती है और जिनमेंसे मनुष्य एक एक गुणको भी प्राप्त करनेके इच्छुक रहते हैं, सबकी तो बात ही क्या है ? ऐसे गुणोंसे युक्त पुण्यशाली मनुष्य सब ऋतुओंमें सुखदायक महलके ऊपर कान्ताके नयनोंके द्वारा अनु-

पित्र्यैः—पितृभ्यामागतैः आभिजनैरित्यर्थः । वैनयिकैः—शिक्षाप्रभवैराहार्यैरित्यर्थः । तत्र विक्रम-सौन्दर्यप्रियंवदत्वादयः सहजाः कलाचर्या मैत्र्यादयः आहार्याः गोष्ठीनिष्ठरसैः—लक्षणया सदा समुदितैः । पृथक्—एकैकशः । पीयते—अत्यन्तमालोक्यते ॥३१॥

अथैवं पुण्यवतः स्वगतां गुणसंपत्तिं प्रदर्श्य कान्तागतां तां प्रकाशयति—

साध्वीस्त्रिवर्गविधिसाधनसावधानाः,
कोपोपदंशमधुरप्रणयानुभावाः ।
लावण्यवारितरगात्रलताः समान-
सौख्यासुखाः सुकृतिनः सुदृशो लभन्ते ॥३२॥ [ ]

लावण्यवारितराः—अतिशायिनि कान्तिमत्त्वे जलवद्व्यापिनि तरन्त्य इव लता । प्राशस्त्यं कार्श्यं वा द्योतयतीदम् । असुखं—दुःखम् । तच्चात्र प्रणयभङ्गादिकृतमेव न व्याध्यादिनिमित्तं तस्य कृतपुण्येष्वसंभवात् । यदि वा संसारे सुखदुःखे प्रकृत्या सान्तरे एव । तथा च लोकाः पठन्ति—

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखं दुःखं च मर्त्यानां चक्रवत्परिवर्तते ॥३२॥

राग पूर्वक देखा जाता है और उसका चित्त सच्चे प्रेमी रसिक मित्रोंके साथ होनेवाले सरस वार्तालापसे सदा आनन्दित रहता है ॥३१॥

विशेषार्थ—गुण दो तरहके होते हैं—कुलक्रमसे आये हुए और शिक्षासे प्राप्त हुए। पराक्रम, सौन्दर्य और प्रियवादिता आदि तो कुलक्रमागत गुण हैं। लिखना, पढ़ना, गायन, प्रातःकाल उठकर देवपूजा आदि करना, आचार, ये शिक्षासे प्राप्त होनेवाले गुण हैं। तथा कान्तासे मतलब अपनी पत्नीसे है जो पवित्र नागरिक आचारसे सम्पन्न हो, तथा चरित्र, सरलता, क्षमा आदिसे भूषित हो, अवस्थाके अनुसार वह बाला युवती या प्रौढ़ा हो सकती है। उक्त श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने सद्गुणोंकी प्राप्ति और सच्चे गुणी मित्रोंकी गोष्ठी तथा सद्गुणोंसे युक्त पत्नीकी प्राप्तिको पुण्यका फल कहा है और जिसे वे प्राप्त हैं उस पुरुषको धन्य कहा है। जो लक्ष्मी पाकर कुसंगतमें पड़ जाते हैं जिनमें न कुलीनता होती है और न सदाचार, जो सदा कुमित्रोंके संग रमते हैं, शराब पीते हैं, वेश्यागमन करते हैं वे पुण्यशाली नहीं हैं, पापी हैं। सच्चा पुण्यात्मा वही है जो पुण्यके उदयसे प्राप्त सुख-सुविधाओंको पाकर भी पुण्य कर्मसे विमुख नहीं होता। कुसंगति पुण्यका फल नहीं है, पाप-का फल है।

इस प्रकार पुण्यवान्‌की स्वयंको प्राप्त गुणसम्पदाका कथन करके दो श्लोकोंके द्वारा स्त्रीविषयक गुणसम्पदाको बतलाते हैं—

पुण्यशालियोंको ऐसी स्त्रियाँ पत्नी रूपसे प्राप्त होती हैं जो सुलोचना, सीता, द्रौपदी-की तरह पतिव्रता होती हैं, धर्म, अर्थ और कामका शास्त्रोक्त विधिसे सम्पादन करनेमें सावधान रहती हैं—उसमें प्रमाद नहीं करतीं, जिनके प्रेमके अनुभाव—कटाक्ष फेंकना, मुसकराना, परिहासपूर्वक व्यंग वचन बोलना आदि—बनावटी कोपरूपी स्वादिष्ट व्यंजनसे मधुर होते हैं, जिनकी शरीररूपी लता लावण्यरूपी जलमें मानो तैरती है अर्थात् उनका शरीर लताकी तरह कोमल और लावण्यसे पूर्ण होता है, तथा जो पतिके सुखमें सुखी और दुःखमें दुःखी होती हैं ॥३२॥

अपि च—

व्यालोलनेत्रमधुपाः सुमनोभिरामाः,
पाणिप्रवालरुचिराः सरसाः कुलीनाः ।
आनृण्यकारणसुपुत्रफलाः पुरन्ध्र्यो,
धन्यं व्रततय इव शाखिनमाश्रयन्ते ॥३३॥

सुमनसः—सुचित्ताः पुष्पाणि च । सरसाः—सानुरागाः सार्द्राश्च । कुलीनाः—कुलजाः भूमिश्लिष्टाश्च । आनृण्यम्—अपुत्रः पुमान् पितृणामृणभाजनमित्यत्रोपजीव्यम् । शाखिनं—वृक्षं बहुगोत्रविस्तारं च ॥३३॥

अथ बालात्मजलीलावलोकनसुखं कृतपुण्यस्य प्रकाश्यते—

क्रीत्वा वक्षोरजोभिः कृतरभसमुरश्चन्दनं चाटुकारैः,
किंचित् संतर्प्य कर्णौ द्रुतचरणरणद्घुर्घुरं दूरमित्वा ।
क्रीडत् डिम्भैः प्रसादप्रतिघघनरसं सस्मयस्मेरकान्ता-
दृक्संबाधं जिहीते नयनसरसिजान्यौरसः पुण्यभाजाम् ॥३४॥

क्रीत्वा—पणयित्वा स्वीकृत्य इत्यर्थः । इत्वा—गत्वा । प्रतिघः—कोपः । सस्मयाः—सगर्वाः । संकट कान्तादृशोऽप्यौरसोऽपि युगपन्नयनयोः सञ्चरन्तीत्यर्थः ॥३४॥

अथ पुत्रस्य कौमारयौवनोचिता गुणसंपदं पुण्यवतः शंसति—

आयुके अनुसार अपनी पत्नीके भी दो रूप होते हैं—युवती और पुरन्ध्री । जब तक प्रारम्भिक युवावस्था रहती है तबतक युवती और बाल-बच्चोंसे कुटुम्बके पूर्ण हो जाने पर पुरन्ध्री कही जाती है । इनमें-से युवतीसम्बन्धी सुख-सम्पदाका कथन करके अब पुरन्ध्री-विषयक सुख बतलाते हैं—

जैसे चंचल नेत्रोंके समान भौंरोंसे युक्त, पुष्पोंसे शोभित, हथेलीके तुल्य नवीन कोमल पत्तोंसे मनोहर, सरस और फलभारसे पृथ्वीमें झुकी हुई लताएँ वृक्षका आलिंगन करती हैं उसी प्रकार भौंरे-जैसे चंचल नेत्रवाली, प्रसन्न मन, कोमल पल्लव जैसे करोंसे सुन्दर, अनुरागसे पूर्ण, कुलीन और अपने पतिको पितृऋणसे मुक्त करनेमें कारण सुपुत्ररूपी फलोंसे पूर्ण पुरन्ध्रियाँ पुण्यशाली पतिका आलिंगन करती हैं ॥३३॥

अब बतलाते हैं कि पुण्यवान्‌को अपने बालपुत्रकी लीलाको देखनेका सुख प्राप्त होता है—

खेलते हुए अपनी छातीमें लगी हुई धूलके साथ वेगसे आकर पितासे लिपट जानेसे पिताकी छाती पर लगा चन्दन बालककी छाती पर लग जाता है और बालककी छाती पर लगी धूल पिताकी छातीसे लग जाती है । कभी अपने प्रियवचनोंसे पिताके कानोंको तृप्त करता है, कभी जल्दी-जल्दी चलनेसे पैरोंमें बँधे हुए घुँघुरूके झुनझुन शब्दके साथ दूर तक जाता है और बालकोंके साथ खेलते हुए क्षणमें रुष्ट और क्षणमें तुष्ट होता है । उसकी इन क्रीडाओंसे आकृष्ट बालककी माता गर्वसे भरकर मुसकराती हुई उसे निहारती है तो पुण्यशाली पुरुष के नयनकमल अपने पुत्रकी क्रीडाओंको देखनेमें बाधाका अनुभव करते हैं क्योंकि प्रिय पुत्र और प्रिय पत्नी दोनों ही उसे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं । यह पुण्यका विलास है ॥३४॥

पुण्यशालीके पुत्रकी कुमार अवस्था और यौवन अवस्थाके योग्य गुण-सम्पदाकी प्रशंसा करते हैं—

सद्विद्याविभवैः स्फुरन् धुरि गुरूपास्त्यर्जितैस्तज्जुषां,
दोःपाशेन बलात् सितोऽपि रमया बध्नन् रणे वैरिणः ।
आज्ञैश्वर्यमुपागतस्त्रिजगतीजाग्रद्यशश्चन्द्रमा,
देहेनैव पृथक् सुतः पृथुवृषस्यैकोऽपि लक्षायते ॥३५॥

तज्जुषां—सद्विद्याविभवभाजां, सितः—बद्धः, रमया—लक्ष्म्या, पृथुवृषस्य—विपुलपुण्यस्य पुंसः, लक्षायते—शतसहस्रपुत्रसाध्यं करोतीत्यर्थः ॥३५॥

अथ गुणसुन्दरा दुहितरोपि पुण्यादेव संभवन्तीति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

कन्यारत्नसृजां पुरोऽभवदिह द्रोणस्य धात्रीपतेः,
पुण्यं येन जगत्प्रतीतमहिमा द्रष्टा विशल्यात्मजा ।
क्रूरं राक्षसचक्रिणा प्रणिहितां द्राग् लक्ष्मणस्योरसः,
शक्तिं प्रास्य यया स विश्वशरणं रामो विशल्योकृतः ॥३६॥

द्रोणस्य—द्रोणघननाम्नः। राक्षसचक्रिणा—रावणेन ॥३६॥

अथ पुण्योदयवर्तिना कर्मायासं प्रत्यस्यति—

गुरुओंकी सेवासे उपार्जित समीचीन विद्याके विलाससे जो विद्याके वैभवसे युक्त ज्ञानी जनोंके मध्यमें उनसे ऊपर शोभता है, जो लक्ष्मीके बाहुपाशसे बलपूर्वक बद्ध होने पर भी युद्धमें शत्रुओंको बाँधता है, आज्ञा और ऐश्वर्यसे सम्पन्न है, जिसका यशरूपी चन्द्रमा तीनों लोकोंमें छाया हुआ है, तथा जो पितासे केवल शरीरसे ही भिन्न है, गुणोंमें पिताके ही समान है, पुण्यशाली पिताका ऐसा एक भी पुत्र लाखों पुत्रोंके समान होता है ॥३५॥

गुणोंसे शोभित कन्याएँ भी पुण्यसे ही होती हैं, यह दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

इस लोकमें कन्यारूपी रत्नको जन्म देनेवालोंमें राजा द्रोणका पुण्य प्रधान था जिन्होंने विशल्या नामक पुत्रीको जन्म दिया जिसकी महिमा जगतमें प्रसिद्ध है। जब राक्षसराज रावणने क्रूरतापूर्वक लक्ष्मणकी छातीमें शक्तिसे प्रहार किया तो उस विशल्याने तत्काल ही उस शक्तिको निरस्त करके जगत्के लिए शरणरूपसे प्रसिद्ध रामचन्द्रको अपने लघुभ्राता लक्ष्मणकी मृत्युके भयसे मुक्त कर दिया ॥३६॥

विशेषार्थ—यह कथा रामायणमें आती है। पद्मपुराणमें कहा है कि राम और रावणके युद्धमें रावणने अपनी पराजयसे क्रुद्ध होकर लक्ष्मण पर शक्तिसे प्रहार किया। लक्ष्मण मूर्छित होकर गिर गये। मूर्छित लक्ष्मणको मरे हुए के समान देखकर रामचन्द्र शोकसे विह्वल होकर मूर्छित हो गये। मूर्छा दूर होने पर लक्ष्मणको जिलानेका प्रयत्न होने लगा। इतनेमें एक विद्याधर रामचन्द्रजीके दर्शनके लिए आया और उसने लक्ष्मणकी मूर्छा दूर होनेका उपाय बताया कि राजा द्रोणकी पुत्री विशल्याके स्नानजलसे सब व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। तब विशल्याका स्नानजल लेनेके लिए हनुमान आदि राजा द्रोणके नगरमें गये। राजा द्रोणने विशल्याको लक्ष्मणसे विवाहनेका संकल्प किया था। अतः उसने विशल्याको ही हनुमान आदिके साथ भेज दिया। विशल्याको देखते ही शक्तिका प्रभाव समाप्त हो गया और लक्ष्मणकी मूर्छा दूर हो गयी। रामचन्द्रजीकी चिन्ता दूर हुई। अतः ऐसी कन्या भी पुण्यके प्रतापसे ही जन्म लेती है।

जिनके पुण्यका उदय है उनको कामके लिए श्रम करनेका निषेध करते हैं—

विश्राम्यत स्फुरत्पुण्या गुडखण्डसितामृतैः ।
स्पर्द्धमाना फलिष्यन्ते भावाः स्वयमितस्ततः ॥३७॥

सिता—शर्करा, भावाः—पदार्थाः ॥३७॥

अथ कल्पवृक्षादयोऽपि धर्माधीनवृत्तय इत्युपदिशति—

धर्मः क्व नालं कर्मीणो यस्य भृत्याः सुरद्रुमाः ।
चिन्तामणिः कर्मकरः कामधेनुश्च किंकरा ॥३८॥

अलंकर्मीणः—कर्मक्षमः ॥३८॥

बिना किसी बाधाके अपना कार्य करनेमें समर्थ पुण्यके धारी जीवो ! अपने कार्यको सिद्धिके लिए दौड़धूप करनेसे विरत होओ। क्योंकि गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे स्पर्द्धा करनेवाले पदार्थ आपके प्रयत्नके बिना स्वयं ही इधर-उधरसे आकर प्राप्त होंगे ॥३७॥

विशेषार्थ—बँधनेवाले कर्मोंकी पुण्य प्रकृतियोंमें जो फलदानकी शक्ति पड़ती है उसकी उपमा गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी गयी है।

अघातिया कर्मोंकी शक्तिके भेद प्रशस्त प्रकृतियोंके तो गुड़ खाण्ड शर्करा और अमृतके समान होते हैं। और अप्रशस्त प्रकृतियोंके नीम, कांजीर, विष और हालाहलके समान होते हैं।[1]

जैसे गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृत अधिक-अधिक मीठे होनेसे अधिक सुखके कारण होते हैं। उसी प्रकार पुण्य प्रकृतियोंमें जो अनुभाग पड़ता है वह भी उक्त रूपसे अधिक-अधिक सुखका कारण होता है। इस प्रकारके अनुभागके कारण जीवके परिणाम जैसे विशुद्ध, विशुद्धतर, विशुद्धतम होते हैं तदनुसार ही अनुभाग भी गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृतके तुल्य होता है। उसका विपाक होने पर बाह्य वस्तुओंकी प्राप्ति बिना प्रयत्नके ही अनुकूल होती है ॥३७॥

आगे कहते हैं कि कल्पवृक्ष आदि भी धर्म (पुण्य) के आधीन हैं—

कल्पवृक्ष जिसके सेवक हैं, चिन्तामणि रत्न पैसेसे खरीदा हुआ दास है और कामधेनु आज्ञाकारी दासी है वह धर्म अभ्युदय और मोक्ष सम्बन्धी किस कार्यको करनेमें समर्थ नहीं है ? ॥३८॥

विशेषार्थ—कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और कामधेनु ये तीनों इच्छित वस्तुको देनेमें प्रसिद्ध हैं। कल्पवृक्ष भोगभूमिमें होते हैं। इनसे माँगने पर भोग-उपभोगकी सामग्री प्राप्त होती है। आचार्य जिनसेनने इन्हें पार्थिव कहा है—

"ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक हैं और न देवोंके द्वारा अधिष्ठित हैं। केवल पृथिवीके साररूप हैं।"[2]

---

१. गुडखंडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिंबकंजीरा ।
विसहालाहलसरिसाऽसत्था हु अघादिपडिभागा ॥—गो. क., गा. ८४।

२. न वनस्पतयोऽप्येते नैव दिव्यैरधिष्ठिताः ।
केवलं पृथिवीसारास्तन्मयत्वमुपागताः ॥—महापु. ९।४९।

अथ यथाकथंचित् पूर्वपुण्यमुदीर्णं स्वप्रयोक्तारमनुगृह्णातीत्याह—

प्रियान् दूरेऽप्यर्थाञ्जनयति पुरो वा जनिजुषः,
करोति स्वाधीनान् सखिवदथ तत्रैव दयते ।
ततस्तान्वानीय स्वयमपि तदुद्देशमथवा,
नरं नीत्वा कामं रमयति पुरापुण्यमुदितम् ॥३९॥

पुरः—भोक्तुरुत्पत्तेः प्रागेव, जनिजुषः—उत्पन्नान्, दयति (-ते) रक्षति । ततः—दूरादेशात् । उक्तं चार्षे—

दीपान्तराद्दिशोऽप्यन्तादन्तरीपदपांनिधेः ।
विधिर्घटयतीष्टार्थमानीयात्नीपता गत. ॥ [ ] ॥३९॥

चिन्तामणि रत्नको ग्रन्थकारने अपनी टीकामें रोहणपर्वत पर उत्पन्न होनेवाला रत्न विशेष कहा है। और कामधेनु कवि कल्पनामें देवलोकको गाय है। ये सभी पदार्थ माँगने पर इच्छित पदार्थोंको देते हैं। किन्तु बिना पुण्यके इनकी प्राप्ति नहीं होती है। अतः ये सब भी धर्मके ही दास हैं। धर्मसे ही प्राप्त होते हैं। यही बात कविवर भूधरदासजीने बारह भावनामें कही है[1] ॥३८॥—

आगे कहते हैं कि पूर्वकृत पुण्य उदयमें आकर अपने कर्ताका किसी न किसी रूपमें उपकार करता है—

पूर्वमें किया हुआ पुण्य अपना फल देनेमें समर्थ होने पर दूरवर्ती प्रदेशमें भी स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे भोगने योग्य प्रिय पदार्थोंको उत्पन्न करता है। यदि वे प्रिय पदार्थ अपने भोक्ता की उत्पत्तिसे पहले ही उत्पन्न हो गये हों तो उन्हें उसके अधीन कर देता है। अथवा मित्रकी तरह वहाँ ही उनकी रक्षा करता है। और उन पदार्थोंको दूर या निकट देशसे लाकर अथवा उस मनुष्यको स्वयं उन पदार्थोंके प्रदेशमें ले जाकर यथेच्छ भोग कराता है ॥३९॥

विशेषार्थ—यह कथन पुण्यकी महत्ता बतलानेके लिए किया गया है। पदार्थ तो अपने-अपने कारणके अनुसार स्वयं ही उत्पन्न होते हैं। तथापि जो पदार्थ उत्पन्न होकर जिस व्यक्तिके उपभोगमें आता है उसके कर्मको भी उसमें निमित्त कहा जाता है। यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर बाह्य सामग्रीको उत्पन्न करे और मिलावे तब तो कर्मको चेतनपना और बलवानपना मानना होगा। किन्तु ऐसा नहीं है स्वाभाविक एक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। जब कर्मका उदय होता है तब आत्मा स्वयं ही विभाव रूप परिणमन करता है तथा अन्य द्रव्य भी वैसे ही सम्बन्ध रूप होकर परिणमन करते हैं। जब पुण्य कर्मका उदय-काल आता है तब स्वयमेव उस कर्मके अनुभागके अनुसार कार्य बनते हैं, कर्म उन कार्योंको उत्पन्न नहीं करता। उसका उदयकाल आने पर कार्य बनता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। अघाति कर्मोंमें वेदनीयके उदयसे सुख-दुःखके बाह्यकारण उत्पन्न होते हैं। शरीरमें नीरोगता, बल आदि सुखके कारण हैं, भूख प्यास आदि दुःखके कारण हैं। बाहरमें इष्ट स्त्री पुत्रादि, सुहावने देश कालादि सुखके कारण हैं अनिष्ट स्त्री पुत्रादि असुहावने

---

१. जाँचै सुरतरु देय सुख, चिन्तै चिन्ता रैन ।
बिन जाँचै बिन चिंतये धरम सकल सुखदैन ॥

अथ धर्मस्यामुत्रिकफलातिशयं स्तौति—

यद्दिव्यं वपुराप्य मङ्क्षु हृषितः पश्यन् पुरा सुकृतं,
प्राग् बुद्ध्वावधिना यथास्वममरानाकृत्य सेवावृतान् ।
सुप्रीतो जिनयज्वनां धुरि परिस्फूर्जन्नुदारश्रियां,
स्वाराज्यं भजते चिराय विलसन् धर्मस्य सोऽनुग्रहः ॥४०॥

मङ्क्षु—अन्तमुहूर्ततः, हृषितः—विस्मितः । सुकृतं—सदाचरणम् । अवधिना—तत्कालोत्पन्नातीन्द्रियज्ञानविशेषेण, यथास्वं—यो यस्य नियोगस्तं तत्रैव प्रत्यवस्थाप्य इत्यर्थः । अमरान्—सामानिकादीन् । जिनयज्वनां—अर्हत्पूजकानामैशानादिशक्राणाम् । स्वाराज्यं—स्वर्गेऽधिपतित्वम्, विलसन्—शच्यादिदेवीविलासप्रसक्तः सन् । स अनुग्रहः—उपकारः ॥४०॥

देश-कालादि दुःखके कारण हैं । बाह्य कारणोंमें कुछ कारण तो ऐसे होते हैं जिनके निमित्तसे शरीरकी अवस्था सुख-दुःखका कारण होती है और कुछ कारण ऐसे होते हैं जो स्वयं ही सुख-दुःखके कारण होते हैं । ऐसे कारणोंकी प्राप्ति वेदनीय कर्मके उदयसे बतलायी है । साता वेदनीयके उदयसे सुखके कारण मिलते हैं और असाता वेदनीयके उदयसे दुःखके कारण मिलते हैं । किन्तु कारण ही सुख-दुःखको उत्पन्न नहीं करते, जीव मोहके उदयसे स्वयं सुख-दुःख मानता है । वेदनीय और मोहनीय कर्मोंके उदयका ऐसा ही सम्बन्ध है । जब सातावेदनीयके उदयसे प्राप्त बाह्य कारण मिलता है तब सुख मानने रूप मोहका उदय होता है और जब असातावेदनीयके उदयसे प्राप्त बाह्य कारण मिलता है तब दुःख मानने रूप मोहका उदय होता है । एक ही बाह्य कारण किसीके सुखका और किसीके दुःखका कारण होता है । जैसे किसीको सातावेदनीयके उदयमें मिला हुआ जैसा वस्त्र सुखका कारण होता है वैसा ही वस्त्र किसीको असातावेदनीयके उदयमें मिले तो दुःखका कारण होता है । इसलिए बाह्य वस्तु सुख-दुःखका निमित्त मात्र है सुख-दुःख तो मोहके निमित्तसे होता है । निर्मोही मुनियोंको ऋद्धि आदि तथा परीष आदि कारण मिलते हैं फिर भी उन्हें सुख-दुःख नहीं होता । अतः सुख-दुःखका बलवान कारण मोहका उदय है, अन्य वस्तुएँ बलवान कारण नहीं हैं । परन्तु अन्य वस्तुओंके और मोही जीवके परिणामोंके निमित्त नैमित्तिककी मुख्यता है इससे मोही जीव अन्य वस्तुओंको ही सुख-दुःखका कारण मानता है । पुण्य कर्मके उदयमें सुखरूप सामग्रीकी प्राप्ति होती है इसीलिए उसमें पुण्य कर्मको निमित्त माना जाता है ॥३९॥

इस प्रकार अनेक प्रकारके शुभ परिणामोंसे संचित पुण्यविशेषके अतिशय युक्त विचित्र फलोंका सामान्य कथन किया । अब विशेष रूपसे उसके पारलौकिक विचित्र फलोंको बताते हैं । सबसे प्रथम स्वर्गलोक सम्बन्धी सुख का कथन करते हैं—

अन्तर्मुहूर्तमें ही उपपाद शिला पर उत्पन्न हुआ दिव्य शरीर प्राप्त करके विस्मयपूर्वक चारों ओर देव और देवियोंके समूहको देखता है । देखते ही तत्काल उत्पन्न हुए अवधिज्ञानसे जानता है कि पूर्व जन्ममें शुभ परिणामसे उपार्जित पुण्यका यह फल है । तब प्रसन्न होकर सेवामें तत्पर प्रतीन्द्र सामानिक आदि देवोंका यथायोग्य सत्कार करता है । और महर्द्धिक देवोंके चित्तमें भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न ईशान आदि इन्द्रोंके, जो जिनदेवके पूजक होते हैं, भी अगुआ बनकर

इन्द्रपदानन्तरभावि चक्रिपदमपि पुण्यविशेषादेवासाद्यत इत्याह—

उच्चैर्गोत्रमभिप्रकाश्य शुभकृद्दिक्चक्रवालं करै-
राक्रामन् कमलाभिनन्दिभिरनुग्रथ्नन् रथाङ्गोत्सवम् ।
दूरोत्सारितराजमण्डलरुचिः सेव्यो मरुत्खेचरै-
रासिन्धोस्तनुते प्रतापमतुलं पुण्यानुगुण्यादिनः ॥४१॥

उच्चैर्गोत्रं—इक्ष्वाक्वादिवंशविशेषं कुलाद्रिं च । अभि—निर्भयं समन्ताद्वा । शुभकृत्—शुभं कृन्तन्ति छिन्दन्ति शुभकृतः प्रतिपक्षभूपास्तदुपलक्षितं दिक्चक्रं, पक्षे प्रजाना क्षेमंकरः । करैः—सिद्धायैः किरणैश्च । कमला—लक्ष्मी, कमलानि च पद्मानि । अनुग्रथ्नन्—दीर्घीकुर्वन् । रथाङ्गोत्सवं—चक्ररत्नस्योद्धर्षं चक्रवाक्-प्रीतिं च । राजमण्डलं—नृपगणं चन्द्रबिम्बं च । मरुत्खेचरैः—देवविद्याधरैर्ज्योतिष्कदेवग्रहैश्च । इनः—स्वामी सूर्यश्च ॥४१॥

अथार्द्धचक्रिपदमपि सनिदानधर्मानुभावादेव भवतीत्याह—

छित्वा रणे शत्रुशिरस्तदस्तचक्रेण दृप्यन् धरणीं त्रिखण्डाम् ।
बलानुगो भोगवशो भुनक्ति कृष्णो वृषस्यैव विजृम्भितेन ॥४२॥

शत्रुः—प्रतिवासुदेव. । त्रिखण्डां—विजयार्धादर्वाग्भाविनीम् । बलानुगः—बलभद्रं पराक्रमं चानु-गच्छन् । भोगवशः—स्रग्वनितादि-विषयतन्त्रः । भोगं वा नागशरीरं वष्टि कामयते नागशय्याशायित्वात् । विजृम्भितेन—दु खावसानसुखावसायिनानुभावेन, तस्य मिथ्यात्वानुभावेन नरकान्तफलत्वात् ॥४२॥

अपना प्रभाव फैलाता है । तथा चिरकाल तक शची आदि देवियोंके साथ विलास करते हुए स्वर्गमें जो राज्यसुख भोगता है वह सब सम्यक् तपश्चरणमें अनुरागसे उत्पन्न हुए पुण्यका ही उपकार है ॥४०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रपदके पश्चात् चक्रीका पद भी पुण्य विशेषसे ही प्राप्त होता है—

जैसे सूर्य उच्चगोत्र—निषधाचलको प्रकाशित करके कमलोंको आनन्दित करनेवाली किरणोंके द्वारा दिशामण्डलको व्याप्त करके प्रजाका कल्याण करता है, और चकवेको चकवीसे मिलाकर उन्हें आनन्द देता है, चन्द्रमण्डलकी कान्तिको समाप्त कर देता है ज्योतिष्क ग्रहोंसे सेवनीय होता है और समुद्र पर्यन्त अपने अतुल प्रतापको फैलाता है । वैसे ही पूर्वकृत पुण्यके योगसे चक्रवर्ती भी अपने जन्मसे उच्चकुलको प्रकाशित करके लक्ष्मीको बढ़ानेवाले करोंके द्वारा प्रतिपक्षी राजाओंसे युक्त दिशामण्डलको आक्रान्त करके चक्ररत्नका उत्सव मनाता है, राजागणोंके प्रतापको नष्ट कर देता है, देव और विद्याधर उसकी सेवा करते हैं तथा वह अपने अनुपम प्रतापको समुद्रसे लेकर हिमाचल तक फैलाता है ॥४१॥

आगे कहते हैं कि अर्धचक्रीपद भी निदान पूर्वक किये गये धर्मके प्रभावसे ही प्राप्त होता है—

अपने शत्रु प्रतिनारायणके द्वारा युद्धमें चलाये गये चक्रके द्वारा उसीका मस्तक काट-कर गर्वित हुआ विषयासक्त कृष्ण बलदेवके साथ तीन खण्ड पृथ्वीको भोगता है यह उसके पूर्वजन्ममें निदानपूर्वक तपके द्वारा संचित पुण्यका ही विरुद्ध विलास है ॥४२॥

विशेषार्थ—चक्रवर्तीके तो घरमें चक्ररत्न उत्पन्न होता है किन्तु अर्धचक्री नारायणके प्रतिद्वन्दी प्रतिनारायणके पास चक्ररत्न होता है । जब दोनोंका युद्ध होता है तो प्रतिनारायण नारायण पर चक्र चलाता है । इस तरह वह चक्र प्रतिनारायणसे नारायणके पास आ जाता

अथ कामदेवत्वमपि धर्मविशेषेण सम्पद्यत इत्याह—

यासां भ्रूभङ्गमात्रप्रखरशरभरप्रस्खलत्सत्त्वसारा
वीराः कुर्वन्ति तेऽपि त्रिभुवनजयिनश्चाटुकारान् प्रसत्त्यै ।
तासामप्यङ्गनानां हृदि नयनपथेनैव संक्रम्य तन्वन्
याच्ञाभङ्गेन दैन्यं जयति सुचरितः कोऽपि धर्मेण विश्वम् ॥४३॥

विद्येशीभूय धर्माद्वरविभवभरभ्राजमानैर्विमानै-
र्व्योम्नि स्वैरं चरन्तः प्रिययुवतिपरिस्पन्दसान्द्रप्रमोदाः ।
दीव्यन्तो दिव्यदेशेष्वविहतमणिमाद्युद्धतोत्सृप्तिदृप्ता,
निष्क्रान्ताविभ्रमं धिग्भ्रमणमिति सुरान् मर्त्यहंयून् क्षिपन्ति ॥४४॥

परिस्पन्दः—शृङ्गाररचना । दिव्यदेशेषु—नन्दनकुलाचलान्तरद्वीपादिषु । अणिमादयः—अणिमा महिमा लघिमा गरिमा ईशित्वं प्रागम्यं (प्राकाम्यं) वशित्वं कामरूपित्वं चेति । उत्सृप्तिः—उद्गतिः । निष्क्रान्ताविभ्रमं—देवीनामनिमेषलोचनतया भ्रूविकारानवतारादेवमुच्यते । मर्त्यहंयून्—मानुषोत्तरपर्वताद् बहिरभि गमनेन गर्वितान् । क्षिपन्ति—निन्दन्ति ॥४४॥

है और फिर नारायण उसी चक्रसे प्रतिनारायणका मस्तक काटकर विजयार्धपर्यन्त तीनखण्ड पृथ्वीका स्वामी होकर अपने बड़े भाई बलभद्रके साथ भोग भोगता है और मरकर नियमसे नरकमें जाता है। पूर्वजन्ममें निदानपूर्वक तप करनेसे संचित हुए पुण्यका यह परिणाम है कि सांसारिक सुख तो प्राप्त होता है किन्तु उसका अन्त दुःखके साथ होता है क्योंकि मिथ्यात्वके प्रभावसे उस पुण्यके फलका अन्त नरक है।

आगे कहते हैं कि कामदेवपना भी धर्मविशेषका ही फल है—

तीनों लोकोंको जीतनेकी शक्ति रखनेवाले जगत् प्रसिद्ध वीर पुरुष भी जिन स्त्रियोंके केवल कटाक्षपातरूपी बाणसे अतिपीड़ित होकर अपना विवेक और बल खो बैठते हैं और उनकी प्रसन्नताके लिए चाटुकारिता करते हैं—चिरौरी आदि करते हैं, उन स्त्रियोंके भी हृदयमें दृष्टिमार्ग मात्रसे प्रवेश करके उनकी प्रार्थनाको स्वीकार न करनेके कारण उनके मनस्तापको बढ़ानेवाले अखण्डितशील विरले पुरुष ही धर्मके द्वारा विश्वको वशमें करते हैं॥ ४३ ॥

आगे कहते हैं कि विद्याधरपना भी धर्मविशेषसे प्राप्त होता है—

धर्मके प्रतापसे विद्याधर होकर ध्वजा, माला, घण्टाजाल आदि श्रेष्ठ विभवके प्रकर्षसे शोभायमान विमानोंमें स्वच्छन्दतापूर्वक आकाशमें विचरण करते हैं, साथमें तरुणी वल्लभाओंकी शृंगार-रचनासे उनका आनन्द और भी घना हो जाता है। वे अणिमा-महिमा आदि आठ विद्याओंके अद्भुत उद्गमसे गर्विष्ठ होकर नन्दनवन, कुलाचल, नदी, पर्वत आदि दिव्य देशोंमें क्रीड़ा करते हुए मानुषोत्तर पर्वतसे बाहर भी जा सकनेकी शक्तिसे गर्वित देवके भी भ्रमणको धिक्कारते हुए उनका तिरस्कार करते हैं क्योंकि देवांगनाओंकी आँखें निर्निमेष होती हैं—उनकी पलकें नहीं लगतीं अतः कटाक्ष निक्षेपका आनन्द स्वर्गमें नहीं है॥४४॥

विशेषार्थ—विद्याधर मनुष्य होनेसे मनुष्यलोकसे बाहर नहीं जा सकते। किन्तु देव बाहर भी विचरण कर सकते हैं। किन्तु फिर भी विद्याधर देवोंसे अपनेको सुखी मानते हैं।

अथाहारकशरीरसंपदपि पुण्यपवित्रमेत्याह—

प्राप्याहारकदेहेन सर्वज्ञं निश्चितश्रुताः ।
योगिनो धर्ममाहात्म्यान्नन्दन्त्यानन्दमेदुराः ॥४५॥

प्राप्येत्यादि—

प्रमत्तसंयतस्य यदा श्रुतविषये क्वचित् संशयः स्यात्तदा क्षेत्रान्तरस्थतीर्थकरदेवात्तं निराकर्तुमसावाहारकमारभते । तच्च हस्तमात्रं शुद्धस्फटिकसंकाशमुत्तमाङ्गेन निर्गच्छति । तच्च केनचिद् व्याहन्यते, न किमपि व्याहन्ति । तच्चान्तमुहूर्तेन संशयमपनीय पुनस्तत्रैव प्रविशति । आनन्दमेदुराः—प्रीतिपरिपुष्टा. ॥४५॥

आगे कहते हैं कि आहारकशरीररूप सम्पत्ति भी पुण्यके उदयसे ही मिलती है—

धर्मके माहात्म्यसे आहारकशरीरके द्वारा केवलीके पास जाकर और परमागमके अर्थका निर्णय करके मुनिजन आनन्दसे पुष्ट होते हुए ज्ञान और संयमसे समृद्ध होते हैं ॥४५॥

विशेषार्थ—जो मुनि चारित्र विशेषका पालन करते हुए आहारक शरीरनामकर्म नामक पुण्य विशेषका बन्ध कर लेते हैं, भरत और ऐरावत क्षेत्रमें रहते हुए यदि उन्हें शास्त्र-विषयक कोई शंका होती है और वहाँ केवलीका अभाव होता है तब तत्त्वनिर्णयके लिए महाविदेहोंमें केवलीके पास जानेके लिए आहारकशरीरकी रचना करते हैं क्योंकि अपने औदारिक शरीरसे जानेपर उनका संयम न पलनेसे महान् असंयम होता है। वह आहारक-शरीर एक हाथ प्रमाण होता है, शुद्ध स्फटिकके समान धवल वर्ण होता है और मस्तकसे निकलता है। न तो कोई उसे रोक सकता है और न वही किसीको रोकता है। एक अन्त-र्मुहूर्तमें संशयको दूर करके पुनः मुनिके ही शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है। इसे ही आहारक समुद्घात कहते हैं। कहा भी है[1]—

आहारक शरीर नामकर्मके उदयसे प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीर होता है। यह असंयमसे बचावके लिए तथा सन्देहको दूर करनेके लिए होता है। मुनि जिस क्षेत्रमें हों उस क्षेत्रमें केवली श्रुतकेवलीका अभाव होनेपर तथा विदेह आदि क्षेत्रमें तप-कल्याणक आदि सम्पन्न होता हो या जिनेन्द्रदेव और जिनालयोंकी वन्दना करनी हो तो उसकी रचना इस प्रकारकी होती है—वह मस्तकसे निकलता है, धातुसे रहित होता है, शुभ होता है, संहननसे रहित होता है, समचतुरस्र संस्थानवाला होता है, एक हाथ प्रमाण और प्रशस्त उदयवाला होता है। व्याघात रहित होता है, जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है। आहारक शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होनेपर कदाचित् मुनिका मरण भी हो सकता है।

---

१. आहारस्सुदयेण पमत्तविरदस्स होदि आहारं ।
असंजमपरिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं च ॥
णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदि कल्लाणे ।
परखेत्ते संवित्ते जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥
उत्तमअंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंघडणं ।
सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥
अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणं वि कदाचि संभवइ ॥
—गो. जीव., गा. २३५-२३८

अथ धर्मानुभावजनितस्वपरान्तरज्ञानानां मुनीन्द्राणामतीन्द्रियसुखसंवित्त्या दर्शयति—

कथयतु महिमानं को नु धर्मस्य येन स्फुटघटितविवेकज्योतिषः शान्तमोहाः।
समरससुखसंविल्लक्षितात्यक्षसौख्यास्तदपि पदमपोहन्त्याहमिन्द्रं मुनीन्द्राः ॥४६॥

विवेकज्योतिः—स्वपरविभागज्ञानम्। अपोहन्ति—व्यावर्तयन्ति। 'उपसर्गादस्य त्यूहो वा' इति परस्मैपदम्। आहमिन्द्रं—अहमिन्द्रः कल्पातीतदेवः। तल्लक्षणमार्षोक्तं यथा—

'नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः।
केवलं सुखसादभूता दीव्यन्त्येते दिवौकसः॥'

अपि च— 'अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तोऽस्तीत्यात्तकत्थनाः।
अहमिन्द्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमाः॥"

[महा पु. ११।१४४, १४३]

अहमिन्द्रस्येदं पदमित्यण् ॥४६॥

आगे कहते हैं कि धर्मके माहात्म्यसे जिन्हें स्वपर भेद-ज्ञान हो जाता है वे मुनीन्द्र अतीन्द्रिय सुखका संवेदन होनेसे अहमिन्द्र पदसे भी विमुख होते हैं—

उस धर्मके माहात्म्यको कौन कह सकता है जिसके माहात्म्यसे स्पष्ट रूपसे स्वपरका भेदज्ञान प्राप्त कर लेनेवाले शान्तमोह अर्थात् उपशान्त कषाय गुणस्थानवर्ती और समरस अर्थात् यथाख्यात चारित्रसे होनेवाले सुखकी अनुभूतिसे अतीन्द्रिय सुखको साक्षात् अनुभवन करनेवाले मुनीद्र उस लोकोत्तर अहमिन्द्र पद से भी विमुख हो जाते हैं ? ॥४६॥

विशेषार्थ—सातवें गुणस्थानके पश्चात् गुणस्थानोंकी दो श्रेणियाँ हैं—एकको उपशम श्रेणी कहते हैं और दूसरीको क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणीमें मोहनीय कर्मका उपशम किया जाता है और क्षपक श्रेणीमें मोहका क्षय किया जाता है। आठसे दस तक गुणस्थान दोनों श्रेणियोंमें सम्मिलित हैं। उनके बाद ग्यारहवाँ उपशान्त कषाय गुणस्थान उपशम श्रेणीका ही है और बारहवाँ गुणस्थान क्षपकश्रेणीका ही है। इस तरह आठसे ग्यारह तक चार गुणस्थान उपशम श्रेणीके हैं और ग्यारहवेंको छोड़कर आठसे बारह तकके चार गुणस्थान क्षपक श्रेणीके हैं। उपशम श्रेणीपर आरोहण करनेवाला ग्यारहवें गुणस्थानमें जाकर नियमसे नीचे गिरता है क्योंकि दबा हुआ मोह उभर आता है। यदि वह ग्यारहवेंमें मरण करता है तो नियमसे अहमिन्द्रदेव होता है। किन्तु जो चरमशरीरी होते हैं वे उपशम श्रेणीपर यदि चढ़ें तो गिरकर पुनः क्षपक श्रेणीपर चढ़ते हैं और उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करते हैं। उक्त श्लोकमें ऐसे ही चरमशरीरी मुनिराजोंका कथन है। जो मुनिराज शुद्धोपयोगसे मिले हुए योग-विशेषसे अहमिन्द्र पदकी प्राप्तिके योग्य पुण्य विशेषके बन्धके अभिमुख होकर भी शुद्धोपयोग-के बलसे उसे बिना बाँधे ही उपशम श्रेणीसे उतरकर क्षपक श्रेणीपर चढ़ते हैं वे जीवन्मुक्त होकर परममुक्तिको प्राप्त करते हैं। महापुराणमें अहमिन्द्रका कथन इस प्रकार कहा है—

मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे सिवाय कोई अन्य इन्द्र नहीं है इस प्रकार अपनी सराहना करनेसे वे उत्तम देव अहमिन्द्र नामसे ख्यात हुए। वे न तो परस्पर में असूया करते हैं न परनिन्दा, न आत्मप्रशंसा और न डाह। केवल वे सुखमग्न होकर क्रीड़ा करते हैं।

अथ गर्भादिकल्याणाश्चर्यविभूतिरपि सम्यक्त्वसहचारिपुण्यविशेषादेव संपद्यत इत्याह—

व्योम्नेष्यन् विश्वपूज्यौ जनयति जनकौ गर्भगोऽतीव जीवो
जातो भोगान् प्रभुङ्क्ते हरिविभवहृतान् मन्दिरान्निष्क्रमिष्यन् ।
ईर्त्ते देवर्षिकीर्तिं सुरखचरनृपैः प्रव्रजत्याहितेज्यः
प्राप्यार्हन्त्यं प्रशास्ति त्रिजगदृषिनुतो याति मुक्तिं च धर्मात् ॥४७॥

व्योममार्गात् एष्यन् । तीर्थंकरे हि जनिष्यमाणे प्रागेव मासषट्कात्तन्माहात्म्येन तत्पितरौ जगत्पूज्यौ भवतः । ईर्त्ते—गच्छति प्राप्नोति । देवर्षिकीर्ति—लौकान्तिकदेवकृता स्तुतिम् । प्रव्रजति—दीक्षां गृह्णाति याति मुक्तिं च । अत्रापि धर्मादित्येव केवलम् । धर्मोऽत्र यो मुख्यतया प्राग् व्याख्यातः । तस्यैव कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षे सामर्थ्योपपत्तेः ॥४७॥

अथ धर्मोदयानुदयाभ्यां सम्पदामिवाधर्मोदयानुदयाभ्यां विपदामुपभोगानुपभोगौ भवत इत्याह—

धर्म एव सतां पोष्यो यत्र जाग्रति जाग्रति ।
भर्तुं मीलति मीलन्ति संपदो विपदोऽन्यथा ॥४८॥

पोष्यः । एतेनोपमानं लक्षयति । ततो यथा उपरिके सावधाने राज्ञां सेवनायावरोधिका. सावधानाः भवन्ति निरवधाने च निरवधानाः तथा प्रकृतेऽपि योज्यम् । जाग्रति—स्वव्यापारं प्रवर्तयति सति । मीलति—स्वव्यापारादुपरमति । अन्यथा—अधर्मे जाग्रति (विपदो) जाग्रति तस्मिंश्च मीलति मीलन्ति ॥४८॥

नौ ग्रैवेयकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तकके देव अहमिन्द्र कहलाते हैं । वे सब ब्रह्मचारी होते हैं, उनमें देवांगना नहीं होती ॥४६॥

आगे कहते हैं कि गर्भावतरण आदि कल्याणकोंकी आश्चर्यजनक विभूति भी सम्यक्त्व सहचारी पुण्यविशेषसे ही सम्पन्न होती है—

धर्मके प्रभावसे जब जीव स्वर्गसे च्युत होकर आनेवाला होता है तो माता-पिताको जगत्में पूज्य कर देता है । अर्थात् तीर्थंकरके गर्भमें आनेसे छह मास पूर्व ही उनके माहात्म्यसे माता-पिता जगत्में पूज्य बन जाते हैं । गर्भमें आनेपर और भी अधिक पूज्य हो जाते हैं । जन्म लेनेपर सौधर्म आदि इन्द्रोंके द्वारा भेंट किये गये भोगोंको भोगता है । जब वह घरका परित्याग करना चाहता है तो लौकान्तिकदेवोंके द्वारा की गयी स्तुतिका पात्र होता है । फिर देव, विद्याधर और राजाओंसे पूजित होकर जिनदीक्षा ग्रहण करता है । अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त करके तीनों लोकोंको धर्मका उपदेश करता है तथा गणधरदेव आदिसे पूजित होता है । अन्तमें मुक्ति प्राप्त करता है ॥४७॥

विशेषार्थ—इनमें गर्भावतरण आदि महोत्सव तो पुण्य विशेष रूप औपचारिक धर्मके उदयसे होते हैं । किन्तु मोक्षकी प्राप्ति तो पूर्वमें प्रतिपादित मुख्य धर्मसे ही होती है क्योंकि समस्त कर्मोंसे छुड़ानेकी शक्ति मुख्य धर्ममें ही है ॥४७॥

आगे कहते हैं कि जैसे धर्म—पुण्यके उदयसे सम्पत्तिका भोग और अनुदयमें अनुपभोग है वैसे ही अधर्म—पापके उदयमें विपत्तिका उपभोग और अनुदयमें विपत्तिका अनुपभोग होता है—

विचारशील सत्पुरुषोंको धर्मका ही पोषण करना चाहिए जिसके जाग्रत् रहने पर—कार्यशील रहनेपर सम्पदाएँ अपने स्वामीकी सेवाके लिए जाग्रत् रहती हैं और विराम लेने

अथेदानीं धर्मस्य सुखसम्पादकत्वमभिधायेदानीं दुःखनिवर्तकत्वं तस्यैव पद्यैश्चतुर्दशभिः प्रपञ्चयति। तत्र तावद्दुर्गदेशेषु धर्मस्योपकारं दर्शयति—

कान्तारे पृथुपाकसत्त्वविगलत्सत्त्वेऽम्बुधौ सम्भ्रमत्
ताम्यन्नक्रपयस्युदर्चिषि मरुच्चक्रोच्चरज्ज्योतिषि।
संग्रामे निरवग्रहद्विषदुपस्कारे गिरौ दुर्गम-
ग्रावग्रन्थिलदिङ्मुखेऽप्यशरणं धर्मो नरं रक्षति ॥४९॥

कान्तारे—अरण्ये मार्गे च दुर्गमे। पाकसत्त्वाः—क्रूरजीवाः सिंहव्याघ्रादयः। सत्त्वं मनोगुणः। सत्त्वा वा प्राणिनः। उदर्चिषि—अग्नौ। उपस्कारः—प्रतियत्नो वैकृतं वा। ग्रन्थिलानि—निम्नोन्नतत्वं नीतानि ॥४९॥

अथ धर्मो नानादुरवस्थाप्राप्तं नरमुद्धरतीत्याह—

क्षुत्क्षामं तर्षतप्तं पवनपरिगतं वर्षशीतातपार्तं
रोगाघ्रातं विषार्तं ग्रहरुगुपहृतं मर्मशल्योपतप्तम्।
दूराध्वानप्रभग्नं प्रियविरहहृदुद्भ्रान्तुतूनं सपत्न-
व्यापन्नं वा पुमांसं नयति सुविहितः प्रीतिमुत्कृष्य धर्मः ॥५०॥

ग्रहरुक्—ग्रहाणा शनैश्चरादीनां ब्रह्मराक्षसादीनां वा पीडा। दूराध्वानप्रभग्नं विप्रकृष्टमार्गे खिन्नम्। अध्वानशब्दोऽपि मार्गार्थोऽस्ति। यल्लक्ष्यम्—'करितुरगमनुष्यं यत्र चाध्वानदीनम्।' बृहद्भानुः—अग्नि ॥५०॥

अथोक्तार्थसमर्थनार्थं त्रिभिः श्लोकैः क्रमेण सगर-मेघवाहन-रामभद्रान् दृष्टान्तत्वेनाचष्टे—

पर विराम ले लेती हैं। तथा पापके जाग्रत् रहने पर विपत्तियाँ पापीकी सेवाके लिए जाग्रत् रहती हैं और पापके विराममें विपत्तियाँ भी दूर रहती हैं ॥४८॥

इस प्रकार धर्म सुखका दाता है यह बतलाकर अब चौदह पद्योंसे उसी धर्मको दुःख का दूर करनेवाला बतलाते हैं। उनमेंसे सर्वप्रथम दुर्गम देशमें धर्मका उपकार कहते हैं—

जहाँ व्याघ्र, सिंह आदि क्रूर प्राणियोंके द्वारा अन्य प्राणियोंका संहार प्रचुरतासे किया जाता है ऐसे बीहड़ वनमें, जिसके जलमें भीषण मगरमच्छ डोलते हैं ऐसे समुद्रमें, वायु-मण्डलके कारण ज्वालाओंसे दीप्त अग्निमें, शत्रुओंके निरंकुश प्रतियत्नसे युक्त युद्धमें और दुर्गम पत्थरोंसे दिशामण्डलको दुरूह बनानेवाले पर्वतपर अशरण मनुष्यकी धर्म ही रक्षा करता है ॥४९॥

आगे कहते हैं कि धर्म अनेक दुरवस्थाओंसे घिरे हुए मनुष्यका उद्धार करता है—

भूखसे पीड़ित, प्याससे व्याकुल, वायुसे अत्यन्त कम्पित, वर्षा शीत घामसे दुखी, रोगोंसे आक्रान्त, विषसे त्रस्त, शनीचर आदि ग्रहोंकी पीड़ासे सताये हुए, मर्मस्थानमें लगे हुए काँटे आदिसे अत्यन्त पीड़ा अनुभव करनेवाले, बहुत दूर मार्ग चलनेसे अत्यन्त थके हुए, स्त्री पुत्र बन्धु मित्र आदि प्रियजनोंके वियोगसे आगकी तरह तपे हुए तथा शत्रुओंके द्वारा विविध आपत्तियोंमें डाले हुए मनुष्यको निष्ठापूर्वक पालन किया गया धर्म कष्टोंसे निकाल कर आनन्द प्रदान करता है ॥५०॥

उक्त अर्थका समर्थन करनेके लिए तीन श्लोकोंके द्वारा क्रमसे सगर मेघवाहन और रामभद्रको दृष्टान्तरूपसे उपस्थित करते हैं—

सगरस्तुरगेणैकः किल दूरं हृतोऽटवीम् ।
खेटैः पुण्यात् प्रभूकृत्य तिलकेशीं व्यवाह्यत ॥५१॥

हृतः—नीतः । खेटैः—सहस्रनयनादिविद्याधरैः ॥५१॥

कीर्णे पूर्णघने सहस्रनयनेनान्वीयमानोऽजितं
सर्वज्ञं शरणं गतः सह महाविद्यां श्रिया राक्षसीम् ।
दत्वा प्राग्भवपुत्रवत्सलतया भीमेन रक्षोन्वय-
प्राज्योऽरच्यत मेघवाहननृपः पुण्यं क्व जागर्ति न ॥५२॥

कीर्णे—हते । पूर्णघने—सुलोचनघातिनि स्वजनके । सहस्रनयनेन—सुलोचनपुत्रेण । आनीयमाणः (अन्वीयमाण.) तद्बलैरनुद्रूयमाणः । श्रिया—नवग्रहाख्यहारलंकाऽलङ्कारोदराख्यपुरद्वयकामगाख्यविमान-प्रभृतिसम्पदा सह । भीमेन—भीमनाम्ना राक्षसेन्द्रेण । रक्षोऽन्वयप्राज्यः—राक्षसवंशस्यादिपुरुषः । अरच्यत—कृतः ॥५२॥

राज्यश्रीविमुखीकृतोऽनुजहृतैः कालं हरंस्त्वक्फलैः
संयोगं प्रियया बलात्यहृतया स्वप्नेऽप्यसंभावयन् ।
क्लिष्टः शोकविषार्चिषा हनुमता तद्वार्तयोज्जीवितो
रामः कीशबलेन यत्तमवधीत् तत्पुण्यविस्फूर्जितम् ॥५३॥

राज्यश्रीविमुखीकृतः—राज्यलक्ष्म्याः पित्रा दशरथराजेन निर्वासितः । अनुजहृतैः—लक्ष्मणानीतैः । कीशबलेन—वानरसैन्येन ॥५३॥

अथ धर्मस्य नरकेऽपि घोरोपसर्गनिवर्तकत्वं प्रकाशयति—

आगममें ऐसा सुना जाता है कि एक घोड़ा अकेले राजा सगरको हरकर दूर अटवीमें ले गया। वहाँ पुण्यके प्रभावसे सहस्रनयन आदि विद्याधरोंने उसे अपना स्वामी बनाया और विद्याधर-कन्या तिलकेशीके साथ उसका विवाह हो गया ॥५१॥

विशेषार्थ—यह कथा और आगेकी कथा पद्मपुराणके पाँचवें पर्वमें आयी है।

सहस्रनयनके द्वारा पूर्णघनके मारे जानेपर सहस्रनयनकी सेना पूर्णघनके पुत्र मेघ-वाहनके पीछे लग गयी। तब मेघवाहनने भगवान् अजितनाथ तीर्थंकरके समवसरणमें शरण ली। वहाँ राक्षसराज भीमने पूर्वजन्मके पुत्र प्रेमवश नवग्रह नामक हार, लंका और अलंकारोदय नामक दो नगर और कामग नामक विमानके साथ राक्षसी महाविद्या देकर मेघवाहन विद्याधरको राक्षसवंशका आदि पुरुष बनाया। ठीक ही है पूर्वकृत पुण्य सुख देने और दुःखको मेटने रूप अपने कार्यमें कहाँ नहीं जागता, अर्थात् सर्वत्र अपना कार्य करनेमें तत्पर रहता है ॥५२॥

श्रीरामको उनके पिता दशरथने राजसिंहासनसे वंचित करके वनवास दे दिया था। वहाँ वह अपने लघुभ्राता लक्ष्मणके द्वारा लाये गये वनके फलों और वल्कलोंसे काल बिताते थे। रावणने उनकी प्रियपत्नी सीताको हर लिया था और उन्हें स्वप्नमें भी उसके साथ संयोगकी सम्भावना नहीं थी। शोकरूपी विषकी ज्वालासे सन्तप्त थे। किन्तु हनुमान्‌ने सीताका संवाद लाकर उन्हें उज्जीवित किया। और रामने वानर सैन्यकी सहायतासे रावणका वध किया, यह सब पुण्यका ही माहात्म्य है ॥५३॥

आगे कहते हैं कि धर्म नरकमें भी घोर उपसर्गका निवारण करता है—

श्लाघ्ये कियद्वा धर्मस्य येन जन्तुरुपस्कृतः ।
तत्तादृगुपसर्गेभ्यः सुरैः श्वभ्रेऽपि मोच्यते ॥५४॥

उपस्कृतः—आहितातिशयः । तत्तादृशः—नारकैः संक्लिष्टासुरैश्च स्वैरमुदीरिताः । सुरैः—कल्पवासिदेवैः । ते हि षण्मासायुःशेषेण नरकादेष्यतां तीर्थंकराणामुपसर्गान्निवारयन्ति । तथा चागमः—

तित्थयरसत्तकम्मे उवसग्गनिवारणं करंति सुरा ।
छम्माससेसनिरए सग्गे अमलाणमालाओ ॥५४॥[1]
[ ]

अथ धर्ममाचरतो विपदुपतापे तन्निवृत्त्यर्थं धर्मस्यैव बलाधानं कर्तव्यमित्यनुशास्ति—

व्यभिचरति विपक्षक्षेपदक्षः कदाचिद्
बलपतिरिव धर्मो निर्मलो न स्वमीशम् ।
तदभिचरति कश्चित्तत्प्रयोगे विपच्चेत्
स तु पुनरभियुक्तैस्तद्दृढं पाजे क्रियेत ॥५५॥

बलवतिः (बलपतिः) सेनापतिरत्नम् । निर्मलः—निरतिचारः सर्वोपधाविशुद्धश्च । ईशं प्रयोक्तारं चक्रिणं च । स तु—स एव धर्म उपाजे क्रियेत—आहितबलः कर्तव्यः ॥५५॥

उस धर्मकी कितनी प्रशंसा की जाय जिसके द्वारा सुशोभित प्राणी नरकमें भी नारकियों और असुरकुमारोंके द्वारा दिये जानेवाले अत्यन्त दुःखके कारणभूत उपसर्गोंसे देवोंके द्वारा बचाया जाता है ॥५४॥

विशेषार्थ—जो जीव नरकसे निकलकर तीर्थंकर होनेवाले होते हैं, जब उनकी आयु छह मास शेष रहती है तो कल्पवासी देव नरकमें जाकर उनका उपसर्ग निवारण करते हैं, नारकियों और असुरकुमारोंके उपसर्गोंसे बचाते हैं। जो स्वर्गसे च्युत होकर तीर्थंकर होते हैं स्वर्गमें उनकी मन्दारमाला मुरझाती नहीं ॥५४॥

धर्मका आचरण करते हुए यदि विपत्ति कष्ट देती है तो उसको दूर करनेके लिए धर्मको ही सबल बनानेका उपदेश देते हैं—

जैसे शत्रुओंके निराकरणमें समर्थ और सब प्रकारसे निर्दोष सेनापति रत्न कभी भी अपने स्वामी चक्रवर्तीके विरुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार अधर्मका तिरस्कार करनेमें समर्थ निरतिचार धर्म अपने स्वामी धार्मिक पुरुषके विरुद्ध नहीं जाता—उसके अनुकूल ही रहता है। इसलिए उस धर्म या, सेनापतिके अपना काम करते हुए भी कोई देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत या अचेतन कृत विपत्ति सताती है तो कार्यतत्पर सत्पुरुषोंके द्वारा उसी सेनापतिकी तरह धर्मको ही बलवान् करनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥५५॥

विशेषार्थ—जैसे स्वामिभक्त निर्दोष सेनापतिको नहीं बदला जाता उसी प्रकार विपत्ति आने पर भी धर्मको छोड़ना नहीं चाहिए। किन्तु विशेष तत्परतासे धर्मका साधन करना चाहिए ॥५५॥

1. तित्थयरसंतकम्मुवसग्गं णिरए णिवारयंति सुरा ।
छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाणमालंको ॥—त्रि. सार, १९५ गा. ।

अथ दुर्निवारेऽपि दुष्कृते विलसति सति धर्मः पुमांसमुपकरोत्येव इत्याह—

यज्जीवेन कषायकर्मठतया कर्मार्जितं तद् ध्रुवं
नाभुक्तं क्षयमृच्छतीति घटयत्युच्चैःकटूनुद्भटम् ।
भावान् कर्मणि दारुणेऽपि न सखेवाप्नोति नोपेक्षते
धर्मः किन्तु ततस्त्रसन्निव सुधां स्नौति स्वधाम्न्यस्फुटम् ॥५६॥

कषायकर्मठतया—क्रोधादिभिर्मनोवाक्कायव्यापारेषु घटमानत्वेन । उच्चैःकटून्—हालाहलप्रख्यान् । चतुर्धा हि पापरसः निम्ब-काजीर-विष-हालाहलतुल्यत्वात् । उद्भटं—प्रकटदर्पाटोपम् । भावान्—अहि-विषकण्टकादीन् पदार्थान् । सुधाम्—लक्षणया सर्वाङ्गीणमानन्दम् । स्वधाम्नि—स्वाश्रयभूतो पुंसि । अस्फुटं—गूढं बाह्यलोकानामविदितम् । अत्रेयं भावना-बाह्यादुर्वारदुष्कृतपाकोत्थमुपर्युपर्युपसर्गमेव पश्यन्ति न पुनः पुंसो धर्मेणानुगृह्यमाणसत्त्वोत्साहस्य तदनभिमतम् ॥५६॥

कठिनतासे हटाने योग्य पाप कर्मका उदय होने पर भी धर्म पुरुषका उपकार ही करता है ऐसा उपदेश देते हैं—

जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसे भयानक पाप कर्मके उदयमें भी धर्म न तो उस पाप-कर्मका ही सहायक होता है और न धर्मात्मा पुरुषकी ही उपेक्षा करता है। इसपर यह शंका हो सकती है कि सच्चे बन्धु धर्मके होते हुए भी पापरूपी शत्रु क्यों अशक्य प्रतीकार वाला होता है इसके समाधानके लिए कहते हैं—जीवने क्रोध, मान, माया और लोभ कषायसे आविष्ट होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक व्यापारके द्वारा पूर्वमें जो कर्म बाँधा वह अवश्य ही भोगे बिना नष्ट नहीं होता, इसलिए वह अपने फलस्वरूप अत्यन्त कटु हालाहल विषके समान दुःखदायी पदार्थोंको मिलाता है। तब पुनः प्रश्न होता है कि जब धर्म न तो उस पाप कर्मकी सहायता करता है और न धर्मात्मा पुरुषकी उपेक्षा करता है तब क्या करता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं—यद्यपि धर्म ये दोनों काम नहीं करता किन्तु चुपचाप छिपे रूप-से धर्मात्मा पुरुषमें आनन्दामृतकी वर्षा करता है। प्रकट रूपसे ऐसा क्यों नहीं करता, इसके उत्तरमें उत्प्रेक्षा करते हैं मानो धर्म उस भयानक पाप कर्मसे डरता है ॥५६॥

विशेषार्थ—जैसे रोगकी तीव्रतामें साधारण औषधिसे काम नहीं चलता—उसके प्रती-कारके लिए विशेष औषधि आवश्यक होती है वैसे ही तीव्र पाप कर्मके उदयमें धर्मकी साधारण आराधनासे काम नहीं चलता। किन्तु धर्माचरण करते हुए भी तीव्र पापका उदय कैसे आता है यह शंका होती है। इसका समाधान यह है कि उस जीवने पूर्व जन्ममें अवश्य ही तीव्र कषायके वशीभूत होकर ऐसे पाप कर्म किये हैं जो बिना भोगे नष्ट नहीं हो सकते। यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्म किसीके द्वारा न दिये जाते हैं और न लिये जाते हैं। हम जो कर्म भोगते हैं वे हमारे ही द्वारा किये होते हैं। हम कर्म करते समय जैसे परिणाम करते हैं हमारे परिणामोंके अनुसार ही उनमें फल देनेकी शक्ति पड़ती है।[1] घाति कर्मोंकी शक्तिकी उपमा लता (बेल), दारु (लकड़ी), अस्थि(हड्डी) और पाषाणसे दी जाती है। जैसे ये उत्तरोत्तर कठोर होते हैं वैसे घातिकर्मोंका फल भी होता है। तथा अघातिया पाप कर्मोंकी शक्ति की उपमा नीम, कंजीर, विष और हालाहलसे दी जाती है। निकाचित बन्धका फल अवश्य

---

१. लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिभेदाच्चतुर्विधः ।
स्याद् घातिकर्मणां पाकोऽन्येषां निम्बगुडादिवत् ॥

अथ पापपुण्ययोरपकारोपकारौ दृष्टान्तद्वारेण द्रढयितुं वृत्तद्वयमाह—

तत्तादृक्कमठोपसर्गलहरीसर्गप्रगल्भोष्मणः
किं पार्श्वे तमुदग्रमुग्रमुदयं निर्वच्मि दुष्कर्मणः।
किं वा तादृशदुर्दशाविलसितप्रध्वंसवीप्रौजसो
धर्मस्योरु विसारि सख्यमिह वा सीमा न साधीयसाम् ॥५७॥

अत्रावोचत स्वयमेव स्तुतिषु यथा—

वज्रेष्वद्भुतपञ्चवर्णजलदेष्वत्युग्रवात्यायुध-
व्रातेष्वप्सरसां गणेऽग्निजलधिव्यालेषु भूतेष्वपि।
यद्ध्यानानुगुणीकृतेषु विदधे वृष्टिं मरुद्वादिनी
गोत्रा यं प्रतिमेघमाल्यसुरराट् विश्वं स पार्श्वोऽवतात् ॥

लहरी—परम्परा, ऊष्मा—दुःसहवीर्यानुभावः। साधीयसाम्—अतिशयशालिनाम् ॥५७॥

भोगना पड़ता है। फिर भी धर्माचरण करनेसे मनुष्यके मनमें दुःख भोगते हुए भी जो शान्ति बनी रहती है वही धर्मका फल है। अन्यथा विपत्तिमें मनुष्य आत्मघात तक कर लेते हैं ॥५६॥

पापके अपकार और पुण्यके उपकारको दृष्टान्तके द्वारा दृढ़ करनेके लिए दो पद्य कहते हैं—

हम तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठके द्वारा किये गये उन प्रसिद्ध भयानक उपसर्गोंकी परम्पराको जन्म देनेमें समर्थ दुःस्सह शक्तिशाली दुष्कर्मके उस आगम-प्रसिद्ध तीव्र दुःसह उदयका कहाँ तक कथन करें। तथा इन्द्रके द्वारा नियुक्त धरणेन्द्र और पद्मावती नामक यक्ष-यक्षिणी द्वारा भी दूर न की जा सकनेवाली पार्श्व प्रभुकी अत्यन्त दुःखदायक दुर्दशाको रोकनेमें अधिकाधिक प्रतापशाली उस धर्मकी सर्वत्र सर्वदा कार्यकारी महती मैत्रीका भी कहाँ तक गुणगान करें? ठीक ही है इस लोकमें अतिशयशालियोंकी कोई सीमा नहीं है ॥५७॥

विशेषार्थ—जैन शास्त्रोंमें भगवान् पार्श्वनाथ और उनके पूर्व जन्मके भ्राता कमठके वैरकी लम्बी कथा वर्णित है। जब भगवान् पार्श्वनाथ प्रव्रज्या लेकर साधु बन गये तो अहिच्छत्रके जंगलमें ध्यानमग्न थे। उधरसे उनका पूर्व जन्मोंका वैरी कमठ जो मरकर व्यन्तर हुआ था, जाता था। भगवान् पार्श्वनाथको देखते ही उसका क्रोध भड़का और उसने भीषण जलवृष्टि, उपलवृष्टि, झंझावातके साथ ही अग्नि, समुद्र, सर्प, भूत, वैताल आदिके द्वारा इतना त्रस्त किया कि इन्द्रका आसन भी डोल उठा। इन्द्रके आदेशसे धरणेन्द्र और पद्मावती संकट दूर करनेके लिए आये। किन्तु वे भी उन उत्पातोंका निवारण नहीं कर सके। किन्तु भगवान् पार्श्वनाथ रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए, वे बराबर ध्यानमग्न बने रहे। उनकी उस धर्माराधनाने ही उस संकटको दूर किया। इसी परसे ग्रन्थकार कहते हैं कि पापकर्मकी शक्ति तो प्रबल है ही किन्तु धर्मकी शक्ति उससे भी प्रबल है जो बड़े-बड़े उपद्रवों-को भी दूर करनेकी क्षमता रखती है।

आशाधरजीने अपनी टीकामें दो विशिष्ट बातें लिखी हैं। एक इन्द्रकी आज्ञासे धरणेन्द्र पद्मावती आये और दूसरे वे व्यन्तर कृत उपद्रवको दूर नहीं कर सके।

अपि च—

प्रद्युम्नः षडहोद्भवोऽसुरभिदः सौभागिनेयः क्रुधा
हृत्वा प्राग्विगुणोऽसुरेण शिलयाऽऽक्रान्तो वने रुन्द्रया ।
तत्कालीनविपाकपेशलतमैः पुण्यैः खगेन्द्रात्मजी-
कृत्याऽलम्भ्यत तेन तेन जयिमा विद्याविभूत्याविना ॥५८॥

सौभागिनेयः—सुभगाया इतरकान्तापेक्षया अतिवल्लभाया रुक्मिण्या अपत्यम् । प्राग्विगुणः—प्राक् मधुराजभवे विगुण वल्लभावहरणादपकर्ता । असुरेण—हेमरथराजचरेण ज्वलितधूमशिखनाम्ना दैत्येन । वने—महाखदिराटव्याम् । खगेन्द्रात्मजीकृत्य—कालसंवरनाम्नो विद्याधरेन्द्रस्य अनात्मजं सन्तमात्मजं कृत्वा । अलम्भ्यत—योज्यते स्म ॥५८॥

ननु मन्त्रादिप्रयोगोऽपि विपन्निवारणाय शिष्टैर्व्यवह्रियते । तत्कथं भवता तत्प्रतीकारे पुण्यस्यैव सामर्थ्यप्रकाशनं न विरुध्यते इत्यत्राह—

यश्चानुश्रूयते हर्तुमापदः पापपक्त्रिमाः ।
उपाय. पुण्यसद्बन्धुं सोऽप्युत्थापयितुं परम् ॥५९॥

पापपक्त्रिमाः—पापपाकेन निर्वृत्ता ॥५९॥

ये दोनों बातें अन्य शास्त्रोंमें वर्णित नहीं हैं। किन्तु दोनों ही यथार्थ प्रतीत होती हैं। मध्यलोकमें सौधर्म इन्द्रका शासन होनेसे भवनवासी देव भी उसके ही अधीन हैं अतः भगवान्पर उपसर्ग होनेपर इन्द्रकी आज्ञासे धरणेन्द्र-पद्मावतीका आना उचित है। दूसरे इन दोनोंने आकर उपसर्गसे रक्षा तो की। धरणेन्द्रने अपना विशाल फणामण्डप भगवान्पर तान दिया। किन्तु उपसर्ग दूर हुआ भगवान्की आत्माराधन रूप धर्मके प्रभावसे। दोनों ही बातें स्मरणीय हैं ॥५७॥

दूसरा उदाहरण—

दैत्यका मर्दन करनेवाले श्रीकृष्णकी अतिवल्लभा रुक्मिणीके पुत्र प्रद्युम्नको, जब वह केवल छह दिनका शिशु था, क्रुद्ध ज्वलित धूमशिखी नामके दैत्यने हरकर महाखदिर नामकी अटवीमें बड़ी भारी शिलाके नीचे दबा दिया और ऊपरसे भी दबाया। इसका कारण यह था कि पूर्वजन्ममें मधु राजाकी पर्यायमें प्रद्युम्नने उसकी प्रिय पत्नीका बलपूर्वक हरण किया था। किन्तु तत्काल ही उदयमें आये अत्यन्त मधुर पुण्यकर्मके योगसे विद्याधरोंका स्वामी कालसंवर उस वनमें आया और उसने शिलाके नीचेसे शिशुको निकालकर अपना पुत्र बनाया। कालसंवरके अन्य पुत्र उसके विरुद्ध थे। प्रद्युम्नने उन्हें पराजित किया तथा विद्याधरोंकी विद्याएँ और सोलह अद्भुत लाभ प्राप्त किये ॥५८॥

किन्हींका कहना है कि विपत्तिको दूर करनेके लिए शिष्टजन मन्त्रादिके प्रयोगका भी व्यवहार करते हैं। तब आप उसके प्रतीकारके लिए पुण्यकी ही शक्तिका गुणगान क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

पापकर्मके उदयसे आनेवाली विपत्तियोंको दूर करनेके लिए सिद्ध मन्त्र आदिका प्रयोग जो आप्त पुरुषोंकी उपदेश परम्परासे सुना जाता है वह भी केवल सच्चे बन्धु पुण्यको ही जाग्रत् करके अपने कार्यमें लगानेके लिए किया जाता है। अर्थात् पुण्योदयके विना मन्त्र-तन्त्र आदि भी अपना कार्य करनेमें असमर्थ होते हैं ॥५९॥

अथोदयाभिमुख-तद्विमुखत्वे द्वयेऽपि पुण्यस्य साधनवैफल्यं दर्शयति—

पुण्यं हि संमुखीनं चेत् सुखोपायशतेन किम् ।
न पुण्यं संमुखीनं चेत् सुखोपायशतेन किम् ॥६०॥

संमुखीनम्—उदयाभिमुखम् ॥६०॥

अथ पुण्यपापयोर्बलाबलं चिन्तयति—

शीतोष्णवत् परस्परविरुद्धयोरिह हि सुकृत-दुष्कृतयोः ।
सुखदुःखफलोद्दयोर्दुर्बलमभिभूयते बलिना ॥६१॥

स्पष्टम् ॥६१॥

अथ क्रियमाणोऽपि धर्मः पापपाकमपकर्षतीत्याह—

धर्मोऽनुष्ठीयमानोऽपि शुभभावप्रकर्षतः ।
भङ्क्त्वा पापरसोत्कर्षं नरमुच्छ्वासयत्यरम् ॥६२॥

उच्छ्वासयति—किंचिदापदो नयति ॥६२॥

अथ प्रकृतार्थमुपसंहरन् धर्माराधनाया श्रोतॄन् प्रोत्साहयति—

तत्सेव्यतामभ्युदयानुषङ्गफलोऽखिलक्लेशविनाशनिष्ठः ।
अनन्तशर्मामृतदः सदार्यैर्विचार्य सारो नृभवस्य धर्मः ॥६३॥

आगे कहते हैं कि पुण्य कर्म उदयके अभिमुख हो अथवा विमुख हो दोनों ही अवस्थाओंमें सुखके साधन व्यर्थ हैं—

यदि पुण्य कर्म अपना फल देनेमें तत्पर है तो सुखके सैकड़ों उपायोंसे क्या प्रयोजन है, क्योंकि पुण्यके उदयमें सुख अवश्य प्राप्त होगा। और यदि पुण्य उदयमें आनेवाला नहीं है तो भी सुखके सैकड़ों उपाय व्यर्थ हैं क्योंकि पुण्यके बिना उनसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥६०॥

आगे पुण्य और पापमें बलाबलका विचार करते हैं—

पुण्य और पाप शीत और उष्णकी तरह परस्परमें विरोधी हैं। पुण्यका फल सुख है और पापका फल दुःख है। इन दोनोंमें जो दुर्बल होता है वह बलवानके द्वारा दबा दिया जाता है ॥६१॥

तत्काल किया गया धर्म भी पापके उदयको मन्द करता है यह बताते हैं—

उसी समय किया गया धर्म भी शुभ परिणामोंके उत्कर्षसे पाप कर्मके फल देनेकी शक्तिकी उत्कटताको घात कर शीघ्र ही मनुष्यको शान्ति देता है। अर्थात् पहलेका किया गया धर्म ही सुखशान्ति दाता नहीं होता, किन्तु विपत्तिके समय किया गया धर्म भी विपत्तिको दूर करता है ॥६२॥

प्रकृत चर्चाका उपसंहार करते हुए श्रोताओंका धर्मकी आराधनामें उत्साहित करते हैं—

यतः धर्मकी महिमा स्थायी और अचिन्त्य है अतः विचारशील पुरुषोंको विचारकर प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणोंसे निश्चित करके सदा धर्मकी आराधना करनी चाहिए; क्योंकि धर्म मनुष्य-जन्मका सार है—अत्यन्त उपादेय होनेसे उसका अन्तः भाग है, उसका आनुषंगिक फल अभ्युदय है। अर्थात् धर्म करनेसे जो पुण्य होता है उससे सांसारिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है अतः यह गौणफल है। वह सब प्रकारके क्लेशोंको नष्ट करनेमें सदा

अनुषंगः—अनुषज्यते धर्मेण संबध्यत इत्यनुषंगोऽत्र पुण्यम्। अनन्तशर्मामृतदः—निरवधिसुखं मोक्षं दत्ते ॥६३॥

अथ द्वाविंशत्या पद्यैर्मनुष्यत्वस्य निःसारत्वं चिन्तयति तत्र तावच्छरीरस्वीकारदुःखमाह—

प्राङ् मृत्युक्लेशितात्मा द्रुतगतिरुदरावस्करेऽह्नाय नार्याः
संचार्याहार्यं शुक्रार्तवमशुचितरं तन्निगीर्णान्नपानम्।
गृद्ध्याऽश्नन् क्षुत्तृषार्तः प्रतिभयभवनाद्विव्रसन् पिण्डितो ना
दोषाद्यात्माऽनिशार्तं चिरमिह विधिना ग्राह्यतेऽङ्गं वराकः ॥६४॥

द्रुतगतिः—एक-द्वि-त्रिसमयप्राप्यगन्तव्यस्थानः। अवस्करः—वर्चोगृहम्। आहार्य—ग्राहयित्वा। तन्निगीर्णं—तया नार्या निगीर्णमाहृतम्। प्रतिभयभवनात्—निम्नोन्नतादिक्षोभकरणात्। ना—मनुष्यगतिनामकर्मोदयवर्ती जीवः। दोषाद्यात्म—दोषधातुमलस्वभावम्। अनिशार्तं—नित्यातुरम्। चिरं—नवमासान् यावत् नृभवे ॥६४॥

तत्पर है और अनन्त सुख स्वरूप मोक्षको देनेके साथ लम्बे समय तक सांसारिक सुख भी देता है ॥६३॥

विशेषार्थ—धर्म सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त देवत्व रूप और तीर्थंकरत्व पर्यन्त मानुषत्व रूप फल देता है इसका समर्थन पहले कर आये हैं। वह धर्मका आनुषंगिक फल है। अर्थात् धर्म करनेसे सांसारिक सुखका लाभ तो उसी प्रकार होता है जैसे गेहूँकी खेती करनेसे भूसेका लाभ अनायास होता है। किन्तु कोई बुद्धिमान भूसेके लिए खेती नहीं करता ॥६३॥

आगे यहाँसे बाईस पद्योंके द्वारा मनुष्यभवकी निस्सारताका विचार करते हैं। उसमें सबसे प्रथम शरीर ग्रहण करनेके दुःखको कहते हैं—

नया शरीर ग्रहण करनेसे पहले यह आत्मा पूर्वजन्मके मरणका कष्ट उठाता है। पुनः नया शरीर धारण करनेके लिए शीघ्र गतिसे एक या दो या तीन समयमें ही अपने जन्मस्थानमें पहुँचता है। उस समय पदार्थोंके जाननेके लिए प्रयत्न रूप उपयोग भी उसका नष्ट हो जाता है क्योंकि विग्रहगतिमें उपयोग नहीं रहता। वहाँ तत्काल ही वह माताके उदररूपी शौचालयमें प्रवेश करके अति अपवित्र रज-वीर्यको ग्रहण करता है और भूख प्याससे पीड़ित होकर माताके द्वारा खाये गये अन्न पानको लिप्सापूर्वक खाता है। ऊँचे-नीचे प्रदेशों पर माताके चलने पर भयसे व्याकुल होकर सिकुड़ जाता है। रात-दिन दुखी रहता है। इस प्रकार बेचारा जीव पूर्वकर्मके उदयसे वात पित्त कफ, रस, रुधिर, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा, वीर्य, मलमूत्र आदिसे बने हुए शरीरको नौ दस मासमें ग्रहण करता है।

विशेषार्थ—इस विषयमें दो श्लोक कहे गये हैं ॥६४॥

कललं कलुषस्थिरत्वं पृथग्दशाहेन बुद्बुदोऽथ घनः।
तदनु ततः पलपेश्यथ क्रमेण मासेन पञ्च पुलकमतः॥
चर्मनखरोमसिद्धिः स्यादङ्गोपाङ्गसिद्धिरथ गर्भे।
स्पन्दनमष्टममासे नवमे दशमेऽथ निःसरणम्॥

माताके उदरमें वीर्यका प्रवेश होने पर दस दिन तक कलल रूपसे रहता है। फिर दस दिन तक कलुषरूपसे रहता है। फिर दस दिन तक स्थिर रहता है। दूसरे मासमे बुद्बुद—

अथ गर्भप्रसवक्लेशमाह—

गर्भक्लेशानुवृत्तेर्विद्रुतो वा निन्द्यद्वारेणैव कृच्छ्राद्विवृत्य ।
निर्यंस्तत्तद्दुःखदस्याऽकृतार्थो नूनं वत्ते मातुरुग्रामनस्यम् ॥६५॥

विद्रुतः—वित्रस्त. । निन्द्यद्वारेण—आर्तववाहिना मार्गेण । विवृत्य—अधोमुखो भूत्वा । तत्तद्-दुःखदत्त्या—गर्भावतरणक्षणात् प्रभृति बाधासंपादनेन । आमनस्यं—प्रसूतिजं दुःखम् ॥६५॥

बुलबुलाकी तरह रहता है। तीसरे मासमें घनरूप हो जाता है। चौथे मासमें मांसपेशियाँ बनती हैं। पाँचवें मासमें पाँच पुलक-अंकुर फूटते हैं। छठे मासमें उन अंकुरोंसे अंग और उपांग बनते हैं। सातवें मासमें चर्म, नख रोम बनते हैं। आठवें मासमें हलन-चलन होने लगता है। नौवें अथवा दसवें महीनेमें गर्भसे बाहर आता है।

अर्थात्—मृत्युके बाद जीव तत्काल ही नया जन्म धारण कर लेता है। जब वह अपने पूर्व स्थानसे मरकर नया जन्म ग्रहण करनेके लिए जाता है तो उसकी गति सीधी भी होती है और मोड़े वाली भी होती है। तत्त्वार्थसूत्र [२।२६] में बतलाया है कि जीव और पुद्गलोंकी गति आकाशके प्रदेशोंकी पंक्तिके अनुसार होती है। आकाश यद्यपि एक और अखण्ड है तथापि उसमें अनन्त प्रदेश है और वे जैसे वस्त्रमें धागे रहते हैं उसी तरह क्रमबद्ध हैं। उसीके अनुसार जीव गमन करता है। यदि उसके मरणस्थानसे नये जन्मस्थान तक आकाश प्रदेशोंकी सीधी पंक्ति है तो वह एक समयमें ही उस स्थान पर पहुँचकर अपने नये शरीरके योग्य वर्गणाओंको ग्रहण करने लगता है। इसे ऋजुगति कहते हैं । अन्यथा उसे एक या दो या तीन मोड़े लेने पड़ते हैं और उसमें दो या तीन या चार समय लगते हैं उसे विग्रहगति कहते हैं। विग्रह गतिमें स्थूल शरीर न होनेसे द्रव्येन्द्रियाँ भी नहीं होतीं अतः वहाँ वह इन्द्रियोंसे जानने देखने रूप व्यापार भी नहीं करता। गर्भमें जानेके बादकी शरीर-रचनाका जो कथन ग्रन्थकारने किया है सम्भव है वह भगवती आराधनाका ऋणी हो। भ. आ. में गाथा १००३ से शरीरकी रचनाका क्रम वर्णित है जो ऊपर दो श्लोकोंमें कहा है। तथा लिखा है कि मनुष्यके शरीरमें तीन सौ अस्थियाँ है जो दुर्गन्धित मज्जासे भरी हुई हैं। तीन सौ ही सन्धियाँ है। नव सौ स्नायु हैं। सात सौ सिरा हैं, पाँच सौ मांसपेशियाँ हैं, चार शिराजाल हैं, सोलह कंडेर (?) हैं, छह सिराओंके मूल हैं और दो मांसरज्जू हैं। सात त्वचा हैं, सात कालेयक हैं, अस्सी लाख कोटि रोम हैं। पक्वाशय और आमाशयमें सोलह आँतें हैं। सात मलके आशय हैं। तीन स्थूणा हैं, एक सौ सात मर्मस्थान हैं। नौ द्वार हैं जिनसे सदा मल बहता है। मस्तिष्क, मेद, ओज और शुक्र एक एक अंजुलि प्रमाण है। वसा तीन अंजुलि, पित्त छह अंजुलि, कफ भी छह अंजुलि प्रमाण है। मूत्र एक आढक, विष्टा छह प्रस्थ, नख बीस, दाँत बत्तीस हैं [गा. १०२७-३५]।

आगे गर्भसे बाहर आनेमें जो क्लेश होता है उसे कहते हैं—

गर्भके कष्टोंके पीछा करनेसे ही मानो भयभीत होकर गर्भस्थजीव मलमूत्रके निन्दनीय द्वारसे ही कष्टपूर्वक नीचेको मुख करके निकलता है। और गर्भमें आनेसे लेकर उसने माताको जो कष्ट दिये उससे उसका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ मानो इसीसे वह माताको भयानक प्रसव-वेदना देता है ॥६५॥

अथ जन्मानन्तरभाविक्लेशं भावयति—

जातः कथंचन वपुर्वहनश्रमोत्थ-
दुःखप्रदोच्छ्वसनदर्शनसुस्थितस्य ।
जन्मोत्सवं सृजति बन्धुजनस्य यावद्
यास्तास्तमाशु विपदोऽनुपतन्ति तावत् ॥६६॥

यास्ताः—प्रसिद्धाः फुल्लिकान्त्रा गोपिकाप्रभृतयः ॥६६॥

अथ बाल्यं जुगुप्सते—

यत्र क्वापि विगत्रपो मलमरुन्मूत्राणि मुञ्चन् मुहु-
र्यत् किंचिद्वदनेऽर्पयन् प्रतिभयं यस्मात् कुतश्चित्पतन् ।
लिम्पन् स्वाङ्गमपि स्वयं स्वशकृता लालाविलास्योऽहिते,
व्याविद्धो हतवत् रुवन् कथमपि छिद्येत बाल्यग्रहात् ॥६७॥

यत्र क्वापि—अनियतस्थानशयनासनादौ । यत्किंचित्—भक्ष्यमभक्ष्यं वा । यस्मात् कुतश्चित्—पतद्भाजनशब्दादे । पतन्—गच्छन् । (स्व) शकृता—निजपुरीषेण । अहिते—मृद्भक्षणादौ । छिद्येत—वियुज्येत मुक्तो भवेदित्यर्थः ॥६७॥

अथ कौमारं निन्दति—

धूलीधूसरगात्रो धावन्नवटाश्मकण्टकादिरुजः ।
प्राप्तो हसत्सहेलकवर्गममर्षन् कुमारः स्यात् ॥६८॥

अवटः—गर्तः । अमर्षन्—ईर्ष्यन् ॥६८॥

आगे जन्मके पश्चात् होने वाले कष्टोंका विचार करते हैं—

किसी तरह महान् कष्टसे जन्म लेकर वह शिशु शरीर धारण करनेके परिश्रमसे उत्पन्न हुई दुःखदायक श्वास लेता है उसके देखनेसे अर्थात् उसे जीवित पाकर उसके माता-पिता आदि कुटुम्बी उसके जन्मसे जब तक आनन्दित होते है तब तक शीघ्र ही बच्चोंको होने वाली प्रसिद्ध व्याधियाँ घेर लेती हैं ॥६६॥

बचपनकी निन्दा करते हैं—

बचपनमें शिशु निर्लज्जतापूर्वक जहाँ कहीं भी निन्दनीय मल-मूत्र आदि बार-बार करता है। कोई भी वस्तु खानेकी हो या न हो अपने मुखमें दे लेता है। जिस किसी भी शब्द आदि से भयभीत हो जाता है। अपनी टट्टीसे स्वयं ही अपने शरीरको भी लेप लेता है। मुख लारसे गन्दा रहता है। मिट्टी आदि खानेसे रोकने पर ऐसा रोता है मानो किसीने मारा है। इस बचपन रूपी ग्रहके चक्करसे मनुष्य जिस किसी तरह छूट पाता है ॥६७॥

आगे कुमार अवस्थाका तिरस्कार करते हैं—

बचपन और युवावस्थाके बीचकी अवस्थावाले बालकको कुमार कहते हैं। कुमार रास्तेकी धूलसे अपने शरीरको मटीला बनाकर दौड़ता है तो गड्ढेमें गिर जाता है या पत्थरसे टकरा जाता है या तीखे काँटे वगैरहसे बिंध जाता है। यह देखकर साथमें खेलनेवाले बालक हँसते हैं तो उनसे रूठ जाता है ॥६८॥

अथ यौवनमपवदति—

पित्रोः प्राप्य मृषामनोरथशतैस्तैस्तारुण्यमुन्मार्गगो
दुर्वारव्यसनातिशङ्किमनसोर्दुःखाग्निचः स्फारयन् ।
तत्किंचित्प्रखरस्मरः प्रकुरुते येनोद्धधाम्नः पितॄन्
क्लिश्नन् भूरिविडम्बनाकलुषितो धिग्दुर्गतौ मज्जति ॥६९॥

उद्धधाम्नः—विपुलतेजस्कान् प्रशस्तस्थानान् वा । विडम्बनाः—खरारोपणादिविगोपकाः । दुर्गतौ—दारिद्र्ये नरके वा ॥६९॥

अथ तारुण्येऽपि अविकारिणः स्तौति—

धन्यास्ते स्मरवाडवानलशिखादीप्रः प्रबलद्बल-
क्षाराम्बुर्निरवग्रहेन्द्रियमहाग्राहोऽभिमानोर्मिकः ।
यैर्दोषाकरसंप्रयोगनियतस्फीतिः स्वसाच्चक्रिभि-
स्तीर्णो धर्मयशःसुखानि वसुवत्तारुण्यघोरार्णवः ॥७०॥

दोषाकरः—दुर्जनश्चन्द्रश्च । स्फीतिः—प्रतिपत्तिर्वृद्धिश्च । स्वसाच्चक्रिभिः—आत्मायत्तानि कुर्वाणैः । वसुवत्—रत्नानीव ॥७०॥

अथ मध्यावस्थामेकादशभिः पद्यैर्विषकुर्वाणः प्रथमं तावदपत्यपोषणाकुलमतेर्धनार्थितया कृष्यादिपरिक्लेशमालक्षयति—

यत्कन्दर्पवशंगतो विलसति स्वैरं स्वदारेष्वपि
प्रायोऽहंयुरितस्ततः कटु ततस्तुग्घाटको धावति ।
अप्यन्यायशतं विधाय नियमाद् भर्तुं यमिच्छाग्रहो
वर्षिष्ण्वा द्रविणाशया गतवयाः कृष्यादिभिः प्लुष्यते ॥७१॥

यौवनकी निन्दा करते हैं—

माता-पिताके सैकड़ों मिथ्या मनोरथोंके साथ कि बड़ा होनेपर यह पुत्र हमारे लिए अमुक-अमुक कार्य करेगा, युवावस्थाको प्राप्त करके कुमार्गगामी हो जाता है और कहीं यह ऐसे दुर्व्यसनोंमें न पड़ जाये जिनमेंसे इसका निकालना अशक्य हो इस आशंकासे दुःखीमन माता-पिताकी दुःखज्वालाओंको बढ़ाता हुआ कामके तीव्रवेगसे पीड़ित होकर ऐसे निन्दनीय कर्मोंको करता है जिससे प्रतिष्ठित माता-पिताको क्लेश होता है। तथा वह स्वयं समाज और राजाके द्वारा दिये गये दण्डोंसे दुःखी होकर नरकादि दुर्गतिमें जाता है ॥६९॥

जो युवावस्थामें भी निर्विकार रहते हैं उनकी प्रशंसा करते हैं—

युवावस्था एक भयंकर समुद्रके समान है। उसमें कामरूपी बड़वाग्नि सदा जलती रहती है, बलवीर्य-रूप खारा जल उमड़ा करता है, निरंकुश इन्द्रियरूपी बड़े-बड़े जलचर विचरते हैं, अभिमानरूपी लहरें उठा करती हैं। समुद्र दोषाकर अर्थात् चन्द्रमाकी संगति पाकर उफनता है, जवानी दोषाकर अर्थात् दुर्जनकी संगति पाकर उफनती है। जिन्होंने धनकी तरह धर्म, यश और सुखको अपने अधीन करके इस घोर जवानीरूपी समुद्रको पार कर लिया वे पुरुष धन्य हैं ॥७०॥

युवावस्थाके पश्चात् आनेवाली मध्य अवस्थाकी ग्यारह पद्योंसे निन्दा करते हुए सर्वप्रथम सन्तानके पालनके लिए व्याकुल गृहस्थ धनके लिए जो कृषि आदि करता है उसके कष्टोंको कहते हैं—

अहंयुः—साहङ्कारः । तुग्घाटकः—अपत्यघाटी । अपि इत्यादि । तथाहि बाह्याः—

'वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः ।
अप्यन्यायशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥७१॥ [मनु. ११।१]

अथ कृषि-पशुपाल्य-वाणिज्याभिरुभयलोकभ्रंशं दर्शयति—

यत् संभूय कृषीबलैः सह पशुप्रायैः खरं खिद्यते
यद् व्यापत्तिमयान् पशूनवति तद्देहं विशन् योगिवत् ।
यन्मुष्णाति वसून्यसूनिव ठकक्रूरो गुरूणामपि
भ्रान्तस्तेन पशूयते विधुरितो लोकद्वयश्रेयसः ॥७२॥

संभूय—मिलित्वा । विधुरितः—वियोजितः ॥७२॥

अथ धनलुब्धस्य देशान्तरवाणिज्यं निन्दति—

यत्र तत्र गृहिण्यादीन् मुक्त्वापि स्वान्यनिर्दयः ।
न लङ्घयति दुर्गाणि कानि कानि धनाशया ॥७३॥

यत्र तत्र—अपरीक्षितेऽपि स्थाने । स्वः—आत्मा । अन्यः—सहायपश्वादिः ॥७३॥

जो सन्तान प्रायः अहंकारमें आकर जिस-तिस स्वार्थमें अनिष्ट प्रवृत्ति करती है और कामके वश होकर अपनी धर्मपत्नीमें भी स्वच्छन्दतापूर्वक कामक्रीड़ा करती है उसी सन्तानका अवश्य पालन करनेके लिए अति आग्रही होकर मध्य अवस्थावाला पुरुष बढ़ती हुई धनकी तृष्णासे सैकड़ों अन्याय करके भी कृषि आदि कर्मसे खेदखिन्न होता है ॥७१॥

आगे कहते हैं कि कृषि, पशुपालन और व्यापार आदिसे दोनों लोक नष्ट होते हैं—

यतः वह मध्यावस्थावाला पुरुष पशुके तुल्य किसानोंके साथ मिलकर अत्यन्त खेद-खिन्न होता है और जैसे योगी योग द्वारा अन्य पुरुषके शरीरमें प्रवेश करता है वैसे ही वह पशुओंके शरीरमें घुसकर विविध आपत्तियोंसे ग्रस्त पशुओंकी रक्षा करता है। तथा ठगके समान क्रूर वह मनुष्य गुरुजनोंके भी प्राणोंके तुल्य धनको चुराता है इसलिए वह विपरीत-मति इस लोक तथा परलोकके कल्याणसे वंचित होकर पशुके समान आचरण करता है ॥७२॥

विशेषार्थ—यहाँ खेती, पशुपालन और व्यापारके कष्टों और बुराइयोंको बतलाया है। तथा खेती करनेवाले किसानोंको पशुतुल्य कहा है। यह कथन उस समयकी स्थितिकी दृष्टिसे किया गया है। आज भी गरीब किसानोंकी दशा, उनका रहन-सहन पशुसे अच्छा नहीं है। दूसरी बात यह है कि पशुओंका व्यापार करनेवाले पशुओंकी कितनी देखरेख करते थे यह उक्त कथनसे प्रकट होता है कि वे पशुओंके कष्टको अपना ही कष्ट मानते थे तभी तो पशुओंके शरीरमें प्रवेश करनेकी बात कही है। तीसरी बात यह है कि व्यापारी उस समयमें भी अन्याय करनेसे सकुचाते नहीं थे। दूसरोंकी तो बात ही क्या अपने गुरुजनोंके साथ भी छलका व्यवहार करके उनका धन हरते थे। ये सब बातें निन्दनीय हैं। इसीसे इन कर्मोंकी भी निन्दा की गयी है ॥७२॥

आगे धनके लोभसे देशान्तरमें जाकर व्यापार करनेवालेकी निन्दा करते हैं—

अपनी पत्नी, पुत्र आदिको यहाँ-वहाँ छोड़कर या साथ लेकर भी धनकी आशासे यह मनुष्य किन वन, पहाड़, नदी वगैरहको नहीं लाँघता और इस तरह अपनेपर तथा अपने परिजनोंपर निर्दय हो जाता है, स्वयं भी कष्ट उठाता है और दूसरोंको भी कष्ट देता है ॥७३॥

अथ वृद्धयाजी-(वं) निन्दति—

वृद्धिलुब्ध्याधमर्णेषु प्रयुज्यार्थान् सहासुभिः ।
तदापच्छङ्कितो नित्यं चित्रं वार्धुषिकश्चरेत् ॥७४॥

वृद्धिलुब्ध्या—कलान्तरलोभेन । अधमर्णेषु—धारणिकेषु ॥७४॥

अथ सेवां गर्हते—

स्वे सद्वृत्तकुलश्रुते च निरनुक्रोशीकृतस्तृष्णया
स्वं विक्रीय धनेश्वरे रहितधीचारस्तदाज्ञावशात् ।
वर्षादिष्वपि दारुणेषु निबिडध्वान्तासु रात्रिष्वपि
व्यालोग्रास्वटवीष्वपि प्रचरति प्रत्यन्तकं यात्यपि ॥७५॥

स्वे—आत्मनि । व्यालोग्रासु—श्वापदभुजगरौद्रासु । प्रत्यन्तकं—यमाभिमुरतम् ॥७५॥

अथ कारुकर्मादीन् प्रतिक्षिपति—

चित्रैः कर्मकलाधर्मैः परासूयापरो मनः ।
हर्तुं तदर्थिनां श्राम्यत्यार्तपोष्येक्षितायनः ॥७६॥

चित्रै.—नाना प्रकारैराश्चर्यकरैर्वा । धर्मो—मूल्येन पुस्तकवाचनादिः । आर्तपोष्येक्षितायनः—क्षुधादिपीडिते (त) कलत्रापत्यादिगवेषितमार्गः ॥७६॥

आगे ब्याजसे आजीविका करनेवालोंकी निन्दा करते हैं—

आश्चर्य है कि ब्याजसे आजीविका करनेवाला सूदखोर ब्याजके लोभसे ऋण लेनेवालोंको अपने प्राणोंके साथ धन देकर सदा उसकी आपत्तियोंसे भयभीत रहकर प्रवृत्ति करता है। अर्थात् ऋणदाताको सदा यह भय सताता रहता है कि ऋण लेनेवालेपर कोई ऐसी आपत्ति न आ जाये जिससे उसका ऋण मारा जाये। और यहाँ आश्चर्य इस बातका है कि ब्याजके लोभीको धन प्राणोंके समान प्रिय होता है। वह धन दूसरेको दिया तो मानो अपने प्राण ही दे दिये। किन्तु दूसरोंको अपने प्राण देनेवाला तो प्रवृत्ति नहीं कर सकता क्योंकि वह निष्प्राण हो जाता है किन्तु ऋणदाता प्राण देकर भी प्रवृत्तिशील रहता है ॥७४॥

आगे सेवाकर्मकी निन्दा करते हैं—

अपने पर और अपने सदाचार कुल तथा शास्त्रज्ञानपर निर्दय होकर लोभवश सेठ राजा आदिको अपनेको बेचकर योग्य-अयोग्यका विचार छोड़कर मनुष्य अपने स्वामीकी आज्ञासे भयानक वर्षा आदिमें भी जाता है, घने अन्धकारसे आच्छन्न रात्रिमें भी विचरण करता है, भयानक जंगली जन्तुओंसे भरे हुए बियाबान जंगलमें भी घूमता है, अधिक क्या, मृत्युके मुखमें भी चला जाता है ॥७५॥

आगे शिल्पकर्म आदि करनेवालोंकी निन्दा करते हैं—

शिल्प आदिसे आजीविका करनेवाला पुरुष शिल्पप्रेमी जनोंके मनको हरनेके लिए उनके सामने अन्य शिल्पियोंकी निन्दा करता है। उनके शिल्पमें दोष निकलता है और अनेक प्रकारके कर्म, कला और धर्मके निर्माणका श्रम उठाता है क्योंकि भूखसे पीड़ित उसके स्त्री-पुत्रादि उसका रास्ता देखते हैं।

विशेषार्थ—लकड़ीके कामको कर्म कहते हैं, गीत नृत्य आदिको कला कहते हैं और मूल्य लेकर पुस्तकवाचन आदि करनेको धर्म कहते हैं ॥७६॥

अथ कारुकदुरवस्थाः कथयति—

आशावान् गृहजनमु त्तमर्णमन्यानप्याप्तेरिव सरसो धर्मैर्धिनोति ।
छिन्नाशो विलपति भालमाहते स्वं द्वेष्टीष्टानपि परदेशमप्युपैति ॥७७॥

उत्तमर्णं—धनिकम् । अन्यान्—सम्बन्धिसुहृदादीन् । आहते—ताडयति ॥७७॥

अथासौ देशेऽपि धनाशया पुनः खिद्यत इत्याह—स्पष्टम् ॥७८॥

आशया जीवति नरो न ग्रन्थावपि बद्धया ।
पञ्चाशतेत्युपायज्ञस्ताम्यत्यर्थाशया पुनः ॥७८॥

अथ इष्टलाभेऽपि तृष्णानुपरतिं दर्शयति—

कथं कथमपि प्राप्य किंचिदिष्टं विधेर्वशात् ।
पश्यन् दीनं जगद् विश्वमप्यधीशितुमिच्छति ॥७९॥

अधीशितुं—स्वाधीना कर्तुम् ॥७९॥

अथ साधितधनस्यापरापरा विपदो दर्शयति—

दायादाद्यैः क्रूरमावर्त्यमान पुत्राद्यैर्वा मृत्युना छिद्यमानः ।
रोगाद्यैर्वा बाध्यमानो हताशो दुर्दैवस्य स्कन्धकं धिग् बिभर्ति ॥८०॥

आवर्त्यमानः—लङ्घनादिना कदर्थ्यमान. । छिद्यमानः—वियुज्यमान. । स्कन्धकं—कालनियमेन देयमृणम् ॥८०॥

शिल्पियोंकी दुरवस्था बतलाते हैं—

मुझे अपने शिल्पका मूल्य आज या कल मिल जायेगा इस आशासे हर्षित होकर शिल्पी मानो धन हाथमें आ गया है इस तरह अपने परिवारको, साहूकारको तथा दूसरे भी सम्बन्धी जनोंको प्रसन्न करता है। और निराश होनेपर रोता है, अपने मस्तकको ठोकता है, अपने प्रिय जनोंसे भी लड़ाई-झगड़ा करता है तथा परदेश भी चला जाता है ॥७७॥

आगे कहते हैं कि वह परदेशमें भी धनकी आशासे पुनः खिन्न होता है—

'मनुष्य आशासे जीता है, गाँठमें बँधे हुए सैकड़ों रुपयोंसे नहीं,' इस लोकोक्तिके अनुसार जीविकाके उपायोंको जाननेवाला शिल्पी फिर भी धनकी आशासे खिन्न होता है ॥७८॥

आगे कहते हैं कि इष्ट धनकी प्राप्ति होनेपर भी तृष्णा शान्त नहीं होती—

पूर्वकृत शुभकर्मके योगसे जिस किसी तरह महान् कष्टसे कुछ इष्टकी प्राप्ति होनेपर वह जगत्को अपनेसे हीन देखने लगता है और समस्त विश्वको भी अपने अधीन करनेकी इच्छा करता है ॥७९॥

धन प्राप्त होनेपर आनेवाली अन्य विपत्तियोंको कहते हैं—

धन सम्पन्न होनेपर मनुष्यको धनके भागीदार भाई-भतीजे बुरी तरह सताते हैं अथवा मृत्यु आकर पुत्रादिसे उसका वियोग करा देती है या रोगादि पीड़ा देते हैं। इस तरह वह अभागा दुर्दैवके उस ऋणको लिये फिरता है जिसे नियत समयपर ही चुकाना होता है ॥८०॥

अथ मध्यवयसो विपद्भिररतिं जीवितोपरतिं (—तोपरतिं च) निरूपयति—

पिपीलिकाभिः कृष्णाहिरिवापद्भिर्दुराशयः ।
दंदश्यमानः क्व रतिं यातु जीवतु वा कियत् ॥८१॥

दंदश्यमानः—गर्हितं खाद्यमानः ॥८१॥

अथ पलितोद्भवदुःखमालक्षयति—

जराभुजङ्गीनिर्मोकं पलितं वीक्ष्य वल्लभाः ।
यान्तीरुद्वेगमुत्पश्यन्नप्यपैत्योजसोऽन्वहम् ॥८२॥

निर्मोकः—कञ्चुकः । वीक्ष्य—अत्र यान्तीरित्युत्पश्यन्निति चापेक्ष्य उत्पश्यन्—उत्प्रेक्षमाणः । ओजसः—शुक्रान्तधातुपरमतेजसः । उत्प्रत्ययश्च प्रियाविरागदर्शनात् । तथा चोक्तम्—

'ओजः क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभिः' ॥८२॥

अथ जरानुभावं भावयति—

विस्रसोद्देहिका देहवनं नृणां यथा यथा ।
चरन्ति कामदा भावा विशीर्यन्ते तथा तथा ॥८३॥

विस्रसा—जरा ॥८३॥

अथ जरातिव्याप्तिं चिन्तयति—

मध्यम अवस्थावाले मनुष्यको विपत्तियोंके कारण होनेवाली अरति और जीवनसे अरुचिको बतलाते हैं—

चींटियोंसे बुरी तरह खाये जानेवाले काले सर्पकी तरह विपत्तियोंसे सब ओरसे घिरा हुआ दुःखी मनुष्य किससे तो प्रीति करे और कबतक जीवित रहे ? ॥८१॥

सफेद बालोंको देखकर होनेवाले दुःखको कहते हैं—

वृद्धावस्थारूपी सर्पिणीकी केंचुलीके समान सफेद बालोंको देखकर विरक्त होनेवाली प्रिय पत्नियोंका स्मरण करके ही बुढ़ापेकी ओर जानेवाला मनुष्य दिनोंदिन ओजसे क्षीण होता है ॥८२॥

विशेषार्थ—कहा भी है—कोप, भूख, ध्यान, शोक और श्रम आदिसे ओज क्षीण होता है। वैद्यक शास्त्रके अनुसार ओज शरीरके धातुरसको पुष्ट करता है ॥८२॥

बुढ़ापेका प्रभाव बतलाते हैं—

मनुष्योंके शरीररूपी उद्यानको बुढ़ापारूपी दीमक जैसे-जैसे खाती है वैसे-वैसे उसके कामोद्दीपक भाव स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् यह शरीर उद्यानके समान है उद्यानकी तरह ही इसका पालन-पोषण यत्नसे किया जाता है। जैसे उद्यानको यदि दीमकें खाने लगें तो बगीचा लगानेवालेके मनोरथोंको पूरा करनेवाले फल-फूल सब नष्ट हो जाते हैं वैसे ही बुढ़ापा आनेपर मनुष्यके कामोद्दीपक भाव भी स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं ॥८३॥

बुढ़ापेकी अधिकताका विचार करते हैं—

प्रक्षीणान्तःकरणकरणो व्याधिभिः सुष्ट्विबाधि-
स्पर्द्धाद्विष्टः परिभवपदं याप्यकम्प्राऽक्रियाङ्गः ।
तृष्णेर्ष्याद्यैर्विलगितगृहः प्रस्खलद्विद्विनवन्तो
ग्रस्येताद्धा विरस इव न श्राद्धदेवेन वृद्धः ॥८४॥

इवाधिस्पर्द्धात्—मनोदुःखसंहर्षादिव । याप्यानि—कुत्सितानि । विलगितगृहः—उपतप्तकलत्रादिलोकः । अद्धा—झगिति । श्राद्धदेवेन—यमेन क्षयार्हभोज्येन च ॥८४॥

अथ तादृग् दुष्टमपि मानुषत्वं परमसुखफलधर्माङ्गत्वेन सर्वोत्कृष्ट विदध्यादिति शिक्षयति—

बीजक्षेत्राहरणजननद्वाररूपाशुचीदृग्-
दुःखाकीर्णं दुरसविविधप्रत्ययात्तक्षयंमृत्यु ।
अल्पाग्र्यायुः कथमपि चिराल्लब्धमीदृग् नरत्वं
सर्वोत्कृष्टं विमलसुखकृद्धर्मसिद्ध्यैव कुर्यात् ॥८५॥

बीजं—शुक्रार्तवम् । क्षेत्रं—मातृगर्भः । आहरणं—मातृनिगीर्णमन्नपानम् । जननद्वारं—रज पथ. । रूपं—दोषाद्यात्मकत्वसदातुरत्वम् । ईदृग्दुःखानि—गर्भादिवार्द्धक्यान्तबाधा. । दुरसः—दुर्निवार । विविधाः—व्याधिशस्त्राशनिपातादय । प्रत्यया—कारणानि । अल्पाग्र्यायुः—अल्पं स्तोकमग्रं परमायुर्यत्र । इह हीदानी मनुष्याणामुत्कर्षेणापि विंशं वर्षशतं जीवितमाहु । ईदृक्—सज्जातिकुलाद्युपेतम् ॥८५॥

अथ बीजस्य (जीवस्य) त्रस्यत्वादि (त्रसत्वादि) यथोत्तरदुर्लभत्वं चिन्तयति—

जिसका मन और इन्द्रियाँ विनाशके उन्मुख हैं, मानसिक व्याधियोंकी स्पर्द्धासे ही मानो जिसे शारीरिक व्याधियोंने अत्यन्त क्षीण कर दिया है, जो सबके तिरस्कारका पात्र है, जिसके हाथ-पैर आदि अंग बुरी तरहसे काँपते हैं और अपना काम करनेमें असमर्थ हैं, अतिलोभी, क्रोधी आदि स्वभावके कारण परिवार भी जिससे उकता गया है, मुँहमें दो-चार दाँत शेष हैं किन्तु वे भी हिलते हैं, ऐसे वृद्ध पुरुषको मानो स्वादरहित होनेसे मृत्यु भी जल्दी नहीं खाती ॥८४॥

इस प्रकार मनुष्यपर्याय बुरी होनेपर भी परम सुखके दाता धर्मका अंग है इसलिए उसे सर्वोत्कृष्ट बनानेकी शिक्षा देते हैं—

इस मनुष्य शरीरका बीज रज और वीर्य है, उत्पत्तिस्थान माताका गर्भ है, आहार माताके द्वारा खाया गया अन्न-जल है, रज और वीर्यका मार्ग ही उसके जन्मका द्वार है, वात-पित्त-कफ-धातु उपधातु ही उसका स्वरूप है, इन सबके कारण वह गन्दा है, गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त दुःखोंसे भरा हुआ है, व्याधि, शस्त्राघात, वज्रपात आदि अनेक कारणोंसे आकस्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है, तथा इसकी उत्कृष्ट आयु भी अति अल्प अधिक से अधिक एक सौ बीस वर्ष कही है। समीचीन धर्मके अंगभूत जाति-कुल आदिसे युक्त यह ऐसा मनुष्य भव भी चिरकालके बाद बड़े कष्टसे किसी तरह प्राप्त हुआ है। इसे विमल अर्थात् दुःखदायी पापके संसर्गसे रहित सुखके दाता धर्मका साधन बनाकर ही देवादि पर्यायसे भी उत्कृष्ट बनाना चाहिए ॥८५॥

आगे जीवको प्राप्त होनेवाली त्रसादि पर्यायोंकी उत्तरोत्तर दुर्लभताका विचार करते हैं—

जगत्यनन्तैकहृषीकसंकुले त्रसत्व-संज्ञित्व-मनुष्यतार्यताः ।
सुगोत्रसद्गात्रविभूतिवार्तता सुधीसुधर्माश्च यथाग्रदुर्लभाः ॥८६॥

वार्तता—आरोग्यम् ॥८६॥

अथ धर्माचरणे नित्योद्योगमुद्बोधयति—

स ना स कुल्यः स प्राज्ञः स बलश्रीसहायवान् ।
स सुखी चेह चामुत्र यो नित्यं धर्ममाचरेत् ॥८७॥

स्पष्टम् ॥८७॥

अनन्त एकेन्द्रिय जीवोंसे पूरी तरहसे भरे हुए इस लोकमें त्रसपना, संज्ञिपना, मनुष्यपना, आर्यपना, उत्तमकुल, उत्तम-शरीर, सम्पत्ति, आरोग्य, सद्बुद्धि और समीचीन धर्म उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ॥८६॥

विशेषार्थ—इस लोकमें यह जीव अपने द्वारा बाँधे गये कर्मके उदयसे बार-बार एकेन्द्रिय होकर किसी तरह दो-इन्द्रिय होता है। दो-इन्द्रिय होकर पुनः एकेन्द्रिय हो जाता है। इस प्रकार एकेन्द्रियसे दो-इन्द्रिय होना कठिन है, दो इन्द्रियसे तेइन्द्रिय होना कठिन है, तेइन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय होना कठिन है, चतुरिन्द्रियसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय होना कठिन है, असंज्ञी पंचेन्द्रियसे संज्ञी पंचेन्द्रिय होना कठिन है, संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें भी मनुष्य होना कठिन है। मनुष्योंमें भी आर्य मनुष्य होना कठिन है। आर्य होकर भी अच्छा कुल, अच्छा शरीर, सम्पत्ति, नीरोगता, समीचीन बुद्धि और समीचीन धर्मका लाभ उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक (अ. ९।७) में बोधिदुर्लभ भावनाका स्वरूप इसी शैली और शब्दोंमें बतलाया है। अकलंकदेवने लिखा है—आगममें एक निगोद शरीरमें सिद्धराशिसे अनन्त गुणे जीव बतलाये हैं। इस तरह सर्व लोक स्थावर जीवोंसे पूर्णतया भरा है। अतः त्रसपर्याय रेगिस्तानमें गिरी हुई हीरेकी कनीके समान मिलना दुर्लभ है। त्रसोंमें भी विकलेन्द्रियोंका आधिक्य है अतः उसमें पंचेन्द्रियपना प्राप्त होना गुणोंमें कृतज्ञता गुणकी तरह कठिन है। पंचेन्द्रियोंमें भी पशु, मृग, पक्षी आदि तिर्यंचोंकी बहुलता है। अतः मनुष्यपर्याय वैसी ही दुर्लभ है जैसे किसी चौराहे पर रत्नराशिका मिलना दुर्लभ है। मनुष्यपर्याय छूटनेपर पुनः उसका मिलना वैसा ही दुर्लभ है जैसे किसी वृक्षको जला डालनेपर उसकी राखका पुनः वृक्षरूप होना। मनुष्यपर्याय भी मिली किन्तु हित-अहितके विचारसे शून्य पशुके समान मनुष्योंसे भरे हुए कुदेशोंका बाहुल्य होनेसे सुदेशका मिलना वैसा ही दुर्लभ है जैसे पाषाणोंमें मणि। सुदेश भी मिला तो सुकुलमें जन्म दुर्लभ है क्योंकि संसार पापकर्म करनेवाले कुलोंसे भरा है। कुलके साथ जाति भी प्रायः शील, विनय और आचारको करनेवाली होती है। कुल-सम्पत्ति मिल जानेपर भी दीर्घायु, इन्द्रिय, बल, रूप, नीरोगता वगैरह दुर्लभ हैं। उन सबके मिलनेपर भी यदि समीचीन धर्मका लाभ नहीं होता तो जन्म व्यर्थ है ॥८६॥

आगे धर्मका आचरण करनेमें नित्य तत्पर रहने की प्रेरणा करते हैं—

जो पुरुष सदा धर्मका पालन करता है वही पुरुष वस्तुतः पुरुष है, वही कुलीन है, वही बुद्धिशाली है, वही बलवान्, श्रीमान् और सहायवान् है, वही इस लोक और परलोकमें सुखी है अर्थात् धर्मका आचरण न करनेवाले दोनों लोकोंमें दुःखी रहते हैं ॥८७॥

अथ धर्मार्जनविमुखस्य गुणान् प्रतिक्षिपति—

धर्मं श्रुति-स्मृति-स्तुतिसमर्थनाचरणचारणानुमतैः ।
यो नार्जयति कथंचन किं तस्य गुणेन केनापि ॥८८॥

स्पष्टम् ॥८८॥

ननु लोकादेवावगम्य धर्मशब्दार्थोऽनुष्ठास्यते तत्किं तदर्थप्रतिपादनाय शास्त्रकरणप्रयासेनेति वदन्तं प्रत्याह—

लोके विषामृतप्रख्यभावार्थः क्षीरशब्दवत् ।
वर्तते धर्मशब्दोऽपि तत्तदर्थोऽनुशिष्यते ॥८९॥

भावः—अभिधेयं वस्तु ॥८९॥

अथ धर्मशब्दार्थं व्यक्तीकरोति—

धर्मः पुंसो विशुद्धिः सुदृगवगमचारित्ररूपा स च स्वां
सामग्रीं प्राप्य मिथ्यारुचिमतिचरणाकारसंक्लेशरूपम् ।
मूलं बन्धस्य दुःखप्रभवफलस्याबधुन्वन्नधर्मं
संजातो जन्मदुःखाद्धरति शिवसुखे जीवमित्युच्यतेऽर्थात् ॥९०॥

जो पुरुष धर्मसे विमुख रहता है उसके गुणोंका तिरस्कार करते हैं—

जो पुरुष श्रुति, स्मृति, स्तुति और समर्थना इनमें-से किसी भी उपायके द्वारा किसी भी तरहसे स्वयं आचरण करके या दूसरोंसे कराकर या अनुमोदनाके द्वारा धर्मका संचय नहीं करता उसके अन्य किसी भी गुणसे क्या लाभ है ॥८८॥

विशेषार्थ—धर्मके अनेक साधन हैं। गुरु आदिसे धर्म सुनना श्रुति है। उसे स्वयं स्मरण करना स्मृति है। धर्मके गुणोंका बखान करना स्तुति है। युक्ति पूर्वक आगमके बलसे धर्मका समर्थन करना समर्थन है। स्वयं धर्मका पालन करना आचरण है। दूसरोंसे धर्मका पालन कराना चारण है। और अनुमोदना करना अनुमत है। इस प्रकार कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा श्रुति, स्मृति, स्तुति, समर्थना पूर्वक धर्मकी साधना करनी चाहिए। इनमें-से कुछ भी न करके धर्मसे विमुख रहनेसे मनुष्यपर्याय, सुकुल, सुदेश, सुजाति आदिका पाना निरर्थक है ॥८८॥

धर्म शब्दका अर्थ लोगोंसे ही जानकर उसका आचरण किया जा सकता है। तब उसके अर्थको बतलानेके लिए शास्त्ररचना करनेका श्रम उठाना बेकार है। ऐसा कहनेवालेको उत्तर देते हैं—

जैसे लोकमें क्षीर शब्दसे विषतुल्य अर्क आदि रस और अमृततुल्य गोरस अर्थ लिया जाता है वैसे ही धर्म शब्दसे भी विषतुल्य दुर्गतिके दुःखको देनेवाला हिंसा आदि रूप अर्थ भी लिया जाता है और अमृततुल्य अहिंसा आदि रूप अर्थ भी लिया जाता है। इसलिए उसमें भेद बतलानेके लिए धर्म शब्दका उपदेश परम्परासे आगत अर्थ कहते हैं ॥८९॥

आगे धर्मशब्दका अर्थ स्पष्ट करते हैं—

जीवकी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप विशुद्धिको धर्म कहते हैं। और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप संक्लेशपरिणामको अधर्म कहते हैं। वह अधर्म उस पुण्य-पापरूप बन्धका कारण है जिसका फल दुःखदायक संसार है। जीवकी

पुंसो विशुद्धिः—जीवस्य विशुद्धिपरिणामः । तथा चोक्तम्—

भाउविसुद्धउ अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु ।
चउगइदुक्खहिं जो धरइ जीउ पडंतउ एउ ॥
[पर. प्र. २।६८।]

सामग्रीं—बाह्येतरकारणकलापं सद्ध्यानं वा । तदुक्तम्—

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि ।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम् ॥
[तत्त्वानुशासन—३३]

विशुद्धि रूप वह धर्म अधर्मको पूरी तरहसे हटाते हुए अपनी अन्तरंग बाहिरंग कारण रूप सामग्रीको प्राप्त करके जब अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें सम्पूर्ण होता है तब जीवको संसारके दुःखोंसे उठाकर मोक्षसुखमें धरता है इसलिए उसे परमार्थसे धर्म कहते हैं ॥९०॥

विशेषार्थ—धर्म शब्द जिस 'धृ' धातुसे बना है उसका अर्थ है धरना इसलिए धर्म शब्दका अर्थ होता है—जो धरता है वह धर्म है। किसी वस्तुको एक जगहसे उठाकर दूसरी जगह रखनेको धरना कहते हैं। धर्म भी जीवको संसारके दुःखोंसे उठाकर मोक्षसुखमें धरता है इसलिए उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है। किन्तु धरना तो एक क्रिया है। क्रिया तो परमार्थसे धर्म या अधर्म नहीं होती। तब परमार्थ धर्म क्या है? परमार्थ धर्म है आत्माकी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निर्मलता। दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माके गुण हैं। जब ये विपरीत रूप होते हैं तब इन्हें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं। उनके होनेसे आत्माकी परिणति संक्लेशरूप होती है। उससे ऐसा कर्मबन्ध होता है जिसका फल अनन्त संसार है। किन्तु जब मूढता आदि दोषोंके दूर होनेपर दर्शन सम्यग्दर्शन होता है, संशय आदि दोषोंके दूर होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है और मायाचार आदिके दूर होने पर चारित्र सम्यक्चारित्र होता है तब जो आत्मामें निर्मलता होती है वही वस्तुतः धर्म है। ज्यों ज्यों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पूर्णताकी ओर बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों निर्मलता बढ़ती जाती है और ज्यों ज्यों निर्मलता बढ़ती जाती है त्यों त्यों सम्यग्दर्शनादि पूर्णताकी ओर बढ़ते जाते हैं। इस तरह बढ़ते हुए जब जीव मुनिपद धारण करके अर्हन्त अवस्था प्राप्त कर अयोगकेवलि नामक चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें पहुँचता है तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पूर्ण होते हैं और तत्काल ही जीव संसारसे छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है। परमात्मप्रकाशमें कहा है—

'आत्माका मिथ्यात्व रागादिसे रहित विशुद्ध भाव ही धर्म है ऐसा मान कर उसे स्वीकार करो। जो संसारमें पड़े हुए जीवको उठाकर मोक्षमें धरता है।' इसकी टीकामें ब्रह्मदेवने लिखा है—यहाँ धर्म शब्दसे निश्चयसे जीवका शुद्ध परिणाम ही लेना चाहिए। उसमें वीतराग सर्वज्ञके द्वारा रचित नयविभागसे सभी धर्मोंका अन्तर्भाव होता है। उसका खुलासा इस प्रकार है—धर्मका लक्षण अहिंसा है। वह भी जीवके शुद्ध भावके बिना सम्भव नहीं है। गृहस्थ और मुनिधर्मरूप धर्म भी शुद्ध भावके बिना नहीं होता। उत्तम क्षमा आदि रूप दस प्रकारका धर्म भी जीवके शुद्ध भावकी अपेक्षा रखता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

मिथ्या वैपरीत्येऽभावे च। दुःखप्रभवः—दुःखं प्रभवत्यस्मादस्मिन्वा भावे (भवे)। संजातः—अयोगिचरमसमये संपूर्णीभूतः। जन्मदुःखात्—संसारक्लेशादुद्धृत्य ॰। अर्थात् अभिधेयं परमार्थं वाश्रित्य ॥९०॥

अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणनिर्देशपुरस्सरं मोक्षस्य संवरनिर्जरयोर्बन्धस्य च कारणं निरूपयति—

मिथ्यार्थाभिनिवेशशून्यमभवत् संदेहमोहभ्रमं
वान्ताशेषकषायकर्मभिदुदासीनं च रूपं चितः।
तत्त्वं सद्दृगवायवृत्तमयनं पूर्णं शिवस्यैव तद्
रुन्द्धे निर्जरयत्यपीतरवधं बन्धस्तु तद्व्यत्ययात् ॥९१॥

और सम्यक् चारित्र रूप धर्म भी शुद्धभावरूप ही है। रागद्वेष मोह रहित परिणामको धर्म कहा है, वह भी जीव का शुद्ध स्वभाव ही है। वस्तुके स्वभावको धर्म कहा है। वह भी जीवका शुद्धस्वभाव ही है। इस प्रकारका धर्म चारों गतिके दुःखोंमें पड़े हुए जीवको उठाकर मोक्षमें धरता है।

प्रश्न—आपने पहले कहा था कि शुद्धोपयोगमें संयम आदि सब गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ कहते हैं कि आत्माका शुद्ध परिणाम ही धर्म है उसमें सब धर्म गर्भित हैं। इन दोनोंमें क्या अन्तर है—

समाधान—वहाँ शुद्धोपयोग संज्ञाकी मुख्यता है और यहाँ धर्म संज्ञा मुख्य है—इतना ही विशेष है। दोनोंके तात्पर्यमें अन्तर नहीं है। इसलिए सब प्रकारसे शुद्धपरिणाम ही कर्तव्य है। धर्मकी इस अवस्थाकी प्राप्तिमें ध्यानको प्रमुख कारण बतलाया है। कहा भी है[1] कि ध्यानमें दोनों ही प्रकारके मोक्षके कारण मिल जाते हैं अतः आलस्य छोड़कर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए ॥९१॥

निश्चयरत्नत्रयके लक्षणके निर्देशपूर्वक मोक्ष, संवर, निर्जरा तथा बन्धके कारण कहते हैं—

मिथ्या अर्थात् विपरीत या प्रमाणसे बाधित अर्थको मिथ्या अर्थ कहते हैं। और सर्वथा एकान्तरूप मिथ्या अर्थके आग्रहको मिथ्या अर्थका अभिनिवेश कहते हैं। उससे रहित आत्माके स्वरूपको निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। अथवा जिसके उदयसे मिथ्या अर्थ-का आग्रह होता है ऐसे दर्शनमोहनीयकर्मको भी मिथ्या अर्थका अभिनिवेश कहते हैं। उस दर्शनमोहनीय कर्मसे रहित आत्माका स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है। यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष इस प्रकारके चंचल ज्ञानको सन्देह कहते हैं। चलते हुए पैरको छूनेवाले तृण आदिके ज्ञानकी तरह पदार्थका जो अनध्यवसाय होता है उसे मोह कहते हैं। जो वैसा नहीं है उसे उस रूपमें जानना—जैसे ठूठको पुरुष जानना—भ्रम है। इन सन्देह मोह और भ्रमसे रहित आत्माके स्वरूपको निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। क्रोधादि कषाय और हास्य आदि नोकषायों से रहित, ज्ञानावरण आदि कर्म और मन वचन कायके व्यापार रूप कर्मको नष्ट करनेवाला

१. दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ —द्रव्य संग्रह ४७।
स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाऽप्यपालस्यम् ॥ —तत्त्वानुशा. ६३ श्लो.।

संदेहः—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति चलिता प्रतीतिः। मोहः—गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानवत् पदार्थानध्यवसायः। भ्रमः अतस्मिंस्तदिति ग्रहणं स्थाणौ पुरुषज्ञानवत्। कर्मभित्—ज्ञानावरणादि कर्मच्छेदि मनोवाक्कायव्यापार-निरोधि वा। तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

'मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम्।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्महन्तृता॥'
[त. श्लो. १-५४]

चित:—चेतनस्य। तत्त्वं—परमार्थरूपम्। सदृगवायवृत्तं—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं मिथ्येत्यादिना क्रमेणोक्तलक्षणम्। संहतिप्रधाननिर्देशात्तत्त्रयमय आत्मैव निश्चयमोक्षमार्ग इति लक्षयति। तदुक्तम्—

'णिच्छयणएण भणिओ तिहिं तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण गहदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति॥'
[पञ्चास्ति. १६१ गा.]

आत्माका उदासीन रूप निश्चय सम्यक्चारित्र है। पूर्ण अवस्थामें होने पर तीनों मोक्षके ही मार्ग हैं। किन्तु व्यवहाररूप तथा अपूर्ण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अशुभकर्मको रोकता भी है और एक देशसे क्षय भी करता है। परन्तु मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे बन्ध होता है॥९१॥

विशेषार्थ—ऊपर निश्चयरत्नत्रयके लक्षणके साथ मोक्ष, संवर, निर्जरा तथा बन्धका कारण कहा है। मिथ्या अर्थके आग्रहसे रहित आत्मरूपको अथवा जिसके कारण मिथ्या अर्थका आग्रह होता है उस दर्शन मोहनीय कर्मसे रहित आत्मरूपको निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा संशय, विपर्यय और मोहसे रहित आत्मरूपको निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। तथा समस्त कषायोंसे रहित आत्मरूपको निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं। तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकमें कहा है—

'ज्ञानका मिथ्या अभिमानसे पूरी तरहसे मुक्त होना सम्यग्दर्शन है। अर्थको यथार्थ रीतिसे जानना सम्यग्ज्ञान है और कर्मोंका नाश सम्यक्चारित्र है।' ये तीनों ही आत्मरूप होते हैं। इसलिए अमृतचन्द्राचार्यने आत्माके निश्चयको सम्यग्दर्शन, आत्माके परिज्ञानको सम्यग्ज्ञान और आत्मामें स्थितिको सम्यक्चारित्र कहा है। और ऐसा ही पद्मनन्दि पञ्च-विंशतिका (४।१४) में कहा है।

इनमेंसे सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। समयसार गा. ३२० की टीकाके उपसंहारमें विशेष कथन करते हुए आचार्य जयसेनने कहा है—जब काललब्धि आदिके योगसे भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भावरूप निज परमात्मद्रव्यके सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् अनुचरण रूप पर्यायसे परिणत होता है। इस परिणमनको आगमकी भाषामें औपशमिक भाव या क्षायोपशमिक भाव या क्षायिक भाव कहते हैं। किन्तु अध्यात्मकी भाषामें उसे शुद्धात्माके अभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि कहते हैं। सम्यग्दर्शन दर्शन मोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात कर्मप्रकृतियोंके उपशम,

अयनं—मार्गः। इतरत्—व्यवहाररूपमपूर्णं च। तद्व्यत्ययात्—मिथ्यादर्शनादित्रयात्। तथा चोक्तम्—

३ 'रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगस्य सोऽयमपराधः॥'
[पुरुषार्थ. २२०]

क्षय अथवा क्षयोपशमसे होता है। यह आत्माके श्रद्धागुणकी निर्मल पर्याय है। इसीसे इसे आत्माका मिथ्या अभिनिवेशसे शून्य आत्मरूप कहा है। यह चौथे गुणस्थानके साथ प्रकट होता है। किन्तु कहीं-कहीं निश्चय सम्यग्दर्शनको वीतरागचारित्रका अविनाभावी कहा है इसलिए कुछ विद्वान् चतुर्थ गुणस्थानमें निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं मानते। टीकाकार ब्रह्मदेवने परमात्मप्रकाश (२।१७) की टीकामें इसका अच्छा खुलासा किया है। 'आगममें सम्यक्त्वके दो भेद कहे हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य आदिसे अभिव्यक्त होने वाला सराग सम्यग्दर्शन है। उसे ही व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसके विषयभूत छह द्रव्य हैं। वीतराग सम्यक्त्वका लक्षण निज शुद्धात्माकी अनुभूति है वह वीतराग चारित्रका अविनाभावी है। उसीको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। ब्रह्मदेवजीके इस कथनपर शिष्य प्रश्न करता है कि 'निज शुद्धात्मा ही उपादेय है' इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व है ऐसा आपने पहले बहुत बार कहा है अतः आप वीतराग चारित्रके अविनाभावीको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं यह पूर्वापरविरोध है। कारण—अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थ अवस्थामें तीर्थंकर, भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती, राम, पाण्डव आदिके विद्यमान था किन्तु उनके वीतराग चारित्र नहीं था यह परस्पर विरोध है। यदि वीतराग चारित्र था तो वे असंयमी कैसे थे? शिष्यकी इस शंकाके उत्तरमें ब्रह्मदेवजी कहते हैं—यद्यपि उनके शुद्धात्माके उपादेयकी भावना रूप निश्चय सम्यक्त्व था किन्तु चारित्रमोहके उदयसे स्थिरता नहीं थी। अथवा व्रत प्रतिज्ञा भंग होनेसे असंयत कहे गये हैं (यह कथन तीर्थंकरके साथ नहीं लगाना चाहिए) जब भरत आदि शुद्धात्माकी भावनासे च्युत होते थे तब निर्दोष परमात्मा अर्हन्त सिद्ध आदिके गुणोंका स्तवन आदि करते थे, उनके चरित पुराण आदि सुनते थे। उनके आराधक आचार्य उपाध्याय साधुओंको विषयकषायसे बचनेके लिए दान, पूजा आदि करते थे। अतः शुभरागके योगसे सरागसम्यग्दृष्टि होते थे। किन्तु उनके सम्यक्त्वको निश्चयसम्यक्त्व इसलिए कहा गया है कि वह वीतराग चारित्रके अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्वका परम्परासे साधक है। वास्तवमें वह सरागसम्यक्त्व नामक व्यवहारसम्यक्त्व ही है'। जिस तरह सम्यग्दर्शन आदिके दो प्रकार हैं उसी तरह मोक्षमार्गके भी दो प्रकार हैं—निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग। उक्त तीन भावमय आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रकी पूर्णता अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होती है। उसके पश्चात् ही मोक्ष हो जाता है अतः सम्पूर्ण रत्नत्रय मोक्षका ही मार्ग है। किन्तु अपूर्ण रत्नत्रय? जब तक रत्नत्रय असम्पूर्ण रहता है नीचेके गुणस्थानोंमें साधुके पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है तब क्या उससे बन्ध नहीं होता? इसके समाधानके लिए पुरुषार्थ सि. के २११ से २२० श्लोक देखना चाहिए। उसमेंसे आदि और अन्तिम श्लोकमें कहा है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥
[पुरुषार्थ. २११] ॥९१॥

एकदेश रत्नत्रयका भावन करनेसे जो कर्मबन्ध होता है वह अवश्य ही विपक्षकृत है क्योंकि मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नहीं हो सकता।

इस श्लोकका अर्थ कुछ विद्वान् इस रूपमें करते हैं कि असमग्ररत्नत्रयसे होनेवाला कर्मबन्ध मोक्षका उपाय है। किन्तु यह अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रके तथा जैन सिद्धान्तके सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि आगे वे कहते हैं[1]—

इस लोकमें रत्नत्रय मोक्षका ही हेतु है, कर्मबन्धका नहीं। किन्तु एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो पुण्य कर्मका आस्रव होता है वह शुभोपयोगका अपराध है। जिसे बन्ध अपराध कहा है वह मोक्षका उपाय कैसे हो सकता है।

व्यवहार रूप रत्नत्रयसे जो अपूर्ण होता है, अशुभकर्मका संवर और निर्जरा होती है। यहाँ अशुभ कर्मसे पुण्य और पाप दोनों ही लिये गये हैं क्योंकि सभी कर्म जीवके अपकारी होनेसे अशुभ कहे जाते हैं। निश्चयरत्नत्रयकी समग्रता तो चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें ही होती है उसके होते ही मोक्ष हो जाता है इसलिए उसे मोक्षका ही कारण कहा है। किन्तु उससे पहले जो असम्पूर्ण रत्नत्रय होता है उससे नवीन कर्मबन्धका संवर तथा पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है। पञ्चास्तिकायके अन्तमें आचार्य कुन्दकुन्दने निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका कथन किया है और अमृतचन्द्राचार्यने दोनोंमें साध्यसाधन भाव बतलाया है।

इसकी टीकामें कहा है—व्यवहार मोक्षमार्गके साध्यरूपसे निश्चय मोक्षमार्गका यह कथन है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे समाहित हुआ आत्मा ही जीव स्वभावमें नियत चारित्र रूप होने से निश्चयसे मोक्षमार्ग है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यह आत्मा किसी प्रकार अनादि अविद्याके विनाशसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करता हुआ धर्मादि तत्त्वार्थका अश्रद्धान, अंगपूर्वगत पदार्थ सम्बन्धी अज्ञान और अतपमें चेष्टाका त्याग तथा धर्मादि तत्त्वार्थका श्रद्धान, अंग पूर्वगत अर्थका ज्ञान और तपमें चेष्टाका उपादान करनेके लिए अपने परिणाम करता है। किसी कारणसे यदि उपादेयका त्याग और त्यागने योग्यका ग्रहण हो जाता है तो उसका प्रतीकार करता है। ऐसा करते हुए विशिष्ट भावनाके सौष्ठवके कारण स्वभावभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके साथ अंग और अङ्गिभावरूप परिणतिके साथ एकमेक होकर त्याग और उपादानके विकल्पसे शून्य होनेसे परिणामोंके व्यापारके रुक जाने पर यह आत्मा निश्चल हो जाता है। उस समयमें यह ही आत्मा तीन स्वभावमें नियत चारित्र रूप होनेसे निश्चय मोक्षमार्ग कहा जाता है। इस लिए निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गमें साध्य-साधन भाव अत्यन्त घटित होता है ॥९१॥

१. रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगस्य सोऽयमपराधः ॥

अथ निश्चयरत्नत्रयं केन साध्यत इत्याह—

उद्द्योतोद्द्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजन् ।
भव्यो मुक्तिपथं भाक्तं साधयत्येव वास्तवम् ॥९२॥

उद्यवः—उत्कृष्टं मिश्रणम् । भाक्तं—व्यावहारिकम् ॥९२॥

अथ व्यवहाररत्नत्रयं लक्षयति—

श्रद्धानं पुरुषादितत्त्वविषयं सद्दर्शनं बोधनं
सज्ज्ञानं कृतकारितानुमतिभिर्योगैरवद्योज्झनम् ।
तत्पूर्वं व्यवहारतः सुचरितं तान्येव रत्नत्रयं
तस्याविर्भवनार्थमेव च भवेदिच्छानिरोधस्तपः ॥९३॥

निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति किससे होती है यह कहते हैं—

उद्योत, उद्यव, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरणके द्वारा भेदरूप व्यवहार मोक्षमार्गका आराधना करनेवाला भव्य पुरुष पारमार्थिक मोक्षमार्गको नियमसे प्राप्त करता है ॥९२॥

आगे व्यवहार रत्नत्रयको कहते हैं—

व्यवहार नयसे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नौ पदार्थोंका जैसा इनका परमार्थस्वरूप है वैसा ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, जानना सम्यग्ज्ञान है तथा मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे हिंसा आदि पाँच पापोंका सम्यग्ज्ञानपूर्वक छोड़ना सम्यक्चारित्र है। इन्हीं तीनोंको रत्नत्रय कहते हैं। उसी रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए इन्द्रिय और मनके द्वारा होने वाली विषयोंकी चाहको रोकना तप है ॥९३॥

विशेषार्थ—जिसके द्वारा विधिपूर्वक विभाग किया जाये उसे व्यवहार नय या अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। यह नय अभेद रूप वस्तुको भेदरूप ग्रहण करता है। इसका उपयोग अज्ञानी जनोंको समझानेके लिए किया जाता है। क्योंकि वस्तुका यथार्थ स्वरूप वचनके द्वारा नहीं कहा जा सकता। व्यवहारनयका आश्रय लेकर ही उसे वचनके द्वारा कहा जा सकता है। और वैसा करने पर गुणों और पर्यायोंके विस्तारसे उसकी सैकड़ों शाखाएँ फैलती जाती हैं। इस तरह व्यवहारनयके आश्रयसे ही प्राथमिक पुरुष मुख्य और उपचार कथनको जानकर शुद्ध स्वरूपको अपनाते हैं इस दृष्टिसे व्यवहार भी पूज्य है[1]।

'जैसे लोग आत्मा कहनेसे नहीं समझते। किन्तु जब व्यवहार नयका आश्रय लेकर कहा जाता है कि दर्शन ज्ञान और चारित्रवाला आत्मा होता है तो समझ जाते हैं। किन्तु ये तीनों परमार्थसे एक आत्मा ही हैं, कोई अन्य वस्तु नहीं है। जैसे देवदत्तका ज्ञान श्रद्धान

---

१ तत्त्व वागतिवर्ति व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम् ।
गुणपर्यायादिविवृत्ते. प्रसरति तच्चापि शतशाखम् ॥
मुख्योपचारविवृतिं व्यवहारोपायतो यत' सन्तः ।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्ध तत्त्वमिति व्यवहृति. पूज्या ॥ —पद्म. पञ्च. ११।१०-११ ।

योगैः—मनोवाक्कायव्यापारैः। तैः प्रत्येकं कृतादित्रयेण अवद्योज्झनम् इति योज्यम्। तस्येत्यादि। 'रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तप इति ह्यागमः। ॥९३॥

अथ श्रद्धानादित्रयसमुदायेनैव भावितं हेयमुपादेयं च तत्त्वं रसायनौषधमिव समीहितसिद्धये स्यान्नान्यथेति प्रथयति—

श्रद्धानबोधानुष्ठानैस्तत्त्वमिष्टार्थसिद्धिकृत्।
समस्तैरेव न व्यस्तै रसायनमिवौषधम् ॥९४॥

और चारित्र देवदत्त रूप ही है। उससे भिन्न वस्तु नहीं है। उसी प्रकार आत्माका ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र आत्मरूप ही है भिन्न वस्तु नहीं है। अतः व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि साधुको नित्य दर्शन ज्ञान और चारित्रकी आराधना करना चाहिए। किन्तु परमार्थसे तीनों आत्मरूप ही है। इसी तरह निश्चयसे आत्माके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं और व्यवहारसे जीव आदि नौ पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ये नौ पदार्थ व्यवहारकी प्रवृत्तिके लिए व्यवहार नयसे कहे गये हैं क्योंकि जीव और अजीवके मेलसे ये नौ तत्त्व बनते है। एकके ही नहीं बन सकते। बाह्य दृष्टिसे देखने पर जीव और पुद्गलकी अनादि बन्ध पर्यायको लेकर उनमें एकपने का अनुभव करने पर तो ये नौ तत्त्व सत्यार्थ है। किन्तु एक जीव द्रव्यके ही स्वभावको लेकर देखने पर असत्यार्थ हैं क्योंकि जीवके एकाकार स्वरूपमें ये नहीं हैं। अन्तर्दृष्टिसे देखने पर ज्ञायक भाव जीव है, जीवके विकारका कारण अजीव है, पुण्य-पाप, आस्रव बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये अकेले जीवके विकार नहीं हैं किन्तु अजीवके विकारसे जीवके विकारके कारण हैं। जीवके स्वभावको अलग करके स्वपरनिमित्तक एक द्रव्यपर्याय रूपसे अनुभव करके इन तत्त्वोंका श्रद्धान करना व्यवहारनयसे या व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसी तरह इनका जानना सम्यक्ज्ञान है।

मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापोंका त्याग करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है। अर्थात् मनसे करने-कराने और अनुमोदना करनेका त्याग, इसी तरह वचनसे और कायसे भी हिंसादि पापोंके करने-कराने और अनुमोदनाका त्याग होना चाहिए। यद्यपि ये बाह्यत्याग प्रतीत होता है इसलिए इसे व्यवहार नाम दिया है तथापि इसका लक्ष्य है आत्माको राग-द्वेषसे निवृत्त करना। राग द्वेषवश ही पापकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्तिको रोकनेसे रागद्वेषकी निवृत्तिमें सहायता मिलती है। यद्यपि तप चारित्रमें ही अन्तर्भूत है तथापि आराधनामें तपको अलग गिनाया है। इसलिए तपका लक्षण भी कहा है। तप रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए किया जाता है। आगममें कहा है कि रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए विषयोंकी इच्छाको रोकना तप है ॥९३॥

आगे कहते हैं कि जैसे श्रद्धा ज्ञान और आचरणपूर्वक ही रसायन औषध इष्टफलदायक होती है इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायपूर्वक किया गया हेय और उपादेय तत्त्वका चिन्तन ही इष्टसिद्धिकारक होता है अन्यथा नहीं—

जैसे रसायन औषधके श्रद्धानमात्र या ज्ञानमात्र या आचरणमात्रसे इष्टार्थ-दीर्घ आयु आदिकी सिद्धि नहीं होती किन्तु रसायनके ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक आचरण करनेसे ही होती

इष्टार्थः—अभ्युदयमोक्षौ दीर्घायुरादिश्च । तथा चोक्तम्—

दीर्घमायुः स्मृतिर्मेधा आरोग्यं तरुणं वयः ।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम् ॥
वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीना रसायनम् ॥ [ ]

न व्यस्तै. । उक्तं च—

ज्ञानादवगमोऽर्थानां न तत्कार्यसमागमः ।
तर्षापकर्षपोषि स्याद् दृष्टमेवान्यथा पय. ॥
[सोम उपा. २०]

[1]ज्ञानहीने—

श्रद्धानगन्धसिन्धुरमदुष्टमुद्यदवगममहामात्रम् ।
धीरो व्रतबलपरिवृतमारूढोऽरीन् जयेत् प्रणिधिहेत्या ॥९५॥

है । वैसे ही श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान इन तीनोंके समुदायके साथ ही तत्त्व अभ्युदय और मोक्षदायक होता है मात्र दर्शन या ज्ञान या चारित्र अथवा इनमेंसे किन्हीं दो के भी होने पर इष्ट अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥९४॥

आगे कहते हैं कि व्यवहारमार्ग पर चलनेवालेको समाधि रूप निश्चय मार्गके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंको परास्त करना चाहिए—

जैसे धीर-वीर योद्धा, कुशल पीलवानके द्वारा नियन्त्रित गन्धहस्तीपर चढ़कर, सेनाके साथ, शस्त्रसे शत्रुओंको जीतता है वैसे ही धीर मुमुक्षु भी उत्तम ज्ञानरूपी पीलवानके साथ निर्दोष सम्यग्दर्शनरूपी गन्धहस्ती पर आरूढ़ होकर व्रतरूपी सेनासे घिरा हुआ समाधिरूपी शस्त्रके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंको जीतता है ॥९५॥

विशेषार्थ—यहाँ निर्दोष सम्यग्दर्शनको गन्धहस्तीकी उपमा दी है । गन्धहस्ती अपने पक्षको बल देता है और परपक्षको नष्ट करता है । निर्दोष सम्यग्दर्शन भी आत्माकी शक्तिको बढ़ाता है और कर्मोंकी शक्तिको क्षीण करता है । ज्ञानको पीलवानकी उपमा दी है । कुशल पीलवानके बिना गन्धहस्तीका नियन्त्रण सम्भव नहीं है । इसी तरह श्रद्धानके साथ आत्मज्ञानका होना आवश्यक है । तथा व्रतोंको सेनाकी उपमा दी है । सेनाके बिना अकेला वीर शत्रुको परास्त नहीं कर सकता । इसी तरह बिना चारित्रके अकेले सम्यग्दर्शनसे भी कर्मोंको नहीं जीता जा सकता । किन्तु इन सबके सिवा भी अत्यन्त आवश्यक शस्त्र है समाधि—आत्मध्यान, आत्माकी निर्विकल्प रूप अवस्था हुए बिना व्रतादिसे भी कर्मोंसे मुक्ति नहीं मिलती । यह ध्यानमें रखना चाहिए कि चारित्रमें जितना भी प्रवृत्तिमूलक अंश है वह सब बन्धका कारण है केवल निवृत्ति रूप अंश ही बन्धका रोधक और घातक है । अतः आत्माभिमुख होना ही श्रेयस्कर है । अपनी ओर प्रवृत्ति और बाह्य ओर निवृत्ति ही चारित्र है किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना यह सम्भव नहीं ॥९५॥

---

१. द्वादशं पत्रं नास्ति मूलप्रतौ ।

दृष्ट्यादीनां मलनिरसनं द्योतनं तेषु शश्वद्
वृत्तिः स्वस्योद्यवनमुदितं धारणं निस्पृहस्य ।
निर्वाहः स्याद् भवभयभृतः पूर्णता सिद्धिरेषां
निस्तीर्णिस्तु स्थिरमपि तटप्रापणं कृच्छ्रपाते ॥९६॥

शङ्कादयो मला दृष्टेर्व्यत्यासानिश्चयौ मतेः ।
वृत्तस्य भावनात्यागस्तपसः स्यादसंयमः ॥९७॥

अब उद्योत आदिका लक्षण कहते हैं—

अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपके दोषोंको दूर करके उन्हें निर्मल करनेको आचार्योंने उद्योतन कहा है। तथा उनमें सदा अपनेको एकमेक रूपसे वर्तन करना उद्यवन है। लाभ, पूजा, ख्याति आदिकी अपेक्षा न करके निस्पृह भावसे उन सम्यग्दर्शन आदिको निराकुलता पूर्वक वहन करना धारणा है। संसारसे भयभीत अपनी आत्मामें इन सम्यग्दर्शनादिको पूर्ण करना सिद्धि है। तथा परीषह उपसर्ग आने पर भी स्थिर रहकर अपनेको मरणान्त तक ले जाना अर्थात् समाधिपूर्वक मरण करना निस्तरण है ॥९६॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरणको आराधना कहते हैं।

शंका आदि दोषोंको दूर करना उद्योतन है यह सम्यक्त्वकी आराधना है। शास्त्रमें निरूपित वस्तुके विषयमें 'क्या ऐसा है या नहीं है' इस प्रकार उत्पन्न हुई शंकाका, जिसे सन्देह भी कहते हैं, युक्ति और आगमके बलसे दूर करके 'यह ऐसे ही है' ऐसा निश्चय करना उद्योतन है। निश्चय संशयका विरोधी है। निश्चय होनेपर संशय नहीं रहता। निश्चय न होना अथवा विपरीत ज्ञान होना ज्ञानका मल है। जब निश्चय होता है तो अनिश्चय नहीं रहता तथा यथार्थ ज्ञान होनेसे विपरीतता चली जाती है यह ज्ञानका उद्योतन है। भावनाका न होना चारित्रका मल है। व्रतादिकी भावनाओंमें लगना चारित्रका उद्योतन है। असंयमरूप परिणाम होना तपका दोष है। उसको दूर करके संयमकी भावना तपका उद्योतन है। उत्कृष्ट यवनको उद्यवन कहते हैं। आत्माका निरन्तर सम्यग्दर्शनादि रूपसे परिणमन उद्यवन है। निराकुलता पूर्वक वहन अर्थात् धारण करनेको निर्वहण कहते हैं। परीषह आदि आनेपर भी आकुलताके बिना सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणति रहना निर्वहण है। अन्य ओर उपयोगके लगनेसे लुप्त हुए सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामोंको उत्पन्न करना साधन है। सम्यग्दर्शन आदिको आगामी भवमें भी ले जाना निस्तरण है। इस तरह आराधना शब्दके अनेक अर्थ हैं। जब जहाँ जो अर्थ उपयुक्त हो वहाँ वह लेना चाहिए ॥९६॥

आगे सम्यग्दर्शन आदिके मलोंको कहते हैं—

सम्यग्दर्शनके मल शंका आदि हैं। ज्ञानके मल विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय हैं। चारित्रका मल प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाओंका त्याग है। तपका मल प्राणियों और इन्द्रियोंके विषयमें संयमका अभाव है ॥९७॥

---

१. उज्जोयणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिया ॥—भ. आरा. २

वृत्तिर्जातसुदृष्ट्याद्यैस्तद्गतातिशयेषु या ।
उद्योतादिषु सा तेषां भक्तिराराधनोच्यते ॥९८॥

व्यवहारमभूतार्थं प्रायो भूतार्थविमुखजनमोहात् ।
केवलमुपयुञ्जानो व्यञ्जनवद् भ्रश्यति स्वार्थात् ॥९९॥

पहले श्लोक ९२ मे उद्योतन आदिके द्वारा मोक्षमार्गका आराधना करना कहा था। भक्ति भी आराधना है अतः उसका लक्षण कहते हैं—

जिसको सम्यग्दर्शन आदि परिणाम उत्पन्न हो गये हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुषकी सम्यग्दर्शन आदिमें पाये जानेवाले उद्योतन आदि रूप अतिशयोंमें जो प्रवृत्ति होती है उसे सम्यग्दर्शनादिकी भक्ति कहते हैं। उसीका नाम आराधना है ॥९८॥

निश्चयनयसे निरपेक्ष व्यवहारनयका विषय असत् है। अतः निश्चय निरपेक्ष व्यवहारका उपयोग करनेपर स्वार्थका विनाश ही होता है यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

व्यंजन ककार आदि अक्षरोंको भी कहते हैं और दाल-शाक वगैरहको भी कहते हैं। जैसे स्वर रहित व्यंजनका उच्चारण करनेवाला अपनी बात दूसरेको नहीं समझा सकता अतः स्वार्थसे भ्रष्ट होता है या जैसे घी, चावल आदिके बिना केवल दाल-शाक खानेवाला स्वस्थ नहीं रह सकता अतः वह स्वार्थ-पुष्टिसे भ्रष्ट होता है। वैसे ही निश्चयनयसे विमुख बहिर्दृष्टिवाले मनुष्योंके सम्पर्कसे होनेवाले अज्ञानवश अधिकतर अभूतार्थ व्यवहारकी ही भावना करनेवाला अपने मोक्षसुखरूपी स्वार्थसे भ्रष्ट होता है—कभी भी मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता ॥९९॥

विशेषार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने[1] व्यवहारनयको अभूतार्थ और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है। तथा जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है वह सम्यग्दृष्टी होता है। आचार्य अमृतचन्द्र[2] भी निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहते हैं। तथा कहते हैं कि प्राय. सभी संसार भूतार्थके ज्ञानसे विमुख है—भूतार्थको नहीं जानता। भूतार्थको नहीं जाननेवाले बाह्यदृष्टि लोगोंके सम्पर्कसे ही अज्ञानवश व्यवहारको ही यथार्थ मानकर उसीमें उलझे रह जाते हैं। भूतार्थका मतलब है भूत अर्थात् पदार्थोंमें रहनेवाला अर्थ अर्थात् भाव, उसे जो प्रकाशित करता है उसे भूतार्थ कहते हैं। जैसे जीव और पुद्गलमें अनादि कालसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। दोनों मिले-जुले एक जैसे प्रतीत होते हैं। किन्तु निश्चयनय आत्मद्रव्यको शरीर आदि परद्रव्योंसे भिन्न ही प्रकट करता है। और मुक्ति दशामें वह भिन्नता स्पष्ट रूपसे प्रकट हो जाती है। इसलिए निश्चयनय सत्यार्थ या भूतार्थ है। तथा अभूतार्थका मतलब है पदार्थोंमे न होनेवाला भाव। उसे जो कहे वह अभूतार्थ है। जैसे जीव और पुद्गलका अस्तित्व भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न हैं। फिर भी एक-क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होनेसे आत्मद्रव्य और शरीर आदि परद्रव्यको एक कहा जाता है।

१. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥—समय., ११

२. निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुख. प्रायः सर्वोऽपि संसार. ॥—पुरुषार्थ., ५

अतः व्यवहारनय असत्यार्थ है। आशय यह है कि जीवके परिणाम निश्चयनयके श्रद्धानसे विमुख होकर शरीर आदि परद्रव्योंके साथ एकत्व श्रद्धान रूप होकर जो प्रवृत्ति करते हैं उसीका नाम संसार है। उस संसारसे जो मुक्त होना चाहते हैं उन्हें निश्चयनयसे विमुख नहीं होना चाहिए। जैसे बहुत-से मनुष्य वर्षाऋतुमें नदीके मैले जलको ही पीते हैं। किन्तु जो समझदार होते हैं वे पानीमें निर्मली डालकर मिट्टीसे जलको पृथक् करके निर्मल जल पीते हैं। इसी तरह अधिकांश अज्ञानीजन कर्मसे आच्छादित अशुद्ध आत्माका ही अनुभव करते हैं। किन्तु कोई एक ज्ञानी अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चयनयके स्वरूपको जानकर कर्म और आत्माको जुदा-जुदा करता है तब निर्मल आत्माका स्वभाव ऐसा प्रकट होता है कि उसमें निर्मल जलकी तरह अपना चैतन्य स्वरूप झलकता है। उस स्वरूपका वह आस्वादन लेता है। अतः निश्चयनय निर्मलीके समान है उसके श्रद्धानसे सर्वसिद्धि होती है। किन्तु अनादि कालसे अज्ञानमें पड़ा हुआ जीव व्यवहारनयके उपदेशके बिना समझता नहीं, अतः आचार्य व्यवहारनयके द्वारा उसे समझाते हैं कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है, किन्तु वह कर्मजनित पर्यायसे संयुक्त है अतः व्यवहारसे उसे देव मनुष्य आदि कहते हैं। किन्तु अज्ञानी उसे देव मनुष्य आदि स्वरूप ही जानता और मानता है। अतः यदि उसे देव मनुष्य आदि नामोंसे समझाया जाये तब तो समझता है। किन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा कहनेसे समझता है कि यह कोई अलग परमेश्वर है। निश्चयसे तो आत्मा चैतन्य स्वरूप ही है। परन्तु अज्ञानीको समझानेके लिए गति, जाति आदिके द्वारा आत्माका कथन किया जाता है। अतः अज्ञानी जीवोंको समझानेके लिए व्यवहारका उपदेश है। किन्तु जो केवल व्यवहारकी ही श्रद्धा करके उसीमें रमता है वह अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माके श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप निश्चय मोक्षमार्गसे विमुख हो, व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका साधन करके अपनेको मोक्षका अधिकारी मानता है। अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयाधर्मका श्रद्धान करके अपनेको सम्यग्दृष्टि मानता है, थोड़ा-सा शास्त्र स्वाध्याय करके अपनेको ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि धारण करके अपनेको चारित्रवान् मानता है। इस तरह वह शुभोपयोगमें सन्तुष्ट रहता है, शुद्धोपयोग रूप मोक्षमार्गमें प्रमादी रहता है। आचार्य कुन्दकुन्दने शुभोपयोगी मुनिके लिए कहा है कि रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणोंकी वैयावृत्यके लिए लौकिक जनोंके साथ शुभोपयोगसे युक्त वार्तालाप करना निन्दनीय नहीं है।

किन्तु जब कोई मुनि रोगी आदि श्रमणोंकी सेवामें संलग्न होकर लौकिक जनोंके साथ बातचीतमें अत्यन्त लगा रहता है तो वह साधु ध्यान आदिमें प्रमादी होकर स्वार्थसे डिग जाता है। अतः शुभोपयोगी श्रमणको भी शुद्धात्मपरिणतिसे शून्य सामान्य जनोंके साथ व्यर्थ वार्तालाप करना भी निषिद्ध है। अतः भूतार्थसे विमुख जनोंके संसर्गसे भी बचना चाहिए ॥९९॥

जैसे निश्चयसे शून्य व्यवहार व्यर्थ है वैसे ही व्यवहारके बिना निश्चय भी सिद्ध नहीं होता यह व्यतिरेक द्वारा कहते हैं—

१. वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥—प्रवचनसार, गा० २५३

व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति ।
बीजादिना विना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति ॥१००॥

भूतार्थं रज्जुवत्स्वैरं विहर्तुं वंशवन्मुहुः ।
श्रेयो धीरैरभूतार्थो हेयस्तद्विहृतीश्वरैः ॥१०१॥

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये ।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१०२॥

जो व्यवहारसे विमुख होकर निश्चयको करना चाहता है वह मूढ बीज, खेत, पानी आदिके बिना ही वृक्ष आदि फलोंको उत्पन्न करना चाहता है ॥१००॥

विशेषार्थ—यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि वह सर्वथा निषिद्ध नहीं है। अमृतचन्द्राचार्यने कहा है—

'केषांचित् कदाचित् सोऽपि प्रयोजनवान्'

किन्हीं को किसी कालमें व्यवहारनय भी प्रयोजनीय है, अर्थात् जबतक यथार्थ ज्ञान श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई तबतक जिनवचनोंका सुनना, धारण करना, जिनदेवकी भक्ति, जिनबिम्बका दर्शन आदि व्यवहार मार्गमें लगना प्रयोजनीय है। इसी तरह अणुव्रत महाव्रतका पालन, समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठीका ध्यान, तथा उसका पालन करनेवालोंकी संगति, शास्त्राभ्यास आदि व्यवहार मार्गमें स्वयं प्रवृत्ति करना, दूसरोंको प्रवृत्त करना प्रयोजनीय है। व्यवहार नयको सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ देनेसे तो शुभोपयोग भी छूट जायेगा और तब शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति न होनेसे अशुभोपयोगमें प्रवृत्ति करके संसारमें ही भ्रमण करना पड़ेगा। इसलिए जबतक शुद्धनयके विषयभूत शुद्धात्माकी प्राप्ति न हो तबतक व्यवहारनय भी प्रयोजनीय है। कहा भी है—

"यद्यपि प्रथम पदवीमें पैर रखनेवालोंके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्ब रूप है। फिर भी जो पुरुष परद्रव्यके भावोंसे रहित चैतन्य चमत्कार मात्र परम अर्थको अन्तरंगमें देखते हैं उनके लिए व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनीय नहीं है।"[1]

आगे व्यवहारके अवलम्बन और त्यागकी अवधि कहते हैं—

जैसे नट रस्सीपर स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करने के लिए बारम्बार बाँसका सहारा लेते हैं और उसमें दक्ष हो जानेपर बाँसका सहारा लेना छोड़ देते हैं वैसे ही धीर मुमुक्षुको निश्चयनयमें निरालम्बनपूर्वक विहार करनेके लिए बार-बार व्यवहारनयका आलम्बन लेना चाहिए तथा उसमें समर्थ हो जानेपर व्यवहारका आलम्बन छोड़ देना चाहिए ॥१०१॥

आगे व्यवहार और निश्चयका लक्षण कहते हैं—

जो निश्चयकी प्राप्तिके लिए कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंको जीव आदि वस्तुसे भिन्न बतलाता है वह व्यवहारनय है। और कर्ता आदिको वस्तुसे अभिन्न देखनेवाला निश्चयनय है ॥१०२॥

---

१. व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित् ।—सम. कल., श्लो. ५

विशेषार्थ—आचार्य अमृतचन्द्रजीने निश्चयनयको आत्माश्रित तथा शुद्ध द्रव्यका निरूपक कहा है और व्यवहारनयको पराश्रित तथा अशुद्ध द्रव्यका निरूपक कहा है। परके संयोगसे द्रव्यमें अशुद्धता आती है उसको लेकर जो वस्तुका कथन करता है वह व्यवहारनय है। ससारी जीवका स्वरूप व्यवहारनयका विषय है। जैसे, ससारी जीव चार गतिवाला है, पाँच इन्द्रियोंवाला है मन वचन-कायवाला है आदि। ये सब उसकी अशुद्ध दशाका ही कथन है जो पराश्रित है। जीव शुद्ध-बुद्ध परमात्मस्वरूप है यह शुद्ध द्रव्यका निरूपक निश्चय नय है। शुद्ध दशा आत्माश्रित होती है किन्तु परद्रव्यके सम्पर्कसे ही अशुद्धता नहीं आती, अखण्ड एक वस्तुमें कथन द्वारा भेद करनेसे भी अशुद्धता आती है। अत आत्मामे दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं ऐसा कथन भी व्यवहारनयका विषय है क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक एक धर्मी रूप है। किन्तु व्यवहारी पुरुष धर्मोंको तो समझते हैं एकधर्मीको नहीं समझते। अत उन्हें समझानेके लिए अभेद रूप वस्तुमे भेद उत्पन्न करके कहा जाता है कि आत्मामे ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है। अभेदमे भेद करनेसे यह व्यवहार है परमार्थसे तो अनन्त धर्मोंको पिये हुए एक अभेद रूप द्रव्य है। अत जो अभेद रूपसे वस्तुका निश्चय करता है वह निश्चयनय है और जो भेद रूपसे वस्तुका व्यवहार करता है वह व्यवहारनय है। इसीको दृष्टिमे रखकर ऐसा भी कहा गया है कि निश्चयनय कर्ता, कर्म आदिको अभिन्न ग्रहण करता है अर्थात् निश्चय कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणको भिन्न नहीं मानता और व्यवहार इन्हें भिन्न मानता है। जो स्वतन्त्रतापूर्वक अपने परिणामको करता है वह कर्ता है। कर्ताका जो परिणाम है वह उसका कर्म है। उस परिणामका जो साधकतम है वह करण है। कर्म जिसके लिए किया जाता है उसे सम्प्रदान कहते हैं। जिसमें से कर्म किया जाता है उस ध्रुव वस्तुको अपादान कहते हैं। कर्मके आधारको अधिकरण कहते हैं। ये छह कारक निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारके हैं। जहाँ परके निमित्तसे कार्यकी सिद्धि मानी जाती है वहाँ व्यवहार कारक हैं और जहाँ अपने ही उपादानसे कार्यकी सिद्धि कही जाती है वहाँ निश्चय कारक हैं। जैसे कुम्हार कर्ता है, घडा कर्म है, दण्ड आदि करण हैं, जल भरनेवालेके लिए घड़ा बनाया गया अत जल भरनेवाला मनुष्य सम्प्रदान है। टोकरी में-से मिट्टी लेकर घड़ा बनाया अत टोकरी अपादान है और पृथ्वी अधिकरण है। यहाँ सब कारक एक दूसरे से जुदे-जुदे है। यह व्यवहारनयका विषय है किन्तु निश्चयनयसे एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य के साथ कारक सम्बन्ध नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसार गाथा १६ की टीकामे तथा पञ्चास्तिकाय गाथा ६२ की टीकामे किया है। प्रवचनसारमें आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने आत्माको स्वयम्भू कहा है। स्वयम्भूका अर्थ है 'स्वयमेव हुआ'। इसका व्याख्यान करते हुए अमृतचन्द्रजीने लिखा है—शुद्ध अनन्त शक्ति युक्त ज्ञायक स्वभाव के कारण स्वतन्त्र होनेसे यह आत्मा स्वयं कर्ता है। शुद्ध अनन्तशक्ति-युक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वय ही प्राप्य होनेसे कर्म है। शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वय ही साधकतम होनेसे करण है। शुद्ध अनन्तशक्ति युक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वय ही कर्म द्वारा समाश्रित होनेसे सम्प्रदान है। शुद्ध अनन्त शक्ति युक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके समय पूर्वमें वर्तमान मतिज्ञान आदि विकल ज्ञान स्वभावका नाश होनेपर भी सहज ज्ञान स्वभावमें ध्रुव होनेसे अपादान है। तथा शुद्ध अनन्त शक्ति युक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके

सर्वेऽपि शुद्धबुद्धैकस्वभावाश्चेतना इति।
शुद्धोऽशुद्धश्च रागाद्या एवात्मेत्यस्ति निश्चयः ॥१०३॥

स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे अधिकरण है। इस प्रकार आत्मा स्वयं ही षट्कारक रूप होनेसे स्वयम्भू है।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ में कहा है कि निश्चयनयसे अभिन्न कारक होनेसे कर्म और जीव स्वयं ही अपने-अपने स्वरूपके कर्ता हैं। इसका व्याख्यान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है—कर्मरूपसे प्रवर्तमान पुद्गल स्कन्ध ही कर्म रूप होता है अतः वही कर्ता है। स्वयं द्रव्य कर्म रूप परिणमित होनेकी शक्तिवाला होनेसे पुद्गल ही करण है। द्रव्य कर्मसे अभिन्न होनेसे पुद्गल स्वयं ही कर्म है। अपनेमें-से पूर्व परिणामका व्यय करके द्रव्य रूप कर्म-परिणामका कर्ता होनेसे तथा पुद्गल द्रव्य रूप ध्रुव होनेसे पुद्गल स्वय ही अपादान है। अपने को द्रव्य कर्म रूप परिणाम देनेसे पुद्गल स्वयं ही सम्प्रदान है। द्रव्य कर्म रूप परिणामका स्वयं ही आधार होनेसे पुद्गल स्वयं ही अधिकरण है। इसी तरह जीव स्वतन्त्र रूपसे जीव-भावका कर्ता होनेसे स्वयं ही कर्ता है। स्वयं जीवभाव रूपसे परिणमित होनेकी शक्तिवाला होनेसे जीव ही करण है। जीवभावसे स्वयं अभिन्न होनेसे स्वयं ही कर्म है। अपनेमें-से पूर्व जीवभावका व्यय करके नवीन जीवभावको करनेसे तथा जीव द्रव्य रूपसे ध्रुव रहनेसे स्वयं ही अपादान है। अपनेको ही जीवभावका दाता होनेसे जीव स्वयं ही सम्प्रदान है। स्वयं ही अपना आधार होनेसे जीव स्वयं ही अधिकरण है। इस तरह जीव और पुद्गल स्वयं ही छह कारक रूपसे प्रवृत्त होनेसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं करते। यह निश्चयनयकी दृष्टि है ॥१०२॥

शुद्ध और अशुद्धके भेदसे निश्चयके दो भेद हैं। इन दोनोंका स्वरूप कहते हैं—

सभी जीव, संसारी भी और मुक्त भी एक शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाले हैं यह शुद्ध निश्चयनयका स्वरूप है। तथा राग-द्वेष आदि परिणाम ही आत्मा है यह अशुद्ध निश्चयनय है ॥१०३॥

विशेषार्थ—अध्यात्मके प्रतिष्ठाता आचार्य कुन्दकुन्दने निश्चयनय के लिए शुद्ध शब्दका प्रयोग तो किया है किन्तु निश्चयनयके शुद्ध-अशुद्ध भेद नहीं किये। उनकी दृष्टिमें शुद्धनय निश्चयनय है और व्यवहारनय अशुद्ध नय है। कुन्दकुन्दके आद्य व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्रने भी उन्हींका अनुसरण किया है। उन्होंने भी निश्चय और व्यवहारके किन्हीं अवान्तर भेदों का निर्देश नहीं किया। ये अवान्तर भेद आलाप पद्धतिमें, नयचक्रमें, ब्रह्मदेवजी तथा जयसेनाचार्यकी टीकाओंमें मिलते हैं।

समयसार गाथा ५६ में वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त भावोंको व्यवहारनयसे जीवका कहा है। तथा गाथा ५७ में उनके साथ जीवका दूध-पानीकी तरह सम्बन्ध कहा है। इसकी टीकामें आचार्य जयसेनने यह शंका उठायी है कि वर्ण आदि तो बहिरंग हैं उनके साथ व्यवहारनयसे जीवका दूध-पानीकी तरह सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु रागादि तो अभ्यन्तर हैं उनके साथ जीवका सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनयसे कहना चाहिए? उत्तरमें कहा है कि ऐसा नहीं है, द्रव्य कर्मबन्धको असद्भूत व्यवहारनयसे जीव कहा जाता है उसकी अपेक्षा तारतम्य बतलानेके लिए रागादिको अशुद्ध निश्चयनयसे जीव कहा जाता है। वास्तवमें तो शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहारनय ही है। इस तरह जयसेन-

सद्भूतेतरभेदाद् व्यवहारः स्याद् द्विधा भिदुपचारः।
गुणगुणिनोरभिदायामपि सद्भूतो विपर्ययादितरः ॥१०४॥

सद्भूतः शुद्धेतरभेदाद् द्वेधा तु चेतनस्य गुणाः।
केवलबोधादय इति शुद्धोऽनुपचरितसंज्ञोऽसौ ॥१०५॥

मत्यादिविभावगुणाश्चित इत्युपचरितकः स चाशुद्धः।
देहो मदीय इत्यनुपचरितसंज्ञस्त्वसद्भूतः ॥१०६॥

जीने स्पष्ट किया है। ब्रह्मदेवजीने द्रव्यसंग्रह गाथा तीनकी टीकाके अन्तमें अध्यात्म भाषाके द्वारा संक्षेपसे छह नयोंका लक्षण इस प्रकार कहा है—सभी जीव एक शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाले हैं यह शुद्ध निश्चयनयका लक्षण है। रागादि ही जीव हैं यह अशुद्ध निश्चय नयका लक्षण है। गुण और गुणीमें अभेद होनेपर भी भेद का उपचार करना सद्भूत व्यवहारनयका लक्षण है। भेद होनेपर भी अभेदका उपचार करना असद्भूत-व्यवहार नयका लक्षण है। यथा—जीवके केवलज्ञानादि गुण हैं यह अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहार नयका लक्षण है। जीवके मतिज्ञान आदि वैभाविक गुण हैं यह उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नयका लक्षण है। संश्लेष सम्बन्ध सहित पदार्थ शरीर आदि मेरे हैं यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जिनके साथ संश्लेष-सम्बन्ध नहीं है ऐसे पुत्र आदि मेरे हैं यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण है। यह नयचक्रके मूलभूत छह नयोंका लक्षण है। आलापपद्धतिके अन्तमें भी इन नयोंका ऐसा ही स्वरूप कहा है ॥१०३॥

व्यवहारनयके दो भेद हैं—सद्भूत और असद्भूत। इन दोनोंका उद्देश्यपूर्वक लक्षण कहते हैं—

सद्भूत और असद्भूतके भेदसे व्यवहारके दो भेद हैं। गुण और गुणीमें अभेद होनेपर भी भेदका उपचार करना सद्भूत व्यवहारनय है। और इससे विपरीत अर्थात् भेदमें भी अभेदका उपचार करना असद्भूत व्यवहारनय है ॥१०४॥

सद्भूत व्यवहारनयके भी दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध। इन दोनों भेदोंका नाम बतलाते हुए शुद्ध सद्भूत का उल्लेख तथा नामान्तर कहते हैं—

सद्भूत व्यवहारनय शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है। केवलज्ञान आदि जीवके गुण हैं यह अनुपचरित नामक शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है ॥१०५॥

विशेषार्थ—गुण और गुणी अभिन्न होते हैं। फिर भी जब उनका कथन किया जाता है तो उनमें अभेद होते हुए भेदका उपचार करना पड़ता है। जैसे जीवके केवलज्ञानादि गुण हैं। ये केवलज्ञान आदि जीव के शुद्ध गुण हैं और उपचरित नहीं हैं अनुपचरित हैं—वास्तविक हैं। अतः यह कथन अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयका विषय है।

आगेके श्लोकके पूर्वार्द्धमें अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनयका कथन और उत्तरार्द्धमें अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका कथन करते हैं—

मतिज्ञान आदि वैभाविक गुण जीवके हैं यह उपचरित नामक अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है। 'मेरा शरीर' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है ॥१०६॥

विशेषार्थ—बाह्य निमित्तको विभाव कहते हैं। जो गुण बाह्य निमित्तसे होते हैं उन्हें वैभाविक गुण कहते हैं। केवलज्ञान जीवका स्वाभाविक गुण है वह परकी सहायतासे नहीं

देशो मदीय इत्युपचरितसमाह्वः स एव चेत्युक्तम् ।
नयचक्रमूलभूतं नयषट्कं प्रवचनपटिष्ठैः ॥१०७॥

होता। किन्तु मतिज्ञानादि अपने प्रतिबन्धक मतिज्ञानावरणादिके क्षयोपशम तथा इन्द्रिय मन आदिकी अपेक्षासे होते हैं। ऐसे गुणोंको जीवका कहना उपचरित नामक अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि शुद्धकी संज्ञा अनुपचरित है और अशुद्धकी संज्ञा उपचरित है। आलापपद्धतिमें सद्भूत और असद्भूतके भेद उपचरित और अनुपचरित ही किये हैं। किन्तु ब्रह्मदेवजीने सद्भूतके शुद्ध और अशुद्ध भेद करके उनकी संज्ञा अनुपचरित और उपचरित दी है। उन्हींका अनुसरण आशाधरजीने किया है। अस्तु, 'मेरा शरीर' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयका कथन है, क्योंकि वस्तुतः शरीर तो पौद्गलिक है उसे अपना कहना असद्भूत व्यवहार है किन्तु शरीरके साथ जीवका संश्लेष सम्बन्ध है अत. उसे अनपचरित कहा है।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका कथन करके प्रकृत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

'मेरा देश' यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण कहा है। इस प्रकार अध्यात्म शास्त्रके रहस्यको जाननेवालोंने नयचक्रके मूलभूत छह नय कहे हैं ॥१०७॥

विशेषार्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान प्रमाण हैं। इनमें-से श्रुतज्ञानको छोड़कर शेष चारों ज्ञान स्वार्थ हैं, उनसे ज्ञाता स्वयं ही जानता है, दूसरोंको ज्ञान करानेमें असमर्थ है। श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो स्वार्थ भी है और परार्थ भी। उससे ज्ञाता स्वयं भी जानता है और दूसरोंको भी ज्ञान करा सकता है। ज्ञानके द्वारा स्वयं जानना होता है और वचनके द्वारा दूसरोंको ज्ञान कराया जाता है। अतः श्रुतज्ञान ज्ञानरूप भी होता है और वचनरूप भी होता है। उसीके भेद नय हैं। नय प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एक देशको जानता है। तथा मति, अवधि और मनःपर्ययके द्वारा जाने गये अर्थके एक देशमें नयोंकी प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि नय समस्त देशवर्ती और समस्त कालवर्ती अर्थको विषय करता है, किन्तु मति आदि ज्ञानका विषय सीमित है। केवलज्ञान यद्यपि त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती सभी पदार्थोंको जानता है किन्तु वह स्पष्ट है और नय अस्पष्टग्राही हैं। स्पष्टग्राही ज्ञानके भेद अस्पष्टग्राही नहीं हो सकते। किन्तु श्रुतके भेद होनेपर यह आपत्ति नहीं रहती [देखो—त. श्लोक वा., १।६]।

किसी भी वस्तुके विषयमें ज्ञाताका जो अभिप्राय है उसे नय कहते हैं। नयके भेद दो प्रकारसे मिलते हैं। आगम या सिद्धान्तमें नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात भेद कहे हैं। किन्तु अध्यात्ममें उक्त छह भेद कहे हैं। जिसका केन्द्रबिन्दु आत्मा है उसे अध्यात्म कहते है। अध्यात्म आत्माकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुका विचार करता है। अखण्ड अविनाशी आत्माका जो शुद्ध स्वरूप है वह शुद्ध निश्चय नयका विषय है और अशुद्ध स्वरूप अशुद्ध निश्चय नयका विषय है। आत्माके शुद्ध गुणोंको आत्माके कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका विषय है और आत्माके वैभाविक गुणोंको आत्माका कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। क्योंकि वे गुण आत्माके ही हैं इसलिए सद्भूत हुए। उन्हें आत्मासे भेद करके कहनेसे व्यवहार हुआ। शुद्ध गुण अनुपचरित है अशुद्धगुण उपचरित हैं। मेरा शरीर यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है। शरीरका जीवके साथ सम्बन्ध होनेसे इसे अनुपचारित कहा है। किन्तु शरीर तो जीव नहीं है इसलिए

अनेकान्तात्मकादर्थादपोद्धृत्याञ्जसाश्रयः ।
तत्प्राप्त्युपायमेकान्तं तदंशं व्यावहारिकम् ॥१०८॥
प्रकाशयन्न मिथ्या स्याच्छब्दात्तच्छास्त्रवत् स हि । ३
मिथ्याऽनपेक्षोऽनेकान्तक्षेपान्नान्यस्तदत्ययात् ॥१०९॥

असद्भूत कहा है। 'मेरा देश' यह उपचरित असद्भूत व्यवहार है क्योंकि देशके साथ तो संश्लेष रूप सम्बन्ध भी नहीं है फिर भी उसे अपना कहता है। इस नय विवक्षाके भेदसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्माका किसके साथ कैसा सम्बन्ध है? ऐसा होनेसे परमें आत्म-बुद्धिकी भावना छूट जाती है ॥१०७॥

दो श्लोकोंके द्वारा नयके मिथ्या होनेकी शंकाको दूर करते हैं—

वस्तु अनेकान्तात्मक है—परस्परमें विरोधी प्रतीत होनेवाले अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि अनेक धर्मवाली है। वह श्रुतज्ञानका विषय है। उस परमार्थ सत् अनेकान्तात्मक अर्थसे उसके एक धर्मको, जो प्रवृत्ति और निवृत्तिमें साधक हो तथा जिसके द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थका प्रकाशन किया जा सकता हो ऐसे एक धर्मको भेदविवक्षाके द्वारा पृथक् करके ग्रहण करनेवाला नय मिथ्या नहीं है। जैसे 'देवदत्त पकाता है' इस प्रकृति प्रत्यय विशिष्ट यथार्थ वाक्यसे उसके एक अंश प्रकृति प्रत्यय आदिको लेकर प्रकट करनेवाला व्याकरण शास्त्र मिथ्या नहीं है। हाँ, निरपेक्ष नय मिथ्या होता है क्योंकि वह अनेकान्तका घातक है। किन्तु सापेक्ष नय मिथ्या नहीं है क्योंकि वह अनेकान्त-का अनुसरण करता है ॥१०८-१०९॥

विशेषार्थ—जैनदर्शन स्याद्वादी या अनेकान्तवादी कहा जाता है। अन्य सब दर्शन एकान्तवादी हैं, क्योंकि वे वस्तुको या तो नित्य ही मानते हैं या अनित्य ही मानते हैं। एक ही मानते हैं या अनेक ही मानते हैं। उनकी समझमें यह बात नहीं आती कि एक ही वस्तु नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् आदि परस्पर विरोधी धर्मवाली कैसे हो सकती है। किन्तु जैनदर्शन युक्ति और तर्कसे एक ही वस्तुमें परस्पर विरोधी धर्मोंका अस्तित्व सिद्ध करता है। वह कहता है प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा सत् है, पररूपकी अपेक्षा असत् है, घट घट रूपसे सत् है, पटरूपसे असत् है। यदि घट पटरूपसे असत् न हो तो वह पटरूपसे सत कहा जायेगा और ऐसी स्थितिमें घट और पटका भेद ही समाप्त हो जायेगा। अतः वस्तुका वस्तुत्व दो बातोंपर स्थिर है, प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपको अपनाये हुए है और पररूपको नहीं अपनाये हुए है। इसीको कहा जाता है कि वस्तु स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् है। इसी तरह द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है। वस्तु न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्याय रूप है किन्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य होती हैं। अतः द्रव्यरूपसे वस्तु नित्य है, पर्यायरूपसे अनित्य है। द्रव्य एक होता है पर्याय अनेक होती हैं। अतः द्रव्यरूपसे वस्तु एक है, पर्यायरूपसे अनेक है। द्रव्य अभेदरूप होता है, पर्याय भेदरूप होती है। अतः द्रव्यरूपसे अभिन्न और पर्याय रूपसे भेदात्मक वस्तु है। इस तरह वस्तु अनेकान्तात्मक है। ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तुके एकधर्मको ग्रहण करनेवाला नय है। नयके द्वारा ग्रहण किया गया धर्म काल्पनिक नहीं होता, वास्तविक होता है तथा धर्म और धर्मीमें भेदकी विवक्षा करके उस एक धर्मको ग्रहण किया जाता है। उससे अनेकान्तात्मक अर्थका प्रकाशन करनेमें सरलता भी होती है। असलमें अनेक धर्मात्मक वस्तुको जानकर ज्ञाता विवक्षाके अनुसार

येनांशेन विशुद्धिः स्यात्जन्तोस्तेन न बन्धनम्।
येनांशेन तु रागः स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम् ॥११०॥

एक धर्मको ग्रहण करता है। जैसे जब आत्माके शुद्ध स्वरूपके कथनकी विवक्षा होती है तो कहा जाता है आत्माके गुणस्थान नहीं हैं, मार्गणास्थान नहीं हैं, जीवसमास नहीं हैं, और जब आत्माकी संसारी दशाका चित्रण करना होता है तो उसके गुणस्थान, जीवसमास आदि सभी बतलाये जाते हैं। इससे आत्माके स्वाभाविक और वैभाविक दोनों रूपोंका बोध हो जाता है। यदि कोई यह हठ पकड़ ले कि संसारी जीवके संसारावस्थामें भी गुणस्थानादि नहीं हैं और वह द्रव्य रूपसे ही नहीं पर्याय रूपसे भी शुद्ध-बुद्ध है तो वह मिथ्या कहलायेगा। जो वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करके भी अन्य धर्मोंका निषेध नहीं करता वह नय है और जो ऐसा करता है वह दुर्नय है। दुर्नय अनेकान्तका घातक है, नय अनेकान्तका पोषक है। ॥१०८-१०९॥

आगे एकदेश विशुद्धि और एकदेश संक्लेशका फल कहते हैं—

जीवके जितने अंशसे विशुद्धि होती है उतने अंशसे कर्मबन्ध नहीं होता और जितने अंशसे राग रहता है उतने अंशसे बन्ध अवश्य होता है ॥११०॥

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त गुणस्थान भेदसे अशुभ, शुभ और शुद्धरूप तीन उपयोग होते हैं। मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र गुणस्थानोंमें ऊपर-ऊपर मन्द होता हुआ अशुभोपयोग होता है। उससे आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत और प्रमत्त संयत गुणस्थानोंमें ऊपर-ऊपर शुभ, शुभतर और शुभतम होता हुआ शुभोपयोग रहता है जो परम्परासे शुद्धोपयोगका साधक है। उसके अनन्तर अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे शुद्ध नयरूप शुद्धोपयोग होता है। इनमें-से प्रथम गुणस्थानमें तो किसी भी कर्मका संवर नहीं है, सभी कर्मोंका यथायोग्य बन्ध होता है। किन्तु सासादन आदि गुणस्थानोंमें बन्धका निरोध इस प्रकार है[1]—मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रियजाति, दो इन्द्रियजाति, तेइन्द्रियजाति, चौइन्द्रिय जाति, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारणशरीरनाम, ये सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्वके साथ बँधती हैं, अतः मिथ्यात्वके चले जानेपर सासादन आदि गुणस्थानोंमें उनका संवर होता है। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी कषाय, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, मध्यके चार संस्थान, चार संहनन, तिर्यंचगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, नीचगोत्र इन प्रकृतियोंके बन्धका कारण अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे होनेवाला असंयम है। अतः एकेन्द्रियसे लेकर सासादन गुणस्थान पर्यन्त जीव इनके बन्धक हैं। आगे इनका बन्ध नहीं होता। अप्रत्याख्यानावरण कषाय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रर्षभनाराचसंहनन, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, इन दस प्रकृतियोंके बन्धका कारण अप्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाला असंयम है। अतः एकेन्द्रियसे लेकर

१. सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क बंधवोच्छिण्णा ।
दुगतीसचदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ॥—गो. कर्म., गा. ९४ ।

असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्तके जीव उनके बन्धक हैं। आगे उनका बन्ध नहीं होता। तीसरे गुणस्थानमें आयु कर्मका बन्ध नहीं होता। प्रत्याख्यानावरण कषायका आस्रव प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयसे होनेवाले असंयमके कारण होता है। अतः एकेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थान पर्यन्तके जीव उनके बन्धक होते हैं। आगे उनका संवर होता है। असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति ये छह प्रकृतियाँ प्रमादके कारण बँधती हैं, अतः प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे आगे उनका संवर होता है। देवायुके बन्धका प्रारम्भ प्रमादके ही कारण होता है किन्तु प्रमत्त गुणस्थानके निकटवर्ती अप्रमत्त गुणस्थानमें भी उसका बन्ध होता है। आगे उसका संवर होता है। संज्वलन कषायके निमित्तसे जिन प्रकृतियोंका आस्रव होता है उनका उसके अभावमें संवर हो जाता है। वह संज्वलन कषाय तीव्र, मध्यम और जघन्य रूपसे तीन गुणस्थानोंमें होती है। अपूर्वकरणके आदिमें निद्रा और प्रचला, मध्यमें देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिक शरीरांगोपांग, आहारक शरीरांगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उछ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण, तीर्थंकर, अन्तमें हास्य, रति, भय, जुगुप्सा। तीव्र संज्वलन कषायसे इनका आस्रव होता है अतः अपने-अपने भागसे आगे उनका संवर होता है। अनिवृत्ति बादरसाम्पराय गुणस्थानके प्रथम समयसे लेकर संख्यात भागोंतक पुरुषवेद और संज्वलन क्रोधका, मध्यके संख्यात भागों तक संज्वलन मान संज्वलन मायाका और अन्त समयतक संज्वलन लोभका आस्रव होता है। आगे उनका संवर है। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, पाँच अन्तराय ये सोलह प्रकृतियाँ मन्द कषायमें भी सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानतक बँधती हैं। आगे उनका संवर है। योगके निमित्तसे केवल एक सातावेदनीय ही बँधता है अतः उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोग केवलीमें उसका बन्ध होता है। अयोग केवलीके संवर होता है।

यहाँ यह शंका होती है कि संवर तो शुद्धोपयोग रूप होता है। और मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमें आपने अशुभ, शुभ और शुद्ध तीन उपयोग कहे हैं तब यहाँ शुद्धोपयोग कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि शुद्धनिश्चयरूप शुद्धोपयोगमें शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव अपना आत्मा ध्येय (ध्यान करने योग्य) होता है। इसलिए शुद्ध ध्येय होनेसे, शुद्धका अवलम्बन होनेसे और शुद्ध आत्मस्वरूपका साधक होनेसे शुद्धोपयोग घटित होता है। उसीको भावसंवर कहते हैं। भावसंवर रूप यह शुद्धोपयोग संसारके कारण मिथ्यात्व राग आदि अशुद्ध पर्यायकी तरह अशुद्ध नहीं होता, और न शुद्धोपयोगके फलरूप केवलज्ञान लक्षण शुद्ध पर्यायकी तरह शुद्ध ही होता है। किन्तु उन शुद्ध और अशुद्ध पर्यायोंसे विलक्षण एक तीसरी अवस्था कही जाती है जो शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक होनेसे मोक्षका कारण होती है तथा एक देश व्यक्तिरूप और एक देश निरावरण होती है [द्रव्य सं. टी., गा. ३४]। अतः जहाँ जितने अंशमें विशुद्धि है उतने अंशमें संवर माना है।

नित्य, अत्यन्त निर्मल, स्व और पर पदार्थोंके प्रकाशनमें समर्थ, चिदानन्दात्मक परमात्माकी भावनासे प्रकट हुआ, शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक धर्म अमृतके समुद्रके समान है। उसका अवगाहन करनेवालोंके द्वारा उदीर्ण रसका लेश भी उसमें स्थित

हैं—

कथमपि भवकक्षं जाज्वलद्दुःखदाव-
ज्वलनमशरणो ना बम्भ्रमन् प्राप्य तीरम् ।
श्रितबहुविधसत्त्वं धर्मपीयूषसिन्धो-
रसलवमपि मज्जत्कीर्णमृघ्नोति विन्दन् ॥१११॥

ऋघ्नोति—ज्ञानसंयमादिना प्रह्लादबले (-स्रौज) वीर्यादिना च वर्द्धते । विन्दन्—लभमानः ॥१११॥

अथ धर्माचार्यैर्व्युत्पादितमतिः सङ्गत्यागादिना स्वात्मानं तद्भवे भवान्तरेषु वा निःसंसारं करोतीत्याह—

त्यक्त्वा सङ्गं सुधीः साम्यसमभ्यासवशाद् ध्रुवम् ।
समाधिं मरणे लब्ध्वा हन्त्यल्पयति वा भवम् ॥११२॥

समाधिं रत्नत्रयैकाग्रताम् । हन्ति चरमदेह इति शेषः । तथा चोक्तम्—

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुट्यन्मोहस्य योगिनः ।
चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात् ॥११२॥
[तत्त्वानुशा., २२४]

अथाभेदसमाधिमहिमानमभिष्टौति—

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने ।
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते ॥११३॥

परां विशुद्धिं—घातिकर्मक्षयलक्षणां सकलकर्मक्षयलक्षणां वा ॥११३॥

उपासक वर्गके अनुग्रहके लिए होता है, यह कहते हैं—

जिसमें दुःखरूपी दावानल प्रज्वलित है ऐसे संसाररूपी जंगलमें भटकता हुआ अशरण मनुष्य किसी तरह धर्मरूपी अमृतके समुद्रके तीरको प्राप्त होता है जहाँ निकट भव्य आदि अनेक प्राणी आश्रय लिये हुए हैं। और धर्मरूपी अमृतके समुद्रमें स्नान करनेवाले मुमुक्षु घटमान योगियोंके द्वारा प्रकट किये गये रसके लेशको भी प्राप्त करके ज्ञान संयम आदिके द्वारा तथा आह्लाद, ओज, बलवीर्य आदिके द्वारा समृद्ध होता है ॥१११॥

धर्माचार्यके द्वारा प्रबुद्ध किया गया मनुष्य परिग्रह त्याग आदि करके उसी भवमें या भवान्तरमें अपनेको संसारसे मुक्त करता है, यह कहते हैं—

परिग्रहको त्यागकर सामायिककी निरन्तर भावनाके बलसे, मरते समय अवश्य ही रत्नत्रयकी एकाग्रतारूप समाधिको प्राप्त करके, प्रमाण नय-निक्षेप और अनुयोगोंके द्वारा व्युत्पन्न हुआ चरमशरीरी भव्य संसारका नाश करता है। यदि वह अचरमशरीरी होता है उसी भवसे मोक्ष जानेवाला नहीं होता तो संसारको अल्प करता है, उसे घटाता है ॥११२॥

अभेद समाधिकी महिमाकी प्रशंसा करते हैं—

स्वसंवेदनके द्वारा अपना साक्षात्कार करनेवाला यह आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्माके लिए, इन्द्रिय मनसे उत्पन्न होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञानरूप आत्मस्वरूपसे हटकर, निर्विकल्प स्वात्मामें, स्वसंवेदनरूप स्वात्माके द्वारा, शुद्धचिदानन्दमय आत्माका ध्यान करते हुए घातिकर्मोंके क्षयस्वरूप या समस्त कर्मोंके क्षयस्वरूप उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त करता है ॥११३॥

अथ ध्यानस्य सामग्रीक्रमं साक्षादसाक्षाच्च फलं कथयति—

इष्टानिष्टार्थमोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः ।
ध्यानं रत्नत्रयं तस्मात्तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम् ॥११४॥

मोहादिः—इष्टानिष्टार्थयोः स्वरूपानवबोधो मोहः । इष्टे प्रीती रागः । अनिष्टे चाप्रीतिर्द्वेषः । ततः स्थिराच्चेतसः । इति भद्रम् ॥११४॥

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां प्रथमोऽध्यायः ।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं द्वादशोत्तराणि च चत्वारि शतानि । अङ्कतः ॥४१२॥

विशेषार्थ—ऊपर समाधिका अर्थ रत्नत्रयकी एकाग्रता कहा है। यहाँ उसे ही स्पष्ट किया है। यहाँ बतलाया है कि छहों कारक आत्मस्वरूप जब होते हैं तभी रत्नत्रयकी एकाग्रता होती है और तभी मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥११३॥

आगे ध्यानकी सामग्रीका क्रम और उससे होनेवाले साक्षात् या परम्परा फलको कहते हैं—

इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंमें मोह-राग-द्वेषको नष्ट करनेसे चित्त स्थिर होता है, चित्त स्थिर होनेसे ध्यान होता है। ध्यानसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है। रत्नत्रयसे मोक्ष होता है। मोक्षसे सुख होता है ॥११४॥

विशेषार्थ—द्रव्यसंग्रहके अन्तमें कहा है कि ध्यानमें निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग दोनों ही प्राप्त होते हैं इसलिए ध्यानाभ्यास करना चाहिए। किन्तु चित्त स्थिर हुए बिना ध्यान होना सम्भव नहीं है अतः ध्यान के लिए चित्तका स्थिर होना जरूरी है। चित्त स्थिर करनेके लिए इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोंसे द्वेष हटाना चाहिए। ये राग-द्वेष ही हैं जो ध्यानके समय बाधा डालते हैं और मन इधर-उधर भटकता है। यहाँ मोह-राग-द्वेषका स्वरूप कहते हैं—शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वोंमें मिथ्या अभिप्रायका जनक दर्शनमोह है उसीका भेद मिथ्यात्व है जो अनन्त संसारका कारण है। अध्यात्ममें मोह दर्शनमोहको ही कहा है और रागद्वेष चारित्रमोहको कहा है। निर्विकार स्वसंवित्तिरूप वीतराग चारित्रको ढाँकनेवाला चारित्रमोह है अर्थात् रागद्वेष है, क्योंकि कषायोंमें क्रोध-मान तो द्वेष रूप हैं और माया लोभ रागरूप है। नोकषायोंमें स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, पुरुषवेद, हास्य, रति तो रागरूप हैं, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा द्वेषरूप हैं। यह प्रश्न हुआ करता है कि रागद्वेष कर्मसे पैदा होते हैं या जीवसे पैदा होते हैं। इसका उत्तर यह है कि जैसे पुत्र स्त्री और पुरुष दोनों के संयोगसे पैदा होता है वैसे ही रागद्वेष भी जीव और कर्मके संयोग-से उत्पन्न होते हैं। किन्तु नयविवक्षासे एक देश शुद्धनिश्चयनयसे कर्मजनित हैं और अशुद्ध निश्चयनयसे, जो शुद्धनिश्चयकी अपेक्षा व्यवहार ही है, जीव-जनित हैं। इनसे बचना चाहिए तभी धर्ममें मन लग सकता है। [—द्रव्य सं. टी., गा. ४८] ॥११४॥

इस प्रकार आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत अनगार धर्मामृतकी स्वोपज्ञ टीकानुसारी हिन्दी टीकामें धर्मस्वरूप निरूपण नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय

इह हि—'उद्योतोद्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजन् ।
भव्यो मुक्तिपथं भाक्तं साधयत्येव वास्तवम् ॥'

३ वास्तवमिति पूर्वोक्तम् । तत्रादौ सम्यक्त्वाराधनाप्रक्रमे मुमुक्षूणां स्वसामग्रीतः समुद्भूतमपि
सम्यग्दर्शनमासन्नभव्यस्य सिद्धिसंपादनार्थमारोहत्प्रकर्षं चारित्रमपेक्षत इत्याह—

आसंसारविसारिणोऽन्धतमसान्मिथ्याभिमानान्वया-
६ च्च्युत्वा कालबलान्निमीलितभवानन्त्यं पुनस्तद्बलात् ।
मीलित्वा पुनरुद्गतेन तदपक्षेपादविद्याच्छिदा,
सिद्ध्यधं कस्यचिदुच्छ्रयत् स्वमहसा वृत्तं सुहृन्मृग्यते ॥१॥

९ अन्धतमसात्—द्रव्यमिथ्यात्वात् पक्षे दुर्णयविलासितात् मिथ्याभिमानान्वयात् (—विपरीतलक्षणात्
कालादिलब्ध्यवष्टम्भात्) विपरीताभिनिवेशलक्षणभावमिथ्यात्वेन पक्षे दुरभिनिवेशावष्टम्भरूपायुक्तिप्रणीता-
हङ्कारेण चानुगम्यमानात् । कालबलात्—उपलक्षणात् कालादिलब्ध्यवष्टम्भात् पक्षे कार्यसिद्ध्यनुकूलसमय-
१२ सामर्थ्यात् । निमीलितभवानन्त्यं—तिरस्कृतानन्तसंसारं यथा भवति । तथा चोक्तम्—

'लब्धं मुहूर्तमपि ये परिवर्जयन्ति सम्यक्त्वरत्नमनवद्यपदप्रदायि ।
भ्राम्यन्ति तेऽपि न चिरं भववारिराशौ तद्बिभ्रता चिरतरं किमिहास्ति वाच्यम् ॥'
१५ [अमित. श्रा. २।८६]

पहले कहा था कि उद्योत, उद्यव, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरणके द्वारा निश्चय मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है। यहाँ चार आराधनाओंमें-से सम्यक्त्व आराधनाका प्रकरण है। उसको प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि मुमुक्षु जीवोंके अपनी सामग्रीसे उत्पन्न हुआ भी सम्यग्दर्शन निकट भव्यकी मुक्तिके लिए उत्तरोत्तर उन्नतिशील चारित्रकी अपेक्षा करता है—

समस्त संसारमें मिथ्या अभिप्रायको फैलानेवाले और विपरीत अभिप्राय रूप भाव मिथ्यात्व जिसका अनुगमन करता है ऐसे द्रव्य मिथ्यात्वसे किसी प्रकार कालादिलब्धिके बलसे छूटकर अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य संसारकी अनन्तताका अन्त करके अपने संसारको सान्त बनाता है। पुनः उसी अनादिकालसे चले आते हुए मिथ्यात्वकी शक्तिसे उसका सम्यग्दर्शन लुप्त हो जाता है। पुनः किसी निकट भव्यके उस मिथ्यात्वरूपी अन्धकारका विनाश होनेसे कुमति, कुश्रुत और कुअवधिरूप अथवा मोह-संशय और विपर्ययरूप अज्ञानका छेदन करनेवाले सम्यग्दर्शनका उदय होता है। किन्तु सम्यग्दर्शनरूपी अपने तेजसे ऊँचा उठता हुआ निकट भव्य स्वात्माकी उपलब्धिके लिए अपने मित्र चारित्रकी अपेक्षा करता है ॥१॥

तद्बलात्—अनाद्यनुबद्धमिथ्यात्वसामर्थ्यात् । भव्यः खलु अनादिमिथ्यादृष्टिः कालादिलब्ध्याऽन्त-र्मुहूर्तमौपशमिकसम्यक्त्वमनुगम्य पुनस्ततः प्रच्युत्य नियमेन मिथ्यात्वमाविशति । तदुक्तम्—

'निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम् ।
पश्चादायाति मिथ्यात्वं सम्यक्त्वस्यास्य निश्चितम् ॥' [अमित. श्रा. २।४२]

तदपक्षेपात्—तथाविधान्ध तमसः प्रध्वंसात् । अविद्याच्छिदा—अविद्यां कुमतिकुश्रुतविभङ्गस्वभावं मोह-संशय-विपर्ययरूपं वा अज्ञानत्रयं छिनत्ति सम्यग्मत्यादिरूपतां प्रापयतीत्यविद्याछित् तेन । सिद्धयै—स्वात्मोपलब्धये आत्मोत्कर्षपरापकर्षसाधनार्थं च । कस्यचित्—आसन्नभव्य (स्य) जिगीषोश्च । स्वमहसा—सम्यग्दर्शनलक्षणेन प्रतापरूपेण च निजतेजसा ॥१॥

विशेषार्थ—संसारी जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वके कारण अपने स्वरूपको न जानकर नाना गतियोंमें भटकता फिरता है। यह मिथ्यात्व भाव और द्रव्यके भेदसे दो प्रकारका है। जीवके जो मिथ्यात्वरूप भाव है वह भाव मिथ्यात्व है, और जो दर्शन मोहनीय कर्मका भेद मिथ्यात्व मोहनीय है उस रूप परिणत पौद्गलिक कर्म द्रव्य मिथ्यात्व है। द्रव्य मिथ्यात्वके उदयमें भाव मिथ्यात्व होता है अतः भाव मिथ्यात्व द्रव्य मिथ्यात्वका अनुगामी है। तथा मिथ्यात्वके उदयमें ही नवीन मिथ्यात्व कर्मका बन्ध होता है। इस तरह इसकी परम्परा चलती आती है। जब पाँच लब्धियोंका लाभ होता है तब भव्य पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवको एक अन्तर्मुहूर्तके लिए सम्यग्दर्शनका लाभ होता है। जब जीवके संसार परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गल परावर्त शेष रहता है तब वह प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके योग्य होता है इसे काललब्धि कहते हैं। उसे सद्गुरुके द्वारा तत्त्वोंका उपदेश मिलना देशनालब्धि और विशुद्ध परिणाम होना विशुद्धिलब्धि है। विशुद्ध परिणाम होनेपर पाप प्रकृतियोंमें स्थिति अनुभाग घटता है, प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग बढ़ता है। इस तरह प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि होते हुए जब कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण बाँधता है तब क्रमसे अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंको करता है। यह करणलब्धि है। अनिवृत्तिकरणके अन्तर्गत अन्तरकरण करता है। उसमें अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्वका अपवर्तन करता है उससे मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन तीन रूप हो जाता है अर्थात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व रूप परिणामोंसे सत्तामें स्थित मिथ्यात्व कर्मका द्रव्य तीन रूप हो जाता है। तब अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन सात प्रकृतियोंका उपशम करके सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। इसकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तकी होती है अतः पुनः मिथ्यात्वमें चला जाता है। मगर एक बार भी सम्यक्त्वके होनेसे अनन्त संसार सान्त हो जाता है। कहा भी है कि जैसे निर्मल दिनके पीछे अवश्य मलिन रात्रि आती है, वैसे ही इस प्रथमोपशम सम्यक्त्वके पीछे अवश्य मिथ्यात्व आता है।[1] एक बार सम्यक्त्व छूटकर पुनः हो जाता है किन्तु मुक्तिके लिए चारित्रकी अपेक्षा करता है। चारित्रके बिना अकेले सम्यक्त्वसे मुक्तिलाभ नहीं हो सकता ॥ १ ॥

१. सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका कथन विस्तारसे जाननेके लिए षट्खण्डागम पु. ६ के अन्तर्गत सम्यक्त्वोत्पत्ति-चूलिका देखें।

अथ मिथ्यात्वस्योपस्कारिका सामग्रीं प्रतिनिवर्तयितुं मुमुक्षून् व्यापारयति—

दवयन्तु सदा सन्तस्तां द्रव्यादिचतुष्टयीम् ।
पुंसां दुर्गतिसर्गे या मोहारेः कुलदेवता ॥२॥

दवयन्तु—दूरीकुर्वन्तु । द्रव्यादिचतुष्टयीं—द्रव्यक्षेत्रकालभावान् । तत्र द्रव्यं परसमयप्रतिमादि, क्षेत्रं तदायतनतीर्थादि, काल संक्रान्तिग्रहणादिः, भावः शङ्कादिः । दुर्गतिसर्गे—मिथ्याज्ञानस्य नरकादिगतेर्वा पक्षे दारिद्र्यस्य सर्गे निर्माणे ॥२॥

अथ मिथ्यात्वस्य कारणं लक्षणं चोपलक्षयति—

मिथ्यात्वकर्मपाकेन जीवो मिथ्यात्वमृच्छति ।
स्वादुं पित्तज्वरेणेव येन धर्मं न रोचते ॥३॥

पावक. (पाकः)—स्वफलदानायोद्भूति. । मिथ्यात्वं—विपरीताभिनिवेशम् । धर्मं—वस्तुयाथात्म्यम् । तदुक्तम्—

'मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥३॥' [गो. जीव. १७ गा.]

मिथ्यात्वको बढ़ानेवाली सामग्रीको दूर करनेके लिए मुमुक्षुओंको प्रेरणा करते हैं—

मुमुक्षु जन उस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीको सदा दूर रखें जो मनुष्योंकी दुर्गतिके निर्माण करनेमें मोहरूपी शत्रुकी कुलदेवता है ॥२॥

विशेषार्थ—जैसे प्रतिपक्षके मनुष्योंको दरिद्री बनानेके लिए जीतनेवालेका कुलदेवता जागता रहता है वैसे ही प्राणियोंकी दुर्गति करनेमें मोहका कुलदेवता द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव है। मिथ्या देवताओंकी प्रतिमा वगैरह द्रव्य हैं, उनके धर्मस्थान तीर्थस्थान क्षेत्र हैं। संक्रान्ति, ग्रहण, पितृपक्ष आदि काल हैं। और समीचीन धर्मके सम्बन्धमें शंका आदि भाव हैं। मिथ्या देवताओंकी आराधना करनेसे, उनके धर्मस्थानोंको पूजनेसे, संक्रान्ति ग्रहण वगैरहमें दानादि करनेसे तथा समीचीन धर्मकी सत्यतामें सन्देह करनेसे मिथ्यात्वका ही पोषण होता है। अतः उनसे दूर रहना चाहिए ॥२॥

मिथ्यात्वका कारण और लक्षण कहते हैं—

मद्यके समान दर्शनमोह कर्मके उदयसे जीव मिथ्यात्वको प्राप्त होता है जिससे आविष्ट हुए जीवको धर्म उसी तरह रुचिकर नहीं लगता जैसे पित्तज्वरके रोगीको मधुर रस अच्छा नहीं लगता—कड़ुआ लगता है ॥३॥

विशेषार्थ—यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि जिस मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीव मिथ्यात्वको प्राप्त होता है वह मिथ्यात्व कर्म स्वयं उस जीवके द्वारा ही बाँधा गया है। यदि जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयमें भी मिथ्यात्वरूप परिणमन न करे अपने भावोंको सम्हाले तो मिथ्यात्व कर्मका बन्ध भी न हो या मन्द हो। ऐसा होनेसे ही तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। अतः मिथ्यात्व अपनी ही गलतीका परिणाम है। उसे सुधारनेसे मिथ्यात्वसे उद्धार हो सकता है और उसे सुधारनेका रास्ता यही है कि मिथ्यात्वके सहायक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे दूर रहा जाये ॥३॥

अथ मिथ्यात्वस्य विकल्पान् तत्प्रणेतृमुखेन लक्षयति—

[1]बौद्ध-शैव-द्विज-श्वेतपट-मस्करिपूर्वकाः ।
एकान्त-विनय-भ्रान्ति-संशयाज्ञानदुर्दृशः ॥४॥

भ्रान्तिः—विपर्ययः । तदुक्तम्—

'मिथ्योदयेन मिथ्यात्वं तत्त्वाश्रद्धानमङ्गिनाम् ।
एकान्तं संशयो मौढ्यं विपर्यासो विनीतता ॥'
बौद्धादिः सितवस्त्रादिर्मस्करी विप्रतापसौ ।
मिथ्यात्वे पञ्चधा भिन्ने प्रभवः प्रभवन्त्यमी ॥ [ ]

मिथ्यात्वके भेद उनके पुरस्कर्ताओंके साथ बतलाते हैं—

बौद्ध एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं । शैव विनय मिथ्यादृष्टि हैं । द्विज विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं, श्वेताम्बर संशय मिथ्यादृष्टि हैं और मस्करी अज्ञान मिथ्यादृष्टि हैं ।

विशेषार्थ—मिथ्यात्वके पाँच भेद हैं—एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान। पाँच भेदकी परम्परा प्राचीन है । आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि(१।१) में मिथ्यात्वके भेदोंका कथन दो प्रकारसे किया है—'मिथ्यादर्शनके दो भेद हैं—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक । परोपदेशके बिना मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जो तत्त्वार्थका अश्रद्धान होता है वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है । परोपदेशके निमित्तसे होनेवाला मिथ्यात्व चार प्रकारका है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक । अथवा मिथ्यात्वके पाँच भेद हैं—एकान्त मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, संशय मिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन, अज्ञान मिथ्यादर्शन । यही है, ऐसा ही है इस प्रकार धर्मी और धर्मके विषयमें अभिप्राय एकान्त है । यह सब पुरुष-ब्रह्म ही है अथवा नित्य ही है यह एकान्त है । परिग्रहीको निर्ग्रन्थ मानना, केवलीको कवलाहारी मानना, स्त्रीकी मुक्ति मानना आदि विपर्यय है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षके मार्ग हैं या नहीं, इस तरह किसी भी पक्षको स्वीकार न करके डाँवाडोल रहना संशय है । सब देवताओंको और सब धर्मोंको समान मानना वैनयिक है । हित और अहितकी परीक्षाका अभाव अज्ञान है ।' अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (८।१) में पूज्यपादके ही कथनको दोहराया है । प्राकृत पंचसंग्रहके जीवसमास प्रकरणमें (गा० ७) तथा भगवती आराधना (गा० ५६) में मिथ्यात्वके तीन भेद किये हैं—संशयित, अभिगृहीत, अनभिगृहीत । आचार्य जटासिंहनन्दिने अपने वरांगचरित [११।४] में मिथ्यात्वके सात भेद किये हैं—ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, स्वाभाविक, वैनयिक, व्युद्ग्राहित और विपरीत । आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारके द्वितीय अध्यायके आदिमें वरांगचरितका ही अनुसरण किया है । श्वेताम्बर परम्परामें स्थानांग सूत्र (३ ठा.) में मिथ्यात्वके तीन भेद किये हैं—अक्रिया, अविनय, अज्ञान । तत्त्वार्थ भाष्यमें दो भेद किये हैं—अभिगृहीत, अनभिगृहीत । टीकाकार सिद्धसेन गणिने 'च' शब्दसे सन्दिग्ध भी ले लिया है । धर्मसंग्रहमें पाँच भेद किये हैं—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक, अनाभोगिक । प्रायः नामभेद है, लक्षणभेद नहीं है ।

१. एयंतबुद्धदरसी विवरीयो बह्म तावसो विणओ । इंदो विय संसइओ मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥
—गो. जी. १६ गा.

मस्करिपूरणनामा पार्श्वनाथतीर्थोत्पन्न ऋषिः स सद्योजातकेवलज्ञानाद् वीरजिनाद् ध्वनिच्छन्
(ध्वनिमिच्छन्) तत्राजातध्वनौ मय्येकादशाङ्गधारिण्यपि नास्य ध्वनिनिर्गमोऽभूत् स्वे शिष्ये तु गोतमे
३ सोऽभूदिति मत्सराद् विकल्पे नायं सर्वज्ञ इति ततोऽपसृत्य 'अज्ञानान्मोक्षः' इति मतं प्रकाशितवान् ।।४।।

ग्रन्थकारने एकान्त मिथ्यात्वका प्रणेता बौद्धको, विनय मिथ्यात्वका पुरस्कर्ता शैवको, विपरीत मिथ्यात्वका द्विजोंको, संशय मिथ्यात्वका श्वेताम्बरोंको और अज्ञान मिथ्यात्वका मस्करीको कहा है। गोमट्टसार जीवकाण्डमें भी कहा है—

'बौद्धदर्शन एकान्तवादी है, ब्रह्म विपरीतमिथ्यात्वी है, तापस विनयमिथ्यात्वी हैं। इन्द्र संशयमिथ्यात्वी है और मस्करी अज्ञानी है।'

दर्शनसारमें देवसेनने प्रत्येकका विवरण देते हुए लिखा है—भगवान् पार्श्वनाथके तीर्थमें पिहिताश्रव मुनिका शिष्य बुद्धिकीर्ति मुनि हुआ। उसने रक्ताम्बर धारण कर एकान्त-मतकी प्रवृत्ति की। उसने मांसभक्षणका उपदेश दिया और कहा कर्ता अन्य है, भोक्ता अन्य है। यह बुद्धिकीर्ति, बौद्धधर्मके संस्थापक बुद्ध हैं उन्होंने क्षणिकवादी बौद्धदर्शनकी स्थापना की। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि एक समय मैं नंगा रहता था, केशलोंच करता था, हाथमें खाता था आदि। यह सब दिगम्बर जैन साधुकी चर्या है। अतः उन्होंने अवश्य ही किसी जैन साधुसे दीक्षा ली होगी। जब उन्होंने घर छोड़ा तब भगवान् पार्श्वनाथका तीर्थ चलता था। भगवान् महावीरने तीर्थप्रवर्तन तबतक नहीं किया था। अतः दर्शनसारके कथनमें तथ्य अवश्य है। विपरीत मतकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें लिखा है कि मुनिसुव्रतनाथके तीर्थमें क्षीरकदम्ब नामक सम्यग्दृष्टि उपाध्याय था। उसका पुत्र पर्वत बड़ा दुष्ट था। उसने विपरीत मतका प्रवर्तन किया। जैन कथानकोंमें नारद पर्वतके शास्त्रार्थकी कथा आती है। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस श्रुतिमें अजका अर्थ बकरा पर्वतने बतलाया और राजा वसुने उसका समर्थन किया। इस तरह वैदिक हिंसाका सूत्रपात हुआ। पर्वत ब्राह्मण था। अतः द्विज या ब्रह्म शब्दसे उसीको विपरीत मिथ्यात्वका प्रवर्तक कहा है। विनय मिथ्यात्वके सम्बन्धमें कहा है कि सभी तीर्थोंमें वैनयिक होते हैं उनमें कोई जटाधारी, कोई सिर मुँड़ाये, कोई शिखाधारी और कोई नग्न होते हैं। दुष्ट या गुणवान् हों भक्तिपूर्वक सबको साष्टांग नमस्कार करना चाहिए ऐसा उन मूढ़ों ने माना। जीवकाण्डमें तापसको और आशाधरजीने शैवोंको वैनयिक कहा है। दर्शनसारमें जो कहा है वह दोनोंमें घटित होता है। आशाधरजी-ने श्वेताम्बरों को संशय मिथ्यादृष्टि कहा है। दर्शनसारमें भी श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति बतलाकर उन्हें संशय मिथ्यादृष्टि कहा है। किन्तु आचार्य पूज्यपादने उन्हें विपरीत मिथ्या-दृष्टि कहा है क्योंकि वे परिग्रहीको निर्ग्रन्थ कहते हैं। अतः विपरीत कथन करनेसे विपरीत मिथ्यादृष्टि ही हुए। मस्करीको अज्ञान मिथ्यादृष्टि कहा है। इसके सम्बन्धमें दर्शनसारमें कहा है—श्री वीर भगवान्‌के तीर्थमें पार्श्वनाथ तीर्थंकरके संघके गणीका शिष्य मस्करी पूरण नामका साधु था उसने अज्ञानका उपदेश दिया। अज्ञानसे मोक्ष होता है, जीवका पुनर्जन्म नहीं है आदि। भगवान् महावीरके समयमें बुद्धकी ही तरह पूरण और मक्खलि गोशालक नामके दो शास्ता थे। मक्खलि तो नियतिवादीके रूपमें प्रख्यात है। श्वेताम्बर आगमोंके अनुसार वह महावीरका शिष्य भी रहा किन्तु उनके विरुद्ध हो गया। आशाधरजी-ने अपनी टीकामें लिखा है—मस्करी अर्थात् पार्श्वनाथके तीर्थमें उत्पन्न हुआ मस्करी-पूरण नामक ऋषि। भगवान् महावीरको केवलज्ञान होनेपर भी दिव्यध्वनि नहीं खिरी और

अथैकान्तमिथ्यात्वस्य दोषमाख्याति—

अभिसरति यतोऽङ्गी सर्वथैकान्तसंवित्
परयुवतिमनेकान्तात्मसंवित्प्रियोऽपि ।
मुहुरुपहितनानाबन्धदुःखानुबन्धं
तमनुषजति विद्वान् को नु मिथ्यात्वशत्रुम् ॥५॥

सर्वथैकान्ताः—केवलनित्य-क्षणिक-भावाभाव-भेदाभेदवादाः । संवित्—प्रतिज्ञा ज्ञानं वा । अपि, न परं मिथ्यादृष्टिरित्यर्थः । नानाबन्धाः—प्रकृतिस्थित्यादिकर्मबन्धप्रकाराः रज्जुनिगडादिबन्धनानि च । अनुषजति—अनुबध्नाति ॥५॥

अथ विनयमिथ्यात्वं निन्दति—

शिवपूजादिमात्रेण मुक्तिमभ्युपगच्छताम् ।
निःशङ्कं भूतघातोऽयं नियोगः कोऽपि दुर्विधेः ॥६॥

शिवपूजा—स्वयमाहृतबिल्वपत्रादियजन-गडुक(मुदक)प्रदान-प्रदक्षिणीकरणात्मविडम्बनादिका । आदिशब्दाद् गुरुपूजादि । मुक्ति । तथा चोक्तम्—

'विणयाओ होइ मोक्खं किज्जइ पुण तेण गद्दहाईणं ।
अमुणिय गुणागुणाण य विणयं मिच्छत्तनडिएण ॥' [भावसंग्रह ७४]

दुर्विधेः—दुर्दैवस्य दुरागमप्रयोगस्य वा ॥६॥

गौतम स्वामीके गणधर होनेपर खिरी । इससे वह रुष्ट हो गया कि मुझ ग्यारह अंगके धारीके होते हुए भी दिव्यध्वनि नहीं हुई और गौतमके होनेपर हुई । द्वेषवश वह 'यह सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर अलग हो गया और अज्ञानसे मोक्ष होता है इस मतको प्रकाशित किया । अस्तु ।

आगे एकान्त मिथ्यात्वके दोष कहते हैं—

जिसके कारण यह प्राणी अनेकान्त संवित्तिरूप प्यारी पत्नीके होते हुए भी सर्वथा एकान्त संवित्तिरूप परस्त्रीके साथ अभिसार करता है, उस शत्रुतुल्य मिथ्यात्वके साथ कौन विद्वान् पुरुष सम्बन्ध रखेगा, जो बार-बार प्रकृतिबन्ध आदि नाना बन्धोंके कारण होनेवाले दुःखोंकी परम्पराका जनक है ॥५॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्वसे बड़ा कोई शत्रु नहीं है इसीके कारण जीव नाना प्रकारके कर्मबन्धनोंसे बद्ध होकर नाना गतियोंमें दुःख उठाता है । इसीके प्रभावसे अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वको एकान्तरूप मानता है । वस्तु क्षणिक ही है, नित्य ही है, भावरूप ही है या अभावरूप ही है, भेदरूप ही है या अभेदरूप ही है इस प्रकारके एकान्तवाद फैले हुए हैं । एकान्तवादकी संवित्ति—ज्ञानको परस्त्रीकी उपमा दी है और अनेकान्तवादकी संवित्ति—ज्ञानको स्वस्त्रीकी उपमा दी है । जैसे दुष्ट लोगोंकी संगतिमें पड़कर मनुष्य घरमें प्रियपत्नीके होते हुए भी परस्त्रीके चक्रमें फँसकर जेल आदिका कष्ट उठाता है उसी तरह अनेकान्तरूप वस्तुका ज्ञाता भी मिथ्यात्वके प्रभावमें आकर एकान्तका अनुसरण करता है और कर्मबन्धनसे बद्ध होकर दुःख उठाता है ॥५॥

आगे विनय मिथ्यात्वकी निन्दा करते हैं—

केवल शिवपूजा आदिके द्वारा ही मुक्ति माननेवाले वैनयिकोंका निःशंक प्राणिघात दुर्दैवका कोई अलौकिक ही व्यापार है ॥६॥

अथ विपर्यासमिथ्यात्वपरिहारे प्रेरयति—

येन प्रमाणतः क्षिप्तां श्रद्दधानाः श्रुतिं रसात् ।
चरन्ति श्रेयसे हिंसां स हिंस्यो मोहराक्षसः ॥७॥

प्रमाणतः—अनाप्तप्रणीतत्व-पशुवधप्रधानत्वादिबलेन । श्रुतिं—वेदम् । रसात्—आनन्दमाश्रित्य । श्रेयसे—स्वर्गादिसाधनपुण्यार्थम् । तदुक्तम्—

'मण्णइ जलेण सुद्धि तित्ति मंसेण पियरवग्गाणं ।
पसुकयवहेण सग्गं धम्मं गोजोणिफासेण ॥' [भावसंग्रह गा. ५]

मोहः—विपरीतमिथ्यात्वनिमित्तं कर्म ॥७॥

अथ संशयमिथ्यादृष्टेः कलिकालसहायकमाविष्करोति—

अन्तःस्खलच्छल्यमिव प्रविष्टं रूपं स्वमेव स्ववधाय येषाम् ।
तेषां हि भाग्यैः कलिरेष नूनं तपत्यलं लोकविवेकमश्नन् ॥८॥

शल्यं—काण्डादि । रूपं—किं केवली कवलाहारी उदश्विदन्यथा इत्यादिदोलायितप्रतीतिलक्षणमात्म-

---

विशेषार्थ—पहले शैवोंको विनय मिथ्यादृष्टि कहा था। शैव केवल शिवपूजासे ही मोक्ष मानते हैं। स्वयं लाये हुए बेलपत्रोंसे पूजन, जलदान, प्रदक्षिणा, आत्मविडम्बना, ये उनकी शिवोपासनाके अंग हैं। शैव सम्प्रदायके अन्तर्गत अनेक पन्थ रहे हैं। मुख्य भेद हैं दक्षिणमार्ग और वाममार्ग। वाममार्ग शैवधर्मका विकृत रूप है। उसीमें मद्य, मांस, मदिरा, मैथुन और मुद्राके सेवनका विधान है ॥६॥

आगे विपरीत मिथ्यात्वको छोड़नेकी प्रेरणा करते हैं—

जिसके कारण वेदपर श्रद्धा करनेवाले मीमांसक प्रमाणसे तिरस्कृत हिंसाको स्वर्ग आदिके साधन पुण्यके लिए आनन्दपूर्वक करते हैं उस मोहरूपी राक्षसको मार डालना चाहिए ॥७॥

विशेषार्थ—वेदके प्रामाण्यको स्वीकार करनेवाला मीमांसक दर्शन वेदविहित हिंसाको बड़ी श्रद्धा और हर्षके साथ करता था। उसका विश्वास था कि यज्ञमें पशुबलि करनेसे पुण्य होता है और उससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। 'स्वर्गकामो यजेत्' स्वर्गके इच्छुकको यज्ञ करना चाहिए यह श्रुति है। बौद्धों और जैनोंने इस वैदिकी हिंसाका घोर विरोध किया। फलतः यज्ञ ही बन्द हो गये। अकलंक देवने तत्त्वार्थवार्तिक (८।१) में लिखा है, वैदिक ऋषि अज्ञानी थे क्योंकि उन्होंने हिंसाको धर्मका साधन माना। हिंसा तो पापका ही साधन हो सकती है, धर्मका साधन नहीं। यदि हिंसाको धर्मका साधन माना जाये तो मछलीमार, चिड़ीमारोंको भी धर्म-प्राप्ति होनी चाहिए। यज्ञकी हिंसाके सिवाय दूसरी हिंसा पापका कारण है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि दोनों हिंसाओंमें प्राणिवध समान रूपसे होता है, इत्यादि। अतः जिस मिथ्यात्व मोहनीयके कारण ऐसी विपरीत मति होती है उसे ही समाप्त कर देना चाहिए ॥७॥

आगे कहते हैं कि संशय मिथ्यादृष्टिकी कलिकाल सहायता करता है—

जिनका अपना ही रूप शरीरमें प्रविष्ट हुए चंचल काँटेकी तरह अपना घात करता है उन श्वेताम्बरोंके भाग्यसे ही लोगोंके विवेकको नष्ट करनेवाला कलिकाल पूरी तरहसे तपता है—अपने प्रभावको फैलाये हुए है। यह हम निश्चित रूपसे मानते हैं ॥८॥

स्वरूपम् । स्ववधाय—आत्मनो विपरीताभिनिवेशकवचपरिणमनोपघातार्थम् । कलि:—एतेन कलिकाले श्वेतपटमतमुदभूदिति ज्ञापितं स्यात् । यद् वृद्धाः—

'छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसंघो य वलहीए ॥' [भावसंग्रह गा. १३७]

लोकविवेकं—व्यवहर्तृजनानां युक्तायुक्तविचारम् ॥८॥

अथाज्ञानमिथ्यादृशां दुर्ललितान्यनुशोचति—

युक्त्यावनाश्वास्य निरस्य चाप्तं भूतार्थमज्ञानतमोनिमग्नाः ।
जनानुपायैरतिसंदधानाः पुष्णन्ति ही स्वव्यसनानि धूर्ताः ॥९॥

युक्तौ—सर्वज्ञोऽस्ति सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् इत्यादि प्रमाणव्यवस्थायाम् । भूतार्थं—वास्तवम् । तदुक्तम्—

"अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु ।
देवो ण अत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए ॥" [भावसंग्रह गा. १६४]

उपायैः—तदभिप्रायानुप्रवेशोपक्रमैः । तथा चोक्तम्—

"दृष्टान्ताः सन्त्यसंख्येया मतिस्तद्वशवर्तिनी ।
किन्न कुर्युर्मही धूर्ता विवेकरहितामिमाम् ॥"
[सोम. उपा., १।४१ श्लो.]

अतिसंदधानाः—वञ्चयमानाः ॥९॥

विशेषार्थ—भगवान् महावीर स्वामीके पश्चात् उनके अनुयायी दो भागोंमें विभाजित हो गये—श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदायके साधु श्वेत वस्त्र पहनते हैं, स्त्रीकी मुक्ति मानते हैं और मानते हैं कि केवली अर्हन्त अवस्थामें भी ग्रासाहार करते हैं। दिगम्बर इन बातोंको स्वीकार नहीं करते। दिगम्बर अभिलेखोंके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें बारह वर्षका दुर्भिक्ष पड़नेपर श्रुतकेवली भद्रबाहु, जो उस समय भगवान् महावीरके सर्वसंघके एकमात्र प्रधान थे, अपने संघको लेकर दक्षिणापथकी ओर चले गये। वहीं श्रमण बेलगोलामें उनका स्वर्गवास हो गया। जो साधु दक्षिण नहीं गये उन्हें उत्तरभारतमें दुर्भिक्षके कारण वस्त्रादि धारण करना पड़ा। दुर्भिक्ष बीतनेपर भी उन्होंने उसे छोड़ा नहीं। फलतः संघभेद हो गया। उसीको लेकर कलिकालको उनका सहायक कहा गया है क्योंकि पंचमकालमें ही संघभेद हुआ था। किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीमुक्ति आदिके विषयमें संशयशील नहीं है। इसीसे आचार्य पूज्यपादने श्वेताम्बर मान्यताओंको विपरीत मिथ्यादर्शन बतलाया है। [हाँ, एक यापनीय संघ भी था जो स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्तिको तो मानता था किन्तु दिगम्बरत्वका पोषक था। दोनों बातोंको अंगीकार करनेसे उसे संशय मिथ्यादृष्टि कहा जा सकता है। संशय मिथ्यात्वको शरीरमें घुसे हुए काँटेकी उपमा दी है। जैसे पैरमें घुसा हुआ काँटा सदा करकता है वैसे ही संशयमें पड़ा हुआ व्यक्ति भी किसी निर्णयपर न पहुँचनेके कारण सदा डुलमुल रहता है ॥८॥

आगे अज्ञान मिथ्यादृष्टियोंके दुष्कृत्योंपर खेद प्रकट करते हैं—

बड़ा खेद है कि अज्ञानरूपी अन्धकारमें डूबे हुए और अनेक उपायोंसे लोगोंको ठगनेवाले धूर्तजन परमार्थ सत् सर्वज्ञका खण्डन करके और युक्तिपर विश्वास न करके अपने इच्छित दुराचारोंका ही पोषण करते हैं ॥९॥

अथ प्रकारान्तरेण मिथ्यात्वभेदान् कथयन् सर्वत्र सर्वदा तस्यापकारकत्वं कथयति—

तत्त्वारुचिरतत्त्वाभिनिवेशस्तत्त्वसंशयः ।
मिथ्यात्वं वा क्वचित्किंचिन्नाश्रेयो जातु तादृशम् ॥१०॥

तत्त्वारुचि—वस्तुयाथात्म्ये नैसर्गिकमश्रद्धानम् । तथा चोक्तम्—

एकेन्द्रियादिजीवानां घोराज्ञानविवर्तिनाम् ।
तीव्रसंतमसाकारं मिथ्यात्वमगृहीतकम् ॥

[अमित. पं. सं. १।१३५]

अतत्त्वाभिनिवेशः—गृहीतमिथ्यात्वम् । तच्च परोपदेशाज्जातं, तच्च त्रिषष्ट्यधिकत्रिशतभेदम् । तद्यथा—

'भेदाः क्रियाक्रियावादिविनयाज्ञानवादिनाम् ।
गृहीतासत्यदृष्टीना त्रिषष्टित्रिशतप्रमाः ॥'
तत्राशीतिशतं ज्ञेयमशीतिश्चतुरुत्तरा ।
द्वात्रिंशत् सप्तषष्टिश्च तेषा भेदा त(य)थाक्रमम् ॥'

[अमित. पं. सं. १।३०८-३०९]

विशेषार्थ—वेदको अपौरुषेय कहकर उसके ही प्रामाण्यको स्वीकार करनेवाले मीमांसक पुरुषकी सर्वज्ञताको स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि वेदसे भूत, भावि, वर्तमान, तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओंका ज्ञान होता है। उसके अध्ययनसे ही मनुष्य सर्वज्ञाता हो सकता है। उसके बिना कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। मीमांसादर्शनके प्रख्यात विद्वान् कुमारिलने अपने मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें पुरुषकी सर्वज्ञताका बड़े जोरसे खण्डन किया है। क्योंकि जैनदर्शन अपने तीर्थंकरोंको और बौद्धदर्शन बुद्धको सर्वज्ञ मानते थे और समन्तभद्र स्वामीने अपनी आप्तमीमांसामें सर्वज्ञकी सिद्धि की है। उसीका खण्डन कुमारिलने किया है और कुमारिलका खण्डन भट्टाकलंकदेवने तथा उनके टीकाकार विद्यानन्द स्वामी, प्रभाचन्द्र आदि आचार्योंने किया है। यह सब युक्ति और तर्कके आधारपर किया गया है। इसी तरह वेदमें प्राणिहिंसाके विधानको भी धर्म कहा जाता है। हिंसा और धर्म परस्परमें विरोधी हैं। जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं है और जहाँ धर्म है वहाँ हिंसा नहीं है। यह सब अज्ञानका ही विलास है कि मनुष्य धर्मके नामपर अधर्मका पोषण करता है। अतः अज्ञान मिथ्यात्व महादुःखदायी है ॥९॥

प्रकारान्तरसे मिथ्यात्वके भेदोंका कथन करते हुए बतलाते हैं कि मिथ्यात्व सर्वत्र सर्वदा अपकार ही करता है—

तत्त्वमें अरुचि, अतत्त्वाभिनिवेश और तत्त्वमें संशय, इस प्रकार मिथ्यात्वके तीन भेद हैं। किसी भी देशमें और किसी भी कालमें मिथ्यात्वके समान कोई भी अकल्याणकारी नहीं है ॥१०॥

विशेषार्थ—वस्तुके यथार्थ स्वरूपके जन्मजात अश्रद्धानको तत्त्व-अरुचि रूप मिथ्यात्व कहते हैं। इसको नैसर्गिक मिथ्यात्व या अगृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं। यह मिथ्यात्व घोर अज्ञानान्धकारमें पड़े हुए एकेन्द्रिय आदि जीवोंके होता है। कहा भी है—'घोर अज्ञानमें पड़े हुए एकेन्द्रिय आदि जीवोंके तीव्र अन्धकारके तुल्य अगृहीत मिथ्यात्व होता है।'

तत्र क्रियावादिनामास्तिकानां कौत्कलकाण्ठेविद्धि-कौशिक-हरिश्मश्रु-मांधविक-रोमश-हारीत-मुण्डाश्वलायनादयोऽशीतिशतप्रमाणभेदाः । तेषामानयनमुच्यते—स्वभाव-नियति-कालेश्वरात्मकर्तृत्वानां पञ्चानामधो जीवादिपदार्थानां नवानामधः स्वतः परतो नित्यत्वानित्यत्वानि च चत्वारि संस्थाप्य अस्ति जीवः स्वतः स्वभावतः ॥१॥ अस्ति परतो जीवः स्वभावतः ॥२॥ अस्ति नित्यो जीवः स्वभावतः ॥३॥ अस्त्यनित्यो जीवः स्वभावतः ॥४॥ इत्याद्युच्चारणतो राशित्रयस्य परस्परवधे नव भेदा लभ्यन्ते ॥१८०॥ स्वभाववादीनाहु—

क: स्वभावमपहाय वक्रतां कण्टकेषु विहगेषु चित्रताम् ।
मत्स्यकेषु कुरुते पयोगतिं पङ्कजेषु खरदण्डता परः ॥ [अमित. पं. सं. १।३१०]

बाह्या अप्याहुः—

काकाः कृष्णीकृता येन हंसाश्च धवलीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स मे वृत्तिं विधास्यति ॥

परके उपदेशसे उत्पन्न हुए गृहीत मिथ्यात्वको अतत्त्वाभिनिवेश कहते हैं। उसके तीन सौ त्रेसठ भेद हैं। कहा भी है—क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनयिक और अज्ञानवादी गृहीत मिथ्यादृष्टियोंके तीन सौ त्रेसठ भेद हैं। उनमें-से क्रियावादियोंके १८० भेद हैं, अक्रियावादियोंके ८४ भेद हैं, वैनयिकोंके ३२ भेद है और अज्ञानवादियोंके ६७ भेद हैं।

क्रिया कर्ताके बिना नहीं होती और वह आत्माके साथ समवेत है ऐसा कहनेवाले क्रियावादी हैं। अथवा, जो कहते हैं कि क्रिया प्रधान है ज्ञान प्रधान नहीं है वे क्रियावादी हैं। अथवा, क्रिया अर्थात् जीवादि पदार्थ हैं इत्यादि जो कहते हैं वे क्रियावादी हैं [भग. सूत्र, टी. ३०।१]

इन क्रियावादियोंके कौत्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांधविक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन आदि एक सौ अस्सी भेद हैं। उनको लानेकी विधि इस प्रकार है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये नौ पदार्थ हैं। ये नौ पदार्थ स्वतः, परतः, नित्य, अनित्य, इन चार विकल्पोंके द्वारा तथा काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव इन पाँच विकल्पोंके द्वारा हैं। यथा—जीव स्वतः स्वभावसे है ॥१॥ जीव परतः स्वभावसे है ॥२॥ जीव स्वभावसे नित्य है ॥३॥ जीव स्वभावसे अनित्य है ॥४॥ इस प्रकार उच्चारण करनेसे ९×५×४ इन तीनों राशियोंको परस्परमें गुणा करनेसे १८० भेद होते हैं। कहा भी है—

जीवादि पदार्थ नहीं है ऐसा कहनेवाले अक्रियावादी हैं। जो पदार्थ नहीं उसकी क्रिया भी नहीं है। यदि क्रिया हो तो वह पदार्थ 'नहीं' नहीं हो सकता। ऐसा कहनेवाले भी अक्रियावादी कहे जाते हैं [भग. सूत्र, टीका ३०।१, स्था. टी. ४।४।३४५]

अक्रियावादी नास्तिकोंके मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गलायन आदि ८४ भेद हैं। उनके लानेकी विधि इस प्रकार है—स्वभाव आदि पाँचके नीचे पुण्य-पापको छोड़कर जीवादि सात पदार्थ स्थापित करो। फिर उनके नीचे स्वतः-परतः स्थापित करो। जीव स्वभावसे स्वतः नहीं है ॥१॥ जीव स्वभावसे परतः नहीं

१. अत्थि सदो परदो वि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था ।
कालीसरप्पणियदिसहावेहि य ते हि भंगा हु ॥
—गो. कर्म., गा. ७८७ ।

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत् तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत् ।
स्फुटं नियत्येह नियम्यमाणं परो न शक्तः किमपीह कर्तुम् ॥ [अमित. पं. सं. १।३११]

३ क्वचिच्च—

विनैवोपादानैः समसमयमोयासविगमा-
दानकाकारत्वदपि पृथगवस्थानविषमम् ॥
६ अखण्डब्रह्माण्डं विघटय वि(ति)याद्राग् घटयति
चमत्कारोद्रेकं जयति न सा कास्य नियतिः ॥
कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।
९ कालः सुप्तेषु जागर्ति तस्मात् कालस्तु कारणम् ॥
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ [महाभा० वनपर्व ३०।२८]
१२ एको देवः सर्वभूतेषु लीनो नित्यो व्यापी सर्वकार्याणि कर्ता ।
आत्मा मूर्तः सर्वभूतस्वरूपं साक्षाज्ज्ञाता निर्गुणः शुद्धरूपः ॥
[अमित. पं. सं. १।३१४]

१५ परेऽप्याहुः—

ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् ।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥

है ॥२॥ अजीव स्वभावसे स्वतः नहीं है ॥३॥ अजीव स्वभावसे परतः नहीं है ॥४॥ इस प्रकार उच्चारण करने पर ५ × ७ × २ को परस्परमें गुणा करनेसे ७० भेद होते हैं। तथा नियति और कालके नीचे सात पदार्थोंको रखकर जीव नियतिसे नहीं है ॥१॥ जीव कालसे नहीं है ॥२॥ इत्यादि कथन करनेपर चौदह भेद होते हैं। दोनोंको मिलानेसे ८४ भेद होते हैं। श्वेताम्बर टीका ग्रन्थोंके अनुसार [आचा., टी. १।१।१।४, नन्दी. टी मलय सू. ४६] जीवादि सात पदार्थ स्व और पर तथा काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा इन सबको परस्परमें गुणा करनेपर ७ × २ × ६ = ८४ भेद होते हैं। विनयवादियोंके वसिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिण, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, ऐन्द्रदत्त, अयस्थूण आदि ३२ भेद हैं। उनको लानेकी विधि इस प्रकार है—देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बाल, माता और पिता इन आठोंकी मन, वचन, काय और दानसे विनय करनेपर ८ × ४ = ३२ भेद होते हैं। यथा—देवोंकी मनसे विनय करनी चाहिए ॥१॥ देवोंकी वचनसे विनय करना चाहिए ॥२॥ देवोंकी कायसे विनय करनी चाहिए ॥३॥ देवोंकी दानसे विनय करनी चाहिए ॥४॥ अज्ञानवादियोंके साकल्य, वाकल्य, कुथिमि, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, ऐतिकायन, वसु, जैमिनि आदि ६७ भेद हैं। उनको लानेकी विधि इस प्रकार है—जीवादि नौ पदार्थोंके नीचे सत्, असत्, सदसत्, अवाच्य, सदवाच्य, असदवाच्य, सदसदवाच्य इन सात भंगोंको रखना चाहिए। इस तरह ९ × ७ = ६३ भेद होते हैं। पुनः एक शुद्ध पदार्थको सत्, असत्, सदसत् और अवक्तव्य इन चार भंगोंके साथ मिलानेसे चार भेद होते हैं। इस तरह अज्ञानवादियोंके ६७ भेद होते हैं। श्वेताम्बरीय टीका ग्रन्थोंके अनुसार जीव आदि नौ पदार्थोंको अस्ति आदि सात भंगोंके

अक्रियावादिनां नास्तिकानां मरीचि-कुमारोलूक-कपिल-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्वलि-माठर-मौद्गलायनादयश्चतुरशीतिप्रमा भेदाः । तेषामानयनमाह—

स्वभावादीनां पञ्चानामधः पुण्यपापाविष्टैः सप्तानां जीवादीनामधः स्व-परद्वयं निक्षिप्य नास्ति स्वतो जीवः स्वभावतः ।१। नास्ति परतो जीवः स्वभावतः ।२। नास्ति स्वतोऽजीवः स्वभावतः ।३। नास्ति परतोऽजीवः स्वभावतः ।४। इत्याद्युच्चारणे परस्पराभ्यासे वा लब्धा भेदाः सप्ततिः ७० । नियतिकालयोरधो जीवादिसप्तकं विन्यस्य नास्ति जीवो नियतितः ।१। नास्ति जीवः कालतः ॥२॥ इत्याद्युच्चारणे लब्धाश्चतुर्दश ॥१४॥ पूर्वैः सहैते चतुरशीतिः ॥८४॥ विनयवादिना वसिष्ठ-पाराशर-जतुकर्ण-वाल्मीकि-रोमहर्षिण-सत्यदत्त-व्यासैलापुत्रोपमन्यवेन्द्रदत्तायस्थूणादयो द्वात्रिंशद्‌भेदाः । तेषामानयन माह—देव-नृपति-यति-ज्ञानिक-वृद्ध-बाल-जननी-जनकानामधो मनोवाक्कायदानचतुष्टयं निक्षिप्य, विनयो मनसा देवेषु कार्यः; विनयो वाचा देवेषु कार्यः ॥२॥ विनयः कायेन देवेषु कार्य. ॥३॥ विनयो दानेन देवेषु कार्यः ॥४॥ इत्युच्चारणैर्लब्धा भेदा द्वात्रिंशत् ॥३२॥

अज्ञानवादिना साकल्य-वाकल्य-कुथिमि-चारायण-कठ-माध्यंदिन-मौद-पिप्पलाद-बादरायणैतिकायन-वसु-जैमिनिप्रभृतय. सप्तषष्टिसंख्या भेदा । तेषामानयनमाह—नवाना जीवादीनामधः सत् असत् सदसत् (अ) वाच्यं सद्वा(दवा)च्यं असद्वा(दवा)च्यं सदसद्वा(दवा)च्यमिति सप्त निक्षिप्य सज्जीवभावं को वेत्ति ।१। असज्जीवभावं को वेत्ति ।२। इत्याद्युच्चारणे लब्धा भेदास्त्रिषष्टिः ॥६३॥

पुनर्भावोत्पत्तिमाश्रित्य सद्भावासद्भाव-सदसद्भावावाच्यानां चतुष्टयं प्रस्तीर्य सद्भावोत्पत्तिं को वेत्ति ।१। असद्भावोत्पत्तिं को वेत्ति ।२। सदसद्भावोत्पत्तिं को वेत्ति ।३। वाच्यभावोत्पत्तिं को वेत्ति ।४। इत्युच्चारणया लब्धैश्चतुर्भिरेतैः सह पूर्वे सप्तषष्टि ६७ । सर्वसमासे त्रिषष्ट्यधिकानि त्रीणि शतानि ३६३।

तत्त्वसंशयः—जिनोक्तं तत्त्वं सत्यं न वा इति संकल्पः ॥१०॥

साथ मिलानेसे ६३ और उत्पत्तिको प्रारम्भके चार भंगोंके साथ मिलानेसे चार इस तरह ६७ भंग होते हैं। यहाँ स्वभाव आदिका भी स्वरूप जान लेना चाहिए—

स्वभाववादियोंका कहना है कि स्वभावको छोड़कर दूसरा कौन काँटोंको तीक्ष्ण बनाता है, पक्षियोंको नाना रूप देता है, मछलियोंको जलमें चलाता है और कमलोंमें कठोर नाल लगाता है।

अन्य जन भी कहते हैं—जिसने कौओंको काला किया, हंसोंको सफेद किया, मयूरोंको चित्रित किया, वही मुझे आजीविका देगा।

नियतिका स्वरूप इस प्रकार है—जब, जैसे, जहाँ, जिसके द्वारा, जो होता है तब, तहाँ, तैसे, तिसके द्वारा वह होता है। स्पष्ट है कि नियतिके द्वारा ही यहाँ सब नियन्त्रित है। दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता।

कालवादी कहते हैं—काल प्राणियोंको पकाता है, काल प्रजाका संहार करता है। काल सोते हुए भी जागता है इसलिए काल ही कारण है।

ईश्वरवादी कहते हैं—यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःखका स्वामी नहीं है। अतः ईश्वरके द्वारा प्रेरित होकर स्वर्गमें या नरकमें जाता है।

सब प्राणियोंमें एक देव समाया हुआ है, वह नित्य है, व्यापक है, सब कार्योंका कर्ता है, आत्मा है, मूर्त है, सर्व प्राणिस्वरूप है, साक्षात् ज्ञाता है, निर्गुण है, शुद्धरूप है।[1]

१. एको देवः सर्वभूतेषु लीनो नित्यो व्यापी सर्वकार्याणि कर्ता।
आत्मा मूर्तः सर्वभूतस्वरूपं साक्षाज्ज्ञाता निर्गुणः शुद्धरूपः ॥

अथ मिथ्यात्वव्यवच्छेदपरं प्रशंसति—

यो मोहसप्तार्चिषि दीप्यमाने चेक्लिश्यमानं पुरुषं झषं वा ।
उद्धृत्य निर्वापयतीद्धविद्यापीयूषसेकैः स कृती कृतार्थः ॥११॥

मोहसप्तार्चिषि—मिथ्यात्वाग्नौ । सप्तार्चिरित्युपमानपदं मिथ्यात्वस्य सप्तापि भेदाः कैश्चिदिष्यन्त इति सूचयति । तथा च पठन्ति—

ऐकान्तिकं सांशयिकं च मूढं स्वाभाविकं वैनयिकं तथैव ।
व्युद्ग्राहिकं तद्विपरीतसंज्ञं मिथ्यात्वभेदानवबोध सप्त ॥ [वरागचरित ११।४]

तद्विवरणश्लोकाः क्रमेण यथा—

सर्वथा क्षणिको जीवः सर्वथा सगुणो गुणः ।
इत्यादिभाषमाणस्य तदेकान्तिकमिष्यते ॥१॥ [अमित. श्रा. २।६]
सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादिभाषितम् ।
तथ्यं न वेति संकल्पे दृष्टिः सांशयिकी मता ॥२॥ [अ. श्रा. २-७]
देवो रागी यतिः सङ्गी धर्मः प्राणिनिशुंभनम् ।
मूढदृष्टिरिति ब्रूते युक्तायुक्तविवेचकाः ॥३॥ [अ. श्रा. २।१२]
दीनो निसर्गमिथ्यात्वस्तत्त्वातत्त्वं न बुध्यते ।
सुन्दरासुन्दरं रूपं जात्यन्धं इव सर्वथा ॥४॥ [अमित. श्रा. २।११]
आगमा लिङ्गिनी (-नो) देवौ(वा) धर्मः सर्वे सदा समाः ।
इत्येषा कथ्यते बुद्धिः पुंसो वैनयिकी जिनैः ॥५॥ [अमित. श्रा २।८]
पूर्णः कुहेतुदृष्टान्तैर्न तत्त्वं प्रतिपद्यते ।
मण्डलश्चर्मकारस्य भोज्य चर्मलवैरिव ॥६॥ [अमित. श्रा. २।९]
अतत्त्वं मन्यते तत्त्वं विपरीतरुचिर्जनः ।
दोषातुरमनास्तिक्तं ज्वरीव मधुरं रसम् ॥७॥ [अमित. श्रा. २।१०]

दूसरोंने भी कहा है—जैसे मकड़ी अपने तन्तुजालका हेतु है, चन्द्रकान्तमणि जलका हेतु है, बड़का पेड़ प्ररोहोंका हेतु है वैसे ही वह ईश्वर सब प्राणियोंका हेतु है। इन ३६३ मतोंका उपपादन ग्रन्थकार आशाधरने अपनी ज्ञानदीपिका नाम पंजिकामें अमितगतिकृत पंचसंग्रहके आधारसे किया है।

जो मिथ्यात्वका विनाश करनेमें तत्पर है उसकी प्रशंसा करते हैं—

जो प्रज्वलित मिथ्यात्व मोहरूपी अग्निमें मछलीकी तरह तड़फड़ाते हुए जीवको उससे निकालकर प्रमाण नय आदिके ज्ञानरूपी अमृतसिंचनके द्वारा शान्ति पहुँचाते हैं वे ही विद्वान् पूर्णमनोरथ होते हैं ॥११॥

विशेषार्थ—यहाँ मिथ्यात्वको सप्तार्चिकी उपमा दी है। सप्तार्चि अग्निको कहते हैं क्योंकि उसकी सात ज्वालाएँ मानी हैं। इसी तरह मिथ्यात्वके भी कोई आचार्य सात भेद मानते हैं यथा—

ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, स्वाभाविक, वैनयिक, व्युद्ग्राहिक और विपरीत, ये मिथ्यात्वके सात भेद जानो।

---

१. अतथ्यं मन्यते तथ्यं....॥ अमि. श्रा. २-१ ।

अथवा मोह इत्यनेन मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वाख्यास्त्रयो दर्शनमोहभेदाः अनन्तानुबन्धिक्रोध-मानमायालोभाख्याश्चारित्रमोहभेदा गृह्यन्ते सप्तानामपि सम्यक्त्वघातकत्वादिति सप्तार्चिःशब्दः स्मरयति। चेक्लिश्यमानं—भृशं पुनः पुनर्वा उपतप्यमानम् ॥११॥

अथ मिथ्यात्वसम्यक्त्वयोः सुखप्रतीत्यर्थं लक्षणमुपसंगृह्णाति—

प्रासाद्यादीनवे देवे वस्त्रादिग्रन्थिले गुरौ।
धर्मे हिंसामये तद्धीर्मिथ्यात्वमितरेतरत् ॥१२॥

प्रासाद्यादीनवे—ग्रासादिभिः कवलाहारप्रभृतिभिः कार्यैरभिव्यज्यमाना आदीनवा क्षुदादयो दोषा यस्य। तत्र तावत् कवलाहारिणि सितपटाचार्यकल्पिते न रागद्वेषाभिव्यक्तिर्यथा—यो यः कवलं भुङ्क्ते स स न वीतरागो यथा रथ्यापुरुषः, भुङ्क्ते च कवलं स भव नाव. केवलीति। कवलाहारो हि स्मरणाभिलाषाभ्यां भुज्यते भुक्तवता च कण्ठोष्ठप्रमाणतृप्तेनारुचितस्त्यज्यते। तथा च अभिलाषारुचिभ्यामाह रे प्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वात्कथं वीतरागत्वं तदभावान्नाप्तता। आदिशब्दाद्यथा—

अथवा 'मोह' शब्दसे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये दर्शन मोहनीयके तीन भेद और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारित्र मोहनीयके चार भेद ग्रहण किये जाते हैं क्योंकि ये सातों सम्यग्दर्शनके घातक होनेसे जीवको कष्ट देते हैं। 'सप्तार्चि' शब्द इनका स्मरण कराता है।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका सुखपूर्वक बोध करानेके लिए लक्षण कहते हैं—

कवलाहार, स्त्री, शस्त्र और रुद्राक्षकी माला धारण करने आदिसे जिनमें भूख, प्यास, मोह, राग, द्वेष आदि दोषोंका अनुमान किया जाता है ऐसे देवको देव मानना, वस्त्र-दण्ड आदि परिग्रहके धारी गुरुको गुरु मानना और हिंसामय धर्मको धर्म मानना मिथ्यात्व है। तथा निर्दोष देवको देव मानना, निर्ग्रन्थ गुरुको गुरु मानना और अहिंसामयी धर्मको धर्म मानना सम्यक्त्व है ॥१२॥

विशेषार्थ—विभिन्न शास्त्रोंमें सम्यग्दर्शनके भिन्न-भिन्न लक्षण पाये जाते हैं। उन्हें लेकर कभी-कभी ज्ञानियोंमें भी विवाद खड़ा हो जाता है। पण्डितप्रवर टोडरमलजीने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशकके नौवें अधिकारमें उनका समन्वय बड़े सुन्दर ढंगसे किया है। यहाँ उसका सारांश दिया जाता है—यहाँ सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्मकी श्रद्धाको सम्यक्त्व कहा है। ऐसा ही कथन रत्नकरण्डश्रावकाचारमें है। वहाँ सच्चे धर्मके स्थानमें सच्चा शास्त्र कहा है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी ऐसा ही कहा है—

'विपरीत अभिप्रायसे रहित जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थोंका सदा श्रद्धान करना योग्य है। यह श्रद्धान आत्माका स्वरूप है।'[1]

इन्हीं आचार्य अमृतचन्द्रने अपने इसी ग्रन्थमें आत्माके विनिश्चयको सम्यग्दर्शन कहा है—'दर्शनमात्मविनिश्चितिः।' तथा समयसारकलशमें 'एकत्वे नियतस्य' इत्यादि श्लोकमें कहा है कि परद्रव्यसे भिन्न आत्माका अवलोकन ही नियमसे सम्यग्दर्शन है। इन लक्षणोंमें सिद्धान्त भेद नहीं है; दृष्टि भेद है, शैली भेद है। अरहन्तदेव आदिके श्रद्धानसे

१. जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तद् ॥—पुरुषार्थ. २२।

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादिरागाद्यङ्ककलङ्किताः।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥
नाट्याट्टहाससंगीताद्युपप्लवविसंस्थुलाः।
लम्भयेयुः पदं शान्तेः प्रपन्नात् प्राणिनः कथम् ॥ [ ]

ग्रथिलः—परिग्रहवान्। उक्तं च—

सर्वाभिलाषिण. सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥ [ ]

हिंसामये। उक्तं च—

देवातिथिमन्त्रौषधपित्रादिनिमित्ततोऽपि सपन्ना।
हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥ [अमि. श्रा ६।२९]

कुदेव आदिका श्रद्धान दूर होता है इससे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है। इसलिए इसे सम्यक्त्वका लक्षण कहा है। किन्तु यह सम्यक्त्वका नियामक लक्षण नहीं है क्योंकि व्यवहारधर्मके धारक मिथ्यादृष्टियोंके भी ऐसा श्रद्धान पाया जाता है। अतः अरहन्त देवादिका श्रद्धान होनेपर सम्यक्त्व हो या न हो किन्तु अरहन्तादिका यथार्थ श्रद्धान हुए बिना सम्यग्दर्शन कभी भी नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टिको उनका श्रद्धान होता ही है। किन्तु वैसा श्रद्धान मिथ्यादृष्टिको नहीं होता। वह पक्षमोहवश श्रद्धान करता है। क्योंकि उसके तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं है इसलिए उसके अरहन्त आदिका श्रद्धान भी यथार्थ पहचान सहित नहीं है। जिसके तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसके सच्चे अरहन्त आदिके स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान होता ही है तथा जिसके अरहन्त आदिके स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान होता है उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही है; क्योंकि अरिहन्त आदिके स्वरूपको पहचाननेसे जीव आदिकी पहचान होती है अतः इन दोनोंको परस्परमें अविनाभावी जानकर भी अरहन्त आदिके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। तथा सप्ततत्त्वोंके श्रद्धानमें अरहन्त आदिका श्रद्धान गर्भित है। क्योंकि तत्त्वश्रद्धानमें मोक्षतत्त्व सर्वोत्कृष्ट है। और अरहन्त सिद्ध अवस्था होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है अतः मोक्षतत्त्वमें श्रद्धा होनेपर अरहन्त सिद्धमें श्रद्धा होना अनिवार्य है। तथा मोक्षके कारण संवर निर्जरा हैं। संवर निर्जरा निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनियोंके ही होती है। अतः संवर निर्जरा तत्त्वोंपर श्रद्धा होनेपर संवर निर्जराके धारक मुनियोंपर श्रद्धा होगी ही। यही सच्चे गुरुका श्रद्धान हुआ। तथा रागादि रहित भावका नाम अहिंसा है। उसीको उपादेयरूप धर्म माननेसे वही धर्मका श्रद्धान हुआ। इस प्रकार तत्त्वश्रद्धानमें अरहन्त आदिका श्रद्धान भी गर्भित है। अतः सम्यक्त्वमें देव आदिके श्रद्धानका नियम है। इस विषयमें ज्ञातव्य यह है कि तत्त्वश्रद्धानके बिना अरहन्तके छियालीस गुणोंका यथार्थ ज्ञान नहीं होता क्योंकि जीव-अजीवको जाने बिना अरहन्त आदिके आत्माश्रित गुणोंको और शरीराश्रित गुणोंको भिन्न-भिन्न नहीं जानता। यदि जाने तो आत्माको परद्रव्यसे भिन्न अवश्य माने। इसलिए जिसके जीवादि तत्त्वोंका सच्चा श्रद्धान नहीं है उसके अरहन्त आदिका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। तथा मोक्ष आदि तत्त्वके श्रद्धान बिना अरहन्त आदिका भी माहात्म्य यथार्थ नहीं जानता। लौकिक अतिशयादिसे अरहन्तका, तपश्चरणादिसे गुरुका और परजीवोंकी हिंसा आदि न करनेसे धर्मका माहात्म्य जानता है। यह सब तो पराश्रित भाव हैं। आत्माश्रित भावोंसे

अपि च—

वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा स्नात्वा रुधिरकर्दमे॥
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ॥ [ ] १

तद्धीः—देवगुरुधर्मबुद्धिः। इतरा निर्दोषे देवे निर्ग्रन्थे गुरौ अहिंसालक्षणे च धर्मे तद्बुद्धिः ॥१२॥

अथ सम्यक्त्वसामग्रीमाशंसति—

तद् द्रव्यमव्यथमुदेतु शुभैः स देशः संतन्यतां प्रतपतु प्रततं स कालः। ५
भावः स नन्दतु सदा यदनुग्रहेण प्रस्तौति तत्त्वरुचिमाप्तगवी नरस्य ॥१३॥

द्रव्यं—जिनदेहतत्प्रतिमादि। देशः—समवसरणचैत्यालयादिः। कालः—जिनजन्माभिषेकनिष्क्रमणादि। भावः—औपशमिकादि। तत्त्वरुचि—तत्त्वं जीवादिवस्तुयाथात्म्यम्। उक्तं च— १

अरहन्त आदिका श्रद्धान ही यथार्थ श्रद्धान है और वह तत्त्वश्रद्धान होनेपर ही होता है। इसलिए जिसके अरहन्त आदिका सच्चा श्रद्धान होता है उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही है। तथा तत्त्वोंमें जीव-अजीवके श्रद्धानका प्रयोजन स्व और परका भिन्न श्रद्धान है। और आस्रव आदिके श्रद्धानका प्रयोजन रागादिको छोड़ना है। सो स्व और परका भिन्न श्रद्धान होनेपर परद्रव्यमें रागादि न करनेका श्रद्धान होता है। इस तरह तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन स्व और परका भिन्न श्रद्धान है और स्व और परके भिन्न श्रद्धानका प्रयोजन है आपको आप जानना अतः आत्मश्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है क्योंकि वही मूलभूत प्रयोजन है। इस तरह भिन्न प्रयोजनोंसे भिन्न लक्षण कहे है। वास्तवमें तो जब मिथ्यात्व कर्मका उपशमादि होनेपर सम्यक्त्व होता है वहाँ चारों लक्षण एक साथ पाये जाते हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानमें चारों ही लक्षण होते हैं। यहाँ सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है क्योंकि—

जो स्त्री, शस्त्र, रुद्राक्षमाला आदि रागके चिह्नोंसे कलंकयुक्त हैं तथा लोगोंका बुरा-भला करनेमें तत्पर रहते हैं, वे देव मुक्तिके साधन नहीं हो सकते।

तथा—जो सब प्रकारकी वस्तुओंके अभिलाषी हैं, सब कुछ खाते हैं—जिनके भक्ष्य-अभक्ष्यका विचार नहीं है, परिग्रह रखते हैं, ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करते, तथा मिथ्या उपदेश करते है वे गुरु नहीं हो सकते।

तथा—देव, अतिथि, मन्त्रसिद्धि, औषध और माता-पिताके उद्देश्यसे किये गये श्राद्धके निमित्तसे भी की गयी हिंसा मनुष्यको नरकमें ले जाती है। तब अन्य प्रकारसे की गयी हिंसाका तो कहना ही क्या है?

और भी कहा है—

यदि वृक्षोंको काटनेसे, पशुओंकी हत्या करनेसे और खूनसे भरी हुई कीचड़में स्नान करनेसे स्वर्गमें जाते हैं तो फिर नरकमें क्या करनेसे जाते हैं?

अतः निर्दोष देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसामयी धर्ममें बुद्धि ही सम्यक्त्व है ॥१२॥

आगे सम्यक्त्वकी सामग्री बतलाते हैं—

वह द्रव्य बिना किसी बाधाके अपना कार्य करनेके लिए समर्थ हो, वह देश सदा शुभ कल्याणोंसे परिपूर्ण रहे, वह काल सदा शक्ति सम्पन्न रहे, और वह भाव सदा समृद्ध हो जिनके अनुग्रहसे परापर गुरुओंकी वाणी जीवमें उसी प्रकार, तत्त्व रुचि उत्पन्न करती है जैसे प्रामाणिक पुरुषके द्वारा दी गयी विश्वस्त गौ मनुष्यको दूध प्रदान करती है ॥१३॥

'चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थितः ।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ॥' [तत्त्वानुशा. १११]

तस्य रुचिः श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मस्वरूपं न त्विच्छालक्षण, तस्योपशान्तकषायादिषु मुक्तात्मसु चासंभवात् । आप्तगवो—परापरगुरूणां गौर्वाक् तत्त्वरुचिं प्रस्तौति—प्रक्षरति सुरभिरिव क्षीरम् । नरस्य—मानुषस्यात्मनो वा ॥१३॥

अथ परमाप्तलक्षणमाह—

मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्युक्तः सार्वज्ञसंपदा ।
शास्ति मुक्तिपथं भव्यान् योऽसावाप्तो जगत्पतिः ॥१४॥

दोषैः । ते यथा—

क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् ।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।
त्रिजगत्सर्वभूताना दोषाः साधारणा इमे ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।—[आप्तस्वरूप १५-१७ ।]

एतेनापायापगमातिशय उक्त. । सार्वज्ञ्यसंपदा—सार्वज्ञ्ये अनन्तज्ञानादिचतुष्टय-लक्षणायां जीवन्मुक्तौ, संपत्—समवसरणाष्टमहाप्रातिहार्यादिविभूतिस्तया । एतेन ज्ञानातिशयः पूजातिशयश्चोक्तः । शास्तीत्यादिः । एतेन वचनातिशय उक्तः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् ॥१४॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी सामग्री है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव । द्रव्य है जिनबिम्ब आदि । क्षेत्र है समवसरण, चैत्यालय आदि । काल है जिन भगवान्‌का जन्म-कल्याण या तपकल्याणक आदिका काल या जीवके संसार परिभ्रमणका काल जब अर्ध-पुद्गल परावर्त शेष रहे तब सम्यग्दर्शन होता है । क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेपर जीव इससे अधिक काल तक संसारमें भ्रमण नहीं करता । तथा जब जीव सम्यग्दर्शनके अभिमुख होता है तो उसके अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण रूप भाव होते है । ये ही भाव हैं जिनके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती । इस सब सामग्रीके होनेपर जीवकी तत्त्वमें रुचि होती है । आचार्य परम्परासे चली आती हुई जिनवाणीको सुनकर वस्तुके यथार्थ स्वरूपके प्रति रुचि अर्थात् श्रद्धान होता है । तत्त्वका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

जो चेतन या अचेतन पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे जो भाव है उसे याथात्म्य या तत्त्व कहते हैं ।

उस तत्त्वकी रुचि अर्थात् विपरीत अभिप्रायरहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । वह सम्यग्दर्शन आत्माका परिणाम है । रुचिका अर्थ इच्छा भी होता है । किन्तु यहाँ इच्छा अर्थ नहीं लेना चाहिए । इच्छा मोहकी पर्याय है अतः ग्यारहवें आदि गुणस्थानोंमें तथा मुक्त जीवोंमें इच्छा नहीं होती, किन्तु सम्यग्दर्शन होता है ॥१३॥

आगे परम आप्तका लक्षण कहते हैं—

जो अठारह दोषोंसे मुक्त है, और सार्वज्ञ अर्थात् अनन्तज्ञान आदि चतुष्टयरूप जीवन्मुक्तिके होनेपर समवसरण, अष्ट महाप्रातिहार्य आदि विभूतिसे युक्त है तथा भव्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश देता है वह तीनों लोकोंका स्वामी आप्त है ॥१४॥

अथ मुमुक्षून् परमाप्तसेवायां व्यापारयति—

यो जन्मान्तरतत्त्वभावनभुवा बोधेन बुद्ध्वा स्वयं,
श्रेयोमार्गमपास्य घातिदुरितं साक्षादशेषं विदन् ।
सद्यस्तीर्थकरत्वपक्त्रिमगिरा कामं निरीहो जगत्,
तत्त्वं शास्ति शिवार्थिभिः स भगवानाप्तोत्तमः सेव्यताम् ॥१५॥

घातिदुरितं—मोहनीय-ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायाख्यकर्मचतुष्टयम् । साक्षादशेषं विदन् । मीमांसकं प्रत्येतत्साधनं यथा—कश्चित्पुरुषः सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् । यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं तत्तत्साक्षात्कारि, यथापगततिमिरं लोचनं रूपसाक्षात्कारि । तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च विवादापन्नः कश्चित्' इति सकलपदार्थग्रहणस्वभावत्वं नात्मनोऽसिद्धं चोदनात् (—तः) सकलपदार्थपरिज्ञानस्यान्यथायोगादन्धस्येवादर्शाद् रूपप्रतीतिरिति । व्याप्तिज्ञानोत्पत्तिबलाच्चाशेषविषयज्ञानसंभवः, केवलं वैशद्ये विवादः । तत्र दोषावरणापगम एव कारणं

विशेषार्थ—भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, अहंकार, रति, अचरज, जन्म, निद्रा और विषाद ये अठारह दोष तीनों लोकोंके सब प्राणियोंमें पाये जाते हैं। इन दोषोंसे जो छूट गया है वही निर्दोष सच्चा आप्त है। और जिनमें ये दोष सदा वर्तमान रहते हैं उन्हें संसारी कहते हैं।

तीनों लोकोंके सब संसारी जीवोंमें ये अठारह दोष पाये जाते हैं। जो इन अठारह दोषोंको नष्ट करके उनसे मुक्त हो जाता है उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। इन अठारह दोषोंके हटनेपर उस जीवन्मुक्त परमात्मामें अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यरूप अनन्तचतुष्टय प्रकट होते हैं और वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है। तब उसकी उपदेश-सभा लगती है उसे समवसरण कहते हैं क्योंकि आत्मकल्याणके इच्छुक सभी जीव उसमें जा सकते हैं। समवसरणकी विभूतिका वर्णन त्रिलोक प्रज्ञप्तिके चतुर्थ अधिकारसे जान लेना चाहिए। तब आप्तकी दिव्यध्वनि खिरती है। इस तरह आप्तमें चार अतिशय होते हैं। प्रथम अपायका चले जाने रूप अतिशय, दूसरा ज्ञानातिशय, तीसरा पूजातिशय और चौथा वचनातिशय। अतिशयका अर्थ होता है पराकाष्ठा या चरम सीमा। सब दोषोंका सदाके लिए हट जाना अपायका चले जाने रूप प्रथम अतिशय है। सब अपाय अर्थात् बुराई की जड़ दोष हैं। उनके हटे बिना आगेके अतिशय नहीं हो सकते। दोषोंके हटनेपर अनन्तज्ञान प्रकट होनेसे सर्वज्ञ होते हैं यह ज्ञानातिशय है। सर्वज्ञ होनेपर सब उनकी पूजा करते हैं यह पूजातिशय है। इसीसे उन्हें 'अर्हत्' कहा जाता है। तब उनकी दिव्यध्वनि खिरती है जिसे समवसरणमें उपस्थित सब जीव अपनी-अपनी भाषामें समझ लेते हैं। इस तरह सच्चे आप्तके तीन लक्षण हैं—वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ॥१४॥

आगे मुमुक्षुओंको सच्चे आप्तकी सेवा करनेके लिए प्रेरित करते हैं—

जो पूर्वजन्ममें किये गये तत्त्वाभ्याससे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा परोपदेशके बिना स्वयं मोक्षमार्गको जानकर मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मरूप घातिया कर्मोंको नष्ट करके समस्त लोकालोकवर्ती पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है और उसी क्षणमें उदयमें आये तीर्थंकर नामक पुण्य कर्मके उदयसे खिरनेवाली दिव्यध्वनिके द्वारा अत्यन्त निष्कामभावसे भव्यजीवोंको जीवादि तत्त्वका उपदेश देता है, मोक्षके इच्छुक भव्यजीवोंको उस भगवान् परम आप्तकी आराधना करनी चाहिए ॥१५॥

रजोनीहाराद्यावृतार्थज्ञानस्येव तदपगम इति। तत्साधनं यथा, दोषावरणे क्वचिन्निर्मूलं प्रलयमुपव्रजतः प्रकृष्यमाणहानित्वात्। यस्य प्रकृष्यमाणहानि. स क्वचिन्निर्मूलं प्रलयमुपव्रजति, यथा अग्निपुटपाकापसारितकिट्टकालिकाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गमलद्वयात्मनि हेम्नि मल इति, निर्ह्रासातिशयवती च दोषावरणे इति। सद्य इत्यादि—केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरभाविना तीर्थकरत्वाख्यनामकर्मविशेषपाकेन निर्वृत्तया वाचा। कामं—यथेष्टम्। जगतां। निरीहः—शासनतत्फलवाञ्छारहितः तन्निमित्तमोहप्रक्षयात्। भगवान्, इन्द्रादीना पूज्य ॥१५॥

विशेषार्थ—आप्त कैसे बनता है यह यहाँ स्पष्ट किया है। पूर्वजन्ममें तत्त्वाभ्यासपूर्वक सम्यक्त्वको प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि कर्मभूमिया मनुष्य ही केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें तीर्थंकर नामक कर्मका बन्ध करता है। कहा है[1]—

प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें या द्वितीयोपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें स्थित कर्मभूमिज मनुष्य अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर चार गुणस्थानोंमें केवली या श्रुतकेवलीके निकट तीर्थंकर नामक कर्मके बन्धको प्रारम्भ करता है।

उसके बाद मरण करके देवगतिमें जाता है। यदि पहले नरककी आयुबन्ध कर लेता है तो नरकमें जाता है। वहाँसे आकर तीर्थंकर होता है। तब स्वयं ही मोक्षमार्गको जानकर दीक्षा लेकर तपस्याके द्वारा चार घातिकर्मोंको नष्ट करके सर्वज्ञ हो जाता है। जिस क्षणमें सर्वज्ञ होता है उसी क्षणमें पहले बाँधा हुआ तीर्थंकर नामक कर्म उदयमें आता है इससे पहले उसका उदय नहीं होता। उसी कर्मके उदयमें आते ही समवसरण अष्ट महाप्रातिहार्य आदि विभूति प्राप्त होती है और उनकी वाणी खिरती है। पहले लिख आये हैं कि वेदवादी मीमांसक पुरुषकी सर्वज्ञता स्वीकार नहीं करते, वे उसका खण्डन करते हैं। उनके सामने जैनाचार्योंने जिन युक्तियोंसे पुरुषकी सर्वज्ञता सिद्ध की है उसका थोड़ा-सा परिचय यहाँ दिया जाता है—

कोई पुरुष समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है, क्योंकि समस्त पदार्थोंको जाननेका उसका स्वभाव होनेके साथ ही, जो उसके जाननेमें रुकावट पैदा करनेवाले कारण हैं वे नष्ट हो जाते हैं। जो जिसके ग्रहण करनेका स्वभाव रखते हुए रुकावट पैदा करनेवाले कारण दूर हो जाते हैं वह उसे अवश्य जानता है, जैसे रोगसे रहित आँख रूपको जानती है। कोई एक विवादग्रस्त व्यक्ति समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेका स्वभाववाला होनेके साथ ही रुकावट पैदा करनेवाले कारणोंको नष्ट कर देता है। इस अनुमानसे पुरुषविशेषकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। शायद मीमांसक कहे कि जीवका समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेका स्वभाव असिद्ध है, किन्तु उसका ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वह मानता है कि वेदसे पुरुषको समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है। यदि पुरुषका वैसा स्वभाव न हो तो वेदसे पुरुषको सब पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता, जैसे अन्धेको दर्पणके देखनेसे अपना मुँह दिखाई नहीं देता। तथा व्याप्तिज्ञानके बलसे भी यह सिद्ध होता है कि पुरुष सब पदार्थोंको जान सकता है। जब कोई व्यक्ति धूमके होनेपर आग देखता है और आगके अभावमें धुआँ नहीं देखता तब वह नियम बनाता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है और जहाँ आग नहीं होती वहाँ धुआँ भी नहीं होता। इसीको व्याप्ति कहते हैं। यह व्याप्ति सर्वदेश और सर्वकालको लेकर होती है। अतः व्याप्तिका निर्माता एक

---

१. पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते ॥—गो. कर्म., गा. ९३।

अथ ऐदंयुगीनानां तथाविधाप्तनिर्णयः कुतः स्यादित्यारेकायामिदमाह—

शिष्टानुशिष्टात् सोऽत्यक्षोऽप्यागमाद्युक्तिसंगमात् ।
पूर्वापराविरुद्धाच्च वेद्यतेऽद्यतनैरपि ॥१६॥

शिष्टानुशिष्टात्—शिष्टा आप्तोपदेशसंपादितशिक्षाविशेषाः स्वामिसमन्तभद्रादयस्तैरनुशिष्टाद् गुरुपर्वक्रमेणोपदिष्टात् । आगमात्—

'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥' [रत्न० श्रा० ५]

इत्यादिकात् । युक्तिसंगमात्—युक्त्या संयुज्यमानात् । युक्तिश्चात्र—आप्तागमः प्रमाणं स्याद् यथावद् वस्तुसूचकत्वादित्यादिका ।

पूर्वापराविरुद्धात्—'न हिंस्यात्सर्वभूतानि' इति 'यज्ञार्थं पशवः स्रष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा' इत्यादिवत् (न) पूर्वापरविरोधसहितात् । अद्यतनैः—साम्प्रतिकैः श्रेयोर्थिभिः ॥१६॥

तरहसे सर्वदेश और सर्वकालका ज्ञाता होता है तभी तो वह इस प्रकारकी व्याप्ति बनाता है। इस व्याप्तिज्ञानसे सिद्ध है कि पुरुष सबको जान सकता है। केवल स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष जाननेमें विवाद रहता है। सो उसमें दोष और आवरणका हट जाना ही कारण है। जैसे धूल, बर्फ आदिसे ढके हुए पदार्थके ज्ञानमें धूल, बर्फ आदिका हट जाना ही कारण है। दोष और आवरणके दूर हो जानेका साधन इस प्रकार किया जाता है—किसी व्यक्ति विशेषमें दोष और आवरण जड़मूलसे नष्ट हो जाते हैं क्योंकि उनकी हानि प्रकृष्यमाण है—बढ़ती जाती है। जिसकी हानि बढ़ती जाती है वह कहीं जड़मूलसे नष्ट हो जाता है जैसे अग्निमें तपानेसे सोनेमें-से कीट आदि अन्तरंग मल और कालिमा आदि बहिरंग मल नष्ट हो जाते हैं। दोष और आवरण भी क्षीण होते-होते एकदम क्षीण हो जाते हैं इस प्रकार पुरुषकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। स्वामी समन्तभद्रने कहा है—

किसी व्यक्तिमें दोष और आवरणकी हानि पूरी तरहसे होती है क्योंकि वह तरतम भावसे घटती हुई देखी जाती है। जैसे स्वर्णपाषाणमें बाह्य और अभ्यन्तर मलका क्षय हो जाता है। [विशेषके लिए देखो—अष्टसहस्री टीका] ॥१५॥

इसपर शंका होती है कि आजके युगके मनुष्य इस प्रकारके आप्तका निर्णय कैसे करें ? उसका समाधान करते हैं—

यद्यपि आप्तता अतीन्द्रिय है चक्षु आदिके द्वारा देखी नहीं जा सकती, फिर भी आप्तके उपदेशसे जिन्होंने विशिष्ट शिक्षा प्राप्त की है ऐसे स्वामी समन्तभद्र जैसे शिष्ट पुरुषोंके द्वारा गुरु परम्परासे कहे गये, और युक्तिपूर्ण तथा पूर्वापर अविरुद्ध आगमसे आजकलके मनुष्य भी परम आप्तको जान सकते हैं ॥१६॥

विशेषार्थ—अपने कल्याणके इच्छुक आजके भी मनुष्य आगमसे आप्तका निर्णय कर सकते हैं। आगमके तीन विशेषण दिये हैं। प्रथम तो वह आगम ऐसा होना चाहिए जो गुरुपरम्परासे प्राप्त उपदेशके आधारपर समन्तभद्र जैसे आचार्योंके द्वारा रचा हो इनके बिना आप्तता नहीं हो सकती।

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥—आप्तमी., श्लो. ४ ।

यतो वचसो दुष्टत्वादुष्टत्वे तथाविधाश्रयवशाद् भवतस्ततः 'शिष्टानुशिष्टात्' इत्युक्तमत एवेदमाह—

विशिष्टमपि दुष्टं स्याद् वचो दुष्टाशयाश्रयम् ।
घनाम्बुवत्तदेवोच्चैर्वन्द्यं स्यात्तीर्थगं पुनः ॥१७॥

आशयः—चित्तमाधारश्च । तीर्थगं—अदुष्टचित्तः पुमान् पवित्रदेशश्च तीर्थं तदाश्रयम् । ॥१७॥

अथ वाक्यस्य यत्र येन प्रामाण्यं स्यात्तत्र तेन तत्कथयति—

दृष्टेऽर्थेऽध्यक्षतो वाक्यमनुमेयेऽनुमानतः ।
पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाण्यताम् ॥१८॥

दृष्टे—प्रत्यक्षप्रमाणग्रहणयोग्ये । प्रमाण्यतां—प्रमाणं क्रियताम् ॥१८॥

दूसरा विशेषण दिया है कि वह आगम युक्ति संगत हो। जैसे आप्तस्वरूपके प्रथम श्लोकमें ही कहा[1] है—

जैसाका तैसा वस्तुस्वरूपका सूचक होनेसे आप्तके द्वारा कहा गया आगम प्रमाण होता है। अतः जो यथावद् वस्तुस्वरूपका सूचक है वही आगम प्रमाण है। तीसरा विशेषण है, उसमें पूर्वापर अविरुद्ध कथन होना चाहिए। जैसे स्मृतिमें कहा है 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि'—सब प्राणियोंकी हिंसा नहीं करना चाहिए। और उसीमें कहा है[2]—

"ब्रह्माजीने स्वयं यज्ञके लिए ही पशुओंकी सृष्टि की है।" इस प्रकारके पूर्वापर विरुद्ध वचन बतलाते हैं कि उनका रचयिता कैसा व्यक्ति होगा। दोषसहित या दोषरहित वक्ताके आश्रयसे ही वचनमें दोष या निर्दोषपना आता है। अतः आगमसे वक्ताकी पहचान हो जाती है ॥१६॥

आगे उसीको कहते हैं—

जैसे गंगाजलकी वर्षा करनेवाले मेघका जल पथ्य होते हुए भी दूषित स्थानपर गिरकर अपथ्य हो जाता है वैसे ही आप्तके द्वारा उपदिष्ट वचन भी दर्शनमोहके उदयसे युक्त पुरुषका आश्रय पाकर श्रद्धाके योग्य नहीं रहता। तथा जैसे मेघका जल पवित्र देशमें पवित्र हो जाता है वैसे ही आप्तके द्वारा उपदिष्ट वचन सम्यग्दृष्टि पुरुषका आश्रय पाकर अत्यन्त पूज्य हो जाता है ॥१७॥

विशेषार्थ—ऊपर कहा था कि वचनकी दुष्टता और अदुष्टता वचनके आश्रयभूत पुरुषकी दुष्टता और अदुष्टतापर निर्भर है। यदि पुरुष कलुषित हृदय होता है तो अच्छा वचन भी कलुषित हो जाता है। अतः आप्तके द्वारा उपदिष्ट वचन भी मिथ्यादृष्टिकी व्याख्याके दोषसे दूषित हो जाता है। अतः आगमके प्रामाण्यका भी निर्णय करना चाहिए। आगम या वचनके प्रामाण्यका निर्णय विभिन्न प्रकारसे किया जाता है ॥१७॥

जहाँ जिस प्रकारसे वाक्यकी प्रमाणता हो वहाँ उसी प्रकारसे उसे करना चाहिए। ऐसा कहते हैं—

प्रत्यक्ष प्रमाणसे ग्रहण योग्य वस्तुके विषयमें वाक्यको प्रत्यक्षसे प्रमाण मानना चाहिए। अनुमान प्रमाणसे ग्रहण योग्य वस्तुके विषयमें वाक्यको अनुमानसे प्रमाण मानना चाहिए। और परोक्ष वस्तुके विषयमें वाक्यको पूर्वापर अविरोधसे प्रमाण मानना चाहिए ॥१८॥

---

१. 'आप्तागमः प्रमाणं स्याद्यथावद्वस्तुसूचकः'—आप्तस्वरूप, १ श्लो.।

२. 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयंभुवा।'—मनुस्मृति, ५।३९।

अथ आप्तानाप्तोक्तवाक्ययोर्लक्षणमाह—

> **एकवाक्यतया विष्वग्वर्तते साऽर्हती श्रुतिः।**
> **क्वचित्किंचित् केनचिद् धूर्ता वर्तन्ते वाक्क्रियाविना ॥१९॥**

एकवाक्यतया—एकादृशार्थप्रतिपादकत्वेन। विष्वक्—सिद्धान्ते तर्के काव्यादौ च। क्वचित्— ३
नियतविषये। धूर्ताः—प्रतारणपराः। वर्तन्ते—जीवन्ति ॥१९॥

अथ जिनवाक्यहेतुप्रतिघातशङ्कां प्रत्याचष्टे—

> **जिनोक्ते वा कुतो हेतु बाधगन्धोऽपि शंक्यते।** ६
> **रागादिना विना को हि करोति वितथं वचः ॥२०॥**

जिनः—रागादीना जेता। यत्र तु रागादयः स्युस्तत्र वचसो वैतथ्यं संभवत्येव। तदुक्तम्—

विशेषार्थ—परस्पर सापेक्ष पदोंके निरपेक्ष समुदायको वाक्य कहते हैं। यदि वाक्य-का विषय प्रत्यक्षगम्य हो तो प्रत्यक्षसे जानकर उस कथनको प्रमाण मानना चाहिए। यदि वाक्यका विषय अनुमान प्रमाणके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य हो तो साधनके द्वारा साध्यको जानकर उसे प्रमाण मानना चाहिए। यदि वह परोक्ष हो, हम लोगोंके प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे ग्रहणके अयोग्य अतीन्द्रिय हो तो उस कथनको आगे पीछे कोई विरोध कथनमें न हो तो प्रमाण मानना चाहिए ॥१८॥

आगे आप्त और अनाप्तके द्वारा कहे गये वाक्योंके लक्षण कहते हैं—

जो सिद्धान्त, तर्क, काव्य आदि सब विषयोंमें एक रूपसे अर्थका कथन करता है वह अर्हन्त देवके द्वारा उपदिष्ट प्रवचन है। क्योंकि दूसरोंको धोखा देनेमें तत्पर धूर्त लोग जिन वचनके किसी नियत विषयमें किसी नियत वचन, चेष्टा और वेष आदिके द्वारा प्रवृत्त होते हैं ॥१९॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकार पं. आशाधरजीने विक्रम संवत् १३०० में इसकी टीकाको पूर्ण किया था। उस समय तक भट्टारक परम्परा प्रवर्तित हो चुकी थी। उन्होंने किन धूर्तोंकी ओर संकेत किया है यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। फिर भी उनके इस कथनसे ऐसा लगता है कि जिनवचनोंमें भी विपर्यास किया गया है। भट्टारक युगमें कुछ इस प्रकारके ग्रन्थ बनाये गये हैं जो तथोक्त धूर्तोंकी कृतियाँ हैं। सच्चे जिनवचन वे ही हैं जो सर्वत्र एकरूपताको लिये हुए होते हैं चाहे सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ हों, या तर्क-विषयक ग्रन्थ हों या कथा काव्य हों उनमें जिनवचनोंकी एकरूपता होती है। यही उनकी प्रामा-णिकताका सूचक है। वीतरागताका पोषण और समर्थन ही जिनवचनोंकी एकरूपता है। यदि किसी आचार्य-प्रणीत पुराणादिमें प्रसंगवश रागवर्द्धक वर्णन होता भी है तो आगे ही रागकी निस्सारता भी बतला दी जाती है। यदि कहीं पापसे छुड़ानेके लिए पुण्य-संचयकी प्रेरणा की गयी है तो आगे पुण्यसे भी बचनेकी प्रेरणा मिलती है। अतः प्रत्येक कथनका पौर्वापर्य देखकर ही निष्कर्ष निकालना उचित होता है ॥१९॥

आप्तोक्त वचनमें युक्तिसे बाधा आनेकी आशंकाका परिहार करते हैं—

अथवा जिनभगवान्‌के द्वारा कहे गये वचनमें युक्तिसे बाधा आनेकी गन्धकी भी शंका क्यों की जाती है? क्योंकि राग, द्वेष और मोहके बिना मिथ्या वचन कौन कहता है अर्थात् कोई नहीं कहता ॥२०॥

'रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते वितथम् ।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥' [आप्तस्वरूप ४]

ग्रन्थः—लेशः ॥२०॥

अथ रागाद्युपहृतानामाप्तता प्रतिक्षिपति—

ये रागादिजिताः किंचिज्जानन्ति जनयन्त्यपि ।
संसारवासनां तेऽपि यद्याप्ताः किं ठकैः कृतम् ॥२१॥

किं ठकैः कृतं येन तेऽप्याप्तत्वेन न प्रतिपद्यन्त इति सामर्थ्याद् गम्यते ॥२१॥

अथ आप्ताभासानामुपेक्षणीयतोपायमुपदिशति—

विशेषार्थ—जो राग आदिको जीत लेता है उसे जिन कहते हैं। अत. रागादिके जेता जिनके वचनोंमें मिथ्यापना होना सम्भव नहीं है। ऐसी दशामें उनके वचनोंमें युक्तिसे बाधा आ नहीं सकती। हाँ, जहाँ रागादि होते हैं वहाँ वचन मिथ्या होते ही हैं। कहा भी है—

'राग से, अथवा द्वेष से, अथवा मोहसे झूठा वचन कहा जाता है। जिसमें ये दोष नहीं हैं उसके झूठ बोलनेका कोई कारण नहीं है।'

जो राग आदिसे ग्रस्त हैं उनकी आप्तताका निषेध करते हैं—

जो राग-द्वेष-मोहसे अभिभूत होते हुए थोडा-सा ज्ञान रखते हैं तथा संसारकी वासनाको—स्त्री-पुत्रादिकी चाहके संस्कारको पैदा करते हैं, वे भी यदि यथार्थ वक्ता माने जाते हैं तो ठगोंने ही क्या अपराध किया है, उन्हें भी आप्त मानना चाहिए ॥२१॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकारने अपनी टीकामें ठकका अर्थ खारपट किया है। आचार्य अमृतचन्द्रने इन खारपटिकोंका मत इस प्रकार कहा[1] है—

'थोड़े-से धनके लोभसे शिष्योंमें विश्वास पैदा करनेके लिए दिखलानेवाले खारपटिकोंके तत्काल घड़ेमें बन्द चिड़ियाके मोक्षकी तरह मोक्षका श्रद्धान नहीं करना चाहिए।' इस कथन-से ऐसा ज्ञात होता है कि खारपटिक लोग थोड़े-से भी धनके लोभसे मोक्षकी आशा दिलाकर उसे मार डालते थे। और वे अपने शिष्योंमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिए अपने इस मोक्षका प्रदर्शन भी करते थे। जैसे घड़े में चिड़िया बन्द है वैसे ही शरीरमें आत्मा बन्द है। और जैसे घड़ेको फोड़नेपर चिड़िया मुक्त हो जाती है वैसे ही शरीरको नष्ट कर देनेपर आत्मा मुक्त हो जाती है। ऐसा उनका मत प्रतीत होता है। ऐसे ठगोंसे सावधान रहना चाहिए। धर्ममार्गमें भी ठगीका व्यापार चलता है ॥२१॥

आप्ताभासोंकी उपेक्षा करनेका उपदेश देते हैं—

१. धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥
—पुरुषार्थ., श्लो. ८८ ।

योऽर्धाङ्गे शूलपाणिः कलयति दयितां मातृहा योऽत्ति मांसं,
पुंस्ख्यातीक्षाबलाद्यो भजति भवरसं ब्रह्मवित्तत्परो यः ।
यश्च स्वर्गादिकामः स्यति पशुमकृपो भ्रातृजायादिभाजः,
कानीनाद्याश्च सिद्धा य इह तदवधिप्रेक्ष्यया ते ह्युपेक्ष्याः ॥२२॥

शूलस्त्रीयोगाद् द्वेषरागसंप्रत्ययेन शम्भोराप्तत्वनिषेधः । मातृहा इत्यादि—प्रसूतिकाले निजजननीजठर-विदारणात्सुगतस्यातिनिर्दयत्वम् ।

'मांसस्य मरणं नास्ति नास्ति मांसस्य वेदना ।
वेदनामरणाभावात् को दोषो मांसभक्षणे ॥' [ ]

इति युक्तिबलाच्च मांसभोजनेन रागः सिद्धयन्नाप्ततां व्याहन्ति । पुमित्यादि—पुमान्—पुरुषः, ख्यातिः—प्रकृतिः[1], तयोरीक्षा—ज्ञानं तदवष्टम्भाद्विषयसुखसेविनः सांख्यस्य सुतरामा[प्ता-]सत्वम् । तथा च तन्मतम्—

'हंस पिब लस खाद त्वं विषयानुपजीव मा कृथाः शङ्काम् ।
यदि विदितं कपिलमतं प्राप्स्यसि सौख्यं च मोक्षं च ॥' [ ]

तथा—

'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः ।
शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥' [ ]

जो महादेव अपने शरीरके आधे भागमें अपनी पत्नी पार्वतीको और हाथमें त्रिशूल धारण करते हैं, जो बुद्ध मांस खाता है और जिसने जन्मसमय अपनी माताका घात किया, जो सांख्य प्रकृति और पुरुषके ज्ञानके बलसे विषयसुखका सेवन करता है, जो वेदान्ती ब्रह्मको जानते हुए विषयसुखमें मग्न रहता है, जो याज्ञिक स्वर्ग आदिकी इच्छासे निर्दय होकर पशुघात करता है, तथा जो व्यास वगैरह भाईकी पत्नी आदिका सेवन करनेवाले प्रसिद्ध हैं उन सबके शास्त्रोंको पढ़कर तथा उनका विचार करके उनकी उपेक्षा करनी चाहिए, अर्थात् न उनसे राग करना चाहिए और न द्वेष करना चाहिए ॥२२॥

विशेषार्थ—महादेव त्रिशूल और पार्वतीको धारण करते हैं अतः द्वेष और रागसे सम्बद्ध होनेके कारण उनके आप्त होनेका निषेध किया है। बुद्धने माताकी योनिसे जन्म नहीं लिया था क्योंकि योनि गन्दी होती है अतः माताका उदर विदारण करके जन्मे थे इसलिए बुद्ध अतिनिर्दय प्रमाणित होते हैं। तथा उनका कहना है—

मांसका न तो मरण होता है और न मांसको सुख-दुःखका अनुभव होता है। अतः वेदना और मरणके अभावमें मांस भक्षणमें कोई दोष नहीं है।

इस युक्तिके बलसे उनका स्वयं मरे पशुका मांस भोजनमें राग सिद्ध होता है अतः वे भी आप्त नहीं हो सकते। सांख्यका मत है—

'हँस, खा, पी, नाच-कूद, विषयोंको भोग। किसी प्रकारकी शंका मत कर। यदि तू कपिलके मतको जानता है तो तुझे मोक्ष और सुख प्राप्त अवश्य होगा।'

---

१. हस पिब लल मोद नित्यं विषयानुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्काम् ।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यं च ॥—सां. का. माठर. पृ ५३।

२. तथा च उक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्—पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो......। तत्त्वया०, पृ. ६।

ब्रह्मेत्यादि—ब्रह्म आनन्दैकरूपं तत्त्वं वेत्ति अथ च तत्परो भवरसभजनप्रधानो वेदान्ती कथमाप्तः परीक्षकैर्लक्ष्यते । तथा च केनचित्तं प्रत्युक्तम् (?)

'संध्यावन्दनवेलायां मुक्तोऽहमिति मन्यसे ।
खण्डलड्डुकवेलायां दण्डमादाय धावसि ॥' [ ]

यश्चेत्यादि—'श्वेतमजमालभेत स्वर्गकामः' इत्याद्यपौरुषेयवाक्यग्रहावेशात् विषयतृष्णातरलितमनसः पशुहिंसानन्दसान्द्रस्य याज्ञिकस्य कः सुधीराप्तता श्रद्दधीत । तथा च मुरारिसूक्तं विश्वामित्राश्रमवर्णनप्रस्तावे—

'तत्तादृक् तृणपूलकोपनयनक्लेशाच्चिरद्वेषिभि-
र्मेध्या वत्सतरी विहस्य वटुभिः सोल्लुण्ठमालभ्यते ।
अप्येष प्रतनूभवत्यतिथिभिः सोच्छ्वासनासापुटै-
रापीतो मधुपर्कपाकसुरभिः प्राग्वंशजन्मानिलः ॥'

[अनर्घराघव, अंक २, श्लो. १४]

स्यति—हिनस्ति । कानीनाद्याः—कन्याया अपत्यं कानीनो व्यासमुनिः । स किल भ्रातृजायाव्यवायपरवान् प्रसिद्धः । तथा च पठन्ति—

'कानीनस्य मुनेः स्वबान्धववधूवैधव्यविध्वंसिनो
नप्तारः किल गोलकस्य तनया. कुण्डाः स्वयं पाण्डवा. ।
ते पञ्चापि समानजानय इति ख्यातास्तदुत्कीर्तनात्
पुण्यं स्वस्त्ययनं भवेद्दिनदिने धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः ॥' [ ]

'जो सांख्यके पचीस तत्त्वोंको जानता है वह किसी भी आश्रममें आसक्त हो, चोटी रखता हो, या सिर मुँड़ाता हो, या जटाजूट रखता हो, अवश्य ही मुक्त हो जाता है इसमें संशय नहीं है ।'

वेदान्तीके प्रति किसीने कहा है—

'हे वेदान्ती ! सन्ध्यावन्दनके समय तो तू अपनेको मुक्त मानता है (अतः सन्ध्यावन्दन नहीं करता) । किन्तु खाँडके लड्डूके समय दण्ड लेकर दौड़ता है (कहीं लड्डू बँटे जाते हों तो सबसे पहले पहुँचता है) ।'

श्रुतिमें कहा है—'श्वेतमजमालभेत स्वर्गकामः' । स्वर्गके इच्छुकको सफेद बकरेकी बलि करनी चाहिए । यह अपौरुषेय वेदवाक्य है । इस प्रकारके आग्रहके वश होकर याज्ञिक पशुहिंसामें आनन्द मानता है । उसे कौन बुद्धिमान् आप्त मान सकता है । मुरारि मिश्रने विश्वामित्रके आश्रमका वर्णन करते हुए कहा है—

'मुनिबालकोंको गायोंके लिए घासके गट्ठर लानेमें जो कष्ट होता उसके कारण वे गायोंसे चिरकालसे द्वेष रखते । अतः अतिथिके स्वागतके लिए दो वर्षकी पवित्र गायको हँसकर बड़े उल्लासके साथ वे मारते । उससे मधुपर्क बनता । हवनके स्थानसे पूरबकी ओर बने घरसे निकली हुई वायु को, जो मधुपर्कके पाकसे सुगन्धित होती, अतिथिगण दीर्घ उच्छ्वासके साथ अपनी नाकसे पीते थे—सूँघते थे ।'

व्यास मुनिने अपने भाईकी पत्नीके साथ सम्भोग किया यह प्रसिद्ध है । कहा है—

'व्यासजीका जन्म कन्यासे हुआ था इसलिए उन्हें कानीन कहते हैं । उन्होंने अपने भाईकी बहूके वैधव्यका विध्वंस किया था अर्थात् उसके साथ सम्भोग करके सन्तान उत्पन्न

तथा वसिष्ठोऽक्षमालाख्यां चण्डालकन्यां परिणीयोपभुञ्जानो महर्षिरूढिमूढवान् । एवमन्येऽपि बहवस्तच्छास्त्रदृष्टया प्रतीयन्ते । यन्मनुः—

'अक्षमाला वशिष्ठेन प्रकृष्टाधमयोनिजा ।
शार्ङ्गी च मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥' [ ]
'एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नवकृष्टप्रसूतयः ।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥' [मनु. ९।२३-२४]

तत्कृते च धर्मोपदेशकः प्रेक्षावता समाश्वासः । तथा च पठन्ति—

ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥ [प्रमाणवा. १।३२]

अवधिः—शास्त्रम् ॥२२॥

अथ युक्त्यनुगृहीतपरमागमाधिगतपदार्थव्यवहारपरस्य मिथ्यात्वविजयमाविष्करोति—

यो युक्त्यानुगृहीतयाप्तवचनज्ञप्त्यात्मनि स्फारिते-
ष्वर्थेषु प्रतिपक्षलक्षितसदाद्यानन्त्यधर्मात्मसु ।
नीत्याऽऽक्षिप्तविपक्षया तदविनाभूतान्यधर्मोत्थया
धर्मं कस्यचिदर्पितं व्यवहरत्याहन्ति सोऽन्तस्तमः ॥२३॥

की थी। उनके पौत्र पाण्डव थे। पाण्डव स्वयं जारज थे। उनकी उत्पत्ति राजा पाण्डुसे न होकर देवोंसे हुई थी। फिर भी देवोंके वरदानसे वे पाँचों समान जन्मवाले कहे गये। दिनों-दिन उनका कल्याण हुआ। ठीक ही है, धर्मकी गति सूक्ष्म है। उसका समझमें आना कठिन है।' वशिष्ठने अक्षमाला नामक चण्डालकी कन्यासे विवाह करके उसका उपभोग किया और महर्षि कहलाये। इसी तरह उनके शास्त्रके अनुसार और भी बहुत-से हुए। मनु महाराजने कहा है—

'अत्यन्त नीच योनिमें उत्पन्न हुई अक्षमाला वशिष्ठसे तथा शार्ङ्गी मदपालसे विवाह करके पूज्य हुई। इस लोकमें ये तथा अन्य नीच कुलमें उत्पन्न हुई स्त्रियाँ अपने-अपने पतिके शुभ गुणोंके कारण उत्कर्षको प्राप्त हुईं।'

किन्तु सच्चे आप्तके लिए बुद्धिमानोंको धर्मोपदेशका ही सहारा है। कहा है—

'यदि अज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो उससे ठगाये जानेकी आशंका है। इससे मनुष्य आप्तके द्वारा कही गयी बातोंको जाननेके लिए किसी ज्ञानीकी खोज करते हैं।'

युक्तिसे अनुगृहीत आगमके द्वारा पदार्थोंको जानकर जो उनका व्यवहार करनेमें तत्पर रहते हैं वे मिथ्यात्वपर विजय प्राप्त करते हैं, यह कहते हैं—

जो युक्ति द्वारा व्यवस्थित आप्तवचनोंके ज्ञानसे आत्मामें प्रकाशित पदार्थोंमें, जो कि प्रतिपक्षी धर्मोंसे युक्त सत् आदि अनन्त धर्मोंको लिये हुए हैं, प्रतिपक्षी नयका निराकरण न करनेवाले तथा विवक्षित धर्मके अविनाभावी अन्य धर्मोंसे उत्पन्न हुए नयके द्वारा विवक्षित किसी एक धर्मका व्यवहार करता है वह अपने और दूसरोंके मिथ्यात्व या अज्ञानका विनाश करता है ॥२३॥

युक्त्या 'आप्तवचनं प्रमाणं दृष्टेष्टाविरुद्धत्वात्', सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादित्याद्यया । अनुगृहीतया—व्यवस्थितया आप्तवचनज्ञप्त्या ।

'जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हु मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥' [पञ्चास्ति., गा. २७]

इत्याद्यागमज्ञानेन । वचनमुपलक्षणं तेन आप्तसंज्ञादिजनितमपि ज्ञानमागम एव । तथा च सूत्रम्—

'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।' इति [परीक्षामुख ३।९५ ।]

स्फारितेषु—स्फुरद्रूपीकृतेषु । अर्थेषु—जीव-पुद्गल-धर्माधर्माकाशकालेषु पदार्थेषु प्रतीत्यादि । सत्—सत्ता भाव इत्यर्थ. । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । सत् आदिर्येषा नित्यभेदादीना धर्माणां ते सदादयः । प्रतिपक्षा विरुद्धधर्मा यथाक्रममसत्क्षणिकभेदादय. । प्रतिपक्षैर्लक्षिता विशिष्टाः सदादयः प्रतिपक्षलक्षितसदादयस्ते च ते अनन्ता एव आनन्त्या धर्मा विशेषाः प्रतिपक्षलक्षितसदाद्यानन्त्यधर्मा', त एवात्मा स्वरूपं येषा ते तथोक्ता. । नीत्या—नीयते परिच्छिद्यते प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशोऽनयेति नीतिर्नयः स्वार्थैकदेशव्यवसायात्मको बोध इत्यर्थ. ।

विशेषार्थ—आप्त पुरुषके वचनोंसे होनेवाले ज्ञानको आगम कहते हैं। परीक्षामुख सूत्रमें ऐसा ही कहा है। जैसे—

"आत्मा जीव है, चेतनस्वरूप है, उपयोगसे विशिष्ट है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, शरीरके बराबर है, अमूर्तिक है किन्तु कर्मसे संयुक्त है।"

इस आप्त वचनसे होनेवाले ज्ञानको आगम कहते हैं। यहाँ 'वचन' शब्द उपलक्षण है। अतः आप्त पुरुषके हाथके संकेत आदिसे होनेवाले ज्ञानको भी आगम कहते हैं। वह आगम युक्तिसे भी समर्थित होना चाहिए। जैसे, आप्तका वचन प्रमाण है क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाण आदिके अविरुद्ध है। या सब वस्तु अनेकान्तात्मक है सत् होने से। इन युक्तियोंसे आगमकी प्रमाणताका समर्थन होता है। आगममें छह द्रव्य कहे हैं—जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल। एक-एक पदार्थमें अनन्त धर्म होते हैं। और वे धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्मोंके साथ होते हैं। अर्थात्, वस्तु सत् भी है और असत् भी है, नित्य भी है और अनित्य भी है, एक भी है और अनेक भी है आदि। यह अनन्त धर्मात्मक वस्तु प्रमाणका विषय है। प्रमाणसे परिगृहीत पदार्थके एकदेशको जाननेवाला ज्ञान नय है। किन्तु वह नय अपने प्रतिपक्षी नयसे सापेक्ष होना चाहिए। जैसे नयके मूल भेद दो हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। जो नय द्रव्यकी मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिक है और जो नय पर्यायकी मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक सापेक्ष होनेसे सम्यक् होता है और पर्यायार्थिक नय द्रव्यार्थिक सापेक्ष होनेसे सम्यक् होता है। क्योंकि वस्तु न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप है किन्तु द्रव्यपर्यायरूप है। उस द्रव्यपर्यायरूप वस्तुके द्रव्यांश या पर्यायांशको ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। यदि द्रव्यांशग्राही द्रव्यार्थिक नय अपने विषयको ही पूर्ण वस्तु मानता है तो वह मिथ्या है। इसी तरह पर्यायांशका ग्राही पर्यायार्थिक नय यदि अपने विषयको ही पूर्ण वस्तु कहता है तो वह भी मिथ्या है। कहा भी है—

प्रतिपक्षका निराकरण न करते हुए वस्तुके अंशके विषयमें जो ज्ञाताका अभिप्राय है उसे नय कहते हैं। और जो प्रतिपक्षका निराकरण करता है उसे नयाभास कहते हैं।

[नयके सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिए देखें तत्त्वा. श्लोक वा., १।६]

भवति चात्रार्या—

'ज्ञातुरनिराकृते प्रतिपक्षो वस्त्वंशस्यास्त्यभिप्रायः।
यः स नयोऽत्र नयाभो निराकृतप्रत्यनीकस्तु ॥' [ ]

उक्तं च तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे—[१।३३।२]

'सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥ [आप्तमी. १७६]

तथा श्रीमदकलङ्कदेवैरप्युक्तम्—

'उपयोगो श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥' [लघीयस्त्रय ६२]

आक्षिप्तविपक्षया—आक्षिप्तोऽपेक्षितोऽक्षिप्तो वाऽनिराकृतो विपक्षः प्रत्यनीकनयो यया। द्रव्यार्थनयो हि पर्यायार्थनयं पर्यायार्थनयश्च द्रव्यार्थनयमपेक्ष्यमाण एव सम्यग् भवति। नान्यथा। एवं सदसदादिष्वपि चिन्त्यम्। तदित्यादि—तेन। विवक्षितेन धर्मेण अविनाभूतः सहभावेन क्रमभावेन वा नियतोऽन्यो धर्मो हेतुः 'साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति वचनात्। तत्र तस्माद्वा उत्या उत्थानं यस्याः सा तया। तद्यथा—पर्वते धर्मिणि सिसाधयिषितो धर्मो वह्निः, तदविनाभावित्वेन निश्चितो धर्मो धूमः, तज्जनिता प्रतिपत्तिर्नीतिर्व्यवहर्तॄणामप्रतिपन्नवह्निं पर्वतस्थं प्रवृत्तिविषयं निवृत्तिविषयं वा कुर्यात्। धर्मं सदसदादीनामन्यतमम्। कस्यचित् ॥२३॥

आचार्य समन्तभद्रने अपने आप्त मीमांसा नामक प्रकरणमें स्याद्वादके द्वारा प्रविभक्त अर्थके विशेषोंके व्यंजकको नय कहा है। 'स्याद्वाद'से उन्होंने आगम लिया है और नयवादसे हेतुवाद या युक्तिवाद लिया है। उसीको दृष्टिमें रखकर पं. आशाधरजीने भी नयको 'तदविनाभूतान्यधर्मोत्थया' कहा है। इसका अर्थ उन्होंने टीकामें इस प्रकार किया है—विवक्षित धर्मसे अविनाभूत अर्थात् सहभाव या क्रमभाव रूपसे निश्चित अन्य धर्म यानी हेतु। क्योंकि कहा है—जिसका साध्यके साथ सुनिश्चित अविनाभाव होता है उसे हेतु कहते हैं। उस हेतुसे जिसकी उत्पत्ति होती है ऐसा नय है। जैसे पर्वतमें आग सिद्ध करना चाहते हैं। उस आगका अविनाभावी रूपसे निश्चित धुआँ है क्योंकि धुआँ आगके बिना नहीं होता। अतः धूमसे आगको जानकर व्यवहारी पुरुष पर्वतमें होनेवाली आगके पास जाते हैं या उससे बच जाते हैं। इसी तरह जीवादि छह पदार्थोंमें-से किसी एक पदार्थमें रहनेवाले सत्-असत् आदि धर्मोंमें-से किसी एक विवक्षित धर्मको जानकर ज्ञाता उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है। इससे उसका अज्ञानान्धकार हटता है और वह वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता है।

आचार्य विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें (१।३३।२) हेतुवाद और नयमें भेद बतलाया है। उनका कहना है कि हेतु स्याद्वादके द्वारा प्रविभक्त समस्त अर्थके विशेषोंको व्यक्त करनेमें असमर्थ है। हेतुसे होनेवाला ज्ञान ही व्यंजक है और वही नय है। क्योंकि पदार्थके एकदेशका निर्णयात्मक ज्ञान नय है। पं. आशाधरजीका भी यही अभिप्राय है। अतः स्याद्वादके द्वारा प्रविभक्त अर्थ अनेकान्तात्मक है। अनेकान्तात्मक अर्थको कहनेका नाम ही स्याद्वाद है। उस अनेकान्तात्मक अर्थके विशेष हैं नित्यता, अनित्यता, सत्ता, असत्ता आदि। उसका कथन करनेवाला नय है। इस तरह अनेकान्तका ज्ञान प्रमाण है, उसके एक धर्मका ज्ञान नय है, और एक ही धर्मको स्वीकार करके अन्य धर्मोंका निराकरण

जीवादिपदार्थान् प्रत्येकं युक्त्या समर्थयते—

सर्वेषां युगपद् गतिस्थितिपरीणामावगाहान्यथा-
योगाद् धर्मतदन्यकालगगनान्यात्मा त्वहं प्रत्ययात् ।
सिध्येत् स्वस्य परस्य वाक्प्रमुखतो मूर्तत्वतः पुद्गल-
स्ते द्रव्याणि षडेव पर्ययगुणात्मानः कथंचिद् ध्रुवाः ॥२४॥

सर्वेषा—गतिस्थितिपक्षे जीवपुद्गलाना तेषामेव सक्रियत्वात् गतिमतामेव च स्थितिसंभवात् । परिणामावगाहपक्षे पुनः षण्णामपि अपरिणामिनः खपुष्पकल्पत्वात् आधारमन्तरेण च आधेयस्थित्ययोगात् । नवरं कालः परेषामिव स्वस्यापि परिणामस्य कारणं प्रदीप इव प्रकाशस्य । आकाश च परेषामिव स्वस्याप्यवकाशहेतु. 'आकाशं च स्वप्रतिष्ठमित्यभिधानात् । अन्यथायोगात् धर्मादीनन्तरेण जीवादीना युगपद्गत्याद्यनुपपते. । तदन्य.—तत श्रुतत्वाद् धर्मादन्योऽधर्म. । अहप्रत्ययात्—अहं सुखी अहं दुखीत्यादिज्ञानात् प्रतिप्राणि स्वय संवेद्यमानात् । सिद्धयेत्—निर्णयं गच्छेत् । वाक्प्रमुखत. वचनचेष्टादिविशेषकार्यात् । मूर्तत्वात्—रूपादिमत्वात् । यस्य हि रूपरसगन्धस्पर्शा सत्तया अभिव्यक्त्या वा प्रतीयन्ते स सर्वोऽपि पुद्गल. । तेन पृथिव्यप्तेजोवायूना पर्यायभेदेनान्योन्यं भेदो रूपाद्यात्मकपुद्गलद्रव्यात्मकतया चाभेद. । ते द्रव्याणि गुणपर्यायवत्त्वात् । तल्लक्षणं यथा—

'गुण इदि दव्वविहाण दव्वविकारो य पज्जओ गणिओ ।
तेहिं अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवदि णिच्चं ॥' [सर्वार्थसि ५।३८ में उद्धृत]

करनेवाला दुर्नय है । जैसे अस्तित्वका विपक्षी नास्तित्व है । जो वस्तुको केवल सत् ही मानता है वह दुर्नय है, मिथ्या है क्योंकि वस्तु केवल सत् ही नहीं है । वह स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है । जैसे घट घटरूपसे सत् है और पटरूपसे असत् है । यदि ऐसा न माना जायेगा तो घट-पटमें कोई भेद न रहनेसे दोनों एक हो जायेंगे । इस तरहसे वस्तुको जाननेसे ही यथार्थ प्रतीति होती है । और यथार्थ प्रतीति होनेसे ही आत्मापर पड़ा अज्ञानका पर्दा हटता है ॥२२॥

अब जीव आदि पदार्थोंमें-से प्रत्येकको युक्तिसे सिद्ध करते हैं—

यथायोग्य जीवादि पदार्थोंका एक साथ गति, स्थिति, परिणाम और अवगाहन अन्यथा नहीं हो सकता, इससे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल और आकाशद्रव्यकी सिद्धि होती है । 'मैं' इस प्रकारके ज्ञानसे अपनी आत्माकी सिद्धि होती है और बातचीत चेष्टा आदिसे दूसरोंकी आत्माकी सिद्धि होती है । मूर्तपनेसे पुद्गल द्रव्यकी सिद्धि होती है । इस प्रकार ये छह ही द्रव्य हैं जो गुणपर्यायात्मक हैं तथा कथंचित् नित्य है ॥२४॥

विशेषार्थ—जैनदर्शनमें मूल द्रव्य छह ही हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल । इन्हींके समवायको लोक कहते हैं । सभी द्रव्य अनादि है तथा अनन्त हैं । उनका कभी नाश नहीं होता । न वे कम-ज्यादा होते हैं । इन छह द्रव्योंमें गतिशील द्रव्य दो ही हैं जीव और पुद्गल । तथा जो चलते हैं वे ही ठहरते भी है । इस प्रकार गतिपूर्वक स्थिति भी इन्हीं दो द्रव्योंमें होती है । किन्तु परिवर्तन और अवगाह तो सभी द्रव्योंमें होता है । परिवर्तन तो वस्तुका स्वभाव है और रहनेके लिए सभीको स्थान चाहिए । इन छह द्रव्योंमें-से इन्द्रियोंसे तो केवल पुद्गल द्रव्य ही अनुभवमें आता है क्योंकि अकेला वही एक द्रव्य मूर्तिक है । मूर्तिक उसे कहते हैं जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं । चक्षु रूपको देखती है,

अपि च—

धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचराः ।
व्यञ्जनोर्थस्य संबद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥ [ज्ञाना. ६।४०]
मूर्तो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वरः स्थिरः ।
सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थसंज्ञकः ॥ [ज्ञाना. ६।४५]

षडेव पृथिव्यप्तेजोवायूनां पुद्गलपरिणामविशेषत्वेन द्रव्यान्तरत्वायोगात् । दिश आकाशप्रदेशपंक्तिरूपतया ततोऽनर्थान्तरत्वात् । द्रव्यमनसः पुद्गले भावमनसश्च आत्मनि पर्यायतयाऽन्तर्भावात् परपरिकल्पितस्य च मनोद्रव्यस्यासिद्धेः ।

रसना रसका स्वाद लेती है, घ्राण इन्द्रिय सुगन्ध-दुर्गन्धका अनुभव करती है और स्पर्शन इन्द्रिय कोमल-कठोर, गर्म-सर्द आदिको जानती है। इस तरह इन्द्रियोंसे पुद्गल द्रव्यकी प्रतीति होती है। किन्तु पुद्गल द्रव्य तो अणुरूप है जो इन्द्रियोंका विषय नहीं है। अणुओंके मेलसे जो स्थूल स्कन्ध बनते हैं उन्हें ही इन्द्रियाँ जानती हैं। उन्हींके आधार पर हम लोग अनुमानसे परमाणुको जानते है। कुछ अन्य दर्शनोंमें परमाणु विभिन्न प्रकारके माने गये हैं। उनके मतसे पृथ्वीके परमाणुओंमें रूप-रस-गन्ध-स्पर्श चारों गुण हैं। जलके परमाणुओंमें गन्धगुण नहीं है, अग्निके परमाणुओंमें गन्ध और रस नहीं है। वायुके परमाणुओंमें केवल स्पर्श गुण है। इस तरह उनके यहाँ पृथ्वी, जल, आग और वायु चार अलग-अलग द्रव्य हैं। किन्तु जैन दर्शनमें परमाणुकी एक ही जाति मानी गयी है और उसमें चारों गुण रहते हैं। परिणमनके अनुसार किसीमें कोई गुण अव्यक्त रहता है और कोई गुण व्यक्त। यही बात आचार्य कुन्दकुन्दने[3] कही है—

जो आदेश मात्रसे मूर्त है वह परमाणु है। वह पृथ्वी, जल, आग, वायु चारोंका कारण है। परिणमनकी वजहसे उसके गुण व्यक्त-अव्यक्त होते हैं। वह शब्दरूप नहीं है। शेष कोई भी द्रव्य इन्द्रियोंका विषय नहीं है। क्योंकि अमूर्तिक होनेसे उनमें रूपादि गुण नहीं होते। उनमें-से जीवद्रव्य स्वयं तो 'मैं' इस प्रत्ययसे जाना जाता है। अन्य किसी भी द्रव्यमें इस प्रकारका प्रत्यय नहीं होता। दूसरे चलते-फिरते, बातचीत करते प्राणियोंको देखकर अनुमानसे उनमें जीव माना जाता है। उसीके आधारपर लोग जीवित और मृतकी पहचान करते हैं। शेष चार द्रव्योंको उनके कार्योंके आधारपर जाना जाता है। स्वयं चलते हुए समस्त जीव और पुद्गलोंको जो चलनेमें उदासीन निमित्त है वह धर्मद्रव्य है। जो चलते-चलते स्वयं ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें उदासीन निमित्त है वह अधर्मद्रव्य है। ये दोनों द्रव्य न तो स्वयं चलते हैं और न दूसरोंको चलाते हैं किन्तु स्वयं चलते हुए और चलते-चलते स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गलोंके चलने और ठहरनेमें निमित्त मात्र होते हैं। यह सिद्धान्त है कि जिस द्रव्यमें जो शक्ति स्वयं नहीं है दूसरे द्रव्यके योगसे उसमें वह शक्ति पैदा नहीं हो सकती। अतः धर्मद्रव्यके और अधर्मद्रव्यके योगसे जीव पुद्गलोंमें चलने और ठहरने-

---

१. 'व्यञ्जनेन तु संबद्धौ'—आलापप. । व्यञ्जनार्थेन स—अनगार. भ. कु. टी. ।
२. स्थूलो व्य—आलाप ; अनगार ध. भ. टी. ।
३. आदेशमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु ।
सो णेओ परमाणु परिणामगुणो सयमसद्दो ॥—पञ्चा. गा. ७८

कथंचिद् ध्रुवाः—द्रव्यरूपतया नित्याः पर्यायरूपतया चानित्या इत्यर्थाल्लभ्यते । तथाहि—जीवादि वस्तु नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेः । यद्धि बालावस्थायां प्रतिपन्नं देवदत्तादिवस्तु तद् युवाद्यवस्थायां तदेवेदमिति निरारेकं प्रत्यभिज्ञानतो व्यवहरन्ति सर्वेऽपि । तथा तदनित्यं बालाद्यवस्थातो युवाद्यवस्थाऽन्येति निर्बाधतया निर्णीतेः । अथ प्रकारान्तरेण धर्मादिसिद्धये प्रमाणानि लिख्यन्ते । तथाहि—विवादापन्नाः सकलजीवपुद्गलाश्रयाः सकृद्गतयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षाः युगपद्भाविगतित्वात् एकसरःसलिलानेकमत्स्यादिगतिवत् । तथा सकलजीवपुद्गलस्थितयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षा युगपद्भाविस्थितित्वादेककुण्डाश्रयानेकबदरादिस्थितिवत् । यत्साधारणं निमित्तं स धर्मोऽधर्मश्च ताभ्यां विना तद्गतिस्थितिकार्यानुपपत्तेः । तथा चागमः—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गयणसहयारी ।
तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेइ ॥
ठाणजुदाण अहम्मो पुग्गलजीवाण ठाण सहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरइ ॥ [द्रव्य सं. १७-१८]

तथा दिग्देशकृतपरापरादिप्रत्ययविपरीताः परापरादिविशिष्टप्रत्यया विशिष्टकारणपूर्वकाः विशिष्टप्रत्ययत्वात् । यो विशिष्टः प्रत्ययः स विशिष्टकारणपूर्वको दृष्टो यथा दण्डीत्यादिप्रत्ययः, विशिष्टाश्चैते परापरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यया इति । यस्त्वेषां विशिष्टं कारणं स कालः इति । वास्तवकालसिद्धिः । आगमाच्च—

की शक्ति उत्पन्न नहीं होती। वह शक्ति तो उनमें स्वभावसिद्ध है। इसी तरह सभी द्रव्योंमें परिणमन करनेकी भी शक्ति स्वभावसिद्ध है। कालद्रव्य उसमें निमित्त मात्र होता है। इतनी विशेषता है कि कालद्रव्य स्वयं भी परिणमनशील है और दूसरोंके भी परिणमनमें सहायक है। इसी तरह आकाश द्रव्य स्वयं भी रहता है और अन्य सब द्रव्योंको भी स्थान देता है। 'स्थान देता है' ऐसा लिखनेसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि आकाश द्रव्य पहले बना और पीछेसे उसमें अन्य द्रव्य आकर रहे। लोककी रचना तो अनादि है। फिर भी लोकमें ऐसा व्यवहार किया जाता है कि आकाशमें सब द्रव्य रहते हैं क्योंकि आकाश सब ओरसे अनन्त है। अन्य द्रव्य केवल लोकमें ही हैं लोकके बाहर नहीं हैं। वास्तवमें तो सभी द्रव्य अपने-अपने आधारसे ही रहते हैं। कोई किसीका आधार नहीं है। इस प्रकार गति, स्थिति, परिणमन और अवगाहन कार्य देखकर धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्यकी सत्ता स्वीकार की जाती है। आचार्योंने धर्मादि द्रव्योंकी सिद्धिके लिए जो प्रमाण उपस्थित किये हैं उन्हें यहाँ दिया जाता है। समस्त जीवों और पुद्गलोंमें होनेवाली एक साथ गति किसी साधारण बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे होती है, एक साथ होनेवाली गति होनेसे। एक तालाबके पानीमें होनेवाली अनेक मछलियोंकी गतिकी तरह। तथा सब जीव और पुद्गलोंकी स्थिति किसी साधारण बाह्य निमित्तकी अपेक्षा रखती है, एक साथ होनेवाली स्थिति होनेसे, एक कुण्डके आश्रयसे होनेवाली अनेक बेरोंकी स्थितिकी तरह। जो साधारण निमित्त है वह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य है, उनके बिना उनकी गति और स्थितिरूप कार्य नहीं हो सकता। आगममें कहा है—

चलते हुए जीव और पुद्गलोंको चलनेमें सहकारी धर्मद्रव्य है। जैसे मछलियोंको चलनेमें सहायक जल है। वह धर्मद्रव्य ठहरे हुए जीव पुद्गलोंको नहीं चलाता है। ठहरे हुए जीव और पुद्गलोंको ठहरनेमें सहायक अधर्मद्रव्य है। जैसे छाया पथिकोंको ठहरनेमें सहायक है। वह अधर्मद्रव्य चलते हुओंको नहीं ठहराता है। तथा दिशा और देशकृत पर-अपर आदि प्रत्ययोंसे भिन्न पर-अपर आदि विशिष्ट प्रत्यय विशिष्ट कारणपूर्वक होते हैं

वर्तनालक्षणः कालो वर्तनावत्पराश्रया ।
यथास्वं गुणपर्यायैः परिणतत्वयोजना ॥ [महा. पु. २४।१३९]
स कालो लोकमात्रोऽस्ति रेणुभिर्निचितस्थितिः ।
ज्ञेयोऽन्योन्यमसंकीर्णै रत्नानामिव राशिभिः ॥ [महा. पु. २४।१४२]

तथा—

लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासिमिव ते कालाणू असखदव्वाणि ॥ [द्रव्य सं. २२]

अपि च—

भाविनो वर्तमानत्वं वर्तमानास्त्वतीतताम् ।
पदार्थाः प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदर्थिताः ॥ [ज्ञानार्ण. ६।३९]

तथा युगपन्निखिलावगाह साधारणकारणापेक्षो युगपन्निखिलावगाहत्वात् य एवंविधोऽवगाहः स एवंविधकारणापेक्षो दृष्टो यथैकसर.सलिलान्त.पाति-मत्स्याद्यवगाहस्तथावगाहश्चायमिति । यच्च तत्साधारणकारणं तदाकाशमित्याकाशसिद्धिः । तथागमाच्च—

धम्माधम्मा कालो पोग्गलजीवा य संति जावदिए ।
आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगो खं ॥ [द्रव्य सं. २०]

विशिष्ट प्रत्यय होनेसे । जो विशिष्ट प्रत्यय होता है वह विशिष्ट कारणपूर्वक देखा गया है जैसे दण्डी आदि प्रत्यय । और पर, अपर, यौगपद्य, शीघ्र, देरमें इत्यादि प्रत्यय विशिष्ट है । इन प्रत्ययोंका जो विशिष्ट कारण है वह काल है । इस प्रकार वास्तविक कालकी सिद्धि होती है । आगममें भी कहा है—

कालका लक्षण वर्तना है । वह वर्तना काल तथा कालसे भिन्न अन्य पदार्थोंके आश्रयसे रहती है और अपने-अपने यथायोग्य गुण और पर्यायों रूप जो सब पदार्थों में परिणमन होता है उसमें सहायक होती है ।

वह काल रत्नों की राशिकी तरह परस्परमें जुदे-जुदे स्थिर कालाणुओंसे व्याप्त है । तथा लोक प्रमाण है ।

एक-एक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक कालाणु रत्नोंकी राशिकी तरह स्थित हैं । वे कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं ।

कालके वर्तनसे ही भावि पदार्थ वर्तमानका रूप लेते हैं और वर्तमान पदार्थ अतीतका रूप लेते हैं । कहा है—

कालकी क्रीडा से सताये गये भावि पदार्थ वर्तमानपनेको और वर्तमान पदार्थ अतीतपने को प्राप्त होते हैं ।

तथा एक साथ समस्त पदार्थोंका अवगाह साधारण कारणकी अपेक्षा करता है एक साथ समस्त पदार्थोंका अवगाह होनेसे । जो इस प्रकारका अवगाह होता है वह इस प्रकारके कारणकी अपेक्षा करता देखा गया है । जैसे एक तालाबके पानीमें रहनेवाली मछलियोंका अवगाह । यह अवगाह भी वैसा ही है । और जो साधारण कारण है वह आकाश है । इस प्रकार आकाश द्रव्यकी सिद्धि होती है । आगममें भी कहा है—

जितने आकाशमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गल और जीव रहते हैं वह लोक है । उससे आगेका आकाश अलोक है ।

तथा—जीवच्छरीरं प्रयत्नवताधोष्ठितमिच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वाद् द्रव्यवत्। श्रोत्रादीन्युपलब्धिसाधनानि कर्तृप्रयोजनानि करणत्वाद् वास्यादिवदिति च। यश्च प्रयत्नवान् कर्ता च स जीव इति परशरीरे जीवसिद्धिः। स्वशरीरे तु स्वसंवेदनप्रत्यक्षादेवात्मा सिद्धः। तथा जलादयो गन्धादिमन्तः स्पर्शवत्त्वात्। यत्स्पर्शवत्तद् गन्धादिमत्प्रसिद्धं यथा पृथिवी। यत्पुनर्गन्धादिमन्न भवति न तत् स्पर्शवत् यथाऽऽत्मादि, इत्यनुमानाद् जलादिषु गन्धादिसद्भावसिद्धेः पुद्गललक्षणरूपादिमत्त्वयोगात्पुद्गलत्वसिद्धि। उक्तं च—

'उवभोज्जमिंदिएहि इंदियकाया मणो य कम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्ण तं सव्वं पोग्गलं जाण' ॥ [पञ्चास्ति. ८२]

तथा—

'द्विस्पर्शानंशनित्यैकवर्णगन्धरसोऽध्वनिः।
द्रव्यादिसंख्याभेत्ताऽणुः स्कन्धभू स्कन्धशब्दकृत् ॥
द्व्यधिकादिगुणत्यक्तजघन्यस्नेहरौक्षतः।
तत्तत्कर्मवशत्वाङ्गभोग्यत्वेनाणवोऽङ्गिनाम् ॥
पिण्डिताद्या घनं सान्तं संख्याः क्ष्माम्भोऽग्निवायुक.।
स्कन्धाश्च ते व्यक्तचतुस्त्रिद्व्येकस्वगुणाः क्रमात् ॥' [ ]

तथा जीवित शरीर किसी प्रयत्नवान्‌के द्वारा अधीष्ठित है, इच्छाके अनुसार क्रियाका आश्रय होनेसे। जाननेके साधन श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ कर्ताके द्वारा प्रयुक्त होती हैं कारण होनेसे विसौले आदिकी तरह। और जो प्रयत्नवान् कर्ता है वह जीव है। इससे पराये शरीरमें जीवकी सिद्धि होती है। अपने शरीरमें तो स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही आत्माकी सिद्धि होती है।

तथा जल आदि गन्धवाले हैं स्पर्शादिवाले होनेसे। जिसमें स्पर्श होता है उसमें गन्धका अस्तित्व भी प्रसिद्ध है, जैसे पृथिवीमें। जिसमें गन्ध आदि नहीं होते उसमें स्पर्श भी नहीं होता, जैसे आत्मा वगैरह। इस अनुमानसे जल आदिमें गन्ध आदिके सद्भावकी सिद्धि होनेसे पुद्गलपना सिद्ध होता है क्योंकि जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होते हैं उसे पुद्गल कहते हैं। कहा भी है—

'जो पाँचों इन्द्रियोंके द्वारा भोगनेमें आते हैं तथा इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म व जो अन्य मूर्तिक पदार्थ है वह सब पुद्गल द्रव्य जानो।'

और भी कहा है—

'पुद्गलके एक परमाणुमें दो स्पर्शगुण, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहते हैं। परमाणु नित्य और निरंश होता है, शब्दरूप नहीं होता। द्रव्योंके प्रदेशोंका माप परमाणुके द्वारा ही किया जाता है। परमाणुओंके मेलसे ही स्कन्ध बनते हैं। शब्द स्कन्ध रूप होता है अतः परमाणु ही उसका कर्ता है।

जघन्य गुणवाले परमाणुओंको छोड़कर दो अधिक गुणवाले परमाणुओंका ही परस्परमें बन्ध होता है। बन्धमें कारण हैं स्निग्ध और रूक्षगुण। जैसे दो स्निग्धगुणवाले परमाणुका बन्ध चार स्निग्ध गुणवाले या चार रूक्ष गुणवाले परमाणुके ही साथ होता है तीन या पाँच गुणवालेके साथ नहीं होता। अपने-अपने कर्मके वशसे परमाणु प्राणियोंके भोग्य होते हैं।

वे परमाणु परस्परमें पिण्डरूप होकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप स्कन्धोंमें परिवर्तित होते हैं। उनमें क्रमसे चार, तीन, दो और एक गुण व्यक्त होता है। अर्थात् पृथ्वीमें गन्ध,

एवं समासतो धर्मादिषट्पदार्थव्यवस्था मुमुक्षुभिर्लक्ष्या। विस्तरतस्तु न्यायकुमुदचन्द्रादिशास्त्रेष्वसौ प्रतिपत्तव्येति। किंच व्यामोहव्यपोहाय सूक्तानीमानि नित्यं मनसि संनिवेशानि—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ [आप्तमी. १५]
अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता॥ [लघीयस्त्रय. ८]

रस, रूप, स्पर्श चारों गुण व्यक्त होते हैं, जलमें रस, रूप, स्पर्श गण व्यक्त होते हैं, अग्निमें रूप और स्पर्श गुण व्यक्त होते हैं तथा वायुमें केवल एक स्पर्श गुण ही व्यक्त होता है, शेष गुण अव्यक्त होते हैं।'

इस तरह छह ही द्रव्य हैं क्योंकि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु पुद्गल द्रव्यके ही परिणाम विशेष होनेसे अन्य द्रव्य रूप नहीं हैं। दिशा तो आकाशसे भिन्न नहीं है क्योंकि आकाशके प्रदेशकी पंक्तियोंमें जो पूर्व-पश्चिम आदि व्यवहार होता है उसे ही दिशा कहते हैं। मन भी पृथक् द्रव्य नहीं है क्योंकि द्रव्यमन पुद्गलकी पर्याय है और भावमन जीवकी पर्याय है। अतः न्यायवैशेषिक दर्शनमें जो नौ द्रव्य माने हैं वे ठीक नहीं हैं।

गुणपर्यायवाला होनेसे इन्हे द्रव्य कहते हैं। उनका लक्षण इस प्रकार कहा है—

'एक द्रव्यसे दूसरा द्रव्य जिसके कारण भिन्न होता है वह गुण है। गुण ही द्रव्यका विधाता है। गुणके अभावमें सब द्रव्य एक हो जायेंगे। जैसे जीव ज्ञानादि गुणोंके कारण पुद्गल आदिसे भिन्न होता है और पुद्गल आदि रूपादि गुणोंके कारण जीवादिसे भिन्न होते हैं। यदि दोनोंमें ये गुण न हों तो दोनों समान होनेसे एक हो जायेंगे। इसलिए सामान्यकी अपेक्षासे अन्वयी ज्ञानादि जीवके गुण हैं और रूपादि पुद्गल आदिके गुण हैं। उनके विकार-को—विशेष अवस्थाओंको पर्याय कहते है। जैसे घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान, तीव्र गन्ध, मन्द गन्ध, तीव्र वर्ण, मन्द वर्ण आदि। उन गुण-पर्यायोंसे सहित नित्य द्रव्य होता है, गुण, पर्याय और द्रव्य ये सब अयुतसिद्ध होते हैं, इन सबकी सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं होती, एक ही होती है। पर्याय क्रमभावी होती हैं, द्रव्यमें क्रमसे होती हैं। गुण सहभावी होते है। वे द्रव्यकी प्रत्येक अवस्थामें वर्तमान रहते हैं। पर्याय तो आती-जाती रहती हैं। पर्यायके भी दो प्रकार है—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। अर्थपर्याय धर्मादि द्रव्योंमें होती है तथा व्यंजनपर्याय जीव और पुद्गल द्रव्योंमें होती है। कहा भी है—

'धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो अर्थ पर्यायके विषय हैं उनमें अर्थपर्याय होती है। किन्तु जीव और पुद्गलोंमें व्यंजन पर्याय भी होती है और अर्थपर्याय भी होती है। व्यंजन पर्याय मूर्त-स्थूल होती है। उसे वचनसे कहा जा सकता है। वह नश्वर भी होती है और स्थिर भी होती है। किन्तु अर्थ पर्याय सूक्ष्म और क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाली होती है। मूर्त द्रव्यके गुण मूर्तिक और अमूर्त द्रव्यके गुण अमूर्तिक होते हैं। गुण कथंचित् नित्य हैं अर्थात् द्रव्यरूपसे नित्य और पर्याय रूपसे अनित्य हैं।'

जैन तत्त्वज्ञानके नीचे लिखे कुछ सूत्रोंको सदा हृदयमें धारण करना चाहिए। उससे तत्त्व ज्ञान विषयक भ्रान्तियाँ दूर होती हैं—

'द्रव्य और पर्याय एक वस्तु है। क्योंकि दोनोंमें प्रतिभास भेद होनेपर भी भेद नहीं है। जिनमें प्रतिभास भेद होनेपर भी अभेद होता है वे एक होते हैं। अतः द्रव्य और पर्याय

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥
संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः ।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ [आप्त. ७१-७२]
समुदेति विलयमृच्छति भावो नियमेन पर्ययनयस्य ।
नोदेति नो विनश्यति भवनतया लिङ्गितो नित्यम् ॥ [ ]
सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ [पञ्चास्ति. १४]

भिन्न नहीं है। इस तरह वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। इन दोनोंमें-से यदि एकको भी न माना जाये तो वस्तु नहीं हो सकती। क्योंकि सत्का लक्षण है अर्थक्रिया। किन्तु पर्याय निरपेक्ष अकेला द्रव्य अर्थक्रिया नहीं कर सकता और न द्रव्य निरपेक्ष पर्याय ही कर सकती है। क्योंकि अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपत् होती है किन्तु केवल द्रव्यरूप या केवल पर्यायरूप वस्तुमें क्रमयौगपद्य नहीं बनता, क्योंकि द्रव्य अथवा पर्याय सर्वथा एक स्वभाव होनेसे उनमें क्रमयौगपद्य नहीं देखा जाता। अनेक पर्यायात्मक द्रव्यमें ही क्रमयौगपद्य पाया जाता है। शायद कहा जाये कि द्रव्य और पर्याय यद्यपि वास्तविक हैं किन्तु उनमें अभेद नहीं है क्योंकि जैसे ज्ञानके द्वारा घट और पटका प्रतिभास भिन्न होता है उसी तरह घट आदि द्रव्यसे रूप आदि पर्यायोंका भी भिन्न प्रतिभास होता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिभास भेद एकत्वका विरोधी नहीं है। जैसे एक ही पदार्थको दूरसे देखनेवाला अस्पष्ट देखता है और निकटसे देखनेवाला स्पष्ट देखता है किन्तु इससे वह पदार्थ भिन्न नहीं हो जाता। उसी तरह उपयोगकी विशेषतासे रूपादि ज्ञानमें प्रतिभास भेद होता है किन्तु इससे द्रव्य और पर्याय भिन्न नहीं हो जाते। इस तरह द्रव्य और पर्याय एक ही वस्तु हैं। किन्तु एक वस्तु होनेपर भी उनमें परस्परमें स्वभाव। नाम, संख्या आदिकी अपेक्षा भेद भी है। द्रव्य अनादि अनन्त है, एक स्वभाव परिणामवाला है, पर्याय सादि सान्त अनेक स्वभाव परिणामवाली है। द्रव्यकी संज्ञा द्रव्य है, पर्यायकी संज्ञा पर्याय है। द्रव्यकी संख्या एक है, पर्यायकी संख्या अनेक है। द्रव्यका कार्य है एकत्वका बोध कराना, पर्यायका कार्य है अनेकत्वका बोध कराना। पर्याय वर्तमान कालवाली होती है, द्रव्य त्रिकालवर्ती होता है। द्रव्यका लक्षण अलग है, पर्यायका लक्षण अलग है। इसतरह स्वभावभेद, संख्याभेद, नामभेद, लक्षणभेद, कार्यभेद, प्रयोजनभेद होनेसे द्रव्य और पर्याय भिन्न हैं किन्तु वस्तुरूपसे एक ही हैं। इसीसे द्रव्यदृष्टिसे वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। कहा भी है—पर्यायार्थिकनयसे पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिकनयसे न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं। अतएव नित्य हैं।

स्यात् (कथंचित् किसी अपेक्षा) द्रव्य है, स्यात् द्रव्य नहीं है, स्यात् द्रव्य है और नहीं है, स्यात् द्रव्य अवक्तव्य है, स्यात् द्रव्य है और अवक्तव्य है, स्यात् द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है, [स्यात् द्रव्य है, नहीं है और अवक्तव्य है। यह सप्तभंगी है। यहाँ स्यात् शब्दका अर्थ कथंचित् है। यह स्यात् शब्द सर्वथापनेका निषेधक और अनेकान्तका द्योतक है। उक्त सात भंगोंका विवेचन इस प्रकार है—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा द्रव्य है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा द्रव्य नहीं है। क्रमसे

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥ [पुरुषार्थ. २२५] ॥२४॥

अथैवं धर्मादिवदास्रवाद्यपि समधिगम्य श्रद्दध्यादित्यनुशास्ति—

धर्मादीनधिगम्य सच्छ्रुतनयन्यासानुयोगैः सुधीः
श्रद्दध्याद्विदाज्ञयैव सुतरां जीवांस्तु सिद्धेतरान् ।
स्यान्मन्दात्मरुचेः शिवाप्तिभवहान्यर्थो ह्यपार्थः श्रमो
मन्येताप्तगिरास्रवाद्यपि तथैवाराधयिष्यन् दृशम् ॥२५॥

अधिगम्य—ज्ञात्वा । सच्छ्रुतं—सम्यक् श्रुतज्ञानम् । तल्लक्षणं यथा—

अर्थादर्थान्तरज्ञानं मतिपूर्वं श्रुतं भवेत् ।
शाब्दतल्लिङ्गजं वात्र द्व्यनेकद्विषड्भेदगम् ॥ [ ]

न्यास.—निक्षेपः । तल्लक्षणं यथा—

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी विवक्षामें द्रव्य है और नहीं है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी युगपत् विवक्षा होनेपर द्रव्य अवक्तव्य है। स्वद्रव्य क्षेत्र-काल भाव और युगपत् स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विवक्षामें द्रव्य है और अवक्तव्य है। परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-भावकी विवक्षामें द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और युगपत् स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विवक्षा होनेपर द्रव्य है, नहीं है और अवक्तव्य है। जैसे एक देवदत्त गौण और मुख्यकी विवक्षा से अनेकरूप होता है, वह पुत्रकी अपेक्षा पिता कहा जाता है और अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र कहाता है। मामाकी अपेक्षा भानेज कहा जाता है और भानेजकी अपेक्षा मामा कहलाता है। पत्नीकी अपेक्षा पति और बहिनकी अपेक्षा भाई कहाता है। इसी तरह एक भी द्रव्य गौण और मुख्य विवक्षा वश सप्तभंगमय होता है। सत्, एक, नित्य आदि धर्मोंमें से एक-एक धर्मको लेकर सात भंग होते हैं। जैसे ग्वालिन मथानीकी रस्सीको एक ओरसे खींचती है तो दूसरी ओरसे ढील देती है। इसी तरह वस्तुतत्त्वको एक धर्मकी मुख्यतासे खींचती हुई और इतर धर्मकी अपेक्षासे गौण करती हुई जैनीनीति जयशील होती है। आचार्य अमृतचन्द्रजीने यही कहा है ॥२४॥

आगे कहते हैं कि धर्म आदि की तरह आस्रव आदिको भी जानकर उनपर श्रद्धा करनी चाहिए—

बुद्धिशाली जीवोंको समीचीन श्रुत, नय, निक्षेप और अनुयोगोंके द्वारा धर्म आदि द्रव्योंको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिए। और मन्दबुद्धि जीवोंको 'जिन भगवान् अन्यथा नहीं कहते' ऐसा मनमें धारण करके उनकी आज्ञाके रूपमें ही उनका श्रद्धान करना चाहिए। किन्तु बुद्धिमानों और मन्दबुद्धि दोनों ही प्रकारके प्राणियोंको सम्यक् श्रुत आदिके द्वारा तथा आज्ञा रूपसे धर्म आदि अजीव द्रव्योंकी अपेक्षा मुक्त और संसारी जीवोंको विशेष रूपसे जानना चाहिए, क्योंकि जिसकी आत्म विषयक श्रद्धा मन्द होती है, मोक्षकी प्राप्ति और संसारकी समाप्तिके लिए उसका तपश्चरण आदि रूप श्रम व्यर्थ होता है। तथा सम्यग्दर्शनकी आराधनाके इच्छुक बुद्धिमान और मन्दबुद्धि जनको उसी प्रकार आप्त की वाणीसे आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वको भी जानना चाहिए ॥२५॥

जीवादीनां श्रुताप्तानां द्रव्यभावात्मनां नयैः ।
परीक्षितानां वाच्यत्वं प्राप्तानां वाचकेषु च ॥
यद् भिदा प्ररूपणं न्यासः सोऽप्रस्तुतनिराकृतेः ।
प्रस्तुतव्याकृतेश्चार्थ्यः स्यान्नामाद्यैश्चतुर्विधः ॥
अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये ।
तत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥
साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् ।
सोऽयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥
आगामिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्यं न्यासस्य गोचरः ।
तत्कालपर्ययाक्रान्तं वस्तु भावोऽभिधीयते ॥ [ ]

अनुयोगः—प्रश्न उत्तरं च । तद्यथा—

'स्वरूपादीनि पृच्छ्यन्ते प्रत्युव्य (?) ते च वस्तुन ।
निर्देशादयस्तेऽनुयोगाः स्युर्वा सदादयः ॥ [ ]

विशेषार्थ—श्रुतज्ञानका लक्षण इस प्रकार कहा है—

मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते है । वह श्रुतज्ञान शब्दजन्य और लिंगजन्य होता है । श्रोत्रेन्द्रियसे होनेवाले मतिज्ञान पूर्वक जो ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान होता है । और अन्य इन्द्रियोंसे होनेवाले मतिज्ञान पूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह लिंगजन्य श्रुतज्ञान है । शब्दजन्य श्रुतज्ञान के दो भेद है, अंग-प्रविष्ट और अंगबाह्य । गणधरके द्वारा केवलीकी वाणी सुनकर जो बारह अंगोंकी रचना की जाती है वह अंगप्रविष्ट है और उसके बारह भेद है । तथा अल्प बुद्धि अल्पायु जनोंके लिए आचार्योंके द्वारा जो ग्रन्थ रचे गये उन्हें अंगबाह्य कहते हैं । अंगबाह्यके अनेक भेद है ।

निक्षेपका लक्षण तथा भेद इसप्रकार कहे हैं—

श्रुतके द्वारा विवक्षित और नयके द्वारा परीक्षित तथा वाच्यताको प्राप्त द्रव्य भावरूप जीवादिका वाचक जीवादि शब्दोंमें भेदसे कथन करना न्यास या निक्षेप है । वह निक्षेप अप्रस्तुतका निराकरण और प्रस्तुतका कथन करनेके लिए होता है ।

आशय यह है कि श्रोता तीन प्रकारके होते हैं, अव्युत्पन्न, विवक्षित पदके सब अर्थोंको जाननेवाला और एक देशसे जाननेवाला । पहला तो अव्युत्पन्न होनेसे विवक्षित पदके अर्थको नहीं जानता । दूसरा, या तो संशयमें पड़ जाता है कि इस पदका यहाँ कौन अर्थ लिया गया है या विपरीत अर्थ लेता है । तीसरा भी संशय या विपर्ययमें पड़ता है । अतः अप्रकृतका निराकरण करनेके लिए और प्रकृतका निरूपण करनेके लिए निक्षेप है । उसके चार भेद हैं नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव । इनका स्वरूप—जिन पदार्थोंमें गुण नहीं है, उनमे व्यवहार चलानेके लिए मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो नाम रखता है वह नाम निक्षेप है । साकार या निराकार लकड़ी वगैरहमें 'यह इन्द्र है' इत्यादि रूपसे निवेश करनेको स्थापना कहते हैं । आगामी गुणोंके योग्य पदार्थ द्रव्य निक्षेपका विषय है (जैसे राजपुत्रको राजा कहना) । और तत्कालीन पर्यायसे विशिष्ट वस्तुको भाव कहते हैं (जैसे, राज्यासनपर बैठकर राज करते हुएको राजा कहना) ।

अवित्—मन्दमतिः। आज्ञयैव—'नान्यथावादिनो जिनाः' इत्येवं कृत्वा। जीवान्—जीवनगुणयोगाज्जीवः। तदुक्तम्—

'पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥' [पञ्चास्ति. ३०]

सिद्धेतरान्—मुक्तान् संसारिणश्च। अपार्थः—निष्फलः। श्रमः—तपश्चरणाद्यभ्यासः। यत्तात्विकः—

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ जे परदव्वि रमंति।
अण्ण कि मिच्छाइट्ठियहो म इ सिंग हवंति ॥ [ ]

अथ जीवपदार्थं विशेषेणाधिगमयति—

जीवे नित्येऽर्थसिद्धिः क्षणिक इव भवेन्न क्रमावक्रमाद्वा
नामूर्ते कर्मबन्धो गगनवदणुवद् व्यापकेऽध्यक्षबाधा।
नैकस्मिन्नुद्भवादिप्रतिनियमगतिः क्ष्मादिकार्ये न चित्त्वं
यत्तन्नित्येतरादिप्रचुरगुणमयः स प्रमेयः प्रमाभिः ॥२६॥

नित्ये—यौगादीन् प्रति अर्थसिद्धिः—कार्योत्पत्तिर्न भवेत्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेः। क्षणिके—बौद्धं प्रति, अमूर्ते—योगादीन् प्रति। अणुवत्—वटकणिकामात्रे यथा। व्यापके—यौगादीन् प्रति, एकस्मिन्—ब्रह्माद्वैतवादिनं प्रति, क्ष्मादिकार्ये—चार्वाकं प्रति, चेतनत्वम्। नित्येत्यादि—नित्यानित्यमूर्ताद्यनेकधर्मात्मकः। प्रमाभिः—स्वसंवेदनानुमानागमप्रमाणैः ॥२६॥

अनुयोग कहते हैं प्रश्नपूर्वक उत्तर को। जैसे—

जिनके द्वारा वस्तुके स्वरूप संख्या आदि पूछी जायें और उनका उत्तर दिया जाये वे निर्देश आदि या सत् संख्या आदि अनुयोग हैं।

इन सबके द्वारा जीवादि द्रव्योंको जानना चाहिए। किन्तु उनमें भी अजीव द्रव्योंसे जीव द्रव्यको विशेष रूपसे जानना चाहिए क्योंकि उसको जाने विना व्रत, संयम, तपश्चरण सभी व्यर्थ है ॥२५॥

जीवपदार्थको विशेष रूपसे कहते हैं—

जैसे जीवको क्षणिक माननेपर क्रम या अक्रमसे कार्यकी निष्पत्ति सम्भव नहीं है वैसे ही जीवको सर्वथा नित्य माननेपर भी क्रम या अक्रमसे कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। तथा आकाशकी तरह सर्वथा अमूर्त माननेपर कर्मबन्ध नहीं हो सकता। तथा जीवको अणु बराबर माननेपर जैसे प्रत्यक्षसे बाधा आती है वैसे ही सर्वत्र व्यापक माननेमें भी प्रत्यक्षबाधा है। सर्वथा एक ही जीव माननेपर जन्म-मरण आदिका नियम नहीं बन सकता। जीवको पृथिवी आदि पंच भूतोंका कार्य माननेपर चेतनत्व नहीं बनता। इसलिए प्रमाणोंके द्वारा जीवको नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त आदि अनेक धर्मात्मक निश्चित करना चाहिए ॥२६॥

विशेषार्थ—क्षणिकवादी बौद्ध चित्तक्षणोंको भी क्षणिक मानता है। योग आत्माको सर्वथा नित्य व्यापक और अमूर्तिक मानता है। ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्म ही मानता है। चार्वाक जीवको पंच भूतोंका कार्य मानता है। इन सबमें दोष है। जीवको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक माननेपर उसमें अर्थक्रिया नहीं बनती। अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपद्। क्षणिक पदार्थ तो कोई कार्य कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह उत्पन्न होते ही नष्ट

अथ जीवादिवस्तुनः सर्वथा नित्यत्वे सर्वथा क्षणिकत्वे च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्त्याऽवस्तुत्वं प्रस्तौति—

नित्यं चेत् स्वयमर्थकृत्तदखिलार्थोत्पादनात् प्राक्क्षणे
नो किञ्चित् परतः करोति परिणाम्येवान्यकाङ्क्षं भवेत् ।
तन्नैतत् क्रमतोऽर्थकृन्न युगपत् सर्वोद्भवाप्तेः सकृन्-
नातश्च क्षणिकं सहार्थकृदिहाव्यापिन्यहो कः क्रमः ॥२७॥

हो जाता है उसे कार्य करनेके लिए समय ही नहीं है। नित्य पदार्थ क्रमसे काम नहीं कर सकता। क्योंकि जब वह सदा वर्तमान है तो क्रमसे कार्य क्यों करेगा। और यदि सभी कार्य एक ही समयमें उत्पन्न कर देगा तो दूसरे समयमें उसे करनेके लिए कुछ भी नहीं रहेगा। ऐसी अवस्थामें वह अवस्तु हो जायगा; क्योंकि वस्तुका लक्षण अर्थक्रिया है। इसी तरह आत्माको सर्वथा अमूर्तिक माननेपर आकाशकी तरह वह कर्मोंसे बद्ध नहीं हो सकता। आत्माको अणु बराबर या सर्वत्र व्यापक माननेपर प्रत्यक्षबाधा है; क्योंकि, स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे आत्मा अपने शरीरमें ही सर्वत्र प्रतीत होती है, उससे बाहर उसकी प्रतीति नहीं होती। अद्वैतवादकी तरह केवल एक आत्मा माननेपर जन्म-मरण आदि नहीं बन सकता। एक ही आत्मा एक ही समयमें कैसे जन्म-मरण कर सकता है। जीवको पृथिवी, जल, अग्नि, वायुका कार्य मानने पर वह चेतन नहीं हो सकता; क्योंकि पृथ्वी आदिमे चेतनपना नहीं पाया जाता। उपादान कारणका गुण ही कार्यमें आता है, उपादानमें जो गुण नहीं होता वह कार्यमें नही आ सकता। किन्तु जीवमें चैतन्य पाया जाता है। अतः आत्माको एकरूप न मानकर अनेक गुणमय मानना चाहिए। वह द्रव्य रूपसे नित्य है, पर्याय रूपसे अनित्य है। अपने शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा अमूर्तिक है। कर्मबन्धके कारण मूर्तिक है। अपने शरीरके बराबर है। इस तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणोंसे आत्माको अनेक गुणमय जानना चाहिए ॥२६॥

आगे कहते हैं कि जीवादि वस्तुको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक माननेपर अर्थक्रियाकारिता नहीं बनता, अतः अर्थक्रियाकारिता न बननेसे अवस्तुत्वका प्रसंग आता है—

यदि नित्य पदार्थ सहकारी कारणके विना स्वयं ही कार्य करता है तो पहले क्षणमें ही समस्त अपना कार्य करनेसे दूसरे आदि क्षणोंमें कुछ भी नहीं करता। यदि कहोगे कि सहकारीकी अपेक्षासे ही वह अपना कार्य करता है तो अपना कार्य करनेमें सहकारीकी अपेक्षा करनेसे वह परिणामी-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ही सिद्ध होता है। अतः नित्य वस्तु क्रमसे-कालक्रमसे तो कार्यकारी नहीं है। यदि कहोगे कि वह युगपत् अपना कार्य करता है सो भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि सभी कार्योंके एक साथ एक ही क्षणमें उत्पन्न होनेका प्रसंग आता है। इसपर बौद्ध कहता है कि नित्य पदार्थ भले ही कार्यकारी न हो, क्षणिक तो है। इसपर जैनोंका कहना है कि क्षणिक वस्तु युगपत् कार्यकारी है तब भी एक ही क्षणमें सब कार्य उत्पन्न हो जानेसे दूसरे क्षणमें वह अकार्यकारी हो जायेगा। यदि कहोगे कि क्षणिक पदार्थ-क्रमसे कार्य करता है तो जैन कहते हैं कि आश्चर्य इस बातका है जो कालान्तर और देशान्तरमें अव्यापी है उसमें आप क्रम स्वीकार करते हैं, ऐसे पदार्थमें न देशक्रम बनता है और न कालक्रम बनता है ॥२७॥

नित्यं—जीवादिवस्तु । स्वयं—सहकारिकारणमन्तरेणैव । अखिलार्थोत्पादनात्—सकलस्वकार्यकरणात् । प्राक्क्षणे—प्रथमक्षणे एव । परतः—द्वितीयादिक्षणेषु । परिणामि—उत्पादव्ययध्रौव्यैकत्वलक्षणवृत्तियुक्तम् । अन्यकांक्षं—सहकारिकारणापेक्षम् । सर्वोद्भवासेः सकृत्—सर्वेषां कार्याणां युगपदुत्पत्तिप्रसंगात् । ३
अतश्च—सकृत् सर्वोद्भवाप्तेरेव, सह—युगपदक्रमेणेत्यर्थः । अव्यापिनि—देशकालव्याप्तिरहिते । कः क्रमः ?—न कोऽपि देशक्रमः कालक्रमो वा स्यादित्यर्थः । यथाहुः—

> यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः । ६
> न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥ [ ]

विशेषार्थ—आचार्य अकलंक देवने कहा है—

'नित्य और क्षणिक पक्षमें अर्थात् नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमें अर्थक्रिया नहीं बनती। वह अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या अक्रम से होती है। अर्थक्रियाको ही पदार्थका लक्षण माना है।'[1]

आशय यह है कि अर्थक्रिया अर्थात् कार्य करना ही वस्तुका लक्षण है। जो कुछ भी नहीं करता वह अवस्तु है। अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपत् होती है। किन्तु नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमें क्रम और अक्रम दोनों ही सम्भव नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—पहले एक कार्य करके फिर दूसरा कार्य करनेको क्रम कहते हैं। नित्य पदार्थ क्रमसे तो कार्य नहीं कर सकता; क्योंकि जिस स्वभावसे वह पहला कार्य करता है उसी स्वभावसे यदि दूसरा कार्य भी करता है तो दोनों ही कार्य एककालीन हो जायेंगे। तब पीछेवाला कार्य भी पहले वाले कार्यके कालमें ही हो जायेगा; क्योंकि जिस स्वभाव से पहला कार्य जन्म लेता है उसी स्वभावसे पीछेका कार्य भी जन्म लेता है। यदि वह जिस स्वभावसे पीछेवाले कार्यको उत्पन्न करता है उसी स्वभावसे पहलेवाले कार्यको उत्पन्न करता है तो पहले वाला कार्य भी पीछेवाले कार्यके कालमें ही उत्पन्न होना चाहिए; क्योंकि वह पीछेवाले कार्यको उत्पन्न करनेवाले स्वभावसे ही उत्पन्न होता है। यदि कहोगे कि यद्यपि दोनों कार्य एक ही स्वभावसे उत्पन्न होते हैं तथापि सहकारियोंके क्रमके कारण उनमें क्रम माना जाता है, तब तो वे कार्य सहकारियोंके द्वारा हुए ही कहे जायेंगे। यदि कहोगे कि नित्यके भी रहनेपर वे कार्य होते हैं इसलिए उन्हें सहकारिकृत नहीं कहा जा सकता तो जो कुछ कर नहीं सकता; उसके रहनेसे भी क्या प्रयोजन है ? अन्यथा घड़ेकी उत्पत्तिके समय गधा भी उपस्थित रहता है अतः घड़ेकी उत्पत्ति गधेसे माननी चाहिए। यदि कहोगे कि नित्य प्रथम कार्यको अन्य स्वभावसे उत्पन्न करता है और पीछेवाले कार्यको अन्य स्वभावसे, तो उसके दो स्वभाव हुए। अतः वह परिणामी सिद्ध होता है। अतः नित्य क्रमसे कार्य नहीं कर सकता। युगपद् भी कार्य नहीं करता, क्योंकि एक क्षणमें ही सब कार्योंको उत्पन्न करनेपर दूसरे आदि क्षणोंमें उसे करनेके लिए कुछ भी शेष न रहनेसे उसके असत्त्वका प्रसंग आता है। अतः नित्य वस्तु क्रम और अक्रमसे अर्थक्रिया न कर सकनेसे अवस्तु ही सिद्ध होती है। इसी तरह क्षणिक वस्तु भी न तो क्रमसे अर्थक्रिया कर सकती है और न युगपत्। युगपत् अर्थक्रिया माननेसे एक ही क्षणमें सब

---

१. अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥ —लघीयस्त्रय, ८

अथ आत्मनः किंचिद् मूर्तत्वानुवादपुरस्सरं कर्मबन्धं समर्थयते—

स्वतोऽमूर्तोऽपि मूर्तेन यद्गतः कर्मणैकताम् ।
पुमाननादिसंतत्या स्यान्मूर्तो बन्धमेत्यतः ॥२८॥

स्वतोऽमूर्तः—स्वरूपेण रूपादिरहितः । उक्तं च—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ [प्रवचनसार २८० ।]

एकतां—क्षीरनीरवदेकलोलीभावम् । स्यान्मूर्तः । अत इत्यत्रापि संबध्यते । स्याच्छब्दोऽनेकान्तद्योतक एकान्तनिषेधकः कथंचिदर्थे निपातः । ततः कर्मणा सह अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणमेकत्वपरिणतिमापन्नो जीवो व्यवहारेण मूर्त इत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

बंधं पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो हवदि जीवस्स ॥ [सर्वार्थसि. (२।७) में उद्धृत]

अतः कथंचिन्मूर्तत्वात् ॥२८॥

कार्योंकी उत्पत्तिका प्रसंग आनेसे दूसरे क्षणमें उसे कुछ भी करनेको शेष नहीं रहेगा। और ऐसी स्थितिमें वह अवस्तु सिद्ध होगा। रहा क्रम, सो क्रमके दो प्रकार हैं—देशक्रम और कालक्रम। पहले एक देशमें कार्य करके फिर दूसरे देशमें कार्य करनेको देशक्रम कहते हैं। और पहले एक समयमें कार्य करके पुनः दूसरे समयमें कार्य करनेको कालक्रम कहते हैं। क्षणिकमें ये दोनों ही क्रम सम्भव नहीं हैं। क्योंकि बौद्धमत में कहा है—

'क्षणिकवादमें जो जहाँ है वहीं है और जिस क्षणमें है उसी क्षणमें है। यहाँ पदार्थोंमें न देशव्याप्ति है और न कालव्याप्ति है अर्थात् एकक्षणवर्ती वस्तु न दूसरे क्षणमें रहती है और न दूसरे प्रदेश में। क्षणिक ही जो ठहरी। तब वह कैसे क्रमसे कार्य कर सकती है' ? ॥२७॥

आगे जीवको कथंचित् मूर्त बतलाते हुए कर्मबन्ध का समर्थन करते हैं—

यह जीव यद्यपि स्वरूपसे अमूर्तिक है तथापि बीज और अंकुर की तरह अनादि सन्तानसे मूर्त पौद्गलिक कर्मोंके साथ दूध और पानीकी तरह एकमेक हो रहा है अतः कथंचित् मूर्तिक है। और कथंचित् मूर्त होनेसे ही कर्म पुद्गलोंके साथ बन्धको प्राप्त होता है ॥२८॥

विशेषार्थ—संसारी जीव भी स्वरूपसे अमूर्तिक है। जीवका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

'जीवमें रस नहीं है, रूप नहीं है, गन्ध नहीं है, अव्यक्त है—सूक्ष्म है, शुद्ध चेतना उसका गुण है, शब्द रूप नहीं है, स्वसंवेदन ज्ञानका विषय है, इन्द्रियोंका विषय नहीं है तथा सब संस्थानों—आकारोंसे रहित है।

किन्तु स्वरूपसे अमूर्तिक होनेपर भी अनादि सन्तानसे जीव पौद्गलिक कर्मोंके साथ दूध पानीकी तरह मिला हुआ है। यद्यपि उस अवस्थामें भी जीव जीव ही रहता है और पौद्गलिक कर्म पौद्गलिक ही हैं। न जीव पौद्गलिक कर्मरूप होता है और न पौद्गलिक कर्म जीवरूप होते हैं। पौद्गलिक कर्मकी बात दूर, पौद्गलिक कर्मका निमित्त मात्र पाकर जीवमें होनेवाले रागादि भावोंसे भी वह तन्मय नहीं है। जैसे लाल फूलके निमित्तसे स्फटिक मणि लाल दिखाई देती है। परन्तु वह लाल रंग स्फटिकका निज भाव नहीं है, उस समय भी स्फटिक अपने श्वेतवर्णसे युक्त है। लालरंग उसके स्वरूपमें प्रवेश

अथ आत्मनो मूर्तत्वे युक्तिमाह—

विद्युदाद्यैः प्रतिभयहेतुभिः प्रतिहन्यते ।
यच्चाभिभूयते मद्यप्रायैर्मूर्तस्तदङ्गभाक् ॥२९॥

विद्युदाद्यैः—तडिन्मेघगर्जिताशनिपातादिभिः । प्रतिहन्यते—निरुद्ध(निरुद्ध)प्रसरः क्रियते । अभिभूयते—व्याहतसामर्थ्यः क्रियते । मद्यप्रायैः—मदिरा-मदन-कोद्रव-विषधत्तूरकादिभिः ॥२९॥

अथ कर्मणो मूर्तत्वे प्रमाणमाह—

किये बिना ऊपर-ऊपर झलक मात्र दीखता है। रत्नका पारखी तो ऐसा ही जानता है किन्तु जो पारखी नहीं है उसे तो वह लालमणिकी तरह लाल ही प्रतिभासित होती है। उसी तरह जीव कर्मोंके निमित्तसे रागादिरूप परिणमन करता है। वे रागादि जीवके निजभाव नहीं हैं, आत्मा तो अपने चैतन्यगुणसे विराजता है। रागादि उसके स्वरूपमें प्रवेश किये बिना ऊपरसे झलक मात्र प्रतिभासित होते हैं। ज्ञानी तो ऐसा ही जानता है क्योंकि वह आत्म-स्वरूपका परीक्षक है। किन्तु जो उसके परीक्षक नहीं हैं उन्हें तो आत्मा रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है। यह प्रतिभास ही संसारका बीज है। इस तरह कर्मोंके साथ परस्परमें एक दूसरेके प्रदेशोंका प्रवेशरूप एकत्वको प्राप्त हुआ जीव व्यवहारसे मूर्त कहाता है। कहा भी है—

'बन्धकी अपेक्षा जीव और कर्ममें एकपना है किन्तु लक्षण से दोनों भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए जीवका अमूर्तिकपना अनेकान्त रूप है'। अतः जीव कथंचित् मूर्त है। इसीसे कर्मबन्ध होता है। यदि सर्वथा अमूर्तिक होता तो सिद्धों के समान उसके बन्ध नहीं होता ॥२८॥

आगे आत्माके मूर्त होनेमें युक्ति देते हैं—

अचानक उपस्थित हुए बिजलीकी कड़क, मेघोंका गर्जन तथा वज्रपात आदि भयके कारणोंसे जीवका प्रतिघात देखा जाता है तथा मदिरा, विष, धतूरा आदिके सेवन से जीवकी शक्तिका अभिभव देखा जाता है—वह बेहोश हो जाता है अतः जीव मूर्त है ॥२९॥

विशेषार्थ—नशीली वस्तुओंके सेवनसे मनुष्यकी स्मृति नष्ट हो जाती है और वह बेहोश होकर लकड़ीकी तरह निश्चल पड़ जाता है। इसी तरह कर्मोंसे अभिभूत आत्मा मूर्त है ऐसा निश्चय किया जाता है। शायद कहा जाये कि मद्य, चक्षु आदि इन्द्रियोंको ही अभिभूत करता है क्योंकि इन्द्रियाँ पृथिवी आदि भूतोंसे बनी हैं, आत्माके गुणोंपर मद्यका कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि वह अमूर्तिक है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि विचारणीय यह है कि इन्द्रियाँ चेतन हैं या अचेतन ? यदि अचेतन हैं तो अचेतन होनेसे मद्य उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता। यदि अचेतनपर भी मद्यका प्रभाव होता तो सबसे प्रथम उसका प्रभाव उस पात्रपर होना चाहिए जिसमें मद्य रखा जाता है। यदि कहोगे कि इन्द्रियाँ चेतन हैं तो पृथिवी आदि में तो चैतन्य स्वभाव पाया नहीं जाता। अतः पृथिवी आदि भूतोंसे बनी इन्द्रियोंको चेतन द्रव्यके साथ सम्बन्ध होनेसे ही चेतन कहा जाता है। अतः मद्य आत्मगुणों-को ही मोहित करता है यह सिद्ध होता है। और इससे आत्माका कथंचित् मूर्तिकपना सिद्ध होता है क्योंकि अमूर्तिकका मूर्तिकके द्वारा अभिघात आदि नहीं हो सकता ॥२९॥

आगे कर्मोंके मूर्त होनेमें प्रमाण देते हैं—

यथाखुविषवन्मूर्तसंबन्धेनानुभूयते ।
यथास्वं कर्मणः पुंसा फलं तत्कर्म मूर्तिमत् ॥३०॥

फलं—सुखदुःखहेतुरिन्द्रियविषयः । प्रयोगः—कर्म मूर्तं मूर्तसंबन्धेनानुभूयमानफलत्वादाखुविषवत् । आखुविषपक्षे फलं शरीरे मूषकाकारशोफरूपो विकारः ॥३०॥

अथ जीवस्य स्वोपात्तदेहमात्रत्वं साधयति—

स्वाङ्ग एव स्वसंवित्त्या स्वात्मा ज्ञानसुखादिमान् ।
यतः संवेद्यते सर्वैः स्वदेहप्रमितिस्ततः ॥३१॥

स्वाङ्ग एव न परशरीरे नाप्यन्तराले स्वाङ्गेऽपि सर्वत्रैव तिलेषु तैलमित्यादिवदभिव्यापकाधारस्य विवक्षितत्वात् । ज्ञानदर्शनादिगुणैः सुखदुःखादिभिश्च पर्यायैः परिणतः । प्रयोगः—देवदत्तात्मा तद्देह एव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यमानत्वात् । यो यत्रैव यत्र सर्वत्रैव च (स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यते स तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते । यथा देवदत्तगृहे एव तत्र सर्वत्रैव) चोपलभ्यमानः स्वासाधारणभासुरत्वादिगुणः प्रदीपः । तथा चायं, तस्मात्तथेति । तदसाधारणगुणाः ज्ञानदर्शन-सुखवीर्यलक्षणाः ते च सर्वाङ्गीणास्तत्रैव चोपलभ्यन्ते ।

यतः जीव चूहेके विषकी तरह कर्मके फल सुख-दुःखको मूर्तके सम्बन्धसे ही यथायोग्य भोगता है अतः कर्म मूर्तिक है । इसके आधारपर अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है—कर्म मूर्त है क्योंकि उनका फल मूर्तके सम्बन्धसे भोगा जाता है, जैसे चूहेका विष । चूहेके काटनेपर उसके विषके प्रभावसे शरीरमें चूहेके आकारकी सूजन आती है ॥३०॥

विशेषार्थ—जो मूर्तिकके सम्बन्धसे पकता है वह मूर्तिक होता है । जैसे अन्न-धान्य वगैरह जल, सूर्यका ताप आदिके सम्बन्धसे पकते हैं अतः मूर्तिक हैं । इसी तरह कर्म भी गुड़, काँटा आदि मूर्तिमान् द्रव्यके मिलनेपर पकता है—गुड खानेसे सुखका अनुभव होता है, काँटा चुभनेसे दुःखका अनुभव होता है । इसलिए वह मूर्तिक है ॥३०॥

आगे जीवको अपने शरीरके बराबर परिमाणवाला सिद्ध करते हैं—

यतः सभी लोग अपने शरीरमें ही ज्ञान सुख आदि गुणोंसे युक्त अपनी आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा अनुभव करते हैं । अतः आत्मा अपने शरीरके बराबर ही परिमाण-वाला है ॥३१॥

विशेषार्थ—ज्ञान-दर्शन आदि गुणों और सुख-दुःख आदि अपनी पर्यायोंके साथ अपनी आत्माका अनुभव अपने शरीरमें ही सर्वत्र होता है, न तो पर-शरीरमें होता है और न अपने शरीर और पर-शरीरके मध्यमें होता है किन्तु तिलमें तेलकी तरह अपने शरीरमें ही सर्वत्र अपनी आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अनुभव होता है । जैसे मैं सुखी हूँ या मैं दुःखी हूँ । उसीपर-से यह अनुमान होता है—देवदत्तकी आत्मा उसके शरीरमें ही सर्वत्र विद्यमान है क्योंकि उसके शरीरमें ही सर्वत्र अपने असाधारण गुणोंको लिये हुए पायी जाती है । जो जहाँपर ही सर्वत्र अपने असाधारण गुणोंको लिये हुए पाया जाता है वह वहाँ ही सर्वत्र विद्यमान रहता है, जैसे देवदत्तके घरमें ही सर्वत्र अपने असाधारण प्रकाश आदि गुणोंको लिये हुए पाया जानेवाला दीपक । वैसे ही आत्मा भी सर्वत्र शरीरमें ही पायी जाती है इसलिए

'सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम् ।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥' [स्याद्वादमहार्णव]

इति वचनात् । तस्मादात्मा स्वदेहप्रमाण इति ॥३१॥

देहे देहे भिन्नो जीव इति दर्शयति—

यदैवैकोऽश्नुते जन्म जरां मृत्युं सुखादि वा ।
तदैवान्योऽन्यदित्यङ्ग्या भिन्नाः प्रत्यङ्गमङ्गिनः ॥३२॥

अन्यत्—जरादि जन्मादि च । यदा ह्येको जायते तदैवान्यो जीर्यति—म्रियते वा । यदा चैको जीर्यति म्रियते वा तदैवान्यो जायते । तथा यदैवैकः सुखमैश्वर्यादिकं वाऽनुभवति तदैवान्यो दुःखं दौर्गत्यादिकं वाऽनुभवतीति जगद्वैचित्री कस्य न वास्तवी निराबाधबोधे प्रतिभासात् । अङ्ग्याः—बोध्याः ॥३२॥

अथ चार्वाकं प्रति जीवस्य पृथिव्यादिभूतकार्यतां प्रतिषेधयति—

चित्तश्चेत् क्ष्माद्युपादानं सहकारि किमिष्यते ।
तच्चेत् तत्त्वान्तरं तत्त्वचतुष्कनियमः कुतः ॥३३॥

चित्त —चेतनायाः उपादानम् । तल्लक्षणं यथा—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पौर्वापर्येण वर्तते ।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥ [ ]

वह शरीरमें ही सर्वत्र रहती है । उसके असाधारण गुण हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि । ये गुण सब शरीरमें ही पाये जाते हैं । कहा है—

'आह्लादनाकार अनुभूतिको सुख कहते हैं और पदार्थके जाननेको ज्ञान कहते हैं । अतः आत्मा अपने शरीरके ही बराबर परिमाणवाला है' ॥३१॥

आगे कहते हैं कि प्रत्येक शरीरमें भिन्न जीव हैं—

जिस समय एक जीव जन्म लेता है उसी समय दूसरा जीव मरता है या वृद्ध होता है । जिस समय एक जीव मरता है या बूढ़ा होता है उसी समय दूसरा जीव जन्म लेता है । जिस समय एक जीव सुख या ऐश्वर्यका भोग करता है उसी समय दूसरा जीव दुःख या दारिद्रयको भोगता है । जगत्की यह वास्तविक विचित्रता किसको सत्यरूपसे प्रतिभासित नहीं होती । अतः प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न जीव जानना चाहिए ॥३२॥

विशेषार्थ—जैसे कुछ दार्शनिक आत्माको सर्वव्यापी या अणुमात्र मानते हैं वैसे ही अद्वैतवादी सब जीवोंको एक ब्रह्मरूप ही मानते हैं । इन मतोंके खण्डनके लिए प्रमेय कमल मार्तण्ड, अष्ट सहस्री आदि दार्शनिक ग्रन्थ देखना चाहिए ॥३२॥

चार्वाक मानता है कि जीव पृथिवी आदि भूतोंका कार्य है । उसका निषेध करते हैं—

यदि चार्वाक पृथिवी, जल, अग्नि और वायुको चेतनाका उपादान कारण मानता है तो उसका सहकारी कारण—बहिरंग कारण क्या है ? क्योंकि सभी कार्य अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके समूहसे ही उत्पन्न होते हैं । और यदि पृथिवी आदि चार भूतोंसे भिन्न कोई सहकारी कारण चार्वाक मानता है तो चार्वाकदर्शनमें कहा है—

'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि । तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः' पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चार ही तत्त्व हैं । उनके एकत्र होनेपर शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि बनते हैं । ये जो चार तत्त्वोंका नियम है वह कहाँ रहता है ॥३३॥

सहकारि—बहिरङ्गं कारणं तदन्तरेण क्ष्माद्युपादानादेव चेतनालक्षणकार्योत्पत्त्यनुपपत्तेः। सकलकार्याणामन्तरङ्गबहिरङ्गकारणकलापाधीनजन्मत्वात्। तत्त्वान्तरं—पृथिव्यादिचतुष्टयादन्यत्। सः—'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा' इति चार्वाकसिद्धान्ते प्रसिद्धः। न च भूतानां चैतन्यं प्रत्युपादानत्वमनुमानबाधनात्। तथाहि—यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि यन्न विक्रियते न तत्तस्योपादानं, यथा गोरश्व, विक्रियमाणेष्वपि कायाकारपरिणतभूतेषु न विक्रियते च चैतन्यमिति। न चेदमसिद्धम्, अन्यत्र गतचित्ताना वासीचन्दनकल्पानां वा शस्त्रसंपातादिना शरीरविकारेऽपि चैतन्यस्याविकारप्रसिद्धेः। तदविकारेऽपि विक्रियमाणत्वाच्च तद्वदेव। न चेदमप्यसिद्धं शरीरगतं प्राच्याप्रसन्नताद्याकारविनाशेऽपि कमनीयकामिनीसन्निधाने चैतन्ये हर्षादिविकारोपलम्भात् ॥३३॥

अथ का चेतना इत्याह—

अन्वितमहमहमिकया प्रतिनियतार्थावभासिबोधेषु।
प्रतिभासमानमखिलैर्यद्रूपं वेद्यते सदा सा चित् ॥३४॥

अहमहमिकया—य एवाहं पूर्वं घटमद्राक्षं स एवाहमिदानीं पटं पश्यामीत्यादिपूर्वोत्तराकारपरामर्शरूपया संवित्या। अखिलैः—समस्तैश्छद्मस्थैर्जीवैः। वेद्यते—स्वयमनुभूयते। चित्—चेतना। सा च कर्मफल-कार्य-ज्ञानचेतनाभेदात्त्रिधा ॥३४॥

विशेषार्थ—प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उपादानरूप अन्तरंग कारण और सहकारिरूप बहिरंग कारणसे होती है। दोनोंके बिना नहीं होती। चार्वाक केवल चार ही तत्त्व मानता है और उन्हें जीवका उपादान कारण मानता है। ऐसी स्थितिमें प्रश्न होता है कि सहकारी कारण क्या है। यदि सहकारी कारण चार तत्त्वोंसे भिन्न है तो चार तत्त्वका नियम नहीं रहता। तथा पृथिवी आदि भूत चैतन्यके उपादान कारण भी नहीं हो सकते। उसमें युक्तिसे बाधा आती है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जिसमें विकार आनेपर भी जो अविकारी रहता है वह उसका उपादान कारण नहीं होता। जैसे गायमें विकार आनेपर घोड़ेमें विकार नहीं आता अतः वह उसका उपादान कारण नहीं है। इसी तरह शरीरके आकाररूपसे परिणत पृथिवी आदि भूतोंमें विकार आ जानेपर भी चैतन्यमें कोई विकार नहीं आती, अतः वे उसका उपादान कारण नहीं हो सकते। यह बात असिद्ध नहीं है; जिनका ध्यान दूसरी ओर है और जिनके लिए छुरा और चन्दन समान हैं, शस्त्रके घातसे उनके शरीरमें विकार आनेपर भी चैतन्यमें कोई विकार नहीं आता। यह प्रसिद्ध बात है। इसका विशेष कथन प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है ॥३३॥

आगे चेतनाका स्वरूप कहते हैं—

यथायोग्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य घट-पट आदि पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानोंमें अनुस्यूत और जो मैं पहले घटको देखता था वही मैं अब पटको देखता हूँ इस प्रकार पूर्व और उत्तर आकारको विषय करनेवाले ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला जो रूप सभी अल्पज्ञानी जीवोंके द्वारा स्वयं अनुभव किया जाता है वही चेतना है ॥३४॥

विशेषार्थ—प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रियाकी अनुभूति करते समय ऐसा विकल्प करता है, मैं खाता हूँ। मैं जाता हूँ। मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ। इस तरह यह जो प्रत्येक ज्ञानमें 'मैं मैं' यह रूप मोतीकी मालामें अनुस्यूत धागेकी तरह पिरोया हुआ है। इसके साथ ही 'जो मैं पहले अमुक पदार्थको देखता था वही मैं अब अमुक पदार्थको देखता हूँ' इस प्रकारका ज्ञान होता है जो पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्था दोनोंको अपनाये हुए है। इस

यद्येवं तर्हि कः किं प्राधान्येन चेतयत इत्याह—

सर्वं कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः ।
सकार्यं चेतयन्तेऽस्तप्राणित्वा ज्ञानमेव च ॥३५॥

कर्मफलं—सुखदुःखम् । स्थावराः—एकेन्द्रिया जीवाः पृथिवीकायिकादयः । त्रसाः—द्वीन्द्रियादयः । सकार्यं—क्रियत इति कार्यं कर्म बुद्धिपूर्वो व्यापार इत्यर्थः । तेन सहितम् । कार्यचेतना हि प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणभूतक्रियाप्राधान्योत्पाद्यमानः सुखदुःखपरिणामः । चेतयन्ते—अनुभवन्ति । अस्तप्राणित्वाः—व्यवहारेण जीवन्मुक्ता । परमार्थेन परममुक्ता एव हि निर्जीर्णकर्मफलत्वादत्यन्तकृतकृत्यत्वाच्च स्वतोऽव्यतिरिक्तस्वाभाकिकसुखं ज्ञानमेव चेतयन्ते । जीवन्मुक्तास्तु मुख्यभावेन ज्ञानं गौणतया त्वन्यदपि । ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं ह्यज्ञानचेतना । सा द्विविधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना ।

ज्ञानमें जो रूप प्रतिभासित होता है वही चेतना है। यह रूप न तो इन्द्रियमूलक है और न इन्द्रियजन्य ज्ञानमूलक है। इन्द्रियाँ तो अचेतन हैं और ज्ञान क्षणिक है। घटज्ञान घटको जाननेके बाद नष्ट हो जाता है और पटज्ञान पटको जाननेके बाद नष्ट हो जाता है। घटको जाननेवाला ज्ञान भिन्न है और पटको जाननेवाला ज्ञान भिन्न है। फिर भी कोई एक ऐसा व्यक्तित्व है जो दोनों ज्ञानोंमें अनुस्यूत है, तभी तो वह अनुभव करता है कि जो मैं पहले अमुकको जानता था वही अब मैं अमुकको जानता हूँ यही चेतना या आत्मा है। उस चेतनाके तीन प्रकार हैं—कर्मचेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञानचेतना ॥३४॥

किन जीवोंके कौन चेतना होती है यह बतलाते हैं—

सब पृथिवीकायिक आदि एकेन्द्रिय स्थावर जीव मुख्य रूपसे सुख-दुःखरूप कर्मफलका अनुभवन करते हैं। दो-इन्द्रिय आदि त्रस जीव मुख्य रूपसे कार्य चेतना का अनुभवन करते हैं और जो प्राणिपनेको अतिक्रान्त कर गये हैं वे ज्ञानका ही अनुभवन करते हैं ॥३५॥

विशेषार्थ—आत्माका स्वरूप चैतन्य ही है। आत्मा चैतन्यरूप ही परिणमित होता है। इसका आशय यह है कि आत्माका कोई भी परिणाम चेतनाको नहीं छोड़ता। चेतनाके तीन भेद हैं—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। अर्थ विकल्पको ज्ञान कहते हैं। स्व और परके भेदको लिये हुए यह समस्त विश्व अर्थ है। और उसके आकारको जानना विकल्प है। जैसे दर्पणमें स्व और पर आकार एक साथ प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार जिसमें एक साथ स्व-पर आकार प्रतिभासित होते हैं ऐसा अर्थ विकल्प ज्ञान है। जो आत्माके द्वारा किया जाता है वह कर्म है। अतः आत्माके द्वारा प्रति समय किया जानेवाला जो भाव है वही आत्माका कर्म है। वह कर्म यद्यपि एक प्रकारका है तथापि द्रव्यकर्मकी उपाधिकी निकटताके होने और न होनेसे अनेक रूप है। उस कर्मके द्वारा होनेवाला सुख-दुःख कर्मफल है। द्रव्यकर्मरूप उपाधिके नहीं होनेसे जो कर्म होता है उसका फल अनाकुलता रूप स्वाभाविक सुख है। और द्रव्यकर्मरूप उपाधिका सान्निध्य होनेसे जो कर्म होता है उसका फल विकाररूप दुःख है क्योंकि संसारके सुखमें सुखका लक्षण नहीं पाया जाता। इस तरह चेतनाके तीन रूप हैं। जिन आत्माओंका चेतक स्वभाव अति प्रगाढ़ मोहसे मलिन होता है तथा तीव्रतर ज्ञानावरण कर्मके उदयसे उसकी शक्ति कुण्ठित होती है और अति प्रकृष्ट वीर्यान्तरायसे कार्य करनेकी शक्ति भी नष्ट हो जाती है ऐसे स्थावर एकेन्द्रिय जीव प्रधान रूपसे सुख-दुःखरूप कर्मफलका ही अनुभवन करते हैं। जिन जीवोंका चेतक

ज्ञानादन्यत्रेदं चेतयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना। सा चोभय्यपि जीवन्मुक्ते गणी (गौणी) बुद्धिपूर्वककर्तृत्व-भोक्तृत्वयोरुच्छेदात्। श्लोकः—

निर्मलोन्मुद्रितानन्तशक्तिचेतयितृत्वतः।
ज्ञानं निस्सीमशर्मात्म विन्दन् जीयात् परः पुमान्॥

उक्तं च—

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदा।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ॥३५॥

[पञ्चास्ति. ३९]

स्वभाव अति प्रगाढ़ मोहसे मलिन होनेपर भी और तीव्र ज्ञानावरण कर्मसे शक्तिके मुद्रित होनेपर भी थोड़े-से वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त है वे सुख-दुःख-रूप कर्मफलके अनुभवनसे मिश्रित कर्मको ही प्रधान रूपसे अनुभवन करते हैं। किन्तु समस्त मोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्मके नष्ट हो जानेसे जिनका चेतक स्वभाव अपनी समस्त शक्तिके साथ प्रकट है वे वीर्यान्तरायका क्षय होनेसे अनन्त वीर्यसे सम्पन्न होनेपर भी अपनेसे अभिन्न स्वाभाविक सुखरूप ज्ञानका ही अनुभवन करते हैं क्योंकि कर्मफलकी निर्जरा हो जानेसे और अत्यन्त कृतकृत्य होनेसे कर्मफल चेतना और कर्म चेतनाको वहाँ अवकाश ही नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्दने ऐसा ही कहा है कि सब स्थावरकाय कर्मफलका अनुभवन करते हैं। त्रस कर्मचेतनाका अनुभवन करते हैं। और प्राणित्वको अतिक्रान्त करनेवाले ज्ञानचेतनाका अनुभवन करते हैं। यहाँ प्राणित्व अतिक्रान्तका अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रने केवलज्ञानी किया है और आचार्य जयसेनने सिद्धजीव किया है। इन दोनों आचार्योंके कथनोंको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकार आशाधरने अपनी टीकामें 'अस्तप्राणित्वाः'का अर्थ प्राणित्वसे अतिक्रान्त जीव करके व्यवहारसे जीवन्मुक्त और परमार्थसे परममुक्त दोनोंको लिया है। और लिखा है—मुक्त जीव ही अपनेसे अभिन्न स्वाभाविक सुखरूप ज्ञानका ही अनुभवन करते हैं क्योंकि उनके कर्मफल निर्जीर्ण हो चुका है और वे अत्यन्त कृतकृत्य हैं। किन्तु जीवन्मुक्त केवली मुख्य रूपसे ज्ञानका और गौण रूपसे अन्य चेतनाका भी अनुभवन करते हैं। क्योंकि उनमें बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व और भोक्तृत्वका उच्छेद हो जाता है। असलमें आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है[1] आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इतना ही नहीं, वह स्वयं ज्ञान है। ज्ञानसे अन्य वह क्या करता है। आत्मा परभावका कर्ता है यह कहना तो व्यवहारी जीवोंका अज्ञान है।

अतः ज्ञानसे अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि यह मैं हूँ यह अज्ञान चेतना है। उसीके दो भेद हैं—कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि इसका मैं कर्ता हूँ यह कर्म चेतना है और ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि इसका मैं भोगता हूँ यह कर्मफल चेतना है। ये दोनों अज्ञान चेतना संसारकी बीज हैं। क्योंकि संसारके बीज तो आठ कर्म हैं उनकी बीज अज्ञान चेतना है। उससे कर्मबन्ध होता है। इसलिए मुमुक्षुको अज्ञान चेतनाका विनाश करनेके लिए सकल

---

१. आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥ —समय. कलश, ६२

अथ आस्रवतत्त्वं व्याचष्टे—

ज्ञानावृत्त्यादियोग्याः सदृगधिकरणा येन भावेन पुंसः
शस्ताशस्तेन कर्मप्रकृतिपरिणतिं पुद्गला ह्यास्रवन्ति ।
आगच्छन्त्यास्रवोऽसावकथि पृथगसद्‌दृग्मुखस्तत्प्रदोष-
पूर्वो वा विस्तरेणास्रवणमुत मतः कर्मताप्तिः स तेषाम् ॥३६॥

सदृगधिकरणाः—जीवेन सह समानस्थानाः । उक्तं च—

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सहावेहिं ।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाढमवगाढा ॥ [पञ्चास्ति. ६५]

शस्ताशस्तेन—शस्तेन युक्तः शस्तः, अशस्तेन युक्तोऽशस्तः । शस्ताशस्तेन शुभेनाशुभेन चेत्यर्थः । तत्र शुभः प्रशस्तरागादिः पुण्यास्रव. । अशुभः संज्ञादिः पापास्रवः । तथा चोक्तम्—

कर्म संन्यास भावना और कर्मफल संन्यास भावनाके द्वारा नित्य ही एक ज्ञान चेतनाको मानना चाहिए। इन बातोंको दृष्टिमें रखकर पंचाध्यायीकारने सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना कही[1] है। यथा—

'यहाँ ज्ञान शब्दसे आत्मा वाच्य है क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानमात्र है। ज्ञानचेतनाके द्वारा वह शुद्ध आत्मा अनुभवनमें आता है इसलिए उसे शुद्धज्ञान चेतना कहते हैं। इसका आशय यह है कि जिस समय ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त होकर आत्माकी उपलब्धि रूप होता है उसे ज्ञान चेतना कहते हैं। वह ज्ञान चेतना नियमसे सम्यग्दृष्टि जीवके होती है, मिथ्यादृष्टिके कभी भी नहीं होती क्योंकि मिथ्यात्वकी दशामें ज्ञान चेतनाका होना असम्भव है।' इस तरह सम्यक्त्वके साथ ज्ञान चेतनाका आंशिक प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि ज्ञानके सिवाय परभावों में कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि नहीं रखता। किन्तु उसकी पूर्ति जीवन्मुक्त केवली दशामें होती है ॥३५॥

आस्रवतत्त्वको कहते हैं—

जीवके जिस शुभ या अशुभ भावसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंके योग्य और जीवके साथ उसके समान स्थानमें रहनेवाले पुद्गल आते हैं—ज्ञानावरण आदि कर्मरूपसे परिणत होते हैं उसे आस्रव कहते हैं। विस्तारसे मिथ्यादर्शन आदि तथा तत्प्रदोष आदि रूप आस्रव कहा है। अथवा उन पुद्गलोंका आना—उनका ज्ञानावरण आदि कर्मरूपसे परिणत होना आस्रव पूर्वाचार्योंको मान्य है ॥३६॥

विशेषार्थ—जैन सिद्धान्तमें २३ प्रकारकी पुद्गल वर्गणाएँ कहीं हैं। उन्हींमें-से कर्मवर्गणा है। कर्मयोग्य पुद्गल सर्वलोकव्यापी हैं। जहाँ आत्मा होती है वहाँ बिना बुलाये स्वयं ही वर्तमान रहते हैं। ऐसी स्थितिमें संसार अवस्थामें आत्मा अपने पारिणामिक चैतन्य

---

१. अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम् ।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥
अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा ।
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥
सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥—पञ्चाध्या. उ., १९६–१९८

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्मि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्सासवदि ॥ [पञ्चास्ति. १३५]
संण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा अ अट्टरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥ [पञ्चास्ति. १४०]

स एष भावास्रवः पुण्यपापकर्मरूपद्रव्यास्रवस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं स्यात् । तन्निमित्तश्च शुभाशुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशता पुद्गलाना द्रव्यास्रव. स्यात् । तथा चोक्तम्—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ [द्रव्यसं. २९]

कर्मप्रकृतिपरिणति—ज्ञानावरणादिकर्म स्वभावेन परिणमनम् । उक्तम्—

स्वभावको तो नहीं छोड़ता, किन्तु अनादिकालसे कर्मबन्धनसे बद्ध होनेके कारण अनादि मोह राग द्वेषसे स्निग्ध हुए अविशुद्ध भाव करता रहता है। जिस भी समय और जिस भी स्थानपर वह अपने मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव करता है, उसी समय उसी स्थानपर उसके भावोंका निमित्त पाकर जीवके प्रदेशोंमें परस्पर अवगाह रूपसे प्रविष्ट हुए पुद्गल स्वभावसे ही कर्मरूप हो जाते हैं। इसीका नाम आस्रव है। यह आस्रव योगके द्वारा होता है। मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिका नाम योग है। योगरूपी द्वारसे आत्मामें प्रवेश करनेवाले कर्मवर्गणारूप पुद्गल ज्ञानावरण आदि कर्मरूपसे परिणमन करते हैं। आस्रवके दो भेद हैं—द्रव्यास्रव और भावास्रव। इनका स्वरूप इस प्रकार[1] है—

'आत्माके जिस परिणामसे कर्म आते हैं उसे भावास्रव जानो और कर्मोंका आना द्रव्यास्रव है।'

जीवके जिस परिणामसे कर्म आते हैं वह परिणाम या भाव या तो शुभ होता है या अशुभ होता है। शुभ भावसे पुण्यकर्मका आस्रव होता है और अशुभ भावसे पापकर्मका आस्रव होता है।

कहा भी है—

'जिसका राग प्रशस्त है अर्थात् जो पंचपरमेष्ठीके गुणोंमें, उत्तम धर्ममें अनुराग करता है, जिसके परिणाम दयायुक्त हैं और मनमें क्रोध आदि रूप कलुषता नहीं है उस जीवके पुण्यकर्मका आस्रव होता है।'

तीव्र मोहके उदयसे होनेवाली आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा, तीव्र कषायके उदयसे रँगी हुई मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिरूप कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्याएँ, राग-द्वेषके उदयके प्रकर्षसे तथा इन्द्रियों की अधीनतारूप राग-द्वेषके उद्रेकसे प्रिय संयोग, अप्रियका वियोग, कष्टसे मुक्ति और आगामी भोगोंकी इच्छारूप आर्तध्यान, कषायसे चित्तके क्रूर होनेसे हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षणमें आनन्द मानने रूप रौद्र ध्यान, शुभकर्मको छोड़कर दुष्कर्मोंमें लगा हुआ ज्ञान और दर्शनमोहनीय तथा चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाला अविवेकरूप मोह ये सब पापास्रवके कारण हैं।

---

१. आसवदि जेण कम्मं परिणामेप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥—द्रव्यसं, गा. २९ ।

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पोग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥ [द्रव्यसं. ३१]

पृथक्—प्रत्येकम् । असद्दृग्मुखः—मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगपञ्चकम् । तत्प्रदोषपृष्ठः—'तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः' इत्यादिसूत्रपाठक्रमोक्तः । सः—आस्रवः । तेषां ज्ञानावृत्यादियोग्यपुद्गलानाम् । अत्रैष द्रव्यास्रवः पूर्वश्च भावास्रवः इति मन्तव्यम् ॥३६॥

अथ भावास्रवभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

मिथ्यादर्शनमुक्तलक्षणमसुभ्रंशादिकोऽसंयमः
शुद्धावष्टविधौ दशात्मनि वृषे मान्द्यं प्रमादस्तथा ।
क्रोधादिः किल पञ्चविंशतितयो योगस्त्रिधा चास्रवाः
पञ्चैते यदुपाश्रयः कलियुजस्ते तत्प्रदोषादयः ॥३७॥

उक्तलक्षणं—'मिथ्यात्वकर्मपाकेन' इत्यादिग्रन्थेन । असुभ्रंशादिकः—हिंसाविषयाभिलाषप्रमुखः । अष्टविधौ—अष्टप्रकाराया वक्ष्यमाणायाम् । मान्द्यं—अनुत्साहः । उक्तं च—

इस प्रकार शुभ और अशुभ भाव द्रव्य पुण्यास्रव और द्रव्य पापास्रवके निमित्तमात्र होनेसे कारणभूत हैं। अतः जिस क्षणमें द्रव्य पुण्य या द्रव्य पापका आस्रव होता है उसके पश्चात् उन शुभाशुभ भावोंको भावपुण्यास्रव और भावपापास्रव कहा जाता है। और उन शुभाशुभ भावोंके निमित्तसे योग द्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलोंका जो शुभाशुभ कर्मरूप परिणाम है वह द्रव्यपुण्यास्रव और द्रव्यपापास्रव है। इस तरह भावास्रवके निमित्तसे द्रव्यास्रव और द्रव्यास्रवके निमित्तसे भावास्रव होता है। भावास्रवके विस्तारसे अनेक भेद हैं। सामान्यसे मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच भेद हैं। तथा तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायमें प्रत्येक ज्ञानावरण आदि कर्मके आस्रवके भिन्न-भिन्न कारण बतलाये हैं। जैसे—

ज्ञान और दर्शनके विषयमें प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात करनेसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है। इत्यादि। प्रत्येकके अलग-अलग कारण कहे हैं ॥३६॥

आगे भावास्रवके भेद कहते हैं—

मिथ्यादर्शनका लक्षण पहले कह आये हैं। प्राणिका घात आदि करना असंयम है। आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें और दश प्रकारके धर्ममें आलस्य करना प्रमाद है। क्रोध आदि पचीस कषाय हैं। तीन प्रकारका योग है। ये पाँच भावास्रवके भेद हैं। इन्हींके विशेष भेद प्रदोष आदि हैं जो जीवसे कर्मोंको संयुक्त करते हैं ॥३७॥

विशेषार्थ—भावास्रवके मूल भेद पाँच हैं—मिथ्यादर्शन, असंयम या अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यादर्शन का स्वरूप पहले बतला दिया है। प्राणोंके घात करने आदिको असंयम या अविरति कहते हैं; उसके बारह भेद हैं—पृथिवी काय आदि छह कायके जीवोंका घात करना और पाँचों इन्द्रियों तथा मनको वशमें न रखना। अच्छे कार्योंमें उत्साहके न होनेको या उनमें अनादरका भाव होनेको प्रमाद कहते हैं। उसके अनेक भेद हैं। जैसे उत्तम क्षमा आदि दस धर्मोंमें तथा आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें प्रमाद का होना। कहा भी है—

संज्वलनोकषायाणां यः स्यात्तीव्रोदयो यतेः ।
प्रमादः सोऽस्त्यनुत्साहो धर्मे शुद्ध्यष्टके तथा ॥ [लघु पं. सं. १।३९]

तद्भेदाः पञ्चदश यथा—

विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तह य पणओ य ।
चदु चदु पण एगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा ॥ [गो. जी. ३४]

क्रोधादिः—क्रोधमानमायालोभाः प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण - प्रत्याख्यानावरणसंज्वलन-विकल्पाः षोडश हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेदाश्च नवेति पञ्चविंशत्यवयवः कषायवर्गः किल ।

'कषाया[1]ः षोडश प्रोक्ता नोकषाया यतो नव ।
ईषद्भेदो न भेदोऽतः कषायाः पञ्चविंशतिः ।' [ ]

'जिससे मुनिके संज्वलन और नोकषायका तीव्र उदय होता है उसे प्रमाद कहते हैं। तथा दस धर्मों और आठ शुद्धियोंके पालनमें अनुत्साहको प्रमाद कहते हैं। उसके पन्द्रह भेद हैं—चार विकथा (स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा, राजकथा), चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, एक निद्रा और एक स्नेह—ये पन्द्रह प्रमाद हैं। पचीस कषाय हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इस तरह ये सोलह कषाय हैं। तथा नौ नोकषाय हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद। ये ईषत् कषाय हैं, क्रोधादि कषायोंका बल पाकर ही प्रबुद्ध होती है इसलिए इन्हें नोकषाय कहते हैं। ये सब पचीस कषाय है। आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्द-कम्पन होता है उसे योग कहते हैं। मन-वचन-कायका व्यापार उसमें निमित्त होता है इसलिए योगके तीन भेद होते हैं। इनमें-से पहले गुणस्थानमें पाँच कारण होते हैं। सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें चार ही कारण होते हैं क्योंकि उनमें मिथ्यात्व-का अभाव है। संयतासंयतके अविरति तो विरतिसे मिश्रित हैं क्योंकि वह देश संयमका धारक होता है तथा प्रमाद कषाय और योग होते हैं। प्रमत्तसंयतके मिथ्यात्व और अविरतिका अभाव होनेसे केवल प्रमाद कषाय और योग होते हैं। अप्रमत्तसे लेकर सूक्ष्म साम्पराय-संयत पर्यन्त चार गुणस्थानोंमें केवल कषाय और योग होते हैं। उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके एक योग ही होता है। अयोगकेवली अबन्धक हैं उनके बन्धका हेतु नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, पञ्चसंग्रह, गोमट्टसार कर्मकाण्ड आदि सभी ग्रन्थोंमें गुणस्थानोंमें बन्धके उक्त कारण बतलाये हैं। किन्तु पं. आशाधरजीने अपनी टीका भ. कु. च. में तृतीय गुणस्थानमें पाँच कारण बतलाये हैं अर्थात् मिथ्यात्वको भी बतलाया है किन्तु मिथ्यात्वका उदय केवल पहले गुणस्थानमें ही बतलाया गया है। सम्यक्मिथ्यात्व कर्म वस्तुतः मिथ्यात्वकर्मका ही अर्धशुद्ध रूप है, सम्भवतया इसीसे आशाधरजीने मिथ्यात्व-

१. 'षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः ।
ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पञ्चविंशतिः ॥' [तत्त्वार्थसार ५।११]

इति आगमोक्त्या। योगः आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणो मनोवाक्कायव्यापारः। यदुपाधयः—येषा मिथ्यादर्शनादिभावास्रवभेदानां विशेषाः। कलियुजः—ज्ञानावरणादिकर्मबन्धकाः ॥३७॥

अथ बन्धस्वरूपनिर्णयार्थमाह—

स बन्धो बध्यन्ते परिणतिविशेषेण विवशी-
क्रियन्ते कर्माणि प्रकृतिविदुषो येन यदि वा।
स तत्कर्माम्नातो नयति पुरुषं यत्स्ववशतां,
प्रदेशानां यो वा स भवति मिथः श्लेष उभयोः ॥३८॥

परिणतिविशेषेण—मोहरागद्वेषस्निग्धपरिणामेन मोहनीयकर्मोदयसंपादितविकारेणेत्यर्थः। स एष जीवभावः कर्मपुद्गलानां विशिष्टशक्तिपरिणामेनावस्थानस्य निमित्तत्वाद् बन्धस्यान्तरङ्गकारणं जीवप्रदेशवर्ति कर्मस्कन्धानुप्रवेशलक्षणकर्मपुद्गलग्रहणस्य कारणत्वाद् बहिरङ्गकारणं योग। तद्विवक्षाया परिणतिविशेषेणेत्यस्य

का उदय तीसरेमें माना है। किन्तु यह परम्परासम्मत नहीं है। इसी तरह उन्होंने संयतासंयतमें मिथ्यात्वके साथ अविरतिका अभाव बतलाया है किन्तु यह कथन भी शास्त्रसम्मत नहीं है। पाँचवें गुणस्थानमें पूर्णविरति नहीं होती, एकदेशविरति होती है। हम नहीं कह सकते कि आशाधर-जैसे बहुश्रुत ग्रन्थकारने ऐसा कथन किस दृष्टिसे किया है। आगममें हमारे देखनेमें ऐसा कथन नहीं आया। यहाँ हम कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं—

प्राकृत पंचसंग्रह और कर्मकाण्डमें प्रमादको अलगसे बन्धके कारणोंमें नहीं लिया है। इसलिए वहाँ प्रथम गुणस्थानमें चार, आगेके तीन गुणस्थानोंमें तीन, देशविरतमें अविरतिसे मिश्रित विरति तथा कषाय योग बन्धके हेतु हैं ॥३७॥

बन्धका स्वरूप कहते हैं—

पूर्वबद्ध कर्मोंके फलको भोगते हुए जीवकी जिस परिणति विशेषके द्वारा कर्म बँधते हैं अर्थात् परतन्त्र कर दिये जाते हैं उसे बन्ध कहते हैं। अथवा जो कर्म जीवको अपने अधीन कर लेता है उसे बन्ध कहा है। अथवा जीव और कर्मके प्रदेशोंका जो परस्परमें मेल होता है उसे बन्ध कहते हैं ॥३८॥

विशेषार्थ—यहाँ तीन प्रकारसे बन्धका स्वरूप बतलाया है। पहले कहा है कि कर्मबद्ध संसारी जीवकी जिस परिणति विशेषके द्वारा कर्म बाँधे जाते हैं—परतन्त्र बनाये जाते है वह बन्ध है। यहाँ कर्मसे कर्मरूप परिणत पुद्गल द्रव्य लेना चाहिए। और परतन्त्र किये जानेसे यह आशय है कि योगरूपी द्वारसे प्रवेश करने की दशामें पुण्य-पापरूपसे परिणमन करके और प्रविष्ट होनेपर विशिष्ट शक्तिरूपसे परिणमाकर भोग्यरूपसे सम्बद्ध किये जाते हैं। यहाँ परिणति विशेषसे मोह-राग और द्वेषसे स्निग्ध परिणाम लेना चाहिए। अर्थात् मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले विकारसे युक्त जीव भाव। वही जीव भाव कर्मपुद्गलोंके विशिष्ट शक्ति रूपसे अवस्थानमें निमित्त होनेसे बन्धका अन्तरंग कारण है। और कर्मपुद्गल ग्रहण-

१. 'सासादन-सम्यग्दृष्टि-सम्यक्मिथ्यादृष्टि-असंयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः। संयतासंयतस्याविरतिर्विरतिमिश्राः। —सर्वार्थ., त. रा. वा. ८।१
चदुपच्चइओ बंधो पढमे अणंतरतिये तिपच्चइओ।
मिस्सय बिदिओ उवरिमदुगं च देसेक्कदेसम्हि ॥ —प्रा. पं. सं. ४।७८

योग इत्यर्थो वाच्यः मनोवाक्कायवर्गणालम्बनात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणस्य तस्यापि जीवविकारित्वाविशेषात्। एतेन बाह्यमान्तरं बन्धकारणं व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम्। उक्तं च—

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरायदोसमोहजुदो ॥ [पञ्चास्ति. १४८]

प्रकृतिविदुषः—प्राक्तनं कर्मानुभवतो जीवस्य। स तत्कर्मेत्यादि—एष· कर्मस्वातन्त्र्यविवक्षाया बन्ध उक्तो द्विष्ठत्वात्तस्य। मिथ श्लेष.। बन्धनं बन्ध इति निरुक्तिपक्षे। उक्तं च—

परस्परं प्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः।
एकत्वकारको बन्धो रुक्मकाञ्चनयोरिव ॥ [अमित. पं. सं (पृ ५४) पर उद्धृत]

तदत्र मोहरागद्वेषस्निग्ध· शुभोऽशुभो वा परिणामो जीवस्य भावबन्धः। तन्निमित्तेन शुभाशुभकर्मत्वपरिणताना जीवेन सहान्योन्यमूर्च्छनं पुद्गलाना द्रव्यबन्धः। उक्तं च—

बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।
कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥

का अर्थ है जीवके प्रदेशोंमें कर्मस्कन्धोंका प्रवेश। उसका कारण है योग। अत. योग बहिरंग कारण है। उसकी विवक्षामें परिणति विशेषका अर्थ योग लेना चाहिए। मनोवर्गणा, वचन-वर्गणा और कायवर्गणाके आलम्बनसे जो आत्मप्रदेशोंमें हलन-चलन होता है उसे योग कहते हैं। वह योग भी जीवका विकार है। इस तरह बन्धके अन्तरंग और बहिरंग कारण जानना।

पंचास्तिकाय गाथा १४ का व्याख्यान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रजीने कहा है—

ग्रहणका अर्थ है कर्मपुद्गलोंका जीवके प्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रमें स्थित कर्मस्कन्धोंमें प्रवेश। उसका निमित्त है योग। योग अर्थात् वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके आलम्बनसे होनेवाला आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द। बन्धका अर्थ है कर्मपुद्गलोंका विशिष्ट शक्तिरूप परिणाम सहित स्थित रहना। उसका निमित्त है जीवभाव। जीवभाव मोह राग-द्वेषसे युक्त है अर्थात् मोहनीयके उदयसे होनेवाला विकार। अत. यहाँ पुद्गलोंके ग्रहणका कारण होनेसे बहिरंग कारण योग है और विशिष्ट शक्तिकी स्थितिमें हेतु होनेसे जीव भाव ही अन्तरंग कारण है। बन्धका दूसरा लक्षण है जो जीवको परतन्त्र करता है। यह कर्मकी स्वातन्त्र्य विवक्षामें बन्धका स्वरूप कहा है क्योंकि बन्ध दोमें होता है। तीसरा लक्षण है जीव और कर्मस्कन्धके प्रदेशोंका परस्परमें श्लेष। कहा है—

'चाँदी और सोने की तरह जीव और कर्मके प्रदेशोंका परस्परमें एकत्व करानेवाला प्रवेश बन्ध है।'

जैसे पात्रविशेषमें डाले गये अनेक रस और शक्तिवाले पुष्प और फल शराबके रूपमें बदल जाते हैं वैसे ही आत्मामें स्थित पुद्गल भी योगकषाय आदिके प्रभावसे कर्मरूपसे परिणमित हो जाते हैं। यदि योग कषाय मन्द होते हैं तो बन्ध भी मन्द होता है और तीव्र होते हैं तो बन्ध भी तीव्र होता है। मोह राग और द्वेषसे स्निग्ध शुभ या अशुभ परिणाम भावबन्ध है। उसका निमित्त पाकर शुभाशुभ कर्मरूपसे परिणत पुद्गलोंका जीवके साथ परस्परमें संश्लेष द्रव्यबन्ध है। कहा भी है—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो।
जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति ॥ [द्रव्यसं. ३२-३३] ॥३८॥

अथ के ते प्रकृत्यादय इत्याह—

ज्ञानावरणाद्यात्मा प्रकृतिस्तद्विधिरविच्युतिस्तस्मात् ।
स्थितिरनुभवो रसः स्यादणुगणना कर्मणां प्रदेशश्च ॥३९॥

ज्ञानावरणस्य कर्मणोऽर्थानवगम कार्यम् । प्रक्रियते प्रभवत्यस्य इति प्रकृतिः स्वभावो निम्बस्येव तिक्तता । एवं दर्शनावरणस्यार्थानालोचनम् । वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुख-दुःखसंवेदनम् । दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम् । चारित्रमोहस्यासंयमः । आयुषो भवधारणम् । नाम्नो नारकादिनामकरणम् । गोत्रस्य उच्चैर्नीचं स्थानसंशब्दनम् । अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम् । क्रमेण तद्दृष्टान्तार्था गाथा यथा—

पडपडिहारसिमज्जाहलि-चित्तकुलालभंडयारीणं ।
जह एदेसि भावा तह कम्माणं वियाणाहि ॥ [गो. क. २१]

'जिस अशुद्ध चेतनाभावसे कर्म बँधते हैं उसे भावबन्ध कहते हैं। कर्म तथा आत्माके प्रदेशोंका परस्परमें दूध-पानीकी तरह मिल जाना द्रव्यबन्ध है। बन्धके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमें-से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगसे होते हैं और कषायसे स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध होते हैं।'

द्रव्यसंग्रहकी संस्कृत टीकामें ब्रह्मदेवने एक शंका उठाकर समाधान किया है, आशाधरजीने भी अपनी संस्कृत टीकामें उसे दिया है। शंका—मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रवके भी हेतु हैं और बन्धके भी। दोनोंमें क्या विशेषता है? समाधान—पहले समयमें कर्मोंका आना आस्रव है, आगमनके अनन्तर दूसरे आदि समयमें जीवके प्रदेशोंमें स्थित होना बन्ध है। तथा आस्रवमें योग मुख्य है और बन्धमें कषाय आदि।

इस प्रकार आस्रव और बन्धमें कथंचित् कारणभेद जानना ॥३८॥

आगे प्रकृतिबन्ध आदिका स्वरूप कहते हैं—

द्रव्यबन्धके चार भेद हैं। कर्मोंमें ज्ञानको ढाकने आदि रूप स्वभावके होनेको प्रकृतिबन्ध कहते हैं। और उस स्वभावसे च्युत न होनेको स्थितिबन्ध कहते हैं। कर्मोंकी सामर्थ्य विशेषको अनुभवबन्ध कहते हैं और कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्धोंके परमाणुओंके द्वारा गणनाको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥३९॥

विशेषार्थ—प्रकृति कहते हैं स्वभावको। जैसे नीमकी प्रकृति कटुकता है, गुडकी प्रकृति मधुरता है। इसी तरह ज्ञानावरणका स्वभाव है पदार्थका ज्ञान नहीं होना। दर्शनावरणका स्वभाव है पदार्थका दर्शन न होना। सातावेदनीय-असातावेदनीयका स्वभाव है सुख-दुःखका अनुभवन। दर्शनमोहका स्वभाव है तत्त्वार्थका अश्रद्धान। चारित्र मोहनीयका स्वभाव है असंयम। आयुका कार्य है भवमें अमुक समय तक रहना। नामकर्मका स्वभाव है नारक देव आदि नाम रखाना। गोत्रका स्वभाव है उच्च-नीच व्यवहार कराना। अन्तरायका स्वभाव है विघ्न करना। कहा भी है—

'पट (पर्दा), द्वारपाल, शहद लगी तलवार, मद्य, हलि (जिसमें अपराधीका पैर फँसा देते थे), चित्रकार, कुम्हार, और भण्डारीके जैसे भाव या कार्य होते हैं वैसा ही कार्य आठ कर्मोंका भी जानना चाहिए'। इस प्रकारके स्वभाववाले परमाणुओंके बन्धको प्रकृतिबन्ध कहते हैं। तथा जैसे बकरी, गाय, भैंस आदिके दूधका अमुक काल तक अपने माधुर्य

तद्विधिः—द्रव्यबन्धप्रकारः। तस्मात्—ज्ञानावरणादिलक्षणात् स्वभावात्। रसः—कर्मपुद्गलाना स्वगतसामर्थ्यविशेषः। अणुगणना—परमाणुपरिच्छेदेनावधारणम्। कर्मणां—कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानाम्। उक्तं च—

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो विपाकस्तु प्रदेशोऽशकल्पनम्॥ [अमित श्राव ३।५६]॥३९॥

स्वभावसे च्युत न होना स्थिति है। उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मोंका पदार्थको न जानने देने रूप अपने स्वभावसे अमुक कालतक च्युत न होना स्थिति है। अर्थात् पदार्थको न जानने देनेमें सहायक आदि कार्यकारित्व रूपसे च्युत न होते हुए इतने काल तक ये बँधे रहते हैं। इसीको स्थितिबन्ध कहते हैं। तथा जैसे बकरी, गाय, भैंस आदिके दूधका तीव्रता-मन्दता आदि रूपसे अपना कार्य करनेमें शक्ति विशेषको अनुभव कहते है वैसे ही कर्म पुद्गलोंका अपना कार्य करनेमें जो शक्तिविशेष है उसे अनुभाग बन्ध कहते हैं। अर्थात् अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ कर्म परमाणुओंका बन्ध अनुभागबन्ध है। प्रकृतिबन्धमें तो आस्रवके द्वारा लाये गये आठों कर्मोंके योग्य कर्मपरमाणु बँधते हैं और अनुभागबन्धमे शक्ति विशेषसे विशिष्ट होकर बँधते हैं इस तरह प्रकृतिबन्धसे इसमें विशेषता है। किसी जीवमें शुभ परिणामोंका प्रकर्ष होनेसे शुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभाग बँधता है और अशुभ प्रकृतियोंका निकृष्ट (अल्प) अनुभाग बँधता है। और अशुभ परिणामोंका प्रकर्ष होनेपर अशुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभाग बँधता है और शुभ प्रकृतियोका मन्द अनुभाग बँधता है। उस अनुभागके भी चार भेद हैं। घातिकर्मोंके अनुभागकी उपमा लता, दारु, हड्डी और पत्थरसे दी जाती है। अशुभ अघातिकर्मोंके अनुभागकी उपमा नीम, कांजीर, विष और हलाहल विषसे दी जाती है। तथा शुभ अघातिकर्मोंके अनुभागकी उपमा गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृतसे दी जाती है। जैसे ये उत्तरोत्तर विशेष कठोर या कटुक या मधुर होते है वैसे ही कर्मोंका अनुभाग भी जानना। तथा कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्धोंका परिमाण परमाणुओंके द्वारा अवधारण करना कि इतने परमाणु प्रमाण प्रदेश ज्ञानावरण आदि रूपसे बँधे है इसे प्रदेशबन्ध कहते हैं। कहा भी है—

'स्वभावको प्रकृति कहते है। कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं। विपाकको अनुभाग कहते हैं और परिमाणके अवधारणको प्रदेश कहते हैं'।

जैसे खाये गये अन्नका अनेक विकार करनेमें समर्थ वात, पित्त, कफ तथा खल और रसरूपसे परिणमन होता है वैसे ही कारणवश आये हुए कर्मका नारक आदि नानारूपसे आत्मामें परिणमन होता है। तथा जैसे आकाशसे बरसता हुआ जल एकरस होता है किन्तु पात्र आदि सामग्रीके कारण अनेक रसरूप हो जाता है, वैसे ही सामान्य ज्ञानावरण रूपसे आया हुआ कर्म कषाय आदि सामग्रीकी हीनाधिकताके कारण मतिज्ञानावरण आदिरूपसे परिणमता है। तथा सामान्यरूपसे आया हुआ वेदनीय कर्म कारणविशेषसे सातावेदनीय, असातावेदनीय रूपसे परिणमता है। इसी प्रकार शेष कर्मोंके भी सम्बन्धमें जानना चाहिए। इस तरह सामान्यसे कर्म एक है। पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारका है। प्रकृतिबन्ध आदिके भेदसे चार प्रकारका है। ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका है। इस तरह कर्मके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं। इन बन्धोंका मूल कारण जीवके योग और कषायरूप भाव ही है॥३९॥

अथ पुण्यपापपदार्थनिर्णयार्थमाह—

पुण्यं य· कर्मात्मा शुभपरिणामैकहेतुको बन्धः ।
सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रभित्ततोऽपरं पापम् ॥४०॥

पुण्यं—द्रव्यपुण्यमित्यर्थ· । यावता पुद्गलस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम् । जीवस्य च कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्न· शुभपरिणामो द्रव्यपुण्यस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपुण्यम् । भित्—भेद· । ततोऽपरं—पुण्यादन्यत् अशुभपरिणामैकहेतुककर्मत्वव(बन्ध)रूपं द्व्यशीतिज्ञानावरणादि-प्रकृतिभेदमित्यर्थ । तद्यथा—ज्ञानावरणप्रकृतय· पञ्च, दर्शनावरणीयस्य नव, मोहनीयस्य षड्विंशतिः सम्यक्त्वसम्यक्मिथ्यात्ववर्जा, पञ्चान्तरायस्य, नरकगतितिर्यग्गती द्वे, चतस्रो जातय·, पञ्चेद्रियजातिवर्जा·, पञ्च संस्थानानि समचतुरस्रवर्जानि, पञ्च संहनानि वज्रर्षभनाराचवर्जानि, अप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शा , नरकगतितिर्यगस्यानुपूर्व्यद्वयम्, उपघाताप्रशस्तविहायोगति-स्थावर-सूक्ष्मा-पर्याप्त-साधारणशरीरास्थिराशुभदुर्भगदुस्वरानादेयायश·कीर्तयश्चेति नामप्रकृतयश्चतुस्त्रिंशत् । असद्वेद्य नरकायुर्नीचगोत्रमिति । पाप—द्रव्यपापमित्यर्थः । यत पुद्गलस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवाशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपापम् । जीवस्य च कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो अशुभपरिणामो द्रव्यपापस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपापम् ॥४०॥

आगे पुण्य और पाप पदार्थका स्वरूप कहते हैं—

शुभ परिणामकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मरूप बन्ध पुण्य है। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र उसके भेद है। उससे अतिरिक्त कर्म पाप है ॥४०॥

विशेषार्थ—यहाँ पुण्यसे द्रव्यपुण्य और पापसे द्रव्यपाप लेना चाहिए। पुद्गल कर्ता है और ज्ञानावरण आदि प्रकृतिरूपसे परिणमन उसका निश्चय कर्म है। जीवके शुभ-परिणाम उसमें निमित्त है। कर्ता जीवके निश्चयकर्मरूप शुभपरिणाम द्रव्यपुण्यमें निमित्तमात्र होनेसे कारणभूत है। अतः द्रव्यपुण्यका आस्रव होनेपर वे शुभपरिणाम भावपुण्य कहे जाते हैं। अर्थात् द्रव्य पुण्यास्रव और द्रव्य पापास्रवमें जीवके शुभाशुभ परिणाम निमित्त होते हैं इसलिए उन परिणामोंको भाव पुण्य और भाव पाप कहते है। पुण्यास्रवका प्रधान कारण शुभ परिणाम है, योग बहिरंग कारण होनेसे गौण है। पुण्यास्रवके भेद है सातावेदनीय, शुभ आयु-नरकायुको छोड़कर तीन आयु। शुभ नाम सैंतीस—मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध-रस-स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उछ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर, एक उच्चगोत्र, इसतरह ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

कर्ता पुद्गलका निश्चय कर्म है पुद्गलका विशिष्ट प्रकृतिरूपसे परिणाम। उसमें निमित्त हैं जीवके अशुभ परिणाम। कर्ता जीवके निश्चयकर्मरूप वे अशुभ परिणाम, द्रव्य-पापके निमित्तमात्र होनेसे कारणभूत हैं, अतः द्रव्यपापका आस्रव होनेपर उन अशुभपरिणामों को भाव पाप कहते हैं। इस तरह अशुभपरिणामकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मबन्ध पाप है। उसके ८२ भेद हैं—ज्ञानावरण कर्मकी पाँच प्रकृतियाँ, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी छब्बीस सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्वको छोड़कर क्योंकि इन दोनोंका बन्ध नहीं होता, अन्तराय कर्मकी पाँच, नरकगति, तिर्यंचगति, पंचेन्द्रियको छोड़कर चार जातियाँ, समचतुरस्रको छोड़कर पाँच संस्थान, वज्रर्षभ नाराचको छोड़कर पाँच संहनन, अप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस

अथ संवरस्वरूपविकल्पनिर्णयार्थमाह—

स संवरः संव्रियते निरुध्यते कर्मास्रवो येन सुदर्शनादिना।
गुप्त्यादिना वात्मगुणेन संवृतिस्तद्योग्यतद्द्रावनिराकृतिः स वा ॥४१॥

संवर.—भावसवर. शुभाशुभपरिणामनिरोधो द्रव्यपुण्यपापसंवरस्य हेतुरित्यर्थ.। उक्तं च—

'जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहमसुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥' [पञ्चास्ति १४६]

कर्मास्रव.—कर्म ज्ञानावरणादि आस्रवति अनेन। भावास्रवो मिथ्यादर्शनादिः।
सुदर्शनादिना—सम्यग्दर्शनज्ञानसयमादिना गुप्त्यादिना। उक्तं च—

वदसमिदीगुत्तीओ धम्मणुवेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ [द्रव्य सं. ३५]

कर्मयोग्याना पुद्गलाना कर्मत्वपरिणतिनिराकरण द्रव्यसंवर इत्यर्थ.। उक्तं च—

'चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणो अण्णो ॥ [द्रव्य सं. ३४] ॥४१॥

अथ निर्जरातत्त्वनिर्जरार्थ(?-निश्चयार्थ-)माह—

निर्जीर्यते कर्म निरस्यते यया पुंसः प्रदेशस्थितमेकदेशतः।
सा निर्जरा पर्ययवृत्तिरंशतस्तत्संक्षयो निर्जरणं मताथ सा ॥४२॥

स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति ये चौंतीस नामकर्म, असातावेदनीय, नीच गोत्र। ये सब पाप कर्म हैं ॥४०॥

संवरका स्वरूप कहते हैं—

आत्माके जिन सम्यग्दर्शन आदि अथवा गुप्ति आदि गुणोंके द्वारा कर्मोंका आस्रव संवृत होता है—रुकता है उसे संवर कहते हैं। अथवा कर्मयोग्य पुद्गलोंके कर्मरूप होनेसे रुकनेको संवर कहते हैं ॥४१॥

विशेषार्थ—संवरके दो भेद हैं, भावसंवर और द्रव्यसंवर। शुभ और अशुभ परिणामोंको रोकना भाव संवर है। यह द्रव्यपुण्य और द्रव्य पापके संवरका कारण है क्योंकि शुभ और अशुभ परिणामोंके रुकनेसे पुण्यपाप कर्मोंका आना रुक जाता है। दूसरे शब्दोंमें भावास्रवके रुकनेको भावसंवर कहते हैं। भावास्रव है मिथ्यादर्शन आदि, उन्हींसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका आस्रव होता है। मिथ्यादर्शनके विरोधी हैं सम्यग्दर्शन आदि और गुप्ति आदि रूप चेतन परिणाम। अतः इन परिणामोंको भावसंवर कहा है। कहा भी है—

'व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा अनेक प्रकारका चारित्र ये भाव संवरके भेद जानना। भावसंवरके होने पर कर्मयोग्यपुद्गलोंका परिणमन ज्ञानावरण आदि रूप नहीं होता। यही द्रव्यसंवर है' ॥४१॥

आगे निर्जरातत्त्वका स्वरूप कहते हैं—

'जिसके द्वारा जीवके प्रदेशोंमें स्थित कर्म एकदेशसे निर्जीर्ण किये जाते हैं—आत्मासे पृथक् किये जाते हैं वह निर्जरा है। वह निर्जरा पर्ययवृत्ति है—संक्लेश निवृत्ति रूप परिणति है। अथवा जीवके प्रदेशोंमें स्थित कर्मका एक देशसे क्षय हो जाना निर्जरा है' ॥४२॥

पर्ययवृत्तिः—संक्लेशविशुद्धिरूपा परिणतिः परिशुद्धो यो बोधः पर्ययस्तत्र वृत्तिरिति व्युत्पत्ते.। सैषा भावनिर्जरा। यावता कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गान्तरङ्गतपोभिर्वृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा। तदनुभाव-नीरसीभूतानामेकदेशसंक्षय समुपात्तकर्मपुद्गलाना च द्रव्यनिर्जरा। एतेन 'अंशत' इत्याद्यपि व्याख्यातं बोद्धव्यम्। उक्तं च—

'जह कालेण तवेण भुत्तरसं कम्मपुग्गलं जेण।
भावेण सडदि णेया तस्सडणं चेदि णिज्जरा दुविहा' ॥ [द्रव्य सं. ३६] ॥४२॥

अथ निर्जराभेदनिर्ज्ञानार्थमाह—

द्विधा कामा सकामा च निर्जरा कर्मणामपि।
फलानामिव यत्पाकः कालेनोपक्रमेण च ॥४३॥

अकामा—कालपक्वकर्मनिर्जरणलक्षणा। सकामा—उपक्रमपक्वकर्मनिर्जरणलक्षणा। उपक्रमेण—बुद्धिपूर्वकप्रयोगेण। स च मुमुक्षूणा सवरयोगयुक्तं तप.। उक्तं च—

'संवरजोगेहि जुदो तवेहि जो चिट्ठदे बहुविहेहि।
कम्माणं णिज्जरण बहुगाणं कुणदि सो णियद ॥' [पञ्चास्ति. १४४]

विशेषार्थ—निर्जराके भी दो भेद है--भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा। भावनिर्जरा पर्ययवृत्ति है अर्थात् संक्लेशसे निवृत्ति रूप परिणति भावनिर्जरा है, क्योंकि संक्लेशनिवृत्ति रूप परिणतिसे ही आत्माके प्रदेशोंमें स्थितकर्म एक देशसे झड़ जाते हैं, आत्मासे छूट जाते है। और एक देशसे कर्मोंका झड़ जाना द्रव्य निर्जरा है।

शंका—पर्ययवृत्तिका अर्थ संक्लेशनिवृत्तिरूप परिणति कैसे हुआ ?

समाधान—परिशुद्ध बोधको—ज्ञानको पर्यय कहते है, उसमें वृत्ति पर्ययवृत्ति है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार पर्ययवृत्तिका अर्थ होता है संक्लेशपरिणाम निवृत्तिरूप परिणति। साराश यह है कि कर्मकी शक्तिको काटनेमें समर्थ और बहिरंग तथा अन्तरंग तपोंसे वृद्धिको प्राप्त शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है। और उस शुद्धोपयोग के प्रभावसे नीरस हुए कर्म-पुद्गलोंका एक देशसे क्षय होना द्रव्यनिर्जरा है। कहा भी है—

'यथा समय अथवा तपके द्वारा फल देकर कर्मपुद्गल जिस भावसे नष्ट होता है वह भावनिर्जरा है। कर्मपुद्गलका आत्मासे पृथक् होना द्रव्य निर्जरा है। इस प्रकार निर्जराके दो भेद है' ॥४२॥

द्रव्यनिर्जराके भेद कहते हैं—

निर्जरा दो प्रकारकी है—अकामा और सकामा। क्योंकि फलोंकी तरह कर्मोंका भी पाक कालसे भी होता है और उपक्रमसे भी होता है ॥४३॥

विशेषार्थ—यहाँ निर्जरासे द्रव्यनिर्जरा लेना चाहिए। अपने समयसे पककर कर्मकी निर्जरा अकामा है। उसे सविपाक निर्जरा और अनौपक्रमिकी निर्जरा भी कहते हैं। और उपक्रमसे विना पके कर्मकी निर्जराको सकामा कहते हैं। उसे ही अविपाक निर्जरा और औपक्रमिकी निर्जरा भी कहते हैं।

जैसे आम आदि फलोंका पाक कहीं तो अपने समयसे होता है कहीं पुरुषोंके द्वारा किये गये उपायोंसे होता है। इसी तरह ज्ञानावरण आदि कर्म भी अपना फल देते हैं। जिस कालमें फल देने वाला कर्म बाँधा है उसी कालमें उसका फल देकर जाना सविपाक निर्जरा

इतरजनानां तु स्वपरयोर्बुद्धिपूर्वक सुखदु.खसाधनप्रयोग: 'पर्ययवृत्ति.' इत्यनेन सामान्यतः परिणाममात्रस्याप्याश्रयणात् । यल्लौकिका —

'कर्मान्यजन्मजनितं यदि सर्वदैवं तत्केवलं फलति जन्मनि सत्कुलाद्ये ।
बाल्यात्पर विनयसौष्ठवपात्रतापि पुंदैवजा कृषिवदित्यत उद्यमेन ॥'
'उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोष ॥'

आर्षेऽप्युक्तम्—

'असिर्मषी कृषिर्विद्या वाणिज्य शिल्पमेव च ।
कर्माणीमानि षोढा स्यु· प्रजाजीवनहेतवः ॥' [महापु. १६।१७९] ॥४३॥

अथ मोक्षतत्त्व लक्षयति—

येन कृत्स्नानि कर्माणि मोक्ष्यन्तेऽस्यन्त आत्मनः ।
रत्नत्रयेण मोक्षोऽसौ मोक्षणं तत्क्षयः स वा ॥४४॥

कृत्स्नानि—प्रथम घातीनि पश्चादघातीनि च । अस्यन्ते अपूर्वाणि परमसवरद्वारेण निरुध्यन्ते पूर्वोपात्तानि च परमनिर्जराद्वारेण भृश विश्लिष्यन्ते येन रत्नत्रयेण सो मोक्षो जीवन्मुक्तिलक्षणो भावमोक्ष स्यात् । तत्क्षय —वेदनीयायुर्नामगोत्ररूपाणा कर्मपुद्गलाना जीवेन सहात्यन्तविश्लेप । स एप द्रव्यमोक्ष । उक्त च—

है और कर्मको जो बलपूर्वक उदयावलीमे लाकर भोगा जाता है वह अविपाक निर्जरा है। बुद्धिपूर्वक प्रयुक्त अपने परिणामको उपक्रम कहते है। शुभ और अशुभ परिणामका निरोध रूप जो भावसंवर है वह है शुद्धोपयोग। उस शुद्धोपयोग से युक्त तप मुमुक्षु जीवोंका उपक्रम है। कहा भी है—

'संवर और शुद्धोपयोगसे युक्त जो जीव अनेक प्रकारके अन्तरंग बहिरंग तपोंमें संलग्न होता है वह नियमसे बहुत कर्मोंकी निर्जरा करता है'।

मुमुक्षुओंसे भिन्न अन्य लोगोंका अपने और दूसरोंके सुख और दुःखके साधनोंका बुद्धिपूर्वक प्रयोग भी उपक्रम है। क्योंकि 'पर्ययवृत्ति' शब्दसे सामान्यत परिणाम मात्रका भी ग्रहण किया है। अत. अन्य लोग भी अपनी या दूसरोंकी दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्तिके लिए जो कुछ करते है उससे उनके भी औपक्रमिकी निर्जरा होती है। कहा[1] भी है—

अचानक उपस्थित होने वाला इष्ट या अनिष्ट दैवकृत है उसमें बुद्धिपूर्वक व्यापारकी अपेक्षा नहीं है। और प्रयत्नपूर्वक होनेवाला इष्ट या अनिष्ट अपने पौरुषका फल है क्योंकि उसमें बुद्धिपूर्वक व्यापारकी अपेक्षा है ॥४३॥

मोक्षतत्त्वको कहते हैं—

जिस रत्नत्रयसे आत्मासे समस्त कर्म पृथक् किये जाते हैं वह मोक्ष है। अथवा समस्त कर्मोंका नष्ट हो जाना मोक्ष है ॥४४॥

विशेषार्थ—मोक्षके भी दो भेद है—भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। रत्नत्रयसे निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र लेना चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि उन रूप परिणत आत्मा लेना चाहिए। अतः जिस निश्चय रत्नत्रयरूप आत्माके द्वारा

१. अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवत ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ —आप्तमी., ९१ श्लो.।

'आत्यन्तिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणोः ।
स मोक्ष फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिका गुणाः ॥ [तत्त्वानुशा. २३०]

तथा—'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' [त. सू. १०।२] इत्यादि ।

तथैव संजग्राह भगवान्नेमिचन्द्र.—

'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेऊ अप्पणो हु परिणामो ।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो ॥' [द्रव्यसं ३७] ॥४४॥

आत्मासे समस्त कर्म छूटते हैं—अर्थात् नवीन कर्म तो परम संवरके द्वारा रोक दिये जाते हैं और पूर्वबद्ध समस्त कर्म परम निर्जराके द्वारा आत्मासे अत्यन्त पृथक् कर दिये जाते हैं वह निश्चय रत्नत्रयरूप आत्मपरिणाम भावमोक्ष है। समस्त कर्मसे आठों कर्म लेना चाहिए। पहले मोहनीय आदि घाति कर्मोंका विनाश होता है पीछे अघाति कर्मोंका विनाश होता है। इस तरह समस्त कर्मोंका क्षय हो जाना अर्थात् जीवसे अत्यन्त पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है। कहा भी है—

'बन्धके कारणोंका अभाव होनेसे नवीन कर्मोंका अभाव हो जाता है और निर्जराके कारण मिलनेपर संचित कर्मका अभाव हो जाता है। इस तरह समस्त कर्मोंसे छूट जानेको मोक्ष कहते हैं'।

'अपने कारणसे जीव और कर्मका जो आत्यन्तिक विश्लेष है—सर्वदाके लिये पृथक्ता है वह मोक्ष है। उसका फल क्षायिक ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति है। कर्मोंका क्षय हो जानेपर आत्माके स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं'।

'आत्माका जो परिणाम समस्त कर्मोंके क्षयमें हेतु है उसे भावमोक्ष जानो। और आत्मासे कर्मोंका पृथक् होना द्रव्यमोक्ष है'।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें निश्चयनय और व्यवहारनयसे मोक्षके कारणका विवेचन इस प्रकार किया[1] है—

'इसके पश्चात् मोहनीय कर्मके क्षयसे युक्त पुरुष केवलज्ञानको प्रकट करके अयोग-केवली गुणस्थानके अन्तिम क्षणमें अशरीरीपनेका साक्षात् हेतु रत्नत्रयरूपसे परिणमन करता है। निश्चयनयसे यह कथन निर्बाध है। अर्थात् निश्चयनयसे अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम क्षणमें रहनेवाला रत्नत्रय मोक्षका साक्षात् कारण है क्योंकि उससे अगले ही क्षणमें मोक्षकी प्राप्ति होती है। और व्यवहारनयसे तो रत्नत्रय इससे पहले भी मोक्षका कारण कहा जाता है, अतः इसमें विवाद करना उचित नहीं है। अर्थात् व्यवहारनयसे रत्नत्रय मोक्षका कारण है। यह कथन परम्पराकारणकी अपेक्षा है। किन्तु साक्षात् कारण तो चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें वर्तमान रत्नत्रय ही है क्योंकि उसके दूसरे ही क्षणमें मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥४४॥

---

१. ततो मोहक्षयोपेत- पुमानुद्भूतकेवलः ।
विशिष्टकरणः साक्षादशरीरत्वहेतुना ॥
रत्नत्रितयरूपेणायोगकेवलिनोऽन्तिमे ।
क्षणे विवर्तते ह्येतदबाध्यं निश्चयात्रयात् ॥
व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत् प्रागेव कारणम् ।
मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्तं न्यायदर्शिन ॥—१।१।९३-९६

अथ मुक्तात्मस्वरूपं प्ररूपयति—

प्रक्षीणे मणिवन्मले स्वमहसि स्वार्थप्रकाशात्मके
मज्जन्तो निरुपाख्यमोघविदचिन्मोक्षार्थितीर्थक्षिपः।
कृत्वानाद्यपि जन्म सान्तममृतं साद्यप्यनन्तं श्रिताः
सद्दृग्धीनयवृत्तसंयमतपः सिद्धाः सदानन्दिनः ॥४५॥

मज्जन्तः—एतेन वैलक्षण्य लक्षयति निरूपाख्येत्यादि। निरुपाख्यमोक्षार्थिन. प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणमिति नि.स्वभावमोक्षवादिनो बौद्धा मोघचिन्मोक्षार्थिन 'चैतन्य पुरुषस्य स्वरूप तच्च ज्ञेयराकारपरिच्छेदपराङ्मुखमिति निष्फलचैतन्यस्वभावमोक्षवादिन साख्या.। अचिन्मोक्षार्थिन. बुद्ध्यादि-नवात्मविशेषगुणोच्छेदलक्षणनिश्चैतन्यमोक्षवादिनो वैशेषिका.। तेषा तीर्थान्यागमान् क्षिपन्ति निराकुर्वन्ति तद्विलक्षणमोक्षप्रतिष्ठितत्वात्। जन्म—संसारः, संतानरूपतयादिरहितमपि सान्तं—सविनाश कृत्वा। अमृत—मोक्षं पर्यायरूपतया साद्यपि पुनर्भवाभावादनन्तं—निरवधि। सदृगित्यादि—आरम्भावस्थापेक्षया सम्यक्त्वादिना सिद्धा.। केचिद्धि सम्यग्दर्शनाराधनाप्राधान्येन प्रक्रम्य संपूर्णरत्नत्रय कृत्वा प्रक्षीणमलकलङ्का. स्वात्मोपलब्धिलक्षणा सिद्धिमध्यासिता। एवं सम्यग्ज्ञानादावपि योज्यम्। तथा चोक्तम्—

'तवसिद्धे णयसिद्धे संजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य।
णाणमि दंसणं मिय सिद्धे सिरसा णमसामि ॥' [सिद्धभक्ति]

इति समासतो जीवादिनवपदार्थव्यवस्था। व्यासतस्तु परमागमार्णवावगाहनादधिगन्तव्या ॥४५॥

आगे मुक्तात्माका स्वरूप कहते हैं—

मणिकी तरह द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी मलके पूर्णरूपसे क्षय हो जानेपर, अपने और त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थोंका एक साथ प्रकाश करनेवाले दर्शन ज्ञानरूप स्वाभाविक निज तेजमें निमग्न और निरूपाख्यमुक्ति, निष्फल चैतन्यरूप मुक्ति और अचेतन मुक्तिके इच्छुक दार्शनिकोंके मतोंका निराकरण करनेवाले, अनादि भी जन्मपरम्पराको सान्त करनेवाले, तथा सादि भी मोक्षको अनन्त रूपसे अपनानेवाले, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, नय, चारित्र, संयम और तपके द्वारा आत्म स्वभावको साध लेनेवाले सदा आनन्द स्वरूप मुक्त जीव होते हैं ॥४५॥

विशेषार्थ—जैसे मणि अपने ऊपर लगे मलके दूर हो जानेपर अपने और परका प्रकाश करनेवाले अपने तेजमें डूबी रहती है उसी तरह मुक्तात्मा भी द्रव्यकर्म और भावकर्मके नष्ट हो जानेपर अपने और त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाले अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञानरूप अपने स्वरूपको लिये हुए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपसे सदा परिणमन करते हैं। अन्य दार्शनिकोंने मुक्तिको अन्यरूप माना है। बौद्ध दर्शन निःस्वभाव मोक्षवादी है। जैसे तेल और बातीके जलकर समाप्त हो जानेपर दीपकका निर्वाण हो जाता है उसी तरह पाँच स्कन्धोंका निरोध होनेपर आत्माका निर्वाण होता है। बौद्ध आत्माका अस्तित्व नहीं मानता और उसका निर्वाण शून्य रूप है। सांख्य मुक्तिमें चैतन्य तो मानता है किन्तु ज्ञानादि नहीं मानना। वैशेषिक मोक्षमें आत्माके विशेष गुणोंका विनाश मानता है। जैन दर्शन इन सबसे विलक्षण मोक्ष मानता है। अतः जैन सम्मत मुक्तात्मा इन दार्शनिकोंकी मुक्ति सम्बन्धी मान्यताको काटनेवाले हैं। वे अनन्त संसारको सान्त करके मोक्ष प्राप्त करते हैं उस मोक्षकी आदि तो है किन्तु अन्त नहीं है वहाँ से जीव कभी संसारमें नहीं आता। इस तरह संक्षेपसे जीव आदि नौ पदार्थोंकी व्यवस्था जानना। विस्तारसे जाननेके लिए समयसार तत्त्वार्थसूत्र आदि पढ़ना चाहिये।

अथ एवंविधतत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणस्य सम्यक्त्वस्य सामग्रीविशेषं श्लोकद्वयेनाह—

दृष्टिघ्नसप्तकस्यान्तर्हेतावुपशमे क्षये ।
क्षयोपशम आहोस्विद्भव्यः कालादिलब्धिभाक् ॥४६॥
पूर्णः संज्ञी निसर्गेण गृह्णात्यधिगमेन वा ।
त्र्यज्ञानशुद्धिदं तत्त्वश्रद्धानात्मसुदर्शनम् ॥४७॥

दृष्टिघ्नसप्तकस्य—दृष्टिं सम्यक्त्वं घ्नन्ति दृष्टिघ्नानि मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वानन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाख्यानि कर्माणि । उपशमे—स्वफलदानसामर्थ्यानुद्भवे । क्षये—आत्यन्तिकनिवृत्तौ । क्षयोपशमे—क्षीणाक्षीणवृत्तौ । भव्यः—सिद्धियोग्यो जीवः । कालादिलब्धिभाक्—काल आदिर्येषा वेदनाभिभवादीना ते कालादयस्तेषा लब्धिः सम्यक्त्वोत्पादने योग्यता ता भजन् ॥४६॥

पूर्ण.—षट्पर्याप्तियुक्त. । तल्लक्षणं यथा—

'आहाराङ्गहृषीकान-भाषामानसलक्षणाः ।
पर्याप्तयः षडत्रादि शक्ति-निष्पत्ति-हेतवः ॥' [अमित. पं. सं. १।१२८]

सज्ञी—

शिक्षालापोपदेशानां ग्राहको यः स मानसः ।
स संज्ञी कथितोऽसंज्ञी हेया(-देया)विवेचकः ॥ [अमित. पं. सं. १।३११]

आगे तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी विशेष सामग्री दो श्लोकोंसे कहते हैं—

कालादिलब्धिसे युक्त संज्ञी पर्याप्तक भव्य जीव सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली सात कर्म प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारणके होनेपर निसर्गसे या अधिगमसे तत्त्वश्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शनको ग्रहण करता है। उस सम्यग्दर्शनके होनेपर कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाते हैं ॥४६-४७॥

विशेषार्थ—जो शिक्षा, बातचीत और उपदेशको ग्रहण कर सकता है वह जीव संज्ञी है। कहा भी है—

'जो शिक्षा, आलाप उपदेशको ग्रहण करता है उस मनसहित जीवको संज्ञी कहते हैं। जो हेय उपादेयका विचार नहीं कर सकता वह असंज्ञी है'।

जिसकी आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं उसे पर्याप्तक कहते हैं। कहा भी है—'आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ शक्तिकी निष्पत्तिमें कारण हैं'।

जिसे जीवमें मोक्ष प्राप्तिकी योग्यता है उसे भव्य कहते हैं। और सम्यक्त्वग्रहणकी योग्यताको लब्धि कहते हैं। कहा भी है—

'चारों गतियोंमें-से किसी भी गतिवाला भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, मन्द कषायी, ज्ञानोपयोगयुक्त, जागता हुआ, शुभलेश्यावाला तथा करणलब्धिसे सम्पन्न जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है'।

सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली सात कर्म प्रकृतियाँ हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ। इनका उपशम, क्षय या क्षयोपशम सम्यग्दर्शनका अन्तरंग कारण है। अपना फल देनेकी शक्तिको प्रकट होनेके अयोग्य कर देना उपशम है। कर्मका विनाश क्षय है। आत्माके गुणोंको एकदम ढाँकनेवाली कर्मशक्तिको

(त्रि-) अज्ञानशुद्धिदं—त्रयाणामज्ञानानां मिथ्यामतिश्रुतावधीनां शुद्धिं यथार्थग्राहित्वहेतुं नैर्मल्यं दत्ते। तत्त्वार्थश्रद्धानात्म—तत्त्वानां श्रद्धानं तथेति प्रतिपत्तिर्यस्मात्तद्दर्शनमोहरहितमात्मस्वरूपं न पुना रुचिस्तस्याः क्षीणमोहेष्वभावात्। तथा च सम्यक्त्वाभावेन ज्ञानचारित्राभावात् तेषां मुक्त्यभावः स्यात्। तदुक्तम्—

'इच्छाश्रद्धानमित्येके तदयुक्तममोहिनः।
श्रद्धानविरहासक्तेर्ज्ञानचारित्रहानितः॥' [तत्त्वार्थश्लोक. २।१०]

यत्तु तत्त्वरुचिमिति प्रागुक्तं तदुपचारात्। उक्तं च—

'चतुर्गतिभवो भव्य. शुद्ध. संज्ञी सुजागरी।
सल्लेश्यो लब्धिमान् पूर्णो ज्ञानी सम्यक्त्वमर्हति॥ [ ]

अथ कालादिलब्धिविवरणम्—भव्य. कर्माविष्टोऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तपरिमाणे काले विशिष्टे (अवशिष्टे) प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवतीति काललब्धि'। आदिशब्देन वेदनाभिभवजातिस्मरण-जिनेन्द्रार्चादर्शनादयो गृह्यन्ते। श्लोक:—

'क्षायोपशमिकीं लब्धिं शौद्धीं देशनिकीं भवीम्।
प्रायोगिकीं समासाद्य कुरुते करणत्रयम्॥' [अमि. प सं. १।२८७]

सर्वघाति स्पर्द्धक कहते हैं। और आत्माके गुणोंको एकदेशसे ढाँकनेवाली कर्मशक्तिको देशघाति स्पर्द्धक कहते हैं। सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयाभावरूप क्षय और आगामी कालमें उदय आनेवाले कर्मनिषेकोंका उपशम तथा देशघातिस्पर्द्धकोंका उदय, इस सबको क्षयोपशम कहते हैं। कर्मोंसे बद्ध भव्य जीव अर्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण काल शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वके योग्य होता है, क्योंकि एक बार सम्यक्त्व होनेपर जीव इससे अधिक समयतक संसारमें नहीं रहता। इसे ही काललब्धि कहते हैं। सम्यग्दर्शनके बाह्य कारण इस प्रकार है—

देवोंमें प्रथम सम्यग्दर्शनका बाह्य कारण धर्मश्रवण, जातिस्मरण, अन्य देवोंकी ऋद्धिका दर्शन और जिन महिमाका दर्शन हैं। ये आनत स्वर्गसे पहले तक जानना। आनत, प्राणत, आरण, अच्युत स्वर्गके देवोंके देवर्द्धिदर्शनको छोड़कर अन्य तीन बाह्य कारण हैं। नव-ग्रैवेयकवासी देवोंके धर्मश्रवण और जातिस्मरण दो ही बाह्य कारण हैं। मनुष्य और तिर्यंचोंके जातिस्मरण, धर्मश्रवण और देवदर्शन ये तीन बाह्य कारण हैं। प्रथम तीन नरकोंमें जाति-स्मरण, धर्मश्रवण और वेदना अभिभव ये तीन बाह्य कारण हैं। शेष नरकोंमें जातिस्मरण और वेदनाभिभव दो ही बाह्य कारण हैं।

लब्धियोंके विषयमें कहा है—

भव्य जीव क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धिको प्राप्त करके तीन करणोंको करता है। पूर्वबद्ध कर्मपटलके अनुभाग स्पर्द्धकोंका विशुद्ध परिणामोंके योगसे प्रति समय अनन्त गुणहीन होकर उदीरणा होना क्षयोपशम लब्धि है।

अनुभागस्पर्द्धकका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

---

१. धर्मश्रुति-जातिस्मृति-सुरर्द्धिजिनमहिमदर्शनं मरुताम्।
बाह्यं प्रथमदृशोऽङ्गं विना सुरर्द्धीक्षयानतादिभुवाम्॥
ग्रैवेयकिणा पूर्वे द्वे सजिनार्चेक्षणे नरतिरश्चाम्।
सरुगभिभवे त्रिषु प्राक् श्वभ्रेष्वन्येषु सद्वितीयोऽसौ॥

२. वर्ग: शक्तिसमूहोऽणोरणूना वर्गणोदिता।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहै॥ —अमित. पं. सं. १।४५

प्रागुपात्तकर्मपटलानुभागस्पर्द्धकाना शुद्धियोगेन प्रतिसमयानन्तगुणहीनानामुदीरणा क्षायोपशमिकी लब्धि: ।१। क्षयोपशमविशिष्टोदीर्णानुभागस्पर्द्धकप्रभवः परिणाम' सातादिकर्मबन्धनिमित्तं सावद्यकर्मबन्धविरुद्धा शौद्धी लब्धि: ।२। यथार्थतत्त्वोपदेशतदुपदेशकाचार्याद्युपलब्धिरुपदिष्टार्थग्रहणधारणविचारणशक्तिर्वा दैशनिकी लब्धिः ।३। अन्त.कोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामयोगेन सत्कर्मसु संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु आद्यसम्यक्त्वयोग्यता भवतीति प्रायोगिकी लब्धि. । श्लोक:—

'अथाप्रवृत्तकापूर्वानिवृत्तिकरणत्रयम् ।
विधाय क्रमतो भव्य: सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥' [अमित० पञ्च. १।२८८]

भव्योऽनादिमिथ्यादृष्टि. षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मक सादिर्मिथ्यादृष्टिर्वा षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मकः सप्तविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा अष्टाविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा प्रथमसम्यक्त्वमादातुकामः शुभपरिणामाभिमुखोऽन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्धया वर्धमानविशुद्धिश्चतुर्षु मनोयोगेष्वन्यतममनोयोगेन चतुर्षु वाग्योगेष्वन्यतमवाग्योगेन औदारिकवैक्रियिककाययोगयोरन्यतरेण काययोगेन त्रिषु वेदेष्वन्यतमेन वेदेनालीढो निरस्तसंक्लेशो हीयमानान्यतमकषाय. साकारोपयोगो वर्द्धमानशुभपरिणामयोगेन सर्वप्रकृतीना स्थिति ह्रासयन्नशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धमपसारयन् शुभप्रकृतीना वर्धयंस्त्रीणि करणानि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तकालेन कर्तुमुपक्रमते । तत्रान्तःकोटीकोटीस्थितिकर्माणि कृत्वा अथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च क्रमेण प्रविशति । तत्र सर्वकरणानां

'समान अनुभाग शक्तिवाले परमाणुके समूहको वर्ग कहते हैं। वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं और वर्गणाओंके समूहको स्पर्द्धक कहते हैं'।

क्षयोपशमसे युक्त उदीरणा किये गये अनुभाग स्पर्धकोंसे होनेवाले परिणामोंको विशुद्धिलब्धि कहते हैं। वे परिणाम साता आदि कर्मोंके बन्धमें कारण होते हैं और पापकर्मके बन्धको रोकते हैं ॥२॥ यथार्थ तत्त्वका उपदेश और उसके उपदेशक आचार्योंकी प्राप्ति अथवा उपदिष्ट अर्थको ग्रहण, धारण और विचारनेकी शक्तिको देशनालब्धि कहते हैं ॥३॥ अन्तःकोटाकोटी सागरकी स्थितिको लेकर कर्मोंका बन्ध होनेपर विशुद्ध परिणामके प्रभावसे उसमें संख्यात हजार सागरकी स्थिति कम हो जानेपर अर्थात् संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति होनेपर प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता होती है। इसे प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। इन चारों लब्धियोंके होनेपर भी सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेका नियम नहीं है। हाँ, करणलब्धि होनेपर सम्यक्त्व नियमसे होता है। कहा है—

'अथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणको क्रमसे करके भव्यजीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है'।

इनका स्वरूप इस प्रकार है—

जिस जीवको सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हुई है उसे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसके मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंमें से छब्बीसकी ही सत्ता रहती है क्योंकि सम्यक्त्वके होनेपर ही एक मिथ्यात्व कर्म तीन रूप होता है। जो जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करके उसे छोड़ देता है उसे सादिमिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसके मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी भी सत्ता होती है, सत्ताईसकी भी और छब्बीसकी भी। जब ये दोनों ही प्रकारके मिथ्यादृष्टि प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख होते हैं तो उनके शुभ परिणाम होते हैं, अन्तर्मुहूर्त काल तक उनकी विशुद्धि अनन्त गुणवृद्धिके साथ वर्धमान होती है, चार मनोयोगोंमें-से कोई एक मनोयोग, चार वचनयोगोंमें-से कोई एक वचनयोग, औदारिक और वैक्रियिक काययोगमें-

प्रथमसमये स्वल्पाशुद्धिस्ततः प्रतिसमयमन्तर्मुहूर्तसमाप्तेरनन्तगुणा द्रष्टव्या। सर्वाणि करणान्यर्थानि। अथ प्रागवृत्ताः कदाचिदीदृशाः करणा परिणामा यत्र तदध प्रवृत्तकरणमिति चान्वर्थसंज्ञा। अपूर्वाः समये समये अन्ये शुद्धतराः करणा यत्र तदपूर्वकरणम्। एकसमयस्थानामनिवृत्तयो भिन्ना करणा यत्र तदनिवृत्तिकरणम्। सर्वेषु नानाजीवानामसंख्येयलोकप्रमाणाः परिणामा द्रष्टव्या। तथा प्रवृत्तकरणे स्थितिखण्डनानुभागखण्डन-गुणश्रेणिसंक्रमा. न सन्ति। परमनन्तगुणवृद्धया विशुद्धया अशुभप्रकृतीरनन्तगुणानुभागहीना बध्नन्ति शुभ-प्रकृतीनामनन्तगुणरसवृद्धया स्थितिमपि पल्योपमा सख्येयभागहीना करोति। अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणयोः

से कोई एक काययोग, तथा तीनों वेदोंमे-से कोई एक वेद होता है। संक्लेश परिणाम हट जाते हैं, कषाय हीयमान होती है, साकार उपयोग होता है। वर्धमान शुभ परिणामके योगसे सब कर्मप्रकृतियोंकी स्थितिमें कमी करता है, अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धको घटाता तथा शुभ प्रकृतियोंके अनुभागको बढ़ाता हुआ तीन करण करता है। प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है। कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोटि-कोटि सागर करके क्रमसे अध.करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करता है। सब करणोंके प्रथम समयमें अल्प विशुद्धि होती है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त,काल समाप्त होने तक प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है। सभी करणोंके नाम सार्थक है। पहले कभी भी इस प्रकारके करण-परिणाम नहीं हुए वह अथा-प्रवृत्त करण है। अथवा नीचेके समयोंमें होनेवाले परिणामोंसे जहाँ ऊपरके समयोंमें होने-वाले परिणाम समान होते हैं उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते है। ये दोनों पहले करणके सार्थक नाम हैं। जिसमें प्रति समय अपूर्व-अपूर्व—जो पहले नहीं हुए ऐसे परिणाम होते है उसे अपूर्वकरण ,कहते हैं। जिसमें एक समयवर्ती जीवोके परिणाम अनिवृत्ति=अभिन्न-समान होते हैं उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। सब करणोंमें नाना जीवोंके असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते है। अथाप्रवृत्तकरणमें स्थिति खण्डन, अनुभागखण्डन और गुणश्रेणिसंक्रम नहीं होते, केवल अनन्त गुण विशुद्धिके द्वारा अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्त गुणहीन और शुभ प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्त गुण अधिक बाँधता है। स्थितिको भी पल्यके असंख्यातवें भाग हीन करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमें स्थिति खण्डन आदि होते हैं। तथा क्रमसे अशुभ प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्त गुणहीन होता है और शुभ प्रकृतियों-का अनुभाग अनन्त गुण वृद्धिको लिये हुए होता है। अनिवृत्तिकरणके असंख्यात भाग बीतनेपर अन्तरकरण करता है। उस अन्तरकरणके द्वारा दर्शन मोहनीयका घात करके अन्तिम समयमें शुद्ध, अशुद्ध और मिश्रके भेदसे तीन रूप करता है उसीको सम्यक्त्व, सम्यक मिथ्यात्व और मिथ्यात्व कहते हैं। कहा है—

उसके पश्चात् भव्यजीव अनन्तानुबन्धीके साथ दर्शन मोहनीयकी उन तीन प्रकृतियोंका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। संवेग, प्रशम, आस्तिक्य, दयाभाव आदिसे उस सम्यक्त्वकी पहचान होती है तथा वह सम्यक्त्व शंका आदि दोषोंसे रहित होकर समस्त दुःखोंका विनाश कर देता है अर्थात् मुक्ति प्राप्त कराता है।

यदि मोहनीय कर्मकी उक्त सात प्रकृतियोंका क्षय होता है तो क्षायिक सम्यक्त्व होता है, यदि उपशम होता है तो औपशमिक सम्यक्त्व होता है तथा क्षयोपशम होनेपर क्षायोप-शमिक सम्यक्त्व होता है। कहा भी है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीसे मोहनीय

१. 'क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात्।
पश्चाद् द्रव्यादिसामग्र्या पुंसां सद्दर्शनं त्रिधा'॥

स्थितिखण्डनादय. सन्ति । क्रमेण (अशुभप्रकृतीनामनुभागोऽनन्तगुणहान्या शुभ-) प्रकृतीनामनन्तगुणवृद्धया वर्तते । तत्रानिवृत्तकरणस्य संख्येयेषु भागेषु गतेष्वन्तर-(करणमारभते येन दर्शनमोहनीयं निहत्य चरमसमये) त्रिधाकरोति शुद्धाशुद्धमिश्रभेदेन सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यक्मिथ्यात्वं चेति । श्लोक.—

प्रश (मय्य ततो भव्यः सहानन्तानुबन्धिभिः ।
ता मोहप्रकृती-) स्तिस्रो याति सम्यक्त्वमादिमम् ॥
सवेगप्रशमास्तिक्यदयादिव्यक्तलक्षणम् ।
तत्सर्वदुःखविध्वंसि त्यक्तशंकादिदूषणम् ॥ [अमित. प. सं. १।२८९-२९०] ॥४६-४७॥

अथ को निसर्गाधिगमावित्याह—

विना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणक्षणे ।
तत्त्वबोधो निसर्गः स्यात्तत्कृतोऽधिगमश्च सः ॥४८॥

कर्मकी सात प्रकृतियोंका क्रमसे क्षय या उपशम या क्षयोपशम होनेपर जीवोंके क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्दर्शन होता है। एक जीवके एक कालमें एक ही सम्यग्दर्शन होता है। वह सम्यग्दर्शन दर्शनमोहसे रहित आत्मस्वरूप है। रुचिका नाम सम्यग्दर्शन नहीं है। क्योंकि रुचि कहते हैं इच्छाको, अनुरागको। किन्तु जिनका मोह नष्ट हो जाता है उनमें रुचिका अभाव हो जाता है। ऐसी स्थितिमें उनके सम्यक्त्वका अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका भी अभाव होनेसे मुक्तिका भी अभाव हो जायेगा। पहले जो सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वरुचि कहा है वह उपचारसे कहा है। धवला टीकामें कहा है— 'अथवा 'तत्त्व रुचिको सम्यक्त्व कहते हैं' यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षासे जानना।'

आचार्य विद्यानन्दने भी कहा है—किन्हींका कहना है कि इच्छाश्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं। यह ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेसे मोहरहित जीवोंके श्रद्धानका अभाव प्राप्त होनेसे ज्ञान और चारित्रके भी अभावका प्रसंग आता है ॥४६-४७॥

निसर्ग और अधिगमका स्वरूप कहते हैं—

सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके समय गुरु आदिके वचनोंकी सहायताके बिना जो तत्त्वज्ञान होता है वह निसर्ग है। और परोपदेशसे जो तत्त्वज्ञान होता है वह अधिगम है ॥४८॥

विशेषार्थ—आचार्य विद्यानन्दने भी कहा है—

'परोपदेशके बिना तत्त्वार्थके परिज्ञानको निसर्ग कहते हैं और परोपदेशपूर्वक होनेवाले तत्त्वार्थके परिज्ञानको अधिगम कहते हैं'।

इस वार्तिक की टीकामें आचार्य विद्यानन्दने जो चर्चा उठायी है उसे यहाँ उपयोगी होनेसे दिया जाता है—यहाँ निसर्गका अर्थ स्वभाव नहीं है क्योंकि स्वभावसे उत्पन्न हुआ

१-२-३. ( ) एतच्चिह्नाङ्किता. पाठा मूलप्रतौ विनष्टाः। भ. कु च. पूरिताः। सर्वमिदममितगतिपञ्चसंग्रहादेव गृहीत ग्रन्थकृता।

४. अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं अशुद्धतरनयसमाश्रयणात्।
—षट्.खं. पु. १, पृ. १५१

विनेत्यादि—षट्त्रिंशकम्—[त. श्लोक. ३।३]

विना परोपदेशेन तत्त्वार्थप्रतिभासनम् ।
३ निसर्गोऽधिगमस्तेन कृतं तदिति निश्चयः ॥४८॥

सम्यक्त्व तत्त्वार्थके परिज्ञानसे शून्य होनेके कारण सम्भव नहीं है। निसर्गका अर्थ है परोपदेशसे निरपेक्ष ज्ञान। जैसे सिंह निसर्गसे शूर होता है। यद्यपि उसका शौर्य अपने विशेष कारणोंसे होता है तथापि किसीके उपदेशकी उसमें अपेक्षा नहीं होती इसलिए लोकमें उसे नैसर्गिक कहा जाता है। उसी तरह परोपदेशके बिना मति आदि ज्ञानसे तत्त्वार्थको जानकर होनेवाला तत्त्वार्थश्रद्धान निसर्ग कहा जाता है। शंका—इस तरह तो सम्यग्दर्शनके साथ मति आदि ज्ञानोंकी जो उत्पत्ति मानी गयी है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ही मति आदि ज्ञान होते हैं उसमें विरोध आता है। क्योंकि, सम्यग्दर्शनसे पहले भी मति आदि ज्ञान आप कहते हैं ? समाधान—नहीं, सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके योग्य मति अज्ञान आदिको मति ज्ञान कहा जाता है। वैसे मति आदि ज्ञानोंकी उत्पत्ति तो सम्यग्दर्शनके समकालमें ही होती है। शंका—तब तो मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें होनेवाला सम्यग्दर्शन मिथ्या कहा जायेगा ? समाधान—यदि ऐसा है तब तो ज्ञान भी मिथ्या ही कहा जायेगा। शंका—सत्यज्ञानका विषय अपूर्व होता है इसलिए मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। समाधान—तब तो सभीके सत्यज्ञानकी सन्तान अनादि हो जायेगी। शंका—सत्यज्ञानसे पहले उसके विषयमें मिथ्याज्ञानकी तरह सत्यज्ञानका भी अभाव है इसलिए सत्यज्ञानकी अनादिताका प्रसंग नहीं आता। समाधान—तब तो मिथ्याज्ञानकी तरह सत्यज्ञानका भी अभाव होनेसे सर्वज्ञानसे शून्य ज्ञाताके जड़त्वका प्रसंग आता है। किन्तु ज्ञाता जड़ नहीं हो सकता। शंका—सत्यज्ञानसे पहले उसके विषयका ज्ञान न तो मिथ्या है क्योंकि उसमें सत्यज्ञानको उत्पन्न करनेकी योग्यता है और न सत्य है क्योंकि वह पदार्थके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता। किन्तु वह सत्य और मिथ्यासे भिन्न ज्ञान सामान्य है अतः उसके द्वारा जाने गये अर्थमे प्रवृत्त होनेवाला सत्यज्ञान न तो मिथ्याज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका ग्राहक है और न गृहीतग्राही है। समाधान—तब तो सत्यज्ञानका विषय कथंचित् अपूर्व है सर्वथा नहीं, यह बात सिद्ध होती है। और उसे स्वीकार करने पर सम्यग्दर्शनको भी वैसा ही स्वीकार करना होगा। तब मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें या सत्यज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन कैसे हुआ कहा जायेगा। जिससे उसके समकालमें मति ज्ञानादिके माननेमें विरोध आये। शंका—सभी सम्यग्दर्शन अधिगमज ही होते हैं क्योंकि ज्ञान सामान्यसे जाने हुए पदार्थमें होते हैं। समाधान—नहीं, क्योंकि अधिगम शब्दसे परोपदेश सापेक्ष तत्त्वार्थ ज्ञान लिया जाता है। शंका—इस तरह तो इतरेतराश्रय दोष आता है क्योंकि सम्यग्दर्शन हो तो परोपदेशपूर्वक तत्त्वार्थज्ञान हो और परोपदेशपूर्वक तत्त्वार्थज्ञान हो तो सम्यग्दर्शन हो। समाधान—परोपदेश निरपेक्ष तत्त्वार्थज्ञानकी तरह सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके योग्य परोपदेश सापेक्ष तत्त्वार्थज्ञान सम्यग्दर्शनके होनेसे पूर्व ही अपने कारणसे उत्पन्न हो जाता है। इसलिए इतरेतराश्रय दोष नहीं आता। शंका—सभी सम्यग्दर्शन स्वाभाविक ही होते है क्योंकि मोक्षकी तरह अपने समयपर स्वयं ही उत्पन्न होते हैं। समाधान—आपका हेतु असिद्ध है तथा सर्वथा नहीं जाने हुए अर्थमें श्रद्धान नहीं हो सकता। शंका—जैसे शूद्रको

एतदेशं (–देव) समर्थयते—

केनापि हेतुना मोहवैधुर्यात् कोऽपि रोचते ।
तत्त्वं हि चर्चनायस्तः कोऽपि च क्षोदखिन्नधीः ॥४९॥

केनापि—वेदनाभिभवादिना । मोहवैधुर्यात्—दर्शनमोहोपशमादे. । चर्चनायस्त.—चर्चया आयासमप्राप्त. । क्षोदखिन्नधीः—विचारक्लिष्टमनाः । उक्तं च—

'निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम् ।
सम्यक्त्वभाक् पुमान् यस्मादल्पानल्पप्रयासतः' ॥ [सोम॰ उपा. २२३ श्लो.] ॥४९॥

अथ सम्यक्त्वभेदानाह—

तत्सरागं विरागं च द्विधौपशमिकं तथा ।
क्षायिकं वेदकं त्रेधा दशधाज्ञादिभेदतः ॥५०॥

स्पष्टम् ॥५०॥

अथ सरागेतरसम्यक्त्वयोरधिकरणलक्षणोपलक्षणार्थमाह—

वेदके अर्थको बिना जाने भी उसमें श्रद्धान होता है उसी तरह हो जायेगा। समाधान—नहीं,[1] क्योंकि महाभारत आदि सुननेसे शूद्रको उसीका श्रद्धान देखा जाता है। जैसे कोई व्यक्ति मणिको प्रत्यक्ष देखकर तथा उसकी चमक आदिसे मणि होनेका अनुमान करके उसे ग्रहण करता है। यदि ऐसा न हो तो वह मणिको ग्रहण नहीं कर सकता। तथा मोक्ष भी स्वाभाविक नहीं है, वह स्वकालमें स्वयं नहीं होता। किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके आत्मरूप होनेपर ही होता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन भी दर्शनमोहके उपशम आदिसे उत्पन्न होता है, केवल स्वकालसे ही उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वह स्वाभाविक नहीं है ॥४८॥

आगे इसी का समर्थन करते हैं—

कोई भव्य जीव तत्त्वचर्चा का श्रम न उठाकर किसी भी निमित्तसे मिथ्यात्व आदि सात कर्म प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेसे तत्त्वकी श्रद्धा करता है। और कोई भव्य जीव तत्त्वचर्चा का क्लेश उठाकर मिथ्यात्व आदिका अभाव होनेसे तत्त्वकी श्रद्धा करता है ॥४९॥

विशेषार्थ—कहा भी है—

'उस सम्यग्दर्शन की प्राप्तिमें निसर्ग और अधिगम दो कारण हैं; क्योंकि कोई पुरुष तो थोड़े-से प्रयाससे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तथा कोई बहुत प्रयत्नसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है' तथा जैसे शूद्रको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं है। फिर भी रामायण, महाभारत आदिके समवलोकनसे उसे वेदके अर्थका स्वयं ज्ञान हो जाता है। उसी तरह किसी जीवको तत्त्वार्थका स्वयं ज्ञान हो जाता है ॥४९॥

अब सम्यग्दर्शनके भेद कहते हैं—

सराग और वीतरागके भेदसे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं। औपशमिक, क्षायिक और वेदकके भेदसे तीन भेद हैं। तथा आज्ञा सम्यक्त्व आदिके भेदसे दस भेद हैं ॥५०॥

सराग और वीतराग सम्यक्त्वका अधिकरण, लक्षण और उपलक्षण कहते हैं—

---

१. 'यथा शूद्रस्य वेदार्थे शास्त्रान्तरसमीक्षणात् ।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं तत्त्वार्थे कस्यचित्तथा ॥'

ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमाद्यभिव्यक्तिलक्षणम्।
विरागे दर्शनं त्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम् ॥५१॥

ज्ञे—ज्ञातरि पुंसि। विरागे—उपशान्तकषायादिगुणस्थानवर्तिनि। आत्मशुद्धिमात्रं—आत्मनो जीवस्य, शुद्धि—दृग्मोहस्योपशमेन क्षयेण वा जनितप्रसादः, सैव तन्मात्रं न प्रशमादि। तत्र हि चारित्रमोहस्य सहकारिणोऽपायान्न प्रशमाद्यभिव्यक्तिः स्यात्। केवलं स्वसंवेदनेनैव तद्वेद्येत। उक्तं च—

असंयत सम्यग्दृष्टि आदि रागसहित तत्त्वज्ञ जीवके सराग सम्यग्दर्शन होता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्यकी व्यक्ति उसका लक्षण है—इनके द्वारा उसकी पहचान होती है। वीतराग उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंके वीतराग सम्यग्दर्शन होता है। यह सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे होनेवाली आत्माकी विशुद्धि मात्र होता है अर्थात् प्रशम संवेग आदि वहाँ नहीं होते; क्योंकि इनका सहायक चारित्र मोहनीय कर्म वहाँ नहीं रहता। केवल स्वसंवेदनसे ही सम्यक्त्व जाना जाता है ॥५१॥

विशेषार्थ—स्वामी विद्यानन्दने भी कहा है—

जैसा ही विशिष्ट आत्मस्वरूप श्रद्धान सरागी जीवोंमें होता है वैसा ही वीतरागी जीवोंमें होता है। दोनोंके श्रद्धानमें अन्तर नहीं है, अन्तर है अभिव्यक्तिमें। सरागी जीवोंमें सम्यग्दर्शनकी अभिव्यक्ति प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भावसे होती है और वीतरागियोंमें आत्मविशुद्धि मात्रसे। प्रशम आदिका स्वरूप ग्रन्थकार आगे कहेंगे। ये प्रशमादि एक-एक या सब अपनेमें स्वसंवेदनके द्वारा और दूसरोंमें शरीर और वचनके व्यवहाररूप विशेष लिंगके द्वारा अनुमित होकर सराग सम्यग्दर्शनको सूचित करते हैं। सम्यग्दर्शनके अभावमें मिथ्यादृष्टियोंमें ये नहीं पाये जाते। यदि पाये जायें तो वह मिथ्यादृष्टि नहीं है। शंका—किन्हीं मिथ्यादृष्टियोंमें भी क्रोधादिका उद्रेक नहीं देखा जाता। अतः प्रशम भाव मिथ्यादृष्टियोंमें भी होता है। समाधान—मिथ्यादृष्टियोंके एकान्तवादमें अनन्तानुबन्धी मानका उदय देखा जाता है। और अपनी अनेकान्तात्मक आत्मामें द्वेषका उदय अवश्य होता है। तथा पृथिवीकाय आदि जीवोंका घात भी देखा जाता है। जो संसारसे संविग्न होते हैं, दयालु होते हैं उनकी प्राणिघातमें निःशंक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शंका—अज्ञानवश सम्यग्दृष्टि की भी प्राणिघातमें प्रवृत्ति होती है। समाधान—सम्यग्दृष्टि भी हो और जीवतत्त्वसे अनजान हो यह बात तो परस्पर विरोधी है। जीवतत्त्व-विषयक अज्ञान ही मिथ्यात्व विशेषका रूप है। शंका—यदि प्रशमादि अपनेमें स्वसंवेदनसे जाने जाते हैं तो तत्त्वार्थोंका श्रद्धान भी स्वसंवेदनसे क्यों नहीं जाना जाता? उसका प्रशमादिसे अनुमान क्यों किया जाता है? यदि तत्त्वार्थ श्रद्धान भी स्वसंवेदनसे जाना जाता है तो फिर प्रशमादिसे तत्त्वार्थ श्रद्धानका अनुमान किया जाता है, और तत्त्वार्थ श्रद्धानसे प्रशमादिका अनुमान नहीं किया जाता? यह बात कौन विचारशील मानेगा? समाधान—आपके कथनमें कोई सार नहीं है। दर्शनमोहके उपशम आदिसे विशिष्ट आत्मस्वरूप तत्त्वार्थ श्रद्धानके स्वसंवेद्य होनेका निश्चय नहीं है। प्रशम संवेग अनुकम्पाकी तरह आस्तिक्यभाव उसका अभिव्यंजक है और वह तत्त्वार्थश्रद्धानसे कथंचित् भिन्न है क्योंकि उसका फल है। इसीलिए फल और फलवानमें अभेद

---

१. 'सरागे वीतरागे च तस्य संभवतोऽञ्जसा।
प्रशमादेरभिव्यक्तिः शुद्धिमात्राच्च चेतसः ॥'—त. श्लो. वा. १।२।१२

"सरागवीतरागात्मविषयं तद्विधा स्मृतम् ।
प्रशमादिगुणं पूर्वं परं त्वात्मविशुद्धिभाक् ॥" [सो. उ. पा. २२७ श्लो] ॥५१॥

अथ प्रशमादीना लक्षणमाह —

प्रशमो रागादीनां विगमोऽनन्तानुबन्धिनां संवेगः ।
भवभयमनुकम्पाखिलसत्त्वकृपास्तिक्यमखिलतत्त्वमतिः ॥५२॥

रागादीनां—क्रोधादीना साहचर्यान्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्च, विगमः—अनुद्रेकः, अखिलतत्त्वमतिः—हेयस्य परद्रव्यादेर्हेयत्वेनोपादेयत्वेन प्रतिपत्तिः ॥५२॥

अथ स्वपरगतसम्यक्त्वसद्भावनिर्णयः केन स्यादित्याह—

विवक्षा होनेपर आस्तिक्य ही तत्त्वार्थ श्रद्धान है। शंका—प्रशमादिका अनुभव सम्यग्दर्शनके समकालमें होता है इसलिए प्रशमादि सम्यग्दर्शनके फल नहीं है। समाधान—प्रशमादि सम्यग्दर्शनके अभिन्न फल हैं इसलिए सम्यग्दर्शनके समकालमें उनका अनुभव होनेमें कोई विरोध नहीं है। शंका—दूसरोंमें प्रशमादिका अस्तित्व सन्दिग्धासिद्ध है इसलिए उनसे सम्यग्दर्शनका बोध नहीं हो सकता ? समाधान—शरीर और वचनके व्यवहार विशेषसे दूसरोंमें प्रशमादिका निर्णय होता है यह हम कह आये हैं। अपनेमें प्रशमादिके होनेपर जिस प्रकारके कायादि व्यवहार विशेष निर्णीत किये जाते हैं, दूसरोंमें भी उस प्रकारके व्यवहार विशेष प्रशमादिके होनेपर ही होते हैं ऐसा निर्णय करना चाहिए। शंका—तो फिर जैसे सरागी जीवोंमें तत्त्वार्थ श्रद्धानका निर्णय प्रशमादिसे किया जाता है वैसे ही वीतरागियोंमें भी उसका निर्णय प्रशमादिसे क्यों नहीं किया जाता ? समाधान—नहीं, क्योंकि वीतरागीमें तत्त्वार्थ श्रद्धान आत्मविशुद्धि मात्र है और समस्त मोहका अभाव हो जानेपर संशयादि सम्भव नहीं है। अतः स्वसंवेदनसे ही उसका निश्चय हो जाता है। दूसरोंमें निश्चयके उपाय यद्यपि सम्यग्दर्शनके चिह्न प्रशम आदि होते हैं किन्तु प्रशम आदिके निर्णयके उपाय कायादि व्यवहार विशेष वहाँ नहीं होते। शंका—तो अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त प्रशमादिके द्वारा सम्यग्दर्शनका अनुमान कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि वीतरागके समान अप्रमत्त आदिमें भी कोई व्यापार विशेष नहीं होता ? समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा नहीं कहा है कि सभी सरागी जीवोंमें सम्यग्दर्शनका अनुमान प्रशमादिसे होता है। यथायोग्य सरागियोंमें सम्यग्दर्शन प्रशमादिके द्वारा अनुमान किया जाता है और वीतरागियोंमें आत्मविशुद्धि मात्र है, यह कहा है ॥५१॥

प्रशम आदिका लक्षण कहते हैं—

अनन्तानुबन्धी अर्थात् बीजांकुर न्यायसे अनन्त संसारका प्रवर्तन करनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ तथा उनके सहचारी मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्वके अनुद्रेकको प्रशम कहते हैं। संसारसे डरनेको संवेग कहते हैं। नरकादि गतियोंमें कष्ट भोगनेवाले समस्त त्रस और स्थावर जीवोंपर दया अनुकम्पा है। समस्त स्व और पर द्रव्योंको उपादेय और हेय रूपसे प्रतिपत्ति अर्थात् हेय परद्रव्यादिको हेयरूपसे और उपादेय अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको उपादेय रूपसे श्रद्धान करना आस्तिक्य है ॥५२॥

अपनेमें तथा दूसरोंमें सम्यक्त्वके सद्भावका निर्णय करनेका उपाय बतलाते हैं—

तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ताः स्वां दृशं विदुः ।
प्रमत्तान्तान्यगां तज्जवाक्चेष्टानुमितैः पुनः ॥५३॥

सूक्ष्मलोभान्ताः—असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिसूक्ष्मसाम्परायपर्यन्ता. सप्त । प्रमत्तान्तान्यगां—असंयत-सम्यग्दृष्टि-संयतासंयतप्रमत्तसयताख्यपरवर्तिनीम् । 'तज्ज' इत्यादि—तेभ्य. प्रशमादिभ्यो जाता वाक्-वचनं, चेष्टा च कायव्यापार. । अयमर्थ.—सम्यक्त्वनिमित्तकान् प्रशमादीन् स्वस्य स्वसंवेदनेन निश्चित्य तदविनाभाविन्यौ च वाक्कायचेष्टे यथास्वं निर्णीय तथाविधि(धे)च परस्य वाक्चेष्टे दृष्ट्वा ताभ्या तद्धेतून् प्रशमादीन् निश्चित्य तैः परसम्यक्त्वमनुमिनुयात् ॥५३॥

अथ औपशमिकस्यान्तरङ्गहेतुमाह—

शमान्मिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रानन्तानुबन्धिनाम् ।
शुद्धेऽम्भसीव पङ्कस्य पुंस्यौपशमिकं भवेत् ॥५४॥

मिश्रं—सम्यग्मिथ्यात्वम् ॥५४॥

अथ क्षायिकस्यान्तरङ्गहेतुमाह—

तत्कर्मसप्तके क्षिप्ते पङ्कवत्स्फटिकेऽम्बुवत् ।
शुद्धेऽतिशुद्धं क्षेत्रज्ञे भाति क्षायिकमक्षयम् ॥५५॥

असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तकके जीव अपने द्वारा सम्यक् रीतिसे निर्णीत, अपनेमें विद्यमान सम्यक्त्वसे होनेवाले प्रशमादिके द्वारा अपने सम्यक्त्वको जानते हैं। तथा असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती दूसरे जीवोंके सम्यक्त्वको अपनेमें सम्यक्त्वसे होनेवाले प्रशमादिसे जन्य वचन व्यवहार और काय व्यवहारके द्वारा अनुमान किये गये प्रशमादिके द्वारा जानते हैं ॥५२॥

विशेषार्थ—आशय यह है कि सम्यक्त्वके होनेपर प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव अवश्य होते हैं। किन्तु ये भाव कभी-कभी मिथ्यादृष्टिमें भी हो जाते हैं। यद्यपि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके प्रशमादि भावोंमें अन्तर होता है। उसी अन्तरको समझकर यह निर्णय करना होता है कि ये प्रशमादि भाव यथार्थ हैं या नहीं। तभी उनके द्वारा अपनेमें सम्यक्त्वके अस्तित्वका यथार्थ रीतिसे निश्चय करनेके लिए कहा है। जब ये भाव होते हैं तो वचन और कायकी चेष्टामें भी अन्तर पड़ जाता है। अतः सम्यग्दृष्टि अपनी-जैसी चेष्टाएँ दूसरोंमें देखकर दूसरोंके सम्यक्त्वको अनुमानसे जानता है। चेष्टाएँ छठे गुणस्थानपर्यन्त जीवोंमें ही पायी जाती हैं। आगेके गुणस्थान तो ध्यानावस्था रूप हैं। अतः छठे गुणस्थानपर्यन्त जीवोंके ही सम्यक्त्वको अनुमानसे जाना जा सकता है ॥५३॥

औपशमिक सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण कहते हैं—

जैसे निर्मलीके डालनेसे स्फटिकके पात्रमें रखे हुए जलमें पंक शान्त हो जाती है—नीचे बैठ जाती है और जल स्वच्छ हो जाता है। उसी तरह मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभका उपशम होनेसे जीवमें औपशमिक सम्यक्दर्शन होता है ॥५४॥

क्षायिक सम्यक्त्वका अन्तरंग कारण कहते हैं—

जैसे पंकके दूर हो जानेपर शुद्ध स्फटिकके पात्रमें अति शुद्ध जल शोभित होता है, वैसे ही मिथ्यात्व आदि सात कर्मोंका सामग्री विशेषके द्वारा क्षय होनेपर शुद्ध आत्मामें अति शुद्ध अविनाशी क्षायिक सम्यक्त्व सदा प्रदीप्त रहता है ॥५५॥

क्षिप्ते—विश्लेषिते। स्फटिके—स्फटिकभाजने। अतिशुद्धं—त्यक्तशंकादिदूषणत्वेन शुद्धादौपशमिकातिशयेन शुद्धं प्रक्षीणप्रतिबन्धकत्वात्। अतएव भाति—नित्यं दीप्यते कदाचित् केनापि क्षोभयितुमशक्यत्वात्। तदुक्तम्—

"रूपैर्भयङ्करैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तदर्शिभिः।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः॥ [अमि. पं. सं. १।२९३]

क्षेत्रज्ञे—आत्मनि ॥५५॥

अथ वेदकस्यान्तरङ्गहेतुमाह—

पाकाद्देशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये।
शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलम् ॥५६॥

पाकात्—उदयात्। उदयक्षये—मिथ्यात्वादीना षण्णामुदयप्राप्तानामुदयस्य निवृत्तौ। शमेति—तेषामेवानुदयप्राप्तानामुपशमे सदवस्थालक्षणे ॥५६॥

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होकर पुनः लुप्त नहीं होता, सदा रहता है; क्योंकि उसके प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मोंका क्षय हो जाता है। इसीसे शंका आदि दोष नहीं होनेसे वह औपशमिक सम्यग्दर्शनसे अति शुद्ध होता है। कभी भी किसी भी कारणसे उसमें क्षोभ पैदा नहीं होता। कहा भी है—

'भयंकर रूपोंसे, हेतु और दृष्टान्तपूर्वक वचन विन्याससे क्षायिक सम्यक्त्व कभी भी डगमगाता नहीं है, निश्चल रहता है अर्थात् भयंकर रूप और युक्तितर्कके वाग्जाल भी उसकी श्रद्धामें हलचल पैदा करनेमें असमर्थ होते हैं' ॥५५॥

वेदक सम्यक्त्वका अन्तरंग हेतु कहते हैं—

सम्यग्दर्शनके एकदेशका घात करनेवाली देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे तथा उदय प्राप्त मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियोंके उदयकी निवृत्ति होनेपर और आगामी कालमें उदयमें आनेवाली उन्हीं छह प्रकृतियोंका सदवस्थारूप उपशम होनेपर वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। वह सम्यक्त्व चल, मलिन और अगाढ़ होता है ॥५६॥

विशेषार्थ—इस सम्यक्त्वको क्षायोपशमिक भी कहते हैं और वेदक भी कहते हैं। कार्मिक परम्परामें प्रायः वेदक नाम मिलता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका सर्वत्र यही लक्षण पाया जाता है जो ऊपर ग्रन्थकारने कहा है, किन्तु वीरसेन स्वामीने धवलामें (पु. ५, पृ. २००) इसपर आपत्ति की है। वे कहते हैं—

'सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयके साथ रहने वाला सम्यक्त्व परिणाम क्षायोपशमिक है। मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयाभावरूप क्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे, और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयक्षयसे तथा उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे अथवा अनुदयोपशमसे और सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे क्षायोपशमिक भाव कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता; क्योंकि उसमें अव्याप्ति दोष आता है। अतः यथास्थित अर्थके श्रद्धानको घात करनेवाली शक्ति सम्यक्त्व प्रकृतिके स्पर्धकोंमें क्षीण हो जाती है इसलिए उनकी क्षायिक संज्ञा है। क्षीण हुए स्पर्धकोंके उपशम अर्थात् प्रसन्नताको क्षयोपशम कहते हैं। उससे उत्पन्न होनेसे वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है यह घटित होता है।'

वह सम्यक्त्व अगाढ़, मलिन और चल होता है ॥५६॥

अथ वेदकस्यागाढत्वं दृष्टान्तेनाचष्टे—

वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ।
स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढं वेदकं यथा ॥५७॥

स्थाने—विषये देवादौ ॥५७॥

अथ तदगाढतोल्लेखमाह—

स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते ।
अन्यस्यासाविति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते ॥५८॥

मोहात्—सम्यक्त्वप्रकृतिविपाकात् । श्राद्धः—श्रद्धावान् । चेष्टते—प्रवृत्तिनिर्वृत्ति करोति ॥५८॥

अथ तन्मालिन्यं व्याचष्टे—

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात् सम्यक्त्वकर्मणः ।
मलिनं मलसङ्गेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥५९॥

अलब्धमाहात्म्यं—अप्राप्तकर्मक्षपणातिशयम् । मलसङ्गेन—शंकादीना रजतादीना च संसर्गेण ॥५९॥

अथ तच्चलत्व विवृणोति—

लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिव स्थितम् ।
नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा ॥६०॥

नानेत्यादि—नानाप्रकारस्वविषयदेवादिभेदेषु ॥६०॥

वेदक सम्यक्त्वकी अगाढताको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जैसे वृद्ध पुरुषके हाथकी लाठी हाथमें ही रहती है उससे छूटती नहीं है, न अपने स्थानको ही छोड़ती है फिर भी कुछ काँपती रहती है। वैसे ही वेदक सम्यक्त्व अपने विषय देव आदिमें स्थित रहते हुए भी थोड़ा सकम्प होता है— स्थिर नहीं रहता ॥५७॥

इस अगाढ़ताको बतलाते हैं—

मिथ्यादृष्टिकी तो बात ही क्या, श्रद्धावान सम्यग्दृष्टि भी सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे भ्रममें पड़कर अपने बनवाये हुए जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर वगैरहमें, यह मेरे देव हैं, यह मेरा जिनालय है तथा दूसरेके बनवाये हुए जिनमन्दिर—जिनालय वगैरहमें, यह अमुकका है, ऐसा व्यवहार करता है ॥५८॥

वेदक सम्यक्त्वके मलिनता दोपको कहते है—

जैसे स्वर्ण पहले अपने कारणोंसे शुद्ध उत्पन्न होकर भी चाँदी आदिके मेलसे मलिन हो जाता है वैसे ही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पत्तिके समय निर्मल होनेपर भी सम्यक्त्व-कर्मके उदयसे कर्मक्षयके द्वारा होनेवाले अतिशयसे अछूता रहते हुए शंका आदि दोषोंके संसर्गसे मलिन हो जाता है ॥५९॥

वेदक सम्यक्त्वके चलपनेको कहते हैं—

जैसे उठती हुई लहरोंमें जल एकरूप ही स्थित रहता है, लहरोंके कारण जलमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, वैसे ही सम्यग्दर्शनके विषयभूत नाना प्रकारके देव आदि भेदोंमें स्थित रहते हुए भी चंचलताके कारण वेदक सम्यक्त्व चल होता है ॥६०॥ जैसे—

अथ तदुल्लेखमाह—

समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयम् ।
देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥६१॥

अयं देवः—पार्श्वनाथादिः । अस्मै—उपसर्गादिनिवारणाय । प्रभुः—समर्थः । आस्था—प्रतिपत्तिदार्ढ्यम् ॥६१॥

अथ आज्ञासम्यक्त्वादिभेदानाह—

आज्ञामार्गोपदेशार्थबीजसंक्षेपसूत्रजाः ।
विस्तारजावगाढासौ परमा दशधेति दृक् ॥६२॥

आज्ञा—जिनोक्तागमानुज्ञा । मार्गः—रत्नत्रयविचारसर्ग. । उपदेश.—पुराणपुरुषचरणाभिनिवेश. । अर्थः—प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थः । बीजम्—सकलसमथ (समय) दलसूचनाव्याजम् । संक्षेपः—आप्तश्रुतव्रतसमासलोपक्षेपः । सूत्रं—यतिजनाचरणनिरूपणपात्रम् । विस्तार.—द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णकविस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तार. । अवगाढा—त्रिविधस्यागमस्य नि शेषतोऽन्यतमदेशावगाहालीढा । असौपरमा—परमावगाढा अवधिमन.पर्ययकेवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढा ॥६२॥

सभी तीर्थंकरोंमें अनन्तशक्तिके समान होनेपर भी सम्यग्दृष्टियोंकी भी ऐसी श्रद्धा रहती है कि यह भगवान् पार्श्वनाथ उपसर्ग आदि दूर करनेमें समर्थ हैं और यह भगवान् शान्तिनाथ शान्तिके दाता हैं ॥६१॥

विशेपार्थ—इन दोषोंका स्वरूप इस प्रकार भी कहा है—[1]

जो कुछ काल तक ठहरकर चलायमान होता है उसे चल कहते हैं और जो शंका आदि दोषोंसे दूषित होता है उसे मलिन कहते है। वेदक सम्यक्त्व चल और मलिन होनेसे अगाढ और अनवस्थित होनेके साथ किसी अपेक्षा नित्य भी है क्योंकि अन्तर्मुहूर्तसे लेकर छियासठ सागर तक रहता है अर्थात् वेदक सम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागर होनेसे वह चल भी है और स्थायी भी है ॥६१॥

आगे आज्ञा सम्यक्त्व आदि दस भेद कहते हैं—

सम्यक्त्वके दस भेद हैं—आज्ञा सम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, बीज सम्यक्त्व, संक्षेपसम्यक्त्व, सूत्र सम्यक्त्व, विस्तार सम्यक्त्व, अवगाढ सम्यक्त्व, परमावगाढ सम्यक्त्व ॥६२॥

विशेषार्थ—दर्शनमोहके उपशमसे शास्त्राध्ययनके बिना केवल वीतराग भगवान्की आज्ञासे ही जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। दर्शनमोहका उपशम होनेसे शास्त्राध्ययनके बिना रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गमें रुचि होनेको मार्ग सम्यक्त्व कहते हैं। त्रेसठ शलाका पुरुषोंके चरितको सुननेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह उपदेश सम्यग्दर्शन है। किसी अर्थके द्वारा प्रवचनके विषयमें जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं। बीजपदोंसे होनेवाले तत्त्वश्रद्धानको बीज सम्यग्दर्शन कहते हैं। देव, शास्त्र,

---

१. 'कियन्तमपि यत्कालं स्थित्वा चलति तच्चलम् ।
वेदकं मलिनं जातु शङ्काद्यैर्यत्कलङ्क्यते ॥
यच्चलं मलिनं चास्मादगाढमनवस्थितम् ।
नित्यं चान्तर्मुहूर्तादि षट्षष्ट्यब्ध्यन्तवर्ति यत् ॥'

अथ आज्ञासम्यक्त्वसाधनोपायमाह—

देवोऽर्हन्नेव तस्यैव वचस्तथ्यं शिवप्रदः ।
धर्मस्तदुक्त एवेति निर्बन्धः साधयेद् दृशम् ॥६३॥

निर्बन्धः—अभिनिवेशः, साधयेत्—उत्पादयेत् ज्ञापयेत् ॥६३॥

अथ वृत्तपञ्चकेन सम्यग्दर्शनमहिमानमभिष्टौति—तत्र तावद्विनेयानां सुखस्मृत्यर्थं तत्सामग्रीस्वरूपे अनूद्य संक्षेपेणानन्यसंभवतन्महिमानमभिव्यक्तुमाह—

प्राच्येनाथ तदात्तनेन गुरुवाग्बोधेन कालारुण-
स्थामक्षामतमश्छिदे दिनकृतेवोदेष्यताविष्कृतम् ।
तत्त्वं हेयमुपेयवत् प्रतियता संवित्तिकान्ताश्रिता
सम्यक्त्वप्रभुणा प्रणीतमहिमा धन्यो जगज्जेष्यति ॥६४॥

व्रत, पदार्थ आदिको संक्षेपसे ही जानकर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है वह संक्षेप सम्यग्दर्शन है। मुनिके आचरणको सूचित करनेवाले आचार सूत्रको सुननेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यग्दर्शन कहते है। बारह अंग, चौदह पूर्व तथा अंग बाह्यरूप विस्तीर्ण श्रुतको सुनकर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे विस्तार सम्यग्दर्शन कहते है। अंग, पूर्व और प्रकीर्णक रूप आगमोंको पूरी तरहसे जानकर श्रद्धानमें जो अवगाढपन आता है उसे अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं। और केवलज्ञानके द्वारा पदार्थोंको साक्षात् जानकर जो श्रद्धामें परमावगाढपना होता है उसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शनके ये भेद प्राय. तत्त्वज्ञानके बाह्य निमित्तोंकी प्रधानतासे कहे हैं। सम्यक्त्वकी उत्पत्ति तो दर्शनमोहकी उपशमना आदि पूर्वक ही होती है ॥६२॥

आगे आज्ञा सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके उपाय बताते हैं—

अर्हन्त ही सच्चे देव है, उन्हींके वचन सत्य हैं, उन्हींके द्वारा कहा गया धर्म मोक्षदाता है, इस प्रकारका आग्रहपूर्ण भाव सम्यग्दर्शनका उत्पादक भी होता है और ज्ञापक भी होता है अर्थात् उक्त प्रकारकी दृढ़ भावना होनेसे ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तथा उससे ही यह समझा जा सकता है कि अमुक पुरुष सम्यग्दृष्टि है ॥६३॥

आगे पाँच पद्योंसे सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते हैं। सर्वप्रथम शिष्योंको सुखपूर्वक स्मृति करानेके लिए सम्यग्दर्शनकी सामग्री और स्वरूप बताकर संक्षेपसे उसकी असाधारण महिमा प्रकट करते हैं—

जैसे सूर्यके सारथिकी शक्तिसे मन्द हुए अन्धकारका छेदन करनेके लिए सूर्यका उदय होता है उसी तरह काल क्षेत्र द्रव्यभावकी शक्तिके द्वारा मन्द हुए दर्शनमोहका छेदन करनेके लिए सम्यग्दर्शनसे पहले अथवा उसके समकालमें गुरु अर्थात् महान् आगमज्ञान या गुरुके उपदेशसे होनेवाला ज्ञान उदित होता है। उससे उपादेय तत्त्वकी तरह हेय तत्त्वकी भी प्रतीति करनेवाला और सम्यक् ज्ञप्तिरूपी पत्नीसे युक्त सम्यग्दर्शन प्रभुके द्वारा महत्ताको प्राप्त हुआ पुण्यशाली सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयसे स्वचिन्मय और व्यवहारसे जीवादि द्रव्योंके समुदाय-रूप लोकको वशमें करता है अर्थात् वह सर्वज्ञ और सर्वजगत्का भोक्ता होता है ॥६४॥

विशेषार्थ—उक्त श्लोकमें केवल काल शब्द दिया है। उससे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके योग्य काल-क्षेत्र-द्रव्य-भाव चारों लेना चाहिए। उस कालको अरुण—सूर्यके सारथिकी उपमा दी है क्योंकि वह सूर्यके सारथिकी तरह दर्शनमोहरूपी अन्धकारको मन्द करनेमें

प्राच्येन—सम्यक्त्वोत्पत्तेः प्राग्भाविना। तदातनेन—सम्यक्त्वोत्पत्तिसमसमयभाविना। कालेत्यादि—सम्यक्त्वोत्पत्तियोग्यसमयसूर्यसारथिशक्त्या (कृशी)कृतस्य मिथ्यात्वस्य तिमिरस्य च निरासार्थे। दिनकृता—आदित्येन। उदेष्यता—सम्यग्भावाभिमुखेन उदयाभिमुखेन च। एतेन सम्यक्त्वोत्पत्तिनिमित्तभूतो बोधः स्वरूपेण (अ-)सम्यक् सम्यक्त्वोत्पत्तिनिमित्तत्वेनैव सम्यगिति न मोक्षमार्ग इत्युक्तं स्यात्। अतः सम्यक्त्वसहजन्मैव बोधो मोक्षमार्ग इति प्रतिपत्तव्यम्। न चैवं तयोः कार्यकारणभावि(भाव)विरोधः, समसमयभावित्वेऽपि तयोः प्रदीपप्रकाशयोरिव तस्य सुघटत्वात्। तथा चोक्तम्—

'कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥' [पुरुषार्थ. ३४]

अत एव सम्यक्त्वाराधनानन्तरं ज्ञानाराधनोपदेशः। तदप्युक्तम्—

'सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥' [पुरुषार्थ. ३३]

तेनैतत् सितपटाचार्यवचनमनुचितम्—

'चतुर्वर्गाग्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ॥' [योगशास्त्र १।१५]

उपेयवत्—उपादेयेन स्वशुद्धात्मस्वरूपेण तुल्यम्। प्रतियता—प्र(ती)तिविषयं कुर्वता। सवित्तिकान्ताश्रिता—सम्यग्ज्ञप्तिप्रियायुक्तेन। स एष सम्यक्त्वानन्तरमाराध्यो मोक्षमार्गभूतो बोधः। न चानयोः पृथगाराधनं न संगच्छते लक्षणभेदेन भेदात्। तदुक्तम्—

निमित्त होता है। तथा सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेसे पहले और उसके समकालमें भी तत्त्वार्थका बोध होना आवश्यक है, उसीको देशनालब्धि कहते हैं। यदि वह बोध परोपदेशसे हुआ हो तो उससे होनेवाले सम्यग्दर्शनको अधिगमज कहते हैं और उसके बिना हुआ हो तो उसे निसर्गज कहते हैं। इसीको लक्ष्यमें रखकर 'गुरुवाग्बोध'का अर्थ—गुरु अर्थात् महान्, वाग्बोध—आगमज्ञान—तत्त्वार्थ-बोध, और गुरुके वचनोंसे होनेवाला बोध, किया गया है। सम्यग्दर्शनसे पहले होनेवाले इस तत्त्वज्ञानको 'उदेष्यता' कहा है। उदेष्यताका अर्थ है उदयके अभिमुख। किन्तु ज्ञानके पक्षमें इसका अर्थ है सम्यक्‌पनेके अभिमुख। क्योंकि सम्यग्दर्शनसे पहले होनेवाला ज्ञान सम्यक् नहीं होता। अतः सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें निमित्त हुआ ज्ञान स्वरूपसे सम्यक् नहीं है किन्तु सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे सम्यक् कहा जाता है। इसलिए वह मोक्षका मार्ग नहीं है किन्तु सम्यक्त्वके साथ होनेवाला ज्ञान ही मोक्षका मार्ग है। किन्तु सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न होनेपर भी सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें कार्यकारणपना होनेमें कोई विरोध नहीं है। जैसे दीपक और प्रकाश समानकाल भावी हैं फिर भी उनमें कार्यकारणपना है वैसे ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें भी जानना। कहा भी है—

'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक समयमें उत्पन्न होते हैं फिर भी दीपक और प्रकाशकी तरह उनमें कारण-कार्य-विधान सुघटित होता है।'

इसीलिए सम्यग्दर्शनकी आराधनाके अनन्तर ज्ञानाराधनाका उपदेश है। कहा भी है—

'जिनेन्द्रदेव सम्यग्ज्ञानको कार्य और सम्यग्दर्शनको कारण कहते हैं। इसलिए सम्यग्दर्शनके अनन्तर ही ज्ञानकी आराधना योग्य है।'

'पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥' [पुरुषार्थ. ३२]

सम्यक्त्वप्रभुणा—सम्यक्त्वं च तत्प्रभुश्च परमाराध्य. तत्प्रसादैकसाध्यत्वात् सिद्धेः।

यत्तात्विका :—

'किं पल्लविएण बहु सिद्धा जे णरवरा गए काले।
सिज्झिहहिं जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥' [वा अणु. ९०]

सम्यक्त्वं प्रभुरिवेत्यत्रोक्तिलेशपक्षे प्रभु स्वमते शक्रादिः, परमते तु पार्वतीपतिः श्रीपतिर्वा। प्रणीतमहिमा—प्रवर्तितमाहात्म्य.। जेष्यति—वशीकरिष्यति। सर्वज्ञ—सर्वजगद्भोक्ता च भविष्यतीत्यर्थ. ॥६४॥

अथ निर्मलगुणालंकृतसम्यक्त्वस्य निरतिशयमाहात्म्ययोनितया सर्वोत्कर्षवृत्तिमाशसति—

अतः श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रका कथन उचित नहीं है। उन्होंने ज्ञानको प्रथम स्थान दिया है और सम्यग्दर्शनको द्वितीय।

अतः मोक्षमार्गभूत सम्यग्ज्ञानकी आराधना सम्यग्दर्शनके अनन्तर करना चाहिए। शायद कहा जाये कि इन दोनोंकी अलग आराधना नहीं हो सकती; किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। लक्षणके भेदसे दोनोंमें भेद है। कहा है—

'यद्यपि सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनका सहभावी है फिर भी उसकी अलग आराधना योग्य है क्योंकि लक्षणके भेदसे दोनोंमें भेद है।

यहाँ सम्यग्दर्शनको प्रभु कहा है क्योंकि वह परम आराध्य है। उसीके प्रसादसे मुक्ति की प्राप्ति होती है। कहा भी है—

'अधिक कहनेसे क्या? अतीतमें जो नरश्रेष्ठ मुक्त हुए और भविष्यमें जो मुक्त होंगे वह सम्यक्त्वका माहात्म्य जानो। इस प्रकार सम्यक्त्वकी महिमा जाननी चाहिए।'

इस विषयमें दो आर्या[1] हैं—उनका भाव इस प्रकार है—तत्त्वकी परीक्षा अतत्त्वका निराकरण करके तत्त्वके निश्चयको जन्म देती है। तत्त्वका निश्चय दर्शनमोहका उपशम आदि होनेपर तत्त्वमें रुचि उत्पन्न करता है और तत्त्वमें रुचि सर्वसुखको उत्पन्न करती है। अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वका उपशम होनेपर शुभ परिणामके द्वारा मिथ्यात्वकी शक्तिको रोक देनेवाला सम्यक्त्व होता है वह प्रशम आदिके द्वारा पहचाना जाता है ॥६४॥

जिसका सम्यक्त्व निर्मल गुणोंसे सुशोभित है वह भव्यके निरतिशय माहात्म्यका धारक है अतः उसके सर्वोत्कर्षकी कामना करते हैं—

---

१. 'तत्त्वपरीक्षाऽतत्त्वव्यवच्छिदा तत्त्वनिश्चयं जनयेत्।
स च दृग्मोहशमादौ तत्त्वरुचिं सा च सर्वसुखम् ॥
शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं प्रशमादिकैरभिव्यक्तम्।
स्यात् सम्यक्त्वमनन्तानुबन्धीमिथ्यात्वमिश्रशमे ॥'

यो रागादिरिपून्निरस्य दुरसान्निर्दोषमुद्यन् रथं
संवेगच्छलमास्थितो विकचयन् विष्वक्कृपाम्भोजिनीम् ।
व्यक्तास्तिक्यपथस्त्रिलोकमहितः पन्थाः शिवश्रीजुषा-
माराद्धॄन्पृणतीप्सितैः स जयतात् सम्यक्त्वतिग्मद्युतिः ॥६५॥

रागादिरिपून्—सप्त मिथ्यात्वादीन् षष्टिकोटिसहस्रसंख्यान्मंदेहराक्षसा ते हि सन्ध्यात्रयेऽपि सूर्यं प्रतिबध्नन्ति । निरस्य—उदयत. स्वरूपतो वा काललब्ध्यादिना व्युत्छेद्य, पक्षे ब्राह्मणैर्निपात्य । मदेहा हि सन्ध्योपासनानन्तरदत्तार्घांजलिजलबिन्दुवज्रै[1]स्त्रिसन्ध्याकुलद्विजैर्निपात्यन्ते । दुरसान्—दुर्निवारान् । निर्दोषं—नि शङ्कादिमलम् । दोषेति रात्रेरभावेन च । विकचयन्—विकासयन् । विष्वक्—सर्वभूतेषु सर्वभूतले च । शिवश्रीजुषा—अनन्तज्ञानादिलक्षणा मोक्षलक्ष्मी प्रीत्या सेवितुमिच्छताम् । पक्षे मोक्षस्थानं गच्छताम् । सिद्धा हि सूर्यमण्डल भित्वा यान्तीति केचित् ।

तथा चोक्तं संन्यासविधौ—

'सन्यसन्तं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।
एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥' [ ]

जो दुर्निवार रागादि शत्रुओंका विनाश करके ऊपरको उठते हुए संवेगरूपी रथपर आरूढ होकर सर्वत्र दयारूपी कमलिनीका विकास करता हुआ, आस्तिक्यरूपी मार्गको प्रकट करता है, तीनों लोकोंमें पूजा जाता है, मोक्षरूपी लक्ष्मीका प्रेमपूर्वक सेवन करनेके इच्छुकोंको उसकी प्राप्तिका उपाय है, तथा जो आराधकोंको इच्छित पदार्थोंसे सन्तुष्ट करता है वह सम्यक्त्वरूपी सूर्य जयवन्त हो, अपने समस्त उत्कर्षके साथ शोभित हो ॥६५॥

विशेषार्थ—यहाँ सम्यग्दर्शनको सूर्यकी उपमा दी है, सूर्य भूखसे पीडित जनोंका सर्वोत्कृष्ट आराध्य है तो सम्यग्दर्शन मुमुक्षु जनोंका परम आराध्य है । सम्यग्दर्शनको दुर्निवार मिथ्यात्व आदि सात कर्मशत्रु घेरे रहते हैं तो हिन्दू मान्यताके अनुसार तीनों सन्ध्याओंमें सूर्यको साठ कोटि हजार राक्षस घेरे रहते हैं । काललब्धि आदिके द्वारा सम्यग्दर्शनसे उन कर्म शत्रुओंका विनाश होता है तो ब्राह्मणोंके द्वारा किये जानेवाले सन्ध्या-वन्दनके अन्तमें दी जानेवाली अर्घाञ्जलिके जलबिन्दुरूपी वज्रसे सूर्य उन राक्षसोंको मार गिराता है । तब सूर्य रथमें सवार होकर समस्त भूतल पर कमलिनियोंको विकसित करता है तो सम्यग्दर्शन भी आगे बढकर वैराग्यरूपी रथपर सवार हो समस्त प्राणियोंमें दयाको विकसित करता है । रथ आकाशको लाँघता है तो संवेगसे शेष संसार सुखपूर्वक लाँघा जाता है । अतः संवेगको रथकी उपमा दी है । सूर्य दोषा अर्थात् रात्रिका अभाव होनेसे निर्दोष है तो सम्यग्दर्शन शंकादि दोषोंसे रहित होनेसे निर्दोष है । सूर्य मार्गको आलोकित करता है तो सम्यग्दर्शन आस्तिक्य भावको प्रकट करता है । आस्तिक्यको मार्गकी उपमा दी है क्योंकि वह मार्गकी तरह इष्ट स्थानकी प्राप्तिका हेतु है । सम्यग्दर्शन भी त्रिलोक-पूज्य है और सूर्य भी । सम्यग्दर्शन भी मोक्षकी प्राप्तिका पथ—उपाय है और सूर्य भी मोक्षस्थानमें जानेवालोंके लिए पथ है क्योंकि किन्हींका मत है कि मुक्त जीव सूर्य-मण्डलका भेदन करके जाते हैं ।

१. त्रिसन्ध्यं किल द्विजै–भ. कु. च. ।

लोकेऽपि—

णमह परमेसरं तं कप्पंते पाविऊण रविबिम्बं।
णिव्वाणजणयछिद्दं जेण कयं छारछाणणयं ॥ [ ]

पृणति—प्रीणयति, पृण प्रीणने तुदादि. ॥६५॥

अथ पुण्यमपि सकलकल्याणनिर्माणे सम्यक्त्वानुग्रहादेव समर्थं भवतीति प्रतिपादयितुमाह—

वृक्षाः कण्टकिनोऽपि कल्पतरवो ग्रावापि चिन्तामणिः,
पुण्याद् गौरपि कामधेनुरथवा तन्नास्ति नाभून्न वा।
भाव्यं भव्यमिहाङ्गिनां मृगयते यज्जातु तद्भ्रूकुटि,
सम्यग्दर्शनवेधसो यदि पदच्छायामुपाच्छंन्ति ते ॥६६॥

ग्रावा—सामान्यपाषाण. । भाव्यं—भविष्यति । भव्यं—कल्याणम् । तद्भ्रुकुटि—पुण्यभ्रकूटिं । इयमत्र भावना—ये सम्यग्दर्शनमाराधयन्ति तेषा तादृशपुण्यमास्रवति येन त्रैकाल्ये त्रैलोक्येऽपि ये तीर्थकरत्वपद-पर्यन्ता अभ्युदयास्ते संपाद्यन्ते । भ्रूकुटिवचनमत्रे॰ लक्षयति यो महाप्रभुस्तदाज्ञा योऽतिक्रामति स त प्रति क्रोधाद् भ्रूकुटिमारचयति । न च सम्यक्त्वसहचारिपुण्यं केनापि संपादयितुमारब्धेनाभ्युदयेन लङ्घेत सर्वोऽप्यभ्युदयस्तदुदयानन्तरमेव संपद्यत इत्यर्थ । पदच्छाया—प्रतिष्ठा सम्पदाश्रय च ॥६६॥

संन्यासविधिमें कहा भी है—

द्विजको संन्यास लेते देखकर सूर्य अपने स्थानसे मानो यह जानकर चलता है कि यह मेरे मण्डलका भेदन करके परमब्रह्मको प्राप्त हुआ जाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन सूर्यके समान है ॥६५॥

पुण्य भी सम्पूर्ण कल्याणको करनेमें सम्यक्त्वके अनुग्रहसे ही समर्थ होता है, यह कहते हैं—

यदि वे प्राणी सम्यग्दर्शनरूपी ब्रह्माके चरणोंका आश्रय लेते हैं तो पुण्यके उदयसे बबूल आदि काँटेवाले वृक्ष भी कल्पवृक्ष हो जाते हैं, सामान्य पाषाण भी चिन्तामणिरत्न हो जाता है। साधारण गाय भी कामधेनु हो जाती है। अथवा इस लोक में प्राणियोंका ऐसा कोई कल्याण न हुआ, न है, न होगा जो कभी भी पुण्यकी भ्रुकुटिकी अपेक्षा करे ॥६६॥

विशेषार्थ—इसका आशय है कि जो सम्यग्दर्शनकी आराधना करते हैं उनका ऐसा पुण्योदय होता है जिससे तीनों कालों और तीनों लोकोंमें भी तीर्थंकरपदपर्यन्त जितने अभ्युदय हैं वे सब प्राप्त होते हैं। 'भ्रुकुटि' शब्द बतलाता है कि जो अपने महान् स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन करता है उसके प्रति उसका स्वामी क्रोधसे भौं चढ़ाता है। किन्तु सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यकी आज्ञाका उल्लंघन कोई भी अभ्युदय नहीं कर सकता। सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यका उदय होते ही सब अभ्युदय स्वतः प्राप्त होते हैं। सम्यग्दर्शनको ब्रह्माकी उपमा दी है क्योंकि वह सर्व पुरुषार्थोंके निर्माणमें समर्थ है। इसीसे शास्त्रोंमें सम्यग्दृष्टिके पुण्यको मोक्षका भी कारण कहा है। इसके यथार्थ आशयको न समझनेवाले सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको भुलाकर केवल पुण्यके ही माहात्म्यको गाने लगते हैं। इससे भ्रम पैदा होता है। पुण्य तो कर्मबन्धन है और बन्धन मोक्षका कारण नहीं हो सकता। यह बन्धन सम्यग्दर्शनसे नहीं होता किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहनेवाले शुभरागसे होता है। सम्यग्दर्शन तो उसका निवारक होता है ॥६६॥

अथ सुसिद्धसम्यक्त्वस्य न परं विपदपि संपद् भवति किं तर्हि तन्नामोच्चारिणोऽपि विपद्भिः सद्यो मुच्यन्त इति प्रकाशयति—

सिंहः फेरुरिभः स्तम्भोऽग्निरुदकं भीष्मः फणी भूलता
पाथोधिः स्थलमन्दुको मणिसरश्चोरश्च दासोऽञ्जसा ।
तस्य स्याद् ग्रहशाकिनीगदरिपुप्रायाः पराश्चापद-
स्तन्नाम्नापि वियन्ति यस्य वदते सद्दृष्टिदेवी हृदि ॥६७॥

फेरु —शृगाल. । भूलता—गण्डूपदः । अन्दुकः—शृंखला । मणिसरः—मुक्ताफलमाला । अञ्जसा—झगिति परमार्थेन वा । वियन्ति—विनश्यन्ति । वदते—वदितु दीप्यते सुसिद्धा भवतीत्यर्थः । 'दीप्त्युपाक्तिज्ञानेहविमत्युपमंत्रणे वद' इत्यात्मनेपदम् ॥६७॥

अथ मुमुक्षून् सम्यग्दर्शनाराधनायां प्रोत्साहयन् दुर्गतिप्रतिबन्धपुरस्सरं परमाभ्युदयसाधनाङ्गत्वं साक्षान्मोक्षाङ्गत्वं च तस्य दृढयितुमाह—

परमपुरुषस्याद्या शक्तिः सुदृग् वरिवस्यतां
नरि शिवरमासाचीक्षां या प्रसीदति तन्वती ।
कृतपरपुरभ्रंशं क्लृप्तप्रभाभ्युदयं यया
सृजति नियतिः फेलाभोक्त्रीकृतत्रिजगत्पतिः ॥६८॥

वरिवस्यता—हे मुमुक्षवो युष्माभिराराध्यताम् । नरे—पुरुषे । शिवरमासाचीक्षां—मोक्षलक्ष्मीकटाक्षम् । प्रसीदति—शंकादिमलकलङ्कविकलतया प्रसन्ना भवति । तन्वती—दीर्घीकुर्वती । मोक्षलक्ष्मी तद्भवलभ्या द्वित्रिभवलभ्या वा कुर्वतीत्यर्थ. । कृतपरपुरभ्रंशं—परेण—सम्यक्त्वापेक्षया मिथ्यात्वेन सम्पाद्यानि

आगे कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शनको अच्छी तरहसे सिद्ध कर चुके हैं उनकी विपत्ति भी संपत्ति हो जाती है । इतना ही नहीं, किन्तु उनका नाम लेनेवाले भी विपत्तियोंसे तत्काल मुक्त हो जाते हैं—

जिस महात्माके हृदयमें सम्यग्दर्शन देवता बोलता है उसके लिए भयंकर सिंह भी शृगालके समान हो जाता है अर्थात् उसके हुंकार मात्रसे भयंकर सिंह भी डरकर भाग जाता है, भयंकर हाथी जड़ हो जाता है अर्थात् क्रूर हाथीका बकरेकी तरह कान पकड़कर उसपर वह चढ जाता है, भयंकर आग भी पानी हो जाती है, भयंकर सर्प केंचुआ हो जाता है अर्थात् केंचुआकी तरह उसे वह लांघ जाता है, समुद्र स्थल हो जाता है अर्थात् समुद्रमें वह स्थलकी तरह चला जाता है, साँकल मोतीकी माला बन जाती है, चोर उसका दास बन जाता है । अधिक क्या, उसके नामका उच्चारण करने मात्रसे भी ग्रह, शाकिनी, ज्वरादि व्याधियाँ और शत्रु वगैरह जैसी प्रकृष्ट विपत्तियाँ भी नष्ट हो जाती हैं ॥६७॥

मुमुक्षुओंको सम्यग्दर्शनकी आराधनामें प्रोत्साहित करते हुए, सम्यग्दर्शन दुर्गतिके निवारणपूर्वक परम अभ्युदयके साधनका अंग और साक्षात् मोक्षका कारण है, यह दृढ करनेके लिए कहते हैं—

हे मुमुक्षुओ ! परम पुरुष परमात्माकी आद्य—प्रधानभूत शक्ति सम्यग्दर्शनकी उपासना करो, जो मनुष्यपर शिवनारीके कटाक्षोंको विस्तृत करती हुई शंकादि दोषोंसे रहित होनेसे प्रसन्न होती है तथा जिसके द्वारा प्रभावित हुई नियति अर्थात् पुण्य मिथ्यात्वके द्वारा प्राप्त होनेवाले एकेन्द्रियादि शरीरोंकी उत्पत्तिको रोककर ऐसा अभ्युदय देती है जो तीनों लोकोंके स्वामियोंको उच्छिष्टभोजी बनाता है ॥६८॥

पुराणि शरीराणि एकेन्द्रियादिकायाः । पक्षे—शत्रु । तेषा भ्रंश.—कायपक्षेऽप्रादुर्भावो नगरपक्षे च विनाशः । कृतोऽसौ यत्राभ्युदयसर्जनकर्मणि सम्यक्त्वाराधको हि जीवः सम्यक्त्वग्रहणात् प्रागबद्धायुष्कश्चेत्तदा नरकादिषु न प्राप्नोति । बद्धायुष्कोऽप्यधोनरकभूमिषट्कादिषु नोत्पद्यते । तथा चोक्तम्—

'छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइसि-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।
वारस मिच्छुववाए सम्माइट्ठी ण उववण्णा ॥' [पं स १।१९३]

एतेनेदमपि योगमतं प्रत्युक्त भवति—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥' [ ]

न चोपभोगात् प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यभावात् संसारानुच्छेद , समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगत-कर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्योपात्तकर्मप्रक्षयात्, भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञान-जनितानुसन्धानविकलत्वाच्च समारच्छेदोपपत्ते.। अनुसधीयते गत चित्तमनेनेत्यनुसधान रागद्वेषाविति । क्लृप्तप्रभा—आहितप्रभावातिशया नियति.—दैव, तच्चेह पुण्य, पक्षे महेश्वरशक्तिविशेष । तत्राद्यशक्तिर्हि पार्वती तया चाहितातिशया सती नियतिर्भक्तान् प्रति परमाभ्युदयं करोतीति भाव.। फेलेत्यादि फेला—भुक्तोच्छिष्टम् । सा चेह सुरेन्द्रादिविभूति. । ता हि भुक्त्वा त्यक्त्वा च सम्यक्त्वाराधकाः परमार्हन्त्यलक्ष्मीलक्षण परमाभ्युदय लब्ध्वा शिवं लभन्ते । तथा चोक्तम्—

'देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमान राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्य. ॥' [रत्न. श्रा ४१]

फेला भोक्तार. ताच्छील्यादिना भुञ्जाना' फेलाभोक्तार., अतथाभूतास्तथाभूता कृता जगत्पतय. ऊर्ध्वमध्याधोभुवनस्वामिनो यत्र यया वा ॥६८॥

विशेषार्थ—जैसे शैवधर्ममें महादेव परमपुरुष हैं और उनकी आद्या शक्ति पार्वती है। उस शक्तिसे प्रभावित होकर नियति शत्रुओंके नगरोंको नष्ट करती है। उसी तरह जैनधर्ममें परमपुरुष परमात्मा है और उसकी आद्य या प्रधान शक्ति सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शनसे प्रभावित नियति अर्थात् पुण्य एकेन्द्रियादि पर्यायमें जन्मको रोकता है। आशय यह है कि सम्यक्त्वका आराधक जीव सम्यक्त्व ग्रहणसे पहले यदि आगामी भवकी आयुका बन्ध नहीं करता तो वह मरकर नरक आदि दुर्गतिमें नहीं जाता। यदि आयुबन्ध कर लेता है तो नीचेके छह नरकों आदिमें जन्म नहीं लेता। कहा भी है—नीचेके छह नरकोंमें, ज्योतिषीदेव, व्यन्तरदेव, भवनवासी देवोंमें और सब स्त्रियोंमें अर्थात् तिर्यंची, मानुषी और देवी इन बारह मिथ्योपपादमें अर्थात् जिनमें मिथ्यादृष्टि जीव ही जन्म लेता है, सम्यग्दृष्टिका जन्म नहीं होता। इससे नैयायिक वैशेषिकोंका यह मत भी खण्डित होता है कि सैकड़ों करोड़ कल्प बीत जानेपर भी भोगे बिना कर्मोंका क्षय नहीं होता। किये हुए शुभ और अशुभ कर्म अवश्य ही भोगने पड़ते हैं। इस तरह सम्यक्त्वके प्रभावसे दुर्गतियोंका नाश होता है; नरेन्द्र-सुरेन्द्र आदिकी विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। सम्यग्दृष्टि जीव उन्हें भी भोगकर छोड़ देते हैं और परम आर्हन्त्य लक्ष्मीरूप परम अभ्युदयको प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। आचार्य समन्तभद्रने कहा है—जिनेन्द्रका भक्त भव्य सम्यग्दृष्टि अपरिमित माहात्म्यवाली देवेन्द्रोंके समूहकी महिमाको, राजाओंके शिरोंसे पूजनीय राजेन्द्रचक्र अर्थात् चक्रवर्ती पदको, और समस्त लोकोंको निम्न करनेवाले धर्मेन्द्रचक्र अर्थात् तीर्थंकर पदको प्राप्त करके मोक्षको प्राप्त करता है ॥६८॥

अथ एवमनन्यसामान्यमहिमा सम्यक्त्वपरमप्रभुः कथमाराध्यत इति पृच्छन्तं प्रत्याह—

मिथ्यादृग् यो न तत्त्वं श्रयति तदुदितं मन्यतेऽतत्त्वमुक्तं,
नोक्तं वा तादृगात्माऽऽभवमयममृतेतीदमेवागमार्थः ।
निर्ग्रन्थं विश्वसारं सुविमलमिदमेवामृताध्वेति तत्त्व-
श्रद्धामाधाय दोषोज्झनगुणविनयापादनाभ्यां प्रपुष्येत् ॥६९॥

मिथ्यादृक्—स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति संबन्धः । उदितं—'यो युक्त्या' इत्यादिना प्रबन्धेन प्रागुक्तम् । उक्तं—उपदिष्टम् । तथा चोक्तम्—

'मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा ॥'—[गो. जी. १८]

तादृक्—मिथ्यादृक् सन् । आभवं—आसंसारम् । अमृतामृत । इति हेतो तत्त्वश्रद्धा प्रपुष्येदिति सबन्ध । आगमार्थः—सकलप्रवचनवाच्यम् । निर्ग्रन्थं—ग्रथ्नन्ति दीर्घीकुर्वन्ति ससारमिति ग्रन्था — मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि तेभ्यो निष्क्रान्तं रत्नत्रयमित्यर्थः । तदुक्तम्—

'णिग्गथं पव्वयणं इणमेव अणुत्तरं सुपति (रं–सुपरि–) सुद्धं ।
इणमेव मोक्खमग्गो(त्ति) मदी कायव्विया तम्हा ॥' [भ. आरा. ४३]

अमृताध्वा—मोक्षमार्ग. । अत्र 'इति'शब्द स्वरूपार्थः । मिथ्यात्वादित्रयं हेय तत्त्वं—रत्नत्रयं चो उपादेयमित्येवंविधप्रतिपत्तिरूपमित्यर्थ. । आधाय—अन्त.सन्निहिता कृत्वा । दोषः—स्वकार्यकारित्वहायनं स्वरूपालङ्करण वा । प्रपुष्येत्—प्रकृष्टपुष्टि नयेत क्षायिकरूपा कुर्यादित्यर्थः ॥६९॥

इस प्रकार असाधारण महिमावाले सम्यक्त्वरूप परम प्रभुकी आराधना कैसे की जाती है इसका उत्तर देते हैं—

'मैं' इस अनुपचरित ज्ञानका विषयभूत आत्मा अनादिकालसे वैसा मिथ्यादृष्टि होकर जन्ममरण करता आता है । इसलिए मुमुक्षुको यह प्रतीयमान निर्ग्रन्थ ही सकल आगमका सार है, सकल जगत्‌में उत्कृष्ट है, अत्यन्त शुद्ध है, अमृतका—जीवन्मुक्ति और परममुक्तिका मार्ग है, इस प्रकारकी तत्त्वश्रद्धाको अन्तःकरणमें समाविष्ट करके, उसे दोषोंके त्याग और दोषोंसे विपरीत गुणों तथा विनयकी प्राप्तिके द्वारा खूब पुष्ट करना चाहिए अर्थात् उसे क्षायिक सम्यक्त्वरूप करना चाहिए ॥६९॥

विशेषार्थ—जो पीछे तेईसवें श्लोक द्वारा कहे गये तत्त्वको नहीं मानता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट अतत्त्वको मानता है वह मिथ्यादृष्टि है । कहा भी है—मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान नहीं करता । किन्तु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट अतत्त्वका श्रद्धान करता है । अस्तु । यहाँ मिथ्यादृष्टिका स्वरूप और मिथ्यात्वका फल बतलाकर तत्त्व-श्रद्धाका रूप बतलाया है तथा उसे पुष्ट करनेकी प्रेरणा की है । एकमात्र तत्त्वकी अश्रद्धा और अतत्त्वकी श्रद्धारूप मिथ्यात्वके कारण ही यह आत्मा अनादिकालसे संसारमें जन्ममरण करता है इसलिये अतत्त्वकी श्रद्धा छोड़कर तत्त्वकी श्रद्धा करनी चाहिए । वह तत्त्व है निर्ग्रन्थ । जो संसारको लम्बा करता है वह है ग्रन्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, उससे जो रहित हो वह है निर्ग्रन्थ अर्थात् रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र । 'मिथ्यात्व आदि हेय हैं, रत्नत्रय उपादेय हैं—इस प्रकारकी दृढ़ श्रद्धा ही तत्त्व श्रद्धा है । कहा है—

अथ सम्यक्त्वस्योद्योतेनाराधना विधापयिष्यन् मुमुक्षूंस्तदतिचारपरिहारे व्यापारयति । दुःखेत्यादि—

दुःखप्रायभवोपायच्छेदोद्युक्तापकृष्यते ।
दृग्लेश्यते वा येनासौ त्याज्यः शङ्कादिरत्ययः ॥७०॥

दुःखं प्रायेण यस्मिन्नसौ भवः संसारस्तस्योपायः-कर्मबन्धः, अपकृष्यते स्वकार्यकारित्वं हाप्यते । उक्तं च–

'नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥'—[रत्न. श्रा. २१]

लेश्यते—स्वरूपेणाल्पीक्रियते । अत्यय.—अतिचारः ॥७०॥

अथ शङ्कालक्षणमाह—

विश्वं विश्वविदाज्ञयाभ्युपयतः शङ्कास्तमोहोदयाज्-
ज्ञानावृत्युदयान्मतिः प्रवचने दोलायिता संशयः ।
दृष्टिं निश्चयमाश्रितां मलिनयेत् सा नाहिरज्ज्वादिगा,
या मोहोदयसंशयात्तदरुचिः स्यात्सा तु संशीतिदृक् ॥७१॥

विश्वं—समस्तवस्तुविस्तारम् । अभ्युपयत—तथा प्रतीतिगोचरं कुर्वत । अस्तमोहोदयात्—दर्शनमोहोदयरहितात् । प्रवचने—सर्वज्ञोक्ततत्त्वे । निश्चयं—प्रत्ययम् । सा—प्रवचनगोचरा शङ्का । अहि-

---

निर्ग्रन्थ-रत्नत्रय ही प्रवचनका सार है, वही लोकोत्तर और अत्यन्त विशुद्ध है । वही मोक्षका मार्ग है, इसलिए इस प्रकारकी श्रद्धा करनी चाहिए। और उस श्रद्धाको पुष्ट करना चाहिए ॥६९॥

सम्यग्दर्शनके उद्योतके द्वारा आराधना करनेकी इच्छासे मुमुक्षुओंको उसके अतीचारोंको त्यागनेका उपदेश करते हैं—

यह संसार दुःखबहुल है । इस दु.खका साक्षात् कारण है कर्मबन्ध और परम्परा कारण है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र । उनका अत्यन्त विनाश करनेमें समर्थ है सम्यग्दर्शन । किन्तु शंका आदि अतीचार उस सम्यग्दर्शनको अपना कार्य करनेमें कमजोर बनाते हैं तथा उसके स्वरूपमें कमी लाते है अत. उन्हें छोड़ना चाहिए ॥ ७०॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा रखते हुए अन्तरंग व्यापार या बाह्य व्यापारके द्वारा उसके एक अंशके खण्डित होनेको अतीचार कहते हैं । कहा भी है—'नि.शंकित आदि अंगोंसे हीन सम्यग्दर्शन जन्मकी परम्पराको छेदन करनेमें असमर्थ है; क्योंकि अक्षरसे हीन मन्त्र सर्पादिके विषकी वेदनाको दूर नहीं करता' ॥७०॥

शंका नामक अतीचारका स्वरूप कहते है—

दर्शन मोहके उदयका अभाव होनेसे, सर्वज्ञकी आज्ञासे विश्वको—समस्त वस्तु विस्तारको—'यह ऐसा ही है' इस प्रकार मानते हुए ज्ञानावरण कर्मके उदयसे सर्वज्ञके द्वारा कहे गये तत्त्वमें 'यह है या यह नहीं है' इस प्रकारकी जो डगमगाती हुई प्रतिपत्ति होती है उसे संशय कहते हैं । उसे ही शंका नामक अतीचार कहते हैं । वह प्रवचन विषयक शंका निश्चयसे—वस्तु स्वरूपके यथार्थ प्रत्ययसे सम्बन्ध रखनेवाले सम्यग्दर्शनको मलिन करती है । किन्तु यह साँप है या रस्सी है इस प्रकारकी शंका सम्यग्दर्शनको मलिन नहीं करती । किन्तु दर्शन मोहके उदयसे होनेवाले सन्देहसे जो प्रवचनमें अश्रद्धा होती है, वह संशय मिथ्यात्व है ॥७१॥

रज्ज्वादिगा—अहिर्वा रज्जुर्वेति, स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादिका। मोहोदयसंशयात्—दर्शनमोहोदयसंपादितसंदेहात्। तदरुचिः—प्रवचनाश्रद्धा। संशीतिदृक्—संशयमिथ्यात्वनामातिचारः स हि एकदेशभङ्गः ॥७१॥

अथ शङ्कानिराकरणे नियुङ्क्ते—

प्रोक्तं जिनैर्न परथेत्युपयन्निदं स्यात्
किंवान्यदित्थमथवाऽपरथेति शङ्काम्।
स्वस्योपदेष्टुरुत कुण्ठतयानुषक्तां
सद्युक्तितीर्थमचिरादवगाह्य मृज्यात् ॥७२॥

उपयन्—गृह्णन्। इदं—जिनोक्तं धर्मादितत्त्वं। अन्यत्—वैशेषिकोक्तं द्रव्यगुणादि, नैयायिकोक्तं प्रमाणप्रमेयादि, साङ्ख्योक्तं प्रधानपुरुषादि, बौद्धोक्त दुःखसमुदयादि। इत्थं—सामान्यविशेषात्मकत्वेन प्रकारेण। अपरथा—भेदैकान्तादिप्रकारेण। कुण्ठतया—स्वस्य मतिमान्द्येन गुर्वादेर्वचनानयेन अनाचरणेन वा। सद्युक्तितीर्थं—युक्त्यागमकुशलमुपाध्यायं युक्त्यनुगृहीतमागमं वा, तयोरेव परमार्थतीर्थत्वात्। तदुक्तम्—

'जिनश्रुततदाधारौ तीर्थं द्वावेव तत्त्वतः।
संसारस्तीर्यते ताभ्यां तत्सेवी तीर्थसेवकः॥' [ ]

अवगाह्य—अन्तःप्रविश्य। मृज्यात्—शोधयेत् ॥७२॥

विशेषार्थ—शंकाका अर्थ भी संशय है। 'यह साँप है या रस्सी है, ठूँठ है या पुरुष है' इस प्रकारकी चलित प्रतीतिको संशय कहते हैं। इस प्रकारका संशय तो सम्यग्दृष्टिको भी होता है, कुछ अँधेरा होनेके कारण ठीक-ठीक दिखाई न देनेसे इस प्रकारका सन्देह होता है। यह सन्देह श्रद्धामूलक नहीं है अतः इससे सम्यग्दर्शन मलिन नहीं होता। दर्शन मोहके उदयके अभावमें सर्वज्ञोक्त तत्त्वोंकी श्रद्धा करते हुए भी ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जो सन्देहरूप प्रतीति होती है वह सन्देह शंका नामक अतीचार है। उससे सम्यग्दर्शन मलिन होता है। इसीसे यह कहा है कि अच्छे समझानेवालेके न होनेसे, अपनी बुद्धि मन्द होनेसे और पदार्थके सूक्ष्म होनेसे यदि कोई तत्त्व समझमें न आता हो तो उसमें सन्देह न करके सर्वज्ञ प्रणीत आगमको ही प्रमाण मानकर गहन पदार्थका श्रद्धान करना चाहिए। तो सम्यग्दर्शन अज्ञान मूलक प्रवचन विषयक शंकासे मलिन होता है। किन्तु यदि शंका अश्रद्धानमूलक हो, उसके मूलमें दर्शन मोहका उदय कारण हो तो उसे संशय मिथ्यात्व कहते हैं। संशय मिथ्यात्वके रहते हुए तो सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता। वह अतीचार नहीं है। अतीचार तो एक देशका भंग होनेपर होता है ॥७१॥

इस शंका अतीचारके निराकरणकी प्रेरणा करते हैं—

वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा कहा गया 'सब अनेकान्तात्मक है' यह मत अन्यथा नहीं हो सकता, इस प्रकार श्रद्धा करते हुए, अपनी बुद्धि मन्द होनेसे अथवा गुरु आदिके नय प्रयोगमें कुशल न होनेसे, यह जिन भगवान्‌के द्वारा कहा गया धर्मादितत्त्व ठीक है या बौद्ध आदिके द्वारा कहा गया ठीक है, यह जिनोक्त तत्त्व इसी प्रकार है या अन्य प्रकार है, इस प्रकार हृदयमें लगी हुई शंकाको युक्ति और आगममें कुशल गुरु या युक्तिसे समर्थित आगमरूपी तीर्थका तत्काल अवगाहन करके दूर करना चाहिए ॥७२॥

विशेषार्थ—लोकमें देखा जाता है कि लोग पैरमें कीचड़ लग जानेपर नदी आदिके घाटपर जाकर उसमें अवगाहन करके शुद्धि कर लेते हैं। इसी तरह अपनी बुद्धि मन्द होनेसे या समझानेवालेकी अकुशलताके कारण यदि हृदयमें यह शंका पैदा हो जाती है कि जिनोक्त

अथ शङ्कापायमाह—

सुरुचिः कृतनिश्चयोऽपि हन्तुं द्विषतः प्रत्ययमाश्रितः स्पृशन्तम् ।
उभयीं जिनवाचि कोटिमाजौ तुरगं वीर इव प्रतीर्यते तैः ॥७३॥

सुरुचिः—सद्दृष्टिः सुदीप्तिश्च । कोटिं—वस्तुनो रणभूमेश्चांशम् । आजौ—रणभूमौ । प्रतीर्यते—प्रतिक्षिप्यते प्रतिहन्यत इत्यर्थः. ॥७३॥

अथ भयसंशयात्मकशङ्कानिरासे यत्नमुपदिशति—

भक्तिः परात्मनि परं शरणं नुरस्मिन्
देवः स एव च शिवाय तदुक्त एव ।
धर्मश्च नान्य इति भाव्यमशङ्कितेन
सन्मार्गनिश्चलरुचेः स्मरताऽञ्जनस्य ॥७४॥

शरण—अपायपरिरक्षणोपायः । नुः—पुरुषस्य । अशंकितेन—भयसंशयरहितेन तद्भेदा (–त्) द्विधा हि शङ्का । उक्तं च—

तत्त्व ठीक है या नहीं या वह अनेकान्त रूप ही है या एकान्त रूप है तो सद्युक्तिरूपी तीर्थमें अवगाहन करके उसे दूर करना चाहिए। युक्ति कहते हैं नय प्रमाणरूप हेतुको। समीचीन-अबाधित युक्तिको सद्युक्ति कहते हैं। सद्युक्ति तीर्थ है युक्ति और आगममें कुशल गुरु तथा युक्तिसे समर्थित आगम। कहा भी है—

'जिनागम और जिनागमके ज्ञाता गुरु, वास्तवमें ये दो ही तीर्थ हैं क्योंकि उन्हींके द्वारा संसाररूपी समुद्र तिरा जाता है। उनका सेवक ही तीर्थसेवक है' ॥७२॥

शंका नामक अतीचारसे होनेवाले अपायको कहते हैं—

जैसे शूरवीर पुरुष शत्रुओंको मारनेका संकल्प करके भी युद्धमें यदि ऐसे घोड़ेपर चढ़ा हो जो वेगसे दौड़ता हुआ कभी पूरब और कभी पश्चिमकी ओर जाता हो तो वह शत्रुओंके द्वारा मारा जाता है। उसी तरह सम्यक्दृष्टि मोहरूपी शत्रुओंको मारनेका निश्चय करके भी यदि सर्वज्ञके वचनोंमें 'यह ऐसा ही है या अन्यथा है' इस प्रकार दोनों ही कोटियोंको स्पर्श करनेवाली प्रतीतिका आश्रय लेता है तो वह मोहरूपी शत्रुओंके द्वारा सम्यग्दर्शनसे च्युत कर दिया जाता है ॥७३॥

भय और संशयरूप शंकाको दूर करनेके लिए प्रयत्न करनेका उपदेश करते हैं—

इस लोकमें जीवको केवल परमात्मामें भक्ति ही शरण है, मोक्षके लिए उसी परमात्माकी आराधना करनी चाहिए, दूसरेकी नहीं, उसी परमात्माके द्वारा कहा गया धर्म ही मोक्षदाता है दूसरा नहीं। इस प्रकार सन्मार्ग पर निश्चल श्रद्धा करनेवाले अंजन चोरका स्मरण करते हुए मुमुक्षुको भय और संशयको छोड़कर निःशंक होना चाहिए ॥७४॥

विशेषार्थ—शंकाके दो भेद हैं—भय और संशय। कहा भी है—मैं अकेला हूँ, तीनों लोकोंमें मेरा कोई रक्षक नहीं है, इस प्रकार रोगोंके आक्रमणके भयको शंका कहते हैं। अथवा 'यह तत्त्व है या यह तत्त्व है? यह व्रत है या यह व्रत है? यह देव है या यह देव है' इस प्रकारके संशयको शंका कहते हैं। इन दोनोंसे जो मुक्त है वही निःशंक है। उसीका उपाय बताया है। मृत्यु आदिके भयसे मुक्त होनेके लिये यह श्रद्धा करना चाहिए कि परमात्माके सिवाय इस संसारमें अन्य कोई शरण नहीं है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें अशरण भावनाका चिन्तन करते

'अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये ।
इति व्याधिव्रजोत्क्रान्ति भीतिं शङ्कां प्रचक्षते ॥
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिद व्रतम् ।
एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्का विदुः पराम् ॥' —[सोम उपा.]

अञ्जनस्य—अञ्जननाम्नश्चोरस्य ॥७४॥

अथ काक्षातिचारनिश्चयार्थमाह—

या रागात्मनि भङ्गुरे परवशे सन्तापतृष्णारसे
दुःखे दुःखदबन्धकारणतया संसारसौख्ये स्पृहा ।
स्याज्ज्ञानावरणोदयैकजनितभ्रान्तेरिदं दृक्तपो-
माहात्म्यादुदियान्ममेत्यतिचरत्येषैव काङ्क्षा दृशम् ॥७५॥

रागात्मनि—इष्टवस्तुविषयप्रीतिस्वभावे । सन्तापतृष्णारसे—सन्तापश्च तृष्णा च रसो निर्यासोऽन्त.सारोऽस्य । उक्तं च—

हुए कहा है—जिस संसारमें देवोंके स्वामी इन्द्रोंका भी विलय देखा जाता है तथा जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश-जैसे देव भी कालके ग्रास बन चुके हैं उस संसारमें कुछ भी शरण नहीं है। जैसे शेरके पंजेमें फँसे हुए हिरनको कोई नहीं बचा सकता, वैसे ही मृत्युके मुखमें गये हुए प्राणीको भी कोई नहीं बचा सकता। यदि मरते हुए जीवको देव, तन्त्र, मन्त्र, क्षेत्रपाल वगैरह बचा सकते तो मनुष्य अमर हो जाते। रक्षाके विविध साधनोंसे युक्त बलवान्से बलवान् मनुष्य भी मृत्युसे नहीं बचता। यह सब जानते-देखते हुए भी मनुष्य तीव्र मिथ्यात्वके फन्देमें फँसकर भूत, प्रेत, यक्ष, आदिको शरण मानता है। आयुका क्षय होनेसे मरण होता है और आयु देनेमें कोई भी समर्थ नहीं है अतः स्वर्गका स्वामी इन्द्र भी मृत्यु से नहीं बचा सकता। दूसरोंको बचानेकी बात तो दूर है, यदि देवेन्द्र अपनेको स्वर्गसे च्युत होनेसे बचा सकता तो वह सर्वोत्तम भोगोंसे सम्पन्न स्वर्गको ही क्यों छोड़ता। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही शरण है, अन्य कुछ भी संसारमें शरण नहीं है, उसीकी परम श्रद्धासे सेवा करनी चाहिए। इस प्रकारकी श्रद्धाके बलसे भयरूप शंकासे छुटकारा मिल सकता है। अतः परमात्मामें विशुद्ध भाव युक्त अन्तरंग अनुराग करना चाहिए और उनके द्वारा कहे गये धर्मको मोक्षमार्ग मानकर संशयरूप शंकासे मुक्त होना चाहिए और सम्यग्दर्शनके निःशंकित अंगका पालन करनेमें प्रसिद्ध हुए अंजनचोरके जीवनको स्मृतिमें रखना चाहिए कि किस तरह उसने सेठ जिनदत्तके द्वारा बताये गये मन्त्रपर दृढ़ श्रद्धा करके पेड़में लटके छींकेपर बैठकर उसके बन्धन काट डाले और नीचे गड़े अस्त्र-शस्त्रोंसे मृत्युका भय नहीं किया। तथा अंजनसे निरंजन हो गया ॥७४॥

कांक्षा नामक अतीचारको कहते हैं—

सांसारिक सुख इष्ट वस्तुके विषयमें प्रीतिरूप होनेसे रागरूप है, स्वयं ही नश्वर है, पुण्यके उदयके अधीन होनेसे पराधीन है, सन्ताप और तृष्णा उसके फल हैं, दुःखदायक अशुभ कर्मके बन्धका कारण होनेसे दुःखरूप है। ऐसे सांसारिक सुखमें एकमात्र ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाली भ्रान्तिसे जो आकांक्षा होती है कि सम्यग्दर्शनके या तपके माहात्म्यसे मुझे यह इन्द्र आदिका पद या संसारका सुख प्राप्त हो, यही कांक्षा सम्यग्दर्शनमें अतीचार लगाती है ॥७५॥

'यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम् ।
स्वपरद्रव्यसंभूततृष्णासंतापकारणम् ॥
मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभनिबन्धनम् ।
दुःखकारणबन्धस्य हेतुत्वाद् दुःखमेव तत् ॥' [तत्त्वानुशा. २४३-२४४]

अपि च—

'सपरं बाधासहिद विच्छिन्नं बन्धकारण विसमं ।
जं इंदिएहि लद्धं तं सुक्खं दुक्खमेव तहा ॥' [प्रवचनसार १।७६]

एकः—दृग्मोहोदयसहायरहितः। सुदृष्टीना तन्निमित्तभ्रान्त्यसंभवादन्यथा मिथ्याज्ञानप्रसङ्गात् । तथा चोक्तम्—

'उदये यद्विपर्यस्त ज्ञानावरणकर्मणः ।
तदस्थास्नुतया नोक्त मिथ्याज्ञान सुदृष्टिषु ॥' [अमित प सं १।२३३]

इदं—इन्द्रादिपद ससारसौख्य वा । उदियात्—उद्भूयात् ।

एषैव न कृष्यादिना धान्यधनादावाकाक्षाऽन्यथातिप्रसङ्गात् । उक्त च—

'स्या देव· स्यामहं यक्ष. स्या वा वसुमतीपति. ।
यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छा परित्यजेत् ॥' [सोम उपा] ॥७५॥

विशेषार्थ—संसारके सुखका स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्दने इस प्रकार कहा है—'जो परद्रव्यकी अपेक्षा रखता है, भूख-प्यास आदिकी बाधासे सहित है, प्रतिपक्षी असाताके उदयसे सहित होनेसे बीचमें नष्ट हो जाता है, कर्मबन्धका कारण है, घटता-बढता है, तथा जो इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त होता है ऐसा सुख दुःखरूप ही है।'

अन्यत्र भी कहा है—

'जो रागात्मक सांसारिक सुख है वह अनित्य है, स्वद्रव्य और परद्रव्यके मेलसे उत्पन्न होता है, तृष्णा और सन्तापका कारण है, मोह, द्रोह, मद, क्रोध, माया और लोभका हेतु है, दुःखका कारण जो कर्मबन्ध है उसका कारण है इसलिए दुःखरूप है।' सम्यग्दृष्टिको भी एकमात्र ज्ञानावरण कर्मके उदयसे संसारके सुखमें सुखकी भ्रान्ति होती है। एकमात्र कहनेका यह अभिप्राय है कि उसके साथमे दर्शनमोहका उदय नहीं है क्योंकि सम्यग्दृष्टियोंके दर्शनमोहके उदयसे होनेवाली भ्रान्ति असम्भव है। यदि उनके वैसी भ्रान्ति हो तो उनके मिथ्याज्ञानका प्रसंग आता है। कहा भी है—

'ज्ञानावरण कर्मके उदयमें जो ज्ञानमें विपरीतपना आता है वह तो अस्थायी है इसलिए सम्यग्दृष्टियोंमें मिथ्याज्ञान नहीं कहा है।'

तो ज्ञानावरण कर्मके उदयजन्य भ्रान्तिसे सम्यग्दृष्टिको भी संसारके सुखकी चाह होती है। वही चाह सम्यग्दर्शनमें अतीचार लगाती है। कहा है—

'यदि सम्यक्त्वमें माहात्म्य है तो मैं देव होऊँ, यक्ष होऊँ अथवा राजा होऊँ, इस प्रकारकी इच्छाको छोड़ना चाहिए।' 'वही चाह' कहनेसे अभिप्राय यह है कि यदि कोई सम्यग्दृष्टि कृषि-व्यापार आदिके द्वारा धन-धान्य प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो वह इच्छा सम्यक्त्वका अतीचार नहीं है ॥७५॥

अथाकांक्षापराणां सम्यक्त्वफलहानिं कथयति—

यल्लीलाचललोचनाञ्चलरसं पातुं पुनर्लालसाः
स्वश्रीणां बहु रामणीयकमदं मृद्नन्त्यपीन्द्रादयः ।
तां मुक्तिश्रियमुत्कयद्विपधते सम्यक्त्वरत्नं भव-
श्रीदासीरतिमूल्यमाकुलधियो धन्यो ह्यविद्यातिगः ॥७६॥

लालसाः—अतिलम्पटाः । मृद्नन्ति—संचूर्णयन्ति । उत्कयद्—उत्कण्ठितां कुर्वत् । उक्तं च—

'उदश्वितैव माणिक्यं सम्यक्त्वं भवजैः सुखैः ।
विक्रीणानः पुमान् स्वस्य वञ्चकः केवलं भवेत्' ॥ [सोम. उपा.] ॥७६॥

अथ सम्यक्त्वादिजनितपुण्यानां संसारसुखाकाङ्क्षाकरणे न किमपि फलमिति दर्शयति—

तत्त्वश्रद्धानबोधोपहितयमतपःपात्रदानादिपुण्यं,
यद्गीर्वाणाग्रणीभिः प्रगुणयति गुणैरर्हणामर्हणीयैः ।
तत्प्राध्वंकृत्य बुद्धिं विधुरयसि मुधा क्वापि संसारसारे,
तत्र स्वैरं हि तत् तामनुचरति पुनर्जन्मनेऽजन्मने वा ॥७७॥

अर्हणा—पूजाम् । प्राध्वंकृत्य—बद्ध्वा । तामनु—तया बुद्ध्या सह । पुनर्जन्मने—उत्तमदेवमनुष्यत्वलक्षणपुनर्भवार्थे । अजन्मने—अपुनर्भवार्थम् ॥७७॥

संसारके सुखकी आकांक्षा करनेवालोंके सम्यक्त्वके फलकी हानि बतलाते हैं—

जिसकी लीलासे चंचल हुए नेत्रोंके कटाक्षरूपी रसको पीनेके लिए आतुर इन्द्रादि भी अपनी लक्ष्मियोंके—देवियोंके सम्भोग प्रवृत्तिके विपुल मदको चूर-चूर कर देते हैं उस मुक्तिरूपी लक्ष्मीको उत्कण्ठित करनेवाले सम्यक्त्वरूपी रत्नको विषय सेवनके लिए उत्सुक मनोवृत्तिवाले पुरुष संसारकी लक्ष्मीरूपी दासीके साथ सम्भोग करनेके भाड़ेके रूपमें दे डालते हैं। अतः जो अविद्याके जालमें नहीं फँसता वह धन्य है ॥७६॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व रूपी रत्न मुक्तिरूपी लक्ष्मीको आकृष्ट करनेवाला है क्योंकि सम्यग्दृष्टि ही मुक्तिलक्ष्मीका वरण करता है। और मुक्तिलक्ष्मीका वरण करनेके लिए इन्द्रादिक भी इतने उत्सुक रहते हैं कि वे स्वर्गके सुखोंमें मग्न न होकर पुनः मनुष्यजन्म प्राप्त करके तपश्चरण करनेकी इच्छा रखते हैं। ऐसे सम्यक्त्व रत्नके बदलेमें जो विषयसुखकी आकांक्षा करता है वह मनुष्य उस विषयी मनुष्यके तुल्य है जो किसी दासीके साथ सम्भोग करनेके बदलेमें चिन्तामणि रत्न दे डालता है। कहा भी है—

'जो सांसारिक सुखोंके बदलेमें सम्यक्त्वको बेचता है वह छाछके बदलेमें माणिक्यको बेचनेवाले मनुष्यके समान केवल अपनेको ठगता है' ॥७६॥

आगे कहते हैं कि सम्यक्त्व आदिसे पुण्यकर्मका संचय करनेवाले मनुष्योंको संसार सुखकी आकांक्षा करनेसे कुछ भी लाभ नहीं होता—

तत्त्वश्रद्धान और सम्यग्ज्ञानसे विशिष्ट यम, तप, पात्रदान आदिके द्वारा होनेवाला पुण्य पूजनीय तीर्थंकरत्वादि गुणोंके कारण इन्द्रादिके द्वारा पूजा कराता है। तथा तेरी कल्पनाकी अपेक्षा न करके स्वयं ही तेरी भावनाके अनुसार उत्तम देव और मनुष्य रूपमें पुनर्जन्मके लिए या अपुनर्जन्म—मोक्षके लिए प्रवृत्त होता है। ऐसे महान् पुण्यका बन्ध करके तू संसारके रसमें व्यर्थ ही अपनी बुद्धिको परेशान करता है कि इस पुण्यके उदयसे मुझे असुक अभ्युदय प्राप्त होवे ॥७७॥

अथ आकांक्षानिरोधेऽत्यन्तं यत्नमुपदिशति—

पुण्योदयैकनियतोऽभ्युदयोऽत्र जन्तोः,
प्रेत्याप्यतश्च सुखमप्यभिमानमात्रम् ।
तन्नात्र पौरुषतृषे परवागुपेक्षा-
पक्षो ह्यनन्तमतिवन्मतिमानुपेयात् ॥७८॥

प्रेत्यापि—परलोकेऽपि । अत्र—अभ्युदयतज्जनितसुखयो । परवाचः—सर्वथैकान्तवादिमतानि । उपेयात् ॥७८॥

अथ विचिकित्सातिचारं लक्षयति—

कोपादितो जुगुप्सा धर्माङ्गे याऽशुचौ स्वतोऽङ्गादौ ।
विचिकित्सा रत्नत्रयमाहात्म्यारुचितया दृशि मलः सा ७९॥

अशुचौ—अपवित्रेऽरम्ये च ॥७९॥

अथ महता स्वदेहे निर्विचिकित्सितामाहात्म्यमाह—

यद्दोषधातुमलमूलमपायमूल-
मङ्गं निरङ्गमहिमस्पृहया वसन्तः ।
सन्तो न जातु विचिकित्सितमारभन्ते
संविद्रते हृतमले तदिमे खलु स्वे ॥८०॥

निरङ्गाः—सिद्धा । संविंत्ति लभन्ते—हृतमले—विलीनकर्ममालिन्ये ॥८०॥

आगे आकांक्षाको रोकनेके लिए अधिक प्रयत्न करनेका उपदेश करते हैं—

इस लोक और परलोकमें भी जीवका अभ्युदय एकमात्र पुण्योदयके अधीन है, पुण्यका उदय होनेपर ही होता है उसके अभावमें नहीं होता। और इस अभ्युदयसे सुख भी 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकारकी कल्पना मात्र होता है। इसलिए सर्वथा एकान्तवादी मतोंके प्रति उपेक्षाका भाव रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको श्रेष्ठीपुत्री अनन्तमतीकी तरह अभ्युदयके साधनोंमें पौरुष प्रयत्न नहीं करना चाहिए तथा उससे होनेवाले सुखमें तृष्णा नहीं करना चाहिए ॥७८॥

आगे विचिकित्सा नामक अतीचारका स्वरूप कहते हैं—

क्रोध आदिके वश रत्नत्रयरूप धर्ममें साधन किन्तु स्वभावसे ही अपवित्र शरीर आदिमें जो ग्लानि होती है वह विचिकित्सा है। वह सम्यग्दर्शन आदिके प्रभावमें अरुचि रूप होनेसे सम्यग्दर्शनका मल है—दोष है ॥७९॥

विशेषार्थ—शरीर तो स्वभावसे ही गन्दा है, उसके भीतर मल-मूत्र-रुधिर आदि भरा है, ऊपरसे चामसे मढ़ा है। किन्तु धर्मका साधन है। मुनि उस शरीरके द्वारा ही तपश्चरण आदि करके धर्मका साधन करते हैं। किन्तु वे शरीरकी उपेक्षा ही करते हैं। इससे उनका शरीर बाहरसे भी मलिन रहता है। ऐसे शरीरको देखकर उससे घृणा करना वस्तुतः धर्मके प्रति ही अरुचिका द्योतक है। अतः वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है ॥७९॥

महापुरुषोंके द्वारा अपने शरीरमें विचिकित्सा न करनेका माहात्म्य बतलाते हैं—

सन्त पुरुष मुक्तात्माओंकी गुणसम्पत्तिकी अभिलाषासे दोष—वात-पित्त-कफ, धातु—रुधिर, मांस, मेद, हड्डी, मज्जा, वीर्य, और मल, पसीना वगैरहसे बने हुए तथा आपत्तियोंके

अथ महासत्त्वाना निमित्तसंनिधानेऽपि जुगुप्सानुद्भावं भावयति—

किंचित्कारणमाप्य लिङ्गमुदयन्निर्वेदमासेदुषो,
धर्माय स्थितिमात्रविध्यनुगमेऽप्युच्चैरवद्याद्भिया ।
स्नानादिप्रतिकर्मदूरमनसः प्रव्यक्तकुत्स्याकृति,
कायं वीक्ष्य निमज्जतो मुदि जिनं स्मर्तुः क्व शूकोद्गमः ॥८१॥

लिङ्गं—आचेलक्यलोचादि । आसेदुषः—आश्रितस्य ॥८१॥

अथ विचिकित्साविरहे यत्नमादिशति—

द्रव्यं विडादि करणैर्न मयेति पृक्तं,
भावः क्षुदादिरपि वैकृत एव मेऽयम् ।
तत्किं मयात्र विचिकित्स्यमिति स्वमृच्छे-
दुद्दायनं मुनिरुगुद्धरणे स्मरेच्च ॥८२॥

विडादि—पुरीषमूत्रादि । पृक्तं—संपर्कम् । अत्र—एतयोर्द्रव्यभावयोर्मध्ये । किं विचिकित्स्य—न किमपीत्यर्थ । स्वमृच्छेत्—आत्मानमाविशेत् सम्यग्दृष्टिरिति शेष. ॥८२॥

अथ परदृष्टिप्रशंसां सम्यक्त्वमलं निषेद्धुं प्रयुङ्क्ते—

मूल शरीरमें रहते हुए कभी भी उससे ग्लानि नहीं करते हैं। इससे वे सन्त पुरुष निश्चय ही कर्म-मलसे रहित अपनी आत्मामें ज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥८०॥

महापुरुषोंको निमित्त मिलनेपर भी ग्लानि नहीं होती—

किसी इष्टवियोग आदि कारणको पाकर, वैराग्यके बढ़नेपर केशलोंच पूर्वक दिगम्बर मुनिलिंगको धारण करके, धर्मकी साधनाके हेतु शरीरकी केवलस्थिति बनाये रखनेके लिए, न कि बाह्य चमक-दमकके लिए, विधिपूर्वक आहार आदि ग्रहण करते हुए भी, पापके अत्यधिक भयसे स्नान, तेलमर्दन आदि प्रसाधनोंसे जिनका मन अत्यन्त निवृत्त है, अतएव अत्यन्त स्पष्ट बीभत्स रूपवाले उन मुनिराजके शरीरको देखकर जिन भगवान्का स्मरण करते हुए आनन्दमें निमग्न सम्यग्दृष्टि को ग्लानि कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती ॥८१॥

विचिकित्साके त्यागके लिए प्रयत्न करनेका उपदेश देते हैं—

विष्टा, मूत्र, आदि द्रव्य अचेतन, स्पर्शन आदि इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध करता है, मेरे चिद्रूपके साथ नहीं, क्योंकि मूर्तका सम्पर्क मूर्तके ही साथ होता है। मेरे यह भूख प्यास आदि भी कर्मके उदयसे होनेके कारण वैकारिक ही है। इसलिए इन द्रव्य और भावोंमें किससे मुझे विचिकित्सा करनी चाहिए? ऐसा विचार करते हुए सम्यग्दृष्टिको शुद्ध चैतन्य रूप आत्मामें स्थिर होना चाहिए। तथा मुनियोंके रोगका निवारण करनेमें राजा उद्दायनका स्मरण करना चाहिए ॥८२॥

विशेषार्थ—राजा उद्दायन निर्विचिकित्सा अंगका पालन करनेमें प्रसिद्ध हुआ है। उसने मुनिको वमन हो जानेपर भी ग्लानि नहीं की थी और उनकी परिचर्यामें लगा रहा था ॥८२॥

सम्यक्त्वके परदृष्टि प्रशंसा नामक अतीचारको दूर करनेकी प्रेरणा करते हैं—

वस्तुयाथात्म्यसंविदाम् ।
न कुर्यात् परदृष्टीनां प्रशंसां दृक्कलङ्किनीम् ॥८३॥

परदृष्टीनां—बौद्धादीनाम् ॥८३॥

अथ अनायतनसेवा दृग्मलं निषेधति—

मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि त्रीणि त्रींस्तद्वतस्तथा ।
षडनायतनान्याहुस्तत्सेवां दृङ्मलं त्यजेत् ॥८४॥

तद्वत.—मिथ्यादृगादियुक्तान् पुरुषान् । उक्तं च—

'मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रैः सह भाषिता ।
तदाधारजनाः पापा षोढाऽनायतनं जिनैः ॥ [अमि श्रा २।२५] ॥८४॥

अथ मिथ्यात्वाख्यानायतनं निषेद्धु नयति—

वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है इस प्रकारके एकान्तवादरूपी अन्धकारसे जिनका वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान अर्थात् अनेकान्त तत्त्वका बोध नष्ट हो गया है उन बौद्ध आदि एकान्तवादियोंकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उससे सम्यक्त्वमें दूषण लगता है॥८३॥

सम्यग्दर्शनके अनायतन सेवा नामक दृष्टिदोषका निषेध कहते हैं—

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन तथा इनके धारक मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री ये छह अनायतन हैं। सम्यग्दृष्टिको इन छहोंकी उपासना छोड़नी चाहिए; क्योंकि यह सम्यक्त्वका दोष है ॥८४॥

विशेषार्थ—अन्यत्र भी ये ही छह अनायतन कहे हैं यथा—

'मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रके साथ उनके धारक पापी जन ये छह अनायतन जिनदेवने कहे हैं। किन्तु द्रव्यसंग्रह (गा. ४१) की टीकामें मिथ्यादेव, मिथ्यादेवके आराधक, मिथ्यातप, मिथ्यातपस्वी, मिथ्याआगम और मिथ्याआगमके धारक ये छह अनायतन कहे हैं। कर्मकाण्ड (गा. ७४) की टीकामें भी ये ही छह अनायतन कहे हैं। भगवती आराधनामें सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार इस प्रकार कहे[1] हैं—

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा। ऊपरके कथनसे ये पाँचों अतीचार आ जाते हैं। इस गाथाकी विजयोदया टीकामें भी आशाधरजीके द्वारा कहे गये छह अनायतन गिनाये हैं। कांक्षा नामक अतीचारको स्पष्ट करते हुए विजयोदया टीकामें कहा है कि असंयत सम्यग्दृष्टि और देशसंयमीको आहारादिकी कांक्षा होती है, प्रमत्त संयत मुनिको परीषहसे पीड़ित होनेपर खानपानकी कांक्षा होती है। इसी तरह भव्योंको सुखकी कांक्षा होती है किन्तु कांक्षा मात्र अतीचार नहीं है, दर्शनसे, व्रतसे, दानसे, देवपूजासे उत्पन्न हुए पुण्यसे मुझे अच्छा कुल, रूप, धन, स्त्री पुत्रादिक प्राप्त हों, इस प्रकारकी कांक्षा सम्यग्दर्शनका अतीचार है ॥८४॥

आगे मिथ्यात्व नामक अनायतनके सेवनका निषेध करते हैं—

---

१. सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगिछा ।
परदिट्ठीणपसंसा अणायदण सेवणा चेव ॥ —गा. ४४ ।

सम्यक्त्वगन्धकलभः प्रबलप्रतिपक्षकरटिसंघट्टम् ।
कुर्वन्नेव निवार्यः स्वपक्षकल्याणमभिलषता ॥८५॥

प्रतिपक्षः—मिथ्यात्वं शत्रुश्च । स्वपक्षः—आत्माम्युपगतव्रतादिकं निजयूथं च ॥८५॥

अथ सम्यक्त्वप्रौढिमतो मदमिथ्यात्वावेशशङ्कां निरस्यति—

मा भैषीर्दृष्टिसिंहेन राजन्वति मनोवने ।
न मदान्धोऽपि मिथ्यात्वगन्धहस्ती चरिष्यति ॥८६॥

राजन्वति—दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालनपरेण राज्ञा युक्ते परपराभवाविषये इत्यर्थः । मदः—जात्यादि-अभिमानो दानं च ॥८६॥

अथ जात्यादिभिरात्मोत्कर्षसंभाविन सधर्माभिभवनमुखेन सम्यक्त्वमाहात्म्यहानिं दर्शयति—

संभावयन् जातिकुलाभिरूप्यविभूतिधीशक्तितपोऽर्चनाभिः ।
स्वोत्कर्षमन्यस्य सधर्मणो वा कुर्वन् प्रधर्षं प्रदुनोति दृष्टिम् ॥८७॥

आभिरूप्यं—सौरूप्यम् । धीः—शिल्पकलादिज्ञानम् । अन्यस्य—जात्यादिना हीनस्य । प्रदुनोति—माहात्म्यादपकर्षति ॥८७॥

अथ जातिकुलमदयो. परिहारमाह—

जैसे अपने यूथका कल्याण चाहनेवाला यूथनाथ—हस्तीसमूहका स्वामी प्रधान हाथी अपने होनहार बाल हाथीको अपने प्रतिपक्षके प्रबल हाथीके साथ लड़ाई करते ही रोक देता है, उसी तरह अपने द्वारा धारण किये गये व्रतादिका संरक्षण चाहनेवाले सम्यक्त्वके आराधक भव्यको प्रबल मिथ्यात्वके साथ संघर्ष होते ही अपने सम्यक्त्वकी रक्षा करनेमें तत्पर रहना चाहिए क्योंकि आगामी ज्ञान और चारित्रकी पुष्टिमें सम्यक्त्व ही निमित्त होता है ॥८५॥

प्रौढ़ सम्यक्त्वके धारक सम्यग्दृष्टिके अभिमानरूपी मिथ्यात्वके आवेशकी शंकाको दूर करते हैं—

हे सुदृढ सम्यग्दृष्टि ! तू मत डर, क्योंकि सम्यग्दर्शन रूपी सिंहका जहाँ राज्य है उस मन रूपी वनमें मदान्ध (हाथीके पक्षमें मदसे अन्ध, मिथ्यात्वके पक्षमें मदसे अन्धा—हिताहितके विचारसे शून्य करनेवाला) मिथ्यात्वरूपी गन्धहस्ती विचरण नही कर सकेगा ॥८६॥

जाति आदिके मदसे अहंकाराविष्ट हुआ सम्यग्दृष्टि साधर्मीके अपमानकी ओर अभिमुख होनेसे सम्यक्त्वके माहात्म्यको हानि पहुँचाता है यह बतलाते हैं—

जाति, कुल, सुन्दरता, समृद्धि, ज्ञान, शक्ति, तप और पूजासे अपना उत्कर्ष माननेवाला—मैं उससे बड़ा हूँ ऐसा समझनेवाला अथवा अन्य साधर्मीका तिरस्कार करनेवाला सम्यक्त्वकी महत्ताको घटाता है ॥८७॥

विशेषार्थ—कहा भी है, जो अहंकारी अहंकारवश अन्य साधर्मियोंका अपमान करता है वह अपने धर्मका अपमान करता है क्योंकि धार्मिकोंके विना धर्म नहीं रहता ॥८७॥

जातिमद और कुलमदको त्यागनेका उपदेश देते हैं—

पुंसोऽपि क्षतसत्त्वमाकुलयति प्रायः कलङ्कैः कलौ,
सद्वृग्वृत्तवदान्यतावसुकलासौरूप्यशौर्यादिभिः ।
स्त्रीपुंसैः प्रथितैः स्फुरत्यभिजने जातोऽसि चेद्दैवत-
स्तज्जात्या च कुलेन चोपरि मृषा पश्यन्नधः स्वं क्षिपेः ॥८८॥

आकुलयति—दूषयति सति । वदान्यता—दानशौण्डत्वम् । वसु—धनम् । कला.—गीतादय. । शौर्यादि—आदिशब्दान्नय-विनय-गाम्भीर्यादि । अभिजने—अन्वये । जात्या—मातृपक्षेण । कुलेन—पितृपक्षेण । उपरि—प्रक्रमात् सधर्माणाम् । सार्धमिकापमानमेव हि सम्यक्त्वस्यातिचार । तदुक्तम्—

'स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशय. ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥' [रत्न. श्राव २६]

मृषा—जातिकुलयो. परमार्थतः शुद्धेर्निश्चेतुमशक्यत्वात् । नु—किम् । अध.—सम्यक्त्वविराधनायां हो(-न)पदस्य सुघटत्वात् । तथा चोक्तम्—

'जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलैः ।
कुर्वाणोऽहङ्कृतिं नीच गोत्रं बध्नाति मानवः ॥' [ ] ॥८८॥

अथ सौरूप्यमदाविष्टस्य दोष दर्शयति—

हे जाति और कुलसे अपनेको ऊँचा माननेवाले! पूर्व पुण्यके उदयसे यदि तू सम्यक्त्व, सदाचार, दानवीरता, धन, कला, सौन्दर्य, वीरता आदि गुणोंसे प्रसिद्ध स्त्री-पुरुषोंके द्वारा जनताके मनमें चमत्कार करनेवाले कुलमें पैदा हुआ है तो इस कलि कालमें तो स्त्रियोंकी तो बात ही क्या, पुरुषोंका भी मनोबल प्राय. अपवादोंसे गिर जाता है। इसलिए जाति और कुलके मिथ्या अभिमानसे तू अन्य साधर्मियोंसे ऊपर मानकर अपनेको नीचे क्यों गिराता है ॥८८॥

विशेषार्थ—आगममें जाति आदिके मदको बहुत बुरा बतलाया है। कहा है—

'जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तप और बलका अहंकार करनेवाला मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है।'

इसके सिवाय इस कलिकालमें जाति और कुलकी उच्चताका अभिमान इसलिए भी व्यर्थ है कि कुल नारीमूलक है। और कलिकालमें कामदेवका साम्राज्य रहता है। कब कहाँ किसका मन विकृत होकर शीलको दूषित कर दे इसका कोई ठिकाना नहीं है अतः जाति—कुलका अभिमान व्यर्थ है।[1] कहा भी है—

'संसार अनादि है, कामदेवकी गति दुर्निवार है और कुलका मूल नारी है ऐसी स्थितिमें जातिकी कल्पना ही बेकार है' ॥८८॥

सौन्दर्यका मद करनेवाले सम्यग्दृष्टिका दोष बतलाते हैं—

१. 'अनादाविह ससारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ॥'

यानारोप्य प्रकृतिसुभगानङ्गनायाः पुमांसं,
पुंसश्चास्याविषु कविठका मोहयन्त्यङ्गनां द्राक् ।
तानिन्द्वादीन्न परमसहन्नुन्मदिष्णून्वपुस्ते,
स्रष्टाऽस्राक्षीद् ध्रुवमनुपमं त्वां च विश्वं विजिष्णुम् ॥८९॥

आरोप्य—कल्पयित्वा । आस्यादिषु—मुखनयनादिषूपमेयेषु । इन्द्वादीन्—चन्द्रकमलादीनुपमानभूतान् । उन्मदिष्णून्—स्वोत्कर्षसंभाविनः। अनुपमं—मुखादिषु चन्द्राद्युपमामतीतं प्रत्युत चन्द्रादीनप्युपमेयान् कर्तुं सृष्टवानिति भाव । त्वामित्यादि—त्वामपि सम्यक्त्वबलेन समस्तजगद्विजयं साधु कुर्वाणमसहमानो विधाता तव शरीरमनन्योपमं व्यधादित्यहं संभावयामि । इयमत्र भावना भवान् सम्यक्त्वमाहात्म्याद् विश्वं व्यजेष्यत् यदि हतविधिस्तादृक् सौरूप्यमुत्पाद्य तन्मदेन सम्यक्त्वं नामलिनयिष्यत् ॥८९॥

अथ लक्ष्मीमदं निषेद्धुं वक्रभणित्या नियुङ्क्ते—

या देवैकनिबन्धना सहभुवां याऽऽपद्भियामामिषं,
या विस्रम्भमजस्रमस्यति यथासन्नं सुभक्तेष्वपि ।
या दोषेष्वपि तन्वती गुणधियं युङ्क्तेऽनुरक्त्या जनान्,
स्वभ्यस्याम्न तया श्रियाम् ह्रियसे यान्त्यान्यमान्ध्यान्न चेत् ॥९०॥

ये कविरूपी ठग जिन स्वभावसे ही सुन्दर चन्द्रमा, कमल आदि उपमानभूत पदार्थोंको नारीके मुख नयन आदि उपमेय भूत अंगोंमें आरोपित करके तत्काल पुरुषको मोहित करते है और पुरुषके अंगोंमें आरोपित करके नारीको तत्काल मोहित करते है। मैं ऐसा मानता हूँ कि निश्चय ही उन्मादकी ओर जानेवाले उन चन्द्र आदि को न केवल सहन न करके ब्रह्माने तुम्हारे अनुपम शरीरको रचा है किन्तु सम्यक्त्वके बलसे समस्त जगत्को विजय करनेवाले तुमको सहन न करके ब्रह्माने तुम्हारा अनुपम शरीर रचा है ॥८९॥

विशेषार्थ—लोकोत्तर वर्णन करनेमें निपुण कविगण अपने काव्योंमें स्त्रीके मुखको चन्द्रमाकी, नेत्रोंको कमलकी उपमा देकर पुरुषोंको स्त्रियोंकी ओर आकृष्ट करते हैं और पुरुषोके अंगोंको उपमा देकर स्त्रीको पुरुषोंकी ओर आकृष्ट करते हैं। इसलिए कवियोंको ठग कहा है क्योंकि वे पुरुषार्थ का घात करते है। इसके साथ ही ग्रन्थकारने यह संभावना व्यक्त की है कि ब्रह्माने इन चन्द्रमा आदिके अहंकारको केवल सहन न करके ही पुरुषके अंगोंको उनसे भी सुन्दर बनाया है, बल्कि उसने सोचा कि यह सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्वके माहात्म्यसे विश्वको जीत लेगा इसलिए उसने तुम्हारा शरीर इतना सुन्दर बनाया कि तुम अपनी सुन्दरताके मदसे अपने सम्यक्त्वको दूषित कर लो। जिससे तुम जगत्को न जीत सको ॥८९॥

वक्रोक्तिके द्वारा लक्ष्मीका मद त्यागनेकी प्रेरणा करते हैं—

जो लक्ष्मी एकमात्र पुराकृत शुभकर्मसे प्राप्त होती है, जो लक्ष्मी एक साथ आनेवाली विपत्तियों और भीतियोंका स्थान है, जो लक्ष्मी अपने अत्यन्त भक्त निकट सम्बन्धी पुत्र भाई आदिमें भी निरन्तर विश्वासको घटाती है, जो लक्ष्मी दोषोंमें भी गुणोंकी कल्पना कराकर लोगोंको अनुरागी बनाती है, हे भाई, युक्त-अयुक्त विचारसे विकल होनेके कारण ऐसी लक्ष्मी तुम्हें छोड़कर अन्य पुरुषके पास जाये इससे पहले ही तू अपनेको उक्त लक्ष्मीसे बड़ा मान ॥९०॥

आमिषं—ग्रासो विषयो वा। तथा चोक्तम्—

'बह्वपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विनाम्।
यत्र पुत्रा. ससोदर्याः वैरायन्ते निरन्तरम् ॥' [ ]

दोषेषु—ब्रह्महत्यादिषु। अनुरक्ततया। ब्रह्मघ्नोऽपि धनी धनलोभाद् वृद्धैरप्याश्रीयते। तदुक्तम्—

'वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च वृद्धा बहुश्रुताः।
सर्वे ते धनवृद्धस्य द्वारे तिष्ठन्ति किङ्करा· ॥' [ ]

स्वभ्यस्व—आत्मानमुत्कृष्ट संभावय त्वम्। अन्न—हे भ्रात। आस्वित्यादि—अयमर्थ·—क्षणिकतया पुरुषान्तरं गच्छन्त्या लक्ष्म्या यदि सद्योऽन्धत्वान्न प्रच्याव्यसे अन्यथा पुरुषान्तरं मम लक्ष्मीरेषा गच्छतीति दु·सहदुःखं प्राप्नोषि न चैव सर्वस्यापि प्रायेण लक्ष्मीसमागमे पश्यतोऽप्यदर्शनस्य तद्विगमे च दर्शनस्योपलम्भात्। यल्लोकोक्ति —

संपय पडलहि लोयणइं बंभजि छाइज्जति।
ते दालिद्दसलाइयइं अंजिय णिम्मल होंति ॥ [ ] ॥९०॥

अथ शिल्पादिज्ञानिनां मदावेशमनुशोचति—

शिल्पं वै मदुपक्रमं जडधियोऽप्याशु प्रसादेन मे,
विश्वं शासति लोकवेदसमयाचारेष्वहं दृङ् नृणाम्।
राज्ञां कोऽहमिवावधानकुतुकामोदैः सदस्यां मनः,
कर्षत्येवमहो महोऽपि भवति प्रायोऽद्य पुंसां तमः ॥९१॥

विशेषार्थ—लक्ष्मीकी प्राप्तिमें पौरुषसे अधिक दैवका हाथ होता है फिर लक्ष्मी पाकर मनुष्य आपत्तियोंका शिकार बन जाता है। कहा है—

"यह राज्य बहुत-सी बुराइयोंसे भरा है, यह मनस्वी पुरुषोंके छोड़ देने योग्य है। जिसमें सहोदर भाई और पुत्र सदा वैरीकी तरह व्यवहार करते हैं।" लक्ष्मी पाकर मनुष्य अपने निकट बन्धुओंका भी विश्वास नहीं करता। लक्ष्मीके लोभसे धनवान्के दोष भी गुण कहलाते हैं। कहा भी है—'जो अवस्थामें बड़े हैं, तपमें बड़े हैं और जो बहुश्रुत वृद्धजन हैं वे सब लक्ष्मीमें बड़े पुरुषके द्वार पर आज्ञाकारी सेवककी तरह खड़े रहते हैं।'

ऐसी लक्ष्मीको प्राप्त करनेवालेको ग्रन्थकार उपदेश देते हैं कि लक्ष्मीसे अपनेको बड़ा मान, लक्ष्मीको बड़ा मत मान क्योंकि लक्ष्मी तो चंचल है। यह एक पुरुषके पास सदा नहीं रहती क्योंकि इसे पाकर मनुष्य अन्धा हो जाता है, उसे हिताहितका विचार नहीं रहता। अतः जब लक्ष्मी उसे छोड़कर दूसरेके पास जाती है तो मनुष्य बहुत दुखी होता है। प्रायः धन पानेपर मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता और उसके जाने पर उसकी आँखें खुलती हैं। एक लोकोक्ति है—विधि सम्पत्तिरूपी पटलसे मनुष्योंके जिन नेत्रोंको ढाँक देता है वे दारिद्रयरूपी शलाकासे अंजन आँजनेपर निर्मल हो जाते हैं—पुनः खुल जाते हैं ॥९०॥

शिल्प आदि कलाके ज्ञाताओंके मदावेशपर दुःख प्रकट करते हैं—

अमुक हस्तकलाका आविष्कार मैंने ही किया था, उसे देखकर ही दूसरोंने उसकी नकल की है। मन्दबुद्धि लोग भी मेरे अनुग्रहसे शीघ्र ही चराचर जगत्का स्वरूप दूसरोंको बतलाने लगते हैं अर्थात् लोककी स्थितिविषयक ज्ञान करानेमें मैं ही गुरु हूँ। लोक, वेद और नाना मतों के आचारोंके विषयमें मैं मनुष्योंका नेत्र हूँ, अर्थात् लोक आदिका आचार स्पष्ट रूपसे दिखलानेमें मैं ही प्रवीण हूँ। राजसभामें अवधानरूप कौतुकोंके आनन्दके द्वारा

शिल्पं—पत्रच्छेदादि करकौशलम् । मदुपक्रमं—मया प्रथमारब्धम् । अवधानानि—युगपत्पाठगीतनृत्यादिविषयावधारणानि । यल्लोके—

'व्यावृत्तं प्रकृतं वियद् विलिखितं पृष्ठार्पितं व्याकृतं
मात्राशेषममात्रमङ्कशबलं तत्सर्वतो भद्रवत् ।
यः शक्तो युगपद् ग्रहीतुमखिलं काव्ये च संचारयन्
वाचं सूक्तिसहस्रभङ्गिसुभगा गृह्णातु पत्रं स मे ॥' [ ]

महः—शिल्पादिज्ञानाख्यतेज. ॥९१॥

अथ कुलीनस्य बलमददुर्लक्षता लक्षयति—

शाकिन्या हरिमाययाभिचरितान् पार्थः किलास्थद्द्विषो,
वीरोदाहरणं वरं स न पुना रामः स्वयं कूटकृत् ।
इत्यास्थानकथाप्रसंगलहरीहेलाभिरुल्लावितो,
हृत्क्रोडाल्लयमेति दोःपरिमलः कस्यापि जिह्वाञ्चले ॥९२॥

अभिचारितान्—उपतप्तान् । आस्थत्—निराकृतवान् । द्विषः—कौरवान् । वीरोदाहरणं—अर्जुनेन सदृशा इमे वीरा इत्यस्तु । कूटकृत्—वालिवधादिप्रस्तावे कथाप्रसङ्ग. वार्ता । लयं—अलक्ष्यत्वम् । दोःपरिमलः—लक्षणया भुजवीर्यम् । कस्यापि कुलीनस्य पुंस. ॥९२॥

अथ तपोमदस्य दुर्जयत्वं व्यनक्ति—

कर्मारिक्षयकारणं तप इति ज्ञात्वा तपस्तप्यते,
कोऽप्येतर्हि यदीह तर्हि विषयाकांक्षा पुरो धावति ।
अप्येकं दिनमीदृशस्य तपसो जानीत यस्तत्पद-
द्वन्द्वं मूर्ध्नि वहेयमित्यपि वृथं मथ्नाति मोहासुरः ॥९३॥

तप्यते—अर्जयति । एतर्हि—एतस्मिन् काले । इह—अस्मिन् क्षेत्रे । ईदृशस्य—मया निरीहतया विधीयमानेन तपसा सदृशस्य । जानीत—ईदृशं तपश्चरितुं प्रवर्तेत इत्यर्थ. । 'ज्ञः स्वार्थे करणे' इति षष्ठी । वहेय—वोढव्यं मया इत्यर्थः ॥९३॥

राजाओंके मनको दूसरा कौन व्यक्ति मेरे समान आकृष्ट कर सकता है, खेद है कि इस प्रकार आज प्रायः पुरुषोंका शिल्प आदिका ज्ञानरूप तेज भी अन्धकाररूप हो रहा है ॥९१॥

आगे कहते हैं कि कुलीन पुरुष बल का मद नहीं करता—

ऐसा सुना जाता है कि शाकिनीके समान विष्णुकी मायासे मोहित हुए कौरव-शत्रुओंको अर्जुनने मारा । अतः वीरोंके उदाहरणके रूपमें अर्जुन ही श्रेष्ठ है, रामचन्द्र नहीं, क्योंकि उन्होंने बालिके वध में छलसे काम लिया था । इस प्रकार जनसमुदाय में जब कभी उठनेवाले कथाप्रसंगरूपी लहरोंसे अन्तस्तलसे ऊपर उठा वीरोंकी बाहुओंका सौरभ किसी भी कुलीनकी जिह्वाके अग्र भागमें आकर विलीन हो जाता है अर्थात् वह अपने मुखसे अपनी वीरताका गुणगान नहीं करता । और दूसरोंके मुखसे सुनकर भी उधर कान नहीं देता ॥९२॥

तप का मद दुर्जय है यह स्पष्ट करते हैं—

इस क्षेत्र और इस कालमें यदि कोई 'तप, मोह आदि शत्रुओंके विनाशका कारण है' यह जानकर भी तप करता है तो विषयोंकी चाह आगे दौड़ती है । मेरे समान निरीह होकर किये जानेवाले तपके समान तप यदि कोई एक दिन भी कर सके तो मैं उसके दोनों चरण

अथ पूजामदकर्तुर्दोषं दर्शयति—

स्वे वर्गे सकले प्रमाणमहमित्येतत्कियद्यावता,
पौरा जानपदाश्च सन्त्यपि मम श्वासेन सर्वे सदा ।
यत्र क्वाप्युत यामि तत्र सपुरस्कारां लभे सत्क्रिया-
मित्यर्चामदमूर्णनाभवदधस्तन्तुं वितन्वन् पतेत् ॥९४॥

यावता—येन कारणेन । श्वसन्ति–मदेकायत्तास्तिष्ठन्तीत्यर्थ । ऊर्णनाभवत्–कौलिको यथा । तन्तुं–लालास्वरूपम् ॥९४॥

अथैव प्रसङ्गायातैः साधर्मिकान् प्रति जात्यादिमदैः सह मिथ्यात्वाख्यमनायतनं त्याज्यतया प्रकाश्य साम्प्रतं तद्वत. सप्त त्याज्यतया प्रकाशयति—

सम्यक्त्वादिषु सिद्धिसाधनतया त्रिष्वेव सिद्धेषु ये,
रोचन्ते न तथैकशस्त्रय इमे ये च द्विशस्ते त्रयः ।
यश्च त्रीण्यपि सोऽप्यमी शुभदृशा सप्तापि मिथ्यादृश-
स्त्याज्या खण्डयितुं प्रचण्डमतयः सद्दृष्टिसम्राट्पदम् ॥९५॥

त्रिष्वेव—समुदितेषु न व्यस्तेषु । सिद्धेषु—आगमे निर्णीतेषु । तथा—सिद्धिसाधनताप्रकारेण । एकश.—एकैक कर्मतापन्नम् । तथाहि—कश्चित् सम्यक्त्वज्ञाने मोक्षमार्गं मन्यते न चारित्रम्, अन्य सम्यक्त्व-चरित्रे न ज्ञानम्, अन्यतरो ज्ञानचारित्रे न सम्यक्त्वमेवमुत्तरत्रापि चिन्त्यम् । द्विश —द्वे द्वे सिद्धिसाधनतया न रोचन्ते । मिथ्यादृश. । उक्त च—

अपने मस्तकपर धारण करूँ, इस प्रकार मोहरूपी दैत्य न केवल चारित्रको किन्तु सम्यग्दर्शन-को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। अर्थात् तपस्वी भी तप का मद करके भ्रष्ट होते है ॥९३॥

पूजाका मद करनेवालेके दोष दिखलाते है—

मैं अपने समस्त सजातीय समूहमें प्रमाण माना जाता हूँ, इतना ही नहीं, किन्तु सब नगरवासी और देशवासी सदा मेरे श्वासके साथ श्वास लेते है, उनका जीवन मेरे अधीन है, जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ वहाँ पुरस्कारपूर्वक सत्कार पाता हूँ इस प्रकारका पूजाका मद मकड़ीके समान अपना जाल फैलाता हुआ अधःपतन करता है ॥९४॥

इस प्रकार साधर्मियोंके प्रति प्रसंग प्राप्त जाति आदि आठ मदों के साथ मिथ्यात्व नामक अनायतनको त्यागने योग्य बतलाकर आगे सात प्रकारके मिथ्यादृष्टियोंको त्याज्य बतलाते है—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों ही मोक्षके कारण हैं यह आगमसे निर्णीत है। इनमें-से जो एक-एकको मोक्षका कारण नहीं मानते ऐसे तीन, जो दो-दोको मोक्षका कारण नहीं मानते ऐसे तीन और जो तीनोंको ही मोक्षका कारण नहीं मानता ऐसा एक, इस तरह सम्यग्दर्शनरूपी चक्रवर्ती पदका खण्डन करनेके लिए उसके प्रभाव और स्वरूपको दूषित करनेके लिए ये सातों ही मिथ्यादृष्टि बड़े दक्ष होते हैं। सम्यग्दृष्टिको इनसे दूर ही रहना चाहिए ॥९५॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों ही मोक्षके कारण हैं। जो इनमें-से एकको या दोको या तीनोंको ही स्वीकार नहीं करते वे मिथ्यादृष्टि हैं। इस तरह मिथ्यादृष्टिके सात भेद हो जाते हैं—सम्यग्दर्शनको न माननेवाला एक, सम्यग्ज्ञानको न माननेवाला दो, सम्यक् चारित्रको न माननेवाला तीन, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानको न

'एकैकं न त्रयो द्वे द्वे रोचन्ते न परे त्रयः।
एकस्त्रीणीति जायन्ते सप्ताप्येते कुदर्शनाः ॥' [अमि. श्रा. २।२६] ॥९५॥

अथापरैरपि मिथ्यादृष्टिभिः सह संसर्गं प्रतिषेधति—

मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोद्यार्हतीं,
वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः।
लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे,
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज ॥९६॥

मुद्रां—आचेलक्यादिलिङ्गं टंकादिनाणकाकृति च। सांव्यवहारिकीं—समीचीनप्रवृत्तिप्रयोजनाम्। अपोद्य—अपवादविषया कृत्वा 'निषिद्धय' इत्यर्थं। वामां—तद्विपरीता। केचित्—तापसादयः। अहंयवः—अहङ्कारिणः। अन्ये—द्रव्यजिनलिङ्गमलधारिण। तच्छायया—अर्हद्‌गतप्रतिरूपकेण। अपरे—द्रव्यजिनलिङ्गधारिणः। म्लेच्छन्ति—म्लेच्छा इवाचरन्ति। तकैः—कुत्सितैस्तै। त्रिधा परिचय—मनसानुमोदनं वाचा कीर्तन कायेन संसर्ग च। तदुक्तम्—

माननेवाला चार, सम्यग्दर्शन सम्यक्‌चारित्रको न माननेवाला पाँच, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको न माननेवाला छह तथा तीनोंको ही न माननेवाला सात। कहा भी है—

'जिन्हें तीनोंमें-से एक-एक नहीं रुचता ऐसे तीन, जिन्हें दो-दो नहीं रुचते ऐसे तीन और जिन्हें तीनों भी नहीं रुचते ऐसा एक, इस तरह ये सातों भी मिथ्यादृष्टि हैं।'

ये सम्यग्दर्शनके प्रभाव और स्वरूपको क्षति पहुँचानेमें तत्पर रहते हैं। अतः सम्यग्दृष्टिको इनसे दूर रहना चाहिए ॥९५॥

अन्य मिथ्यादृष्टियोंके भी साथ सम्बन्ध रखनेका निषेध करते हैं—

दिगम्बरत्वरूप जैनी मुद्रा तीनों लोकोंमें वन्दनीय है, समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहारके लिए प्रयोजनीभूत है। किन्तु इस क्षेत्रमें वर्तमान कालमें उस मुद्राको छोड़कर कुछ अहंकारी तो उससे विपरीत मुद्रा धारण करते हैं—जटा धारण करते है, शरीरमें भस्म रमाते हैं। अन्य द्रव्य जिनलिंगके धारी अपनेको मुनि माननेवाले अजितेन्द्रिय होकर उस जैन मुद्राको केवल शरीरमें धारण करके धर्मके इच्छुक लोगोंपर भूतकी तरह सवार होते हैं। अन्य द्रव्यलिंगके धारी मठाधीश भट्टारक हैं जो जिनलिंगका वेष धारण करके म्लेच्छोंके समान आचरण करते हैं। ये तीनों पुरुषके रूपमें साक्षात् मिथ्यात्व हैं। इन तीनोंका मनसे अनुमोदन मत करो, वचनसे गुणगान मत करो और शरीरसे संसर्ग मत करो। इस तरह मन-वचन-कायसे इनका परित्याग करो ॥९६॥

विशेषार्थ—इस श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने अपने समयके तीन प्रकारके मिथ्यादृष्टि साधुओंका चित्रण करके सम्यग्दृष्टिको उनसे सर्वथा दूर रहनेकी प्रेरणा की है। इनमें-से प्रथम तो अन्य मतानुयायी साधु हैं जो भस्म रमाते हैं और जटा वगैरह धारण करते हैं। किन्तु शेष दोनों जैन मतानुयायी साधु हैं जो बाहरसे दिगम्बर जैन मुनिका रूप धारण किये होते हैं—नग्न रहते हैं, केश लोंच करते हैं। किन्तु अन्तरंगमें सच्चे मुनि नहीं होते। इन दोमें-से अन्तिम मठाधीश भट्टारक होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्यने जैनों और बौद्धोंके विरुद्ध जो अभियान चलाया था और दण्डी साधुओंकी सृष्टि करके धर्मके संरक्षणके लिए भारतमें मठोंकी स्थापना की थी उसीके अनुकरणपर जैनोंमें भी साधुओंने वनवास छोड़कर मन्दिरोंमें रहना शुरू किया और मन्दिरोंके लिए दानादि स्वीकार करके धर्मकी रक्षाका

'कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः ।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ [रत्न. श्रा. १४] ॥९६॥

अथ मिथ्याज्ञानिभिः सपर्कं व्यपोहति—

विद्वानविद्याशाकिन्याः क्रूरं रोद्‌धुमुपप्लवम् ।
निरुन्ध्यादपराध्यन्तीं प्रज्ञां सर्वत्र सर्वदा ॥९७॥
कुहेतुनयदृष्टान्तगरलोद्गारदारुणैः ।
आचार्यव्यञ्जनैः सङ्गं भुजङ्गैर्जातु न व्रजेत् ॥९८॥

व्यञ्जनं—विष. । उक्तं च—

'शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिलाजीवकादिभिः ।
सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥'
अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः ।
युद्धमेव भवेद् गोष्ठ्या दण्डादण्डि कचाकचि ॥ [सोम. उपा. ८०४-८०५ श्लो.]

कार्य करने लगे वे भट्टारक कहलाये। ग्रन्थकारने लिखा है कि वे म्लेच्छोंके समान आचरण करते हैं इससे ज्ञात होता है कि उनका आचरण बहुत गिर गया था। उन्होंने एक श्लोक भी उद्‍धृत किया है—जिसमें कहा है—

'चरित्रभ्रष्ट पण्डितोंने और बनावटी तपस्वियोंने जिनचन्द्रके निर्मल शासनको मलिन कर दिया।'

सम्यग्दृष्टिको ऐसे वेषी जैन साधुओंसे भी मन-वचन-काय-से दूर रहने की प्रेरणा की है क्योंकि ऐसा न करनेसे सम्यग्दर्शनके अमूढदृष्टि नामक अंगको क्षति पहुँचती है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

दुःखोंके मार्ग-कुमार्गकी और कुमार्गमें चलनेवालोंकी मनसे सराहना न करना, कायसे संसर्ग न रखना और वचनसे प्रशंसा न करना अमूढदृष्टि अंग कहा जाता है।

दूसरे मतवालोंने भी ऐसे साधुओंसे दूर रहनेकी प्रेरणा की है—

'खोटे कर्म करनेवाले, बिलावके समान व्रत धारण करनेवाले, ठग, बगुला भगत तथा किसी हेतुसे साधु बननेवाले साधुओंका वचन मात्रसे भी आदर नहीं करना चाहिए।'

मिथ्याज्ञान नामक अनायतनको छुड़ाते हैं—

त्रिकालवर्ती विषयोंके अर्थको जाननेवाली बुद्धिको प्रज्ञा कहते हैं। उसका काम है कि वह अविद्यारूपी पिशाचिनीके क्रूर उपद्रवोंको सर्वत्र सर्वदा रोके अर्थात् ज्ञानका प्रचार करे। यदि वह ऐसा न करे और विमूढ़ हो जाये तो विद्वान्‌को उसका निवारण करना चाहिए॥९७॥

मिथ्याज्ञानियोंसे सम्पर्कका निषेध करते हैं—

खोटे हेतु नय और दृष्टान्तरूपी विषको उगलनेके कारण भयानक आचार्य वेषधारी सर्पों या दुष्टोंके साथ कभी भी नहीं रहना चाहिए अर्थात् खोटी युक्तियों, खोटे नयों और खोटे दृष्टान्तोंके द्वारा मिथ्या पक्षको सिद्ध करनेवाले गुरुओंसे भी दूर रहना चाहिए ॥९८॥

१. पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः ।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

२. पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हेतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

भूयोऽपि भङ्ग्यन्तरेणाह—

भारयित्वा पटीयांसमप्यज्ञानविषेण ये ।
विचेष्टयन्ति संवक्ष्यास्ते क्षुद्राः क्षुद्रमंत्रिवत् ॥९९॥

भारयित्वा—विकलीकृत्य । पटीयांसं—तत्त्ववेत्तारमदृष्टपूर्वं च । विचेष्टयन्ति—विरुद्धं वर्तयन्ति । संवक्ष्याः—वर्जनीयाः । क्षुद्राः—मिथ्योपदेष्टारो दुर्जनाः । क्षुद्रमन्त्रिवत्—दुष्टगारुडिका यथा ॥९९॥

अथ मिथ्याचारित्राख्यमनायतनं प्रतिक्षिपति—

रागाद्यैर्वा विषाद्यैर्वा न हन्यादात्मवत् परम् ।
ध्रुवं हि प्राग्वधेऽनन्तं दुःखं भाज्यमुदग्वधे ॥१००॥

प्राग्वधे—रागद्वेषादिभिरात्मनः परस्य च घाते । भाज्यं—विकल्पनीयम् । उदग्वधे—विषशस्त्रादिभिः स्वपरयोर्घाते । अयमभिप्रायः विषादिभिर्हन्यमानोऽपि यदि पञ्चनमस्कारमना स्यात्तदा नानन्तदुःखभाग्भवति अन्यथा भवत्येवेति ॥१००॥

पुनः प्रकारान्तरसे उसी बातको कहते हैं—

जैसे सर्पके विषको दूर करनेका ढोंग रचनेवाले दुष्ट मान्त्रिक जिसे साँपने नहीं काटा है ऐसे व्यक्तिको भी विषसे मोहित करके कुचेष्टाएँ कराते हैं, उसी तरह मिथ्या उपदेश देनेवाले दुष्ट पुरुष तत्त्वोंके जानकारको भी मिथ्याज्ञानसे विमूढ करके उनसे विरुद्ध व्यवहार कराते हैं। अतः सम्यक्त्वके आराधकोंको उनसे दूर रहना चाहिए ॥९९॥

विशेषार्थ—आचार्य सोमदेवने भी कहा है—बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी और आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंके साथ निवास, बातचीत और उनकी सेवा वगैरह नहीं करना चाहिए। तत्त्वोंसे अनजान और दुराग्रही मनुष्योंके साथ वार्तालाप करनेसे लड़ाई ही होती है जिसमें डण्डा-डण्डी और झोंटा-झोंटी तककी नौबत आ जाती है ॥९९॥

आगे मिथ्याचारित्र नामक अनायतनका निषेध करते हैं—

मिथ्याचारित्र नामक अनायतनको त्यागनेके इच्छुक सम्यग्दृष्टिको मोहोदयजन्य रागादि विकारोंसे तथा विष, शस्त्र, जल, अग्निप्रवेश आदिसे अपना और दूसरोंका घात नहीं करना चाहिए; क्योंकि रागादिसे घात करनेमें तो निश्चय ही अनन्त दुख मिलता है किन्तु विषादिसे घात करनेपर अनन्त दुःख हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता ॥१००॥

विशेषार्थ—तात्पर्य यह है कि रागादिरूप परिणतिके द्वारा अपने या दूसरोंके विशुद्ध परिणामस्वरूप साम्यभावका घात करनेवालेके भाव मिथ्याचारित्र रूप अनायतनकी सेवासे सम्यक्त्व मलिन होता है। और विषादिके द्वारा अपना या परका घात करनेवाला द्रव्य मिथ्याचारित्रका सेवी होता है। आशय यह है कि हिंसाके दो प्रकार हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। पहले प्रकारकी हिंसा भावहिंसा है और दूसरे प्रकारकी हिंसा द्रव्यहिंसा है। जैनधर्ममें भावहिंसाको ही हिंसा माना है। चाहे द्रव्यहिंसा हुई हो या न हुई हो। जहाँ भावमें हिंसा वहाँ अवश्य ही हिंसा है। किन्तु द्रव्यहिंसा होनेपर भी यदि भावमें हिंसा नहीं है तो हिंसा नहीं है। अतः रागादिरूप परिणाम होने पर आत्माके विशुद्ध परिणामोंका घात होनेसे हिंसा अवश्य है और इसलिए उसका फल अनन्त दुःख अवश्य भोगना पड़ता है। किन्तु द्रव्यहिंसामें ऐसी नियामकता नहीं है। कदाचित् विष खाकर मरनेवाला आदमी

अथ हिंसाहिंसयोर्माहात्म्यमाह—

हीनोऽपि निष्ठया निष्ठापरिष्ठः स्यादहिंसया।
हिंसया श्रेष्ठनिष्ठोऽपि श्वपचादपि हीयते ॥१०१॥

निष्ठया—व्रतादिना ॥१०१॥

अथ मिथ्याचारित्रपरैः सह सागत्यं प्रत्याख्याति—

केचित् सुखं दुःखनिवृत्तिमन्ये प्रकर्तुकामाः करणीगुरूणाम्।
कृत्वा प्रमाणं गिरमाचरन्तो हिंसामहिंसारसिकैरपास्याः ॥१०२॥

करणीगुरूणा—मिथ्याचार्याणाम् ॥१०२॥

अथ त्रिमूढापोढत्वं सम्यग्दृष्टेर्भूषणत्वेनोपदिशति—

यो देवलिङ्गिसमयेषु तमोमयेषु लोके गतानुगतिकेऽप्यपथैकपान्थे।
न द्वेष्टि रज्यति न च प्रचरद्विचारः सोऽमूढदृष्टिरिह राजति रेवतीवत् ॥१०३॥

समयः—शास्त्रम्। तमोमयेषु—अज्ञानरूपेष्वज्ञानबहुलेषु वा। अपथैकपान्थे—केवलोन्मार्गानन्यचारिणि। ननु च कथमेतद् यावता लोकदेवतापाषण्डिभेदात् त्रिधैव मूढमनुश्रूयते। तथा च स्वामिसूक्तानि—

यदि तत्काल सद्बुद्धि आ जानेसे पंचनमस्कार मन्त्रका जप करते हुए प्राण छोड़ता है तो वह अपनी गलतीका प्रतीकार तत्काल कर लेता है अतः अनन्त दुःखका भागी नहीं होता ॥१००॥

हिंसा और अहिंसाका माहात्म्य कहते हैं—

व्रतादिके अनुष्ठानरूप निष्ठासे हीन भी व्यक्ति द्रव्य और भावहिंसाके त्यागसे निष्ठाशाली होता है और उत्कृष्ट निष्ठावाला भी व्यक्ति हिंसा करनेसे चाण्डालसे भी नीच होता है ॥१०१॥

मिथ्याचारित्रका पालन करनेवालोंके साथ संगति करनेका निषेध करते हैं—

कुछ लोग स्वयं अपनेको और अपने सम्बन्धियोंको खूब सुखी करनेकी इच्छासे और कुछ दुःख दूर करनेकी इच्छासे मिथ्या आचार्योंकी वाणीको प्रमाण मानकर हिंसा करते हैं। अहिंसाप्रेमियोंको उनसे दूर ही रहना चाहिए ॥१०२॥

आगे कहते हैं कि तीन मूढ़ताओंका त्याग सम्यग्दृष्टिका भूषण है—

जो विचारशील पुरुष अज्ञानमय या अज्ञानबहुल देव, गुरु, शास्त्रमें तथा केवल कुमार्गमें नित्य गमन करनेवाले गतानुगतिक लोगोंमें न द्वेष करता है और न राग करता है वह अमूढदृष्टि इस लोकमें रानी रेवतीकी तरह सम्यक्त्वके आराधकके रूपमें शोभित होता है ॥१०३॥

विशेषार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमके द्वारा जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसको उसी रूपमें व्यवस्थित करनेमें हेतु तर्क वितर्कको विचार कहते हैं। तथा देश काल और समस्त पुरुषोंकी अपेक्षा बाधकाभावरूपसे विचारका प्रवर्तन करनेवालेको विचारशील कहते हैं। बिना विचारे काम करनेवालोंका देखादेखी अनुसरण करनेवालोंको गतानुगतिक कहते हैं। ऐसे लोगोंमें और कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रमें जो न राग करता है और न द्वेष करता है अर्थात् उनकी उपेक्षा करता है वह अमूढदृष्टि है। यहाँ यह शंका होती है कि मूढताके तो तीन ही भेद हैं लोकमूढता, देवमूढता और पाषण्डिमूढता। स्वामी समन्तभद्रने कहा है—

'आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥'
'वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥'
'सग्रन्थारम्भहिंसाना संसारावर्तवर्तिनाम् ।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥' [रत्न श्रा. २२-२४]

नैष दोषः, कुदेवे कुलिङ्गिनि वा कदागमस्यान्तर्भावात् । कथमन्यथेदं स्वामिसूक्तमुपपद्येत—

'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥' [रत्न श्रा. ३०]

एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—

'लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥' [पुरुषार्थ. २६]

विचार.—प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुः क्षोद. । अमूढदृष्टिः—अमूढा षडनायतनत्यागादनभिभूता दृष्टि. सम्यक्त्व यस्य । एतेन षडायतनवर्जनद्वारेणामूढदृष्टित्वगुणोऽपि पञ्चम. स्मृतिप्रसिद्ध संगृहीत । सिद्धान्ते तु चत्वार एव दृग्विशुद्धिवृद्धयर्था गुणा· श्रूयन्ते । तथा चाराधनाशास्त्र—

'उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा गुणा भणिया ।
सम्मत्तविसुद्धीए उवगूहणगारया चउरो ॥' [भ. आरा ४५]

'कल्याणका साधन मानकर नदी या समुद्रमें स्नान करना, बालू और पत्थरोंका स्तूप बनाना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें प्रवेश करना लोकमूढता है ॥ इस लोक सम्बन्धी फलकी आशा रखनेवाला मनुष्य इच्छित फल प्राप्त करनेकी इच्छासे जो राग-द्वेषसे मलिन देवताओंकी उपासना करता है उसे देवमूढ़ता कहते हैं ॥ परिग्रह और आरम्भ सहित तथा संसारमें भटकानेवाले पाषण्डियोंका—साधुओंका आदर-सत्कार पाषण्डिमूढ़ता है' ॥

इस तरह तीन ही मूढ़ता है किन्तु यहाँ चार मूढ़ताएँ बतायी है । किन्तु यह कोई दोष नहीं है क्योंकि कुदेव और कुगुरुमें कुशास्त्रका अन्तर्भाव होता है । यदि ऐसा न होता तो स्वामी समन्तभद्र ऐसा क्यों कहते कि,

'निर्मल सम्यग्दृष्टियोंको भय, आशा, स्नेह और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंको प्रणाम और विनय भी नहीं करना चाहिए ।'

स्वामीके उक्त कथनका अनुसरण करके अमृतचन्द्रजीने भी कहा है—

'लोकमें, शास्त्राभासमें, धर्माभासमें और देवाभासमें तत्त्वोंमें रुचि रखनेवाले सम्यग्दृष्टिको सदा अमूढदृष्टि होना चाहिए ।'

अमूढा अर्थात् छह अनायतनोंके त्यागसे अनभिभूत है दृष्टि-सम्यक्त्व जिसका उसे अमूढदृष्टि कहते हैं । इससे छह अनायतनोंके त्यागके द्वारा पाँचवाँ अमूढदृष्टि अंग भी संगृहीत होता है । सिद्धान्तमें तो सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले चार ही गुण सुने जाते हैं । आराधना शास्त्रमें कहा है—

'उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको बढ़ानेवाले हैं ।'

एतद् विपर्ययाश्चान्ये अनुपगूहनादयश्चत्वारो दर्शनदोषाः संभवन्ति। अत एव विस्तररुचीन् प्रति पञ्चविंशतिसम्यक्त्वदोषान् व्याचक्षते। तथा चोक्तं—

'मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयश्चेति, दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः॥' [सोम. उपा., २४१ श्लो.] ॥१०३॥

अथानुपगूहनादिकारिण सम्यक्त्ववैरिण इत्याचष्टे—

यो दोषमुद्भावयति स्वयूथ्ये यः प्रत्यवस्थापयतीमनित्ये।
न योऽनुगृह्णाति न दीनमेनं मार्गं च यः प्लोषति दृग्द्विषस्ते ॥१०४॥

दोषं—सन्तमसन्तं वा सम्यक्त्वव्यभिचारम्। स्वयूथ्ये—सधर्मणि। प्रत्यवस्थापयति इमं स्वयूथ्यं दर्शनादेः प्रत्यवस्यन्तम्। दीनं—प्रक्षीणपुरुषार्थसाधनसामर्थ्यम्। प्लोषति—दहति माहात्म्याद् भ्रंशयति, नि प्रभावतया लोके प्रकाशयतीत्यर्थ.। ते अनुपगूहनास्थितीकरणावात्सल्याप्रभावनाकर्तारश्चत्वार. क्रमेणोक्ताः ॥१०४॥

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारके निर्जराधिकारमें, आचार्य समन्तभद्रने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका विवेचन किया है। पूज्यपाद अकलंक आदिने भी तत्त्वार्थसूत्र ६—२४ की व्याख्यामें सम्यग्दर्शनके आठ अंग गिनाये हैं। किन्तु भगवती आराधनामें सम्यक्त्वके वर्धक चार ही गुण कहे हैं। श्वेताम्बर परम्परामें भी हमें आठ अंगोंका उल्लेख नहीं मिला। रत्नकरण्डमें सम्यग्दर्शनको तीन मूढतारहित, आठ मदरहित और आठ अंगसहित कहा है। उत्तर कालमें इनमें छह अनायतनोंके मिल जानेसे सम्यग्दर्शनके पचीस दोष माने गये। उपासकाध्ययनमें कहा है—

'तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि आठ ये सम्यग्दर्शनके पचीस दोष हैं।'

भगवती आराधनामें ही सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचारोंमें अनायतन सेवा नामक अतीचार गिनाया है। अनायतनकी परम्पराका उद्गम यहींसे प्रतीत होता है। उसकी टीकामें अपराजित सूरिने अनायतनके छह भेद करते हुए प्रथम भेद मिथ्यात्वके सेवनको अतीचार नहीं, अनाचार कहा है अर्थात् वह मिथ्यादृष्टि ही है। श्वेताम्बर साहित्यमें अनायतन शब्द तो आया है किन्तु छह अनायतन हमारे देखनेमें नहीं आये ॥१०३॥

आगे कहते हैं कि उपगूहन आदि नहीं करनेवाले सम्यक्त्वके वैरी हैं—

जो साधर्मीमें विद्यमान या अविद्यमान दोषको—जिससे सम्यक्त्व आदिमें अतीचार लगता है, प्रकाशित करता है, जो सम्यग्दर्शन आदिसे चिगते हुए साधर्मीको पुनः उसी मार्गमें स्थापित नहीं करता, जो पुरुषार्थके साधनकी सामर्थ्यसे हीन साधर्मीको साधन सम्पन्न नहीं करता, तथा जो अभ्युदय और मोक्षकी प्राप्तिके उपायरूप मार्गको उसकी महत्तासे भ्रष्ट करता है—लोकमें उसे प्रभावशून्य बतलाता है, ये क्रमशः उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना गुणोंका पालन न करनेवाले चारों सम्यक्त्वके विराधक हैं ॥१०४॥

विशेषार्थ—इन चारों गुणोंका स्वरूप समयसारमें तो स्वपरक कहा है और रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें परपरक कहा है। प्रथम कथन निश्चयसे है और दूसरा कथन व्यवहारसे है। जो सिद्ध भक्तिसे युक्त है और सब मिथ्यात्व राग आदि विभाव धर्मोंको ढाँकनेवाला—दूर करनेवाला है वह सम्यग्दृष्टि उपगूहन अंगका पालक है। जो उन्मार्गमें जाते हुए अपने

इति दोषोज्झनम् ।

इतो गुणापादनमुच्यते । तत्र तावदुपगूहनगुणमन्तर्बहिर्वृत्तिरूपेण द्विविधमप्यवश्यकर्तव्यतयोपदिशति—

धर्मं स्वबन्धुमभिभूष्णुकषायरक्षः क्षेप्तुं क्षमादिपरमास्त्रपरः सदा स्यात् ।
धर्मोपबृंहणधियाऽबलबालिशात्मयूथ्यात्ययं स्थगयितुं च जिनेन्द्रभक्तः ॥१०५॥

अभिभूष्णु—ताच्छील्येन व्याहतशक्तिकं कुर्वन् । कषायरक्षः—क्रोधादिराक्षसमिव घोरदुर्निवारत्वात् । जिनेन्द्रभक्तः—संज्ञेयम् । उक्तं च—

'धर्मो विवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥' [पुरुषार्थ २७] ॥१०५॥

आत्माको सन्मार्गमें स्थित करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण अंगका पालक है। जो मोक्षमार्गके साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको अपनेसे अभिन्न रूपसे अनुभव करता है वह वात्सल्य अंगका धारक है। जो विद्यारूपी रथपर चढ़कर मनरूपी रथके मार्गमें भ्रमण करता है वह सम्यग्दृष्टि प्रभावना अंगका पालक है (समय. गा. २३३-३६)। स्वयं शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गमें बाल और अशक्त जनोंके द्वारा होनेवाली निन्दाको जो दूर करता है उसे उपगूहन कहते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे डिगते हुओंको धर्मप्रेमी पण्डितजनके द्वारा अपने धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण है। साधर्मियोंके प्रति समीचीन भावसे छल-कपटरहित यथायोग्य आदर भाव वात्सल्य है। अज्ञानान्धकारके फैलावको जैसे भी बने वैसे दूर करके जिनशासनके माहात्म्यको प्रकट करना प्रभावना है [रत्न. श्लो. १५-१८] ॥१०४॥

यहाँ तक सम्यग्दर्शनके दोषोंको त्यागनेका कथन किया। आगे गुणोंको उत्पन्न करनेका कथन करते हैं। उनमें से प्रथम अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति रूपसे दोनों प्रकारके उपगूहन गुणको अनिवार्यतः पालन करनेका उपदेश देते हैं—

धर्मको बढ़ानेकी भावनासे मुमुक्षुको अपने बन्धुके समान सम्यक्त्वरूप अथवा रत्नत्रयरूप धर्मकी शक्तिको कुण्ठित करनेवाले कषायरूप राक्षसोंका निग्रह करनेके लिए सदा उत्तम क्षमा आदि दिव्य आयुधोंसे सुसज्जित होना चाहिए। और अपने अशक्त तथा अज्ञानी साधर्मी जनोंके दोषोंको ढाँकनेके लिए जिनेन्द्रभक्त नामक सेठकी तरह चेष्टा करना चाहिए ॥१०५॥

विशेषार्थ—इस लोक और परलोकमें बन्धुके समान उपकारी होनेसे धर्म अपना बन्धु है और क्रोधादिरूप कषाय भयानक तथा दुर्निवार होनेसे राक्षसके समान है। यह कषाय धर्मकी शक्तिको कुण्ठित करती है। कषायके रहते हुए सम्यक्त्वरूप या रत्नत्रयरूप धर्म प्रकट होना कठिन होता है। प्रकट भी हो जाये तो उसकी अभ्युन्नति कठिन होती है। अतः कषायोंके विरोधी उत्तम क्षमा आदि भावनासे कषायरूपी राक्षसका दलन करनेके लिए तत्पर रहना चाहिए। उसके बिना आत्मधर्मका पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। यह उपबृंहण गुण जो अन्तर्वृत्तिरूप है उसीकी बाह्य वृत्तिका नाम उपगूहन है अर्थात् एक ही गुणको दो नाम दो दृष्टियोंसे दिये गये हैं। अज्ञानी और असमर्थ साधर्मी जनोंके द्वारा होनेवाले अपवादको ढाँककर धर्मको निन्दासे बचाना उपगूहन है। इस उपगूहनसे धर्मका उपबृंहण—वृद्धि होती है क्योंकि धर्मकी निन्दा होनेसे धर्मके प्रसारको हानि पहुँचती है।

अथ स्वपरयोः स्थितिकरणाचरणमाह—

दैवप्रमादवशतः सुपथश्चलन्तं
स्वं धारयेल्लघु विवेकसुहृद्बलेन ।
तत्प्रच्युतं परमपि दृढयन् बहुस्वं,
स्याद्वारिषेणवदलं महतां महार्हः ॥१०६॥

सुपथः—व्यस्तात् समस्ताद्वा रत्नत्रयात् । धारयेत्—स्थिरीकुर्यात् । तत्प्रच्युतं—सन्मार्गप्रच्यवनोन्मुखम् । दृढयन्—स्थिरीकुर्वन् । बहुस्वं—आत्मानमिव । ईषदसिद्धः स्व इति विगृह्य 'वा सुपो बहु प्राक्' इत्यनेन बहुप्रत्ययः पूर्वो विधीयते । महार्हः—पूज्यः ।

उक्तं च—'कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्याय्यात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥' [पुरुषार्थ. २७] ॥१०६॥

अथाऽन्तर्बहिर्वात्सल्यकरणे प्रयुङ्क्ते—

धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्णं
दृष्टिं क्षिपेन्न मनसापि सहेत् क्षतिं च ।
धर्मे सधर्मसु सुधीः कुशलाय बद्ध-
प्रेमानुबन्धमथ विष्णुवदुत्सहेत ॥१०७॥

दृष्टिं—अन्तर्मतिं चक्षुश्च । क्षिपेत्—व्यापारयेत् । विष्णुवत्—विष्णुकुमारो यथा । उक्तं च—
'अनवरतमहिंसाया शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मसु परमं वात्सल्यमवलम्ब्यम् ॥' [पुरुषार्थ २९] ॥१०७॥

इस अंगका पालन करनेवालोंमें जिनेन्द्र भक्त सेठ प्रसिद्ध हुआ है। उसने एक क्षुल्लक भेपधारी चोरके अपने चैत्यालयसे मणि चुरा लेनेपर भी धर्मकी निन्दाके भयसे उसका उपगूहन किया था ॥१०५॥

अपना और दूसरोंका स्थितिकरण करनेकी प्रेरणा करते हैं—

बलवान् दैव—पूर्वकृत कर्म और प्रमादके वशसे सम्पूर्ण रत्नत्रयरूप या उसके एक देशरूप सुमार्गसे गिरनेके अभिमुख अपनेको युक्तायुक्त विचाररूप मित्रकी सहायतासे शीघ्र ही सन्मार्गमें स्थिर करना चाहिए। सन्मार्गसे गिरनेके अभिमुख दूसरे साधर्मीको भी अपनी ही तरह सन्मार्गमे स्थिर करनेवाला श्रेणिक-पुत्र वारिषेणकी तरह इन्द्रादिके द्वारा महान् पूज्य होता है ॥१०६॥

अन्तरंग और बाह्य वात्सल्यके करनेकी प्रेरणा करते हैं—

जैसे तत्कालकी ब्याही हुई गाय अपने बच्चेपर अनुरागवश निरन्तर दृष्टि रखती है, उसे आँखोंसे ओझल नहीं होने देती, और उसकी हानि नहीं सह सकती, उसी तरह मुमुक्षुको भी धर्ममें अपनी दृष्टि रखनी चाहिए। तथा मनसे भी की गयी धर्मकी क्षतिको नहीं सहना चाहिए। और साधर्मी जनोंके कल्याणके लिए विष्णुकुमार मुनि की तरह स्नेहके अनुबन्धको लिये हुए प्रयत्न करना चाहिए ॥१०७॥

विशेषार्थ—वात्सल्य अंगका पालन करनेवालोंमें मुनि विष्णुकुमार प्रसिद्ध हुए हैं। उन्होंने बलिके द्वारा अकम्पनाचार्य सहित सात सौ मुनियों पर किये गये उपसर्गको अपनी विक्रिया दृष्टिके द्वारा दूर करके वात्सल्य अंगका पालन किया था ॥१०७॥

अथान्तरङ्गबहिरङ्गप्रभावनाभावनामाह—

रत्नत्रयं परमधाम सदानुबध्नन्
स्वस्य प्रभावमभितोऽद्भुतमारभेत ।
विद्यातपोयजनदानमुखावदानै-
र्वज्रादिवज्जिनमतश्रियमुद्धरेच्च ॥१०८॥

अवदानं—अद्भुतकर्म । वज्रादिवत्—वज्रकुमारादयो यथा । जिनमतश्रियं—जिनशासन-माहात्म्यम् । उद्धरेत्—प्रकाशयेत् । उक्तं च—

'आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
ज्ञानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥' [पुरुषार्थ. ३०] ॥१०८॥

अथ प्रकारान्तरेण गुणापादनमाह—

देवादिष्वनुरागिता भववपुर्भोगेषु नीरागता
दुर्वृत्तेऽनुशयः स्वदुष्कृतकथा सूरेः क्रुधाद्यस्थितिः ।
पूजार्हत्प्रभृतेः सधर्मविपदुच्छेदः क्षुधार्दितेः-
ष्वङ्गिष्वार्द्रमनस्कताऽष्ट चिनुयुः संवेगपूर्वा दृशम् ॥१०९॥

देवादिषु—देवे गुरौ संघे धर्मे फलदर्शने च । नीरागता—वैराग्यम् । अनुशयः—पश्चात्ताप. । क्रुधाद्यस्थिति'—क्रोधादेरस्थिरत्व, अनन्तानुबन्धिनामभाव इत्यर्थ. । चिनुयुः—वर्द्धयेयु । संवेगपूर्वा. । ते यथाक्रम यथा—

अन्तरंग और बाह्य प्रभावनाको कहते हैं—

प्रकृष्ट तेजस्वी रत्नत्रयका सदा अनुवर्तन करते हुए अपने प्रभावको सर्वत्र आश्चर्य-जनक रूपसे फैलाना चाहिए । तथा वज्रकुमारकी तरह विद्या, मन्त्र, तप, जिनपूजा, दान प्रमुख अद्भुत कार्योंके द्वारा जिनशासनके माहात्म्यका प्रकाश करना चाहिए ॥१०८॥

विशेषार्थ—जो साधन करनेसे सिद्ध होती है वह विद्या है, जैसे आकाशगामिनी विद्या । जो पाठ मात्रसे सिद्ध हो उसे मन्त्र कहते हैं । इच्छाको रोकना तप है । इस प्रकारके अद्भुत कार्यों द्वारा जैनशासनका माहात्म्य लोकमें प्रकट करना बाह्य प्रभावनांग है । इसमें वज्रकुमार प्रसिद्ध हुए हैं । उन्होंने अष्टाह्निका पर्वमें जैन रथयात्राकी रोकको हटवाकर धर्मका प्रभाव फैलाया था ॥१०८॥

अन्य उपायोंसे भी गुण प्राप्त करनेकी प्रेरणा करते हैं—

देव, गुरु, संघ, धर्म और धर्मके फलमें ख्याति आदिकी अपेक्षा न करके किये जाने-वाले अनुरागको संवेग कहते हैं । संसार, शरीर और स्त्री आदि भोगोंमें राग न करना—उनसे विरक्त होना वैराग्य है । दुष्ट कार्य हो जानेपर उसका पश्चात्ताप होना निन्दा है । आचार्यके सम्मुख अपने बुरे कार्यको प्रकट करना गर्हा है । क्रोध आदि कषायोंकी अस्थि-रताको उपशम कहते हैं । जिनदेव, सिद्ध आदि पूज्य वर्गकी पूजा करना भक्ति है । साधर्मियों पर आयी आपत्तियोंको दूर करना वात्सल्य है । भूख आदिसे पीड़ित प्राणियोंको देखकर हृदयका दयासे द्रवित होना अनुकम्पा है । इस प्रकार ये संवेग आदि आठ गुण सम्यक्त्वको बढ़ाते हैं ॥१०९॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका विवेचन करके अन्य गुणोंका कथन यहाँ किया है—

'संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा गुणा हु सम्मत्तजुत्तस्स ॥' [भाव सं. २६३–वसुनन्दि. ४९] ॥१०९॥

इति गुणापादनम् ।

अथ विनयापादनमुच्यते—

धर्मार्हदादितच्चैत्यश्रुतभक्त्यादिकं भजेत् ।
दृग्विशुद्धिविवृद्ध्यर्थं गुणवद्विनयं दृशः ॥११०॥

वसुनन्दि श्रावकाचारमें कहा है—

'संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा ये सम्यग्दृष्टिके गुण हैं ।' इन्हींका स्वरूप ऊपर कहा है' ॥१०९॥

विनय गुणको प्राप्त करनेका उपदेश देते हैं—

जैसे सम्यग्दर्शनकी निर्मलताको बढ़ानेके लिए उपगूहन आदि गुणोंका पालन किया जाता है वैसे ही धर्म, अर्हन्त आदि, उनके प्रतिबिम्ब और श्रुतकी भक्ति आदिरूप सम्यग्दर्शन की विनयका भी पालन करना चाहिए ॥११०॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना (गा. ४६-४७) में जो कहा है उसका विस्तृत व्याख्यान अपराजिताचार्य रचित मूलाराधना टीका तथा प. आशाधर रचित मूलाराधना दर्पणसे यहाँ दिया जाता है—अरि अर्थात् मोहनीय कर्मका नाश करनेसे, ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मका नाश करनेसे, अन्तराय कर्मका अभाव होनेसे और अतिशय पूजाके योग्य होनेसे 'अर्हत्' नामको प्राप्त नोआगम भावरूप अर्हन्तोंका यहाँ ग्रहण है। जो नाममात्रसे अर्हन्त है उनका ग्रहण यहाँ नहीं है, क्योंकि उनमें 'अरिहनन' आदि निमित्तोंके अभावमें भी बलात् अर्हन्त नाम रख दिया जाता है। अर्हन्तोंके प्रतिबिम्ब भी 'यह यह हैं' इस प्रकारके सम्बन्धसे अर्हन्त कहे जाते हैं। यद्यपि वे अतिशय पूजाके योग्य हैं तथापि बिम्बोंमें 'अरिहनन' आदि गुण नहीं हैं इसलिए उनका भी यहाँ ग्रहण नहीं है। अर्हन्तके स्वरूपका कथन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाता है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है, अन्य कार्यमें लगा है उसे आगम द्रव्य अर्हन्त कहते हैं। उस शास्त्रके ज्ञाताके त्रिकालवर्ती शरीरको ज्ञायक शरीर अर्हन्त कहते हैं। जिस आत्मामें अरिहनन आदि गुण भविष्यमे होंगे उसे भावि अर्हन्त कहते हैं। तीर्थंकर नामकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य अर्हन्त है। अर्हन्तके स्वरूपका कथन करनेवाले शास्त्रका ज्ञान और अर्हन्तके स्वरूपका ज्ञान आगमभाव अर्हन्त है। इन सभीमें अरिहनन आदि गुणोंका अभाव होनेसे उनका यहाँ अर्हत् शब्दसे ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार जिसने सम्पूर्ण आत्मस्वरूप-को नहीं प्राप्त किया है उसमें व्यवहृत सिद्ध शब्द नामसिद्ध है। अथवा निमित्त निरपेक्ष सिद्ध संज्ञा नामसिद्ध है। सिद्धोंके प्रतिबिम्ब स्थापना सिद्ध हैं। शंका—सशरीर आत्माका प्रतिबिम्ब तो उचित है, शुद्धात्मा सिद्ध तो शरीरसे रहित हैं उनका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है? समाधान—पूर्वभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे जो सयोग केवली या इतर शरीरानुगत आत्मा है उसे शरीरसे पृथक् नहीं कर सकते। क्योंकि शरीरसे उसका विभाग करनेपर संसारीपना नहीं रहेगा। अशरीर भी हो और संसारी भी हो यह तो परस्पर विरुद्ध बात है। इसलिए शरीरके आकाररूप चेतन आत्मा भी आकारवाला ही है क्योंकि वह आकारवान्से अभिन्न है जैसे शरीरमें स्थित आत्मा। वही सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न है इसलिए सिद्धोंकी स्थापना सम्भव है। जो सिद्ध विषयक शास्त्रका ज्ञाता उसमें उपयुक्त नहीं है और

भक्त्यादिकं—भक्तिं पूजां वर्णजननमवर्णवादनाशनमत्यासादनपरिहारं च । उक्तं च—
'अरहंतसिद्धचेदियसुदे य धम्मे य साहुवग्गे य ।
आयरियउवज्झायसु पवयणे दंसणे चावि ॥' ३

उसे सिद्ध शब्दसे कहा जाता है तो वह आगम द्रव्यसिद्ध है। सिद्धविषयक शास्त्रके ज्ञाताका शरीर ज्ञायकशरीर है। जो भविष्यमें सिद्ध होगा वह भाविसिद्ध है। तद्व्यतिरिक्त सिद्ध सम्भव नहीं है क्योंकि सिद्धपर्यायका कारण कर्म नहीं है, समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेपर सिद्धपर्याय प्राप्त होती है। पुद्गल द्रव्य सिद्धपर्यायका उपकारक नहीं है इसलिए नोकर्म सिद्ध भी नहीं है। सिद्धविषयक शास्त्रका ज्ञाता जो उसीमें उपयुक्त है वह आगम भावसिद्ध है। जिसके भावकर्म और द्रव्यकर्मरूपी कलंक नष्ट हो गये हैं तथा जिसने सब क्षायिक भावोंको प्राप्त कर लिया है वह नोआगम भावसिद्ध है। उसीका यहाँ ग्रहण है, शेषका नहीं क्योंकि उन्होंने पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं किया है। 'चेदिय' शब्दसे अर्हन्त और सिद्धोंके प्रतिबिम्ब ग्रहण किये हैं अथवा साधु आदिकी स्थापनाका भी ग्रहण किया जाता है। श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाला श्रद्धानपूर्वक ज्ञान श्रुत है। बारह अंग, चौदह पूर्व और अंगबाह्य ये उसके भेद हैं। अथवा तीर्थंकर और श्रुतकेवली आदिके द्वारा रचित वचनसमूह और लिपिरूप अक्षरसमूह भी श्रुत हैं। धर्म शब्दसे समीचीन चारित्र कहा जाता है। वह चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अनुगत होना चाहिए। उसके सामायिक आदि पाँच भेद हैं। जो दुर्गतिमें पड़े जीवको शुभ स्थानमें धरता है वह धर्म है। अथवा उत्तम-क्षमा आदि रूप दस धर्म हैं। जो रत्नत्रयका साधन करते हैं वे साधु हैं उनका वर्ग अर्थात् समूह। वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानरूपसे परिणतिको ज्ञानाचार कहते हैं। तत्त्वश्रद्धानरूप परिणामको दर्शनाचार कहते हैं। पापक्रियासे निवृत्तिरूप परिणतिको चारित्राचार कहते हैं। अनशन आदि तप करनेको तप आचार कहते हैं। ज्ञानादिमें अपनी शक्तिको न छिपाने रूप वृत्तिको वीर्याचार कहते हैं। इन पाँच आचारोंको जो स्वयं पालते हैं और दूसरोंसे पालन कराते है वे आचार्य हैं। जो रत्नत्रयमें संलग्न हैं और जिनागमके अर्थका सम्यक् उपदेश देते हैं वे उपाध्याय हैं। जिनके पास विनय पूर्वक जाकर श्रुतका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय है। 'पवयण' से प्रवचन लेना। शंका—पहले श्रुत शब्द आया है और श्रुतका अर्थ भी प्रवचन है, अतः पुनरुक्त दोष आता है। समाधान—यहाँ प्रवचन शब्दसे रत्नत्रय लेना चाहिए। कहा है—'ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्रवचन है।' अथवा पहले श्रुतसे श्रुतज्ञान लिया है और यहाँ जीवादि पदार्थ लिये है अर्थात् शब्दश्रुत प्रवचन है। दर्शनसे सम्यग्दर्शन लिया है। अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुरागको भक्ति कहते है। पूजाके दो प्रकार है—द्रव्यपूजा और भावपूजा। अर्हन्त आदिका उद्देश करके गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षत आदिका दान द्रव्यपूजा है। आदरपूर्वक खड़े होना, प्रदक्षिणा देना, नमस्कार आदि करना, वचनसे गुणोंका स्तवन करना भी द्रव्यपूजा है। और मनसे गुणोंका स्मरण करना भावपूजा है। वर्ण शब्दके अनेक अर्थ हैं। यहाँ उनमें-से यश अर्थ लेना चाहिए। विद्वानोंकी परिषद्में अर्हन्त आदिका यश फैलाना, उनके वचनोंको प्रत्यक्ष अनुमान आदिके अविरुद्ध बतलाकर महत्ताका ख्यापन करना भगवान्‌का 'वर्णजनन' है। निर्वाणको चैतन्य मात्रमें अवस्थिति माननेपर अपर्व अतिशयोंकी प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि बिना प्रयत्नके ही सभी आत्माओंमें चैतन्य

'भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स ।
आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण॥' [भग. आ. ४६-४७]॥ ११०

सदा वर्तमान रहता है । विशेष रूपसे रहित चैतन्य आकाशके फूलकी तरह असत् है । प्रकृति तो अचेतन है उसके लिए मुक्ति अनुपयोगी है । प्रकृतिके बँधने या छूटनेसे आत्माका क्या ? इस प्रकार सांख्य मतमें सिद्धपना सम्भव नहीं है। नैयायिक वैशेषिक सिद्ध अवस्थामें बुद्धि आदि विशेष गुणोंका अभाव मानते हैं। कौन समझदार आत्माको जड बनाना पसन्द करेगा। तथा विशेष गुणोंसे शून्य आत्माकी सत्ता कैसे सम्भव है ? जो बुद्धि आदि विशेष गुणोंसे रहित है वह तो आत्मा ही नहीं है जैसे भस्म। इस प्रकार अन्य मतोंमें कथित सिद्धोंका स्वरूप नहीं बनता। अतः बाधा करनेवाले समस्त कर्मलेपके विनाशसे उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्यमें स्थित और अनन्त ज्ञानात्मक सुखसे सन्तुष्ट सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सिद्धोंके माहात्म्यका कथन सिद्धोंका वर्णजनन है। जैसे वीतरागी, वीतद्वेषी, त्रिलोकके चूडामणि भव्य जीवोंके शुभोपयोगमें कारण होते हैं। उसी प्रकार उनके बिम्ब भी होते हैं। बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे ही शुभ और अशुभ परिणाम होते हैं। जैसे आत्मामें इष्ट और अनिष्ट विषयोंके सान्निध्यसे राग-द्वेष होते हैं, अपने पुत्रके समान व्यक्तिका दर्शन पुत्रके स्मरणका आलम्बन होता है। इसी तरह प्रतिबिम्बको देखकर अर्हन्त आदिके गुणोंका स्मरण होता है। वह स्मरण नवीन अशुभ कर्मोंका आस्रव रोकनेमें, नवीन शुभकर्मोंके बन्धमें, बँधी हुई शुभ प्रकृतियोंके अनुभागको बढ़ानेमें और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागको घटानेमें समर्थ है। इसलिए जिनबिम्बोंकी उपासना करना चाहिए। इस प्रकार बिम्बकी महत्ताका प्रकाशन बिम्बका वर्णजनन है। श्रुत केवलज्ञानकी तरह समस्त जीवादि द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप प्रकाशन करनेमें समर्थ है। कर्मरूपी तापका निर्मूलन करनेमें तत्पर शुभध्यानरूपी चन्दनके लिए मलयगिरिके समान है, स्व और परका उद्धार करनेमें लीन विद्वानोंके द्वारा मनसे आराधनीय है, अशुभ आस्रवको रोकता है, अप्रमत्तता लाता है, सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष ज्ञानका बीज है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानमें प्रवृत्त कराता है, ऐसा कहना श्रुतका वर्णजनन है। जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट धर्म दुःखसे रक्षा करनेमें, सुख देनेमें तथा मोक्षको प्राप्त करानेमें समर्थ है। इस प्रकार धर्मके माहात्म्यको कहना धर्मका वर्णजनन है। साधु अनित्य भावनामें लीन होनेसे शरीर आदिकी ओर ध्यान नहीं देते, जिनप्रणीत धर्मको ही दुःखोंसे रक्षा करनेमें समर्थ जानकर उसीकी शरण लेते हैं, कर्मोंको ग्रहण करने, उसका फल भोगने और उनको जड़मूलसे नष्ट करनेवाले हम अकेले ही हैं ऐसा उनका दृढ़ निश्चय होता है, न वे सुखसे राग करते हैं और न दुःखसे द्वेष, भूख-प्यासकी बाधा होनेपर भी परिणामोंको संक्लिष्ट नहीं करते, ज्ञान ध्यानमें तत्पर रहते हैं इस प्रकार साधुके माहात्म्यका प्रकाशन साधुका वर्णजनन है। इसी प्रकार आचार्य और उपाध्यायके माहात्म्यका प्रकाशन उनका वर्णजनन है। रत्नत्रयके लाभसे भव्य जीवराशि अनन्त कालसे मुक्ति लाभ करती आती है इत्यादि कथन मार्गका वर्णजनन है। समीचीन दृष्टि मिथ्यात्वको हटाकर ज्ञानको निर्मल करती है, अशुभ गतिमें जानेसे रोकती है इत्यादि कथन सम्यग्दृष्टिका वर्णजनन है। झूठा दोष लगानेको अवर्णवाद कहते हैं। अर्हन्त सिद्ध आदिमें मिथ्यावादियोंके द्वारा लगाये गये दोषोंका प्रतिवाद करके उन्हें दूर करना चाहिए। आसादना अवज्ञाको कहते हैं। उसे नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अर्हन्त आदिमें भक्ति आदि करना सम्यक्त्वकी विनय है ॥११०॥

अथ प्रकारान्तरेण सम्यक्त्वविनयमाह—

धन्योऽस्मीयमवापि येन जिनवागप्राप्तपूर्वा मया,
भो विष्वग्जगदेकसारमियमेवात्स्वे नखक्रोटिकाम् ।
यच्छाम्युत्सुकमुत्सहाम्यहमिहैवाद्योति कृत्स्नं युवन्,
श्रद्धाप्रत्ययरोचनैः प्रवचनं स्पृष्टया च दृष्टि भजेत् ॥१११॥

उत्सुकं—सोत्कण्ठम् । युवन्—मिश्रयन् योजयन्नित्यर्थः । स्पृष्टया—स्पर्शनेन । उक्तं च—

'सद्दहया पत्तियआ रोचयफासंतया पवयणस्स ।
सयलस्स जे णरा ते सम्मत्ताराहया होंति ॥' [भा. आ. ७] ॥१११॥

अथाष्टाङ्गपुष्टस्य संवेगादिविशिष्टस्य च सम्यक्त्वस्य फलं दृष्टान्ताक्षेपमुखेन स्फुटयति—

पुष्टं निःशङ्कितत्वाद्यैरङ्गैरष्टाभिरुत्कटम् ।
संवेगादिगुणैः कामान् सम्यक्त्वं दोग्धि राज्यवत् ॥११२॥

निःशङ्कितत्वाद्यैः—निःशङ्कितत्व-निष्कांक्षितत्व-निर्विचिकित्सत्व - अमूढदृष्टित्वोपगूहन-स्थितीकरण-वात्सल्य-प्रभावनाख्यैः अङ्गैः माहात्म्यसाधनैः अष्टाभिः । राज्यं तु स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलाख्यैः सप्तभिरङ्गैः पुष्टमिति ततोऽस्य व्यतिरेकः । उत्कटम् । राज्यं तु संधिविग्रहयानासनद्वैधीभावसंश्रयैः षड्भिरेव गुणैर्विशिष्टं स्यात् । अत एव काक्वा राज्यवत् सम्यक्त्वं मनोरथान् पूरयति ? नैवं पूरयति । तर्हि सम्यक्त्वमिव पूरयति इति लोकोत्तरमस्य माहात्म्यमाविष्करोति ॥११२॥

प्रकारान्तरसे सम्यक्त्वकी विनय कहते हैं—

मुमुक्षुको श्रद्धा, प्रत्यय, रोचन और स्पर्शनके द्वारा समस्त जिनागमको युक्त करते हुए सम्यग्दर्शनकी आराधना करनी चाहिए। मैं सौभाग्यशाली हूँ क्योंकि मैंने अभी तक संसारमें रहते हुए भी न प्राप्त हुई जिनवाणीको प्राप्त किया। इस प्रकार अन्तरंगसे श्रद्धान करना श्रद्धा है। अहो, यह जिनवाणी ही समस्त लोकमें एकमात्र सारभूत है इस प्रकारकी भावना प्रत्यय है। इसी जिनवाणीके लिए मैं नखोंसे चिऊँटी लेता हूँ। (अँगूठा और उसके पासकी तर्जनी अँगुलीके नखोंसे अपने प्रियके शरीरमें चिऊँटी लेनेसे उसमें रुचि व्यक्त होती है)। यही रोचन है। आज उत्कण्ठाके साथ मैं उसी जिनवाणीमें उत्साह करता हूँ यह स्पर्शन है ॥१११॥

विशेषार्थ—कहा भी है—'जो मनुष्य समस्त जिनागमका श्रद्धान, प्रत्यय, रोचन और स्पर्शन करते हैं वे सम्यक्त्वके आराधक होते हैं ॥१११॥

आठ अंगोंसे पुष्ट और संवेग आदिसे विशिष्ट सम्यक्त्वका फल दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

निःशंकित आदि आठ अंगोंसे पुष्ट और संवेग आदि आठ गुणोंसे प्रभावशाली सम्यग्दर्शन राज्यकी तरह मनोरथोंको पूर्ण करता है ॥११२॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य, प्रभावना इन आठ गुणोंसे पुष्ट होता है और संवेग, निर्वेद, गर्हा, निन्दा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा नामक आठ गुणोंसे अत्यन्त प्रभावशाली होता है। किन्तु राज्य, स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना इन सात ही अंगोंसे पुष्ट होता है तथा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय इन छह गुणोंसे प्रभावशाली होता है। इससे स्पष्ट है कि राज्यसे सम्यक्त्व बलशाली है। अतः अर्थ करना चाहिए—क्या राज्यकी तरह सम्यक्त्व मनोरथोंको पूरा करता है? अर्थात् पूरा नहीं करता।

अथैवमुद्योतनपूर्वकस्य सम्यग्दर्शनोद्यवनाद्याराधनोपायचतुष्टयस्य प्रयोक्तुः फलमाचष्टे—

इत्युद्द्योत्य स्वेन सुष्ट्वेकलोलीकृत्याक्षोभं बिभ्रता पूर्यते दृक्।
येनाभीक्ष्णं संस्क्रियोद्वेव बीजं तं जीवं सान्वेति जन्मान्तरेऽपि ॥११३॥

स्वेन—आत्मना सह। एकलोलीकृत्य—मिश्रयित्वा। उद्यवनार्थमिदम्। अक्षोभं बिभ्रता—निराकुलं वहता। निर्वर्हणार्थमिदम्। पूर्यते—साध्यते। साधनाराधनैषा। अभीक्ष्णं—पुन' पुनः। संस्क्रिया—मंजिष्ठादिरागानुवेधः। बीजं—कार्पासादिप्ररोहणम्। जन्मान्तरेऽपि—तद्भवे मोक्षेऽपि च इत्यपि शब्दार्थः। पक्षे तु पुन. प्रादुर्भावेऽपि ॥११३॥

अथ क्षायिकेतरसम्यक्त्वयो. साध्यसाधनभावं ज्ञापयति—

सिद्धयौपशमिक्येति दृष्ट्या वैदिकयापि च।
क्षायिकीं साधयेद् दृष्टिमिष्टदूतीं शिवश्रियः ॥११४॥

किन्तु सम्यक्त्व सम्यक्त्वकी तरह ही मनोरथोंको पूरा करता है उसे राज्यकी उपमा नहीं देना चाहिए। उसका माहात्म्य तो लोकोत्तर है ॥११२॥

इस प्रकार उद्योतनपूर्वक सम्यग्दर्शनकी आराधनाके उद्यवन आदि चार उपायोंके कर्ताको जो फल प्राप्त होता है उसे कहते हैं—

जैसे कपास आदिके बीजमें मंजीठके रंगका अन्तरंग-बहिरंगव्यापी योग कर देनेपर वह योग बीजके उगनेपर भी उसमें रहता है, वैसे ही उक्त प्रकारसे सम्यग्दर्शनको निर्मल करके आत्माके साथ दृढ़तापूर्वक एकमेक करके निराकुलतापूर्वक धारण करते हुए जो प्रतिक्षण सम्यग्दर्शनको सम्पूर्ण करता है, उस जीवका वह सम्यग्दर्शन न केवल उसी पर्यायमे किन्तु जन्मान्तरमें भी अनुसरण करता है ॥११३॥

विशेषार्थ—सिद्धान्तमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप प्रत्येककी पाँच-पाँच आराधनाएँ प्रसिद्ध हैं। उक्त श्लोकमें उन्हींका कथन है, यथा—'उद्योत्य'—निर्मल करके, पदके द्वारा सम्यग्दर्शनकी उद्योतन नामक आराधना जानना। 'आत्माके साथ एकमेक करके' इस पदके द्वारा उद्यवन आराधना कही है। 'निराकुलतापूर्वक धारण करते हुए' इन शब्दोंके द्वारा निर्वहण आराधना कही है। 'प्रतिक्षण पूर्ण करता है' इस पदके द्वारा साधन और 'उस जीवको' इत्यादि पदके द्वारा निःसरण आराधना कही है ॥११३॥

आगे क्षायिक सम्यक्त्व तथा शेष दो सम्यक्त्वोंमें साध्य-साधन भाव बतलाते हैं—

अनन्तर कहे गये उद्योतन आदि पाँच उपायोंके प्रयोगके द्वारा निष्पन्न औपशमिक-रूप सम्यग्दर्शनके और वेदक सम्यक्त्वके द्वारा अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूप जीवन्मुक्ति और परममुक्तिकी प्रियदूती क्षायिक दृष्टिको साधना चाहिए ॥११४॥

विशेषार्थ—विपरीत अभिनिवेशसे रहित आत्मरूप तत्त्वार्थश्रद्धानको दृष्टि या सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—औपशमिक, वेदक या क्षायोपशमिक और क्षायिक। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व नामक दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियों-के और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार चारित्रमोहनीयकी प्रकृतियोंके उपशमसे होनेवाले सम्यक्त्वको औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इन्हीं सात प्रकृतियोंके क्षयसे

इति—अनेनानन्तरोक्तेनोद्योतनाद्युपायपञ्चकप्रयोगलक्षणेन प्रकारेण इति भद्रम् ।

होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियोंका उपशम होने पर और शुभ परिणामोंके द्वारा सम्यक्त्व प्रकृतिके स्वरसका निरोध होनेपर वेदक सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयके साथ होनेसे इसका नाम वेदक है क्योंकि इसमें उसका वेदन—अनुभवन होता है। यह सम्यक्त्व ही व्यवहारमार्गी है क्योंकि इसमें उद्योतन आदि आराधनाओंका स्पष्ट रूपसे अनुभव होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन या तो औपशमिक सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है या वेदक सम्यक्त्वपूर्वक होता है। इसीसे इनमें और क्षायिक सम्यग्दर्शनमें साध्य-साधन भाव है। पहले दो सम्यक्त्व साधन हैं और क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है। यह क्षायिक सम्यक्त्व मुक्ति की प्रियदूती है। अत्यन्त मान्य होनेसे जिसके वचन अनुल्लंघ्य होते हैं वह इष्टदूती होती है। क्षायिक सम्यक्त्व होनेपर कभी छूटता नहीं है उसी भवमें या तीसरे भवमें नियमसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

अकलंक देवने कहा है[1] कि श्रुतसे अनेकान्तरूप जीवादि पदार्थोंको जानकर, नयोंके द्वारा व्यावहारिक प्रयोजनके साधक उन-उन अनेक धर्मोंकी परीक्षा करे। फिर नाम, स्थापना आदि स्वभावसे भिन्न जीवादि द्रव्योंके जाननेमें कारणभूत नय निक्षेपोंके द्वारा श्रुतके द्वारा विवक्षित द्रव्य-भावरूप अर्थात्मक, नामरूप वचनात्मक और स्थापनारूप प्रत्ययात्मक भेदोंकी रचना करके निर्देश स्वामित्व आदि भेदवाले अनुयोगोंके द्वारा जीवादि रूप तत्त्वों-को जानकर अपने सम्यग्दर्शनको पुष्ट करे। इस तरह जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणा-स्थानोंके रहस्यको जानकर तपके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करके मुक्त होकर सुखको प्राप्त करता है। अर्थात् तत्त्वको जाननेके जो उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप, सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व आदि बतलाये हैं उन सबको जानकर उनके द्वारा गुणस्थान और मार्गणास्थानको जानकर जीवकी विविध दशाओंको हृदयंगम करनेसे सम्यक्त्वका पोषण होता है। इसीसे परमागममें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस प्ररूपणाओंके द्वारा जीव तत्त्वका विवेचन करके संसारी जीवके स्वरूपका चित्रण किया है। उपादेयकी तरह हेयको भी जानना आवश्यक है। हेयको जाननेसे उपादेयमें आस्था दृढ होती है। इसीसे आचार्य कुन्दकुन्दने जहाँ समयसार-जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थको रचा वहाँ षट्खण्डागम-जैसे सिद्धान्त ग्रन्थपर भी परिकर्म नामक व्याख्या ग्रन्थ रचा। अतः मुमुक्षुके लिए एकमात्र समयसार ही पठनीय नहीं है, किन्तु चारों अनुयोग

---

१. 'श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।
परीक्ष्य तांस्तांस्तद्धर्मानेकान् व्यावहारिकान् ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥
अनुयोज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदा गतैः ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशतः ॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥'
—लघीयस्त्रय, ७३-७६।

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां द्वितीयोऽध्यायः ॥

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं पञ्चविंशति अष्टौ शतानि । अंकतः श्लोकाः ८२५॥

पठनीय हैं। तभी तो तपके द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाता है। बिना तपके तीन कालमें मोक्ष नहीं हो सकता। किन्तु कोरे तपसे भी मोक्ष प्राप्त नहीं है। आत्मश्रद्धान ज्ञानमूलक तप ही यथार्थ तप है ॥११४॥

इस प्रकार पं. आशाधररचित धर्मामृतके अन्तर्गत अनगारधर्मकी भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक टीका तथा ज्ञानदीपिका नामक पंजिकाकी अनुसारिणी हिन्दी टीकामें सम्यक्त्वका उत्पादनादिक्रम नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

तृतीय अध्याय

'विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥' [रत्न. श्रा. ३२]

इति प्रथमं सम्यक्त्वमाराध्येदानीं सम्यग्ज्ञानाराधना प्राप्नोति। तत्र तावत् परमज्ञानप्राप्त्युपायभूतत्वाच्छ्रुतस्य तदाराधनायां मुमुक्षून्नियुङ्क्ते—

सद्दर्शनब्राह्ममुहूर्तदृप्यन्मनःप्रसादास्तमसां लवित्रम् ।
भक्तुं परं ब्रह्म भजन्तु शब्दब्रह्माञ्जसं नित्यमथात्मनीनाः ॥१॥

ब्राह्ममुहूर्तः—पञ्चदशमुहूर्ताया रात्रेश्चतुर्दशो मुहूर्तः। स च चित्तकालुष्यापसारणद्वारेण संदेहादिच्छेदाद्यथार्था ([1]बुद्धिमुद्बोधयन् प्रसिद्धः। यन्नीतिः[2]—ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेतिकर्तव्यतायां समाधिमुपेयात्। सुखनिद्राप्रसन्ने हि मनसि प्रतिफलन्ति यथार्था) बुद्धय इति। दृप्यन्—उत्कटीभवन्। परं ब्रह्म—शुद्धचिद्रूपं स्वात्मस्वरूपम्। तद्धि शब्दब्रह्मभावनावष्टम्भादेव सम्यग्द्रष्टुं शक्यते। तथा चोक्तम्—

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लो ३२ में) कहा है—'बीजके अभावमें वृक्षकी तरह सम्यक्त्वके अभावमें ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी उत्पत्ति नहीं होती।'

इस आचार्यवचनके अनुसार सर्वप्रथम सम्यक्त्वकी आराधना करके अब सम्यग्ज्ञानकी आराधना प्रस्तुत करते हैं। उनमें श्रुतज्ञान उत्कृष्ट केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिए उपायभूत है इसलिए मुमुक्षुओंको श्रुतज्ञानकी आराधनामें लगाते हैं—

सम्यग्दर्शनकी आराधनाके पश्चात् जिनके मनकी निर्मलता सम्यग्दर्शनरूपी ब्राह्म मुहूर्तसे उद्बुद्ध हो गयी है, उन आत्माका हित चाहनेवाले मुमुक्षुओंको, मोहनीय और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मका नाश करनेवाले परब्रह्म—शुद्ध चित्स्वरूप की आराधना करनेके लिए नित्य पारमार्थिक शब्द ब्रह्म—श्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनको ब्राह्म मुहूर्तकी उपमा दी है। पन्द्रह मुहूर्तकी रात्रिके चौदहवें मुहूर्तको ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। मुहूर्त अर्थात् दो घटिका। वह समय चित्तकी कलुषताको दूर करके सन्देह आदिको हटाते हुए यथार्थ बुद्धिको जाग्रत् करता है यह बात प्रसिद्ध है। कहा भी है—

'ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर नित्यकृत्य करके ध्यान लगावे। सुखपूर्वक निद्रासे मनके प्रसन्न होनेपर यथार्थबुद्धि प्रस्फुटित होती है।' यतः ब्राह्म मुहूर्तकी तरह सम्यग्दर्शन भी चित्तकी प्रसन्नताका—निर्मलताका हेतु है। अतः सम्यग्दर्शनकी आराधनाके पश्चात् श्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए। क्योंकि श्रुतज्ञानकी आराधना ही समस्त पुरुषार्थकी सिद्धिका सबसे प्रधान उपाय है। श्रुतज्ञान ही स्वात्म्यके अभिमुख संवित्तिरूप है। कहा भी है—'पहले

---

१. भ. कु. च. टी.। २. नीतिवाक्यामृत।

'स्याकारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः पश्यन्तीत्थं चेत्प्रमाणेन चापि ।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्मं स्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः ॥' [ ]

शब्दब्रह्म—श्रुतज्ञानम् । आञ्जसं—पारमार्थिकं स्वात्माभिमुखसंवित्तिरूपमित्यर्थ । उक्तं च—

गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेण भावेज्जो ।
जो ण हु सुअमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे ॥
लक्खणदो णियलक्खं अणुहवमाणस्स जं हवे सोक्खं ।
सा संवित्ती भणिया सयलवियप्पाण णिडहणी ॥' [द्र. स्व. प्र. नय. ३४९, ३५१]॥१॥

आत्मनीनाः—आत्माभिहिताः ॥१॥

अथ श्रुताराधनायाः परम्परया केवलज्ञानहेतुत्वमुपदर्शयन् भूयस्तत्रैव प्रोत्साहयति—

कैवल्यमेव मुक्त्यङ्गं स्वानुभूत्यैव तद्भवेत् ।
सा च श्रुतैकसंस्कारमनसाऽतः श्रुतं भजेत् ॥२॥

स्पष्टम् ॥२॥

श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको ग्रहण करके पीछे संवेदनके द्वारा उसका ध्यान करना चाहिए। जो श्रुतका अवलम्बन नहीं लेता वह आत्माके सद्भावमें मूढ़ रहता है। लक्षणके द्वारा अपने लक्ष्यका अनुभव करते हुए जो सुख होता है उसे संवित्ति कहते हैं। वह समस्त विकल्पोंको नष्ट करनेवाली है। यहाँ लक्ष्य आत्मा है, वह आत्मा अपने ज्ञानदर्शन आदि गुणोंके साथ ध्यान करने योग्य है। उस आत्माका लक्षण चेतना या उपलब्धि है। वह चेतना दर्शन और ज्ञान रूप है।'

श्रुतज्ञानकी भावनाके अवलम्बनसे ही आत्माके शुद्ध स्वरूपको देखा जा सकता है। कहा भी है—

'जो इस प्रकार स्याद्वादरूपी रालसे सम्बद्ध नयोंके द्वारा तथा प्रमाणसे भी वस्तु-स्वरूपको देखते हैं वे अनन्तधर्मोंसे समन्वित शुद्ध चिन्मात्र स्वात्मद्रव्यको अन्तस्तलमें अवश्य देखते हैं'। अतः स्वात्मसंवेदनरूप श्रुतज्ञान पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना आत्मदर्शन नहीं हो सकता और आत्मदर्शनके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सम्यग्दर्शनकी आराधनाके पश्चात् सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनी ही चाहिए।' ॥१॥

श्रुतकी आराधना परम्परासे केवलज्ञानमें हेतु है यह बतलाते हुए पुनः श्रुतकी आराधनामें उत्साहित करते हैं—

केवलज्ञान ही मोक्षका साक्षात् कारण है। और वह केवलज्ञान स्वानुभूतिसे ही होता है। तथा वह स्वानुभूति श्रुतज्ञानकी उत्कृष्ट भावनामें लीन मनसे होती है इसलिए श्रुतकी आराधना करनी चाहिए ॥२॥

विशेषार्थ—मोक्षमार्गमें केवलज्ञानका जितना महत्त्व है उससे कम महत्त्व श्रुतज्ञानका नहीं है। आगममें कहा है कि 'द्रव्यश्रुतसे भावश्रुत होता है और भावश्रुतसे भेदज्ञान होता है। भेदज्ञानसे स्वानुभूति होती है और स्वानुभूतिसे केवलज्ञान होता है'। आशय यह है कि वस्तुके स्वरूपका निश्चय जीव और कर्मका स्वरूप बतलानेवाले शास्त्रोंके अभ्याससे होता है। जो पुरुष आगममें प्रतिपादित गुणस्थान, जीवसमास आदि बीस प्ररूपणाओंको नहीं जानता और न अध्यात्ममें प्रतिपादित आत्मा और शरीरादिके भेदको जानता है वह पुरुष

अथ मनसः श्रुतसंस्कारपुरःसरस्वसंवेदनोपयोगेन शुद्धचिद्रूपतापरिणतिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

श्रुतसंस्कृतं स्वमहसा स्वतत्त्वमाप्नोति मानसं क्रमशः ।
विहितोषपरिष्वङ्गं शुद्धयति पयसा न किं वसनम् ॥३॥

स्वमहसा—स्वसंवेदनेन । उक्तं च—

'अविद्याभ्याससंस्कारैरवश्यं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥' [समा. तं. ३७ श्लो]

स्वतत्त्वं—शुद्धचिन्मात्रं तस्यैव मुमुक्षुभिरपेक्षणीयत्वात् । तदुक्तम्—

'अविद्यासंस्कारव्यतिकरविवेकादकलिलं
प्रवृत्ति-व्यावृत्ति-प्रतिविहतनैष्कर्म्यमचलम् ।
लयात्पर्यायाणां क्रमसहभुवामेकमगुणं
स्वतत्त्वं चिन्मात्रं निरुपधि विशुद्धं स्फुरतु वः ॥' [ ] ॥३॥

रागादि दोषोंसे रहित और अव्याबाध सुख आदि गुणोंसे सहित आत्माका भावकर्म शब्दसे कहे जानेवाले रागादिरूप विकल्प जालसे भेद नहीं जानता। इसी तरह कर्मरूपी शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ अपने परमात्मतत्त्वका ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मोंके साथ भी भेद नहीं जानता। तथा शरीरसे रहित शुद्ध आत्मपदार्थका शरीर आदि नोकर्मसे भी भेद नहीं जानता। इस प्रकारका भेदज्ञान न होनेसे उसे अपने शुद्ध आत्माकी ओर रुचि नहीं होती और रुचि न होनेसे वह समस्त रागादिसे रहित आत्माका अनुभवन नहीं करता। तब वह कैसे कर्मक्षय कर सकता है। अतः मुमुक्षुओंको परमागमके उपदेशसे उत्पन्न निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानकी ही भावना करनी चाहिए। सारांश यह है कि परमागमसे सभी द्रव्यगुण पर्याय ज्ञात होते हैं क्योंकि आगम परोक्ष होते हुए भी केवलज्ञानके समान है। पीछे आगमके आधारसे स्वसंवेदन ज्ञान होनेपर स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे केवलज्ञान होनेपर सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसलिए श्रुतज्ञानरूपी चक्षु परम्परासे सबको देखती है इसलिए श्रुतकी आराधना करनी चाहिए ॥२॥

मनके श्रुतसंस्कारपूर्वक स्वसंवेदनरूप उपयोगके द्वारा शुद्ध चिद्रूप परिणतिको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

कालक्रमसे श्रुतज्ञानसे भावित मन स्वसंवेदनसे शुद्ध चिन्मात्र स्वतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। क्या खारी मिट्टीसे रगड़ा गया वस्त्र जलसे शुद्ध नहीं होता ॥३॥

विशेषार्थ—यहाँ मन वस्त्रके समान है। श्रुतज्ञान खारी मिट्टी या क्षारके समान है। स्वसंवेदन जलके समान है। जैसे वस्त्रकी शुद्धि कालक्रमसे होती है। उसी तरह मनकी शुद्धि भी धीरे-धीरे कालक्रमसे होती है। कहा है—

'अविद्या अर्थात् अज्ञानके अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा मन पराधीन होकर चंचल हो जाता है—रागी-द्वेषी बन जाता है। वही मन श्रुतज्ञानके संस्कारोंके द्वारा स्वयं ही आत्मस्वरूप स्वतत्त्वमें स्थिर हो जाता है'। यहाँ स्वतत्त्वसे शुद्ध चिन्मात्र लेना चाहिए क्योंकि मुमुक्षुओंको उसीकी अपेक्षा होती है ॥३॥

अथ मत्यादिज्ञानानामप्युपयोगो मुमुक्षूणा स्वार्थसिद्धयै विधेय इत्युपदेशार्थमाह—

मत्यवधिमनःपर्ययबोधानपि वस्तुतत्त्वनियतत्वात् ।
उपयुञ्जते यथास्वं मुमुक्षवः स्वार्थसंसिद्धयै ॥४॥

अवधिः—अधोगत बहुतर द्रव्यमवच्छिन्नं वा रूपि द्रव्य धीयते व्यवस्थाप्यते अनेनेत्यवधिर्देशप्रत्यक्षज्ञानविशेष· । स त्रेधा देशावध्यादिभेदात् । तत्र देशावधिरवस्थितोऽनवस्थितोऽनुगाम्यननुगामी वर्धमानो हीयमानश्चेति षोढा स्यात् । परमावधिरनवस्थितहीयमानवर्जनाच्चतुर्धा । सर्वावधिस्त्ववस्थितोऽनुगाम्यननुगामी चेति त्रेधा । भवति चात्र श्लोकः—

'देशावधिः सानवस्थाहानिः स परमावधिः ।
वर्धिष्णु सर्वावधिस्तु सावस्थानुगमेतरः ॥' [ ]

आगे उपदेश देते है कि मुमुक्षुओंको स्वार्थकी सिद्धिके लिए मति आदि ज्ञानोंका भी उपयोग करना चाहिए—

मुमुक्षुगण स्वार्थकी संप्राप्तिके लिए मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका भी यथायोग्य उपयोग करते हैं। क्योंकि ये ज्ञान भी वस्तुतत्त्वके नियामक हैं, वस्तुका यथार्थ स्वरूप बतलाते हैं ॥४॥

विशेषार्थ—मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो अर्थको जानता है वह मतिज्ञान है। उसके मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि अनेक भेद हैं। बाह्य और अन्तरंगमें स्पष्ट अवग्रहादि रूप जो इन्द्रियजन्य ज्ञान और स्वसंवेदन होता है उसे मति और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है। स्वयं अनुभूत अतीत अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको स्मृति कहते हैं जैसे वह देवदत्त। यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है इस प्रकारके स्मृति और प्रत्यक्षके जोड़रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान या संज्ञा कहते हैं। आगके बिना कभी भी कहींपर धुआँ नहीं होता, या आत्माके बिना शरीरमें हलन-चलन आदि नहीं होता यह देखकर जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है या जिस शरीरमें हलन-चलन है उसमें आत्मा है इस प्रकारकी व्याप्तिके ज्ञानको तर्क या ऊह या चिन्ता कहते हैं। उक्त व्याप्तिज्ञानके बलसे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान करना अनुमान या अभिनिबोध है। रात या दिनमें अकस्मात् बाह्य कारणके बिना 'कल मेरा भाई आवेगा' इस प्रकारका जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रतिभा है। अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिको बुद्धि कहते हैं। पठितको ग्रहण करनेकी शक्तिको मेधा कहते है। ऊहापोह करनेकी शक्तिको प्रज्ञा कहते है। ये सब इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाले मतिज्ञानके ही भेद हैं।

अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर अधिकतर अधोगत द्रव्यको अथवा मर्यादित नियतरूपी द्रव्यको जाननेवाले ज्ञानको अवधि कहते है। यह देशप्रत्यक्षज्ञानका भेद है। उसके तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। देशावधिके छह भेद हैं—अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान और हीयमान। परमावधिके अनवस्थित और हीयमानको छोड़कर शेष चार भेद हैं। सर्वावधिके तीन ही भेद हैं—अवस्थित, अनुगामी और अननुगामी। कहा भी है—

'देशावधि अनवस्था और हानि सहित है। परमावधि बढ़ता है और सर्वावधि अवस्थित अनुगामी और अननुगामी होता है।'

तल्लक्षणविकल्पस्वामिशास्त्रं त्विदम्—

'अवधीयत इत्युक्तोऽवधिः सीमा सजन्मभूः ।
पर्याप्तश्वभ्रदेवेषु सर्वाङ्गो (-त्थो जिनेषु च ॥
गुणकारणको मर्त्यतिर्यक्ष्वब्जादिचिह्नजः ।
सोऽवस्थितोनु-) गामी स्याद् वर्धमानश्च सेतरः ॥' [ ]

इत्यादि । किं चावधिज्ञानिना नाभेरुपरि शङ्खपद्मादिलाञ्छनं स्यात्, विभङ्गज्ञानिना तु नाभेरधः शरटमर्कटादि. । मन.पर्यय' । तल्लक्षणाया (?) यथा—

'स्वमनः परीत्य यत्परमनोऽनुसंधाय वा परमनोऽर्थम् ।
विशदमनोवृत्तिरात्मा वेत्ति मनःपर्ययः स मत ॥' [ ]

अवधिज्ञानका लक्षण, भेद और स्वामीका कथन करते हुए कहा है—

'अवधि' का अर्थ है मर्यादा या सीमा। मर्यादा सहित ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। उसके दो भेद है—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय—जन्मसे ही होनेवाला अवधिज्ञान देवों और नारकियों तथा तीर्थंकरोंके होता है। यह समस्त अंगोंसे उत्पन्न होता है। गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान तिर्यञ्च और मनुष्योंमें होता है। अवधिज्ञानियोंके नाभिके ऊपर शंख, पद्म आदि चिह्न प्रकट होते है और कुअवधिज्ञानियोंके नाभिसे नीचे सरट, मर्कट आदि चिह्न होते हैं। उन्हींसे अवधिज्ञान होता है। षट्खण्डागमके वर्गणा खण्ड (पु. १३, पृ. २९२, सूत्र ५६) में अवधिज्ञानके अनेक भेद कहे हैं। उनका कथन श्रीधवलाटीकाके अनुसार किया जाता है—

अवधिज्ञान अनेक प्रकारका है—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र, अनेकक्षेत्र। जो अवधिज्ञान कृष्णपक्षके चन्द्रमाके समान घटता ही जाये वह हीयमान है। इसका अन्तर्भाव देशावधिमें होता है, परमावधि, सर्वावधिमें नहीं; क्योंकि ये दोनों घटते नहीं हैं। जो अवधिज्ञान शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान बढ़ता ही रहता है वह वर्धमान है। इसका अन्तर्भाव देशावधि, परमावधि, सर्वावधिमें होता है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर हानि वृद्धिके बिना केवलज्ञान होनेतक अवस्थित रहता है वह अवस्थित है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर कभी बढता है, कभी घटता है और कभी अवस्थित रहता है वह अनवस्थित अवधि-ज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीवके साथ जाता है वह अनुगामी है। वह तीन प्रकारका है—क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी। जो अवधिज्ञान एक क्षेत्रमें उत्पन्न होकर जीवके स्वयं या परप्रयोगसे स्वक्षेत्र या परक्षेत्रमें जानेपर नष्ट नहीं होता वह क्षेत्रानुगामी है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर उस जीवके साथ अन्य भवमें जाता है वह भवानुगामी है। जो अवधिज्ञान भरत, ऐरावत, विदेह आदि क्षेत्रोंमें तथा देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य भवमें भी साथ जाता है वह क्षेत्रभवानुगामी है। अननुगामी अवधिज्ञान

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक आदि में सर्वावधिको वर्धमान नही कहा है क्योंकि पूरे अवधिका नाम सर्वावधि है। उसमें आगे बढ़नेका स्थान नही है।

२. सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थ राजवार्तिकमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति तक या वह जीवन समाप्त होने तक तदवस्थ रहनेवाले अवधिज्ञानको अवस्थित कहा है।

तत्स्वरूपविशेषशास्त्रं त्विदम्—

'विज्ञि-(चिन्ति-)ताचिन्तितार्द्धादिचिन्तिताद्यर्थवेदकम् ।
स्यान्मनःपर्ययज्ञान चिन्तकश्च नृलोकगः ॥'
'द्विधा हृत्पर्ययज्ञानमृज्व्या विपुलया धिया ।
अवक्रवाङ्मनःकायवर्त्यर्थजनितस्त्रिधा ॥'
'स्यान्मतिर्विपुला षोढा वक्रावक्राङ्गवाग्घृदि ।
तिष्ठना व्यञ्जनार्थानां षड्भिदां ग्रहणं यत ॥'
'पूर्वांस्त्रिकालरूप्यर्थान् वर्तमाने विचिन्तके ।
वेत्त्यस्मिन् विपुला धीस्तु भूते भाविनि सत्यपि ॥'
'विनिद्राष्टदलाम्भोजसन्निभं हृदये स्थितम् ।
प्रोक्तं द्रव्यमन. (तज्ज्ञैर्मन)पर्ययकारणम् ॥' [ ]

इत्यादि । वस्तुतत्त्वनियतत्वात्—वस्तुनो द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य तत्त्व याथात्म्यं तत्र नियता. प्रतिनियतवृत्त्या निबद्धास्तेषा भावस्तत्त्व तस्मात् । तथाहि—इन्द्रियजा मति. कतिपयपर्यायविशिष्टं मूर्तमेव वस्तु

भी तीन प्रकार का है—क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी और क्षेत्रभवाननुगामी । जो क्षेत्रान्तरमें साथ नहीं जाता, भवान्तरमें ही साथ जाता है वह क्षेत्राननुगामी अवधिज्ञान है। जो भवान्तरमें साथ नहीं जाता, क्षेत्रान्तरमें ही साथ जाता है वह भवाननुगामी अवधिज्ञान है। जो क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनोंमें साथ नहीं जाता किन्तु एक ही क्षेत्र और भवके साथ सम्बन्ध रखता है वह क्षेत्रभवाननुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल विनाशको प्राप्त होता है वह सप्रतिपाती है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर ही नष्ट होता है वह अप्रतिपाती है। जिस अवधिज्ञानका करण जीवके शरीरका एकदेश होता है वह एक क्षेत्र है। जो अवधिज्ञान शरीरके सब अवयवोंसे होता है वह अनेकक्षेत्र है। तीर्थंकर, देवों और नारकियोंके अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान होता है।

तत्त्वार्थ वार्तिकमें (१।२२।५) में प्रथम आठ भेदोंमें-से देशावधिके आठों भेद बतलाये हैं। परमावधिके हीयमान और प्रतिपाती भेदोंके सिवाय शेष छह भेद बतलाये हैं और सर्वावधिके अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद बतलाये हैं।

दूसरेके मनमें स्थित अर्थको मन कहते हैं उसका स्पष्ट जानना मनःपर्यय है। उसका लक्षण है—

विशदमनोवृत्ति अर्थात् मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न विशुद्धिवाला जीव अपने या परके मनको लेकर दूसरेके मनोगत अर्थको जानता है उस ज्ञानको मनःपर्यय कहते हैं। उसका विशेष स्वरूप शास्त्रमें इस प्रकार कहा है—

'मनुष्य लोकमें स्थित जीवके द्वारा चिन्तित, अचिन्तित, अर्द्धचिन्तित अर्थको जाननेवाला मनःपर्यय ज्ञान है। उसके दो भेद हैं—ऋजुमति मनःपर्यय और विपुलमति मनःपर्यय। ऋजुमतिके तीन भेद हैं—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ, ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ, ऋजुकायकृतार्थज्ञ। अर्थात् मनके द्वारा पदार्थका स्पष्ट चिन्तन करके, वचनके द्वारा स्पष्ट कहकर, शरीरकी चेष्टा स्पष्ट रूपसे करके भूल जाता है कि मैंने अमुक पदार्थका चिन्तन किया था या अमुक बात कही थी या शरीरके द्वारा अमुक क्रिया की थी। इस प्रकारके अर्थको ऋजुमतिज्ञानी पूछनेपर या बिना पूछे भी जान लेता है कि अमुक पदार्थका तुमने इस रीतिसे विचार किया था

वेत्ति। मनोमतिस्तु तथाविधं मूर्तममूर्तं च। अवधिस्तु तथाविधान् पुद्गलान् पुद्गलसम्बद्धाश्च जीवान्। मनःपर्ययस्तु सर्वावधिज्ञानविषयानन्तिमभागमिति। उपयुञ्जते—स्वार्थग्रहणे व्यापारयन्ति। यथास्वं—आत्मीयप्रयोजनानतिक्रमेण। तथाहि—श्रोत्रं शास्त्रग्रहणादौ, चक्षुर्जिनप्रतिमाभक्तपानमार्गादिनिरीक्षणे, मनश्च गुणदोषविचारस्मरणादौ, तथाऽवधिं संदिग्धश्रुतार्थनिर्णये स्वपरायुःपरिमाणादिनिश्चये च व्यापारयन्ति, एवं मनःपर्ययमपि ॥४॥

अथ श्रुतसामग्रीस्वरूपनिर्णयार्थमाह—

स्वावृत्यपायेऽविस्पष्टं यन्नानार्थनिरूपणम्।
ज्ञानं साक्षादसाक्षाच्च मतेर्जायेत तच्छ्रुतम् ॥५॥

स्वावृत्यपाये—श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमे सति। नानार्थः—उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं वस्तु, तस्य प्ररूपणं—सम्यक्स्वरूपनिश्चायनम्। 'श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्' इत्यभिधानात्। साक्षादित्यादि—घट इत्यादिशब्दश्रवणलक्षणाया धूमोऽयमित्यादि चक्षुरादिज्ञानलक्षणायाश्च मतेर्जातं क्रमेण घटादिज्ञानं वह्न्यादिज्ञानं च शब्दजं लिङ्गजं च श्रुतं स्यात्। ततश्च जातं जलधारणादिज्ञानं च श्रुतम्। श्रुतपूर्वमप्युपचारेण मतिपूर्वमित्युच्यते।

या कहा था। विपुलमतिके छह भेद हैं—तीन ऋजुरूप और तीन वक्ररूप। ऋजुमति मनःपर्यय वर्तमान जीवके द्वारा चिन्तित त्रिकालवर्ती रूपी पदार्थोंको जानता है किन्तु विपुलमति चिन्तन करनेवाला यदि भूत हो—पहले हो चुका हो या आगे होनेवाला हो तब भी उसके द्वारा चिन्तित या आगामी कालमें विचारे जानेवाले रूपी पदार्थोंको भी जानता है। हृदयमें खिले हुए आठ पाँखुड़ीके कमलके आकार द्रव्यमन स्थित है वही मनःपर्ययज्ञानका कारण है।

ये सभी ज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तुके स्वरूपको जानते हैं। उनमें-से इन्द्रियजन्य मतिज्ञान केवल मूर्त द्रव्यकी कुछ ही पर्यायोंको जानता है। मनोजन्य मतिज्ञान मूर्त और अमूर्त द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको जानता है। अवधिज्ञान पुद्गल और पुद्गलसे सम्बद्ध जीवोंकी कुछ पर्यायोंको जानता है। मनःपर्ययज्ञान सर्वावधिज्ञानके विषयभूत द्रव्यके भी अनन्तवें भागको जानता है। सभी ज्ञान यथायोग्य अपने प्रयोजनके अनुसार ही पदार्थोंको जानते हैं। यथा—मुमुक्षुगण श्रोत्रके द्वारा शास्त्र श्रवण करते हैं, चक्षुके द्वारा जिनप्रतिमाका, खान-पानका और मार्ग आदिका निरीक्षण करते हैं, मनके द्वारा गुण-दोषका विचार स्मरण आदि करते हैं। अवधिज्ञानसे शास्त्रके सन्दिग्ध अर्थका निर्णय करते हैं, अपनी और दूसरोंकी आयुके परिमाणका निश्चय करते हैं। इसी तरह मनःपर्ययको भी जानना ॥४॥

श्रुतज्ञानकी सामग्री और स्वरूपका विचार करते हैं—

श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक या अनेकान्तात्मक वस्तुके स्वरूपका निश्चय करनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह श्रुतज्ञान या तो साक्षात् मतिज्ञानपूर्वक होता है या परम्परा मतिज्ञानपूर्वक होता है ॥५॥

विशेषार्थ—श्रुतज्ञान दो प्रकारका है—शब्दजन्य और लिंगजन्य। 'घट' इत्यादि शब्दके सुननेरूप मतिज्ञानके अनन्तर होनेवाले घटादिके ज्ञानको शब्दजन्य श्रुतज्ञान कहते हैं। और 'यह धूम है' इत्यादि चक्षु आदिके द्वारा होनेवाले मतिज्ञानके अनन्तर होनेवाले आग वगैरहके ज्ञानको लिंगजन्य श्रुतज्ञान कहते हैं। घट आदिके ज्ञानके बाद जो यह ज्ञान होता है कि यह घट जल भरनेके काम आता है या अग्निके ज्ञानके बाद जो यह ज्ञान होता

उक्तं च—'मतिपूर्वं श्रुतं दक्षैरुपचारान्मतिर्मता ।
मतिपूर्वं तत सर्वं श्रुत ज्ञेयं विचक्षणैः ॥' [अमित. पं. सं. १।२१८]

एतच्च भावश्रुतमित्युच्यते ज्ञानात्मकत्वात् । एतन्निमित्तं तु वचनं द्रव्यश्रुतमित्याहु. ॥५॥

यद्येवं द्वेधा स्थितं श्रुतं तर्हि तद्भेदा. सन्ति न सन्ति वा ? सन्ति चेत् तदुच्यतामित्याह—

तद्भावतो विंशतिधा पर्यायादिविकल्पतः ।
द्रव्यतोऽङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्यभेदाद् द्विधा स्थितम् ॥६॥

पर्यायः—अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोतस्य प्रथमसमये जातस्य प्रवृत्तं सर्वजघन्य ज्ञानं तद्धि लब्ध्यक्षरापराभिधानमक्षरश्रुतानन्तभागपरिमाणत्वात् सर्वविज्ञानेभ्यो जघन्यं नित्योद्घाटितं निरावरणं, न हि तावतस्तस्य कदाचनाऽप्यभावो भवति आत्मनोऽप्यभावप्रसङ्गात् उपयोगलक्षणत्वात्तस्य । तदुक्तम्—

है कि यह पकानेके काम आती है। यह श्रुतज्ञान यद्यपि श्रुतज्ञानपूर्वक होता है फिर भी उसे उपचारसे मतिपूर्वक कहते है। कहा भी है—

'ज्ञानियोंने मतिपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको उपचारसे मतिज्ञान माना है। अतः साक्षात् मतिपूर्वक या परम्परासे मतिपूर्वक होनेवाले सभी श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होते है ऐसा विद्वानोंको जानना चाहिए।'

तथा श्रुतके स्वरूप और भेदके विषयमें कहा[1] है—

मतिपूर्वक होनेवाले अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। वह शब्दजन्य और लिंगजन्य होता है। उसके अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट दो भेद है। अंगबाह्यके अनेक भेद है और अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं।

श्रुत शब्द 'श्रु' धातुसे बनता है जिसका अर्थ सुनना है। श्रुत ज्ञानरूप भी होता है और शब्दरूप भी। जिस ज्ञानके होनेपर वक्ता शब्दका उच्चारण करता है वक्ताका वह ज्ञान और श्रोताको शब्द सुननेके बाद होनेवाला ज्ञान भावश्रुत है अर्थात् ज्ञानरूप श्रुत है। और उसमे निमित्त वचन द्रव्यश्रुत है। भावश्रुत या ज्ञानरूप श्रुतका फल अपने विवादोंको दूर करना है अर्थात् उससे ज्ञाता अपने सन्देहादि दूर करता है इसलिए वह स्वार्थ कहलाता है। और शब्द प्रयोगरूप द्रव्यश्रुतका फल दूसरे श्रोताओंके सन्देहोंको दूर करना है इसलिए उसे परार्थ कहते हैं। इस तरह श्रुतज्ञान ही केवल एक ऐसा ज्ञान है जो स्वार्थ भी है और परार्थ भी है। शेष चारों ज्ञान स्वार्थ ही है क्योंकि शब्द प्रयोगके बिना दूसरोंका सन्देह दूर नहीं किया जाता। और शब्द प्रयोगका कारणभूत ज्ञान तथा शब्द प्रयोगसे होनेवाला ज्ञान दोनों श्रुतज्ञान है ॥५॥

आगे श्रुतके इन दोनों भेदोंके भी भेद कहते हैं—

भावश्रुत पर्याय, पर्याय समास आदिके भेदसे बीस प्रकारका है। और द्रव्यश्रुत अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यके भेदसे दो प्रकारका है ॥६॥

विशेषार्थ—आगम[2]में भावश्रुतके बीस भेद इस प्रकार कहे हैं—पर्याय, पर्यायसमास,

---

१. अर्थादर्थान्तरज्ञानं मतिपूर्वं श्रुतं भवेत् ।
शाब्दं तल्लिङ्गजं चात्र द्व्यनेकद्विषड्भेदगम् ॥ [ ]

२. पज्जय-अक्खर-पद-संघादय-पडिवत्ति-जोगदाराइं ।
पाहुड पाहुड वत्थू पुव्वसमासा य बोधव्वा ॥—षट् खं., पु. १२, पृ. ३६० ।

'सुहमणिगोद अपज्जत्तयस्स जातस्स पढमसमयम्हि ।
हवदि हि सव्वजहण्णं णिच्चुघाडं णिरावरणं ॥' [गो जी. ३१९]

'सूक्ष्मापूर्णनिगोदस्य जातस्याद्यक्षणेऽप्यदः ।
श्रुतं स्पर्शमतेर्जातं ज्ञानं लब्ध्यक्षराभिधम् ॥' [ ]

तदेवं ज्ञानमनन्तासंख्येय(-संख्येय-)भागवृद्धया संख्येया(-संख्येया-)नन्तगुणवृद्धया च वर्धमानसंख्येयलोक-

---

पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्ति समास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वार-समास, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत-प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व, पूर्वसमास। ये श्रुतज्ञानके बीस भेद जानने चाहिए। इनका स्वरूप श्रीधवला टीकाके आधारपर संक्षेपमें दिया जाता है—सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकके जो जघन्य ज्ञान होता है उसका नाम लब्ध्यक्षर है क्योंकि यह ज्ञान नाशके बिना एक रूपसे अवस्थित रहता है। अथवा केवलज्ञान अक्षर है क्योंकि उसमें हानि-वृद्धि नहीं होती। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा चूँकि सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकका ज्ञान भी वही है इसलिए भी उसे अक्षर कहते हैं। इसका प्रमाण केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग है। यह ज्ञान निरावरण है क्योंकि आगममें कहा है कि अक्षरका अनन्तवाँ भाग नित्य उद्घाटित रहता है। यदि यह भी आवृत हो जाये तो जीवके अभावका प्रसंग आ जावे। यह लब्ध्यक्षर अक्षर संज्ञावाले केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग है। इसलिए इस लब्ध्यक्षर ज्ञानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर ज्ञानके अविभागी प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा सब जीवराशिसे अनन्तगुणा लब्ध आता है। इस प्रक्षेपको प्रतिराशिभूत लब्ध्यक्षर ज्ञानमें मिलानेपर पर्यायज्ञानका प्रमाण आता है। पुनः पर्यायज्ञानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे उसी पर्यायज्ञानमें मिला देनेपर पर्याय समास ज्ञान उत्पन्न होता है। आगे छह वृद्धियाँ होती हैं—अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि और अनन्त गुण वृद्धि। इनके क्रमसे असंख्यात लोकमात्र पर्याय समास ज्ञान स्थान प्राप्त होते हैं। अन्तिम पर्याय समास ज्ञान स्थानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे उसीमें मिलानेपर अक्षरज्ञान उत्पन्न होता है। वह अक्षरज्ञान सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकके अनन्तानन्त लब्ध्यक्षरोंके बराबर है। अक्षरके तीन भेद हैं—लब्ध्यक्षर, निर्वृत्यक्षर और संस्थानाक्षर। सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्तकसे लेकर श्रुतकेवली तक जीवोंके जितने क्षयोपशम होते हैं उन सबकी लब्ध्यक्षर संज्ञा है। जीवोंके मुखसे निकले हुए शब्दकी निर्वृत्यक्षर संज्ञा है। संस्थानाक्षरका दूसरा नाम स्थापनाक्षर है। 'यह वह अक्षर है' इस प्रकार अभेदरूपसे बुद्धिमें जो स्थापना होती है या जो लिखा जाता है वह स्थापनाक्षर है। इन तीन अक्षरोंमें यहाँ लब्ध्यक्षरसे प्रयोजन है, शेषसे नहीं, क्योंकि वे जड़ हैं। जघन्य लब्ध्यक्षर सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकके होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारीके होता है। एक अक्षरसे जो जघन्य ज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षर श्रुतज्ञान है। इस अक्षरके ऊपर दूसरे अक्षरकी वृद्धि होनेपर अक्षर समास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए संख्यात अक्षरोंकी वृद्धि होने तक अक्षर समास श्रुतज्ञान होता है। पुनः संख्यात अक्षरोंको मिलाकर एक पद नामक श्रुतज्ञान होता है। सोलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरोंका एक मध्यम पद होता

परिमाणप्रागक्षरश्रुतज्ञानात्पर्यायसमासोऽभिधीयते। अक्षरश्रुतज्ञानं तु एकाकाराद्यक्षराभिधेयावगमरूपं श्रुतज्ञान-संख्येयभागमात्रम्। तस्योपरिष्टादक्षरसमासोऽक्षरवृद्धया वर्धमानो द्वित्र्यादक्षरावबोधस्वभावः पदावबोधात्
३ पुरस्तात्। एवं पदपदसमासादयोऽपि भावश्रुतभेदा. पूर्वसमासान्ता विंशतिर्यथागममधिगन्तव्या.।

है। इस मध्यम पद श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरके बढ़नेपर पद समास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिसे बढ़ता हुआ पद समास श्रुतज्ञान एक अक्षरसे न्यून संघात श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेतक जाता है। पुनः इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर संघात नामक श्रुतज्ञान होता है। इस तरह संख्यात पदोंको मिलाकर एक संघात श्रुतज्ञान होता है। यह मार्गणा ज्ञानका अवयवभूत ज्ञान है। पुनः संघात श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर संघात समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे बढ़ता हुआ एक अक्षरसे न्यून गतिमार्गणाविषयक ज्ञानके प्राप्त होने तक संघात समास श्रुतज्ञान होता है। पुनः इसपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है। अनुयोग द्वारके जितने अधिकार होते हैं उनमें-से एक अधिकारकी प्रतिपत्ति संज्ञा है और एक अक्षरसे न्यून सब अधिकारोंकी प्रतिपत्ति समास संज्ञा है। प्रतिपत्तिके जितने अधिकार होते है उनमें-से एक-एक अधिकारकी संघात संज्ञा है और एक अक्षर न्यून सब अधिकारोंकी संघात समास संज्ञा है। इसका सत्र जगह कथन करना चाहिए। पुनः प्रतिपत्तिश्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे बढता हुआ एक अक्षरसे न्यून अनुयोगद्वार श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञान होता है। पुन उसमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान होता है। अनुयोगद्वार श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर अनुयोगद्वार समास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक अनुयोगद्वार समास श्रुतज्ञान होता है। पुनः उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान होता है। पुनः इसके ऊपर एक अक्षर-की वृद्धि होनेपर प्राभृतप्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून प्राभृत श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेतक प्राभृत प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है। पुन. उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। इस तरह संख्यातप्राभृत प्राभृतोंका एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून वस्तु श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है। पुन. उसमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर वस्तु श्रुतज्ञान होता है। इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर वस्तु समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून पूर्व श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक वस्तु समास श्रुतज्ञान होता है। उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर पूर्व श्रुतज्ञान होता है। पूर्वगतके जो उत्पाद पूर्व आदि चौदह अधिकार हैं उनकी अलग-अलग पूर्व श्रुतज्ञान संज्ञा है। इस उत्पाद पूर्व श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर पूर्व समास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप सकल श्रुतज्ञानके सब अक्षरोंकी वृद्धि होने तक पूर्वसमास श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार भावश्रुतके बीस भेद होते हैं।

अङ्गप्रविष्टं आचारादिद्वादशभेदं वचनात्मकं द्रव्यश्रुतम् । अङ्गबाह्यं सामायिकादिचतुर्दशभेदं प्रकीर्णकश्रुतम् । तत्प्रपञ्चोऽपि प्रवचनाच्चिन्त्यः ॥६॥

अथ श्रुतोपयोगविधिमाह—

तीर्थादाम्नाय निध्याय युक्त्याऽन्तः प्रणिधाय च ।
श्रुतं व्यवस्येत् सद्विश्वमनेकान्तात्मकं सुधीः ॥७॥

तीर्थात्—उपाध्यायात् । आम्नाय—गृहीत्वा । निध्याय—अवलोक्य । युक्त्या—हेतुना सा हि अपक्षपातिनी । तदुक्तम्—

'इतं युक्तिं यदेवात्र तदेव परमार्थसत् ।
यद्भानुदीप्तिवत्तस्याः पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ॥' [सोम. उपा. १३ श्लो]

अन्तःप्रणिधाय—स्वात्मन्यारोप्य । व्यवस्येत्—निश्चिनुयात् । सत्—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् । अनेकान्तात्मकं—द्रव्यपर्यायस्वभावम् श्रुतं खलु अविशदतया समस्तं प्रकाशयेत् । तदुक्तम्—

द्रव्यश्रुतके दो भेद है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दृष्टिवादके पाँच भेद हैं—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगतके चौदह भेद है—उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुप्रवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। अंगबाह्यके अनेक भेद हैं। वक्ताके भेदसे ये भेद जानना चाहिए। वक्ता तीन हैं—सर्वज्ञ तीर्थंकर, श्रुतकेवली और आरातीय। भगवान् सर्वज्ञदेवने केवलज्ञानके द्वारा अर्थरूप आगमका उपदेश दिया। वे प्रत्यक्षदर्शी और वीतराग थे अतः प्रमाण थे। उनके साक्षात् शिष्य गणधर श्रुतकेवलियोंने भगवान्की वाणीको स्मरणमें रखकर जो अंग पूर्व ग्रन्थोंकी रचना की वह भी प्रमाण है। उसके बाद आरातीय आचार्योंने कालदोषसे अल्पमति अल्पायु शिष्योंके कल्याणार्थ जो ग्रन्थ रचे वे अंगबाह्य हैं। वे भी प्रमाण हैं क्योंकि अर्थरूपसे तो वे भी वही हैं। क्षीर समुद्रके जलको घरमें भरनेसे जल तो वही रहता है। उसी तरह जानना ॥६॥

श्रुतके उपयोगकी विधि कहते हैं—

बुद्धिशाली मुमुक्षुको गुरुसे श्रुतको ग्रहण करके तथा युक्तिसे परीक्षण करके और उसे स्वात्मामें निश्चल रूपसे आरोपित करके अनेकान्तात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायरूप और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक विश्वका निश्चय करना चाहिए ॥७॥

विशेषार्थ—श्रुतज्ञान प्राप्त करनेकी यह विधि है कि शास्त्रको गुरुमुखसे सुना जाये या पढ़ा जाये। गुरु अर्थात् शास्त्रज्ञ जिसने स्वयं गुरुमुखसे शास्त्राध्ययन किया हो। गुरुकी सहायताके बिना स्वयं स्वाध्यायपूर्वक प्राप्त किया श्रुतज्ञान कभी-कभी गलत भी हो जाता है। शास्त्रज्ञान प्राप्त करके युक्तिसे उसका परीक्षण भी करना चाहिए। कहा भी है कि 'इस लोकमें जो युक्तिसम्मत है वही परमार्थ सत् है। क्योंकि सूर्यकी किरणोंके समान युक्तिका किसीके भी साथ पक्षपात नहीं है।' जैसे सब अनेकान्तात्मक है सत् होनेसे। जो सत् नहीं है वह अनेकान्तात्मक नहीं है जैसे आकाशका फूल। इसके बाद उस श्रुतको अपने अन्तस्तलमें उतारना चाहिए। गुरुमुखसे पढ़कर और युक्तिसे परीक्षण करके भी यदि उसपर अन्तस्तलसे

'श्रुतं केवलबोधश्च विश्वबोधात् समं द्वयम् ।
स्यात्परोक्षं श्रुतज्ञान प्रत्यक्षं केवलं स्फुटम् ॥' [ ]

प्रयोगः—सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात् यन्नेत्थं तन्नेत्थं यथा खपुष्पम् ॥७॥

अथ तीर्थाम्नायपूर्वकं श्रुतमभ्यस्येदित्युपदिशति—

वृष्टं श्रुताब्धेरुद्धृत्य सन्मेघैर्भव्यचातकाः ।
प्रथमाद्यनुयोगाम्बु पिबन्तु प्रीतये मुहुः ॥८॥

सन्मेघै'—सन्त. शिष्टा भगवज्जिनसेनाचार्यादय' ॥८॥

अथ प्रथमानुयोगाभ्यासे नियुंक्ते—

पुराणं चरितं चार्थाख्यानं बोधिसमाधिदम् ।
तत्त्वप्रथार्थी प्रथमानुयोगं प्रथयेत्तराम् ॥९॥

पुराणं—पुराभवमष्टाभिधेयं त्रिषष्टिशलाकापुरुषकथाशास्त्रम् । यदार्षम्—

'लोको देश. पुर राज्यं तीर्थं दानतपोद्वयम् ।
पुराणस्याष्टधाख्येयं गतय. फलमित्यपि ॥' [महापु ४।२]

श्रद्धा न हुई तो वह ज्ञान कैसे हितकारी हो सकता है। श्रुतज्ञानका बड़ा महत्त्व है। उसे केवलज्ञानके तुल्य कहा है। समन्तभद्र स्वामीने कहा[1] है—स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सर्व जीवादि तत्त्वोंके प्रकाश हैं। दोनोंमें भेद प्रत्यक्षता और परोक्षता है। जो दोनोंमें-से किसीका भी ज्ञानका विषय नहीं है वह वस्तु ही नहीं है ॥७॥

तीर्थ और आम्नायपूर्वक श्रुतका अभ्यास करनेका उपदेश देते हैं—

परमागमरूपी समुद्रसे संग्रह करके भगवज्जिनसेनाचार्य आदि सत्पुरुषरूपी मेघोंके द्वारा बरसाये गये प्रथमानुयोग आदि रूप जलको भव्यरूपी चातक बार-बार प्रीतिपूर्वक पान करें ॥८॥

विशेषार्थ—मेघोंके द्वारा समुद्रसे ग्रहीत जल बरसनेपर ही चातक अपनी चिरप्यासको बुझाता है। यहाँ भव्य जीवोंको उसी चातककी उपमा दी है क्योंकि चातककी तरह भव्य जीवोंको भी चिरकालसे उपदेशरूपी जल नहीं मिला है। तथा परमागसको समुद्रकी उपमा दी है और परमागमसे उद्धृत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंको जलकी उपमा दी है; क्योंकि जैसे जल तृष्णाको—प्यासको दूर करता है उसी तरह शास्त्रोंसे भी संसारकी तृष्णा दूर होती है। और उन शास्त्रोंकी रचना करनेवाले भगवज्जिनसेनाचार्य आदि आचार्योंको मेघकी उपमा दी है क्योंकि मेघोंकी तरह वे भी विश्वका उपकार करते है ॥८॥

आगे प्रथमानुयोगके अभ्यासकी प्रेरणा करते हैं—

हेय और उपादेयरूप तत्त्वके प्रकाशका इच्छुक भव्य जीव बोधि और समाधिको देनेवाले तथा परमार्थ सत् वस्तु स्वरूपका कथन करनेवाले पुराण और चरितरूप प्रथमानुयोगको अन्य तीन अनुयोगोंसे भी अधिक प्रकाशमें लावे अर्थात् उनका विशेष अभ्यास करे ॥९॥

---

१. 'स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेद' साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥'
—आप्तमी., १०५ ।

लोकस्तु—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशा मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥' [ब्रह्मवैवर्त पु., कृष्ण जन्म खण्ड १३१ अ.]

चरितं—एकपुरुषाश्रिता कथा। अर्थाख्यानं—अर्थस्य परमार्थसतो विषयस्य आख्यानं प्रतिपादन यत्र येन वा। बोधि·—अप्राप्ताना सम्यग्दर्शनादीना प्राप्तिः। प्राप्ताना तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः। धर्म्य-शुक्लध्याने वा। तौ दत्ते (तत्) तच्छ्रवणात्तत्प्राप्त्याद्युपपत्ते·। प्रथा—प्रकाश.। प्रथयेत्तरा—इतरानु-योगत्रयादतिशयेन प्रकाशयेत् तदर्थप्रयोगदृष्टान्ताधिकरणत्वात्तस्य ॥९॥

अथ करणानुयोगे प्रणिधत्ते—

**चतुर्गतियुगावर्तलोकालोकविभागवित्।
हृदि प्रणेयः करणानुयोगः करणातिगै ॥१०॥**

चतुर्गतयः—नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणाः। युगावर्तः—उत्सर्पण्यादिकालपरावर्तनम्। लोक·—लोक्यन्ते जीवादय· षट्पदार्था यत्रासौ त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयमात्ररज्जुपरिमित आकाशावकाश। ततोऽन्यो अलोको अनन्तानन्तमानावस्थित. शुद्धाकाशस्वरूप। प्रणेयः—परिचेय। करणानुयोग.—लोकायनि-लोक-विभाग-पञ्चसंग्रहादिलक्षणं शास्त्रम्। करणातिगै —जितेन्द्रियै ॥१०॥

विशेषार्थ—पूर्वमें हुए तिरेसठ शलाका पुरुषोंकी कथा जिस शास्त्रमें कही गयी हो उसे पुराण कहते हैं। उसमें आठ बातोंका वर्णन होता है। कहा है—'लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान तथा अन्तरंग और बाह्य तप—ये आठ बातें पुराणमें कहनी चाहिए तथा गतियों और फलको भी कहना चाहिए।'

ब्रह्मवैवर्त पुराणमें कहा है—'जिसमें सर्ग—कारणसृष्टि, प्रतिसर्ग—कार्यसृष्टि, वंश, मन्वन्तर और वंशोंके चरित हों उसे पुराण कहते हैं। पुराणके ये पाँच लक्षण हैं।'

जिसमें एक पुरुषकी कथा होती है उसे चरित कहते हैं। पुराण और चरित विषयक शास्त्र प्रथमानुयोगमें आते हैं। प्रथम नाम देनेसे ही इसका महत्त्व स्पष्ट है। अन्य अनुयोगोंमें जो सिद्धान्त आचार आदि वर्णित हैं, उन सबके प्रयोगात्मक रूपसे दृष्टान्त प्रथमानुयोगमें ही मिलते हैं। इसलिए इसके अध्ययनकी विशेष रूपसे प्रेरणा की है। उसके अध्ययनसे हेय क्या है और उपादेय क्या है, इसका सम्यक् रीतिसे बोध होता है साथ ही बोधि और समाधिकी भी प्राप्ति होती है। बोधिका अर्थ है—अप्राप्त सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति। और प्राप्त होनेपर उन्हें उनकी चरम सीमातक पहुँचाना समाधि है अथवा समाधि-का अर्थ है धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ॥९॥

अब करणानुयोग सम्बन्धी उपयोगमें लगाते हैं—

नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवरूप चार गतियों, युग अर्थात् सुषमा-सुषमा आदि कालके विभागोंका परिवर्तन; तथा लोक और अलोकका विभाग जिसमें वर्णित है उसे करणानुयोग कहते हैं। जितेन्द्रिय पुरुषोंको इस करणानुयोगको हृदयमें धारण करना चाहिए ॥१०॥

विशेषार्थ—करणानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंमें चार गति आदिका वर्णन होता है। नरकादि गति नामकर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्यायको गति कहते हैं। उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालोंके परिवर्तनको युगावर्त कहते हैं। जिसमें जीव आदि छहों पदार्थ देखे जाते हैं उसे लोक कहते हैं। अर्थात् तीन सौ तैतालीस राजु प्रमाण आकाशका प्रदेश लोक है। उसके चारों ओर अनन्तानन्त प्रमाण केवल आकाश अलोक है। इन सबका वर्णन

अथ चरणानुयोगमीमांसायां प्रेरयति—

सकलेतरचारित्रजन्मरक्षाविवृद्धिकृत् ।
विचारणीयश्चरणानुयोगश्चरणादृतैः ॥११॥

चरणानुयोगः—आचाराङ्गोपासकाध्ययनादि शास्त्रम् ॥११॥

अथ द्रव्यानुयोगभावनायां व्यापारयति—

जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ पुण्यपापे च वेदितुम् ।
द्रव्यानुयोगसमयं समयन्तु महाधियः ॥१२॥

द्रव्यानुयोगसमय—सिद्धान्तसूत्र-तत्त्वार्थसूत्रादिकम् । समयन्तु—सम्यग्जानन्तु ॥१२॥

अथ सदा जिनागमसम्यगुपास्ते फलमाह—

सकलपदार्थबोधनहिताहितबोधनभावसंवरा,
नवसंवेगमोक्षमार्गस्थिति तपसि चात्र भावनान्यदिक् ।
सप्तगुणाः स्युरेवममलं विपुलं निपुणं निकाचितं
सार्वमनुत्तरं वृजिनहृज्जिनवाक्यमुपासितुः सदा ॥१३॥

भावसंवरः—मिथ्यात्वाद्यास्रवनिरोध । नवेत्यादि—नवसंवेगश्च मोक्षमार्गस्थितिश्चेति समाहारः । अन्यदिक्—परोपदेशः । अमलं—पूर्वापरविरोधादिदोषरहितम् । विपुलं—लोकालोकार्थव्यापि । निपुणं—

करणानुयोगमें होता है। लोकानुयोग, लोकविभाग, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ उसी अनुयोगके अन्तर्गत है ॥१०॥

चरणानुयोगके चिन्तनमें प्रेरित करते हैं—

चारित्रपालनके लिए तत्पर पुरुषोंको सकलचारित्र और विकलचारित्रकी उत्पत्ति, रक्षा और विशिष्ट वृद्धिको करनेवाले चरणानुयोगका चिन्तन करना चाहिए ॥११॥

विशेषार्थ—हिंसा आदिके साथ रागद्वेषकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। उसके दो भेद हैं—सकल चारित्र और विकल चारित्र। इन चारित्रोंको कैसे धारण करना चाहिए, धारण करके कैसे उन्हें अतीचारोंसे बचाना चाहिए और फिर कैसे उन्हें बढ़ाना चाहिए, इन सबके लिए आचारांग, उपासकाध्ययन आदि चरणानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़ना चाहिए ॥११॥

द्रव्यानुयोगकी भावनामें लगाते हैं—

तीक्ष्ण बुद्धिशाली पुरुषोंको जीव-अजीव, बन्ध-मोक्ष और पुण्य-पापका निश्चय करनेके लिए सिद्धान्तसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, पंचास्तिकाय आदि द्रव्यानुयोग-विषयक शास्त्रोंको सम्यक् रीतिसे जानना चाहिए ॥१२॥

इस प्रकार चारों अनुयोगोंमें संगृहीत जिनागमकी उपासनाका फल कहते हैं—

जिनागम पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे रहित होनेसे अमल है, लोक और अलोकवर्ती पदार्थोंका कथन करनेवाला होनेसे विपुल है, सूक्ष्म अर्थका दर्शक होनेसे निपुण है, अर्थतः अवगाढ—ठोस होनेसे निकाचित है, सबका हितकारी है, परम उत्कृष्ट है और पापका हर्ता है। ऐसे जिनागमकी जो सदा अच्छी रीतिसे उपासना करता है उसे सात गुणोंकी प्राप्ति होती है—१. त्रिकालवर्ती अनन्त द्रव्य पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान होता है, २. हितकी प्राप्ति

सूक्ष्मार्थदर्शि। निकाचितं—अर्थावगाढम्। सार्वं—सर्वहितम्। अनुत्तरं—परमोत्तमम्। वृजिनहृत्—पापापहारि। उपासितुः—साधुत्वेन सेवमानस्य ॥१३॥

अथाष्टधा विनयं ज्ञानाराधनार्थमाह—

ग्रन्थार्थतद्द्वयैः पूर्णं सोपधानमनिह्नवम्।
विनयं बहुमानं च तन्वन् काले श्रुतं श्रयेत् ॥१४॥

सोपधानं—यथाविहितनियमविशेषसहितम्। अनिह्नवं—गुर्वाद्यपह्नवरहितम्। काले—यथाविहिते सन्ध्याग्रहणादिवर्जिते ॥१४॥

अथ सम्यक्त्वानन्तरज्ञानाराधने हेतुमाह—

आराध्य दर्शनं ज्ञानमाराध्यं तत्फलत्वतः।
सहभावेऽपि ते हेतुफले दीपप्रकाशवत् ॥१५॥

स्पष्टम् ॥१५॥

और अहितके परिहारका ज्ञान होता है, ३. मिथ्यात्व आदिसे होनेवाले आस्रवका निरोधरूप भाव संवर होता है अर्थात् शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप परिणाम होता है, ४. प्रति समय संसारसे नये-नये प्रकारकी भीरुता होती है, ५. व्यवहार और निश्चयरूप रत्नत्रयमें अवस्थिति होती है उससे चलन नहीं होता, ६ रागादिका निग्रह करनेवाले उपायोंमें भावना होती है और ७ परको उपदेश देनेकी योग्यता प्राप्त होती है ॥१३॥

ज्ञानकी आराधनाके लिए आठ प्रकारकी विनय कहते हैं—

ग्रन्थपूर्णता, अर्थपूर्णता, उभयपूर्णता, सोपधानता, अनिह्नव, विनय और बहुमानके साथ योग्यकालमें मुमुक्षुको जिनागमका अभ्यास करना चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थ—ज्ञानकी आराधना विनयपूर्वक करनी चाहिए। विनयके आठ अंग हैं—उनमें सबसे प्रथम तो ज्ञानके तीन अंग हैं—ग्रन्थरूप, अर्थरूप और उभयरूप। इन तीनोंकी पूर्णता होनी चाहिए। जिस ग्रन्थका स्वाध्याय किया जाये उसका शुद्ध वाचन हो, उसके अर्थका सम्यक् अभ्यास हो—गूढ अर्थ भी छिपा न रहे, इन दोनोंकी पूर्णता होनी चाहिए, शब्द और अर्थ दोनोंकी सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। शेष पाँच ज्ञानकी आराधनाके अंग हैं—ज्ञानकी आराधनाकी जो विधि-नियम आदि कहे हैं उनके साथ आराधना करना सोपधानता है। जिनसे शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हो उन गुरु आदिका नाम न छिपाना अनिह्नव है। ज्ञानका माहात्म्य प्रकट करनेके लिए जो कुछ प्रयत्न किया जाता है वह विनय है। ज्ञानका, ज्ञानके साधन शास्त्र, गुरु, पाठशाला आदिका खूब आदर-सत्कार करना बहुमान है। तथा योग्य कालमें ही स्वाध्याय करना चाहिए, सन्ध्यासमय और चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहणके समय सिद्धान्त ग्रन्थोंका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अकलंक देवने तत्त्वार्थवार्तिक (१।२०।१४) में अंगबाह्यके कालिक-उत्कालिक आदि भेद किये हैं। जिसका स्वाध्यायकाल नियत है उसे कालिक कहते हैं और जिसका काल नियत नहीं है उसे उत्कालिक कहते हैं। आचार्य वीरनन्दिने आचारसारके चतुर्थ अधिकारमें कालादि शुद्धिपूर्वक स्वाध्यायका कथन करते हुए पुराण, आराधना, पंचसंग्रह आदिके अध्ययनको इस नियमसे वर्जित रखा है ॥१४॥

सम्यक्त्वकी आराधनाके पश्चात् ज्ञानकी आराधना करनेका कारण बतलाते हैं—

मुमुक्षुको सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेके पश्चात् श्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए क्योंकि सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनका कार्य है। इसपर प्रश्न हो सकता है कि जैसे गायके

अथ तपसः समीहितार्थसाधकत्वं ज्ञानं विना न स्यादिति दर्शयति—

विभावमरुता विपद्वति चरद् भवाब्धौ सुरुक्,
प्रभुं नयति किं तपःप्रवहणं पदं प्रेप्सितम् ।
हिताहितविवेचनादवहितः प्रबोधोऽन्वहं,
प्रवृत्तिविनिवृत्तिकृद्यदि न कर्णधारायते ॥१६॥

विभावमरुता—रागाद्यावेशवायुना । विपद्वति—आपद्बहुले । सुरुक्—बहुक्लेश । अवहित —अवधानपर ॥१६॥

अथ ज्ञानस्योद्योतना (-द्या-) राधनात्रितयमाह—

दो सींग एक साथ उगते हैं अत. उनमें कार्यकारण भाव नहीं है। उसी तरह सम्यग्दर्शनके साथ ही सम्यग्ज्ञान होता है तब उनमें कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है तो उत्तर देते है कि दीपक और उसके प्रकाशकी तरह एक साथ होनेपर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमे कार्य-कारण भाव है ॥१५॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्वके अभावमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कुमति और कुश्रुत होते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शनके होते ही वे मतिज्ञान श्रुतज्ञान कहलाते हैं। अतः वे ज्ञान तो पहले भी थे किन्तु उनमे सम्यकपना सम्यग्दर्शनके होनेपर हुआ। कहा है—'दुरभिनिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि'—द्रव्य सं गा. ४१। उस सम्यक्त्वके होनेपर ही ज्ञान मिथ्या अभिप्रायसे रहित सम्यक् होता है। अतः सम्यग्दर्शन कारणरूप है और सम्यग्ज्ञान कार्य-रूप है। इसपर यह प्रश्न होता है कि कारण पहले होता है कार्य पीछे होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो एक साथ होते है अतः कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है। उसका समाधान ऊपर किया है। पुरुषार्थसि. ३४ में कहा भी है—

'यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समय उत्पन्न होते हैं फिर भी उनमें कार्य-कारण भाव यथार्थ रूपसे घटित होता है। जैसे दीपक और प्रकाश एक ही समय उत्पन्न होते है फिर भी दीपक प्रकाशका कारण है और प्रकाश उसका कार्य है क्योंकि दीपक-से प्रकाश होता है' ॥१५॥

आगे कहते है कि ज्ञानके बिना तप इच्छित अर्थका साधक नहीं होता—

यदि हित और अहितका विवेचन करके हितमें प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्ति करने-वाला प्रमादरहित ज्ञान प्रतिदिन कर्णधारके समान मार्गदर्शन न करे तो रागादिके आवेश-रूप वायुसे क्लेशपूर्ण विपत्तिसे भरे संसाररूपी समुद्रमें चलनेवाला तपरूपी जहाज क्या मुमुक्षुको इच्छित स्थानपर पहुँचा सकता है अर्थात् नहीं पहुँचा सकता ॥१६॥

विशेषार्थ—जैसे वायुसे क्षुब्ध समुद्रमें पड़ा हुआ जहाज प्रतरण कलामें कुशल नाविक की मददके बिना आरोहीको उसके गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँचा सकता, वैसे ही हिताहित विचारपूर्वक हितमें प्रवृत्ति करानेवाले और अहितसे निवृत्ति करानेवाले ज्ञानकी मददके बिना ज्ञानशून्य तप भी मुमुक्षुको मोक्ष नहीं पहुँचा सकता ॥१६॥

सम्यग्ज्ञानकी उद्योतन आदि तीन आराधनाओंको कहते हैं—

ज्ञानावृत्युदयाभिघात्युपहितैः संदेहमोहभ्रमैः,
स्वार्थभ्रंशपरैर्वियोज्य परया प्रीत्या श्रुतश्रीप्रियाम् ।
प्राप्य स्वात्मनि यो लयं समयमप्यास्ते विकल्पातिगः,
सद्यः सोऽस्तमलोच्चयश्चिरतपोमात्रश्रमैः काम्यते ॥१७॥

अभिघातिः[1]—शत्रु । वियोज्य—सन्देहादिभिस्त्याजयित्वा इत्यर्थः । एतेनोद्योतनमुक्तं, प्राप्य—नीत्वा । लय—एकत्वपरिणतिमाश्लेषं च । एतेनोद्यवनमुक्तम् । समयमपि—एकमपि क्षणमल्पकालमपीत्यर्थः । आस्ते—परमानन्देन तिष्ठतीत्यर्थः । एतेन निर्वहणं भणितम् । सद्य इत्यादि । उक्तं च—

'जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ [2]णिमिसद्धमेत्तेण ॥ [ ]

चिरेत्यादि—चिरबहुकालं तपोमात्रे ज्ञानाराधनारहितकायक्लेशाद्यनुष्ठाने श्रमोऽभ्यासो येषाम् ॥१७॥

अथ बोधप्रकाशस्य दुर्लभत्वमाह—

ज्ञानावरण कर्मके उदयरूप शत्रुके द्वारा उत्पन्न किये गये संशय विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान पुरुषार्थको नष्ट करते हैं। इनके रहते हुए यथार्थ वस्तु-स्वरूपका बोध नहीं हो सकता। अतः श्रुतज्ञान भावनारूपी प्रियाको इनसे वियुक्त करके अत्यन्त प्रीतिके साथ उसे जो अपनी आत्मामें लय करके एक क्षणके लिए भी निर्विकल्प होता है उसके कर्ममल तत्काल निर्जीर्ण हो जाते हैं। और जो ज्ञानाराधनासे शून्य कायक्लेशरूप तपमें चिरकालसे लगे हैं वे भी उसकी अनुमोदना करते हैं कि यह व्यक्ति ठीक कर रहा है ॥१७॥

विशेषार्थ—यहाँ ज्ञानावरण कर्मके उदयको शत्रुकी उपमा दी है, क्योंकि वह शत्रुके समान सदा अपकारमें ही तत्पर रहता है। 'एक मेरी आत्मा ही शाश्वत है' इत्यादि श्रुतज्ञान भावनाको प्रियपत्नीकी उपमा दी है क्योंकि वह अपने स्वामीको प्रगाढ़ आनन्द देनेवाली है। जैसे ज्ञानी राजा अपने शत्रुओंके द्वारा प्रेषित व्यक्तियोंके फन्देमें फँसी अपनी प्रियपत्नीको उनसे छुड़ाकर बड़े प्रेमके साथ उसे अपनेमें लय करके आनन्दमग्न हो जाता है उसी तरह ज्ञानका उद्योतन, उद्यवन और निर्वहण करनेवाला मुमुक्षु अपनी ज्ञान भावनाको ज्ञानावरण कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले संशय आदिसे मुक्त करके यदि उसमें एक क्षणके लिए भी लीन होकर निर्विकल्प हो जाये—'यह क्या है, कैसा है, किसका है, किससे है, कहाँ है, कब है' इत्यादि अन्तर्जल्पसे सम्पृक्त भावना जालसे रहित हो जाये तो उसके कर्मबन्धन तत्काल कट जाते हैं। कहा भी है—'अज्ञानी जीव लाख-करोड़ भवोंमें—जितना कर्म खपाता है, तीन गुप्तियोंका पालक ज्ञानी उसे आधे निमेष मात्रमें नष्ट कर देता है।'

यहाँ ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाले संशय आदिको दूर करना ज्ञानका उद्योतन है। परम प्रीतिपूर्वक श्रुतज्ञान भावनाको प्राप्त करके आत्मामें लय होना ज्ञानका उद्यवन है और एक समयके लिए निर्विकल्प होना ज्ञानका निर्वहण है। इस प्रकार ज्ञानकी तीन आराधनाओंका कथन किया है ॥१७॥

ज्ञानके प्रकाशको दुर्लभ बतलाते हैं—

---

१. अभिभाति भ. कु. च टी. ।

२. 'उस्सासमेत्तेण'—प्रव सा. ३।३८ । 'अंतोमुहुत्तेण, भ. आ. १०८ ।

दोषोच्छेदविजृम्भितः कृततमश्छेदः शिवश्रीपथः
सत्त्वोद्बोधकरः प्रक्लृप्तकमलोल्लासः स्फुरद्वैभवः ।
लोकालोकततप्रकाशविभवः कीर्तिं जगत्पाविनीं,
तन्वन् क्वापि चकास्ति बोधतपनः पुण्यात्मनि व्योमनि ॥१८॥

दोषोच्छेद —सन्देहादिविनाशो रात्रिक्षयश्च । शिवश्रीपथ —मोक्षलक्ष्मीप्राप्त्युपायः पक्षे शिवानां—मुक्ताना प्रधानमार्ग । सत्त्वोद्बोधकरः—सात्त्विकत्वाभिव्यक्तिकारी प्राणिना निद्रापसारी च । प्रक्लृप्त इत्यादि—प्रक्लृप्तो रचित. कमलाया. श्रिय , पक्षे कमलाना पङ्कजानामुल्लास उद्गतिर्विकासश्च येन । अथवा, कस्य आत्मनो मला रागादयस्तेषामुल्लास उद्भव प्रक्लृप्त प्रकर्षेण च्छिन्नोऽसौ येन बोधेनेति ग्राह्यम् । लोकालोको पूर्वोक्तो । लोकालोकश्चक्रवालशैल । कीर्ति—यश स्तुति च ॥१८॥

अथ ज्ञानस्य साधननिस्तरणयो प्रणुदति—

निर्मंथ्यागमदुग्धाब्धिमुद्धृत्यातो महोद्यमाः ।
तत्त्वज्ञानामृतं सन्तु पीत्वा सुमनसोऽमराः ॥१९॥

उद्धृत्य, एतेन साधनमाम्नात समग्रद्रव्यागमावगाहनप्रभवभावागमसंपूर्णीकरणलक्षणत्वात् तत्त्वज्ञानोद्धरणस्य । तत्त्वज्ञानामृत—परमोदासीनज्ञानपीयूष पीत्वा । एतेन निस्तरणमुक्तम् । तत्त्वज्ञानपरिणत्य-

सम्यग्ज्ञान सूर्यके समान है। जैसे सूर्य दोषा अर्थात् रात्रिका क्षय करनेमें निरंकुश रूपसे प्रवृत्त होता है वैसे ही ज्ञान भी दोषोंका विनाश करनेमें निरंकुश रूपसे प्रवृत्त होता है। जैसे सूर्य तमका विध्वंस करता है वैसे ही ज्ञान भी तम अर्थात् ज्ञानको रोकनेवाले कर्मका विध्वंस करता है। जैसे सूर्य मुक्तिको जानेवालोंका प्रधान मार्ग है (एक मतके अनुसार मुक्त हुए जीव सूर्य मण्डलको भेदकर जाते हैं) वैसे ही ज्ञान भी मुक्त जीवोंका प्रधान मार्ग है। जैसे सूर्य प्राणियोंको नींदसे जगाता है वैसे ही ज्ञान भी प्राणियोंको मोहरूपी निद्रासे जगाता है। जैसे सूर्य कमलोंको विकसित करता है वैसे ही ज्ञान भी 'क' अर्थात् आत्माके रागादि मलोंकी उत्पत्तिको एकदम नष्ट कर देता है। सूर्यका प्रभाव भी मनुष्योंके मनमें चमत्कार पैदा करता है, ज्ञानका प्रभाव तीनों लोकोंका अधिपतित्व मनुष्योंके मनमें चमत्कार पैदा करता है। सूर्य अपना प्रकाश लोकालोक अर्थात् चक्रवाल पर्वतपर फैलाता है, ज्ञानका प्रकाश लोक-अलोकमें फैलता है क्योंकि वह लोकालोकको जानता है। सूर्य भी जगत्को पवित्र करनेवाली अपनी कीर्तिको फैलाता है—भक्त लोग उसका स्तुतिगान करते हैं। ज्ञान भी धर्मोपदेशरूप दिव्यध्वनिसे जगत्को पवित्र करता है। जैसे सूर्य अन्धकारादि दोषोंसे रहित आकाशमें प्रकाशित होता है वैसे ही ज्ञान भी किसी एक पुण्यात्मा जीवमें प्रकाशित होता है अर्थात् सबमें ज्ञानका उदय होना असम्भव है ॥१८॥

आगे ज्ञानकी साधन आराधना और निस्तरण आराधनाको कहते हैं—

हिन्दू पुराणोंमें कथा है कि देवोंने बड़े उत्साहसे समुद्र-मन्थन करके अमृतका पान किया था और अमर हो गये थे। उसीको दृष्टिमें रखकर कहते हैं कि मैत्री आदि भावनाओंसे प्रसन्नचित्त ज्ञानीजन आगमरूपी समुद्रका मन्थन करके—शब्दसे, अर्थसे और आक्षेप समाधानके द्वारा पूरी तरह विलोडन करके उससे निकाले गये तत्त्वज्ञानरूपी अमृतको पीकर अपने उत्साहको बढ़ावें और अमरत्वको प्राप्त करें—पुनर्मरणसे मुक्त होवें ॥१९॥

विशेषार्थ—आगमरूपी समुद्रका मन्थन करके तत्त्वज्ञानरूपी अमृतका उद्धार करनेसे ज्ञानकी साधन आराधनाको कहा है क्योंकि तत्त्वज्ञानके उद्धारका मतलब है सम्पूर्ण द्रव्यरूप

न्तरभाविनोऽमरभावस्य तच्छब्दाभिधेयत्वात् । सुमनसः—प्रसन्नचित्ता देवाश्च । अमराः—मृत्युरहिताः । मृत्युश्चात्र पुनर्मरणमपमृत्युश्च ॥१९॥

अथ मनसो चञ्चलत्वमनूद्य तन्निग्रहेण स्वाध्यायप्रणिधानादतिदुर्द्धरस्यापि संयमस्य सुवहत्वं निरूपयितुं श्लोकत्रयमाह—

लातुं वीलनमत्स्यवद् गमयितुं मार्गे विदुष्टाश्ववन्निम्नाद्रोद्‌धुमगापगौघ इव यन्नो वाञ्छिताच्छक्यते ।
दूरं यात्यनिवारणं यदणुवद् द्राग्वायुवच्चाभितो, नश्यत्याशु यदब्दवद्बहुविधैर्भृत्वा विकल्पैर्जगत् ॥२०॥

वीलनमत्स्यवत्—मसृणतरदेहमत्स्य इव । अगापगौघः—पर्वतनदीपूर । अभितः—समन्ताद्यातीति सम्बन्ध । अब्दवत्—मेघैस्तुल्यम् । विकल्पै.—चिन्ताविवर्तै. भेदैश्च ॥२०॥

नो मूकवद् वदति नान्धवदीक्षते यद्रागातुरं बधिरवन्न शृणोति तत्त्वम् ।
यत्राऽयते यतवचोवपुषोऽपि वृत्तं, क्षिप्रं क्षरत्यवितथं तितओरिवाम्भः ॥२१॥

किं च, अयते—असयते । तितओ.—चालन्या ॥२१॥

व्यावर्त्याशुभवृत्तितो सुनयवन्नीत्वा निगृह्य त्रपां, वश्यं स्वस्य विधाय तद्भृतकवत्प्रापय्य भावं शुभम् ।
स्वाध्याये विदधाति यः प्रणिहितं चित्तं भृशं दुर्धरं, चक्रेशैरपि दुर्वहं स वहते चारित्रमुच्चैः सुखम् ॥२२॥ [त्रिकलम्]

आगमके अवगाहनसे उत्पन्न भावागमकी सम्पूर्णता। तथा 'ज्ञानामृतको पीकर अमरता प्राप्त करे' इससे निस्तरण आराधनाको कहा है क्योंकि तत्त्वज्ञानरूप परिणतिके अनन्तर होनेवाला अमरत्व निस्तरण शब्दका अभिधेय है ॥१९॥

मनको अत्यन्त चंचल बतलाकर उसके निग्रहके द्वारा स्वाध्यायमें मन लगानेसे अति दुर्धर भी संयम सुखपूर्वक धारण किया जा सकता है, यह बात तीन श्लोकोंसे कहते हैं—

जो मन अत्यन्त चिकने शरीरवाले मत्स्यकी तरह पकड़नेमे नहीं आता, जिसे दुष्ट घोड़ेकी तरह इष्ट मार्ग पर चलाना अत्यन्त कठिन है, निचले प्रदेशकी ओर जानेवाले पहाड़ी नदीके प्रवाहकी तरह इच्छित वस्तुकी ओर जानेसे जिसे रोकना अशक्य है, जो परमाणुकी तरह बिना रुके दूर देश चला जाता है, वायुकी तरह शीघ्र ही सब ओर फैल जाता है, शीघ्र ही नाना प्रकारके विकल्पोंसे जगतको भरकर मेघकी तरह नष्ट हो जाता है, इष्ट तत्त्वको विषयके प्रति रागसे पीड़ित होनेपर गूँगेकी तरह कहता नहीं है, अन्धेकी तरह देखता नहीं है, बहरेकी तरह सुनता नहीं है तथा जिसके अनियन्त्रित होनेपर वचन और कायको वशमें कर लेनेवाले पुरुषका सच्चा चारित्र भी चलनीसे जलकी तरह शीघ्र ही खिर जाता है, उस अत्यन्त दुर्धर मनको जो प्रमादचर्या, कलुषता, विषयलोलुपता आदि अशुभ प्रवृत्तियोसे हटाकर, दुर्जन पुरुषकी तरह ज्ञान संस्कार रूपी दण्डके बलसे निग्रह करके, लज्जित करके, खरीदे हुए दासकी तरह अपने वशमें करके शुभ भावोंमें लगाकर स्वाध्यायमें एकाग्र करता है, वह चक्रवर्तियोंसे भी धारण किये जानेमें अशक्य उच्च चारित्रको सुखपूर्वक धारण करता है ॥२०-२२॥

ततः असुनयवर्जसमस्ततपोभ्यः स्वाध्यायस्योत्कृष्टशुद्धिहेतुतया समाधिमरणसिद्ध्यर्थं नित्यकर्तव्यता दर्शयति—

माभून्नास्ति न वा भविष्यति तपःस्कन्धे तपो यत्समं
कर्मान्यो भवकोटिभिः क्षिपति यद्योऽन्तर्मुहूर्तेन तत् ।
शुद्धिं वाऽनशनादितोऽमितगुणां येनाऽश्नुतेऽश्नन्नपि,
स्वाध्यायः सततं क्रियेत स मृतावाराधनासिद्धये ॥२३॥

स्कन्धे—समूहे । अन्यः—तपोविधि । अमितगुणा—अनन्तगुणाम् ॥२३॥

अथ श्रुतज्ञानाराधनाया परम्परया परममुक्तिहेतुत्वमाह—

श्रुतभावनया हि स्यात् पृथक्त्वैकत्वलक्षणम् ।
शुक्लं ततश्च कैवल्यं ततश्चान्ते पराच्युतिः ॥२४॥

पृथक्लक्षणं - पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्यं क्षण (?) पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्य प्रथम शुक्लध्यानम्, एकत्वलक्षण—एकत्ववितर्कावीचारसंज्ञित द्वितीयशुक्लध्यानम् । ततः—ताभ्या प्रथमापेक्षत्वाद् द्वितीयस्य । संसाराभावे पुंसः स्वात्मलाभो मोक्ष इति वचनात् । अथवा अन्ते मरणे, पण्डितपण्डितमरणप्राप्यत्वान्निर्वाणस्य । इति भद्रम् ॥२४॥

इति आशाधरदृब्धाया स्वोपज्ञधर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञाया तृतीयोऽध्याय ॥३॥

अत्र अध्यायग्रन्थप्रमाण त्रिंश शत, अङ्कत श्लोका १३० ।

ध्यानको छोडकर शेष सभी तपोंमें स्वाध्याय ही ऐसा तप है जो उत्कृष्ट शुद्धिमें हेतु है । अतः समाधिमरणकी सिद्धिके लिए उसे नित्य करनेका विधान करते हैं—

अनशन आदि छह बाह्य तपों और प्रायश्चित्त आदि पाँच अभ्यन्तर तपोंके समूहमें जिसके समान तप न हुआ, न है, न होगा, जो कर्म अन्य तपस्वी करोडों भवोंमें निर्जीर्ण करता है उसे जो अन्तर्मुहूर्तमें ही निर्जीर्ण करता है, जिसके द्वारा भोजन करते हुए भी अनशन आदिसे अनन्तगुनी विशुद्धि प्राप्त होती है वह स्वाध्याय तप मरणके समय आराधनाकी सिद्धिके लिए सदा करना चाहिए ॥२३॥

आगे कहते हैं कि श्रुतज्ञानकी आराधना परम्परासे मुक्तिकी कारण है—

यतः श्रुतभावनासे पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क रूप शुक्लध्यान होते हैं । शुक्लध्यानसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और केवलज्ञानसे अन्तमें परम मुक्ति प्राप्त होती है ॥२४॥

विशेषार्थ—श्रुतभावना व्यग्रतारहित ज्ञानरूप भी होती है और एकाग्र ज्ञान रूप भी होती है । व्यग्रता रहित ज्ञान रूपको स्वाध्याय कहते हैं और एकाग्र ज्ञान रूपको धर्म्यध्यान कहते हैं । अतः स्वाध्यायसे धर्मध्यान होता है । धर्मध्यानसे पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक शुक्ल ध्यान होता है । उससे एकत्व वितर्क वीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान होता है । उससे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है । उसके पश्चात् क्रमसे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्लध्यान होते हैं । अन्तिम शुक्लध्यानसे सब कर्मोंका क्षय होकर सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे युक्त परम मुक्ति प्राप्त होती है ॥२४॥

इस प्रकार पं. आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका तथा ज्ञानदीपिका पंजिकाकी अनुगामिनी हिन्दी टीकामें ज्ञानाराधनाधिगम नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ ।

चतुर्थ अध्याय

अथ क्रमप्राप्तां चारित्राराधनां प्रति मुमुक्षूनुत्साहयति—

सम्यग्दृष्टिसुभूमिवैभवलसद्विद्याम्बुमाद्यद्दया-
मूलः सद्व्रतसुप्रकाण्ड उदयद्गुप्त्यग्रशाखाभरः ।
शीलोद्यद्विटपः समित्युपलतासंपद्गुणोद्घोद्गम-
श्छेत्तुं जन्मपथक्लमं सुचरितच्छायातरुः श्रीयताम् ॥१॥

वैभवं—प्रभावः । दया—दुःखार्तजन्तुत्राणाभिलाषः । प्रकाण्ड.—स्कन्ध. । विटपः—विस्तारः । उपलता—उपशाखा. । उद्घोद्गमानि—प्रशस्तपुष्पाणि । जन्म—संसार । सुचरितं—सर्वसावद्ययोगविरतोऽस्मीत्येव रूप सामायिकं नाम प्रागुपादेयं सम्यक्चारित्रम् । तस्यैवैदंयुगीनानुद्दिश्य छेदोपस्थापनरूपतया प्रपञ्च्यमानत्वात् । छायातरुः—यस्यार्कपरिवर्तनेऽपि छाया न चलत्यसौ ॥१॥

अब क्रमसे प्राप्त चारित्राराधनाके प्रति मुमुक्षुओंको उत्साहित करते हैं—

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अच्छी तरहसे बारम्बार सेवन करनेवाले मुमुक्षुओंको जन्मरूपी मार्गकी थकान दूर करनेके लिए सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्षका आश्रय लेना चाहिए। इस वृक्षका मूल दया है। यह दयारूप मूल दर्शनविशुद्धिरूपी उत्तम भूमिके प्रभावसे अपना कार्य करनेमें समर्थ सम्यक् श्रुतज्ञानरूपी जलसे हरा-भरा है। समीचीन व्रत उसका स्कन्ध (तना) है। गुप्तिरूप प्रधान उन्नत शाखासे शोभित है। शीलरूपी उठा हुआ विटप है। समितिरूप उपशाखा सम्पदासे युक्त है। उसमें संयमके भेद-प्रभेदरूपी सुन्दर फूल लगे हैं ॥१॥

विशेषार्थ—सम्यक्चारित्रको छायातरुकी उपमा दी है। सूर्यकी दिशा बदल जानेपर भी जिसकी छाया बनी रहती है उसे छायावृक्ष कहते हैं। सम्यक्चारित्र ऐसा ही छायावृक्ष है। उसका मूल दया है। दुःखसे पीड़ित जन्तुकी रक्षा करनेकी अभिलाषाका नाम दया है। वही दया सम्यक्चारित्ररूपी वृक्षका मूल है। वह मूल विशुद्ध सम्यग्दर्शनरूपी भूमिमें श्रुतज्ञानरूपी जलसे सिंचित होनेसे अपना कार्य करनेमें समर्थ है। जिसमें-से अंकुर फूटता है वह मूल होता है। दयारूपी मूलमें-से ही व्रतादिरूप अंकुर फूटते हैं। अतः व्रत उसका तना है। गुप्ति उसकी प्रधान शाखा है। सम्यक् रीतिसे योगके निग्रहको गुप्ति कहते हैं। समितियाँ उपशाखाएँ हैं। शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करनेका नाम समिति है। शील विटप है—वृक्षका फैलाव है। जो व्रतकी रक्षा करता है उसे शील कहते हैं। संयमके भेद उसके फल-फूल हैं। इस तरह सम्यक्चारित्र छायावृक्षके तुल्य है जो संसाररूपी मार्गमें भ्रमण करनेसे उत्पन्न हुए थकानको दूर करता है। सबसे प्रथम 'मैं सर्व सावद्ययोगसे विरत हूँ' इस प्रकार सामायिकरूप सम्यक्चारित्र उपादेय होता है। उसी चारित्रको यहाँ इस युगके साधुओंके उद्देश्यसे छेदोपस्थापनारूपमें विस्तारसे कहा जाता है ॥१॥

अथ सम्यक्त्वज्ञानयोः सम्पूर्णत्वेऽपि सति चारित्रासम्पूर्णतायां परममुक्त्यभावमावेदयति—

परमावगाढसुदृशा परमज्ञानोपचारसंभृतया ।
रक्ताऽपि नाप्रयोगे सुचरितपितुरीशमेति मुक्तिश्रीः ॥२॥

परमावगाढसुदृशा—अचलक्षायिकसम्यक्त्वेन । अतिचतुरदूत्या च उपचारः—कामितालङ्कारादिसत्कारः । रक्ता—अनुकूलिता उत्कण्ठिता च । अप्रयोगे—सयोगत्वाघातिकर्मतीव्रोदयत्वस्वरूपातिचारसद्भावादसंपूर्णत्वेऽसंप्रदाने च । ईशं—जीवन्मुक्तं वरयिष्यन्तं च नायकम् । मुक्तिश्रीः—परममुक्तिः । अत्र उपमानभूता कुलकन्या गम्यते ॥२॥

अथ लसद्विद्येति समर्थयितुमाह—

ज्ञानमज्ञानमेव स्याद्विना सद्दर्शनं यथा ।
चारित्रमप्यचारित्रं सम्यग्ज्ञानं विना तथा ॥३॥

व्याख्यातप्रायम् ॥३॥

भूयोऽपि—

हितं हि स्वस्य विज्ञाय श्रयत्यहितमुज्झति ।
तद्विज्ञानं पुनश्चारि चारित्रस्याघमाघ्नतः ॥४॥

अघं—कर्म । आघ्नतः—निर्मूलयतः ॥४॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके सम्पूर्ण होनेपर भी चारित्रकी पूर्णता न होनेपर परममुक्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं—

केवलज्ञानरूपी उपचारसे परिपुष्ट परमावगाढ़ सम्यग्दर्शनके द्वारा अनुकूल की गयी भी मुक्तिश्रीरूपी कन्या सम्यक्चारित्ररूपी पिताके द्वारा न दिये जानेपर सयोगकेवलीरूपी वरके पास नहीं जाती ॥२॥

विशेषार्थ—परममुक्ति कुलीन कन्याके तुल्य है। और समस्त मोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण सदा निर्मल आत्यन्तिक क्षायिक चारित्र पिताके तुल्य है। जीवन्मुक्त केवलज्ञानी वरके तुल्य है। केवलज्ञान इच्छित वस्त्र-अलंकार आदिसे किये गये सत्कारके तुल्य है। और परमावगाढ सम्यग्दर्शन चतुर दूतीके तुल्य है। जैसे चतुर दूतीके द्वारा भोगके लिए आतुर भी कुलकन्या पिताके द्वारा कन्यादान किये बिना इच्छित वरके पास नहीं जाती वैसे ही परमावगाढ सम्यक्त्व और केवलज्ञानके द्वारा अवश्य प्राप्त करनेकी स्थितिमें लाये जानेपर भी परममुक्ति अघातिकर्मोंकी निर्जरामें कारण समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति नामक परम शुक्लध्यानके प्राप्त न होनेसे क्षायिक चारित्रके असम्पूर्ण होनेके कारण सयोगकेवलीके पास नहीं आती। इससे उत्कृष्ट चारित्रकी आराधनाको परममुक्तिका साक्षात् कारण कहा है ॥२॥

आगे ज्ञानपूर्वक चारित्रका समर्थन करते हैं—

जैसे सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान अज्ञान होता है वैसे ही सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र भी चारित्राभास होता है ॥३॥

पुनः उक्त कथनका ही समर्थन करते हैं—

यतः मुमुक्षु अपने हित सम्यग्दर्शन आदिको अच्छी तरहसे जानकर अपने अहित मिथ्यात्व आदिको छोड़ देता है। अतः विज्ञान कर्मका निर्मूलन करनेवाले चारित्रका अगुआ है—चारित्रसे पहले ज्ञान होता है ॥४॥

अथ सम्यग्ज्ञानपूर्वके चारित्रे यत्नवतो जगद्विजयं कथयति—

देहेष्वात्ममतिर्दुःखमात्मन्यात्ममतिः सुखम् ।
इति नित्यं विनिश्चिन्वन् यतमानो जगज्जयेत् ॥५॥

देहेषु स्वगतेष्वौदारिकादिषु त्रिषु चतुर्षु वा परगतेषु तु यथासंभवम् । आत्ममतिः—आत्मेति मननं देह एवाहमिति कल्पनेति यावत् । यतमानः—परद्रव्यनिवृत्ति-शुद्धस्वात्मानुवृत्तिलक्षणं यत्नं कुर्वन् । जगज्जयेत्—सर्वज्ञो भवेदित्यर्थः ॥५॥

अथ दयेति सफलयितुमाह—

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः ।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत् ॥६॥

कुत ? दयामूलत्वाद् धर्मस्य । यदार्षम्—

'दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राणानुकम्पनम् ।
दयाया. परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः ॥' [महापु. ५।२१]

भूतद्रुहा—जन्तून् हन्तुमिच्छूनाम् । कापि—स्नानदेवार्चनदानाध्ययनादिका ॥६॥

अथ सदयनिर्दययोरन्तरमाविष्करोति—

दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गतिः स्याददुर्गतिः ।
व्रतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गतिः स्याददुर्गतिः ॥७॥

अदुर्गति. । सुगमा ॥७॥

अथ निर्दयस्य तपश्चरणादिनैष्फल्यकथनपुरस्सरं दयालोस्तवकर्तृत्वेऽपि तत्फलपुष्टिलाभं प्रकाशयति—

आगे कहते हैं कि सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्रमें प्रयत्नशील व्यक्ति जगत्को विजय करता है—

अपने या पराये औदारिक आदि शरीरोंमें आत्मबुद्धि—शरीर ही मैं हूँ या मैं ही शरीर हूँ इस प्रकारकी कल्पना दुःखका कारण है और आत्मामें आत्मबुद्धि—मैं ही मैं हूँ, अन्य ही अन्य है ऐसा विकल्प सुखका हेतु है, ऐसा सदा निश्चय करनेवाला मुमुक्षु परद्रव्यसे निवृत्तिरूप और स्वद्रव्य शुद्ध स्वात्मामें प्रवृत्तिरूप प्रयत्न करे तो जगत्को वशमें कर लेता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है क्योंकि सर्वज्ञका एक नाम लोकजित् भी है ॥५॥

दयाको चारित्रका मूल बतलाते हैं—

जिसको प्राणियोंपर दया नहीं है उसके समीचीन चारित्र कैसे हो सकता है ? क्योंकि जीवोंको मारनेवालेकी देवपूजा, दान, स्वाध्याय आदि कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती ॥६॥

दयालु और निर्दय व्यक्तियोंमें अन्तर बतलाते हैं—

व्रतरहित भी दयालु पुरुषको देवगति सुलभ होती है और दयासे रहित व्रती पुरुषको भी नरकगति सुलभ होती है ॥७॥

आगे कहते हैं कि निर्दय पुरुषका तपश्चरण आदि निष्फल है और दयालुको तपश्चरण न करनेपर भी उसका फल प्राप्त होता है—

तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु।
निर्दयस्तत्फलैर्दीनः पीनश्चैकां दयां चरन् ॥८॥

तीव्रं व्रतयतु—अत्यर्थं नियमं करोतु। दीनः—दरिद्रः ॥८॥

अथ दयार्द्रनृशंसयोः सिद्धयर्थं क्लेशादेर्नैष्फल्यमभिलपति—

मनो दयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।
मनो दयापविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ॥९॥

क्लिश्नासि—अनशनादिना आत्मनः क्लेशं करोषि। दयापविद्धं—कृपायुक्तम् ॥९॥

अथ विश्वासत्रासयोः सकृपत्वनिष्कृपत्वमूलत्वमुपलक्षयति—

विश्वसन्ति रिपवोऽपि दयालोर्वित्रसन्ति सुहृदोऽप्यदयाच्च।
प्राणसंशयपदं हि विहाय स्वार्थमीप्सति ननु स्तनपोऽपि ॥१०॥

रिपवः—अपकर्तारः। सुहृदः—उपकर्तारः। स्तनपः—अविज्ञातव्यवहारो डिम्भः ॥१०॥

अथ दयार्द्रस्यारोपितदोषो न दोषाय किं तर्हि बहुगुणः स्यादित्याह—

क्षिप्तोऽपि केनचिद् दोषो दयार्द्रे न प्ररोहति।
तक्रार्द्रे तृणवत् किंतु गुणग्रामाय कल्पते ॥११॥

केनचित्—असहिष्णुना। दोषः—प्राणिवध-पैशुन्य-चौर्यादिः। न प्ररोहति—अकीर्ति-दुर्गत्यादिप्रदो न भवतीत्यर्थः। पक्षे प्रादुर्भवति (?) तक्रार्द्रे मथिताप्लुते प्रदेशे। यच्चिकित्सा—

'न विरोहन्ति गुदजा पुनस्तक्रसमाहताः।
निषिक्तं तद्धि दहति भूमावपि तृणोलुपम् ॥' [ ] ॥११॥

निर्दय मनुष्य चिरकाल तक तपस्या करे, खूब व्रत करे, दान देवे किन्तु उस तप, व्रत और दानके फलसे वह दरिद्र ही रहता है उसे उनका किंचित् भी फल प्राप्त नहीं होता। और केवल एक दयाको पालनेवाला उसके फलसे पुष्ट होता है ॥८॥

आगे कहते हैं कि दयालु और निर्दय व्यक्तियोंका मुक्तिके लिए कष्ट उठाना व्यर्थ है—

हे मोक्षके इच्छुक! यदि तेरा मन दयासे भरा है तो तू उपवास आदिके द्वारा व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। तुझे दयाभावसे ही सिद्धि मिल जायेगी। यदि तेरा मन दयासे शून्य है तो तू मुक्तिके लिए व्यर्थ ही क्लेश उठाता है क्योंकि कोरे कायक्लेशसे मुक्ति नहीं मिलती ॥९॥

आगे कहते है कि विश्वासका मूल दया है और भयका मूल अदया है—

दयालुका शत्रु भी विश्वास करते है और दयाहीनसे मित्र भी डरते हैं। ठीक ही है दूध पीता शिशु भी, जहाँ प्राण जानेका सन्देह होता है ऐसे स्थानसे बचकर ही इष्ट वस्तुको प्राप्त करना चाहता है ॥१०॥

आगे कहते हैं कि दयालुको झूठा दोष लगानेसे भी उसका अपकार नहीं होता, किन्तु उलटा बहुत अधिक उपकार ही होता है—

जैसे मठासे सींचे गये प्रदेश में घास नहीं उगती वैसे ही दयालु पुरुषपर किसी असहिष्णु व्यक्तिके द्वारा लगाया गया हिंसा, चोरी आदिका दोष न उसकी अपकीर्तिका कारण होता है और न दुर्गतिका, बल्कि उल्टे गुणोंको ही लाने में कारण होता है ॥११॥

अथ निर्दयस्यान्यकृतोऽपि दोषः संपद्यत इत्याह—

अन्येनाऽपि कृतो दोषो निस्त्रिंशमुपतिष्ठते ।
तटस्थमप्यरिष्टेन राहुमर्कोपरागवत् ॥१२॥

तटस्थं—निकटमुदासीनं वा । अरिष्टेन—आदित्यछादकग्रहविशेषेण.। यथाह—

'राहुस्स अरिट्ठस्स य किंचूणं जोयणं अधोगंता ।
छम्मासे पव्वते चंद रविं छादयंति कमा ॥'

तथा— राहु अरिट्ठविमाणद्धयादुवरि पमाणंगुलचउक्कं ।
गतूण ससिविमाणा सूरविमाणा कमे हुंति ॥' [त्रि. सा. ३३९-३४०]

राहुं समानमण्डलवर्तित्वात्तटस्थम् ॥१२॥

अथ सकृदपि विराद्धो विराद्धारमसकृद्धिनस्तीति दृष्टान्तेन स्फुटयति—

विराधकं हन्त्यसकृद्विराद्धः सकृदप्यलम् ।
क्रोधसंस्कारतः पार्श्वकमठोदाहृतिः स्फुटम् ॥१३॥

विराद्धः—कृतापकार. ॥१३॥

विशेषार्थ—झूठा दोष लगाये जानेपर भी दयालु व्यक्ति शान्त रहता है उत्तेजित नहीं होता, इससे उसके अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती है। साथ ही उसका रहस्य खुल जानेपर दयालु का सम्मान और भी बढ़ जाता है ॥११॥

किन्तु निर्दय मनुष्यको अन्यके द्वारा किया गया भी दोष लगता है—

अन्यके द्वारा किया गया दोष तटस्थ भी निर्दय व्यक्तिके सिर आ पड़ता है। जैसे अरिष्ट विमानके द्वारा किया जानेवाला सूर्यग्रहण राहुके सिर आ पड़ता है ॥१२॥

विशेषार्थ—आगम में कहा है—'राहु और अरिष्टके विमान कुछ कम एक योजन व्यासवाले हैं। और वे चन्द्रमा और सूर्यके नीचे चलते हुए छह मास बीतनेपर पूर्णिमा और अमावस्याके दिन सूर्य और चन्द्रमाको ढाँक लेते हैं। राहु और अरिष्टके विमानकी ध्वजासे चार प्रमाणांगुल ऊपर जाकर क्रमसे चन्द्रमा और सूर्यके विमान है। इस तरह सूर्यग्रहण अरिष्ट (केतु) के द्वारा किया जाता है किन्तु लोकमें राहुका नाम बदनाम होनेसे उसीके द्वारा किया गया कहा जाता है। इसी तरह दयारहित व्यक्ति तटस्थ भी हो फिर भी लोग उसे ही दोषी मानते हैं ॥१२॥

जिस जीवका कोई एक बार भी अपकार करता है वह जीव उस अपकार करनेवाले-का बार-बार अपकार करता है यह दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जिस जीवका एक बार भी अपकार किया जाता है वह जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध कषायकी वासनाके वश होकर उस अपकार करनेवालेका बार-बार अपकार करता है यह बात भगवान् पार्श्वनाथ और कमठके उदाहरणसे स्पष्ट है ॥१३॥

विशेषार्थ—पार्श्वनाथ भगवान्का जीव जब मरुभूतिकी पर्यायमें था तो कमठ सहोदर भ्राता था। कमठने मरुभूतिकी स्त्रीके साथ रमण किया। राजाने उसे देशनिकाला दे दिया। इसीसे कमठ मरुभूतिका वैरी बन गया और उसका यह वैर पार्श्वनाथके भव तक बराबर चलता रहा। इस प्रकार एक बार किये गये अपकारके बदलेमें कमठके जीवने बराबर ही मरुभूतिके जीवका अपकार किया। अतः किसीका एक बार भी अपकार नहीं करना चाहिए ॥१३॥

अथ दयाभावनापरस्य प्रीतिविशेषः फलं स्यादित्याह—

तत्त्वज्ञानच्छिन्नरम्येतरार्थप्रीतिद्वेषः प्राणिरक्षामृगाक्षीम् ।
आलिङ्ग्याऽलं भावयन्निस्तरङ्गस्वान्तः सान्द्रानन्दमङ्गत्यसङ्गः ॥१४॥

भावयन्—गुणानुस्मरणद्वारेण पुनः पुनश्चेतसि सन्निवेशयन् । निस्तरङ्गस्वान्तः—निर्विकल्पमनाः । अंगति—गच्छति । असङ्गः—यतिः ॥१४॥

अथ दयारक्षार्थं विषयत्यागमुपदिशति—

सद्वृत्तकन्दलीं काम्यामुद्भेदयितुमुद्यतः ।
यैश्छिद्यते दयाकन्दस्तेऽपोह्या विषयाखवः ॥१५॥

काम्या—तत्फलार्थिभिः स्पृहणीयाम् ॥१५॥

आगे कहते हैं कि दयाकी भावनामें तत्पर व्यक्ति प्रीतिविशेषरूप फलको पाता है—

परिग्रहका त्यागी यति तत्त्वज्ञानके द्वारा प्रिय पदार्थोंमें रागको और अप्रिय पदार्थोंमे द्वेषको नष्ट करके जीवदयारूपी कामिनीका आलिंगनपूर्वक उसके गुणोका पुनः-पुनः स्मरण करते हुए जब निर्विकल्प हो जाता है तो गाढ आनन्दका अनुभव करता है ॥१४॥

दयाकी रक्षाके लिए विषयोंके त्यागका उपदेश देते हैं—

मुमुक्षुओंके द्वारा चाहने योग्य सम्यक्चारित्ररूपी कन्दलीको प्रकट करनेमे तत्पर दयारूपी कन्द जिनके द्वारा काटा जाता है उन विषयरूपी चूहोंको त्यागना चाहिए ॥१५॥

विशेषार्थ—दयाको धर्मका मूल कहा है। मूलको कन्द भी कहते हैं। कन्दमें-से हो अंकुर फूटकर पत्र, कली आदि निकलते है। इस सबके समूहको कन्दली कहते हैं। जैसे कन्दली कन्दका कार्य है वैसे ही दयाका कार्य सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र जीवदया-में-से ही प्रस्फुटित होता है। उस दयाभावको विषयोंकी चाहरूपी चूहे यदि काट डाले तो उसमें-से सम्यक्चारित्रका उद्गम नहीं हो सकता है। अतः दयालु पुरुषको विषयोंसे बचना चाहिए। विषय हैं इन्द्रियोंके द्वारा प्रिय और अप्रिय कहे जानेवाले पदार्थ। उनकी लालसामें पड़कर ही मनुष्य निर्दय हो जाता है। अतः दयालु मनुष्य अपने दयाभावको सुरक्षित रखने-के लिए उस सभी परिग्रहका त्याग करता है जिसको त्यागना उसके लिए शक्य होता है और जिसका त्यागना शक्य नहीं होता उससे भी वह ममत्व नहीं करता। इस तरह वह सचेतन-अचेतन सभी परिग्रहको छोड़कर साधु बन जाता है और न इष्टविषयोंसे राग करता है और अनिष्टविषयोंसे द्वेष। राग और द्वेष तो दयाभावके शत्रु है इसीलिए कहा है—'आगममें रागादिकी अनुत्पत्तिको अहिंसा और रागादिकी उत्पत्तिको हिंसा कहा है। यह जिनागमका सार है।' अतः उत्कृष्ट दया अहिंसा ही है। दयामें-से ही अहिंसाकी भावना प्रस्फुटित होती है। वही अहिंसाके रूपमे विकसित होती है ॥१५॥

१. 'रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं त्ति भासिदं समये ।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणागमस्स संखेओ' ॥

अथ इन्द्रियाणां प्रज्ञोपघातसामर्थ्यं कथयति—

स्वार्थरसिकेन ठकवद् विकृष्यतेऽक्षेणयेन तेनापि ।
न विचारसंपदः परमनुकम्पाजीवितादपि प्रज्ञा ॥१६॥

स्वार्थरसिकेन—स्वविषयलम्पटेन स्वप्रयोजनकामेन च। विकृष्यते—दूरीक्रियते। प्रच्याव्यत इत्यर्थः। प्रज्ञा—बुद्धिः। अत्राऽप्युपमानभूता कामिनी गम्यते। अथवा प्रजानातीति प्रज्ञाऽतिविदग्धा स्त्रीति ग्राह्यम् ॥१६॥

अथ विषयिणोऽपायं दर्शयति—

विषयामिषलाम्पट्यात्तन्वन्नृजु नृशंसताम् ।
लालामिवोर्णनाभोऽधः पतत्यहह दुर्मतिः ॥१७॥

आमिषं—प्राणिलक्षणो ग्रासः। ऋजु—सम्मुखं प्राञ्जलं च। नृशंसतां—हिंसकत्वं अधः-अधोगतौ अधोदेशे च। अहह खेदे ॥१७॥

अथ विषयनिस्पृहस्येष्टसिद्धिमाचष्टे—

यथाकथञ्चिदेकैव विषयाशापिशाचिका ।
क्षिप्यते चेत् प्रलप्यालं सिद्ध्यतीष्टमविघ्नतः ॥१८॥

प्रलप्यालं—अलं प्रलपनेन, अनर्थकं न वक्तव्यमित्यर्थः। इष्टं—प्रकृतत्वात् सुचरितमूलभूतां दयाम् ॥१८॥

अथ किं तत्सद्व्रतमित्याह—

आगे कहते हैं कि इन्द्रियाँ मनुष्योंकी प्रज्ञाको—यथार्थ रूपमें अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिको नष्ट कर देती हैं—

ठगकी तरह अपने निमित्तसे बल प्राप्त करके चक्षु आदि इन्द्रियोंमें-से कोई भी इन्द्रिय अपने विषयकी लम्पटताके कारण न केवल मनुष्यकी प्रज्ञाको—उसकी यथार्थ रूपमें अर्थको ग्रहण करने की शक्तिको विचारसम्पदासे दूर करती है किन्तु दयारूपी जीवनसे भी दूर कर देती है ॥१६॥

विशेषार्थ—जैसे कोई भी ठग अपने मतलबसे किसी स्त्रीके भूषण ही नहीं छीनता किन्तु उसका जीवन भी ले लेता है, उसे मार डालता है। उसी तरह इन्द्रिय भी मनुष्यकी बुद्धिको युक्तायुक्त विचारसे ही भ्रष्ट नहीं करती किन्तु दयाभावसे भी भ्रष्ट कर देती है। इसलिए मुमुक्षुको सदा इन्द्रियोंको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥१६॥

विषयलम्पट मनुष्यकी दुर्गति दिखाते हैं—

जैसे मकड़ी मक्खी वगैरहको खानेकी लम्पटतासे अपने जालको फैलाती हुई नीचे गिर जाती है उसी तरह खेद है कि दुर्बुद्धि प्राणी विषयरूपी मांसकी लम्पटताके कारण हिंसकपनेको विस्तारता हुआ नरकादि गतिमें जाता है ॥१७॥

आगे कहते हैं कि जो विषयोंसे निस्पृह रहता है उसकी इष्टसिद्धि होती है—

अधिक कहनेसे क्या ? यदि जिस-किसी भी तरह एक विषयोंकी आशारूप पिशाचीको ही भगा दिया जाये, उससे अपना पीछा छुड़ा लिया जाये तो इष्ट—चारित्रकी मूल दया नामक वस्तु विघ्नके बिना सिद्ध हो सकती है ॥१८॥

सुचरित्ररूपी छायावृक्षका मूल दयाका कथन करके उसके स्कन्धरूप समीचीन व्रतका कथन करते हैं—

हिंसाऽनृतचुराऽब्रह्मग्रन्थेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।
तत्सत्सज्ज्ञानपूर्वत्वात् सद्दृशश्चोपबृंहणात् ॥१९॥

चुरा—चौर्यम् । अब्रह्म—मैथुनम् । सत्—प्रशस्तम् । तत्र सर्वजीवविषयमहिंसाव्रतम्, अदत्त-परिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयौ । द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि । उक्तं च—

'पढमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे य सव्वदव्वाणि ।
सेसा महव्वया खलु तदेकदेसम्हि दव्वाणं ॥' [विशेषाव भा. २६३७ गा.] ॥१९॥

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे मन-वचन-काय, कृत कारित अनुमोदना-पूर्वक निवृत्तिको व्रत कहते हैं। सम्यग्ज्ञानपूर्वक होनेसे तथा सम्यग्दर्शनको बढ़ानेमें कारण होनेसे उन्हें समीचीन या प्रशस्त व्रत कहते हैं ॥१९॥

विशेषार्थ—कषायसहित आत्मपरिणामके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं। प्राणीको पीड़ा देनेवाले वचन बोलना असत्य है। बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करना चोरी है। मैथुनको अब्रह्म कहते हैं। ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं। अहिंसा व्रतमें सभी जीव समाविष्ट हैं अर्थात् किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसी तरह बिना दी हुई वस्तुके त्यागमें और परिग्रह त्यागमें सभी द्रव्य आते हैं। कोई भी वस्तु बिना दिये हुए नहीं लेना चाहिए और न किसी भी वस्तुमें 'यह मेरी है' इस प्रकारका ममत्व भाव रखना चाहिए। किन्तु असत्य त्याग और मैथुन त्याग व्रत द्रव्यके एकदेशको लेकर है। अर्थात् असत्य त्यागमें वचन मात्रका त्याग नहीं है किन्तु असत्य वचनका त्याग है और मैथुन त्यागमें मैथुनके आधारभूत द्रव्योंका ही त्याग है। कहा भी है—'पहले अहिंसा व्रतमें सभी जीव और तीसरे तथा अन्तिम व्रतमें सभी द्रव्य लिये गये। शेष दो महाव्रत द्रव्योंके एकदेशको लेकर होते हैं।' इन्हीं पाँच व्रतोंका पालन करनेके लिए रात्रिभोजन त्याग छठा व्रत भी रहा है। भगवती आराधनाकी विजयोदया टीका (गा. ४२१) में लिखा है कि प्रथम-अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमें रात्रिभोजनत्याग नामक छठा व्रत है। ग्रन्थकार पं. आशाधरने भी अपनी टीकामें अणुव्रत नामसे इस छठे व्रतका निर्देश किया है। किन्तु पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (७।१) में व्रतोंका वर्णन करते हुए रात्रिभोजन नामक छठे अणुव्रतका निषेध करते हुए अहिंसाव्रतकी भावनामें उसका अन्तर्भाव कहा है। श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन गणिने तत्त्वार्थ भाष्य (७।२।) की टीकामें भी यह प्रश्न उठाया है कि यदि अहिंसाव्रतके पालनके लिए होनेसे असत्यविरति आदि मूल गुण है तो रात्रिभोजन-विरति भी मूलगुण होना चाहिए। इसके उत्तरमें उन्होंने कहा है कि अहिंसाव्रतके पालनके लिए तो समिति भी है उसको भी मूलगुण मानना होगा। तथा रात्रिभोजन विरति महाव्रती-का ही मूलगुण है क्योंकि उसके अभावमें तो मूलगुण ही अपूर्ण रहते हैं। अतः मूलगुणोंके ग्रहणमें उसका ग्रहण हो जाता है। जिस तरह रात्रिभोजन त्याग सब व्रतोंका उपकारक है उस तरह उपवासादि नहीं हैं इसलिए रात्रिभोजनत्याग महाव्रतीका मूल गुण है शेष उत्तर-गुण है। हाँ, अणुव्रतधारीके लिए वह उत्तरगुण है। अथवा उपवासकी तरह आहारका त्याग होनेसे वह तप ही है। श्री सिद्धसेन गणिने जो कहा है वही उनके पूर्वज जिनभद्रगणि

१. भ. आ. विजयोदया गा. ४२१ में उद्धृत।

अथ व्रतमहिमानं वर्णयति—

अहो व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षतेतराम् ।
उद्द्योतेऽतिशयाधाने फलसंसाधने च दृक् ॥२०॥

प्रेक्षतेतरा—ज्ञानापेक्षया तरा प्रत्ययः । उद्योतादिषु ज्ञानमुखस्यापि सम्यक्त्वेनापेक्षणीयत्वात् । अतिशयाधाने—कर्मक्षपणलक्षणशक्त्युत्कर्षसम्पादने । फलसंसाधने—इन्द्रादिपदप्रापणपूर्वकनिर्वाणलक्षणस्य नानाविधापन्निवारणलक्षणस्य च फलस्य साक्षादुत्पादने । एतेन सक्षेपत. सम्यक्त्वचारित्रे द्वे एवाराध्ये, सम्यक्-चारित्रमेकमेव चेत् फल स्यात् ॥२०॥

क्षमाश्रमणने विशेषावश्यक भाष्य[1] (गा. १२४० आदि) में कहा है। रात्रिभोजन विरमण मुनिका मूल गुण है क्योंकि जैसे अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंमें-से यदि एक भी न हो तो महाव्रत पूर्ण नहीं होते। इसी तरह रात्रिभोजनविरतिके अभावमें भी महाव्रत पूर्ण नहीं होते। अत मूलगुणों (महाव्रत) के ग्रहणमें रात्रिभोजनविरतिका ग्रहण हो ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परामें भी रात्रिभोजन विरमण नामका षष्ठ व्रत नहीं रहा है ॥१९॥

व्रतकी महिमाका वर्णन करते हैं—

शंका आदि मलोंको दूर करनेमें, कर्मोंका क्षय करनेवाली आत्मशक्तिमें, उत्कर्षता लानेमें और इन्द्रादि पदको प्राप्त कराकर मोक्षरूप फल तथा अनेक प्रकारकी आपत्तियोंका निवारणरूप फलको साक्षात् उत्पन्न करनेमें सम्यग्दर्शनको जिसका मुख उत्सुकतापूर्वक देखना पड़ता है उस व्रतका माहात्म्य आश्चर्यकारी है ॥२०॥

विशेषार्थ—यहाँ लक्षणासे 'व्रतके मुख' का अर्थ व्रतकी प्रधान सामर्थ्य लेना चाहिए। तत्त्वार्थ सूत्रके सातवें अध्यायमें आस्रव तत्त्वका वर्णन है और उसके पहले ही सूत्रमें व्रतका स्वरूप कहा है। उसकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें यह प्रश्न किया गया है कि व्रतको आस्रवका हेतु बतलाना तो उचित नहीं है उसका अन्तर्भाव तो संवरके कारणोंमें होता है। आगे नौवें अध्यायमें संवरके हेतु गुप्ति समिति कहे गये हैं उनमें संयम धर्ममें व्रत आते हैं? इसका उत्तर दिया गया है कि नौवें अध्यायमें तो संवरका कथन है और संवर निवृत्तिरूप होता है। किन्तु इन व्रतोंमें प्रवृत्ति देखी जाती है। हिंसा, असत्य और बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि छोड़कर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि क्रियाकी प्रतीति होती है। तथा ये व्रत गुप्ति आदि संवरके साधनोंके परिकर्म हैं। जो साधु व्रतोंमें अभ्यस्त हो जाता है वह सुखपूर्वक संवर करता है इसलिए व्रतोंका पृथक् कथन किया है। सर्वार्थसिद्धिके रचयिता इन्हीं पूज्यपादस्वामीने समाधि तन्त्रमें कहा है[2]—'अव्रत अर्थात् हिंसा आदिसे अपुण्य अर्थात् पापका बन्ध होता है और व्रतोंसे पुण्यबन्ध होता है। पुण्य-पाप दोनोंका

---

१. 'जम्हा मूलगुणच्चिय न होंति तव्विरहियस्स पडिपुन्ना ।
तो मूलगुणग्गहणे तग्गहणमिहत्थओ नेयं ॥' —विशेषा. १२४३ गा.

२ 'अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्यय. ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥
अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मन.' ॥—८३-८४ श्लो. ।

अथ सकलेतरविरत्या. स्वामिनौ निर्दिशति—

स्फुरद्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः ।
हिंसादेर्विरतः कार्त्स्न्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोऽशतः ॥२१॥

गलद्वृत्तमोह —क्षयोपशमरूपतया हीयमानश्चारित्रमोहो यस्यासौ । सामायिकछेदोपस्थापनयो· संयमासंयमस्य च विवक्षितत्वात्तत्रयस्यैवात्रत्येदानीतनजीवेषु सभवात् । कार्त्स्न्यात्—साकल्यत । अंशत.—एकदेशेन ॥२१॥

अथ चतुर्दशभि· पद्यैरहिंसाव्रतमाचष्टे ।

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत् त्रसस्थावराङ्गिनाम् ।
प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्यभावस्वभावकाः ॥२२॥

विनाश मोक्ष है । इसलिए मुमुक्षुको अव्रतोंकी तरह व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिए । अव्रतोंको छोड़कर व्रतोंमें निष्ठित रहे और आत्माके परमपदको प्राप्त करके उन व्रतोंको भी छोड़ दे ।'

अव्रत पापबन्धका कारण है तो व्रत पुण्यबन्धका कारण है इसलिए यद्यपि अव्रतकी तरह व्रत भी त्याज्य है किन्तु अव्रत सर्वप्रथम छोड़ने योग्य है और उन्हें छोड़नेके लिए व्रतोंको स्वीकार करना आवश्यक है । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको स्वीकार किये बिना हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह पापसे नहीं बचा जा सकता और इनसे बचे बिना आत्माका उद्धार नहीं हो सकता । शास्त्रकार कहते है कि परमपद प्राप्त होनेपर व्रतोंको भी छोड़ दे । परमपद प्राप्त किये बिना पुण्यबन्धके भयसे व्रतोंका स्वीकार न करनेसे तो पापमें ही पड़ना पड़ेगा । केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे परमपद प्राप्त नहीं हो सकता । उसके लिए तो सम्यक्चारित्र ही कार्यकारी है और सम्यक्चारित्रका प्रारम्भ व्रतोंसे ही होता है । ये व्रत ही हैं जो इन्द्रियोंको वशमें करनेमें सहायक होते हैं और इन्द्रियोंके वशमें होनेपर ही मनुष्य आत्माकी ओर सलग्न होकर परमपद प्राप्त करनेमें समर्थ होता है । अतः व्रतका माहात्म्य कम नहीं है । उनको अपनाये बिना संसारसागरको पार नहीं किया जा सकता ॥२०॥

व्रतके दो भेद हैं—सकलविरति और एकदेशविरति । दोनोंके स्वामी बतलाते हैं—

जो पाँचों पापोंसे पूरी तरहसे विरत होता है उसे यति कहते हैं और जो एकदेशसे विरत होता है उसे श्रावक कहते हैं । किन्तु इन दोनोंमें ही तीन बातें होनी आवश्यक हैं—१. जीवादि पदार्थोंका हेय, उपादेय और उपेक्षणीय रूपसे जाग्रत् ज्ञान होना चाहिए । २. यतिके प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभरूप चारित्रमोहका क्षयोपशम होना चाहिए और श्रावकके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभरूप चारित्रमोहका क्षयोपशम होना चाहिए, क्योंकि इस कालमें इस क्षेत्रमें जीवोंके सामायिक और छेदोपस्थापना संयम तथा संयमासंयम ही हो सकते है । ३. देखे गये, सुने गये और भोगे गये भोगोंमें अरुचि होना चाहिए । इस तरह इन तीन विशेषताओंसे विशिष्ट व्यक्ति उक्त व्रत ग्रहण करनेसे व्रती होता है ॥२१॥

आगे चौदह पद्योंसे अहिंसाव्रतको कहते है । सबसे प्रथम हिंसाका लक्षण कहते हैं—

प्रमत्त जीवके मन-वचन-कायरूप योगसे अथवा कषाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे त्रस और स्थावर प्राणियोंके द्रव्यरूप और भावरूप प्राणोंका घात करनेको हिंसा कहते है ॥२२॥

तत्र तावत् हिंसालक्षणमाह—व्यपरोप्यन्ते—यथासंभवं वियोज्यन्ते । प्रमत्तयोगतः—प्रमादः सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्त तस्य योग.—सम्बन्ध. तस्मात्तत: । रागाद्यावेशावित्यर्थ. । प्राणाः—इन्द्रियादयो दश । तदुक्तम्—

'पंचवि इंदियपाणा मणवचि-काएसु तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ।। [गो. जी. १३० गा]

ते च चित्सामान्यानुविधायी पुद्गलपरिणामो द्रव्यप्राणा.। पुद्गलसामान्यानुविधायी चित्परिणामो भावप्राणा । तदुभयभाजो जीवा संसारिणस्त्रसा. स्थावराश्च । तत्र स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दान् स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्रेषु क्रमेण द्वाभ्या त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिश्च पृथग् ज्ञानं ते (जानन्तो) द्वीन्द्रियादयश्चतुर्द्धा त्रसाः । तद्विकल्पश्लोका यथा—

'जलूका शुक्ति-शम्बूक-गण्डू-पद-कपर्दका: ।
जठरकृमिशखाद्या द्वीन्द्रिया देहिनो मताः ॥

विशेपार्थ—इन्द्रियोंकी स्वच्छन्द वृत्तिका विचार किये बिना जो प्रवृत्ति करता है वह प्रमत्त है। अथवा जो कषायके आवेशमे आकर हिंसा आदिके कारणोंमें संलग्न रहते हुए अहिंसामे शठतापूर्वक प्रवृत्त होता है वह भी प्रमत्त है। अथवा राजकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा, भोजनकथा ये चार कथाएँ, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोंसे जो प्रमादी है वह प्रमत्त है। अथवा कषाय सहित आत्मपरिणामका नाम प्रमत्त है। उसके योगसे अर्थात् रागादिके आवेशसे। प्राण दस है—

पाँच इन्द्रिय प्राण, मनोबल, वचनबल, कायबल ये तीन बलप्राण, एक श्वासोच्छ्वास प्राण और एक आयु प्राण—ये दस प्राण होते है। ये प्राण दो प्रकारके है—द्रव्यप्राण और भावप्राण। चित्सामान्यका अनुसरण करनेवाले पुद्गलके परिणामको द्रव्यप्राण कहते हैं और पुद्गल सामान्यका अनुसरण करनेवाले चेतनके परिणामको भावप्राण कहते हैं। इन दोनों प्रकारके प्राणोंसे युक्त जीव संसारी होते हैं। संसारी जीव दो प्रकारके होते है—त्रस और स्थावर। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इनका क्रमसे विषय है। जो जीव क्रमसे आदिकी दो इन्द्रियोंसे जानता है वह दो-इन्द्रिय जीव है, जो तीनसे जानता है वह तीन-इन्द्रिय जीव है, जो चारसे जानता है वह चौइन्द्रिय जीव है और जो पाँचों इन्द्रियोंसे जानता है वह पंचेन्द्रिय जीव है। ये सब त्रस है। इनके कुछ भेद इस प्रकार है—

'संबुक्कमादुवाहा सखासिप्पी अपादगा य किमी ।
जाणंति रसं फासं जे ते वेइंदिया जीवा ।।
जूगागुभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादया कीडा ।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ।।
उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरापतंगमादीया ।
रूपं रसं च गंधं फासं पुण ते वि जाणंति ।।
सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू ।
जलचरथलचरखचर वलिया पंचेंदिया जीवा' ।।

—पञ्चास्ति. ११४-११७ गा. ।

कुन्थुः पिपीलिका गोभी यूका-मत्कुणवृश्चिकाः।
मर्कोटकेन्द्रगोपाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति देहिनः ॥
पतङ्गा मशका दशा मक्षिकाकीटगमृंत.।
पुत्रिका चञ्चरीकाद्याश्चतुरक्षाः शरीरिणः ॥
नारका मानवा देवास्तिर्यञ्चश्च चतुर्विधाः।
सामान्येन विशेषेण पञ्चाक्षा बहुधा स्थिताः ॥' [अमित. पञ्चसं १।१४७-१५०]

द्रव्येन्द्रियाकारा यथा—

'यवनाल-मसूरातिमुक्तकेन्द्वर्द्धसन्निभाः।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वा. स्युः स्पर्शनेऽनेकधाकृति ॥' [अमि प स. १।१४३]

त्रसक्षेत्रं यथा—

'उववाद मारणंतियजिणक्कवाडादिरहियसेसतसा।
तसनाडि बाहिरम्हि य णत्थि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठ ॥' [ ]

स्पर्शनेनैकेन स्पर्शं जानन्तः एकेन्द्रिया. पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय पञ्च स्थावरा.। तेषा च बुद्धिपूर्वव्यापारादर्शनेऽप्यण्डान्तर्लीनादित्रसवज्जीवत्व निश्चीयते। तदुक्तम्—

'शम्बूक, मातृवाह, शंख, सीप, बिना पैरके कीड़े ये दो-इन्द्रिय जीव रस और स्पर्शको जानते हैं। जूँ, गुम्मी, खटमल, चिउँटी, बिच्छू आदि तेइन्द्रिय जीव स्पर्श-रस-गन्धको जानते हैं। डाँस, मच्छर, मक्खी, भौरा, मधुमक्खी, पतगा आदि चौइन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गन्ध और रूपको जानते है। देव, मनुष्य, नारकी, जलचर, थलचर और नभचर पशु-पक्षी ये पंचेन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दको जानते हैं' ॥२२॥

त्रस जीवोंका निवासस्थान इस प्रकार कहा है—उपपाद, मारणान्तिक समुद्घात और कपाट आदि समुद्घात करनेवाले सयोगकेवलि जिनको छोड़कर शेष त्रस त्रसनाड़ीके बाहर नहीं रहते ऐसा जिनदेवने कहा है।

उक्त गाथा आशाधरकी टीकामे उद्धृत है। गोमट्टसार जीवकाण्डमें 'जिणक्कवाडादिरहिय' पाठ नहीं है। शेष सब यही है। तिलोयपण्णत्ति (२।८) मे त्रस नाड़ीका परिमाण बतलाते हुए कहा है—उपपाद मारणान्तिक समुद्घातमें परिणत त्रस तथा लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवलीका आश्रय करके सारा लोक ही त्रसनाली है। त्रसजीव त्रसनालीमें ही रहते हैं। लोकके ठीक मध्यसे एक राजू चौड़ी लम्बी और कुछ कम चौदह राजू ऊँची त्रसनाड़ी है। उपपाद मारणान्तिक समुद्घात और केवली समुद्घात अवस्थामें त्रस जीव त्रस नाड़ीके बाहर पाये जाते है। केवली समुद्घातकी चार अवस्थाएँ हैं—दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण। तिलोयपण्णत्तिके अनुसार लोकपूरण समुद्घातमें केवलीके आत्मप्रदेश त्रसनाड़ीके बाहर पाये जाते हैं। किन्तु ऊपरवाली गाथाके अनुसार कपाट-प्रतरमें भी त्रसनाड़ीके बाहर पाये जाते है। गोमट्टसारवाली गाथामें केवली समुद्घातका निर्देश नहीं है। किन्तु उसकी टीकामें कपाट आदि अवस्थामें आत्मप्रदेशोंको त्रसनालीके बाहर बतलाया है।

१. 'उववादमारणतिय परिणदतसमुज्झिऊण सेस तसा।' —गो. जी. १९८ गा.।

२ 'उववाद मारणत्तिय परिणद तस लोयपूरणेण गदो।
केवलिणो अवलविय सव्वजगो होदि तसणालो' ॥—ति० प० २।८।

'अंडेसु पवट्टंता गब्भट्ठा माणुसा य मुच्छगया ।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥' [पञ्चास्ति. ११३ गा]

ते च पञ्चतयेऽपि सूक्ष्मा. सर्वत्र सन्ति । स्थूलास्त्विमे—

मृत्तिका बालिका चैव शर्करा चोपल. शिला ।
लवणादयस्तथा ताम्रं त्रपुंषा (त्रपुसीसकमेव च) ॥' [तत्त्वार्थसार ५१]

मणिविद्रुमवर्ण. । शर्करोपलशिलावज्रप्रवालवर्जिता. शुद्धपृथिवीविकाराः । शेषाः खरपृथ्वीविकारा. । एतेष्वेव पृथिव्यष्टकमेर्वादिशैला द्वीपा विमानानि भवनानि वेदिका प्रतिमा तोरणस्तूपचैत्यवृक्षजम्बूशाल्मली-घातक्यो रत्नाकरादयश्चान्तर्भवन्ति । अवश्यायो रात्रिपश्चिमप्रहरे निरभ्राकाशात् पतित सूक्ष्मोदकम् । महिका

'अवश्यायो[2] हिमं चैव महिका बिन्दुशीकरा. ।
शुद्ध घनोदक बिन्दुर्जीवा रक्ष्यास्तथैव ते ॥' [ ]

घूमाकारजलं कुहडरूप धूमरीत्यर्थ. । बिन्दु (स्थूल–)बिन्दुजलम् । शीकर' सूक्ष्मबिन्दुजलम् । शुद्धं चन्द्रकान्तजलं सद्य.पतितजल वा । घनोदकं समुद्रह्रदघनवाताद्युद्भवम् । च शब्देन वापीनिर्झरादिजलं करका अपि गृह्यन्ते ।

जो जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा केवल स्पर्शको जानते हैं वे एकेन्द्रिय हैं । पृथिवी-कायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं । इन जीवोंमें यद्यपि बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जाता है फिर भी जैसे अण्डेमें त्रसजीवका निश्चय किया जाता है उसी तरह इनमें भी जीवका निश्चय किया जाता है । कहा भी है—'अण्डावस्थामें, गर्भावस्थामें तथा मूर्च्छित अवस्थामें बुद्धिपूर्वक व्यापार न देखनेपर जिस प्रकार जीवपनेका निश्चय किया जाता है उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवोंका भी निश्चय किया जाता है ।' ये पाँचों स्थावर जीव सूक्ष्म भी होते हैं और स्थूल भी होते हैं । सूक्ष्म तो सर्वत्र पाये जाते हैं । स्थूल जीव इस प्रकार हैं[3]—मिट्टी, बालिका—रूक्ष अंगार आदिसे उत्पन्न हुई बालुका, शर्करा—कठोरवज्री, गोल पाषाण, बड़ा पाषाण, लवण, लोहा, ताँबा, राँगा, सीसा, चाँदी, सोना, हीरा, हरिताल, ईंगुर, मेनसिल, तूतिया, सुरमा, मूँगा, अभ्रकका चूरा, बड़ी-बड़ी मणियोंके टुकड़े, गोमेद, रुजक—अलसीके फूलकी रंगकी लाजा-वर्तमणि, अंक—लाल रंगकी पुलिकमणि, स्फटिक, पद्मरागमणि, वैडूर्य, चन्द्रकान्त, जलकान्त, सूर्यकान्त, गैरिक—लालमणि, चन्दनके समान रंगवाली मणि, मरकतमणि, पुष्परागमणि, नीलमणि, लाल रंगकी पाषाणमणि इन सब पृथिवीकायिक जीवोंकी रक्षा यतियोंको करनी चाहिए । इनमें-से शर्करा, गोल पाषाण, बड़ा पाषाण, हीरा, मूँगा ये तो खर पृथ्वीके विकार हैं शेष शुद्ध पृथिवीके विकार हैं । इनमें ही आठ पृथिवियाँ (सात नरकभूमियाँ एक सिद्धशिला), मेरु आदि पर्वत, द्वीप, विमान, भवन, वेदिका, प्रतिमा, तोरण, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शाल्मलिवृक्ष, धातकीवृक्ष और रत्नाकर आदिका अन्तर्भाव होता है ।

ओस, बर्फ, कोहरा, जलकी बड़ी बूँद, जलकी सूक्ष्म बिन्दु, चन्द्रकान्तसे झरता हुआ या तत्काल गिरा जल, समुद्र-तालाब आदिसे वायुके द्वारा उठाया गया जल, च शब्दसे वापी-झरनेका जल जलकायिक जीवरूप है । इनकी भी रक्षा करनी चाहिए ।

---

१ 'त्रपु' इत्यतोऽग्रे मणिविद्रुमपूर्वपर्यन्तं बहुपाठ प्रतौ नास्ति भव्य कु. च. टीकानुसारेण लिखितम् ।

२. 'अवश्यायो हिमबिन्दुस्तथा शुद्धघनोदके । पूतिकायाश्च विज्ञेया जीवाः सलिलकायिका. ।'—तत्त्वार्थसार ६३ ।

३. उत्तराध्ययन सूत्र ३६।७०-१०० में भी जीवके इन्हीं सब भेदोंको कहा है ।

[1]ज्वालाङ्गारस्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च।
अनलश्चापि ते तेजोजीवा रक्ष्यास्तथैव च ॥' [ ]

अर्चि प्रदीपशिखाद्यग्नि (–द्यग्रम्)। मुर्मुरः कारीषोऽग्नि.। शुद्धः वज्रविद्युत्सूर्यकान्ताद्युद्भवोऽग्निः सद्यः पातितो वा। अनल सामान्योऽग्निर्धूमादिसहितः। च शब्देन स्फुलिङ्गवाडवाग्निनन्दीश्वरभूम[2]कुण्डिका-मुकुटानलादयो गृह्यन्ते।

'[3]वात उद्भ्रमकश्चान्य उत्कलिर्मण्डलिस्तथा।
महान् घनस्तनुर्गुञ्जास्ते पाल्याः पवनाङ्गिन.। [ ]

वातः सामान्यरूप। उद्भ्रमः यो भ्रमन्नूर्ध्वं गच्छति। उत्कलिः लहरीवात। मण्डलि. य. पृथिवी-लग्नो भ्रमन् गच्छति। महान् महावातो वृक्षादिमोटक। घन. घनोदधिर्घननिलय तनुः तनुवातो व्यञ्जनादिकृत। गुञ्जा उदरस्थाः पञ्चवाता.। लोकप्रच्छादकभवनविमानाधारादिवाता अत्रैवान्तर्भवन्ति।

ज्वाला, अंगार, दीपककी लौ, कण्डेकी आग, वज्र, बिजली या सूर्यकान्तमणिसे उत्पन्न हुई अग्नि, सामान्य आग जिसमें-से धुआँ निकलता हो, च शब्दसे स्फुलिंग, समुद्रकी बड़वानल, नन्दीश्वरके धूमकुण्ड और अग्निकुमारोंके मुकुटोंसे निकली आग ये सब तैजस्कायिक जीव है। इनकी भी उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिए।

सामान्य वायु, जमीनसे उठकर घूमते हुए ऊपर जानेवाली वायु, लहरीरूप वायु जो पृथ्वीसे लगते हुए घूमती है, महावायु जो वृक्षोंको उखाड़ देती है, घनोदधिवायु, तनुवायु, उदरस्थवायु ये सब वायुकायिक जीव है। इनकी भी रक्षा करनी चाहिए।

मूलसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे हल्दी, अद्रक वगैरह। अग्रसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे बेला, अपामार्ग आदि। पर्वसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति ईख, बेत वगैरह। कन्दसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे आलू वगैरह। स्कन्धसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे देवदारु, सलई आदि। बीजसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति गेहूँ, जौ आदि। मूल आदिके बिना भी जो वनस्पति अपने योग्य पुद्गल आदि उपादान कारणसे उत्पन्न होती है वह सम्मूर्च्छिम है। देखा जाता है कि सींगसे सार और गोबरसे कमलकी जड़ बीजके बिना उत्पन्न होती है। अतः वनस्पति जाति दो प्रकारकी है—एक बीजसे उत्पन्न होनेवाली और एक सम्मूर्च्छिम। जिन जीवोंका एक ही साधारण शरीर होता है उन्हें अनन्तकाय या साधारणशरीर कहते है जैसे गुड्रूची, स्नुही आदि। या अनन्त निगोदिया जीवोंके आश्रित होनेसे जिनकी काय अनन्त है वे अनन्तकाय हैं अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक जैसे मूली वगैरह। कहा है—

'[4]यतः एक भी अनन्तकाय वनस्पतिका घात करनेकी इच्छावाला पुरुष अनन्त जीवोंका घात करता है अतः सम्पूर्ण अनन्तकाय वनस्पतियोंका त्याग अवश्य करना चाहिए।'

---

१. 'ज्वालाङ्गारास्तथार्चिश्च मुर्मुर शुद्ध एव च। अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिका. ॥'

—तत्त्वार्थ. ६४।

२. –रघूमकुण्डि–भ. कु. च.।

३. महान् घनतनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलिः। वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवा' पवनकायिका. ॥—तत्त्वार्थ. ६५।

४. एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणा परिहरणमनन्तकायानाम् ॥—पुरुषार्थ सि., १६२

'मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजसमुद्भवाः।[1]
सम्मूर्छिमास्तथानन्तकायाः प्रत्येककायिकाः ॥
त्वग्मूलकन्दपत्राणि प्रवालः प्रसवः फलम् ।
स्कन्धो गुच्छस्तथा गुल्मस्तृणं वल्ली च पर्व च ॥
शैवलं पणकः किण्वं कवकः कुहणस्तथा ।
बादराः सूक्ष्मकायास्तु जलस्थलनभोगताः ॥
गूढसन्धिशिरापर्वसमभङ्गमहीरुहम् ।
छिन्नोद्भवं च सामान्यं प्रत्येकमितरद्वपुः ॥
वल्लीवृक्षतृणाद्यं स्यादेकाक्षं च वनस्पति ।
परिहार्या भवन्त्येते यतिना हरिताङ्गिनः ॥' [ ]

मूलोत्थाः येषां मूलं प्रादुर्भवति ते च हरिद्रार्द्रकादयः। पर्वोत्थाः इक्षुवेत्रादयः। कन्दोत्थाः कदलीपिण्डालुकादयः। स्कन्धोद्भवा शल्लकीपा[2]लिभद्रादयः। बीजोद्भवाः यवगोधूमादयः। सम्मूर्छिमाः मूलाद्यभावेऽपि येषां जन्म स्वयोग्यपुद्गलोपादानकारणात्। दृश्यते हि शृङ्गाच्छ[3]रो गोमयाच्छालूकं बीजमन्तरेणोत्पत्तिमत्। एते वनस्पतिजातिबीजोद्भवा सम्मूर्छिमा चेति द्विधा स्यादित्युक्तं प्रतिपत्तव्यम्। अनन्तकायाः अनन्तः साधारणः कायो येषां ते साधारणाङ्गाः स्नुहीगुडुच्यादयः। प्रत्येककायिकाः एकमेकं प्रति प्रत्येकं पृथक् भिन्नो भिन्नः कायो येषामस्ति ते पूगनालिकेरादयः। उक्तं च—

एकमेकस्य यस्याङ्गं प्रत्येकाङ्गः स कथ्यते ।
साधारणः स यस्याङ्गमपरैर्बहुभिः समम् ॥ [अमि. प. सं. १।१०५]

प्रत्येकका भिन्न-भिन्न शरीर जिनका होता है उन वनस्पतियोंको प्रत्येककायिक कहते हैं जैसे नारियल, सुपारी आदि। कहा भी है—'जिस एक वनस्पतिका एक शरीर होता है उसे प्रत्येकशरीर कहते है। और बहुत-से जीवोंका एक ही सामान्य शरीर हो तो उसे साधारण शरीर कहते है'।

ऊपर जो मूल आदिसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति कही है वह अनन्तकाय भी होती है और प्रत्येककाय भी होती है। तथा सम्मूर्च्छिम भी दोनों प्रकारकी होती हैं। दोनों ही प्रकारकी वनस्पतियोंके अवयव इस प्रकार हैं—छाल, पुष्प, गुच्छा, झाड़ी। पुष्पके बिना उत्पन्न होनेवाले फलोंको फल कहते हैं। जिसके पुष्प ही होते हैं फल नहीं उन्हें पुष्प कहते हैं। जिसके पत्र ही होते हैं फल या पुष्प नहीं होते उसे पत्र कहते हैं। पानीपर जमी काईको शैवल कहते हैं। गीली ईटोंकी भूमि और दीवारोंपर जो काई लग जाती है उसे पणक कहते हैं। वर्षाऋतुमें जो कुकुरमुत्ते उगते हैं उन्हें किण्व कहते हैं। शृंग वनस्पतिसे उत्पन्न हुए जटाकार अंकुरोंको कवक कहते हैं। भोजनपर आयी फुईको कुहण कहते है। पृथिवीकायिक आदि पाँचों बादरकाय भी होते हैं और सूक्ष्मकाय भी होते हैं। जिनकी सन्धि, सिरा पर्व अदृश्य होते हैं, तोड़ने पर समभंग होता है तथा मध्यमें तार आदि लगा नहीं रहता, जो काटनेपर पुनः उग आती है वह सब साधारण वनस्पति है, इसके विपरीत प्रत्येक वनस्पति है। लता, वृक्ष, तृण आदि एकेन्द्रिय वनस्पति हैं। यतिको इन सबका बचाव करना चाहिए। आगमसे

१. 'मूलाग्रपर्वकन्दोत्था. स्कन्धबीजरुहास्तथा। सम्मूर्छिनश्च हरिताः प्रत्येकानन्तकायिकाः॥'—तत्त्वार्थसार ६६
२. पारिभ—भ. कु. च.।
३. च्छारो—भ. कु. च.।

मूलोत्थादयोऽनन्तकाया· प्रत्येककायाश्च भवन्ति। तथा सम्मूर्छिमा अपीति योज्यम् । त्वगित्यादि सम्मूर्छिमवनस्पतिजातिस्वरूपप्रतिपादनार्थमिदमुभयावयवख्यापनार्थं वा। त्वक् छल्ली। प्रसव. पुष्पम्। गुच्छः एककालीनबहुसमूहो जातिमल्लिकादि । गुल्मः कंथारिकाकरमर्दिकादिसघात । किं च पुष्पमन्तरेण यस्योत्पत्ति फलाना स फल इत्युच्यते। यस्य पुष्पाण्येव भवन्ति न फलानि स पुष्प इत्युच्यते। यस्य पत्राण्येव भवन्ति न पुष्पाणि न फलानि स पत्र इत्युच्यते इत्यादि बोध्यम्। शैवलमुदकगतकायिका हरितवर्णा। पिणक सार्द्रेष्टका भूमिकुड्योद्भवकालिका पञ्चवर्णोल्लिरित्यन्ये। किण्वं वर्षाकालोद्भवछत्राणि। कवक· शृङ्गोद्भवाङ्कुरा. जटाकाराः। कुहण आहारकजिकादिगतपुष्पिका। बादरा स्थूला. पृथिवीकायिकादय. पञ्चाप्येते पूर्वोक्ता। सूक्ष्मकाया सर्वेऽपि पृथिव्यादिभेदा वनस्पतिभेदाश्चाङ्गुलासख्यातभागशरीरा । गूढानि अदृश्यमानानि। समभङ्गं त्वचारहितम् । अहीरुह सूत्राकारादिवर्जितं मजिष्ठादिकम् । चिछन्नोद्भव छिन्नेन छेदेनोद्भवति रोहति। उपलक्षणाद् भिन्नरोहि च। सामान्य साधारणम्।

मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीए।
समभंगे सदि णता असमे सदि हुंति पत्तेया॥
कंदस्स व मूलस्स व सालाखंधस्स वापि बहुलतरी।
छल्ली साणतजिया पत्तेयजिया दु तणुकदरी॥ [गो जी १८८-१८९]

वल्लीत्यादि। प्रत्येकशरीर किंभूतमिति पृष्टे सत्युत्तरमिदम्—वृक्षा. पुष्पफलोपमा वनस्पति फलवान्। हरिताङ्गिन प्रत्येकाङ्गा साधारणाङ्गा सर्वेऽपि हरितकाया इत्यर्थं । जीवत्व चैषामागमत सर्वत्वगपहरणे मरणादाहारादिसंज्ञास्तित्वाच्च निश्चेयम्। ते ह्युदकादिना शाद्वला भवन्ति। स्पृष्टाश्च लज्जिकादय सकुचन्ति। वनितागण्डूषादिना वकुलादयो हर्षविकासादिक कुर्वन्ति। निधानादिशि पादादिक प्रसारयन्तीति क्रमेणाहार-भय-मैथुन-परिग्रहसंज्ञावन्त किल वृक्षा· स्यु । निगोतलक्षण यथा—

'साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाण साहारणलक्खण भणियं॥
जत्थेक्कु मरदि जीवो तत्थदु मरण भवे अणताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णताण॥' [गो जी. १९२-१९३]

सिद्ध है कि इन सबमें जीव होता है तथा यदि पूरी छाल उतार ली जाये तो इनका मरण भी देखा जाता है। इनमें आहार आदि संज्ञा भी पायी जाती है। इससे इनमें जीवत्वका निश्चय होता है। पानी देने पर हरे-भरे हो जाते हैं। लाजवन्तीको छूने पर वह संकुचित हो जाती है। स्त्रीके कुल्लेके पानीसे बकुल आदि विकसित होते है। जिस दिशामें धन गड़ा होता है वृक्षकी जड़ें उधर फैलती है। इस प्रकार वृक्षोंमें क्रमसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा होती है जो संसारी जीवके चिह्न हैं। निगोद जीवका लक्षण गोम्मटसारमें कहा है। उसका व्याख्यान संस्कृत टीका गोम्मटसारके अनुसार किया जाता है—जिन जीवोंके साधारण नाम-कर्मका उदय होता है वे साधारण जीव होते है। उन जीवोंकी आहारादि पर्याप्ति एक साथ एक ही कालमें होती है। वे सब एक ही साथ श्वास लेते हैं। एक निगोद शरीरमें अनन्त जीवोंका आवास रहता है। प्रति समय अनन्तजीव उत्पन्न होते रहते हैं। पहलेके जीवोंके समान ही दूसरे-तीसरे आदि समयोंमें उत्पन्न हुए अनन्तानन्त जीवोंकी आहारादि पर्याप्ति एक साथ एक कालमें होती है। इस तरह पूर्वाचार्योंने यह साधारण जीवोंका लक्षण कहा है। एक निगोद शरीरमें जब एक जीव अपनी आयु पूरी होनेसे मरता है उसी समय उस शरीरमें रहनेवाले अनन्तानन्त जीव अपनी आयु पूरी होनेसे मरते हैं। जिस निगोद शरीरमें

'एक्काणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धे हिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण॥' [गो. जी. १९६]

ते च नित्येतरभेदाद् द्विधा। तद्यथा— ३

'त्रसत्वं ये प्रपद्यन्ते कालानां त्रितयेऽपि नो।
ज्ञेया नित्यनिगोतास्ते भूरिपापवशीकृताः॥
कालत्रयेऽपि यैर्जीवैस्त्रसता प्रतिपद्यते। ६
सन्त्यनित्यनिगोदास्ते चतुर्गतिविहारिण.॥' [अमि. पं. सं. १।११०-१११]

जब एक जीव उत्पन्न होता है तब उसी निगोद शरीरमें समान स्थितिवाले अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जन्म-मरणका समकालमें होना भी साधारणका लक्षण है। दूसरे आदि समयोंमें उत्पन्न अनन्तानन्त जीव भी अपनी स्थितिका क्षय होनेपर साथ ही मरते है। इस प्रकार एक निगोद शरीरमें प्रति समय अनन्तानन्त जीव एक साथ ही मरते हैं, एक साथ ही उत्पन्न होते है। निगोद शरीर ज्योंका त्यों रहता है। उसकी उत्कृष्टस्थिति असंख्यात कोटाकोटी सागर मात्र है। जबतक यह स्थिति पूरी नहीं होती तबतक जीवोंका उत्पाद और मरण होता रहता है। इतना विशेष वक्तव्य है कि एक बादर निगोद या सूक्ष्म निगोद शरीरमें या तो सब पर्याप्तक ही जीव उत्पन्न होते हैं या सब अपर्याप्तक ही जीव उत्पन्न होते हैं। एक ही शरीरमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि उनके समान कर्मके उदयका नियम है।

एक निगोद शरीरमें वर्तमान जीव द्रव्यप्रमाणसे सिद्धजीवोंसे अनन्तगुने और समस्त अतीत कालसे भी अनन्तगुने देखे गये हैं। वे दो प्रकारके हैं—नित्यनिगोद और इतर निगोद। सिद्धान्तमें नित्यनिगोदका लक्षण इस प्रकार कहा है—अनादि संसारमें ऐसे अनन्तजीव हैं जिन्होंने त्रस पर्याय कभी भी प्राप्त नहीं की। उनके भाव अर्थात् निगोदपर्याय, उसके कारणभूत कलंक अर्थात् कषायोंके उदयसे होनेवाले संक्लेशसे प्रचुर होते हैं। इस प्रकारके नित्य निगोदिया जीव निगोद सम्बन्धी भवस्थितिको कभी नहीं छोड़ते। इस कारणसे निगोदभव आदि और अन्तसे रहित है। नित्य विशेषणसे चतुर्गतिनिगोदरूप अनित्य निगोदवाले भी जीव हैं ऐसा सूचित होता है। परमागममें दोनों प्रकारके निगोद जीव कहे हैं। अर्थात् जो अनादिसे निगोदपर्यायको धारण किये हुए हैं वे नित्यनिगोद जीव हैं। और जो बीचमें अन्य पर्याय धारण करके निगोद पर्याय धारण करते हैं वे अनित्य-निगोद या इतर निगोद जीव हैं। वे सादिसान्त हैं। गाथामें कहा है कि जिनके प्रचुर भाव कलंक हैं वे निगोदवासको नहीं छोड़ते। यहाँ प्रचुर शब्द एक देशका अभावरूप है तथा सकल अर्थका वाचक है। इसपरसे ऐसा अर्थ जानना कि जिनके भावकलंक प्रचुर नहीं होता वे जीव नित्यनिगोदसे निकलकर चतुर्गतिमें आते हैं। अतः आठ समय अधिक छह मासके अन्दर चतुर्गतिरूप जीव राशिसे निकलकर छह सौ आठ जीवोंके मुक्ति चले जानेपर उतने ही जीव नित्यनिगोदको छोड़कर चतुर्गतिमें आते हैं। गोमट्टसारकी संस्कृत टीकामें ऐसा व्याख्यान किया है। उक्त गाथा प्राकृत पंचसंग्रहके जीव समासाधिकारमें भी है। आचार्य अमितगतिने उसके आधारपर रचित अपने संस्कृत पंचसंग्रहमें लिखा है—जो तीनों कालोंमें त्रसपर्यायको प्राप्त नहीं करते वे बहुपापी जीव नित्यनिगोद जानने चाहिए।

तथा पृथिव्यादयः पञ्चापि साधारणाः पृथिव्यादिकायाः पृथिव्यादिकायिकाः पृथिव्यादिजीवाश्च भवन्ति । श्लोकः—

'क्ष्माद्याः साधारणाः क्ष्मादिकाया जीवोज्झिताः श्रिताः ।
जीवैस्तत्कायिकाः श्रेयास्तज्जीवा विग्रहेतिगैः ॥' [ ]

तत्रान्त्यद्वयेऽपि संयतै रक्ष्या. । तद्देहाकारा यथा—

'समानास्ते मसूराम्भो बिन्दुसूचीव्रजध्वजैः ।
धराम्भोऽग्निमरुत्कायाः क्रमाच्चित्रास्तरुत्रसाः ॥' [अमि. पं. सं. १।१५४]

संसारिणः पुनर्द्वेधा प्रतिष्ठितेतरभेदात् । तद्यथा—

'प्रत्येककायिका देवाः श्वाभ्राः केवलिनोर्द्वयम् ।
आहारकधरा तोयपावकानिलकायिका. ॥
निगोतैर्बादरै. सूक्ष्मैरेते सन्त्यप्रतिष्ठिताः ।
पञ्चाक्षा विकला वृक्षा जीवा शेषाः प्रतिष्ठिता ॥' [अमित. पं सं १।१६२-१६३]

जो जीव तीनों कालोंमें त्रसपर्याय प्राप्त करते है वे चारों गतिमें विहार करनेवाले अनित्य-निगोद जीव हैं।

श्वेताम्बर परम्परामें नित्यनिगोद शब्द राजेन्द्र अभिधानकोश और पाइअसद्द महण्णवमें भी नहीं मिला। निगोदके दो भेद किये हैं—निगोद और निगोद जीव। सेनप्रश्न-के तीसरे उल्लासमें प्रश्न ३४६ में पूछा है कि कुछ निगोद जीव कर्मोंके लघु होनेपर व्यवहार राशिमें आते हैं उनके कर्मोंके लघु होनेका वहाँ क्या कारण है ? उत्तरमें कहा है कि भव्यत्व-का परिपाक आदि उनके कर्मोंके लघु होनेमें कारण है। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परामें भी नित्यनिगोदसे जीवोंका निकास मान्य है। अस्तु,

पाँचों पृथिवीकायिक आदिके चार-चार भेद कहे[1] हैं—'पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवी-कायिक, पृथिवीजीव। पहला पृथिवी भेद सामान्य है जो उत्तरके तीनों भेदोंमें पाया जाता है। पृथिवीकायिक जीवके द्वारा छोड़े गये शरीरको पृथिवीकाय कहते है। जैसे मरे हुए मनुष्यका शरीर। जीव विशिष्ट पृथिवी पृथिवीकायिक है। जिस जीवके पृथिवीकाय नाम कर्मका उदय है किन्तु विग्रहगतिमें स्थित है, पृथिवीकायमें जन्म लेने जा रहा है किन्तु जबतक वह पृथिवीको कायके रूपमें ग्रहण नहीं करता तबतक उसे पृथिवी जीव कहते हैं। इनमें-से अन्तिम दोकी रक्षा संयमियोंको करनी चाहिए।

इन जीवोंके शरीरका आकार इस प्रकार कहा है—'पृथिवी आदि चारोंका शरीर क्रमसे मसूरके समान, जलकी बूँदके समान, सूइयोंके समूहके समान और ध्वजाके समान होता है। वनस्पतिकाय और त्रसकायके जीवोंके शरीरका आकार अनेक प्रकारका होता है।'

संसारी जीव दो प्रकारके होते हैं—सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। यथा—देव, नारकी, सयोग-केवली, अयोगकेवली, आहारकशरीर, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक, बादर और सूक्ष्म निगोदजीवोंसे अप्रतिष्ठित हैं अर्थात् इनके शरीरोंमें निगोद-जीवोंका वास नहीं होता। शेष पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और वनस्पतिकायिक जीवोंके शरीर

---

१. पुढवी पुढवीकायो पुढवीकाइय पुढवीजीवो य ।
साहारणोवमुक्को सरीरगहिदो भवंतरिदो ॥ —सर्वार्थ. २।१३ में उद्धृत।

तेषां च पूर्णापूर्णानां प्राणसंख्या यथा—

'सर्वेष्वङ्गेन्द्रियायूंषि पूर्णेष्वानः शरीरिषु ।
वाग् द्वित्र्यादिहृषीकेषु मनः पूर्णेषु संज्ञिषु ॥
तथा संज्ञिनि चैकैको हीनोऽन्येष्वन्त्ययोर्द्वयम् ।
अपर्याप्तेषु सप्ताद्या एकैकोऽन्येषु हीयते ॥' [अमित. पं. सं. १।१२५-१२६]

संज्ञिन. पर्याप्तस्य स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षु. श्रोत्रं मनोवाक्कायबलानि त्रीण्यायुरुच्छ्वासश्चेति दश। असंज्ञिनो मनोवर्जा नव। चतुरिन्द्रियस्य मन.श्रोत्रवर्ज्या अष्टौ। त्रीन्द्रियस्य ते चक्षुर्वर्ज्याः सप्त। द्वीन्द्रियस्य ते घ्राणवर्ज्या. षट्। एकेन्द्रियस्य ते रसनवाग्बलाभ्यां विना चत्वारः। तथा संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्चापर्याप्तस्य मनोवागुच्छ्वासवर्जास्ते सप्त। चतुरिन्द्रियस्य श्रोत्रवर्जा. षट्। त्रीन्द्रियस्य ते चक्षुर्वर्जा. पञ्च। द्वीन्द्रियस्य ते घ्राण विना चत्वार.। एकेन्द्रियस्य ते रसनं विना त्रयः। पर्याप्तापर्याप्तलक्षणं यथा—

'गृहवस्त्रादिकं द्रव्यं पूर्णापूर्णं यथा भवेत् ।
पूर्णेतरास्तथा जीवा. पर्याप्तेतरनामतः ॥
आहाराङ्गेन्द्रियप्राणवाचः पर्याप्तयो मनः ।
चतस्र. पञ्च षट् चैकद्व्यक्षादौ संज्ञिनां च ताः ॥
पर्याप्ताख्योदयाज्जीवः स्वस्वपर्याप्तिनिष्ठितः ।
वपुर्यावदपर्याप्तं तावन्निर्वर्त्यपूर्णकः ॥
निष्ठापयेन्न पर्याप्तिमपूर्णस्योदये स्वकाम् ।
सान्तर्मुहूर्तमृत्युः स्याल्लब्ध्यपर्याप्तकः स तु ॥' [ ]

निगोदजीवोंसे प्रतिष्ठित होते हैं। इन पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवोंके प्राणोंकी संख्या इस प्रकार है—संज्ञी पर्याप्तकके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और उच्छ्वास ये दस प्राण होते हैं। असंज्ञीके मनको छोड़कर नौ प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रियके मन और श्रोत्रको छोड़कर आठ होते हैं। तेइन्द्रियके उनमें-से चक्षुको छोड़कर सात प्राण होते हैं। दो-इन्द्रियके उनमें-से घ्राणको छोड़कर छह प्राण होते हैं। एकेन्द्रियके उनमें-से रसना और वचनबलको छोड़कर चार प्राण होते हैं। तथा संज्ञी और असंज्ञी अपर्याप्तकके मनोबल, वचनबल और उच्छ्वासको छोड़कर सात प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रियके श्रोत्रको छोड़कर छह प्राण होते हैं। तेइन्द्रियके चक्षुको छोड़कर पाँच प्राण होते हैं। दोइन्द्रियके घ्राणके बिना चार प्राण होते हैं। एकेन्द्रियके रसनाके बिना तीन प्राण होते हैं। पर्याप्त और अपर्याप्तका लक्षण इस प्रकार है—जैसे मकान, घट, वस्त्र आदि द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण होते हैं वैसे ही पूर्ण जीवोंको पर्याप्त और अपूर्ण जीवोंको अपर्याप्त कहते हैं।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ हैं। इनमें एकेन्द्रियके आरम्भकी चार पर्याप्तियाँ होती हैं, विकलेन्द्रियके पाँच और संज्ञीके छह पर्याप्तियाँ होती हैं।

पर्याप्तिनामकर्मका उदय होनेपर जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियोंकी पूर्तिमें लग जाता है। जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक उसे निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं। और अपर्याप्त नामकर्मका उदय होनेपर जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियोंकी पूर्ति नहीं कर पाता। अन्तर्मुहूर्तमें ही उसका मरण हो जाता है। उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं।

पर्याप्तिश्चाहारपरिणामादिशक्तिकारणनिष्पत्तिरुच्यते । श्लोकः—

'आहारपरिणामादि शक्तिकारणसिद्धयः ।
१ पर्याप्तयः षडाहारदेहाक्षोच्छ्वासवाङ्मनः ॥' [ ]

इमे च जीवसमासाश्चतुर्दश—

'समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
१ बादर सुहुमेइंद्री सव्वे पज्जत्त इदरा य । [द्रव्य सं. १२]

तथा गुणस्थानैर्मार्गणाभिश्च विस्तरेणागमतो जीवान्निश्चित्य रक्षेत् । गुणस्थानानि यथा—

आहारपरिणाम आदि शक्तिके कारणकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं। कहा है—'आहारपरिणाम आदि शक्तिके कारणकी सिद्धिको पर्याप्ति कहते हैं। अर्थात् आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणाके परमाणुओंको शरीर इन्द्रिय आदि रूप परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं। वे छह हैं।'

चौदह जीवसमास इस प्रकार हैं—पंचेन्द्रिय जीव मनसहित भी होते हैं और मनरहित भी होते हैं। शेष सब जीव मनरहित होते हैं। तथा एकेन्द्रिय जीव बादर भी होते हैं और सूक्ष्म भी होते हैं। इस तरह एकेन्द्रिय बादर, एकेन्द्रिय सूक्ष्म, दो-इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रियअसंज्ञी, पंचेन्द्रियसंज्ञी ये सातों पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं। इस तरह चौदह जीवसमास होते हैं। विस्तारसे ९८ जीवसमास होते हैं—तिर्यंचके ८५, मनुष्यके ९, नारकीके दो और देवोंके दो। तिर्यंचके ८५ जीवसमासोंमें-से सम्मूर्छनके उनहत्तर और गर्भजके १६ जीवसमास होते हैं। सम्मूर्छनके उनहत्तरमें-से एकेन्द्रियके ४२, विकलत्रयके ९ और पंचेन्द्रियके १८ जीवसमास होते हैं। एकेन्द्रियके ४२ जीवसमास इस प्रकार हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद इन छहोंके बादर और सूक्ष्मकी अपेक्षासे १२, तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक अप्रतिष्ठित प्रत्येकको मिलानेसे १४ होते हैं। इन चौदहोंके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षासे ४२ जीवसमास होते हैं। तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चतुरिन्द्रियके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा ९ भेद विकलेन्द्रियके होते हैं। जलचर, थलचर, नभचर इन तीनोंके संज्ञी और असंज्ञीकी अपेक्षा ६ भेद होते हैं। और इनके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा अठारह भेद पंचेन्द्रिय तिर्यंचके होते हैं। इस तरह सम्मूर्छन पंचेन्द्रियके ६९ भेद होते हैं। गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचके १६भेद इस प्रकार हैं—कर्मभूमिजके १२ और भोगभूमिजके चार। जलचर, थलचर, नभचरके संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे छह भेद होते हैं और इनके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा १२ भेद होते हैं। भोगभूमिमें थलचर और नभचर ही होते हैं जलचर नहीं होते और वे पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं। इस तरह उनके चार भेद होते हैं। मनुष्योंके नौ भेद इस प्रकार हैं—म्लेच्छ मनुष्य, भोगभूमिज और कुभोगभूमिके मनुष्य पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं। आर्यखण्डके मनुष्य लब्ध्यपर्याप्त भी होते हैं इस तरह नौ भेद होते हैं। नारकी और देव पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक होते है अतः इन दोनोंके दो-दो भेद होते हैं। तथा गुणस्थान और मार्गणाओंके द्वारा भी विस्तारसे जीवोंका निश्चय करके उनकी रक्षा करनी चाहिए। गुणस्थान इस प्रकार कहे हैं—

'मिथ्यादृक् सासनो मिश्रोऽसंयतोऽणुव्रतस्ततः ।
सप्रमादेतरापूर्वनिवृत्तिकरणास्तथा ॥
'सूक्ष्मलोभोपशान्ताख्यौ निर्मोहो योग्ययोगिनौ ।
गुणाश्चतुर्दशेत्येते मुक्ता मुक्तगुणाः परे ॥' [ ]

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यक्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण उपशमक क्षपक, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय उपशमक क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक क्षपक, उपशान्त कषाय वीतरागछद्मस्थ, क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगकेवली, अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं। इनमें संसारके सब जीव अपने-अपने परिणामोंके अनुसार विभाजित हैं। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जिनकी दृष्टि मिथ्या होती है उन जीवोंको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्यादृष्टिको तत्त्वार्थका श्रद्धान नहीं होता। मिथ्यात्व कर्मका उदय दूर होनेपर जिस जीवकी अन्तरात्मा अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे कलुषित होती है उसे सासादन-सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आसादन कहते हैं सम्यक्त्वकी विराधनाको। जो आसादनसे सहित है वह सासादन है। अर्थात् जिसने सम्यक्दर्शनको तो विनष्ट कर दिया है और मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होनेवाले परिणामको प्राप्त नहीं किया है किन्तु मिथ्यात्वके अभिमुख है वह सासादन है। जिस जीवकी दृष्टि समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी होती है उसे सम्यक्मिथ्यादृष्टि कहते हैं। अर्थात् सम्यक्मिथ्यात्वकर्मके उदयसे तत्त्वार्थके श्रद्धान और अश्रद्धानरूप आत्माको सम्यक्मिथ्यादृष्टि कहते हैं। औपशमिक या क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्वसे युक्त होनेके साथ चारित्र मोहनीयके उदयसे अत्यन्त अविरतिरूप परिणामवाले जीवको असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इससे ऊपरके गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन नियमसे होता है। जो सम्यग्दृष्टि एक ही समय त्रसहिंसासे विरत और स्थावर जीवोंकी हिंसासे अविरत होता है उसे विरताविरत या संयतासंयत कहते हैं। जो संयमसे युक्त होते हुए भी प्रमादसे युक्त होता है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। संयमके दो भेद हैं—प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम। दोनों प्रकारके संयमको अपनाये हुए भी पन्द्रह प्रमादोंके कारण जिसका चारित्रपरिणाम कुछ स्खलित होता है वह प्रमत्तसंयत है। संयमको धारण किये हुए जो पूर्वोक्त प्रमादोंके न होनेसे अस्खलित संयम पालता है वह अप्रमत्त संयत है। यहाँसे आगे चार गुणस्थानोंकी दो श्रेणियाँ होती हैं—उपशमश्रेणी, क्षपकश्रेणी। जिसमें आत्मा मोहनीय कर्मका उपशम करते हुए चढ़ता है वह उपशमश्रेणी है और जिसमें मोहनीय कर्मका क्षय करते हुए चढ़ता है वह क्षपकश्रेणी है। करण शब्दका अर्थ परिणाम है। और जो पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंसे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम अपूर्व होते हैं। इस तरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामोंके कारण आठवें गुणस्थानको अपूर्वकरण कहते हैं। इसमें न तो कर्मप्रकृतियोंका उपशम होता है और न क्षय होता है। किन्तु पहले और आगे होनेवाले उपशम और क्षयकी अपेक्षा उपचारसे उपशमक या क्षपक कहते हैं। समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं। और साम्परायका अर्थ कषाय है। बादरका अर्थ स्थूल है। अतः स्थूल कषायोंको बादर साम्पराय कहते हैं और अनिवृत्तिरूप बादर साम्परायको अनिवृत्ति बादर साम्पराय कहते हैं। अनिवृत्तिरूप परिणामोंसे कर्मप्रकृतियोंका स्थूलरूपसे उपशम या क्षय होता है। साम्पराय अर्थात् कषाय जहाँ सूक्ष्मरूपसे उपशान्त या क्षय होती

मार्गणा यथा—

'गतयः करणं कायो योगो वेदः क्रुधादयः ।
वेदनं संयमो दृष्टिर्लेश्या भव्यः सुदर्शनम् ॥
संज्ञी चाहारकः प्रोक्तास्ताश्चतुर्दश मार्गणाः ।
मिथ्यादृगादयो जीवा मार्ग्या यासु सदादिभिः ॥ [ ] ॥२२॥

अथ परमार्थतः 'प्रमत्तयोग एव हिंसा' इत्युपदिशति—

रागाद्यसङ्गतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः ।
स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः ॥२३॥

है वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान है। समस्त मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय होनेसे उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय नाम होते हैं। घातिकर्मोंका अत्यन्त क्षय होनेसे जिनके केवलज्ञान प्रकट हो जाता है उन्हें केवली कहते हैं। योगके होने और न होनेसे केवलीके दो भेद होते हैं—सयोगकेवली और अयोगकेवली। ये चौदह गुणस्थान मोक्षके लिए सीढ़ीके तुल्य हैं। जो इनसे अतीत हो जाते हैं वे सिद्ध जीव कहलाते हैं। चौदह गुणस्थानोंकी तरह चौदह मार्गणाएँ हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणा हैं। इनमें जीवोंको खोजा जाता है इसलिए इन्हें मार्गणा कहते हैं।

गतिनामकर्मके उदयसे जीवकी जो विशेष चेष्टा होती है, जिसके निमित्तसे जीव चतुर्गतिमें जाता है उसे गति कहते हैं। जो अपने-अपने विषयको ग्रहण करनेमें स्वतन्त्र है वह इन्द्रिय है। आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित पुद्गल पिण्डको काय कहते हैं जैसे पृथिवीकाय, जलकाय आदि। मन-वचन और कायसे युक्त जीवके जो वीर्यविशेष होता है उसे योग कहते हैं। आत्मामें उत्पन्न हुए मैथुन भावको वेद कहते हैं। जो कर्मरूपी खेतका कर्षण करती है उसे सुख-दुःखरूप फल देने योग्य बनाती है वह कषाय है। वस्तुको जाननेवाली शक्तिको ज्ञान कहते हैं। व्रतोंका धारण, समितिका पालन, कषायका निग्रह, मन-वचन-कायरूप दण्डोंका त्याग, इन्द्रियोंका जय ये सब संयम हैं। पदार्थोंके सामान्य ग्रहणको दर्शन कहते हैं। कषायके उदयसे रंजित मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। जिस जीवमें सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रकट होंगे उसे भव्य कहते हैं वही मोक्ष जाता है। तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। जो जीव मनकी सहायतासे उपदेश आदि ग्रहण करता है वह संज्ञी है, जिसके मन नहीं है वह असंज्ञी है। तीन शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको जो ग्रहण करता है वह आहारक है। इस तरह इन मार्गणाओंमें सत् संख्या आदि आठ अनुयोगोंके द्वारा मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंको जानकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। अर्थात् अहिंसा धर्मके पालनके लिए जीवोंके विविध प्रकारोंका पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसके बिना उनका पूर्ण संरक्षण कर सकना शक्य नहीं होता ॥२२॥

आगे कहते हैं कि यद्यपि प्रमत्तयोगसे प्राणघातको हिंसा कहा है किन्तु परमार्थसे प्रमत्तयोग ही हिंसा है—

प्राणोंका घात करनेपर भी यदि व्यक्ति राग-द्वेष और मोहरूप परिणत नहीं है तो वह अहिंसक है। और प्राणोंका घात न होनेपर भी यदि वह राग आदिसे युक्त है तो हिंसक है ॥२३॥

स्पष्टम्। उक्तं च—

मरदु व जियदु व जीवो अजदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स। [प्रवचनसार ३।१७]

अपि च—

म्रियतां वा म्रियतां जीवः प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिंसा।
प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति॥ [अमित. श्रा. ६।२५]

तथा—

'अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसित्ति णिच्छया समए।
जो होइ अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इयरो॥ [भ. आरा० ८०] ॥२३॥

विशेषार्थ—जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जानेसे या दुःखी हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं फिर भी जैन सिद्धान्त इस प्राणिघातको हिंसा नहीं कहता। जैन सिद्धान्तकी दृष्टि-से हिंसारूप परिणाम ही हिंसा है। प्रमत्तयोगसे प्राणघातको हिंसा कहा है। यहाँ प्रमत्तयोग और प्राणघात दो पद इसलिए दिये हैं कि यदि दोनोंमें-से एकका अभाव हो तो हिंसा नहीं है। जहाँ प्रमत्तयोग नहीं है केवल प्राणघात है वहाँ हिंसा नहीं है। कहा है—'ईर्यासमिति-पूर्वक चलते हुए तपस्वीके पैर उठानेपर चलनेके स्थानमें यदि कोई क्षुद्र जन्तु आ गिरे और वह उस साधुके पैरसे कुचलकर मर जावे तो उस साधुको उस सूक्ष्म जन्तुके घातके निमित्तसे सूक्ष्म-सा भी बन्ध आगममें नहीं कहा है।'

और भी आचार्य सिद्धसेनने अपनी द्वात्रिंशिकामें कहा[२] है कि 'कोई प्राणी दूसरेको प्राणोंसे वियुक्त करता है, उसके प्राण ले लेता है फिर भी हिंसासे संयुक्त नहीं होता, उसे हिंसा-का पाप नहीं लगता। एक प्राणी दूसरेको मारनेका कठोर विचार करता है उसका कल्याण नहीं होता। तथा कोई दूसरे प्राणियोंको नहीं मारता हुआ भी हिंसकपनेको प्राप्त होता है। इस प्रकार हे जिन! तुमने यह अतिगहन प्रशमका हेतु—शान्तिका मार्ग बतलाया है।'

क्यों एक प्राणोंका घात करके भी हिंसाके पापका भागी नहीं होता और क्यों दूसरा प्राणोंका घात नहीं करके भी पापका भागी होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जीव चाहे जिये चाहे मरे जो अयत्नाचारी है उसे अवश्य हिंसाका पाप लगता है। किन्तु जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है उसे हिंसा हो जाने मात्रसे पापबन्ध नहीं होता। इस तरह जैनधर्ममें हिंसाके दो भेद किये हैं—द्रव्यहिंसा या बहिरंगहिंसा और भावहिंसा या अन्तरंगहिंसा। केवल द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं है भावहिंसा ही हिंसा है। द्रव्यहिंसाके अभावमें भी केवल भावहिंसाके कारण सिक्थकमत्स्य तन्दुलमत्स्य (मरकर) सातवें नरकमें जाता है। अतः शुद्धनयसे अन्तरंग हिंसा ही हिंसा है बाह्यहिंसा हिंसा नहीं है। षट्खं., [पु. १४, पृ

१. 'म्रियतां मा मृत जीवः'—अमि. श्राव. ६।२५।

२. 'वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते, शिवं च न परोपमर्दपरुषस्मृतेर्विद्यते।
वधोपनयमभ्युपैति च पराननिघ्नन्नपि त्वयायमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्योतितः॥'

ननु यद्येवं तर्हि प्रमत्तयोगे हि सत्येवास्तु किं प्राणव्यपरोपणोपदेशेन इति चेन्न तत्रापि भावलक्षण-प्राणव्यपरोपणसद्भावात् । एतदेव समर्थयमानः प्राह—

प्रमत्तो हि हिनस्ति स्वं प्रागात्माऽऽतङ्कतायनात् ।
परोऽनु म्रियतां मा वा रागाद्या ह्यरयोऽङ्गिनः ॥२४॥

प्रमत्तः—पञ्चदशप्रमादान्यतमपरिणतः । तथा चोक्तम्—

'विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च ।
अन्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः ॥' [ ]

प्राक्—परवधात्पूर्वम् । आतङ्कतायनात्—दुष्कर्मनिर्मापकत्वेन स्वस्य सद्य पुरस्ताच्च व्याकुलत्वलक्षणदु.खसंतननात् । पर.—हन्तुमिष्ट प्राणी । अनु—पश्चात्, आत्महिंसनादूर्ध्वमित्यर्थ । तदुक्तम्—

'स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणा तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वधः ॥' [सर्वार्थसि. ७।१३ में उद्धृत]

रागाद्या हि—रागद्वेषमोहा एव न परप्राणवधः। तेषामेव हि दु खैककारणकर्मबन्धनिमित्तत्वेनारित्वात् । तथा चोक्तम्—

'न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत् ।

९०] में कहा[1] है—'अहिंसा भी स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं होती है। दोनों ही पराधीन नहीं हैं। जो प्रमादहीन है वह अहिंसक है और जो प्रमादसे युक्त है वह सदैव हिंसक है।'

उक्त कथनपर से यह शंका हो सकती है कि यदि प्रमत्तयोगका ही नाम हिंसा है तो हिंसाका लक्षण केवल प्रमत्तयोग होना चाहिए, उसके साथ 'प्राणघात' लगाना व्यर्थ है। इसका समाधान करते हैं—

जो जीव पन्द्रह प्रमादोंमें-से किसी एक प्रमादसे भी युक्त है वह परका घात करनेसे पहले तत्काल अपने दुष्कर्मोंका संचय करनेके कारण और आगे व्याकुलतारूप दु.खको बढानेसे अपने ही भावप्राणोंका घात करता है। उसके पश्चात् जिसको मारनेका विचार किया था वह प्राणी मरे या न मरे। क्योंकि राग-द्वेष-मोह ही प्राणीके शत्रु हैं ॥२४॥

विशेषार्थ—जो दूसरेको मारनेका या उसका अनिष्ट करनेका विचार करता है सबसे प्रथम इस दुर्विचारके द्वारा वह अपने भावप्राणोंका घात करता है। क्योंकि इस दुर्विचारके द्वारा ही उसके अशुभ कर्मोंका बन्ध होता है और इस बन्धके कारण आगे उसे उसका दुःख-रूप फल भोगना पड़ता है। कहा भी है—'प्रमादी आत्मा पहले तो स्वयं अपने ही द्वारा अपना घात करता है। दूसरे प्राणियोंका घात पीछे हो या न हो।'

अपनेसे अपना घात कैसे करता है तो इसका उत्तर है कि प्राणीके असली शत्रु तो राग-द्वेष-मोह है क्योंकि दु.खका एकमात्र कारण है कर्म और उस कर्मबन्धमें निमित्त हैं राग-द्वेष, मोह। अत वे आत्माके अपकार करनेवाले हैं। कहा है—'कर्मबन्धका कारण कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा लोक नहीं है। हलन-चलनरूप मन-वचन-कायकी क्रियारूप योग भी उसका कारण नहीं है। अनेक प्रकारकी इन्द्रियाँ भी बन्धके कारण नहीं हैं, न चेतन और अचेतनका

१ 'स्वयं ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसनं न तत्पराधीनमिह द्वयं भवेत् ।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसकः प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसक ॥'

यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥ [समय. कलश १६४]

यदि पुनः शुद्धपरिणामवतोऽपि जीवस्य स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण वधः स्यान्न कस्यचिन्मुक्तिः स्याद् योगिनामपि वायुकायिकादिवधनिमित्तसद्भावात् । तथा चाभाणि—

'जइ सुद्धस्स य बंधो होदि हि बहिरंगवत्थुजोगेण ।
णत्थि दु अहिंसगो णाम बादरकायादिवधहेदू ॥' [भ. आरा ८०६ गा.]

एतदेवाह—

तत्त्वज्ञानबलाद् रागद्वेषमोहानपोहतः ।
समितस्य न बन्धः स्याद् गुप्तस्य तु विशेषतः ॥२५॥

अपोहतः—निवर्तयत. ॥२५॥

अथ रागाद्युत्पत्त्यनुत्पत्ती हिंसाहिंसे इति जिनागमरहस्यतया विनिश्चाययति—

घात ही बन्धका कारण है। किन्तु यह जो आत्मा रागादिके साथ एकताको प्राप्त होता है वही जीवोंके बन्धका कारण है।'

जैसे कोई मनुष्य शरीरमें तेल लगाकर धूलभरी भूमिमें शस्त्र-संचालनका अभ्यास करते हुए अनेक वृक्षोंको काटता है और धूलसे लिप्त होता है। अब विचारना चाहिए कि उसके धूलसे लिप्त होनेका कारण क्या है ? धूलभरी भूमि तो उसका कारण नहीं है। यदि वह हो तो शरीरमें तेल लगाये बिना जो उसमें व्यायाम करते हैं उनका शरीर भी धूलसे लिप्त होना चाहिए। इसी तरह शस्त्राभ्यास भी उसका कारण नहीं है और न वृक्षोंका छेदन-भेदन करनेसे ही धूल चिपटती है। किन्तु उसके शरीरमें लगे तेलके ही कारण उससे धूल चिपटती है। इसी तरह मिथ्यादृष्टि जीव रागादि भावोंसे लिप्त होकर कर्मपुद्गलोंसे भरे लोकमें मन-वचन-कायकी क्रिया करते हुए अनेक उपकरणोंसे सचित्त-अचित्त वस्तुका घात करता है और कर्मसे बँधता है। यहाँ विचारणीय है कि बन्धका कारण क्या है ? कर्मपुद्गलोंसे भरा लोक तो बन्धका कारण नहीं है। यदि हो तो सिद्धोंके भी बन्ध होगा। मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिरूप योग भी बन्धका कारण नहीं है। यदि हो तो यथाख्यात चारित्रके धारकोंको भी बन्धका प्रसंग आयेगा। अनेक प्रकारकी इन्द्रियाँ भी बन्धका कारण नहीं हैं। यदि हों तो केवलज्ञानियोंके भी बन्धका प्रसंग आयेगा। सचित्त-अचित्त वस्तुका घात भी बन्धका कारण नहीं है। यदि हो तो समितिमें तत्पर मुनियोंको भी बन्ध होगा। अतः बन्धका कारण रागादि ही है। यदि शुद्ध परिणामवाले जीवके अपने शरीरके निमित्तसे होनेवाले अन्य प्राणिके घात मात्रसे बन्ध होना माना जाये तो किसीकी मुक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि योगियोंके श्वास लेनेसे भी वायुकायिक जीवोंका घात होता है। कहा भी है—'यदि बाह्य वस्तुके योगसे शुद्ध परिणामवाले जीवके भी बन्ध होवे तो कोई भी अहिंसक नहीं हो सकता; क्योंकि शुद्ध योगीके भी श्वासके निमित्तसे वायुकाय आदि जीवोंका बध होता है ॥२४॥

यही बात कहते हैं—

तत्त्वज्ञानके बलसे राग-द्वेष और मोहको दूर करनेवाले और समितिके पालक मुनिराजके बन्ध नहीं होता और गुप्तिके पालकके तो विशेषरूपसे बन्ध नहीं होता ॥२५॥

रागादिकी उत्पत्ति हिंसा है और अनुत्पत्ति अहिंसा है यह जिनागमका परम रहस्य है ऐसा निश्चय करते हैं—

[1]परं जिनागमस्येवं रहस्यमवधार्यताम् ।
हिंसा रागाद्युदुद्भूतिरहिंसा तदनुद्भवः ॥२६॥

अवधार्यतां—निश्चलचेतसि निवेश्यताम् । उदुद्भूतिः—'प्रोपोत्समा पादपूरणे' इत्युदो द्वित्वम् ॥२६॥

अथ अष्टोत्तरशतप्रकारहिंसाकारणनिरासादहिंसकः स्यादित्यनुशास्ति कषायेत्यादि—

[2]कषायोद्रेकतो योगैः कृतकारितसम्मतान् ।
स्यात् संरम्भ-समारम्भारम्भानुज्झन्नहिंसकः ॥२७॥

संरम्भः—प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवत प्रयत्नावेशः । समारम्भ.—साध्याया हिंसादिक्रियायाः साधनाना समाहार । आरम्भः—संचितहिंसाद्युपकरणस्याद्य. प्रक्रमः । तथा चोक्तम्—

'सरभोऽकधिसकल्पः समारम्भोऽधितापकः ।
शुद्धबुद्धिभिरारम्भः प्राणानां व्यपरोपकः ॥' [ ]

तत्र क्रोधोदयात् कायेन कृत कारितोऽनुमतश्चेति त्रय संरम्भाः । एवं त्रयो मानावेशात्, त्रयो मायोद्रेकात् त्रयश्च लोभोद्भवादिति द्वादश संरम्भा । तद्वत्समारम्भा आरम्भाश्च द्वादशेति सर्वे मिलिता षट्-

जिनागमका यह उत्कृष्ट सार अपने चित्तमें निश्चित रूपसे अंकित करे कि राग-द्वेष आदिकी उत्पत्ति हिंसा है और उसकी अनुत्पत्ति अहिंसा है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि हिंसाके एक सौ आठ प्रकारके कारणोंको दूर करनेपर ही अहिंसक होता है—

क्रोध आदि कषायोंके उदयसे मन-वचन-कायसे कृत कारित अनुमोदनासे युक्त संरम्भ, समारम्भ और आरम्भको छोड़नेवाला अहिंसक होता है ॥२७।

विशेषार्थ—प्राणोंके घात आदिमें प्रमादयुक्त होकर जो प्रयत्न किया जाता है उसे संरम्भ कहते हैं। साध्य हिंसा आदि क्रियाके साधनोंका अभ्यास करना समारम्भ है। एकत्र किये गये हिंसा आदिके साधनोंका प्रथम प्रयोग आरम्भ है। क्रोधके आवेशसे कायसे करना, कराना और अनुमोदना करना इस तरह संरम्भके तीन भेद हैं। इसी तरह मानके आवेशसे तीन भेद होते हैं, मायाके आवेशसे तीन भेद होते हैं और लोभके आवेशसे तीन भेद होते हैं। इस तरह संरम्भके बारह भेद हैं। इसी तरह बारह भेद समारम्भके और बारह भेद आरम्भके होनेसे सब मिलकर छत्तीस भेद होते हैं। छत्तीस ही भेद वचन सम्बन्धी होते हैं और छत्तीस ही भेद मन सम्बन्धी होते हैं। ये सब मिलकर जीवाधिकरणरूप आस्रवके १०८ भेद होते हैं। ये सब हिंसाके कारण हैं। आशय यह है कि मूल वस्तु सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ है। ये तीन मनसे, वचनसे और कायसे होते हैं इसलिए प्रत्येकके तीन-तीन प्रकार हैं। इन तीन-तीन प्रकारोंमें-से भी प्रत्येकके कृत, कारित, अनुमोदनाकी अपेक्षासे तीन-तीन भेद होते हैं। स्वयं करना कृत है, दूसरेसे कराना कारित है। कोई करता हो तो उसकी सराहना करना अनुमोदना है। इस प्रकार संरम्भ, समारभ और आरम्भके नौ प्रकार होते हैं। इन नौ प्रकारोंमें-से भी चार कषायोंकी अपेक्षा प्रत्येकके चार-चार भेद होते हैं।

---

१. रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्त त्ति भासिदं समये ।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसे त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥—सर्वार्थ. ७।२२ में उद्धृत ।

२. आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।
—तत्त्वा. सू. ६।८

त्रिंशत् । तथैव वाचापि ते षट्त्रिंशत् । तथा मनसाऽपि ते षट्त्रिंशदेवेति सर्वे मीलिता अष्टोत्तरशतजीवाधिकरणास्रवभेदा हिंसाकारणानि स्युस्तत्परिणतश्च हिंसक इत्युच्यते आत्मनो भावप्राणाना परस्य च द्रव्यभावप्राणानां वियोजकत्वात् । तथा चोक्तम्—

'रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पउंजए पओगं ।
हिंसा वि तत्थ जायदि तम्हा सो हिंसओ होइ ॥' [भ. आरा. ८०२] ॥२७॥

अथ भावहिंसानिमित्तभूतपरद्रव्यनिर्वृत्ति परिणामविशुद्धयर्थमुपदेष्टुमाचष्टे—

हिंसा यद्यपि पुंसः स्यान्न स्वल्पाऽप्यन्यवस्तुतः ।
तथापि हिंसायतनाद्विरमेद्भावशुद्धये ॥२८॥

अन्यवस्तुतः—परद्रव्यात् । हिंसायतनात्—भावहिंसानिमित्तान्मित्रशत्रुप्रभृतेः । भावशुद्धये—भावस्य आत्मपरिणामस्यात्मनो मनसो वा । शुद्धिः—मोहोदयसंपाद्यमानरागद्वेषकालुष्योच्छेदस्तदर्थम् । उक्तं च—

'स्वल्पापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥' [पुरुषार्थसि. ४९]

तथा यथा जीवपरिणामो हिंसोपकरणभूतो जीवाधिकरणास्रवभेदोऽष्टोत्तरशतसंख्यं तथाऽजीवपर्यायोऽप्यजीवाधिकरणं चतुर्भेदं स्यात्ततस्तद्वत्ततोऽपि भावशुद्धयर्थं निवर्तेतेत्यपि 'हिंसायतनाद्विरमेत' इत्यनेनैव सूचितं नेतव्यम् । तद्यथा—निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाद् द्विचतुर्द्वित्रिभेदा. क्रमादजीवाधिकरणमिष्यते । तत्र हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यत इति निर्वर्तना । दुःप्रयुक्तो देह' सच्छिद्राणि चोपकरणानीति द्विविधा । तथा सहसाऽनाभोगदुःप्रमृष्टाप्रत्यवेक्षितभेदाच्चतुर्द्धा निक्षेपः । तत्र पुस्तकाद्युपकरणशरीरतन्मलानि भयादिना शीघ्रं निक्षिप्यमाणानि षट्जीवबाधाधिकरणत्वात्सहसानिक्षेप. । असत्यामपि त्वराया जीवाः सन्तीति न सन्तीति वा निरूपणामन्तरेण निक्षिप्यमाणमुपकरणादिकमनाभोगनिक्षेप । य(त)देव दुःप्रमृष्टं निक्षिप्यमाणं दु.प्रमृष्टो निक्षेपः।

सब मिलकर १०८ भेद होते हैं। कोई भी हिंसा सम्बन्धी कार्य इन १०८ प्रकारके अन्तर्गत ही आता है। और जो इन प्रकारोंमें-से किसी भी एक प्रकारसे सम्बद्ध होता है वह हिंसक होता है। क्योंकि वह अपने भावप्राणोंका और दूसरेके द्रव्यप्राण और भावप्राणोंका घातक है। कहा भी है—'रागी, द्वेषी और मोही व्यक्ति जो कुछ करता है उसमें हिंसा भी होती है और इसलिए वह हिंसक होता है।'

परद्रव्य भावहिंसामें निमित्त होता है। इसलिए परिणामोंकी विशुद्धिके लिए परद्रव्यके त्यागका उपदेश देते हैं—

यद्यपि परवस्तुके सम्बन्धसे जीवको थोड़ी-सी भी हिंसाका दोष नहीं लगता। तथापि आत्माके परिणामोंकी विशुद्धिके लिए भावहिंसाके निमित्त मित्र-शत्रु वगैरहसे दूर रहना चाहिए ॥२८॥

विशेषार्थ—हिंसाके दो साधन हैं—जीव और अजीव। अतः जैसे जीवके परिणाम, जिनकी संख्या १०८ है, हिंसाके प्रधान साधन हैं वैसे ही अजीवकी चार अवस्थाएँ भी हिंसाकी साधन हैं। अतः परिणामोंकी विशुद्धिके लिए उनका भी त्याग आवश्यक है। यह बात श्लोकके 'हिंसायतनाद्विरमेत्' 'हिंसाके निमित्तोंसे दूर रहना चाहिए' पदसे सूचित होती है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अजीवाधिकरणके भेद हैं निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग। हिंसाके उपकरण रूपसे रचना करने अथवा बनानेको निर्वर्तना कहते हैं।

प्रमार्जनोत्तरकालं जीवाः सन्त्यत्र न सन्तीति वाऽप्रत्यवेक्षितं निक्षिप्यमाणमप्रत्यवेक्षितनिक्षेप.। तथा उपकरण-भक्तपानसंयोजनभेदाद् द्विधा संयोग.। तत्र शीतस्य पुस्तकादेरातपातितप्तेन पिच्छादिना प्रमार्जनप्रच्छादनादि-करण (–मुपकरण–)संयोजनम्। तथा सम्मूर्छनासंभवे पानं पानेन पानं भोजनेन भोजनं पानेनेत्यादि संयोजनं भक्तपानसंयोगः। तथा दुष्टमनोवाक्कायप्रवृत्तिभेदान्निसर्गस्त्रिधेति। तथा चोक्तम्—

'सहसानाभोगितदुःप्रमार्जिताप्रेक्षणानि निक्षेपे।
देहश्च [1]दुष्टयुक्तस्तथोपकरणं च निर्वृत्तिः ॥
सयोजनमुपकरणे पानाशनयोस्तथैव संयोगः।
वचनमनस्तनवस्ता दुष्टा भेदा निसर्गस्य ॥' [ ] ॥२८॥

अथेदानीमात्मवत्परस्यापि प्राणव्यपरोपणमसह्यदु.खकारणमाकलयन् सर्वत्र समदर्शी सर्वथा तत्परि-हरतीति स्थितार्थोपसहारार्थमाह—

उसके दो भेद हैं, मूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना। शरीर वगैरहका इस प्रकार प्रयोग करना कि वह हिंसाका साधन बने मूलगुणनिर्वर्तना है। लकड़ी वगैरहमें चित्र आदि अंकित करना उत्तरगुणनिर्वर्तना है। निक्षेप नाम रखनेका है। उसके चार भेद हैं—सहसा निक्षेप, अनाभोगनिक्षेप, दु.प्रमृष्ट निक्षेप और अप्रत्यवेक्षित निक्षेप। भय आदिके वश पुस्तक आदि उपकरणोंको, शरीरको और मलमूत्र आदिको शीघ्र इस तरह निक्षेपण करना जिससे छह कायके जीवोंको बाधा पहुँचे, उसे सहसा निक्षेप कहते है। जल्दी नहीं होनेपर भी 'जीव हैं या नहीं' यह देखे बिना उपकरण आदि रखना अनाभोग निक्षेप है। दुष्टतापूर्वक पृथ्वी आदिकी सफाई करके उपकरण आदिका निक्षेप करना दुःप्रमृष्टनिक्षेप है। पृथिवी आदिकी सफाईके बाद भी जीव है या नही यह देखे बिना उपकरण आदिका रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है। संयोगके दो भेद हैं—उपकरण संयोग और भक्तपान संयोग। ठण्डे स्थानमे रखी हुई पुस्तक आदिका धूपसे गर्म हुई पीछी आदिसे प्रमार्जन करना या ढाँकना आदि उप-करण संयोग है। सम्मूर्च्छन जीवोंकी सम्भावना होनेपर पेयको पेयसे, पेयको भोजनसे, भोजनको भोजनसे, भोजनको पेयसे अर्थात् सचित्त-अचित्त भक्तपानको मिलाना भक्तपान संयोग है। निसर्गके भी तीन भेद है—दुष्ट मनकी प्रवृत्ति, दुष्ट वचनकी प्रवृत्ति और दुष्ट कायकी प्रवृत्ति। कहा भी है—

'परवस्तुके निमित्तसे जीवको थोड़ी-सी भी हिंसा नहीं लगती फिर भी परिणामोंकी निर्मलताके लिए हिंसाके घर जो परिग्रह आदि हैं उनका त्याग करना उचित है। आशय यह है कि परिणामोंकी अशुद्धताके बिना परवस्तुके निमित्त मात्रसे जीवको हिंसाका रंचमात्र भी दोष नहीं लगता। फिर भी परिणाम वस्तुका आलम्बन पाकर होते है। जैसे यदि बाह्य परिग्रह आदिका निमित्त होता है तो उसका आलम्बन पाकर कषायरूप परिणाम होते हैं। अतः परिणामोंकी विशुद्धिके लिए परिग्रह आदिका त्याग करना चाहिए' ॥२८॥

उक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपनी तरह दूसरेके प्राणोंका घात भी असह्य दुःखका कारण है। ऐसा निश्चय करके सर्वत्र समदर्शी मुमुक्षु सर्वथा हिंसाका त्याग करता है। इसीका उपसहार आगेके पद्यमें करते हैं—

---

१. दुःप्रयुक्त—भ. कु. च.।

मोहादैक्यमवस्यतः स्ववपुषा तन्नाशमप्यात्मनो,
नाशं संक्लिशितस्य दुःखमतुलं नित्यस्य यद्द्रव्यतः ।
स्याद् भिन्नस्य ततो भवत्यसुभृतस्तद्घोरदुःखं स्वव-
ज्जानन् प्राणवधं परस्य समधीः कुर्यादकार्यं कथम् ॥२९॥

मोहात्—आत्मदेहान्तरज्ञानाभावात् । अवस्यतः—निश्चिन्वतः । स्ववपुषा—स्वोपात्तशरीरेण सह आत्मनो नाशमवस्यत इत्येव । संक्लिश्यतः—देहद्वारप्रवृत्तव्याधिजरामरणादिभयादिना कलुषितचित्तस्य । द्रव्यत.—अर्थात्पर्यायतश्चानित्यस्य । स्याद्भिन्नस्य ततः—कथचिद् लक्षणभेदान्निजदेहात् पृथग्भूतस्या-शक्यविवेचनत्वाच्चाभिन्नस्य । ये तु जीवदेहावत्यन्तं (-भिन्नौ मन्य-)न्ते तेषा देहविनाशेऽपि जीव-विनाशाभावाद्धिसानुपपत्ते. कुतस्तन्निवृत्त्या प्राणिरक्षाप्रधानो धर्म. सिद्धयेत् । तदुक्तम्—

'आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः ।
कायवधे हन्त कथं तेषां संजायते हिंसा ॥' [ ]

ये च तयोरभेदैकान्तं मन्यन्ते तेषां कायविनाशे जीवस्यापि विनाशात् कथं परलोकार्थं धर्मानुष्ठानं शोभते । तदप्युक्तम्—

'जीववपुषोरभेदो येषामैकान्तिको मतः शास्त्रे ।
कायविनाशे तेषां जीवविनाश. कथं वार्यं ॥' [ ]

ततो देहाद्भिन्नाभिन्न एवाहिंसालक्षणपरमधर्मसिद्धयर्थिभिरात्माऽभ्युपगन्तव्यः । तथात्मन सर्वथा नित्यस्येव क्षणिकस्यापि हिंसा दुरुपपादा इति नित्यानित्यात्मक एव जीवे हिंसासंभवात्तद्विरतिलक्षणधर्माचरणा-र्थिभिर्द्रव्यरूपतया नित्य. पर्यायरूपतया चानित्य. प्रमाणप्रसिद्धो जीव प्रतिपत्तव्य. । तथा चोक्तम्—

जो प्राणी आत्मा और शरीरका भेदज्ञान न होनेसे अपने शरीरके साथ अभेद मानता है और शरीरके नाशके साथ द्रव्यरूपसे नित्य तथा शरीरसे कथंचित् भिन्न भी आत्माका नाश मानता है अतएव जिसका चित्त शरीरके द्वारा होनेवाले रोगादिके कारण कलुषित रहता है उसे बहुत दुःख होता है। अपनी ही तरह दूसरोंके प्राणोंके घातको भी घोर दुःखका कारण जानकर समदर्शी मुमुक्षु कैसे हिंसारूप अकार्यको करेगा? अर्थात् नहीं करेगा ॥२९॥

विशेषार्थ—शरीर और जीव ये दोनों दो भिन्न द्रव्य हैं। शरीर पौद्गलिक है और जीव चेतन द्रव्य है। किन्तु दोनों इस तरहसे मिल गये हैं कि उनका भेद करना शक्य नहीं है। इसीलिए जीवको शरीरसे सर्वथा भिन्न न कहकर कथंचित् भिन्न कहा है। जो जीव और शरीरको अत्यन्त भिन्न मानते हैं उनके मतमें देहका विनाश होनेपर भी जीवका विनाश न होनेसे हिंसा ही सम्भव नहीं है तब हिंसाके त्याग पूर्वक होनेवाला प्राणिरक्षारूप धर्म कैसे सिद्ध हो सकेगा। कहा भी है—

'विवेक शून्य जो अज्ञानी आत्मा और शरीरमें सर्वथा भेद कहते हैं उनके यहाँ शरीरका घात होनेपर कैसे हिंसा हो सकती है यह खेदकी बात है। तथा जो शरीर और जीवमें सर्वथा अभेद मानते हैं उनके मतमें शरीरका विनाश होनेपर जीवका विनाश भी होनेसे कैसे परलोकके लिए धर्मका अनुष्ठान शोभित होता है?' 'जिनके शास्त्रमें जीव और शरीरका एकान्तसे भेद माना है उनके यहाँ शरीरका विनाश होनेपर जीवके विनाशको कैसे रोका जा सकता है?'

'जीवस्य हिंसा न भवेन्नित्यस्यापरिणामिनः ।
क्षणिकस्य स्वयं नाशात्कथं हिंसोपपद्यताम् ॥' [ ]

असुभृतः—प्राणिन । अकार्यं—न हिंस्यात् सर्वभूतानीति शास्त्रे निषिद्धत्वान्न कर्तव्यं नित्यादिपक्षेतूक्तनीत्या कर्तुमशक्यं च । कथं—केन प्रकारेण मनोवाक्कायकृतकारितानुमननानां मध्ये न केनापि प्रकारेणेत्यर्थः । तथा चाहुः—

'षड्जीवनिकायवधं यावज्जीवं मनोवचःकायैः ।
कृतकारितानुमननैरुपयुक्तः परिहर सदा त्वम् ॥' [ ] ॥२९॥

अथ प्राणातिपातादिहामुत्र च घोरदुर्निवारमपायं दर्शयित्वा ततोऽत्यन्तं शिवार्थिनो निवृत्तिमुपदिशति—

कुष्ठप्रष्ठैः करिष्यन्नपि कथमपि यं कर्तुमारभ्य चाप्त-
भ्रंशोऽपि प्रायशोऽत्राप्यनुपरममुपद्रूयतेऽत्तीवरोगैः ।
यं चक्राणोऽथ कुर्वन् विधुरमधरधीरेति यत्तत्कथास्तां-
कस्तं प्राणातिपातं स्पृशति शुभमतिः सोदरं दुर्गतीनाम् ॥३०॥

कुष्ठप्रष्ठैः—कुष्ठजलोदरभगन्दरादिमहारोगैः । करिष्यन्—कर्तुमिच्छन् । आप्तभ्रंशः—प्राप्ततत्करणान्तरायः । अत्रापि—इह लोकेऽपि । अनुपरमं—अनवरतम् । उपद्रूयते—पीड्यते । चक्राणः—कृतवान् ॥३०॥

इसलिए जो अहिंसारूप परमधर्मकी सिद्धिके अभिलाषी हैं उन्हें आत्माको शरीरसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए। इसी तरह सर्वथा नित्य आत्माकी तरह सर्वथा क्षणिक आत्माकी भी हिंसा सम्भव नहीं है क्योंकि वह तो क्षणिक होनेसे स्वयं ही नष्ट हो जाती है। कहा है—'सर्वथा अपरिणामी नित्य जीवकी तो हिंसा नहीं की जा सकती, और क्षणिक जीवका स्वयं ही नाश हो जाता है। तब कैसे हिंसा बन सकती है।'

इसलिए जीवको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य माननेपर ही हिंसा सम्भव है। अतः अहिंसारूप धर्मका पालन करनेके इच्छुक मुमुक्षुओंको द्रव्यरूपसे नित्य और पर्यायरूपसे अनित्य जीव स्वीकार करना चाहिए। ऐसा जीव ही प्रमाणसे सिद्ध होता है। इस प्रकार जीवका स्वरूप निश्चित रूपसे जानकर जीवहिंसाका त्याग करना चाहिए। कहा भी है—'तू सदा मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे छह कायके जीवोंकी हिंसा जीवनपर्यन्तके लिए छोड़ दे।' ॥२९॥

प्राणोंके घातसे इस लोक और परलोकमें ऐसी भयानक आपत्तियाँ आती हैं जिनको दूर कर सकना शक्य नहीं है इसलिए उससे मुमुक्षुको अत्यन्त दूर रहने का उपदेश देते हैं—

जिस हिंसाको करनेकी इच्छा करनेवाला भी इसी जन्ममें अत्यन्त भयानक कुष्ठ आदि रोगोंसे निरन्तर पीड़ित रहता है। केवल उसे करनेकी इच्छा करनेवाला ही पीड़ित नहीं होता किन्तु जो आरम्भ करके किसी भी कारणसे उसमें बाधा आ जानेके कारण नहीं कर पाता वह भी इसी जन्ममें प्रायः भयंकर रोगोंसे पीड़ित होता है। जो उस हिंसाको कर चुका है अथवा कर रहा है वह कुबुद्धि जिस कष्टको भोगता है उसकी कथा तो कही नहीं जा सकती। अपने कल्याणका इच्छुक कौन मनुष्य दुर्गतियोंकी सगी बहन हिंसाके पास जाना भी पसन्द करेगा ॥३०॥

अथ हिंसाया दुर्गतिदुःखैकफलत्वमुदाहरणेन प्रव्यक्तीकर्तुमाह—

मध्ये मस्करजालि दण्डकवने संसाध्य विद्यां चिरात्
कृष्टं शम्बुकुमारकेण सहसा तं सूर्यहासं दिवः ।
धृत्वायान्तमसिं बलाद् रभसया तां छिन्दता तच्छिर-
श्छिन्नं यत्किल लक्ष्मणेन नरके हो तत्खरं भुज्यते ॥३१॥

मध्ये मस्करजालि—वंशजालिमध्ये । चिरात्—षण्मासात् । शम्बुकुमारकेण—सूर्पणखापुत्रेण । रभसया—अविमृश्यकारितया । ता—वंशजालिम् ॥३१॥

अथ हिंसाया परिणतिरिवाविरतिरपि हिंसात्वात्तत्फलप्रदेति हिंसां न करोमीति स्वस्थंमन्यो भवान्मा-भूदिति ज्ञानलवदुर्विदग्धं बोधयति—

स्यान्न हिंस्यां न नो हिंस्यामित्येव स्यां सुखीति मा ।
अविरामोऽपि यद्वामो हिंसायाः परिणामवत् ॥३२॥

विशेषार्थ—जो हिंसा करनेका विचार करता है और प्रारम्भ करके भी बाधा आ जानेसे कर नहीं पाता वह भी प्रायः इसी जन्ममें भयंकर रोगोंसे सदा पीड़ित रहता है। किन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि ऐसे लोगोंको इस जन्ममें कोई पीड़ा नहीं होती। इसलिए 'प्रायः' पद दिया है जो बतलाता है कि दैववश यदि उस जन्ममें पीड़ा नहीं होती तो जन्मान्तरमें अवश्य पीड़ा होती है। तथा हिंसाको दुर्गतियोंकी सगी बहन कहा है क्योंकि हिंसक जीवोंको अवश्य ही नरकादि गतियोंमें जाकर दुःख उठाना पड़ता है ॥३०॥

हिंसाका एकमात्र फल दुर्गतिका दुःख है यह बात उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं—

पद्मपुराणमें कहा है कि शम्बुकुमारने दण्डकवनमें बाँसोंके झुरमुटमें बैठकर छह मास तक विद्या सिद्ध करके सूर्यहास खड्ग प्राप्त करनेका उपक्रम किया था। जब वह खड्ग आकाशसे आया तो सहसा उसे ग्रहण करके लक्ष्मणने बिना विचारे बलपूर्वक उस वंशजालको उस खड्गसे काटा तो शम्बुकुमारका सिर कट गया। उसीका अतिदुःसह फल नरकमें आज भी लक्ष्मण भोगते हैं यह बड़े खेदकी बात है ॥३१॥

विशेषार्थ—पद्मपुराणमें कहा है कि जब रामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मणके साथ वनवासी होकर दण्डकवनमें पहुँचे तो वहाँ रावणकी बहन शूर्पणखाका पुत्र बाँसोंके झुरमुटमें बैठकर छह माससे विद्या सिद्ध करता था। देवोपनीत खड्ग आकाशमें लटक रहा था। लक्ष्मण वनमें घूमते हुए उधरसे निकले और उन्होंने लपककर सूर्यहास खड्ग हस्तगत कर लिया। उसकी तीक्ष्णता जाननेके लिए उन्होंने उसी बाँसोंके झुरमुटपर उसका प्रहार किया। फलतः बाँसोंके साथ उनके भीतर बैठे शम्बुकुमारका सिर भी कट गया। यह घटना ही आगे चलकर सीताहरण और राम-रावणके युद्धमें कारण बनी। फलतः लक्ष्मण मरकर नरकमें गये ॥३१॥

आगे ग्रन्थकार अज्ञानीको समझाते हैं कि हिंसा करनेकी तरह हिंसाका त्याग न करनेसे भी हिंसाका ही फल मिलता है इसलिए मैं हिंसा नहीं करता ऐसा मानकर आप निश्चिन्त न होवें—

हे सुखके इच्छुक जीव ! मैं यदि अहिंसाका पालन नहीं करता तो हिंसा भी नहीं करता, अतः मुझे अवश्य सुख प्राप्त होगा, ऐसा मानकर मत बैठ। क्योंकि हिंसाके परिणाम-

मा स्यात्—मा भूद्भवानित्यर्थः । अविरामः—प्राणिनः प्राणान्न व्यपरोपयामीति संकल्पाकरणलक्षणमविरमणम् । वामः—प्रतिकूलो दुःखकारीत्यर्थः । परिणामवत्—हिनस्मीति परिणतिर्यथा । उक्तं च—

'हिंसाया अविरमणं वधपरिणामोऽपि भवति हिंसैव ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥' [पुरुषार्थ. ४८] ॥३२॥

अथ हिंसाया अहिंसायाश्च परिपाट्या फलोद्रेकं दृष्टान्तेन कथयित्वा अहिंसापरिणत्यै स्वहितोद्यतान्नितान्तमुद्यमति—

धनश्रियां विश्रुतदुःखपाकामाकर्ण्य हिंसां हितजागरूकाः ।
छेत्तुं विपत्तीर्मृगसेनवच्च श्रियं वरीतुं व्रतयन्त्वहिंसाम् ॥३३॥

वरीतुं—संभक्तुम् । व्रतयन्तु—व्रता (?) अहिंसाया परिणमतामित्यर्थः ॥३३॥

की तरह मैं प्राणीके प्राणोंका घात नहीं करूँगा इस प्रकारके संकल्पका न करना रूप अविरति भी दुःखकारी है ॥३२॥

विशेषार्थ—जबतक किसी बातका संकल्पपूर्वक त्याग नहीं किया जाता तबतक केवल उसे न करनेसे ही उसके फलसे छुटकारा नहीं होता। संकल्पपूर्वक त्याग न करना ही इस बातका सूचक है कि उस ओर प्रवृतिमें राग है। जैसे कोई आदमी किसी विषयका सेवन नहीं करता। उससे कहा जाये कि तुम उसका त्याग कर दो तो वह त्याग करनेके लिए यदि तैयार नहीं होता तो स्पष्ट है उसे उस विषयसे अरुचि नहीं है। और यह स्थिति विषय सेवनकी तरह ही दुःखकारक है। यही बात हिंसा न करते हुए भी हिंसाका त्याग न करनेमें लागू होती है। कहा भी है—'हिंसासे विरक्त न होना और हिंसारूप परिणाम भी हिंसा ही है। इसलिए प्रमादरूप आत्मपरिणामोंके होनेपर निरन्तर प्राणघात होता है।'

क्रमसे हिंसा और अहिंसाके उत्कट फलको दृष्टान्तके द्वारा प्रकट करके आत्महितमें तत्पर मुमुक्षु जनोंको अहिंसा परिणतिके लिए अत्यन्त उद्यम करनेकी प्रेरणा करते हैं—

धनश्रीने हिंसाका फल जो घोर दुःख भोगा वह आगमसे प्रसिद्ध है। उसे सुनकर अपने हितमें जागरूक मुमुक्षु जनोंको विपत्तियोंको नष्ट करनेके लिए और लक्ष्मीका वरण करनेके लिए मृगसेनधीवरकी तरह अहिंसापालनका व्रत लेना चाहिए ॥३३॥

विशेषार्थ—रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें हिंसा नामक पापके करनेमें धनश्रीको प्रसिद्ध कहा है। धनश्री वणिक् धनपालकी पत्नी थी। उसके एक पुत्र था और एक पुत्री थी। उसने एक बालक कुण्डलको पाला था। सेठके मरने पर धनश्री उस पालित कुण्डलमें अनुरक्त हो गयी। जब उसका पुत्र समझदार हुआ तो धनश्रीने उसे मारनेका प्रबन्ध किया। यह बात उसकी पुत्रीको ज्ञात हो गयी और उसने अपने भाईको सावधान कर दिया। प्रतिदिन कुण्डल पशु चराने जंगलमें जाता था। एक दिन धनश्रीने अपने पुत्रको पशु चराने भेजा। सावधान पुत्रने पशुओंको जंगलमें छोड़ दिया और एक ठूंठको अपने वस्त्र पहिराकर स्वयं छिप गया। पीछेसे कुण्डल उसे मारनेके लिये गया और उसने ठूँठको गुणपाल जानकर उसपर खड्गसे प्रहार किया। उसी समय गुणपालने उसी खड्गसे उसका वध कर दिया और घर लौट आया। धनश्रीने उससे पूछा, कुण्डल कहाँ है? रक्तसे सना खड्ग दिखा कर गुणपालने कहा—इससे पूछो। धनश्रीने तत्काल उसी खड्गसे अपने पुत्रको मार दिया। कोलाहल होनेपर धनश्रीको पकड़कर राजदरबारमें उपस्थित किया गया। राजाने उसके नाक कान काटकर गधे पर बैठाकर देशसे निकाल दिया। मरकर उसने नरकादि गतिमें भ्रमण किया। इसी तरह मृग

अथ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनभावनापञ्चकेन भाव्यमानमहिंसामहाव्रतं स्थिरीभूय परं माहात्म्यमासादयतीत्युपदिशति—

निगृह्णतो वाङ्मनसी यथावन्मार्गं चरिष्णोर्विधिवद्यथार्हम् ।
आदाननिक्षेपकृतोऽन्नपाने दृष्टे च भोक्तुः प्रतपत्यहिंसा ॥३४॥

चरिष्णोः—साधुत्वेन पर्यटतः। विधिवत्—शास्त्रोक्तविधानेन। यथार्हं—यदसंयमपरिहारेणादातुं निक्षेप्तुं च योग्यं ज्ञानसंयमाद्युपकरणं तदनतिक्रमेण। आदाननिक्षेपकृतः—ग्रहणस्थापनकारिणः। दृष्टे—कल्पते (–न कल्पते–) वेति चक्षुषा निरूपिते। भोक्तुः—साधुभुञ्जानस्य। प्रतपति—अव्याहतप्रभावो भवति ॥३४॥

सेन धीवर प्रतिदिन जाल लेकर मछली मारने जाता था। एक दिन एक साधुको उसने नमस्कार किया और उनका उपदेश सुना। साधुने उससे कहा कि तुम्हारे जालमें जो पहली मछली आये उसे मत मारना। उसने ऐसा ही किया। उस मछली पर निशानके लिए धागा बाँधकर जलमें छोड़ दिया। किन्तु उस दिन पाँच बार वही मछली उसके जालमें आयी और उसने उसे जलमें छोड़ दिया। इतनेमें सन्ध्या हो गयी और वह खाली हाथ घर लौटा। उसकी पत्नीने उसे खाली हाथ देखकर द्वार नहीं खोला। वह बाहर ही सो गया और साँपके काटनेसे मर गया। मरकर उसने दूसरे जन्ममें जिस तरह पाँच बार मृत्युके मुखसे छुटकारा पाया, उसकी रोचक कथा कथाकोश आदि ग्रन्थोंमें वर्णित है। अतः हिंसाको त्यागकर अहिंसा पालनका व्रत लेना चाहिए ॥३३॥

आगे कहते हैं कि वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन इन पाँच भावनाओंसे भाया गया अहिंसाव्रत स्थिर होकर उत्कृष्ट माहात्म्यको प्राप्त कराता है—

जो मुमुक्षु संक्लेश, सत्कार, लोक प्रसिद्धि आदिकी चाहको त्यागकर वचन और मनका निरोध करता है, शास्त्रोक्त विधानके अनुसार मार्गमें चलता है, असंयमको बचाते हुए ग्रहण करने और रखनेके योग्य पुस्तकादि उपकरणोंका ग्रहण और निक्षेपण करता है तथा यह योग्य है या नहीं इस प्रकार आँखोंसे देखकर अन्न पानको खाता है, उसकी अहिंसा बड़ी प्रभावशाली होती है ॥३४॥

विशेषार्थ—अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ आगममें कही हैं—वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन। इन्हींका स्वरूप ऊपर कहा है और आगे भी कहेंगे। इन भावनाओंसे अहिंसाकी पुष्टि होती है। वचनका निरोध करनेसे कठोर आदि वचनसे होने वाली हिंसा नहीं होती। मनका निरोध होनेसे दुर्विचारसे होनेवाली हिंसा नहीं होती। ईर्या समिति पूर्वक चलनेसे मार्ग चलनेसे होनेवाली हिंसा नहीं होती। देखकर उपकरणोंको ग्रहण करने और देखकर रखनेसे उठाने-धरनेमें होनेवाली हिंसा नहीं होती। देखकर दिनमें खानपान करनेसे भोजन-सम्बन्धी हिंसाका बचाव होता है। साधुको इतनी ही क्रियाएँ तो करनी पड़ती हैं। यदि प्रमादका योग न हो तो हिंसा हो नहीं सकती। अतः सदा अप्रमादी होकर ही प्रवृत्ति करना चाहिए। तभी अहिंसाका पालन पूरी तरहसे सम्भव है ॥३४॥

अथैतद्भावनावतां निजानुभावभरनिर्भरमहिंसामहाव्रती दूरमारोहतीति प्रतिपादयितुमाह—

सम्यक्त्व-प्रभुशक्ति-सम्पदमल-ज्ञानामृतांशुद्रुति-
निःशेषव्रतरत्नखानिरखिलक्लेशाहिताक्ष्याहतिः।
आनन्दामृतसिन्धुरद्भुतगुणामर्त्यागभोगावनी
श्रीलीलावसतिर्यशःप्रसवभूः प्रोवेत्यहिंसा सताम् ॥३५॥

शक्तिसम्पत्—शक्तित्रयी। अयमर्थः—यथा विजिगीषु.

'मन्त्रशक्तिर्मतिबलं कोशदण्डबलं प्रभोः।
प्रभुशक्तिश्च विक्रान्तिबलमुत्साहशक्तिता ॥' [ ]

इति शक्तित्रयेण शत्रूनुन्मूलयति एवं सम्यक्त्वं कर्मशत्रूनहिंसया। अमृतांशुः—चन्द्रः। द्रुतिः—निर्यासः। तथा चोक्तम्—

'सर्वेषां समयानां हृदयं गर्भश्च सर्वशास्त्राणाम्।
व्रतगुणशीलादीनां पिण्डः सारोऽपि चाहिंसा ॥' [ ]

तार्क्ष्याहतिः—गरुडाघातः। अमर्त्यागाः—कल्पवृक्षाः। भोगावनी—देवकुरुप्रमुखभोगभूमि। यथाऽसौ कल्पवृक्षैः संततं संयुक्तं तथा अहिंसा जगच्चमत्कारकारिभिस्तप संयमादिभिर्गुणैरित्यर्थ। श्रीलीलावसतिः—लक्ष्म्या लीलागृहं निरातङ्कतया सुखावस्थानहेतुत्वात् ॥३५॥

अथ द्वादशभिः पद्यैः सत्यव्रतं व्याचिकीर्षुरसत्यादीनां हिंसापर्यायत्वात्तद्विरतिरप्यहिंसाव्रतमेवेति ज्ञापयति—आरमेत्यादि—

आगे कहते हैं कि इन भावनाओंको भानेवाले साधुओंका अहिंसा महाव्रत, जो पालन करनेवालेके भावों पर निर्भर है, उन्नत होता है—

अहिंसा सम्यग्दर्शनरूपी राजाकी शक्तिरूप सम्पदा है, निर्मलज्ञानरूपी चन्द्रमाका निचोड़ है, समस्त व्रतरूपी रत्नोंके लिए खान है, समस्त क्लेशरूपी सर्पोंके लिए गरुड़का आघात है, आनन्द रूपी अमृतके लिए समुद्र है, अद्भुतगुण रूपी कल्पवृक्षोंके लिए भोग भूमि है, लक्ष्मीके विलासके लिए घर है, यशकी जन्मभूमि है। उक्त आठ विशेषणोंसे विशिष्ट अहिंसा असाधारण रूपसे शोभायमान होती है ॥३५॥

विशेषार्थ—जैसे जीतनेका इच्छुक राजा मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साह शक्तिसे सम्पन्न होने पर शत्रुओंका उन्मूलन करता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन अहिंसाके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करता है। निर्मल ज्ञानका सार अहिंसा ही है। कहा भी है—'अहिंसा समस्त सिद्धान्तोंका हृदय है, सर्वशास्त्रोंका गर्भ है, व्रत, गुण, शील आदिका पिण्ड है। इस प्रकार अहिंसा सारभूत है।' अहिंसामें-से ही व्रतोंका निकास होता है। तथा जैसे गरुड़की चोंचके प्रहारसे सर्प भाग जाते हैं वैसे ही अहिंसासे सब क्लेश दूर होते हैं। जैसे समुद्रसे अमृत निकलता है वैसे ही अहिंसासे आनन्द रूप अमृत पैदा होता है। जैसे उत्तरकुरु आदि भोगभूमि सदा कल्प वृक्षोंसे पूर्ण रहती है वैसे ही अहिंसा, तप, संयम आदि गुणोंसे पूर्ण होती है। अहिंसकके घरमें लक्ष्मीका आवास रहता है और जगत्में उसका यश छाया रहता है। इस प्रकार अहिंसा महाव्रतका स्वरूप तथा माहात्म्य जानना ॥३५॥

आगे बारह श्लोकोंसे सत्यव्रतका कथन करते हुए बताते हैं कि असत्य आदि सभी पाप हिंसाकी ही पर्याय हैं अतः उनका त्याग भी अहिंसा व्रत ही है—

आत्महिंसनहेतुत्वाद्धिंसैवासूनृताद्यपि ।
भेदेन तद्विरत्युक्तिः पुनरज्ञानुकम्पया ॥३६॥

आत्मनो हिंसनं शुद्धपरिणामोपमर्दः स एव हेतुरस्य तद्भावात् प्रमत्तयोगैकहेतुकत्वादित्यर्थः। उक्तं च—
'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥' [पुरुषार्थ. ४२] ॥३६॥

अथ सत्यव्रतस्वरूपं निरूपयन्नाह—

अनृताद्[1] विरतिः सत्यव्रतं जगति पूजितम् ।
अनृतं त्वभिधानं स्याद् रागाद्यावेशतोऽसतः ॥३७॥

अनृतात्—असत्ययोग्यादात्मपरिणामात् तस्यैव कर्मबन्धनिबन्धनत्वेन वस्तुवृत्त्या परिहार्यत्वात्, तन्निमित्तिकपौद्गलिकवचनस्य व्यवहारेणैव परिहार्यत्वसमर्थनात् । असतः—अशोभनस्य कर्मबन्धनिमित्तवचनस्य इत्यर्थ. ॥३७॥

केवल प्राणोंका घात ही हिंसा नहीं है किन्तु असत्य बोलना वगैरह भी हिंसा है क्योंकि उससे भी आत्मा की हिंसा होती है। फिर भी सत्य आदिका अहिंसासे पृथक् कथन मन्दबुद्धि लोगों पर कृपाकी भावनासे किया गया है ॥३६॥

विशेषार्थ—हिंसाका लक्षण जो प्रमत्तयोगसे प्राणोंका घात कहा है वह झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन सभी पापोंमें घटित होता है क्योंकि ये सभी पाप आत्माके शुद्ध परिणामोंके घातक हैं। आत्मामें किसी भी प्रकारका विकार भाव उसका घातक होता है। अतः विकार मात्र हिंसा है। झूठ बोलनेका भाव, परायी वस्तुको चुरानेका भाव, स्त्री भोगका भाव, धन-सम्पत्तिके अर्जन, संचय और संरक्षणका भाव ये सभी विकार भाव हैं। आत्माका इनसे घात होता है, आत्मा अपने शुद्ध परिणाम रूप स्वभावसे च्युत होकर अशुद्ध रूप परिणमन करता है उसका यह परिणमन ही हिंसा है। अतः विकार मात्र हिंसा है किन्तु मन्द बुद्धि लोग इसको नहीं समझते। इसीसे सत्यव्रत आदि चार व्रतोंका पृथक् कथन किया है। कहा भी है—'आत्माके परिणामोंके घातमें कारण होनेसे ये सभी हिंसा रूप हैं फिर भी असत्य वचन आदिका कथन शिष्योंको समझानेके उद्देश्यसे किया है' ॥३६॥

आगे सत्यव्रतका स्वरूप कहते हैं—

रागद्वेषरूप परिणामोंके आवेशसे अशोभनीय वचनोंके बोलनेको अनृत कहते हैं। उस अनृतके त्यागको सत्यव्रत कहते हैं। यह सत्यव्रत जगत्में पूजनीय है ॥३७॥

विशेषार्थ—जैनधर्ममें प्रत्येक व्रत आत्मपरिणाम रूप है। अतः यहाँ अनृतसे असत्य वचन योगरूप आत्मपरिणाम लिया गया है क्योंकि वही कर्मबन्धमें निमित्त होनेसे वास्तवमें त्यागने योग्य है। वचन वर्गणाके अवलम्बनसे वाक् परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन-चलन होता है उसे वचन योग कहते हैं। उसके चार भेदोंमें-से एक भेद असत्य वचन योग है वही वस्तुतः त्यागने योग्य है। उस योगमें निमित्त जो पौद्गलिक वचन हैं व्यवहारसे ही उनके त्यागका समर्थन होता है। 'असत्' का अर्थ है अप्रशस्त, अशोभन।

---

१. 'असदभिधानमनृतम्'।—त. सू. ७।१४।
यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनृतं विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥—पुरुषार्थ, ९१ श्लो.।

अथ चतुःप्रकारमनृतं सोदाहरणं निरूप्य तत्परिहारं त्रिविधेन विधापयितुमार्याद्वयमाह—

नोकालेऽस्ति नृणां मृतिरिति सत्प्रतिषेधनं शिवेन कृतम् ।
क्ष्मादीत्यसदुद्भावनमुक्ता वाश्वेति विपरीतम् ॥३८॥
सावद्याप्रियगर्हितभेदात्त्रिविधं च निन्द्यमित्यनृतम् ।
दोषोरगवल्मीकं त्यजेच्चतुर्धापि तत्त्रेधा ॥३९॥ [युग्मम्]

अकाले—आयुस्थितिकालादन्यदा । नृणां—चरमदेहवर्जकर्मभूमिमनुष्याणाम् । सत्प्रतिषेधनं—अकालेऽपि विषवेदनादिना विद्यमानस्य मरणस्य निषेधनम् । तदुक्तम्—

और जिससे प्राणीको कष्ट पहुँचता है वह वचन अप्रशस्त है भले ही वह सत्य हो। जैसे काने आदमीको काना कहना यद्यपि सत्य है तथापि पीड़ाकारक होनेसे वह असत्यमें ही सम्मिलित है ॥३७॥

चार प्रकारके असत्यका उदाहरणपूर्वक निरूपण करके मन-वचन-कायसे उनका त्याग करनेके लिए दो आर्या छन्द कहते हैं—

असत्यके चार भेद हैं—सत्का निषेध, असत्का उद्भावन, विपरीत और निन्द्य। चरमशरीरीके सिवाय अन्य कर्मभूमिया मनुष्योंका अकालमें मरण नहीं होता ऐसा कहना सत्प्रतिषेध नामक प्रथम असत्य है। पृथिवी, पर्वत, वृक्ष आदिको ईश्वरने बनाया है ऐसा कहना असत् उद्भावन नामक दूसरा असत्य है। गायको घोड़ा कहना विपरीत नामक तीसरा असत्य है। और निन्द्य नामक चतुर्थ असत्यके तीन भेद हैं—सावद्य, अप्रिय और गर्हित। यह चारों ही प्रकारका असत्य दोषरूपी सर्पोंके लिए बामीके समान है। अतः मन-वचन-कायसे उसका त्याग करना चाहिए ॥३८-३९॥

विशेषार्थ—'असदभिधानमनृतम्' इस सूत्रका व्याख्यान करते हुए अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (७।१४।५) में यह शंका उठायी है कि 'मिथ्याऽनृतम्' ऐसा लघु सूत्र क्यों नहीं बनाया? उसके समाधानमें कहा है कि मिथ्या शब्दका अर्थ विपरीत होता है। अतः ऐसा सूत्र बनानेसे भूत (सत्) निह्नव (निषेध) और अभूत (असत्) का उद्भावन ही झूठ कहलायेगा। जैसे आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है या आत्मा चावलके बराबर या अँगूठेके पर्व बराबर है या सर्वव्यापक है। जो वचन विद्यमान अर्थका कथन करते हुए भी प्राणीको कष्टदायक होता है वह असत्य नहीं कहा जायेगा। किन्तु 'असत्' कहनेसे जितना भी अप्रशस्त वचन है वह सब असत्य कहा गया है। भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकामें 'असंतवयण'का अर्थ अशोभन वचन किया है और जिस वचनसे कर्मबन्ध हो उसे अशोभन कहा है। आचार्य पूज्यपाद और अकलंकने असत्का अर्थ अप्रशस्त किया है और अप्रशस्त तथा अशोभन एकार्थवाचक हैं। फिर भी उक्त दोनों आचार्योंने प्राणिपीड़ाकारक वचनको अप्रशस्त कहा है। और विजयोदया टीकाके कर्ताने कर्मबन्धके कारण वचनको अशोभन कहा है। उसमें आगे यह शंका उठायी है कि वचन आत्माका परिणाम नहीं है वह तो पुद्गल नामक द्रव्य है। अतः बन्ध अथवा बन्धस्थितिमें निमित्तभूत जो मिथ्यात्व, असंयम,

---

१. भग. आ., ८२४-८३२ गा.।

२. 'परिहर असंतवयणं सव्वं पि चदुव्विधं पयत्तेण ।
धत्तं पि संजयंतो भासादोसेण लिप्पदि हु ॥' —भ. आ., ८२३ गा.।

'विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं।
आहारोस्सासाणं निरोहओ छिज्जदे आऊ॥' [गो. कर्म. ५७]

क्षमादि—क्षितिर्भवति वृक्षादिकम्। इति प्रकारार्थतो नास्ति सुराणामकाले मृत्युरित्यावेद्यम् ॥३८॥ १

त्रेधा—मनोवाक्कायैः ॥३९॥

कषाय और योगरूप आत्मपरिणाम है वही त्याज्य है, असत् वचनके त्यागका उपदेश अनुपयोगी है। इसके उत्तरमें कहा है—कृत कारित अनुमतके भेदसे असंयम तीन प्रकारका है। 'मैं इस मनुष्यको इस असंयममें प्रवृत्त करता हूँ अथवा इस वचनके द्वारा असंयममें प्रवृत्त हुए मनुष्यकी अनुमोदना करता हूँ' इस प्रकारके अभिप्रायके बिना ऐसे वचन नहीं निकल सकते। अतः उस वचनमें कारणभूत अभिप्राय आत्मपरिणामरूप होता है और वह कर्मबन्धमें निमित्त होता है इसलिए उसे त्यागना चाहिए। उसके त्यागनेपर उसका कार्य वचन भी छूट जाता है; क्योंकि कारणके अभावमें कार्य नहीं होता। अतः आचार्यने इस क्रमसे असत् वचनका त्याग कहा है। अप्रमादी होकर सभी प्रकारके असत् वचनोंका त्याग करना चाहिए; क्योंकि संयम धारण करके भी और उसका अच्छी तरह पालन करते हुए भी मुनि भाषादोषसे उत्पन्न हुए कर्मसे लिप्त होता है। यहाँ 'भाषा'से वचनयोग नामक आत्मपरिणाम लेना चाहिए। अर्थात् दुष्ट वचनयोगके निमित्तसे उत्पन्न हुए कर्मसे आत्मा लिप्त होता है। इस असत्य वचनके चार भेद हैं—सत्का निषेध करना प्रथम असत्य है जैसे यह कहना कि मनुष्यकी अकालमें मृत्यु नहीं होती। यहाँ कालसे मतलब है आयुका स्थितिकाल। उस कालसे भिन्न काल अकाल है। यद्यपि भोगभूमिके मनुष्योंका अकालमें मरण नहीं होता किन्तु जो चरमशरीरी होते हैं उनके सिवाय शेष कर्मभूमिके मनुष्योंका अकालमरण आगममें कहा है। यथा—'उपपाद जन्मवाले देव नारकी, चरमशरीरी मनुष्य और असंख्यात वर्षकी आयुवाले भोगभूमिया जीवोंकी आयुका विष शस्त्रादिसे घात नहीं होता।' इससे सिद्ध है कि अकालमें भी विषादिके द्वारा मरण हो सकता है। कहा भी है—'विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, संक्लेश और आहार तथा श्वासके रुकनेसे आयु छीज जाती है।' अस्तु।

असत्का उद्भावन—जो नहीं है उसे 'है' कहना दूसरा असत्य है। जैसे देवोंकी अकाल-मृत्यु कहना या जगत्को ईश्वरका बनाया हुआ कहना। गायको घोड़ा कहना तीसरा विपरीत नामक असत्य है। चतुर्थ भेद निन्द्य है। भ. आ. में भी असत्यके चार भेद कहे हैं और उन्हींका अनुसरण इस ग्रन्थके रचयिता पं. आशाधरने किया है। किन्तु तीसरे असत्य का नाम विपरीत और चतुर्थ असत्यका नाम निन्द्य न भ. आ. में है और न पुरुषार्थ. में। पुरुषार्थ. में (९२-९४) आचार्य अमृतचन्द्रने इन असत्योंका स्वरूप जिस रूपमें कहा है वह जैन दार्शनिक शैलीके अनुरूप है। तदनुसार 'स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावसे विद्यमान

---

१. स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र॥
असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन्यथास्ति घटः॥

अथ चतुर्विधस्याप्यनृतस्य दोषानाह—

यद्विश्वव्यवहारविप्लवकरं यत्प्राणिघाताद्यघ-
द्वारं यद्विषशस्त्रपावकतिरस्कारोद्धुराहंकृति ।
यन्म्लेच्छेष्वपि गर्हितं तदनृतं जल्पन्न चेद्रौरव-
प्रायाः पश्यति दुर्गतीः किमिति ही जिह्वाच्छिदाद्यान् कुधीः ॥४०॥

यत्—सत्प्रतिषेधनाद्यनृतत्रयं, यत् सावद्याख्यमनृतम् । प्राणीत्यादि । तद्यथा—पृथिवीं खन्, स्नाहि शीतोदकेन, पचापूपम्, प्रसूनमुच्चिनु, चौरोऽयमित्यादि । यत् सत्प्रतिषेधनाद्यनृतत्रयं यत् सावद्याख्यमनृतं यत् गर्हिताख्यमनृतं कर्कशादि । तदुक्तम्—

'पैशुन्यहास्यगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥' [पुरुषार्थसि. ९६]

गर्हितं—निन्दितं किमिति न पश्यतीत्यत्रापि योज्यम् । जिह्वाछिदाद्यान्—जिह्वायाच्छिदा छेदनमाद्यो येषा विषाग्न्युदकाद्यसहन-स्वजनावमानव-मित्रविरक्ति-सर्वस्वहरणाद्यपायानाम् ॥४०॥

वस्तुका भी जिसमें निषेध किया जाता है वह पहला असत्य है। जैसे देवदत्तके होते हुए भी कहना कि यहाँ देवदत्त नहीं है। परक्षेत्र, परकाल और परभावसे असत् भी वस्तुको सत् कहना दूसरा असत्य है। जैसे घड़ेके अभावमें भी घड़ेका सद्भाव कहना। स्वरूपसे सत् भी वस्तुको पररूपसे कहना तीसरा असत्य है जैसे गायको घोड़ा कहना। चतुर्थ असत्यके सामान्यसे तीन भेद हैं—गर्हित, सावद्य और अप्रिय। कर्कश वचन, निष्ठुर वचन, दूसरोंके दोषसूचक वचन, हास्यपरक वचन तथा जो कुछ भी वृथा बकवादरूप वचन है वे सब गर्हित वचन हैं। जिस वचनसे हिंसा आदि दोषोंमें प्रवृत्ति हो उसे सावद्य वचन कहते है। जैसे पृथ्वी खोदो, भैंस दुहो, फूल चुनो। जो वचन वैर, शोक, कलह, भय, खेद आदि उत्पन्न करता है उसे अप्रिय वचन कहते हैं। इन सभी असत्य वचनोंमें प्रमादका योग ही कारण है इसलिए असत्य बोलनेमें हिंसा अवश्य होती है। अतएव असत्य बोलना त्याज्य है। [भग. आ. ८३०-३२। पुरुषार्थ. ९६-९९ इलो.]॥३८-३९॥

चारों ही प्रकारके असत्य वचनके दोष कहते हैं—

जो प्रथम तीन प्रकारके असत्य सभी लौकिक और शास्त्रीय व्यवहारोंका नाश करनेवाले हैं, सावद्य नामक असत्य वचन हिंसा, चोरी, मैथुन आदि पापोंका द्वार है, अप्रिय नामक असत्यका उत्कट अहंकार तो विष, शस्त्र और अग्निसे होनेवाले विनाशका भी तिरस्कार करता है। निन्दित वचन तो सब धर्मोंमें बहिष्कृत म्लेच्छोंमें भी निन्द्य माने जाते हैं। इन असत्य वचनोंको बोलनेवाला दुर्बुद्धि मनुष्य जब रौरव नरक आदि दुर्गतियोंको ही नहीं देखता तो हाय वह जिह्वाका छेदन आदि छह लौकिक अपायोंको कैसे देख सकता है ? ॥४०॥

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः ॥
गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥—पुरुषार्थ. ९२-९५ श्लो. ।

अथाद्भुतानुभावभूयसस्तया (–भूयस्तया) सूनृतवचसो नित्यसेव्यतामुपदिशति—

विद्याकामगवीशकृत्करिमरिप्रातीप्यसर्पौषधं,
कीर्तिस्वस्तटिनी हिमाचलतटं शिष्टाब्जषण्डोष्णगुम् ।
वाग्देवीललनाविलासकमलं श्रीसिन्धुवेलाविधुं,
विश्वोद्धारचणं गृणन्तु निपुणाः शश्वद्वचः सूनृतम् ॥४१॥

कामगवी—कामधेनुः । तदुक्तम्—

'सत्यं वदन्ति मुनयो मुनिभिर्विद्या विनिर्मिताः सर्वाः ।
म्लेच्छानामपि विद्या सत्यभृतां सिद्धिमायान्ति ॥' [ ]

शकृत्करिः—वत्सः । अरीत्यादि—शत्रुकृतापकारपन्नगप्रतिकर्तृ । स्वस्तटिनी—आकाशगङ्गा । उष्णगुः—आदित्यः । विश्वोद्धारचणं—त्रिजगदनुग्रहणप्रतीतम् । गृणन्तु—भाषन्ताम् ॥४१॥

विशेषार्थ—सभी लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार सत्यपर प्रतिष्ठित हैं। यदि सर्वत्र असत्यका ही चलन हो जाये तो लोकमें देन-लेनका व्यवहार, व्यापार आदि सब गड़बड़ हो जाये। कोई किसीका विश्वास ही न करे। यही स्थिति शास्त्रीय व्यवहारोंकी भी हो जाये क्योंकि तब कौन विश्वास करेगा कि शास्त्रकारोंने जो कुछ कहा है वह सत्य है? और तब कैसे लोग शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करेंगे? अतः विश्वका सभी व्यवहार लुप्त हो जायेगा। इसी तरह यदि लोग इसे मारो, उसे काटो, अमुकका धन छीन लो, अमुककी स्त्री भगा लो जैसे सावद्य वचनों पर उतर आयें तो पापाचारका ही राज्य हो जावे। अप्रिय वचन तो विष, शस्त्राघात और आगसे भी अधिक दुःखदायक होते हैं। कहावत है कि तीरका घाव भर आता है किन्तु तीखी वाणीका घाव नहीं भरता। तथा गाली-गलौज तो नीच पुरुषोंमें भी अच्छी नहीं मानी जाती। इस प्रकारके असत्य वचनोंका दुष्फल इसी जन्ममें राजदण्डके रूपमें मिलता है। जब उसका ही भय लोग नहीं करते तब दुर्गतिका भय भला कैसे कर सकते हैं? यह बड़े दुःख और खेदकी बात है ॥४०॥

प्रिय और सत्य वचनके अनेक आश्चर्यकारक प्रभाव होनेसे उसका नित्य आचरण करनेका उपदेश देते हैं—

सत्य वचन विद्यारूपी कामधेनुका बच्चा है, शत्रुओंके द्वारा किये गये अपकाररूपी सर्पका इलाज है, कीर्तिरूप गङ्गाके उद्गमके लिए हिमाचल पर्वत है, शिष्ट पुरुषरूपी कमलवनको विकसित करनेके लिए सूर्य है, सरस्वतीरूपी ललनाका क्रीडाकमल है, लक्ष्मीरूपी समुद्रकी वेलाके लिए चन्द्रमा है। यतः सत्य वचन इन छह विशेषताओंको लिये हुए है अतः जगत्का विपत्तियोंसे उद्धार करनेमें समर्थ है। इसलिए सूक्ष्मदृष्टिवाले विचारशील पुरुषोंको सदा सत्य वचन बोलना चाहिए ॥४१॥

विशेषार्थ—विधिपूर्वक साधन करनेसे जो सिद्ध होती है उसे विद्या कहते हैं। विद्याएँ इच्छित पदार्थोंको देती हैं इसलिए उन्हें कामधेनु कहा है। जैसे कामधेनु अपने बछड़ेके संयोगसे इच्छित अर्थ दूध देती है वैसे ही सत्य वचनके संयोगसे ही विद्या इच्छित मनोरथोंको पूर्ण करती है। कहा भी है—'मुनिगण सत्य बोलते हैं इसलिए मुनियोंने सब विद्याओंका निर्माण किया है। सत्य बोलनेवाले म्लेच्छोंकी भी विद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं।'

सत्यवादीका शत्रु भी अपकार नहीं करते। जैसे हिमालयसे गंगा निकलकर फैलती है वैसे ही सत्यरूपी हिमालयसे कीर्तिरूपी गंगा निकलकर फैलती है, सत्यवादीका यश सर्वत्र

अथ सूनृतलक्षणमाह—

सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनृतं सूनृतव्रताः ।
तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥४२॥

सत्यं—सत्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मन्यर्थे साधु कुशलं सत्सु वा साधु हितं वचः । अप्रियं—कर्कशादिवचसामपि मृषाभाषणदोषकारित्वाविशेषात् । तदुक्तम्—

'इहलोके परलोके येऽनृतवचनस्य वर्णिता दोषाः ।
कर्कशवचनादीनां त एव दोषा निबोद्धव्याः ॥' [ ] ॥४२॥

अथ साधुना सज्जनसौहित्याय समये वक्तव्यमित्यनुशास्ति—

साधुरत्नाकरः प्रोद्यद्दयापीयूषनिर्भरः ।
समये सुमनस्तृप्त्यै वचनामृतमुद्गिरेत् ॥४३॥

समये—प्रस्तावे प्रवचनविषये वा । सुमनसः—सज्जना देवाश्च ॥४३॥

फैलता है। जैसे सूर्यके उदित होते ही कमलोंका वन खिल उठता है उसी तरह ज्ञानसे विनम्र शिष्ट जन भी सत्यसे खिल उठते हैं। सरस्वती भी सत्यवादीपर रीझती है और लक्ष्मी भी बढ़ती है। अतः सदा सत्य ही बोलना चाहिए ॥४१॥

सत्यका स्वरूप कहते हैं—

जिन्होंने सत्य ही बोलनेका व्रत लिया है वे सत्य प्रिय और हित वचनको सत्यवचन कहते हैं। जो अप्रिय और अहितकारक है वह सत्य भी सत्य नहीं है ॥४२॥

विशेषार्थ—सत्य शब्द सत् शब्दसे बना है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तुको सत् कहते हैं। उसमें जो साधु अर्थात् कुशल हो वह सत्य है। अथवा सत्का अर्थ सज्जन भी है। जो साधु पुरुषोंमें हितकारक वचन है वह सत्य है। अर्थात् जिस वचनसे किसी तरहका विसंवाद उत्पन्न न हो वह अविसंवादी वचन सत्य है। सत्य होनेके साथ ही प्रिय भी होना चाहिए जिसे सुनकर कान और हृदय आनन्दका अनुभव करें। किन्तु प्रिय होनेके साथ हितकारी भी होना चाहिए। किन्तु जो सत्यवचन अप्रिय और अहितकारक है वह सत्य नहीं है क्योंकि असत्य भाषणमें जो दोष हैं वे सब दोष कर्कश आदि वचनोंमें भी हैं। कहा भी है—'इस लोक और परलोकमें झूठ बोलनेके जो दोष कहे हैं वे ही दोष कर्कश वचन आदिके भी जानना चाहिए' ॥४२॥

साधुओंको सज्जन पुरुषोंका सच्चा हित करनेके लिए समयके अनुसार बोलना चाहिए ऐसी शिक्षा देते हैं—

उछलते हुए दया रूपी अमृतसे भरे हुए साधु रूपी समुद्रको देवताओंके तुल्य सज्जनोंकी तृप्तिके लिए प्रसंगके अथवा आगम के अनुसार वचन रूपी अमृतको कहना चाहिए ॥४३॥

विशेषार्थ—हिन्दू पुराणोंके अनुसार जब देवताओं पर संकट आया तो उन्होंने समुद्र का मन्थन किया और समुद्रने उन्हें अमृत दिया जिसे पीकर वे अमर हो गये। उसी रूपक के अनुसार साधु तो समुद्रके समान होता है क्योंकि समुद्रकी तरह ही उसमें गम्भीरता आदि गुण पाये जाते हैं। और जैसे समुद्रमें अमृत भरा है वैसे ही साधुमें दया रूपी अमृत भरा होता है। सुमन देवोंको भी कहते हैं और सज्जनोंको भी। अतः जैसे समुद्रने समय पर देवोंको अमृतसे तृप्त किया था वैसे ही साधुओंको समयानुसार सज्जन पुरुषोंको वचनामृतसे

अथ मुमुक्षोर्मौनं स्वार्थाविरोधेन वक्तव्यं चोपदिशति—

मौनमेव सदा कुर्यादार्यः स्वार्थैकसिद्धये ।
स्वैकसाध्ये परार्थे वा ब्रूयात् साध्याविरोधतः ॥४४॥

मौनमित्यादि । उक्तं च—

'मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वातिप्रियं तथ्यं सर्वसत्त्वोपकारि यत्' [ ]

तथा—

'धर्मनाशे क्रियाध्वंसे स्वसिद्धान्तार्थविप्लवे ।
अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ॥' [ ] ॥४४॥

अथ क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च भावयता सत्यव्रतमुच्चैरुद्योत्यमिति शिक्षार्थमाह—

तृप्त करना चाहिए। समय आगमको भी कहते हैं और समय प्रसंगको भी कहते हैं। अतः साधुको प्रसंगके अनुसार तो बोलना ही चाहिए, साथ ही आगमका भी ध्यान रखकर आगमके अनुसार बोलना चाहिए। आगमसे विरुद्ध नहीं बोलना चाहिए ॥४३॥

साधुओंको मुख्यतासे मौन ही रखना चाहिए। यदि बोलना पड़े तो स्वार्थके अविरुद्ध बोलना चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं—

गुणवान मुनिको केवल एक स्वार्थकी सिद्धिके लिए सदा मौन ही रखना चाहिए, बोलना नहीं चाहिए। किन्तु यदि कोई ऐसा परार्थ हो जो केवल अपने ही द्वारा साध्य हो तो स्वार्थका घात न करते हुए ही बोलना चाहिए ॥४४॥

विशेषार्थ—वचनका प्रयोग तो दूसरोंके लिए ही किया जाता है। अतः स्वार्थरत साधुको जहाँतक शक्य हो मौन ही रहना चाहिए। वचनका प्रयोग तभी करना चाहिए जब उसकी परोपकारके लिए अत्यन्त आवश्यकता हो। किन्तु उस समय भी स्वार्थको ध्यानमें रखकर ही बोलना चाहिए। यों तो लोकमें सामान्य जन भी स्वार्थको हानि न पहुँचे ऐसा ध्यान रखकर ही बोलते हैं। इसीसे वे चोरी करके भी उसे छिपाते हैं, झूठ बोलकर भी सत्यवादी होनेका नाटक रचते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि यदि हमने सच बोला तो पकड़े जायेंगे, आर्थिक हानि होगी। उनका स्वार्थ एकमात्र विषय और कषायका पोषण होता है। किन्तु साधुका स्वार्थ है आत्महित। अपनी आत्माका जिसमें हित हो वही उनका स्वार्थ है। उसीकी साधनाके लिए वे साधु बने हैं। उसकी साधनामें तो मौन ही सहायक है वार्तालाप नहीं। कहा है—

'सर्व अर्थोंकी सिद्धिके लिए पुरुषोंको सदा मौन ही हितकर है। अथवा यदि मौन शक्य न हो तो ऐसा अतिप्रिय सत्य वचन बोलना चाहिए जो सब प्राणियोंका उपकारी हो। तथा यदि धर्मका नाश होता हो, क्रियाकाण्ड ध्वंस होता हो अथवा अपने सिद्धान्तके अर्थमें बिगाड़ होता हो तो उनका स्वरूप प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी बोलना चाहिए' ॥४४॥

आगे क्रोध, लोभ, भय और हास्यका त्याग तथा निर्दोष भाषण इन पाँच भावनाओंको भाते हुए सत्यव्रतके अच्छी तरह उद्योतनकी शिक्षा देते हैं—

हत्वा हास्यं कफवल्लोभमपास्यामवद्भयं भित्वा ।
वातवदपोह्य कोपं पित्तवदनुसूत्रयेद् गिरं स्वस्थः ॥४५॥

कफवत्—जाड्यमोहादिहेतुत्वात्. आमवत्—अतिदुर्जयविकारत्वात् । आमलक्षणं यथा—

'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमान्द्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगतं संतमामं प्रचक्षते ॥'
'अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्छनात् ।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य संभवम् ॥' [अष्टाङ्गहृदय १३।२५-२६]

वातवत्—मनोविप्लवादिहेतुत्वात् । अपोह्य—निषिद्धय । पित्तवत्—संतापभूयिष्ठत्वात् । अनुसूत्रयेत्—सूत्रानुसारेणाचक्षीत । स्वस्थः—परद्रव्यव्यासङ्गरहितो निर्व्याधिश्च ॥४५॥

अथ सत्यमृषाभाषिणोः फलविशेषमाख्यानमुखेन ख्यापयन्नाह—

सत्यवादीह चामुत्र मोदते धनदेववत् ।
मृषावादी सधिक्कारं यात्यधो वसुराजवत् ॥४६॥

स्पष्टम् ॥४६॥

स्वस्थ मनुष्यको कफकी तरह हास्यका निग्रह करके, आँवकी तरह लोभको दूर करके, वातकी तरह भयको भगाकर और पित्तकी तरह कोपको रोककर सूत्रके अनुसार बोलना चाहिए ॥४५॥

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्र (७।५) तथा चरित्तपाहुडमें सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ कही हैं। सत्यव्रतीको उनको पालन अवश्य करना चाहिए। जो स्वमें स्थित है वह स्वस्थ है। शारीरिक दृष्टिसे तो जो नीरोग है वह स्वस्थ है और आध्यात्मिक दृष्टिसे जो परद्रव्य-विषयक आसक्तिसे रहित है वह स्वस्थ है। शारीरिक स्वस्थताके लिए वात-पित्त-कफ और आँवका निरसन आवश्यक है क्योंकि जिसके वात-पित्त-कफ समान हैं, अग्नि समान है, धातु और मलकी क्रिया समान है उसे स्वस्थ कहते हैं। आध्यात्मिक स्वस्थताके लिए भी क्रोध, लोभ, भय, हँसी, मजाकको छोड़ना जरूरी है क्योंकि मनुष्य क्रोध आदिके वशीभूत होकर झूठ बोलता है ॥४५॥

सत्य भाषण और असत्य भाषणका फल विशेष उदाहरणके द्वारा कहते हैं—

सत्यवादी मनुष्य धनदेवकी तरह इस लोक और परलोकमें आनन्द करता है। और झूठ बोलनेवाला राजा वसुकी तरह तिरस्कृत होकर नरकमें जाता है ॥४६॥

विशेषार्थ—आगममें सत्यव्रतका पालन करनेमें धनदेव प्रसिद्ध है। वह एक व्यापारी था। जिनदेवके साथ व्यापारके लिए विदेश गया। दोनोंका लाभमें समभाग ठहरा। लौटनेपर जिनदेव अपने वचनसे मुकर गया किन्तु धनदेव अपने वचनपर दृढ़ रहा। राजाने उसका सम्मान किया। राजा वसु नारद और पर्वतका सहपाठी था। जब नारद और पर्वतमें 'अजैर्यष्टव्यम्' के अज शब्दको लेकर विवाद हुआ और दोनों वसु राजाकी सभामें न्यायके लिए पहुँचे तो राजा वसुने गुरुपुत्र पर्वतका पक्ष लेकर अजका अर्थ बकरा ही बतलाया अर्थात् बकरेके मांससे यज्ञ करना चाहिए। नारदका कहना था कि अजका अर्थ तीन वर्षका

---

१. 'क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानानुवीचिभाषणं च पञ्च' ।—त. सू. ७।५।

अथ— जनान्त-सम्मति-न्यास-नाम-रूप-प्रतीतिषु ।
सत्यं संभावने भावे व्यवहारोपमानयोः'—[अमित. पं. सं. १।१६९]

इति दसप्रकारसत्यमुदाहरणद्वारेण प्रचिकटयिषुराह—

सत्यं नाम्नि नरेश्वरो, जनपदे चोरोऽन्धसि, स्थापने
देवोऽक्षादिषु, दारयेदपि गिरिं शीर्षेण संभावने ।
भावे प्रासु, पचौदनं व्यवहृतौ, दीर्घः प्रतीत्येति ना
पल्यं चोपमितौ सितः शशधरो रूपेऽम्बुजं सम्मतौ ॥४७॥

नरि—मनुष्यमात्रे, ईश्वर —ऐश्वर्याभावेऽपि व्यवहारार्थमीश्वर इति संज्ञाकरणं नामसत्यमित्यर्थः । अन्धसि—भक्ते चोर इति व्यपदेशो जनपदसत्यम् । तत्र स्वार्थे नियतत्वेन तस्य रूढत्वात् । अक्षादिषु—पाशकादिषु देवोऽयमिति न्यसनं स्थापनासत्यम् । संभावने—वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूते कार्ययोग्यतादर्शनात् । अन्ये पुनरस्य स्थाने सयोजनासत्यमाहुः । यच्चारित्रसारे—धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्ममकर-हस-सर्वतोभद्र-क्रौञ्चव्यूहादिषु वा चेतनेतरद्रव्याणा यथाभागविधानसंनिवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यम् । भावे प्रासु तथाहि—छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि सयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यम् । निरीक्ष्य स्वप्रयताचारो भवेत्यादिकं वा अहिंसा-

---

पुराना धान्य है जो बोनेपर उगता नहीं। राजा वसु मरकर नरकमें गया। इसकी विस्तृत कथा सोमदेव उपासकाचारमें देखनी चाहिए। महाभारतमें भी इसी तरहकी कथा है ॥४६॥

आगममें दस प्रकारका सत्य कहा है—नाम सत्य, जनपद सत्य, स्थापना सत्य, सम्भावना सत्य, भाव सत्य, व्यवहार सत्य, प्रतीत्य सत्य, उपमा सत्य, रूप सत्य और सम्मति सत्य। इनका उदाहरण पूर्वक कथन करते हैं—

मनुष्यमात्रमें ऐश्वर्यका अभाव होनेपर भी व्यवहारके लिए ईश्वर नाम रखना नामसत्य है। किसी देशमें भातको चोर कहते हैं। यह जनपद सत्य है क्योंकि उस देशकी भाषामें चोर शब्द इसी अर्थमें नियत है। अक्ष आदिमें 'यह देव है' इस प्रकारकी स्थापनाको स्थापना सत्य कहते हैं। पाशा वगैरहको अक्ष कहते हैं। अमुक व्यक्ति सिरसे भी पर्वतको तोड़ सकता है यह सम्भावना सत्य है। ऐसा वास्तविक रूपमें नहीं होनेपर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यताको देखकर ऐसा कहा जाता है। छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान यद्यपि द्रव्यके यथार्थ स्वरूपको देखनेमें असमर्थ है फिर भी मुनि और श्रावक अपने धर्मका पालन करनेके लिए 'यह प्रासुक है' 'यह अप्रासुक है' इत्यादि जो कहते हैं वह भावसत्य है। जिसमें-से जीव निकल गये हैं उसे प्रासु या प्रासुक कहते हैं। यह अहिंसारूप भावके पालनका अंग होनेसे भाव सत्य कहा जाता है। चावल पकाये जाते हैं किन्तु लोकमें प्रचलित व्यवहारका अनुसरण करके जो 'भात पकाओ' ऐसा वचन कहा जाता है वह व्यवहार सत्य है। किसी मनुष्यको दूसरोंकी अपेक्षासे लम्बा देखकर 'लम्बा मनुष्य' ऐसा कहना प्रतीत्य सत्य है। उपमान रूपसे जो सत्य है उसे उपमा सत्य कहते हैं जैसे आगममें पल्योपम प्रमाणकी उपमा पल्य (गड्ढा) से दी जाती है या स्त्रीके मुखको चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। रूपमें जो सत्य है वह रूप सत्य है। जैसे चन्द्रमाको श्वेत कहना, यद्यपि चन्द्रमामें काला धब्बा है किन्तु उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। जो लोकमतमें सत्य है वह सम्मति सत्य है जैसे कमल कीचड़ आदि अनेक कारणोंसे पैदा होता है फिर भी लोकमें उसे अम्बुज—जो पानीमें जन्मा हो, कहते हैं ॥४७॥

लक्षणभावपालनाङ्गत्वात् । पचेत्यादि सिद्धेऽप्योदने लोकव्यवहारानुसरणम्, तन्दुलान्पचेति वक्तव्ये 'ओदनं पच' इति वचनं व्यवहारसत्यम् । दीर्घं इत्यादि—ना पुरुषो दीर्घोऽयमित्यापेक्षिकं वचः प्रतीत्यसत्यमित्यर्थः । उपमितौ—उपमानसत्यं यथा पल्योपमं चन्द्रमुखी कान्तेत्यादि । रूपे—रूपसत्यं यथा सितः शशधरः सतोऽपि लाञ्छने कार्ष्ण्यस्याविवक्षा । सम्मतौ—लोकाविप्रतिपत्तौ, यथाऽम्बुजं पङ्काद्यनेककारणत्वेऽप्यम्बुनि जातम् । इत्थं वा—

'देशेष्टस्थापनानामरूपापेक्षाजनोक्तिषु ।
सभावनोपमाभावेष्विति सत्यं दशात्मना ॥
ओदनोऽप्युच्यते चौरो राज्ञी देवीति सम्मता ।
दृषदप्युच्यते देवो द्विविधोऽपीश्वराभिधः ॥
दृष्टाधरादिरागापि कृष्णकेश्यपि भारती ।
प्राचुर्याच्छ्वेतरूपस्य सर्वशुक्लेति सा श्रुता ॥
ह्रस्वापेक्षो भवेद्दीर्घः पच्यन्ते किल मण्डकाः ।
अपि मुष्ट्या पिनष्टीन्द्रो गिरीन्द्रमपि शक्तितः ॥
अतद्रूपाऽपि चन्द्रास्या कामिन्युपमयोच्यते ।
चौरे दृष्टेऽप्यदृष्टोक्तिरित्यादि वदतां नृणाम् ॥
स्यान्मण्डलाद्यपेक्षायां सत्यं दशविध वच. ।' [ ]

विशेषार्थ—पं. आशाधरने अपनी टीकामें अमितगतिके संस्कृत पञ्च संग्रहसे श्लोक उद्धृत किया है और तदनुसार ही दस भेदोंका कथन किया है। संस्कृत पञ्च संग्रह प्रा. पं. सं. का ही संस्कृत रूपान्तर है किन्तु उसमें सत्यके दस भेद नहीं गिनाये हैं। गो. जीवकाण्ड में गिनाये हैं। सं. पं. सं में भी तदनुसार ही हैं।

श्वे. स्थानांग सूत्र (स्था. १०) में भी सत्यके दस भेद गिनाये हैं—उसमें सम्भावनाके स्थानमें योग सत्य है। योगका अर्थ है सम्बन्ध। सम्बन्धसे जो सत्य है वह योग सत्य है, जैसे दण्डके सम्बन्धसे दण्डी कहना, छत्रके सम्बन्धसे छत्री कहना। कुछ सत्योंके स्वरूपमें भी अन्तर है। सम्मत सत्यका स्वरूप—कुमुद, कुवलय, उत्पल, तामरस ये सभी पंक (कीचड़) से पैदा होते हैं फिर भी ग्वाले तक भी इस बातसे सम्मत हैं कि अरविन्द ही पंकज है। अतः सम्मत होनेसे अरविन्दको पंकज कहना सत्य है। कुवलयको पंकज कहना असत्य है क्योंकि सम्मत नहीं है। रूपसत्यका उदाहरण—बनावटी साधुको साधुका रूप धारण करनेसे रूपकी अपेक्षा साधु कहना रूपसत्य है। भावसत्य—जैसे बगुलोंकी पंक्तिको ऊपरी सफेदी देखकर सफेद कहना, यद्यपि अन्दरसे वह पंच वर्ण है।

तत्त्वार्थवार्तिकमें (१।२०) सत्यके दस भेदोंका कथन है। यथा—नाम, रूप, स्थापना, प्रतीत्य, संवृति, संयोजना, जनपद, देश, भाव और समय सत्य। इसमें संवृति, संयोजन, देश और समय ये चार नाम भिन्न हैं। रूपसत्यका उदाहरण—अर्थ नहीं रहनेपर भी रूपमात्रसे कहना। जैसे चित्रमें अंकित पुरुषमें चैतन्यरूप अर्थके नहीं होनेपर भी पुरुष कहना। सादि, अनादि, औपशमिक आदि भावोंको लेकर जो वचन व्यवहार होता है

१. 'जणवय सम्मय ठवणा नामे रूवे पडुच्च सच्चे य ।
ववहार भाव जोगे दसमे ओवम्म सच्चे य' ॥

यत्तु नवधा असत्यमृषारूपमनुभयं वचस्तदपि मार्गाविरोधेन वदतो न सत्यव्रतहानिरनृतनिवृत्त्यनतिवृत्तेः। तथा चोक्तम्—

'सत्यमसत्यालीकव्यलीकदोषादिवर्जमनवद्यम्।
सूत्रानुसारिवदतो भाषासमितिर्भवेच्छुद्धा॥' [ ]

तद्यथा—

'याचनी ज्ञापनी पृच्छानयनी संशयन्यपि।
आह्वानीच्छानुकूला वाक् प्रत्याख्यान्यप्यनक्षरा॥
असत्यमोषभाषेति नवधा बोधिता जिनैः।
व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञानं वक्तुः श्रोतुश्च यद्भवेत्॥' [ ]

अत्र वृत्तिश्लोकत्रयम्—

'त्वामहं याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किंचन।
पृष्टुमिच्छामि किंचित्त्वामानेष्यामि च किंचन॥
बालः किमेष वक्तीति ब्रूत संदेग्धि मन्मनः।
आह्वयाम्येहि भो भिक्षो करोम्याज्ञां तव प्रभो॥

वह प्रतीत्य सत्य है। इसका कोई उदाहरण नहीं दिया है। चारित्रसारमें भी यही लक्षण दिया है और उसका उदाहरण दिया है यह पुरुष लम्बा है। लोकमें जो वचन संवृतिसे लाया गया हो उसे संवृति सत्य कहते हैं। जैसे पृथिवी आदि अनेक कारणोंके होनेपर भी पंकमें उत्पन्न होनेसे पंकज कहते हैं। पं. आशाधरजीने तथा स्थानांगमें इसे सम्मति सत्य कहा है। सम्भवतया सम्मतिके स्थानमें ही संवृत्ति सत्य अकलंक देवने रखा है। गो. जीवकाण्डमें लोकोंकी सम्मतिके अनुसार जो सत्य हो उसे सम्मति सत्य कहा है जैसे राज्याभिषेक होनेसे पट्टरानी होती है। धूप, उपटन आदिमें या कमल, मगर, हंस, सर्वतोभद्र आदि सचेतन-अचेतन वस्तुओंमें आकार आदिकी योजना करनेवाला वचन संयोजना सत्य है। जनपद सत्यकी तरह ही ग्राम-नगर आदिकी वाणी देशसत्य है। आगमगम्य छह द्रव्य और पर्यायोंका कथन करनेवाले वचन समयसत्य हैं। इस तरह सत्यके भेदोंमें अन्तर पाया जाता है। उक्त श्लोकमें 'पल्यं च'का 'च'शब्द अनुक्तके समुच्चयके लिए है। उससे नौ प्रकारके अनुभयरूप वचनका भी ग्रहण किया है क्योंकि मार्गका विरोध न करते हुए उस वचनके बोलनेसे सत्यव्रतकी हानि नहीं होती। कहा भी है—'अलीक आदि दोषोंसे रहित निर्दोष और सूत्रके अनुसार सत्य और अनुभय वचन बोलनेवाले साधुकी भाषासमिति शुद्ध होती है।' अनुभय वचनके नौ भेद इस प्रकार हैं—जिस वचनसे दूसरेको अपने अभिमुख किया जाता है उसे आमन्त्रणी भाषा कहते हैं। जैसे, हे देवदत्त। यह वचन जिसने संकेत ग्रहण किया उसकी प्रतीतिमें निमित्त है और जिसने संकेतग्रहण नहीं किया उसकी प्रतीतिमें निमित्त

---

१. आशाधरेण स्वरचितमूलाराधनादर्पणे 'सिद्धान्तरत्नमालायामेवमित्युक्त्वा एते श्लोका उद्धृताः (भ. आ. शोलापुर पृ. ११९५)।

२. 'आमंतणी आणवणी जायणी संपुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य॥
संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा।
णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया' ॥—भग. आरा., ११९५-९६ गा.।

किंचित्त्वां त्याजयिष्यामि हुंकरोत्यत्र गौः कुतः।
याचन्यादिषु दृष्टान्ता इत्थमेते प्रदर्शिताः ॥' [ ]

किं च, अहमयोग्यं न ब्रवीमीत्येतावता सत्यव्रतं पालितमिति मुमुक्षुणा नाश्वसनीयं यावता परेणोच्यमानमप्यसत्यवचनं शृण्वतोऽशुभपरिणामसंभवात् कर्मबन्धो महान् भवतीत्यसत्यस्य वचनमिव श्रवणमपि यत्नतः साधुना परिहार्यम् । तदुक्तम्—

नहीं है। इस तरह दो रूप होनेसे न सत्य है और न झूठ। स्वाध्याय करो, असंयमसे विरत होओ इस प्रकारकी अनुशासनरूप वाणी आज्ञापनी है। इस आदेशको दूसरा व्यक्ति पाले या न पाले, इसलिए यह वचन न एकान्तसे सत्य है और न असत्य। आप ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि या पीछी आदि देवें इस प्रकार याचना करनेको याचनी भाषा कहते हैं। दाता देवे या न देवे, इस अपेक्षा यह वचन भी अनुभयरूप है। किसीसे पूछना कि क्या तुम्हें जेलमें कष्ट है, पृच्छनी भाषा है। यदि कष्ट है तो सत्य है नहीं है तो असत्य है। अतः पृच्छावचन न सत्य है और न असत्य है। धर्मकथाको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। यह बहुत-से श्रोताओंको लक्ष करके की जाती है। बहुत-से लोग उसके अनुसार करते हैं, बहुत-से नहीं करते। अतः इसे भी न सत्य कह सकते हैं और न झूठ। किसीने गुरुसे न कहकर 'मैं इतने समय तक अमुक वस्तुका त्याग करता हूँ' ऐसा कहा। यह प्रत्याख्यानी भाषा है। पीछे गुरुने कहा कि तुम अमुक वस्तुका त्याग करो। उसके पहले त्यागका काल अभी पूरा नहीं हुआ इसलिए उसका पहला किया हुआ त्याग एकान्तसे सत्य नहीं है और गुरुकी आज्ञासे उस त्यागको पालता है इसलिए कोई दोष न होनेसे झूठा भी नहीं है अतः अनुभयरूप है। ज्वरसे ग्रस्त रोगी कहता है घी और शक्करसे मिश्रित दूध अच्छा नहीं है, दूसरा कहता है अच्छा है। माधुर्य आदि गुणोंके सद्भाव तथा ज्वरकी वृद्धिमें निमित्त होनेसे 'अच्छा नहीं है' ऐसा कहना न तो सर्वथा झूठ ही है न सत्य ही है अतः अनुभयरूप है। यह ठूँठ है या पुरुष; यह संशय वचन है। यह भी दोनोंमें-से एकका सद्भाव और दूसरेका अभाव होनेसे न सत्य है और न झूठ। अपराजित सूरिने अपनी विजयोदया टीकामें अँगुली चटकाने आदिके शब्दको अनक्षरी भाषा कहा है। ध्वनि और भाषामें अन्तर है। ताल्वादि परिस्पन्दसे जो शब्द होता है उसे भाषा कहते हैं। अत गो. जीवकाण्डकी टीकामें जो द्वीन्द्रिय आदि की भाषाको अनक्षरी भाषा कहा है वह ठीक प्रतीत होता है। दशवैकालिके सूत्रमें उक्त प्रथम गाथामें कहे हुए भेद तो आमन्त्रणीसे लेकर इच्छानुलोमा पर्यन्त वही हैं। बल्कि गाथा भी वही है। दूसरीमें भेद है। यथा—

अनभिगृहीत भाषा, जैसे डित्थ (जिसका कुछ अर्थ नहीं।) अभिगृहीत भाषा—जैसे घट। जिस शब्दके अनेक अर्थ होनेसे सुननेवाला सन्देहमें पड़ जाये वह संशयकरणी भाषा है। जैसे सैन्धव। सैन्धवके अनेक अर्थ होते हैं। व्याकृत भाषा, जिससे स्पष्ट अर्थ प्रकट हो। जैसे यह देवदत्तका भाई है। अव्याकृत भाषा—जिससे स्पष्ट अर्थबोध न हो। जैसे

---

१. आमंतणि आणवणी जायणि तह पुच्छणी अ पन्नवणी।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥
अणभिग्गहिया भासा भासा अ अभिग्गहम्मि बोधव्वा।
संसयकरणी भासा वायड अव्वायडा चेव ॥ —दशवै., ७ अ., ४२-४३ गा.।

'तव्विवरीदं सव्वं कज्जे काले मिदं सविसए य।
भत्तादिकहारहिदं भणाहि तं चेव य सुणाहि ॥ [भ. आरा. ८३४ गा.] ॥४७॥

अथ एकादशभिः पद्यैरचौर्यव्रतं व्याचिख्यासुः स्तेये दोषख्यापनपुरःसरं तत्परिहारमुपदेष्टुं तावदिदमाह—

दौर्गत्याद्यप्रभुःस्वाप्रकारणं परदारणम्।
हेयं स्तेयं त्रिधा रात्रघर्माहिसामिष्टदेवताम् ॥४८॥

दौर्गत्यं—नरकादिगतिर्दारिद्र्यं वा। आदिशब्दाद् वधबन्धादि। तदुक्तम्—

'वधबन्धयातनाश्च छायाघातं च परिभवं शोकम्।
स्वयमपि लभते चौरो मरणं सर्वस्वहरणं च ॥ [ ]

इत्यादि। परदारणं—परस्य धनपतेः परमुत्कृष्टं वा दारणं विनाशनम्। तदुक्तम्—

'अर्थेऽपहृते पुरुषः प्रोन्मत्तो विगतचेतनो भवति।
म्रियते कृतहाकारो रिक्तं खलु जीवितं जन्तोः॥' [ ]

बालकोंकी भाषा। इस प्रकार ये सब वचन अनुभयरूप होते हैं। अस्तु, तथा 'मैं अयोग्य नहीं बोलता इसीलिए कि मैंने सत्यव्रत पाला है' मुमुक्षुको इतनेसे ही आश्वस्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि दूसरेके द्वारा कहे गये असत्य वचनको सुननेसे भी अशुभ परिणामोंका होना सम्भव है और उससे महान् कर्मबन्ध होता है इसलिए असत्य बोलनेकी तरह असत्य सुननेसे भी साधुको यत्नपूर्वक बचना चाहिए। कहा है—

'हे मुमुक्षु! तू असत्य वचनसे विपरीत सब सत्य वचनोंको बोल। ज्ञान-चारित्र आदिकी शिक्षावाला, असंयमसे बचानेवाला, दूसरेको सन्मार्गमें स्थापन करनेवाला वचन बोल। समयके अनुरूप मितवचन बोल। तथा भोजनकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा और राजकथासे रहित वचन बोल। और इसी प्रकारके वचन सुन। असत्य वचन सुननेसे भी पाप होता है।' इस प्रकार सत्यमहाव्रतका स्वरूप जानना।' ॥४७॥

आगे ग्यारह श्लोकोंसे अचौर्यव्रतका व्याख्यान करनेकी इच्छासे चोरीकी बुराइयाँ बतलाते हुए उसके त्यागका उपदेश देते हैं—

चोरी नरक आदि गति अथवा दारिद्र्य आदि दुःखोंका प्रधान कारण है और जिसका धन चुराया जाता है उसके विनाशका कारण है। इष्ट देवता रूप अहिंसाकी आराधनाके लिए मन-वचन-कायसे चोरीका त्याग करना चाहिए ॥४८॥

विशेषार्थ—मूलव्रत अहिंसा है उसीके पालनके लिए शेष व्रत हैं। अतः पराये द्रव्यको चुराना, अनुचित साधनोंसे उसे लेना लेनेवालेके लिए भी दुःखदायक है और जिसका धन लिया जाता है उसके लिए भी दुःखकारक है अतः हिंसा है। लोकमें ही चोरको राजदण्ड भोगना होता है, जेलखानेका कष्ट उठाना पड़ता है। मारपीटकर लोग उसे अधमरा कर डालते हैं। पुराने समयमें चोरका सर्वस्व हर लिया जाता था। तथा धन मनुष्योंका दूसरा प्राण होता है। धन चुराये जानेपर उसका स्वामी पागल हो जाता है, उसकी चेतना लुप्त हो जाती है और अन्तमें वह रोता कल्पता हुआ मृत्युके मुखमें चला जाता है। जबतक मनुष्यके पास धन रहता है वह अपने परिवारके साथ सुखपूर्वक जीवन बिताता है। धन चुराये जानेपर उसका सुख और जीवन दोनों ही चले जाते हैं। अतः किसी भी प्रकारके अनुचित साधनसे पराये धनको हरनेका विचार ही छोड़ने योग्य है। अनुचित साधनोंसे धनवान

तथा—

'जीवति सुखं धने सति बहुपुत्रकलत्रमित्रसंयुक्तः ।
धनमपहरता तेषां जीवितमप्यपहृतं भवति ॥ [ ] ॥४८॥

अथ द्रविणापहारः प्राणिनां प्राणापहार इति दर्शयति—

त्रैलोक्येनाप्यविक्रेयाननुप्राणयतोऽङ्गिनाम् ।
प्राणान् रायोऽणकः प्रायो हरन् हरति निर्घृणः ॥४९॥

अविक्रेयान् । यदाहुः—

'भुवनतलजीविताभ्यामेकं कश्चिद् वृणीष्व देवेन ।
इत्युक्तो भुवनतलं न वृणीते जीवितं मुक्त्वा ॥'
'यस्माद् भुवनमशेषं न भवत्येकस्य जीवितव्यार्थः ।
एकं व्यापादयतो तस्माद् भुवनं हतं भवति ॥' [ ]

अनुप्राणयतः—अनुगतं वर्तयतः । रायः—धनानि । अणकः—निकृष्टः । प्रायः—बाहुल्येन, प्रगतपुण्यो वा । यदाहुः—

'पापास्रवणद्वारं परधनहरणं वदन्ति परमेव ।
चौरः पापतरोऽसौ शौकरिकव्याधजारेभ्यः ॥' [ ] ॥४९॥

अथ चौरस्य मातापित्रादयोऽपि सर्वत्र सर्वदा परिहारमेवेच्छन्तीत्याह—

दोषान्तरजुषं जातु मातापित्रादयो नरम् ।
संगृह्णन्ति न तु स्तेयमषीकृष्णमुखं क्वचित् ॥५०॥

बननेपर उस धनको दूसरे लोग हथियानेकी कोशिश करते हैं। अतः जो दूसरोंका धन हरता है पहले वह दूसरोंको दुःखी करता है। पीछे अपना धन हरे जानेपर स्वयं दुखी होता है। अतः यह कर्म मन वचन कायसे छोड़ने योग्य है। न तो मनमें किसीका एक पाई भी चुरानेका विचार करना चाहिए, न ऐसा करनेके लिए किसीसे कहना चाहिए और न स्वयं ऐसा करना चाहिये ॥४८॥

आगे कहते हैं कि किसीके धनका हरना उसके प्राणोंका हरना है—

तीनों लोकोंके भी मूल्यसे जिन प्राणोंको नहीं बेचा जा सकता उन प्राणोंकी समानता करनेवाले धनको हरण करनेवाला निर्दयी नीच मनुष्य प्रायः प्राणियोंके प्राणोंको हरता है ॥४९॥

विशेषार्थ—यदि कोई कहे कि यदि तू मुझे अपने प्राण दे देवे तो मैं तुझे तीनों लोक दे दूँ। फिर भी कोई अपने प्राण देना नहीं चाहता। क्योंकि जब प्राण ही चले गये तो तीन लोक लेगा कौन? इस तरह प्राण ऐसी वस्तु है जिनका कोई मूल्य नहीं हो सकता। धन भी मनुष्यका ऐसा ही प्राण है। फिर भी नीच मनुष्य सदा दूसरोंका धन हरनेके लिए आतुर रहते हैं। ऐसे धनहारी चोर पशु-पक्षियोंका शिकार करनेवालोंसे भी अधिक पापी हैं। कहा है—'पर धनके हरणको पापास्रवका उत्कृष्ट द्वार कहते हैं। इसलिए चोर व्यक्ति पशु पक्षीका शिकार करनेवालोंसे और दुराचारियोंसे भी अधिक पापी है' ॥४९॥

चोरके माता-पिता आदि भी सर्वत्र सर्वदा उससे दूर ही रहना चाहते हैं—

चोरीके सिवाय अन्य अपराध करनेवाले मनुष्यको तो माता पिता वगैरह कदाचित्

दोषान्तरजुषं—स्तेयादन्यस्यापराधस्य प्रकारम् । उक्तं च—

'अन्यापराधबाधामनुभवतो भवति कोऽपि पक्षेऽपि ।
चौर्यापराधभाजो भवति न पक्षे निजोऽपि जनः ॥'
'अन्यस्मिन्नपराधे ददति जनावासमात्मनो गेहे ।
माताऽपि निजे सदने यच्छति वासं न चौरस्य ॥' [ ]

क्वचित्—देशे काले वा ॥५०॥

अथ चौरस्यातिदुःसहदुःखपातकबन्धं निबोधयति—

भोगस्वादुराशयार्थलहरीलुब्धोऽसमीक्ष्यैहिकी,
स्वस्य स्वैः सममापदः कटुतराः स्वस्यैव चामुष्मिकीः ।
आरुह्यासमसाहसं परधनं मुष्णन्नघं तस्कर-
स्तत्किंचिच्चिनुते वधान्तविपदो यस्य प्रसूनश्रियः ॥५१॥

लहरी—प्राचुर्यम् । यदाहुः—

'लोभे पुनः प्रवृद्धे कार्याकार्यं नरो न चिन्तयति ।
स्वस्यापि गणय्य मृतिं साहसमधिकं ततस्तनुते ॥' [ ]

स्वैः—बन्धुभिः । आमुष्मिकीः—नरकादिभवाः ॥५१॥

अथ स्तेयतन्निवृत्योः फलं दृष्टान्तमुखेनाचष्टे—

श्रुत्वा विपत्तीः श्रीभूतेस्तद्भवेऽन्यभवेष्वपि ।
स्तेयात्तद्व्रतयेन्माढिमारोढुं वारिषेणवत् ॥५२॥

व्रतयेत । माढि—पूजाम् ॥५२॥

अपना भी लेते हैं। किन्तु चोरीकी कालिमासे अपना मुख काला करनेवाले मनुष्यको किसी भी देश और किसी भी कालमें माता-पिता वगैरह भी आश्रय नहीं देते ॥५०॥

आगे कहते हैं कि चोरके अत्यन्त दुःसह दुःखोंके हेतु पापका बन्ध होता है—

भोगोंको भोगनेकी खोटी आशासे मनुष्य एक साथ बहुत-सा धन प्राप्त करनेके लोभसे चोरी करता है। उस समय वह यह नहीं देखता कि इस कार्यसे इसी जन्ममें मुझे और मेरे सम्बन्धी जनोंको कितना कष्ट भोगना होगा तथा परलोकमें अकेले मुझे ही यहाँसे भी अधिक कष्टकर विपत्तियाँ भोगनी होंगी। जीवन तककी बाजी लगाकर असाधारण साहसके साथ वह पराया धन चुराता है। उससे वह इतने तीव्र पापकर्मका बन्ध करता है कि उसमें ऐसी विपत्तिरूपी फूल खिलते हैं जिसके अन्तमें उसके जीवनका ही अन्त हो जाता है ॥५१॥

आगे दृष्टान्तके द्वारा चोरी और उसके त्यागका फल बतलाते हैं—

चोरीके दोषसे उसी भवमें तथा अन्य भवोंमें भी श्रीभूतिकी विपत्तियोंको सुनकर वारिषेणकी तरह अतिशय पूजित होनेके लिए चोरीका त्याग करना चाहिए ॥५२॥

विशेषार्थ—जैन कथा ग्रन्थोंमें चोरीमें श्रीभूति पुरोहितकी कथा वर्णित है। श्रीभूति राजपुरोहित था, शास्त्रोंका पण्डित था। सत्यकी ओर अधिक रुझान होनेसे वह सत्यघोष नामसे विख्यात था। उसका सब विश्वास करते थे। एक बार एक वणिक् पुत्र समुद्रयात्राके लिए जाते समय अपने बहुमूल्य सात रत्न उसकी स्त्रीके सामने श्रीभूतिके पास धरोहर रख गया। लौटते समय समुद्रमें तूफान आ जानेसे उसका सर्वस्व समुद्रमें डूब गया। जिस

भूयोऽपि स्तेयदोषान् प्रकाशयंस्तद्विरतिं दृढयति—

गुणविद्यायशःशर्मधर्ममर्माविधः सुधीः ।
अदत्तादानतो दूरे चरेत् सर्वत्र सर्वथा ॥५३॥

गुणाः—कौलीन्यविनयादयः । यदाहुः—

'सुतरामपि संयमयन्नादायादत्त मनागपि तृणं वा ।
भवति लघुः खलु पुरुषः प्रत्ययविरहो यथा चौरः ॥' [ ]

मर्मावित्—लक्षणया सद्यो विनाशनम् ॥५३॥

किसी तरह प्राण बचे तो उसने श्रीभूतिसे अपने रत्नोंकी याचना की। उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी और उसके पास कुछ प्रमाण भी नहीं था। फलतः श्रीभूतिने वणिक् पुत्रको तिरस्कृत करके घरसे निकाल दिया। इतना ही नहीं, किन्तु राजासे भी उसकी शिकायत करके कि यह व्यर्थ ही मुझे बदनाम करता है, राजाका हृदय भी उसकी ओरसे उत्तेजित कर दिया। तब उस बुद्धिमान् वणिक् पुत्रने दूसरा मार्ग अपनाया। राजाकी पटरानीके महलके निकट एक इमलीका वृक्ष था। रात्रिमें वह उसपर चढ जाता और जोरसे चिल्लाता कि श्रीभूति मेरे अमुक रूप-रंगके रत्नोंको नहीं देता। मैंने उसके पास धरोहरके रूपमें रखे थे। इसकी साक्षी उसकी पत्नी है। यदि मेरा कथन रंचमात्र भी असत्य हो तो मुझे सूली दे दी जाये। इस तरह चिल्लाते-चिल्लाते उसे छह मास बीत गये। एक दिन रानीका ध्यान उसकी ओर गया। उसने श्रीभूतिको द्यूत-क्रीड़ाके लिए आमन्त्रित किया। श्रीभूति द्यूत-क्रीड़ाका रसिक था। रानीने द्यूत-क्रीड़ामें जीती हुई वस्तुओंको प्रमाणरूपमें दिखाकर अपनी धायके द्वारा श्रीभूतिकी पत्नीसे सातों रत्न प्राप्त कर लिये और राजाको दे दिये। राजाने उन रत्नोंको अनेक रत्नोंमें मिलाकर वणिक् पुत्रको बुलाया और उससे अपने रत्न चुननेके लिए कहा। उसने अपने रत्न चुन लिये। यह देखकर राजाने वणिक् पुत्रकी प्रशंसा की और श्रीभूतिका सर्वस्व हरण करके गधेपर बैठाकर अपने देशसे निकाल दिया।

वारिषेण राजा श्रेणिकका पुत्र था। बड़ा धर्मात्मा था। एक दिन चतुर्दशीकी रात्रिमें वह उपवासपूर्वक श्मशानमें ध्यानस्थ था। उसी दिन एक चोर हार चुराकर भागा। रक्षकोंने देख लिया। वे उसके पीछे भागे। श्मशानमें जाकर चोरने वह हार वारिषेणके पास रख दिया और वहाँसे भाग गया। रक्षकोंने वारिषेणको चोर मानकर राजा श्रेणिकसे शिकायत की। श्रेणिकने उसके वधकी आज्ञा दे दी। ज्यों ही जल्लाद ने तलवारका वार किया, तलवार फूलमाला हो गयी। तब वारिषेणका बड़ा सम्मान हुआ और उन्हें निर्दोष मान लिया गया ॥५२॥

पुनः चोरी की बुराइयाँ बतलाकर उससे विरत होनेका समर्थन करते हैं—

दूसरेके द्वारा दिये गये बिना उसके धनको लेनेसे कुलीनता-विनय आदि गुण, विद्या, यश, सुख और धर्म तत्काल नष्ट हो जाते हैं। अतः उससे सब देशोंमें, सब कालमें और सब प्रकारसे दूर ही रहना चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थ—जिनागममें चोरीके लिए 'अदत्तादान' शब्द का प्रयोग किया है, जो उससे व्यापक होनेसे विशेष अर्थका बोधक है। साधारण तो चोरी परायी वस्तुके चुरानेको कहते हैं। किन्तु अदत्तादानका अर्थ है बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण। बिना दी हुई वस्तुको स्वीकार करना चोरी है। यदि मार्गमें किसीकी वस्तु गिर गयी है या रेलमें कोई व्यक्ति कुछ सामान भूल गया है तो उसको ले लेना भी चोरी ही है। हमें ऐसी वस्तुको भी नहीं उठाना

अथ ज्ञानसंयमादिसाधनं विधिना दत्तं गृह्णीयादित्यनुशास्ति—

वसतिविकृतिबर्हवृसीपुस्तककुण्डीपुरःसरं श्रमणैः ।
श्रामण्यसाधनमवग्रहविधिना ग्राह्यमिन्द्रादेः ॥५४॥

विकृतिः—गोमयदग्धमृत्तिकादिः । वृसी—व्रतिनामासनम् । अवग्रहविधिना—स्वीकर्तव्यविधानेन । इन्द्रादेः । उक्तं च—

देवर्दिराय गहवइदेवद साहम्मि उग्गहं तम्हा ।
उग्गह विहिणा दिन्नं गिण्हसु सामण्णसाहणयं ॥५४॥ [भ. आ. ८७६ गा.]

अथ विधिदत्तं गृहीत्वा यथोक्तं चरतः समीहितं[2]मभिधत्ते—

चाहिए। देशकी नैतिकताकी यह भी एक कसौटी है कि मनुष्यको अपनी वस्तु उसी स्थानपर मिल जाये जहाँ वह छोड़ गया था या भूल गया था। हाँ, यदि उस तक पहुँचानेके उद्देश्यसे उसे उठाया जाता है तो वह चोरी नहीं है। चोरी को गुण आदिका 'मर्माविध्' कहा है। मर्मस्थानके छिदने पर प्राणीका तत्काल मरण होता है। उसी तरह चोरी करनेपर व्यक्तिके सब गुण, विद्या, यश वगैरह तत्काल नष्ट हो जाते हैं। वह मनुष्य स्वयं अपनी ही दृष्टिमें गिर जाता है। अन्य लोग भले ही उसके मुँहपर कुछ न कहें किन्तु उनकी दृष्टि भी बदल जाती है ॥५३॥

आगे कहते हैं कि साधुको ज्ञान-संयम आदिके साधन भी विधिपूर्वक दिये जानेपर ही स्वीकार करना चाहिए—

तपस्वी श्रमणोंको मुनिधर्मके साधन आश्रय, मिट्टी, राख, पिच्छिका, व्रतियोंके योग्य आसन और कमण्डलु वगैरह इन्द्र-नरेन्द्र आदिसे ग्रहण करनेकी विधिपूर्वक ही ग्रहण करना चाहिए ॥५४॥

विशेषार्थ—यह ग्रन्थ साधु धर्मसे सम्बद्ध है। जैन साधुका प्राचीन नाम श्रमण है। उन्हींके प्रसंगसे यहाँ अदत्तादान विरमण महाव्रतका कथन किया गया है। साधुका वेश धरकर तो चोर चोरी करते हैं। किन्तु सच्चा साधु बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण नहीं करता। उसकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं। शरीरसे वह नग्न रहता है अतः वस्त्र सम्बन्धी किसी वस्तुकी उसे आवश्यकता नहीं होती। भोजन श्रावकके घर जाकर करता है अतः भोजन सम्बन्धी भी किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। सिर वगैरहके बाल अपने हाथसे उखाड़ लेता है अतः उस सम्बन्धी भी किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। जब साधु वनोंमें रहते थे तब निवासस्थान वसतिकी भी तभी आवश्यकता होती थी जब नगरमें ठहरते थे। वसतिके सिवाय हाथ माँजनेके लिए मिट्टी, राख वगैरह, जीव जन्तुकी रक्षाके लिए पिच्छिका, बैठनेके लिए आसन, स्वाध्यायके लिए शास्त्र और शौचके लिए कमण्डलु आवश्यक होता है। ये भी बिना दिये नहीं लेना चाहिए। तथा देनेवाला यदि इन्द्र और राजा भी हो तब भी स्वीकार करनेकी विधिपूर्वक ही स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् किसीके प्रभावमें आकर बिना विधिके दी हुई वस्तु भी स्वीकार नहीं करनी चाहिए ॥५४॥

आगे कहते हैं कि विधिपूर्वक दिये हुए संयमके साधनोंको ग्रहण करके यथोक्त संयमका पालन करनेवाले साधुके ही इष्टकी सिद्धि होती है—

---

१. षिवहृतं भ. कु. च. । २. तसिद्धिम भ. कु. च. ।

शचीश-धात्रीश-गृहेश-देवता सधर्मणां धर्मकृतेऽस्ति वस्तु यत् ।
ततस्तदादाय यथागमं चरन्नचौर्यचुञ्चुः श्रियमेति शाश्वतीम् ॥५५॥

शचीशः—इन्द्रः । इह हि किल पूर्वविदिक्षु पूर्वस्या अधिपः सौधर्मेन्द्रः, उत्तरस्याश्चैशानेन्द्रः । धात्रीशः—भूपतिः । गृहेशः—वसतिस्वामी । देवता—क्षेत्राधिष्ठितो भूतादिः ॥५५॥

अथ शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादलक्षण-भावनापञ्चकेन स्थैर्यार्थमचौर्यव्रतं भावयेदित्युपदिशति—

[2]शून्यं पदं विमोचितमुतावसेद्भैक्षशुद्धिमनु यस्येत् ।
न विसंवदेत्सधर्मभिरुपरुन्ध्यान्न परमप्यचौर्यपरः ॥५६॥

इन्द्र, राजा, वसतिका स्वामी, गृहपति, क्षेत्रका अधिष्ठाता, देवता और अपने संघके साधुओंकी जो वस्तु धर्मका साधन हो उसे उनसे लेकर आगमके अनुसार आचरण करनेवाला अचौर्यव्रती साधु अविनाशिनी लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥५५॥

विशेषार्थ—धर्मसंग्रह (श्वे.) की टीकामें अदत्तके चार भेद किये है—स्वामीके द्वारा अदत्त, जीवके द्वारा अदत्त, तीर्थंकरके द्वारा अदत्त और गुरुके द्वारा अदत्त। जो स्वामीके द्वारा नहीं दिया गया वह पहला अदत्त है जैसे तृण, काष्ठ वगैरह । जो स्वामीके द्वारा दिया गया भी जीवके द्वारा न दिया गया हो वह दूसरा अदत्त है जैसे पुत्रकी इच्छाके बिना माता-पिताके द्वारा अपना पुत्र गुरुको अर्पित करना । तीर्थंकरके द्वारा निषिद्ध वस्तुको ग्रहण करना तीसरा अदत्त है । और स्वामीके द्वारा दिये जानेपर भी गुरुकी अनुज्ञाके बिना लेना चौथा अदत्त है । चारों ही प्रकारका अदत्त साधुके लिए त्याज्य है । दशवैकालिकमें कहा[2] है—

'संयमी मुनि सचित्त या अचित्त, अल्प या बहुत, दन्तशोधन मात्र वस्तुका भी उसके स्वामीकी आज्ञाके बिना स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरोंसे ग्रहण नहीं कराता, और अन्य ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन भी नहीं करता' ॥५५॥

आगे स्थिरताके लिए पाँच भावनाओंके द्वारा अचौर्य व्रतके भावनका उपदेश देते हैं—

अचौर्यव्रती साधुको निर्जन गुफा वगैरहमें अथवा दूसरोंके द्वारा छोड़े गये स्थानमें बसना चाहिए । भिक्षाओंके समूहको अथवा भिक्षामें प्राप्त द्रव्यको भैक्ष कहते है उसकी शुद्धिके लिए सावधान रहना चाहिए अर्थात् पिण्डशुद्धि नामक अधिकारमें आगे कहे गये दोषोंसे बचना चाहिए । साधर्मीजनोंके साथमें 'यह मेरा है' यह तेरा है' इस तरहका झगड़ा नहीं करना चाहिए । तथा अन्य श्रावक वगैरहको अभ्यर्थनासे रोकना नहीं चाहिए ॥५६॥

---

१. 'सुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च ।
एसण सुद्धिसउत्तं साहम्मीसु विसंवादो' ॥—चारित्र पाहुड, ३४ गा.
शून्यागारविमोचितावास-परोपरोधाकरणं भैक्षशुद्धिसद्धर्माविसंवादा पञ्च ॥—त सू ७।६
अस्तेयस्यानुवीच्यवग्रहयाचनमभीक्ष्णावग्रहयाचनमेतावदित्यवग्रहावधारण समानधार्मिकेभ्योऽवग्रहयाचनं अनुज्ञापितपानभोजनमिति ।—त. भाष्य ७।३

२. 'चित्तमंतमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि ओग्गहंसि अजाइया ॥
तं अप्पणा ण गेण्हंति नो वि गेण्हावए परं ।
अन्नं वा गेण्हमाणं पि नाणु जाणंति संजया' ॥—अ. ६, श्लो. १३-१४

शून्यं—निर्जनं गुहागेहादि। पदं—स्थानम्। विमोचितं—परचक्रादिनोद्वासितम्। भैक्षशुद्धिमनु—भिक्षाणा समूहो भिक्षाया आगतं वा भैक्षं तस्य शुद्धिः पिण्डशुद्धयुक्तदोषपरिहारस्ता प्रति। यस्येत्—प्रयतेत। न विसंवदेत्—तवेदं वस्तु न ममेति विसवादं साधर्मिकैः सह न कुर्यादित्यर्थः। उपरुन्ध्यात्—संकोचयेत् ॥५६॥

अथास्तेयव्रतस्य भावनाः प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—

योग्यं गृह्णन् स्वाम्यनुज्ञातमस्यन् सक्ति तत्र प्रत्तमप्यर्थवत्तत्।
गृह्णन् भोज्येऽप्यस्तगर्धोपसङ्गः स्वाङ्गालोचो स्यान्निरीहः परस्वे ॥५७॥

योग्यं—ज्ञानाद्युपकरणम्। स्वाम्यनुज्ञातं—तत्स्वामिना 'गृहाण' इत्यनुमतम्। एतेनाचारशास्त्रमार्गेण योग्ययाचनं ततस्तत्स्वाम्यनुज्ञातात् ग्रहण चेति भावनाद्वयं संगृहीतं बोद्धव्यम्। या तु गोचरादिषु गृहस्वाम्यननुज्ञात(-गृहप्रवेशवर्जन-)लक्षणा भावना साऽत्रैवान्तर्भवत्यननुज्ञातानभ्युपगमाविशेषात्। तत्र पर(-नुज्ञा संपाद्य-) गृहीतेऽप्यासक्तबुद्धितेति। सैषा चतुर्थी। अर्थवत्—सप्रयोजनम्। पनत्प... ण...(एतत्परिमाणमिदं भवता दातव्य-) मिति सप्रयोजनमात्रपरिग्रहो न पुनर्दाता यावद् ददाति तावद् गृह्णाति (-णामीति) बुद्धिर-

विशेषार्थ—श्वेताम्बर सम्मत तत्त्वार्थाधिगम भाषामें पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं—१ अनुवीच्यवग्रहयाचन—आलोचनापूर्वक अवग्रहकी याचना करना चाहिए। देवेन्द्र, राजा, गृहपति, शय्यातर और साधर्मी, इनमें-से जो जहाँ स्वामी हो उसीसे याचना करनी चाहिए। ऐसा करनेसे अदत्तादान नहीं होता। २. अभीक्ष्ण अवग्रहयाचन—पहले बारम्बार परिग्रह प्राप्त करके भी रुग्ण आदि अवस्थामें टट्टी-पेशाबके लिए पात्र, हाथ-पैर धोनेके लिए स्थान आदिकी याचना करनी चाहिए। इससे दाताके चित्तको कष्ट नहीं होता। ३. एतावत् इति अवग्रहावधारण—इतने परिमाणवाला ही क्षेत्र अवग्रह करना। उसीमें क्रिया करनेसे दाता रोकता नहीं है। ४ समान धार्मिकोंसे अवग्रहयाचन—समानधर्मी साधुओंके द्वारा पहलेसे परिगृहीत क्षेत्रमें-से अवग्रह माँगना चाहिए। उनकी आज्ञा मिलनेपर ही वहाँ ठहरना चाहिए अन्यथा चोरीका दोष लगता है। ५. अनुज्ञापित पान भोजन—शास्त्रकी विधिके अनुसार पान-भोजन करना। अर्थात् पिण्डैषणाके उपयुक्त, कृत कारित अनुमोदनासे रहित, कल्पनीय भोजन लाकर गुरुकी अनुज्ञापूर्वक सबके साथ या एकाकी जीमना। प्रश्न व्याकरण सूत्रके अनुसार पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं—१. विविक्तवसतिवास, २ अनुज्ञातसंस्तारकग्रहण, ३. शय्यापरिकर्मवर्जन, ४. अनुज्ञातभक्तादिभोजन और ५. साधर्मिकोंमें विनय। अर्थात् सभी वस्तुएँ उसके स्वामियोंकी और गुरु आदिकी अनुज्ञापूर्वक ही ग्राह्य है ॥५६॥

अचौर्य व्रतकी भावनाओंको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—

योग्यको ग्रहण करनेवाला, स्वामीके द्वारा अनुज्ञातको ग्रहण करनेवाला, गृहीतमें भी आसक्तिको छोड़नेवाला तथा दिये हुएमें-से भी प्रयोजन मात्रको ग्रहण करनेवाला साधु परवस्तुमें सर्वथा निरीह होता है। तथा भोजन-पानमें और अपिशब्दसे शरीरमें गृद्धिको त्यागनेवाला, परिग्रहसे दूर रहनेवाला और शरीर तथा आत्माके भेदको जाननेवाला साधु परवस्तुमें निरीह होता है ॥५७॥

---

१. भ. कु. च.। २. भ. कु. च.। मूलप्रतौ स्थानं रिक्तम्

स्यर्थः । सैषा पञ्चमी । तथा चोक्तम्—'अणणण्णदस्सणो[1] ग्रह् असंगबुद्धो अणु वि । उग्रहजायण मह उग्रहणास्स । वज्जणमणण्णणादं ग्रहिपावसंस्सण । ग्रह असंगबुद्ध अगोचरादी मु । उग्रह जायणमणुवीचए तह भावणा तदिए ॥

अत्रेदं संस्कृतम्—

'उपादानं मन्येव (मतस्यैव) मते चासक्तबुद्धिता ।
ग्राह्यस्यार्थकृतो लीनमितरस्य तु वर्जनम् ॥'
'अप्रवेशोऽमतेऽगारे गृहिभिर्गोचरादिषु ।
तृतीये भावना योग्या याञ्चा सूत्रानुसारतः ॥' [ ]

भोज्ये च—भक्तपाने च । एतेन भक्तसतुष्टता पानसतुष्टता चेति द्वे भावने संगृहीते । अपिशब्दात् देहेऽपि । देहेऽशुचित्वानित्यत्वादिभावनापर इत्यर्थ. । सैषा तृतीया । अपसङ्गः । सैषा परिग्रहनिवृत्तिलक्षणा चतुर्थी । स्वाङ्गालोची आत्मानं देहं च भेदेनाध्यवस्यन् । इद शरीरादिकमात्मनो देहनमुपलेप कर्मकृत गुरुत्वं नोपकारकारकमिति देहनाख्या । सैषा पञ्चमी ।

एतदप्यभाणि—

'देहण भावणं चावि उग्गह च परिग्गहे ।
संतुट्ठो सत्तपाणेसु तदिय वदमस्सिदो ॥' [ ]

एतेनैतदुक्तं भवति व्रतान्तरेऽपि शास्त्रान्तरोक्तान्यपि भावनान्तराणि भाव्यानि ।

तत्राद्ये यथा—

'मणगुत्तो वचिगुत्तो इरियाकायसंजुदो ।
एषणासमिदिसजुत्तो पढमं वदमस्सिदो ॥' [ ]

चतुर्थे यथा—

'इत्थिकहा इत्थिसंसग्गी हस्सखेडपलोयणो ।
णियत्तो य णियम हिट्ठिदो चउत्थ वदमस्सिदो ॥' [ ] ॥५७॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकार पं. आशाधरने पहले अचौर्य व्रतकी भावना तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार कही थी। अन्य ग्रन्थोंमें अन्य प्रकारसे पाँच भावनाएँ बतलायी हैं। यहाँ उन्हींके अनुसार पाँच-पाँच भावनाओंका कथन किया है। आचारशास्त्रमें प्रतिपादित मार्गके अनुसार योग्य ज्ञानादिके उपकरणोंकी याचना करना पहली भावना है। और उसके स्वामीकी अनुज्ञासे ग्रहण करना दूसरी भावना है। गोचरीके समय गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा न मिलनेपर उस घरमें प्रवेश न करना तीसरी भावना है। स्वामीकी अनुज्ञासे गृहीत योग्य वस्तुमें भी आसक्ति न होना चतुर्थ भावना है। स्वामीके द्वारा दिये जानेपर भी प्रयोजन मात्रका ग्रहण करना पाँचवीं भावना है।

प्रतिक्रमण शास्त्रमें पाँच भावनाएँ इस प्रकार कही हैं—'शरीरके विषयमें अशुचित्व-अनित्यत्व आदिका भावन करना, शरीरको आत्माका उपलेप मानना, परिग्रहका त्याग, भक्त और पानमें सन्तोप रखना ये पाँच भावनाएँ हैं' ॥५७॥

१. 'अणणुण्णादग्गहणं असंगबुद्धो अणुण्णवित्ता वि ।
एदावंतिय उग्गह जायणमध उग्गहाणुस्स ॥
वज्जणमणण्णुणादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ।
उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ॥' [भ. आ. १२०८-९]

अथास्तेयव्रतदृढिमदूराधिरूढप्रौढमहिम्नां परमपदप्राप्तिमाशंसति—

ते संतोषरसायनव्यसनिनो जीवन्तु यैः शुद्धचि-
न्मात्रोन्मेषपराङ्मुखाखिलजगद्दोर्अंग्यगर्जद्भुजम् ।
जित्वा लोभमनल्पकिल्विषविषस्रोतः परस्वं शकृन्-
मन्वानैः स्वमहत्त्वलुप्तखमदं दासीक्रियन्ते श्रियः ॥५८॥

जीवन्तु—शुद्धचैतन्यदृग्बोधादिभावप्राणै. प्राणन्तु । खमदः—आकाशदर्पः । परधननिरीहा आकाशादपि (–महान्त. इति भाव.–) ॥५८॥

अथ पञ्चचत्वारिंशत्पद्यैर्ब्रह्मचर्यव्रतं व्याचिकीर्षुस्तन्माहात्म्यमुपदर्श्य रोचनमुत्पाद्य तत्परिपालनाय मुमुक्षुं नित्यमुद्यमयति ।

आगे कहते हैं कि दृढ़तापूर्वक अचौर्य व्रतका अच्छी तरह पालन करनेवाले प्रौढ महिमाशाली साधुओंको परमपदकी प्राप्ति होती है—

यह समस्त जगत् शुद्ध चिन्मात्र अर्थात समस्त विकल्पोंसे अतीत अविचल चैतन्यके साक्षात्कारमें उपयोग लगानेसे विमुख हो रहा है। इस अपकारके अहंकारसे गर्वित होकर लोभ अपनी भुजाएँ ठोककर अट्टहास करता है। ऐसे तीनों लोकोंको जीतनेवाले उस लोभको भी जीतकर जो पराये धनको विष्टाके तुल्य और महापापरूपी विषका स्रोत मानते हैं और अपनी महत्तासे आकाशके भी मदको छिन्न-भिन्न करके लक्ष्मीको अपनी दासी बना लेते हैं वे सन्तोषरूपी रसायनके व्यसनी साधु सदा जीवित रहें अर्थात् दया, इन्द्रिय-संयम और त्यागरूप भावप्राणोंको धारण करें ॥५८॥

विशेषार्थ—संसारके प्रायः समस्त प्राणी जो अपने स्वरूपको भूले हुए हैं और अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे विमुख हो रहे हैं इसका मूल कारण है लोभ। इसीसे लोभको पापका बाप कहा है। उस लोभको जीतकर पराये धनसे जो निरीह रहते हैं वे आकाशसे भी महान् हैं। उन्हें जो कुछ उचित रीतिसे प्राप्त होता है उसीमे सन्तोष करते हैं। यह सन्तोष रसायनके तुल्य है। जैसे रसायनके सेवनसे दीर्घ आयु, आरोग्य आदि प्राप्त होते हैं उसी तरह सन्तोष आत्माके आरोग्यके लिए रसायन है। सन्तोषके बिना लोभको नहीं जीता जा सकता और लोभको जीते बिना अचौर्यव्रतका पूर्णतासे पालन नहीं किया जा सकता। मनमें छिपा हुआ असन्तोष लोभवृत्तिको जगाकर पराये धनके प्रति लालसा पैदा करता है। यह पराये धनकी लालसा ही चोरीके लिए प्रेरित करती है। चोरीसे मतलब केवल डाकेजनी या किसीके घरमें घुसकर माल निकालनेसे ही नहीं है। यह सब न करके भी जगत्में चोरी चलती है। अनुचित रीतिसे परधन ग्रहणकी भावनामात्र चोरी है। परधनके प्रति निरीह हुए बिना मनुष्य चोरीसे नहीं बच सकता और लोभको जीते बिना परधनके प्रति निरीह नहीं हो सकता। इस प्रकार अचौर्यव्रतका वर्णन जानना ॥५८॥

आगे ग्रन्थकार पैंतालीस पद्योंसे ब्रह्मचर्यव्रतका व्याख्यान करनेकी इच्छासे सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यके माहात्म्य-वर्णनके द्वारा रुचि उत्पन्न करके मुमुक्षुओंको उसका सदा पालन करनेके लिए प्रेरित करते हैं—

प्रादु:षन्ति यतः फलन्ति च गुणाः सर्वेऽप्यखर्वौजसो,
यत्प्रह्वीकुरुते चकास्ति च यतस्तद्ब्राह्ममुच्चैर्महः।
त्यक्त्वा स्त्रीविषयस्पृहादि दशधाऽब्रह्मामलं पालय,
स्त्रीवैराग्यनिमित्तपञ्चकपरस्तद्ब्रह्मचर्यं सदा ॥५९॥

प्रादु:षन्ति—दुःखेन प्रस्रवन्ति । गुणाः—व्रतशीलादयः । अप्यखर्वौजसः—अखर्वमुन्नतमुदितोदितमोजस्तेज उत्साहो वा येषां ते तानिन्द्रादीनपीत्यर्थः । ब्राह्मं—सार्वज्ञम् । स्त्रीविषयाः—स्त्रीगता रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः । (अब्रह्म—बृहं)न्त्यहिंसादीन्यस्मिन्निति ब्रह्म—शुद्धस्वात्मानुभूतिपरिणतिस्ततोऽन्यत् ॥५९॥

अथ ब्रह्मचर्यस्वरूपं निरूप्य तत्पालनपराणां परमानन्दप्रतिलम्भमभिधत्ते—

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः ।
तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम् ॥६०॥

स्पष्टम् । उक्तं च—

निरस्तान्याङ्गरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिणः ।
जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥ [अमित. श्रा. पृ. ९९० ।] ॥६०॥

हे मुमुक्षु ! स्त्री-विषयक अभिलाषा आदि दस प्रकारके अब्रह्म अर्थात् मैथुनको त्यागकर तथा स्त्रीमें वैराग्यके पाँच निमित्त कारणोंमें तत्पर होकर सदा निर्मल उस ब्रह्मचर्यका पालन कर, जिस ब्रह्मचर्यके प्रभावसे सभी गुण उत्पन्न होते हैं और फलते हैं, अत्यन्त प्रतापशाली इन्द्रादि भी नम्रीभूत हो जाते हैं तथा जिससे प्रसिद्ध उच्च ब्राह्म तेज प्रकाशित होता है। अर्थात् श्रुतकेवलीपना और केवलज्ञानीपना प्राप्त होता है ॥५९॥

ब्रह्मचर्यका स्वरूप बतलाकर उसके पालनमें तत्पर पुरुषोंको परमानन्दकी प्राप्ति बतलाते हैं—

ब्रह्म अर्थात् अपनी शुद्ध-बुद्ध आत्मामें, चर्या अर्थात् शरीर आदि परद्रव्यका त्याग करनेवाले साधुकी बाधारहित परिणतिको ब्रह्मचर्य कहते हैं। समस्त भूमिके स्वामी चक्रवर्तीको सार्वभौम कहते हैं। ब्रह्मचर्य भी व्रतोंका सार्वभौम है। इसे जो निरतिचार पालते हैं वे परमानन्दको प्राप्त करते हैं ॥६०॥

विशेषार्थ—निरुक्तिकारोंने ब्रह्मचर्यकी निरुक्ति 'ब्रह्मणि चर्या' की है। ब्रह्मका अर्थ है अपनी शुद्ध-बुद्ध आत्मा। देखे गये, सुने गये, भोगे गये समस्त प्रकारके भोगोंकी चाहरूप निदानसे होनेवाले बन्ध आदि समस्त विभाव तथा रागादि मलसे निर्मुक्त होनेसे आत्मा शुद्ध है। और एक साथ समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होनेसे बुद्ध है। ऐसी आत्मामें अपने और पराये शरीरसे ममत्वको त्याग कर जो प्रवृत्ति की जाती है उसीमें लीन होना है वही ब्रह्मचर्य है। कहा भी है—'पराये शरीरके प्रति अनुरागको दूर करके अपने शरीरसे भी विरक्त जीवकी ब्रह्ममें चर्याको ब्रह्मचर्य कहते हैं'।

इसी ब्रह्मचर्यका व्यावहारिक रूप स्त्री-वैराग्य है। स्त्रीसे मानुषी, तिरश्ची, देवी और उनकी प्रतिमा सभी लिये गये हैं। वैराग्यसे मतलब है स्त्रीसे रमण करनेकी इच्छाका निग्रह। जबतक यह नहीं होता तबतक ब्रह्मचर्यका पालन सम्भव नहीं है। इसीसे ब्रह्मचर्यको सब व्रतोंका स्वामी कहा है। इससे कठिन दूसरा व्रत नहीं है। और इसके बिना समस्त त्याग, यम, नियम व्यर्थ हैं।

अथ दशप्रकारब्रह्मसिद्ध्यर्थं दशविधाब्रह्मप्रतिषेधाय प्रयुङ्क्ते—

मा रूपादिरसं पिपास सुदृशां मा वस्तिमोक्षं कृथा,
वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा मा दा वराङ्गे दृशम् ।
मा स्त्रीं सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं वृत्तं स्मर स्मार्य मा,
वत्स्यंन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्विः पञ्चधा ब्रह्मणे ॥६१॥

पिपास—पातुमिच्छ त्वम् । वस्तिमोक्षं—लिङ्गविकारकरणम् । वृष्यं—शुक्रवृद्धिकरम् । स्त्रीशयनादिकं—कामिन्यङ्गस्पर्शवत्तत्संसक्तशय्यासनादिस्पर्शस्यापि कामिना प्रीत्युत्पत्तिनिमित्तत्वात् । मा दाः—मा देहि, मा व्यापारयेत्यर्थः । वराङ्गे—भगे । सत्कुरु—सम्मानय । संस्कुरु—वस्त्रमाल्यादिभिरलंकुरु । वृत्तं—पूर्वानुभूतम् । स्मर स्म मा । तथा ताभि सह मया क्रीडितमिति मा स्म चिन्तय इत्यर्थः । वत्स्यंत्—भविष्यत् ॥६१॥

ब्रह्मचर्यके दस प्रकारोंकी सिद्धिके लिए दस प्रकारके अब्रह्मको त्यागनेकी प्रेरणा करते है—

हे आर्य ! दस प्रकारके ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेके लिए दस प्रकारके अब्रह्मका सेवन मत करो । प्रथम, कामिनियोंके रूपादि रसका पान करनेकी इच्छा मत करो । अर्थात् चक्षुसे उनके सौन्दर्यका, जिह्वासे उनके ओष्ठरसका, घ्राणेन्द्रियसे उनके उच्छ्वास आदिकी सुगन्धका, स्पर्शन इन्द्रियसे उनके अंगस्पर्शका और श्रोत्रसे गीत आदिके शब्दका परिभोग करनेकी अभिलाषा मत करो । दूसरे, अपने लिंगमें विकार उत्पन्न मत करो । तीसरे, वीर्य वृद्धिकारक दूध, उड़द आदिका सेवन मत करो । चौथे, स्त्री शय्या आदिका सेवन मत करो क्योंकि स्त्रीके अंगके स्पर्शकी तरह उससे संसक्त शय्या, आसन आदिका स्पर्श भी रागकी उत्पत्तिमें निमित्त होता है । पाँचवें, स्त्रीके गुप्तांगपर दृष्टि मत डाल । छठे, अनुरागवश नारीका सम्मान मत कर । सातवें, वस्त्र, माला आदिसे स्त्रीको सज्जित मत कर । आठवें, पहले भोगे हुए मैथुनका स्मरण मत कर । नौवें, आगामी भोगकी इच्छा मत कर कि मैं देवांगनाओंके साथ अमुक-अमुक प्रकारसे मैथुन करूँगा । दसवें, इष्ट विषयोंका सेवन मत कर ॥६१॥

विशेषार्थ—भगवती [1]आराधनामें [गा. ८७९-८०] अब्रह्मके दस प्रकार कहे हैं—'स्त्री सम्बन्धी विषयोंकी अभिलाषा, लिंगके विकारको न रोकना, वीर्यवृद्धिकारक आहार और रसका सेवन करना, स्त्रीसे संसक्त शय्या आदिका सेवन करना, उनके गुप्तांगको ताकना, अनुरागवश उनका सम्मान करना, वस्त्रादिसे उन्हें सजाना, अतीत कालमें की गयी रतिका स्मरण, आगामी रतिकी अभिलाषा और इष्ट विषयोंका सेवन, ये दस प्रकारका अब्रह्म हैं । इनसे निवृत्त होना दस प्रकारका ब्रह्मचर्य है' ॥६१॥

---

१. 'इच्छिविषयाभिलासो वच्छिविमोक्खो य पणिदरससेवा ।
संसत्तदव्वसेवा तर्दिदिया लोयणं चेव ॥
सक्कारो संकारो अदीदसुमिरणमणागदभिलासे ।
इट्ठविषयसेवा वि य अब्बंभं दसविहं एदं' ॥

अथ विषयवर्गस्य मनोविकारकारित्वं मुनीनामपि दुर्वारमिति परं तत्परिहारे विनेयं सज्जयति—

> यद्वयद्धं घुणवद् वज्रमोष्टे न विषयव्रजः ।
> मुनीनामपि दुष्प्रापं तन्मनस्तत्समुत्सृज ॥६२॥

वाद्धुं (व्यद्धुं)—वो(–वे-)धितुं विकारयितुमित्यर्थः ॥६२॥

अथ स्त्रीवैराग्यपञ्चकभावनया प्राप्तस्त्रीवैराग्यो ब्रह्मचर्यं वर्द्धस्वेति शिक्षयति—

> नित्यं कामाङ्गनासङ्गदोषाशौचानि भावयन् ।
> कृतार्यसङ्गतिः स्त्रीषु विरक्तो ब्रह्म बृंहय ॥६३॥

सङ्गः—संसर्गः । प्रत्यासत्तेरङ्गनाया एव । अथवा कामाङ्गनाङ्गसङ्गेति पाठ्यम् । स्त्रीषु—मानुषी-तिरश्चीदेवीषु तत्प्ररूपकेषु च । विरक्तः—संसर्गादिनिवृत्त ।

तदुक्तम्—

> 'मातृस्वसृसुतातुल्यं दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकरूपकम् ।
> स्त्रीकथादिनिवृत्तिर्या ब्रह्म स्यात्तन्मतं सताम् ॥' [ ] ॥६३॥

अथ अष्टाभिः पद्यैः कामदोषान् व्याचिख्यासुः प्रथमं तावद्योन्यादिरिरंसाया. प्रवृत्तिनिमित्तकथनपुरस्सर तीव्रदुःखकरत्वं वक्रभणित्या प्रकाशयति—

विषय मनमें विकार पैदा करते हैं जो मुनियोंके द्वारा भी दुर्निवार होता है । इसलिए अभ्यासियोंको उनका त्याग करनेकी प्रेरणा करते हैं—

जैसे घुन वज्रको नहीं छेद सकता, उसी तरह इन्द्रियोंके विषयोंका समूह जिस मनको विकारयुक्त नहीं करता वह मन मुनियोंको भी दुर्लभ है अर्थात् विषय मुनियोंके मनमें भी विकार पैदा कर देते हैं । इसलिए तू उन विषयोंको त्याग दे ॥६२॥

आगे स्त्रियोंसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाली पाँच भावनाओंके द्वारा स्त्रीसे विरक्त होकर ब्रह्मचर्यको बढ़ानेकी शिक्षा देते हैं—

हे साधु ! काम, स्त्री और स्त्री-संसर्गके दोष तथा अशौचका निरन्तर विचार करते हुए ज्ञानवृद्ध तपस्वी जनोंके साहचर्यमें रहकर तथा स्त्री-विषयक अभिलाषाको दूर करके ब्रह्मचर्य व्रतको उन्नत कर ॥६३॥

विशेषार्थ—स्त्रीवैराग्यका मतलब है स्त्रियोंकी अभिलाषा न करना, उनसे रमण करनेकी इच्छाकी निवृत्ति। उसके बिना ब्रह्मचर्यका पालन नहीं किया जा सकता। तथा उसके लिए पाँच भावनाएँ आवश्यक हैं । काम-सेवन, स्त्री और स्त्रीसंसर्गके दोष तथा उनसे होनेवाली गन्दगीका सतत चिन्तन और ज्ञानी-विवेकी तपस्वीजनोंका सहवास । सत्संगतिमें बड़े गुण हैं । जैसे कुसंगतिमें दुर्गुण हैं वैसे ही सत्संगतिमें सद्गुण हैं । अतः ब्रह्मचर्यव्रती-को सदा ज्ञानी तपस्वियोंका सहवास करना चाहिए तथा कामभोग, स्त्री-सहवास आदिके दोष, उनसे पैदा होनेवाली गन्दगीका सतत चिन्तन करते रहना चाहिए ॥६३॥

आगे ग्रन्थकार आठ पद्योंसे कामके दोषोंका कथन करना चाहते हैं । उनमें-से सर्व-प्रथम योनि आदिमें रमण करनेकी इच्छाके तथा उसमें प्रवृत्तिके निमित्तोंका कथनपूर्वक उसे वक्रोक्तिके द्वारा तीव्र दुःखदायक बतलाते हैं—

वृष्यभोगोपयोगाभ्यां कुशीलोपासनादपि ।
पुंवेदोदीरणात् स्वस्थः कः स्यान्मैथुनसंज्ञया ॥६४॥

वृष्येत्यादि—वृष्याणां कामवर्द्धनोद्दीपनानां क्षीरशर्करादीनां भोजनेन रम्योद्यानादीना च सेवनेन। पुंवेदोदीरणात्—पुंसो वेदो योन्यादिरिरंसा संमोहोत्पादननिमित्तं चारित्रमोहकर्मविशेषः तस्य उदीरणादुद्भवादन्तरङ्गनिमित्तादुद्भूतया मैथुनसंज्ञया—मैथुने रते संज्ञा वाञ्छा तया। तस्याश्चाहारादिसंज्ञावत्तीव्रदुःखहेतुत्वमनुभवसिद्धमागमसिद्धं च।

तथा ह्यागमः—

> 'इह जाहि बाहिया वि जीवा पावंति दारुणं दुक्खम्।
> सेवंता वि य उभए ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥' [गो. जी. १३४]

कामका वर्धन और उद्दीपन करनेवाले पदार्थोंके भोगसे और उपयोगसे, तथा कुशील पुरुषोंकी संगतिसे और पुरुषवेदकी उदीरणासे होनेवाली मैथुन संज्ञासे कौन मनुष्य सुखी हो सकता है? ॥६४॥

विशेषार्थ—चारित्र मोहनीयका उदय होनेपर रागविशेषसे आविष्ट स्त्री और पुरुषोंमें जो परस्परमें आलिंगन आदि करनेकी इच्छा होती है उसे मैथुन संज्ञा कहते हैं। स्त्री स्त्रीके साथ और पुरुष पुरुषके साथ या अकेला पुरुष और अकेली स्त्री मैथुनके अभिप्रायसे जो हस्त आदिके द्वारा अपने गुप्त अंगका सम्मर्दन करते हैं वह भी मैथुनमें ही गर्भित है। मैथुनके लिए जो कुछ चेष्टाएँ की जाती हैं उसे लोकमें सम्भोग शृंगार कहते हैं। कहा है[1]—हर्षातिरेकसे युक्त सहृदय दो नायक परस्परमें जो-जो दर्शन और सम्भाषण करते हैं वह सब सम्भोग शृंगार है।'

इस मैथुन संज्ञाके बाह्य निमित्त हैं दूध आदि वृष्य पदार्थोंका भोजन और रमणीक वनोंमें विहार तथा स्त्री आदिके व्यसनोंमें आसक्त पुरुषोंकी संगति। और अन्तरंग निमित्त है पुरुषवेदकी उदीरणा। पुरुषवेदका मतलब है योनि आदिमें रमण करनेकी इच्छा। पुरुषवेद कर्म चारित्र मोहनीय कर्मका भेद है। यहाँ पुंवेदका ग्रहण इसलिए किया है कि चूँकि पुरुष ही मोक्षका अधिकारी होता है इसलिए उसकी मुख्यता है। वैसे वेद मात्रका ग्रहण अभीष्ट है। अतः स्त्रीवेद और नपुंसकवेद भी लेना चाहिए। कोमलता, अस्पष्टता, बहुकामावेश, नेत्रोंमें चंचलता, पुरुषकी कामना आदि स्त्रीभाववेदके चिह्न हैं। इससे विपरीत पुरुषभाववेद है। और दोनोंका मिला हुआ भाव नपुंसकभाववेद है। भाववेदकी उदीरणा मैथुन संज्ञाका अन्तरंग कारण है। आगम में कहा है—'कामोद्दीपक पदार्थोंका भोजन करनेसे, कामोद्दीपक बातोंमें उपयोग लगानेसे, कुशील पुरुषोंकी संगतिसे और वेदकर्मकी उदीरणासे इन चार कारणोंसे मैथुन संज्ञा होती है।'

लोगोंके मनमें यह भ्रान्त धारणा है कि मैथुन संज्ञामें सुख है। संज्ञा मात्र दुःखका कारण है। कहा है—'इस लोकमें जिनसे पीड़ित होकर भी तथा सेवन करते हुए भी जीव भयानक दुःख पाते हैं वे संज्ञाएँ चार हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह।'

१. 'अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ।
आलोकनवचनादि. स सर्वः संभोगशृङ्गारः' ॥

अपि च—

'[1]परितप्यते विषीदति शोचति विलपति च खिद्यते कामी ।
नक्तं दिवं न निद्रां लभते ध्यायति, च विमनस्कः ॥' [ ] ॥६४॥

अथ बहिरात्मप्राणिगणस्य कामदुःखाभिभवदुर्निवारतामनुशोचति—

संकल्पाण्डकजो द्विदोषरसनश्चिन्तारुषो गोचर-
च्छिद्रो दर्पबृहद्रदो रतिमुखो ह्रीकञ्चुकोन्मोचकः ।
कोऽप्युद्यद्दशवेगदुःखगरलः कन्दर्पसर्पः समं,
हो दन्दष्टि हठद्विवेकगरुडक्रोडादपेतं जगत् ॥६५॥

सकल्प—इष्टाङ्गनादर्शनात्ता प्रत्युत्कण्ठागर्भोऽध्यवसाय । द्विदोषं—रागद्वेषी । चिन्ता—इष्टाङ्गनागुणसमर्थनतद्दोषपरिहरणार्थो विचारः । गोचराः—रूपादिविषयाः । बृहद्रदः—दंष्ट्रा सा चेह तालुगता । कोऽपि—अपूर्वः । सप्तवेगविषो हि शास्त्रे सर्पः प्रसिद्ध । यद्वाग्भट.—

कामी पुरुषोंकी दुर्दशाका वर्णन काव्य-साहित्य तकमे भी किया है । यथा—'कामी पुरुष परिताप करता है, खेद-खिन्न होता है, दुःखी होता है, शोक करता है, विलाप करता है । दिन-रात सोता नहीं है और विक्षिप्त चित्त होकर किसीके ध्यानमें मग्न रहता है ।'

एक कामी कहता है—'बड़ा खेद है कि मैने सुखके लोभसे कामिनीके चक्करमें पड़कर उत्कण्ठा, सन्ताप, घबराहट, नींदका न आना, शरीरकी दुर्बलता ये फल पाया ।'

और भी कहा है—'स्त्रीके प्रेममें पड़े हुए मूढ मनुष्य खाना-पीना छोड़ देते है, लम्बी-लम्बी साँसें लेते हैं, विरहकी आगसे जलते रहते हैं । मुनीन्द्रोंको जो सुख है वह उन्हे स्वप्नमें भी प्राप्त नही होता' ॥६४॥

दुर्निवार कामविकारके दुःखसे अभिभूत संसारके विषयोंमें आसक्त प्राणियोंके प्रति शोक प्रकट करते हैं—

कामदेव एक अपूर्व सर्प है । यह संकल्परूपी अण्डेसे पैदा होता है । इसके रागद्वेषरूपी दो जिह्वाएँ हैं । अपनी प्रेमिका-विषयक चिन्ता ही उसका रोष है । रूपादि विषय ही उसके छिद्र हैं । जैसे साँप छिद्र पाकर उसमे घुस जाता है उसी तरह स्त्रीका सौन्दर्य आदि देखकर कामका प्रवेश होता है । वीर्यका उद्रेक उसकी बड़ी दाढ़ है जिससे वह काटता है । रति उसका मुख है । वह लज्जारूपी केंचुलीको छोड़ता है । प्रतिक्षण बढते हुए दस वेग ही उसका दुःखदायी विष है । खेद है कि जाग्रत् विवेकरूपी गरुड़की गोदसे वंचित इस जगत्को वह कामरूपी सर्प बुरी तरह डँस रहा है ॥६५॥

विशेषार्थ—यहाँ कामदेवकी उपमा सर्पसे दी है । सर्प अण्डेसे पैदा होता है । कामदेव संकल्परूपी अण्डेसे पैदा होता है । किसी इच्छित सुन्दरीको देखकर उसके प्रति उत्कण्ठाको लिये हुए जो मनका भाव होता है उसे संकल्प कहते हैं । उसीसे कामभाव पैदा होता है । पञ्चतंत्रमें कहा है—

१. 'सोयदि विलपदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयदि य ।
रत्तिदिया य णिद्दं ण लहदि पज्झादि विमणो य ॥' [भ. आ. ८८४ गा.]

'पूर्वे दर्वीकृतां वेगे दुष्टं श्यावीभवत्यसृक् ।
श्यावता नेत्रवक्त्रादौ सर्पन्तीव च कीटिकाः ॥
द्वितीये ग्रन्थयो वेगे तृतीये मूर्द्धगौरवम् ।
दृग्रोधो दंशविक्लेदश्चतुर्थे ष्ठीवनं वमिः ॥
'संधिविश्लेषणं तन्द्रा पञ्चमे पर्वभेदनम् ।
दाहो हिध्मा तु षष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥
'मूर्छा विपाकोऽतीसारः प्राप्य शुक्रं च सप्तमे ।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः सर्वचेष्टानिवर्तनम् ॥' [अष्टाङ्ग. उत्त. ३६।१९-२२]

सर्म—सर्वं युगपद्वा । यल्लोकः—

'उच्छु सरासणु कुसुमसरु अंगु ण दीसइ जासु ।
हलि म (त) सु मयण महाभडह तिहुवणि कवणु ण दासु ॥' [ ]

दंदष्टि—गर्हितं दशति । गर्हा चात्र वृद्धेष्वप्यतिज्वलनादनौचित्यप्रवृत्ता । हठन्—(दे-) दीप्यमानो बलात्कारयुक्तो वा ॥६५॥

'हे कामदेव ! मैं तुम्हारा स्वरूप जानता हूँ । तू संकल्पसे पैदा होता है । मैं संकल्प नहीं करूँगा । तब तू कैसे पैदा होगा ।' सर्पको 'द्विजिह्व' कहते हैं । उसके दो जिह्वा होती हैं । राग-द्वेष कामकी दो जिह्वाएँ हैं । सर्प जब काटता है तो बड़े रोषमें होता है । इच्छित स्त्रीके गुणोंका चिन्तन ही कामका रोष है उससे वह और भी प्रबल होता है । इसी तरह स्त्रीका सौन्दर्य आदि वे छिद्र हैं जिनको देखकर काम रूपी सर्प प्रवेश करता है । साँपके दाढ़ होती है जिससे वह काटता है । वीर्यका उद्रेक ही कामरूपी सर्पकी दाढ़ है । रति उसका मुख है । साँप केंचुली छोड़ता है । कामदेव भी लज्जारूपी केंचुली छुड़ाता है । कामी मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है । सर्पमें जहर होता है । कामके दस वेग ही उसका जहर है । और इसीसे कामको अपूर्व सर्प कहा है क्योंकि सर्पके विषके सात वेग प्रसिद्ध हैं । वाग्भटने कहा है—'पहले वेगमें मनुष्यका रक्त काला पड़ जाता है, नेत्र-मुख वगैरहपर कालिमा आ जाती है । शरीरमें कीड़े रेंगते प्रतीत होते हैं । दूसरे वेगमें रक्तमें गाँठें पड़ जाती हैं । तीसरेमें सिर भारी हो जाता है । दृष्टिमें रुकावट आ जाती है । चौथेमें वमन होती है । शरीरकी सन्धियाँ ढीली पड़ जाती हैं । मुँहमें झाग आने लगते हैं । पाँचवें वेगमें शरीरके पर्व अलग होने लगते हैं, जलन पड़ती है, हिचकी आती है । छठेमें हृदयमें पीड़ा होती है, शरीरमें भारीपन आ जाता है, मूर्छा, दस्त आदि होते हैं । सातवें वेगमें कन्धा, पीठ, कमर भंग हो जाती है और अन्तमें मृत्यु हो जाती है ।' इस तरह साँपके तो सात ही वेग हैं किन्तु कामरूपी सर्पके दस वेग हैं जो आगे बतलायेंगे । अतः कामरूपी सर्प अन्य सर्पोंसे भी बढ़कर होनेसे अपूर्व है । गरुड़ साँपका दुश्मन है । जो उसके समीप होते हैं उन्हें साँप नहीं डँसता । इसी तरह जो कामके दोषोंका विचार करते रहते हैं उनको कामरूपी सर्प नहीं डँसता है । किन्तु जगत्में वह विवेक विरल ही मनुष्योंके पास है अतः सब जगत्को कामने डँस रखा है । कहा भी है—'हे सखि ! ईख तो उसका धनुष है, पुष्प बाण हैं और उसका शरीर दिखाई नहीं देता । फिर भी यह काम बड़ा वीर है । तीनों लोकोंमें कौन उसका दास नहीं है ॥६५॥

अथ कामस्य दश वेगानाह—

शुग्दिदृक्षायतोच्छ्वासज्वरदाहाशनारुचीः ।
समूर्च्छोन्मादमोहान्ताः कान्तामाप्नोत्यनाप्य ना ॥६६॥

स्पष्टम् । उक्तं च—

'शोचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदृक्षते ।
तृतीये निश्वसित्युच्चैश्चतुर्थे ढौकते ज्वरः ॥
पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भक्तं न रोचते ।
प्रयाति सप्तमे मूर्छां प्रोन्मत्तो जायतेऽष्टमे ॥
न वेत्ति नवमे किंचिन्म्रियते दशमेऽवशः ।
संकल्पस्य वशेनैव वेगास्तीव्रास्तथाऽन्यथा ॥' —[अमित भ. आरा. ९०७-९०९]

लोके त्विमा कामस्य दशावस्था—

'आदावभिलाष. स्याच्चिन्ता तदनन्तरं तत. स्मरणम् ।
तदनु च गुणसंकीर्तनमुद्वेगोऽथ प्रलापश्च ॥
उन्मादस्तदनु ततो व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम् ।
इत्थमसंयुक्ताना रक्ताना दश दशा ज्ञेया ॥' [काव्यालंकार १४।४-५] ॥६६॥

आगे कामके दस वेगोंको हेतु सहित कहते है—

इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर मनुष्यकी दस अवस्थाएँ होती हैं— १ शोक, २ देखनेकी इच्छा, ३ दीर्घ उच्छ्वास, ४ ज्वर, ५ शरीरमे दाह, ६ भोजनसे अरुचि, ७ मूर्च्छा, ८ उन्माद, ९ मोह और १० मरण ॥६६॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना [८९३-८९५] में कामके दस वेग इस प्रकार[3] कहे है—'कामी पुरुष कामके प्रथम वेगमें शोक करता है। दूसरे वेगमें उसे देखनेकी इच्छा करता है। तीसरे वेगमें साँसें भरता है। चौथे वेगमें उसे ज्वर चढ़ता है। पाँचवे वेगमें शरीरमें दाह पड़ती है। छठे वेगमे खाना-पीना अच्छा नहीं लगता। सातवें वेगमें मूर्च्छित होता है। आठवें वेगमें उन्मत्त हो जाता है। नौवें वेगमें उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। दसवें वेगमें मर जाता है। इस प्रकार कामान्ध पुरुषके संकल्पके अनुसार वेग तीव्र या मन्द होते हैं अर्थात् जैसा संकल्प होता है उसीके अनुसार वेग होते हैं क्योंकि काम संकल्पसे पैदा होता है' ॥६६॥

१. 'ज्वरस्तुर्ये प्रवर्तते' ।
२. 'दशमे मुच्यतेऽसुभि ' । संकल्पतस्ततो वेगास्तीव्रा मन्दा भवन्ति हि ।' —अमित भ. आ. ९०९ ।
३. 'पढमे सोयदि वेगे दट्ठुं तं इच्छिदे विदियवेगे ।
णिस्सदि तदिये वेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥
डज्झदि पंचमवेगे अंगं छट्ठे ण रोचदे भत्तं ।
मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होई अट्ठमए ॥
णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ।
संकप्पवसेण पुणो वेगा तिव्वा व मंदा वा ॥

अथ कामार्तस्य किमप्यकृत्यं नास्तीति ज्ञापयति—

अविद्याशाचक्र-प्रसृमर-मनस्कारमरुता,
ज्वलत्युच्चैर्भोक्तुं स्मरशिखिनि कृत्स्नामिव चितम् ।
रिरंसुः स्त्रीपङ्के कृमिकुलकलङ्के विधुरितो,
नरस्तन्नास्त्यस्मिन्नहह सहसा यन्न कुरुते ॥६७॥

आशा—भाविविषयाकाङ्क्षा दिशश्च । चक्रप्रसृमरः—चक्रेण संघातेन सन्तानेन पक्षे मण्डलाकारेण प्रसरणशीलः । मनस्कारः—चित्तप्रणिधानम् । चित्तं—चेतनाम् । कृमयः—योनिजन्तवः । यद्वात्स्यायनः—

'रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तयः ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूति जनयन्ति तथाविधाम् ॥' [ ] ॥६७॥

अथ ग्राम्यसुखोत्सुकबुद्धेर्धनार्जन-कर्मसाकल्यश्रमाप्रगुणत्वमशेषयोषिद्यन्त्रणान्तःकरणत्वं च व्याचष्टे—

आपातमृष्टपरिणामकटौ प्रणुन्नः, किंपाकवन्निधुवने मदनग्रहेण ।
किं किं न कर्म हतशर्म धनाय कुर्यात्, क्व क्व स्त्रियामपि जनो न मनो विकुर्यात् ॥६८॥

आपातमृष्टं—उपयोगोपक्रमे (-मृष्टं-) मधुरं सुखवदाभासनात् । उक्तं च—

आगे कहते हैं कि कामसे पीड़ित मनुष्यके लिए कुछ भी अकरणीय नहीं है—

जैसे अज्ञात दिशाओंसे बहनेवाले वायुमण्डलसे प्रेरित आग जब इस तरह तीव्र रूपसे जलने लगती है कि मानो वह सब कुछ जलाकर भस्म कर देगी, तब उससे अत्यन्त घबराया हुआ मनुष्य कीड़ोंसे भरे हुए कीचड़में भी गिरनेको तैयार हो जाता है। उसी तरह शरीर और आत्माके भेदको न जानकर भावी भोगोंकी इच्छाओंकी बहुलता सम्बन्धी संकल्प-विकल्परूप वायुसे प्रेरित कामाग्नि इस प्रकार जलने लगती है मानो समस्त चेतनाको खा जायेगी। उस समय यह कामी मनुष्य कामसे पीड़ित होकर कीड़ोंसे भरे हुए स्त्रीयोनिमें रमण करनेकी इच्छासे ऐसा कोई भी अकृत्य इस जगत्में नहीं है जिसे वह न करता हो यह बड़े खेद और आश्चर्यकी बात है। अर्थात् कामाग्निके प्रदीप्त होनेपर व्याकुल हुआ मनुष्य कीचड़के तुल्य स्त्रीमें रमण करनेकी इच्छासे सभी अकृत्य कर डालता है ॥६७॥

विशेषार्थ—स्त्रीको ऐसी कीचड़की उपमा दी है जिसमें कीड़े बिलबिलाते हैं। जैसे कीचड़में फँसकर निकलना कठिन होता है वैसे ही स्त्रीके रागमें फँस जानेपर उससे निकलना कठिन होता है। तथा स्त्रीकी योनिमें ऐसे जन्तु कामशास्त्रमें बतलाये हैं जिनसे स्त्रीको पुरुषके संसर्गकी इच्छा होती है। कहा है—'स्त्रियोंकी योनिमें रक्तजन्य सूक्ष्म कीट होते हैं जो रिरंसाके कारणभूत खाजको उत्पन्न करते हैं ॥६७॥

आगे कहते हैं कि विषय सुखकी उत्सुकतासे मनुष्य रात दिन धन कमानेके साधनोंमें जुटा रहता है और उसका मन सभी स्त्रियोंके प्रति अनियन्त्रित रहता है—

मैथुन किंपाक फलके समान प्रारम्भमें मधुर लगता है किन्तु परिणाममें कटु है। कामरूपी भूतके द्वारा बहुत अधिक प्रेरित होकर मैथुन सेवनमें प्रवृत्त हुआ मनुष्य धनके लिए कौन-कौन कष्टदायक व्यापार नहीं करता और किस-किस स्त्रीमें अपने मनको विकारयुक्त नहीं करता अर्थात् मानुषी, देवी, तिरश्ची, निर्जीव स्त्रियों तकमें अपने मनको विकृत करता है ॥६८॥

गामे तु दारुणम् ।
किंपाकफलसंकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥' [ ]

क्व क्व स्त्रियां—मनुष्या देव्या तिरश्च्यां निर्जीवाया वा ॥६८॥

अथ कामाग्नेरचिकित्स्यतामाचष्टे—

ज्येष्ठ[1]ज्योत्स्नेऽमले व्योम्नि मूले मध्यन्दिने जगत् ।
दहन् कथंचित्तिग्मांशुश्चिकित्स्यो न स्मरानलः ॥६९॥

ज्योत्स्नः—शुक्लपक्षः । अमले—निरभ्रे । मूले—मूलनक्षत्रे ।

यल्लोके—

'हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि
प्रालेयसीकरमपस्तुहिनांशुभासः ।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः ॥' [ ]

अपि च—

'चन्द्रः पतङ्गति भुजङ्गति हारवल्ली
स्रक् चन्दनं विषति मुर्मुरतीन्दुरेणुः ।
तस्याः कुमार ! भवतो विरहातुरायाः
किन्नाम ते कठिनचित्त ! निवेदयामि ॥' [ ] ॥६९॥

विशेषार्थ—एक कविने लिखा है—कामी पुरुष ऐसा कोई काम नहीं है जिसे नहीं करता । पुराणोंमें कहा है कि कामसे पीडित ब्रह्माने अपनी कन्यामें, विष्णुने गोपिकाओंमें, महादेवने शन्तनुकी पत्नीमें, इन्द्रने गौतम ऋषिकी पत्नी अहिल्यामें और चन्द्रमाने अपने गुरुकी पत्नीमें मन विकृत किया । अतः मैथुनके सम्बन्धमें जो सुख की भ्रान्त धारणा है उसे दूर करना चाहिए। विषय सेवन विष सेवनके तुल्य है ॥६८॥

आगे कहते हैं कि कामाग्निका कोई इलाज नहीं है—

ज्येष्ठ मासके शुक्लपक्षमें, मेघरहित आकाशमें, मूल नक्षत्रमें, मध्याह्नके समयमें जगत्को तपानेवाले सूर्यका तो कुछ प्रतिकार है, शीतल जल आदिके सेवनसे गर्मी शान्त हो जाती है किन्तु कामरूपी अग्निका कोई इलाज नहीं है ॥६९॥

विशेषार्थ—ज्येष्ठ मासके मध्याह्नमें सूर्यका ताप बड़ा प्रखर होता है किन्तु उसका तो इलाज है—शीत-ताप-नियन्त्रित कमरेमें आवास, शीतल जलसे स्नान-पान आदि । किन्तु कामाग्निकी शान्तिका कोई इलाज नहीं है । कहा है—'हार, जलसे गीला वस्त्र, कमलिनीके पत्ते, बर्फके समान शीतल जलकण फेंकनेवाली चन्द्रमाकी किरणें, सरस चन्दनका लेप, ये जिसके ईंधन हैं अर्थात् इनके सेवनसे कामाग्नि अधिक प्रज्वलित होती है वह कामाग्नि कैसे शान्त हो सकती है' ?

फिर सूर्य तो केवल दिनमें ही जलाता है और कामाग्नि रात-दिन जलाती है। छाता वगैरहसे सूर्यके तापसे बचा जा सकता है किन्तु कामाग्निके तापसे नहीं बचा जा सकता। सूर्य तो शरीरको ही जलाता है किन्तु कामाग्नि शरीर और आत्मा दोनोंको जलाती है ॥६९॥

१. 'जेट्ठामूले जोण्हे सूरो विमले णहम्मि मज्झण्हे ।
ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि विवड्ढंतउ कामो' ॥ —भ. आरा. ८९६ गा. ।

अथ कामोद्रेकस्य सहसा समग्रगुणग्रामोपमर्दकत्वं निवेदयति—

कुलशीलतपोविद्याविनयादिगुणोच्चयम् ।
दन्दह्यते स्मरो दीप्तः क्षणात्तृण्यामिवानलः ॥७०॥

विनयादि—आदिशब्दात् प्रतिभा-मेधा-वाग्मित्व-वाग्मित्व-तेजस्वितादयः । यन्नीति—

'निकामं सक्तमनसा कान्तामुखविलोकने ।
गलन्ति गलिताश्रूणां यौवनेन सह श्रियः' [ ]

दंदह्यते—गर्हितं दहति । गर्हा चात्र लौकिकालौकिकगुणग्रामयोरविशेषेण भस्मीकरणादवतरति । तृण्यां—तृणसंहतिम् ॥७०॥

अथ आसंसारप्रवृत्तमैथुनसंज्ञासमुद्भूताखिलदुःखानुभवधिक्काराग्रतःसरन्तन्निग्रहोपायमावेदयन्नाह—

निःसंकल्पात्मसंविस्सुखरसशिखिनानेन नारीरिरंसा-
संस्कारेणाद्य यावद्धिगहमधिगतः किं किमस्मिन्न दुःखम् ।
तत्सद्यस्तत्प्रबोधच्छिदि सहजचिदानन्दनिष्यन्दसान्द्रे
मज्जाम्यस्मिन्निजात्मन्ययमिति विधमेत् काममुत्पित्सुमेव ॥७१॥

रसः—पारद । तत्प्रबोधच्छिदि—नारीरिरंसासंस्कारप्राकट्यापनोदके । विधमेत्—विनाशयेत् । उत्पित्सुं—उत्पत्त्यभिमुखम् ।

तथा चोक्तम्—

'शश्वद् सहदु खदानचतुरो वैरी मनोभूरयं
न ध्यानेन नियम्यते न तपसा संगेन न ज्ञानिनाम् ।
देहात्मव्यतिरेकबोधजनितं स्वाभाविकं निश्चलं
वैराग्यं परमं विहाय शमिनां निर्वाणदानक्षमम् ॥' [ ] ॥७१॥

आगे कहते हैं कि कामका वेग शीघ्र ही समस्त गुणोंको नष्ट कर देता है—

जैसे आग तृणोंके समूहको जलाकर भस्म कर देती है वैसे ही प्रज्वलित कामविकार कुल, शील, तप, विद्या, विनय आदि गुणोंके समूहको क्षण-भरमें नष्ट कर देता है ॥७०॥

विशेषार्थ—कामविकार मनुष्यके लौकिक और अलौकिक सभी गुणोंको नष्ट कर देता है। वंश-परम्परासे आये हुए आचरणको कुल कहते हैं। सदाचारको शील कहते हैं। मन और इन्द्रियोंके निरोधको तप कहते हैं। ज्ञानको विद्या कहते हैं। तपस्वी और ज्ञानीजनोंके प्रति नम्र व्यवहारको विनय कहते हैं। आदि शब्दसे प्रतिभा, स्मृति, तेजस्विता, आरोग्य, बल, वीर्य, लज्जा, दक्षता आदि लिये जाते हैं ॥७०॥

जबसे संसार है तभीसे मैथुन संज्ञा है। उससे होनेवाले समस्त दुःखोंके अनुभवसे जो उसके प्रति धिक्कारकी भावना रखनेमें अगुआ होता है उसे उसके निग्रहका उपाय बताते हैं—

निर्विकल्प स्वात्मानुभूतिसे होनेवाले सुखरूप रसको जलानेके लिए अग्निके तुल्य स्त्रीमें रमण करनेकी भावनासे आज तक मैंने इस संसारमें क्या क्या दुःख नहीं उठाये, मुझे धिक्कार है। इसलिए तत्काल ही स्त्रीमें रमण करनेकी भावनाके प्रकट होते ही उसका छेदन करनेवाले, स्वाभाविक ज्ञानानन्दके पुनः-पुनः प्राकट्यसे घनीभूत अपनी इस आत्मामें लीन होता हूँ। इस उपायसे उत्पत्तिके अभिमुख अवस्थामें ही कामका निग्रह करना चाहिए ॥७१॥

एवं कामदोषान् व्याख्याय इदानीं षड्भिः पद्यैः स्त्रीदोषान् व्याचिकीर्षुः तद्दोषज्ञातृत्वमुखेन पाण्डित्य-प्रकाशनाय मुमुक्षुमभिमुखीकुर्वन्नाह—

पत्यादीन् व्यसनार्णवे स्मरवशा या पातयत्यञ्जसा,
या रुष्टा न महत्त्वमस्यति परं प्राणानपि प्राणिनाम् ।
तुष्टाऽप्यत्र पिनष्टयमुत्र च नरं या चेष्टयन्तीष्टितो
दोषज्ञो यदि तत्र योषिति सखे दोषज्ञ एवासि तत् ॥७२॥

पिनष्टि—सचूर्णयति सर्वपुरुषार्थोपमर्दकरत्वात् । इष्टितः—स्वेच्छातः । दोषज्ञ एव—विद्वानेव ॥७२॥

विशेषार्थ—यह जीव अपने स्वरूपको नहीं जानता । इसने अनादिकालसे शरीरमें ही आत्मबुद्धि की हुई है । उसीके साथ अपना जन्म और मरण मानता है । फलतः पुद्गलमें इसकी आसक्ति बनी हुई है । जबतक इसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तबतक यह आसक्ति नहीं हट सकती और इस आसक्तिके हटे बिना मैथुन संज्ञासे छुटकारा नहीं हो सकता । अतः शरीर और आत्माके भेदज्ञान करानेकी सख्त जरूरत है । शरीरसे भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्माकी अनुभूतिके लिए शरीर और आत्माका भेदज्ञान आवश्यक है । वह होनेपर ही अपनी ओर उपयोग लगानेसे स्वात्मानुभूति होती है । किन्तु उस अनुभूतिकी बाधक है मैथुन संज्ञा । अत मैथुनकी भावनासे मनको हटाकर आत्मभावनामें मन लगानेके लिए आत्माके स्वरूपके प्रतिपादक ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिए । उससे ज्यों-ज्यों आत्माभिरुचि होती जायेगी त्यों-त्यों मैथुनकी रुचि घटती जायेगी और ज्यों-ज्यों मैथुनकी रुचि घटती जायेगी त्यों-त्यों आत्माभिरुचि बढ़ती जायेगी । यह आत्माभिरुचि ही स्वात्मानुभूतिकी पृष्ठभूमि है । उसके बिना ब्रह्मचर्य व्रत लेनेपर भी मैथुनकी भावनासे छुटकारा नहीं होता । इसीसे इस व्रतका नाम ब्रह्मचर्य 'आत्मामें आचरण' है ॥७१॥

पहले ब्रह्मचर्यकी वृद्धिके लिए स्त्रीवैराग्यकी कारण पाँच भावनाओंको भानेका उपदेश दिया था । उनमें-से कामदोष भावनाका व्याख्यान पूर्ण हुआ । आगे छह पद्योंसे स्त्री-दोष भावनाका कथन करते हुए मुमुक्षुको उनके जाननेको यह कहकर प्रेरणा करते हैं जो स्त्रियोंके दोषोंको जानता है वही पण्डित है—

जो स्त्री कामके वशमें होकर पति-पुत्र आदिको दुःखके सागरमें डाल देती है और सचमुचमें रुष्ट होनेपर प्राणियोंके महत्त्वका ही अपहरण नहीं करती किन्तु प्राणों तकका अपहरण कर डालती है । तथा सन्तुष्ट होनेपर भी अपनी इच्छानुसार चेष्टाएँ कराकर पुरुषको इस लोक और परलोकमें पीस डालती है । इसलिए हे मित्र ! यदि तुम स्त्रीके दोषोंको जानते हो तो तुम निश्चय ही दोषज्ञ—विद्वान् हो ॥७२॥

विशेषार्थ—जो वस्तुओंके यथार्थ दोषोंको जानता है उसे दोषज्ञ अर्थात् विद्वान् कहते हैं । यह बात प्रसिद्ध है । संस्कृत अमरकोशमें लिखा है—'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः' [२।७।५] अर्थात् विद्वान्, विपश्चिद्, दोषज्ञ ये विद्वान् पण्डितके नाम हैं । ग्रन्थकारका कहना है कि सभी दूषित वस्तुओंके दोषोंको जानकर भी यदि स्त्रीके दोषोंको नहीं जानता तो वह विद्वान नहीं है । किन्तु जो अन्य वस्तुओंके दोषोंको जानकर या नहीं जानकर भी यदि स्त्रीके दोषोंको जानता है तो वह विद्वान् है ॥७२॥

अथ स्त्रीणां निसर्गवञ्चकत्वेन दुःखैककारणत्वमुपदर्शयन् लोकस्य ततः स्वतश्च मुग्धत्वमुद्भावयति—

लोकः किन्नु विदग्धः किं विधिदग्धः स्त्रियं सुखाङ्गेषु ।
यद्धुरि रेखयति मुहुर्विश्रम्भं कृन्ततीमपि निकृत्या ॥७३॥

विधिदग्धः—दैवेन प्लुष्टः मतिभ्रष्टः कृतः । अथवा विधिर्विहिताचरणं दग्धोऽस्येति ग्राह्यम् । रेखयति—रेखायतां करोति गणयतीत्यर्थः । निकृत्या—वञ्चनया ॥७३॥

अथ स्त्रीचरित्रं योगिनामपि दुर्लक्षमिति लक्षयति—

परं सूक्ष्ममपि ब्रह्म परं पश्यन्ति योगिनः ।
न तु स्त्रीचरितं विश्वमतद्विद्यं कुतोऽन्यथा ॥७४॥

अतद्विद्यं—स्त्रीचरितज्ञानशून्यं महर्षिज्ञानपूर्वकत्वात् सर्वविद्यानाम् । श्लोकः—

'मायागेहं (ससन्देहं) नृशंसं बहुसाहसम् ।
कामार्थैः स्त्रीमनोलक्ष्यमलक्ष्यं योगिनामपि ॥' [ ] ॥७४॥

अथ स्त्रीणा दम्भादिदोषभूयिष्ठतया नरकमार्गाग्रेसरत्वं निवेदयन् दुर्दैवस्य तत्पथप्रस्थानसूत्रधारता प्रत्याचष्टे—

दोषा दम्भतमस्सु वैरगरलव्याली मृषोद्यातडिन्-
मेघाली कलहाम्बुवाहपटलप्रावृड् वृषोजोज्वरः ।
कन्दर्पज्वरदभ्रभालदृगसत्कर्मोमिमालानदी,
स्त्री श्वभ्राध्वपुरःसरी यदि नृणां दुर्दैव किं ताम्यसि ॥७५॥

आगे कहते हैं—स्त्रियाँ स्वभावसे ही ठक विद्यामें कुशल होनेसे एकमात्र दुःखकी ही कारण होती हैं फिर भी लोग उनके विषयमें सदा मूढ़ ही बने रहते हैं—

पता नहीं, संसारके प्राणी क्या व्यवहारचतुर हैं या दैवने उनकी मति भ्रष्ट कर दी है जो वे छलसे बार-बार विश्वासघात करनेवाली भी स्त्रीको सुखके साधनोंमें सबसे प्रथम स्थान देते हैं ॥७३॥

विशेषार्थ—विदग्धका अर्थ चतुर भी होता है और वि—विशेषरूपसे दग्ध अर्थात् अभागा भी होता है। इसीको लेकर ग्रन्थकारने लोगोंके साथ व्यंग किया है कि वे चतुर हैं या अभागे हैं ?

आगे कहते हैं कि स्त्रीका चरित्र योगियोंके लिए भी अगम्य है—

योगिजन अत्यन्त सूक्ष्म भी परम ब्रह्मको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जान लेते हैं किन्तु स्त्रीके चरितको नहीं जानते। यदि जानते तो यह विश्व स्त्रीचरितके ज्ञानसे शून्य क्यों रहता ? अर्थात् इस विश्वको जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ है वह योगियोंके द्वारा ही प्राप्त हुआ है। यतः संसार स्त्रीचरितको नहीं जानता। अतः प्रतीत होता है कि योगियोंको भी स्त्रीचरितका ज्ञान नहीं था ॥७४॥

आगे मायाचार आदि दोषोंकी बहुलताके कारण स्त्रियोंको नरकके मार्गका अग्रेसर बतलाते हुए दुर्दैवके नरकके मार्गमें ले जानेकी अगुआईका निराकरण करते हैं—

जो मायारूपी अन्धकारके प्रसारके लिए रात्रि है, वैररूपी विषके लिए सर्पिणी है, असत्यवादरूपी बिजलीके लिए मेघमाला है, कलहरूपी मेघोंके पटलके लिए वर्षाऋतु है,

---

१. कामान्धैः भ. कु. च.।

वृषौजोज्वरः—वृषो धर्मः स एव ओजः शुक्रान्तधातुपरमतेजः ।

'ओजस्तेजोधातूना शुक्रान्तानां परं स्मृतम्'

इत्यभिधानात् । तत्र ज्वरसंहर्तृत्वात् । तदुक्तम्—

'ज्वरो रोगपतिः पाप्मा मृत्युरोजोशनान्तकः ।
क्रोधो दक्षाध्वरध्वंसी रुद्रोर्ध्वनयनोद्भवः ॥' [अष्टाङ्गहृदय २।१] ॥७५॥

अथ स्त्रीणां रागद्वेषयोः परां कोटिमा[1]र्ष्टुमुपपत्ति दर्शयति—

व्यक्तं धात्रा भीरुसर्गावशेषौ रागद्वेषौ विश्वसर्गे विभक्तौ ।
यद्रक्ता स्वानप्यसून् व्येति पुंसे पुंसोऽपि स्त्री हन्त्यसून् द्राग्विरक्ता ॥७६॥

व्यक्त—अहमेवं मन्ये । भीरुसर्गः—स्त्रीसृष्टि । व्येति—विलभते ददातीत्यर्थः ॥७६॥

अथ सुचरितानां सदाचारविशुद्ध्यर्थं दृष्टान्तमुखेन स्त्रीचरितभावनामुपदिशति—

रक्ता देवरतिं सरित्यवनिपं रक्ताऽक्षिपत् पङ्गुके,
कान्तं गोपवती द्रवन्तमवधोच्छित्वा सपत्नीशिरः ।
शूलस्थेन मलिम्लुचेन दलितं स्वोष्ठं किलाख्यत्पति-
च्छिन्नं वीरवतीति चिन्त्यमबलावृत्तं सुवृत्तैः सदा ॥७७॥

रक्ता—राज्ञीसंज्ञेयम् । रक्ता—आसक्ता । द्रवन्तं—पलायमानं । मलिम्लुचेन—अंगारकनाम्ना चौरेण ॥७७॥

धर्मरूपी ओजके विनाशके लिए ज्वर है, कामज्वरके लिए शिवका तीसरा नेत्र है, पापकर्म-रूपी तरंगमालाके लिए नदी है ऐसी स्त्री यदि नरकके मार्गकी अगुआ है तो हे दुर्दैव, तू क्यों वृथा कष्ट उठाता है ? उक्त प्रकारकी नारीसे ही पुरुषोंका नरकमें प्रवेश निश्चित है ॥७५॥

स्त्रियोंमें राग और द्वेषकी चरम सीमा बतलानेके लिए उसकी उपपत्ति दिखाते हैं—

मैं ऐसा मानता हूँ कि सृष्टिको बनानेवालेने रागद्वेषमयी स्त्रीकी रचना करके शेष बचे रागद्वेषको विश्वकी रचनामें विभक्त कर दिया अर्थात् शेषसे विश्वकी रचना की। क्योंकि स्त्री यदि पुरुषसे अनुराग करती है तो उसके लिए धनादिकी तो बात ही क्या, अपने प्राण तक दे डालती है। और यदि द्वेष करती है तो तत्काल ही पुरुषके प्राण भी ले डालती है। इस तरह स्त्रीमें राग और द्वेषकी चरम सीमा है ॥७६॥

सम्यक् चारित्रका पालन करनेवालोंके सदाचारकी विशुद्धिके लिए दृष्टान्त रूपसे स्त्रीचरितकी भावनाका उपदेश देते हैं—

एक पैरहीन पुरुषपर अनुरक्त होकर रक्ता नामकी रानीने अपने पति राजा देवरति-को नदीमें फेंक दिया। गोपवतीने सौतका सिर काटकर भागते हुए पतिको मार डाला। सूलीपर चढ़े हुए अंगारक नामक चोरके द्वारा काटे गये ओष्ठको वीरवतीने अपने पतिके द्वारा काटा हुआ कहा। इस प्रकारके स्त्रीचरितका चरित्रवानोंको सदा विचार करना चाहिए ॥७७॥

---

१. -मादेष्टु—भ. कु. च. ।

अथ त्रयोदशभिः पद्यैः स्त्रीसंसर्गदोषान् व्याख्यातुकामस्तासामुपपत्तिपूर्वकं दूरपरिहार्यत्वमादावनुशास्ति—

सिद्धिः काऽप्यजितेन्द्रियस्य किल न स्यादित्यमुष्टोयत,
सुष्ट्वामुत्रिकसिद्धयेऽक्षविजयो वशैः स च स्याद् ध्रुवम् ।
चेतः संयमनात्तपःश्रुतवतोऽप्येतच्च तावद् भवेद्,
यावत्पश्यति नाङ्गनामुखमिति त्याज्याः स्त्रियो दूरतः ॥७८॥

कापि—ऐहिकी पारत्रिकी वा । अङ्गनामुखं—प्रशस्तमङ्गं यस्या साऽङ्गना, तस्या वक्त्रम् । उपपत्तिमात्रार्थमङ्गनाग्रहणं स्त्रीमात्रसंसर्गेऽपि सद्वृत्तविप्लवोपलम्भात् । अत एव त्याज्या. स्त्रिय इति सामान्येनोक्तम् ।

'द्वयमेव तपःसिद्धा बुधाः कारणमूचिरे ।
यदनालोकनं स्त्रीणां यच्च संग्लापनं तनोः ॥' [यशस्तिलक १।८१] ॥७८॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना गा. ९४९, ५०, ५१ में उक्त दृष्टान्त[1] आते हैं । यथा—'साकेत नगरीका राजा देवरति अपनी रानी रक्तामें अति आसक्तिके कारण राज्यसे निकाल दिया गया । मार्गमें रक्ता एक पंगुल गायकपर आसक्त हो गयी और उसने अपने पतिको छलसे नदीमें डुबो दिया ॥ गोपवती बड़ी ईर्ष्यालु थी । उसका पति सिंहबल उससे पीड़ित होकर चला गया और उसने वहाँ अपनी शादी कर ली । गोपवतीने जाकर अपनी सपत्नीका सिर काट लिया । और जब उसका पति लौटकर आया तो उसे भी मार डाला ॥ वीरमती एक चोरपर आसक्त थी । राजाने चोरको सूली दे दी । रातमें उठकर वीरमती चोरसे मिलने गयी और चोरने उसका ओठ काट लिया । दिन निकलने पर उसने हल्ला किया कि मेरे पतिने मेरा ओठ काट लिया । राजाने उसके पतिको प्राणदण्ड दिया । किन्तु पतिके मित्रने यह सब चरित्र देखा था उसने राजासे कहा । तब उसका पति बचा ।' ये तीनों कथाएँ हरिषेण रचित कथाकोशमें क्रमसे ८५, ८६, ८७ नम्बरपर हैं ॥७७॥

आगे ग्रन्थकार तेरह पद्योंसे स्त्री-संसर्गके दोष कहना चाहते हैं । सबसे प्रथम उपपत्तिपूर्वक उन स्त्रियोंको दूरसे ही त्यागनेकी सलाह देते हैं—

आगममें कहा है—जिसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें नहीं हैं उसे कोई भी इस लोक सम्बन्धी या परलोक सम्बन्धी इष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं होती । इसलिए परलोकमें अर्थकी सिद्धिके लिए उसके साधनमें तत्पर चतुर मनुष्य अच्छी तरहसे इन्द्रियोंको जीतते हैं । इन्द्रियोंका जय मनके निरोधसे होता है । किन्तु तपस्वी और ज्ञानी पुरुषोंका भी मनोनिरोध तब होता है जब वह स्त्रीका मुख नहीं देखता । अतः मुमुक्षुओंको दूरसे ही स्त्रियोंका त्याग करना चाहिए ॥७८॥

1. 'साकेतपुराधिवदी देवरदी रज्ज-सुक्ख-पब्भट्टो ।
पंगुलहेदुं छूडो णदीए रत्ताए देवीए ॥
ईसालुयाए गोववदीए गामकूटधूदिया सीसं ।
छिण्णं पहदो तध भल्लएण पासम्मि सिंहबलो ॥
वीरमदीए सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाय वाणियओ ।
पहदो दत्तो य तहा छिण्णो ओट्ठोत्ति आलविदो' ॥

अथ कामिनीकटाक्षनिरीक्षणादिपरम्परया पुंसस्तन्मयत्वपरिणतिमावेदयति—

सुभ्रूविभ्रमसंभ्रमो भ्रमयति स्वान्तं नृणां धूर्तवत्,
तस्माद् व्याधिभरादिवोपरमति व्रीडा ततः शाम्यति ।
शङ्का वह्निरिवोदकात्तत इवैत्यस्यां गुरोः स्वात्मवद्,
विश्वासः प्रणयस्ततो रतिरलं तस्मात्ततस्तल्लयः ॥७९॥

सुभ्रूविभ्रमसभ्रमः—शोभने दर्शनमात्रान्मनोहरणक्षमे भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूस्तस्या बिभ्रमो रागोद्रेकाद् भ्रूपर्यन्तविक्षेप, तत्र सभ्रमो निरीक्षणादरः । भ्रमयति—अन्यथावृत्ति करोति व्याकुलयति वा । धूर्तवत्—धत्तूरकोपयोगो यथा । शङ्का—भयम् । 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' इत्यभिधानात् । गुरोः—अध्यात्मतत्त्वोपदेशकात् । स्वात्मवत्—निजात्मनि यथा ॥७९॥

विशेषार्थ—आचार्य सोमदेवने कहा है—'जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं उसका कार्य सिद्ध नहीं होता' । तथा और भी कहा है—'विद्वानोंने तपकी सिद्धिमें दो ही कारण कहे हैं—एक स्त्रियोंको न ताकना और दूसरा शरीरको कृश करना । जिसके अंग सुन्दर होते है उसे अंगना कहते हैं । अत. 'अंगना' का ग्रहण तो उपपत्ति मात्रके लिए है' । स्त्री मात्रके संसर्गसे भी सदाचारमें गड़बड़ी देखी जाती है ॥७८॥

आगे कहते हैं कि स्त्रीके कटाक्ष आदिको देखते-देखते मनुष्य तन्मय हो जाता है—

जिस स्त्रीकी भौं देखने मात्रसे मनको हर लेती है उसे सुभ्रू कहते हैं । जब वह रागके उद्रेकसे भौं चढ़ाकर दृष्टिपात करती है तो उसको रागपूर्वक देखनेसे मनुष्योंका मन वैसा ही भ्रमित हो जाता है जैसा धतूरा खानेसे होता है । मनके भ्रमित होनेसे वैसे ही लज्जा चली जाती है जैसे रागके आधिक्यमें लज्जा नहीं रहती । लज्जाके चले जानेसे वैसे ही भय चला जाता है जैसे पानीसे आग । कहा भी है कि काम-पीड़ितोंको न भय रहता है न लज्जा रहती है । भय शान्त हो जानेसे कामीको स्त्रीमें वैसा ही विश्वास उत्पन्न होता है जैसा गुरुके उपदेशसे उसकी अध्यात्मवाणीको सुनकर अपनी आत्मामें श्रद्धा उत्पन्न होती है । और जैसे गुरुके उपदेशसे अपनी आत्मामें रुचि होती है वैसे ही स्त्रीमें विश्वास उत्पन्न होनेसे उससे प्रेमपरिचय होता है तथा जैसे गुरुके उपदेशसे आत्मामें रुचि होनेके बाद आत्म रति होती है वैसे स्त्रीसे प्रेमपरिचय होनेपर रति होती है । और जैसे गुरुके उपदेशसे आत्मरतिके पश्चात् वह आत्मामें लय हो जाता है वैसे ही कामी स्त्री रति होनेपर उसीमें लय हो जाता है ॥७९॥

विशेषार्थ—यहाँ स्त्रीमें विश्वास, प्रणय, रति और लयको क्रमसे आत्मामें विश्वास, प्रणय, रति और लयकी उपमा दी है । दोनों दो छोर हैं—एक रागका है और दूसरा विरागका । रागकी चरम परिणति स्त्रीके साथ रतिके समयमें होनेवाली तल्लीनता है । उस समय भी यह विवेक नहीं रहता कि यह कौन है, मैं कौन हूँ और यह सब क्या है । इसीसे काव्य-रसिकोंने उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है । आचार्य जयसेनने समयसारकी टीकामें सम्यग्-दृष्टिके स्वसंवेदनको वीतराग स्वसंवेदन कहा है । इसपर-से यह शंका की गयी कि क्या स्वसंवेदन सराग भी होता है जो आप स्वसंवेदनके साथ वीतराग विशेषण लगाते हैं ? उत्तरमें आचार्यने कहा है कि विषयानन्दके समय होनेवाला स्वसंवेदन सराग है । उसीसे निवृत्तिके लिए वीतराग विशेषण लगाया है । उसी सबको दृष्टिमें रखकर यहाँ ग्रन्थकारने

अथ कामिनीकटाक्षनिरीक्षणस्यापातमात्ररमणीयत्वपरिणामात्यन्तदारुणत्वे वक्रभणित्युपपत्त्या प्रतिपादयति—

चक्षुस्तेजोमयमिति मतेऽप्यन्य एवाग्निरक्ष्णो-
रेणाक्षीणां कथमितरथा तत्कटाक्षाः सुधावत् ।
लीढा दृग्भ्यां ध्रुवमपि चरद् विष्वगप्यप्यणीयः,
स्वान्तं पुंसां पविवहनवद्‌दग्धुमन्तर्ज्वलन्ति ॥८०॥

मते—चक्षुस्तैजसं रश्मिवत्त्वात्प्रदीपवदिति वैशेषिकदर्शने । अपिशब्दादभ्युपगमसिद्धान्ताश्रयणेन विचार्यमाण इति लक्षयति । अन्य एव—भासुररूपोष्णस्पर्शगुणयोगित्वसंयुक्तबाह्यस्थूलस्थिरमूर्तद्रव्यदाहित्वलक्षणादग्नेर्विलक्षण एव । लीढाः—आस्वादिताः । सतर्षमालोकिता इत्यर्थः । ध्रुवमपि—नित्यरूपतयाऽविकार्यमपि । चरद्विष्वगपि—समन्ताद् भ्रमदपि । तदुक्तम्—

'क्रियाऽन्यत्र क्रमेण स्यात्, कियत्स्वेव च वस्तुषु ।
जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया ॥' [सोम उपा ३४५ श्लोक]

अप्यणीयः—परमाणोरप्यतिशयेन सूक्ष्मं योगिभिरपि दुर्लक्षत्वात् ॥८०॥

उक्त उपमा दी है ऐसा प्रतीत होता है। पं. आशाधरने टीकामें 'गुरु'का अर्थ अध्यात्म तत्त्वका उपदेशक किया है। अध्यात्म तत्त्वका उपदेश सुने बिना न अपनी आत्माका बोध होता है और न श्रद्धा। श्रद्धाके पश्चात् ही आत्माके प्रति रुचि बढ़ती है। रुचि बढ़ते-बढ़ते रति पैदा हो जाती है। जैसे रागी स्त्रीरतिके लिए घर-द्वार सब भुला बैठता है और स्त्रीके लिए मजनू बन जाता है। वैसे ही आत्मरतिके पीछे मनुष्य विरागी बनकर घर-द्वारको तिलांजलि देकर केवल अपने शरीरके सिवा सब कुछ छोड़कर निकल पड़ता है, वनमें और एकान्तमें आत्मरतिमें निमग्न होकर उसीमें लय हो जाता है। रागी भी यही सब करता है किन्तु अपनेको ही भुला बैठता है वह परके पीछे दीवाना होता है। विरागी 'स्व' के पीछे दीवाना होता है। इतना ही अन्तर है भोगी और योगीमें ॥७९॥

कामिनियोंके कटाक्षका अवलोकन प्रारम्भमें ही मनोरम लगता है किन्तु परिणाममें अत्यन्त भयानक है, यह बात वक्रोक्तिके द्वारा कहते हैं—

चक्षु तैजस है। इस वैशेषिक मतमें भी कामिनियोंके लोचनोंमें भास्वररूप और उष्ण स्पर्श-गुणवाली अग्निसे कोई भिन्न ही आग रहती है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्योंके नेत्रोंके द्वारा अमृतकी तरह पान किये गये उनके कटाक्ष मनुष्योंके नित्य और अलात चक्रकी तरह सर्वत्र घूमनेवाले अणुरूप भी मनको वज्राग्निकी तरह जलानेके लिए क्यों आत्माके भीतर प्रज्वलित होते ॥८०॥

विशेषार्थ—वैशेषिक दर्शन चक्षुको तैजस मानता है और तेज अर्थात् अग्नि गर्म होती है, जलाती है। तथा मनको अणुरूप नित्य द्रव्य मानता है। यतः वैशेषिक दर्शनमें आत्मा व्यापक है और मन अणुरूप है अतः मन आत्मासे सम्बद्ध होते हुए अलात चक्रकी तरह घूमता रहता है। यह सब उनकी मान्यता है। उसीको लेकर ग्रन्थकारने व्यंग किया है कि स्त्रियोंके नेत्र भी तैजस हैं किन्तु उनकी विचित्रता यह है कि मनुष्य उन्हें अमृत मानकर अपनी आँखोंसे पी जाते हैं जबकि बाह्य अग्निको पीना सम्भव नहीं है। किन्तु पीनेके बाद मनुष्यका मन कामिनीके वियोगमें जला करता है अतः कामिनीकी आँखोंमें इस बाह्य आगसे भिन्न कोई दूसरी ही आग बसती है ऐसा लगता है ॥८०॥

अथ कामिन्याः कटाक्षनिरीक्षणद्वारेण तत्क्षणान्नरहृदये स्वरूपाभिव्यक्तिकर्तृत्वशक्तिं विदग्धोक्त्या प्रकटयति—

हृद्यभिव्यञ्जती सद्यः स्वं पुंसोऽपाङ्गवल्गितैः ।
सत्कार्यवादमाहत्य कान्ता सत्यापयत्यहो ॥८१॥

सत्कार्यवादं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥' [साख्यका. ९]

इति साख्यमतम् । आहत्य—हठात् न प्रमाणबलात् । सत्यापयति—सत्यं करोति । अहो—कष्टमाश्चर्यं वा ॥८१॥

अथ कामिनीकटाक्षनिरीक्षणपराणां युक्तायुक्तविवेचनशून्यतां प्रभूता भवानुबन्धिनी वक्रभणित्योपपादयति—

नूनं नृणां हृदि जवान्निपतन्नपाङ्गः
स्त्रीणां विषं वमति किञ्चिदचिन्त्यशक्ति ।
नो चेत्कथं गलितसद्गुरुवाक्यमन्त्रा
जन्मान्तरेष्वपि चकास्ति न चेतनान्तः ॥८२॥

गलितः—प्रच्युतो भ्रष्टप्रभावो वा जातः ॥८२॥

कटाक्ष निरीक्षणके द्वारा तत्काल ही मनुष्यके हृदयमें अपने स्वरूपको अभिव्यक्त करनेकी शक्ति कामिनीमें है यह बात विदग्धोक्तिके द्वारा बतलाते हैं—

यह बड़ा खेद अथवा आश्चर्य है कि अपने नेत्रोंके कटाक्षोंके द्वारा पुरुषके हृदयमें अपनेको अभिव्यक्त करती हुई कामिनी बिना प्रमाणके ही बलपूर्वक सांख्यके सत्कार्यवादको सत्य सिद्ध करती है ॥८१॥

विशेषार्थ—सांख्यदर्शन कार्यकी उत्पत्ति और विनाश नहीं मानता, आविर्भाव और तिरोभाव मानता है। उसका मत है कि कारणमें कार्य पहलेसे ही वर्तमान रहता है, बाह्य सामग्री उसे व्यक्त करती है। उसका कहना है कि असत्की उत्पत्ति नहीं होती, कार्यके लिए उसके उपादानको ही ग्रहण किया जाता है जैसे घटके लिए मिट्टी ही ली जाती है, सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती, निश्चित कारणसे ही निश्चित कार्यकी उत्पत्ति होती है, जो कारण जिस कार्यको करनेमें समर्थ होता है वह अपने शक्य कार्यको ही करता है तथा कारणपना भी तभी बनता है जब कार्य सद्रूप है अतः कार्य सद्रूप ही है। इसी सिद्धान्तको लेकर ग्रन्थकार कहते हैं—कामी मनुष्य स्त्रीको देखते ही उसके ध्यानमें तन्मय हो जाता है इससे सांख्यका सत्कार्यवाद बिना युक्तिके भी स्त्री सिद्ध कर देती है ॥८१॥

जो मनुष्य कामिनियोंके कटाक्षका निरीक्षण करनेमें तत्पर रहते हैं वे अनेक भवों तक युक्तायुक्तके विचारसे शून्य हो जाते हैं यह बात वक्रोक्तिके द्वारा कहते हैं—

मैं ऐसा मानता हूँ कि मनुष्योंके हृदयमें चक्षुके द्वारा प्रतिफलित स्त्रियोंका कटाक्ष एक अलौकिक विषको उगलता है जिसकी शक्ति विचारसे परे है। यदि ऐसा न होता तो उसी भवमें ही नहीं, किन्तु अन्य भवोंमें भी उसमें चेतनाका विकास क्यों नहीं होता और क्यों सद्गुरुओंके वचनरूपी मन्त्र अपना प्रभाव नहीं डालते ॥८२॥

अथ संयमसेविनां चित्तं येन तेन निरीक्षणवचनादिप्रकारेणान्तर्निपत्य स्त्रिया विकार्यमाणं दुःशकप्रतीकारं भवतीति भीत्युत्पादनमुखेन सुतरां तत्परिहारे तान् जागरयति—

चित्रमेकगुणस्नेहमपि संयमिनां मनः ।
यथा तथा प्रविश्य स्त्री करोति स्वमयं क्षणात् ॥८३॥

एकगुणस्नेहं—उत्कृष्टगुणानुरागमेकत्वरसिकं वा विरोधाभासपक्षे तु 'न जघन्यगुणानाम्' इत्यभिधानात् एकगुणस्नेहस्य केनापि सह संबन्धो न स्यादिति द्रष्टव्यम् ॥८३॥

अथाल्पशोऽपि स्त्रीसम्पर्कः संयतस्य स्वार्थभ्रंशकरोतीति शिक्षार्थमाह—

कणिकामपि कर्कट्या गन्धमात्रमपि स्त्रियाः ।
स्वादुशुद्धां मुनेश्चित्तवृत्तिं व्यर्थीकरोत्यरम् ॥८४॥

अल्पमप्यालोकनस्पर्शनवचनादिकं पक्षे घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः । पक्षद्वयेऽप्यसावेव वा । स्वादु शुद्धां—सानन्दवीतरागा मधुरशुभ्रां च । व्यर्थीकरोति—विगतो विरुद्धो वाऽर्थः प्रयोजनं कर्मक्षपणं मण्डकाद्युत्पादश्च यस्या सा व्यर्था ॥८४॥

अथ स्त्रीसागत्यदोषं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह—

विशेषार्थ—सच्चे मान्त्रिकोंके मन्त्रोंके प्रभावसे सर्प-विष उतर जाता है और मनुष्य होशमें आ जाता है किन्तु स्त्रीके कटाक्षरूपी सर्पसे डँसा हुआ मनुष्य भव-भवमें ज्ञानशून्य बना रहता है, उसपर सच्चे गुरुओंके उपदेशका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता ॥८३॥

संयमका पालन करनेवाले संयमियोंका मन भी अवलोकन-भाषण आदि किसी भी प्रकारसे भीतर घुसकर स्त्रियाँ ऐसा विकृत कर देती हैं कि उसका प्रतीकार बहुत ही कठिन हो जाता है। इस प्रकारका भय उत्पन्न करके उनका बहुत ही उचित परिहार करनेके लिए सावधान करते हैं—

संयमियोंका मन एकगुणस्नेह है फिर भी आश्चर्य है कि स्त्री जिस-किसी तरह उसमें प्रवेश करके क्षणभरमें ही अपने रूप कर लेती है ॥८३॥

विशेषार्थ—संयमियोंके मनमें सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें उत्कृष्ट अनुराग होता है अथवा वे आत्माके एकत्वके रसिक होते हैं इसलिए उनके मनको 'एकगुणस्नेह' कहा है। यह तो यथार्थ ही है इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रके पाँचवें अध्यायमें कहा है—'न जघन्य गुणानाम्'। जघन्य अर्थात् एक स्निग्ध या रूक्ष गुणवाले परमाणुका बन्ध नहीं होता। और संयमीका मन एकगुणस्नेहवाला है फिर भी उसको स्त्री अपने रूप कर लेती है, यही आश्चर्य है। इसे साहित्यमें विरोधाभास नामक अलंकार कहते हैं ॥८३॥

आगे शिक्षा देते हैं कि थोड़ा-सा भी स्त्री-सम्पर्क संयमोंके स्वार्थका विनाश कर देता है—

जैसे कर्कटीकी गन्धमात्र गेहूँके स्वादु और शुद्ध आटेको व्यर्थ कर देती है फिर उससे स्वादिष्ट मण्डे आदि नहीं बन सकते। उसी तरह स्त्रीकी गन्धमात्र भी—उसका देखना, स्पर्शन और वचन मात्र भी मुनिकी सानन्द वीतराग चित्तवृत्तिको तत्काल ही व्यर्थ कर देती है। फिर उससे कर्मोंका क्षपणरूप कार्य नहीं होता ॥८४॥

स्त्रीसंगतिके दोषोंको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

सत्त्वं रेतश्छलात् पुंसां घृतवद् द्रवति द्रुतम् ।
विवेकः सूतवक्वापि याति योषाग्नियोगतः ॥८५॥

सत्त्वं—मनोगुणः । द्रवति—विलीयते ॥८५॥

अथ कामिनीचेष्टाविशेषो महामोहावेशं करोतीति वक्रभणित्या बोधयति—

वैदग्धीमयनर्मवक्रिमचमत्कारक्षरत्स्वादिमाः
सभ्रूलास्यरसाः स्मितद्युतिकिरो दूरे गिरः सुभ्रुवाम् ।
तच्छ्रोणिस्तनभारमन्थरगमोद्दामक्वणन्मेखला,
मञ्जीराकुलितोऽपि मङ्क्षु निपतेन्मोहान्धकूपे न कः ॥८६॥

वैदग्धी—रसिकचेष्टा । स्वादिमा—माधुर्यम् । लास्यं—मसृणनृत्यम् । स्मितद्युतिकिरः—ईषद्धसितकान्तिप्रस्तारिण्य. ॥८६॥

अथ स्त्रीसंकथादोषं कथयति—

सम्यग्योगाग्निना रागरसो भस्मीकृतोऽप्यहो ।
उज्जीवति पुनः साधोः स्त्रीवाक्सिद्धौषधीबलात् ॥८७॥

योगः—समाधि. प्रयोगश्च । रसः—पारदः ॥८७॥

अथोत्तमस्त्रीपरिरम्भानुभावं भावयति—

पश्चाद् बहिर्वरारोहादोःपाशेन तनीयसा ।
बध्यतेऽन्तः पुमान् पूर्वं मोहपाशेन भूयसा ॥८८॥

स्त्री अग्निके तुल्य है। जैसे अग्निके सम्पर्कसे तत्काल घी पिघलता है और पारा उड़ जाता है वैसे ही स्त्रीके सम्पर्कसे मनुष्योंका मनोगुण सत्त्व वीर्यके छलसे विलीन हो जाता है और युक्त-अयुक्तका विचारज्ञान न जाने कहाँ चला जाता है ॥८५॥

कामिनियोंकी विशेष चेष्टाएँ महामोहके आवेशको उत्पन्न करती हैं यह बात वक्रोक्तिके द्वारा समझाते हैं—

रसिक चेष्टामय परिहास और कुटिलतासे आश्चर्यके आवेशमें माधुर्यको बहानेवाली, भ्रकुटियोंके कोमल नर्तनके रससे युक्त और मन्द-मन्द मुसकराहटकी किरणोंको इधर-उधर बिखेरनेवाली, कामिनियोंकी वाणीसे तो दूर ही रहो, वे तो मोक्षमार्गकी अत्यन्त प्रतिबन्धिनी हैं ही, उनके कटि और स्तनके भारसे मन्द-मन्द गमन करनेसे बेरोक शब्द करनेवाली करधनी और पायलोंसे आकुल हुआ कौन मनुष्य तत्काल ही मोहरूपी अन्धकूपमें नहीं गिरता। अर्थात् मुमुक्षुको स्त्रीसे वार्तालाप तो दूर, उनके शब्द-श्रवणसे भी बचना चाहिए ॥८६॥

स्त्रियोंसे वार्तालाप करनेके दोष बतलाते हैं—

आश्चर्य है कि जैसे अग्निसे भस्म हुआ भी पारा उसको जिलानेमें समर्थ औषधिके बलसे पुनः उज्जीवित हो जाता है वैसे ही समीचीन समाधिके द्वारा भस्म कर दिया गया भी साधुका राग स्त्रीके साथ बातचीत करनेसे पुनः उज्जीवित हो जाता है ॥८७॥

कामिनीके आलिंगनका प्रभाव बतलाते हैं—

पहले तो पुरुष अपनी आत्मामें बड़े भारी मोहपाशसे बँधता है। मोहपाशसे बँधनेके पश्चात् बाहरमें सुन्दर स्त्रीके कोमल बाहुपाशसे बँधता है। अर्थात् अन्तरंगमें मोहका उदय

वरारोहा—वर उत्कृष्ट आरोहो नितम्बोऽस्या असौ, उत्तमस्त्रीत्यर्थः। भूयसा—बहुतरेण ॥८८॥

अथ स्त्रीदृष्ट्यादिदोषानुपसंगृह्णन्नाह—

दृष्टिविषदृष्टिरिव दृक् कृत्यावत् संकथाग्निवत्संगः।
स्त्रीणामिति सूत्रं स्मर नामापि ग्रहवदिति च वक्तव्यम् ॥८९॥

दृष्टिविषः—सर्पविशेषः। कृत्यावत्—विद्याविशेषो यथा। सूत्रं—नानार्थसूत्रकत्वात्। वक्तव्यं—सूत्रातिरिक्तं वचनम्, एकार्थपरत्वात् ॥८९॥

अथ स्त्रीप्रसंगदोषानुपसंहरन्नाह—

किं बहुना चित्राविस्थापितरूपापि कथमपि नरस्य।
हृदि शाकिनीव तन्वी तनोति संक्रम्य वैकृतशतानि ॥९०॥

वैकृतशतानि। तानि च—

'खद्धो खद्धो पभणइ लुंचइ सीसं न याणए किं पि।
गयचेयणो हु विलवइ उड्ढं जोएइ अह ण जोएइ ॥' [ ]

इत्यादीनि मन्त्रमहोदधौ शाकिन्या[1] स्त्रियास्तु प्रागुक्तिरिति ॥९०॥

होनेपर ही मनुष्य स्त्रीके प्रति आकृष्ट होकर उसकी कोमल बाहुओंके बन्धनमें बँधता है। शरीरके इस तुच्छ बन्धनसे आत्माका मोहबन्धन बलवान् है। उससे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥८८॥

आगे स्त्री दृष्टि आदिके दोषोंको बतलाते हैं—

हे साधु! इस सूत्रवाक्यको स्मरण रखो कि स्त्रीकी दृष्टि दृष्टिविष सर्पकी दृष्टिकी तरह है। उनके साथ बातचीत कृत्या नामक मारण विद्याकी तरह है। उनका संग अग्निकी तरह है। तथा इस वक्तव्यको भी याद रखो कि उनका नाम भी भूतकी तरह है ॥८९॥

विशेषार्थ—जिस वाक्यसे अनेक अर्थोंका सूचन होता है उसे सूत्र कहते हैं। ब्रह्मचारीके लिए भी कुछ सूत्र वचन सदा स्मरणीय हैं, उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए। जैसे दृष्टिविष—जिसकी आँखमें विष होता है उसे दृष्टिविष कहते हैं। उसकी दृष्टिसे ही मनुष्यका बल क्षीण हो जाता है। स्त्रीकी दृष्टि भी ऐसी ही घातक है। जैसे मारणविद्या मनुष्योंके प्राणोंको हर लेती है उसी तरह स्त्रीके साथ संभाषण साधुके संयमरूपी प्राणको हर लेता है। तथा जैसे अग्निका संसर्ग जलाकर भस्म कर देता है वैसे ही स्त्रीका संग साधुके संयमरूपी रत्नको जलाकर राख कर देता है। अतः स्त्रीकी दृष्टिसे, उसके साथ संभाषणसे उसके संसर्गसे दूर ही रहना चाहिए। इसके साथ ही इतना वक्तव्य और भी याद रखना चाहिए कि स्त्रीकी दृष्टि आदि ही नहीं, उनका नाम भी भूतकी तरह भयानक है ॥८९॥

आगे स्त्रीके संसर्गसे होनेवाले दोषोंका उपसंहार करते हैं—

अधिक कहनेसे क्या? चित्र, काष्ठफलक आदिमें अंकित स्त्री भी किसी भी प्रकारसे शाकिनीकी तरह मनुष्यके हृदयमें प्रवेश करके सैकड़ों विकारोंको उत्पन्न करती है ॥९०॥

---

१. -न्याः कथितानि। स्त्रियास्तु प्राक्प्रबन्धेन—भ. कु. च.।

अथैवं स्त्रीसंसर्गदोषान् व्याख्यायेदानीं पञ्चभिर्वृत्तैस्तदशुचित्वं प्रपञ्चयिष्यन् सामान्यतस्तावत्केशपाशवक्त्राकृतीनामाहार्यरामणीयकसद्योविपर्याससंपादकत्वं मुमुक्षूणां निर्वेदनिदानत्वेन मुक्त्युद्योगानुगुणं स्यादित्यासूत्रयति—

गोगर्मुद्व्यजनैकवंशिकमुपस्कारोज्ज्वलं कैशिकं,
पादूकृद्गृहगन्धिमास्यमसकृत्ताम्बूलवासोत्कटम् ।
मूर्तिश्चाजिनकृद्दृतिप्रतिकृतिं संस्काररम्या क्षणाद्,
व्यांजिष्यन्न नृणां यदि स्वममृते कस्तर्ह्युदस्थास्यत ॥९१॥

गवित्यादि—गवामनड्वाहीनां गर्मुतो मक्षिकास्तासां व्यजन विक्षेपणं तालवृन्तम । तस्यैकवंशिकं सगोत्र जुगुप्सास्पदत्वात् । स्वमात्मानं यदि न व्यांजिष्यदिति गत्वा संबन्धः कर्तव्यः । एकः समानो वंशोऽन्वयोऽस्यास्तीति विगृह्य 'एकगोपूर्वाट्ठञ्नित्यम्' इति ठञ् । उपस्कारोज्ज्वलं—उपस्कारेण अभ्यङ्गस्नानधूपनादिप्रतियत्नेन । उज्ज्वलं—दीप्तम् । कैशिकविशेषणमिदम् । कैशिकं—केशसमूहः । पादूकृद्गृहगन्धि—पादूकृतश्चर्मकारस्य गृहस्येव गन्धोऽस्येति । पूर्ववत् 'स्वम्' इत्यस्य विशेषणम् । अजिनेत्यादि—अजिनकृतश्चर्मकारस्य दृति रज्यमाना खल्वा तत्प्रतिमम् । इदमपि स्वमित्यस्यैव विशेषणम् । व्यांजिष्यत्—प्रकटमकरिष्यत् । स्वं—आत्मानम् । उदस्थास्यत—उद्यममकरिष्यत ॥९१॥

अथ कामान्धस्य स्वोत्कर्षसंभावनं धिक्कुर्वन्नाह—

[1]कुचौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्यभिसरन्-
सुधास्यन्दीत्यङ्गप्रणमुखमसृक्श्लेष्मकलुषम् ।

इस प्रकार स्त्रीसंगके दोषोंको कहकर अब पाँच पद्योंसे उनकी अशुचिताको कहना चाहते हैं। पहले सामान्यसे स्त्रियोंके केशपाश, मुख और शरीरको ऊपरी उपायोंसे सुन्दर किन्तु शीघ्र ही बदसूरत बतलाते हैं जिससे मुमुक्षु उनसे विरक्त होकर मुक्तिके उद्योगमें लगें—

स्त्रियों और पुरुषोंका केशसमूह गाय और बैलोंकी मक्खियाँ भगानेवाली पूँछके बालोंके ही वंशका है, दोनोंका एक ही कुल है। किन्तु तेल, साबुन-स्नान आदिसे उन्हें चमकाकर स्त्री पुरुषोंके सामने और पुरुष स्त्रियोंके सामने उपस्थित होते हैं। मुख चर्मकारके घरकी तरह दुर्गन्धयुक्त है। किन्तु उसे बार-बार ताम्बूलकी सुबाससे वासित करके स्त्री और पुरुष परस्परमें एक दूसरेके सामने उपस्थित होते हैं। शरीर चर्मकारकी रँगी हुई मशकके समान है। किन्तु उसे भी स्नान, सुगन्ध आदिसे सुन्दर बनाकर स्त्री और पुरुष परस्परमें एक दूसरेके सामने उपस्थित होते हैं। किन्तु यह बनावट क्षण-भरमें ही विलीन हो जाती है और केशपाश, मुख और शरीर अपनी स्वाभाविक दशामें प्रकट हो जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो मोक्षके विषय में कौन उद्यम करता अर्थात् मोक्षमार्गमें कोई भी न लगता ॥९१॥

कामान्ध पुरुषके अपनेको महान् समझनेकी भावनाका तिरस्कार करते हैं—

---

१. 'स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ ।
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ॥
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरशिरःस्पर्धि जघनं
मुहुर्निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥'—वैराग्यश. १६ श्लो. ।

पिबन्नोष्ठं गच्छन्नपि रमणमित्यार्तवपथं,
भगं धिक् कामान्धः स्वमनु मनुते स्वःपतिमपि ॥९२॥

अभिसरन्—आलिङ्गन् । अङ्केत्यादि—अङ्कं व्रणमिवाशुचिरूपत्वात् तस्य मुखं द्वारं यन्मुखं वक्त्रं तस्य क्लेदेन क्वाथेन कलुषं कश्मलम् । गच्छन्—उपभुञ्जानः । आर्तवपथं—रजोवाहियोनिरन्ध्रम् । स्वमनु—आत्मनः सकाशाद्धीनम् ॥९२॥

अथ स्त्रीशरीरेऽनुरज्यन्त्यां दृष्टौ सद्यस्तत्स्वरूपपरिज्ञानोन्मेष एव मोहोच्छेदाय स्यादित्यावेदयति—

रेतःशोणितसंभवे बृहदणुस्रोतःप्रणालीगल-
द्गर्होद्गारमलोपलक्षितनिजान्तर्भागभाग्योदये ।
तन्वङ्गीवपुषीन्द्रजालवदलं भ्रान्तौ सजन्त्यां दृशि,
प्रागुन्मीलति तत्त्वदृग् यदि गले मोहस्य दत्तं पदम् ॥९३॥

बृंहन्ति—नासागुदादिरन्ध्राणि, अणूनि—रोमकूपविवराणि । गर्होद्गाराः—जुगुप्सोद्भावकाः । मलाः—श्लेष्मविण्मूत्रप्रस्वेदादयः । भाग्योदयः—विपरीतलक्षणया पुण्यविपाकः । अलंभ्रान्तौ—भ्रान्तये विभ्रमायालं समर्थम् । 'तिकुप्रादयः' इति समासः ॥९३॥

अथ स्त्रीशरीरस्याहारवस्त्रानुलेपनादिप्रयोगेणैव चारुत्वं स्यादिति प्रौढोक्त्या व्यञ्जयति—

वर्चःपाकचरुं जुगुप्स्यवसतिं प्रस्वेदधारागृहं,
बीभत्सैकविभावभावनिवहैर्निर्माय नारीवपुः ।
वेधा वेद्मि सरीसृजीति तदुपस्कारैकसारं जगत्
को वा क्लेशमवैति शर्मणि रतः संप्रत्ययप्रत्यये ॥९४॥

कामसे अन्धा हुआ मनुष्य मांसकी ग्रन्थिरूप स्त्रीके स्तनोंको सोनेके कलश मानकर उनका आलिंगन करता है। जो मुख शरीरके घावके बहनेका द्वार जैसा है उसके कफ आदि-से दूषित हुए स्त्रीके ओष्ठको अमृतका प्रवाही मानकर पीता है, रजको बहानेवाले स्त्रीके योनि छिद्रमें रमण मानकर सम्भोग करता है। और ऐसा करते समय इन्द्रको भी अपनेसे हीन मानता है। उसकी यह कल्पना धिक्कारके योग्य है ॥९२॥

जिस समय दृष्टि स्त्रीके शरीरमें अनुरक्त हो, तत्काल ही उसके स्वरूपके परिज्ञानकी झलक ही मोहको दूर कर सकनेमें समर्थ है ऐसा कहते हैं—

स्त्रीका शरीर रज और वीर्यसे उत्पन्न होता है। उसमें नाक, गुदा आदि बड़े छिद्र हैं और रोमावलीके छोटे छिद्र हैं। ये वे नालियाँ हैं जिनसे ग्लानि उत्पन्न करनेवाले शब्दके साथ मल-मूत्रादि बहते रहते हैं। उनसे उनके शरीरके अन्तर्भागमें कितना पुण्यका उदय है यह अनुभवमें आ जाता है। फिर भी इन्द्रजाल (जादूगरी) की तरह वह शरीर मनुष्योंको भ्रममें डालनेमें समर्थ है अर्थात् ऐसे शरीरके होते हुए भी मनुष्य उसके मोहमें पड़ जाते हैं। अतः उसमें दृष्टि आसक्त होते ही यदि तत्काल तत्त्वदृष्टि खुल जाती है तो समझना चाहिए कि मोहकी गर्दनपर पैर रख दिया गया अर्थात् साधुने मोहका तिरस्कार कर दिया ॥९३॥

स्त्रीका शरीर सुस्वादु पौष्टिक आहार और वस्त्र आदिके व्यवहारसे ही सुन्दर प्रतीत होता है यह बात प्रौढ़ पुरुषोंकी उक्तिसे प्रकट करते हैं—

नारीका शरीर मलको पकानेके लिए एक पात्र है, घृणा पैदा करनेवाले मलमूत्र आदि-का घर है, पसीनेका फुवारा है। मुझे ऐसा लगता है कि एक मात्र बीभत्स रसके आलम्बन-

चरुः—स्थाली । जुगुप्स्यानि—सूकाजनकानि मूत्रार्तवादीनि । वीभत्सः—जुगुप्साप्रभवो हृत्संकोचकृद्रसः । विभावाः—कारणानि । भावाः—पदार्था दोषधातुमलादयः । सरीसृजीति—पुनः पुनः सृजति । तदुपस्कारैकसारं—तस्य नारीवपुष उपस्कारो गुणान्तराधानं चारुत्वसौरम्याद्यापादनं, स एवैक उत्कृष्टः सारः फलं यस्य तेनैकेन वा सारं ग्राह्यम् । जगत्—भोगोपभोगाङ्गप्रपञ्चम् । चराचरस्यापि जगतो रामाशरीररम्यतासंपादनद्वारेणैव कामिनामन्त परमनिर्वृतिनिमित्तत्वात्तदुपभोगस्यैव लोके परमपुरुषार्थतया प्रसिद्धत्वात् । तदाह भट्टरुद्रटः—

'राज्ये सारं वसुधा वसुंधरायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥'—[काव्यालंकार ॥७।९७॥]

संप्रत्ययप्रत्यये—अतद्गुणे वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेशः संप्रत्ययस्तत्कारणके ॥९४॥

अथ परमावद्ययोषिदुपस्थलालसस्य पृथग्जनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेर्दुस्सहनरकदुःखोपभोगयोग्यताकरणोद्योगमनुशोचति—

विष्यन्दिक्लेदविश्राम्भसि युवतिवपुःश्वभ्रभूभागभाजि,
क्लेशाग्निक्लान्तजन्तुव्रजयुजि रुधिरोद्गारगर्होद्धुरायाम् ।
आसूनो योनिनद्यां प्रकुपितकरणप्रेतवर्गोपसर्ग-
मूर्छालः स्वस्य बालः कथमनुगुणयेद्वै तरं वैतरण्याम् ।।९५।।

उद्दीपन रूपसे जनक दोष धातु मल आदि पदार्थोंके समूहसे उस नारीके शरीरका निर्माण करके ब्रह्मा जगत्का निर्माण करता है क्योंकि नारीके शरीरको सुन्दरता प्रदान करना ही इस जगत्का एक मात्र सार है । अर्थात् नारीके शरीरको सुन्दरता प्रदान करनेके द्वारा ही यह चराचर जगत् कामी जनोंके मनमें परमनिवृत्ति उत्पन्न करता है, लोकमें नारीके शरीरके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ माना जाता है अथवा जिसमें जो गुण नहीं है उसमें वह गुण मान लेनेसे होनेवाले सुखमें आसक्त कौन मनुष्य दुःखका अनुभव करता है ? कोई भी नहीं करता ।।९४।।

स्त्रीशरीरके निन्दनीय भागमें आसक्त और विषयोंमें ही संलग्न मूढ़ पुरुष नरकके दुःसह दुःखोंको भोगनेकी योग्यता सम्पादन करनेमें जो उद्योग करता है उसपर खेद प्रकट करते हैं—

योनि एक नदीके तुल्य है उससे तरल द्रव्यरूप दुर्गन्धित जल सदा झरता रहता है, युवतीके शरीररूपी नरकभूमिके नियत भागमें वह स्थित है, दुःखरूपी अग्निसे पीड़ित जन्तुओंका समूह उसमें बसता है और रुधिरके बहावसे वह अत्यन्त ग्लानिपूर्ण है। उस योनिरूपी नदीमें आसक्त और क्रुद्ध इन्द्रियरूपी नारकियोंके उपसर्गोंसे मूर्छित हुआ मूढ़ अपनेको कैसे वैतरणी नदीमें तिरनेके योग्य बना सकेगा ? ।।९५।।

विशेषार्थ—कामान्ध मनुष्य सदा स्त्रीकी योनिरूपी नदीमें डूबा रहता है । मरनेपर वह अवश्य ही नरक जायेगा । वहाँ भी वैतरणी नदी है । यहाँ उसे इन्द्रियाँ सताती हैं तो मूर्छित होकर योनिरूप नदीमें डुबकी लगाता है । नरकमें नारकी सतायेंगे तो वैतरणीमें डूबना होगा । मगर उसने तो नदीमें डूबना ही सीखा है तैरना नहीं सीखा । तब वह कैसे वैतरणी पार कर सकेगा ? उसे तो उसीमें डूबे रहना होगा ।।९५।।

विश्रं—आमगन्धि । आघ्नूनः—लम्पटः । प्रेताः—नारकाः । मूर्च्छालः—मूर्च्छितः । अनुगुणयेत्—अनुकूलयेत् । तरं—प्रतरणम् । वैतरण्यां—नरकनद्याम् ॥९५॥

अथ पञ्चभिः पद्यैर्वृद्धसांगत्यविधातुमनाः कुशलसातत्यकामस्य मुमुक्षोर्मोक्षमार्गनिर्वहणचणाना परिचरण-मत्यन्तकरणीयतया प्रागुपक्षिपति—

स्वानूकाङ्कुशिताशयाः सुगुरुवाग्वृत्त्यस्तचेतःशयाः,
संसारार्तिबृहद्भयाः परहितव्यापारनित्योच्छ्रयाः ।
प्रत्यासन्नमहोदयाः समरसीभावानुभावोदयाः,
सेव्याः शश्वदिह त्वयावृतनयाः श्रेयःप्रबन्धेप्सया ॥९६॥

अनूकः—कुलम् । तच्चेह पितृगुरुसंबन्धि । कुलीनो हि दुरपवादभयादकृत्यान्नितरा जुगुप्सते । चेतःशयः—काम. । यदाह—

'यः करोति गुरुभाषितं मुदा संश्रये वसति वृद्धसंकुले ।
मुञ्चते तरुणलोकसंगतिं ब्रह्मचर्यममलं स रक्षति ॥' [ ]

उच्छ्रयः—उत्सव. । महोदयः—मोक्षः । समरसीभावः—शुद्धचिदानन्दानुभव । तदनुभावाः—सद्योरागादिप्रक्षयजातिकारणवैरोपशमनोपसर्गनिवारणादयस्तेषामुदय उत्कर्षो येषाम् । । अथवा समरसीभावस्यानुभाव. कार्यमुदयो बुद्धितपोविक्रियौषधिप्रभृतिलब्धिलक्षणोऽभ्युदयो येषाम् ॥९६॥

अथ वृद्धेतरसागत्ययोः फलविशेषमभिलषति—

कालुष्यं पुंस्युदीर्णं जल इव कतकैः संगमाद्व्येति वृद्धै-
रश्मक्षेपाविवाम्रप्रशममपि लघूदेति तल्पिङ्गसङ्गात् ।
वार्भिर्गन्धो मृदीवोद्भवति च युवभिस्तत्र लीनोऽपि योगाद्,
रागो द्राग्वृद्धसङ्गात्सरटवदुपलक्षेपतश्चैति शान्तिम् ॥९७॥

आगे पाँच श्लोकोंसे वृद्ध पुरुषोंकी संगतिका विधान करना चाहते हैं। सर्वप्रथम निरन्तर कुशलताके इच्छुक मुमुक्षुको मोक्षमार्गका निर्वहण करनेमें कुशल गुरुओंकी सेवा अवश्य करनेका निर्देश करते हैं—

हे साधु ! इस ब्रह्मचर्यव्रतमें चारित्र अथवा कल्याणमें रुकावट न आनेकी इच्छासे तुझे ऐसे नीतिशाली वृद्धाचार्योंकी सेवा करनी चाहिए जिनका पितृकुल और गुरुकुल उनके चित्तको कुमार्गमें जानेसे रोकता है (क्योंकि कुलीन पुरुष खोटे अपवादके भयसे खोटे कार्यों-से अत्यन्त ग्लानि करता है), सच्चे गुरुओंके वचनोंके अनुसार चलनेसे जिनका काम-विकार नष्ट हो गया है, जो संसारके दुःखोंसे अत्यन्त भीत रहते हैं, सदा परहितके व्यापारमें आनन्द मानते हैं, जिनका मोक्ष निकट है, तथा शुद्ध चिदानन्दके अनुभवके प्रभावसे जिनके तत्काल रागादिका प्रक्षय, जन्मसे होनेवाले वैरका उपशमन, उपसर्गनिवा-रण आदिका उत्कर्ष पाया जाता है अथवा शुद्ध चिदानन्दके अनुभवका कार्य बुद्धि, विक्रिया, तप, औषधि आदि ऋद्धिरूप अभ्युदय पाया जाता है, ऐसे आचार्योंकी संगति अवश्य करनी चाहिए ॥९६॥

वृद्धजनोंकी और युवाजनोंकी संगतिके फलमें अन्तर बतलाते हैं—

जैसे जलमें कीचड़के योगसे उत्पन्न हुई कालिमा निर्मलीके चूर्णके योगसे शान्त हो जाती है वैसे ही अपने निमित्तोंके सम्बन्धसे जीवमें उत्पन्न हुई कालिमा अर्थात् द्वेष, शोक,

कालुष्यं—द्वेषशोकभयादिसंक्लेश पङ्काविलत्वं च। सरटवत्—करकेटुको यथा। एति शान्ति—शाम्यति। राग उदीर्णोऽपि इत्युपसृत्य योज्यम् ॥९७॥

अथ प्रायो यौवनस्यावश्यं विकारकारित्वप्रसिद्धेर्गुणातिशयशालिनोऽपि तरुणस्याश्रयणमविश्वास्यतया प्रकाशयन्नाह—

अभ्युद्यद्गुणरत्नराशिरुगपि स्वच्छः कुलीनोऽपि ना,
नव्येनाम्बुधिरिन्दुनेव वयसा संक्षोभ्यमाणः शनैः।
आशाचक्रविवर्तिगर्जितजलाभोगः प्रवृत्त्यापगाः,
पुण्यात्माः प्रतिलोमयन् विधुरयत्यात्माश्रयान् प्रायशः ॥९८॥

रुक्—दीप्तिः। संक्षोभ्यमाणः—प्रकृतेश्चाल्यमानः। यल्लोकः—

'अवश्यं यौवनस्थेन क्लीबेनापि हि जन्तुना।
विकारः खलु कर्तव्यो नाविकाराय यौवनम् ॥' [ ]

जलाभोगः—मूढलोकोपभोगो वारिविस्तारश्च। पुण्यात्माः—पवित्रस्वभावाः। अनश्चवादिति ड्वात्। प्रतिलोमयन्—प्रावर्तयन्[1] प्रावारिणीः कुर्वन्नित्यर्थः। विधुरयति—श्रेयसो भ्रंशयति आत्माश्रयान् शिष्यादीन्मत्स्यादींश्च ॥९८॥

भय आदि रूप संक्लेश ज्ञान और संयमसे वृद्ध पुरुषोंकी संगतिसे शान्त हो जाता है। तथा जैसे जलमें निर्मलीके चूर्णसे शान्त हुई कीचडकी कालिमा पत्थर फेंकनेसे तत्काल उद्भूत हो जाती है वैसे ही जीवमें वृद्धजनोंकी संगतिसे शान्त हुआ भी संक्लेश दुराचारी पुरुषोंकी संगतिसे पुनः उत्पन्न हो जाता है। जैसे मिट्टीमें छिपी हुई गन्ध जलका योग पाकर प्रकट होती है उसी तरह युवाजनोंकी संगतिसे जीवका अप्रकट भी राग प्रकट हो जाता है। तथा जैसे पत्थरके फेंकनेसे गिरगिटका राग—बदलता हुआ रंग शान्त हो जाता है वैसे ही वृद्धोंकी संगतिसे उद्भूत हुआ राग शान्त हो जाता है। अतः ब्रह्मचर्य व्रतके पालकोंको दुराचारी जनोंकी संगति छोड़कर ज्ञानवृद्ध और संयमवृद्धोंकी संगति करनी चाहिए ॥९७॥

यह बात प्रसिद्ध है कि प्रायः यौवन अवस्थामें विकार अवश्य होता है। अतः अतिशय गुणशाली तरुणकी संगति भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं है, यह बात कहते हैं—

जैसे रत्नोंकी राशिकी चमकसे प्रदीप्त स्वच्छ और प्रशान्त भी समुद्र चन्द्रमाके द्वारा धीरे-धीरे क्षुब्ध होकर अपने गर्जनयुक्त जलके विस्तारसे दिशा मण्डलको चंचल कर देता है, पवित्र गंगा आदि नदियोंको उन्मार्गगामिनी बना देता है और समुद्रमें बसनेवाले मगर-मच्छोंको भी प्रायः कष्ट देता है उसी प्रकार प्रतिक्षण बढ़ते हुए गुणोंके समूहसे प्रदीप्त स्वच्छ कुलीन भी मनुष्य यौवन अवस्थामें धीरे-धीरे चंचल होता हुआ आशापाशमें फँसे हुए और डींग मारनेवाले मूढ़ लोगोंके इष्ट विषयोपभोगका साधन बनकर अर्थात् कुसंगमें पड़कर अपनी मन-वचन-कायकी पुण्य-प्रवृत्तियोंको कुमार्गमें ले जाता है और अपने आश्रितोंको भी कल्याणसे भ्रष्ट कर देता है ॥९८॥

१. व्यावर्तयन् उत्पथे चारिणीः कुर्वन्नित्यर्थः—भ. कु. च.।

अथ तारुण्येऽप्यविकारिणं प्रशंसयति—

> दुर्गेऽपि यौवनवने विहरन् विवेकचिन्तामणिं स्फुटमहत्त्वमवाप्य धन्यः।
> चिन्तानुरूपगुणसंपदुरुप्रभावो वृद्धो भवत्यपलितोऽपि जगद्विनीत्या ॥९९॥

जगद्विनीत्या—लोकाना शिक्षासंपादनेन ॥९९॥

अथासाधुसाधुकथाफलं लक्ष्यद्वारेण स्फुटयति—

> सुशीलोऽपि कुशीलः स्याद्दुर्गोष्ठ्या चारुदत्तवत्।
> कुशीलोऽपि सुशीलः स्यात् सद्गोष्ठ्या मारिदत्तवत् ॥१००॥

स्पष्टम् ॥१००॥

जो युवावस्थामें भी निर्विकार रहते हैं उनकी प्रशंसा करते हैं—

यौवनरूपी दुर्गम वनमें विहार करते हुए अर्थात् युवावस्थामें महिमाको प्रकट करने-वाले विवेकरूपी चिन्तामणिको प्राप्त करके चिन्ताके अनुरूप गुणसम्पदासे महान् प्रभाव-शाली धन्य पुरुष लोगोंको शिक्षा प्रदान करनेके कारण केशोंके श्वेत न होनेपर भी वृद्ध जैसा होता है अर्थात् जो युवावस्थामें संयम धारण करके लोगोंको सत् शिक्षा देता है वह वृद्धा-वस्थाके बिना भी वृद्ध है ॥९९॥

असाधु और साधु पुरुषोंके साथ संभाषणादि करनेका फल दृष्टान्त द्वारा बत-लाते हैं—

दुष्टजनोंकी संगतिसे चारुदत्त सेठकी तरह सुशील भी दुराचारी हो जाता है। और सज्जनोंकी संगतिसे मारिदत्त राजाकी तरह दुराचारी भी सदाचारी हो जाता है ॥१००॥

विशेषार्थ—जैन कथानकोंमें चारुदत्त और यशोधरकी कथाएँ अतिप्रसिद्ध हैं। चारुदत्त प्रारम्भमें बड़ा धर्मात्मा था। अपनी पत्नीके पास भी न जाता था। फलतः उसे विषयासक्त बनानेके लिए वेश्याकी संगतिमें रखा गया तो वह इतना विषयासक्त हो गया कि बारह वर्षोंमें सोलह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ लुटा बैठा। जब पासमें कुछ भी न रहा तो वेश्याकी अभि-भाविकाने एक दिन रात्रिमें उसे सोता हुआ ही उठवाकर नगरके चौराहे पर फिंकवा दिया। इस तरह कुसंगमें पड़कर धर्मात्मा चारुदत्त कदाचारी बन गया। इसी तरह मारिदत्त राजा अपनी कुलदेवी चण्डमारीको बलि दिया करता था। एक बार उसने सब प्रकारके जीव-जन्तुओंके युगलकी बलि देवीको देनेका विचार किया। उसके सेवक एक मनुष्य युगलकी खोजमें थे। एक तरुण सुरूप क्षुल्लक और क्षुल्लिका भोजनके लिए नगरमें आये। राजाके आदमी उन दोनोंको पकड़कर ले गये। राजाने उन्हें देखकर पूछा—तुम दोनों कौन हो और इस कुमारवयमें दीक्षा लेनेका कारण क्या है? तब उन्होंने अपने पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त सुनाया कि किस तरह एक आटेके बने मुर्गेका बलिदान करनेसे उन्हें कितना कष्ट भोगना पड़ा। उसे सुनकर राजा मारिदत्तने जीवबलिका विचार छोड़ दिया और जिनदीक्षा धारण कर ली। यह सत्संगतिका फल है ॥१००॥

अथैवं स्त्रीवैराग्यपञ्चकोपचितं ब्रह्मचर्यव्रतं स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कारपरिहारस्वभावभावनापञ्चकेन स्थैर्यमापादयेदित्युपदेष्टुमिदमाचष्टे—

रामारागकथाश्रुतौ श्रुतिपरिभ्रष्टोऽसि चेद् भ्रष्टदृक्,
तद्रम्याङ्गनिरीक्षणे भवसि चेत्तत्पूर्वभुक्तावसि ।
निःसंज्ञो यदि वृष्यवाञ्छितरसास्वादेऽरसज्ञोऽसि चेत्,
संस्कारे स्वतनोः कुजोऽसि यदि तत् सिद्धोऽसि तुर्यव्रते ॥१०१॥

रामारागकथाश्रुतौ—रामाया स्त्रिया रागो रतिः, तदर्थं[1] रामयो वा रागेण क्रियमाणा कथा तदाकर्णने । श्रुतिपरिभ्रष्टः—अत्यन्तबधिरः संस्कारपराङ्मुखोऽसीत्यर्थः ॥१०१॥

अथ वृष्यद्रव्यसौहित्यप्रभावं भावयति—

को न वाजीकृतां दृप्तः कन्तुं कन्दलयेद्यतः ।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः ॥१०२॥

वाजीकृतां—अवाजिनं वाजिनं कुर्वन्ति वाजीकृतो रतौ वृद्धिकराः क्षीराद्यर्थास्तेषाम् । कन्दलयेत्—उद्भावयेत् । जीह्वेन्द्रियसंतर्पणाप्रभवत्वात् कन्दर्पदर्पस्य । अत्र पूर्वरतानुस्मरण—वृष्येष्टरसादिवर्जनस्य पुनरुपदेशो ब्रह्मचर्यपालने अत्यन्तयत्नः कर्तव्य इति बोधयति । मुहुः साध्यत्वात्तस्य । तथा च ब्रुवन्ति—

आगे कहते हैं कि स्त्रीरागकथाश्रवण, उसके मनोहर अंगोंका निरीक्षण, पूर्व भुक्त भोगोंका स्मरण, कामोद्दीपक भोजन और शरीर संस्कार इन पाँचोंके त्यागरूप पाँच भावनाओंसे ब्रह्मचर्य व्रतको स्थिर करना चाहिए—

हे साधु ! यदि तू स्त्रीमें राग उत्पन्न करनेवाली अथवा स्त्रीसे रागसे की जानेवाली कथाको सुननेमें बहरा है, यदि तू उसके मुख, स्तन आदि मनोहर अंगोंको देखनेमें अन्धा है, यदि तू पहले भोगी हुई स्त्रीका स्मरण करनेमें असैनी है, यदि तू वीर्यवर्धक इच्छित रसोंके आस्वादमें जिह्वाहीन है, यदि तू अपने शरीरके संस्कार करनेमें वृक्ष है (वृक्ष अपना संस्कार नहीं करते) तो तू ब्रह्मचर्य व्रतमें सिद्ध है—सच्चा ब्रह्मचारी है ॥१०१॥

विशेषार्थ—आँख, कान और जिह्वा तथा मनपर नियन्त्रण किये बिना ब्रह्मचर्यका पालन नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्मचारीको स्त्रियोंके विषयमें अन्धा, बहरा, गूँगा तथा असंज्ञी तक बनना चाहिए। इसीलिए जैन मुनि स्नान, विलेपन, तेलमर्दन, दन्तमंजन आदि शरीर संस्कार नहीं करते। रसना इन्द्रियको भी स्पर्शन इन्द्रियकी तरह कामेन्द्रिय कहा है। इसका जीतना स्पर्शनसे भी कठिन है। अकलंक देवने तत्त्वार्थवार्तिकमें कहा है कि जो स्पर्शजन्य सुखका त्याग कर देते हैं वे भी रसनाको वशमें नहीं रख सकते। आगममें भी कहा है—'इन्द्रियोंमें रसना, कर्मोंमें मोहनीय, व्रतोंमें ब्रह्मचर्य और गुप्तियोंमें मनोगुप्ति ये चार बड़े कष्टसे वशमें आते हैं ॥१०१॥

वीर्यवर्द्धक रसोंके सेवनका प्रभाव बतलाते हैं—

मनुष्योंको घोड़ेके समान बना देनेवाले वीर्यवर्द्धक दूध आदि पदार्थोंको वाजीकरण कहते हैं। वाजीकरणके सेवनसे मत्त हुआ कौन पुरुष कामविकारको नहीं करता अर्थात् सभी करते हैं। क्योंकि ऋषियोंने पुरुषको ऊर्ध्वमूल और अधःशाख कहा है ॥१०२॥

---

१. तदर्थं रामया रागेण वा—भ. कु. च. ।

'अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभं च ।
गुत्तीणं मणगुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झंति ॥' [ ] ॥१०२॥

अथ पूर्वेऽपि भूयासो मुक्तिपथप्रस्थायिनो ब्रह्मव्रतप्रमादभाजो लोके भूयांसमुपहासमुपगता इति दर्शयंस्तत्र सुतरां साधूनवधानपरान् विधातुमाह—

दुर्धर्षोद्धतमोहशौल्किकतिरस्कारेण सद्माकराद्,
भूत्वा सद्गुणपण्यजातमयनं मुक्तेः पुरः प्रस्थिताः ।
लोकाक्षीप्रतिसारकैर्मदवशैराक्षिप्य तां तां हठा-
न्नीताः किन्न विडम्बनां यतिवराः चारित्रपूर्वाः क्षितौ ॥१०३॥

शौल्किकः—शुषति शुल्कति वा सुखेन यात्यनेनेति शुल्कः प्रावेश्यनैष्क्राम्यद्रव्येभ्यो राजग्राह्यो भागः। शुल्के नियुक्तः शौल्किकः। तेन साधर्म्यं मोहस्य पापावद्यभूयिष्ठत्वात्। तस्य तिरस्कारः छलनोपक्रमः। आक्षिप्य—सोल्लुण्ठं हठाद् व्यावर्त्य। चारित्रपूर्वाः—पूर्वशब्देन शकट-कूर्चकर-रुद्रादयो गृह्यन्ते ॥१०३॥

विशेषार्थ—भगवद्गीता (अ. १५।१) में कहा है—'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' इसके द्वारा संसारको वृक्षका रूपक दिया है। उसीको लेकर यहाँ ग्रन्थकारने पुरुषके ऊपर घटित किया है। पुरुष मूल ऊपर है अर्थात् जिह्वा आदि उनका मूल है और हाथ-पैर आदि अवयव अधोगत शाखा हैं। इसका आशय यह है कि जिह्वाके द्वारा पुरुष जिस प्रकारका भोजन करता है उसी प्रकारके उसके शरीरके अवयव बनते हैं। अतः जिह्वा द्वारा वाजीकरण पदार्थोंका सेवन करनेसे शरीरके अवयव भी तदनुरूप होंगे। अतः उन्हें संयत करनेके लिए जिह्वा इन्द्रियको संयत करना चाहिए। उसके बिना ब्रह्मचर्यका पालन कठिन है ॥१०२॥

पूर्वकालमें बहुत-से मोक्षमार्गी पुरुष ब्रह्मचर्य व्रतमें प्रमाद करके लोकमें अत्यधिक उपहासके पात्र बने, यह दिखलाते हुए साधुओंको उसमें सावधान करते हैं—

पूर्वकालमें चारित्र, शकट, कूर्चवार रुद्र आदि अनेक प्रमुख यति, दुर्धर्ष और उद्धत चारित्र मोहनीय कर्मरूपी कर वसूल करनेवालेको छलकर घररूपी खानसे सम्यग्दर्शन आदि गुणरूप बहुत-सी विक्रेय वस्तुओंको लेकर मुक्तिके मार्गकी ओर चले थे। किन्तु कर वसूल करनेवाले चारित्र मोहनीय कर्मके स्त्रीरूपी गर्विष्ठ भटोंके द्वारा बलपूर्वक पकड़ लिये गये। फिर उनकी जगत्‌में शास्त्र और लोकमें प्रसिद्ध क्या-क्या विडम्बना नहीं हुई, उन्हें बहुत ही दुर्दशा भोगनी पड़ी ॥१०३॥

विशेषार्थ—राज्योंमें किसी खान वगैरहसे निकलनेवाली विक्रेय वस्तुओंपर कर वसूल करनेके लिए मनुष्य नियुक्त होते हैं। यदि कोई मनुष्य उन्हें छलकर और खानसे रत्न आदि लेकर मार्गमें जानेका प्रयत्न करता है तो कर वसूल करनेवालोंके उन्मत्त सिपाहियोंके द्वारा पकड़े जानेपर बलपूर्वक पीछे ढकेल दिया जाता है और फिर उसकी दुर्दशाका पार नहीं रहता। वही स्थिति पूर्वकालमें कुछ यतियोंकी हुई। वे भी मोक्षमार्गमें चले थे किन्तु उनके अन्तस्तलमें बैठा हुआ चारित्र मोहनीय कर्म बड़ा उद्धत था, उसे धोखा देना शक्य नहीं था। किन्तु उन यतियोंने उसकी परवाह नहीं की और घर त्याग कर वन गये संन्यासी और चल पड़े मुक्तिकी ओर। उन्हें शायद पता नहीं था कि चारित्रमोहनीय महाराजके बड़े गर्वीले भट नारीका सुन्दर रूप धारण करके ऐसे लोगोंको पकड़नेके लिए सावधान हैं। बस पकड़ लिये गये, कामिनीके मोहपाशमें फँस गये। फिर तो उनकी जगत्‌में खूब हँसी

अथाकिञ्चन्यव्रतमष्टचत्वारिंशता पद्यैर्व्याचिख्यासुः प्राक् तावच्छिवार्थिनः प्रोत्साहयितुं लोकोत्तरं तन्माहात्म्यमादावाविष्करोति—

मूर्छा मोहवशान्ममेदमहमस्येत्येवमावेशनं,
तां दुष्टग्रहवन्न मे किमपि नो कस्याप्यहं खल्विति ।
आकिञ्चन्य-सुसिद्धमन्त्रसततान्यासेन घ्नन्ति ये
ते शश्वत्प्रतपन्ति विश्वपतयश्चित्रं हि वृत्तं सताम् ॥१०४॥

मोहवशात्—चारित्रमोहवशात् चारित्रमोहनीयकर्मविपाकपारतन्त्र्यात् । उक्तं च—
'या मूर्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहोऽयमिति ।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः ॥' [पुरुषार्थ. १११]

तो हुई ही दुर्दशा भी कम नहीं हुई। महाभारत आदिमें उनकी कथा वर्णित है। अतः मुक्ति-मार्गके पथिकोंको चारित्र मोहनीय महाराजसे बहुत सावधान रहना चाहिए। उनका देना-पावना चुकता करके मोक्षके मार्गमें पग रखना चाहिए अन्यथा उनके सिपाही आपको पकड़े बिना नहीं रहेंगे ॥१०३॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन समाप्त हुआ।

आगे अड़तालीस पद्योंसे आकिंचन्यव्रतको कहना चाहते हैं। सर्वप्रथम मुमुक्षुको प्रोत्साहित करनेके लिए उस व्रतका अलौकिक माहात्म्य बतलाते हैं—

मोहनीय कर्मके उदयसे 'यह मेरा है' 'मैं इसका हूँ' इस प्रकारका जो अभिप्राय होता है उसे मूर्छा कहते हैं। इलोकमें आया 'एवं' शब्द प्रकारवाची है। अतः 'मैं याज्ञिक हूँ', 'मैं संन्यासी हूँ', 'मैं राजा हूँ' 'मैं पुरुष हूँ', 'मैं स्त्री हूँ', इत्यादि मिथ्यात्वमूलक अभिप्रायोंका ग्रहण होता है। इस प्रकारके सभी अभिप्राय मूर्छा हैं। कोई भी बाह्य या आभ्यन्तर काम-क्रोधादि वस्तु मेरी नहीं है और न मैं भी किसी बाह्य या आभ्यन्तर वस्तुका हूँ। 'खलु' शब्दसे कोई अन्य मैं नहीं हूँ और न मैं कोई अन्य हूँ इस प्रकारके आर्किचन्यव्रतरूप सुसिद्ध मन्त्रके निरन्तर अभ्याससे जो ब्रह्मराक्षस आदि दुष्ट ग्रहके समान उस मूर्छाका निग्रह करते हैं वे तीनों लोकोंके स्वामी होकर सदा प्रतापशाली रहते हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि अकिंचन जगत्का स्वामी कैसे हो सकता है। अतः कहते हैं कि सन्त पुरुषोंका चरित अलौकिक होता है ॥१०४॥

विशेषार्थ—मेरा कुछ भी नहीं है इस प्रकारके भावको आकिंचन्य कहते हैं, उसका अर्थ होता है निर्ममत्व। अतः ममत्वका या मूर्छाका त्याग आकिंचन्यव्रत है। इसका दूसरा नाम परिग्रहत्यागव्रत है। वास्तवमें मूर्छाका नाम ही परिग्रह है। कहा है—'जो यह मूर्छा है उसे ही परिग्रह जानना चाहिए। मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले ममत्व परिणामको मूर्छा कहते हैं।' ग्रन्थकार आशाधरने अपनी संस्कृत टीकामें मोहसे चारित्रमोहनीय लिया है क्योंकि चारित्रमोहनीयके भेद लोभके उदयमें ही परिग्रह संज्ञा होती है। कहा है—'उप-करणके देखनेसे, उसके चिन्तनसे, मूर्छाभाव होनेसे और लोभकर्मकी उदीरणा होनेपर परिग्रह संज्ञा होती है।' तत्त्वार्थ सूत्र ७।१७ में मूर्छाको परिग्रह कहा है। पूज्यपाद स्वामीने

---

१. उवयरणदंसणेण तस्सुवजोगेणे मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥—गो. जी. १३८ गा.।

इत्येवं—इतिशब्दः स्वरूपार्थः, एवंशब्दः प्रकारार्थः। तेनाहं याज्ञिकोऽहं, परिव्राडहं राजाहं पुमानहं स्त्रीत्यादि—मिथ्यात्वादिविवर्ताभिनिवेशा गृह्यन्ते। खलु—अतोऽपि न कोऽप्यन्योऽहमिति ग्राह्यम्। आकिञ्चन्यं—नैर्मल्यम्। सुसिद्धमन्त्रः—यो गुरूपदेशानन्तरमेव स्वकर्म कुर्यात्। यदाहुः—

'सिद्धः सिध्यति कालेन साध्यो होमजपादिना।
सुसिद्धस्तत्क्षणादेव अरिं मूलान्निकृन्तति॥' [ ]

धुन्वन्ति—निगृह्णन्ति। चित्रं—अकिञ्चनाश्च जगत्स्वामिनश्चेत्याश्चर्यम् ॥१०४॥

अथोभयपरिग्रहदोषख्यापनपुरस्सरं श्रेयोर्थिनस्तत्परिहारमुपदिशति—

शोध्योऽन्तर्नं तुषेण तण्डुल इव ग्रन्थेन रुद्धो बहि-
र्जीवस्तेन बहिर्मुखोऽपि रहितो मूर्छामुपार्छन् विषम्।
निर्मोकेण फणीव नार्हति गुणं दोषैरपि स्वैधते,
तद्ग्रन्थानबहिश्चतुर्दश बहिश्चोज्झेद्दश श्रेयसे ॥१०५॥

उसकी व्याख्यामें बाह्य गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन वस्तुओंके और राग आदि उपाधियोंके संरक्षण, अर्जनके संस्कार रूप व्यापारको मूर्छा कहा है। इसपर-से यह शंका की गयी कि यदि मूर्छाका नाम परिग्रह है तब तो बाह्य वस्तु परिग्रह नहीं कही जायेगी क्योंकि मूर्छासे तो आभ्यन्तरका ही ग्रहण होता है। इसके उत्तरमें कहा है—उक्त कथन सत्य ही है क्योंकि प्रधान होनेसे अभ्यन्तर को ही परिग्रह कहा है। बाह्यमें कुछ भी पास न होनेपर भी 'मेरा यह है' इस प्रकार संकल्प करनेवाला परिग्रही होता है। इसपर पुनः शंका हुई कि तब तो बाह्य परिग्रह नहीं ही हुई। तो उत्तर दिया गया कि ऐसी बात नहीं है। बाह्य भी परिग्रह है क्योंकि मूर्छाका कारण है। पुनः शंका की गयी—यदि 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प परिग्रह है तो सम्यग्ज्ञान आदि भी परिग्रह कहलायेंगे क्योंकि जैसे राग आदि परिणाममें ममत्व भाव परिग्रह कहा जाता है वैसे ही सम्यग्ज्ञानादिकमें भी ममत्व भाव होता है। तब उत्तर दिया गया कि जहाँ प्रमत्तभावका योग है वहीं मूर्छा है। अतः सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रसे युक्त व्यक्ति अप्रमत्त होता है। उसके मोहका अभाव होनेसे मूर्छा नहीं है अतः वह अपरिग्रही है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान आदि तो आत्माका स्वभाव है। उसे छोड़ा नहीं जा सकता अतः वह परिग्रहमें सम्मिलित नहीं है। किन्तु राग आदि तो कर्मके उदयसे होते हैं, वे आत्माके स्वभाव नहीं हैं अतः छोड़ने योग्य हैं। उनमें 'यह मेरे हैं' ऐसा संकल्प करना परिग्रह है। यह संकल्प सब दोषोंका मूल है। 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प होनेपर उसकी रक्षाका भाव होता है। उसमें हिंसा अवश्य होती है। परिग्रहकी रक्षाके लिए उसके उपार्जनके लिए झूठ बोलता है, चोरी भी करता है अतः परिग्रह सब अनर्थोंकी जड़ है। उससे छुटकारा पानेका रास्ता है आकिंचन्यरूप सुसिद्ध मन्त्रका निरन्तर अभ्यास। जो मन्त्र गुरुके उपदेशके अनन्तर तत्काल अपना काम करता है उस मन्त्रको सुसिद्ध कहते हैं। कहा है—'जो काल पाकर सिद्ध होता है वह सिद्ध मन्त्र है। जो होम-जप आदिसे साधा जाता है वह साध्य मन्त्र है। और जो तत्क्षण ही शत्रुको मूलसे नष्ट कर देता है वह सुसिद्ध मन्त्र है।'

आकिंचन्य भाव परिग्रहका पाश छेदनेके लिए ऐसा ही सुसिद्ध मन्त्र है ॥१०४॥

दोनों ही प्रकारके परिग्रहोंके दोष बताते हुए मुमुक्षुओंको उनके त्यागका उपदेश

शोध्यः—कर्ममलं कोण्डकं च त्याजयितुमशक्यः । रुद्धः—आसक्ति नीतः छादितश्च ।

'शक्यो यथापनेतुं न कोण्डकस्तन्दुलस्य सतुषस्य ।
न तथा शक्यं जन्तोः कर्ममलं सङ्गसक्तस्य ॥' [ ]

गुणं—अहिंसकत्वाभिगम्यत्वादिकम् । अबहिः—आभ्यन्तरान् । तद्यथा—

'मिच्छत्तवेदरागा हस्सादीया य तह य छद्दोसा ।
चत्तारि तह कसाया चउदसब्भंतरा गंथा ॥ [भ. आरा. १११८ गा.]

दश क्षेत्रादीन् । यदाह—

'क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम् ।
द्विपदाः पशवो भाण्डं बाह्या दश परिग्रहाः॥' [सोम उपा. ४१३ श्लो.]

जैसे बाहरमें तुषसे वेष्टित चावल अर्थात् धान बाहरका छिलका दूर हुए बिना अन्दरसे शुद्ध नहीं हो सकता, वैसे ही बाह्य परिग्रहमें आसक्त हुआ जीव अभ्यन्तर कर्ममलको छोड़नेमें असमर्थ होनेसे अन्तःशुद्ध नहीं हो सकता। इसपर-से यह शंका हो सकती है कि यदि ऐसी बात है तो बाह्य परिग्रह ही छोड़ना चाहिए, अन्तरंग परिग्रह नहीं छोड़ना चाहिए ? इसके उत्तरमें कहते हैं—जैसे केंचुलीसे रहित भी सर्प विषधर होनेसे गुणी नहीं हो जाता किन्तु विष रहनेसे दोषी ही होता है, वैसे ही बाह्य परिग्रहसे रहित भी जीव यदि अन्दरमें ममत्व भाव रखता है तो अहिंसा आदि गुणोंका पात्र नहीं होता, किन्तु दोषोंका ही पात्र होता है। इसलिए चारित्रकी रक्षाके लिए और मोक्षकी प्राप्तिके लिए अन्तरंग चौदह और बाह्य दस परिग्रहोंको छोड़ना चाहिए ॥१०५॥

विशेषार्थ—बाह्य परिग्रहोंको त्यागे बिना अन्तःशुद्धि उसी प्रकार सम्भव नहीं है जैसे धानके ऊपरका छिलका दूर हुए बिना धानके अन्दर चावलके ऊपरका लाल आवरण दूर होकर चावल स्वच्छ सफेद नहीं हो सकता। कहा है—'जैसे तुष (छिलका) सहित चावलके ऊपरका लाल छिलका दूर नहीं किया जा सकता वैसे ही परिग्रहमें आसक्त जीवका कर्ममल दूर नहीं किया जा सकता।'

किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि केवल बाह्य परिग्रह ही छोड़ने योग्य हैं या बाह्य परिग्रहके छोड़नेसे अन्तरंग परिग्रहसे छुटकारा मिल जाता है। बाह्य परिग्रहकी तरह अन्तरंग परिग्रह भी छोड़ना चाहिए तथा उसके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। बाह्य परिग्रह छोड़ देनेपर भी यदि शरीरके प्रति भी ममत्व भाव बना रहा तो शरीरके नग्न रहनेपर भी परिग्रहसे छुटकारा नहीं हो सकता। अभ्यन्तर परिग्रह इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व —वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अश्रद्धान, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद अर्थात् स्त्रीवेद नोकषायके उदयसे पुरुषमें, पुरुषवेद नोकषायके उदयसे स्त्रीमें और नपुंसकवेद नोकषायके उदयसे दोनोंमें रमणकी अभिलाषा, हास्य, भय, जुगुप्सा, रति, अरति, शोक तथा चार कषाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं। और खेत, गृह, धन—सुवर्णादि, धान्य गेहूँ आदि, कुप्य वस्त्र आदि, भाण्ड—हींग, मिर्चा आदि, दासदासी—भृत्यवर्ग, हाथी आदि चौपाये सवारी, शय्या-आसन ये दस बाह्य परिग्रह हैं। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें धानको नहीं गिनाया है और शय्या तथा आसनको अलग-अलग गिनकर दस संख्याकी पूर्ति की है।

ते च कर्मबन्धन (निबन्धन) मूर्च्छानिमित्तत्वात्त्याज्यतयोपदिष्टाः । यथाह—

'मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः ॥'
'यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥'
'एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद् भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्छाऽस्ति ॥' [पुरुषार्थ. ११२-११४]

अथ सङ्गत्यागविधिमाह—

परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भः ।
त्याज्यं ग्रन्थमशेषं त्यक्त्वापरनिर्ममः स्वशर्म भजेत् ॥१०६॥

करणगोचरमरीचिकां—करणैश्चक्षुरादीन्द्रियैः क्रियमाणा गोचरेषु रूपादिविषयेषु मरीचिका प्रतिनियतवृत्त्यात्मनो मनाक् प्रकाशः । अथवा करणगोचरा इन्द्रियार्था मरीचिका मृगतृष्णेव जलबुद्ध्या

श्वेताम्बर साहित्यमें सिद्धसेन गणिकी तत्त्वार्थटीकामें (७।१२) अन्तरंग परिग्रहकी संख्या तो चौदह बतलायी है किन्तु बाह्य परिग्रहकी संख्या नहीं लिखी। उनमें-से अभ्यन्तर परिग्रहके चौदह भेद हैं—राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यादर्शन, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद। बाह्य परिग्रह—वास्तु, क्षेत्र, धन, धान्य, शय्या, आसन, यान, कुप्य, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद और भाण्ड हैं।

अभ्यन्तर परिग्रहमें वेदको एक गिना है और रागद्वेषको मिलाकर १४ संख्या पूरी की है। किन्तु बाह्य परिग्रह अलग गिननेसे १२ होते हैं। इसमें त्रिपद नवीन है जो अन्यत्र नहीं है। वैसे इस परम्परामें ९ बाह्य परिग्रह गिनाये हैं। यथा—धर्म संग्रहकी टीकामें कहा है—धन १, धान्य २, क्षेत्र ३, वास्तु ४, रूप्य ५, सुवर्ण ६, कुप्य ७, द्विपद ८, चतुष्पद ९ ये बाह्य परिग्रह हैं। हेमचन्द्रने भी नौ बाह्य परिग्रह कहे हैं[1] ॥१०५॥

परिग्रहके त्यागकी विधि कहते हैं—

मरीचिकाके तुल्य इन्द्रिय विषयोंको त्याग कर समस्त सावद्य क्रियाओंको भी त्याग दे। तथा छोड़नेके लिए शक्य गृह-गृहिणी आदि समस्त परिग्रहको त्याग कर, जिसका छोड़ना शक्य नहीं है ऐसे शरीर आदिमें 'यह मेरा है' या 'यह मैं हूँ' इस प्रकारका संकल्प दूर करके आत्मिक सुखको भोगना चाहिए ॥१०६॥

विशेषार्थ—इन्द्रियोंके विषय मरीचिकाके तुल्य हैं। सूर्यकी किरणोंके रेतमें पड़नेसे वनमें मृगोंको जलका भ्रम होता है उसे मरीचिका कहते हैं। जैसे मृग जल समझकर उसके लिए दौड़ता है वैसे ही लोग सुख मानकर बड़ी उत्सुकतासे इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर दौड़ते हैं। अतः वे सर्वप्रथम त्यागने चाहिए। उसके बाद समस्त आरम्भको त्यागकर छोड़ सकने योग्य सभी प्रकारके परिग्रहोंको छोड़ देना चाहिए। बालकी नोकके बराबर भी छोड़ने योग्य

१. धनं धान्यं स्वर्णरूप्यकुप्यानि क्षेत्रवास्तुनी ।
द्विपाच्चतुष्पाच्चेति स्युर्नव बाह्याः परिग्रहाः ॥—योगशास्त्र २।११५ की वृत्ति ।

मृगैरिव सुखबुद्धया लोकैरौत्सुक्यादभिगम्यमानत्वात् । त्याज्यं—त्यक्तुं (शक्यं) गृहगृहिण्यादिकम् । अपरनिर्ममः—त्यक्तुमशक्यशरीरादौ ममेदमिति संकल्परहितः । उक्तं च—

३ 'जीवाजीवणिबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव ।
तेसिं सक्कच्चाओ इय भणिओ णिम्ममो संगो ॥' [ ] ॥१०६॥

परिग्रहको अपने पास नहीं रखना चाहिए। अपने पास न रखनेसे ऐसा आशय नहीं लेना चाहिए कि स्वयं न रखकर किसी दूसरेके अधिकारमें रख दे जैसा कि आजकल साधु संघ मोटर रखते हैं और उसे किसी संघस्थ श्रावकको सौंप देते हैं। यह परिग्रहका त्याग नहीं है उसका भोग है। क्योंकि यद्यपि साधु स्वयं मोटरमें नहीं बैठते किन्तु उनका संकल्पजाल उसमें बराबर रहता है। अपरिग्रही साधुके लिए तो जो छोड़ा नहीं जा सकता उस शरीरमें भी ममत्व भाव त्याज्य है। मोहके उदयसे ममकार और अहंकार होते हैं। ममकार और अहंकार करनेसे आत्मा रागमें होता है।

इन दोनोंका स्वरूप इस प्रकार कहा[1] है—'जो सदा आत्माके नहीं हैं और कर्मके उदयसे बने हैं ऐसे अपने शरीर वगैरहमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका अभिप्राय ममकार है। जैसे मेरा शरीर। जो भाव कर्म जन्य है और निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं उन्हें अपना मानना अहंकार है। जैसे 'मैं राजा हूँ'। तो जिस परिग्रहको छोड़ना शक्य नहीं है उसमें भी ममकार करना जब परिग्रह है तब जिसका त्याग कर चुके उसे ही प्रकारान्तरसे अपनाना तो परिग्रह है ही। और परद्रव्यका ग्रहण ही बन्धका कारण है तथा स्वद्रव्यमें ही लीन होना मोक्षका कारण है। कहा है—जो परद्रव्यको स्वीकार करता है, उसमें ममत्व भाव रखता है, वह अपराधी है अतः अवश्य बँधता है। और जो यति स्वद्रव्यमें लीन रहता है वह निर-पराधी है अतः नहीं बँधता।

और भी कहा[2] है—जो कोई भी मुक्त हुए हैं वे भेद विज्ञानसे मुक्त हुए हैं। और जो कोई बँधे हैं वे उसी भेदविज्ञानके अभावसे बँधे हैं यह निश्चित है। भेद विज्ञानसे मतलब है एक मात्र अपने शुद्ध आत्मामें और आत्मिक गुणोंमें स्वत्व भाव और उससे भिन्न कर्मजन्य सभी पदार्थोंमें सभी भावोंमें आत्मबुद्धिका निरास। यह भेद विज्ञानकी भावना सतत चलती रहना चाहिए। इसका विच्छेद होनेपर ममत्वभाव आये बिना रहता नहीं। परिग्रहको छोड़ देने मात्रसे वह नहीं छूटती उसके लिए सदा जागरूक रहना पड़ता है क्योंकि उसकी जड़ तो ममत्व भाव है ॥१०६॥

१. शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥
ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहङ्कारोऽहं यथा नृपतिः ॥
—तत्त्वानुशा. १४-१५ श्लोक ।

२. भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥
—सम. कलश—१३१ ।

अथ धनधान्यादिग्रन्थग्रहाविष्टस्य मिथ्यात्व-हास्य-वेद-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-मान-कोप-माया-लोभोद्भवपारतन्त्र्यं यत्र तत्र प्रवर्तमानमनुक्रमेण व्याकर्तुमाह—

श्रद्धत्तेऽनर्थमर्थं हसमनवसरेऽप्येत्यगम्यामपीच्छ-
त्यास्तेऽरम्येऽपि रम्येऽप्यहह न रमते दैष्टिकेऽप्येति शोकम् ।
यस्मात्तस्माद्बिभेति क्षिपति गुणवतोऽप्युद्धतिक्रोधदम्भा-
नस्थानेऽपि प्रयुङ्क्ते ग्रसितुमपि जगद्वष्टि सङ्गग्रहार्तः ॥१०७॥

अनर्थं—अतत्त्वभूतं वस्तु—तत्त्वभूतं रोचते धनेश्वरादिच्छन्दानुवृत्तिवशादिति यथासंभवमुपस्कारः कार्यः। तथा च पठन्ति—

'हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यतिरोदिति
गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति ।
कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति
धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥' [वादन्याय. पृ. १११]

अगम्या—गुरुराजादिपत्नीम् । अरम्ये—अप्रीतिकरे भिल्लपल्ल्यादिस्थाने । दैष्टिके—दैवप्रमाणके । इष्टवियोगादौ । क्षिपति—जुगुप्सते । अस्थाने—गुर्वादिविषये । वष्टि—वाञ्छति ॥१०७॥

अथाचेतनेतरबाह्यपरिग्रहद्वयस्य दुस्त्यजत्वं तावदविशेषेणैवाभिधत्ते—

जिसपर धन-धान्य आदि परिग्रहका भूत सवार रहता है वह मिथ्यात्व हास्य, वेद, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, मान, कोप, माया और लोभके वशीभूत होकर जहाँ-तहाँ कैसी प्रवृत्ति करता है इसे क्रमसे बतलाते हैं—

परिग्रहरूपी भूतसे पीडित व्यक्ति अनर्थको अर्थरूप श्रद्धा करता है अर्थात् अतत्त्वभूत वस्तुको तत्त्वभूत मानता है। इससे मिथ्यात्व नामक अभ्यन्तर परिग्रहका प्रभाव बतलाया है। अवसरकी तो बात ही क्या, बिना अवसरके भी हँसता है। यह हास्य नामक परिग्रहका प्रभाव है। अगम्या स्त्रीको भी पसन्द कर लेता है अर्थात् यदि गुरु, राजा आदिकी पत्नी लालच दे कि यदि तुम मेरे साथ सहवास करोगे तो मैं तुम्हें यह-यह दूँगी तो उसके लोभमें आकर उसका कहा करता है। यह पुरुषवेद नामक परिग्रहका माहात्म्य है। इसी प्रकार स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका भी जानना। अरुचिकर भील आदिके गाँवोंमें भी जा बसता है। यह रति नामक परिग्रहका प्रभाव है। कभी रमणीक राजधानी आदि स्थानमें भी इसका मन नहीं रमता। यह अरति नामक परिग्रहका प्रभाव है। दैववश आयी हुई विपत्तिमें भी शोक करता है। यह शोक नामक परिग्रहका प्रभाव है। जिस किसीसे भी डरकर चाहे वह डरका कारण हो अथवा न हो भयभीत होता है। यह उसके भय नामक परिग्रहका प्रभाव है। दोषीकी तो बात ही क्या, गुणवान्से भी घृणा करता है। यह जुगुप्सा नामक परिग्रहका प्रभाव है। अस्थानमें भी क्रोध, मान और मायाचार करता है। यह उसके क्रोध, मान और माया नामक परिग्रहका प्रभाव है। अधिक क्या कहें, परिग्रहकी भावनासे पीड़ित होकर समस्त विश्वको भी अपने उदरमें रख लेना चाहता है। यह लोभ नामक परिग्रहका प्रभाव है। यह बड़े ही खेद या आश्चर्यकी बात है। ये सब अन्तरंग परिग्रह हैं ॥१०७॥

इस तरह अन्तरंग परिग्रहका माहात्म्य बतलाकर आगे सामान्य रूपसे चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकारकी बाह्य परिग्रहको छोड़ना कितना कठिन है यह बतलाते हैं—

प्राग्देहस्वग्रहात्मीकृतनियतिपरीपाकसंपादितैत-
द्देहद्वारेण दारप्रभृतिभिरिमकैस्स्वकामुकैरालयाद्यैः ।
लोकः केनापि बाह्यैरपि दृढमबहिस्तेन बन्धेन बद्धो
दुःखात्तं छेत्तुमिच्छन् निबिडयतितरां यं विषादाम्बुवर्षैः ॥१०८॥

प्रागित्यादि। प्राग्देहे—पूर्वभवशरीरे यः स्वग्रह आत्मेति आत्मीय इति वा निश्चयस्तेन आत्मीकृता स्वीकृता बद्धा या नियतिर्नाम कर्मविशेषः तस्या. परिपाक उदयः। जीवो हि यादृशं भावयति तादृशमेवासादयति। तदुक्तम्—

'अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥' [ ]

निविडयतितरां—अतिशयेन गाढं करोति। रज्वादिबन्धस्य जलसेचनेनातिगाढीभावदर्शनादेवमुक्तम् ॥१०८॥

अथ षोडशभि. पद्यैश्चेतनबहिरङ्गसङ्गदोषान् प्रविभागेन वक्तुकामः पूर्वं तावद् गाढरागनिमित्तभूतत्वात्कालत्रयस्य (कलत्रस्य) दोषान् वृत्तपञ्चकेनाचष्टे—

वपुस्तादात्म्येक्षामुखरतिसुखोत्कः स्त्रियमरं,
परामप्यारोप्य श्रुतिवचनयुक्त्याऽऽत्मनि जडः ।
तदुच्छ्वासोच्छ्वासी तदसुखसुखासौख्यसुखभाक्
कृतघ्नो मात्रादीनपि परिभवत्याः परधिया ॥१०९॥

पूर्वजन्ममें इस जीवने शरीरमें 'यह मैं हूँ' या 'यह मेरा है' इस प्रकारका निश्चय करके जो पुद्गलविपाकी नामकर्म बाँधा था उसीके उदयसे यह शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीरके सम्बन्धसे जो ये स्त्री-पुत्रादि तथा गृह आदि प्राप्त हैं यद्यपि ये सब बाह्य हैं तथापि मूढ़ बुद्धि जन अन्तरंगमें किसी अलौकिक गाढ़े बन्धनसे बद्ध हैं। जब वह उनके द्वारा पीड़ित होकर, उस बन्धनको काटना चाहता है अर्थात् स्त्री-पुत्रादिकको छोड़ना चाहता है तो विषादरूपी जलकी वर्षासे उस बन्धनको गाढ़ा कर लेता है। अर्थात् देखा जाता है कि पानी डालनेसे रस्सीकी गाँठ और भी दृढ़ हो जाती है। इसी तरह स्त्री-पुत्र आदिके छोड़नेका संकल्प करके भी उनके वियोगकी भावनासे जो दुःख होता है उससे पुनः दुःखदायक असातावेदनीय कर्मका ही बन्ध कर लेता है ॥१०८॥

विशेषार्थ—पूर्वजन्ममें बाँधे गये कर्मके उदयसे शरीर मिला है। शरीरके सम्बन्धसे स्त्री-पुत्रादि प्राप्त हुए हैं। स्त्री, पुत्र, गृह आदि बाह्य हैं। तथापि आश्चर्य यह है कि बाह्य होकर भी अन्तरंगको बाँधते हैं और जब इनसे दुखी होकर इन्हें छोड़ना चाहता है तो उनके वियोगकी कल्पनासे आकुल होकर और भी तीव्र कर्मका बन्ध करता है ॥१०८॥

आगे सोलह पद्योंसे बाह्य चेतन परिग्रहके दोषोंको कहना चाहते हैं। उनमें-से प्रथम पाँच पद्योंसे स्त्रीके दोषोंको कहते हैं क्योंकि स्त्री गाढ़ रागमें निमित्त है—

यह मूढ़ प्राणी शरीरके साथ अपना तादात्म्य मानता है। उसका मत है कि शरीर ही मैं हूँ और मैं ही शरीर हूँ। इसी भावनासे प्रेरित होकर वह रतिसुखके लिए उत्कण्ठित होता है और अपनेसे अत्यन्त भिन्न भी स्त्रीको वेद मन्त्रोंके द्वारा अपनेमें स्थापित करके उसके उच्छ्वासके साथ उच्छ्वास लेता है, उसके सुखमें सुख और दुःखमें दुःखका अनुभव करता है। खेद है कि वह कृतघ्न अपना विरोधी मानकर अन्य जनोंकी तो बात ही क्या, माता-

तादात्म्यं—एकत्वम्। श्रुतिवचनयुक्त्या—वेदवाक्ययोजनेन। विवाहकाले हि वैदिकमन्त्रेण स्त्रीपुंसयोरेकत्वं द्विजैरापाद्येत। परधिया—विपक्षबुद्धया ॥१०९॥

अथैवं स्त्रीप्रसक्तस्य जनन्यादिपरिभवोत्पादद्वारेण कृतघ्नत्वं प्रकाश्य सांप्रतं मरणेनापि तामनुगच्छतस्तस्य दुरन्तदुर्गतिदुःखोपभोगं वक्रवाग्भङ्ग्या व्यनक्ति—

चिराय साधारणजन्मदुःखं पश्यन्परं दुःसहमात्मनोऽग्रे।
पृथग्जनः कर्तुमिवेह योग्यां मृत्यानुगच्छत्यपि जीवितेशाम् ॥११०॥

साधारणजन्म—निगोदेषु गुडूचीमूलकादिषूत्पादः। योग्यं—अभ्यासं निगोदे हि एकस्मिन् म्रियमाणे अनन्ता अपि म्रियन्ते। जीवितेशां—वल्लभाम्। पृथग्जनस्य तदायत्तजीवितत्वात् ॥११०॥

अथ भार्यायाः संभोगविप्रलम्भशृङ्गाराभ्यां पुरुषार्थभ्रंशकत्वमुपलम्भयति—

पिता आदिका भी तिरस्कार करता है कि इन्होंने मेरा कुछ भी नहीं किया, मैं तो अपने पुण्योदयसे ही बना हूँ ॥१०९॥

विशेषार्थ—शरीरमें आत्मबुद्धिकी भावनासे ही शरीरमें राग पैदा होता है और यह राग ही रतिसुखकी उत्कण्ठा पैदा करता है। उसीकी पूर्तिके लिए मनुष्य विवाह करता है। विवाहके समय ब्राह्मण पण्डित वैदिक मन्त्र पढ़कर स्त्री और पुरुषको एक सूत्रमें बाँध देते हैं। फिर तो वह स्त्रीमें ऐसा आसक्त होता है कि माता-पिताको भी कुछ नहीं समझता। यह बात तो जन-जनके अनुभवकी है। कौन ऐसा कृतज्ञ है जो स्त्रीकी उपेक्षा करके माता-पिताकी बात रखे। घर-घरमें इसीसे कलह होता है। वृद्धावस्थामें माता-पिता कष्ट उठाते हैं और स्त्रीके भयसे पुत्र उनकी उपेक्षा करता है। इसका मूल कारण विषयासक्ति ही है। और इस विषयासक्तिका मूल कारण शरीरमें आत्मबुद्धि है। जबतक यह विपरीत बुद्धि दूर नहीं होती तब तक इस परिग्रहसे छुटकारा नहीं हो सकता ॥१०९॥

इस तरह स्त्रीमें आसक्त मनुष्य माता आदिका भी तिरस्कार करके कृतघ्न बनता है यह दिखाकर वचनभंगीके द्वारा यह प्रकट करते हैं कि यह जीव स्त्रीके मरणका भी अनुगमन करके कठिनतासे समाप्त होनेवाले दुर्गतिके दुःखोंको भोगता है—

मुझे आगे चिरकाल तक साधारण निगोद पर्यायमें जन्म लेनेका उत्कृष्ट दुःसह दुःख भोगना पड़ेगा, यह देखकर स्त्रीमें आसक्त मूढ़ मनुष्य मानो अभ्यास करनेके लिए अपनी प्राणप्यारी स्त्रीका मृत्युमें भी अनुगमन करता है अर्थात् उसके मरनेपर स्वयं भी मर जाता है ॥११०॥

विशेषार्थ—निगोदिया जीवोंको साधारणकाय कहते हैं। क्योंकि उन सबका आहार, श्वासोच्छ्वास, जीवन-मरण एक साथ होता है। स्त्रीमें अत्यन्त आसक्त मोही जीव मरकर साधारण कायमें जन्म ले सकता है। वहाँ उसे अन्य अनन्त जीवोंके साथ ही चिरकाल तक जीना-मरना पड़ेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि उसीके अभ्यासके लिए ही मोही जीव स्त्रीके साथ मरता है ॥११०॥

पत्नी सम्भोग और विप्रलम्भ शृंगारके द्वारा मनुष्यको पुरुषार्थसे भ्रष्ट करती है इसका उलाहना देते हैं—

:मात्रादपि रुजति नरं यानुरज्यानुवृत्त्या
प्राणैः स्वार्थापकर्षं कुशयति बहुशस्तन्वती विप्रलम्भम् ।
क्षेपावज्ञाशुगिच्छाविहतिविलपनाद्युग्रमन्तर्वुनोति,
प्राज्या गन्त्वामिषावामिषमपि कुरुते सापि भार्याऽहहार्या ॥१११॥

प्रक्षोभ्येत्यादि । पुर्वानुरागद्वारेण दुःखापादकत्वोक्तिरियम् । तल्लक्षण यथा—

'स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेवोल्लसितरागयोः ।
ज्ञेयः पूर्वानुरागोऽयमपूर्णस्पृहयोर्दशा[1] ॥ [ ]

अनुरज्येत्यादि । संभोगमुखेन बाधकत्वकथन[2] (?) मिदम् । कामिन्यो हि रहसि यथारुचि कामुकाननुवृत्य यथेष्टं चेष्टयन्ति । तदुक्तम्—

'यद्यदेव रुरुचे रुचितेभ्यः सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन् ।
आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि रमण्यः ॥' [ ]

स्वार्थापकर्षमादि[3] प्रच्याव्य । विप्रलम्भं—प्रणयभङ्गेर्ष्याप्रभवमानशृङ्गारं प्रवासं च । क्षेप.—धिक्कारः । शुक्—शोकः । विलपनं—परिवेदनं[4] रामस्य यथा—

'स्निग्धः श्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्‌वलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥' [काव्यप्रकाश, ११२ श्लो.]

अपि च—

'हारो नारोपितः कण्ठे स्पर्शविच्छेदभीरुणा ।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥' [ ]

जो पत्नी अपने रूपके दर्शन मात्रसे ही मनुष्यके मनको अत्यन्त चंचल करके उसे सन्तप्त करती है, फिर पतिकी इच्छानुसार चलकर, उसे अपनेमें अनुरक्त करके धर्म आदि पुरुषार्थसे डिगाकर उसके बल, आयु, इन्द्रिय आदि प्राणोंको कमजोर बना देती है, तथा तिरस्कार, अनादर, शोक, इष्टघात, रुदन आदिके द्वारा असह्य विप्रलम्भको बढ़ाकर अर्थात् कभी रूठकर, कभी प्रणयकोप करके, कभी पिताके घर जाकर मनुष्यके अन्तःकरणको दु.खी करती है। इस तरह नाना प्रकारके दुःखरूपी राक्षसोंका ग्रास बना देती है। आश्चर्य है कि फिर भी मनुष्य पत्नीको आर्या मानता है। अथवा खेद है कि फिर भी कामी जन पत्नीको हार्या—हृदयको हरनेवाली प्यारी मानते हैं ॥१११॥

विशेषार्थ—विप्रलम्भ श्रृंगारके चार भेद कहे हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणा। इनमें-से पहले-पहलेका तीव्र होता है। अर्थात् सबसे तीव्र पूर्वानुराग है। प्रथम दर्शनसे जो अनुराग होता है वह तीव्र पीड़ाकारक होता है। उसके बाद विवाह होनेपर

---

१. दृशो. भ. कु. च ।
२. कत्वमुक्तम् भ. कु. च. ।
३. -र्षं धर्मादिपुरुषार्थात्प्रच्याव्य भ. कु च. ।
४. परिदेवनं भ. कु. च. ।

प्राज्येत्यादि—प्राज्या. प्रचुरा आगन्तव. शत्रुप्रहारादयो दुःखप्रकारास्त एव आमिषादा राक्षसास्तेषामामिषं विषयं ग्रासं वा। अहह—अद्भुते खेदे वा। आर्या—अर्यते गम्यते गुणवत्तयाश्रियते इति। अथवा 'आह' इति खेदे। हार्या—इति अनुरञ्जनीया इत्यर्थ. ॥१११॥

अथ पूर्वानुरागादिश्रृङ्गारद्वारेण स्त्रीणा पुंस्पीडकत्वं यथाक्रमं दृष्टान्तेषु स्पष्टयन्नाह—

स्वासङ्गेन सुलोचना जयमघाम्भोधौ तथाऽऽवर्तयत्,
स्वयं श्रीमत्यनु वज्रजङ्घमनयद् भोगालसं दुर्मृतिम्।
मानासद्ग्रह-विप्रयोग समरानाचारशङ्कादिभिः,
सीता राममतापयत्क न पतिं हा सापदि द्रौपदी ॥११२॥

सुलोचना—अकम्पनराजाङ्गजा। जयं—मेघेश्वरम्। अघाम्भोधौ—दुःखाहोव्यसने यथा। तथा—तेन अर्ककीर्तिमहाहवादिकरणप्रकारेण। स्वमनु—आत्मना सह। श्रीमती—वज्रदन्तचक्रवर्तिपुत्री। दुर्मृति—केशवासनधूपधूमव्याकुलकण्ठतया मरणम्। मान.—प्रणयभङ्गकलह.। असद्ग्रहः—युध्यमानलक्ष्मणपराजयनिवारणाय त प्रति रामप्रेषणदुरभिनिवेशः। अनाचारशङ्का—दशमुखोपभोगसंभावना।

जो सम्भोग होता है वह मनुष्यकी शक्ति आदिको क्षीण करता है। फिर भी मनुष्य स्त्रीमें अत्यधिक आसक्त होता जाता है। तब स्त्री रूठती है, खाना नहीं खाती, या पिताके घर चली जाती है या रोती है इन सबसे मनुष्यका मन दुःखी होता है ॥१११॥

इन पूर्वानुराग आदि शृंगारके द्वारा स्त्री किस तरह पुरुषको कष्ट देती है यह दृष्टान्त द्वारा क्रमसे स्पष्ट करते हैं—

सुलोचनाने अपने रूपकी आसक्तिसे जयकुमारको विपत्तियोंके समुद्रमें ला पटका, उसे चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिसे युद्ध करना पड़ा। वज्रदन्त चक्रवर्तीकी पुत्री श्रीमतीने अपने साथ अपने पति वज्रजंघको भी विषयासक्त बनाकर दुर्मरणका पात्र बनाया। सीताने प्रेमकलहमें अभिमान, कदाग्रह, वियोग, युद्ध और अनाचारकी शंका आदिके द्वारा रामचन्द्रको कष्ट पहुँचाया। और बड़ा खेद है कि द्रौपदीने अपने पति अर्जुनको किस विपत्तिमें नहीं डाला ॥११२॥

विशेषार्थ—ऊपर विप्रलम्भ शृंगारके चार भेद कहे हैं। यहाँ उन्हें दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। महापुराणमें जयकुमार-सुलोचनाकी कथा प्रसिद्ध है। जयकुमार भगवान ऋषभदेवको आहारदान देनेवाले राजा सोमका पुत्र था। उसने सम्राट् भरतका सेनापति होकर मेघकुमारको जीता था। इससे वह मेघेश्वर जयकुमार कहे जाते थे। काशीराज अकम्पनकी पुत्री सुलोचना जब विवाह योग्य हुई तो उसका स्वयंवर हुआ। उसमे जयकुमार और सम्राट् भरतका पुत्र अर्ककीर्ति भी उपस्थित हुए। सुलोचनाने पूर्वानुरागवश जयकुमारका वरण किया। इसे अर्ककीर्तिने अपना अपमान समझा। उसने जयकुमारसे घोर युद्ध किया। इस तरह सुलोचनाने पूर्वानुरागवश जयकुमारको विपत्तिमें डाला। इस तरह पूर्वानुरागविप्रलम्भ दुःखदायी है। दूसरा उदाहरण है सम्भोगशृंगारका। श्रीमती और वज्रजंघ परस्परमें बड़े अनुरक्त थे। एक दिन वे दोनों शयनागारमें सोते थे। सुगन्धित धूप जल रही थी। द्वारपाल झरोखे खोलना भूल गया और दोनों दम घुटनेसे मर गये। इस तरह सम्भोग शृंगार दुःखदायी है। यह कथा महापुराणके नवम पर्वमें आयी है। तीसरा उदाहरण है सीताका। वनवासके समय जब लक्ष्मण राक्षसोंसे युद्ध करने गया था और मारीचने

आदिशब्दाद्दिव्यशुद्धयुत्तरकाले रामस्यापमाननं तपस्यतश्चोपसर्गकरणम् । पति—अर्जुनम् । आस—चिक्षेप । आपदि—स्वयंवरामण्डपयुद्धादिव्यसनावर्ते । द्रौपदी—पञ्चालराजपुत्री ॥११२॥

अथ वल्लभाया दूरक्षत्व-शीलभङ्ग-सद्गुरुसंगान्तरायहेतुत्व-परलोकोद्योग - प्रतिबन्धकत्वकथनद्वारेण मुमुक्षूणां प्रागेवापरिग्राह्यत्वमुपदिशति—

तैरश्चोऽपि वधूं प्रदूषयति पुंयोगस्तथेति प्रिया-
सामीप्याय तुजेऽप्यसूयति सदा तद्विप्लवे दूयते ।
तद्विप्रीतिभयान्न जातु सजति ज्यायोभिरिच्छन्नपि,
त्यक्तुं सद्म कुतोऽपि जीर्यतितरां तत्रैव तद्यन्त्रितः ॥११३॥

तथा सत्यं तेन वा प्रभञ्जनचरितादिप्रसिद्धेन प्रकारेण । तत्र हि राज्ञी मर्कटासक्ता श्रूयते । तुजे—पुत्राय । तद्विप्लवे—प्रियाशीलभङ्गे । सजति—संगं करोति । ज्यायोभिः—धर्माचार्यादिभिः ॥११३॥

कपटसे हा राम, हा रामकी ध्वनि की तो सीताने घोर आग्रह करके रामको उसकी मददके लिए भेजा। पीछेसे रावणने उसका हरण किया। उसके वियोगमें रामने घोर कष्ट सहन किया। फिर सीताके विषयमें यह आशंका की गयी कि रावणके घरमें इतने लम्बे समय तक रहनेसे वह शीलवती कैसे हो सकती है। इससे भी रामचन्द्रको मार्मिक व्यथा हुई और उन्हें सीताकी अग्निपरीक्षा लेनी पड़ी। ये सब मान-प्रवास नामक विप्रलम्भके द्वारा दुःखोत्पत्तिके उदाहरण हैं। यह सब कथा पद्मपुराणमें वर्णित है। तथा पंचालदेशके राजा द्रुपदकी पुत्री द्रौपदी तो प्रसिद्ध है। स्वयंवर मण्डपमें उसने अर्जुनके गलेमें वरमाला डाली तो वह टूटकर पाँचों पाण्डवोंपर गिरी। इससे यह अपवाद फैला कि उसने पाँचों पाण्डवोंको वरण किया है। वरणके बाद अर्जुनको स्वयंवर में आगत कौरव आदि राजाओंसे युद्ध करना पड़ा। जुएमें हार जानेपर कौरव सभामें द्रौपदीका चीर हरण किया गया। जो आगे महाभारतका कारण बना। यह सब कथा हरिवंशपुराणमें वर्णित है। यह पूर्वानुराग और प्रवास विप्रलम्भके द्वारा दुःखका उत्पादक दृष्टान्त है ॥११२॥

आगे बतलाते हैं कि स्त्रीकी रक्षा करना बहुत कठिन है, उनका यदि शील भंग हो जाये तो बड़ा कष्ट होता है, वे सद्गुरुओंकी संगतिमें बाधक हैं, उनसे परलोकके लिए उद्योग करनेमें रुकावट पड़ती है। अतः मुमुक्षुओंको पहले ही उनका पाणिग्रहण नहीं करना चाहिए—

दूसरोंकी तो बात ही क्या, पुत्र भी यदि प्रियाके निकट रहे तो उसपर भी दोषारोपण लोक करते हैं और यह उचित भी है क्योंकि तिर्यंच पुरुषका भी सम्बन्ध स्त्रीको दूषित कर देता है फिर मनुष्यका तो कहना ही क्या है। तथा अपनी पत्नीके शीलभंगकी बात भी सुनकर मनुष्यका मन सदा खेदखिन्न रहता है। स्त्रीसे प्रीति टूट जानेके भयसे मनुष्य धर्मगुरुओंके पास भी नहीं जाता। पुत्रमरण आदि किसी कारणसे घर छोड़ना चाहते हुए भी स्त्रीके बन्धनमें बँधा हुआ घरमें ही जराजीर्ण होता है—बूढ़ा होकर मर जाता है ॥११३॥

विशेषार्थ—कहावत प्रसिद्ध है कि विवाह ऐसा फल है कि जो खाता है वह पछताता है। नीतिशास्त्रमें भी कहा है कि रूपवती भार्या शत्रु है। जो लोग वृद्धावस्थामें विवाह करते हैं उन्हें अपनी नयी नवेलीमें अति आसक्ति होती है। फलतः यदि उनका युवा पुत्र अपनी नयी माँसे अधिक प्रीति करता है तो उन्हें यह शंका सदा सताती रहती है कि कहीं

अथ पुत्रमोहान्धान् दूषयन्नाह—

य: पत्नीं गर्भभावात् प्रभृति विगुणयन् न्यक्करोति त्रिवर्गं,
प्रायो वप्तुः प्रतापं तरुणिमनि हिनस्त्याददानो धनं यः।
मूर्खः पापो विपद्वाननुपकृतिकृपणो वा भवन् यश्च शल्य-
त्यात्मा वै पुत्रनामास्ययमिति पशुभिर्युज्यते स्वेन सोऽपि ॥११४॥

विगुणयन्—सौष्ठव-सौन्दर्यादिगुणरहितां विकूला वा कुर्वन्। न्यक्करोति—ह्रासयति। यद्वृद्धाः—

'जाओ हरइ कलत्तं वड्ढंतो वड्ढिमा हरइ।
अत्थं हरइ समत्थो पुत्तसमो वैरिओ णत्थि ॥' [ ]

मूर्खः। यल्लोकः—

'अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम्।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीवं जडो भवेत् ॥' [ ]

पापः—ब्रह्महत्या-परदारागमनादिपातकयुक्तः। विपद्वान्—व्याधिबन्दिग्रहादि-विपत्तिपतितः।
उपकृतिकृपणः—असामर्थ्यादविवेकाद्वा अनुपकारकः। आत्मेत्यादि। यज्जातकर्मणि पठन्ति—

'अङ्गादङ्गात्प्रभवसि हृदयादपि जायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि संजीव शरदः शतम् ॥' [ ]

वह मेरी पत्नीसे फँस न जाये। और ऐसी शंका उचित भी है, क्योंकि पुरुषकी तो बात ही क्या, पशुका संसर्ग भी स्त्रीको बिगाड़ता है। प्रभंजन चरितमें एक रानीकी कथा वर्णित है जो बन्दरपर आसक्त थी। जो स्त्रियाँ कुत्ते पालती हैं उनके सम्बन्धमें भी ऐसा ही सुना जाता है। फिर अपनी स्त्रीके शीलभंगकी बात भी कोई कह दे तो बड़ा कष्ट होता है। स्त्रीके मोहवश ही मनुष्य साधु-सन्तोंके समागमसे डरता है। कभी सांसारिक कष्टोंसे घबराकर घर छोड़नेका विचार भी करता है किन्तु स्त्रीसे बँधकर घरमें ही वृद्ध होकर कालके गालमें चला जाता है। अतः मुमुक्षुओंको विवाह ही नहीं करना चाहिए यह उक्त कथनका सार है ॥११३॥

इस प्रकार स्त्रीके रागमें अन्धे हुए मनुष्योंकी बुराई बतलाकर अब पुत्रके मोहसे अन्धे हुए मनुष्योंकी बुराई बतलाते हैं—

जो गर्भभावसे लेकर पत्नीके स्वास्थ्य-सौन्दर्य आदि गुणोंको हरकर मनुष्यके धर्म, अर्थ और काममें कमी पैदा करता है, युवावस्थामें पिताके धनपर कब्जा करके प्रायः उसके प्रतापको नष्ट करता है, यदि वह मूर्ख या पापी हुआ अथवा किसी विपत्तिमें पड़ गया, या असमर्थ अथवा अविवेकी होनेसे माता-पिताके उपकारको भुला बैठा तो शरीरमें घुसी हुई कीलकी तरह कष्ट देता है। ऐसा भी पुत्र घरेलू व्यवहारमें विमूढ़ गृहस्थोंके द्वारा यह मेरा पुत्र नामधारी आत्मा है, इस प्रकार अपनेसे अभिन्न माना जाता है ॥११४॥

विशेषार्थ—माता-पिताके रज और वीर्यको आत्मसात् करनेवाले जीवको गर्भ कहते हैं और उसके भावको अर्थात् स्वरूपस्वीकारको गर्भभाव कहते हैं। पुत्रोत्पत्तिसे स्त्रीके स्वास्थ्य और सौन्दर्यमें कमी आ जाती है। साथ ही, स्त्री फिर पुत्रके मोहवश पतिसे उतनी प्रीति भी नहीं करती। फलतः पुरुषके भोगमें विघ्न पड़ने लगता है। युवा होनेपर पुत्र धनका मालिक बन बैठता है। कहा भी है—'उत्पन्न होते ही स्त्रीका, बड़ा होनेपर बड़प्पनका और समर्थ होनेपर धनका हरण करता है। अतः पुत्रके समान कोई वैरी नहीं है। यदि पुत्र पढ़ा-लिखा नहीं या चोर, व्यभिचारी हुआ और जेलखानेमें बन्द हो गया या माता-पिताके

मनुस्त्विदमाह—

'पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायत्वं यदस्यां जायते पुनः ॥' [मनुस्मृति ९।८]

पशुभिः—गृहव्यवहारमूढैः । युज्यते—अभेदेन दृश्यते ॥११४॥

अथ पुत्रे सांसिद्धिकौपाधिकभ्रान्त्यपसारणेन परमार्थवर्त्मनि शिवार्थिनः स्थापयितुमाह—

यो वामस्य विधेः प्रतिष्कशतयाऽऽस्कन्दन् पितॄञ्जीवतो-
ऽप्युन्मथ्नाति स तर्पयिष्यति मृतान् पिण्डप्रदाद्यैः किल ।
इत्येषा जनुषान्धतार्य सहजाहार्याथ हार्या त्वया,
स्फार्यात्मैव ममात्मजः सुविधिनोद्धर्ता सदेत्येव दृक् ॥११५॥

वामस्य विधेः—बाधकस्य दैवस्य शास्त्रविरुद्धस्याचारस्य वा । प्रतिष्कशतया—सहकारिभावेन । आस्कन्दन्—दुष्कृतोदीरणतीव्रमोहोत्पादनद्वारेण कदर्थयन् । पुत्रो ह्यविनीतो दुःखदानोन्मुखस्य दुष्कृतस्योदीरणाया निमित्तं स्यात् । विनीतोऽपि स्वविषयमोहग्रहावेशनेन परलोकविरुद्धाचरणविधानस्य । उन्मथ्नाति—

उपकारको भूलकर उन्हें सताने लगा तो रात-दिन हृदयमें काँटेकी तरह करकता रहता है ।' और भी कहा है—'अजात (पैदा नहीं हुआ), मर गया और मूर्ख इन तीनोंमें-से मृत और अजात पुत्र श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे तो थोड़ा ही दुःख देते हैं किन्तु मूर्ख पुत्र जीवन-भर दुःख देता है ।'

इस तरह पुत्र दुःखदायक ही होता है फिर भी मोही माता-पिता उसे अपना ही प्रतिरूप मानते हैं । कहते है, मेरी ही आत्माने पुत्र नामसे जन्म लिया है । मनु महाराजने कहा है—'पति भार्यामें सम्यक् रूपसे प्रवेश करके गर्भरूप होकर इस लोकमें जन्म लेता है । स्त्रीको जाया कहते हैं । जायाका यही जायापना है कि उसमें वह पुनः जन्म लेता है' ॥११४॥

आगे इस प्रकार पुत्रके विषयमें स्वाभाविक और औपाधिक भ्रान्तियोंको दूर करके मुमुक्षुओंको मोक्षमार्गमें स्थापित करते हैं—

जो पुत्र प्रतिकूल विधि अथवा शास्त्र विरुद्ध आचारका सहायक होता हुआ पापकर्मकी उदीरणा या तीव्र मोहको उत्पन्न करके जीवित पिता-दादा आदिके भी प्राणोंका घात करता है, उनकी अन्तरात्माको कष्ट पहुँचाता है या उन्हें अत्यन्त मोही बनाकर धर्मकर्ममें लगने नहीं देता, वह पुत्र मरे हुए पितरोंको पिण्डदान करके तर्पण करेगा, यह स्वाभाविक या परोपदेशसे उत्पन्न हुई जन्मान्धताको हे आर्य ! तू छोड़ दे । और सम्यक्‌विहित आचारके द्वारा संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला मेरा आत्मा ही मेरा आत्मज है—पुत्र है इस प्रकारकी दृष्टिको सदा उज्ज्वल बना ॥११५॥

विशेषार्थ—पुत्र यदि अविनीत होता है तो पापकर्मकी उदीरणामें निमित्त होता है क्योंकि पापकर्मके उदयसे ही इस प्रकारका पुत्र उत्पन्न होता है जो माता-पिताकी अवज्ञा करके उन्हें कष्ट देता है । और यदि पुत्र विनयी, आज्ञाकारी होता है तो उसके मोहमें पड़कर माता-पिता धर्म-कर्मको भी भुला बैठते हैं । इस तरह दोनों ही प्रकारके पुत्र अपने पूर्वजोंके प्राणोंको कष्ट पहुँचाते हैं । फिर भी हिन्दू धर्ममें कहा है कि जिसके पुत्र नहीं होता उसकी गति नहीं होती । वह प्रेतयोनिमें ही पड़ा रहता है । प्रेतयोनिसे तभी निकास होता है जब पुत्र पिण्डदान करता है । उसीको लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि जो पुत्र जीवित

शुद्धचैतन्यलक्षणैः प्राणैर्वियोजयति । मृतान्—पञ्चत्वमापन्नान् । पिण्डप्रदाद्यैः—पिण्डप्रदान-जलतर्पण-ऋणशोधनादिभिः । जनुषान्धता—जात्यन्धत्वम् । सुविधिना—सम्यग्विहिताचरणेन ॥११५॥

अथ पुत्रिकामूढात्मनां स्वार्थभ्रंशं सखेदमावेदयति—

मात्रादीनामदृष्टद्रुघणहतिरिवाभाति यज्जन्मवार्ता
सौस्थ्यं यत्संप्रदाने क्वचिदपि न भवत्यन्वहं दुर्भगेव ।
या दुःशीलाऽफला वा स्खलति हृदि मृते विप्लुते वा धवेऽन्त-
र्या दन्दग्धीह मुग्धा दुहितरि सुतवद् घ्नन्ति धिक् स्वार्थमन्धाः ॥११६॥

द्रुघण —मुद्गरः । अफला—निरपत्या । विप्लुते—पुरुषार्थसाधनसामर्थ्यपरिभ्रष्टे । दन्दग्धि—गर्हितं दहति ॥११६॥

अवस्थामें ही अपने पिता आदिको कष्ट पहुँचाता है। वह मरने पर पिण्डदान करके हमारा उद्धार करेगा यह जो मिथ्या धारणा है चाहे वह कुलागत हो या किसीके उपदेशसे हुई हो उसे तो छोड़ दे। क्योंकि किसीके पिण्डदानसे मरे हुए का उद्धार कैसे हो सकता है। कहा भी है—'यदि ब्राह्मणों और कौओंके द्वारा खाया गया अन्न परलोकमें पितरोंको तृप्त करता है तो उन पितरोंने पूर्व जन्ममें जो शुभ या अशुभ कर्म किये थे वे तो व्यर्थ ही हुए कहलाये।'

अत इस मिथ्याविश्वासको छोडकर सदा यही दृष्टि बनानी चाहिए कि आत्माका सच्चा पुत्र यह आत्मा ही है क्योंकि यह आत्मा ही सम्यक् आचरणके द्वारा संसार-समुद्रसे अपना उद्धार करनेमें समर्थ है। दूसरा कोई भी इसका उद्धार नहीं कर सकता ॥११५॥

जो पुत्रियोंके मोहसे मूढ़ बने हुए हैं उनके भी स्वार्थके नाशको खेद सहित बतलाते हैं—

जिसके जन्मकी बात माता-पिता आदिके लिए अचानक हुए मुद्गरके आघातकी तरह लगती है, जिसके वरके विषयमें माता आदिका चित्त कहीं भी चैन नहीं पाता, विवाहनेपर यदि उसके सन्तान न हुई या वह दुराचारिणी हुई तो भर्ताको अप्रिय—अभागिनीकी तरह माता आदिके हृदयमें रात-दिन कष्ट देती है, यदि पति मर गया या परदेश चला गया अथवा नपुंसक हुआ तो माता आदिके अन्तःकरणको जलाया करती है। ऐसी दुःखदायक पुत्रीमें पुत्रकी तरह मोह करनेवाले अन्धे मनुष्य स्वार्थका घात करते हैं यह बड़े खेदकी बात है ॥११६॥

विशेषार्थ—'पुत्री उत्पन्न हुई है' यह सुनते ही माता-पिता दुःखसे भर उठते हैं, जब वह विवाह योग्य होती है तो उसके लिए वरकी खोज होती है। वरके कुल, शील, सम्पत्तिकी चर्चा चलनेपर माता-पिताको कहीं भी यह सन्तोष नहीं होता कि हम अपनी कन्या योग्य वरको दे रहे हैं। उसके बाद भी यदि कन्या दुराचारिणी हुई या उसके सन्तान नहीं हुई, या पतिने उसको त्याग दिया, या पतिका मरण हो गया अथवा वह छोड़कर चला गया तब भी माता-पिताको रात-दिन कष्ट रहता है। अतः पुत्रकी तरह पुत्री भी दुःखकी खान है ॥११६॥

१. द्विजैश्च काकैर्यदि भुक्तमन्नं मृतान् पितॄंस्तर्पयते परत्र ।
पुरार्जितं तत्पितृभिर्विनष्टं शुभाशुभं तेन हि कारणेन ॥—वराङ्गचरित २५।६४ ।

अथ पितृमातृज्ञातीनामपकारकत्वं वक्रभणित्या निन्दन् दुष्कृतनिर्जरणहेतुत्वेनोपकारकत्वादरातीन-भिनन्दति—

बीजं दुःखैकबीजे वपुषि भवति यस्तर्षसन्तानतन्त्र-
स्तस्यैवाधानरक्षाद्युपधिषु यतते सन्वती या च मायाम् ।
भद्रं ताभ्यां पितृभ्यां भवतु ममतया मद्यवद् घूर्णयद्भ्यः,
स्वान्तं स्वेभ्यस्तु बद्धोऽञ्जलिरयमरयः पापदारा वरं मे ॥११७॥

आधानरक्षाद्युपधिषु—गर्भाधानपालनवर्द्धनाद्युपकरणेषु । मायां—संवृतिं मिथ्यामोहजालम् । घूर्णयद्भ्यः—हिताहितविचारविलोपकरविक्लवं कुर्वद्भ्यः । स्वेभ्यः—बन्धुभ्यः । पापदारा —अपकारकरणद्वारेण पातकान्मोचयन्तः । मुमुक्षोरात्मभावनोपदेशोऽयम् ॥११७॥

अथ पृथग्जनाना मित्रत्वमधर्मपरत्वादपवदति—

अधर्मकर्मण्युपकारिणो ये प्रायो जनानां सुहृदो मतास्ते ।
स्वान्तर्बहिःसन्ततिकृष्णवर्त्मन्यरंस्त कृष्णे खलु धर्मपुत्रः ॥११८॥

स्वेत्यादि । स्वान्तःसन्ततौ—निजात्मनि, कृष्णस्य—पापस्य, वर्त्म—मार्गः प्राप्त्युपाय इत्यर्थः । कृष्णशब्देन च सांख्याः पापमाहुः । तथाहि तत्सूत्रम्—'प्रधानपरिणामः शुक्लं कृष्णं च कर्मेति ।' तथा स्वबहिःसन्ततौ—निजवंशे कृष्णवर्त्मा वह्निः कैरवसंहारकारकत्वात् । अरंस्त—प्रीतिमकार्षीत् ॥११८॥

अथ ऐहिकार्यसहकारिणां मोहावहत्वात्त्याज्यत्वमुपदर्शयन्नामुत्रिकार्यसुहृदामधस्तनभूमिकायामेवानु-कर्तव्यमभिधत्ते—

पिता-माता आदि बन्धु-बान्धव अपकारक हैं अतः वक्रोक्तिके द्वारा उनकी निन्दा करते हैं और पापकर्मोंकी निर्जराका कारण होनेसे शत्रु उपकारक हैं अतः उनका अभिनन्दन करते हैं—

जो तृष्णाकी अविच्छिन्न धाराके अधीन होकर दुःखोंके प्रधान कारण शरीरका बीज है उस पिताका कल्याण हो। जो मिथ्या मोहजालको विस्तारती हुई उसी शरीरके गर्भाधान, पालन, वर्धन आदि उपकरणोंमें प्रयत्नशील रहती है उस माताका भी कल्याण हो। अर्थात् पुनः मुझे माता-पिताकी प्राप्ति न होवे क्योंकि वे ही इस शरीरके मूल कारण हैं और शरीर दुःखोंका प्रधान कारण है। तब बन्धु-बान्धवोंमें तो उक्त दोष नहीं हैं? तो कहता है—ममताके द्वारा मदिराकी तरह मनको हित-अहितके विचारसे शून्य करके व्याकुल करनेवाले बन्धु-बान्धवोंको तो मैं दूरसे ही हाथ जोड़ता हूँ। इनसे तो मेरे शत्रु ही भले हैं जो अपकार करके मुझे पापोंसे छुटकारा दिलाते हैं ॥११७॥

विशेषार्थ—यह मुमुक्षुके लिए आत्मतत्त्वकी भावनाका उपदेश है ॥११७॥

नीच या मूर्ख लोगोंकी मित्रता अधर्मकी ओर ले जाती है अतः उसकी निन्दा करते हैं—

प्रायः लोगोंके ऐसे ही मित्र हुआ करते हैं जो पापकर्ममें सहायक हैं क्योंकि धर्मपुत्र युधिष्ठिरने ऐसे कृष्णसे प्रीति की जो उसकी अन्तःसन्तति अर्थात् आत्माके लिए पापकी प्राप्तिका उपाय बना। और बहिःसन्तति अर्थात् अपने वंशके लिए अग्नि प्रमाणित हुआ क्योंकि उसीके कारण कौरवोंका संहार हुआ ॥११८॥

आगे कहते हैं कि जो इस लोक सम्बन्धी कार्योंमें सहायक हैं वे मोहको बढ़ानेवाले

निश्छद्म मेद्यति विपद्यपि संपदीव यः सोऽपि मित्रमिह मोहयतीति हेयः ।
श्रेयः परत्र तु विबोधयतीति तावच्छ्रयो न यावदसितुं सकलोऽपि सङ्गः ॥११९॥

मेद्यति—स्निह्यति । असितुं—त्यक्तुम् । उक्तं च—

'संगः सर्वात्मना त्याज्यो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।
स चेत्यक्तुं न शक्येत कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभिः ॥' [ ]

अपि च—

'संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः संगस्य भेषजम् ॥' [ ] ॥११९॥

अथ अत्यन्तभक्तिमतोऽपि भृत्यस्याकृत्यप्रधानत्वादनुपादेयतां लक्षयति—

योऽतिभक्ततयात्मेति कार्यिभिः कल्प्यतेऽङ्गवत् ।
सोऽप्यकृत्येऽग्रणीर्भृत्यः स्याद्रामस्याञ्जनेयवत् ॥१२०॥

कार्यिभिः—स्वार्थपरैः । आञ्जनेयवत्—हनूमानिव ॥१२०॥

अथ दासीदासस्य स्वीकारो मनस्तापाय स्यादित्याह—

अतिसंस्तवधृष्टत्वादनिष्टं जाघटीति यत् ।
तद्दासीदासमृक्षीव कर्णात्ताः कस्य शान्तये ॥१२१॥

जाघटीति—भृशं पुनः पुनर्वा चेष्टते ॥१२१॥

होनेसे छोड़ने योग्य हैं और जो परलोक सम्बन्धी कार्योंमें सहायक हैं, नीचेकी भूमिकामें ही उनका अनुसरण करना चाहिए—

जो निश्छल भावसे सम्पत्तिकी तरह विपत्तिमें भी स्नेह करता है ऐसा भी मित्र इस जन्ममें हेय है—छोड़ने योग्य है क्योंकि वह मोह उत्पन्न करता है। किन्तु जबतक समस्त परिग्रह छोड़नेकी सामर्थ्य नहीं है तब तक परलोकके विषयमें ऐसे मित्रका आश्रय लेना चाहिए जो आत्मा और शरीरके भेदज्ञानरूप विशिष्ट बोधको कराता है ॥११९॥

विशेषार्थ—कहा भी है—'मुक्तिके इच्छुक मुनियोंको सर्वरूपसे परिग्रहका त्याग करना चाहिए। यदि उसका छोड़ना शक्य न हो तो आत्मदर्शी महर्षियोंकी संगति करना चाहिए।' तथा—सर्वरूपसे परिग्रहको छोड़ना चाहिए। यदि उसका छोड़ना शक्य न हो तो सज्जन पुरुषोंकी संगति करना चाहिए। क्योंकि सन्त पुरुष परिग्रहकी औषधि हैं ॥११९॥

अत्यन्त भक्तियुक्त भी सेवक अकृत्य करनेमें अगुआ हो जाता है अतः वह भी उपादेय नहीं है—

जैसे बाह्यदृष्टि मनुष्य अत्यन्त सम्बद्ध होनेसे शरीरमें 'यह मैं हूँ' ऐसी कल्पना करते हैं उसी तरह स्वार्थमें तत्पर मनुष्य अपनेमें अत्यन्त अनुरक्त होनेसे जिसे 'यह मैं हूँ' ऐसा मानते हैं, वह भृत्य भी रामचन्द्रके सेवक हनुमान्की तरह हिंसादि कार्योंमें अगुआ हो जाता है। अतः सेवक नामक चेतन परिग्रह भी त्याज्य है ॥१२०॥

आगे कहते हैं कि दासी-दासको रखना भी मनके लिए सन्तापकारक होता है—

जैसे स्त्री भालुसे इतना घनिष्ठ परिचय हो जानेपर भी कि उसका कान पकड़ लिया जाये, वह कभी भी निश्चिन्तता प्रदान नहीं करती उससे सावधान ही रहना पड़ता है। उसी

१. त्याज्य एवाखिलः सङ्गो मुनिभिः—ज्ञानार्णव १३।८।

अथ शिष्यशासनेऽपि क्वचित् क्रोधोद्भवं भवति—

यः शिष्यते हितं शश्वदन्तेवासी सुपुत्रवत् ।
सोऽप्यन्तेवासिनं कोपं छोपयत्यन्तरान्तरा ॥१२२॥

अन्तेवासी—शिष्यः । अन्तेवासिनं—चण्डालम् । साधुजनानामस्पृश्यत्वात् । छोपयति—स्पर्शयति ॥१२२॥

अथ चतुष्पदपरिग्रहं प्रतिक्षिपति—

द्विपदैरप्यसत्संगश्चेत् किं तर्हि चतुष्पदैः ।
तिक्तमप्यामसन्नाग्नेर्नायुष्यं किं पुनर्घृतम् ॥१२३॥

तरह अत्यन्त परिचयके कारण सिरचढ़े जो दासी-दास स्वामीके अनिष्ट करनेमें लगे रहते हैं वे किसके लिए शान्तिदाता हो सकते हैं ॥१२१॥

विशेषार्थ—भृत्यमें और दासी-दासमें अन्तर है । जो काम करनेका वेतन पाता है वह भृत्य है । भृतिका अर्थ है 'कामका मूल्य' । और जो पैसा देकर खरीद लिया जाता है वह दास या दासी कहाता है । परिग्रह परिमाण व्रतके अतिचारोंमें वास्तु, खेत आदिके साथ जो दासी-दास दिये हैं वे खरीदे हुए गुलाम ही हैं । पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें दासका अर्थ 'क्रयक्रीतः कर्मकरः' अर्थात् मूल्य देकर खरीदा गया कर्मचारी किया है । स्व. श्री नाथूरामजी प्रेमीने 'जैन साहित्य और इतिहास'के द्वितीय संस्करण, पृ. ५१० आदिमें परिग्रह परिमाण व्रतके दास-दासीपर विस्तारसे प्रकाश डाला है । भगवती आराधनामें (गा. ११६२) सचित्त परिग्रहके दोष बतलाये हैं । उसकी विजयोदया टीकामें 'सचित्ता पुण गंथा'का अर्थ 'दासीदासगोमहिष्यादयः' किया है । अर्थात् दासी-दासकी भी वही स्थिति थी जो गौ-भैंस आदिकी है । उन्हें गाय-भैंसकी तरह बाजारोंमें बेचा जाता था । उनसे उत्पन्न सन्तानपर भी मालिकका ही अधिकार रहता था । इस प्रथाका अत्यन्त हृदयद्रावक वर्णन अमेरिकी लेखककी पुस्तक 'अंकिल टामस् केबिन'में चित्रित है । पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं । कोई अहिंसाका एकदेश व्रती भी मानवके साथ पशु-जैसा व्यवहार कैसे कर सकता है ? अब तो यह प्रथा सभ्य देशोंसे उठ गयी है किन्तु इससे घृणित व्यवहार शायद ही दूसरा रहा हो । पशुओंकी तरह खरीदे गये दास-दासियोंकी परिग्रहमें गणना भी आपत्तिजनक प्रतीत होती है ॥१२१॥

आगे कहते हैं कि शिष्योंपर अनुशासन करनेमें भी कभी-कभी क्रोध उत्पन्न हो आता है—

जिस शिष्यको गुरुजन सुपुत्रकी तरह रात-दिन हितकी शिक्षा देते हैं, वह भी बीच-बीचमें चाण्डालके तुल्य क्रोधका स्पर्श करा देता है ॥१२२॥

विशेषार्थ—शिष्यको शिक्षण देते समय यदि शिष्य नहीं समझता या तदनुसार आचरण नहीं करता तो गुरुको भी क्रोध हो आता है । इससे आशय यह है कि मुमुक्षुको शिष्योंका भी संग्रह नहीं करना चाहिए ॥१२२॥

आगे चतुष्पद परिग्रहका निषेध करते हैं—

यदि दो पैरवाले मनुष्य आदिका संग बुरा है तो चार पैरवाले हाथी-घोड़ोंके संगका तो कहना ही क्या है । आँवके कारण जिसकी उदराग्नि मन्द पड़ गयी है उसके लिए यदि

तिक्तं—भूनिम्बनिम्बादिप्रायमौषधम् । सन्नः—अभिभूतः ।

तथा चोक्तम्—

'तीव्रार्तिरपि नाजीर्णं[1] पिबेच्छूलघ्नमौषधम् ।
आमसन्नो नलो नालं पक्तुं दोषौषधाशनम् ॥' [ ]

अपि च—

'सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः ।
केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमानोल्वणे तु[2] न ॥' [ ]

एतेन द्विपदसंगाच्चतुष्पदसंगस्य बहुतरापायत्वं समर्थितम् ॥१२३॥

अथाचेतनसंगाच्चेतनसंगस्य बाधाकरत्वमाचष्टे—

**यौनमौखादिसंबन्धद्वारेणाविश्य मानसम् ।
यथा परिग्रहश्चित्वान् मथ्नाति न तथेतरः ॥१२४॥**

यौनः—योनेरागतः सोदरादिसबन्ध. । मौखः—मुखादागतः शिष्यादिसंबन्धः । आदिशब्दात् जन्यजनकत्व-पोष्यपोषकत्व-भोग्यभोक्तृभावादिसंबन्धा यथास्वमवसेयाः । चित्वान्—चेतनावान् । मथ्नाति—व्यथयति ॥१२४॥

अथ पञ्चदशभि. पद्यैरचेतनपरिग्रहस्य दोषानुद्भावयति—

नीम चिरायता आदि कटु औषधि स्वास्थ्यकर नहीं हो सकती तो फिर घीकी तो बात ही क्या है ? ॥१२३॥

विशेषार्थ—द्विपदोंके संगसे चौपायोंका संग ज्यादा कष्टदायक होता है; क्योंकि जब दो पैरवाला कष्टदायक है तो चार पैरवाला तो उससे दूना कष्टदायक होगा। दृष्टान्त दिया है आमरोगीका। जब पेटमें रसका परिपाक ठीक नहीं होता तो उदराग्नि मन्द होती जाती है। कटुक औषधि स्वभावसे ही ऑवके लिए पाचक होती है। किन्तु जिस आँवरोगीको कटु औषधि भी अनुकूल नहीं पड़ती उसके लिए घी कैसे पथ्य हो सकता है ? घी तो चिक्कण और शीतल होनेसे आँवको बढ़ाता है। अतः जब दोपाया ही कष्टकर है तब चौपायेका तो कहना ही क्या ? ॥१२३॥

आगे कहते हैं कि अचेतन परिग्रहसे चेतन परिग्रह अधिक कष्टकर है—

योनि और मुख आदिकी अपेक्षासे होनेवाले सम्बन्धोंके द्वारा गाढ़रूपसे प्रविष्ट होकर चेतन परिग्रह मनुष्यके मनको जैसा कष्ट देती है वैसा कष्ट अचेतन परिग्रह नहीं देती ॥१२४॥

विशेषार्थ—अचेतन परिग्रहके साथ तो मनुष्यका केवल स्वामित्व सम्बन्ध रहता है किन्तु सहोदर भाई-बहनके साथ यौन सम्बन्ध होता है और गुरु-शिष्य आदिका मौखिक सम्बन्ध होता है। इसी तरह पिता-पुत्रका जन्य-जनक सम्बन्ध होता है, पति-पत्नीका भोग्य-भोक्तृत्व सम्बन्ध होता है। ये सब सम्बन्ध अधिक अनुरागके कारण होनेसे अधिक कष्टदायक भी होते हैं। इसीसे ग्रन्थकारने चेतन परिग्रहके पश्चात् अचेतन परिग्रहका कथन किया है ॥१२४॥

आगे दस श्लोकोंसे अचेतन परिग्रहके दोष बतलानेकी भावनासे प्रथम ही घरके दोष बतलाते हैं क्योंकि घर ही दोषोंका घर है—

---

१. जीर्णी भ. कु. च. ।
२. णेन तु भ. कु. च. ।

पञ्चशूनाद् गृहाच्छून्यं वरं संवेगिनां वनम् ।
पूर्वं हि लब्धलोपार्थमलब्धप्राप्तये परम् ॥१२५॥

पञ्चसूनात्—

'कुण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी ।
पञ्चशूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥' [ ]

लब्धः—प्रक्रमात् संवेगः । अलब्धं—शुद्धात्मतत्त्वम् । कदाचिदप्यप्राप्तपूर्वकत्वात् ॥१२५॥

अथ गृहकार्यव्यासक्ताना दुःखसातत्यमनुशोचति—

विवेकशक्तिवैकल्याद् गृहद्वन्द्वनिषद्वरे ।
मग्नः सीदत्यहो लोकः शोकहर्षभ्रमाकुल ॥१२६॥

विवेकः—हिताहितविवेचनं विश्लेषणं च । निषद्वरः—कर्दमः । भ्रमः—पर्यायेण वृत्तिर्भ्रान्तिर्वा ।

तदुक्तम्—

'रतेररतिमायात पुना रतिमुपागत ।
तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो वत् सीदति ॥' [आत्मानु. २३२ ।]

तथा—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनाम् ।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि ॥ [इष्टोप. ६ ।] ॥१२६॥

शूनका अर्थ है वधस्थान । घरमें पाँच वधस्थान हैं । अतः पाँच वधस्थानवाले घरसे संसारसे भीरुओंके लिए एकान्त वन श्रेष्ठ है । क्योंकि घरमें तो जो प्राप्त है उसका भी लोप हो जाता है और वनमें जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ उस शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है ॥१२५॥

विशेषार्थ—उखली, चक्की, चूला, जल भरनेका घड़ा और बुहारी इन पाँचके बिना घरका काम नहीं चलता । जो घरमें रहेगा उसे कूटना, पीसना, आग जलाना, पानी भरना और झाड़ू लगाना अवश्य पड़ेगा । और ये पाँचों ही जीवहिंसाके स्थान हैं अतः घरको पाँच वधस्थानवाला कहा है । यथा—'ओखली, चक्की, चूला, जल भरनेका घट और बुहारू ये पाँच शूना गृहस्थके हैं । इसीसे गृहस्थ दशामें मोक्ष नहीं होता' । अतः घरसे श्रेष्ठ एकान्त वन है । घरमें तो जो कुछ धर्म-कर्म प्राप्त है वह भी छूट जाता है किन्तु वनमें जाकर आत्मध्यान करनेसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है ॥१२५॥

जो गृहकार्यमें विशेषरूपसे आसक्त रहते हैं वे निरन्तर दुःखी रहते हैं । अतः उनके प्रति शोक प्रकट करते हैं—

खेद है कि हित-अहितका विवेचन करनेकी शक्तिके न होनेसे शोक और हर्षके भ्रमसे व्याकुल हुआ मूढ़ मनुष्य घरकी आसक्तिरूपी कीचड़में फँसकर कष्ट उठाता है ॥१२६॥

विशेषार्थ—जैसे कीचड़में फँसा मनुष्य उसमें-से निकलनेमें असमर्थ होकर दुःख उठाता है, उसी तरह घरके पचड़ोंमें फँसा हुआ मनुष्य भी हित और अहितका विचार करनेमें असमर्थ होकर दुःख उठाता है । गृहस्थाश्रममें हर्ष और शोकका या सुख-दुःखका चक्र चला करता है । कहा है—'खेद है कि मूर्ख मनुष्य रतिसे अरतिकी ओर आता है और पुनः रतिकी ओर जाता है । इस तरह तीसरा पद रति और अरतिके अभावरूप परम उदासीनताको प्राप्त न करके कष्ट उठाता है ।'

अथ क्षेत्रपरिग्रहदोषमाह—

क्षेत्रं क्षेत्रभृतां क्षेममाक्षेत्रज्ञ्यं मृषा न चेत् ।
अन्यथा दुर्गतेः पन्था बह्वारम्भानुबन्धनात् ॥१२७॥

क्षेत्रं—सस्याद्युत्पत्तिस्थानम् । क्षेत्रभृतां—देहिनाम् । क्षेमम्—ऐहिकसुखसंपादकत्वात् । आक्षैत्रज्ञ्यं—नैरात्म्यं बौद्धैश्चार्वाकैश्च जल्पितम् । अन्यथा—नैरात्म्यं मिथ्या चेद् जीवो यद्यस्तीति भावः ॥१२७॥

अथ कुप्यादिपरिग्रहस्यौद्धत्याशानुबन्धनिबन्धनत्वमभिधत्ते—

यः कुप्य-धान्य-शयनासन-यान-भाण्ड-
काण्डैकडम्बरिततोण्डवकर्मकाण्डः ।
वैतण्डिको भवति पुण्यजनेश्वरेऽपि,
तं मानसोर्मिजटिलोज्झति नोत्तराशा ॥१२८॥

वास्तवमें सांसारिक सुख तो एक भ्रम मात्र है। संसार और सुख ये दोनों एक तरहसे परस्पर विरोधी हैं। कहा है—'प्राणियोंका यह सुख और दुःख केवल वासनामात्र है, जैसे आपत्तिकालमें रोग चित्तमें उद्वेग पैदा करते हैं वैसे ही भोग भी उद्वेग पैदा करनेवाले हैं।' ॥१२६॥

क्षेत्र परिग्रहके दोष बतलाते हैं—

यदि बौद्धदर्शनका नैरात्म्यवाद और चार्वाकका मत मिथ्या नहीं है अर्थात् आत्मा और परलोकका अभाव है तब तो प्राणियोंके लिए क्षेत्र (खेत) इस लोक सम्बन्धी सुख देनेवाला होनेसे कल्याणरूप है। और यदि आत्मा और परलोक हैं तो क्षेत्र नरकादि दुर्गतियोंका मार्ग है, क्योंकि बहुत आरम्भकी परम्पराका कारण है ॥१२७॥

विशेषार्थ—क्षेत्रका अर्थ है खेत, जहाँसे अनाज पैदा होता है। किन्तु सांख्य दर्शनमें क्षेत्रका अर्थ शरीर है और क्षेत्रज्ञका अर्थ होता है आत्मा, जो क्षेत्र अर्थात् शरीरको जानता है। तथा 'क्षेत्रभृत्' का अर्थ होता है क्षेत्र अर्थात् शरीरको धारण करनेवाला प्राणी। अतः अक्षेत्रज्ञका अर्थ होता है क्षेत्रज्ञ नहीं अर्थात् आत्माका अभाव या ईषत् क्षेत्रज्ञ। बौद्ध दर्शन नैरात्म्यवादी है। वह आत्माको नहीं मानता और चार्वाक गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त ही मानता है यह बात दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं—यदि ये दोनों मत सच्चे हैं तब तो खेत कल्याणकारी है। उसमें अन्नादि उत्पन्न करके लोग जीवन पर्यन्त जीवन-यापन करेंगे, और मरने पर जीवनके साथ सब कुछ समाप्त हो जायेगा। पुण्य और पापका कोई प्रश्न ही नहीं। किन्तु यदि ये दोनों हैं तब तो खेती करनेमें जो छह कायके जीवोंका घात होता है—खेतको जोतने, सींचने, बोने, काटने आदिमें हिंसा होती है उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। क्योंकि बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुके बन्धका कारण है ॥१२७॥

आगे कहते हैं कि कुप्य आदि परिग्रह मनुष्यको उद्धत बनाते हैं और नाना प्रकारकी आशाओंकी परम्पराको जन्म देते हैं—

कुप्य-वस्त्रादि द्रव्य, धान्य, शय्या, आसन, सवारी और भाण्ड-हींग आदिके समूहसे नर्तनपूर्ण क्रिया कलापको अत्यधिक बढ़ानेवाला जो व्यक्ति कुबेर पर भी हँसता है उसे मानसिक विकल्प आलसे उलझी हुई उत्कृष्ट आशा नहीं छोड़ती ॥१२८॥

कुप्यं—हेमरूप्यवर्ज्यधातुरथवस्त्रादिद्रव्यम् । यानं—शिविकाविमानादि । भाण्डं—हिंगुं मंजिष्ठादि । काण्डं—समूहः । ताण्डवकर्मकाण्डः—वैचित्र्यमत्र नेयम् । वेतण्डिकः—उपहासपरः । पुण्यजनेश्वरे—कुबेरे शिष्टप्रधाने च । मानसोर्मयः—चित्तविकल्पा दिव्यसरस्तरङ्गाश्च । उत्तराशा—उत्कृष्टाकाक्षा उदीची दिक् च ॥१२८॥

अथ धनगृध्नोर्महापापप्रवृत्तिं प्रवक्ति—

जन्तून् हन्त्याह मृषा चरति चुरां ग्राम्यधर्ममाद्रियते ।
खादत्यखाद्यमपि धिक् धनं धनायन् पिबत्यपेयमपि ॥१२९॥

ग्राम्यधर्मं—मैथुनम् । धनं—ग्रामसुवर्णादि । धनायन्—अभिकाक्षन् ॥१२९॥

अथ भूमिलुब्धस्यापायावद्ये दृष्टान्तेन स्फुटयति—

तत्तादृक्साम्राज्यश्रियं भजन्नपि महीलवं लिप्सुः ।
भरतोऽवरजेन जितो दुरभिनिविष्टः सतामिष्टः ॥१३०॥

अवरजेन—बाहुबलिकुमारेण । दुरभिनिविष्टः—नीतिपथमनागतस्य पराभिभवपरिणामेन कार्यस्यारम्भो दुरभिनिवेशस्तमापन्न ॥१३०॥

विशेषार्थ—जिसके पास उक्त प्रकारकी परिग्रहका अत्यधिक संचय हो जाता है उसका कारभार बहुत बढ़ जाता है और उसीमें वह रात दिन नाचता फिरता है। उसका अहंकार इतना बढ़ जाता है कि वह कुबेरको भी तुच्छ मानता है। कुबेर उत्तर दिशाका स्वामी माना जाता है। उत्तर दिशामें कैलास पर्वतको घेरे हुए मान सरोवर है। जो धनपति कुबेरको भी हीन मानता है, उसे मानसरोवरकी तरंगोंमें जटिल उत्तर दिशा नहीं छोड़ती अर्थात् वह उत्तर दिशा पर भी अधिकार करना चाहता है। इसी प्रकार परिग्रही मनुष्यको भी उत्तराशा-भविष्यकी बड़ी-बड़ी आशाएँ नहीं छोड़तीं, रातदिन उन्हींमें डूबा रहता है ॥१२८॥

आगे कहते हैं कि धनका लोभी महापाप करता है—

धनका लोभी प्राणियोंका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन करता है, न खाने योग्य वस्तुओंको भी खाता है, न पीने योग्य मदिरा आदिको पीता है। अतः धनके लोभीको धिक्कार है ॥२९॥

भूमिके लोभी मनुष्यके दुःखदायी और निन्दनीय कार्योंको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

उस प्रसिद्ध लोकोत्तर साम्राज्य लक्ष्मीको भोगते हुए भी भरत चक्रवर्तीने भूमिके एक छोटेसे भाग सुरम्यदेशको लेना चाहा तो उस देशके स्वामी अपने ही छोटे भाई बाहुबलिसे युद्धमें पराजित हुआ और सज्जनोंने उसे भरतका दुरभिनिवेश कहा ॥१३०॥

विशेषार्थ—प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवके एक सौ पुत्रोंमें चक्रवर्ती भरत सबसे बड़े थे और बाहुबली उनसे छोटे थे। भगवान् जब प्रव्रजित हो गये तो भरत अयोध्याके स्वामी बने और फिर भरतके छह खण्डोंको जीतकर चक्रवर्ती बने। जब वह दिग्विजय करके अयोध्यामें प्रवेश करने लगे तो चक्ररत्न रुक गया। निमित्तज्ञानियोंने बताया कि अभी आपके भाई आपका स्वामित्व स्वीकार नहीं करते इसीसे चक्ररत्न रुक गया है। तुरन्त सबके पास दूत भेजे गये। अन्य भाई तो अपने पिता भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें जाकर साधु बन गये। किन्तु बाहुबलिने युद्धका आह्वान किया। विचारशील बड़े पुरुषोंने परस्परमें

अथ दैन्यभाषणनिर्घृणत्वकृपणत्वानवस्थितचित्तत्वदोषावहत्वेन धनानि जुगुप्सते—

श्रीमैरेयजुषां पुरश्चटुपटुर्देहीति ही भाषते,
देहीत्युक्तिहतेषु मुञ्चति हहा नास्तीति वाग्ह्लादिनीम् ।
तीर्थेऽपि व्ययमात्मनो वधमभिप्रैतीति कर्तव्यता
चिन्तां चान्वयते यदभ्यमितधीस्तेभ्यो धनेभ्यो नमः ॥१३१॥

मैरेयं—मद्यम् । हताः—नाशिताः । यल्लोकः—

'गतेर्भङ्गः स्वरो दीनो गात्रे स्वेदो विवर्णता[1]।
मरणे यानि चिह्नानि तानि सर्वाणि याचने ॥' [ ]

ह्लादिनी—वज्रम् । तीर्थे—धर्मे कार्ये च समवायिनि । व्ययं—द्रव्यविनियोगम् । अन्वयते—अविच्छिन्नं याति । यदभ्यमितधीः—यैरातुरबुद्धिः । नमः—तानि धनानि धिगित्यर्थः ॥१३१॥

परामर्श किया कि भगवान्‌की वाणीके अनुसार दोनों भाई मोक्षगामी हैं, ये किसीसे मरनेवाले नहीं हैं अतः इन्हीं दोनोंके युद्धमें हार-जीतका फैसला हो, व्यर्थ सेनाका संहार क्यों किया जाये। फलतः दोनों भाइयोंमें जलयुद्ध, मल्लयुद्ध और दृष्टियुद्ध हुआ और तीनों युद्धोंमें चक्रवर्ती हार गये। फलतः उन्होंने रोषमें आकर अपने सहोदर छोटे भाईपर चक्रसे प्रहार किया। किन्तु मुक्तिगामी बाहुबलीका कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। सबने चक्रवर्तीको ही दुरभिनिवेशी कहा। न्यायमार्गको भूलकर दूसरेका तिरस्कार करनेके भावसे कार्य करनेको दुरभिनिवेश कहते हैं। सम्राट् भरत भूमिके लोभमें पड़कर नीतिमार्गको भी भूल गये अतः भूमिका लोभ भी निन्दनीय है ॥१३०॥

धन मनुष्यमें दीनवचन, निर्दयता, कृपणता, अस्थिरचित्तता आदि दोषोंको उत्पन्न करता है अतः धनकी निन्दा करते हैं—

जिस धनरूपी रोगसे ग्रस्त मनुष्य लक्ष्मीरूपी मदिराको पीकर मदोन्मत्त हुए धनिकोंके सामने खुशामद करनेमें चतुर बनकर, खेद है कि, 'कुछ दो' ऐसा कहता है। 'कुछ दो' ऐसा कहनेसे ही बेचारा माँगनेवाला मृततुल्य हो जाता है। फिर भी धनका लोभी मनुष्य 'नहीं है' इस प्रकारके वचनरूपी वज्रका प्रहार उसपर करता है। यह कितने कष्टकी बात है। जिस धनरूपी रोगसे ग्रस्त मनुष्य तीर्थमें भी किये गये धनव्ययको अपना वध मानता है मानो उसके प्राण ही निकल गये। तथा जिस धनरूपी रोगसे ग्रस्त मनुष्य रात-दिन यह चिन्ता करता है कि मुझे यह ऐसे करना चाहिए और यह ऐसे करना चाहिए। उस धनको दूरसे ही नमस्कार है ॥१३१॥

विशेषार्थ—धनके लोभसे मनुष्य याचक बनकर धनिकोंके सामने हाथ पसारता है। उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय होती है। किसीने कहा है—'उसके पैर डगमगा जाते हैं, स्वरमें दीनता आ जाती है, शरीरसे पसीना छूटने लगता है और अत्यन्त भयभीत हो उठता है। इस तरह मरणके समय जो चिह्न होते हैं वे सब माँगते समय होते हैं।' फिर भी धनका लोभी माँगनेवालेको दुत्कार देता है। अधिक क्या, धर्मतीर्थमें दिये गये दानसे भी उसे इतना कष्ट होता है मानो उसके प्राण निकल गये। अपने कर्मचारियोंको वेतन देते हुए भी उसके प्राण सूखते हैं। ऐसा निन्दनीय है यह धन ॥१३१॥

---

१. 'गात्रस्वेदो महद्भयम् ।'—भ. कु. च. ।

अथ धनस्यार्जनरक्षणाविना तीव्रदुःखकरत्वात्तत्प्राप्त्युद्यमं कृतिनां निराकुरुते—

यत्पृक्तं कथमप्युपार्ज्य विधुराद्रक्षन्नरस्याजितः,
खे पक्षीव पलं तदर्थिभिरलं दुःखायते मृत्युवत् ।
तल्लाभे गुणपुण्डरीकमिहिकावस्कन्दलोभोद्भव-
प्रागल्भीपरमाणुतोलितजगत्युत्तिष्ठते कः सुधीः ॥१३२॥

पृक्तं—धनम् । मिहिकावस्कन्दः—तुषारप्रपातः । प्रागल्भी—निरङ्कुशप्रवृत्तिः । उत्तिष्ठते—उद्यमं करोति ॥१३२॥

अथ बहिरात्मना धनार्जनभोजनोन्मादप्रवृत्तं निःशङ्कपापकरणं स्वेच्छं मैथुनाचरणं दूषयन्नाह—

धनका कमाना और रक्षण करना तीव्र दुःखदायक है अतः उसकी प्राप्तिके लिए उद्यम करनेका निषेध करते हैं—

जैसे पक्षी आकाशमें किसी भी तरहसे प्राप्त मांसके टुकड़ेकी रक्षा करता है और अन्य पक्षियोंके द्वारा उसके छीन लिये जानेपर बड़ा दुखी होता है, उसी तरह जो धन किसी भी तरह बड़े कष्टसे उपार्जित करके सैकड़ों विनाशोंसे बचाया जानेपर भी यदि धनके इच्छुक अन्य व्यक्तियोंके द्वारा छुड़ा लिया जाता है तो मरणकी तरह अति दुःखदायक होता है। और उस धनका लाभ होनेपर लोभ कषायका उदय होता है जो सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी श्वेत कमलोंके लिए तुषारपातके समान है। जैसे तुषारपातसे कमल मुरझा जाते हैं वैसे ही लोभ कषायके उदयमें सम्यग्दर्शनादि गुण नष्ट हो जाते हैं, म्लान हो जाते हैं। तथा उस लोभ कषायकी निरंकुश प्रवृत्तिसे मनुष्य इस जगत्को परमाणुके तुल्य तुच्छ समझने लगता है लेकिन उससे भी उसकी तृष्णा नहीं बुझती। ऐसे धनकी प्राप्तिके लिए कौन बुद्धिशाली विवेकी मनुष्य उद्यम करता है, अर्थात् नहीं करता ॥१३२॥

विशेषार्थ—धनके बिना जगत्में काम नहीं चलता यह ठीक है। किन्तु इस धनकी तृष्णाके चक्रमें पड़कर मनुष्य धर्म-कर्म भी भुला बैठता है। फिर वह धनका ही क्रीत दास हो जाता है। और आवश्यकता नहीं होनेपर भी धनके संचयमें लगा रहता है। ज्यों-ज्यों धन प्राप्त होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता जाता है। जैसे अग्नि कभी ईंधनसे तृप्त नहीं होती वैसे ही तृष्णा भी धनसे कम नहीं होती, बल्कि और बढ़ती है। कहा भी है—'आशाका गड्ढा कौन भर सकता है। उसमें प्रतिदिन जो डाला जाता है वह आधेय आधार बनता जाता है।' और भी—प्रत्येक प्राणिमें आशाका इतना बड़ा गड्ढा है कि उसे भरनेके लिए यह जगत् परमाणुके तुल्य है। अतः धनकी आशापर अंकुश लगाना चाहिए ॥१३२॥

बाह्यदृष्टि मनुष्य धनके अर्जन और भोजनके उन्मादमें पड़कर निर्भय होकर पाप करते है और स्वच्छन्तापूर्वक मैथुन सेवन करते हैं अतः उनकी निन्दा करते हैं—

१. 'कः पूरयति दुष्पूरमाशागर्तं दिने दिने ।
यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते ॥
२. आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्—आत्मानुशासन ।

धनादन्नं तस्मादसव इति देहात्ममतयो,
मनुं मन्या लब्धुं धनमघमशङ्का विदधते।
वृषस्यन्ति स्त्रीरप्यदयमशनोद्भिन्नमदना,
धनस्त्रीरागो वा ज्वलयति कुज्ञानप्यमनसः ॥१३३॥

देहात्ममतय.—देहे आत्मेति मतिर्येषाम्। मनुंमन्याः—लोकव्यवहारोपदेष्टारमात्मानं मन्यमाना.। वृषस्यन्ति—कामयन्ते। ज्वलयति—धनस्वीकारे नारीप्रवीचारे च सरम्भयति। यन्नीतिः—'अर्थेषूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषा' इति। दृश्यन्ते च मूलोपान्ते निखातं हिरण्यं जटाभिर्वेष्टयन्त. प्ररोहैश्चोपसर्पन्तो वृक्षा। सुप्रसिद्ध एव वाऽशोकादीना कामिनीविलासाभिलाषः। तथा च पठन्ति—

'सनूपुरालक्तकपादताडितो द्रुमोऽपि यासां विकसत्यचेतनः।
तदङ्गसंस्पर्शरसद्रवीकृतो विलीयते यन्न नरस्तदद्भुतम् ॥'

अपि च—

'यासा सीमन्तिनीना कुरुवकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षाः
प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन् विलासान्।
तासा पुर्णेन्दुगौरं मुखकमलमलं वीक्ष्य लीलालसाढ्य
को योगी यस्तदानी कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम् ॥' [ ] ॥१३३॥

अथ गृहादिमूर्छया तद्रक्षणाद्युपचितस्य पातकस्यातिदुर्जरत्वं व्याहरति—

'धनसे अन्न होता है और अन्नसे प्राण' इस प्रकारके लोकव्यवहारके उपदेष्टा, अपने शरीरको ही आत्मा माननेवाले अपनेको मनु मानकर धन प्राप्त करनेके लिए निर्भय होकर पाप करते है। और पौष्टिक आहारसे जब काम सताता है तब निर्दयतापूर्वक स्त्रीभोग करते है। ठीक ही है—धन और स्त्रीका राग मनरहित वृक्षोंको भी धन और नारीके सेवनमे प्रवृत्त करता है, मनसहित मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ॥१३३॥

विशेषार्थ—संसारमे स्त्री और धनका राग बड़ा प्रबल है। स्त्रीके त्यागी भी धनके रागसे नहीं बच पाते। फिर जो मूढ़ बुद्धि हैं लोक-व्यवहारमें अपनेको दक्ष मानकर सबको यह उपदेश देते हैं कि अन्नके बिना प्राण नहीं रह सकते और धनके बिना अन्न नहीं मिलता, वे तो धन कमानेमें ही लगे रहते हैं और पुण्य-पापका विचार नहीं करते। धन कमाकर पौष्टिक भोजन स्वयं भी करते हैं और संसार-त्यागियोंको भी कराते हैं। पौष्टिक भोजन और विकार न करे यह कैसे सम्भव है। विकार होनेपर स्त्री सेवन करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि धन और स्त्रीका राग मन रहित वृक्षोंको भी नहीं छोड़ता फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। नीतिवाक्यामृतमें कहा है—'अर्थेषूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषाः किं पुनर्मनुष्याः।' धनका उपभोग न कर सकनेवाले वृक्ष भी धनकी इच्छा करते हैं फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। यदि भूमिमें धन गड़ा हो तो वृक्षकी जड़ें उस ओर ही जाती हैं। स्त्रियोंके पैर मारने आदिसे वृक्ष खिल उठते हैं ऐसी प्रसिद्धि है। अतः धनके रागसे बचना चाहिये ॥१३३॥

आगे कहते हैं कि गृह आदिमें ममत्व भावरूप मूर्छाके निमित्तसे आगत और उनके रक्षण आदिसे संचित पापकर्मकी निर्जरा बड़ी कठिनतासे होती है—

तद्गेहाद्युपधौ ममेदमिति संकल्पेन रक्षार्जना-
संस्कारादिदुरीहितव्यतिकरे हिंसादिषु व्यासजन् ।
दुःखोद्गारभरेषु रागविधुरप्रज्ञः किमप्याहर-
त्यंहो यत्प्रखरेऽपि जन्मदहने कष्टं चिराज्जीर्यति ॥१३४॥

उपधिः—परिग्रह । प्रखरे—सुतीक्ष्णे ॥१३४॥

अथानाद्यविद्यानिबन्धनं चेतनपदार्थेषु रागद्वेषप्रबन्धं विदधानस्य कर्मबन्धक्रियासमभिहारमनभिनन्दन्नाह—

आसंसारमविद्यया चलसुखाभासानुबद्धाशया,
नित्यानन्दसुधामयस्वसमयस्पर्शच्छिदभ्याशया ।
इष्टानिष्टविकल्पजालजटिलेष्वर्थेषु विस्फारितः
क्रामन् रत्यरती मुहुर्मुहुरहो बाबध्यते कर्मभिः ॥१३५॥

स्वसमयः—शुद्धचिद्रूपोपलम्भ. । अभ्यासः—सामीप्यम् । विस्फारितः—प्रयत्नावेशमापादितः । बाबध्यते—भृशं पुन' पुनर्वा बध्यते । तथा चोक्तम्—

'कादाचित्को बन्धः क्रोधादेः कर्मणः सदा सङ्गात् ।
नातः क्वापि कदाचित्परिग्रहग्रहवता सिद्धिः ॥' [ ] ॥१३५॥

तत्त्वविद्भिरप्यकाले मोहो दुर्जय इति च चिन्तयति—

गृहस्थ घर आदिकी तृष्णासे व्याकुल होकर घर-खेत आदि परिग्रहमें 'ये मेरे है' इस प्रकारके संकल्पसे उनके रक्षण, अर्जन, संस्काररूप दुश्चेष्टाओंके जमघटमें पड़कर अत्यन्त दुःखदायी हिंसा आदिमें विविध प्रकारसे आसक्त होता है और उससे ऐसे न कह सकने योग्य पापका बन्ध करता है जो संसाररूपी तीव्र अग्निमें भी लम्बे समयके बाद बड़े कष्टसे निर्जराको प्राप्त होता है। अर्थात् गृह आदि परिग्रहमें ममत्वभाव होनेसे गृहस्थ उनकी रक्षा करता है, नये मकान बनवाता है, पुरानोंकी मरम्मत कराता है और उसीके संकल्प-विकल्पोंमें पड़ा रहता है। उसके लिए उसे मुकदमेबाजी भी करनी पड़ती है, उसमें मार-पीट भी होती है। इन सब कार्यों में जो पापबन्ध होता है वह घोर नरक आदिके दुःखोंको भोगनेपर ही छूटता है ॥१३४॥

अनादिकालीन अविद्याके कारण चेतन और अचेतन पदार्थोंमें मनुष्य रागद्वेष किया करते हैं और उससे कर्मबन्धकी प्रक्रिया चलती है अतः उसपर खेद प्रकट करते है—

जबसे संसार है तभीसे जीवके साथ अज्ञान लगा हुआ है—उसका ज्ञान विपरीत है, उसे ही अविद्या कहते हैं। उस अविद्याके ही कारण यह जीव क्षणिक तथा सुखकी तरह प्रतीत होनेवाले असुखको ही सुख मानकर उसीकी तृष्णामें फँसा हुआ है। तथा उस अविद्याका सम्पर्क भी नित्य आनन्दरूपी अमृतसे परिपूर्ण शुद्ध चिद्रूपकी उपलब्धिके किंचित् स्पर्शका भी घातक है। उसी अविद्याके वशीभूत होकर यह जीव यह हमें प्रिय है और हमें अप्रिय है इस प्रकारके इष्ट और अनिष्ट मानसिक विकल्पोंके समूहसे जटिल पदार्थोंमें इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टसे बचनेके लिए प्रयत्नशील होता हुआ बारम्बार राग-द्वेष करता है और उससे बारम्बार कर्मोंसे बँधता है ॥१३५॥

आगे विचार करते हैं कि मोहकर्मको असमयमें जीतना तत्त्वज्ञानियोंके लिए भी कष्टसाध्य है—

महतामप्यहो मोहग्रहः कोऽप्यनवग्रहः।
ग्राहयत्यस्वमस्वांश्च योऽहंममधिया हठात् ॥१३६॥

अनवग्रहः—स्वच्छन्दो दुर्निवार इत्यर्थः, चिरावेशो वा। अस्वं—अनात्मभूतं देहादिकमात्मबुद्धया, अस्वांश्च—अनात्मीयभूतान् दारागृहादीन् मम बुद्धये ति संबन्धः ॥१३६॥

अथापकुर्वतोऽपि चारित्रमोहस्योच्छेदाय काललब्धावेव विदुषा यतितव्यमित्यनुशास्ति—

दुःखानुबन्धैकपरानरातीन्, समूलमुन्मूल्य परं प्रतप्स्यन्।
को वा विना कालमरेः प्रहन्तुं, धीरो व्यवस्यत्यपराध्यतोऽपि ॥१३७॥

अरातीन्—मिथ्यात्वादीन् चोरचरटादींश्च। प्रतप्स्यन्—प्रतप्तुमिच्छन्। अरेः—चारित्रमोहस्य प्रतिनायकस्य च। धीरः—विद्वान् स्थिरप्रकृतिश्च ॥१३७॥

आश्चर्य है कि गृहस्थ अवस्थामें तीर्थंकर आदिके भी यह चारित्रमोहनीयरूप ग्रह इतना दुर्निवार होता है जिसे कहना शक्य नहीं है; क्योंकि यह जो अपने रूप नहीं हैं उन शरीर आदिमें 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि और जो अपने नही हैं पर हैं, उन स्त्री-पुत्रादिमें 'ये मेरे हैं' ऐसी बुद्धि बलपूर्वक उत्पन्न कराता है। अर्थात् यद्यपि वे तत्त्वको जानते हैं तथापि चारित्रमोहनीयके वशीभूत होकर अन्यथा व्यवहार करते हैं ॥१३६॥

आगे यह शिक्षा देते है कि यद्यपि चारित्रमोहनीय अपकारी है फिर भी विद्वान्को काललब्धि आनेपर ही उसके उच्छेदका प्रयत्न करना चाहिए—

केवल दुःखोंको ही देनेमें तत्पर मिथ्यात्व आदि शत्रुओंका समूल उन्मूलन करके अर्थात् संवरके साथ होनेवाली निर्जरा करके उत्कृष्ट तप करनेका इच्छुक कौन विद्वान् होगा जो कालके बिना अपकार करनेवाले भी चारित्रमोहनीयका नाश करनेके लिए उत्साहित होगा ॥१३७॥

विशेषार्थ—लोकमें भी देखा जाता है कि स्थिर प्रकृतिवाला धीर नायक 'जबतक योग्य समय न प्राप्त हो अपने अपकार कर्ताके साथ भी सद्व्यवहार करना चाहिए' इस नीतिको मनमें धारण करके यद्यपि नित्य कष्ट देनेवाले चोर, बटमार आदिको निर्वंश करके प्रतापशाली होना चाहता है फिर भी अपराधी भी शत्रुको समयपर ही मारनेका निश्चय करता है। इसी तरह यद्यपि चारित्रमोह अपकारकारी है किन्तु पूरी तैयारीके साथ उचित समयपर ही उसके विध्वंसके लिए तत्पर होना चाहिए। उचित समयसे आशय यह है कि न तो समयका बहाना लेकर उससे विरत होना चाहिए और न पूरी तैयारीके बिना जल्दबाजीमें ही किसी आवेशमें आकर व्रतादि धारण करना चाहिए। जैसे वर्तमान काल मुनिधर्मकी निर्मल प्रवृत्तिके लिए अनुकूल नहीं है। श्रावकोंका खान-पान बिगड़ चुका है। अब श्रावक मुनिके पधारनेपर उसीके उद्देश्यसे भोजन बनाते हैं। मुनि एक स्थानपर रह नहीं सकते। विहार करते हैं तो मार्गमें आहारकी समस्या रहती है उसके लिए मुनिको स्वयं प्रयत्न भी करना पड़ जाता है। और इस तरह परिवारसे भी अधिक उपधि पीछे लग जाती है। अतः इस कालमें मुनिव्रत तभी लेना चाहिए जब परिग्रहके अम्बारसे बचकर साधुमार्ग पालना शक्य हो ॥१३७॥

अथ श्रियमुपार्ज्य सत्पात्रेषु विनियुञ्जानस्य सद्गृहिणस्तत्परित्यागे मोक्षपथैकप्रस्थायित्वमभिष्टौति—

पुण्याब्धेर्मथनात्कथंकथमपि प्राप्य श्रियं निर्विशन्,
वै कुण्ठो यदि दानवासनविधौ शण्ठोऽस्मि तत्सद्विधौ ।
इत्यर्थैरुपगृह्णता शिवपथे पान्थान्यथास्वं स्फुर-
त्तादृग्वीर्यबलेन येन स परं गम्येत नम्येत सः ॥१३८॥

मथनात्—उदयप्रापणाद्विलोडनाच्च । निर्विशन्—अनुभवन् । वै कुण्ठः—वै स्फुटं कुण्ठो मन्दो । दानवासनविधौ—दानेनात्मन. संस्कारविधाने । उक्तिलेशपक्षे तु दानं वन्ति गच्छन्तीति दानवास्त्यागशीलास्तेषामसुराणा वासनविधौ निराकरणे वैकुण्ठो विष्णुरिति व्याख्येयम् । शण्ठः—यत्नपरिभ्रष्टः । सद्विधौ—साध्वाचरणे । उपगृह्णता—उपकुर्वता । सः—शिवपथः । नम्येत—नमस्क्रियेत श्रेयोर्थिभिरिति शेष. ॥१३८॥

अथ गृहं परित्यज्य तपस्यतो निर्विघ्ना मोक्षपथप्रवृत्ति कथयति—

प्रजाग्रद्वैराग्यः समयबलवल्गत्स्वसमय.,
सहिष्णुः सर्वोर्मीनपि सदसदर्थस्पृशि दृशि ।
गृहं पापप्रायक्रियमिति तदुत्सृज्य मुदित—
स्तपस्यन्निःशल्य. शिवपथमजस्रं विहरति ॥१३९॥

समयबल—श्रुतज्ञानसामर्थ्यं काललब्धिश्च । सहिष्णुः—साधुत्वेन सहमानः । सर्वार्मीन्—निखिलपरिषहान् । अपि सदसदर्थस्पृशि—प्रशस्ताप्रशस्तवस्तुपरामर्शिन्यामपि । दृशि—अन्तर्दृष्टौ सत्याम् । नि.शल्यः—मिथ्यात्वनिदानमायालक्षणशल्यत्रयनिष्क्रान्त. ॥१३९॥

जो सद्गृहस्थ लक्ष्मी कमाकर सत्पात्रोंमें उसे खर्च करता है और फिर उसे त्याग कर मोक्षमार्गमें लगता है उसकी प्रशंसा करते हैं—

पुण्यरूपी समुद्रका मन्थन करके किसी न किसी प्रकार महान् कष्टसे लक्ष्मीको प्राप्त करके 'मै उसको भोगता हूँ। यदि मैं दानके द्वारा आत्माका संस्कार करनेमें मन्द रहता हूँ तो स्पष्ट ही सम्यक् चारित्रका पालन करनेमें भी मैं प्रयत्नशील नहीं रह सकूँगा' ऐसा विचारकर जो मोक्षमार्गमें नित्य गमन करनेवाले साधुओंका यथायोग्य द्रव्यके द्वारा उपकार करता है तथा मोक्षमार्गके योग्य शक्ति और बलके साथ स्वयं मोक्षमार्गको अपनाता है उसे कल्याणार्थी जीव नमस्कार करते हैं ॥१३८॥

आगे कहते है जो घर त्याग कर तपस्या करता है उसीकी मोक्षमार्गमें निर्विघ्न प्रवृत्ति होती है—

लाभ आदिकी कामनाके बिना जिसका वैराग्य जाग्रत् है, तथा काललब्धि और श्रुतज्ञानके सामर्थ्यसे स्वस्वरूपकी उपलब्धिका विकास हुआ है, समस्त परीषहोंको शान्तभावसे सहन करनेमें समर्थ है, वह गृहस्थ अच्छे और बुरे पदार्थोंके विवेक करनेमें भी कुशल अन्तर्दृष्टिके होनेपर 'घरमें होनेवाली क्रियाएँ प्रायः पापबहुल होती हैं' इस विचारसे घरको त्याग कर माया, मिथ्यात्व और निदानरूप तीन शल्योंसे रहित होकर प्रसन्नताके साथ तपस्या करता हुआ, बिना थके निरन्तर रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गकी आराधना करता है ॥१३९॥

विशेषार्थ—गृहका त्याग किये बिना मोक्षमार्गकी निरन्तर आराधना सम्भव नहीं है। इसलिए घर छोड़ना तो मुमुक्षुके लिए आवश्यक ही है। किन्तु घर छोड़कर साधु बननेसे पहले उसकी तैयारी उससे भी अधिक आवश्यक है। वह तैयारी है संसार, शरीर और

अथ बहिःसङ्गेषु देहस्य हेयतमत्वप्रतिपादनार्थमाह—

शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नतः।
इत्याप्तवाचस्त्वग्देहस्त्याज्य एवेति तण्डुलः ॥१४०॥

त्वक्—तुषः इष्टसिद्धयनुपयोगित्वात्। त्याज्य एव देहममत्वछेदिन एव परमार्थनिर्ग्रन्थत्वात्। तदुक्तम्—

'देहो बाहिरगंथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो।
तेसिं चाए खवओ परमत्थे हवइ णिग्गंथो ॥' [आरा. सार ३३] ॥१४०॥

भोगोंसे आन्तरिक विरक्ति, वह विरक्ति किसी लौकिक लाभसे प्रेरित या श्मशान वैराग्य जैसी क्षणिक नहीं होनी चाहिए। साथ ही सात तत्त्वोंके सम्यक् परिज्ञानपूर्वक आत्मतत्त्व-की उपलब्धिरूप सम्यग्दृष्टि प्राप्त होनी चाहिए, बिना आत्मज्ञानके घर छोड़कर मुनि बनना उचित नहीं है। अन्तर्दृष्टि इतनी प्रबुद्ध होनी चाहिए कि आत्महित या अहित करनेवाले पदार्थोंको तत्काल परखकर हितमें लग सके और अहितसे बच सके। तब घर छोड़े। कमाने-या घरेलू परेशानियोंके कारण घर न छोड़े। एक मात्र पापके भयसे घर छोड़े और छोडकर पछताये नहीं। तथा साधुमार्गके कष्टोंको सहन करनेमें समर्थ होना चाहिए और मायाचार, मिथ्यात्व और आगामी भोगोंकी भावना नहीं होनी चाहिए। तभी मोक्ष-मार्गकी आराधना हो सकती है ॥१३९॥

आगे कहते हैं कि बाह्य परिग्रहमें शरीर सबसे अधिक हेय है—

'जिस शरीरमें धर्मके साधक जीवका निवास है उस शरीरकी रक्षा बड़े आदरके साथ करनी चाहिए' इस प्रकारकी शिक्षा जिनागमका ऊपरी छिलका है। 'और देह त्यागने ही योग्य है' यह शिक्षा जिनागमका चावल है ॥१४०॥

विशेषार्थ—'शरीर धर्मका मुख्य साधन है' यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है। इसी आधारपर धर्मसंयुक्त शरीरकी रक्षा करनी चाहिए, यह कथन बालक, वृद्ध, रोगी और थके हुए मनुष्योंकी दृष्टिसे किया गया है,' क्योंकि बालपन और वृद्धपनका आधार शरीर है। उसके विषयमें प्रवचनसारके चारित्र अधिकारकी ३१वीं गाथाकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने उत्सर्ग और अपवादको बतलाते हुए कहा है कि देश-कालका ज्ञाता उत्सर्गमार्गी मुनि बालपन, वृद्धपन, रोग और थकानके कारण आहार-विहारमें मृदु आचरण करनेसे भी थोड़ा पापबन्ध तो होता ही है इस भयसे अत्यन्त कठोर आचरण करके शरीरको नष्ट कर बैठता है और मरकर स्वर्गमें पैदा होकर संयमसे दूर हो जाता है और इस तरह महान् बन्ध करता है। अतः अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग कल्याणकारी नहीं है। इसके विपरीत बालपन, वृद्धपन, रोग और थकानके कारण अल्प पापबन्धकी परवाह न करके यथेच्छ प्रवृत्ति करनेपर संयमकी विराधना करके असंयमी जनके समान होकर महान् पापबन्ध करता है। अतः उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद भी कल्याणकारी नहीं है। अतः शरीरकी रक्षाका आग्रह इष्टसिद्धिमें उपयोगी नहीं है इसीलिए उसे जिनागमरूपी तन्दुलका ऊपरी छिलका कहा है। असली तन्दुल है 'शरीर छोड़ने ही योग्य है' यह उपदेश। क्योंकि जो वस्तु बाह्यरूपसे शरीरसे बिलकुल भिन्न है उसके छोड़नेके लिए कहा अवश्य जाता है किन्तु वह तो छूटी हुई है ही। असली बाह्य परिग्रह तो शरीर ही है। उससे भी जो ममत्व नहीं करता वही परमनिर्ग्रन्थ है। कहा भी है—'शरीर ही

अथ कायक्लेशलालनयोर्गुणदोषौ भिक्षोरुपदिशन्नाह—

योगाय कायमनुपालयतोऽपि युक्त्या,
क्लेश्यो ममत्वहृतये तव सोऽपि शक्त्या ।
भिक्षोऽन्यथाक्षसुखजीवितरन्ध्रलाभात्,
तृष्णासरिद् विधुरयिष्यति सत्तपोऽद्रिम् ॥१४१॥

योगाय—रत्नत्रयप्रणिधानार्थम् । युक्त्या—शास्त्रोक्तनीत्या । सोऽपि—अपिशब्दात् क्रियाया अपि ॥१४१॥

अथ प्रतिपन्ननैःसंग्यव्रतस्यापि देहस्नेहादात्मक्षतिः स्यादिति शिक्षयति—

नैर्ग्रन्थ्यव्रतमास्थितोऽपि वपुषि स्निह्यन्नसह्यव्यथा-
भीरुर्जीवितवित्तलालसतया पञ्चत्वचेक्रीयितम् ।
याच्ञादैन्यमुपेत्य विश्वमहितां न्यक्कृत्य देवीं त्रपां,
निर्मानो धनिनिष्ण्यसंघटनयाऽस्पृश्यां विधत्ते गिरम् ॥१४२॥

पञ्चत्वचेक्रीयित—लक्षणया मरणतुल्यम् । न्यक्कृत्य—अभिभूय । देवं (–देवी) महाप्रभावतो त्वातं (–वत्वात्) । तदुक्तम्—

'लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवार्या-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाः ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सत्यजन्ति
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥' [ ]

निष्ण्यः—अन्त्यज दयादाक्षिण्यरहितत्वात् । अस्पृश्यां—अनादेयाम् ॥१४२॥

बाह्य परिग्रह है और इन्द्रियोंकी विषयाभिलाषा अन्तरंगपरिग्रह है। उनको त्यागनेपर ही क्षपक परमार्थसे निर्ग्रन्थ होता है' ॥१४०॥

आगे साधुको शरीरको कष्ट देनेके गुण और उसके लालन-पालनके दोष बतलाते हैं—

हे साधु ! रत्नत्रयमें उपयोग लगानेके लिए शरीरकी संयमके अनुकूल रक्षा करते हुए भी तुम्हें ममत्वभावको दूर करनेके लिए अपने बल और वीर्यको न छिपाकर शास्त्रोक्त विधानके अनुसार शरीरका दमन करना चाहिए। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो इन्द्रिय सुख और जीवनकी आशारूपी छिद्रोंको पाकर तृष्णारूपी नदी समीचीन तपरूपी पर्वतको चूर्ण कर डालेगी ॥१४१॥

विशेषार्थ—यद्यपि रत्नत्रयकी साधनाके लिए शरीर रक्षणीय है किन्तु ऐसा रक्षणीय नहीं है कि संयमका वह घातक हो जाये। अपनी शक्ति और साहसके अनुसार उसका दमन भी करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो मुनिका यह शरीर प्रेम धीरे-धीरे विषयोंकी और जीवनकी आशाको बल प्रदान करेगा। उससे बल पाकर तृष्णाकी नदी तपरूपी पर्वतको फोड़कर निकल पड़ेगी और तपका फल संवर और निर्जरा समाप्त हो जायेगा ॥१४१॥

आगे शिक्षा देते हैं कि परिग्रह त्यागरूप व्रतको धारण करके भी शरीरसे स्नेह करनेसे साधुके माहात्म्यकी हानि होती है—

सकल परिग्रहके त्यागरूप नैर्ग्रन्थ्यव्रतको स्वीकार करके भी शरीरसे स्नेह करनेवाला साधु असह्य परीषहके दुःखसे डरकर जीवन और धनकी अत्यन्त लालसासे दूसरे मरणके तुल्य माँगनेकी दीनताको स्वीकार करता है। और लज्जा देवीका तिरस्कार करके अपना

अथ महासत्त्वस्य धर्मवीररसिकतया तत्सहायकाय पालनाय यथोक्तां भिक्षां प्रतिज्ञाय प्रमाद्यतः पर्यनुयोगार्थमाह—

प्राचीं माष्टुंमिवापराधरचनां वृष्ट्वा स्वकार्ये वपुः,
सध्रीचीनमवोऽनुरोद्‌धुमधुना भिक्षां जिनोपक्रमम् ।
आश्रौषीर्यदि धर्मवीररसिकः साधो नियोगाद् गुरो-
स्तत्तच्छिद्रचरौ न किं विनयसे रागापरागग्रहौ ॥१४३॥

प्राची—पूर्वकृताम् । माष्टुं—निराकर्तुम् । सध्रीचीनं—सहायम् । अनुरोद्‌धुं—स्वकार्ये सहकारि यथा स्यात्तथा कर्तुम् । जिनोपक्रमं—तीर्थकरेण प्रथममारब्धम् । आश्रौषीः—प्रतिज्ञातवांस्त्वम् । नियोगात्—आज्ञानुरोधात् । तच्छिद्रचरौ—इदमनेन सुन्दरमसुन्दरं वा भोजनं दत्तमिति भिक्षाद्वारायातौ रागद्वेषौ । ग्रहपक्षे तु छिद्रं प्रमादाचरणम् । विनयसे—शमयसि । 'कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ' इति आत्मनेपदम् ॥१४३॥

महत्त्व खो देता है तथा जगत्में पूज्य वाणीको धनीरूपी चाण्डालके सम्पर्कसे अस्पृश्य बना देता है । अर्थात् शरीरसे मोह करनेवाला परिग्रहत्यागी भी साधु परीषहके कष्टोंसे डरकर धनिकोंसे याचना करने लगता है । और इस तरह अपनी मान-मर्यादा नष्ट कर देता है ॥१४२॥

जो महासत्त्व धर्मके विषयमें प्रशस्त वीररससे युक्त होनेके कारण धर्ममें सहायक शरीरका रक्षण करनेके लिए शास्त्रोक्त भिक्षाकी प्रतिज्ञा लेकर प्रमाद करता है, उससे पूछते हैं—

हे साधु ! पूर्व गृहस्थ अवस्थामें किये गये पापोंको मानो धोनेके लिए तुमने यह रत्नत्रयकी साधना स्वीकार की है और तुम्हें यह निश्चय हो गया है कि इस कार्यमें शरीर सहायक है । तुम धर्मवीररसिक हो अर्थात् धर्मके विषयमें तुम्हारा वीररस अभिनन्दनीय है । ऐसे समयमें इस शरीरको अपना कार्य करनेमें समर्थ बनानेके लिए यदि तुमने दीक्षा देनेवाले गुरुकी आज्ञासे भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकरके द्वारा प्रारम्भ की गयी भिक्षा ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा की थी तो उस भिक्षासे होनेवाले राग-द्वेषरूपी भूतोंको, अमुकने मुझे सुन्दर भोजन दिया और अमुकने मुझे बुरा भोजन दिया—क्यों नहीं शान्त करते हो ॥१४३॥

विशेषार्थ—साधुको धर्मवीररसिक कहनेसे ग्रन्थकारने द्रव्यसे अप्रमत्तसंयत कहा है । अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है । उसका स्वरूप इस प्रकार कहा है—'जिसके समस्त प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलसे शोभित है; जो न तो मोहनीयका उपशम करता है और न क्षय करता है, केवल ध्यानमें लीन रहता है उस ज्ञानीको अप्रमत्तसंयत कहते हैं ।' अप्रमत्तसंयत अवस्थामें तो भोजनका विकल्प हो नहीं सकता । किन्तु छठे और सातवें गुणस्थानोंका काल अन्तर्मुहूर्त कहा है । अन्तर्मुहूर्तमें छठेसे सातवाँ और सातवेंसे छठा गुणस्थान होता रहता है । भोजन करते समय साधु द्रव्यसे अप्रमत्तसंयत हो सकता है । उस अवस्थामें भोजनके सम्बन्धमें सरस-नीरसका विकल्प करना साधुके लिए उचित नहीं है ।

णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥—गो. जीव., ४६ गा. ।

अथ देहात्मभेदभावनानिरुद्धविकल्पजालस्य साधोः शुद्धस्वात्मोपलम्भमभिनन्दति—

नीरक्षीरवदेकतां कलयतोरप्यङ्गपुंसोरचि-
च्चिद्रूपाद्यदि भेद एव तदलंभिन्नेषु कोऽभिद्भ्रमः ।
इत्यागृह्य परादपोह्य सकलोन्मीलद्विकल्पच्छिदा-
स्वच्छेनास्वनितेन कोऽपि सुकृती स्वात्मानमास्तिघ्नुते ॥१४४॥

अलं भिन्नेषु—अत्यन्तपृथग्भूतेषु दारगृहादिषु । अभिद्भ्रमः—अभेदभ्रम —अभेदभ्रान्तिः । आगृह्य—दृढं प्रतिपद्य । परात्—देहादेः । अपोह्य—व्यावर्त्य । छिदा—छेद. । आस्वनितेन—मनसा । आस्तिघ्नुते—आस्कन्दति, अभेदेनानुभवतीत्यर्थ. ॥१४४॥

शरीरके पोषणके लिए सात्त्विक भोजन मात्र उपयोगी है। सरस विरसके विकल्पमें इन्द्रियोंकी परवशता प्रतीत होती है। और उससे राग-द्वेषको बल मिलता है ॥१४३॥

आगे शरीर और आत्माके भेदज्ञानके द्वारा समस्त विकल्पोंको रोकनेवाले साधुके शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धिका अभिनन्दन करते हैं—

यद्यपि शरीर और आत्मा दूध और पानीकी तरह एकमेक हो रहे हैं फिर भी आत्माके चेतन और शरीरके अचेतन होनेसे यदि दोनोंमें भेद ही है तो अत्यन्त भिन्न स्त्री, मकान आदिमें अभेदके भ्रमका कोई प्रश्न ही नहीं है, वे तो भिन्न हैं ही। इस प्रकार शरीर आदिसे स्वात्माको भिन्न रूपसे दृढतापूर्वक जानकर शरीरसे आत्माको भिन्न करके, समस्त उत्पन्न होनेवाले विकल्पोंको अर्थात् अन्तर्जल्पसे सम्बद्ध विचारोंके छेदसे स्वच्छ हुए मनके द्वारा कोई विरला ही पुण्यात्मा स्वात्माका अभेदरूपसे अनुभव करता है ॥१४४॥

विशेषार्थ—स्वात्माकी उपलब्धिके लिए सबसे प्रथम भेदविज्ञान आवश्यक है। स्व और परका भेदविज्ञान हुए बिना स्वात्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती। जो अपनेसे साक्षात् भिन्न स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि हैं उनसे अभिन्नताका भ्रम तो मोहमूलक है और उस मोहका मूल है शरीर-आत्मामें एकत्वकी भ्रान्ति। यह भ्रान्ति यदि दूर हो जाये तो स्त्री, पुत्रादिकमें अभेदकी भ्रान्ति स्वतः दूर हो जायेगी। शरीर-आत्मा दूध और पानीकी तरह मिले हुए हैं किन्तु आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन है। चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता और अचेतन चेतन नहीं हो सकता। दोनों दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इस भेदज्ञानसे दोनोंको पृथक्-पृथक् निश्चय करके मनमें उठनेवाले राग-द्वेषमूलक सब विकल्पोंको दूर करके निर्विकल्प मनके द्वारा स्वात्माकी उपलब्धि या अनुभूति होती है। किन्तु ऐसी अनुभूति करनेवाले बहुत ही विरल होते हैं। कहा है—'जो पुरुष स्वयं अथवा परके उपदेशसे किसी तरह भेदविज्ञानरूप मूल कारणवाली अविचल आत्मानुभूतिको प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पणकी तरह अपने आत्मामें प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावोंके स्वभावसे निरन्तर विकार-रहित होते हैं अर्थात् उनके ज्ञानमें जो ज्ञेयोंके आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे वे विकारको प्राप्त नहीं होते' ॥१४४॥

१. 'कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव' ॥—समयसार कलश, २१ श्लो.

अथ समरसीभावसमुज्जृम्भितसहजज्योतिषो मोहविजयातिशयं प्रकाशयति—

स्वार्थेभ्यो विरमय्य सुष्ठु करणग्रामं परेभ्यः पराक्
कृत्वान्तःकरणं निरुध्य च चिदानन्दात्मनि स्वात्मनि ।
यस्तत्रैव निलीय नाभिसरति द्वैतान्धकारं पुन-
स्तस्योद्दाममसीम धाम कतमच्छिन्द्यात्तमः श्राम्यति ॥१४५॥

पराक्—पराङ्मुखम् । द्वैतान्धकारं—अयमहमयं पर इति विकल्पं ध्येयादिविकल्पं वा तम इव शुद्धात्मोपलम्भप्रतिबन्धकत्वात् ॥१४५॥

अथ शुद्धस्वात्मोपलम्भोन्मुखस्य योगकाष्ठासौष्ठवावाप्तिभवितव्यतानुभावभावनामनुभावयति—

आगे कहते हैं कि उक्त प्रकारकी भावनाके बलसे समरसी भावके द्वारा जिनकी स्वाभाविक आत्मज्योति विकसित हो जाती है वे पुरुष मोहको जीत लेते हैं—

समस्त इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोसे अच्छी तरह विमुख करके तथा मनको शरीर आदिसे विमुख करके और ज्ञानानन्दमय निज आत्मामें एकाग्र करके जो उसीमें लीन हो जाता है, और द्वैतरूपी अन्धकारकी ओर पुनः अभिमुख नहीं होता, अर्थात् 'यह मैं हूँ' 'यह पर है' या ध्यान, ध्येय आदि विकल्प नहीं करता, उस योगीका सीमा रहित और प्रतिबन्धरहित तेज किस चिरकालसे जमे हुए अज्ञानका छेदन नहीं करता, अपितु सभी प्रकारके अनादि अज्ञानके विलासको नष्ट कर देता है ॥१४५॥

विशेषार्थ—मेरा चिदानन्दमय आत्मा शरीर आदिसे भिन्न है, इस भावनाके बलसे निर्विकल्प मनके द्वारा आत्माकी अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंसे विमुख होनेमें मूल कारण है। आत्मानुभूतिके बिना जो विषयोंके प्रति अरुचि होती है वह स्थायी नहीं होती। और जबतक इन्द्रियाँ विषयोंके प्रति रागी रहेंगी तबतक मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता। आत्मासे मतलब है ज्ञानानन्दमय शुद्ध चिद्रूप। जब मनमें राग-द्वेषमूलक विकल्पजाल छाया हुआ हो तब मनके स्थिर होनेकी बात ही व्यर्थ है। ऐसे मनसे आत्मस्थिति सम्भव नहीं है। [1]कहा है—'जिसका मनरूपी जल राग-द्वेषरूपी लहरोंसे चंचल नहीं होता वही पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको देखता है, दूसरा मनुष्य उसे नहीं देख सकता।'

अन्य रागमूलक विकल्पोंकी तो बात ही क्या, 'यह शरीर पर है' यह विकल्प भी द्वैत-रूप होनेसे शुद्धात्माकी उपलब्धिमें प्रतिबन्धक है। इसीसे द्वैतको अन्धकारकी उपमा दी है। उस अन्धकारके दूर होनेपर ही वह आत्मज्योति प्रकट होती है जो सब अनादि अज्ञानको नष्ट करती है। उसीकी प्राप्तिके लिए सब त्यागादि है ॥१४५॥

आगे शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धिके प्रति अभिमुख हुए योगीके भविष्यमें होनेवाली योगकी चरम सीमाकी प्राप्तिके फलकी भावना व्यक्त करते हैं—

१. 'रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः' ॥—समाधितन्त्र, ३५ श्लो. ।

भावैर्वैभाविकैर्मे परिणतिमयतोऽनादिसंतानवृत्त्या,
कर्मण्यैरेकलोलीभवत उपगतैः पुद्गलैस्तत्स्वतः स्वम् ।
बुद्ध्वा श्रद्धाय साम्यं निरुपधि दधतो मुत्सुधाब्ध्यावगाधे,
स्याच्चेल्लीलावगाहस्तदयमघशिखी किं ज्वलेद्दाह्यशून्यः ॥१४६॥

वैभाविकैः—औपाधिकैः मोहरागद्वेषैरित्यर्थः । कर्मण्यैः—ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यैः । निरुपधि—निर्दम्भम् । दाह्यशून्यः—दाह्येन मोहाद्याविष्टचिद्विवर्तेन तृणकाष्ठादिना च रहितः ॥१४६॥

अथ समाधिमधिरुरुक्षोर्मुमुक्षोरन्तरात्मानुशिष्टिमुपदेष्टुमाचष्टे—

अयमधिमदबाधो भात्यहं प्रत्ययो य-
स्तमनु निरवबन्धं बद्धनिर्व्याजसख्यम् ।
पथि चरसि मनश्चेत्तर्हि तद्धाम हीर्षे,
भवदवविपदो दिङ्मूढमभ्येषि नो चेत् ॥१४७॥

अनादि सन्तान परम्परासे सदा मेरे साथ सम्बद्ध ज्ञानावरण आदि कर्मोंके योग्य पुद्गलोंके साथ मेरा कथंचित् तादात्म्य जैसा सम्बन्ध हो रहा है। और उन्हींका निमित्त पाकर होनेवाले राग-द्वेषरूप वैभाविक भावोंसे मैं परिणमन करता रहा हूँ। अब यदि मैं यथार्थ रूपसे आत्माका श्रद्धान करके और उसका निश्चय करके तथा उपाधि रहित साम्य भावको धारण करके गहरे आनन्दरूपी अमृतके समुद्रमें सरलतासे अवगाहन कर सकूँ तो क्या यह पापरूप अग्नि बिना ईंधनके जलती रह सकती है ॥१४६॥

विशेषार्थ—यह योगीकी यथार्थ भावना है। इस भावनामें अपनी अतीत स्थितिके चित्रणके साथ ही उसके प्रतीकारका उपाय भी है। जीव और कर्मोंके सम्बन्धकी परम्परा अनादि है। पूर्वबद्ध कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीव राग-द्वेषरूप परिणमन स्वतः करता है और जीवके राग-द्वेष रूप परिणामोंका निमित्त पाकर कार्मण वर्गणाएँ स्वयं ज्ञानावरणादि-रूपसे परिणमन करती हैं। इससे छूटनेका उपाय है कर्मजन्य रागादि भावोंसे आत्माकी भिन्नताको जानकर आत्माके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान और ज्ञान तथा रागादि रूपसे परि-णमन न करके राग और द्वेषकी निवृत्ति रूप साम्यभावको धारण करना। इसीके लिए चारित्र धारण किया जाता है। साम्यभावके आते ही आत्मामें आनन्दका सागर हिलोरें लेने लगता है। उसमें डुबकी लगानेपर पापरूप अग्नि शान्त हो जाती है क्योंकि उसे रागद्वेषरूपी ईंधन मिलना बन्द हो जाता है। यदि आगमें ईंधन न डाला जाये तो वह स्वतः शान्त हो जाती है। यही स्थिति पापरूप अग्निकी भी है ॥१४६॥

समाधिपर आरोहण करनेवाले मुमुक्षुको अन्तरात्मामें ही उपयोग लगानेका उपदेश देते हैं—

हे मन ! जो यह आत्माको लेकर बाधारहित 'मैं' इस प्रकारका ज्ञान प्रतिभासित होता है, उसके साथ छल-कपटसे रहित गाढ़ मैत्रीभाव रखकर यदि मार्गमें अस्खलित रूपसे चलोगे तो उस वचनके अगोचर और एकमात्र स्वसंवेदनके द्वारा अनुभव होने योग्य स्थानको प्राप्त करोगे। अन्यथा चलनेपर दिङ्मूढ़ होकर—गुरुके उपदेशमें मूढ़ बनकर संसाररूपी दावाग्निकी विपत्तियोंकी ओर जाओगे ॥१४७॥

अधिमद्—मय्यात्मन्यधिकृत्य। तमनु—तेन सह। निरवबन्धं—अस्खलितम्। अवाचागोचरतया स्वैकसंवेद्यतया वा प्रसिद्धं स्थानम्। ईर्षे—गच्छसि। दिङ्मूढं—गुरूपदेशे दिक्षु च व्यामुग्धम्॥१४७॥

अथैवमाकिञ्चन्यव्रतबद्धकक्षस्य भिक्षो. शिक्षामापाद्य पूर्वविभ्रमसंस्कारात्तत्र पुन. श्लथीभावावतार- ३
तिरस्काराय मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जन-लक्षणपञ्चभावनाप्रयोगपुरःसरं प्रयत्नमावर्णयति—

विशेषार्थ—अकलंक देवने कहा है कि 'हमारा आत्मा' ऐसा जो ज्ञान हमें होता है वह संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और सम्यक्ज्ञानमें-से कोई भी होनेसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। यह ज्ञान संशय तो है नहीं, क्योंकि निर्णय है। फिर भी यदि संशय है तब भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि संशयका विषय अवस्तु नहीं होती। यह ज्ञान अनध्यवसाय भी नहीं है, अनादि कालसे इस तरहका ज्ञान सबको होता आ रहा है। यदि यह विपरीत ज्ञान है तब भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे पुरुषमें स्थाणुका ज्ञान होनेपर स्थाणुकी सिद्धि होती है। यदि यह सम्यग्ज्ञान है तब तो आत्माकी सिद्धिमें कोई विवाद ही नहीं रहता। आचार्य विद्यानन्दने कहा है—आत्मा सदा बाधारहित स्व-संवेदनसे सिद्ध है। पृथ्वी आदि भूतोंकी पर्यायरूप चैतन्यविशिष्ट शरीररूप पुरुषमें स्वसंवेदन सम्भव नहीं है। 'यह नील है' इत्यादि ज्ञान स्वसंवेदन नहीं है क्योंकि वह तो बाह्य इन्द्रियोंसे होता है उसमें 'अहं' प्रत्यय नहीं होता। 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान उस प्रकारका नहीं है, इन दोनों ज्ञानोंका अन्तर स्पष्ट अनुभवमें आता है। 'मैं गौर हूँ' यह ज्ञान भी बाह्येन्द्रियसे उत्पन्न होनेसे उससे भिन्न है। शायद कहा जाये कि 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान भी उसीके समान है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस ज्ञानका आश्रय 'मैं' से भिन्न कोई दूसरा नहीं है। तथा सुखके सम्बन्धसे 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान होता है। सुखका सम्बन्ध किसके साथ है यह विचार करनेपर उसका आश्रय कोई कर्ता होना चाहिए, उसके अभावमें 'मै सुखी हूँ' इस प्रकार कर्तामें स्थित सुखका ज्ञान नहीं हो सकता। और वह कर्ता आत्मा ही हो सकता है क्योंकि वह शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीनोंसे विलक्षण है। और विलक्षण इसलिए है कि सुखादिका अनुभव उसे ही होता है। जो अनुभव करता है उसे ही स्मरण आदि भी होता है। जो मैं सुखका अनुभव करता था वही मै अब हर्षका अनुभव करता हूँ इस प्रकारका अनुसन्धान निर्बाध होता है। इसलिए हे मन, जिसमें यह अनुपचरित 'अहं' रूप ज्ञान होता है उसीके साथ सच्ची मित्रता करेगा तो उस स्थानको प्राप्त करेगा जो वचनातीत है। और यदि गुरुके उपदेशको भूलकर मार्गभ्रष्ट हो गया तो संसारके दुःखोंमें फँस जायेगा। लोकमें भी देखा जाता है कि जो मार्गपर नहीं चलता वह दिशा भूलकर जंगलमें जाकर फँस जाता है॥१४७॥

इस प्रकार आकिंचन्यव्रतको दृढ़तासे पालन करनेमें तत्पर साधुको शिक्षा देनेके बाद, पूर्व गलत संस्कारवश साधु कहीं उसमें ढीला न पड़ जाये इस विचारसे इन्द्रियोंके प्रिय और अप्रिय विषयोंमें राग-द्वेषके त्यागरूप पाँच भावनाओंको भानेका उपदेश देते हैं—

१. 'स्वसंवेदनत. सिद्ध. सदात्मा बाधवर्जितात्।
तस्य क्ष्मादिविवर्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तितः॥
स्वसंवेदनमप्यस्य बहिःकरणवर्जनात्।
अहंकारास्पदं स्पष्टमबाधमनुभूयते॥—त. श्लो. वा., १।९६-९७।

पञ्चार्थचारुविषयेषु निषिद्धय राग-
द्वेषौ निवृत्तिमधियन् मुहुरानिवर्त्यात् ।
ईर्ते निवर्त्यं विरहादनिवृत्तिवृत्ति,
तद्धाम नौमि तमसङ्गमसङ्गसिंहम् ॥१४८॥

अधियन्—ध्यायन् । आनिवर्त्यात्—निवर्तनीय बन्धं बन्धनिबन्धनं च यावत् । ईर्ते—गच्छति । अनिवृत्तिवृत्ति—निवृत्तिप्रवृत्तिरहितम् । तथा चावाचि—

'निर्वृत्ति भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥
रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥' [आत्मानु. २३६-२३७]

असङ्गं—संततं निरुपलेपं च ॥१४८॥

अथ स्वस्वभावनासंपादितस्थैर्याणि व्रतानि साधूना समीहितं साधयन्तीत्युपदेशार्थमाह—

पञ्चभिः पञ्चभिः पञ्चाप्येतेऽहिंसादयो व्रताः ।
भावनाभिः स्थिरीभूताः सतां सन्तोष्टसिद्धिदाः ॥१४९॥

स्पष्टम् ॥१४९॥

जो पाँचों इन्द्रियोंके मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द विषयोंमें राग द्वेष न करके जबतक निवर्तनीय बन्ध और बन्धके कारण हैं तबतक बार-बार निवृत्तिकी भावनाका ध्यान करते हुए, निवर्तनीय—हटाने योग्यका अभाव होनेसे निवृत्ति और प्रवृत्तिसे रहित उस स्थानको प्राप्त होता है उस निरुपलेप निर्ग्रन्थ श्रेष्ठको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१४८॥

विशेषार्थ—इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोंसे द्वेषका त्याग किये बिना परिग्रहत्यागव्रत परिपूर्ण नहीं होता। अतः परिग्रहके त्यागीको उनका भी त्याग करना चाहिए। उसके साथ जिनसे उसे यथार्थमें निवृत्त होना है वह है बन्ध और बन्धके कारण। जबतक ये वर्तमान हैं तबतक उसे इनसे निवृत्त होनेके लिए सदा जागरूक रहना होगा। जब ये नहीं रहेंगे तभी वह उस मुक्तिको प्राप्त करेगा, जहाँ न निवृत्ति है और न प्रवृत्ति है। कहा भी है—'जबतक छोड़नेके योग्य शरीरादि बाह्य वस्तुओंके प्रति ममत्व भाव है तबतक निवृत्तिकी भावना करनी चाहिए। और जब निवृत्त होनेके लिए कुछ रहे ही नहीं, तब न तो निवृत्ति रहती है और न प्रवृत्ति रहती है। वही अविनाशी मोक्षपद है। राग और द्वेषका नाम प्रवृत्ति है और उनके अभावका नाम निवृत्ति है। ये दोनों ही बाह्य पदार्थोंसे सम्बद्ध हैं इसलिए बाह्य पदार्थोंका पूरी तरहसे त्याग करना चाहिए। अर्थात् 'बाह्य पदार्थोंका त्याग मूल वस्तु नहीं है। मूल वस्तु है रागद्वेषका त्याग। किन्तु राग द्वेष बाह्य पदार्थोंको ही लेकर होते हैं इसलिए रागद्वेषके आलम्बन होनेसे बाह्य पदार्थोंको भी छोड़ना चाहिए।' इस प्रकार परिग्रह त्याग महाव्रतका कथन पूर्ण हुआ ॥१४८॥

आगे अपनी भावनाओंके द्वारा स्थिरताको प्राप्त हुए व्रत साधुओंके मनोरथोंको सिद्ध करते हैं, यह उपदेश देते हैं—

ये पहले कहे गये हिंसाविरति, अनृतविरति, चौर्यविरति, अब्रह्मविरति और परिग्रह-विरतिरूप पाँचों व्रत पाँच-पाँच भावनाओंके द्वारा निश्चलताको प्राप्त होनेपर साधुओंके इष्ट अर्थके साधक होते हैं। ये भावनाएँ प्रत्येक व्रतके साथ पहले बतला आये हैं ॥१४९॥

अथोक्तलक्षणाना पञ्चानां व्रतानां महत्त्वसमर्थनपुरस्सरं रात्रिभोजनविरमणलक्षणं षष्ठमणुव्रतं रक्षणार्थमुपदिशन्नुत्तरोत्तराभ्याससौष्ठवेन सम्पूर्णीकरणे सति निर्वाणलक्षणं फलं लक्षयति—

पञ्चैतानि महाफलानि महतां मान्यानि विष्वग्विर-
त्यात्मानीति महान्ति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये ।
प्राणित्राणमुखप्रवृत्त्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभव-
त्साम्याः शुद्धदृशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वान्ति ते ॥१५०॥

महतां मान्यानि—गणधरदेवादीनामनुष्ठेयतया सेव्यानि इन्द्रादीना वा दृग्विशुद्धिविवृद्धचङ्गतया पूज्यानि । विष्वग्विरत्यात्मानि—स्थूलसूक्ष्मभेद-सकलहिंसादिविरतिरूपाणि । उक्तं च—

'[1]आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥' [ज्ञानार्णव १८ में उद्धृत]

अपि च—

'महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नतानि ।
महासुखस्थाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सता मतानि ॥' [ज्ञानार्णव १८।१]

नक्तमित्यादि—नक्तं रात्रावशनस्य चतुर्विधाहारस्योज्झावर्जनं सेवाणुव्रतम् । तस्याश्चाणुव्रतत्वं रात्रावेव भोजननिवृत्तेर्दिवसे यथाकाल तत्र तत्प्रवृत्तिसंभवात् । तदग्रं प्रधानं येषा रक्षार्थत्वात् । तदुक्तम्—

पाँचों व्रतोंका लक्षण पहले कह आये हैं। अब उनके महत्त्वका समर्थनपूर्वक उनकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन विरति नामक छठे अणुव्रतका कथन करते हुए यह बताते हैं कि उत्तरोत्तर अच्छी तरह किये गये अभ्यासके द्वारा इन व्रतोंके सम्पूर्ण होनेपर निर्वाणरूप फलकी प्राप्ति होती है—

ये पाँचों व्रत अनन्तज्ञानादिरूप महाफलवाले हैं, महान् गणधर देव आदिके द्वारा पालनीय हैं अथवा दर्शनविशुद्धिकी वृद्धिमें कारण होनेसे इन्द्रादिके द्वारा पूजनीय हैं और स्थूल तथा सूक्ष्म भेदरूप सकल हिंसा आदिकी विरतिरूप हैं इसलिए इन व्रतोंको महान् कहा जाता है। रात्रिभोजनत्याग नामक अणुव्रत उनका अगुआ है उस पूर्वक ही ये व्रत धारण किये जाते हैं। जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नीचेकी भूमिकामें होनेवाली प्राणिरक्षा, सत्यभाषण, दत्तवस्तुका ग्रहण, अब्रह्म सेवन और योग्य परिग्रहका स्वीकाररूप प्रवृत्तिको उपरिम भूमिकामें त्याग कर उसके गुणश्रेणिरूप संक्रमके द्वारा सर्वसावद्ययोग विरतिरूप सामायिक चारित्रको प्राप्त करता है वह जीवन्मुक्तिको प्राप्त करके परम मुक्तिको प्राप्त करता है ॥१५०॥

विशेषार्थ—उक्त पाँच व्रतोंको महाव्रत कहा जाता है। उसकी तीन उपपत्तियाँ बतलायी हैं। प्रथम उनका फल महान् है उनको धारण करनेपर ही अनन्त ज्ञानादिरूप महाफलकी प्राप्ति होती है। दूसरे गणधर आदि महान् पुरुष भी उन व्रतोंको पालते हैं या महान् इन्द्रादि उनको पूजते हैं क्योंकि व्रतोंके पालनसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिमें वृद्धि होती है। तीसरे उनमें स्थूल और सूक्ष्म भेदरूप सभी प्रकारकी हिंसा असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका पूर्ण त्याग होता है। इसलिए उन्हें महान कहा है। कहा भी है—

---

१. सार्धेति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं ।
जं च महल्लाइ सयं महव्वदाइं हवे ताइं ॥ [भ. आ., ११८४ गा.]

'तेसिं चेव वयाणं रक्खत्थं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठय पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ।' [भ. आरा. ११८५]

रात्रिभोजिनो हि मुनेर्हिसादीना प्राप्ति. शंका चात्मविपत्तिश्च स्यात् । तदप्युक्तम्—

'तेसिं पञ्चण्हं पिय वयाणमावज्जणं च संका वा ।
आदविवत्तीअ हवेज्ज रादिभत्तप्पसंगम्मि ॥' [भ. आरा ११८६]

रात्रौ हि भिक्षार्थं पर्यटन् प्राणिनो हिनस्ति दुरालोकत्वात् । दायकागमनमार्गं तस्यात्मनश्चावस्थानदेश-मुच्छिष्टस्य निपातदेशमाहारं च योग्यमयोग्यं वा निरूपयितुं न शक्नोति कटच्छकादिकं वा शोधयितुम् । अति-सूक्ष्मत्रसाना दिवापि दुष्परिहारत्वात् । पदविभागिकामेषणासमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविषया कुर्वन् कथमिव सत्यव्रती स्यात् । सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्णतोऽस्यादत्तादानमपि स्यात् ? विद्विष्टा गोत्रिणो वैरिणो वा नि.शंकिता रात्रौ मार्गादौ ब्रह्मचर्यं तस्य नाशयन्ति । दिवानीतं वसतौ निजभाजने धृतमाहारं रात्रौ भुञ्जान सपरिग्रहश्च भवेत् । तथा मम हिंसादय. संवृता न वेति शङ्का रात्रिभोजिनः स्यात् स्थाणुसर्पकण्टका-दिभिरुपघातश्च । प्राणि आदि—अधस्तनभूमिकाया प्राणिरक्षणे सत्यभाषणे दत्तग्रहणे ब्रह्मचरणे योग्यपरिग्रह-स्वीकरणे च या प्रवृत्तिस्तस्या उपरम उपरिमभूमिकाया व्यावर्तनं तस्यानुरीत्यानुक्रमणेन पूर्णीभवन् सम्पूर्णता गच्छन् साम्यं सर्वसावद्ययोगविरतिमात्रलक्षणं सामायिकचारित्रं येषा ते तथाभूता भूत्वा । सकलीकुर्वन्ति—सामायिकशिखरारोहणेन सूक्ष्मसाम्परायकाष्ठामधिष्ठाय यथाख्यातरूपता नयन्ति । निर्वान्ति ते—अयोग-चरमसमय एव चारित्रस्य सम्पूर्णीभावादयोगानामचारित्रस्य व्यापकत्वात् ।

'यत: असंयमके निमित्तसे आनेवाले नवीन कर्मसमूहको रोकने रूप महान् प्रयोजनको साधते हैं, महान् पुरुषोंके द्वारा पाले जाते हैं तथा स्वयं महान् होनेसे उन्हें महाव्रत कहते हैं।' इन व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन विरति नामक छठा अणुव्रत भी कहा है। यथा—'उन्हीं अहिंसादि-व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजननिवृत्ति नामक व्रत है। तथा पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचन माता हैं। जैसे माता पुत्रोंकी अपायसे रक्षा करती है वैसे ही पाँच समिति और तीन गुप्ति व्रतोंकी रक्षा करती हैं। तथा सभी भावनाएँ भी व्रतोंकी रक्षिका हैं।'

रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग रात्रिभोजननिवृत्ति है। उसे अणुव्रत कहा है क्योंकि जैसे हिंसा आदि पापोंका सर्वथा त्याग किया जाता है उस तरह भोजनका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता। किन्तु केवल रात्रिमें ही भोजनका त्याग किया जाता है, दिनमें तो समयपर भोजन किया जाता है। इसलिए इसे अणुव्रत कहा है। विजयोदया टीकामें उक्त गाथाकी व्याख्या करते हुए कहा है—यदि मुनि रात्रिमें भिक्षाके लिए विचरण करता है तो त्रस जीवों और स्थावर जीवोंका घात करता है। रात्रिके समय वह दाताके आनेका मार्ग, उसके अन्न आदि रखनेका स्थान, अपने खड़े होनेका स्थान, उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान अथवा दिया जानेवाला आहार योग्य है या नहीं, यह सब वह कैसे जान सकता है? जो सूक्ष्म जीव दिनमें भी कठिनतासे देखे जा सकते हैं उन्हें रात्रिमें कैसे देखकर उनका बचाव कर सकता है। रात्रिमें आहार देनेके पात्र वगैरहका शोधन कैसे हो सकता है। सम्यक् रीतिसे देखे बिना ही एषणा समितिकी आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है। स्वामीके सोनेपर उसके द्वारा नहीं दिया गया आहार ग्रहण करनेसे चोरीका

१. य अहयाण—भ. आ.

तथा चोक्तम्—

'सीलेसिं संपत्तो णिरुद्ध णिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥'

दोष लगता है। दिनमें किसी पात्रमें आहार लाकर रात्रिमें खानेसे अपरिग्रहव्रतका लोप होता है। किन्तु रात्रिभोजनका ही त्याग करनेसे पाँचों ही व्रत परिपूर्ण रहते हैं। अतः पाँचों व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन निवृत्ति व्रत है।

तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रमें हिंसा आदि पाँच पापोंके त्यागको व्रत कहा है। उसकी सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि टीकाओंमें यह शंका[1] की गयी है कि रात्रिभोजन नामका एक छठा अणुव्रत रात्रिभोजननिवृत्ति है उसको भी यहाँ कहना चाहिए? इसका समाधान यह किया गया है कि उसका अन्तर्भाव अहिंसाव्रतकी आलोकित पानभोजन भावनामें होता है इसलिए उसे नहीं कहा है।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें इसकी कोई चर्चा नहीं है। किन्तु सिद्धसेन गणिने उसकी टीकामें इस चर्चाको उठाया है जो सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिकका ही प्रभाव प्रतीत होता है। उसमें कहा है—जैसे असत्य आदिका त्याग अहिंसाव्रतके परिपालनके लिए होनेसे मूलगुण है उसी तरह रात्रिभोजनविरति भी मूलगुण होना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि महाव्रतधारीके लिए ही वह मूलगुण है क्योंकि उसके बिना मूलगुण पूर्ण नहीं हो सकते। अत अहिंसा आदि मूलगुणोंके ग्रहणमें उसका ग्रहण आ जाता है। तथा जैसे रात्रि भोजन सब व्रतोंका उपकारी है वैसे उपवास आदि उपकारी नहीं हैं। इसलिए महाव्रतीका वह मूलगुण है, शेष उत्तरगुण हैं। किन्तु अणुव्रतधारीका रात्रिभोजनत्याग उत्तरगुण है क्योंकि उसमें आहारका त्याग होता है। अथवा वह उपवासकी तरह तप ही है। 'रात्रिभोजनमें क्या दोष है' इसके उत्तरमें वही बातें कही गयी हैं जो ऊपर विजयोदया टीकामें और तत्त्वार्थवार्तिकमें कही हैं। विशेषावश्यक भाष्य (गा १२४०–४५) में भी वही कथन है जो सिद्धसेन गणिकी टीकामें है। श्वे. आगम साहित्यमें भी पाँच मूलगुणोंके साथ छठे रात्रि-भोजननिवृत्तिका निर्देश पाया जाता है। किन्तु उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं बतलायी है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि रात्रिभोजनका त्याग तो गृहस्थ अवस्थामें ही हो जाता है फिर मुनि अवस्थामें उसके त्यागका विधान क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि गृहस्थ अवस्थामें मन, वचन, कायसे ही रात्रिभोजनका त्याग किया जाता है, कृत, कारित, अनुमोदनासे नहीं; क्योंकि गृहस्थ अवस्थामें इनसे बचाव होना कठिन होता है, स्वयं रात्रिभोजन न करके भी दूसरोंके लिए प्रबन्ध करना या कराना पड़ता है। न भी करें या करावें तब भी अनुमोदनसे बचना कठिन होता है। किन्तु मुनि नौ प्रकारोंसे रात्रि-भोजनका त्याग करता है। तत्त्वार्थसूत्रके नौवें अध्यायके अन्तिम सूत्रकी व्याख्यामें[2] सर्वार्थ-सिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें कहा है कि पाँच मूल गुण और रात्रिभोजन त्यागमें-से बल-

१. ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम्। न, भावनास्वन्तर्भावात्। अहिंसाव्रत-भावना वक्ष्यन्ते। तत्र आलोकितपानभोजनभावना कार्येति।'—सर्वार्थ.।

२. 'पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति।'

अपि च—

'यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः ॥' [आत्मानु. २४६ ।] ॥१५०॥

पूर्वक किसी एकमें प्रतिसेवना करनेवाला पुलाक मुनि होता है। श्रुतसागरी टीकामें इसे स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे यह शंका की गयी है कि पुलाक मुनि रात्रिभोजन त्याग व्रतकी विराधना कैसे करता है ? तो उसके समाधानमें कहा गया है कि इससे श्रावक आदिका उपकार होगा इस भावनासे छात्र आदिको रात्रिमें भोजन करानेसे विराधना होती है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि मुनि नौ प्रकारसे रात्रिभोजनका त्यागी होता है। सर्वार्थसिद्धिपर आचार्य प्रभाचन्द्रका जो टिप्पण है उसमें यही अर्थ किया है। उसीका अनुसरण श्रुतसागरीमें किया है। अस्तु,

आचार्य कुन्दकुन्दने धर्मका स्वरूप इस प्रकार कहा[2] है—'निश्चयसे चारित्र धर्म है। वही साम्य है। मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम साम्य है।'

इसकी व्याख्यामें आचार्य अमृतचन्द्रने स्वरूपमें चरणको अर्थात् स्वसमयप्रवृत्तिको चारित्र कहा है और उसीको वस्तु स्वभाव होनेसे धर्म कहा है। धर्म अर्थात् शुद्ध चैतन्यका प्रकाशन। वही यथावस्थित आत्मगुण होनेसे साम्य है। और साम्य दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह और क्षोभके अभावसे उत्पन्न अत्यन्त निर्विकार ऐसा जीवका परिणाम है। इस तरह मोह और क्षोभसे रहित जीवपरिणामका नाम साम्य है। साम्य ही धर्म है और धर्म चारित्र है अर्थात् ये सब एकार्थवाची हैं।

आचार्य समन्तभद्रने कहा[3] है—'मोहरूपी अन्धकारके दूर होनेपर सम्यग्दर्शनके लाभके साथ ही सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करके साधु राग और द्वेषकी निवृत्तिके लिए चारित्रको धारण करता है।'

वह चारित्र साम्यभावरूप सामायिक चारित्र ही है। उसीकी पुष्टिके लिए साधु पाँच महाव्रतोंको धारण करता है। नीचेकी भूमिका अर्थात् गृहस्थ धर्ममें प्राणिरक्षा, सत्यभाषण, दी हुई वस्तुके ग्रहण, ब्रह्मचर्य और योग्य परिग्रहके स्वीकारमें जो प्रवृत्ति होती है, ऊपरकी भूमिकामें उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। ऐसा होनेसे सर्वसावद्य योगकी निवृत्तिरूप सामायिक चारित्र परिपूर्ण होता हुआ सूक्ष्म साम्परायकी अन्तिम सीमाको प्राप्त करके यथाख्यात रूप हो जाता है। यद्यपि यथाख्यात चारित्र बारहवें गुणस्थानके प्रारम्भमें ही प्रकट हो जाता है तथापि उसकी पूर्णता चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें

---

१ 'महाव्रतलक्षणपञ्चमूलगुणविभावरीभोजनवर्जनानां मध्येऽन्यतमं बलात् परोपरोधात् प्रतिसेवमानः पुलाको विराधको भवति। रात्रिभोजनवर्जनस्य विराधकः कथमिति चेत् ? उच्यते—श्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिकं रात्रौ भोजयतीति विराधकः स्यात्।'

२ 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥'—प्रवचनसार, गा. ७।

३. मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥—रत्नकर. श्रा., ४७।

अथ मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि सत्त्व-गुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु यथाक्रमं भावयतः सर्वाण्यपि व्रतानि परं दार्ढ्यमासादयन्तीति तद्भावनाचतुष्टये मुक्तिकामान् नियोक्तुमभिधत्ते—

मा भूत्कोपीह दुःखी भजतु जगदसद्भूम शर्मेति मैत्रीं ३
ज्यायो हृत्तेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेधि विद्धीति प्रमोदम् ।
दुःखात्प्रक्षेयमार्तान् कथमिति करुणां ब्राह्मि मामेहि शिक्षा
काऽप्यध्येष्विष्वपेक्षामपि परमपदाभ्युद्यता भावयन्तु ॥१५१॥ ६

ही होती है। इस विषयमें आचार्य विद्यानन्द स्वामीने अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें जो महत्त्वपूर्ण चर्चा की है उसे यहाँ दिया जाता है।

लिखा[1] है—'केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले ही सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र उत्पन्न हो जाता है ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। वह यथाख्यात चारित्र मुक्तिको उत्पन्न करनेमें सहकारी विशेषकी अपेक्षा रखता है अतः वह पूर्ण नहीं हो सकता। जो अपने विवक्षित कार्यको करनेमें अन्त्य क्षण अवस्थाको प्राप्त होता है वही सम्पूर्ण होता है। किन्तु केवलज्ञान-की उत्पत्तिसे पूर्वका चारित्र अन्त्य क्षण प्राप्त नहीं है क्योंकि केवलज्ञानके प्रकट होनेके भी पश्चात् अघातिकर्मोंका ध्वंस करनेमें समर्थ सामग्रीसे युक्त सम्पूर्ण चारित्रका उदय होता है। शायद कहा जाये कि ऐसा माननेसे 'यथाख्यात पूर्ण चारित्र है' इस आगमवचनमें बाधा आती है। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि आगममें उसे क्षायिक होनेसे पूर्ण कहा है। समस्त मोहनीय कर्मके क्षयसे प्रकट होनेवाला चारित्र अंशरूपसे मलिन नहीं होता इसलिए उसे सदा निर्मल और आत्यन्तिक कहा जाता है। किन्तु वह चारित्र पूर्ण नहीं है। उसका विशिष्ट रूप बादमें प्रकट होता है। चारित्रका वह विशिष्ट रूप है नाम आदि तीन अघाति कर्मोंकी निर्जरा करनेमें समर्थ समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति ध्यान। वह ध्यान चौदहवें गुणस्थानमें ही होता है। अतः अयोगकेवलीके अन्तिम समयमें ही चारित्र पूर्ण होता है। योगीके रहते चारित्र पूर्ण नहीं होता।

कहा भी है—'जो शीलके चौरासी हजार भेदोंके स्वामित्वको प्राप्त हैं, जिनके समस्त आस्रवोंका निरोध हो गया है तथा जो कर्मरजसे युक्त हो गये हैं ऐसे जीव अयोगकेवली होते हैं।'

और भी कहा है—'जिसका पुण्य और पाप बिना फल दिये स्वयं झड़ जाता है वह योगी है, उसका निर्वाण होता है, वह पुनः आस्रवसे युक्त नहीं होता।' ॥१५०॥

प्राणि मात्रमें मैत्री, गुणी जनोंमें प्रमोद, दुःखी जीवोंमें दया भाव, और अविनेयोंमें माध्यस्थ्य भावका भावन करनेसे सभी व्रत अत्यन्त दृढ होते हैं। इसलिए इन चारों भाव-नाओंमें मुमुक्षुओंको नियुक्त करनेकी प्रेरणा करते हैं—

इस लोकमें कोई प्राणी दुखी न हो, तथा जगत् पारमार्थिक सुखको प्राप्त करे, इस प्रकारकी भावनाको मैत्री कहते हैं। जैसे चक्षु सामने दिखाई देनेवाले गुणाधिकोंको देखकर अनुरागसे खिल उठती है वैसे ही सुदूरवर्ती और अतीतकालमें हुए सम्यग्ज्ञान आदि गुणोंसे उत्कृष्ट पुरुषोंको स्मरण करके रागसे द्रवित हुआ हृदय अत्यन्त प्रशंसनीय होता है इस प्रकार-

१. प्रागेव क्षायिकं पूर्णं क्षायिकत्वेन केवलात् ।
न त्वघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतः ॥—त. श्लो. वा. १।१।८५।

दुःखी—दुःखेन च पापेन युक्तः। असद्धर्मं—अविद्यमानव्याजं पारमार्थिकमित्यर्थः। यदाह—

'मा कार्षीत् कोऽपि पापानि माभूत् कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥' [　　　]

ज्यायः—प्रशस्यतरम्। हृत्—मनः। तेषु—सम्यग्ज्ञानादिगुणोत्कृष्टे(-षु) देशकाल-विप्रकृष्टेषु स्मृतिविषयेषु। एषु—पुरोवर्तिषु दृश्यमानेषु। प्रमोदं वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानमन्तर्भक्तिरागम्। तथा चाह—

'अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥' [　　　]

करुणां—दीनानुग्रहभावम्। तथा चाह—

'दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते ॥' [　　　]

ब्राह्मि—हे वाग्देवि। मां—साम्यभावनापरमात्मानम्। अद्रव्येषु—तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादित-गुणेषु। उपेक्षा—माध्यस्थ्यम्। यदाह—

'क्रूरकर्मसु निःशङ्कं देवतागुरुनिन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥' [　　　]

इमानि च मैत्र्यादिसूक्तानि ध्येयानि—

'कायेन मनसा वाचा परे सर्वत्र देहिनि।
अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदा मता ॥

की भावनाको प्रमोद कहते हैं। 'मैं दुःखसे पीड़ित प्राणियोंकी कैसे रक्षा करूँ' इस प्रकारकी भावना करुणा है। हे वचनकी अधिष्ठात्री देवी! तुम मेरे साम्यभावमें लीन आत्मामें अवतरित होओ, अर्थात् बोलो मत, क्योंकि जिनमें सज्जनोंके द्वारा आरोपित गुणोंका आवास नहीं है अर्थात् जो अद्रव्य या अपात्र है उनको शिक्षा देना निष्प्रयोजन है इस प्रकारकी भावना माध्यस्थ्य है। जो अनन्त चतुष्टयरूप परम पदको प्राप्त करनेके लिए तत्पर हैं उन्हें इन भावनाओंका निरन्तर चिन्तन करना चाहिए ॥१५१॥

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्र (७।११) में व्रतीके लिए इन चार भावनाओंका कथन किया है। परमपदके इच्छुक ही व्रतादि धारण करते हैं अतः उन्हें ये भावनाएँ क्रियात्मक रूपसे भानी चाहिए। प्रथम है मैत्री भावना। मित्रके भाव अथवा कर्मको मैत्री कहते हैं। प्राणिमात्रको किसी प्रकारका दुःख न हो इस प्रकारकी आन्तरिक भावना मैत्री है। दुःखके साथ दुःखका कारण जो पाप है वह भी लेना चाहिए। अर्थात् कोई प्राणी पापकर्ममें प्रवृत्त न हो ऐसी भी भावना होनी चाहिए। केवल भावना ही नहीं, ऐसा प्रयत्न भी करना चाहिए। कहा है—'अन्य सब जीवोंको दुःख न हो' मन, वचन और कायसे इस प्रकारका बरताव करनेको मैत्री कहते हैं।

जो अपनेसे विशिष्ट गुणशाली हैं उनको देखते ही मुख प्रफुल्लित होनेसे आन्तरिक भक्ति प्रकट होती है। उसे ही प्रमोद कहते हैं। तप आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुषको देखकर जो विनयपूर्वक हार्दिक प्रेम उमड़ता है उसे प्रमोद कहते हैं।

ऐसे भी कुछ प्राणी होते हैं जिन्होंने न तो तत्त्वार्थका श्रवण किया और श्रवण किया भी तो उसे ग्रहण नहीं किया। इससे उनमें विनय न आकर उद्धतपना होता है। समझानेसे

तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः ।
जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम् ।
हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि ॥' [सोम. उपा. ३३५-३३७]

भावयन्तु—वीर्यान्तरायचारित्रमोहक्षयोपशमे सत्यसकृत् प्रवर्तयन्तु ॥१५१॥

अधुना—

'अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मबुद्धिसंपन्नः स्वयमेव परो भवेत्' ॥ [समाधि तं—८६ श्लो.]

इति मोक्षमार्गविहरणक्रममुररीकृत्य मैत्र्यादिभावना-स्वाध्याय-व्यवहार-निश्चयध्यान-फलप्रकाशनेन महाव्रतनिर्वाहपरांस्तदुपयोगाय जागरयितुमाह—

मैत्र्याद्यभ्यसनात् प्रसद्य समयादावेद्य युक्त्यार्चितात्
यत्किंचिद्रुचितं चिरं समतया स्मृत्वातिसाम्योन्मुखम् ।
ध्यात्वार्हन्तमुतस्विदेकमितरेष्वत्यन्तशुद्धं मनः
सिद्धं ध्यायदहंमहोमयमहो स्याद्यस्य सिद्धः स वै ॥१५२॥

प्रसद्य—अप्रशस्तरागद्वेषादिरहितं भूत्वा । यदाह—

'एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्देकचन्द्रिकाः ।
ध्वस्तरागादिसंक्लेशा लोकाग्रपथदीपिकाः ॥' [ज्ञानार्णव २७।१५ ।]

अर्चितात्—पूजितादनुगृहीतादित्यर्थः । रुचितं—श्रद्धया विषयीकृतम् ।

उलटे नाराज होते हैं। ऐसे प्राणियोंमें उपेक्षाभाव रखना माध्यस्थ्य है। कहा भी है—जो क्रूर कर्मोंमें निःशंक प्रवृत्ति करते हैं, देवता-गुरुकी निन्दा करते हैं, अपनी प्रशंसा करते हैं, उनमें उपेक्षा भाव रखना माध्यस्थ्य कहा है। इस प्रकार उक्त भावनाएँ सतत भानी चाहिए ॥१५१॥

आगे 'जो अव्रती है वह व्रत ग्रहण करके और व्रतीको ज्ञानाभ्यासमें तत्पर होकर तथा ज्ञान तत्पर परमात्म-बुद्धिसे सम्पन्न होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है।'

इस कथनके अनुसार मोक्षमार्गमें विहार करना स्वीकार करके जो उक्त महाव्रतोंका निर्वाह करनेमें तत्पर हैं उन्हें मैत्री आदि भावनाओं, स्वाध्याय तथा व्यवहार निश्चयरूप ध्यानका फल बताते हुए उनके उपयोगके लिए सावधान करते हैं—

मैत्री आदि भावनाओंके अभ्याससे अप्रशस्त रागद्वेषसे रहित होकर, आगम अविरुद्ध युक्तियोंसे सुशोभित, आगमसे ध्यान करनेके योग्य जीव आदि वस्तुका यथार्थ रूपसे निर्णय करके, जबतक परम उदासीनताकी योग्यता प्राप्त हो तबतक जो कोई चेतन या अचेतन वस्तु रागद्वेषका विषय न होकर श्रद्धाका विषय हो उसका ध्यान करे, और परम औदासीन्य परिणामके प्रयत्नसे तत्पर होते हुए अर्हन्तका अथवा आचार्य, उपाध्याय और साधुमें-से किसी एकका ध्यान करके अत्यन्त शुद्ध सिद्ध परमात्माका ध्यान करे। हे महाव्रतोंका पालन करनेमें उद्यत मुनिगण! ऐसा करते हुए जिस साधुका मन आत्मतेजोमय हो जाता है वही साधु शुद्ध निश्चयवादियोंमें महाव्रतोंका अच्छी तरह पालन करनेवाला माना जाता है अथवा शुद्धस्वरूप परिणत वह ध्याता निश्चयसे सिद्ध है, अर्थात् भावसे परममुक्त होता है ॥१५२॥

विशेषार्थ—महाव्रती साधुओंको किस प्रकार अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ना चाहिए, इसका दिग्दर्शन यहाँ किया है। सबसे प्रथम अप्रशस्त रागद्वेषसे बचनेके लिए ऊपर बतलायी

यदाह—

'यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
श्रद्धा यत्रैव जायेत चित्तं तत्रैव लीयते ॥' [समाधि तं श्लो. ९५]

अपि च—

'बहुनोऽत्र किमुक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वतः ।
ध्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्यं तत्र बिभ्रता ॥' [तत्त्वानु. १३८ श्लो.]

अतीत्यादि । उक्तं च—

'सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयतां प्रतिपद्यते ।
ततो ज्ञानस्वभावोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः ॥'
'तत्रापि तत्त्वतः पञ्च ध्यातव्याः परमेष्ठिनः ।
चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धस्वामी तु निष्कलः ॥' [तत्त्वानु. ११८-११९]

गयी मैत्री आदि भावनाओंका अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि कहा है—ये भावनाएँ मुनिजनोंमें आनन्दामृतकी वर्षा करनेवाली अपूर्व चन्द्रिकाके समान हैं। ये रागादि संक्लेशोंको ध्वस्त करनेवाली मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके लिए दीपिकाके समान हैं। इसके साथ ही युक्ति और आगमके अभ्याससे जीवादि तत्त्वोंका निर्णय करके उनमें-से जो रुचे उसका ध्यान करे। रुचनेसे मतलब यह नहीं है कि जिससे राग या द्वेष हो उसका ध्यान करे। ऐसा ध्यान तो सभी संसारी प्राणी करते हैं। रागद्वेषका विषय न होते हुए जो श्रद्धाका विषय हो वह रुचित कहा जाता है। कहा है—

जिस किसी विषयमें पुरुषकी बुद्धि सावधान होती है उसी विषयमें उसकी श्रद्धा होती है। और जिस विषयमें श्रद्धा होती है उसीमें चित्त लीन होता है। तथा—इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या, इस समस्त ध्येयको यथार्थ रूपसे जानकर तथा श्रद्धान करके उसमें माध्यस्थ्य भाव रखकर ध्यान करना चाहिए।

अतः ध्येयमें माध्यस्थ्य भाव आवश्यक है क्योंकि ध्यानका प्रयोजन ही परम औदासीन्य भाव है। इसलिए ध्याताको उसीके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। अब प्रश्न होता है कि किसका ध्यान करना चाहिए। कहा है—ज्ञाताके होनेपर ही ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम—सबसे अधिक ध्यान करने योग्य है। उसमें भी वस्तुतः पाँच परमेष्ठी ध्यान करनेके योग्य है। उनमें अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी तो सशरीर होते हैं और सिद्ध स्वामी अशरीर है। ध्यानके चार भेद ध्येयकी अपेक्षासे कहे हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। अर्हन्त परमात्माके स्वरूपका चिन्तन रूपस्थ ध्यान है क्योंकि अर्हन्त सशरीर होते हैं। और अशरीरी सिद्धोंके स्वरूपका चिन्तन रूपातीत ध्यान है। इन ध्यानोंके स्वरूपका विस्तारसे वर्णन ज्ञानार्णवमें किया है। मुक्तिकी प्राप्तिमें ध्यानका बहुत महत्त्व है। कहा है—

१. यत्रैव जायते श्रद्धा भ कु. च ।
२. किमत्र बहुनोक्तेन भ. कु. च. ।
३. 'स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि ।
तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम् ॥—तत्त्वानुशा. ३३ श्लो. ।

इतरेषु—आचार्यादिषु त्रिषु मध्ये। अर्हंमहोमयं—आत्मतेजोरूपम्। उक्तं च—

'लवणं व सलिलजोए झाणे चित्तं विलीयए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो अप्पा अणलो पयासेइ ॥' [आरा. सार, ८४ गा.]

अहो—भो महाव्रतपालनोद्यता मुनय.। सिद्ध.—शुद्धनिश्चयवादिना निर्व्यूढमहांसरत्वेन प्रसिद्धः। तथा चोक्तम्—'स च मुक्तिहेतुरिद्ध.' इत्यादि ॥१५२॥

एवं विशेषसामान्यभावना रात्रिभोजनवर्जनपरिकराणि व्रतान्यभिधाय साप्रतं गुप्तिसमितीर्व्याख्यातुका-मस्तासां प्रवचनमातृत्वोपपत्तिप्रतिपादनपूर्वकं व्रतोद्यतानामाराध्यत्वमुपदिशति—

अहिंसां पञ्चात्म व्रतमथ यताङ्गं जनयितुं,
सुवृत्तं पातुं वा विमलयितुमम्बाः श्रुतविदः।
विदुस्तिस्रो गुप्तीरपि च समितीः पञ्च तदिमा.,
श्रयन्त्विष्टायाष्टौ प्रवचनसवित्रीर्व्रतपराः ॥१५३॥

'यतः निश्चय और व्यवहाररूप दोनों प्रकारका निर्दोष मोक्षमार्ग ध्यानकी साधनामें प्राप्त होता है। अतः हे सुधीजनो! सदा ही आलस्यको त्याग कर ध्यानका अभ्यास करो।' ध्यानसे मनुष्य तन्मय होकर उसी रूप हो जाता है। कहा है—

'जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है वह उस भावके साथ तन्मय हो जाता है। अत. अर्हन्तके ध्यानमें तन्मय हुआ आत्मा स्वयं भावअर्हन्त हो जाता है। आत्माके स्वरूपको जाननेवाला आत्माको जिस भावसे जिस रूपमें ध्याता है उसके साथ वह तन्मय हो जाता है जैसे स्फटिक मणि जिस-जिस रंगवाली उपाधिके साथ सम्बन्ध करती है उस-उस रंगवाली हो जाती है। अतः अर्हन्त और सिद्धके स्वरूपको जानकर उनका ध्यान करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि ध्यान ही वह अग्नि है जिसमें शुभ और अशुभ कर्म जलकर भस्म होते हैं। कहा है—'जिस योगीका चित्त ध्यानमें उसी तरह विलीन हो जाता है जैसे नमक पानीमें लय हो जाता है उसके शुभ और अशुभ कर्मों-को जला डालनेवाली आत्मरूप अग्नि प्रकट होती है। अतः महाव्रतोंके पालनमें तत्पर मुनिको ध्यानका अभ्यासी होना चाहिए।'

इस प्रकार महाव्रतोंका प्रकरण समाप्त होता है ॥१५२॥

इस प्रकार महाव्रतोंका और उनके सहकारी विशेष और सामान्य भावनाओंका तथा रात्रिभोजन-त्यागका कथन करके अब गुप्ति और समितिका व्याख्यान करना चाहते हैं। अतः उन्हें आगममें प्रवचनकी माता क्यों कहा है इसकी उपपत्ति बताते हुए व्रतोंमें तत्पर साधुओंको उनकी आराधना करनेका उपदेश देते हैं—

१. महाव्रतभरत्वेन भ. कु. च.।

२. उत्तराध्ययनमें कहा है कि इन आठोंमें सम्पूर्ण द्वादशांग अवतरित होता है इसलिए इन्हें प्रवचनमाता कहा है—'अट्ठसु वि समिईसु अ दुवालसंग अयोअरई जम्हा।
तम्हा पवयणमाया अज्झयणं होइ नायव्वे ॥

३. परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात् ॥
येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥ —तत्त्वानुशा. १९०-१९१ श्लो.।

यताङ्गं—यतस्य सावद्यविरतस्य योगवर्यवायमानस्याङ्गं शरीरम् । अम्बाः—मातृरिव । यथा जनन्यः पुत्रशरीरं जनयन्ति पालयन्ति शोधयन्ति च तथैताः सम्यक्चारित्रलक्षणं यतिगात्रमित्यर्थः । प्रवचनसवित्रीः—प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातृ. ॥१५३॥

अथ गुप्तिसामान्यलक्षणमाह—

गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः ।
पापयोगान्निगृह्णीयाल्लोकपङ्क्त्यादिनिस्पृह. ॥१५४॥

गोप्तुं—रक्षितुम् । प्रतिपक्षतः—मिथ्यादर्शनादित्रयात्कर्मबन्धाद्वा । पापयोगान्—व्यवहारेण पापा. पापार्था. निश्चयेन च शुभाशुभकर्मकारणत्वान्निन्दिता योगा मनोवाक्कायव्यापारास्तान् । यदाह—

'वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकम् ।
त्रियोगरोधकं वा स्याद्यत्तत् गुप्तित्रय मतम् ॥' [ज्ञानार्णव १८।४]

अहिंसारूप अथवा हिंसाविरति आदि पाँच रूप सम्यक् चारित्र सावद्ययोगसे विरत साधुका अथवा योगके लिए प्रयत्नशील साधुका शरीर है। उसे उत्पन्न करनेके लिए, रक्षण करनेके लिए और निर्मल करनेके लिए माताके तुल्य होनेसे आगमके ज्ञाता पुरुष तीन गुप्तियों और पाँच समितियोंको माता मानते हैं। इसलिए व्रतोंका पालन करनेवालोंको इष्ट अर्थकी सिद्धिके लिए इन आठ प्रवचन माताओंकी आराधना करना चाहिए ॥१५३॥

विशेषार्थ—जैसे माताएँ पुत्रोंके शरीरको जन्म देती हैं, उनका पालन करती हैं, रोगादि होनेपर शोधन करती हैं उसी तरह गुप्ति और समितियाँ मुनिके सम्यक् चारित्ररूप शरीरको जन्म देती हैं, पालन करती हैं और शुद्ध करती हैं। गुप्ति और समितियोंके बिना सम्यक्-चारित्रकी उत्पत्ति, रक्षा और निर्दोषता सम्भव नहीं है। इसीलिए आगममें इन्हें रत्नत्रयरूप प्रवचनकी माता कहा है। अतः सामायिक या छेदोपस्थापना चारित्रके आराधक साधुको इनका पालन सावधानतापूर्वक अवश्य करना चाहिए। इनमें प्रमादी होनेसे महाव्रतकी रक्षाकी बात तो दूर, उनका जन्म ही सम्भव नहीं है ॥१५३॥

गुप्तिका सामान्य लक्षण कहते हैं—

लोगोंके द्वारा की जानेवाली पूजा, लाभ और ख्यातिकी इच्छा न करनेवाले साधुको सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयस्वरूप अपनी आत्माको मिथ्यादर्शन आदिसे रक्षा करनेके लिए पापयोगोंका निग्रह करना चाहिए ॥१५४॥

विशेषार्थ—गुप्ति शब्द 'गोप्' धातुसे बना है जिसका अर्थ रक्षण है। अर्थात् जिससे संसारके कारणोंसे आत्माकी रक्षा होती है उसे गुप्ति कहते हैं। इसी अर्थको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकारने गुप्तिका सामान्य लक्षण कहा है कि साधुको लोकपूजा आदि लौकिक विषयोंकी इच्छा न करके रत्नत्रयस्वरूप आत्माको रत्नत्रयके प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे बचानेके लिए पापयोगोंका निग्रह करना चाहिए। व्यवहारनयसे पाप है पापरूप कार्य और निश्चयनयसे पाप है योग अर्थात् मन-वचन-कायका व्यापार, क्योंकि वह शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रवका कारण है। कहा है—'मन-वचन-कायसे उत्पन्न अनेक पापसहित प्रवृत्तियोंका प्रतिषेध करनेवाली अथवा तीनों योगोंकी रोधक तीन गुप्तियाँ मानी गयी हैं।'

---

१. योगय वा यतमान—म. कु. च.।

लोकपङ्क्ति—लोकपूजा। आदिशब्दाल्लाभख्याती। एतेन सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः इत्यनुसूचितं प्रतिपत्तव्यम् ॥१५४॥

अथ दृष्टान्तेन गुप्तिप्रयोगाय जागरयति—

[1]प्राकारपरिखावप्रैः पुरवद् रत्नभासुरम्।
पायादपायादात्मानं मनोवाक्कायगुप्तिभिः ॥१५५॥

वप्र.—धूलीप्राकार.। रत्नभासुरं—सम्यग्दर्शनादिभिः स्वस्वजात्युत्कृष्टैश्चार्थैः साधुत्वेन भासमानम् ॥१५५॥

अथ मनोगुप्त्यादीना विशेषलक्षणान्याह—

[2]रागादित्यागरूपामुत समयसमभ्याससद्ध्यानभूतां,
चेतोगुप्तिं दुरुक्तित्यजनतनुमवाग्लक्षणां वोक्तिगुप्तिम्।
कायोत्सर्गस्वभावां विशररतचुरापोहदेहामनीहा-
कायां वा कायगुप्तिं समदृगनुपतन्पाप्मना लिप्यते न ॥१५६॥

समयः—आगमः। स त्रेधा शब्दसमयोऽर्थसमयो ज्ञानसमयश्चेति। सद्ध्यानं धर्म्यं शुक्लं च। तथा चोक्तम्—

उक्त लक्षणसे तत्त्वार्थसूत्रके 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' इस लक्षणका ही सूचन होता है। इसमें योगका अर्थ है मन वचन कायका व्यापार। उसकी स्वेच्छाचारिताको रोकना निग्रह है। विषयसुखकी अभिलाषासे प्रवृत्ति निषेधके लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है। इस तरहसे काय आदि योगका निरोध करनेपर उसके निमित्तसे कर्मका आस्रव नहीं होता ॥१५४॥

आगे दृष्टान्तके द्वारा गुप्तियोंका पालन करनेके लिए साधुओंको सावधान करते हैं—

जैसे राजा रत्नोंसे अर्थात् अपनी-अपनी जातिके उत्कृष्ट पदार्थोंसे शोभायमान नगरकी प्राकार (अन्दरकी चारदीवारी), खाई और उसके बाहरकी कच्ची चारदीवारीसे रक्षा करते हैं उसी तरह व्रतीको सम्यग्दर्शन आदि रत्नोंसे शोभित अपनी आत्माकी रत्नत्रयको नष्ट करनेवाले अपायोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके द्वारा रक्षा करनी चाहिए ॥१५५॥

आगे मनोगुप्ति आदिका विशेष लक्षण कहते हैं—

राग, द्वेष और मोहके त्याग रूप अथवा आगमका विनयपूर्वक अभ्यास और धर्म्य तथा शुक्लध्यानरूप मनोगुप्ति है। कठोर आदि वचनोंका त्याग वचनगुप्तिका शरीर है अथवा मौनरूप वचनगुप्ति है। शरीरसे ममत्वका त्याग रूप स्वभाववाली अथवा हिंसा, मैथुन और चोरीसे निवृत्तिरूप स्वभाववाली, अथवा सर्व चेष्टाओंसे निवृत्ति रूप वाली कायगुप्ति है। समस्त हेय उपादेयको तत्त्व रूपसे देखकर जीवन मरण आदिमें समबुद्धि रखनेवाला साधु इन गुप्तियोंका पालन करते हुए ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥१५६॥

विशेषार्थ—भगवती आराधनामें गुप्तियोंका स्वरूप कहा है—

---

१ छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८९॥—भ. आरा.।

२. जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि तं मणोगुत्ति।
अलियादि णियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ति ॥
कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ति।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ति हवदि दिट्ठा ॥—भ. आ. ११८७-८८ मि.।

'विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान् ।
स्वाधीनं कुर्वतश्चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥
सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा ।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः ॥' [ज्ञानार्णव १८।१५-१६]

अवाक्—मौनम् । तथा चोक्तम्—
'साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः ।
संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामतेः ॥' [ज्ञानार्णव १८।१७]

विशरेत्यादि—हिंसामैथुनस्तेयत्यागरूपाम् । अनीहाकायां—अचेष्टारूपम् ।

अपराजित सूरिकी विजयोदया टीकाके आधार पर उनका विवरण दिया जाता है—'मनकी रागादि निवृत्तिको मनोगुप्ति कहते हैं । यहाँ 'मनकी गुप्ति' ऐसा जो कहा है तो क्या प्रवृत्त मनकी गुप्ति होती है या अप्रवृत्त मन की ? यदि मन शुभमें प्रवृत्त है तो उसकी रक्षा कैसी ? यदि मन अप्रवृत्त है तो भी उसकी रक्षा कैसी, रक्षा तो सत्की होती है असत्की नहीं । सत्को ही अपायसे बचाया जाता है । तथा यहाँ 'मन' शब्दसे द्रव्य मन लिया है, या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणारूप मन लिया है तो उसका अपाय क्या है जिससे उसको बचाकर उसकी रक्षा की जाये ? दूसरे, द्रव्य मन तो पुद्गल द्रव्य है उसकी रक्षा करनेसे जीवको क्या लाभ ? उसके निमित्तसे तो आत्माके परिणाम अशुभ होते हैं । अतः आत्माकी रक्षा उससे नहीं हो सकती । यदि नो इन्द्रिय-मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ ज्ञान मन शब्दसे लेते हैं तो उसका अपाय क्या ? यदि अपायसे विनाश लेते हैं तो उससे तो बचाव संभव नहीं है क्योंकि ज्ञान तो विनाशशील है यह बात अनुभवसिद्ध है । यदि ऐसा न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमें रही आये । ज्ञान तो लहरोंकी तरह उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं । उनके अविनाशका कोई उपाय नहीं है । तीसरे, मन इन्द्रियोंके द्वारा रूपादि विषयोंको ग्रहण करता है तो आत्मामें राग द्वेष उत्पन्न होते हैं । अतः 'मनकी रागादिसे निवृत्ति' ऐसा कहना ही उचित नहीं है । इस शंकाका समाधान करते है—यहाँ मन शब्दसे नो इन्द्रियमति ली गयी है । वह आत्मामें रागादि परिणामोंके साथ एक कालमें होती है । क्योंकि विषयोंके अवग्रह आदि ज्ञानके विना राग द्वेषमें प्रवृत्ति नहीं होती । और यह बात अनुभवसिद्ध है इसमें किसी अन्य युक्तिकी आवश्यकता नहीं है । किन्तु वस्तुतत्त्वके अनुरूप मानस ज्ञानके साथ राग द्वेष नहीं रहते, यह बात भी अनुभवसिद्ध है । अतः तत्त्वको जाननेवाले मनका रागादिके साथ नहीं होना ही मनोगुप्ति है । यहाँ मनका ग्रहण ज्ञानका उपलक्षण है अतः रागद्वेषके कलंकसे रहित सभी ज्ञान मनोगुप्ति हैं । यदि ऐसा न माना जायगा तो इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मनःपर्यय ज्ञान रूप परिणत आत्माके मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी । किन्तु आगममें उनके भी मनोगुप्ति मानी गयी है । अथवा जो आत्मा 'मनुते' अर्थात् जानता है, विचार करता है वही मन शब्दसे कहा जाता है । उसकी रागादिसे निवृत्ति या राग द्वेषरूपसे अपरिणति मनोगुप्ति है । ऐसा कहनेसे सम्यक् योग-निग्रहको गुप्ति कहते हैं, ऐसा कहना भी विरुद्ध नहीं है । दृष्ट फलकी अपेक्षा न करके वीर्यपरिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेका निरोध मनोगुप्ति है । विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु होनेसे और दूसरोंके दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे अलीक आदि वचनोंसे निवृत्ति वचनगुप्ति है । शंका—वचन पौद्गलिक है । विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु

तदुक्तम्—

'स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्कं संश्रितस्य वा।
परीषहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुनेः ॥' [ज्ञानार्णव १८।१८]

अपि च—

'कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिः समुद्दिष्टा ॥' [ ]

समदृक्—सम सर्वं हेयमुपादेयं च तत्त्वेन पश्यन् जीवितमरणादौ वा समबुद्धिः ॥१५६॥

होना आदि वचनका धर्म है उससे संवर नहीं हो सकता क्योंकि वचन आत्माका धर्म नहीं है। समाधान—तो फिर व्यलीक अर्थात् कठोर, आत्मप्रशंसारूप, परनिन्दारूप दूसरोंमें उपद्रव करानेवाले वचनसे व्यावृत्ति वचनगुप्ति है अर्थात् इस प्रकारके वचनोंमें आत्माको प्रवृत्त न करनेवाली वचनगुप्ति है। जिस वचनमें प्रवृत्ति करनेसे आत्मा अशुभ कर्मका आस्रव करता है उस वचनमें प्रवृत्त न होना वचनगुप्ति है। अथवा समस्त प्रकारके वचनोंका परिहार करके मौन रहना वचनगुप्ति है। अयोग्य वचन न बोलना, विचार पूर्वक योग्य वचन भी बोलना या नहीं बोलना वचनगुप्ति है। और योग्य वचन बोलना ही भाषा समिति है। इस तरह गुप्ति और समितिमें बहुत भेद है। मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहनेसे दोनोंका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उससे निवृत्ति शरीरगुप्ति है। शंका—बैठना, खड़े होना, सोना आदि क्रियाएँ हैं। और क्रिया आत्माकी प्रवर्तक है। तब कैसे आत्मा क्रियाओंसे व्यावृत्त हो सकता है। यदि कहोगे कि शरीरकी पर्याय क्रिया है, और आत्मा शरीरसे भिन्न पदार्थ है अतः अन्य द्रव्यकी पर्यायसे उस पर्यायसे शून्य अन्य द्रव्य व्यावृत्त होता है इसलिए ही आत्माको शरीर क्रियासे निवृत्त कहते हैं तब तो सभी आत्माओंके कायगुप्तिका प्रसंग आता है किन्तु वह मान्य नहीं है। समाधान—काय शब्दसे काय सम्बन्धी क्रिया ली जाती है। उसकी कारणभूत आत्माकी क्रियाको कायक्रिया कहते हैं। उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है। अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीरकी अपवित्रता असारता और विपत्तिका मूल कारण जानकर उससे ममत्व न करना कायगुप्ति है। यदि कायोत्सर्गका अर्थ कायका त्याग लिया जाता है तो शरीर तो आयुकी साँकलसे बँधा है उसका त्याग शक्य नहीं हो सकता। अथवा यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति लेना चाहिए, यदि ऐसा न होता तो गाथाकार कायक्रियाकी निवृत्तिको शरीरगुप्ति न कहते। कायोत्सर्गसे निश्चलता कही जाती है। शंका—यदि ऐसा है तो 'कायक्रियानिवृत्ति' न कहकर 'कायोत्सर्ग कायगुप्ति है' इतना ही कहना चाहिए। समाधान—नहीं, क्योंकि कायके विषयमें 'यह मेरा है' इस भावसे रहितपनेकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग शब्दकी प्रवृत्ति हुई है। यदि कायक्रियानिवृत्तिको कायगुप्ति नहीं कहेंगे तो दौड़ने, चलने, लाँघने आदि क्रियाओंको करनेवालेके भी कायगुप्ति माननी होगी। किन्तु ऐसी मान्यता नहीं है। और यदि कायक्रियानिवृत्तिको ही कायगुप्ति कहा जाता है तो मूर्छित व्यक्तिके भी वैसा पाया जाता है इसलिए उसके भी कायगुप्ति हो जायगी। इसलिए व्यभिचारकी निवृत्तिके लिए दोनोंका ही ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् कर्मोंके ग्रहणमें निमित्त समस्त क्रियाओंकी निवृत्तिको अथवा काय विषयक ममत्वके त्यागको कायगुप्ति कहते हैं। अथवा प्राणीके प्राणोंका घात, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, मैथुन,

अथ परमार्थत्रिगुप्तमनूद्य तस्यैव परमसंवरनिर्जरे भवत इत्युपदिशति—

लुप्तयोगस्त्रिगुप्तोऽर्थात्तस्यैवापूर्वमण्वपि ।
कर्मास्रवति नोपात्तं निष्फलं गलति स्वयम् ॥१५७॥

गुप्तयोगः—निरुद्धकायमनोवाग्व्यापारः ॥१५७॥

अथ सिद्धयोगमहिमानमाश्चर्यं भावयति—

अहो योगस्य माहात्म्यं यस्मिन् सिद्धेऽस्ततत्पथः ।
पापान्मुक्तः पुमाँल्लब्धस्वात्मा नित्यं प्रमोदते ॥१५८॥

योगस्य—ध्यानस्य । सिद्धे—अप्रमत्तसंयतप्रथमसमयादारभ्यायोगप्रथमसमये व्युपरतक्रियानिवृत्तिलक्षणचतुर्थशुक्लध्यानरूपतया निष्पन्ने । अस्ततत्पथः—निराकृतपापमार्ग. परमसंवृत इत्यर्थः । लब्धस्वात्मा—मुक्तः सन् ॥१५८॥

शरीरसे परिग्रहका ग्रहण इत्यादि विशिष्ट क्रियाएँ काय शब्दसे ली गयी है। उनसे व्यावृत्तिको कायगुप्ति कहते हैं। गुप्तिके उक्त लक्षणोंमें निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टियोंका संग्रह जानना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने नियमसारमें दोनों दृष्टियोंसे पृथक् पृथक् स्वरूप कहा है। यथा—कालुष्य, मोह, संज्ञा, राग-द्वेष आदि अशुभ भावोंका परिहार व्यवहार नयसे मनोगुप्ति है। पापके हेतु स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा न करनेको तथा अलीक आदि वचनोंसे निवृत्ति वचनगुप्ति है। बाँधना, छेदन, मारण, हाथ-पैरका संकोच-विस्तार आदि कायक्रियाकी निवृत्ति व्यवहार कायगुप्ति है। निश्चयनयसे मनकी रागादिसे निवृत्ति मनोगुप्ति है, मौन वचनगुप्ति है, कायक्रिया निवृत्ति या कायोत्सर्ग कायगुप्ति है। (नियमसार गा. ६६-७०) ॥१५६॥

इस प्रकार परमार्थसे त्रिगुप्तियुक्तका स्वरूप बताकर उसीके परम संवर और निर्जरा होती है ऐसा उपदेश करते हैं—

जिसका मन-वचन-कायका व्यापार रुक गया है वही परमार्थसे तीन गुप्तियोंसे युक्त है। उसीके एक परमाणु मात्र भी नवीन कर्मका आस्रव नहीं होता और पहले बँधा हुआ कर्म अपना फल दिये बिना स्वयं छूट जाता है ॥१५७॥

सिद्ध हुए ध्यानके आश्चर्यजनक माहात्म्यको कहते है—

योग अर्थात् ध्यानका माहात्म्य आश्चर्यजनक है जिसके सिद्ध होनेपर आत्मा पापकर्मके आनेके मार्गको सर्वथा बन्द करके और पूर्वबद्ध पापकर्मोंसे मुक्त होकर अपने स्वरूपको प्राप्त करके सदा परम आनन्दका अनुभव करता है ॥१५८॥

विशेषार्थ—ध्यान ही मुक्तिका एक मात्र परमसाधन है। इसकी सिद्धिका आरम्भ अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थानके प्रथम समयसे होता है और पूर्ति अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें होनेवाले व्युपरत क्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानके रूपमें होती है। उसी समय मन-वचन-कायका सब व्यापार रुक जानेसे परमार्थ त्रिगुप्ति होती है। वही अवस्था परमसंवर रूप है। उसीसे परम मुक्तिकी प्राप्ति होती है। क्योंकि संसारका अभाव होनेपर आत्माके स्वरूप लाभको मोक्ष कहते है। यहाँ 'पाप' शब्दसे सभी कर्म लेना चाहिए क्योंकि परमार्थसे कर्ममात्र संसारका कारण होनेसे पाप रूप है ॥१५८॥

अथ मनोगुप्तेरतीचारानाह—

रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्यं वा ।
दुष्प्रणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्तेः ॥१५९॥

रागाद्यनुवृत्तिः—रागद्वेषमोहानुगम्यमानात्मपरिणतिः । एतस्याश्चातिचारत्वं मनोगुप्तौ सापेक्षत्वेनैकदेशभञ्जकत्वात् । एष रागादित्यागरूपाया मनोगुप्तेरतिचारः ॥१५९॥

अथ वाग्गुप्तेरतिचारानाह—

कार्कश्यादिगरोद्गारो गिरः सविकथादरः ।
हुंकारादिक्रिया वा स्याद्वाग्गुप्तेस्तद्वदत्ययः ॥१६०॥

कार्कश्यादीत्यादि एष दुरुक्तित्यागरूपाया वाग्गुप्तेरतिचार. । हुंकारादिक्रिया—आदिशब्दाद् हस्तसंज्ञाखात्कारभ्रूचलनादय । एष मौनलक्षणाया वाग्गुप्तेरतिचार. ॥१६०॥

अथ कायगुप्तेरतिचारानाह—

मनोगुप्तिके अतीचारोंको कहते हैं—

आत्माकी रागद्वेष मोहरूप परिणति, शब्द-विपरीतता, अर्थ-विपरीतता और ज्ञान-विपरीतता तथा दुष्प्रणिधान अर्थात् आर्त-रौद्ररूप ध्यान या ध्यानमें मन न लगाना ये मनोगुप्तिके यथायोग्य अतीचार होते हैं ॥१५९॥

विशेषार्थ—पहले मनोगुप्तिका स्वरूप तीन प्रकारसे कहा है—रागादिकी निवृत्ति, आगमका अभ्यास और सम्यक्ध्यान। इन्हीं तीनोंको ध्यानमें रखकर यहाँ मनोगुप्तिके अतीचार कहे हैं। आत्माकी परिणतिका रागद्वेष मोहका अनुगमन करना यह अतीचार प्रथम लक्षणकी अपेक्षासे कहा है। मनोगुप्तिकी अपेक्षा रखते हुए ही इसे अतीचार कहा जाता है क्योंकि एक देशके भंगका नाम अतीचार है। शब्द शास्त्रका विरोधी होना अथवा विवक्षित अर्थको अन्यथारूपसे प्रकाशित करना शब्द-विपरीतता है। सामान्य विशेषात्मक अभिधेय वस्तु अर्थ है। केवल सामान्यरूप अथवा केवल विशेष रूप अथवा दोनोंको स्वतन्त्र मानना अर्थ-विपरीतता है। अथवा आगममें जीवादि द्रव्योंका जैसा स्वरूप कहा है वैसा न मानकर अन्यथा मानना अर्थ-विपरीतता है। शब्दका, अर्थका अथवा उन दोनोंका विपरीत प्रतिभास ज्ञान-विपरीतता है। ये आगमके अभ्यास रूप मनोगुप्तिके अतीचार हैं। दुष्प्रणिधान अर्थात् आर्त रौद्ररूप ध्यान या ध्यानमें मन न लगाना समीचीन ध्यानरूप मनोगुप्तिके अतीचार हैं ॥१५९॥

वचनगुप्तिके अतीचार कहते हैं—

कर्कश आदि वचन मोह और संतापका कारण होनेसे विषके तुल्य है। उसका श्रोताओंके प्रति बोलना और स्त्री, राजा, चोर और भोजन विषयक विकथाओंमें—मार्ग विरुद्ध कथाओंमें आदर भाव, तथा हुंकार आदि क्रिया अर्थात् हुं हुं करना, खकारना, हाथसे या भ्रूके चालनसे इशारा करना ये वचनगुप्तिके यथायोग्य अतीचार हैं ॥१६०॥

विशेषार्थ—आगे भाषासमितिके कथनमें कर्कश परुष आदि दस वचन दोषोंका कथन करेंगे। उनका प्रयोग तथा खोटी कथाओंमें रुचि दुरुक्तित्याग रूप वचनगुप्तिके अतीचार हैं। और हुंकार आदि मौनरूप वचनगुप्तिके अतीचार हैं ॥१६०॥

कायगुप्तिके अतीचारोंको कहते हैं—

कायोत्सर्गमलाः शरीरममतावृत्तिः शिवाद्यीन्यथा,
भक्तुं तत्प्रतिमोन्मुखं स्थितिराकीर्णेऽङ्घ्रिणैकेन सा ।
जन्तुस्त्रीप्रतिमापरस्वबहुले देशे प्रमादेन वा,
सापध्यानमुताङ्गवृत्त्युपरतिः स्युः कायगुप्तेर्मलाः ॥१६१॥

आकीर्णे—जनसंकुलस्थाने । एते कायोत्सर्गस्वभावायाः कायगुप्तेरतिचाराः । जन्तु-इत्यादि । प्रमादेन—अयत्नाचरणेन । एष हिंसादित्यागलक्षणायाः कायगुप्तेरतिचारः । सापध्यानं—देहेन हस्तादिना वा परीषहाद्यपनयनचिन्तनमत्रापध्यानम् । तेन सहितं यथा भवति । अङ्गवृत्त्युपरतिः—शरीरव्यापारनिवृत्तिः । अयमचेष्टारूपायाः कायगुप्तेरतिचारः ॥१६१॥

अथ चेष्टितुकामो मुनिः समितिपरः स्यादित्यनुशास्ति—

गुप्तेः शिवपथदेव्या बहिष्कृतो व्यवहृतिप्रतीहार्या ।
भूयस्तद्भक्त्यवसरपरः श्रयेत्तत्सखीः शमी समितीः ॥१६२॥

कायोत्सर्गसम्बन्धी बत्तीस दोष, यह शरीर मेरा है इस प्रकारकी प्रवृत्ति, शिव आदिकी प्रतिमाके सम्मुख शिव आदिकी आराधना करने जैसी मुद्रामें खड़े होना अर्थात् दोनों हाथोंको जोड़कर शिव आदिकी प्रतिमाके अभिमुख खड़ा होना, अथवा जनसमूहसे भरे स्थानमें एक पैरसे खड़े होना, ये सब कायोत्सर्गरूप कायगुप्तिके अतीचार हैं। तथा जहाँ जीव जन्तु, काष्ठ पाषाण आदिसे निर्मित स्त्रीप्रतिमाएँ और परधन प्रचुर मात्रामें हों, ऐसे देशमें अयत्नाचार पूर्वक निवास हिंसादित्यागरूप कायगुप्तिका अतीचार है। अथवा अपध्यान सहित शरीरके व्यापारकी निवृत्ति अचेष्टारूप कायगुप्तिका अतीचार है ॥१६१॥

विशेषार्थ—कायगुप्तिके तीन लक्षण कहे हैं, कायोत्सर्ग, हिंसादिका त्याग और अचेष्टा। इन तीनोंको ही दृष्टिमें रखकर अतीचार कहे हैं। आगे आठवें अध्यायमें आवश्यकोंका वर्णन करते हुए कायोत्सर्गके बत्तीस दोष कहेंगे। वे सब कायोत्सर्गरूप कायगुप्तिके अतीचार हैं। इसी तरह शिव आदिकी प्रतिमाके सामने वन्दना मुद्रामें खड़े होना भी अतीचार है। इससे दर्शकोंको यह भ्रम होता है कि यह शिवकी भक्ति करता है। इसी तरह जनसमूहके बीचमें एक पैरसे खड़े होकर कायोत्सर्ग करना भी सदोष है। हिंसा, चोरी और मैथुनके त्यागीको ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहिए जहाँ जीव-जन्तुओंकी बहुतायत हो या स्त्रियोंकी प्रतिमाएँ हों या असुरक्षित परधन हो। रहना ही पड़े तो सावधान होकर रहना चाहिए। असावधानतामें व्रतसे च्युत होनेका भय है। निश्चेष्ट होकर शरीर अथवा हाथ आदि द्वारा परीषह आदि दूर करनेका चिन्तन करना अचेष्टारूप कायगुप्तिका अतीचार है। निश्चेष्ट शुभ ध्यानके लिए हुआ जाता है। ऐसे समयमें यदि परीषह आ जाय तो शरीरके द्वारा उसको दूर करनेका चिन्तन भी दोष ही है ॥१६१॥

इस प्रकार गुप्तिप्रकरण समाप्त होता है।

आगे जो मुनि शरीरसे चेष्टा करना चाहता है उसे समितियोंके पालनमें तत्पर होना चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं—

चेष्टारूपी प्रतिहारीके द्वारा मोक्षमार्गकी देवी गुप्तिसे बहिष्कृत किया गया जो मुनि पुनः गुप्तिकी आराधनाका अवसर प्राप्त करना चाहता है उसे गुप्तिकी सखी समितिका आश्रय लेना चाहिए ॥१६२॥

व्यवहृतिः—चेष्टा । उक्तं च—

'कर्मद्वारोपरमणरतस्य तिस्रस्तु गुप्तयः सन्ति ।
चेष्टाविष्टस्य मुनेर्निर्दिष्टाः समितयः पञ्च ॥'

तत्सखी । अयमर्थः यथा नायकमाराधयितुकामस्य नायकस्यावसरमलभमानस्य तदनुकूलनार्थं तत्सखीनामाश्रयणं श्रेयस्तथा मुमुक्षोर्गुप्त्याराधनपरस्य समितीनां सखीत्वं, तासां नायिकाया इव गुप्तेः स्वभावाश्रयणात् । समितिषु हि गुप्तयो लभ्यन्ते न तु गुप्तिषु समितयः ॥१६२॥

अथ निरुक्तिगम्यं समितिसामान्यलक्षणं विशेषोद्देशसहितमाह—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः ।
वृत्तयः पञ्च सूत्रोक्तयुक्त्या समितयो मताः ॥१६३॥

समितयः—सम्यक्श्रुतनिरूपितक्रमेणेतिर्गतिर्वृत्तिः समितिः ॥१६३॥

अथेर्यासमितिलक्षणमाह—

विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जैसे कोई नायक किसी नायिकाकी आराधना करना चाहता है किन्तु अवसर नहीं पाता तो वह उस नायिकाको अपने अनुकूल करनेके लिए उसकी सखियोंका सहारा लेता है यही उसके लिए श्रेयस्कर है। उसी तरह जो मुमुक्षु गुप्तिकी आराधना करना चाहता है उसे समितिका पालन करना चाहिए। क्योंकि समिति गुप्तिकी सखी है। यतः समिति गुप्तिके स्वभावका अनुसरण करती है अतः समितियोंमें तो गुप्तियाँ पायी जाती हैं किन्तु गुप्तियोंमें समितियाँ नहीं पायी जातीं। गुप्तियाँ निवृत्तिप्रधान होती हैं और समितियाँ प्रवृत्तिप्रधान। इसीलिए जहाँ समितियोंको गुप्तियोंकी सखी कहा है वहाँ गुप्तियोंको मोक्षमार्गकी देवी कहा है। इस देवीके द्वारकी रक्षिका है चेष्टा। जैसे द्वार रक्षिका अपने स्वामीकी अवज्ञा करनेवालेको वहाँसे निकाल देती है वैसे ही जो मुनि शारीरिक व्यापार करना चाहता है वह गुप्तिके द्वारसे हटा दिया जाता है। किन्तु मुमुक्षु मुनि मोक्षकी देवी गुप्तिकी आराधना तो नहीं छोड़ना चाहता। अतः शारीरिक चेष्टा करते हुए भी उसे समितियोंका आलम्बन लेना पड़ता है। ऐसी स्थितिमें उसे पुनः गुप्तियोंके पालनका अवसर मिलता है। यदि वह चेष्टा करते हुए भी समितियोंका पालन नहीं करता तो वह गुप्तियोंका पालन नहीं कर सकता और तब उसे मोक्षकी बात तो दूर, मोक्षमार्गकी भी प्राप्ति सम्भव नहीं है ॥ कहा भी है—'कर्मोंके आनेके द्वारको बन्द करनेमें लीन साधुके तीन गुप्तियाँ कही हैं और शारीरिक चेष्टा करनेवाले मुनिके पाँच समितियाँ कही हैं' ॥१६२॥

आगे समितिके भेदोंका नामनिर्देशपूर्वक निरुक्तिपूर्वक सामान्य लक्षण कहते हैं—

आगममें बताये हुए क्रमके अनुसार प्रवृत्तिरूप पाँच समितियाँ पूर्वाचार्योंने कही हैं। ईर्या अर्थात् गमन, भाषा अर्थात् वचन, एषणा अर्थात् भोजन, आदाननिक्षेप अर्थात् ग्रहण और स्थापन तथा उत्सर्ग अर्थात् त्यागना ये उनके लक्षण हैं ॥१६३॥

विशेषार्थ—समिति शब्द सम् और इतिके मेलसे बनता है। 'सम' अर्थात् सम्यक् 'इति' अर्थात् गति या प्रवृत्तिको समिति कहते हैं। अर्थात् आगममें कहे हुए क्रमके अनुसार गमन आदि करना समिति है। साधुको जीवनयात्राके लिए पाँच आवश्यक क्रियाएँ करनी पड़ती हैं—एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना, बोलना, भोजन, पीछी आदिका ग्रहण, स्थापन और मलमूत्रका त्याग। अतः पाँच ही समितियाँ कही हैं ॥१६३॥

ईर्यासमितिका लक्षण कहते हैं—

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,
श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते ।
मार्गे कौक्कुटिकस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,
कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्याङ्गिनः ॥१६४॥

श्रुतार्थविदुषः—प्रायश्चित्तादिसूत्रार्थं जानतस्तत्रोपयुक्तस्येत्यर्थः । प्रेप्सतः—प्राप्तुमिच्छतः । श्रेयःसाधनसिद्धये—श्रेयस. साधनाना सम्यग्दर्शनादीना तदङ्गानां चापूर्वचैत्यालयसदुपाध्यायधर्माचार्यादीना सिद्धिः संप्राप्तिस्तदर्थम् । कामं—यथेष्टमत्यर्थं वा । जनैः—लोकाश्वशकटादिभिः । कौक्कुटिकस्य—कुक्कुटी कुक्कुटीपातमात्रं देश पश्यत. । पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षिण इत्यर्थ. । प्रयत्या—प्रयत्नेन । उक्तं च—

'मग्गुज्जोउवओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ।
सुत्ताणुवीचिभणिया इरियासमिदी पवयणम्हि ॥'[भग. आरा. ११९१ गा.]॥ १६४॥

प्रायश्चित्त आदि शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाला जो मुनि आत्मकल्याणके साधन सम्यग्दर्शन आदि और उनके सहायक अपूर्व चैत्यालय, समीचीन उपाध्याय, धर्माचार्य आदिकी प्राप्तिके लिए अपने स्थानसे अन्य स्थानको जाना चाहता है, वह मनुष्य हाथी, घोड़े, गाड़ी आदिके द्वारा अच्छी तरहसे रौंदे हुए और सूर्यकी किरणोंसे स्पृष्ट मार्गमें आगे चार हाथ जमीन देखकर दिनमें गमन करता है तथा दयाभावसे प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए सावधानतापूर्वक धीरे-धीरे पैर रखता है। उस मुनिके ईर्यासमिति होती है ॥१६४॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना (गा. ११९१) में कहा है—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि, आलम्बनशुद्धि इन चार शुद्धियोंके साथ गमन करनेवाले मुनिके सूत्रानुसार ईर्यासमिति आगममें कही है। मार्गमें चींटी आदि त्रस जीवोंका आधिक्य न होना, बीज-अंकुर, तृण, हरितवृक्ष, कीचड़ आदिका न होना मार्गशुद्धि है। चन्द्रमा, नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश अव्यापी होता है। अतः सूर्यका स्पष्ट और व्यापक प्रकाश होना उद्योतशुद्धि है। पैर रखनेके स्थानपर जीवोंकी रक्षाकी भावना होना उपयोगशुद्धि है। गुरु, तीर्थ तथा यतियोंकी वन्दना आदिके लिए या शास्त्रोंके अपूर्व अर्थका ग्रहण करनेके लिए या संयतोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए या वैयावृत्य करनेके लिए या अनियत आवासके कारण स्वास्थ्यलाभके लिए या श्रमपर विजय प्राप्त करनेके लिए या अनेक देशोंकी भाषा सीखनेके लिए अथवा शिष्यजनोंके प्रतिबोधके लिए गमन करना आलम्बनशुद्धि है। न बहुत जल्दी और न बहुत धीमे चलना, आगे चार हाथ जमीन देखकर चलना, पैर दूर-दूर न रखना, भय और आश्चर्यको त्यागकर चलना, विलासपूर्ण गतिसे न चलना, कूदकर न चलना, भागकर न चलना, दोनों हाथ नीचे लटकाकर चलना, निर्विकार, चपलतारहित, ऊपर तथा इधर-उधर देखकर न चलना, तरुण तृण और पत्तोंसे एक हाथ दूर रहकर चलना, पशु-पक्षी और मृगोंको भयभीत न करते हुए चलना, विपरीत योनिमें जानेसे उत्पन्न हुई बाधाको दूर करनेके लिए निरन्तर पीछीसे शरीरका परिमार्जन करते हुए चलना, सामनेसे आते हुए मनुष्योंसे संघट्टन न करते हुए चलना, दुष्ट गाय, बैल, कुत्ता आदिसे बचते हुए चलना, मार्गमें गिरे हुए भूसा, तुष, कज्जल, भस्म, गीला गोबर, तृणोंके ढेर, जल, पत्थर लकड़ीका टुकड़ा आदिसे

१ श्वे. आ सिद्धसेन गणिकी तत्त्वार्थभाष्यटीका (भा. २, पृ. १८७) में इसीकी संस्कृत छाया उद्धृत है—
'उपयोगोद्योतालम्बनमार्गविशुद्धीभिर्यतेश्चरतः ।
सूत्रोदितेन विधिना भवतीर्यासमितिरनवद्या ॥'

अथ श्लोकद्वयेन भाषासमितिलक्षणमाह—

कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी ।
छेदंकरा मध्यकृशातिमानिन्यनर्यंकरा ॥१६५॥ १
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजन् ।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद् भाषासमितो वदन् ॥१६६॥

कर्कशा—संतापजननी 'मूर्खस्त्वं', 'बलीवर्दस्त्वं', 'न किंचिज्जानासि' इत्यादिका । परुषा—मर्मचालनी १
त्वमनेकदोषदुष्टोऽसीति । छेदंकरा—छेदकरी वीर्यशीलगुणाना निर्मूलविनाशकरी । अथवा असद्भूतदोषोद्भा-
विनो । मध्यकृशा—ईदृशी निष्ठुरा वाक् या अस्थ्ना मध्यमपि कृशति । अतिमानिनी—आत्मनो महत्त्व-
ख्यापनपरा अन्येषा निन्दापरा च । अनर्यंकरा—शीलाना खण्डनकरी अन्योन्यसङ्गतानां वा विद्वेष- ९
कारिणी ॥१६५॥

भूतहिंसाकरी— प्राणिनां प्राणवियोगकरी । हितं—स्वपरोपकारकम् ॥१६६॥

बचते हुए, चलना, चोरी और कलहसे दूर रहना इस प्रकारसे गमन करनेवाले यतिके ईर्या-समिति होती है । दशवैकालिक (अ. ५, उ. १, सू ३-४) में कहा है—'आगे युगप्रमाण भूमिको देखता हुआ और बीज, हरियाली, प्राणी, जल तथा सजीव मिट्टीको टालता हुआ चले। दूसरे मार्गके होते हुए गड्ढे, ऊबड़-खाबड़ भूभाग, ठूँठ और सजल मार्गसे न जावे। पुलके ऊपरसे न जावे।'

दो श्लोकोंसे भाषासमितिका लक्षण कहते हैं—

कर्कशा, परुषा, कट्वी, निष्ठुरा, परकोपिनी, छेदंकरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, अनयंकरा और भूतहिंसाकरी इन दस प्रकारकी दुर्भाषाओंको छोड़कर हित, मित और असन्दिग्ध बोलनेवाला साधु भाषासमितिका पालक होता है ॥१६५-१६६॥

विशेषार्थ—सन्ताप उत्पन्न करनेवाली भाषा कर्कशा है। जैसे तू मूर्ख है, बैल है, कुछ नहीं जानता इत्यादि। मर्मको छेदनेवाली भाषा परुषा है। जैसे, तुम बड़े दुष्ट हो, आदि। उद्वेग पैदा करनेवाली भाषा कट्वी है। जैसे, तू जातिहीन है, अधर्मी है आदि। तुम्हें मार डालूँगा, सिर काट लूँगा इत्यादि भाषा निष्ठुरा है। तू निर्लज्ज है इत्यादि भाषा परकोपिनी है। वीर्य, शील और गुणोंका निर्मूल विनाश करनेवाली अथवा असद्भूत दोषोंका उद्भावन करनेवाली भाषा छेदंकरी है। ऐसी निष्ठुर वाणी जो हड्डियोंके मध्यको भी कृश करती है मध्यकृशा है। अपना महत्त्व और दूसरोंकी निन्दा करनेवाली भाषा अतिमानिनी है। शीलोंका खण्डन करनेवाली तथा परस्परमें मिले हुए व्यक्तियोंके मध्यमें विद्वेष पैदा करनेवाली भाषा अनयंकरा भाषा है। प्राणियोंके प्राणोंका वियोग करनेवाली भाषा भूतहिंसाकरी है। इन दस प्रकारकी दुर्भाषाओंको त्यागकर हित अर्थात् स्वपरके उपकारक, मित अर्थात्

---

१. 'सच्चं असच्चमोसं अलियादीदोसवज्जमणवज्जं ।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा' ॥—भग. आरा ११९२ गा. ।

२. 'पुरओ जुगमायाए पेहमाणो मही चरे ।
वज्जिंतो बीयहरियाइं पाणेयदगमट्टियं ॥
ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छिज्जा विज्जमाणे परक्कमे' ॥

अथ एषणासमितिलक्षणमाह—

विघ्नाङ्गाराविशङ्काप्रमुखपरिकरैरुद्गमोत्पाददोषैः,
प्रस्मार्यं वीरचर्यार्जितममलमधःकर्ममुग् भावशुद्धम् ।
स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवद्दत्तमन्यैश्च भक्त्या,
कालेऽन्नं मात्रयाऽश्नन् समितिमनुषजत्येषणायास्तपोभृत् ॥१६७॥

विघ्नेत्यादि—अन्तरायादयोऽनन्तराध्याये व्याख्यास्यन्ते । प्रस्मार्यं—विस्मरणीयमविषयीकृतमित्यर्थः । वीरचर्यार्जितं—अदीनवृत्त्योपार्जितम् । पटु—समर्थम् । विधिवत्—प्रतिग्रहादिविधानेन । अन्यैः—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रैः स्वदातृगृहाद् वामतस्त्रिषु गृहेषु दक्षिणतश्च त्रिषु वर्तमानैः षड्भिः स्वप्रतिग्राहिणा च सप्तमेन । तपोभृत्—इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठानं पुष्णन् ॥१६७॥

विवक्षित अर्थके उपयोगी और असन्दिग्ध अर्थात् संशयको उत्पन्न न करनेवाली भाषाको बोलनेवाला मुनि भाषासमितिका पालक होता है ॥१६५-१६६॥

एषणा समितिका लक्षण कहते हैं—

भोजनके अन्तरायोंसे, अंगार आदि दोषोंसे, भोज्य वस्तु सम्बन्धी शंका आदि दोषोंसे तथा उद्गम और उत्पादन दोषोंसे रहित, वीरचर्याके द्वारा प्राप्त, पूय, रुधिर आदि दोषोंसे तथा अधःकर्म नामक महान् हिंसा दोषसे रहित, भावसे शुद्ध, अपना और परका उपकार करनेवाले शरीरकी स्थितिको बनाये रखनेमें समर्थ, विधिपूर्वक भक्तिके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सतशूद्रके द्वारा दिया गया भोजन समयपर उचित प्रमाणमें खानेवाला तपस्वी एषणा समितिका पालक होता है ॥१६७॥

विशेषार्थ—पाँचवें पिण्डैषणा नामक अध्यायके प्रारम्भमें ही कहा है कि साधुको छियालीस दोषोंसे रहित, अध.कर्मसे रहित तथा चौदह मलोंसे रहित निर्विघ्न आहार ग्रहण करना चाहिए। सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दस शंकित आदि दोष, चार अंगारादि दोष ये सब छियालीस दोष है। इनका कथन इसी अध्यायमें आगे आयेगा। एषणा समितिके पालक साधुको इन सब दोषोंको टालकर आहार ग्रहण करना चाहिए तथा वह आहार वीरचर्यासे प्राप्त होना चाहिए। स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे श्रावकोंके द्वारकी ओरसे जानेपर जो आहार अदीनवृत्तिसे प्राप्त होता है वही साधुके लिए ग्राह्य है। तथा वह आहार ऐसा होना चाहिए जो साधुके शरीरकी स्थिति बनाये रखनेमें सहायक हो और साधुका शरीर उसे ग्रहण करके अपना और दूसरोंका कल्याण करनेमें समर्थ हो। जिस भोजनसे साधुका शरीर विकारग्रस्त होता है, इन्द्रियमद पैदा होता है वह भोजन अग्राह्य है। तथा वह भोजन भक्तिभावसे विधिपूर्वक किसी सद्गृहस्थके द्वारा दिया गया हो वह गृहस्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सत्शूद्र होना चाहिए। सत्शूद्र भी दानका अधिकारी माना गया है। आचार्य सोमदेवने नीतिवाक्यामृतमें जिन शूद्रोंमें पुनर्विवाह नहीं होता उन्हें सत्शूद्र कहा है। यथा—'सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः।'

तथा लिखा है कि आचारकी निर्दोषता, घर पात्र वगैरहकी शुद्धि तथा शरीर शुद्धिसे शूद्र भी धर्म कर्मके योग्य हो जाता है। जिस घरमें साधुका आहार होता हो उस घरके बायीं ओरके तीन घर और दायीं ओरके तीन घर इस तरह छह घरोंके दाताओंके द्वारा दिया गया

१. न लक्षणं तप: पु—भ. कु. च.।

अथादानिक्षेपणसमितिं लक्षयति—

सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि ।
कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥१६८॥

सुदृष्टमृष्टं—सुदृष्टं पूर्वं चक्षुषा सम्यग्निरूपितं सुमृष्टं पश्चात् पिच्छिकया सम्यक् प्रतिलेखितम् । स्थिरं—विश्रब्धमनन्यचित्तमित्यर्थः । त्यजेत्—निक्षिपेत् । तादृशि—सुदृष्टमृष्टे । पुस्तकादि—आदिशब्दात् कवलिकाकुण्डिकादि द्रव्यम् । उक्तं च—

'आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समाजेज्जो ।
दव्वं च दव्वट्ठाणं संजमलद्धीए सो भिक्खू ॥' [मूलाचार ३१९]
'सहसाणाभोइददुप्पमज्जिदापव्ववेक्खणा दोसो ।
परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥' [भ. आ. ११९८] ॥१६८॥

अथोत्सर्गसमितिं निर्देष्टुमाह—

आहार भी साधु ग्रहण कर सकता है। वे सब घर एक ही पंक्तिमें लगे हुए होने चाहिए। दूरके या सड़कसे दूसरी ओरके घरोंसे आया आहार साधुके लिए अग्राह्य होता है।

श्वेताम्बर परम्परामें धर्मके साधन अन्नपान, रजोहरण, वस्त्र पात्र और आश्रय सम्बन्धी उद्गम उत्पादन एषणा दोषोंका त्यागना एषणा समिति है ॥१६७॥

आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप कहते हैं—

आदाननिक्षेपण समितिके पालक साधुको स्थिर चित्त होकर प्रथम अपनी आँखोंसे अच्छी तरह देखकर फिर पीछीसे साफ करके ही पुस्तक आदिको ग्रहण करना चाहिए और यदि रखना हो तो पहले अच्छी तरह देखे हुए और पीछे पिच्छिकासे साफ किये हुए स्थानपर रखना चाहिए। रखनेके पश्चात् यदि कितना ही काल बीत गया हो तो सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्तिकी सम्भावनासे पुनः उस रखी हुई पुस्तकादिका सावधानीसे निरीक्षण करना चाहिए ॥१६८॥

विशेषार्थ—अन्य ग्रन्थोंमें भी आदाननिक्षेपण समितिका यही स्वरूप कहा है। यथा—मूलाचारमें कहा है—वह भिक्षु संयमकी सिद्धिके लिए आदान और निक्षेपमें द्रव्य और द्रव्यके स्थानको चक्षुके द्वारा अच्छी तरह देखकर और पीछीके द्वारा परिमार्जित करके वस्तुको ग्रहण करता और रखता है। भ. आराधनामें कहा है—बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना सहसा नामका पहला दोष है। बिना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिका ग्रहण या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है। देखकरके भी सम्यक् रीतिसे प्रमार्जन न करके ग्रहण करना या रखना दुःप्रमृष्ट नामका तीसरा दोष है। पहले देखकर प्रमार्जन किया किन्तु कितना ही काल बीत जानेपर पुनः यह देखे बिना ही कि शुद्ध है या अशुद्ध, ग्रहण या निक्षेप करना चौथा अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है। इन चारों दोषोंका परिहार करनेवालेके आदाननिक्षेपण समिति होती है ॥१६८॥

उत्सर्ग समितिका स्वरूप कहते हैं—

१. 'अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य चोद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनमेषणा समिति. ।
—तत्त्वार्थभाष्य ९।५

निर्जन्तौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोधोज्झिते,
प्लुष्टे कृष्ट उतोषरे क्षितितले विष्टादिकानुत्सृजन् ।
द्युः प्रज्ञाश्रमणेन नक्तमभितो दृष्टे विभज्य त्रिधा,
सुस्पृष्टेऽप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्गं उत्तिष्ठते ॥१६९॥

निर्जन्तौ—द्वीन्द्रियादिजीववर्जिते हरिततृणादिरहिते च । कुशले—वल्मीकाद्यातङ्ककारणमुक्तत्वात्प्रशस्ते । विविक्तं—अशुच्याद्यवस्कररहितं निर्जनं च । प्लुष्टे—दवस्मशानाद्यग्निदग्धे । कृष्टे—हलेनासकृद्विदारिते । ऊषरे—स्थण्डिले । विष्टादिकान्—पुरीष-मूत्र-मुखनासिकागतश्लेष्मकेशोत्पाटनवालसप्तमधातु-पित्तच्छर्दिप्रमुखान् । द्युः—दिने । उक्तं च—

'वणदाहकिसिमसिकदे छंडिल्ले अणुपरोधविच्छिण्णे ।
अवगतजंतुविवित्ते उच्चारादि विसज्जेज्जो ॥
उच्चारं पस्सवणं खेलं सिघाणयादि जं दव्वं ।
अच्चित्त भूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो ॥'—[मूलाचार, ३२१-२२]

प्रज्ञाश्रमणेन—वैयावृत्यादिकुशलेन साधुना विनयपरेण सर्वसंघप्रतिपालकेन वैराग्यपरेण जितेन्द्रियेण च । विभज्य त्रिधा । इदमत्र तात्पर्यं प्रज्ञाश्रमणेन सति सूर्ये रात्रौ साधूना विण्मूत्राद्युत्सर्गार्थं त्रीणि स्थानानि द्रष्टव्यानि । तथा च सति प्रथमे कदाचिदशुद्धे द्वितीयं द्वितीयेऽपि वाशुद्धे तृतीयं तेऽनुसरन्ति । अपहस्तकेन—विपरीतकरतलेन । उक्तं च—

दोइन्द्रिय आदि जीवोंसे तथा हरे तृण आदिसे रहित, साँपकी बाँबी आदि भयके कारणोंसे रहित होनेसे प्रशस्त, निर्जन तथा विस्तीर्ण, लोगोंकी रोक-टोकसे रहित, वनकी या श्मशानकी आगसे जले हुए, या हलके द्वारा अनेक बार खोदे गये, अथवा ऊसर भूमिमें दिनके समय मल, मूत्र, कफ, नाक, बाल, वमन आदिका त्याग करनेवाले मुनिके उत्सर्ग समिति होती है। रात्रिके समयमें यदि बाधा हो तो दिनमें प्रज्ञाश्रमण मुनिके द्वारा अच्छी तरह देखे गये तीन स्थानोंमें-से किसी एक शुद्धतम स्थानमें विपरीत हाथसे अच्छी तरह देखकर मूत्रादिका त्याग करना उत्सर्ग समिति है ॥१६९॥

विशेषार्थ—शरीरके मलोंके त्यागका नाम उत्सर्ग है और उसकी जो विधि ऊपर बतलायी है उस विधिसे त्यागना उत्सर्ग समिति है। जिस स्थानपर मलका त्याग किया जाये वह भूमि उक्त प्रकारकी होनी चाहिए। यह सब दिनमें ही देखा जा सकता है। किन्तु तपस्वी एकाहारी साधुको रात्रिमें मल-मूत्रकी बाधा प्राय: रुग्णावस्थामें ही होती है। इसलिए उसकी विधि यह है कि जो साधु वैयावृत्यमें कुशल, विनयी, सर्वसंघका पालक, वैरागी और जितेन्द्रिय होता है उसे प्रज्ञाश्रमण कहा जाता है, वह दिनमें जाकर रात्रिमें साधुओंके मलत्यागके लिए तीन स्थान देख रखता है। यदि पहला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा, दूसरा अशुद्ध हो तो तीसरा स्थान काममें लाया जाता है। ऐसा करते समय साधु उस स्थानको हथेलीके उलटे भागसे अच्छी तरह स्पर्श करके देख लेते हैं कि स्थान शुद्ध है या नहीं, तब मलत्याग करते हैं। मूलाचारमें कहा है—

वनकी आगसे जले हुए, कृषि द्वारा जोते हुए, लोगोंकी रोक-टोकसे रहित, निर्जन्तुक एकान्त भूमिदेशमें मल-मूत्रादि त्यागना चाहिए। टट्टी, पेशाब, नाक, थूक आदि निर्जन्तुक भूमिप्रदेशमें प्रतिलेखन करके त्यागना चाहिए।

'रात्रौ च तत्त्यजेत् स्थाने प्रज्ञाश्रमणवीक्षिते ।
कुर्वन् शङ्कानिरासायावहस्तस्पर्शनं मुनिः ॥
द्वितीयाद्यं भवेत्तच्चेदशुद्धं साधुरिच्छति ।
लघुत्वस्यावशे दोषे न दद्याद् गुरुकं यतेः ॥' [ ] ॥१६९॥

अथ निरतिचारसमितिपरस्य हिंसाद्यभावलक्षणं फलमाह—

समितीः स्वरूपतो यतिराकारविशेषतोऽप्यनतिगच्छन् ।
जीवाकुलेऽपि लोके चरन्न युज्येत हिंसाद्यैः ॥१७०॥

स्वरूपतः—यथोक्तलक्षणमाश्रित्य । यतिः—यत्नपरः साधुः । आकारविशेषतः—यथोक्तं मार्गादिविशेषलक्षणमाश्रित्य । अनतिगच्छन्—अतिचारविषयो अकुर्वन् ॥१७०॥

अथ समितीना माहात्म्यमनुवर्णयंस्तासां सदासेव्यत्वमाह—

पापेनान्यवधेऽपि पद्ममणुशोऽप्युद्गेव नो लिप्यते,
यद्युक्तो यदनादृतः परवधाभावेऽप्यलं बध्यते ।
यद्योगादधिरुह्य संयमपदं भान्ति व्रतानि द्वया-
न्यप्युद्भान्ति च गुप्तयः समितयस्ता नित्यमित्याः सताम् ॥१७१॥

अणुशोऽपि—अल्पेनापि अल्पमपि वा । उद्गा—उदकेन ।

पादमासनिशाहृदययूषदोर्दन्तनासिकोदकासनशकृद्यकृदसृजा पन्मासनिशहृद्यूषन्दोषन् दत् नस् उदन् आसन् शकन् यकन् असनो वा स्यादावघुटीत्यनेनोदकस्योदन् । उक्तं च—

रात्रिके सम्बन्धमें लिखा है—'मुनिको रात्रिमें प्रज्ञाश्रमणके द्वारा निरीक्षित स्थानमें मलत्याग करना चाहिए। यदि स्थानकी शुद्धिमें शंका हो तो उलटे हाथसे स्पर्श करके देख लेना चाहिए। यदि वह अशुद्ध हो तो दूसरा स्थान देखना चाहिए। यदि मलत्याग शीघ्र हो जाये तो मुनिको गुरु प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए; क्योंकि उस दोषमें उसका वश नहीं था ॥१६९॥

आगे कहते हैं कि निरतिचार समितियोंका पालन करनेवाले साधुको हिंसा आदिके अभावरूप फलकी प्राप्ति होती है—

पूर्वमें समितियोंका जो सामान्य स्वरूप कहा है उसकी अपेक्षासे और मार्ग आदि विशेषणोंकी भी अपेक्षासे जो साधु उनके पालनमें तत्पर रहता है और अतिचार नहीं लगाता, वह साधु त्रस और स्थावर जीवोंसे भरे हुए भी लोकमें गमनादि करनेपर हिंसा आदिके दोषोंसे लिप्त नहीं होता ॥१७०॥

समितियोंके माहात्म्यका वर्णन करते हुए उनके सदा पालन करनेकी प्रेरणा करते हैं—

जिन समितियोंका पालक साधु अन्य प्राणीके प्राणोंका दैववश घात हो जानेपर भी जलसे कमलकी तरह किंचित् भी पापसे लिप्त नहीं होता, और जिन समितियोंके प्रति असावधान साधु अन्य प्राणिका घात न होनेपर भी पापसे अच्छी तरह बँधता है, तथा जिन समितियोंके सम्बन्धसे संयमपदपर आरोहण करनेसे अणुव्रत और महाव्रत चमक उठते हैं तथा गुप्तियाँ शोभित होती हैं उन समितियोंका पालन साधुओंको सदा करना चाहिए ॥१७१॥

'अजदाचारो समणो छस्सुवि काएसु बंधगोत्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमल व जले णिरुवलेवो ॥' [प्रवचनसार, ३।१८ गा. ।]

३ द्वयानि—महान्त्यणूनि च। तथा चोक्तं वर्गणाखण्डस्य बन्धनाधिकारे—

'संजमविरईणं को भेदो ? ससमिदि महव्वयाणुव्वयाइ संजमो। ससिदीह विणा महव्वयाणुव्वयाई विरदी।' इति ॥ [धवला पु. १४, पृ. १२]

६ उद्भ्रान्ति—उद्भासन्ते। समितिषु गुप्तिसद्भावस्य प्राग् व्याख्यातत्वात्। नित्यं—गुप्तिकालादन्यदा। इत्या गम्याः सेव्या इत्यर्थः ॥१७१॥

अथ शीलस्य लक्षणं विशेषांश्चोपदिशन्नुपेयत्वमभिधत्ते—

९ **शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम्।**
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्ययं क्षमादींश्च ॥१७२॥

विशेषार्थ—समितियोंका मूल्यांकन करते हुए उनकी चार विशेषताओंका कथन किया है। प्रथम, जैसे कमल जलमें रहते हुए भी अणुमात्र भी जलसे लिप्त नहीं होता वैसे ही समितियोंका पालक साधु कदाचित् दैववश प्राणिघात हो जानेपर भी किंचित् भी पापसे लिप्त नहीं होता। प्रवचनसारमें कहा है—'ईर्यासमितिसे चलनेवाले साधुके पैर उठानेपर उनके चलनेके स्थानपर यदि कोई क्षुद्र जन्तु आ पड़े और उनके पैरके सम्बन्धसे कुचलकर मर भी जाये तो उस साधुको उस हिंसाके निमित्तसे सूक्ष्म-सा भी बन्ध आगममें नहीं कहा है। क्योंकि साधु समितिमें सावधान है उसके मनमें हिंसाका लेश भी भाव नहीं है। दूसरे, जो समितिमें सावधान नहीं होता उसके द्वारा किसीका घात नहीं होनेपर भी पापबन्ध होता है।' कहा है—

'अयत्नाचारी श्रमण छहों कायोंमें बन्धका करनेवाला माना गया है। यदि वह सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करता है जो जलमें कमलकी तरह सदा निरुपलेप बन्धरहित है।' तीसरे, संयमका सम्बन्ध समितिके साथ है। समितिके बिना संयमपदपर आरोहण सम्भव नहीं है अतः समितिके पालनसे ही अणुव्रत और महाव्रत शोभित होते हैं। उसके बिना नहीं। षट्खण्डागमके अन्तर्गत वर्गणा खण्डके बन्धन अनुयोगद्वारकी धवलाटीकामें कहा है—

'संयम और विरतिमें क्या भेद है ? समितिके साथ महाव्रत अणुव्रतोंको संयम कहते हैं। और समितिके बिना महाव्रतों और अणुव्रतोंको विरति कहते हैं। अतः समितियोंका पालन अणुव्रती गृहस्थके लिए भी आवश्यक है। चौथे, समितिके योगसे ही गुप्तियाँ दीप्त होती है क्योंकि समितियोंमें भी गुप्तिका सद्भाव है यह पहले बतलाया है। यहाँ समितियोंको सदा पालन करनेका निर्देश किया है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि गुप्तियोंके पालनसे अतिरिक्त समयमें समितियोंका पालन करना चाहिए ॥१७१॥

इस प्रकार समितिका प्रकरण समाप्त हुआ।

अब शीलका लक्षण और भेदोंका कथन करते हुए उसकी उपादेयता बतलाते हैं—

जिसके द्वारा व्रतोंकी रक्षा होती है उसे शील कहते हैं। पुण्यास्रवमें निमित्त मन-वचन-कायकी परिणति, तीन अशुभ योगोंसे निवृत्ति, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहकी अभिलाषारूप चार संज्ञाओंसे निवृत्ति, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियोंका निरोध, पृथ्वीकायिक आदि दस प्रकारके जीवोंके प्राणोंके घातसे निवृत्तिरूप दस यमोंके

शुभयोगवृत्ति—पुण्यादाननिमित्तमनोवाक्कायव्यापारपरिणतिं सर्वकर्मक्षयार्थां वा गुप्तित्रयीम्। इतरहृति—अशुभयोगनिराकृतित्रयीम्। संज्ञाविरति—आहार-भय-मैथुन-परिग्रहाभिलाषनिवृत्तिचतुष्टयीम्। अक्षरोधं—स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्रसंवरणं पञ्चतयम्। क्षमादियममलात्ययं—क्षमादयो दश। तद्यथा—

'भूमिरापोऽनलो वायुः प्रत्येकानन्तकायिकाः।
द्विकत्रिकचतुःपञ्चेन्द्रिया दश धरादयः॥' [ ]

तेषु यमाः प्राणव्यपरोपणोपरमा विषयभेदाद्दश। तेषां मलात्ययाः प्रत्येकमतीचारनिवृत्तिस्तं दशतयम्। क्षमादीन्—क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि दश। तेषामन्योन्यं गुणने अष्टादश-शीलसहस्राणि भवन्ति। तद्यथा—शुभयोगवृत्तिभिस्तिसृभिरभ्यस्ता अशुभयोगनिवृत्तयस्तिस्रो नव शीलानि स्युः। तानि संज्ञाविरतिभिश्चतसृभिर्गुणितानि षट्त्रिंशत् स्युः। तानीन्द्रियरोधैः पञ्चभिस्ताडितान्यशीत्यधिकं शतं स्युः। तानि क्षमादियममलात्ययैर्दशभिर्हतान्यष्टादशशतानि स्युः। तान्येव पुनः क्षमादिभिर्दशभिः संगुणितान्यष्टादशसहस्राणि सीलानि स्युः। तथा चोक्तम्—

दस अतिचारोंकी विशुद्धि तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यरूप दस धर्म, इन सबका परस्परमें गुणन करनेसे शीलके अठारह हजार भेद होते हैं॥१७२॥

विशेषार्थ—शीलके अठारह हजार भेदोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—तीन शुभयोगरूप प्रवृत्तियोंसे तीन अशुभयोग निवृत्तियोंको गुणा करनेसे ३ × ३ = ९ नौ शील होते हैं। इन नौको चार संज्ञाओंकी चार निवृत्तियोंसे गुणा करनेसे छत्तीस भेद होते हैं। छत्तीसको पाँच इन्द्रिय सम्बन्धी पाँच निरोधोंसे गुणा करनेपर एक सौ अस्सी भेद होते हैं। उन्हें पृथ्वी आदि यम सम्बन्धी अतीचारोंकी दस निवृत्तियोंसे गुणा करनेपर अठारह सौ भेद होते हैं।

पृथिवी आदि दस इस प्रकार हैं—'पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक और अनन्तकायिक तथा दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये जीवोंके दस प्रकार हैं। इनके प्राणोंके घातके त्यागरूप दस ही यम हैं। उनमें-से प्रत्येकके अतीचारकी निवृत्तिके क्रमसे दस ही निवृत्तियाँ हैं। इनसे १८० को गुणा करनेपर अठारह सौ भेद होते हैं। पुनः उन भेदोंको क्षमा आदि दस धर्मोंसे गुणा करनेपर अठारह हजार भेद शीलके होते हैं। कहा भी है—'तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रिय, दस जीव संयम और दस धर्म (३ × ३ × ४ × ५ × १० × १०) इनको परस्परमें गुणा करनेसे शीलके अठारह हजार भेद होते हैं। जो मुनिश्रेष्ठ मनोयोग और आहारसंज्ञासे रहित है, मनोगुप्तिका पालक है, स्पर्शन इन्द्रियसे संवृत है, पृथिवीकायिक सम्बन्धी संयमका पालक है, उत्तम क्षमासे युक्त है, उस विशुद्ध मुनिके शीलका पहला भेद होता है। शेषमें भी इसी क्रमसे जानना। अर्थात् वचनगुप्तिका पालन करनेवाले उक्त मुनिराजके शीलका दूसरा भेद होता है। कायगुप्तिके पालक उक्त मुनिराजके तीसरा भेद होता है। वचनयोगसे रहित मनोगुप्तिके पालक उक्त प्रकारके मुनिराजके चौथा भेद होता है। वचनयोगसे रहित वचनगुप्तिके पालक उक्त मुनिराजके पाँचवाँ भेद होता है। वचनयोगसे रहित कायगुप्तिके पालक उक्त मुनिराजके छठा भेद होता है।

'तीन गुप्तियों को' एक पंक्तिमें स्थापित करके उनके ऊपर तीन करण उसी प्रकारसे स्थापित करके उसके पश्चात् क्रमसे चार संज्ञाएँ, पाँच इन्द्रियाँ, पृथिवी आदि दस, तथा दस धर्मोंकी स्थापना करके पूर्वोक्त क्रमसे शेष शीलोंको भी तब तक कहना चाहिए जब तक

'योगे करणसंज्ञाक्षे धरादौ धर्म एव च ।
अष्टादशसहस्राणि स्युः शीलानि मिथो वधे ॥
मनोगुप्ते मुनिश्रेष्ठे मनःकरणवर्जिते ।
आहारसंज्ञया मुक्ते स्पर्शनेन्द्रियसंवृते ॥
सधरासंयमे क्षान्तिसनाथे शीलमादिमम् ।
तिष्ठत्यविचलं शुद्धे तथा शेषेष्वपि क्रमः ॥' [ ]

द्वितीयादीनि यथा—'वाग्गुप्ते मुनिश्रेष्ठे' इत्यादिनोच्चारणेन द्वितीयम् । एवं 'कायगुप्ते मुनिश्रेष्ठे' इत्यादिना तृतीयम् । ततश्च 'मनोगुप्ते मुनिश्रेष्ठे वाक्करणवर्जिते' इत्यादिना चतुर्थम् । ततश्च 'वाग्गुप्ते मुनिश्रेष्ठे वाक्करणवर्जिते' इत्यादिना पञ्चमम् । ततश्च 'कायगुप्ते मुनिश्रेष्ठे वाक्करणवर्जिते' इत्यादिना षष्ठं

सभी अक्ष अचल स्थित होकर विशुद्ध होते हैं। इस तरह शीलके अठारह हजार भेद आते हैं।

श्वेताम्बर परम्परामें भी इसी प्रकार भेद कहे हैं। किन्तु कुछ अन्तर भी है—तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ, पृथिवीकायिक आदि नौ जीव (वनस्पति एक ही भेदरूप लिया है) एक अजीवकाय और दस श्रमण धर्म, क्षमा आदि इनको परस्परमें गुणा करनेसे अठारह हजार भेद होते हैं। इस तरह जीव सम्बन्धी दस भेदोंमें एक अजीवकायको लेकर दस संख्या पूरी की गयी है। अजीवकायमें महामूल्य वस्त्र, पात्र, सोना, चाँदी, अज आदिका चर्म, कोदों आदिके तृण लिये गये हैं क्योंकि साधुके लिए ये त्याज्य है। इनको मिलानेका क्रम 'नहीं करता हूँ' यहाँ करनेरूप प्रथम योग लिया। 'मनसे' प्रथम करण लिया। 'आहारसंज्ञासे हीन' इससे पहली संज्ञा ली। 'नियमसे श्रोत्रेन्द्रियसे संवृत' इससे प्रथम इन्द्रिय ली। ऐसा होते हुए पृथिवीकायकी हिंसा नहीं करता। इससे प्रथम जीवस्थान लिया। 'क्षमासे युक्त' इससे प्रथम धर्म भेद लिया। इस तरह शीलका एक अंग प्रकट होता है। आगे इसी प्रकारसे मार्दव आदि पदके संयोगसे पृथिवीकायको लेकर शीलके दस भेद होते हैं अर्थात् उक्त प्रथम अगकी तरह क्षमाके स्थानमें मार्दव, आर्जव आदिको रखनेसे दस भेद होते है। तथा इसी तरहसे पृथ्वीकायके स्थानमें जलकाय आदि नौ स्थानोंको रखनेसे सौ भेद होते है। ये सौ भेद श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी होते हैं शेष चक्षु आदि इन्द्रियोंके भी सौ-सौ भेद होनेसे पाँच सौ भेद होते हैं। ये पाँच सौ भेद आहारसंज्ञाके

१ जोए करणे सण्णा इंदिय भूमादि समणधम्मे य ।
सीलंगसहस्साणं अट्ठारसगस्स णिप्पत्ती ॥—पञ्चाशक १४।३।

२. ण करंति मणेण आहारसण्णाविप्पजढगो उ णियमेण ।
सोइंदियसवुडो पुढविकायारभ खंतिजुओ ॥—पञ्चा. १४।६।

३. इय मद्दवादिजोगा पुढविकाए भवंति दस भेया ।
आउक्कायादीसु वि इय एते पिंडिय तु सय ।
सोइंदिएण एयं सेसेहिं वि जे इमं तओ पंचो ।
आहारसण्णजोगा इय सेसाहिं सहस्सदुगं ॥
एयं मणेण वइमादिएसु एयं ति छस्सहस्साइं ।
ण करेइ सेसहिं पि य एस सव्वे वि अट्ठारा ॥—पञ्चा. १४।७–९ ।

शीलं ब्रूयात् । तिस्रो गुप्तीः पङ्क्त्याकारेण व्यवस्थाप्योर्ध्वं त्रीणि करणानि तथैव व्यवस्थाप्यानि ततश्चतस्रः संज्ञास्ततः पञ्चेन्द्रियाणि ततः पृथिव्यादयो दश, ततश्च दश धर्माः, एवं संस्थाप्य पूर्वोक्तक्रमेण शेषाणि शीलानि वक्तव्यानि । यावत् सर्वे अक्षा अचलं स्थित्वा विशुद्धा भवन्ति तावदष्टादशशीलसहस्राणि आगच्छन्तीति ॥१७२॥ ३

सम्बन्धसे होते हैं। इसी तरह शेष तीन संज्ञाओंमें से प्रत्येकके सम्बन्धसे पाँचसौ भेद होनेसे दो हजार भेद होते हैं। ये दो हजार भेद मन सम्बन्धी होते हैं। इसी तरह वचन और काय योगके भी इतने ही भेद होनेसे छह हजार भेद होते हैं। ये छह हजार भेद 'कृत'के हैं कारित और अनुमतिके भी छह-छह हजार भेद होनेसे अठारह हजार भेद होते हैं। शंका—ये भंग तो एकसंयोगी हैं। दो आदिके संयोगसे मिलानेपर तो बहुत भेद होंगे। तब अठारह हजार भेद ही क्यों कहे? समाधान—यदि श्रावक धर्मकी तरह किसी एक भंगसे सर्वविरति होती तो वैसा सम्भव था। किन्तु यहाँ शीलका प्रत्येक भेद सब भंगोंके योगसे ही होता है उसके बिना सर्वविरति सम्भव नहीं है इसलिए अठारह हजार ही भेद होते हैं।

शीलोंकी स्थापनाका क्रम इस प्रकार है—

क्षमा १	मार्दव २	आर्जव ३	शौच ४	सत्य ५	संयम ६	तप ७	त्याग ८	आकिं. ९	ब्रह्मचर्य १०
पृथ्वी	अप्	तेज २०	वा. ३०	प्रत्ये. ४०	सा. ५०	दोइ. ६०	तेइन्द्रि. ७०	चौइ. ८०	पंचेन्द्रिय ९०
स्प	र. १००	घ्रा २००	च. ३००	श्रो. ४००					
आहार	भय ५००	मै १०००	परि. १५००						
मनक	वाक्क २०००	कायक. ४०००							
म. गु.	व. गु. ६०००	का. गु १२०००							

इस तरह दोनोंकी प्रक्रियामें भेद है। यद्यपि पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें जो श्लोक उद्धृत किया है 'योगे करणसंज्ञाक्षे' आदि और पंचाशककी गाथा 'जोए करणे सण्णा' में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। 'करण' से श्वेताम्बर परम्परामें करना-कराना और अनुमति ये तीन लिये जाते हैं और प्रत्येकके छह हजार भेद होनेसे अठारह हजार भेद हैं। आशाधरजीने इसके स्थानमें तीन अशुभयोग निवृत्ति ली है। भावपाहुड गा. ११८ की टीका में श्रुतसागर सूरिने आशाधरजीके अनुसार ही शीलके अठारह हजार भेद कहे हैं ॥१७२॥

अथ- गुणानां लक्षणं सविशेषमाचक्षाणः सेव्यत्वमाह—

गुणाः संयमवीकल्पाः शुद्धयः कायसंयमाः ।
सेव्या हिंसाकम्पितातिक्रमाद्यब्रह्मवर्जनाः ॥१७३॥

शुद्धयः—प्रायश्चित्तानि 'आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तप-छेद-मूल-परिहार-श्रद्धानाख्यानि दश । कायसंयमाः पूर्वोक्ताः पृथिवीकायिकादि संयमभेदा दश । ते चान्योऽन्यगुणिताः शतम् ।

हिंसेत्यादि—

'हिंसानृतं तथा स्तेयं मैथुनं च परिग्रहः ।
क्रोधादयो जुगुप्सा च भयमप्यरतीरतिः ॥
मनोवाक्कायदुष्टत्व मिथ्यात्वं सप्रमादकम् ।
पिशुनत्वं तथा ज्ञानमक्षाणा चाप्यनिग्रहः ॥' [ ]

तेषा वर्जनास्त्यजनान्येकविशति' ।

'आकम्पिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च ।
छण्णं सद्दाउलियं बहुजणमव्वत्ततस्सेवी ॥' [भ आरा. ५६२ । मूला. १०३० ।]

गुणोंका लक्षण और भेद कहते हुए उनकी उपादेयता बतलाते हैं—

संयमके भेद शुद्धियाँ, कायसंयम, हिंसादि त्याग, आकम्पितादि त्याग, अतिक्रमादि त्याग और अब्रह्म त्यागरूप गुणोंका भी साधुको बारम्बार अभ्यास करना चाहिए॥१७३॥

विशेषार्थ—संयमके ही उत्तर भेदोंको गुण कहते हैं। उनकी संख्या चौरासी लाख है जो इस प्रकार है—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान इन दस प्रकारके प्रायश्चित्तोंको शुद्धियाँ कहते है। पूर्वोक्त पृथिवीकायिक आदि संयमके दस भेद कायसंयम है। दस शुद्धियों और दस कायसंयमोंको परस्परमें गुणा करनेसे सौ भेद होते हैं। हिंसा आदि इस प्रकार हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, भय, अरति, रति, मनकी दुष्टता, वचनकी दुष्टता, कायकी दुष्टता, मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनता, अज्ञान और इन्द्रियोंका अनिग्रह, इनके त्यागसे इक्कीस भेद होते है।

आकम्पित आदि दस इस प्रकार है—गुरुके हृदयमें अपने प्रति दयाभाव उत्पन्न करके आलोचना करना आकम्पित दोष है। गुरुके अभिप्रायको किसी उपायसे जानकर आलोचना करना अनुमानित दोष है। जो दोष दूसरोंने देख लिया उसकी आलोचना करना द्रष्ट दोष है। स्थूल दोषकी आलोचना करना बादर दोष है। सूक्ष्म दोषकी आलोचना करना सूक्ष्म दोष है। प्रच्छन्न आलोचना करना कि आचार्यका कथन स्वयं ही सुन सके छन्न दोष है। बहुत शब्दोंसे व्याप्त समयमें जब हल्ला हो रहा हो आलोचना करना शब्दाकुलित दोष है। एक आचार्यके सामने अपने दोषको निवेदन करके और उनके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्तको स्वीकार करके भी उसपर श्रद्धा न करके अन्य आचार्यसे दोषका निवेदन करना बहुजन प्रायश्चित्त है। अव्यक्त अर्थात् प्रायश्चित्त आदिमें अकुशल यतिके सामने दोषोंकी आलोचना करना अव्यक्त दोष है। जो दोष आलोचनाके योग्य हैं उन्हीं दोषोंके सेवी गुरुके सामने आलोचना करना तत्सेवी दोष है। इन दस दोषोंके त्यागसे दस भेद होते हैं।

विषयोंमें आसक्ति आदिसे अथवा संक्लेश भावसे आगममें कहे गये कालसे अधिक कालमें आवश्यक आदि करना अतिक्रम है। विषयोंमें आसक्ति आदिसे हीन कालमें क्रिया

तेषां त्यागा दश। अतिक्रमो व्यासंगात्संक्लेशाद्वा आगमोक्तकालादधिककाले आवश्यकादिकरणम्। व्यतिक्रमो विषयव्यासंगादिना हीनकाले क्रियाकरणम्। अतिचारः क्रियाकरणालसत्वम्। अनाचारो व्रतादीनामनाचरणं खण्डनं वा। तत्त्यागाश्चत्वारः। नास्ति ब्रह्म यासु ता अब्रह्माणः शीलविराधनाः। तद्यथा—

'स्त्रीगोष्ठी वृष्यभुक्तिश्च गन्धमाल्यादिवासनम्।
शयनासनमाकल्पः षष्ठं गन्धर्ववादितम्॥
अर्थसंग्रहदुःशीलसंगती राजसेवनम्।
रात्रौ संचरणं चेति दश शीलविराधनाः॥' [ ]

तद्वर्जना दश। तत्र चतुर्भिर्गुणिता एकविंशतिश्चतुरशीतिगुणाः स्युः। ते च शतेन हताश्चतुरशीतिशतानि स्युः। ते चाब्रह्मकारणत्यागैर्दशभिरभ्यस्ताश्चतुरशीति सहस्राणि स्युः। ते चाकम्पितादित्यागैर्दशभिराहताश्चत्वारिंशत्सहस्राण्यधिकान्यष्टौ लक्षाणि स्यु.। ते चालोचनादिप्रायश्चित्तभेदैर्दशभिस्ताडिताश्चतुरशीतिलक्षसंख्या गुणाः स्युः। तथा चोक्तम्—

'इगवीसचदुरसदिया दस दस दसगा य आणुपुव्वीए।
हिंसादिक्कमकाया विराहणा लोचणा सोही॥' [मूलाचार, १०२३ गा.]

करना व्यतिक्रम है। व्रत आदिका आचरण नहीं करना या दोष लगाना अनाचार है। और क्रिया करनेमें आलस्य करना अतिचार है। इन चारोंके त्यागसे चार भेद होते हैं। अब्रह्म कहते है शीलकी विराधना करने को। वे इस प्रकार हैं—

स्त्रियोंकी संगति, इन्द्रिय मदकारक भोजन, गन्ध-माला आदिसे शरीरको सुवासित करना, शय्या और आसनकी रचना, गाना-बजाना आदि, धनका संग्रह, कुशील पुरुषोंकी संगति, राजसेवा और रात्रिमें विचरण ये दस शीलविराधना हैं। इनके त्यागसे दस भेद होते हैं। हिंसा आदिके त्याग सम्बन्धी इक्कीस भेदोंको अतिक्रम आदिके त्यागरूप चार भेदोंसे गुणा करनेपर चौरासी भेद होते हैं। उन्हें उक्त सौ भेदोंसे गुणा करनेपर चौरासी सौ भेद होते हैं। उन्हें अब्रह्मके कारणोंके त्यागरूप दस भेदोंसे गुणा करनेपर चौरासी हजार भेद होते हैं। उन्हें आकम्पित आदिके त्यागरूप दस भेदोंसे गुणा करनेपर आठ लाख चालीस हजार भेद होते हैं। उन्हें प्रायश्चित्तके आलोचन आदि दस भेदोंसे गुणा करनेपर चौरासी लाख भेद होते हैं। मूलाचारमें कहा है—हिंसा आदि इक्कीस, अतिक्रम आदि चार, काय आदि दस, शील विराधना दस, आलोचना दोष दस, प्रायश्चित्त दस तरह इन सबकी शुद्धिके मेलसे २१×४×१०×१०×१०×१० चौरासी लाख भेद होते हैं। इनके उत्पादनका क्रम इस प्रकार है—

'हिंसासे विरत, अतिक्रम दोषके करनेसे विरत, पृथ्वीमें पृथिवीकायिक जीव सम्बन्धी आरम्भसे सुसंयत, स्त्रीसंसर्गसे रहित, आकम्पित दोषके करनेसे उन्मुक्त और आलोचना प्रायश्चित्तसे युक्त मुनिके पहला गुण होता है। शेष गुण भी इसी प्रकार जानने चाहिए।

पाणादिवादविरदे अदिकमणदोसकरण उम्मुक्के।
'पुढवीए पुढवीपुणरारंभसुसंजदे धीरे॥
इत्थीसंसग्गविजुदे आकंपिय दोसकरण उम्मुक्के।
आलोयणसोधिजुदे आदिगुणो सेसया णेया॥'—मूलाचार १०३२-३३ गा.।

गुणोच्चारणविधान यथा—

'मुक्ते प्राणातिपातेन तथातिक्रमवर्जिते ।
पृथिव्याः पृथिवीजन्तोः पुनरारम्भसंयते ॥
निवृत्तवनितासंगे चाकम्प्य परिवर्जिते ।
तथालोचनया शुद्धे गुण आद्यस्तथा परे ॥' [ ]

द्वितीयादिगुणा यथा—हिंसाद्येकविंशति संस्थाप्य तदूर्ध्वमतिक्रमादयश्चत्वारा स्थाप्याः । तदुपरि पृथिव्यादि दश । तदूर्ध्वं स्त्रीसंसर्गादयो दश । ततश्चोर्ध्वमाकम्पितादयो दश । ततोऽप्यूर्ध्वमालोचनादयो दश । ततो मृषावादेन निर्मुक्त इत्यादिनोच्चारणेन वाच्ये द्वितीयो गुण. । ततश्च अदत्तादाननिर्मुक्त इत्यादिना तृतीयः । एवं तावदुच्चार्यं यावच्च चतुरशीतिलक्षा गुणा सम्पूर्णा उत्पन्ना भवन्तीति ॥१७३॥

एवं सप्रपञ्च सम्यक्चारित्रं व्याख्याय साम्प्रतं तदुद्योतनाराधना वृत्तत्रयेण व्याख्यातुकामस्तावदतिक्रमादिवर्जनार्थं मुमुक्षून् सज्जयति—

चित्क्षेत्रप्रभवं फलर्द्धिसुभगं चेतोगवः संयम-
व्रीहिव्रातमिमं जिघत्सुरवमः सद्भिः समुत्सार्यताम् ।
नोचेच्छीलवृतिं विलंघ्य न परं क्षिप्रं यथेष्टं चरन्
धुन्वन्नेनमयं विमोक्ष्यति फलैर्विष्वक् च तं भङ्क्ष्यति ॥१७४॥

फलर्द्धयः—सद्वृत्ताराधनस्य फलभूता ऋद्धयः सप्तबुद्ध्यतिशयादि लब्धय. । तद्यथा—

'बुद्धि तवो विय लद्धी विउव्वणलद्धी तहेव ओसहिया ।
रसबलअक्खीणा वि य रिद्धीणं सामिणो वंदे ॥' [वसु श्रा , ५१२ गा]

पक्षे फलसंपत्ति' । चेतोगव.—मनोबलीवर्द । संयम —व्रतधारणादिलक्षणः ।

इनकी स्थापनाका क्रम इस प्रकार है—हिंसा आदि इक्कीसकी स्थापना करके उसके ऊपर अतिक्रम आदि चारकी स्थापना करना चाहिए। उसके ऊपर पृथिवी आदि सौकी स्थापना करना चाहिए। उसके ऊपर स्त्रीसंसर्ग आदि दसकी स्थापना करना चाहिए। उसके ऊपर आकम्पित आदि दसकी स्थापना करना चाहिए। उसके ऊपर आलोचना आदिकी स्थापना करना चाहिए। इस प्रकार स्थापित करके असत्यसे विरत आदि पूर्वोक्त क्रमसे दूसरा गुण होता है। चोरीसे विरत इत्यादि क्रमसे तीसरा गुण होता है। इसी प्रकार योजना कर लेना चाहिए ॥१७३॥

इस प्रकार विस्तारके साथ सम्यक् चारित्रका व्याख्यान करके अब तीन पद्योंके द्वारा उसकी उद्योतनरूप आराधनाका वर्णन करनेकी भावनासे सर्वप्रथम अतिक्रम आदिका त्याग करनेके लिए मुमुक्षुओंको प्रेरित करते हैं—

चित् अर्थात् आत्मारूपी खेतमें उत्पन्न होनेवाले और ऋद्धिरूप फलोंसे शोभायमान इस संयमरूपी धान्यके ढेरको उच्छृंखल चित्तरूपी सॉंड़ खा जाना चाहता है। अतः चारित्रकी आराधनामें तत्पर साधुओंको इसका दमन करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो शीलरूपी बाढ़को लांघकर इच्छानुसार चरता हुआ तथा नष्ट करता हुआ शीघ्र ही यह चित्तरूपी सॉंड़ न केवल इस संयमरूपी धान्यसमूहको फलोंसे शून्य कर देगा किन्तु पूरी तरह उसे रौंद डालेगा ॥१७४॥

यदाह—

'व्रतदण्डकषायाक्षसमितानां यथाक्रमम् ।

संयमो धारणं त्यागो निग्रहो विजयोऽवनम् ॥' [सं. पं. सं. २३८]

जिघत्सुः—भक्षयितुमिच्छुः । एतेनातिक्रमो गम्यते । यदाह—

'क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलङ्घनम् ।

प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥' [अमित. द्वात्रिं.]

अदमः—अदान्तः । समुत्सार्यतां—दूरीक्रियताम् दाम्तः क्रियतां निगृह्यतामिति यावत् । विलंघ्य । एतेन व्यतिक्रमो गम्यते । यथेष्टं चरन्—यो य इष्टो विषयस्तमुपयुञ्जानः । धुन्वन्—विध्वंसयन् । एतेनातिचारो लक्ष्यते । विश्वगित्यादि । एतेनानाचारोऽवसीयते ॥१७४॥

अथ चारित्रविनयं निर्दिशंस्तत्र प्रेरयति—

सदसत्स्वार्थकोपादिप्रणिधानं त्यजन् यतिः ।

भजन्समितिगुप्तीश्च चारित्रविनयं चरेत् ॥१७५॥

विशेषार्थ—संयमका स्वरूप इस प्रकार कहा है—व्रतोंका धारण, समितियोंका पालन, कषायोंका निग्रह, दण्ड अर्थात् मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिका त्याग और पाँचों इन्द्रियोंका जय, इसे संयम कहा है। जैसे धान्य खेतमें उत्पन्न होता है वैसे ही संयम आत्मामें उत्पन्न होता है। अतः संयमरूप धान्यकी उत्पत्तिके लिए आत्मा खेतके तुल्य है। धान्य जब पककर तैयार होता है तो उसमें अनाजके दाने भरे होते हैं और उससे वह बहुत सुन्दर लगता है। इसी तरह संयमकी आराधनाका फल सात प्रकारकी ऋद्धियाँ हैं। इन ऋद्धियोंसे वह अत्यन्त मनोरम होता है। वे ऋद्धियाँ इस प्रकार हैं—बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियालब्धि, औषध-ऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, अक्षीणऋद्धि ये सात ऋद्धियाँ कही हैं। इनका विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थवार्तिक (३।३६) में है किन्तु उसमें एक क्रिया नामकी ऋद्धि भी बतलायी है और इस तरह आठ ऋद्धियाँ कही है। इस संयमरूपी हरे-भरे खेतकी रक्षाके लिए शीलरूपी बाड़ी रहती है। किन्तु उच्छृंखल मनरूपी साँड़ इस हरे-भरे संयमरूपी धान्यको चर जाना चाहता है। यदि उसका दमन नहीं किया गया तो वह शीलरूपी बाड़ीको लाँघकर स्वच्छन्दतापूर्वक उसे चरता हुआ संयमरूपी धान्य सम्पदाको फलसे शून्य कर पूरी तरहसे उसे रौंद डालेगा। इसमें उच्छृंखल मनरूपी साँड़ संयमरूपी धान्यसमूहको खाना चाहता है इससे अतिक्रम सूचित होता है। शीलरूपी बाड़ीको लांघनेसे व्यतिक्रमका बोध होता है। यथेष्ट चरनेसे अतीचारका निश्चय होता है और सब ओरसे रौंद डालनेसे अनाचारका बोध होता है। इन चारोंके लक्षण इस प्रकार है—संयमके सम्बन्धमें मनकी शुद्धिकी विधिकी हानिको अतिक्रम, शीलकी बाड़के उल्लंघनको व्यतिक्रम, विषयोंमें प्रवृत्तिको अतीचार और उनमें अति आसक्तिको अनाचार कहते हैं ॥१७४॥

चारित्रविनयका स्वरूप दर्शाते हुए उसको पालनेकी प्रेरणा करते हैं—

इन्द्रियोंके इष्ट और अनिष्ट विषयोंमें राग-द्वेष करने और क्रोध आदि कषायरूप परिणमनका त्याग करते हुए तथा समिति और गुप्तियोंका पालन करते हुए साधुको चारित्र-की विनय करनी चाहिए ॥१७५॥

---

१. 'वद-समिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालणणिग्गह-चागजओ संजमो भणिओ' ॥—गो. जी. ४६४ गा. ।

सदसत्खार्थाः—इष्टानिष्टविषयाः। तेषु प्रणिधानं—रागद्वेषनिधानं क्रोधादिषु च परिणाममेतत्। चारित्रविनयं—व्रतान्येवात्र चारित्रम् ॥१७५॥

अथैदंयुगीनधुर्यस्य श्रामण्यप्रतिपत्तिनियमानुवादपुरस्सरं भावस्तवमाह—

सर्वावद्यनिवृत्तिरूपमुपगुर्वादाय सामायिकं,
यश्छेदैर्विधिवद् व्रतादिभिरुपस्थाप्याऽन्वयन्वेत्यपि।
वृत्तं बाह्य उतान्तरे कथमपि छेदेऽप्युपस्थापय-
त्येतिह्यानुगुणं धुरीणमिह नौम्यैदंयुगीनेषु तम् ॥१७६॥

सर्वावद्यनिवृत्तिरूपं—सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणम्। उपगुरु—दीक्षकाचार्यसमीपे। आदाय—सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणमेकं महाव्रतमधिरूढोऽस्मीति प्रतिपद्य। सामायिकं—समये एकत्वगमने भवम्। तदुक्तम्—

'क्रियते यदभेदेन व्रतानामधिरोपणम्।
कषायस्थूलतालीढः स सामायिकसंयमः ॥' [सं. पं. सं. २३९]

विशेषार्थ—यहाँ चारित्रसे व्रत लिये गये हैं। व्रतोंको निर्मल करनेका जो प्रयत्न किया जाता है वही चारित्रकी विनय है। उसीके लिए समिति और गुप्तिका पालन करते हुए इन्द्रियोंके इष्टविषयोंमें राग और अनिष्टविषयोंमें द्वेष नहीं करना चाहिए। तथा क्रोध, मान आदि कषाय और हास्य आदि नोकषायका कदाचित् उदय हो तो क्रोधादि नहीं करना चाहिए। यही चारित्रकी विनय है। इसीसे व्रत निर्मल होते हैं ॥१७५॥

आगे मुनिपद धारणके नियमोंका कथन करते हुए इस युगके साधुओंमें अग्रणी साधुका भावपूर्वक स्तवन करते हैं—

जो विधिपूर्वक दीक्षाचार्यके समीपमें सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप सामायिक संयमको स्वीकार करके और निर्विकल्प सामायिक संयमके भेदरूप पाँच महाव्रत और उनके परिकररूप तेईस मूलगुणोंमें यदि आत्मा प्रमादी होता है तो सामायिक संयमसे उतरकर छेदोपस्थापन संयमको भी धारण करता है। कदाचित् पुनः सामायिक संयमको धारण करता है और अज्ञान या प्रमादसे बाह्य अर्थात् द्रव्यहिंसारूप तथा अन्तर अर्थात् भावहिंसारूप छेदके होनेपर आगमके अनुसार छेदोपस्थापना धारण करता है। इस भरत क्षेत्रमें इस युगके साधुओंमें अग्रणी उस साधुको मैं नमस्कार करता हूँ—उसका स्तवन करता हूँ ॥१७६॥

विशेषार्थ—जो साधु होना चाहता है वह सबसे पहले अपने गुरुजनों, पत्नी, पुत्र आदिसे पूछकर उनकी स्वीकृति लेता है। उनके द्वारा मुक्त किये जानेपर कुल, रूप और वयसे विशिष्ट गुणवान् आचार्यके पादमूलमें नमस्कार करके उनसे अपनानेकी प्रार्थना करता है। यों सच्चे गुरु तो अर्हन्त देव ही हैं किन्तु दीक्षाकालमें निर्ग्रन्थ लिंगकी विधिको बतलाकर वे ही साधुपद स्वीकार कराते हैं इसलिए उन्हें व्यवहारमें दीक्षा-दाता कहा जाता है। पश्चात् सर्वसावद्ययोगके प्रत्याख्यानरूप एक महाव्रतको श्रवण करके आत्माको जानता हुआ सामायिक संयममें आरूढ़ होता है। सामायिक संयमका स्वरूप इस प्रकार है—बादर संज्वलन कषायके साथ जो व्रतोंको अभेदरूपसे धारण किया जाता है उसे सामायिक संयम कहते हैं।

१. णमनमित्यर्थ.—भ. कु. च.।

'विधिवत्' इत्यत्रापि योज्यम्। विधिर्यथा—श्रमणो भवितुमिच्छन् प्रथमं तावद् यथाजातरूपधरत्वस्य गमकं बहिरङ्गमन्तरङ्गं च लिङ्गं प्रथममेव गुरुणा परमेश्वरेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दीक्षकाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया संभाव्य तन्मयो भवति। ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तरपरमगुरुनमस्क्रियया संभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति। ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भगवन्तमात्मानं जानन् सामयिकमध्यारोहति। ततः प्रतिक्रमणालोचनप्रत्याख्यानलक्षणक्रियाश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भगवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमध्यारोहति। ततः त्रैकालिकधर्मेभ्यो विविच्यमानमात्मानं जानन्नतीतप्रत्युत्पन्नानुपस्थितकायवाङ्मनःकर्मविविक्तत्वमधिरोहति। ततः सर्वसावद्यकर्मायतनं कायमुत्सृज्य यथाजातरूपं स्वरूपमेकाग्रेणालम्ब्यव्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति। उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात् साक्षाच्छ्रमणो भवति। छेदैः—निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पैः। व्रतादिभिः—पञ्चभिर्महाव्रतैस्तत्परिकरभूतैश्च त्रयोविंशत्या समित्यादिभिर्मूलगुणैः। उपस्थाप्य—निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्तेषु प्रमादितमात्मानमारोप्य। अन्यत्—छेदोपस्थापनाख्यं चारित्रम्। अन्वेति—सामायिकादवतीर्णोऽनुवर्तते। केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयाङ्गुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्न पुनः सर्वथा कल्याणाभाव एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवतीत्यर्थः।

तथा चोक्तं प्रवचनसारचूलिकायाम्—

श्वेताम्बरीय विशेषावश्यक भाष्यमें कहा है—आत्मा ही सामायिक है क्योंकि सामायिक रूपसे आत्मा ही परिणत होता है। वही आत्मा सावद्ययोगका प्रत्याख्यान करता हुआ प्रत्याख्यान क्रियाके कालमें सामायिक होता है। उस सामायिकका विषय सभी द्रव्य हैं क्योंकि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियाके द्वारा सभी द्रव्योंका उपयोग होता है। जैसे हिंसा निवृत्तिरूप व्रतमें सभी त्रस और स्थावर जीव उसके विषय हैं क्योंकि उसमें सभीकी रक्षा की जाती है। इसी तरह असत्यनिवृत्तिरूप व्रतमें विषय सभी द्रव्य हैं क्योंकि सभी द्रव्योंके सम्बन्धमें असत्य न बोलना चाहिए इत्यादि। सामायिक संयममें आरूढ़ हुआ आत्मा प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यानके द्वारा मन, वचन, काय सम्बन्धी अतीत, वर्तमान और अनागत कर्मोंसे भिन्न आत्माको जानता है क्योंकि अतीत दोषोंकी निवृत्तिके लिए प्रतिक्रमण, वर्तमान दोषोंकी निवृत्तिके लिए आलोचना और अनागत दोषोंकी निवृत्तिके लिए प्रत्याख्यान किया जाता है। पश्चात् समस्त सावद्य कार्योंका स्थान जो अपना शरीर है उससे ममत्वको त्यागकर यथाजात रूप एकमात्र स्वरूपको एकाग्रतासे अवलम्बन करके सर्वत्र समदृष्टि होनेसे श्रमण हो जाता है। निर्विकल्प सामायिक संयमके भेद ही पाँच महाव्रत तथा उनके परिकररूप समिति आदि तेईस मूल गुण हैं। इन विकल्पोंमें अभ्यस्त न होनेसे यदि उनमें प्रमादवश दोष लगाता है तो छेदोपस्थापनारूप चारित्रवाला होता है। इसका आशय यह है कि स्वर्णका इच्छुक व्यक्ति स्वर्ण सामान्यको यदि कुण्डल या कटक या अँगूठी आदि किसी भी रूपमें पाता है तो उसे स्वीकार कर लेता है उन्हें छोड़ नहीं देता। इसी तरह निर्विकल्प सामायिक संयममें स्थिर न रहनेपर निर्विकल्प सामायिक संयमके जो छेद अर्थात् भेद हैं उनमें स्थित होकर

१. ज्ञानेन त्रैकालिक—भ. कु. च.।

२. 'आया खलु सामाइयं पच्चक्खायं तओ हवइ आया।
तं खलु पच्चक्खाणं आयाए सव्वदव्वाणं' ॥—वि. भा. २६३४ गा.।

'जहजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥'

मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं न परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जोण्हं ॥

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं नमंसिता ।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सगमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥' [गा. २०५-२०९ ।]

अपि—न केवलं छेदोपस्थापनमेवान्वेति किन्तु कदाचित्पुन सामायिकमप्यधिरोहतीत्यर्थ । बाह्ये—चेष्टामात्राधिकृते द्रव्यहिंसारूपे । आन्तरे—उपयोगमात्राधिकृते भावहिंसारूपे । कथमपि—अज्ञानेन प्रमादेन वा प्रकारेण । ऐतिह्यानुगुणं—आगमाविरोधेन इत्यर्थ. । उक्त च—

'व्रतानां छेदनं कृत्वा यदात्मन्यधिरोपणम् ।
शोधनं वा विलोपेन छेदोपस्थापनं मतम् ॥' [स प सं. २४० श्लो.]

इह—अस्मिन् भरतक्षेत्रे । ऐदंयुगीनेषु—अस्मिन् युगे साधुषु दुष्षमाकाले सिद्धिसाधकेष्वित्यर्थं । तं—सामायिकादवरुह्य छेदोपस्थापनमनुवर्तमान पुन. सामायिके वर्तमानं वा ॥१७६॥

छेदोपस्थापक हो जाता है। प्रवचनसारमें कहा भी है—'जन्मसमयके रूप जैसा नग्न दिगम्बर, सिर और दाढी-मूँछके बालोंका लोंच किया हुआ, शुद्ध, हिंसा आदिसे रहित, प्रतिकर्म अर्थात् शरीर संस्कारसे रहित बाह्य लिंग होता है। ममत्व भाव और आरम्भसे रहित, उपयोग और योगकी शुद्धिसे सहित, परकी अपेक्षासे रहित जैन लिंग मोक्षका कारण है। परम गुरुके द्वारा दिये हुए दोनों लिंगोंको ग्रहण करके, उन्हें नमस्कार करके, व्रत सहित क्रियाको सुनकर उपस्थित होता हुआ वह श्रमण होता है। पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँचों इन्द्रियोंका निरोध, केशलोंच, छह आवश्यक, नग्नता, स्नान न करना, भूमिशयन, दन्तधावन न करना, खड़े होकर भोजन, एक बार भोजन ये अट्ठाईस मूलगुण श्रमणोंके जिन-भगवान्ने कहे हैं। उनमें प्रमादी होता हुआ छेदोपस्थापक होता है। छेदोपस्थापनाके दो अर्थ हैं। यथा—व्रतोंका छेदन करके आत्मामें आरोपण करनेको अथवा व्रतोंमें दोष लगनेपर उसका शोधन करनेको छेदोपस्थापन कहते हैं। अर्थात् सामायिक संयममें दोष लगनेपर उस दोषकी विशुद्धि करके जो व्रतोंको पाँच महाव्रत रूपसे धारण किया जाता है वह छेदोपस्थापना है। सामायिक संयम सर्वसावद्यके त्यागरूपसे एक यम रूप होता है और छेदोपस्थापना पाँच यम रूप होता है। छेदोपस्थापनाके पश्चात् सामायिक संयम नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। पुनः सामायिक संयम हो सकता है। और पुनः दोष लगनेपर पुनः छेदोपस्थापना संयम होता है। जो सामायिक संयमके प्रदाता दीक्षा देनेवाले आचार्य होते हैं उन्हें गुरु कहते है। और छिन्न संयमका संशोधन करके जो छेदोपस्थापक होते हैं उन्हें निर्यापक कहते हैं ॥१७६॥

अथैवं चारित्रस्योद्योतनमभिधायेदानीं तदुद्य[तदुद्यम]नादिचतुष्टयाभिधानार्थमाह—

ज्ञेयज्ञातृतथाप्रतीत्यनुभवाकारैकदृग्बोधभाग्,
द्रष्टृज्ञातृनिजात्मवृत्तिवपुषं निष्पीय चर्यासुधाम्।
पक्तुं विभ्रदनाकुलं तदनुबन्धायेव कांचिद्विधिं,
कृत्वाप्यामृति यः पिबत्यधिकशस्तामेव देवः स वै ॥१७७॥

ज्ञेयेत्यादि—ज्ञेयैर्बोध्यैर्हेयोपादेयतत्त्वैरुपलक्षितो ज्ञाता शुद्धचिद्रूप आत्मा। अथवा ज्ञेयानि च ज्ञाता चेति द्वन्द्वः। तत्र तथा यथोपदिष्टत्वेन प्रतीतिः प्रतिपत्तिरनुभवश्चानुभूतिस्तावाकारौ स्वरूपे ययोरेकदृग्बोधयोः तात्त्विकसम्यक्त्वज्ञानयोस्तौ तथाभूतौ भजनम्। वृत्तिः—उत्पादव्ययध्रौव्यैकत्वलक्षणमस्तित्वम्। वपुः-स्वभावः। उक्तं च—

'जीवसहावं णाणं [1]अप्पडिदं दंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणिदं ॥' [पञ्चास्ति. १५४।]

इस प्रकार चारित्रके उद्योतनका कथन करके अब उसके उद्यमन आदि शेष चारका कथन करते हैं—

ज्ञेय और ज्ञातामें तथा प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन और तथा अनुभूतिरूप सम्यग्ज्ञानके साथ तादात्म्यका अनुभवन करनेवाला, द्रष्टा ज्ञातारूप निज आत्मामें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप वृत्ति ही जिसका स्वभाव है उस चारित्ररूपी अमृतको पीकर उसे पचानेके लिए निराकुल-भावको धारण करता हुआ, उस चारित्ररूपी अमृतके पानका अनुवर्तन करनेके लिए ही आगमविहित तीर्थयात्रा आदि व्यवहारको करके भी जो उसी चारित्ररूपी अमृतको अधिकाधिक पीता है वह निश्चित ही देव है—महान् पुरुषोंके द्वारा भी आराध्य है ॥१७७॥

विशेषार्थ—हेय-उपादेय तत्त्वोंको ज्ञेय कहते हैं और उनको जाननेवाले शुद्ध चिद्रूप आत्माको ज्ञाता कहते हैं। ज्ञेय और ज्ञातामें अथवा ज्ञेयसे युक्त ज्ञातामें सर्वज्ञ भगवान्‌के द्वारा जैसा कहा गया है और जैसा उनका यथार्थ स्वरूप है तदनुसार प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और तदनुसार अनुभूति होना सम्यग्ज्ञान है। ये दोनों ही आत्माके मुख्य स्वरूप हैं। अतः इन दोनोंको कथंचित् तादात्म्यरूपसे अनुभव करनेवाला उस चारित्ररूपी अमृतको पीता है जिसका स्वरूप है द्रष्टा-ज्ञातारूप निज आत्मामें लीनता। और उसे पीनेके बाद पचानेके लिए लाभ पूजा ख्यातिकी अपेक्षारूप क्षोभसे रहित निराकुल रहता है। लोकमें भी देखा जाता है कि लोग अमृत आहारको खाकर उसे पचानेके लिए सवारी आदिपर गमन नहीं करते। यहाँ चारित्ररूपी अमृतका पान करनेसे उद्यवन सूचित होता है और उसे पीकर निराकुल वहन करनेसे निर्वहण सूचित होता है तथा उस प्रकारके चारित्ररूपी अमृतके पानकी परम्पराको प्रवर्तित रखनेके लिए तीर्थयात्रा आदि व्यवहार धर्मको करनेसे निस्तरण सूचित होता है और उसी चारित्ररूप अमृतको अधिकाधिक पीनेसे साधन सूचित होता है।

इस तरह जो उद्यमन आदि चार चारित्राराधनाओंमें संलग्न होता है वह निश्चय ही देव है। कहा भी है—'तपसे हीन ज्ञान मान्य है और ज्ञानसे हीन तप पूज्य है। जिसके ज्ञान और तप दोनों होते हैं वह देव होता है और जो दोनोंसे रहित है वह केवल संख्या पूरी करनेवाला है।' सारांश यह है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन या ज्ञान

---

1. अप्पडिहद भ. कु. च.।

निष्पीय—अतिशयेन पीत्वा । एतेनोद्यवनं द्योत्यते । पक्तुं—परिणमयितुम् । अनाकुलं—लोभादिक्षोभरहितम् । एतेन निर्वहणं प्रतीयते । विधि—सूत्रोक्तं तीर्थगमनादिव्यवहारम् । आमृति—मरणावधि । एतेन निस्तरणं भण्यते । अधिकशः—अधिकमधिकम् । एतेन साधनमभिधीयते । देवः । उक्तं च—

'मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम् ।
द्वयं यस्य स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः ॥' [सो. उपा. ८१५ श्लो.]

सैषा चरणसिद्धिमूलशुद्धात्मद्रव्यसिद्धिप्रकाशना । यदाह—

'द्रव्यस्य[1] सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ॥'

[प्रवचनसार, चरणानुयोगचूलिका] ॥१७७॥

अथातश्चतुःश्लोक्या चारित्रमाहात्म्यं श्रोतुकामः प्रथमं तावत् प्ररोचनार्थमानुषङ्गिकमभ्युदयलक्षणं मुख्यं च निर्वाणलक्षणं तत्फलमासूत्रयति—

सद्दृग्ज्ञप्त्यमृतं लिहन्नहरहर्भोगेषु तृष्णां रहन्
वृत्ते यत्नमथोपयोगमुपयन्निर्मायमुन्मीलयन् ।
तत्किंचित् पुरुषश्चिनोति सुकृतं यत्पाकमूर्छन्नव-
प्रेमास्तत्र जगच्छ्रियश्चलदृशोऽपीर्ष्यन्ति मुक्तिश्रिये ॥१७८॥

और दर्शन जीवका स्वभाव है क्योंकि जीव ज्ञानदर्शनमय है और ज्ञानदर्शन जीवमय है। इसका कारण यह है कि सामान्य विशेष चैतन्य स्वभाव जीवसे ही वे निष्पन्न होते हैं। जीवके स्वभावभूत उन ज्ञान दर्शनमें नियत अवस्थित जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप अस्तित्व है जिसमें रागादि परिणामका अभाव है वह अनिन्दित चारित्र है। इसका स्पष्टीकरण इसी प्रकार है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन जीवका स्वभाव है क्योंकि सहज शुद्ध सामान्य विशेष चैतन्यात्मक जीवके अस्तित्वसे संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिके भेदसे भेद होनेपर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अभेद है। इस प्रकार पूर्वोक्त जीव स्वभावसे अभिन्न उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक निर्विकार अतएव अदूषित जो जीवके स्वभावमें नियतपना है वही चारित्र है क्योंकि स्वरूपमें चरणको चारित्र कहते है। पञ्चास्तिकायमें कहा भी है—संसारी-जीवोंमें दो प्रकारका चरित होता है—स्वचरित और परचरित। उनमेंसे जो स्व-स्वभावमें अवस्थित अस्तित्वरूप है जो कि परभावमें अवस्थित अस्तित्वसे भिन्न होनेके कारण अत्यन्त अनिन्दित है वही साक्षात् मोक्षमार्ग है अतः मुमुक्षुओंको उसीके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। यह चारित्रकी सिद्धि शुद्ध आत्म द्रव्यकी सिद्धिका मूल है—कहा है—'चारित्रकी सिद्धि होनेपर द्रव्यकी सिद्धि होती है और द्रव्यकी सिद्धि होनेपर चारित्रकी सिद्धि होती है। ऐसा जानकर कर्मोंसे अविरत दूसरे भी द्रव्यसे अविरुद्ध आचरण करें' ॥१७७॥

इस प्रकार उद्योतन आदि पाँच चारित्राराधनाओंका प्रकरण समाप्त हुआ।

अब यहाँसे चार श्लोकोंके द्वारा चारित्रका माहात्म्य कहना चाहते हैं। उनमें सबसे प्रथम चारित्रमें रुचि उत्पन्न करनेके लिए चारित्रका अभ्युदयरूप आनुषंगिक फल और निर्वाणरूप मुख्य फल बतलाते हैं—

भोगोंमें तृष्णारहित होकर निरन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूप अमृतका आस्वादन करनेवाला और सम्यक्चारित्रके विषयमें न केवल प्रयत्नशील किन्तु सदा उसका अनुष्ठान

१. 'द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिर्द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ'—प्रव. सार।

रहन्—त्यजन् । यत्नम्—उद्यमम् । उपयोगं—अनुष्ठानम् । एतेन चारित्रेऽन्तर्भूतं तपोऽपि व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम् । यदाहुः—

'चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणा य जो होइ ।
सो चेव जिणेहिं तओ भणिओ असढं चरंतस्स ॥' [भ. आ. १०]

मूर्छन्—वर्धमानम् । चलदृशे—कटाक्षान् मुञ्चत्यै निकटसंगमायै इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

'संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणपहाणादो ॥' [प्रवचनसार १।६ ।] ॥१७८॥

अथ सम्यक्चारित्राराधनावष्टम्भात् पुरातनानिहाऽपि क्षेत्रे निरपायपदप्राप्तानात्मनो भवापायसमुच्छेदं याचमानः प्राह—

करनेवाला तथा भूख-प्यास आदिकी परीषहोंको निष्कपट रूपसे सहन करनेवाला पुरुष कुछ ऐसे पुण्यकर्मका संचय करता है जिसके उदयसे सांसारिक सम्पत्तियोंका अनुराग उसके प्रति बढ़ जाता है और वे उस पुरुषपर केवल कटाक्षपात ही करनेवाली मुक्तिलक्ष्मीसे ईर्ष्या करने लगती हैं ॥१७८॥

विशेषार्थ—जो व्यक्ति भोगोंकी तृष्णाको त्याग कर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेके साथ सम्यक्चारित्रकी भी सतत आराधना करते हैं और परीषहोंको निष्कपट भावसे सहते हैं । ऐसा कहनेसे चारित्रमें अन्तर्भूत तपका भी ग्रहण होता है । भगवती आराधनामें कहा है–'उस चारित्रमें जो उद्योग और उपयोग होता है उसे ही जिनेन्द्रदेवने तप कहा है । जो सांसारिक सुखसे विरक्त होता है वही चारित्रमें प्रयत्नशील होता है । जिसका चित्त सांसारिक सुखमें आसक्त है वह क्यों चारित्र धारण करेगा ।' अतः बाह्य तप प्रारम्भिक चारित्रका परिकर होता है । क्योंकि बाह्य तपसे सब सुखशीलता छूट जाती है तथा पाँच प्रकारकी स्वाध्याय श्रुतभावना है, जो स्वाध्याय करता है वह चारित्ररूप परिणमता है । कहा है—श्रुत भावनासे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तप और संयमरूप परिणमन करता है । परिणामको ही उपयोग कहते है । अतः सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके साथ जो चारित्रमें उद्योग करता है और उपयोग लगाता है यद्यपि ऐसा वह मोक्षके लिए ही करता है फिर भी शुभराग होनेसे किंचित् पुण्यबन्ध भी होता है, उस पुण्यबन्धसे उसे सांसारिक सुख भी प्राप्त होता है । प्रवचनसारमें कहा है—दर्शनज्ञान प्रधान वीतराग चारित्रसे मोक्ष होता है और सराग चारित्रसे देवराज, असुरराज और चक्रवर्तीका वैभव प्राप्त करानेवाला बन्ध होता है । अर्थात् मुमुक्षुको नहीं चाहते हुए भी मोक्षलक्ष्मीसे पहले संसारलक्ष्मी प्राप्त होती है । इसपर ग्रन्थकार कहते हैं कि स्त्रियोंमें ईर्ष्या होती ही है । अतः उक्त पुरुषपर मुक्तिलक्ष्मीकी केवल दृष्टि पड़ते ही संसारलक्ष्मी ईर्ष्यावश कि इसे मुक्ति लक्ष्मी वरण न कर सके उसके पास आ जाती है । यदि वह पुरुष उसी संसारलक्ष्मीमें आसक्त हो जाता है तो मुक्तिलक्ष्मी उससे दूर हो जाती है और यदि उपेक्षा करता है तो मुक्तिलक्ष्मी निकट आ जाती है ॥१७८॥

इसी भरत क्षेत्रमें जो पूर्वमें सम्यक् चारित्रकी आराधनाके बलसे मोक्षपद प्राप्त कर चुके हैं उनसे अपने सांसारिक दुःखोंके विनाशकी याचना करते हैं—

---

१. 'सुदभावणाए णाणं दंसण तव संजमं च परिणमदि' ।—भ. आ. १९४ गा. ।

ते केनापि कृताऽऽजवञ्जवजयाः पुंस्पुङ्गवाः पान्तु मां
तान्युत्पाद्य पुराऽत्र पञ्च यदि वा चत्वारि वृत्तानि यैः ।
मुक्तिश्रीपरिरम्भशुम्भदसमस्वामानुभावात्मना
केनाऽप्येकतमेन वीतविपदि स्वात्माभिषिक्तः पदे ॥१७९॥

केन—शुद्धनिश्चयनयादव्यपदेशेनैकेनैवात्मना । अतिशब्दादशुद्धनिश्चयनयेन पुना रत्नत्रयेणापि । आजवञ्जवः—संसारः । पुंस्पुङ्गवाः—पुरुषोत्तमाः । तानि—प्रसिद्धानि सामायिकादीनि । तत्राद्ययोर्लक्षणं प्रागुक्तम् । त्रयाणां त्विदं यथा—

'त्रिंशद्वर्षवया वर्षपृथक्त्वेनास्थितो जिनम् ।
यो गुप्तिसमित्यासक्तः पापं परिहरेत् सदा ॥
स पञ्चैकयमोऽधीतप्रत्याख्यानो विहारवान् ।
स्वाध्यायद्वयसंयुक्तो गव्यूत्यर्द्धाध्वगो मुनिः ॥
मध्याह्नकृद्द्विगव्यूती गच्छन् मन्दं दिनं प्रति ।

जिन्होंने पूर्व युगमें इसी भरत क्षेत्रमे उन पूर्वोक्त पाँच चारित्रोंको अथवा उनमें-से चार चारित्रोंको धारण करके शुद्ध निश्चयनयसे व्यपदेशरहित एक आत्मासे ही और अशुद्ध निश्चयनयसे रत्नत्रयके द्वारा संसारका नाश किया और जीवन्मुक्तिरूपी लक्ष्मीके आलिंगन-से शोभायमान असाधारण शक्तिके माहात्म्यमय किसी अनिर्वचनीय परमोत्कृष्टके द्वारा अपनी आत्माको दुःखोंसे रहित मोक्षपदमे प्रतिष्ठित किया वे महापुरुष मेरी संसारके कष्टों-से रक्षा करें ॥१७९॥

विशेषार्थ—श्लोकमें 'केनापि' पद संसारको विनष्ट करनेके कारणरूपसे प्रयुक्त हुआ है। उसका अर्थ होता है 'किसीसे भी'। इससे बतलाया है कि उसका नाम नहीं लिया जा सकता। यह शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि है। क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्रके दशम अध्यायके अन्तिम सूत्रके सभी टीकाकारोंने कहा है कि प्रत्युत्पन्नग्राही नयकी अपेक्षा व्यपदेशरहित भावसे मुक्ति होती है[1]।

इसकी व्याख्या करते हुए भट्टाकलंकदेवने कहा[2] है—प्रत्युत्पन्नग्राही नयसे न तो चारित्रसे मुक्ति होती है न अचारित्रसे मुक्ति होती है किन्तु एक ऐसे भावसे मुक्ति होती है जो अनिर्वचनीय है। भूतपूर्व नयके दो भेद हैं—अनन्तर और व्यवहित। अनन्तरकी अपेक्षा यथाख्यात चारित्रसे मुक्ति होती है। व्यवहितकी अपेक्षा चार अर्थात् सामायिक छेदोपस्था-पक, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रसे या परिहारविशुद्धि सहित पाँच चारित्रोंसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इसीके अनुसार ऊपर 'केनापि' या चार अथवा पाँच चारित्रसे मुक्ति कही है। परिहारविशुद्धि संयम सभीके होना आवश्यक नहीं है अतः उसके बिना भी मुक्ति हो सकती है। हाँ, मुक्तिके समय जो चारित्र और अचारित्र दोनोंका ही निषेध करते

---

१. 'चारित्रेण केन सिद्ध्यति ? अव्यपदेशेनैकचतुःपञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः ।'—सर्वार्थ. टी. ।

२. 'प्रत्युत्पन्नावलेहिनयवशान्न चारित्रेण नाप्यचारित्रेण व्यपदेशरहितभावेन सिद्धिः । भूतपूर्वगतिर्द्विधा-अनन्तरव्यवहितभेदात् । आनन्तर्येण यथाख्यातचारित्रेण सिद्ध्यति । व्यवधानेन चतुर्भिः पञ्चभिर्वा । चतुर्भिस्तावत् सामायिकछेदोपस्थापनासूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातचारित्रैः । पञ्चभिस्तैरेव परिहारविशुद्धि-चारित्राधिकैः ।'—तत्त्वा. वार्तिक ।

कृतीक्षतकषायारिः स्यात्परिहारसंयमी ॥
सूक्ष्मलोभं विदन् जीवः क्षपकः शमकोऽपि वा ।
किंचिदूनो यथाख्याताद् स सूक्ष्मसांपरायकः ॥
सर्वकर्मप्रभौ मोहे शान्ते क्षीणेऽपि वा भवेत् ।
छद्मस्थो वीतरागो वा यथाख्यातयमी पुमान् ॥' [ ]

चत्वारि—परिहारविशुद्धिसंयमस्य केषाञ्चिदभावात् । स्थाम—शक्तिः । केनापि अनिर्वचनीयेन ॥१७९॥

अथ संयममन्तरेण कायक्लेशादितपोऽनुष्ठानं बन्धसहभाविनिर्जरानिबन्धनं स्यादिति सिद्धयर्थिभिरसावाराध्य इत्युपदिशति—

हुए व्यपदेशरहित अनिर्वचनीय भावसे मुक्ति बतलायी है वह अवश्य ही चिन्तनीय है। क्योंकि यथाख्यात चारित्र तो आत्मस्वभावरूप ही है फिर भी उसका मुक्तिमें निषेध किया है। इनमें-से दो चारित्रोंका स्वरूप तो पहले कहा है। शेष तीनोंका स्वरूप इस प्रकार है[2]—पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त जो पुरुष सदा सावद्य कार्योंका परिहार करता है और पाँच यमरूप या एक यमरूप संयमका धारक है वह परिहार विशुद्धि संयमी है। जो पुरुष तीस वर्षकी अवस्था तक गृहस्थाश्रममें सुखपूर्वक निवास करके दीक्षा लेता है और वर्षपृथक्त्व तक तीर्थंकरके पादमूलमें रहकर प्रत्याख्यान नामक पूर्वका पाठी होता है, तीनों सन्ध्याकालोंको बचाकर प्रतिदिन दो कोस विहार करता है वह परिहारविशुद्धि संयमी होता है। सूक्ष्म कृष्टिको प्राप्त लोभकषायके अनुभागके उदयको भोगनेवाला उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी वाला जीव सूक्ष्म साम्पराय संयमका धारक है। सूक्ष्म है कषाय जिसके उसे सूक्ष्म साम्पराय संयमी कहते हैं। यह यथाख्यात संयमसे किंचित् ही न्यून होता है। अशुभ मोहनीय कर्मके उपशम या क्षय होनेपर छद्मस्थ उपशान्त कषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती तथा सयोगी और अयोगी जिन यथाख्यात संयमी होते हैं, मोहनीयके उपशम या क्षयसे आत्मस्वभावरूप जैसी अवस्था है वैसा ही यह संयम जानना ॥१७९॥

संयमके बिना कायक्लेश आदि रूप तपके अनुष्ठानसे निर्जरा तो होती है किन्तु उसके साथ नवीन बन्ध भी होता है इसलिए सिद्धिके अभिलाषियोंको संयमकी आराधनाका उपदेश देते हैं—

---

१. कृषीकृत भ. कु. च. ।
२. 'पंच समिदो तिगुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं ।
पंचेक्कजमो पुरिसो परिहारयसंजदो सो हु ॥
तीसं वासो जम्मे वास पुधत्तं खु तित्थयरमूले ।
पच्चक्खाणं पढिदो संझूण दुगाउय विहारो ॥
अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहुमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥
उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि ।
छदुमट्ठो व जिणो वा जहखादो संजदो सो दु ॥—गो. जीव. ४७१–७४ गा. ।

तपस्यन् यं विनात्मानमुद्वेष्टयति वेष्टयन् ।
मन्थं नेत्रमिवाराध्यो धीरैः सिद्धयै स संयमः ॥१८०॥

तपस्यन्—आतापनादिकायक्लेशलक्षणं तपः कुर्वन् । यं विना—हिंसादिषु विषयेषु च प्रवृत्त्यर्थः । उद्वेष्टयति । वेष्टयन्—बन्धसहभाविनी निर्जरां करोतीत्यर्थः । संयमः निश्चयेन रत्नत्रययौगपद्यैकप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षणो व्यवहारेण तु प्राणिरक्षणेन्द्रिययन्त्रणलक्षण ॥१८०॥

अथ तपस्यतोऽपि संयमं विनाऽपगतात्कर्मणो बहुतरस्योपादानं स्यादिति प्रदर्शयन् संयमाराधनां प्रति सुतरां साधूनुद्यमयितुं तत्फलं पूजातिशयसमग्रं त्रिजगदनुग्राहकत्वं तेषामुपदिशति—

कुर्वन् येन विना तपोऽपि रजसा भूयो हृताद्भूयसा
स्नानोत्तीर्ण इव द्विपः स्वमपधीरुद्धूलयत्युद्धुरः ।
यस्तं संयममिष्टदैवतमिवोपास्ते निरीहः सदा
किं कुर्वाणमरुद्गणः स जगतामेकं भवेन्मङ्गलम् ॥१८१॥

रजसा—पापकर्मणा रेणुना च । हृताद्—अपनीताद् द्रव्यकर्मणो रेणोश्च । भूयसा—बहुतरेण । उद्धुरः—मदोद्रिक्तः । उक्तं च—

'सम्माइट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होइ ।
होदि खु हत्थिण्हाणं चुंद छुदगं वतं तस्स ॥' [भ. आ. ७ गा]

जैसे मथानीकी रस्सी मथानीको बाँधती भी है और खोलती भी है उसी प्रकार संयमके बिना अर्थात् हिंसादिमें और विषयोंमें प्रवृत्तिके साथ कायक्लेशरूप तपको करनेवाला जीव भी बन्धके साथ निर्जरा करता है। इसलिए धीर पुरुषोंको उस संयमकी आराधना करनी चाहिए ॥१८०॥

विशेषार्थ—निश्चयसे रत्नत्रयमें एक साथ प्रवृत्त एकाग्रताको संयम कहते हैं और व्यवहारमें प्राणियोंकी रक्षा और इन्द्रियोंके नियन्त्रणको संयम कहते हैं। दोनों संयम होनेसे ही संयम होता है। अतः व्यवहार संयमपूर्वक निश्चय संयमकी आराधना करनी चाहिए तभी तपस्या भी फलदायक होती है ॥८०॥

संयमके बिना तप करनेपर भी जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे अधिक कर्मोंका संचय होता है, इस बातको दिखाते हुए साधुओंको स्वयं संयमकी आराधनामें तत्पर करनेके लिए संयमका फल बतलाते हैं—

जिस संयमके बिना तपश्चरण भी करनेवाला मदमत्त दुर्बुद्धि पुरुष स्नान करके निकले हुए हाथीकी तरह निर्जीण कर्मोंसे भी अधिक बहुतसे नवीन पाप कर्मोंसे अपनेको लिप्त कर लेता है, उस संयमकी जो सदा लाभादिकी अपेक्षा न रखकर इष्टदेवताकी तरह उपासना करता है वह संसारके प्राणियोंके लिए उत्कृष्ट मंगलरूप होता है अर्थात् उसके निमित्तसे संसारके प्राणियोंके पापोंका क्षय और पुण्यका संचय होता है। तथा इन्द्रादि देवता उसकी सेवामें उपस्थित रहते हैं ॥१८१॥

विशेषार्थ—जैसे हाथी सरोवरमें स्नान करके बाहर निकलनेपर जलसे जितनी धूल दूर हो जाती है उससे भी अधिक धूल अपने ऊपर डाल लेता है, उसी तरह असंयमी मनुष्य

किं कुर्वाणमरुद्गणः—किं करोमीत्यादेशप्रार्थनापरशक्रादिदेवनिकायः । एकं—उत्कृष्टं मुख्यमित्यर्थः । मंगलं—पापक्षपणपुण्यप्रदाननिमित्तमित्यर्थः ॥१८१॥

अथ तपसश्चारित्रेऽन्तर्भावमुपपादयन्नाह—

कृतसुखपरिहारो वाहते यच्चरित्रे
न सुखनिरतचित्तस्तेन बाह्यं तपः स्यात् ।
परिकर इह वृत्तोपक्रमेऽन्यत्तु पापं
क्षिपत इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्तः ॥१८२॥

वाहते—प्रयतते । तेनेत्यादि । तदुक्तम्—

बाहिरतवेण होइ खु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता । [भ. आ. २३७ ।]

परिकरः—परिकर्म । अन्यत्—अभ्यन्तरं तपः क्षिपते—उपात्तं विनाशयति अपूर्वं निरुणद्धि च । तदेव—वृत्तमेव ॥१८२॥

अथोक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

त्यक्तसुखोऽनशनादिभिरुत्सहते वृत्त इत्यघं क्षिपति ।
प्रायश्चित्तादीत्यपि वृत्तेऽन्तर्भवति तप उभयम् ॥१८३॥

स्पष्टमिति भद्रम् ॥१८३॥

तपस्याके द्वारा जितनी कर्मोंकी निर्जरा करता है उससे भी अधिक कर्मबन्ध कर लेता है। भगवती आराधनामें कहा भी है—असंयमी सम्यग्दृष्टिका भी तप महान् उपकारी नहीं होता। उसका वह तप हस्तिस्नान और मथानीकी रस्सीकी तरह होता है ॥१८१॥

तपके चारित्रमें अन्तर्भावकी उपपत्ति बतलाते हैं—

यतः शारीरिक सुखका परित्याग करनेवाला व्यक्ति चारित्रमें यत्नशील होता है। जिसका चित्त शारीरिक सुखमें आसक्त है वह चारित्रमें यत्नशील नहीं होता। इसलिए बाह्य तप चारित्रके इस उपक्रममें उसीका अंग है। और अभ्यन्तर तप तो चारित्र ही है क्योंकि पूर्वबद्ध पापकर्मका नाश करता है और नवीन बन्धको रोकता है। अतः दोनों ही प्रकारका तप चारित्रमें गर्भित होता है ॥१८२॥

विशेषार्थ—तपके दो भेद हैं—अन्तरंग और बाह्य। ये दोनों ही चारित्रमें अन्तर्भूत होते हैं। उनमें-से अनशन आदि रूप बाह्य तप तो इसलिए चारित्रका अंग है कि उसका सम्बन्ध विशेष रूपसे शारीरिक सुखके प्रति अनासक्तिसे है। शारीरिक सुखमें आसक्त व्यक्ति भोजन आदिका त्याग नहीं कर सकता और ऐसी स्थितिमें वह चारित्र धारण करनेके लिए उत्सुक नहीं हो सकता। तथा अन्तरंग तप तो मनका नियमन करनेवाला होनेसे चारित्र रूप ही है। चारित्रका मतलब ही स्वरूपमें चरणसे है। इन्द्रियजन्य सुखसे आसक्ति हटे बिना स्वरूपमें रुचि ही नहीं होती प्रवृत्ति तो दूरकी बात है ॥१८२॥

आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—

शारीरिक सुखसे विरक्त साधु अनशन आदिके द्वारा चारित्र धारण करनेमें उत्साहित होता है और प्रायश्चित्त आदि तप पापको नष्ट करता है अतः दोनों ही प्रकारका तप चारित्रमें अन्तर्भूत होता है ॥१८३॥

इत्याशाधरदृब्धायां स्वोपज्ञधर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां
चतुर्थोऽध्यायः ।

१ अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणमेकादशशतानि । अङ्कतः ११०० ।
स्वस्ति स्तात् समस्तजिनशासनाय ।

इस प्रकार पं. आशाधर विरचित अनगार धर्मामृतकी भव्य कुमुदचन्द्रिका तथा ज्ञानदीपिका नामक पंजिकानुसारिणी भाषाटीकामें सम्यक् चारित्राराधना नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

पंचम अध्याय

अथैवं सम्यक्चारित्राराधना व्याख्यायेदानी विघ्नाङ्गारादीत्याद्येषणासमितिसूत्राङ्गभूताम्—

> 'उद्गमोत्पादनाहारः संयोगः सप्रमाणकः ।
> अङ्गारभूमौ हेतुश्च पिण्डशुद्धिर्मताष्टधा ॥' [ ]

इत्यष्टप्रकारा पिण्डशुद्धिमभिधातुकामः प्रथमं तावत् पिण्डस्य सक्षेपतो विधिनिषेधमुखेनायोग्यत्वे (न योग्यायोग्यत्वे) निर्दिशति—

> **षट्चत्वारिंशता दोषैः पिण्डोऽधःकर्मणा मलैः ।**
> **द्विसप्तैश्चोज्झितोऽविघ्नं योज्यस्त्याज्यस्तथार्थतः ॥१॥**

द्विसप्तै.—चतुर्दशभि. । द्वि सप्तेति विगृह्य 'सख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' ... 'सख्यावाड्डो बहुगणात्' इति ड' । अविघ्नं—विघ्नानामन्तरायाणामभावे सत्यभावेन वा हेतुना । अर्थतः—निमित्तं प्रयोजनं चाश्रित्य ॥१॥

इस प्रकार चतुर्थ अध्यायमें सम्यक्चारित्राराधनाका कथन करके एषणा समितिकी अंगभूत आठ प्रकारकी पिण्ड शुद्धिको कहना चाहते हैं। वे आठ पिण्डशुद्धियाँ इस प्रकार हैं—

[1]उद्गम शुद्धि, उत्पादन शुद्धि, आहार शुद्धि, संयोग शुद्धि, प्रमाण शुद्धि, अंगार शुद्धि, धूम शुद्धि और हेतु शुद्धि ।

किन्तु इनके कथनसे पूर्व संक्षेपसे पिण्डकी योग्यता और अयोग्यताका विधिमुख और निषेधमुखसे निर्देश करते हैं—

निमित्त और प्रयोजनके आश्रयसे छियालीस दोषोंसे, अधःकर्मसे और चौदह मलोंसे रहित आहार अन्तरायोंको टालकर ग्रहण करना चाहिए तथा यदि ऐसा न हो तो उसे छोड़ देना चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ—पिण्डका अर्थ आहार है। जो आहार छियालीस दोषोंसे अधःकर्मसे और चौदह मलोंसे रहित होता है वह साधुओंके ग्रहण करनेके योग्य होता है। साधु ऐसे निर्दोष आहारको भोजनके अन्तरायोंको टालकर ही स्वीकार करते हैं। उनमें सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादन दोष, दस शंकित आदि दोष, चार अंगार, धूम, संयोजन और प्रमाण दोष ये सब छियालीस दोष हैं। अधःकर्मका लक्षण आगे कहेंगे। चौदह मल हैं। यदि इनमें-से कोई दोष हो तो साधु उस आहारको ग्रहण नहीं करते। जो नियम आहारके विषयमें है वही औषध आदिके भी सम्बन्धमें जानना चाहिए ॥१॥

---

१ 'पिंडे उग्गम उप्पायणेसणा संजोयणा पमाणं च ।
इंगालधूमकारण अट्ठविहा पिंड निज्जुत्ती' ॥११॥—पिण्ड निर्युक्ति । मूलाचार ६।२ ।

अथोद्गमोत्पादनदोषाणा स्वरूपसंख्यानिश्चयार्थमाह—

दातुः प्रयोगा यत्यर्थे भक्तादौ षोडशोद्गमाः ।
औद्देशिकाद्या धात्र्याद्याः षोडशोत्पादना यतेः ॥२॥

प्रयोगाः—अनुष्ठानविशेषा । भक्तादौ—आहारौषधवसत्युपकरणप्रमुखे देयवस्तुनि । यतेः प्रयोगा इत्येव ॥२॥

अथापरदोषोद्देशार्थमाह—

शङ्किताद्या दशान्नेऽन्ये चत्वारोऽङ्गारपूर्वकाः ।
षट्चत्वारिंशवन्योऽधः कर्म सूनाङ्गिहिंसनम् ॥३॥

षट्चत्वारिंशत् पिण्डदोषेभ्योऽन्यो—भिन्नोऽयं दोषो महादोषत्वात् । सूनाङ्गिहिंसनम्—सूनाश्चुल्ल्याद्याः पञ्च हिंसास्थानानि ताभिरङ्गिनां षट्जीवनिकायाना हिंसनं दुःखोत्पादन मारणं वा । अथवा शूनाश्चाङ्गिहिंसनं चेति ग्राह्यम् । एतेन वसत्यादिनिर्माणसस्कारादिनिमित्तमपि प्राणिपीडनमध कर्मेवेत्युक्तं स्यात् । तदेतदध कर्म गृहस्थाश्रितो निकृष्टव्यापार । अथवा सूनाभिरङ्गिहिंसनं यत्रोत्पाद्यमाने भक्तादौ तदध-कर्मेत्युच्यते, कारणे कार्योपचारात् । तथात्मना कृत परेण वा कारितं, परेण वा कृतमात्मनानुमत दूरतः सयतेन त्याज्यम् । गार्हस्थ्यमेतद् वैयावृत्यादिविमुक्तमात्मभोजननिमित्तं यद्येतत् कुर्यात् तदा न श्रमण किन्तु गृहस्थ स्यात् । उक्तं च—

छज्जीवनिकायाणं विराहणोद्दावणेहि णिप्पण्णं ।
आधाकम्मं णेय सयपरकदमादसंपण्णं ॥ [मूलाचार, गा ४२४] ॥३॥

आगे उद्गम और उत्पादन दोषोंका स्वरूप तथा संख्या कहते हैं—

यतिके लिए देय आहार, औषध, वसति और उपकरण आदि देनेमें दाताके द्वारा किये जानेवाले औद्देशिक आदि सोलह दोषोंको उद्गम दोष कहते हैं । तथा यतिके द्वारा अपने लिए भोजन बनवाने सम्बन्धी धात्री आदि दोषोंको उत्पादन दोष कहते हैं । उनकी संख्या भी सोलह है । अर्थात् उद्गम दोष भी सोलह हैं और उत्पादन दोष भी सोलह है । उद्गम दोषोंका सम्बन्ध दातासे है और उत्पादन सम्बन्धी दोषोंका सम्बन्ध यतिसे है ॥२॥

शेष दोषोंको कहते हैं—

आहारके सम्बन्धमें शंकित आदि दस दोष हैं तथा इन दोषोंसे भिन्न अंगार आदि चार दोष हैं । इस तरह सब छियालीस दोष हैं । इन छियालीस दोषोंसे भिन्न अधःकर्म नामक दोष है । चूल्हा, चक्की, ओखली, बुहारी और पानीकी घडोची ये पाँच सूनाएँ है । इनसे प्राणियोंकी हिंसा करना अधःकर्म नामक महादोष है ॥३॥

विशेषार्थ—भोजन सम्बन्धी अधःकर्म नामक दोषसे यह फलित होता है कि वसति आदिके निर्माण या मरम्मत आदिके निमित्तसे होनेवाली प्राणिपीड़ा भी अधःकर्म ही है । इसीसे अधोगतिमें निमित्त कर्मको अधःकर्म कहते हैं, यह सार्थक नाम सिद्ध होता है । यह अधःकर्म गृहस्थोचित निकृष्ट व्यापार है । अथवा जहाँ बनाये जानेवाले भोजन आदिमें सूनाओंके द्वारा प्राणियोंकी हिंसा होती है वह अधःकर्म है । यहाँ कारणमें कार्यका उपचार है । ऐसा भोजन स्वयं किया हो, दूसरेसे कराया हो, या दूसरेने किया हो और उसमें अपनी अनुमति हो तो मुनिको दूरसे ही त्याग देना चाहिए । यह तो गृहस्थ अवस्थाका काम है । यदि कोई मुनि अपने भोजनके लिए यह सब करता है तो वह मुनि नहीं है, गृहस्थ है ।

अथोद्गमोत्पादनानामन्वर्थता कथयति—

भक्ताद्युद्गच्छत्यपथ्यैर्यैरुत्पाद्यते च ते ।
दातृयत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात् ॥४॥

उद्गच्छति—उत्पद्यते, अपथ्यैः—मार्गविरोधिभि. दोषत्वं चैषामधःकर्मांशसंभवात् ॥४॥

अथोद्गमभेदानामुद्देशानुवादपुर.सरं दोषत्वं समर्थयितु श्लोकद्वयमाह—

उद्दिष्टं साधिकं पूति मिश्रं प्राभृतकं बलिः ।
न्यस्तं प्रादुष्कृतं क्रीतं प्रामित्यं परिवर्तितम् ॥५॥
निषिद्धाभिहृतोद्भिन्नाच्छेद्यारोहास्तथोद्गमाः ।
दोषा हिंसानादरान्यस्पर्शदैन्यादियोगतः ॥६॥

प्रादुष्कृतं—प्रादुष्कराख्यम् ॥५॥ अन्यस्पर्शः—पार्श्वस्थपाषण्डादिच्छुप्ति. (-दिक्षुप्तम्) । दैन्यादिः—आदिशब्दात् विरोधकारुण्याकीर्त्यादि ॥६॥

अथौद्देशिक सामान्यविशेषाभ्या निर्दिशति—

तदौद्देशिकमन्नं यद्देवतादीनलिङ्गिनः ।
सर्वपाषण्डपार्श्वस्थसाधून् वोद्दिश्य साधितम् ॥७॥

मूलाचारमें कहा है—पृथिवीकायिक, जलकायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवोंकी विराधना अर्थात् दुःख देना और मारनेसे निष्पन्न हुआ आहारादि अधःकर्म है। वह स्वकृत हो, या परकारित हो या अनुमत हो। ऐसा भोजनादि यदि अपने लिए प्राप्त हो तो साधुका दूरसे ही त्यागना चाहिए ॥३॥

आगे उद्गम और उत्पादन शब्दोंको अन्वर्थ बतलाते हैं—

दाताकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंके द्वारा आहारादि उत्पन्न होता है उन क्रियाओंको क्रमसे उद्गम कहते है। और साधुकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंके द्वारा आहार आदि उत्पन्न किया जाता है उन क्रियाओंको उत्पादन कहते है ॥४॥

विशेषार्थ—दाता गृहस्थ पात्र यतिके लिए आहार आदि बनाता है। उसके बनानेमें गृहस्थकी मार्ग विरुद्ध क्रियाओंको उद्गम दोष कहते है और साधुकी मार्गविरुद्ध क्रियाओंको उत्पादन दोष कहते हैं। जो बनाता है और जिसके लिए बनाता है इन दोनोंकी मार्गविरुद्ध क्रियाएँ क्रमसे उद्गम और उत्पादन कही जाती है ॥४॥

आगे उद्गमके भेदोंके नामोंका कथन करनेके साथ उनमें दोषपनेका समर्थन दो श्लोकोंसे करते है—

उद्दिष्ट अर्थात् औद्देशिक, साधिक, पूति, मिश्र, प्राभृतक, बलि, न्यस्त, प्रादुष्कृत या प्रादुष्कर, क्रीत, प्रामित्य, परिवर्तित, निषिद्ध, अभिहृत, उद्भिन्न, अच्छेद्य और आरोह ये सोलह उद्गम दोष है। इनमें हिंसा, अनादर, अन्यका स्पर्श, दीनता आदिका सम्बन्ध पाया जाता है इसलिए इनको दोष कहते है ॥५-६॥

आगे सबसे पहले औद्देशिकका सामान्य और विशेष रूपसे कथन करते हैं—

जो भोजन नाग-यक्ष आदि देवता, दीनजनों और जैन दर्शनसे बहिर्भूत लिंगके धारी साधुओंके उद्देशसे अथवा सभी प्रकारके पाखण्ड, पार्श्वस्थ, निर्ग्रन्थ आदिके उद्देशसे बनाया गया हो वह औद्देशिक है ॥७॥

देवता:—नागयक्षादय.। दीना.—कृपणाः। लिङ्गिन:—जैनदर्शनबहिर्भूतानुष्ठानाः पाषण्डा.। सर्वे—अविशेषेण गृहस्थपाषण्डादय । साधवः—निर्ग्रन्थाः। उद्दिश्य—निमित्तीकृत्य । सर्वाद्युद्देशेन च कृतमन्नं क्रमेणोद्देशादि(-भेदा-)च्चतुर्धा स्यात्। तथाहि—यः कश्चिदायास्यति तस्मै सर्वस्मै दास्यामीति सामान्योद्देशेन साधितमुद्देश इत्युच्यते। एव पाषण्डानुद्दिश्य साधित समुद्देशः, पार्श्वस्थानादेश., साधूंश्च समादेश इति ॥७॥

अथ साधितं द्विधा लक्षयति—

स्याद्दोषोऽध्यधिरोधो यत्स्वपाके यतिदत्तये ।
प्रक्षेपस्तण्डुलादीनां रोधो वाऽऽपचनाद्यतेः ॥८॥

स्वपाके—स्वस्य दातुरात्मनो निमित्तं पच्यमाने तण्डुलादिधान्ये जले.वाऽधिश्रिते। आपचनात्—पाकान्त यावत् ॥८॥

अथाप्रासुकमिश्रणपूति[1]कंसकल्पनाभ्या द्विविध पूतिदोषमाह—

पूति प्रासु यदप्रासुमिश्रं योज्यमिदं कृतम् ।
नेदं वा यावदार्येभ्यो नादायीति च कल्पितम् ॥९॥

विशेषार्थ—मूलाचार (४२६ गा) में औद्देशिकके चार भेद किये है—उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश। जो कोई भी आयेगा उन सबको दूँगा, इस प्रकार सामान्य उद्देशसे साधित भोजन उद्देश है। इसी तरह पाखण्डीके उद्देशसे बनाया गया भोजन समुद्देश है। श्रमणोंके उद्देशसे बनाया गया भोजन आदेश है और निर्ग्रन्थोंके उद्देशसे बनाया गया भोजन समादेश है। श्वे. पिण्डनियुक्तिमें भी ये भेद है। इतना ही नहीं, किन्तु मूलाचार गा. २६ और पिण्ड निर्युक्ति गा. २३० भी समान है। पिण्ड निर्युक्तिमें औद्देशिकके अन्य भी भेद किये हैं ॥७॥

दूसरे भेद साधिकका स्वरूप दो प्रकारसे कहते है—

अपने लिए पकते हुए चावल आदिमें या अदहनके जलमें 'मैं आज मुनिको आहार दूँगा' इस संकल्पके साथ चावल आदि डालना अध्यधिरोध नामक दोष है। अथवा अन्न पकनेतक पूजा या धर्म सम्बन्धी प्रश्नोंके बहानेसे साधुको रोके रखना अध्यधिरोध नामक दोष है ॥८॥

विशेषार्थ—साधिक दोषका दूसरा नाम अध्यधिरोध है। पिण्ड निर्युक्तिमें इसका नाम अध्यवपूरक है। अपने लिए भोजन पकानेके उद्देश्यसे आगपर पानी रखा या चावल पकनेको रखे। पीछे मुनिको दान देनेके विचारसे उस जलमें अधिक जल डालना या चावलमें अतिरिक्त चावल डालना साधिक या अध्यधिरोध दोष है। अथवा भोजनके पकनेमें विलम्ब देखकर धर्मचर्चाके बहानेसे भोजनके पकनेतक साधुको रोके रखना भी उक्त दोष है ॥८॥

दो प्रकारके पूति दोषको कहते हैं—

पूति दोषके दो प्रकार हैं—अप्रासुमिश्र और कल्पित। जो द्रव्य स्वरूपसे प्रासुक है उसमें अप्रासुक द्रव्य मिला देना अप्रासुकमिश्र नामक प्रथम पूति दोष है। तथा इस चूल्हेपर

---

१. तिकर्मक—भ. कु. च.।

प्रासु—स्वरूपेण प्रासुकमपि वस्तु पूति अप्रासुमिश्रम् । अयमाद्यः पूतिभेदः । इदं कृतं—अनेन चुल्ल्यादिना अस्मिन् वा साधितं इदं भोजनगन्धादि । तथाहि—अस्यां चुल्ल्यां भोजनादिकं निष्पाद्य यावत् साधुभ्यो न दत्तं तावदात्मन्यन्यत्र वा नोपयोक्तव्यमिति पूतिकर्मकल्पनाप्रभव एकः पूतिदोषः । एवमुदूखलदर्वीपात्रशिलास्वपि कल्पनया चत्वारोऽन्येऽप्यूह्या । उक्तं च—

'मिश्रमप्रासुना प्रासु द्रव्यं पूतिकमिष्यते ।
चुल्लिकोदूखलं दर्वीपात्रगन्धौ च पञ्चधा ॥' [ ]

गन्धोऽत्र शिला । इदं चेति टीकामतसंग्रहार्थमुक्तम् । तथाहि—

'यावदिदं भोजनं गन्धो वा ऋषिभ्यो नादायि न तावदात्मन्यन्यत्र वा कल्पते' ।

उक्त च—

'अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूतिकम्मं तु ।
चुल्ली य उखुली दव्वी भोयणगधत्ति पंचविहं ॥' [मूलाचार ४२८ गा.] ॥९॥

अथ मिश्रदोषं लक्षयति—

बनाया गया यह भोजन जबतक साधुको न दिया जाये तबतक कोई इसका उपयोग न करे, यह कल्पित नामका दूसरा पूति दोष है ॥९॥

विशेषार्थ—मूलाचारकी संस्कृत टीकामें इस दोषका स्वरूप इस प्रकार कहा है—अप्रासुक अर्थात् सचित्त आदिसे मिला हुआ आहार आदि पूति दोष है। उसके पाँच भेद हैं—चूल्हा, ओखली, दर्वी, भाजन और गन्ध। चूल्हेपर भात वगैरह पकाकर पहले साधुओंको दूँगा पीछे दूसरोंको, ऐसा संकल्प करनेसे प्रासुक भी द्रव्य पूति कर्मसे निष्पन्न होनेसे पूति दोषसे युक्त कहा जाता है। इसी तरह इस ओखलीमें कूटकर अन्न जबतक ऋषियोंको नहीं दूँगा तबतक न मैं स्वयं लूँगा न दूसरोंको दूँगा। इस प्रकार निष्पन्न प्रासुक भी द्रव्य पूति कहाता है। तथा इस करछुलसे निष्पन्न द्रव्य जबतक यतियोंको नहीं दूँगा तबतक यह न मेरे योग्य है न दूसरोंके, यह भी पूति दोष है। तथा इस भाजनसे निष्पन्न द्रव्य जबतक ऋषियोंको नहीं दूँगा तबतक न अपने योग्य है न दूसरोंके, वह भी पूति दोष है। तथा यह गन्ध जबतक भोजनपूर्वक ऋषियोंको न दी जाये तबतक न मैं लूँगा न दूसरोंका दूँगा, इस प्रकारके हेतुसे निष्पन्न भात वगैरह पूति कर्म है।

श्वे पिण्डनिर्युक्तिमें पूतिकर्मके द्रव्य और भावसे दो भेद किये हैं। जो द्रव्य स्वभावसे गन्ध आदि गुणसे युक्त है, पीछे यदि वह अशुचि गन्धवाले द्रव्यसे युक्त हो तो उसे द्रव्य पूति कहते हैं। चूल्हा, ओखली, बड़ी करछुल, छोटी करछुल ये यदि अधःकर्म दोषसे युक्त हो तो इनसे मिश्रित भोजन शुद्ध होनेपर भी पूति दोषसे युक्त होता है। यह भाव पूति है। इत्यादि विस्तृत कथन है ॥९॥

मिश्र दोषका लक्षण कहते हैं—

---

१ इदं वेत्याचारटी—भ. कु. च. ।

२. 'अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूतिकम्मं तु ।
चूल्लि उक्खली दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं' ॥ —पिण्डशुद्धि, ९ गा. ।

पाषण्डिभिर्गृहस्थैश्च सह दातुं प्रकल्पितम् ।
यतिभ्यः प्रासुकं-सिद्धमप्यन्नं मिश्रमिष्यते ॥१०॥

सिद्धं—निष्पन्नम् ॥१०॥

अथ कालवृद्धिहानिभ्यां द्वैविध्यमवलम्बमानं स्थूलं सूक्ष्मं च प्राभृतकं च सूचयति—

यद्दिनादौ दिनांशे वा यत्र देयं स्थितं हि तत् ।
प्राग्दीयमानं पश्चाद्वा ततः प्राभृतकं मतम् ॥११॥

दिनादौ—दिने पक्षे मासे वर्षे च । दिनांशे—पूर्वाह्णादौ । स्थित—आगमे व्यवस्थितम् । हि—नियमेन । प्रागित्यादि । तथाहि—यच्छुक्लाष्टम्यां देयमिति स्थितं तदपकृष्य शुक्लपञ्चम्यां यद्दीयते, यच्च चैत्रस्य सिते पक्षे देयमिति स्थित तदपकृष्य कृष्णे यद्दीयते इत्यादि तत्सर्वं कालहानिकृतं बादरं प्राभृतकम् । तथा यच्छुक्लपञ्चम्यां देयमिति स्थितं तदुत्कृष्य शुक्लाष्टम्यां यद्दीयते, यच्च चैत्रस्य कृष्णे पक्षे देयमिति स्थितं तदुत्कृष्य शुक्ले यद्दीयते इत्यादि, तत्सर्वं कालवृद्धिकृतं बादरं प्राभृतकम् । तथा यद् मध्याह्ने देयमिति स्थितं

पाषण्डी और गृहस्थोंके साथ यतियोंको भी यह भोजन मिश्र दोषसे युक्त माना जाता है ॥१०॥

विशेषार्थ—पिण्डनिर्युक्ति (गा. २७१ आदि) में मिश्रके तीन भेद किये हैं—जितने भी गृहस्थ या अगृहस्थ भिक्षाके लिए आयेंगे उनके लिए भी पर्याप्त होगा और कुटुम्बके लिए भी, इस प्रकारकी बुद्धिसे सामान्य-से भिक्षुओंके योग्य और कुटुम्बके योग्य अन्नको एकत्र मिलाकर जो पकाया जाता है वह यावदर्थिक मिश्रजात है । जो केवल पाखण्डियोंके योग्य और अपने योग्य अन्न एकत्र पकाया जाता है वह पाखण्डिमिश्र है । जो केवल साधुओंके योग्य और अपने योग्य अन्न एकत्र पकाया जाता है वह साधुमिश्र है ॥१०॥

कालकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षा प्राभृत दोषके दो भेद होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म । इन दोनोंका स्वरूप कहते हैं—

आगममें जो वस्तु जिस दिन, पक्ष, मास या वर्षमें अथवा दिनके जिस अंश पूर्वाह्णमें या अपराह्णमें देने योग्य कही है उससे पहले या पीछे देनेपर प्राभृतक दोष माना है ॥११॥

विशेषार्थ—इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जो वस्तु शुक्लपक्षकी अष्टमीको देय कही है उसको शुक्लपक्षकी पंचमीको देना, जो वस्तु चैत्रमासके शुक्लपक्षमें देय कही है उसे उससे पहले कृष्णपक्षमें देना, इत्यादि । इस प्रकार कालकी हानि करके देना बादर प्राभृतक दोष है । जो शुक्लपक्षकी पंचमीमें देय कही है उसे बढ़ाकर शुक्लपक्षकी अष्टमीको देना तथा जो चैत्रके कृष्णपक्षमें देय है उसे बढ़ाकर शुक्लपक्षमें देना इत्यादि । इस प्रकार कालकी वृद्धि करके देना बादर प्राभृतक दोष है । तथा जो मध्याह्न में देय है उसे उससे पहले पूर्वाह्णमें देना, जो अपराह्णमें देय है उसे मध्याह्णमें देना इत्यादि । ये सब कालको घटाकर देनेसे सूक्ष्म प्राभृतक दोष हैं । तथा जो पूर्वाह्णमें देय है उसे कालको बढ़ाकर मध्याह्णमें देना, यह कालवृद्धिकृत सूक्ष्म प्राभृतक दोष है । मूलाचारमें कहा है—

---

१. 'पाहुडिह पुण दुविह बादर सुहुम च दुविह मेक्केक ।
ओकस्सणमुक्कस्सण महकालोवट्टणा वड्ढी ॥
दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं ।
पुव्वाररमज्झवेलं परियत्तं दुविह सुहुमं च ॥—मूलाचार, पिण्ड. १३-१४ गा.

(तदपकृष्य पूर्वाह्णे यद्दीयते, यच्चापराह्णे देयमिति स्थितं तदपकृष्य मध्याह्णे यद्दीयते इत्यादि तत्सर्वं कालहानिकृतं सूक्ष्मं प्राभृतकं भण्यते । तथा यत् पूर्वाह्णे देयमिति स्थितं) तदुत्कृष्य मध्याह्नादौ यद्दीयते तत्सर्वं कालवृद्धिकृतं सूक्ष्मं प्राभृतकम् । तथा चोक्तम्—

'द्वेधा प्राभृतकं स्थूलं सूक्ष्मं तदुभयं द्विधा ।
अवसर्पस्तथोत्सर्पः कालहान्यतिरेकतः ॥'
'परिवृत्या दिनादीनां द्विविधं बादरं मतम् ।
दिनस्याद्यन्तमध्यानां द्वेधा सूक्ष्मं विपर्ययात् ॥' [ ] ॥११॥

अथ बलिन्यस्ते लक्षयति—

यक्षादिबलिशेषोऽर्चासावद्यं वा यतौ बलिः ।
न्यस्तं क्षिप्त्वा पाकपात्रात्पात्र्यादौ स्थापितं क्वचित् ॥१२॥

यक्षादिबलिशेषः—यक्षनागमातृकाकुलदेवतापित्राद्यर्थं यः कृतो बलिस्तस्य शेषो दत्तावशिष्टोऽशः । अर्चासावद्यं—यतिनिमित्तं चन्दनोद्गालनादिः । पात्रिः—पात्रविशेषः । क्वचित्—स्वगृहे परगृहे वा स्थापनिकाया धृतम् । तच्चान्यदात्रा दीयमानं विरोधादिकं कुर्यादिति दुष्टम् ॥१२॥

प्राभृतकके दो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म। इनमें-से भी प्रत्येकके दो भेद हैं—उत्कर्षण और अपकर्षण। उत्कर्षण अर्थात् कालवृद्धि, अपकर्षण अर्थात् कालहानि। दिवस, पक्ष, मास और वर्षमें हानि या वृद्धि करके देनेसे बादरके दो भेद हैं और पूर्वाह्ण, अपराह्ण एवं मध्याह्नकी वेलाको घटा-बढ़ाकर देनेसे सूक्ष्म प्राभृतकके दो भेद हैं।

पिण्डनिर्युक्ति (गा. २८५ आदि) में भी भेद तो ये ही कहे हैं किन्तु टीकामें उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—विहार करते हुए समागत साधुओंको देखकर कोई श्रावक विचारता है—यदि ज्योतिषियोंके द्वारा बतलाये गये दिन विवाह करूँगा तो साधुगण विहार करने चले जायेंगे। तब मेरे विवाहमें बने मोदक आदि साधुओंके उपयोगमें नहीं आ सकेंगे। ऐसा सोचकर जल्दी विवाह रचाता है। या यदि विवाह जल्दी होनेवाला हो और साधु समुदाय देरमें आनेवाला हो तो विवाह देरसे करता है यह बादर प्राभृतक दोष है। कोई स्त्री बैठी सूत कातती है। बालक भोजन माँगता है तो कहती है—रुईकी पूनी बना लूँ तो तुझे भोजन दूँगी। इसी बीचमें यदि साधु आते हुए सुन ले तो वह नहीं आता है क्योंकि उसके आनेसे उसे साधुके लिए जल्दी उठना होगा और उसने जो बालकसे पूनी कातनेके पश्चात् भोजन देनेकी प्रतिज्ञा की थी उससे पहले ही भोजन देनेपर अवसर्पण दोष होता है। अथवा कातती हुई स्त्री बालकके भोजन माँगनेपर कहती है—किसी दूसरे कामसे उठूँगी तो तुझे भी भोजन दूँगी। इसी बीचमें यदि साधु आये और उसकी बात सुन ले तो लौट जाता है। अथवा साधुके न सुननेपर भी साधुके आनेपर बालक माँसे कहता है—अब क्यों नहीं उठती, अब तो साधु आ गये, अब तो तुम्हें उठना ही होगा, अब तो साधुके कारण हमें भी भोजन मिलेगा। बालकके ये वचन सुनकर साधु भोजन नहीं लेता। यदि ले तो अवसर्पणरूप सूक्ष्म प्राभृतिका दोष लगता है। इसी तरह उत्सर्पणरूप दोष भी जानना ॥११॥

बलि और न्यस्त दोषका स्वरूप कहते हैं—

यक्ष, नाग, कुलदेवता, पितरों आदिके लिए बनाये गये उपहारमें-से बचा हुआ अंश साधुको देना बलि दोष है। अथवा यतिके निमित्तसे फूल तोड़ना आदि सावद्य पूजाका

अथ प्रादुष्कारक्रीते निर्दिशति—

पात्रादेः संक्रमः साधौ कटाद्याविष्क्रियाऽऽगते ।
प्रादुष्कारः स्वान्यगोर्थविद्याद्यैः क्रीतमाहृतम् ॥१३॥

प्रादुष्कारः अथ संक्रमः प्रकाशश्चेति द्वेधा । तत्र संयते गृहमायाते भाजनभोजनादीनामन्यस्थानादन्यस्थाने नयनं संक्रमः । कटकपाटकाण्डपटाद्यपनयन भाजनादीना भस्मादिनोदकादिना वा निर्माजनं प्रदीपज्वलनादिकं च प्रकाशः । उक्तं च—

'सक्रमश्च प्रकाशश्च प्रादुष्कारो द्विधा मतः ।
एकोऽत्र भाजनादीनां कटादिविषयोऽपरः ॥' [ ]

स्वेत्यादि—स्वस्यात्मनः सचित्तद्रव्यैर्वृषभादिभिरचित्तद्रव्यैर्वा सुवर्णादिभिर्भावैर्वा प्रज्ञप्त्यादिविद्याचेष्टकादिमन्त्रलक्षणैः[1] परस्य वा तैरुभयैर्द्रव्यभावैर्यथा संभवमाहृतं संयतं (-ते) भिक्षाया प्रविष्टे ता[2] दत्वा नीतं यद्भोज्यद्रव्यं तत् क्रीतमिति दोषः कारुण्यदोषदर्शनात् । उक्तं च—

'क्रीतं तु द्विविधं द्रव्यं भावः स्वकपरं द्विधा ।
सचित्तादिभवो द्रव्यं भावो द्रव्यादिक तथा ॥' ॥१३॥

आयोजन बलि है। भोजन पकानेके पात्रसे अन्य पात्रमें भोजन निकालकर कहीं अन्यत्र रख देना न्यस्त या स्थापित दोष है। ऐसे भोजनको यदि रखनेवालेसे कोई दूसरा व्यक्ति उठाकर दे देवे तो परस्परमें विरोध होनेकी सम्भावना रहती है ॥१२॥

प्रादुष्कार और क्रीत दोषको कहते हैं—

साधुके घरमें आ जानेपर भोजनके पात्रोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना संक्रम नामक प्रादुष्कर दोष है। साधुके घरमें आ जानेपर चटाई, कपाट, पर्दा आदि हटाना, बरतनोंको माँजना-धोना, दीपक जलाना आदि प्रकाश नामक प्रादुष्कर दोष है। साधुके भिक्षाके लिए प्रवेश करनेपर अपने, पराये या दोनोंके सचित्त द्रव्य बैल वगैरहसे अथवा अचित्त द्रव्य सुवर्ण वगैरहसे या विद्या मन्त्रादि रूप भावोंसे या द्रव्य भाव दोनोंसे खरीदा गया भोज्य द्रव्य क्रीत दोषसे युक्त होता है ॥१३॥

विशेषार्थ—मूलाचार (६।१५-१६) में कहा है[3]—'प्रादुष्कारके दो भेद हैं। भोजनके पात्रोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना संक्रमण है। मण्डपमें प्रकाश करना प्रकाश दोष है।'

[4]क्रीतके दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। इन दोनोंके भी दो-दो भेद हैं—स्वद्रव्य-परद्रव्य, स्वभाव परभाव। गाय-भैंस वगैरह सचित्त द्रव्य है। विद्या मन्त्र आदि भाव हैं। मुनिके भिक्षाके लिए प्रविष्ट होनेपर अपना या पराया सचित्त आदि द्रव्य देकर तथा स्वमन्त्र-परमन्त्र या स्वविद्या-परविद्याको देकर आहार खरीदकर देना क्रीत दोष है। इससे साधुके

१. चेटका भ. कु. च. ।
२. तान् भ. कु. च. ।
३. 'पादुक्कारो दुविहो संकमण पयासणा य बोधव्वो ।
भायणभोयणदीणं मंडवविरलादियं कमसो' ॥
४. 'कीदयण पुण दुविहं दव्वं भावं च सगपरं दुविहं ।
सच्चित्तादीदव्वं विज्जामंतादि भावं च' ॥

अथ प्रामित्यपरिवर्तितयोः स्वरूपमाह—

उद्धारानीतमन्नादि प्रामित्यं वृद्धयवृद्धिमत् ।
व्रीह्यन्नाद्येन शाल्यन्नाद्युपात्तं परिवर्तितम् ॥१४॥

वृद्धयवृद्धिमत्—सवृद्धिकमवृद्धिकं चेत्यर्थः । उक्तं च—

'भक्तादिकमृणं यच्च तत्प्रामित्यमुदाहृतम् ।
तत्पुनर्द्विविधं प्रोक्तं सवृद्धिकमथेतरत् ॥' [ ]

दोषत्वं चास्य दातुः क्लेशायासधरणादिकदर्थनकरणात् । व्रीह्यन्नं—षष्ठिकभक्तम् । उपात्तं—साधुभ्यो दास्यामीति गृहीतम् । दोषत्वं चास्य दातुः क्लेशकरणात् । उक्तं च—

'व्रीहिभक्तादिभिः शालिभक्ताद्यं स्वीकृतं च यत् ।
संयतानां प्रदानाय तत्परीवर्तमिष्यते ॥' [ ] ॥१४॥

चित्तमें करुणाभाव उत्पन्न होता है। पिण्ड निर्युक्ति (गा. २९९ आदि) में भी प्रादुष्करणके ये दो भेद किये हैं। उनका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—तीन प्रकारके चूल्हे होते हैं—एक घरके अन्दर जिसे बाहर भी रखा जा सकता है, दूसरा बाहर जो पहलेसे बना है, तीसरा जो बाहरमें साधुके निमित्त बनाया गया है। साधुको आता देखकर गृहिणी सरलभावसे कहती है—महाराज! आप अन्धकारमें भिक्षा नहीं लेते इसलिए बाहर ही बनाया है। अथवा साधुके दोषकी आशंकासे पूछनेपर गृहिणी सरलभावसे उक्त उत्तर देती है। यह संक्रामण प्रादुष्करण दोष है। प्रकाशके लिए दीवारमें छेद करनेपर या छोटे द्वारको बड़ा करनेपर या दूसरा द्वार बनवानेपर या दीपक आदि जलानेपर साधु यदि पूछे तो सरल भावसे उक्त उत्तर देनेपर साधु प्रादुष्करण दोषसे दुष्ट भोजन नहीं करते। क्रीत दोषका कथन भी उक्त प्रकार है। अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा उसे स्पष्ट किया है ॥१३॥

प्रामित्य और परिवर्तित दोषोंका स्वरूप कहते हैं—

मुनिको दान देनेके लिए जो अन्न आदि उधार रूपसे लिया जाता है वह प्रामित्य दोषसे युक्त है। वह दो प्रकारका होता है—एक वृद्धिमत् अर्थात् जिसपर ब्याजके रूपमें लौटाते समय कुछ अधिक देना होता है और दूसरा अवृद्धिमत् अर्थात् बेब्याज। साँठी चावल आदिके बदलेमें शालिचावल आदि लेना परिवर्तित दोष है ॥१४॥

विशेषार्थ—जब किसीसे कोई अन्न वगैरह उधार लिया जाता है तो मापकर लिया जाता है इसीसे इस दोषका नाम प्रामित्य है। जो प्रमितसे बना है। प्राकृत शब्दकोशमें पामिच्चका अर्थ उधार लेना है। इसीसे मूलाचारके संस्कृत टीकाकारने इसे ऋणदोष नाम दिया है। लिखा है—चर्याके लिए भिक्षुके आनेपर दाता दूसरेके घर जाकर खाद्य वस्तु माँगता है—"तुम्हें चावल आदि वृद्धि सहित या वृद्धिरहित दूँगा मुझे खाद्य वगैरह दो।" इस प्रकार लेकर मुनियोंको देता है। यह प्रामित्य दोष है क्योंकि दाताके लिए क्लेश-का कारण होता है। पिण्ड निर्युक्तिमें एक कथा देकर बतलाया है कि कैसे यह ऋण दाताके कष्टका कारण होता है। इसी तरह साधुको बढ़िया भोजन देनेकी भावनासे मोटे चावलके बदलेमें बढ़िया चावल आदि लेकर साधुको देना परावर्त दोष है। यह भी दाताके क्लेशका कारण होता है। दाताको जो कुछ जैसा भी घरमें हो वही साधुको देना चाहिए ॥१४॥

अथ निषिद्धं सभेदप्रभेदमाह—

निषिद्धमीश्वरं भर्त्रा व्यक्ताव्यक्तोभयात्मना ।
वारितं दानमन्येन तन्मन्येन त्वनीश्वरम् ॥१५॥

भर्त्रा—प्रभुणा । व्यक्तः—प्रेक्षापूर्वकारी वा वृद्धो वाऽसारक्षो वा । आरक्षा मन्त्र्यादयः । सहारक्षैर्वर्तते इति सारक्षः स्वामी । न तथाभूतो यः सोऽसारक्षः स्वतन्त्र इत्यर्थ. । अव्यक्तः—अप्रेक्षापूर्वकारी वा बालो वा सारक्षो वा । उभयः—व्यक्ताव्यक्तरूपः । दानं—दीयमानमोदनादिकम् । तन्मन्येन—भर्तारमात्मानं मन्यमानेन अमात्यादिना । तद्यथा—निषिद्धाख्यो दोषस्तावदीश्वरोऽनीश्वरश्चेति द्वेधा । तत्राप्याद्यस्त्रेधा । व्यक्तेश्वरेण वारितं दानं यदा साधु गृह्णाति तदा व्यक्तेश्वरो नाम दोष । यदा अव्यक्तेन वारितं गृह्णाति तदाऽव्यक्तेश्वरो नाम । यदेकेन दानपतिना व्यक्तेन द्वितीयेन चाव्यक्तेन वारितं गृह्णाति तदा व्यक्ताव्यक्तेश्वरो नाम तृतीय ईश्वराख्यस्य निषिद्धभेदस्य भेदः स्यात् । एवमनीश्वरेऽपि व्याख्येयम् । यच्चैकेन दीयते अन्येन च निषिद्धयते[1] नेष्यते वा तदपि गृह्यमाणं दोषाय स्याद् विरोधापायाद्यनुषङ्गाविशेषात् । यत्पुन —

'अणिसिट्ठं पुण दुविहं ईस्सरँ[2] णिस्सर ह णिस्सरं व दुवियप्पं ।
पढमेस्सर सारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं ॥' [मूलाचार—गा. ४४४][3]

इत्यस्य टीकाया बहुधा व्याख्यान(-तं) तदत्रैव कुशलैः स्वबुद्धयाऽवतारयितुं शक्यत इति न सूत्रविरोध. शङ्क्य ॥१५॥

भेद-प्रभेद सहित निषिद्ध दोषको कहते हैं—

व्यक्त, अव्यक्त और उभयरूप स्वामीके द्वारा मना की गयी वस्तु साधुको देना ईश्वर निषिद्ध नामक दोष है। और अपनेको स्वामी माननेवाले किसी अन्यके द्वारा मना की गयी वस्तुका दान देना अनीश्वर निषिद्ध नामक दोष है ॥१५॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें उसकी संस्कृत टीकामें आचार्य वसुनन्दीने इस दोपका नाम अनीशार्थ दिया है। उसका व्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है—इसके दो भेद हैं—ईश्वर और अनीश्वर। अनीश अर्थात् अप्रधान अर्थ जिस ओदन आदिका कारण है वह भात वगैरह अनीशार्थ है। उसके ग्रहण करनेमें जो दोष है उसका नाम भी अनीशार्थ है। कारणमें कार्यका उपचार है। वह अनीशार्थ ईश्वर और अनीश्वरके भेदसे दो प्रकारका है। उस दो प्रकारके भी चार प्रकार हैं। स्वामी दान देना चाहता है और सेवक रोकते हैं ऐसे अन्नको ग्रहण करनेसे ईश्वर नामक अनीशार्थ दोष होता है। उसके भी तीन भेद हैं—व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त। जो अपना अधिकार स्वयं रखता है परकी अपेक्षा नहीं करता वह व्यक्त है। जो परकी अपेक्षा रखता है वह अव्यक्त है। ऐसे दो व्यक्तियोंको उभय कहते हैं। इसी तरह अनीश्वर दोषके भी तीन भेद होते हैं। दानका स्वामी दान देना चाहे और दूसरा रोके तो ईश्वर अनीशार्थ दोष है और जो स्वामी नहीं है वह दे तो अनीश्वर अनीशार्थ दोष है। ऐसा प्रतीत होता है कि टीकाकार प्रकृत विषयमें स्पष्ट नहीं थे। उन्होंने अथवा करके कई प्रकारसे भेदोंकी संगति बैठानेका प्रयत्न किया है। पहले दोपका नाम

---

१. निषिद्धत्वेनेष्यते भ. कु. च. ।
२. इस्सरमह णिस्सरं च दुवि—मूलाचार ।
३. 'अणिसट्ठं पुण दुविहं इस्सर मह णिस्सरं च दुवियप्पं ।
पढमिस्सर सारक्खं वत्तावत्तं च संघाडं' ॥—३।२५

अथाभिहृतदोषं व्याचष्टे—

त्रीन् सप्त वा गृहान् पङ्क्त्या स्थितान्मुक्त्वाऽन्यतोऽखिलात् ।
देशादयोग्यमायातमन्नाद्यभिहृतं यतेः ॥१६॥

अन्यतः—उक्तविपरीतगृहलक्षणात् स्वपरग्रामदेशलक्षणाच्च । अभिहृतं हि द्विविधं देशाभिहृतं सर्वाभिहृतं वा । देशाभिहृतं पुनर्द्विधा-आदृतमनादृतं च । सर्वाभिहृतं तु चतुर्धा स्वग्रामादागतं परग्रामादागतं स्वदेशादागतं परदेशादागतं चेति । यत्र ग्रामे स्थीयते स स्वग्रामः । तत्र पूर्वपाटकादपरपाटकेऽपरपाटकाच्च पूर्वपाटके भोजनादेर्नयनं स्वग्रामाभिहृतम् । प्रचुरेर्यापथदोषदर्शनात् । एवं शेषमप्यूह्यम् । तथा चोक्तम्—

'देशतः सर्वतो वापि ज्ञेयं त्वभिहृतं द्विधा ।
आदृतानादृतत्वेन स्याद्देशाभिहृतं द्विधा ॥
ऋजुवृत्त्या त्रिसप्तभ्यः प्राप्तं वेश्मभ्य आदृतम् ।
ततः परत आनीतं विपरीतमनादृतम् ॥
स्वपरग्रामदेशेषु चतुर्धाभिहृतं परम् ।
प्राक् पश्चात्पाटकानां च शेषमप्येवमादिशेत् ॥' [ ] ॥१६॥

अथोद्भिन्नाच्छेद्यदोषयोः स्वरूपं विवृणोति—

पिहितं लाञ्छितं वाज्यगुडाद्युद्घाट्य दीयते ।
यत्तदुद्भिन्नमाच्छेद्यं देयं राजादिभीषितैः ॥१७॥

अनीशार्थ दिया है, पीछे अथवा करके अनिसृष्ट नाम दिया है। अनिसृष्टका अर्थ होता है निषिद्ध। पं. आशाधरजीने निषिद्ध नाम दिया है (श्वे. पिण्डनिर्युक्तिमें भी अनिसृष्ट नाम ही है। ईश्वरके द्वारा निसृष्ट किन्तु अनीश्वरके द्वारा अनिसृष्ट या अनीश्वरके द्वारा निसृष्ट और ईश्वरके द्वारा अनिसृष्ट वस्तुका ग्रहण निषिद्ध नामक दोष है ॥१५॥

अभिहृत दोषको कहते हैं—

पंक्तिरूपसे स्थित तीन या सात घरोंको छोड़कर शेष सभी स्थानोंसे आया हुआ भोजन आदि मुनिके अयोग्य होता है। उसको ग्रहण करना अभिहृत दोष है ॥१६॥

विशेषार्थ—मूलाचार (६।१९) में प्राकृत शब्द अभिहड है। संस्कृत टीकाकारने उसका संस्कृत रूप 'अभिघट' रखा है। और इस तरह इस दोषको अभिघट नाम दिया है जो उचित प्रतीत नहीं होता। अभिहडका संस्कृत रूप अभिहृत या अभ्याहृत होता है। वही उचित है। उसीसे उसके अर्थका बोध होता है। मूलाचारमें अभिहृतके दो भेद किये हैं—देशाभिहृत और सर्वाभिहृत। जिस घरमें मुनिका आहार हो उस घरकी सीधी पंक्तिमें स्थित तीन या सात घरोंसे आया हुआ भोजन आदि ग्रहण योग्य होता है। यदि सीधी पंक्तिके तीन या सात घरोंके बादके घरोंसे भोजनादि आया हो या सीधी पंक्तिसे विपरीत घरोंसे आया हो, या यहाँ-वहाँके घरोंसे आया हो तो वह ग्रहण योग्य नहीं होता। श्वे. पिण्डनिर्युक्तिमें इस दोषका नाम अभ्याहृत है। और उसका स्वरूप यही है। अभ्याहृतका अर्थ होता है सब ओरसे लाया गया। ऐसा भोजन अग्राह्य होता है ॥१६॥

आगे उद्भिन्न और अच्छेद्य दोषका स्वरूप कहते हैं—

जो घी, गुड़ आदि द्रव्य किसी ढक्कन वगैरहसे ढका हो या किसीके नामकी मोहर आदिसे चिह्नित हो और उसे हटाकर दिया जाता है वह उद्भिन्न कहा जाता है। उसमें

पिहितं—पिधानेन कर्दमलाक्षादिना वा संवृतम् । लाञ्छितं नाम बिम्बादिना मुद्रितम् । दोषत्वं चास्य पिपीलिकादिप्रवेशदर्शनात् इति । राजादिभीषितैः—कुटुम्बिकैरिति शेषः । यदा हि संयतानां हि भिक्षाश्रमं दृष्ट्वा राजा तत्तुल्यो वा चौरादिर्वा कुटुम्बिकान् यदि संयतानामागतानां भिक्षादानं न करिष्यथ तदा युष्माकं द्रव्यमपहरिष्यामो ग्रामाद्वा निर्वासयिष्याम इति भीषयित्वा दापयति तदा तदादीयमानमाच्छेद्यनामा दोषः स्यात् । उक्तं च—

'संयतश्रममालोक्य भीषयित्वा प्रदापितम् ।
राजचौरादिभिर्यत्तदाछेद्यमिति कीर्तितम् ॥' [ ] ॥१७॥

अथ मालारोहणदोषमाह—

निश्रेण्यादिभिरारुह्य मालमावाय दीयते ।
यद्द्रव्यं संयतेभ्यस्तन्मालारोहणमिष्यते ॥१८॥

मालां—गृहोर्ध्वभागम् । दोषत्वं चात्र दातुरपायदर्शनात् ॥१८॥

अथैवमुद्गमदोषान् व्याख्याय साम्प्रतमुत्पादनदोषान् व्याख्यातुमुद्दिशति—

उत्पादनास्तु धात्री दूतनिमित्ते वनीपकाजीवौ ।
क्रोधाद्याः प्रागनुनुतिवैद्यकविद्याश्च मन्त्रचूर्णवशाः ॥१९॥

चींटी आदि घुस जाती हैं । तथा राजा आदिके भयसे जो दान दिया जाता है वह अच्छेद्य कहा जाता है ॥१७॥

विशेषार्थ—पिण्ड निर्युक्ति (गा ३४८) में कहा है—'बन्द घीके पात्र वगैरहका मुख खोलनेसे छह कायके जीवोंकी विराधना होती है। तथा साधुके निमित्तसे पीपेका मुँह खोलनेपर उसमें रखे तेल-घीका उपयोग परिवारके लिए क्रय-विक्रयके लिए किया जाता है । इसी तरह बन्द कपाटोंको खोलनेपर भी जीव विराधना होती है यह उद्भिन्न दोष है ।' आच्छेद्य दोषके तीन भेद किये हैं—प्रभु विषयक, स्वामी विषयक और स्तेन विषयक । यदि कोई स्वामी या प्रभु यतियोंके लिए किसीके आहारादिको बलपूर्वक छीनकर साधुको देता है तो ऐसा आहार यतियोंके अयोग्य है । इसी तरह चोरोंके द्वारा दूसरोंसे बलपूर्वक छीनकर दिया गया आहार भी साधुके अयोग्य है ॥१७॥

आगे मालारोहण दोषको कहते हैं—

सीढ़ी आदिके द्वारा घरके ऊपरी भागमें चढ़कर और वहाँसे लाकर जो द्रव्य साधुओंको दिया जाता है उसे मालारोहण कहते हैं ॥१८॥

विशेषार्थ—पिण्डनिर्युक्ति (गा. ३५७) में मालारोहणके दो भेद किये हैं—जघन्य और उत्कृष्ट । ऊँचे छीके आदिपर रखे हुए मिष्टान्न वगैरहको दोनों पैरोंपर खड़े होकर उचककर लेकर देना जघन्य मालारोहण है और सीढ़ी वगैरहसे ऊपर चढ़कर वहाँसे लाकर देना उत्कृष्ट मालारोहण है ॥१८॥

इस प्रकार उद्गम दोषोंका कथन करके उत्पादन दोषोंको कहते हैं—

उत्पादन दोषके सोलह भेद हैं—धात्री, दूत, निमित्त, वनीपकवचन, आजीव, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वस्तवन, पश्चात् स्तवन, वैद्यक, विद्या, मन्त्र, चूर्ण और वश ॥१९॥

---

१. 'उब्भिन्ने छक्काया दाणे कयविक्कए य अहिगरणं ।
ते चेव कवाडंमि वि सविसेसा जंतुमाईसु' ॥

उत्पादादयो यथोद्देशं वक्ष्यन्ते ॥१९॥

अथ पञ्चधा धात्रीदोषमाह—

मार्जन-क्रीडन-स्तन्यपान-स्वापन-मण्डनम् ।
बाले प्रयोक्तुर्यत्प्रीतो दत्ते दोषः स धात्रिका ॥२०॥

प्रयोक्तुः—स्वयं कर्तुः कारयितुरुपदेष्टुर्वा यत्यादेः । प्रीतः—अनुरक्तो गृहस्थः । धात्रिका—धात्रीसंज्ञः । पञ्चधा हि धात्री मार्जन-मण्डन-खेलापन-क्षीराम्बाधात्रीभेदात् । मार्जनादिभिश्च कर्मभिर्बाले प्रयुक्तैर्भोजनादिकमुत्पाद्य भजतो मार्जनधात्र्यादिसंज्ञो दोषः पञ्चधा स्यात् स्वाध्यायविनाशमार्गदूषणादिदोषदर्शनात् । उक्तं च—

'स्नानभूषापयःक्रीडामातृधात्रीप्रभेदतः ।
पञ्चधा धात्रिकाकार्यादुत्पादो धात्रिकामलः ॥' [ ] ॥२०॥

अथ दूतनिमित्तदोषौ व्याकरोति—

विशेषार्थ—उद्गम दोष तो गृहस्थोंके द्वारा होते हैं और उत्पादन दोष साधुके द्वारा होते हैं। श्वेताम्बर[2] परम्परामें भी ये १६ उत्पादन दोष कहे हैं ॥१९॥

पाँच प्रकारके धात्री दोषको कहते हैं—

बालकको नहलाना, खिलाना, दूध पिलाना, सुलाना और और आभूषित करना इन पाँच कर्मोंके करनेवाले साधुपर प्रसन्न होकर गृहस्थ उसे जो दान देता है वह धात्रिका दोषसे दूषित है ॥२०॥

विशेषार्थ—जो बालकका पालन-पोषण करती है उसे धात्री या धाय कहते हैं। वह धात्री पाँच प्रकारकी होती है। स्नान करानेवाली मार्जन धात्री है। खिलानेवाली क्रीडन धात्री है। दूध पिलानेवाली दूध धात्री है। सुलानेवाली स्वापन धात्री है। और भूषण आदि धारण करानेवाली मण्डन धाय है। जो साधु गृहस्थसे कहता है कि बालकको अमुक प्रकारसे नहलाना चाहिए आदि। और गृहस्थ उसके इस उपदेशसे प्रसन्न होकर उसे दान देता है और साधु लेता है तो वह साधु धात्री नामक दोषका भागी होता है। इसी प्रकार पाँचों दोषोंको समझना। पिण्डनिर्युक्तिमें पाँचों धात्री दोषोंके कृत और कारितकी अपेक्षा दो-दो भेद किये हैं और प्रत्येकको उदाहरण देकर विस्तारसे समझाया है। यथा—भिक्षाके लिए प्रविष्ट साधु बालकको रोता देखकर पूछता है यह क्यों रोता है। भूखा है तो दूध पिलाओ पीछे मुझे भिक्षा दो। या यह पूछनेपर कि बालक क्यों रोता है? गृहिणी कहती है, हमारी धाय दूसरेके यहाँ चली गयी है। तो साधु पूछता है कि तुम्हारी धाय कैसी है वृद्धा या जवान, गोरी या काली, मोटी या पतली। मैं उसे खोजकर लाऊँगा। इस तरहसे प्राप्त भोजन धात्री दोषसे दूषित होता है ॥२०॥

आगे दूत और निमित्त दोषको कहते हैं—

---

१. खेलास्वापनक्षीराम्बु भ. कु. च.।

२. 'धाई दूइ निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस ए ए ॥
पुव्विं पच्छा संथव विज्जा मंते य चुन्न जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य' ॥—पिण्डनि. ४०८-९ गा.।

दूतोऽशनादेरादानं संदेशनयनादिना ।
तोषिताद्दातुरष्टाङ्गनिमित्तेन निमित्तकम् ॥२१॥

दूतः । दोषत्वं चास्य दूतकर्मशासनदूषणात् । उक्तं च—

'जलस्थलनभःस्वान्यग्रामस्वपरदेशतः ।
सम्बन्धे[1] वचसो नीतिर्दूतदोषो भवेदसौ ॥' [ ]

अष्टाङ्गनिमित्तेन—व्यञ्जनादिदर्शनपूर्वकशुभाशुभज्ञानेन । तत्र व्यञ्जनं—मसकतिलकादिकम् । अङ्गं—करचरणादि । स्वरः—शब्द. । छिन्न—खड्गादिप्रहारो वस्त्रादिछेदो वा । भौमं—भूमिविभाग. । आन्तरिक्ष—मादित्यग्रहाद्युदयास्तमनम् । लक्षण—नन्दिकावर्तपद्मचक्रादिकम् । स्वप्न. सुप्तस्य हस्ति-विमानमहिषारोहणादि-दर्शनम् । भूमिगर्जनं दिग्दाहादेरत्रैवान्तर्भावः । उक्तं च—

'लाञ्छनाङ्गस्वरं छिन्नं भौमं चैव नभोगतम् ।
लक्षणं स्वप्नं[2]तश्चेति निमित्तं त्वष्टधा भवेत् ॥' [ ]

दोषत्वं चात्र रसास्वादनदैन्यादिदोषदर्शनात् ॥२१॥

किसी सम्बन्धीके मौखिक या लिखित सन्देशके पहुँचाने आदिसे सन्तुष्ट हुए दातासे भोजन आदि ग्रहण करना दूत दोष है। अष्टांगनिमित्त बतलानेसे सन्तुष्ट हुए दाताके द्वारा दिये हुए आहारको ग्रहण करना निमित्त दोष है ॥२१॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कहा है[3]—'जिस ग्राममें या जिस देशमें साधु रहता हो वह उसका स्वग्राम और स्वदेश है। साधु जल-थल या आकाशसे, स्वग्रामसे परग्राम या स्वदेशसे परदेश जाता हो तो कोई गृहस्थ कहे कि महाराज ! मेरा यह सन्देश ले जाना। उस सन्देश-को पानेवाला गृहस्थ यदि प्रसन्न होकर साधुको आहार आदि दे और वह ले तो उसे दूती दोष लगता है।

महानिमित्त आठ है—व्यंजन, अंग, स्वर, छिन्न, भौम, अन्तरीक्ष, लक्षण, स्वप्न। शरीरके अवयवोंको अंग कहते हैं। उनपर जो तिल, मशक आदि होते हैं उन्हें व्यंजन कहते हैं। शब्दको स्वर कहते हैं। तलवार आदिके प्रहारको या वस्त्र आदिके छेदको छिन्न कहते हैं। भूमिभागको भौम कहते है। सूर्य आदिके उदय-अस्त आदिको अन्तरीक्ष कहते हैं। शरीरमें जो कमल चक्र आदि चिह्न होते है उन्हें लक्षण कहते हैं। स्वप्न तो प्रसिद्ध है। इन आठ महानिमित्तोंके द्वारा भावी शुभाशुभ बतलाकर यदि भोजनादि प्राप्त किया जाता है तो वह निमित्त नामक उत्पादन दोष है। पिण्डनिर्युक्ति (गा. ४३६) में निमित्त दोपकी बुराई बतलानेके लिए एक कथा दी है—एक ग्रामनायक परदेश गया। उसकी पत्नीने किसी निमित्तज्ञानी साधुसे अपने पतिकी कुशलवार्ता पूछी। उसने बताया कि वह शीघ्र आयेगा। उधर परदेशमें ग्रामनायकके मनमें हुआ कि मैं चुपचाप एकाकी जाकर देखूँ कि मेरी पत्नी दुःशीला है या सुशीला। उधर ग्राममें सब लोग साधुके कथनानुसार उसकी प्रतीक्षा करते बैठे थे। जैसे ही वह पहुँचा सब आ गये। उसने पूछा—तुम लोगोंको मेरे आनेका

१. सम्बन्धि—भ. कु. च.।
२. स्वपनश्चेति—भ. कु. च.।
३. 'जलथलआयासगदं सयपरगामे सदेसपरदेसे ।
संबंधिवयणणयणं दूदीदोसो हवदि एसो' ॥—६।२९

अथ वनीपकाजीवदोषावाह—

दातुः पुण्यं श्वादिदानादस्त्येवेत्यनुवृत्तिवाक् ।
वनीपकोक्तिराजीवो वृत्तिः शिल्पकुलादिना ॥२२॥

दातुरित्यादि— शुनक-काक-कुष्ठाद्यार्तमध्याह्नकालागतमांसाद्यासक्तद्विजदीक्षोपजीवि-पार्श्वस्थतापसादि-श्रमणछात्रादिभ्यो दत्ते पुण्यमस्ति न वेति दानपतिना पृष्ठे सत्यस्त्येवेत्यनुकूलवचनं भोजनाद्यर्थं वनीपकवचनं नाम दोषो दीनत्वादिदोषदर्शनात् । उक्तं च—

'साण-किविण-तिहि-माहण-पासंडिय-सवण-कागदाणादी ।
पुण्णं ण वेति पुट्ठे पुण्णं तिय वणिवयं वयणं ॥' [मूलाचार गा. ४५१]

वृत्तिरित्यादि—हस्तविज्ञान - कुल - जात्यैश्वर्यतपोऽनुष्ठानान्यात्मनो निर्दिश्य जीवनकरणमित्यर्थः । उक्तं च—

'आजीवस्तप ऐश्वर्यं शिल्पं जातिस्तथा कुलम् ।
तैस्तूत्पादनमाजीव एष दोषः प्रकथ्यते ॥'

दोषत्वं चात्र वीर्यगूहनदीनत्वादिदोषदर्शनात् ॥२२॥

अथ हस्तिकल्पादिनगरजाताख्यानप्रकाशनमुखेन क्रोधादिसंज्ञाश्चतुरो दोषानाह—

पता कैसे लगा । सब बोले—तुम्हारी पत्नीने कहा था । उस समय वह साधु भी उसके घरमें उपस्थित था । पतिने पत्नीसे पूछा—तुमने मेरा आना कैसे जाना ? वह बोली—साधुके निमित्तज्ञानसे जाना । तब उसने पुनः पूछा—उसका विश्वास कैसे किया ? पत्नी बोली—तुम्हारे साथ मैंने पहले जो कुछ चेष्टाएँ कीं, वार्तालाप किया, यहाँ तक कि मेरे गुह्य प्रदेशमें जो चिह्न है वह सब साधुने सच-सच बतला दिया । तब वह क्रुद्ध होकर साधुसे बोला—बतलाओ इस घोड़ीके गर्भमें क्या है ? साधुने कहा—पाँच रंगका बच्चा । उसने तुरन्त घोड़ीका पेट फाड़ डाला । उसमें-से वैसा ही बच्चा निकला । तब उसने साधुसे कहा—यदि तुम्हारा कथन सत्य न निकलता तो तुम भी जीवित न रहते । अतः साधुको निमित्तका प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए ॥२१॥

वनीपक और आजीव दोषको कहते हैं—

कुत्ते आदिको दान करनेसे पुण्य होता ही है इस प्रकार दाताके अनुकूल वचन कहकर भोजन प्राप्त करना वनीपकवचन नामक दोष है । अपने हस्तविज्ञान, कुल, जाति, ऐश्वर्य, तप आदिका वर्णन करके भोजन प्राप्त करना आजीव नामक दोष है ॥२२॥

विशेषार्थ—तात्पर्य यह है कि दाताने पूछा—कुत्ता, कौआ, कुष्ट आदि व्याधिसे पीड़ित अतिथि, मध्याह्न कालमें आये भिक्षुक, मांसभक्षी ब्राह्मण, दीक्षासे जीविका करनेवाले पार्श्वस्थ तापस आदि श्रमण, छात्र आदिको दान देनेमें पुण्य है या नहीं ? भोजन प्राप्त करनेके लिए 'अवश्य पुण्य है' ऐसा कहना वनीपक वचन नामक दोष है क्योंकि उसमें दीनता पायी जाती है । वनीपकका अर्थ है याचक—भिखारी । भिखारी-जैसे वचन बोलकर भोजन प्राप्त करना दोष है । मूलाचारमें भी ऐसा ही कहा है ॥२२॥

आगे हस्तिकल्प आदि नगरोंमें घटित घटनाओंके प्रकाशन द्वारा क्रोध, मान, माया, लोभ नामके चार दोषोंको कहते हैं—

क्रोधादिबलादवतश्चत्वारस्तदभिधा मुनेर्दोषाः ।
पुरहस्तिकल्पवेन्नातटकासोरासीयनवत् स्युः ॥२३॥

१ तदभिधाः—क्रोध-मान-माया-लोभनामानः । कासी—वाराणसी । कथास्तूत्प्रेक्ष्य वाच्याः ॥२३॥

अथ पूर्वसंस्तव-पश्चात्संस्तवदोषावाह—

हस्तिकल्पपुर, वेन्नातट, कासी और रासीयन नामके नगरोंकी तरह क्रोध, मान, माया और लोभके बलसे भोजन प्राप्त करनेवाले मुनिके क्रोध, मान, माया, लोभ नामके दोष होते हैं ॥२३॥

विशेषार्थ—यदि साधु क्रोध करके भिक्षा प्राप्त करता है तो क्रोध नामका उत्पादन दोष होता है। यदि मान करके भिक्षा प्राप्त करता है तो मानदोष होता है। यदि मायाचार करके भिक्षा उत्पन्न करता है तो माया नामक उत्पादन दोष होता है। यदि लोभ दिखलाकर भिक्षा प्राप्त करता है तो लोभ नामक उत्पादन दोष होता है। हस्तिकल्प नगरमें किसी साधुने क्रोध करके भिक्षा प्राप्त की थी। वेन्नातट नगरमें किसी साधुने मानसे भिक्षा प्राप्त की थी। वाराणसीमें किसी साधुने मायाचार करके भिक्षा प्राप्त की थी। राशियानमें किसी साधुने लोभ बतलाकर भिक्षा प्राप्त की थी। मूलाचारमें (६।३५) इन नगरोंका उल्लेख मात्र है और टीकाकारने केवल इतना लिखा है कि इनकी कथा कह लेना चाहिए। पिण्डनिर्युक्तिमें (गा. ४६१) उन नगरोंका नाम हस्तकल्प, गिरिपुष्पित, राजगृह और चम्पा दिया है। और कथाएँ भी दी हैं—हस्तकल्प नगरमें किसी ब्राह्मणके घरमें किसी मृतकके मासिक श्राद्धपर किसी साधुने भिक्षाके लिए प्रवेश किया। किन्तु द्वारपालने मना कर दिया। तब साधुने क्रुद्ध होकर कहा—आगे देना। दैवयोगसे फिर कोई उस घरमें मर गया। उसके मासिक श्राद्ध पर पुनः वह साधु भिक्षाके लिए आया। द्वारपालने पुनः मना किया और वह पुनः क्रुद्ध होकर बोला—आगे देना। दैवयोगसे उसी घरमें फिर एक मनुष्य मर गया। उसके मासिक श्राद्धपर पुनः वह भिक्षु भिक्षाके लिए आया। द्वारपालने पुनः रोका और साधुने पुनः 'आगे देना' कहा। यह सुनकर द्वारपालने विचारा—पहले भी इसने दो बार शाप दिया और दो आदमी मर गये। यह तीसरी बेला है। फिर कोई न मर जाये। यह विचारकर उसने गृहस्वामीसे सब वृत्तान्त कहा। और गृहस्वामीने सादर क्षमा-याचनापूर्वक साधुको भोजन दिया। यह क्रोधपिण्डका उदाहरण है। इसी तरह एक साधु एक गृहिणीके घर जाकर भिक्षामें सेवई माँगता है। किन्तु गृहिणी नहीं देती। तब साधु अहंकारमें भरकर किसी तरह उस स्त्रीका अहंकार चूर्ण करनेके लिए उसके पतिसे सेवई प्राप्त करता है। यह मानसे प्राप्त आहारका उदाहरण है। इसी तरह माया और लोभके भी उदाहरण हैं। श्वेताम्बर परम्परामें साधु घर-घर जाकर पात्रमें भिक्षा लेते हैं। इसलिए ये कथानक उनमें घटित होते हैं। दिगम्बर परम्परामें तो इस तरह भिक्षा माँगनेकी पद्धति नहीं है। अतः प्रकारान्तरसे इन दोषोंकी योजना करनी चाहिए। यथा—सुस्वादु भोजनके लोभसे समृद्ध श्रावकोंको फाटकेके आँक बतलानेका लोभ देकर भोजनादि प्राप्त करना। या क्रुद्ध होकर शापका भय देकर कुछ प्राप्त करना आदि ॥२३॥

आगे पूर्वस्तुति और पश्चात् स्तुतिदोषोंको कहते हैं—

स्तुत्वा दानपतिं दानं स्मरयित्वा च गृह्णतः ।
गृहीत्वा स्तुवतश्च स्तः प्राक्पश्चात्संस्तवौ क्रमात् ॥२४॥

स्तुत्वा—त्वं दानपतिस्त्वं कीर्तिर्जगद्व्यापिनीत्यादिकीर्तनं कृत्वा । स्मरयित्वा—त्वं पूर्वं महादानपतिरिदानीं किमिति कृत्वा विस्मृत इति संबोध्य । दोषत्वं चात्र नग्नाचार्यकर्तव्यकार्पण्यादिदोषदर्शनात् ॥२४॥

अथ चिकित्सा-विद्या-मन्त्रांस्त्रीन् दोषानाह—

चिकित्सा रुक्प्रतीकाराद्विद्यामाहात्म्यदानतः ।
विद्या मन्त्रश्च तद्दानमाहात्म्याभ्यां मलोऽश्नतः ॥२५॥

रुक्प्रतीकारात्—कायाद्यष्टाङ्गचिकित्सा[1]त् शास्त्रबलेन ज्वरादिव्याधिग्रहादीन्निराकृत्य तन्निराकरणमुपदिश्य च । उक्तं च—

'रसायनविषक्षाराः कौमाराङ्गचिकित्सिते ।
चिकित्सादोष एषोऽस्ति भूत शिल्पं[2] शिराष्टधा ॥' [ ]

[3]शिरेरेति शालाक्यम् । दोषत्व चात्र सावद्यादिदोषदर्शनात् । विद्येत्यादि-आकाशगामिन्यादिविद्याया[4] प्रभावेण प्रदानेन वा । तदुक्तम्—

'विद्या साधितसिद्धा स्यादुत्पादस्तत्प्रदानतः ।
तस्या माहात्म्यतो वापि विद्यादोषो भवेदसौ ॥' [ ]

दाताकी स्तुति करके और पहले दिये हुए दानका स्मरण कराकर दान ग्रहण करनेवाला साधु पूर्वस्तुति नामक दोषका भागी होता है । तथा दान ग्रहण करके दाताकी स्तुति करनेवाला साधु पश्चात् स्तुति दोषका भागी होता है ॥२४॥

आगे चिकित्सा, विद्या और मन्त्र इन तीन दोषोंको कहते हैं—

चिकित्सा शास्त्रके बलसे ज्वर आदि व्याधियोंको दूर करके उससे आहार प्राप्त करनेवाला साधु चिकित्सा नामक दोषका भागी है । आकाशगामिनी आदि विद्याके प्रभावसे या उसके दानसे आहार प्राप्त करनेवाला साधु विद्या नामक दोषका भागी है । या मैं तुम्हें अमुक विद्या दूँगा ऐसी आशा देकर भोजन आदि प्राप्त करनेपर भी वही दोष होता है । सर्प आदिका विष दूर करनेवाले मन्त्रके दानसे या उसके माहात्म्यसे या मन्त्र देनेकी आशा देकर भोजनादि प्राप्त करनेसे मन्त्र नामक दोष होता है ॥२५॥

विशेषार्थ—मूलाचार (६।३३) में चिकित्साके आठ प्रकार होनेसे चिकित्सा दोष भी आठ बतलाये हैं—कौमारचिकित्सा अर्थात् बालकोंकी चिकित्सा, शरीर चिकित्सा अर्थात् ज्वरादि दूर करना, रसायन—जिससे उम्र बढ़ती है, शरीरकी झुर्रियाँ आदि दूर होती हैं, विष चिकित्सा अर्थात् विष उतारना, भूत चिकित्सा—भूत उतारनेका इलाज, क्षारतन्त्र अर्थात् दुष्ट घाव वगैरहकी चिकित्सा, शलाका चिकित्सा अर्थात् सलाई द्वारा आँख आदि खोलना, शल्य चिकित्सा अर्थात् फोड़ा चीरना । इन आठ प्रकारोंमें-से किसी भी प्रकारसे

१. -त्साशास्त्र—भ. कु. च. ।
२. शल्यं भ. कु. च. ।
३. शिरेति भ. कु. च. ।
४. प्रधान—भ. कु. च. ।

किं च, तुभ्यमहं विद्यामिमां दास्यामीत्याशाप्रदानेन च भुक्त्युत्पादेऽपि स एव दोषः। तथा चोक्तम्—

'विज्जा साधितसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तिस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो ॥' [मूलाचार गा. ४५७]

मन्त्रः—सर्पादिविषापहर्ता। अत्रापि मन्त्राशाप्रदानेनेत्यपि व्याख्येयम्। दोषत्वं चात्र लोकप्रतारण-जिह्वागृद्धयादिदोषदर्शनात् ॥२५॥

अथ प्रकारान्तरेण तावेवाह—

विद्या साधितसिद्धा स्यान्मन्त्रः पठितसिद्धक.।
ताभ्यां चाहूय तौ दोषौ स्तोऽश्नतो भुक्तिदेवताः ॥२६॥

भुक्तिदेवता.—आहारप्रदव्यन्तरादिदेवान्। उक्तं च—

'विद्यामन्त्रैः समाहूय यद्दानपतिदेवताः।
साधितः स भवेद्दोषो विद्यामन्त्रसमाश्रयः ॥' [ ] ॥२६॥

अथ चूर्णमूलकर्मदोषावाह—

दोषो भोजनजननं भूषाऽञ्जनचूर्णयोजनाच्चूर्णः।
स्यान्मूलकर्म चावशवशीकृतिवियुक्तयोजनाभ्यां तत् ॥२७॥

उपकार करके आहार आदि ग्रहण करना चिकित्सा दोष है। पिण्डनिर्युक्तिमें चिकित्सासे रोग प्रतीकार अथवा रोग प्रतीकारका उपदेश विवक्षित है। जैसे, किसी रोगीने रोगके प्रतीकारके लिए साधुसे पूछा तो वह बोला—क्या मैं वैद्य हूँ? इससे यह ध्वनित होता है कि वैद्यके पास जाकर पूछना चाहिए। अथवा रोगीके पूछनेपर साधु बोला—मुझे भी यह रोग हुआ था। वह अमुक औषधिसे गया था। या वैद्य बनकर चिकित्सा करना यह दूसरा प्रकार है। जो साधनासे सिद्ध होती है उसे विद्या कहते हैं और जो पाठ करनेसे सिद्ध होता है उसे मन्त्र कहते हैं। इनके द्वारा आहारादि प्राप्त करनेसे लोकमें साधुपदकी अकीर्ति भी हो सकती है। उसे लोकको ठगनेवाला भी कहा जाता है अथवा 'मैं तुम्हें अमुक विद्या प्रदान करूँगा' ऐसी आशा देकर भोजन प्राप्त करनेपर भी यही दोष आता है। मूलाचार (गा ६।३८) में कहा है—जो साधनेपर सिद्ध होती है उसे विद्या कहते हैं। उस विद्याकी आशा देकर कि मैं तुम्हें यह विद्या दूँगा और उस विद्याके माहात्म्यके द्वारा जो जीवन-यापन करता है उसे विद्योत्पादन नामक दोष होता है ॥२५॥

प्रकारान्तरसे उन दोनों दोषोंको कहते हैं—

जो पहले जप, होम आदिके द्वारा साधना किये जानेपर सिद्ध होती है वह विद्या है। और जो पहले गुरुमुखसे पढ़नेपर पीछे सिद्ध अर्थात् कार्यकारी होता है वह मन्त्र है। उन विद्या और मन्त्रके द्वारा आहार देनेमें समर्थ व्यन्तर आदि देवोंको बुलाकर उनके द्वारा प्राप्त कराये भोजनको खानेवाले साधुके विद्या और मन्त्र नामक दोष होते हैं ॥२६॥

चूर्ण और मूलकर्म दोषोंको कहते हैं—

शरीरको सुन्दर बनानेवाले चूर्ण और आँखोंको निर्मल बनानेवाले अंजनचूर्ण उनके अभिलाषी दाताको देकर उससे आहार प्राप्त करना चूर्ण दोष है। जो वशमें नहीं है उसे वशमें करना और जिन स्त्री-पुरुषोंमें परस्परमें वियोग हुआ है उनको मिलाकर भोजन प्राप्त करना मूलकर्म दोष है ॥२७॥

भूषाञ्जनचूर्णः—शरीरशोभालङ्करणार्थं नेत्रनैर्मल्यार्थं च द्रव्यरजः। तत् भोजनजननम्। दोषत्वं चात्र पूर्वत्र जीविकादिक्रियया जीवनात्, परत्र च लज्जाद्याभोगस्य[1] करणात् ॥२७॥

अथैवमुत्पादनदोषान् व्याख्यायेदानीमशनदोषोद्देशार्थमाह—

शङ्कित[2]-पिहित-म्रक्षित-निक्षिप्त-च्छोटितापरिणताख्याः।
दश साधारणदायकलिप्तविमिश्रैः सहेत्यशनदोषाः ॥२८॥

स्पष्टम् ॥२८॥

अथ शङ्कितदोषपिहितदोषौ लक्षयति—

संदिग्धं किमिदं भोज्यमुक्तं नो वेति शङ्कितम्।
पिहितं देयमप्रासु गुरु प्रास्यपनीय वा ॥२९॥

भोज्यं—भोजनार्हम्। उक्तं—आगमे प्रतिपादितम्। यच्च 'किमयमाहारो अधःकर्मणा निष्पन्न उत न' इत्यादिशङ्कां कृत्वा भुज्यते सोऽपि शङ्कितदोष एव। अप्रासु—सचित्तं पिधानद्रव्यम्। प्रासु—अचित्त पिधानद्रव्यम्। गुरु—भारिकम्। उक्त च—

विशेषार्थ—पिण्डनिर्युक्तिमें आँखोंमें अदृश्य होनेका अंजन लगाकर किसी घरमें भोजन करना चूर्ण दोष है। जैसे दो साधु इस प्रकारसे अपनेको अदृश्य करके चन्द्रगुप्तके साथ भोजन करते थे। चन्द्रगुप्त भूखा रह जाता था। धीरे-धीरे उसका शरीर कृश होने लगा। तब चाणक्यका उधर ध्यान गया और उसने युक्तिसे दोनोंको पकड़ लिया। दूसरे, एक साधु पैरमें लेप लगाकर नदीपर-से चलता था। एक दिन वह इसी तरह आहारके लिए गया। दाता उसके पैर धोने लगा तो वह तैयार नहीं हुआ। किन्तु पैर पखारे बिना गृहस्थ भोजन कैसे कराये। अतः साधुको पैर धुलाने पड़े। पैरोंका लेप भी धुल गया। भोजन करके जानेपर साधु नदीमें डूबने लगा तो उसकी पोल खुल गयी। मूल दोषका उदाहरण देते हुए कहा है—एक राजाके दो पत्नियाँ थीं। बड़ी पत्नी गर्भवती हुई तो छोटीको चिन्ता हुई। एक दिन एक साधु आहारके लिए आये तो उन्होंने छोटीसे चिन्ताका कारण पूछा। उसके बतलानेपर साधुने कहा—तुम चिन्ता मत करो। हम दवा देते है तुम भी गर्भवती हो जाओगी। छोटी बोली—गद्दीपर तो बड़ीका ही पुत्र बैठेगा। ऐसी दवा दो जो उसका भी गर्भ गिर जाये। साधुने वैसा ही किया। यह मूल दोष है ॥२७॥

इस प्रकार उत्पादन दोषोंका प्रकरण समाप्त हुआ।

इस प्रकार उत्पादन दोषोंको कहकर अब अशन दोषोंको कहते है—

जो खाया जाता है उसे अशन कहते हैं। अशन अर्थात् भोज्य। उसके दस दोष हैं—शंकित, पिहित, म्रक्षित, निक्षिप्त, छोटित, अपरिणत, साधारण, दायक, लिप्त और विमिश्र ॥२८॥

अब शंकित आदि दोषोंके लक्षण कहनेकी इच्छासे प्रथम ही शंकित और पिहित दोषोंके लक्षण कहते हैं—

यह वस्तु आगममें भोजनके योग्य कही है अथवा नहीं कही है इस प्रकारका सन्देह होते हुए उसे ग्रहण करना शंकित दोष है। यह आहार अधःकर्मसे बना है या नहीं, इत्यादि

---

१. गस्त्रीकर—भ. कु. च.।

२. संकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दाय गुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छड्डिय एसण दोसा दस हवंति ॥—पिण्डनिर्युक्ति, ५२० गा.।

'पिहितं यत्सचित्तेन गुर्वचित्तेन वापि यत्।
तत् त्यक्त्वेव च यद्देयं बोद्धव्य पिहितं हि तत् ॥' [ ] ॥२९॥

अथ म्रक्षितनिक्षिप्तदोषौ लक्षयति—

**म्रक्षितं स्निग्धहस्ताद्यैर्दत्तं निक्षिप्तमाहितम्।
सचित्तक्ष्माग्निवार्बीजहरितेषु त्रसेषु च ॥३०॥**

हस्ताद्यैः—आद्यशब्दाद् भाजनं कडच्छुकश्च। दोषत्व चात्र सम्मूर्च्छनादिसूक्ष्मदोषदर्शनात्। आहितं—उपरिस्थापितम्। सचित्तानि—सजीवान्यप्रासुकयुक्तानि वा कागरूपाणि। उक्तं च—

'सच्चित्त पुढविआऊ तेऊ हरिदं च वीयतसजीवा।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खितं होदि छब्भेयं ॥' [मूलाचार ४६५ गा] ॥३०॥

अथ छोटितदोषमाह—

**भुज्यते बहुपातं यत्करक्षेप्यथवा करात्।
गलद्भित्वा करौ त्यक्त्वाऽनिष्टं वा छोटितं च तत् ॥३१॥**

भुज्यत इत्यादि। यद्बहुपात—प्रचुरमन्नं पातयित्वा अर्थादल्पं भुज्यते। यद्वा करक्षेऽपि—गलत्परिवेषकेण हस्ते प्रक्षिप्यमाण तक्राद्यं परिस्रवद् भुज्यते। यद्वा करात् गलत्—स्वहस्तात् तक्राद्यं परिस्रवद्

शंका होते हुए उसे ग्रहण करना भी शंकित दोष है। सचित्त या अचित्त किन्तु भारी वस्तुसे ढके हुए भोजनको ढकना दूर करके जो भोजन साधुको दिया जाता है वह पिहित दोषसे युक्त है ॥२९॥

म्रक्षित और निक्षिप्त दोषको कहते हैं—

घी-तेल आदिसे लिप्त हाथसे या पात्रसे या करछुसे मुनिको दिया हुआ दान म्रक्षित दोपसे युक्त है। सचित्त पृथ्वी, सचित्त जल, सचित्त अग्नि, सचित्त बीज और हरितकाय या त्रसकाय जीवोंपर रखी वस्तु हो उसको मुनिको देना निक्षिप्त दोष है ॥३०॥

विशेषार्थ—श्वे पिण्डनिर्युक्तिमें म्रक्षितके दो भेद हैं—सचित्त म्रक्षित, अचित्त म्रक्षित। सचित्त म्रक्षितके तीन भेद हैं—पृथिवीकाय म्रक्षित, अप्काय म्रक्षित, वनस्पतिकाय म्रक्षित। अचित्त म्रक्षितके दो भेद हैं—गर्हित और इतर। चर्बी आदिसे लिप्त गर्हित है और घृत आदिसे लिप्त इतर है। सचित्त पृथ्वीकायके दो भेद हैं—शुष्क और आर्द्र। जो देय, पात्र या हाथ सूखी चिकनी धूलसे और जो आर्द्र सचित्त पृथिवीकायसे म्रक्षित होता है वह सचित्त पृथिवीकाय म्रक्षित है। अप्काय म्रक्षितके चार भेद हैं—पुरःकर्म, पश्चात्कर्म, सस्निग्ध और जलार्द्र। साधुको भोजनादि देनेसे पहले जो हस्त आदिका जलसे प्रक्षालन किया जाता है वह पुरःकर्म है। जो भोजनदानके पश्चात् किया जाता है वह पश्चात्कर्म है। हाथको मामूली जल लगा रहे तो सस्निग्ध है और स्पष्ट रूपसे हो तो जलार्द्र है। प्रत्येक वनस्पति आम्र फलादि, अनन्तकाय वनस्पति, कटहल आदिके तत्काल बनाये टुकड़ोंसे यदि हस्तादि लिप्त हो तो वनस्पति म्रक्षित है। शेष तीन अग्नि, वायु और त्रस इन तीनोंसे म्रक्षित नहीं माना है क्योंकि लोकमें इनसे म्रक्षित होनेपर भी म्रक्षित नहीं कहा जाता। इसी तरह निक्षिप्तके भी अनेक भेद-प्रभेदोंका कथन है ॥३०॥

छोटित दोषको कहते हैं—

छोटित दोषके पाँच प्रकार हैं। संयमीके द्वारा बहुत-सा अन्न नीचे गिराते हुए थोडा खाना १, परोसनेवाले दाताके द्वारा हाथमें तक्र आदि देते हुए यदि गिरता हो तो ऐसी

भुज्यते। यद्वा भित्वा करौ—हस्तपुटं पृथक्कृत्य भुज्यते। यद्वा त्यक्त्वानिष्टं—अनभिरुचितमुज्झित्वा इष्टं भुज्यते, तत्पञ्चप्रकारमपि छोटितमित्युच्यते ॥३१॥

अथापरिणतदोषमाह—

तुषचण-तिल-तण्डुल-जलमुष्णजलं च स्ववर्णगन्धरसैः।
अरहितमपरमपीदृशमपरिणतं तन्न मुनिभिरुपयोज्यम् ॥३२॥

तुषेत्यादि—तुषप्रक्षालनं चणकप्रक्षालनं तिलप्रक्षालनं तण्डुलप्रक्षालनं वा यच्चोष्णजलं तप्तं भूत्वा शीतमुदकं स्ववर्णाद्यैरपरित्यक्तमन्यदपीदृशमपरिणतं हरीतकीचूर्णादिना अविध्वस्तं यज्जलं तन्मुनिभिस्त्याज्यमित्यर्थः। तुषजलादीनि परिणतान्येव ग्राह्याणीति भाव.। उक्तं च—

'तिल-तंडुल-उसणोदय-चणोदय तुसोदयं अविद्धत्थं।
अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गिण्हिज्जो ॥' [मूलाचार, गा. ४७३]

अपि च—

'तिलादिजलमुष्णं च तोयमन्यच्च तादृशम्।
कराद्यताडितं चैव गृहीतव्यं मुमुक्षुभिः ॥' [ ] ॥३२॥

अथ साधारणदोषमाह—

यद्दातुं संभ्रमाद्वस्त्राद्याकृष्यान्नादि दीयते।
असमीक्ष्य तदादानं दोषः साधारणोऽशने ॥३३॥

सम्भ्रमात्—संक्षोभाद् भयादादराद्वा। असमीक्ष्य—सम्यगपर्यालोच्य, अन्नादि। उक्त च—

'संभ्रमाहरणं कृत्वाऽऽदातुं पात्रादिवस्तुनः।
असमीक्ष्यैव यद्देय दोष. साधारणः स तु ॥' [ ] ॥३३॥

अवस्थामें उसे ग्रहण करना २, अथवा मुनिके हाथसे तक्र आदि नीचे गिरता हो तो भी भोजन करना ३, दोनों हथेलियोंको अलग करके भोजन करना ४ और जो न रुचे उसे खाना ये सब छोटित दोष हैं ॥३१॥

अपरिणत दोषको कहते हैं—

तुष, चना, तिल और चावलके धोवनका जल, और वह जल जो गर्म होकर ठण्डा हो गया हो, जिसके रूप, रस और गन्धमें परिवर्तन न हुआ हो अर्थात् हरड़के चूर्ण आदिसे जो अपना रूप-रस आदि छोड़कर अन्य रूप-रसवाला न हुआ हो उसको अपरिणत कहते हैं। ऐसा जल मुनियोंके उपयोगके योग्य नहीं है ॥३२॥

विशेषार्थ—श्वे. पिण्डनिर्युक्ति (गा. ६०९ आदि) में अपरिणतका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—जैसे दूध दूधरूपसे भ्रष्ट होकर दधिरूप होनेपर परिणत कहा जाता है, वैसे ही पृथिवी कायादिक भी स्वरूपसे सजीव होनेपर यदि सजीवत्वसे मुक्त नहीं हुए तो अपरिणत कहे जाते हैं और जीवसे मुक्त होनेपर परिणत कहे जाते हैं। अपरिणतके अनेक भेद कहे हैं ॥३२॥

साधारण दोषको कहते हैं—

देनेके भावसे, घबराहटसे या भयसे वस्त्र, पात्र आदिको बिना विचारे खींचकर जो अन्न आदि साधुको दिया जाता है उसका ग्रहण करना भोजनका साधारण नामक दोष है ॥३३॥

अथ दायकदोषमाह—

मलिनी-गर्भिणी-लिङ्गिन्यादिनार्या नरेण च ।
शवादिनाऽपि क्लीबेन दत्तं दायकदोषभाक् ॥३४॥

मलिनी—रजस्वला । गर्भिणी—गुरुभारा । शवः—मृतकं स्मशाने प्रक्षिप्यागतो मृतकसूतकयुक्तो वा । आदिशब्दाद् व्याधितादि. । उक्तं च—

'सूती शौण्डी तथा रोगी शवः षण्ढः पिशाचवान् ।
पतितोच्चारनग्नाश्च रक्ता वेश्या च लिङ्गिनी ॥
वान्ताऽभ्यक्ताङ्गिका चातिबाला वृद्धा च गर्भिणी ।
अदन्त्यन्धा निषण्णा च नीचोच्चस्था च सान्तरा ॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें इस दोषका नाम संव्यवहरण है । संव्यवहरणका अर्थ टीकाकारने किया है—जल्दीसे व्यवहार करके या जल्दीसे आहरण करके । इसीपर से इस दोषका नाम संव्यवहरण ही उचित प्रतीत होता है । श्वे. पिण्डनिर्युक्तिमें भी इसका नाम संहरण है । पं. आशाधरजीने साधारण नाम किसी अन्य आधारसे दिया है । किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं होता क्योकि इस दोषका जो स्वरूप है वह साधारण शब्दसे व्यक्त नहीं होता । संव्यवहरण या संहरण शब्दसे ही व्यक्त होता है । अनगार धर्मामृतकी पं. आशाधरजीकी टीकामें इस प्रकरणमें जो प्रमाण उद्धृत किये है वे अधिकतर संस्कृत श्लोक है । वे श्लोक किस ग्रन्थके हैं यह पता नही चल सका है फिर भी मूलाचारकी गाथाओंके साथ तुलना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे श्लोक मूलाचारकी गाथाओपर-से ही रचे गये है । उसीमें इस दोषका नाम साधारण लिखा है । किन्तु उसके लक्षणमें जो 'संभ्रम आहरण' पद प्रयुक्त हुआ है उसीसे इस दोषका नाम संव्यवहरण सिद्ध होता है साधारण नहीं ॥३३॥

आगे दायक दोषको कहते है—

रजस्वला, गर्भिणी, आर्यिका आदि स्त्रीके द्वारा तथा मृतकको श्मशान पहुँचाकर आये हुए या मृतकके सूतकवाले मनुष्यके द्वारा और नपुंसकके द्वारा दिया गया दान दायक दोषसे युक्त होता है ॥३४॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें लिखा है—'जिसके प्रसव हुआ है, जो मद्यपायी है, रोगी है, मृतकको श्मशान पहुँचाकर आया है, या मृतकके सूतकवाला है, नपुंसक है, भूतसे ग्रस्त है,

१ 'सववहरण किच्चा पदादुमिदि चेलभायणा दोणं ।
असमिक्खिय ज देयं संववहरणो हवदि दोसो' ॥—मूला. ६।४८

२. सूदी सुडी रोगी मदय-णवुसय-पिसाय-णग्गो य ।
उच्चार-पडिद-वंत-रुहिर-वेसी समणी अंगमक्खीया ॥
अतिवाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अधलिया ।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था ॥
पूयण पज्जलणं वा सारण पच्छादण च विज्झवण ।
किच्चा तहाग्गीकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ॥
लेवण मज्जणकम्म पियमाणं दारयं च णिक्खविय ।
एव विहादिया पुण दाण जदि दिति दायगा दोसा ॥ —मूलाचार ४९-५२ गा. ।

फूत्कारं ज्वालनं चैव सारणं छादनं तथा।
विध्यापनाग्निकार्ये च कृत्वा निश्च्यावघट्टने ॥
लेपनं मार्जनं त्यक्त्वा स्तनलग्नं शिशुं तथा।
दीयमाने हि दानेऽस्ति दोषो दायकगोचरः ॥' [ ]

सूती—बालप्रसाधिका। शौण्डी—मद्यपानलम्पटा। पिशाचवान्—वाताद्युपहतः पिशाचगृहीतो वा। पतित·—मूर्छागतः। उच्चारः—उच्चारमूत्रादीन् कृत्वाऽगत.। नग्नः—एकवस्त्रो वस्त्रहीनो वा। रक्ता—रुधिरसहिता। लिङ्गिनी—आर्यिका अथवा पञ्चश्रमणिका रक्तपटिकादय·। वान्ता—छर्दि कृत्वा आगता। अभ्यक्ताङ्गिका—अङ्गाभ्यञ्जनकारिणी अभ्यक्तशरीरा वा। अदन्ती—यत् किंचिद् भक्षयन्ती। निषण्णा—उपविष्टा। नीचोच्चस्था—नीचे उच्चे वा प्रदेशे स्थिता। सान्तरा—कुण्ड्यादिभिर्व्यवहिता। फूत्कारं—सन्धुक्षणम्। ज्वालन—मुखवातेनान्येन वा अग्निकाष्ठादीनां प्रलेपनं (प्रदीपनं)। सारणं—काष्ठादीनामुत्कर्षणम्। छादनं—भस्मादिना अग्नेः प्रच्छादनम्। विध्यापनं—जलादिना निर्वापणम्। अग्निकार्यं—अग्नेरितस्तत. करणम्। निश्च्याव.—काष्ठादिपरित्याग। घट्टनं—अग्नेरुपरि कुम्भ्यादिचालनम्। लेपन—गोमयकर्दमादिना कुड्यादेरुपदेहम्। मार्जन—स्नानादिकं कर्म, 'कृत्वा' इति संबन्धः। शौण्डा रोगीत्यादिषु लिङ्गमतन्त्रम् ॥३४॥

अथ लिप्तदोषमाह—

यद्गैरिकाविनाऽऽमेन शाकेन सलिलेन वा।
आर्द्रेण पाणिना देयं तल्लिप्तं भाजनेन वा ॥३५॥

गैरिकादिना, आदिशब्दात् खटिकादि विशेषणकरणे वा तृतीया। आमेन—अपक्वेन तण्डुलादिपिष्टेन। उक्तं च—

'गेरुयहरिदालेण व सेढोय मणोसिलामपिट्ठेण।
सपवालदगुल्लेण[1] व देयं करभाजणे लित्तं ॥' [मूलाचार, गा. ४७४] ॥३५॥

नग्न है, मलमूत्र आदि त्यागकर आया है, मूर्च्छित है, जिसे वमन हुआ है, जिसके खून बहता है, जो वेश्या है, आर्यिका है, तेल मालिश करनेवाली है, अति बाला है, अति वृद्धा है, भोजन करती हुई है, गर्भिणी है, अन्ध है, पर्देमें है, बैठी हुई है, नीचे या ऊँचे प्रदेशपर खड़ी है, ऐसी स्त्री हो या पुरुष उसके हाथसे भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। मुँहकी हवासे या पंखेसे अग्निको फूँकना, अग्निसे लकड़ी जलाना, लकड़ी सरकाना, राखसे अग्निको ढाकना, पानीसे बुझाना, तथा अग्नि सम्बन्धी अन्य भी कार्य करना, लकड़ी छोड़ना, अग्निको खींचना, गोबर लीपना, स्नान आदि करना, दूध पीते हुए बालकको अलग करना, इत्यादि कार्य करते हुए यदि दान देती है या देता है तो दायक दोष है। पिण्डनिर्युक्ति (गा ५७२-५७७) में भी इसी प्रकार ४० दायक दोष बतलाये हैं और प्रत्येकमें क्यों दोष है यह भी स्पष्ट किया है।

लिप्त दोषको कहते हैं—

गेरु, हरताल, खड़िया मिट्टी आदिसे, कच्चे चावल आदिकी पिट्ठीसे, हरे शाकसे, अप्रासुक जलसे लिप्त हाथसे या पात्रसे या दोनों ही से आहारादि दिया जाता है वह लिप्त नामक दोष है ॥३५॥

---

१. लोदणलेवेण व—मूलाचार।

अथ विमिश्रदोषमाह—

पृथ्व्याऽप्रासुकयाऽद्‌भिश्च बीजेन हरितेन यत् ।
मिश्रं जीवत्त्रसैश्चान्नं महादोषः स मिश्रकः ॥३६॥

पृथ्व्या—मृत्तिकया । बीजेन—यवगोधूमादिना । हरितेन—पत्रपुष्पफलादिना । महादोषः—सर्वथा वर्जनीय इत्यर्थः । उक्तं च—

'सजीवा पृथिवी तोयं नीलं बीजं तथा त्रसः ।
अमीभि. पञ्चभिर्मिश्र आहारो मिश्र इष्यते ॥' [ ] ॥३६॥

अथाङ्गार-धूम-संयोजमाननामानो दोषास्त्रयो व्याख्यायन्ते—

गृद्धयाङ्गारोऽश्नतो धूमो निन्दयोष्णहिमादि च ।
मिथो विरुद्धं संयोज्य दोषः संयोजनाह्वयः ॥३७॥

गृद्धया—'सुष्ठु रोच्यमिदमिष्टं मे यद्यन्यदपि लभेयं तदा भद्रकं भवेत्' इत्याहारेऽतिलाम्पट्येन । निन्दया—विरूपकमेतदनिष्टं ममेति जुगुप्सया । उष्णहिमादि—उष्ण शीतेन शीतं चोष्णेन । आदिशब्दाद् रूक्षं स्निग्धेन स्निग्धं च रूक्षेणेत्यादि । तथा आयुर्वेदोक्त क्षीराम्लाद्यपि । संयोज्य—आत्मना योजयित्वा । उक्तं च—

'उक्तः संयोजनादोषः स्वयं भक्तादियोजनात् ।
आहारोऽतिप्रमाणोऽस्ति प्रमाणगतदूषणम् ॥' [ ] ॥३७॥

मिश्र दोषको कहते है—

अप्रासुक मिट्टी, जल, जौ-गेहूँ आदि बीज, हरित पत्र-पुष्प-फल आदिसे तथा जीवित दो इन्द्रिय आदि जीवोंसे मिश्रित जो आहार साधुको दिया जाता है वह मिश्र नामक महादोष है ॥३६॥

इस प्रकार भोजन सम्बन्धी दोषोंको बतलाकर भुक्ति सम्बन्धी चार दोषोंका कथन करनेकी इच्छासे पहले अंगार आदि तीन दोषोंको कहते है—

'यह भोज्य बड़ा स्वादिष्ट है, मुझे रुचिकर है, यदि कुछ और भी मिले तो बड़ा अच्छा हो' इस प्रकार आहारमें अति लम्पटतासे भोजन करनेवाले साधुके अंगार नामक भुक्ति दोष होता है। 'यह भोज्य बड़ा खराब है, मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता', इस प्रकार ग्लानिपूर्वक भोजन करनेवाले साधुके धूम नामक भुक्ति दोप होता है। परस्परमें विरुद्ध उष्ण, शीत, स्निग्ध, रूक्ष आदि पदार्थोंको मिलाकर भोजन करनेसे संयोजना नामक भुक्ति दोप होता है ॥३७॥

विशेषार्थ—सुस्वादु आहारको अतिगृद्धिके साथ खानेको अंगार दोष और विरूप आहारको अरुचिपूर्वक खानेको धूम दोष कहा है। इन दोषोंको अंगार और धूम नाम क्यों दिये गये, इसका स्पष्टीकरण पिण्डनिर्युक्तिमें बहुत सुन्दर किया है। लिखा है—जो इंधन जलते हुए अंगारदशाको प्राप्त नहीं होता वह धूम सहित होता है और वही इंधन जलनेपर अंगार हो जाता है। इसी तरह यहाँ भी चारित्ररूपी इंधन रागरूपी अग्निसे जलनेपर अंगार कहा जाता है। और द्वेषरूपी अग्निसे जलता हुआ चारित्ररूपी इंधन धूम सहित

अथाहारमात्रा निर्दिश्यातिमात्रसंज्ञदोषमाह—

सव्यञ्जनाशनेन द्वौ पानेनैकमंशमुदरस्य।
भृत्वाऽभृतस्तुरीयो मात्रा तदतिक्रमः प्रमाणमलः ॥३८॥

व्यञ्जनं—सूपशालनादि। तुरीयः—चतुर्थः कुक्षिभागः।

उक्तं च—

'अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥' [ ]

दोषत्वं चात्र स्वाध्यायावश्यकक्षति-निद्रालस्याद्युद्भवज्वरादिव्याधिसंभवदर्शनात् ॥३८॥

होता है। इसी तरह—रागरूपी अग्निसे जलता हुआ साधु प्रासुक भी आहारको खाकर चारित्ररूप ईंधनको शीघ्र ही जले हुए अंगारके समान करता है और द्वेषरूप अग्निसे जलता हुआ साधु अप्रीतिरूपी धूमसे युक्त चारित्ररूपी ईंधनको तबतक जलाता है जबतक वह अंगारके समान नहीं होता। अतः रागसे ग्रस्त मुनिका भोजन अंगार है क्योंकि वह चारित्ररूपी ईंधनके लिए अंगार तुल्य है। और द्वेषसे युक्त साधुका भोजन सधूम है, क्योंकि वह भोजनके प्रति निन्दात्मक कलुषभावरूप धूमसे मिश्रित है ॥३७॥

आगे आहारके परिमाणका निर्देश करके अतिमात्र नामक दोषको कहते हैं—

साधुको उदरके दो भाग दाल शाक सहित भात आदिसे भरना चाहिए और उदरका एक भाग जल आदि पेयसे भरना चाहिए। तथा चौथा भाग खाली रखना चाहिए। इसका उल्लंघन करनेपर प्रमाण नामक दोष होता है ॥३८॥

विशेषार्थ—आगममें भोजनकी मात्रा इस प्रकार[३] कही है—पुरुषके आहारका प्रमाण बत्तीस ग्रास है और स्त्रीके आहारका प्रमाण अट्ठाईस ग्रास है। इतनेसे उनका पेट भर जाता है। इससे अधिक आहार करनेपर प्रमाण नामक दोष होता है। पिण्डनिर्युक्तिमें उदरके छह भाग किये हैं। उसका आधा अर्थात् तीन भाग उदर तो व्यंजन सहित अन्नसे भरना चाहिए। दो भाग पानीसे और छठा भाग वायुके संचारके लिए खाली रखना चाहिए। ऊपर उदरके चार भाग करके एक चतुर्थांश उदरको खाली रखनेका विधान किया है। कालकी अपेक्षा इसमें परिवर्तन करनेका विधान पिण्डनिर्युक्तिमें है। तीन काल हैं—शीत, उष्ण और साधारण। अति शीतकालमें पानीका एक भाग और भोजनके चार भाग कल्पनीय हैं। मध्यम शीतकालमें पानीके दो भाग और तीन भाग भोजन ग्राह्य है। मध्यम उष्ण कालमें भी दो भाग पानी और तीन भाग भोजन कल्पनीय है। अति उष्ण कालमें तीन भाग पानी और दो भाग भोजन ग्राह्य है। सर्वत्र छठा भाग वायु संचारके लिए रखना उचित है ॥३८॥

---

१. आश्रमं भ. कु. च.।

२. रागग्गिसंपलित्तो भुंजंतो फासुयं पि आहारं।
निद्दड्ढंगालनिभं करेइ चरणिंधणं खिप्पं ॥
दोसग्गिवि जलंतो अप्पत्तिय धूमधूमियं चरणं।
अंगारमित्त सरिसं जा न हवइ निद्दही ताव ॥—पिण्डनि. ६५७-६५८।

३. बत्तीसं किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होई।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं हवे कवला ॥—भग. आ. २१२ गा., पिण्ड नि., गा. ६४२।

अथ चतुर्दशमलानाह—

पूयास्रपलास्थ्यजिनं नखः कचमृतविकलत्रिके कन्दः ।
बीजं मूलफले कणकुण्डौ च मलाश्चतुर्दशान्नगताः ॥३९॥

पूयं—व्रणक्लेदः । मृतविकलत्रिकं—निर्जीवद्वित्रिचतुरिन्द्रियत्रयम् । बीजं—प्ररोहयोग्यं यवादिकमिति टीकायाम्, अङ्कुरितमिति टिप्पणके । कणः—यवगोधूमादीनां बहिरवयव इति टीकायाम्, तण्डुलादीनि टिप्पणके । कुण्डः—शाल्यादीनामभ्यन्तरसूक्ष्मावयवा इति टीकायाम्, बाह्ये पक्वोऽभ्यन्तरे चापक्व इति टिप्पणके । एते चाष्टविधपिण्डशुद्धावपठिता इति पृथगुक्ताः । उक्तं च—

'णह-रोम-जंतु अट्ठी-कण-कुंडय-पूय-चम्म-रुहिर-मंसाणि ।
बीय-फल-कंद-मूला छिण्णाणि मला चउदसा हुंति ॥' [मूलाचार ६।६४] ॥३९॥

अथ पूयादिमलानां महन्मध्याल्पदोषत्वख्यापनार्थमाह—

पूयादिदोषे त्यक्त्वापि तदन्नं विधिवच्चरेत् ।
प्रायश्चित्तं नखे किंचित् केशादौ त्वन्नमुत्सृजेत् ॥४०॥

त्यक्त्वापीत्यादि । महादोषत्वादित्यत्र हेतुः । किंचित्—त्यक्त्वाप्यन्नं प्रायश्चित्तं किंचिदल्पं कुर्यान्मध्यमदोषत्वादित्यर्थः । अन्नमुत्सृजेत्—न प्रायश्चित्तं चरेदल्पदोषत्वात् ॥४०॥

अथ कन्दादिषट्कस्याहारात् पृथक्करणतत्त्यागकरणत्वविधिमाह—

कन्दादिषट्कं त्यागार्हमित्यन्नाद्विभजेन्मुनिः ।
न शक्यते विभक्तुं चेत् त्यज्यतां तर्हि भोजनम् ॥४१॥

त्यागार्हं—परिहारयोग्यम् । विभजेत्—कथमप्यन्ते संसक्तं तत पृथक्कुर्यात् ॥४१॥

इस प्रकार छियालीस पिण्ड दोषोंको कहकर उसके चौदह मलोंको बतलाते हैं—

पीव, रुधिर, मांस, हड्डी, चर्म, नख, केश, मरे हुए विकलत्रय—दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, कन्द, सूरण आदि, बीज—उगने योग्य जौ वगैरह या अंकुरित जौ वगैरह, मूली-आदी वगैरह, फल—वेर वगैरह, कण—गेहूँ वगैरहका बाह्य भाग या चावल वगैरह, कुण्ड—धान वगैरहका आभ्यन्तर सूक्ष्म अवयव, ये चौदह आहार सम्बन्धी मल हैं ॥३९॥

विशेषार्थ—भोजनके समय इनमें-से कुछ वस्तुओंका दर्शन या स्पर्शन होनेपर कुछके भोजनमें आ जानेपर आहार छोड़ दिया जाता है। आठ प्रकारकी पिण्ड शुद्धिमें इनका कथन न होनेसे अलगसे इनका कथन किया है।

पीव आदि मलोंमें महान्, मध्यम और अल्प दोष बतलाते हैं—

यदि खाया जानेवाला भोजन पीव, रुधिर, मांस, हड्डी और चर्मसे दूषित हुआ है तो यह महादोष है। अतः उस भोजनको छोड़ देनेपर भी प्रायश्चित्त शास्त्रमें कहे गये विधानके अनुसार प्रायश्चित्त लेना चाहिए। तथा नख दोषसे दूषित भोजनको त्याग देनेपर भी थोड़ा प्रायश्चित्त करना चाहिए। यह मध्यम दोष है। यदि भोजनमें केश या मरे हुए विकलेन्द्रिय जीव हों तो भोजन छोड़ देना चाहिए, प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह अल्प दोष है ॥४०॥

कन्द आदि छह दोषोंको आहारसे अलग करनेकी या भोजनको ही त्यागनेकी विधि कहते हैं—

कन्द, मूल, फल, बीज, कण और कुण्ड ये छह त्याज्य हैं तथा इन्हें भोजनसे अलग

अथ द्वात्रिंशतमन्तरायान् व्याख्यातुमुपक्षिपति—

प्रायोऽन्तरायाः काकाद्याः सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
द्वात्रिंशद्व्याकृताः प्राच्यैः प्रामाण्या व्यवहारतः ॥४२॥

प्रायः । एतेनाभोज्यगृहप्रवेशादेः सिद्धभक्तेः प्रागप्यन्तरायत्वं भवतीति बोधयति । तथा द्वात्रिंशतोऽतिरिक्ता अप्यन्तराया यथाम्नायं भवन्तीति च । व्याकृताः—व्याख्याता न सूत्रिताः । प्राच्यैः—टीकाकारादिभिः । उक्तं च मूलाचारटीकाया (गा. ३४) स्थितिभोजनप्रकरणे—

'न चैतेऽन्तरायाः सिद्धभक्तावकृताया गृह्यन्ते सर्वदैव भोजनाभावः स्यात् । न चैवं, यस्मात् सिद्धभक्तिं यावन्न करोति तावदुपविश्य पुनरुत्थाय भुंक्ते । मांसादीन् दृष्ट्वा च रोदनादिश्रवणेन च उच्चारादींश्च कृत्वा भुंक्ते । न च तत्र काकादिपिण्डहरणं सभवति' ॥४२॥

अथ काकाख्यलक्षणमाह—

काकश्वादिविडुत्सर्गो भोक्तुमन्यत्र यात्यधः ।
यतौ स्थिते वा काकाख्यो भोजनत्यागकारणम् ॥४३॥

काकेत्यादि । काकश्येन-शुनक-मार्जारादिविष्टापरिपतनमित्यर्थः ॥४३॥

किया जा सकता है । अतः मुनि इन्हें भोजनसे अलग कर दे । यदि इन्हें भोजनसे अलग करना शक्य न हो तो भोजन ही त्याग देना चाहिए ॥४१॥

बत्तीस अन्तरायोंको कहते हैं—

पूर्व टीकाकारोंने प्रायः सिद्धभक्तिके पश्चात् काक आदि बत्तीस अन्तरायोंका व्याख्यान किया है । अतः मुनियोंको वृद्ध परम्परासे आगत देश आदिके व्यवहारको लेकर उन्हें प्रमाण मानना चाहिए ॥४२॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि भोजनके अन्तरायोंका कथन मूल ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता । टीकाकार वगैरहने उनका कथन किया है । तथा ये अन्तराय सिद्ध भक्ति करनेके बाद ही माने जाते हैं । मूलाचारकी टीकामें (गा. ३४) स्थिति भोजन प्रकरणमें कहा है—ये अन्तराय सिद्ध भक्ति यदि न की हो तो मान्य नहीं होते । यदि ऐसा हो तो सर्वदा ही भोजनका अभाव हो जायेगा । किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि जबतक साधु सिद्ध भक्ति नहीं करता तब तक बैठकर और पुनः खड़े होकर भोजन कर सकता है । मांस आदिको देखकर, रोनेके शब्दको सुनकर तथा मल-मूत्र आदिका त्याग करके भोजन करता है । 'प्रायः' कहनेसे कोई-कोई अन्तराय सिद्ध भक्ति करनेसे पहले भी होते है यह सूचित होता है । जैसे 'अभोज्य गृहप्रवेश' अर्थात् ऐसे घरमें प्रवेश जिसका भोजन ग्राह्य नहीं है । यह भी एक अन्तराय माना गया है । यद्यपि मूलाचारके पिण्डशुद्धि नामक अध्यायमें अन्तरायोंका कथन है फिर भी पं. आशाधरजीका यह कहना कि अन्तरायोंका कथन टीकाकार आदिने किया है, 'व्याकृताः—व्याख्याता, न सूत्रिताः' । सूत्र ग्रन्थोंमें सूचित नहीं है, चिन्तनीय है कि उनके इस कथनका वास्तविक अभिप्राय क्या है ? वैसे श्वेताम्बरीय पिण्डनिर्युक्तिमें, जिसे भद्रबाहु कृत माना जाता है, अन्तरायोंका कथन नहीं है ॥४२॥

काक नामक अन्तरायका लक्षण कहते हैं—

किसी कारणसे सिद्ध भक्ति करनेके स्थानसे भोजन करनेके लिए साधुके अन्यत्र जाने अथवा भोजनके लिए खड़े होनेपर यदि काक, कुत्ता, बिल्ली आदि टट्टी कर दें तो काक नामक अन्तराय होता है और वह भोजनके त्यागका कारण होता है ॥४३॥

अथामेध्यछर्दिरोधननाम्नस्त्रीनाह[1]—

लेपोऽमेध्येन पादादेरमेध्यं छर्दिरात्मना ।
छर्दनं रोधनं तु स्यान्मा भुङ्क्ष्वेति निषेधनम् ॥४४॥

अमेध्येन—अशुचिना । पादादेः—चरणजङ्घाकाद्यादिकस्य[2] । निषेधनं—चरणकादिना भोजन-निवारणम् ॥४४॥

अथ रुधिराश्रुपातजान्वध.परामर्शाख्यांस्त्रीन् श्लोकद्वयेनाह—

रुधिरं स्वान्यदेहाभ्यां वहतश्चतुरङ्गुलम् ।
उपलम्भोऽस्रपूयादेरश्रुपातः शुचात्मनः ॥४५॥
पातोऽश्रूणां मृतेऽन्यस्य क्वापि वाक्रन्दतः श्रुतिः ।
स्याज्जान्वधः परामर्शः स्पर्शो हस्तेन जान्वधः ॥४६॥

उपलम्भः—दर्शनम् । शुचा—शोकेन च धूमादिना ॥४५॥

अन्यस्य—अन्यसन्निकृष्टस्य ॥४६॥

अथ जानूपरिव्यतिक्रम-नाभ्यधोनिर्गमन-प्रत्याख्यातसेवन-जन्तुवध-नाम्नश्चतुर. श्लोकद्वयेनाह—

जानुदघ्नतिरश्चीन-काष्ठाद्युपरि लङ्घनम् ।
जानुव्यतिक्रमः कृत्वा निर्गमो नाभ्यधः शिरः ॥४७॥
नाभ्यधो निर्गमः प्रत्याख्यातसेवोज्झिताशनम् ।
स्वस्याग्रेऽन्येन पञ्चाक्षघातो जन्तुवधो भवेत् ॥४८॥

आगे अमेध्य, छर्दि और अन्तराय नामक तीन अन्तरायोंको कहते हैं—

मार्गमें जाते हुए साधुके पैर आदिमें विष्टा आदिके लग जानेसे अमेध्य नामका अन्तराय होता है। किसी कारणसे साधुको वमन हो जाये तो छर्दि नामका अन्तराय होता है। आज भोजन मत करो इस प्रकार किसीके रोकनेपर रोधन नामका अन्तराय होता है। अन्तराय होनेपर भोजन त्याग देना होता है ॥४४॥

रुधिर, अश्रुपात और जानु अध परामर्श इन तीन अन्तरायोंको कहते हैं—

अपने या दूसरेके शरीरसे चार अंगुल या उससे अधिक तक बहता हुआ रुधिर, पीव आदि देखनेपर साधुको रुधिर नामक अन्तराय होता है। यदि रुधिरादि चार अंगुलसे कम बहता हो तो उसका देखना अन्तराय नहीं है। शोकसे अपने आँसू गिरनेसे या किसी सम्बन्धीके मर जानेपर ऊँचे स्वरसे विलाप करते हुए किसी निकटवर्ती पुरुष या स्त्रीको सुननेपर भी अश्रुपात नामक अन्तराय होता है। यदि आँसू धुएँ आदिसे गिरे हों तो वह अश्रुपात अन्तराय नहीं है। सिद्ध भक्ति करनेके पश्चात् यदि साधुके हाथसे अपने घुटनेके नीचेके भागका स्पर्श हो जाये तो जानु अधःस्पर्श नामक अतीचार होता है ॥४५–४६॥

जानूपरिव्यतिक्रम, नाभिअधोनिर्गमन, प्रत्याख्यातसेवन और जन्तुवध नामक चार अतीचारोंको दो श्लोकोंसे कहते हैं—

घुटने तक ऊँचे तथा मार्गावरोधके रूपमें तिरछे रूपसे स्थापित लकड़ी, पत्थर आदिके ऊपरसे लाँघकर जानेपर जानुव्यतिक्रम नामक अतीचार होता है। नाभिसे नीचे तक सिरको

---

१. स्त्रीनन्तरायानाह भ. कु. च.।

२. ङ्घाजान्वादेः भ. कु. च.।

तिरश्चीनं—तिर्यक् स्थापितम् । जानूव्यतिक्रमः—जानूपरिव्यतिक्रमाख्यः ॥४७॥

उज्झिताशनं—नियमितवस्तुसेवनम् ॥४८॥

अथ काकादिपिण्डहरणं पाणिपिण्डपतनं पाणिजन्तुवधं मांसादिदर्शनमुपसर्गं पाद्यन्तरं पञ्चेन्द्रियगमनञ्च षट् त्रिभिः श्लोकैराह—

> काकादिपिण्डहरणं काकगृध्राधिना करात् ।
> पिण्डस्य हरणे ग्रासमात्रपातेऽश्नतः करात् ॥४९॥
> स्यात्पाणिपिण्डपतनं पाणिजन्तुवधः करे ।
> स्वयमेत्य मृते जीवे मांसमद्यादिदर्शने ॥५०॥
> मांसादिदर्शनं देवाद्युपसर्गे तदाह्वयः ।
> पादान्तरेण पञ्चाक्षगमे तन्नामकोऽश्नतः ॥५१॥

स्पष्टानि ॥५१॥

अथ भाजनसंपातमुच्चारं च द्वावाह—

> भूमौ भाजनसंपाते पारिवेषिकहस्ततः ।
> तदाख्यो विघ्न उच्चारो विष्टायाः स्वस्य निर्गमे ॥५२॥

स्पष्टम् ॥५२॥

अथ प्रस्रवणमभोज्यगृहप्रवेशनं च द्वावाह—

नवाकर जानेपर साधुको नाभिअधोनिर्गम नामक अतीचार होता है। यदि साधु देव-गुरुकी साक्षी पूर्वक छोड़ी हुई वस्तुको खा लेता है तो प्रत्याख्यात सेवा नामक अन्तराय होता है। यदि साधुके सामने बिलाव वगैरह पंचेन्द्रिय चूहे आदिकी हत्या कर देता है तो जन्तुवध नामक अन्तराय होता है ॥४७-४८॥

काकादि पिण्डहरण, पाणिपिण्डपतन, पाणिजन्तुवध, मांसादि दर्शन, उपसर्ग और पादान्तर पंचेद्रिय गमन नामक छह अतीचारोंको तीन श्लोकोंसे कहते हैं—

भोजन करते हुए साधुके हाथसे यदि कौआ, गृद्ध वगैरह भोजन छीन ले जाये तो काकादि पिण्डहरण नामक अन्तराय होता है। भोजन करते हुए साधुके हाथसे यदि ग्रास मात्र गिर जाये तो पाणिपिण्डपतन नामक अन्तराय होता है। भोजन करते हुए साधुके हाथमें यदि कोई जीव आकर मर जावे तो पाणिजन्तुवध नामक अन्तराय होता है। भोजन करते हुए साधुको यदि मद्य, मांस आदिका दर्शन हो जाये तो मांसादि दर्शन नामक अन्तराय होता है। साधुके ऊपर देव, मनुष्य, तिर्यंचमें-से किसीके भी द्वारा उपसर्ग होनेपर उपसर्ग नामक अन्तराय होता है। भोजन करते हुए साधुके दोनों पैरोंके मध्यसे यदि कोई पंचेन्द्रिय जीव गमन करे तो पादान्तर पंचेन्द्रियगमन नामक अन्तराय होता है ॥४९-५१॥

भाजनसंपात और उच्चार नामक दो अन्तरायोंको कहते हैं—

साधुके हस्तपुटमें जल आदि देनेवालेके हाथसे भूमिपर पात्रके गिरनेपर भाजनसंपात नामक अन्तराय होता है। तथा साधुके गुदाद्वारसे विष्टा निकल जानेपर उच्चार नामक अन्तराय होता है ॥५२॥

प्रस्रवण और अभोज्य गृहप्रवेश नामक अन्तरायोंको कहते हैं—

मूत्राख्यो मूत्रशुक्रादेश्चाण्डालादिनिकेतने।
प्रवेशो भ्रमतो भिक्षोरभोज्यगृहवेशनम् ॥५३॥

शुक्रादेः—आदिशब्दादश्मर्यादिग्र। स्वस्य निर्गम इति वर्तते ॥५३॥

अथ पतनमुपवेशनं संदंश च त्रीनाह—

भूमौ मूर्छादिना पाते पतनाख्यो निषद्यया।
उपवेशनसंज्ञोऽसौ संदंशः श्वादिदंशने ॥५४॥

स्पष्टम् ॥५४॥

अथ भूमिसंस्पर्शं निष्ठीवनमुदरक्रिमिनिर्गमनमदत्तग्रहणं च चतुरो द्वाभ्यामाह—

भूस्पर्शः पाणिना भूमेः स्पर्शे निष्ठीवनाह्वयः।
स्वेन क्षेपे कफादेः स्यादुदरक्रिमिनिर्गमः ॥५५॥
उभयद्वारतः कुक्षिक्रिमिनिर्गमने सति।
स्वयमेव ग्रहेऽन्नादेरदत्तग्रहणाह्वयः ॥५६॥

स्वेन—आत्मना न कासादिवशत ॥५५॥ उभयद्वारत —गुदेन मुखेन वा ॥५६॥

अथ प्रहारं ग्रामदाहं पादग्रहणं करग्रहणं च चतुरो द्वाभ्यामाह—

प्रहारोऽस्यादिना स्वस्य प्रहारे निकटस्य वा।
ग्रामदाहोऽग्निना दाहे ग्रामस्योद्धृत्य कस्यचित् ॥५७॥
पादेन ग्रहणे पादग्रहणं पाणिना पुनः।
हस्तग्रहणमादाने भुक्तिविघ्नोऽन्तिमो मुनेः ॥५८॥

उद्धृत्य—भूमेरुत्क्षिप्य ॥५७॥ अन्तिमः—द्वात्रिंशः।

यदि साधुके मूत्र, वीय आदि निकल जाये तो मूत्र या प्रस्रवण नामक अतीचार होता है। भिक्षाके लिए घूमता हुआ साधु चाण्डाल आदिके घरमें यदि प्रवेश कर जाये तो अभोज्य गृहप्रवेश नामक अन्तराय होता है ॥५३॥

पतन, उपवेशन और संदंश नामक अन्तरायोंको कहते हैं—

मूर्छा, चक्कर, थकान आदिके कारण साधुके भूमिपर गिर जानेपर पतन नामक अन्तराय होता है। भूमिपर बैठ जानेपर उपवेशन नामक अन्तराय होता है। और कुत्ता आदिके काटनेपर संदंश नामक अन्तराय होता है ॥५४॥

भूमिसंस्पर्श, निष्ठीवन, उदरक्रमिनिर्गमन और अदत्त ग्रहण नामक चार अन्तरायों-को दो श्लोकोंसे कहते हैं—

साधुके हाथसे भूमिका स्पर्श हो जानेपर भूमिस्पर्श नामक अन्तराय होता है। खाँसी आदिके बिना स्वयं कफ, थूक आदि फेंकनेपर निष्ठीवन नामक अन्तराय होता है। मुख या गुदामार्गसे पेटसे कीड़े निकलनेपर उदरक्रमिनिर्गमन नामक अन्तराय होता है। दाताके दिये बिना स्वयं ही भोजन, औषधि आदि ग्रहण करनेपर अदत्त ग्रहण नामक अन्तराय होता है ॥५५-५६॥

प्रहार, ग्रामदाह, पादग्रहण और करग्रहण नामक चार अन्तरायोंको दो श्लोकोंसे कहते है—

स्वयं मुनिपर या निकटवर्ती किसी व्यक्तिपर तलवार आदिके द्वारा प्रहार होनेपर प्रहार नामक अन्तराय होता है। जिस ग्राममें मुनिका निवास हो उस ग्रामके आगसे जल

अथ सुखस्मृत्यर्थमुद्देशगाथा लिख्यन्ते—

'कागा मिज्झा छद्दी रोघण रुधिरं च अंसुवादं च ।
जण्हूहेट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव ॥
णाहिअहोणिग्गमणं पच्चक्खिदसेवणाय जंतुवहो ।
कागादिपिण्डहरणं पाणीदो पिण्डपडणं च ॥
पाणीए जंतुवहो मांसादीदंसणेय उवसग्गो ।
पादंतेर पंचिंदियसंपादो भापणाणं च ॥
उच्चारं पस्सवणमभोज्जगिह पवेसणं तहा पडणं ।
उपवेसणं सदंसो भूमीसंफास-णिट्ठवणं ॥
उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहणं पहार गामदाहो य ।
पादेण किंचिगहणं करेण वा जं च भूमीदो ॥
एदे अण्णे बहुगा कारणभूदा अभोजणस्सेह ।
बीहण लोगदुगछण संजमणिव्वेदणट्ठं च ॥'

[मूलाचार, गा. ४९५–५००] ॥५८॥

अथार्याद्वयेन शेषं संगृह्णन्नाह—

तद्वच्चाण्डालादिस्पर्शः कलहः प्रियप्रधानमृती ।
भीतिर्लोकजुगुप्सा सधर्मसंन्यासपतनं च ॥५९॥
सहसोपद्रवभवनं स्वभुक्तिभवने स्वमौनभङ्गश्च ।
संयमनिर्वेदावपि बहवोऽनशनस्य हेतवोऽन्येऽपि ॥६०॥

भीतिः—यत्किंचिद्भयं पापभयं वा ॥५९॥ अनशनस्य—भोजनवर्जनस्य ॥६०॥

जानेपर ग्रामदाह नामक भोजनका अन्तराय होता है। मुनिके द्वारा भूमिपर पड़े रत्न, सुवर्ण आदिको पैरसे ग्रहण करनेपर पादग्रहण नामक अन्तराय होता है। तथा हाथसे ग्रहण करनेपर हस्तग्रहण नामक बत्तीसवाँ भोजनका अन्तराय होता है। इन अन्तरायोंके होनेपर मुनि भोजन ग्रहण नहीं करते ॥५७-५८॥

इस प्रकार भोजनके बत्तीस अन्तरायोंको कहकर दो पद्योंसे शेष अन्तरायोंका भी ग्रहण करते हैं—

काकादि नामक बत्तीस अन्तरायोंकी तरह चाण्डाल आदिका स्पर्श, लड़ाई-झगड़ा, प्रिय व्यक्तिकी मृत्यु या किसी प्रधान व्यक्तिकी मृत्यु, कोई भय या पापभय, लोकनिन्दा, साधर्मीका संन्यासपूर्वक मरण, अपने भोजन करनेके मकानमें अचानक किसी उपद्रवका होना, भोजन करते समय अवश्य करणीय मौनका भंग, प्राणिरक्षा और इन्द्रिय दमनके लिए संयम पालन तथा संसार शरीर और भोगोंसे विरक्ति इसी तरह अन्य बहुत-से कारण भोजन न करनेके होते हैं। अर्थात् यदि राजभय या लोकनिन्दा होती हो तो भी साधु भोजन नहीं करते। इसी तरह अपने संयमकी वृद्धि और वैराग्य भावके कारण भी भोजन छोड़ देते हैं ॥५९-६०॥

इस प्रकार अन्तरायका प्रकरण समाप्त होता है।

---

१. रम्मि जोवो सं—मूलाचार।

अथाहारकरणकारणान्याह—

क्षुच्छमं संयमं स्वान्यवैयावृत्यमसुस्थितिम् ।
वाञ्छन्नावश्यकं ज्ञानध्यानादींश्चाहरेन्मुनिः ॥६१॥

क्षुच्छमं—क्षुद्वेदनोपशमम् । ज्ञानं—स्वाध्याय. । आदिशब्देन क्षमादयो गृह्यन्ते । उक्तं च—

'वेयणवेज्जावच्चे किरियुट्ठारे य संजमट्ठाए ।
तवपाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहि आहारं ॥' [मूला. ४७९] ॥६१॥

अथ दयाक्षमादयो बुभुक्षार्तस्य न स्युरित्युपदिशति—

बुभुक्षाग्लपिताक्षाणां प्राणिरक्षा कुतस्तनी ।
क्षमादयः क्षुधार्तानां शङ्क्याश्चापि तपस्विनाम् ॥६२॥

स्पष्टम् ॥६२॥

अथ क्षुधाग्लानेन वैयावृत्यं दुष्करमाहारत्राणाश्च प्राणा योगिनामपीत्युपदिशति—

मुनिके आहार करनेके कारण बतलाते हैं—

भूखकी वेदनाका शमन करनेके लिए, संयमकी सिद्धिके लिए, अपनी तथा दूसरोंकी सेवाके लिए, प्राण धारणके लिए तथा मुनिके छह आवश्यक कर्तव्य, ज्ञान, ध्यान आदिके लिए मुनिको आहार करना चाहिए ॥६१॥

विशेषार्थ—मुनिके भोजनके छियालीस दोष सोलह अन्तराय आदि बतलानेसे भोजन-कीट मनुष्योंको ऐसा लग सकता है कि इतने प्रतिबन्ध क्यों लगाये गये हैं। इसके लिए ही यह बतलाया है कि साधुके भोजन करनेके उद्देश क्या हैं। वे जिह्वा या अन्य इन्द्रियोंकी तृप्ति और शरीरकी पुष्टिके लिए भोजन नहीं करते, किन्तु संयम-ज्ञान-ध्यानकी सिद्धिके लिए भोजन करते है। इन सबकी सिद्धि शरीरके बिना सम्भव नहीं होती और शरीर भोजनके बिना ठहर नहीं सकता। अतः शरीरको बनाये रखनेके लिए भोजन करते हैं। यदि शरीर अत्यन्त दुर्बल हो तो साधु अपना कर्तव्य कर्म भी नहीं कर सकता। और यदि शरीर अत्यन्त पुष्ट हो तो भी धर्मका साधन सम्भव नहीं है। मूलाचारमें कहा भी है—'मेरे शरीरमें युद्धादि करनेकी क्षमता प्राप्त हो इसलिए साधु भोजन नहीं करते, न आयु बढ़ानेके लिए, न स्वादके लिए, न शरीरकी पुष्टिके लिए, न शरीरकी चमक-दमकके लिए भोजन करते हैं। किन्तु ज्ञानके लिए, संयमके लिए और ध्यानके लिए ही भोजन करते हैं। यदि भोजन ही न करें तो ज्ञान-ध्यान नहीं हो सकता।

आगे कहते हैं कि भूखसे पीड़ित मनुष्यके दया-क्षमा आदि नहीं होतीं—

जिनकी इन्द्रियाँ भूखसे शक्तिहीन हो गयी हैं वे अन्य प्राणियोंकी रक्षा कैसे कर सकते हैं? जो तपस्वी भूखसे पीड़ित हैं उनके भी क्षमा आदि गुण शंकास्पद ही रहते हैं अर्थात् उनकी क्षमाशीलतामें भी सन्देह ही है। इसलिए क्षमाको वीरका भूषण कहा है ॥६२॥

आगे कहते हैं कि भूखसे पीड़ित व्यक्तिके द्वारा वैयावृत्य दुष्कर है—और योगियोंके भी प्राण आहारके बिना नहीं बचते—

---

१ 'ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठं तेजट्ठं ।
णाणट्ठ संजमट्ठ झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो' ॥—मूलाचार ६।६२ ।

क्षुत्पीतवीर्येण परः स्ववधार्तो दुरुद्धरः ।
प्राणाश्चाहारशरणा योगकाष्ठाजुषामपि ॥६३॥

पीतं—नाशितम् ॥६३॥

अथ भोजनत्यजननिमित्तान्याह—

आतङ्क उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुप्तये ।
कायकार्श्यतपःप्राणिदयाद्यर्थं च नाहरेत् ॥६४॥

आतङ्के—आकस्मिकोत्थितव्याधौ मारणान्तिकपीडायाम् । गुप्तये—सुष्टु निर्मलीकरणार्थम् । दयाद्यर्थं—आदिशब्देन श्रामण्यानुवृत्ति-समाधिमरणादिपरिग्रहः ॥६४॥

अथ स्वास्थ्यार्थं सर्वेषणादिभिः समीक्ष्य वृत्तिं कल्पयेदित्युपदिशति—

द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च ।
स्वास्थ्याय वर्ततां सर्वविद्धशुद्धाशनैः सुधीः ॥६५॥

द्रव्यं—आहारादि । क्षेत्रं—भूम्येकदेशो जाङ्गलादि । तल्लक्षणं यथा—

'देशोऽल्पवारिद्रुनगो जाङ्गलः स्वल्परोगदः ।
अनूपो विपरीतोऽस्मात् समः साधारणः स्मृतः ॥
जाङ्गलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोल्वणम् ।
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् ॥' [ ]

जिस मनुष्यकी शक्ति भूखसे नष्ट हो गयी है वह अपनी तरह दुःखसे पीड़ित दूसरे मनुष्यका उद्धार नहीं कर सकता। जो योगी योगके आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिकी चरम सीमापर पहुँच गये हैं उनके भी प्राणोंका शरण आहार ही है। वे भी आहारके बिना जीवित नहीं रहते, फिर योगाभ्यासियोंका तो कहना ही क्या है ? ॥६३॥

भोजन छोड़नेके निमित्तोंको दिखाते हैं—

अचानक कोई मारणान्तिक पीड़ा होनेपर, देव आदिके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर, ब्रह्मचर्यको निर्मल करनेके लिए, शरीरको कृश करनेके लिए, तपके लिए और प्राणियोंपर दया तथा समाधिमरण आदिके लिए साधुको भोजन नहीं करना चाहिए ॥६४॥

आगे स्वास्थ्यके लिए विचारपूर्वक सर्वैषणा आदिके द्वारा भोजन करनेका उपदेश देते हैं—

विचारपूर्वक कार्य करनेवाले साधुको द्रव्य, क्षेत्र, अपनी शारीरिक शक्ति, हेमन्त आदि छह ऋतु, भाव और स्वाभाविक शक्तिका अच्छी तरह विचार करके स्वास्थ्यके लिए सर्वाशन, विद्धाशन और शुद्धाशनके द्वारा भोजन ग्रहण करना चाहिए ॥६५॥

विशेषार्थ—साधुको द्रव्य आदिका विचार करके आहार ग्रहण करना चाहिए। द्रव्यसे मतलब आहारादिसे है। जो आहार साधुचर्याके योग्य हो वही ग्राह्य होता है। भूमिप्रदेशको क्षेत्र कहते हैं। भोजन क्षेत्रके अनुसार होना चाहिए। उसका लक्षण इस प्रकार है—भूदेश अर्थात् क्षेत्र तीन प्रकारका होता है—जांगल, अनूप और साधारण। जहाँ पानी, पेड़ और पहाड़ कम हों उसे जांगल कहते हैं यह स्वल्प रोगकारक होता है। अनूप जांगलसे विपरीत होता है। और जहाँ जल आदि न अधिक हो न कम, उसे साधारण कहते हैं।

बलं—अन्नादिजं स्वाङ्गसामर्थ्यम् । कालं—हेमन्तादिऋतुषट्कम् ।

तच्चर्या यथा—

'शरद्वसन्तयो रूक्षं शीतं घर्मघनान्तयोः ।
अन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यदा ॥' [अष्टागहृदय ३।५७]

तथा—

'शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् वसन्तेऽन्त्यान् रसान् भजेत् ।
स्वादुं निदाघे शरदि स्वादुतिक्तकषायकान् ॥' [अष्टागहृदय ३।५६]
'रसाः स्वाद्वाम्ललवणतिक्तोषणकषायका' ।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्व बलावहाः ॥' [अष्टांगहृदय १।१४]

भावं—श्रद्धोत्साहादिकम् । वीर्यं—सहननं नैसर्गिकशक्तिरित्यर्थ' । स्वास्थ्याय—आरोग्यार्थं स्वात्मन्यवस्थानार्थं च । सर्वाशन—एषणासमितिशुद्धं भोजनम् । विद्धाशनं—गुड-तैल-घृत-दधि दुग्ध-शालनादिरहितं सौवीरशुक्लतक्रादिसमन्वितम् । शुद्धाशनं—पाकादवतीर्णरूपं मनागप्यन्यथा न कृतम् । उक्त च—

'सव्वेसणं च विद्देसणं च सुद्धेसणं च ते कमसो ।
एसण समिदिविसुद्धं णिव्वियडमवंजणं जाण ॥ [मूलाचार ६।७० गा]

अत्र प्रत्येकं चशब्दो असर्वेषणमविद्वैषणमशुद्धेषणं चेत्येवमर्थ. । कदाचिद्धि तादृगपि योग्यं कदाचिच्चायोग्यमिति टीकाव्याख्यानमग्रहार्थं समीक्ष्य चेत्ययं चशब्द (–ब्दार्थः) ॥६५॥

जांगलमें वातका आधिक्य रहता है, अनूप देशमें कफकी प्रधानता रहती है और साधारण प्रदेशमें तीनों ही सम रहते हैं। अतः भोजनमें क्षेत्रका भी विचार आवश्यक है।

कालसे मतलब छह ऋतुओंसे है। ऋतुचर्याका विधान इस प्रकार किया है—शरत् और वसन्त ऋतुमे रुक्ष तथा ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमें शीत अन्नपान लेना चाहिए। अन्य ऋतुओंमें इससे विपरीत अन्नपान लेना चाहिए। तथा मधुर, खट्टा, लवण, कटु, चरपरा, कसैला ये छह रस हैं जो द्रव्यके आश्रयसे रहते हैं। और उत्तरोत्तर कम-कम बलवर्धक हैं। अतः शीत और वर्षा ऋतुमें आदिके तीन रसोंका और वसन्त ऋतुमें अन्तके तीन रसोंका, ग्रीष्म ऋतुमें मधुरका और शरद् ऋतुमें मधुर, तिक्त और कषाय रसका सेवन करना चाहिए।

एषणा समितिसे शुद्ध भोजनको सर्वाशन कहते हैं। गुड़, तेल, घी, दही, दूध, सालन आदिसे रहित और कांजी, शुद्ध तक्र आदिसे युक्त भोजनको विद्धाशन कहते हैं। जो पककर जैसा तैयार हुआ हो और किंचित् भी अन्य रूप न किया गया हो उस भोजनको शुद्धाशन कहते हैं। मूलाचारमें कहा भी है—'एषणा समितिसे विशुद्ध भोजन सर्वैषण है। निर्विकृत अर्थात् गुड़, तेल, घी, दूध, दही, शाक आदि विकृतियोंसे रहित और कांजी-तक्र आदिसे युक्त भोजन विद्धाशन होता है। तथा कांजी-तक्र आदिसे रहित, बिना व्यंजनके पककर तैयार हुआ जैसाका तैसा भोजन शुद्धाशन है। ये तीनों ही प्रकारका भोजन खानेके योग्य है। जो भोजन सब रसोंसे युक्त है, सब व्यंजनोंसे सहित है वह कदाचित् योग्य और कदाचित् अयोग्य होता है।' यह मूलाचारकी संस्कृत टीकामें कहा है। उसीके आधारसे पं. आशाधर जीने कहा है ॥६५॥

अथ विधिप्रयुक्तभोजनाच्च परोपकारं दर्शयन्नाह—

यत्प्रत्तं गृहिणात्मने कृतमपेतैकाक्षजीवं त्रसै-
निर्जीवैरपि वर्जितं तदशनाद्यात्मार्थसिद्धयै यतिः।
युञ्जन्नुद्धरति स्वमेव न परं किं तर्हि सम्यग्दृशं,
दातारं द्युशिवश्रिया च सचते भोगैश्च मिथ्यादृशम् ॥६६॥

प्रत्तं—प्रकर्षेण प्रतिग्रहादिनवपुण्यलक्षणेन दत्तम्। नवपुण्यानि यथा—

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मण वयणकाय सुद्धी एसणसुद्धीय णवविहं पुण्णं ॥ [वसु. श्रा. २२४]

गृहिणा—नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थेन गृहस्थेन ब्राह्मणाद्यन्यतमेन न शिल्प्यादिना। तदुक्तम्—

'शिल्पि-कारुक-वाक्पण्यशम्भलीपतितादिषु।
देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु ॥
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥' [सो० उपा० ७९०-७९१]

द्युशिवश्रिया—स्वर्गापवर्गलक्ष्म्या। सचते—सम्बध्नाति तद्योग्यं करोतीत्यर्थः ॥६६॥

विधिपूर्वक किये गये भोजनसे अपना और परका उपकार बतलाते हैं—

जो भोजन आदि नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान करनेवाले गृहस्थके द्वारा अपने लिए बनाया गया हो और एकेन्द्रिय प्राणियोंसे रहित हो तथा मृत या जीवित दो-इन्द्रिय आदि जीवोंसे भी रहित हो और नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया हो, उस भोजनादिको अपने सुख और दुःखकी निवृत्तिके लिए ग्रहण करनेवाला साधु केवल अपना ही उद्धार नहीं करता, किन्तु सम्यग्दृष्टि दाताको स्वर्ग और मोक्षरूपी लक्ष्मीके योग्य बनाता है और मिथ्यादृष्टि दाताको इष्ट विषय प्राप्त कराता है ॥६६॥

विशेषार्थ—मुनि हर एक दाताके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण नहीं करते। सोमदेव-सूरिने कहा है—'नाई, धोबी, कुम्हार, लुहार, सुनार, गायक, भाट, दुराचारिणी स्त्री, नीच लोगोंके घरमें तथा मुनियोंके उपकरण बेचकर जीविका करनेवालोंके घरमें मुनिको भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण ही मुनिदीक्षाके योग्य हैं। किन्तु मुनिको आहारदान देनेका अधिकार चारों वर्णोंको है। क्योंकि सभी प्राणियोंको मानसिक, वाचिक और कायिक धर्म पालन करनेकी अनुमति है।'

दाताको नवधा भक्तिसे आहार देना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

अपने द्वार पर साधुके पधारने पर हे स्वामी, ठहरिये ऐसा तीन बार कहकर उन्हें सादर ग्रहण करना चाहिए। फिर उच्चस्थान पर बैठाना चाहिए। फिर जलसे उनके चरण पखारना चाहिए। फिर अष्टद्रव्यसे पूजन करना चाहिए। फिर नमस्कार करना चाहिए। फिर मन शुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और भोजन शुद्धि प्रकट करनी चाहिए। इन्हें नवपुण्य कहते हैं। इस विधिसे दिये गये दानको स्वीकार करके मुनिका तो उपकार होता ही है, दाताका भी उपकार होता है। मुनिको भक्तिभावसे आहार देनेवाला सम्यग्दृष्टि गृहस्थ स्वयं अपने भावोंसे पुण्य बन्ध करनेसे भोगभूमिमें और स्वर्गमें जन्म लेकर सुख भोगता है। और

---

१. नात्मन—भ. कु. च.।

अथ द्रव्यभावशुद्धयोरन्तरमाह—

द्रव्यतः शुद्धमप्यन्नं भावाशुद्धया प्रदुष्यते ।
भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निश्चितः ॥६७॥

द्रव्यतः शुद्धमपि, प्रासुकशुद्धमपीत्यर्थ. । उक्त च—

'प्रगता असवो यस्मादन्नं तद्द्रव्यतो भवेत् ।
प्रासुकं किं तु तत्स्वस्मै न शुद्धं विहितं मतम् ॥' [ ]

भावाशुद्धया—मदर्थं साधुकृतमिदमिति परिणामदृष्ट्या । अशुद्धः—रागद्वेषमोहरूपः ॥६७॥

अथ परार्थकृतस्यान्नस्य भोक्तुरदुष्टत्वं दृष्टान्तेन दृढयन्नाह—

योक्ताऽधःकर्मिको दुष्येन्नात्र भोक्ता विपर्ययात् ।
मत्स्या हि मत्स्यमदने जले माद्यन्ति न प्लवाः ॥६८॥

योक्ता—अन्नादेर्दाता । अधःकर्मिकः—अध.कर्मणि प्रवृत्तः । हेतुनिर्देशोऽयम् । दुष्येत्—दोषैरुपलिप्येत् । भोक्ता—संयत. । विपर्ययात्—अध कर्मरहितत्वादित्यर्थ. । माद्यन्ति—विह्वलीभवन्ति । प्लवाः—मण्डूकाः । उक्त च—

'मत्स्यार्थं (प्रकृते) योगे यथा माद्यन्ति मत्स्यकाः ।
न मण्डूकास्तथा शुद्धः परार्थं प्रकृते यतिः ॥
अधःकर्मप्रवृत्तः सन् प्रासुद्रव्येऽपि बन्धकः ।
अधःकर्मण्यसौ शुद्धो यतिः शुद्धं गवेषयेत् ॥' [ ]

वहाँसे मनुष्य होकर तप करके मोक्ष पाता है । इसमें दान ग्रहण करनेवाले मुनिका कुछ भी कर्तृत्व नहीं है । मुनि तो केवल अवलम्ब मात्र है । मिथ्यादृष्टि दाता भी दानके फलस्वरूप इष्ट विषयोंको प्राप्त करता है ॥६६॥

द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धिमें अन्तर कहते हैं—

द्रव्यसे शुद्ध भी भोजन भावके अशुद्ध होनेसे अशुद्ध हो जाता है; क्योंकि अशुद्ध भाव-बन्धके लिए और शुद्ध भाव मोक्षके लिए होते हैं यह निश्चित है ॥६७॥

विशेषार्थ—जिस भोजनमें जीव-जन्तु नहीं होते वह भोजन द्रव्य रूपसे प्रासुक होता है । किन्तु इतनेसे ही उसे शुद्ध नहीं माना जाता । उसके साथमें दाता और ग्रहीताकी भाव-शुद्धि भी होना आवश्यक है । यदि दाताके भाव शुद्ध नहीं हैं तो भी ठीक नहीं है । और मुनि विचारे कि इसने मेरे लिए अच्छा भोजन बनाया है तो मुनिके भाव शुद्ध नहीं है क्योंकि मुनि तो अनुद्दिष्ट भोजी होते हैं । अपने लिए बनाये गये आहारको ग्रहण नहीं करते । अतः द्रव्यशुद्धिके साथ भाव शुद्धि होना आवश्यक है ॥६७॥

दूसरेके लिए बनाये गये भोजनको ग्रहण करनेवाला मुनि दोषरहित है इसे दृष्टान्तके द्वारा दृढ़ करते हैं—

जो आहारदाता अधःकर्ममें संलग्न होता है वह दोषका भागी होता है । उस आहार-को ग्रहण करनेवाला साधु दोषका भागी नहीं होता; वह अध.कर्ममें संलग्न नहीं है । क्योंकि योग विशेषके द्वारा जिस जलको मछलियोंके लिए मदकारक बना दिया जाता है उस जलमें रहनेवाली मछलियोंको ही मद होता है, मेढकोंको नहीं होता ॥६८॥

विशेषार्थ—भोजन बनानेमें जो हिंसा होती है उसे अधःकर्म कहते हैं । इस अधःकर्म-का भागी गृहस्थ होता है क्योंकि वह अपने लिए भोजन बनाता है । उस भोजनको साधु

अपि च—

'आधाकम्मपरिणदो पासुगदव्वे वि बंधगो भणिदो ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मे वि सो सुद्धो ॥' [मूलाचार ४८७] ॥६८॥

अथ शुद्धाहाराहितसामर्थ्योद्योतितसिद्ध्युत्साहांस्त्रिकालविषयान् मुमुक्षूनात्मनः सिद्धिं प्रार्थयमानः प्राह—

विदधति नवकोटि शुद्धभक्ताद्युपाजे-
कृतनिजवपुषो ये सिद्धये सज्जमोजः ।
विदधतु मम भूता भाविनस्ते भवन्तो-
ऽप्यसमशमसमृद्धाः साधवः सिद्धिमद्धा ॥६९॥

नवकोट्यः—मनोवाक्कायैः प्रत्येकं कृतकारितानुमतानि । तच्छुद्धं—तद्रहितमित्यर्थः । आर्षे त्वेवम्—

'दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा ।
शुद्धिर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यदः ॥
पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यतः ।
नवकोटिविशुद्धं तद्दानं भूरिफलोदयम् ॥' [महापु. २०।१३६-१३७]

ग्रहण करते हैं किन्तु वे उस अधःकर्म दोषसे लिप्त नहीं होते; क्योंकि उस भोजनके बनानेसे साधुका कृत-कारित या अनुमत रूपसे कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि साधुको दान देनेसे गृहस्थको रसोई बनानेमें जो पाप होता है वह धुल जाता है। आचार्य समन्तभद्रने कहा है—घर छोड़ देनेवाले अतिथियोंकी अर्थात् साधुओंकी पूजा पूर्वक दिया गया दान घरके कामोंसे संचित पापको भी उसी प्रकार दूर कर देता है जैसे पानी रक्तको धो देता है।

किन्तु यदि साधु उस भोजनको अपने लिए बनाया मानकर गौरवका अनुभव करता है तो वह भी उस पापसे लिप्त होता है। मूलाचारमें कहा है—'भोजनके प्रासुक होनेपर भी यदि उसे ग्रहण करनेवाला साधु अधःकर्मसे युक्त होता है अर्थात् यदि उस आहारको बड़े गौरवके साथ अपने लिये किया मानता है तो उसे कर्मबन्ध होता है ऐसा आगममें कहा है। किन्तु यदि साधु शुद्ध आहारकी खोजमें है, जो कृत कारित और अनुमोदनासे रहित हो, तो यदि आहार अधःकर्मसे भी युक्त हो तो भी वह शुद्ध है। उस आहारको ग्रहण करके साधुको बन्ध नहीं होता, क्योंकि साधुका उसमें कृत, कारित आदि रूप कोई भाव नहीं है ॥६८॥

आगे शुद्ध आहारके द्वारा प्राप्त हुई सामर्थ्यसे मोक्ष विषयक उत्साहको उद्योतित करनेवाले त्रिकालवर्ती मुमुक्षुओंसे अपनी मुक्तिकी प्रार्थना ग्रन्थकार करते हैं—

नवकोटिसे विशुद्ध भोजनादिके द्वारा अपने शरीरको बल देनेवाले और असाधारण उपशम भावसे सम्पन्न जो अतीत, अनागत और वर्तमान साधु सिद्धिके लिए उत्साहको साक्षात् समर्थ बनाते हैं, वे मुझे तत्काल आत्म स्वरूपकी उपलब्धि करावें अर्थात् उनके प्रसादसे मुझे मुक्तिकी प्राप्ति हो ॥६९॥

१. गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥—रत्न. श्रा., ११४ श्लो. ।

उपार्जेकृतानि—बलाधानयुक्तानि कृतानि। सज्जं—साक्षात्क्षमम्। ओजः—उत्साहः। अद्धा—झटितीति भद्रम् ॥६९॥

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञाया
पञ्चमोऽध्याय.।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं सप्तत्यधिको द्विशत्। अङ्कत. २७०।

विशेषार्थ—मन वचन काय सम्बन्धी कृत कारित अनुमोदनासे रहित आहार नवकोटिसे विशुद्ध होता है वही साधुओंके लिए ग्राह्य है। महापुराणमें कहा है—'दाताकी विशुद्धता देय भोज्यको और पात्रको पवित्र करती है। देयकी शुद्धता दाता और पात्रको पवित्र करती है। और पात्रकी शुद्धि दाता और देयको पवित्र करती है।' इस तरह नवकोटिसे विशुद्ध दान बहुत फलदायक होता है। अर्थात् दाता, देय और पात्र इन तीनोंकी शुद्धियोंका सम्बन्ध परस्परमें जोड़नेसे नवकोटियाँ बनती हैं। इन नवकोटियोंसे विशुद्ध दान विशेष फलदायक होता है ॥६९॥

इस प्रकार प. आशाधर रचित अनगार धर्मामृत टीका भव्यकुमुद चन्द्रिका
तथा ज्ञानदीपिकाकी अनुवर्तिनी हिन्दी टीकामें पिण्डशुद्धिविधान
नामक पञ्चम अध्याय पूर्ण हुआ।

षष्ठ अध्याय

अथैवमुक्तलक्षणरत्नत्रयात्मनि मुक्तिवर्त्मनि महोद्योगमनुबद्धुमनसां तापत्रयोच्छेदार्थिनां साधूनां सम्यक्-तपआराधनोपक्रमविधिमभिधत्ते—

वृग्वज्रद्रोण्युपघ्नेऽद्भुतविभववृषद्वीपदीप्रे स्फुटानु-
प्रेक्षातीर्थे सुगुप्तिव्रतसमितिवसुभ्राजि बोधाब्जराजि।
मग्नोन्मग्नोर्मिरत्नत्रयमहिमभरव्यक्तिवृप्तेऽभियुक्ता,
मज्जन्त्विच्छानिरोधामृतवपुषि तपस्तोयधौ तापशान्त्यै ॥१॥

उपघ्नः—आश्रयः। वृष.—धर्म.। तीर्थं—प्रवेशघट्टः। वसूनि—रत्नानि। अब्जः—चन्द्रः। मग्नोन्मग्नोर्मि—मग्नास्तिरोभूता स्वकार्यकरणाक्षमा. उन्मग्नोर्मय उद्भूतपरीषहा यत्र, पक्षे मग्ना. केचिन्निमीलिताः केचिच्च उन्मग्ना उन्मीलिता ऊर्मयस्तरङ्गा यत्र। रत्नत्रयं निश्चयमोक्षमार्गोऽत्र। व्यक्तिः—आविर्भाव। तापशान्त्यै—मानस-वाचनिक-कायिकानां सहजशारीरागन्तूनां वा दुःखानामुच्छेदार्थम् ॥१॥

इस प्रकार रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्गमें सतत महान् उद्योगके लिए दृढ़ निश्चयी और शारीरिक, वाचनिक तथा कायिक या स्वाभाविक, शारीरिक और आगन्तुक दुःखोंके विनाशके इच्छुक साधुओंके सम्यक् तप आराधनाके उपक्रमकी विधि कहते हैं—

मोक्षमार्गमें नित्य उद्योगशील साधुओंको शारीरिक, वाचनिक, मानसिक तापकी शान्तिके लिए अथवा सहज शारीरिक और आगुन्तक दुःखोंके विनाशके लिए तपरूपी समुद्रमें स्नान और अवगाहन करना चाहिए। वस्तुतः तप समुद्रके समान है। जैसे समुद्रमें अवगाह करना कठिन है वैसे ही तपका अवगाहन भी कठिन है। अमृत अर्थात् जल समुद्रका शरीर है। इसी तरह मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाली इच्छाका निरोध भी अमृतके तुल्य है क्योंकि वह अमृतकी तरह सांसारिक संतापकी शान्तिका कारण है। यह इच्छा निरोध रूप अमृत ही तपका शरीर है। उसीमें अवगाहन करनेसे तापकी शान्ति हो सकती है। जैसे समुद्रका आश्रय वज्रमय नाव है। वज्रमय नावके द्वारा ही समुद्रमें अवगाहन किया जाता है, उसी तरह तपका आश्रय सम्यग्दर्शन रूपी नाव है। सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक् तपमें उतरना शक्य नहीं है। जैसे समुद्रमें द्वीप होते हैं और वे आश्चर्यकारी विभूतिसे युक्त होते हैं, उसी तरह आश्चर्यकारी विभूतिसे सम्पन्न उत्तम क्षमा आदि दश धर्म तप रूपी समुद्रके द्वीप हैं, उनसे वह प्रकाशमान होता है। जैसे समुद्रमें प्रवेश करनेके लिए तीर्थ अर्थात् घाट होते हैं. उसी तरह तप रूपी समुद्रमें प्रवेश करनेके लिए अनित्य आदि बारह भावना तीर्थ है। इन बारह भावनाओंके सतत चिन्तनसे मुमुक्षु तपके भीतर प्रवेश करता है। जैसे समुद्रमें रत्न होते हैं, उसी तरह सम्यग् गुप्ति समिति व्रत वगैरह तप रूपी समुद्रके रत्न हैं, उनसे वह शोभित होता है। तथा जैसे समुद्र चन्द्रमासे शोभित होता है। वैसे ही तप ज्ञानसे शोभित होता है। तथा जैसे समुद्रमें कुछ तरंगें उन्मीलित और कुछ तरंगें निमीलित होती हैं उसी तरह तपमें उत्पन्न हुई परीषह धैर्य भावनाके बलसे तिरोभूत हो जाती है अपना कार्य करनेमें असमर्थ होती हैं। तथा जैसे समुद्र ऐरावत हाथी, कौस्तुभमणि और पारि-

अथ दशलक्षणं धर्मं व्याचष्टे—

क्रूरक्रोधाद्युद्भवाङ्गप्रसङ्गेऽप्यादत्तेऽद्धा यन्निरीहः क्षमादीन् ।
शुद्धज्ञानानन्दसिद्ध्यै दशात्मा ख्यातः सम्यग् विश्वविद्भिः सधर्मः ॥२॥

क्रूराः—दुःखदा दुर्निवारा वा। अङ्गानि—कारणानि। आदत्ते—(स्वी–)करोति। अद्धा—व्यक्तं झटिति वा। निरीहः—लाभाद्यनपेक्षः। क्षमा—क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधानेऽपि कालुष्याभावः ॥२॥

अथ कषायाणामपायभूयस्त्वातिदुर्जयत्वप्रकाशनपुरस्सरं जेयत्वमुपदर्श्य तद्विजये परं स्वास्थ्यमावेदयति—

जीवन्तः कणशोऽपि तत्किमपि ये घ्नन्ति स्वनिघ्नं मह-
स्ते सद्भिः कृतविश्वजीवविजया जेयाः कषायद्विषः ।
यन्निर्मूलनकर्मठेषु बलवत्कर्मारिसंघाश्चिता-
मासंसारनिरूढबन्धविधुरा नोत्क्राथयन्ते पुनः ॥३॥

स्वनिघ्नं—स्वाधीनम्। चितां—चेतनानाम्। कर्मणि षष्ठी। निरूढानि निर्वाहितानि। नोत्क्राथयन्ते—न हिंसन्ति ॥३॥

जात वृक्ष रूप तीन रत्नोंके माहात्म्यके अतिशयके आविर्भावसे गर्वित होता है, अपना बड़प्पन अनुभव करता है वैसे ही तप रत्नत्रयरूप परिणत आत्माके घाति और अघाति कर्मोंका क्षय करनेमें समर्थ शक्त्यतिशयके द्वारा अपना उत्कर्ष प्रकट करता है। इस तरह तप समुद्रके तुल्य है उसका अवगाहन करना चाहिए ॥१॥

दश लक्षण धर्मको कहते हैं—

दुःखदायक अथवा दुर्निवार क्रोध आदिकी उत्पत्तिके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी सांसारिक लाभ आदिकी अपेक्षा न करके शुद्ध ज्ञान और आनन्दकी प्राप्तिके लिए साधु जो क्षमा, मार्दव आदि आत्म परिणामोंको तत्काल अपनाता है उसे सर्वज्ञ देवने सच्चा धर्म कहा है। उस धर्मके दस रूप हैं ॥२॥

विशेषार्थ—क्रोधकी उत्पत्तिके निमित्त मिलने पर भी मनमें कलुषताका उत्पन्न न होना क्षमा है। इसी तरह मार्दव आदि दस धर्म हैं। उनको जो आत्मिक शुद्ध ज्ञान और सुखकी प्राप्तिके उद्देशसे अपनाता है वह धर्मात्मा है ॥२॥

कषाय बुराईका घर है, अत्यन्त दुर्जय है यह बतलाते हुए उन्हें जीतना शक्य है तथा उनको जीतने पर ही आत्माका परम कल्याण होता है यह बतलाते हैं—

जो कणमात्र भी यदि जीवित हों तो आत्माके उस अनिर्वचनीय स्वाधीन तेजको नष्ट कर देती हैं और जिन्होंने संसारके सब जीवों पर विजय प्राप्त की है, किन्तु जो उनका भूलसे विनाश करनेमें कर्मठ होते हैं उन्हें अनादि संसारसे लेकर परतन्त्रताका दुःख भुगानेवाले बलवान् कर्म शत्रुओंके समूह भी पुनः उत्पीड़ित नहीं कर सकते, उन कषायरूपी शत्रुओंको जीतना चाहिए ॥३॥

विशेषार्थ—संसारकी जड़ कषाय है। कषायके कारण ही यह जीव अनादिकालसे संसारमें भटकता फिरता है। कषायने सभी जीवोंको अपने वशमें किया है इसलिए कषायोंका जीतना बहुत ही कठिन है। किन्तु जो इन्हें जड़मूलसे उखाड़ फेंकनेके लिए कमर कस लेते हैं उनका संसार बन्धन सर्वदाके लिए टूट जाता है। इसलिए मुमुक्षुको कषायोंको जीतना चाहिए। उनको जीते बिना संसारसे उद्धार असम्भव है ॥३॥

अथ कोपस्यानर्थैकफलत्वं प्रकाश्य तज्जयोपायमाह—

कोपः कोऽप्यग्निरन्तर्बहिरपि बहुधा निर्दहन् देहभाजः,
कोपः कोऽप्यन्धकारः सह दृशमुभयीं धीमतामप्युपघ्नन् ।
कोपः कोऽपि ग्रहोऽस्तत्रपमुपजनयन् जन्मजन्माभ्यपायां-
स्तत्कोपं लोप्तुमाप्तश्रुतिरसलहरी सेव्यतां क्षान्तिदेवी ।।४।।

निर्दहन्—निष्प्रतीकारं भस्मीकुर्वन् माहात्म्योच्छेदात् । उभयी—चाक्षुषी मानसी वा । जन्मजन्माभि—भवे भवे । वीप्सायामभे कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । आप्तश्रुतिः—परमागम ।।४।।

अथ उत्तमक्षमाया माहात्म्यं स्तोतुमाह—

यः क्षाम्यति क्षमोऽप्याशु प्रतिकर्तुं कृतागसः ।
कृत्तागसं तमिच्छन्ति क्षान्तिपीयूषसंजुषः ।।५।।

कृतागसः—विहितापराधान् । कृत्तागसं—छिन्नपापम् ।।५।।

अथ क्षमाभावनाविधिमाह—

प्राग्वास्मिन्वा विराध्यन्निममहमबुधः किल्विषं यद्बबन्ध,
क्रूरं तत्पारतन्त्र्याद् ध्रुवमयमधुना मां शपन्काममाघ्नन् ।
निघ्नन्वा केन वार्यः प्रशमपरिणतस्याथवावश्यभोग्यं,
भोक्तुं मेऽद्यैव योग्यं तदिति वितनुतां सर्वथार्यस्तितिक्षाम् ।।६।।

सर्व प्रथम क्रोधका एक मात्र अनर्थ फल बतलाकर उसको जीतनेका उपाय

प्राणियोंके अन्तरंग और बाह्यको अनेक तरहसे ऐसा जलाता है कि उसका कोई प्रतीकार नहीं है । अतः क्रोध कोई एक अपूर्व अग्नि है; क्योंकि अग्नि तो बाह्यको ही जलाती है किन्तु यह अन्तरंगको भी जलाता है । तथा बुद्धिमानोंकी भी चक्षु सम्बन्धी और मानसिक दोनों ही दृष्टियोंका एक साथ उपघात करनेसे क्रोध कोई एक अपूर्व अन्धकार है; क्योंकि अन्धकार तो केवल बाह्य दृष्टिका ही उपघातक होता है । तथा जन्म-जन्ममें निर्लज्ज होकर अनिष्टोंका करनेवाला होनेसे क्रोध कोई एक अपूर्व ग्रह या भूत है । क्योंकि भूत तो एक ही जन्ममें अनिष्ट करता है । उस क्रोधका विनाश करनेके लिए क्षमा रूपी देवीकी आराधना करना चाहिए जो जिनागमके अर्थ और ज्ञानके उल्लासका कारण है ।।४।।

उत्तम क्षमाके माहात्म्यकी प्रशंसा करते हैं—

जो अपराधियोंका तत्काल प्रतीकार करनेमें समर्थ होते हुए भी उन्हें क्षमा कर देता है, क्षमा रूपी अमृतका सम्यक् सेवन करनेवाले साधुजन उसे पापका नाशक कहते हैं ।।५।।

क्षमा भावनाकी विधि कहते हैं—

मुझ अज्ञानीने इसी जन्ममें या पूर्व जन्ममें इस जीवका अपकार करते हुए जो अवश्य भोग्य पाप कर्मका बन्ध किया था, उस कर्मकी परवशताके कारण यह अपकारकर्ता इस समय मुझ अपराधीको बहुत गाली देता है या चाबुकसे मारता है या मेरे प्राणका हरण करता है तो उसे कौन रोक सकता है । अथवा माध्यस्थ्य भावपूर्वक मुझे उस अवश्य भोग्य कर्मको इसी भवमें भोगना योग्य है क्योंकि किया हुआ अच्छा या बुरा कर्म अवश्य भोगना होता है । इस प्रकार साधुको मन, वचन, कायसे क्षमाकी भावना करनी चाहिए ।।६।।

प्राक्—पूर्वभवे। अस्मिन्—इह भवे। क्रूरं—अवश्यभोग्यकटुफलत्वादत्युग्रम्। आघ्नन्—चर्मयष्ट्यादिना ताडयन्। वार्यः—निषेद्धु शक्यः ॥६॥

अथ परैः प्रयुक्ते सत्याक्रोशादौ क्रोधनिमित्ते चित्तं प्रसादयतः स्वेष्टसिद्धिमाचष्टे—

दोषो मेऽस्तीति युक्तं शपति शपति वा तं विनाऽज्ञः परोक्षे,
दिष्ट्या साक्षान्न साक्षादथ शपति न मां ताडयेत्ताडयेद्वा।
नासून् मुष्णाति तान्वा हरति सुगतिदं नैष धर्मं ममेति,
स्वान्तं यः कोपहेतौ सति विशदयति स्याद्धि तस्येष्टसिद्धिः ॥७॥

दोषः—नग्नत्वाशुचित्वामङ्गलत्वादि। एतच्चात्मनि दोषसद्भावानुचिन्तनम्। शपति वा तं विना इति पुनस्तदभावचिन्तनम्। दिष्ट्या—वर्द्धामहे। इष्टसिद्धि—क्षमाया हि व्रतशीलपरिरक्षणमिहामुत्र च दुःखानभिष्वङ्गः सर्वस्य जगतः सन्मान-सत्कारलाभ-प्रसिद्ध्यादिश्च गुणः स्यात् ॥७॥

अथ क्रोधस्य दुःकीर्तिदारुणदुःखहेतुत्वं दृष्टान्तेषु स्पष्टयन् दूरतस्त्याज्यत्वमुपदिशति—

विशेषार्थ—पहले कहा है कि अपकार करनेवालेके अपकारका बदला चुकानेकी शक्ति होते हुए भी जो क्षमा करता है वही क्षमाशील है। अपनी कमजोरीके कारण प्रतिकार न कर सकनेसे क्षमाभाव धारण करना क्षमा नहीं है वह तो कायरता है। ऐसे कायर पुरुष मनमें बदलेकी भावना रखते हैं और ऊपरसे क्षमा दिखलाते हैं। जिन शासनमें इसे क्षमा नहीं कहा है। अपकारकर्ताके प्रति किंचित् भी दुर्भाव न रखते हुए जो उसके प्रति क्षमाभाव होता है वही सच्चा क्षमाभाव है। जब कोई हमारा बुरा करता है तो मनमें उसके प्रति रोष आता है। उसी रोषके निवारणके लिए ऊपरके विचार प्रदर्शित किये हैं। ऐसे विचारोंसे ही उत्पन्न होते रोषको रोका जा सकता है ॥६॥

आगे कहते हैं कि दूसरोंके गालियाँ आदि बकने पर भी जो अपने चित्तको प्रसन्न रखते हैं उन्हें ही इष्टकी प्राप्ति होती है—

यदि कोई नग्न साधुको गाली देता है कि यह नंगा है, मैला है, अशुभ है तो साधु विचार करता है कि मैं क्या हूँ, स्नान नहीं करता हूँ—ये दोष मेरेमें हैं यह गलत नहीं कहता। यदि वे दोष साधुमें न हों तो साधु विचारता है कि यह अज्ञानवश मुझे दोष लगाता है। यदि कोई परोक्षमें निन्दा करता है तो वह विचारता है कि भाग्यसे मेरे परोक्षमें ही गाली देता है प्रत्यक्षमें तो नहीं देता। यदि कोई प्रत्यक्षमें अपशब्द कहता है तो वह विचारता है कि यह मुझे गाली ही देता है मारता तो नहीं है। यदि कोई मारे तो सोचता है कि मारता ही है प्राण तो नहीं लेता। यदि कोई ज्ञानसे मारता हो तो विचारता है कि प्राण ही तो लेता है सद्गति देनेवाले मेरे धर्मको नहीं हरता। इस प्रकार क्रोधके निमित्त मिलने पर जो साधु अपने मनमें प्रसन्न रखता है उसीको इष्टकी प्राप्ति होती है। अर्थात् क्षमाभाव धारण करनेसे व्रत और शीलकी रक्षा होती है, इस लोक और परलोक सम्बन्धी दुःखोंसे छुटकारा होता है तथा लोगोंसे सन्मान मिलता है ॥७॥

क्रोध अपयश और दारुण दुःखोंका कारण है यह बात दृष्टान्तोंके द्वारा स्पष्ट करते हुए उसे दूरसे ही छोड़नेका उपदेश करते हैं—

नाद्याप्यन्त्यमनो. स्वपित्यवरजामर्षार्जितं दुर्यशः,
प्रादोदोन्मरुभूतिमत्र कमठे वान्तं सकृत् क्रुद्विषम् ।
दग्ध्वा दुर्गतिमाप यादवपुरीं द्वीपायनस्तु क्रुधा,
तत्क्रोधं ह्यरिरित्यजत्वपि विराराधत्यरौ पार्श्ववत् ॥८॥

अन्त्यमनोः—भरतचक्रिण.। अवरजामर्षार्जितं—बाहुबलिविषयकोपोपार्जितम्। प्रादोदोत्—प्रकर्षेण पुनः पुनरपि तपतिस्म। अजतु—क्षिपतु मुमुक्षु। विराराधति—अत्यर्थं पुनः पुनर्वा विराध्यति सति। दुःखयतीत्यर्थः ॥८॥

इतना काल बीत जाने पर भी भरत चक्रवर्तीके द्वारा अपने छोटे भाई बाहुबलि कुमार पर किये गये क्रोधसे अर्जित अपयश लुप्त नहीं हुआ है, बराबर छाया हुआ है। इसी लोकमें केवल एक बार अपने बड़े भाई कमठपर वमन किये गये क्रोधरूपी विषने पार्श्वनाथके पूर्वभवके जीव मरुभूतिको बार बार अत्यन्त सन्तप्त किया। द्वीपायन नामक तपस्वी क्रोधसे द्वारिका नगरीको जलाकर नरकमें गया। अत. किसी शत्रुके द्वारा अपकार किये जानेपर भी क्रोधको शत्रु मानकर पार्श्वनाथ स्वामीकी तरह छोड़ देना चाहिए, क्रोधके प्रतिकारके लिए क्रोध नहीं करना चाहिए ॥८॥ विशेषार्थ—ग्रन्थकारने क्रोधका बुरा परिणाम दिखानेके लिए लोकमें और शास्त्रोंमें प्रसिद्ध तीन दृष्टान्त दिये हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवके एकसौ एक पुत्र थे। सबसे बड़े पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत थे। भगवान्के प्रव्रजित होनेपर भरत अयोध्याके स्वामी हुए और उनसे छोटे बाहुबलिकुमारको पोदनपुरका राज्य मिला। जब भरत दिग्विजय करके अयोध्यामें प्रवेश करने लगे तो चक्ररत्न मार्गमें रुक गया। निमित्त-ज्ञानियोंने बतलाया कि आपके भाई आपकी आज्ञामें नहीं हैं इसीसे चक्ररत्न रुक गया है। भाइयोंके पास दूत भेजे गये। बाहुबलीने आज्ञा न मानकर युद्ध स्वीकार किया। मन्त्रियोंने दोनों भाइयोंके मध्यमें जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और मल्ल युद्ध होनेका निर्णय किया। तीनों युद्धोंमें भरतकी हार हुई तो क्रोधमें आकर भरतने अपने छोटे भाईपर चक्रसे प्रहार किया। कन्तु देविोपनीत चक्र अपने सगे कटुम्बियोंपर तथा मोक्षगामी जीवोंपर प्रहार नहीं करता। फलतः चक्ररत्न बाहुबलीकी तीन प्रदक्षिणा देकर उनके हस्तगत हो गया। समस्त सेना और जनसमूहने सम्राट् भरतके इस कार्यकी निन्दा की जो आज भी शास्त्रोंमें निबद्ध है।

पोदनपुर नगरमें एक ब्राह्मणके दो पुत्र थे। बड़े पुत्रका नाम कमठ और छोटेका नाम मरुभूति था। राजाने मरुभूतिको अपना मन्त्री नियुक्त किया। एक बार राजा अपने मन्त्री मरुभूतिके साथ दिग्विजयके लिए बाहर गया। पीछे कमठने अपने छोटे भाई मरुभूतिकी पत्नीपर आसक्त होकर उसके साथ दुराचार किया। जब राजाके कानों तक यह समाचार पहुँचा तो उन्होंने कमठका मुँह काला करके देशसे निकाल दिया। कमठ एक पर्वत पर खड़े होकर तपस्या करने लगा। एक बार मरुभूति उसके पास क्षमा माँगने गया। कमठ दोनों हाथोंमें शिला लेकर तपस्या करता था। जैसे ही मरुभूतिने उसे नमस्कार किया, कमठने उस-पर शिला पटक दी। दोनों भाइयोंमें यह वैरकी इकतरफा परम्परा कई भवों तक चली। जब मरुभूति पार्श्वनाथ तीर्थंकरके भवमें अहिक्षेत्रमें तपस्या करते थे तो कमठ व्यन्तर योनिमें जन्म लेकर उधरसे जाता था। पूर्व वैरका स्मरण आते ही उसने पार्श्वनाथ पर घोर उपसर्ग किया। तब पार्श्वनाथको केवलज्ञान हुआ और इस तरह इस वैरका अन्त हुआ।

१. —नरवरतपतिस्म भ. कु. च.।

अथैवमुत्तमक्षमालक्षण धर्मं निरूप्येदानीमुत्तममार्दवलक्षणं लक्षयितुं मानं धिक्कुर्वन्नाह—

हृत्सिन्धुर्विधिशिल्पिकल्पितकुलाद्युत्कर्षहर्षोर्मिभिः,
किर्मीरः क्रियतां चिराय सुकृतां म्लानिस्तु पुंमानिनाम् ।
मानस्यात्मभुवापि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसंभावनं,
तद्धयेयेऽपि विधेश्चरेयमिति धिग्मानं पुमुत्प्लाविनम् ॥९॥

हृत्सिन्धु —हृदयसमुद्र । किर्मीरः—चित्रः । सुकृतां—विपरीतलक्षणया अकृतपुण्यानाम् । आत्मभुवा—पुत्रेण । ध्येये— स्मरणीये वस्तुनि । अशक्यानुष्ठान इत्यर्थ । चरेयं—प्रवर्तयमहम् । पुमुत्प्लाविनं—पुमासमात्मनमुत्प्लावयति माहात्म्याद् भ्रंशयतीत्येवंरूपम् ॥९॥

द्वीपायन ऋषि द्वारिका नगरीके बाहर तपस्या करते थे। भगवान नेमिनाथने यह बतलाया था कि बारह वर्ष बाद द्वीपायनके कोपसे द्वारिका जलकर भस्म होगी। अतः द्वीपायन दूर चले गये थे और यादवोंने भी मदिरापान बन्द करके नगरके बाहर मदिरा फिंकवा दी थी। किन्तु काल गणनामें भूल हुई। बारह वर्ष पूरे हुए जानकर यादव भी निश्चिन्त हो गये और द्वीपायन भी लौट आये। जब वह द्वारिकाके बाहर तपस्या करते थे तो कुछ यादव कुमार उधर आ निकले। नगरके बाहर पड़ी हुई पुरानी मदिराको पीकर वे मदोन्मत्त होकर द्वीपायनपर प्रहार करने लगे। क्रुद्ध द्वीपायनके बायें स्कन्धसे तैजस शरीर प्रकट हुआ और और द्वारिका नगरीकी प्रदक्षिणा करते ही द्वारिका जलकर भस्म हो गयी। पीछे द्वीपायन भी जलकर भस्म हो गया और नरकमें गया। ये क्रोध करनेका परिणम है ॥८॥

इस प्रकार उत्तम क्षमा रूप धर्मका निरूपण करके अब उत्तम मार्दवका लक्षण कहनेके लिए मान कषायकी निन्दा करते हैं—

दैव रूपी शिल्पीके द्वारा बनाये गये कुल जाति आदिके उत्कर्षसे होनेवाले हर्षरूपी लहरोंके द्वारा भाग्यहीनोंका हृदयरूपी समुद्र जीवनपर्यन्त भले ही नाना रूप होवे, इससे अपनेको पुरुष माननेवालोंके किसी भी विषयमें 'मैं इस विषयमे उत्कृष्ट हूँ' ऐसी सम्भावना होती है। किन्तु अपने पुत्रके द्वारा भी मानकी हानि देखी जाती है। इसलिए उस ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए जहाँ दैवका भी प्रवेश नहीं है। अतः पुरुषको माहात्म्यसे भ्रष्ट करनेवाले मानको धिक्कार है ॥९॥

विशेषार्थ—मानका तिरस्कार करते हुए कहा है कि पूर्व जन्ममें हम जो कुछ अच्छे-बुरे कर्म करते है उसीको दैव कहते है। दैव एक कुशल शिल्पी है। क्योंकि शिल्पीकी तरह वह कर्मके निर्माणमें कुशल होता है। उसीके उदयसे कुल, जाति आदि प्राप्त होती हैं जिसका मद करके मनुष्य हर्षसे उन्मत्त हो उठता है। मनुष्यका हृदय समुद्रके समान है। जैसे समुद्रमें तरंगे उठती है उसी तरह मनुष्यके हृदयमें कुल आदिकी श्रेष्ठताको लेकर उत्पन्न हुए हर्ष आदि उत्पन्न हुआ करते है। ऐसे मानी पुरुष लोकमें पुण्यशाली कहलाते हैं। किन्तु वास्तवमें पुण्यशाली नहीं हैं क्योंकि वर्तमान जन्ममें वे कोई पुण्य कर्म नहीं करते। इसी लिए ऊपर श्लोकमें जो 'सुकृतां' पद आया है विपरीत लक्षणासे उसका अर्थ 'अकृत पुण्य' लिया गया है। ग्रन्थकार कहते है कि दैवाधीन कुल जाति आदिको पाकर हर्षसे उन्मत्त होनेवाले भले ही अपनेको पुरुष माने, किन्तु उनका वह अहंकार व्यर्थ है, क्योंकि कभी-कभी मनुष्यको अपने पुत्रसे ही तिरस्कृत होना पड़ता है। इसलिए ज्ञानी मनुष्यको मिथ्या अहंकार छोड़कर आत्म स्वरूपमें प्रवृत्ति करना चाहिए। वह दैवाधीन नहीं है, पुरुषार्थके अधीन है ॥९॥

अथाहङ्कारादनर्थपरम्परा कथयति—

गर्वप्रत्यग्नगकवलिते विश्वदीपे विवेक-
त्वष्टर्युच्चैः स्फुरितदुरितं दोषमन्देहवृन्दैः।
सत्रोद्वृत्ते तमसि हतदृग् जन्तुराप्तेषु भूयो,
भूयोऽभ्याजत्स्वपि सजति हो स्वैरमुन्मार्ग एव ॥१०॥

प्रत्यग्नग—अस्तशैल। विवेकत्वष्टरि—कृत्याकृत्यविभागज्ञानादित्ये। तमसि—मोहान्धकारे च। अभ्याजत्सु—निवारयत्सु। स्वैरं—स्वच्छन्दम्। ध्वान्तछादितदृष्टिपक्षे तु स्वेन आत्मना न परोपदेशेन, इरे गमने। मुत्—प्रोतिर्यस्यासो स्वैरमुत्। काकुव्याख्याया मार्गे एव सजति न सजति। किं तर्हि अमार्गेऽपि लगतीत्यर्थ ॥१०॥

अथाहङ्कार-जनितदुष्कृतविपवित्रममत्युग्रमपमानदुःखमाख्याति—

जगद्वैचित्र्येऽस्मिन् विलसति विधौ काममनिश,
स्वतन्त्रो न क्वास्मीत्यभिनिविशतेऽहंकृतितमः।
कुधीर्येनादत्ते किमपि तदघं यद्रसवशा-
च्चिरं भुङ्क्ते नीचैर्गतिजमपमानज्वरभरम् ॥११॥

स्वतन्त्र—कर्ता। क्व ? इष्टेऽनिष्टे वाऽर्थे। अपमानः—महत्त्वहानि। ॥११॥

अहंकारसे होनेवाली अनर्थपरम्पराको कहते हैं—

बड़ा खेद है कि जगत्को प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान विवेक रूपी सूर्य जब अहंकाररूपी अस्ताचलके द्वारा ग्रस लिया जाता है और राग द्वेष रूपी राक्षसोंके समूह-के साथ मोहरूपी अन्धकार बेरोक-टोक फैल जाता है जिसमें चोरी, व्यभिचार आदि पाप कर्म अत्यन्त बढ जाते हैं, तब प्राणी दृष्टिहीन होकर बारंबार गुरु आदिके रोकनेपर भी स्वच्छन्दतापूर्वक उन्मार्गमें ही प्रवृत्त होता है ॥१०॥

विशेषार्थ—क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इस प्रकारके ज्ञानको विवेक कहते है। इस विवेकको अहंकार उसी तरह ग्रस लेता है जैसे अस्ताचल सूर्यको ग्रस लेता है। जैसे सूर्यके छिप जानेपर अन्धकार फैलता है उसमें राक्षस गण विचरण करते है। पाप कर्म करने-वाले चोर, व्यभिचारी आदि स्वच्छन्द होकर अपना कर्म करते हैं। ऐसे रात्रिके समयमे मनुष्यको मार्ग नहीं सूझता। उसी तरह जब मनुष्यके विवेकको अहंकार ग्रस लेता है तो मनुष्यमें मोह बढ जाता है उसकी सम्यग्दृष्टि मारी जाती है। गुरु बार-बार उसे कुमार्गमें जानेसे रोकते है। किन्तु वह कुमार्गमें ही आसक्त रहता है। अतः अहंकार मनुष्यको कुमार्ग-गामी बनाता है ॥१०॥

आगे अहंकारसे होनेवाले पाप कर्मके उदयके फल रूप अत्यन्त उग्र अपमानके दुःखको कहते हैं—

स्थावर जंगम रूप इस जगत्के भेद प्रपंचमें निरन्तर यथेष्ट रूपसे दैवके चमकनेपर किस इष्ट या अनिष्ट पदार्थको मैं स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त नहीं कर सकता, इस प्रकारका अहं-काररूपी अन्धकार कुबुद्धि मनुष्यके अभिप्रायमें समा जाता है। उससे वह ऐसे अनिर्वच-नीय पापका बन्ध करता है जिसके उदयके अधीन होकर चिरकाल तक नीच गतिमें होने-वाले अपमानरूपी ज्वरके वेगको भोगता है ॥११॥

अथ तत्तादृगपायप्रायमानोपमर्दनचणं मार्दवमाशास्ते—

भद्रं मार्दववज्राय येन निर्लूनपक्षतिः ।
पुनः करोति मानाद्रिर्नोत्थानाय मनोरथम् ॥१२॥

मार्दवं—जात्याद्यतिशयवतोऽपि सतस्तत्कृतमदावेशाभावात् परप्रयुक्तपरिभवनिमित्ताभिमानाभावात्मानिर्हरणम् । पक्षतिः—पक्षमूलम् । तच्चेह सामर्थ्यविशेषः ॥१२॥

अथ गर्वः सर्वथाऽप्यकर्तव्य इत्युपदेष्टुं संसारदुरवस्था प्रथयति—

क्रियेत गर्वः संसारे न श्रूयेत नृपोऽपि चेत् ।
दैवाज्जातः कृमिर्गूथे भृत्यो नेक्ष्येत वा भवन् ॥१३॥

स्पष्टम् ॥१३॥

विशेषार्थ—अहंकारके वशीभूत हुआ कुबुद्धि मनुष्य ऐसे पाप कर्मका बन्ध करता है जिसके फलस्वरूप उसे चिरकाल तक निगोद आदि नीच गतियोंके दुःख भोगने पड़ते है ।

कहा[1] है—'जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तप और बलका अहंकार करनेवाला मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है' ॥११॥

आगे उक्त प्रकारके दुःखोंके देनेवाले मानका मर्दन करनेमें समर्थ मार्दव धर्मकी प्रशंसा करते है—

उस मार्दवरूपी वज्रका कल्याण हो, जिसके द्वारा परोंके मूलके अर्थात् शक्तिविशेषके मूलसे छिन्न हो जानेपर मानरूपी पर्वत पुनः उठनेका मनोरथ नही करता ॥१२॥

विशेषार्थ—कवि-परम्परा ऐसी है कि पहले पर्वतोंके पंख होते थे । इन्द्रने अपने वज्रसे उन्हें काट डाला । तबसे पर्वत स्थिर हो गये । उसीको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकारने मानरूपी पर्वतके पंख काटनेवाले मार्दव धर्मको वज्रकी उपमा दी है । जाति आदिसे विशिष्ट होते हुए भी उसके मदके आवेशके अभावसे तथा दूसरोंके द्वारा तिरस्कार किये जानेपर भी अभिमानका अभाव होनेसे मानके पूरी तरहसे हटनेको मार्दव धर्म कहते है ॥१२॥

गर्व सर्वथा नहीं करना चाहिए, इस बातका उपदेश करनेके लिए संसारकी दुरवस्था बतलाते है—

अपने द्वारा उपार्जित अशुभ कर्मके उदयसे राजा भी मरकर विष्ठेका कीडा हुआ, यदि यह बात प्रामाणिक परम्परासे सुननेमें न आती, अथवा आज भी राजाको भी नौकरी करते हुए न देखते तो संसारमें गर्व किया जा सकता है ॥१३॥

विशेषार्थ—प्राचीन आख्यानोंमें शुभाशुभ कर्मोंका फल बतलाते हुए एक राजाकी कथा आती है कि वह मरकर अपने ही पाखानेमें कीड़ा हुआ था । जब राजा भी मरकर विष्ठेका कीड़ा हो सकता है तब राजसम्पदा आदि पाकर उसका अभिमान करना व्यर्थ है । यह तो शास्त्रीय आख्यान है । वर्तमान कालमें फ्रांसके राजाका सिर जनताके द्वारा काटा गया । रूसमें क्रान्ति होनेपर वहाँके राजाको मार डाला गया और उसके परिवारको आजीविकाके लिए भटकना पड़ा । भारतमें स्वतन्त्रताके बाद राजाओंके सब अधिकार समाप्त कर दिये गये और उनकी सब शान-शौकत धूलमें मिल गयी । ये सब बातें सुनकर और देखकर भी जो घमण्ड करता है उसकी समझपर खेद होता ही है ॥१३॥

---

१. 'जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलैः ।
कुर्वाणोऽहं कृति नीचं गोत्रं बध्नाति मानवः' ॥

अथ मानविजयोपायमधस्तनभूमिकायां सद्व्रतैः कर्मोच्छेदार्थमभिमानोत्तेजनं चोपदिशति—

प्राच्यानैदंयुगीनानथ परमगुणग्रामसामृद्धयसिद्धा-
नद्धा ध्यायन्निरुन्ध्यात्स्वदिमपरिणतः शिर्मदं दुर्मदारिम् । ३
छेत्तुं दौर्गत्यदुःखं प्रवरगुरुगिरा संगरे सद्व्रतास्त्रैः,
क्षेप्तुं कर्मारिचक्रं सुहृदमिव शितैर्दीपयेद्वाभिमानम् ॥१४॥

शिर्मदं—मर्मदं मर्मव्यथकम् । दौर्गत्यं—दुर्गतिभाव दारिद्र्यं च । संगरे—प्रतिज्ञायां संग्रामे च ॥१४॥ ६

अथ मार्दवभावनाभिभूतस्यापि गर्वस्य सर्वथोच्छेदः शुक्लध्यानप्रवृत्त्यैव स्यादित्युपदिशति—

मार्दवाशनिनिर्लूनपक्षो मायाक्षितिं गतः । ९
योगाम्बुनैव भेद्योऽन्तर्वहता गर्वपर्वतः ॥१५॥

नीचेकी भूमिकामें मानको जीतनेका उपाय बतलाते हुए समीचीन व्रतोंके द्वारा कर्मोंका उच्छेद करनेके लिए अभिमानको उत्तेजित करनेका उपदेश देते हैं—

मार्दव धर्मसे युक्त होकर, परम गुणोंके समूहकी समृद्धिके कारण प्रसिद्ध पूर्व पुरुषोंका और इस युगके साधुओंका तत्वतः ध्यान करते हुए मर्मभेदी दुःख देनेवाले अहंकाररूपी शत्रुको दूर हटाना चाहिए। अथवा दुर्गति सम्बन्धी दुःखका विनाश करनेके लिए और निरतिचार व्रतरूपी तीक्ष्ण अस्त्रोंके द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्म शत्रुओंके समूहको भगानेके लिए सद्गुरुके वचनोंसे प्रतिज्ञामें स्थिर होकर मित्रकी तरह अभिमानको उत्तेजित करना चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थ—अहंकार शत्रुकी तरह बहुत अनिष्ट करनेवाला होनेसे शत्रुके तुल्य है। अतः उसके रोकनेका एक उपाय तो यह है कि जो पूर्व पुरुष या वर्तमान साधु ज्ञान, विनय, दया, सत्य आदि गुणोंसे सम्पन्न है उनके गुणोंका ध्यान करे। दूसरा उपाय इस प्रकार है—जैसे कोई वीर योद्धा दारिद्र्यके दुःखोंको दूर करनेके लिए अपने मन्त्रियोंके कहनेसे युद्धके विषयमें तीक्ष्ण शस्त्रोंसे प्रहार करनेके लिए तत्पर शत्रु सैन्यको नष्ट करनेकी इच्छासे अपने मित्रको बढ़ावा देता है उसी तरह साधु दुर्गतिके दुःखको दूर करनेके लिए सद्गुरुके वचनोंसे प्रतिज्ञा लेकर कर्मोंके क्षयमें समर्थ निर्मल अहिंसा आदि व्रतोंके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंके समूहका विनाश करनेके लिए अभिमानको उत्तेजित करे कि मैं अवश्य कर्मोंका क्षपण करूँगा। नीचेकी भूमिकामें इस प्रकारका अभिमान मुमुक्षुके लिए कर्तव्य बतलाया है। सारांश यह है कि यद्यपि अहंकार या मद या गर्व या अभिमान बुरे हैं किन्तु अहंकारके कारण जो कर्मशत्रु हैं उनको नष्ट करनेका संकल्परूप अभिमान बुरा नहीं है। नीचेकी अवस्थामें इस प्रकारका संकल्प करके ही साधु अहंकारका मूलसे विनाश करनेमें समर्थ होता है ॥१४॥

आगे कहते हैं कि यद्यपि मार्दव धर्मकी भावनासे गर्व दब जाता है किन्तु उसका सर्वथा विनाश शुक्लध्यानसे ही होता है—

मार्दवरूपी वज्रके द्वारा पंखोंके कट जानेपर मायारूपी पृथ्वीपर पड़े हुए गर्वरूपी पर्वतका भेदन अन्तरंगमें बहते हुए योगरूपी जलसे ही होता है ॥१५॥

अवर्णमायेत्यादि। क्षपकश्रेण्या हि मायासंज्वलने प्रक्षिप्य शुक्लध्यानविशेषेण मानः किलोन्मूल्यते ॥१५॥

अथ मानान्महतामपि महती स्वार्थक्षतिमालक्षयंस्तदुच्छेदाय मार्दवभावना मुमुक्षोरवश्यकर्तव्यतयोपदिशति—

मानोऽवर्णमिवापमानमभितस्तेनेऽर्ककीर्तेस्तथा,
मायाभूतिमचीकरत्सगरजान् षष्टिं सहस्राणि तान्।
तत्सौनन्दमिवाविराट् परमरं मानग्रहान्मोचयेत्,
तन्वन्मार्दवमाप्नुयात् स्वयमिमं चोच्छिद्य तद्वच्छिवम् ॥१६॥

अवर्णं—अयशः शोभाभ्रंशं वा। तथा—तेन आर्षप्रसिद्धेन प्रकारेण। मायाभूतिं—अवास्तवभस्म। अचीकरत्—मणिकेतुनाम्ना देवेन कारयतिस्म। सगरजान्—सगरचक्रवर्तिपुत्रान्। षष्टिं सहस्राणि पद्मे सहस्रपत्रव्यपदेशवत् प्रायिकमेतत्। तेन भीमभगीरथाभ्यां विनापि तद्भस्मीकरणे षष्टिसहस्रसंख्यावचनं न

विशेषार्थ—आशय यह है कि जैसे इन्द्रके द्वारा छोड़े गये वज्रके प्रहारसे पक्षोंके कट जानेपर भूतलपर गिरे हुए पर्वतको उसके मध्यसे बहनेवाला जल ही विदारित कर सकता है वैसे ही मार्दव भावनाके द्वारा यद्यपि मान कषायकी शक्ति संज्वलन मान कषायरूप हो जाती है किन्तु उसका विनाश आत्मामें सतत वर्तमान पृथक्त्व वितर्क विचार नामक शुक्लध्यानके द्वारा ही होता है। क्योंकि क्षपक श्रेणीमें शुक्लध्यानके द्वारा मान कषायको माया संज्वलन कषायमें प्रक्षेपण करके उसकी सत्ताका विनाश किया जाता है ॥१५॥

मानसे महापुरुषोंके भी स्वार्थकी महती क्षति होती है यह बतलाते हुए उसके विनाशके लिए मुमुक्षुको मार्दव भावना अवश्य करनेका उपदेश देते हैं—

मानसे सम्राट् भरतके पुत्र अर्ककीर्तिका सब ओर अपयशके साथ अपमानका विस्तार हुआ। यह बात आगममें प्रसिद्ध है। तथा मानके कारण मणिकेतु नामक देवने सगरके साठ हजार पुत्र-पौत्रोंको मायामयी भस्मके रूपमें परिणत कर दिया। इसलिए जैसे सम्राट् भरतने बाहुबलि कुमारको मानरूपी भूतसे छुड़ाया उसी तरह साधुको भी चाहिए कि वह किसी कारणसे अभिमानके चंगुलमें फँसे दूसरे मनुष्यको शीघ्र ही अहंकाररूपी भूतके प्रभावसे छुड़ाने तथा मार्दव भावनाको भाते हुए भरत सम्राट्की तरह स्वयं भी इस मानका उच्छेदन करके शिवको—अभ्युदय और मोक्षको प्राप्त करे ॥१६॥

विशेषार्थ—महापुराणमें कहा है कि काशिराज अकम्पनने अपनी पुत्री सुलोचनाका स्वयंवर किया। सुलोचनाने कौरव पति जयकुमारके गलेमें वरमाला डाली। इसपर सम्राट् भरतका पुत्र अर्ककीर्ति उत्तेजित हो गया और उसने अहंकारसे भरकर जयकुमारके साथ युद्ध किया। उसमें वह परास्त हुआ और सब ओर उसका अपयश फैला। सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र-पौत्र थे। वे बड़े अभिमानी थे और चक्रवर्तीसे कोई काम करनेकी अनुज्ञा माँगा करते थे। एक बार चक्रवर्तीने उन्हें आज्ञा दी कि कैलास पर्वतपर सम्राट् भरतके द्वारा बनवाये गये जिनालयोंकी रक्षाके लिए उसके चारों ओर खाई खोदकर गंगाके पानीसे भर दिया जाये। जब वे इस काममें संलग्न थे, एक देवने उन्हें अपनी मायासे भस्म सरीखा कर दिया। पीछे उन्हें जीवित कर दिया। ये दोनों कथानक उक्त पुराणमें वर्णित हैं। अतः साधुका कर्तव्य है कि जैसे सम्राट् भरतने बाहुबलीको अहंकारसे मुक्त कराकर कल्याणके

विरुध्यते । तत् आर्षे प्रसिद्धान् । एतेन सगरात् साक्षादसाक्षाच्च जाता सगरजा इति पुत्रवत् पौत्राणामप्यार्षाविरोधेन ग्रहणं लक्षयति । सौनन्दं—सुनन्दाया अपत्यं बाहुबलिनम् । आदिराट्—भरतः । शिवम् । तथा चोक्तं—

'मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णन्ति । साधवोऽपि साधु मन्यन्ते । ततश्च सम्यग्ज्ञानादीनां पात्रीभवति । अतश्च स्वर्गापवर्गफलावाप्तिरिति ॥'

[तत्वार्थवा., ९।६।२८] ॥१६॥

अथार्जवस्वभावं धर्मं व्याकर्तुकामस्तदेकनिराकार्यां निकृतिमनुभावतोऽनुवदन्नाह—

क्रोधादीनसतोऽपि भासयति या सद्वत् सतोऽप्यर्थतो-
ऽसद्वद्दोषधियं गुणेष्वपि गुणश्रद्धां च दोषेष्वपि ।
या सूते सुधियोऽपि विभ्रमयते संवृण्वती यात्यणू-
न्यप्यस्म्यूहपदानि सा विजयते माया जगद्व्यापिनी ॥१७॥

सद्वत्—उद्भूतानिव । अर्थतः—प्रयोजनमाश्रित्य । अत्यणूनि—अतीव सूक्ष्माणि ॥१७॥

अथेहामुत्र च मायायाः कुत्सा कृच्छ्रैकनिबन्धनत्वमवबोधयति—

मार्गमें लगाया और स्वयं भी अपनेको अहंकारसे मुक्त करके कल्याणके मार्गमें लगे। उसी तरह दूसरोंको और स्वयंको भी अहंकारसे छुड़ाकर कल्याणके मार्गमें लगाना और लगना चाहिए। आगममें मार्दवकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। तत्त्वार्थवार्तिक (९।६।२८) में अकलंक देवने कहा है—'मार्दव भावनासे युक्त शिष्यपर गुरुओंकी कृपा रहती है। साधु भी उसे साधु मानते हैं। उससे वह सम्यग्ज्ञान आदिका पात्र होता है। सम्यग्ज्ञान आदिका पात्र होनेसे स्वर्ग और मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है।' इस प्रकार उत्तम मार्दव भावनाका प्रकरण समाप्त हुआ ॥१६॥

अब आर्जव धर्मका कथन करनेकी इच्छासे उसके द्वारा निराकरणीय मायाचार की महिमा बतलाते हैं—

जो माया प्रयोजनवश क्रोध आदिके नहीं होते हुए भी क्रोधादि हैं ऐसी प्रतीति कराती है और क्रोध आदिके होते हुए भी क्रोधादि नहीं है ऐसी प्रतीति कराती है। तथा गुणोंमें भी दोष बुद्धि कराती है और दोषोंमें भी गुण बुद्धि कराती है। तथा जो अत्यन्त सूक्ष्म भी विचारणीय स्थानोंको ढाँकती हुई विद्या सम्पन्न बुद्धिमानोंको भी भ्रममें डाल देती है वह संसारव्यापी माया सर्वत्र विजयशील है ॥१७॥

विशेषार्थ—मनमें कुछ, वचनमें कुछ और कार्य कुछ इस प्रकार मन-वचन-कायकी कुटिलताका नाम माया है। यह माया संसारव्यापी है। इसके फन्देसे विरले ही निर्मल हृदय पुरुष बचे हुए हैं। अन्यथा सर्वत्र उसका साम्राज्य है। मतलबी दुनिया अपना मतलब निकालनेके लिए इस मायाचारका खुलकर प्रयोग करती है। दुनियाको ठगनेके लिए दुर्जन भी सज्जनका बाना धारण करते हैं, चोर और डाकू साधुके वेशमें घूमते हैं। बनावटी क्रोध करके भी लोग अपना काम निकालते हैं। जिससे काम नहीं निकलता उस गुणीको भी दोषी बतलाते हैं और जिससे काम निकलता है उस दोषीको भी गुणी बतलाते हैं। यह सब स्वार्थकी महिमा है और मायाचार उसका सहायक होता है ॥१७॥

यह माया इस लोक और परलोकमें एकमात्र दुःखका ही कारण है, यह बतलाते हैं—

यः सोढुं कपटीत्यकीर्तिभुजगीमीष्टे श्रवोन्तश्चरीं,
सोपि प्रेत्य दुरत्ययात्ययमयीं मायोरगीमुज्झतु ।
नो चेत् स्त्रीत्वनपुंसकत्वविपरीणामप्रबन्धार्पितं
ताच्छील्यं बहु धातृकेलिकृतपुंभावोऽप्यभिव्यङ्क्ष्यति ॥१८॥

श्रवोन्तश्चरी—कर्णान्तरचारिणीम् । प्रेत्य—परलोके । दुरत्ययात्ययमयी—दुरतिक्रमापायबहुलाम् । ताच्छील्यं—स्त्रीनपुंसकस्वभावता भावस्त्रीत्वं भावनपुंसकत्व चेत्यर्थः । तल्लिङ्गानि यथा—

श्रोणिमार्दवत्रस्तत्व-मुग्धत्वक्लीवतास्तनाः ।
पुंस्कामेन समं सप्त लिङ्गानि स्त्रैणसूचने ॥
खरत्व-मेहनस्ताब्ध्य-शौण्डीर्यश्मश्रुधृष्टताः ।
स्त्रीकामेन सम सप्तलिङ्गानि पौंस्नवेदने ॥
यानि स्त्रीपुंसलिङ्गानि पूर्वाणीति चतुर्दश ।
श्राव्यनि (सर्वाणि) तानि मिश्राणि षण्ढभावनिवेदने ॥'
[पञ्चसं. अमि. ग. १।१९६-१९८]

अत्र मानसा भावाभावस्य शारीराश्च द्रव्यस्य सूचका इति विभागः ।

अभिव्यङ्क्ष्यति—अभिव्यक्तं करिष्यति ॥१८॥

'यह कपटी है' इस प्रकारकी अपकीर्तिरूपी सर्पिणीको कानोंके भीतर घूमते हुए सहन करनेमें जो समर्थ है, वह भी परलोकमें दुःखसे टारे जाने योग्य कष्टोंसे भरपूर मायारूपी नागिनको छोड़ देवे। यदि उसने ऐसा नहीं किया तो दैवके द्वारा क्रीड़ावश पुरुषत्व भावको प्राप्त होकर भी वह स्त्रीत्व और नपुंसकत्व रूप विविध परिणमनोंकी परम्परासे संयुक्त स्त्रीत्व और नपुंसकत्व रूप प्रचुर भावोंको ही व्यक्त करेगा ॥१८॥

विशेषार्थ—वेद या लिंग तीन होते हैं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। ये तीनों भी दो-दो प्रकारके होते हैं—द्रव्यरूप और भावरूप। शरीरमें जो स्त्री-पुरुष आदिके चिह्न होते हैं उन्हें द्रव्यवेद कहते हैं और मनके विकारको भाववेद कहते हैं। नाम कर्मके उदयसे द्रव्यवेदकी रचना होती है और नोकषायके उदयसे भाववेद होता है। ये द्रव्यवेद और भाववेद प्रायः समान होते हैं किन्तु कर्म भूमिके मनुष्य और तिर्यंचोंमें इनकी विषमता भी देखी जाती है। अर्थात् जो द्रव्यरूपसे स्त्री है वह भावरूपसे स्त्री या पुरुष या नपुंसक होता है। जो द्रव्यरूपसे पुरुष है वह भावसे पुरुष या स्त्री या नपुंसक होता है। जो द्रव्यरूपसे नपुंसक होता है वह भावसे नपुंसक या स्त्री या पुरुष होता है। इस तरह नौ भेद[1] होते हैं यह विचित्रता मायाचार करनेका परिणाम है। जो मायाचार करते हैं उनके साथ कर्म भी खेल खेलता है कि शरीरसे तो उन्हें पुरुष बनाता है किन्तु भावसे या तो वे स्त्री होते हैं या नपुंसक होते हैं। यह उक्त श्लोकका अभिप्राय है ॥१८॥

१. 'या स्त्री द्रव्यरूपेण भावेन साऽस्ति स्त्री ना नपुंसकः ।
पुमान् द्रव्येण भावेन पुमान् नारी नपुंसक ॥
संढो द्रव्येण, भावेन संढो नारी नरो मतः ।
इत्येवं नवधा वेदो द्रव्यभावविभेदतः ॥—अमित. पं. सं. १।१९३-१९४।

अथ मायाविनो लोकेऽत्यन्तमविश्वास्यतां प्रकाशयति—

यो वाचा स्वमपि स्वान्तं वाचं वञ्चयतेऽनिशम् ।
चेष्टया च स विश्वास्यो मायावी कस्य धीमतः ॥१९॥

य इत्यादि । यन्मनस्यस्ति तन्न वदति, यच्च वक्ति तन्न कायेन व्यवहरतीति भाव. ॥१९॥

अथार्जवशीलानां सम्प्रति दुर्लभत्वमाह—

चित्तमन्वेति वाग् येषां वाचमन्वेति च क्रिया ।
स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ ॥२०॥

अन्वेति—अनुवर्तते ॥२०॥

अथार्जवशीलाना माहात्म्यमाह—

आर्जवस्फूर्जदूर्जस्काः सन्तः केऽपि जयन्ति ते ।
ये निगीर्णत्रिलोकायाः कृन्तन्ति निकृतेर्मनः ॥२१॥

ऊर्ज—उत्साहः ॥२१॥

अथार्जवनिर्जितदुर्जयमायाकषायाणां मुक्तिवर्त्मनि निष्प्रतिबन्धा प्रवृत्तिः स्यादित्युपदिशति—

दुस्तरार्जवनावा यैस्तीर्णा मायातरङ्गिणी ।
इष्टस्थानगतौ तेषां कः शिखण्डी भविष्यति ॥२२॥

शिखण्डी—विघ्न. ॥२२॥

अथ मायाया दुर्गतिक्लेशावेशदुस्सह-गर्हानिबन्धनत्वमुदाहरणद्वारेण प्रणिगदति—

मायावीका लोकमें किंचित् भी विश्वास नहीं किया जाता, इस बातको प्रकाशित करते हैं—

जो मायावी अपने ही मनको अपने वचनोंसे और अपने वचनोंको शारीरिक व्यापार-से रात-दिन ठगा करता है—क्योंकि जो मनमें है वह कहता नहीं है और जो कहता है वह करता नहीं है—उसका विश्वास कौन समझदार कर सकता है ॥१९॥

इस समय सरल स्वभावियोंकी दुर्लभता बतलाते हैं—

जिनके वचन मनके अनुरूप होते हैं और जिनकी चेष्टा वचनके अनुरूप होती है अर्थात् जैसा मनमें विचार करते हैं वैसा बोलते हैं और जो कहते हैं वही करते है, ऐसे अपने और दूसरोंके उपकारमे तत्पर साधु इस कलि कालमें बहुत स्वल्प हैं ॥२०॥

सरल स्वभावियोंका माहात्म्य बतलाते हैं—

जो तीनों लोकोंको अपने उदरमें रखनेवाली अर्थात् तीनों लोकोंको जीतनेवाली माया-के हृदयको भी विदीर्ण कर देते हैं, वे सरल स्वभावी उत्साही लोकोत्तर साधु जयशील होते हैं, उनका पद सबसे उत्कृष्ट होता है ॥२१॥

आगे कहते हैं कि आर्जव धर्मसे दुर्जय माया कषायको जीतनेवालोंकी मोक्षमार्गमें बेरोक प्रवृत्ति होती है—

जिन्होंने आर्जव धर्मरूपी नावके द्वारा दुस्तर मायारूपी नदीको पार कर लिया है उनके इष्ट स्थान तक पहुँचनेमें कौन बाधक हो सकता है ॥२२॥

माया दुर्गतियोंके कष्ट और असह्य निन्दाका कारण है, यह बात उदाहरणके द्वारा बताते हैं—

खलूक्त्वा हृत्कर्णक्रकचमखलानां यदतुलं,
किल क्लेशं विष्णोः कुसृतिरसृजत् संसृतिसृतिः ।
हतोऽश्वत्थामेति स्ववचनविसंवादितगुरु-
स्तपःसूनुर्म्लानः सपदि शृणु सद्भ्योऽन्तरधितः ॥२३॥

खलूक्त्वा—नोच्यते तत् साधुभिरिति संबन्धः । अखलानां—सज्जनानाम् । किल—आगमे लोके वा श्रूयते । कुसृतिः—वञ्चना । संसृतिसृतिः—संसारस्योपायभूता अनन्तानुबन्धिनीत्यर्थः । अश्वत्थामा—द्रोणाचार्यपुत्रो हस्तिविशेषश्च । विसंवादित.—कुञ्जरो न नर इत्युक्त्वा विप्रलम्भित. । गुरुः—द्रोणाचार्यः । तपःसूनुः—युधिष्ठिरः । सद्भ्योन्तरधितः—साधुभिरदर्शनमात्मन इच्छति स्म । सन्तो मा मा पश्यन्तु इत्यन्तर्हितोऽभूदित्यर्थः । 'सद्भ्यः' इत्यत्र 'येनादर्शनमिच्छति' इत्यनेन पञ्चमी ॥२३॥

अथ शौचरूपं धर्मं व्याचिख्यासुस्तदेकप्रत्याख्येयस्य सन्निहितविषयगर्द्धोत्पादलक्षणस्य लोभस्य सर्वपापमूलत्व-सर्वगुणभ्रंशकत्वप्रकाशनपूर्वकं कृशीकरणमवश्यकरणीयतया मुमुक्षूणामुपदिशति—

लोभमूलानि पापानीत्येतद्येन प्रमाण्यते ।
स्वयं लोभाद् गुणभ्रंशं पश्यन्तः श्यन्तु तेऽपि तम् ॥२४॥

हे साधुओ ! सुनो । संसार मार्गको बढ़ानेवाली अनन्तानुबन्धी मायाने विष्णुको जो असाधारण कष्ट दिया, जैसा कि लोकमें और शास्त्रमें कहा है, वह सज्जनोंके हृदय और कानोंको करौंतकी तरह चीरनेवाला है । इसलिए साधुजन उसकी चर्चा भी नहीं करते । तथा 'अश्वत्थामा मर गया' इस प्रकारके वचनोंसे अपने गुरु द्रोणाचार्यको भुलावेमें डालनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरका मुख तत्काल मलिन हो गया और उन्होंने साधुओंसे अपना मुँह छिपा लिया ॥२३॥

विशेषार्थ—श्रीकृष्णकी द्वारिका द्वीपायनके क्रोधसे जलकर भस्म हो गयी । केवल श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों भाई बचे । श्रीकृष्णको प्यास लगी तो बलदेव पानीकी खोजमें गये । इधर जरत्कुमारके बाणसे श्रीकृष्णका अन्त हो गया । यह सब महाभारतके युद्धमें श्रीकृष्णकी चतुराई करनेका ही फल है । उन्हींके ही उपदेशसे सत्यवादी युधिष्ठिरको झूठ बोलना पड़ा । क्योंकि द्रोणाचार्यके मरे बिना पाण्डवोंका जीतना कठिन था । अतः अश्वत्थामाके मरणकी बात युधिष्ठिरके मुखसे कहलायी; क्योंकि वे सत्यवादी थे । उनकी बातपर द्रोणाचार्य विश्वास कर सकते थे । उधर अश्वत्थामा द्रोणाचार्यका पुत्र था और एक हाथीका नाम भी अश्वत्थामा था । हाथी मरा तो युधिष्ठिरने जोरसे कहा, अश्वत्थामा मारा गया । साथ ही धीरेसे यह भी कह दिया कि 'न जाने मनुष्य है या हाथी,' । द्रोणाचार्यके तत्काल प्राण निकल गये । युधिष्ठिरको बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने अपना मुख छिपा लिया कि उसे कोई सत्पुरुष न देखे । यह सब मायाचारका फल है ॥२३॥

इस प्रकार उत्तम आर्जव भावना प्रकरण समाप्त हुआ ।

आगे ग्रन्थकार शौचधर्मका कथन करना चाहते हैं । उसमें सबसे प्रथम त्यागने योग्य है लोभ । निकटवर्ती पदार्थोंमें तीव्र चाहको उत्पन्न करना लोभका लक्षण है । यह लोभ सब पापोंका मूल है, सब गुणोंको नष्ट करनेवाला है । इसलिए मुमुक्षुओंको अवश्य ही लोभको कम करना चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं—

जो लोग 'लोभ पापोंका मूल है' इस लोक प्रसिद्ध वचनको भी प्रमाण नहीं मानते, वे भी स्वयं लोभसे दया-मैत्री आदि गुणोंको विनाश अनुभव करके उस लोभको कम करें ॥२४॥

गुणाः—दयामैत्रीसाधुकारादयः। व्यासोऽप्याह—

'भूमिष्ठोऽपि रथस्थांस्तान् पार्थः सर्वधनुर्धरान्।
एकोऽपि पातयामास लोभः सर्वगुणानिव ॥' [ ]

श्यन्तु—कृशीकुर्वन्तु ॥२४॥

अथ गुणलक्षशतेन समकक्षमप्यौचित्यमत्यन्तलुब्धस्य नित्यमुद्वेजनीयं स्यादित्युपदिशति—

गुणकोट्या तुलाकोटिं यदेकमपि टीकते।
तदप्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य गरलायते ॥२५॥

तुलाकोटिं—ऊर्ध्वमानान्तमुपमोत्कर्षं च। टीकते—चटति। औचित्यं—दान-प्रियवचनाभ्यामन्यस्य सन्तोषोत्पादनम्। उक्तं च—

'औचित्यमेकमेकत्र गुणानां राशिरेकतः।
विषायते गुणग्राम औचित्यपरिवर्जितः ॥' [ ] ॥२५॥

अथ स्वपरजीवितारोग्येन्द्रियोपभोगविषयभेदादष्टविधेनापि लोभेनाकुलितः सातत्येन सर्वमकृत्यं करोतीत्युपदिशति—

उपभोगेन्द्रियारोग्यप्राणान् स्वस्य परस्य च।
गृध्यन् मुग्धः प्रबन्धेन किमकृत्यं करोति न ॥२६॥

अकृत्यं—गुरुपितृवधादिकम् ॥२६॥

विशेषार्थ—'लोभ पापका मूल है' यह उक्ति लोकमें प्रसिद्ध है। फिर भी जो इसे नहीं मानते वे स्वयं अनुभव करेंगे कि लोभसे किस प्रकार सद्गुणोंका नाश होता है। व्यासजीने भी कहा है—'भूमिपर खड़े हुए भी अकेले अर्जुनने रथमें बैठे हुए उन सभी धनुषधारियोंको उसी तरह मार गिराया जैसे लोभ सब गुणोंको नष्ट कर देता है।' इस दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि लोभ सब गुणोंका नाशक है ॥२४॥

आगे कहते हैं कि औचित्य नामक गुण करोड़ गुणोंके समान है फिर भी वह अत्यन्त लोभीको कष्टदायक होता है—

जो अकेला भी औचित्य गुण एक करोड़ गुणोंकी तुलनामें भारी पड़ता है वही औचित्य गुण अत्यन्त लोभी मनुष्यको विषके तुल्य प्रतीत होता है ॥२५॥

विशेषार्थ—दान द्वारा तथा प्रिय वचनोंके द्वारा दूसरेको सन्तुष्ट करनेका नाम औचित्य गुण है। इस गुणकी बड़ी महिमा है। कहा है—'एक ओर एक औचित्य गुण और दूसरी ओर गुणोंकी राशि। औचित्य गुणके बिना गुणोंकी राशि विष तुल्य प्रतीत होती है।' यदि मनुष्यमें प्रिय वचनोंके द्वारा भी दूसरेको सन्तोष दिलानेकी क्षमता न हो तो उसके सभी गुण व्यर्थ हैं। किन्तु लोभी मनुष्य दान देना तो दूर, प्रिय वचनोंके द्वारा भी दूसरेको सन्तुष्ट करना नहीं चाहता। उसे किसी भी प्रार्थीका आना ही नहीं सुहाता ॥२५॥

स्वजीवन, परजीवन, आरोग्य और पाँचों इन्द्रियोंके उपभोग इन आठ विषयोंकी अपेक्षा लोभके आठ भेद होते हैं। इन आठ प्रकारके लोभोंसे व्याकुल मनुष्य सभी न करने योग्य काम करता है ऐसा कहते हैं—

अपने और अपने स्त्री-पुत्रादिके इष्ट विषयोंको, इन्द्रियोंको, आरोग्यको और प्राणोंको

अथ लोभपरतन्त्रस्य गुणभ्रंशं व्याचष्टे—

तावत्कीर्त्यै स्पृहयति नरस्तावदन्वेति मैत्रीं,
तावद्वृत्तं प्रथयति बिभर्त्याश्रितान् साधु तावत् ।
तावज्जानात्युपकृतमघाच्छङ्कते तावदुच्चै-
स्तावन्मानं वहति न वशं याति लोभस्य यावत् ॥२७॥

अन्वेति—अविच्छेदेन वर्तयति ॥२७॥

अथ लोभविजयोपायसेवाया शिवार्थिनः सज्जयन्नाह—

प्राणेशमनु मायाम्बां मरिष्यन्तीं विलम्बयन् ।
लोभो निगृह्यते येन तद्भजेच्छौचदेवतम् ॥२८॥

प्राणेशमनु—स्वपराभेदप्रत्ययलक्षणेन मोहेन भर्त्रा सह । मायाम्बां—वञ्चनामातरम् । मरिष्यन्ती—मरणोन्मुखी । विलम्बयन्—अवस्थापयन् । नारी हि स्वभर्त्रा सह मर्तुकामा पुत्रेण धार्यत इत्युक्तिलेशः । शौचं—प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः । मनोगुप्तौ मनसः परिस्पन्दः सकलः प्रतिषिध्यते । तत्राक्षमस्य परवस्तुष्वनिष्टप्रणिधानोपरमः शौचमिति । ततोऽस्य भेदः ॥२८॥

अथ सन्तोषाभ्यासनिरस्ततृष्णस्यात्मध्यानोपयोगोद्योगमुद्योतयन्नाह—

अत्यन्त चाहनेवाला मूढ़ मनुष्य लगातार कौन न करने योग्य काम नहीं करता ? अर्थात् सभी बुरे काम करता है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि लोभीके गुण नष्ट हो जाते हैं—

मनुष्य तभी तक यश की चाह करता है, तभी तक मित्रताका लगातार पालन करता है, तभीतक चारित्रको बढ़ाता है, तभी तक आश्रितोंका सम्यक् रीतिसे पालन करता है, तभी तक किये हुए उपकारको मानता है, तभी तक पापसे डरता है, तभी तक उच्च सन्मानको धारण करता है जबतक वह लोभके वशमें नहीं होता। अर्थात् लोभके वशमें होनेपर मनुष्यके उक्त सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥२७॥

आगे मुमुक्षुओंको लोभको जीतनेके उपायोंकी आराधनामें लगाते हैं—

अपने पति मोहके साथ मरनेकी इच्छुक मायारूपी माताको मरनेसे रोकनेवाला लोभ जिनके द्वारा निगृहीत किया जाता है उस शौचरूपी देवताकी आराधना करनी चाहिए ॥२८॥

विशेषार्थ—स्त्री यदि पतिके साथ मरना चाहती है तो पुत्र उसे रोकता है। लोभका पिता मोह है और माता माया है। जब मोह मरता है तो उसके साथ माया भी मरणोन्मुख होती है। किन्तु लोभ उसे मरने नहीं देता। इसलिए लोभका निग्रह करनेके लिए शौच देवताकी आराधना करनी चाहिए। यहाँ शौचको देवता इसलिए कहा है कि देवताको अपने आश्रितका पक्षपात होता है। अतः जो शौचका आश्रय लेते हैं शौच उन्हें लोभके चंगुलसे छुड़ा देता है। लोभकी सर्वोत्कृष्ट निवृत्तिको शौच कहते हैं। मनोगुप्तिमें तो मनकी समस्त प्रवृत्तियोंको रोकना होता है। जो उसमें असमर्थ होता है उसका परवस्तुओंमें अनिष्ट संकल्प-विकल्प न करना शौच है। इसलिए मनोगुप्तिसे शौच भिन्न है ॥२८॥

जो सन्तोषका अभ्यास करके तृष्णाको दूर भगा देते हैं उनके आत्मध्यानमें उपयोग लगानेके उद्योगको प्रकट करते हैं—

अविद्यासंस्कार-प्रगुणकरण-ग्रामशरणः,
परद्रव्यं गृध्नुः कथमहमधोधश्चिरमगाम् ।
तदद्योद्यद्विद्यावृतिधृतिसुधास्वादहृततृ-
ड्भरः स्वध्यात्योपर्युपरि विहराम्येव सततम् ॥२९॥

प्रगुणः—विषयग्रहणाभिमुखः । शरणं—आश्रयः । गृध्नुः—अभिलाषुकः । स्वध्यात्या—आत्मनि संतत्या वर्तमानया निर्विकल्पनिश्चलया बुद्धया । तदुक्तम्—

'इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी ।
ज्ञानान्तरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥' [तत्त्वानु., ७२ श्लो.] ॥२९॥

अथ शौचमहिमानमभिष्टौति—

निर्लोभतां भगवतीमभिवन्दामहे मुहुः ।
यत्प्रसादात्सतां विश्वं शश्वद्भातीन्द्रजालवत् ॥३०॥

इन्द्रजालवत्—इन्द्रजालेन तुल्यमनुपभोग्यत्वात् ॥३०॥

अथ लोभमाहात्म्यमुपाख्यानमुखेन ख्यापयन्नाह—

आत्मा और शरीरमें अभेदज्ञान रूप अविद्याके संस्कारसे अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें संलग्न इन्द्रियाँ ही अनादिकालसे मेरे लिए शरण थीं। अतः परद्रव्यकी चाहसे मैं किस प्रकार नीचे-नीचे जाता रहा। अब उत्पन्न हुई शरीर और आत्माके भेदज्ञानरूप विद्याका सारभूत जो सन्तोषरूप अमृत है, उसके आस्वादसे मेरा तृष्णारूपी विष दूर हो गया है। अतः अब वही मैं आत्मामें लीन निर्विकल्प निश्चल ध्यानके द्वारा निरन्तर ऊपर-ऊपर विहार करता हूँ ॥२९॥

विशेषार्थ—आत्मा और शरीरमें एकत्वबुद्धि होनेसे अथवा शरीरको ही आत्मा माननेसे यह जीव विषयासक्त इन्द्रियोंको ही सब कुछ मानकर उन्हींमें लीन रहता है। इसीसे उसका पतन होता है और संसारका अन्त नहीं आता। वह रात-दिन परद्रव्यको प्राप्त करनेके उपायोंमें ही फँसा रहता है। कितना भी द्रव्य होनेसे उसकी तृष्णा तृप्त होनेके बदले और बढ़ती है। इसके विपरीत जब वह शरीर और आत्माके भेदको जान लेता है तो उस भेदज्ञानके निचोड़से उसे असन्तोषके स्थानमें सन्तोष होता है और उससे उसकी तृष्णा शान्त हो जाती है। तब वह आत्माके निर्विकल्प स्थानमें मग्न होकर उत्तरोत्तर मोक्षकी ओर बढ़ता है। ध्यानका स्वरूप इस प्रकार कहा है—'भावसाधनमें ध्यातिको ध्यान कहते हैं। और सन्तानक्रमसे चली आयी जो बुद्धि अपने इष्ट ध्येयमें स्थिर होकर अन्य ज्ञानके परामर्शसे रहित होती है अर्थात् निर्विकल्प रूपसे आत्मामें निश्चल होती है उसे ही ध्याति कहते हैं। यही ध्यान है' ॥२९॥

शौचके माहात्म्यकी प्रशंसा करते हैं—

जिसके प्रसादसे शुद्धोपयोगमें निष्ठ साधुओंको सदा यह चराचर जगत् इन्द्रजालके तुल्य भासमान होता है उस भगवती निर्लोभताको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥३०॥

एक कथानकके द्वारा लोभका माहात्म्य कहते हैं—

तादृक्षे जमदग्निमिष्टिनमृषिं स्वस्यातिथेयाध्वरे,
हत्वा स्वीकृतकामधेनुरधिराड्यस्कार्तवीर्यः क्रुधा ।
जघ्ने सान्वयसाधनः परशुना रामेण तत्सूनुना,
तद्दुर्दण्डित इत्यपाति निरये लोभेन मन्ये हठात् ॥३१॥

तादृक्षे—सकललोकचित्तचमत्कारिणि । जघ्ने—हतः । सान्वयसाधनः—संतानसैन्यसहित. । रामेण—परशुरामनाम्ना ॥३१॥

अथानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन संज्ञिकाः क्रोध-मान-माया-लोभानां प्रत्येकं चतस्रोऽवस्था दृष्टान्तविशेषैः स्पष्टयन् क्रमेण तत्फलान्यार्याद्वयेनोपदिशति—

दृषदवनि-रजोऽब्राजिवदश्मस्तम्भास्थिकाष्ठवेत्रकवत् ।
वंशाङ्घ्रिमेषभृङ्गोक्षमूत्रचामरवदनुपूर्वम् ॥३२॥
कृमि-चक्र-कायमलरजनिरागवदपि च पृथगवस्थाभिः ।
क्रुन्मानदम्भलोभा नारकतिर्यङ्नृसुरगतीः कुर्युः ॥३३॥

दृषदित्यादि । यथा शिला भिन्ना सती पुनरुपायशतेनापि न संयुज्यते तथाऽनन्तानुबन्धिना क्रोधेन विघटितं मन. । यथा च पृथ्वी विदीर्णा सती महोपक्रमेण पुनर्मिलति तथाऽप्रत्याख्यानेन विघटितं चेत । यथा च धूली रेखाकारेण मध्ये भिन्ना अल्पेनाप्युपक्रमेण पुनर्मिलति तथा प्रत्याख्यानेन विघटितं चित्तम् । यथा च

समस्त लोकके चित्तमें आश्चर्य पैदा करनेवाले अपने अतिथि सत्कारमें, सत्कार करनेवाले ऋषि जमदग्निको मारकर उनकी कामधेनु ले जाने वाले राजा कार्तवीर्यको जमदग्निके पुत्र परशुरामने क्रुद्ध होकर सेना और सन्तानके साथ मार डाला। इसपर ग्रन्थकार कल्पना करते हैं कि उसको मिला यह दण्ड पर्याप्त नहीं था, मानो इसीसे लोभने उसे बलपूर्वक नरकमें डाल दिया ॥३१॥

विशेषार्थ—महाभारतके वनपर्व अध्याय ११६ में यह कथा इस प्रकार आती है कि राजा कार्तवीर्य जमदग्निके आश्रम में गये और उनकी कामधेनु गायका बछड़ा जबरदस्ती ले आये। उस समय आश्रममें केवल ऋषिपत्नी ही थी। उन्होंने राजाका आतिथ्य किया। किन्तु राजाने उसकी भी उपेक्षा की। जब परशुराम आया तो उसके पिता ने उससे यह समाचार कहा। रामने राजा कार्तवीर्यको मार डाला। पीछे एक दिन राजाके उत्तराधिकारियोंने आश्रममें जाकर जमदग्निको मार डाला। इस सब हत्याकाण्डकी जड़ है कामधेनुका लोभ।' वही लोभ कार्तवीर्य और उसके समस्त परिवारकी मृत्युका कारण बना ॥३१॥

इस प्रकार उत्तम शौच भावनाका प्रकरण समाप्त हुआ।

क्रोध, मान, माया, लोभमें से प्रत्येककी चार अवस्थाएँ होती हैं, उनके नाम अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन हैं। दृष्टान्तोंके द्वारा उसे स्पष्ट करते हुए क्रमसे दो आर्याओंके द्वारा उनका फल बतलाते हैं—

क्रोध, मान, माया और लोभ इनमें-से प्रत्येककी क्रमसे चार अवस्थाएँ होती हैं। शिलाकी रेखा, पृथ्वीकी रेखा, धूलीकी रेखा और जलकी रेखाके समान क्रमसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोध होता है। और यह क्रोध क्रमसे नरक गति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगतिमें उत्पन्न करता है। पत्थरका स्तम्भ, हड्डी, लकड़ी और वेतके समान क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि मान होता है

जलं यष्ट्यादिना मध्ये छिद्यमानं स्वयमेव निःसंबन्धं मिलति तथा संज्वलनेन विघटितं चित्तमित्युपमानार्थः। एवमुत्तरेष्वपि यथास्वमसौ व्याख्येयः। वंशाङ्घ्रिः—वेणुमूलम् ॥३२॥ कृमिरागः—कृमित्यक्तरक्ताहारः। तद्रञ्जितोर्णातन्तुनिष्पादितो हि कम्बलो दग्धावस्थोऽपि न विरज्येत। चक्रकायमलौ—घणककिट्टिका देहमलश्च।[1] रजनी—हरिद्रा। रागः—रञ्जनपर्यायः। एषः कृम्यादिभिः प्रत्येकमभिसंबध्यते। अवस्थाभिः—सर्वोत्कृष्ट-हीन-हीनतर-हीनतमोदयरूपाभिरनन्तानुबन्ध्यादिशक्तिभिः ॥३३॥

जो क्रमसे नरक गति, तियचगति, मनुष्यगति और देवगतिमें जन्म कराता है। बाँसकी जड़, मेढेके सींग, बैलका मूतना और चमरीके केशोंके समान अनन्तानुबन्धी आदि माया होती है जो क्रमसे नरक गति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगतिमें उत्पन्न कराती है। कृमिराग, चकेका मल, शरीरका मल और हल्दीके रंगके समान क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि लोभ होता है जो क्रमसे नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगतिमें जन्म कराता है ॥३२–३३॥

विशेषार्थ—प्रत्येक कषायकी सर्वोत्कृष्ट अवस्थाको अनन्तानुबन्धी, उससे हीनको अप्रत्याख्यानावरण, उससे भी हीनको प्रत्याख्यानावरण और सबसे हीन अवस्थाको संज्वलन कहते हैं। यों हीनादि अवस्था अनन्तानुबन्धी आदिमें भी होती है क्योंकि प्रत्येक कषायके उदयस्थान असंख्यात होते हैं। फिर भी ये हीनादि अवस्था जो अप्रत्याख्यानावरण आदि नाम पाती है उससे भिन्न है। सामान्यतया मिथ्यात्व सहभावी कषायको अनन्तानुबन्धी कहते हैं। उसके उदयमें सम्यग्दर्शन नहीं होता। इसी तरह अणुविरतिकी रोधक कषायको अप्रत्याख्यानावरण, महाविरतिको रोकनेवाली कषायको प्रत्याख्यानावरण और यथाख्यात चारित्रकी घातक कषायको संज्वलन कहते हैं। मिथ्यादृष्टिके इन चारों कषायोंका उदय होता है। सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धीके बिना तीन ही प्रकारकी कषायोंका उदय होता है। इसी प्रकार आगे भी जानना। ऊपर प्रत्येक कषायको उपमाके द्वारा समझाया है। जैसे—पत्थर टूट जानेपर सैकड़ों उपाय करनेपर भी नहीं जुड़ता, उसी तरह अनन्तानुबन्धी क्रोधसे टूटा हुआ मन भी नहीं मिलता। जैसे पृथ्वी फट जानेपर महान् प्रयत्न करनेसे पुनः मिल जाती है उसी तरह अप्रत्याख्यान कषायसे टूटा हुआ मन भी बहुत प्रयत्न करनेसे मिलता है। जैसे धूलमें रेखा खींचनेसे वह दो हिस्सोंमें विभाजित हो जाती है और थोड़ा-सा भी प्रयत्न करनेसे मिल जाती है, उसी तरह प्रत्याख्यान कषायसे विघटित मन भी मिल जाता है। जैसे जलमें लकड़ीसे रेखा खींचते ही वह स्वयं ही तत्काल मिल जाती है, उसी तरह संज्वलन कषायसे विघटित चित्त भी मिल जाता है। इसी तरह शेष उपमानोंका अर्थ भी जानना। ऊपर जो अनन्तानुबन्धी कषायसे नरक गति, अप्रत्याख्यानसे तिर्यंच गतिमें जानेकी बात कही है यह स्थूल कथन है। क्योंकि अनन्तानुबन्धीका उदयवाला द्रव्य लिंगी निर्ग्रन्थ मरकर ग्रैवेयकमें देव होता है। इसी तरह अनन्तानुबन्धीके उदयवाला नारकी और देव मरकर मनुष्य या तिर्यंच ही होता है। प्रथम नम्बरकी कषायमें केवल कृष्ण लेश्या ही होती है, दूसरे नम्बरकी कषायमें कृष्णसे लेकर क्रमशः बढ़ते हुए छह लेश्याएँ होती हैं। तीन नम्बरकी कषायमें छहों लेश्यासे लेकर क्रमशः बढ़ते हुए शुक्ल लेश्या होती है। और चतुर्थ नम्बरकी कषायमें केवल शुक्ल लेश्या ही होती है और लेश्याके अनुसार ही आयुका बन्ध होता है ॥३२–३३॥

१. घ्राणकि—भ. कु. च.।

अथोत्तमक्षमादिभिः क्रोधादीन् जितवतः शुक्लध्यानबलेन जीवन्मुक्तिसुलभत्वमुपदिशति—

संख्यातादिभवान्तराब्ददलपक्षान्तर्मुहूर्ताशयान्
दृग्देशव्रतवृत्तसाम्यमथनान् हास्यादिसैन्यानुगान् ।
यः क्रोधादिरिपून् रुणद्धि चतुरोऽप्युद्घक्षमाद्यायुधै-
र्योगक्षेमयुतेन तेन सकलश्रीभूयमीषल्लभम् ॥३४॥

संख्यातादीनि—संख्यातान्यसंख्यातान्यनन्तानि च । अब्ददलं—षण्मासम् । आशयः—वासना । उक्तं च—

'अंतोमुहुत्तपक्खं छम्मासं संखऽसंखणंतभवं ।
संजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥' [गो. कर्म., गा. ४६]

दृगित्यादि—यथाक्रममनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनसंज्ञान् । उक्तं च—

'पढमो दंसणघायी विदिओ तह देसविरदिघाई य ।
तदिओ संयमघाई चउत्थो जहखादघाई य ॥' [प्रा. पञ्च., गा. १।११५]

आगे कहते हैं कि उत्तम क्षमा आदिके द्वारा क्रोध आदिको जीतनेवाले साधुके लिए शुक्ल ध्यानके द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त करना सुलभ है—

सम्यग्दर्शनके घातक अनन्तानुबन्धी क्रोध आदिका वासनाकाल संख्यात, असंख्यात और अनन्त भव है । देश चारित्रको घातनेवाले अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिका वासनाकाल छह मास है । सकल चारित्रके घातक प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिका वासनाकाल एक पक्ष है और यथाख्यात चारित्रके घातक संज्वलन क्रोध आदिका वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त है । जो उत्तम क्षमा आदि आयुधोंके द्वारा हास्य आदि सेनाके साथ चारों ही क्रोध आदि शत्रुओंको रोकता है, क्षपक श्रेणीमें शुक्ल ध्यानके साथ एक रूप हुए अर्थात् एकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यानमें आरूढ हुए उस साधुको सकलश्री अर्थात् सशरीर अनन्तज्ञानादि चतुष्टय सहित समवसरण आदि विभूति बिना श्रमके प्राप्त हो जाती है ॥३४॥

विशेषार्थ—उक्त चारों कषाय सम्यक्त्व आदिकी घातक है । कहा है—'प्रथम अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यग्दर्शनकी घातक है । दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्रकी घातक है । तीसरी प्रत्याख्यानावरण कषाय सकल चारित्रकी घातक है और चौथी संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्रकी घातक है ।' तथा इन कषायोंका वासनाकाल इस प्रकार कहा है—'संज्वलन आदि कषायोंका वासनाकाल नियमसे अन्तर्मुहूर्त, एक पक्ष, छह मास और संख्यात, असंख्यात, अनन्तभव होता है ।'

इन कषायों रूपी शत्रुओंको वही जीत सकता है जो योगक्षेमसे युक्त होता है । योगका अर्थ होता है समाधि । यहाँ शुक्लध्यान लेना चाहिए क्योंकि वह कषायोंके निरोधका अविनाभावी है । कहा है—कषाय रूप रजके क्षयसे या उपशमसे शुचिगुणसे युक्त होनेसे शुक्लध्यान कहाता है ।

और क्षेमका अर्थ होता है घात न होना । क्षपक श्रेणीमें होनेवाला शुक्लध्यान मध्यमें नष्ट नहीं होता । इस योगक्षेमसे जो युक्त होता है अर्थात् शुक्लध्यानरूप परिणत होता है, दूसरे शब्दोंमें एकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यानमें लीन होता है । सोमदेव सूरिने

उद्धाः—लाभपूजाख्यातिनिरपेक्षतयोत्तमाः । योगक्षेमयुतेन—समाध्यनुपघातयुक्तेन अलब्धलाभलब्धपरिरक्षणसहितेन च । सकलश्रीभूयम्—जीवमुक्तत्वं । (जीवन्मुक्तत्वं) चक्रवर्तित्वं च । ईषल्लभं—अनायासेन लभ्यते ॥३४॥

अथ सत्यलक्षणस्य धर्मस्य लक्षणोपलक्षणपूर्वकमनुभावमाह—

कूटस्थस्फुटविश्वरूपपरमब्रह्मोन्मुखाः सम्मताः
सन्तस्तेषु च साधु सत्यमुदितं तत्तीर्णसूत्रार्णवैः ।
आ शुश्रूषुतमः क्षयात्करुणया वाच्यं सदा धार्मिकै-
र्घोराज्ञानविषार्दितस्य जगतस्तद्ध्येकमुज्जीवनम् ॥३५॥

कूटस्थानि—द्रव्यरूपतया नित्यानि । विश्वरूपाणि—चराचरस्य जगतोऽतीतानागतवर्तमानानन्तपर्यायाकाराः । यदवोचत् स्वयमेव स्तुतिषु—

'सर्वदा सर्वथा सर्वं यत्र भाति निखातवत् ।
तज्ज्ञानात्मानमात्मानं जानानस्तद्भवाम्यहम् ॥' [ ]

साधु—उपकारकम् । उदितं—वचनम् ॥३५॥

कहा है[2]—'मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें ही लीन होता है उसे निर्बीज ध्यान अर्थात् एकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान कहते हैं।'

सारांश यह है कि जैसे कोई विजिगीषु उत्कृष्ट आदि शक्तियोंसे युक्त, उत्कृष्ट आदि वैर रखनेवाले और सेना आदिसे सहित चारों दिशाओंके शत्रुओंको चक्र आदि आयुधोंसे मारकर योग और क्षेम धारण करते हुए चक्रवर्ती हो जाता है, वैसे ही कोई भव्य जीव संख्यात आदि भवोंकी वासनावाली अनन्तानुबन्धी आदि क्रोधोंको हास्य आदि नोकषायोंके साथ, उत्तम क्षमा आदि भावनाके बलसे उखाड़कर शुक्लध्यान विशेषकी सहायतासे जीवन्मुक्तिको प्राप्त करता है। इस प्रकार उत्तम क्षमा आदिके माहात्म्यका वर्णन समाप्त होता है।

अब सत्य धर्मके लक्षण और उपलक्षणके साथ माहात्म्य भी बतलाते हैं—

जिसमें द्रव्यरूपसे नित्य और स्पष्ट ज्ञानके द्वारा जानने योग्य चराचर जगत्के अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायाकार प्रतिबिम्बित होते हैं उस परमब्रह्मस्वरूप होनेके लिए जो तत्पर होते हैं उन्हें सन्त कहते हैं। और ऐसे सन्त पुरुषोंमें जो उपकारी वचन होता है उसे सत्य कहते हैं। परमागमरूपी समुद्रके पारदर्शी धार्मिक पुरुषोंको सदा करुणाबुद्धिसे सत्य वचन तबतक बोलना चाहिए जबतक सुननेके इच्छुक जनोंका अज्ञान दूर न हो; क्योंकि घोर अज्ञानरूपी विषसे पीड़ित जगत्के लिए वह सत्य वचन अद्वितीय उद्बोधक होता है ॥३५॥

विशेषार्थ—'सत्सु साधुवचनं सत्यम्', सन्त पुरुषोंमें प्रयुक्त सम्यक् वचनको सत्य कहते हैं ऐसी सत्य शब्दकी निरुक्ति है। तब प्रश्न होता है कि सन्त पुरुष कौन है? जो परम ब्रह्मस्वरूप आत्माकी ओर उन्मुख है वे सन्त हैं। जैसे वेदान्तियोंका परम ब्रह्म सचराचर जगत्को अपनेमें समाये हुए है वैसे ही आत्मा ज्ञानके द्वारा सब द्रव्योंकी भूत, वर्तमान और

---

१. भ. कु. च.।

२. 'निर्विचारावतारासु चेतःस्रोतःप्रवृत्तिषु ।
आत्मन्येव स्फुरन्नात्मा तस्याद्ध्यानमबीजकम्' ॥—सो. उपा., श्लो. ६२३

अथ व्रतादित्रयविषयस्य सत्यस्य लक्षणविभागार्थमाह—

असत्यविरतौ सत्यं सत्स्वसत्स्वपि यन्मतम् ।
वाक्समित्यां मितं तद्धि धर्मे सत्स्वेव बह्वपि ॥३६॥

यत् । बह्वपीति सामर्थ्याल्लब्धम् ॥३६॥

भावी सब पर्यायोंको अपनेमें समाये हुए है अर्थात् स्वभावसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। आचार्य कुन्दकुन्दने कहा[1] है—'सभी द्रव्य त्रिकालवर्ती हैं। उनकी क्रमसे होनेवाली और जो हो चुकी हैं तथा आगे होंगी, वे सभी विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें वर्तमान पर्यायोंकी तरह ही, परस्परमें हिली-मिली होनेपर भी अपने-अपने निर्धारित विशेष लक्षणके साथ एक ही समयमें केवलज्ञानके द्वारा जानी जाती है।' ऐसे आत्मरूपकी ओर जो प्रयत्नशील होते है वे ही सन्त हैं और जो वचन उन्हें उस रूप होनेमें सहायक होते है वे सत्य वचन है। घोर अज्ञानमें पड़े हुए अज्ञानी जनोंको ऐसे सत्य वचन तबतक श्रवण करना चाहिए जबतक उनका अज्ञान दूर न हो ॥३५॥

आगममें सत्य महाव्रत, भाषा समिति और सत्यधर्म इस प्रकार सत्यके तीन रूप मिलते हैं, इनमें अन्तर बतलाते है—

असत्यविरति नामक महाव्रतमें ऊपर कहे गये सत्पुरुषोंमें और उनसे विपरीत असत्पुरुषोंमें भी बहुत बोलना भी सत्यमहाव्रत माना है। भाषा समितिमें सत् या असत् पुरुषोंमें परिमित वचन बोलना सत्य है। और सत्यधर्ममें सत्पुरुषोंमें ही बहुत बोलना भी सत्य है। अर्थात् सत् और असत्पुरुषोंमें बहुत बोलना भी सत्यव्रत है। सत् और असत् पुरुषोंमें परिमित बोलना समिति सत्य है। और सन्त पुरुषोंमें ही अधिक या कम बोलना धर्मसत्य है ॥३६॥

विशेषार्थ—पूज्यपाद स्वामीने सत्यधर्म और भाषा समितिके स्वरूपमें अन्तर इस प्रकार कहा है—'सन्त अर्थात् प्रशंसनीय मनुष्योंमें साधु वचनको सत्य कहते है। शंका—तब तो सत्यधर्मका अन्तर्भाव भाषा समितिमें होता है। समाधान—नहीं, क्योंकि भाषा समितिके पालक मुनिको साधु और असाधु जनोंमें वचन व्यवहार करते हुए हित और मित बोलना चाहिए, अन्यथा रागवश अधिक बोलनेसे अनर्थदण्ड दोष लगता है, यह भाषा समिति है। और सत्यधर्ममें सन्त साधुजनोंमें अथवा उनके भक्तोंमें ज्ञान, चारित्र आदिका उपदेश देते हुए धर्मकी वृद्धिके लिए बहुत भी बोला जा सकता है ऐसी अनुज्ञा है'[2] ॥३६॥

१. 'तक्कालिगेव सव्वे सदसद्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं' ॥—प्रवचनसार, ३७ गा. ।

२. 'सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते । ननु चैतद् भाषासमितावन्तर्भवति ? नैष दोषः—समितौ वर्तमानो मुनि साधुष्वसाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितञ्च ब्रूयात्, अन्यथा रागादनर्थदण्डदोषः स्यादिति वाक्समितिरित्यर्थः । इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा एतेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्रलक्षणादिषु बह्वपि कर्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम्' ।—सर्वार्थसिद्धि ९।६ ।

अथ संयमलक्षणं धर्मं व्याचिख्यासुस्तद्भेदयोरुपेक्षापहृतसंयमयोर्मध्ये केचिदुत्तरं समितिषु वर्तमानाः पालयन्तीत्युपदिशति—

प्राणेन्द्रियपरीहाररूपेऽपहृतसंयमे ।
शक्यक्रियप्रियफले समिताः केऽपि जाग्रति ॥३७॥

प्राणिपरीहारः—एकेन्द्रियादिजीवपीडावर्जनम् । इन्द्रियपरीहारः—स्पर्शनादीन्द्रियानिन्द्रियविषयेष्व-नभिष्वङ्गः । तद्विषया यथा—

'पंच रस पंचवण्णा दो गंधा अट्ठ फास सत्त सरा ।
मणसहिद अट्ठवीसा इन्दियभेया मुणेयव्वा ॥' [गो. जीव., गा. ४७८]

फलं—प्रयोजनमुपेक्षा संयमलक्षणम् । जाग्रति—प्रमादपरिहारेण वर्तते ॥३७॥

अथ द्विविधस्याप्यपहृतसंयमस्योत्तममध्यमजघन्यभेदा:(-दात्) त्रैविध्यमालम्बमानस्य भावनायां प्रयोजयति—

सुधीः समरसाप्तये विमुखयन् खमर्थान्मन-
स्तुदोऽथ दवयन् स्वयं तमपरेण वा प्राणितः ।
तथा स्वमपसारयन्नुत नुदन् सुपिच्छेन तान्
स्वतस्तदुपमेन वाऽपहृतसंयमं भावयेत् ॥३८॥

इस प्रकार सत्यधर्मका कथन समाप्त हुआ ।

अब संयम धर्मका कथन करना चाहते हैं। उसके दो भेद हैं—उपेक्षा संयम और अपहृत संयम । उनमें-से अपहृत संयमको समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले साधु पालते हैं, ऐसा उपदेश करते हैं—

त्रस और स्थावर जीवोंको कष्ट न पहुँचाना और स्पर्शन आदि इन्द्रियों तथा मनका अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त न होना यह अपहृत संयम है । इस अपहृत संयमका पालन शक्य है उसे किया जा सकता है तथा उसका फल उपेक्षा संयम भी इष्ट है । इस तरह अपहृत संयमका पालन शक्य होनेसे तथा उसका फल इष्ट होनेसे आजकल समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले मुनि प्रमाद त्यागकर अपहृत संयममें जागरूक रहते हैं । अर्थात् समितियोंका पालन करनेसे इन्द्रिय संयम और प्राणी संयमरूप अपहृत संयमका पालन होता है और उससे उपेक्षा संयमकी सिद्धि होती है ॥३७॥

दोनों ही प्रकारके अपहृत संयमके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन-तीन भेद हैं। उनके अभ्यासकी प्रेरणा करते हैं—

विचारशील मुमुक्षुको उपेक्षा संयमकी प्राप्तिके लिए अपहृत संयमका अभ्यास करना चाहिए । रागद्वेषको उत्पन्न करके मनको क्षुब्ध करनेवाले पदार्थोंसे इन्द्रियको विमुख करना उत्कृष्ट इन्द्रिय संयमरूप अपहृत संयम है। उक्त प्रकारके पदार्थको स्वयं दूर करके इन्द्रियके ग्रहणके अयोग्य करना मध्यम इन्द्रिय संयमरूप अपहृत संयम है और आचार्य आदिके द्वारा उक्त प्रकारके पदार्थको दूर कराकर उसे इन्द्रिय ग्रहणके अयोग्य करना जघन्य इन्द्रिय संयमरूप अपहृत संयम है । तथा स्वयं उपस्थित हुए प्राणियोंकी रक्षाकी भावनासे अपनेको

---

१. -यविषया भ. कु. च., गो. जी. ।

समरसाप्तये—उपेक्षासंयमलब्ध्यर्थम् । खं—स्पर्शनादीन्द्रियम् । अर्थात्—स्पर्शादिविषयात् । मनस्तुदः—रागद्वेषोद्भावनेन चित्तक्षोभकरान् । दवयन्—दूरीकुर्वन् । इन्द्रियग्रहणायोग्यं कुर्वन्नित्यर्थः । अपरेण—गुर्वादिना । प्राणित.—प्राणिभ्य । सुपिच्छेन—पञ्चगुणोपेतप्रतिलेखनेन । तदुक्तम्—

'रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च ।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहिण पसंसंति ॥' [मूलाचार, गा. ९१०]

स्वतः—आत्मशरीरतः । तदुपमेन—मृदुवस्त्रादिना ॥३८॥

वहाँसे अलग कर लेना अर्थात् स्वयं उस स्थानसे हट जाना उत्कृष्ट प्राणिसंयमरूप अपहृत संयम है। अथवा पीछीसे उन प्राणियोंकी प्रतिलेखना करना मध्यमप्राणि संयमरूप अपहृत संयम है। अथवा पीछीके अभावमें कोमल वस्त्र आदिसे उन जीवोंकी प्रति लेखना करना जघन्य प्राणिसंयमरूप अपहृत संयम है ॥३८॥

विशेषार्थ—ईर्यासमिति आदिका पालन करनेवाला मुनि उसके पालनके लिए जो प्राणियों और इन्द्रियोंका परिहार करता है उसे संयम कहते हैं। एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंको पीड़ा न देना प्राणिसंयम है और इन्द्रियोंके विषय शब्दादिमें रागादि न करना इन्द्रिय संयम है। अकलंक देवने लिखा है—संयमके दो प्रकार है—उपेक्षा संयम और अपहृत संयम। देश और कालके विधानको जाननेवाले, दूसरे प्राणियोंको बाधा न पहुँचानेवाले तथा तीन गुप्तियोंके धारक मुनिके राग-द्वेषसे अनासक्त होनेको उपेक्षा संयम कहते हैं। अपहृत संयमके तीन भेद है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। प्रासुक वसति और आहार मात्र जिनका साधन है तथा ज्ञान और चारित्र स्वाधीन नहीं है, परावलम्बी है, वे मुनि बाहरी जीवोंके अचानक आ जानेपर यदि अपनेको वहाँसे हटाकर जीवरक्षा करते है अर्थात् उस जीवको किंचित् भी बाधा न पहुँचाकर स्वयं वहाँसे अलग हो जाते है तो यह उत्कृष्ट है। कोमल उपकरणसे उसे हटा देनेसे मध्यम है और यदि उसको हटानेके लिए साधु किसी दूसरे उपकरणकी इच्छा करता है तो जघन्य है। जैसे ये तीन भेद प्राणिसंयमके हैं, ऐसे ही तीन भेद इन्द्रिय संयमके भी जानना। राग-द्वेष उत्पन्न करानेवाले पदार्थोंसे इन्द्रियोंको ही विमुख कर देना, उत्कृष्ट, उस पदार्थको ही स्वयं दूर कर देना मध्यम और किसी अन्यसे उस पदार्थको दूर करा देना जघन्य इन्द्रिय संयम है। श्वेताम्बर परम्परामें इसी संयमको सत्तरह भेदोंमें विभाजित किया है—पृथिवीकायिक संयम, अप्कायिक संयम, तेजस्कायिक संयम, वायुकायिक संयम, वनस्पतिकायिक संयम, द्वीन्द्रिय संयम, त्रीन्द्रिय संयम, चतुरिन्द्रिय संयम, पंचेन्द्रिय संयम, प्रेक्ष्य संयम, उपेक्ष्य संयम, अपहृत्य संयम, प्रमृज्य संयम, कायसंयम, वाक् संयम, मनःसंयम और उपकरण संयम। [तत्त्वार्थ. भाष्य ९।६]।

१. 'संयमो हि द्विविधः—उपेक्षासंयमोऽपहृतसंयमश्चेति। देशकालविधानज्ञस्य परानुपरोधेन उत्कृष्टकायस्य त्रिधागुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वंगलक्षण उपेक्षासंयम.। अपहृतसंयमस्त्रिविधः—उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति। तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् परिपालयत उत्कृष्ट', मृदुना प्रमृज्य जीवान् परिहरतो मध्यमः, उपकरणान्तरेच्छया जघन्य.।'—तत्त्वार्थवार्तिक ९।६।१५।

अथास्वतन्त्रं बहिर्मन इत्युररीकृत्य स्वस्वविषयापायप्राचण्ड्यप्रदर्शनपरैः स्पर्शनादीन्द्रियैरेकशः सामर्थ्यप्रत्यापादनाज्जगति स्वैरं त्वरमाणस्य मनसो निरोधं कर्तव्यतयोपदिशति—

स्वामिन् पृच्छ वनद्विपान्नियमितान्नाथाश्रुपिल्ला झषीः,
पश्याधीश विदन्त्यमी रविकराः प्रायः प्रभोऽग्नेः सखा ।
किं दूरेऽधिपते क्व पक्कणभुवां दौःस्थित्यमित्येकशः,
प्रत्युप्तप्रभुशक्ति खैरिव जगद्धावन्निरुन्ध्यान्मनः ॥३९॥

नियमितान्—बद्धान् । अत्र हस्तिनीस्पर्शदोषो व्यङ्ग्यः । एवमुत्तरत्रापि । यथाक्रमं रसगन्धवर्णशब्दाश्चिन्त्या. । अश्रुपिल्ला—अश्रुभिः क्लिन्ननेत्रा । अत्र वडिशरसास्वादनलम्पटपतिमरणदु.खं व्यङ्ग्यम् । विदन्तीत्यादि । अत्र कमलकोशगन्धलुब्धभ्रमरमरणं व्यङ्ग्यम् । अग्नेः सखा—वायुः । अत्र रूपालोकनोत्सुकपतङ्गमरणं व्यङ्ग्यम् । पक्कणभुवां—शबराणाम् । अत्र गीतध्वनिलुब्धमृगवधो व्यङ्ग्यः । एकशः—एकैकेन । प्रत्युप्तप्रभुशक्ति—प्रतिरोपिता प्रतिविधेयसामर्थ्यम् । निरुन्ध्यात्—नियन्त्रयेत् मारयेद्वा ।

स्वच्छन्द मन बाह्य विषयोंकी ओर दौड़ता है यह मानकर ग्रन्थकार अपने-अपने विषयोंमें आसक्तिसे होनेवाले दुःखोंकी उग्रताका प्रदर्शन करनेवाली स्पर्शन आदि इन्द्रियोंमें-से प्रत्येकके द्वारा अपनी शक्तिको जगत्‌में रोकनेवाले स्वच्छन्द मनको रोकनेका उपदेश देते हैं—

सबसे प्रथम स्पर्शन इन्द्रिय कहती है—हे स्वामिन् ! अपने मुँह अपनी तारीफ करना कुलीनोंको शोभा नहीं देता, अतः आप स्तम्भोंमे बँधे हुए जंगली हाथियोंसे पूछिए । रसना इन्द्रिय कहती है—हे नाथ ! उस रोती हुई मछलीको देखें । घ्राणेन्द्रिय कहती है—हे मालिक ! ये सूर्यकी किरणें प्रायः मेरी सामर्थ्यको जानती हैं । चक्षु इन्द्रिय कहती है—हे स्वामी ! यह वायु कुछ दूर नहीं है इसीसे मेरी शक्ति जान सकते है । श्रोत्रेन्द्रिय कहती है—हे स्वामी ! वे जो भील आदि हैं क्या कहीं आपने इन्हें कष्टसे जीवन बिताते देखा है ? इस प्रकार मानो इन्द्रियोंके द्वारा अपनी प्रभुशक्तिको प्रतिरोपित करके जगत्‌में दौडते हुए मनको रोकना चाहिए ॥३९॥

विशेषार्थ—प्रवचनसार गाथा ६४ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रजीने 'इन्द्रियाँ स्वभावसे ही दुःखरूप हैं' यह बतलाते हुए कहा है कि जिनकी ये अभागी इन्द्रियाँ जीवित हैं उनका दुःख औपाधिक नहीं है, स्वाभाविक है, क्योंकि उनकी विषयोंमें रति देखी जाती है । जैसे, हाथी बनावटी हथिनीके शरीरको स्पर्श करनेके लिए दौड़ता है और पकड़ लिया जाता है । इसी तरह बंसीमें लगे मांसके लोभसे मछली फँस जाती है । भ्रमर कमलका रस लेनेमें आसक्त होकर सूर्यके डूब जानेपर कमलमें ही बन्द हो जाता है । पतंगे दीपककी ओर दौड़कर जल मरते हैं । शिकारीकी गीतध्वनिको सुनकर हिरण मारे जाते हैं । इस तरह प्रत्येक इन्द्रिय मनकी प्रभुशक्तिको प्रतिरोपित करती है । इसी कथनको ग्रन्थकारने व्यंग्यके रूपमें बड़े सुन्दर ढंगसे उपस्थित किया है । इन्द्रियाँ अपने मुँह अपनी तारीफ नहीं करतीं क्योंकि यह कुलीनोंका धर्म नहीं है । अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपनी सामर्थ्यको व्यंग्यके रूपमें प्रदर्शित करती है । स्पर्शन कहती है कि मेरी सामर्थ्य जानना हो तो स्तम्भसे बँधे जंगली हाथीसे पूछो । अर्थात् जंगली हथिनीका आलिंगन करनेकी परवशतासे ही वह बन्धनमें पड़ा है । रसना कहती है कि मेरी सामर्थ्य रोती हुई मछलीसे पूछो अर्थात् बंसीमें लगे मांसको खानेकी लोलुपताके कारण ही उसका मत्स्य पकड़ लिया गया है । घ्राणेन्द्रिय कहती है कि मेरी सामर्थ्य सूर्यकी किरणोंसे

'इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥' [तत्त्वानु०, श्लो. ७६] ॥३९॥

इतीन्द्रियसंयमसिद्धयर्थं मनः संयमयितुं मुमुक्षुरुपक्रमते—

चिद्दृग्धीमुदुपेक्षिताऽस्मि तदहो चित्तेह हृत्पङ्कजे,
स्फूर्जत्वं किमुपेक्षणीय इह मेऽभीक्ष्णं बहिर्वस्तुनि ।
इष्टद्विष्टधियं विधाय करणद्वारैरभिस्फारयन्,
मां कुर्याः सुखदुःखदुर्मतिमयं दुष्टैर्न दूष्येत् किम् ॥४०॥

चित्—चेतति संवेदयते स्वरूपं पररूपं चेति चित् स्वपरप्रकाशात्मकोऽयमहमस्मि प्रमाणादेशात् । दृक्—पश्यत्यनुभवति स्वरूपमात्रमिति दृक् स्वात्मोपलब्धिरूपोऽयमहमस्मि शुद्धनिश्चयनयादेशात् । धीः—ध्यायत्यनन्यपरतयोपलभते परस्वरूपमिति धीः परस्वरूपोपलब्धिरूपोऽयमहमस्मि । तत एव मुत्—मोदतेऽन्तर्बहिर्विकल्पजालविलयादात्मनि विश्रान्तत्वादाह्लादते इति मुत् शुद्धस्वात्मानुभूतिमयात्यन्तसुखस्वभावोऽयमहमस्मि शुद्धनिश्चयनयादेशादेव । उपेक्षिता—उपेक्षते स्वरूपे पररूपे क्वचिदपि न रज्यति न च द्वेष्टि इत्युपेक्षाशीलः परमोदासीनज्ञानमयोऽयमहमस्मि च तत एव । तथा चोक्तम्—

पूछो क्योंकि सूर्यके अस्त हो जानेपर गन्धका लोभी भ्रमर कमलकोशमें बन्द होकर मर जाता है । चक्षु कहती है कि मेरी शक्तिको साक्षी वायु है, क्योंकि सर्वत्र गतिवाली है । वह जानती है कि रूपके लोभी पतंगे किस तरह दीपकपर जल मरते हैं । श्रोत्रेन्द्रिय कहती है कि मेरी शक्तिको मृगोंका शिकार करनेवाले शिकारी जानते हैं, क्योंकि गीतकी ध्वनिके लोभी मृग उनके जालमें फँसकर मारे जाते हैं । इस तरह व्यंग्यके द्वारा इन्द्रियोंने अपनी शक्तिका प्रदर्शन किया है । किन्तु इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति तो मनके अधीन है । अतः मनको जीतनेसे ही इन्द्रियोंको जीता जा सकता है । कहा भी है—इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिमें मन समर्थ है । इसलिए मनको ही जीतना चाहिए । मनके जीतनेपर जितेन्द्रिय होता है ॥३९॥

इसलिए मुमुक्षु इन्द्रिय संयमकी सिद्धिके लिए मनको संयमित करनेका अभ्यास करता है—

मैं चित् हूँ—प्रमाणकी अपेक्षा स्व और परका ज्ञाता हूँ । मैं दृक् हूँ—अपने स्वरूप मात्रका अनुभवन करनेवाला होनेसे शुद्ध निश्चयनयसे स्वात्मोपलब्धि स्वरूप हूँ । मैं धी हूँ—परकी ओर आसक्त न होकर परस्वरूपका ध्याता हूँ । इसीलिए अन्तरंग और बाह्य विकल्पजालोंके विलीन होनेसे अपनी आत्मामें ही विश्रान्ति लाभ करनेसे मुत् हूँ अर्थात् शुद्ध निश्चयसे शुद्ध स्वात्मानुभूतिमय अत्यन्त सुखस्वभाव मैं हूँ । तथा मैं उपेक्षिता हूँ—किसी भी स्वरूप या पररूपमें रागद्वेषसे रहित हूँ अर्थात् परम औदासीन्य ज्ञानमय मैं हूँ । इसलिए हे मन ! इस आगम प्रसिद्ध द्रव्यमनमें या हृदयकमलमें उस-उस विषयको ग्रहण करनेके लिए व्याकुल होकर इस उपेक्षणीय बाह्य वस्तुमें निरन्तर इष्ट और अनिष्ट बुद्धिको उत्पन्न करके इन्द्रियोंके द्वारा उस-उस विषयके उपभोगमें लगाकर मुझे 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुखी हूँ' इस प्रकार मिथ्या ज्ञानरूप परिणत करनेमें क्या तुम समर्थ हो ? अथवा ऐसा हो भी सकता है क्योंकि अदुष्ट वस्तु भी दुष्टोंके द्वारा दूषित कर दी जाती है ॥४०॥

'सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता दृष्टा सदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्तः ॥' [तत्त्वानु. १५३ श्लो.]

हृत्पङ्कजे—द्रव्यमनसि। यथेन्द्रराजः— १

'उवइट्ठं अट्ठदलं संकुइयं हिययसरवरुप्पण्णं।
जो य रवितेयलवियं विहुस्सए झत्तिकं दुट्ठं ॥' [ ]

स्फूर्जत्—तत्तद्विषयग्रहणव्याकुलं भवत्। इह—इन्द्रियैः प्रतीयमाने। अभिस्फारयत्—आभिमुख्येन ६
तत्तद्विषयोपभोगपरं कुर्वत्। कुर्याः—अहं गर्हे अन्याय्यमेतदिति सप्तम्या द्योत्यते। 'किंवृत्ते लिङ्-लृटौ' इति गर्हे लिङ्। दुर्मतिः—मिथ्याज्ञानम्। तथा चोक्तम्—'वासनामात्रमेवैतत्' इत्यादि ॥४०॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु मनको संयमित करनेके लिए अपने स्वाभाविक स्वरूपका विचार करता है—मैं सत् हूँ, द्रव्य हूँ और द्रव्य होकर भी अचेतन नहीं चेतन हूँ। चेतन होनेसे ज्ञाता और द्रष्टा हूँ। ज्ञाता अर्थात् स्व और परको स्व और पररूपसे जाननेवाला हूँ और द्रष्टा अर्थात् स्वरूप मात्रका अनुभवन करनेवाला हूँ। इस तरह सबको जानते-देखते हुए भी सबसे उदासीन हूँ। न मैं किसीसे राग करता हूँ और न द्वेष करता हूँ। राग-द्वेष न तो मेरा स्वभाव है और न परवस्तुका स्वभाव है। यह तो मनका भ्रम है। यह मन ही बाह्य वस्तुओंमें इष्ट और अनिष्ट विकल्प पैदा करके आकुलता उत्पन्न करता है। कहा है—'यह जगत् न तो स्वयं इष्ट है और न अनिष्ट है। यदि यह इष्ट या अनिष्ट होता तो सभीके लिए इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए था, किन्तु जो वस्तु किसीको इष्ट होती है वही दूसरेको इष्ट नहीं होती। और जो एकको अनिष्ट होती है वही दूसरेको इष्ट होती है। अतः जगत् न इष्ट है और न अनिष्ट है। किन्तु उपेक्षा करनेके योग्य है।'[1] इसी तरह न मैं रागी हूँ और न द्वेषी, राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है। किन्तु उपेक्षा मेरा स्वभाव है। परन्तु यह मन जगत्में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न करके उनके भोगके लिए व्याकुल होता है और इन्द्रियोंके द्वारा उन्हें भोगनेकी प्रेरणा देकर इष्टके भोगसे सुख और अनिष्टके भोगसे दुःखकी बुद्धि उत्पन्न कराता है। किन्तु यह सुख-दुःख तो कल्पना मात्र है। कहा[2] है—संसारी प्राणियोंका यह इन्द्रियजन्य सुख-दुःख वासना मात्र ही है। क्योंकि यह न तो जीवका उपकारक होता है और न अपकारक। परमार्थसे उपेक्षणीय शरीर आदिमें तत्त्वको न जाननेके कारण यह उपकारक होनेसे मुझे इष्ट है और यह उपकारक न होनेसे मुझे अनिष्ट है। इस प्रकारके मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कारको वासना कहते हैं। अतः उक्त सुख-दुःख वासना ही है स्वाभाविक नहीं है। तभी तो जैसे आपत्तिकालमें रोग कष्ट देते हैं वैसे ही ये सुखके उत्पादक माने जानेवाले भोग भी उद्वेग पैदा करते हैं।

अतः जब मैं चित् आदि स्वरूप हूँ तब यह मन जिसे हृदय पंकज कहा जाता है क्या मुझे 'मैं सुखी-दुःखी' इत्यादि विपरीत ज्ञानरूप करानेमें समर्थ है। किन्तु पंकज कहते हैं जो कीचड़से पैदा होता है। यह मन भी अंगोपांग नामक कर्मरूपी कीचड़से बना है अतः गन्दगीसे पैदा होनेसे गन्दा है। इस दुष्टकी संगतिसे मैं अदुष्ट भी दुष्ट बन जाऊँ तो क्या

---

१. 'स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत्।
नाहमेष्टा न च द्वेष्टा किंतु स्वयमुपेक्षिता' ॥—तत्त्वानु. १५७ श्लो.।

२. 'वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि' ॥—इष्टोप., ६ श्लो.।

अथान्तरात्मान: परमाभिजातत्वाभिमानमुद्बोधयन्नुपालम्भगर्भां शिक्षां प्रयच्छन्नाह—

पुत्रो यद्यन्तरात्मन्नसि खलु परमब्रह्मणस्तत्किमक्षै-
र्लौल्याद्यद्वल्लतान्तान्त्रसमलिभिरसृग्-रक्तपाभिव्रणाद्वा ।
पायं पायं यथास्वं विषयमघमयैरेभिरुद्गीर्यमाणं
भुञ्जानो व्यात्तरागारतिमुखमिमकं हंस्यमा स्वं सवित्रा ॥४१॥

लतान्तात्—पुष्पात् । रक्तपाभिः—जलौकाभिः । इमकं—कुत्सितमिमं । सवित्रा—परमब्रह्मणा सह । अन्तरात्मनो ह्यात्मघातो बहिरात्मपरिणतिः, परमात्मघातश्च शुद्धस्वरूपप्रच्यावनपूर्वकं रागद्वेषापादनम् ।

तथा चोक्तम्—

'चित्ते बद्धे बद्धो मुक्के मुक्को य णत्थि संदेहो ।
अप्पा विमलसहावो मइलिज्जइ मइलिए चित्ते ॥' [ ] ॥४१॥

अथ इन्द्रियद्वारैरनाद्यविद्यावासनावशादसकृदुद्भिद्यमानदुराशयस्य चित्तस्य विषयाभिष्वङ्गमुत्सारयन् परमपदप्रतिष्ठायोग्यताविधिमुपदिशति—

आश्चर्य है। अर्थात् पापकर्मके निमित्तसे द्रव्य मनमें विलास करनेवाला सकल विकल्पोंसे शून्य भी चेतन मनके द्वारा नाना विकल्प जालोंमे फँस जाता है। इसीलिए एक कविने मनकी दुष्टता बतलाते हुए कहा है—'मनको हृदय रूपी सरोवरमे उत्पन्न हुआ आठ पाँखुड़ीका संकुचित कमल कहा है, जो सूर्यके तेजसे तप्त होनेपर तत्काल खिल उठता है। ऐसा यह दुष्ट है' ॥४०॥

आगे अन्तरात्माके परम कुलीनताके अभिमानको जाग्रत् करते हुए ग्रन्थकार उलाहनेके साथ शिक्षा देते हैं—

हे अन्तरात्मा—मनके दोष और आत्मस्वरूपके विचारमें चतुर चेतन ! यदि तू परम ब्रह्म परमात्माका पुत्र है तो जैसे भौरा अति आसक्तिसे फूलोंका रस पीकर उसे उगलता है या जैसे जोंक घावसे रक्त पीकर उसे उगलती है, उसी तरह पापमय इन इन्द्रियोंके द्वारा अति आसक्ति पूर्वक यथायोग्य भोग भोगकर छोड़े हुए, पापमय इन नीच विषयोंको राग-द्वेषपूर्वक भोगते हुए अपने पिताके साथ अपना घात मत करो ॥४१॥

विशेषार्थ—जो उत्पन्न होकर अपने वंशको पवित्र बनाता है उसे पुत्र कहते हैं। यह पुत्र शब्दका निरुक्तिगम्य अर्थ है। अन्तरात्मा परमात्माका ही पुत्र है अर्थात् अन्तरात्मा और परमात्माकी जाति-कुल आदि एक ही है। अन्तरात्मा ही परमात्मा बनता है। अतः परमात्माका वंशज होकर अन्तरात्मा इन्द्रियोंके चक्रमें पड़कर अपनेको भूल गया है। वह इस तरह अपना भी घात करता है और परमात्माका भी घात करता है। अन्तरात्माका आत्मघात है बहिरात्मा बन जाना। भोगासक्त प्राणी शरीर और आत्मामें भेद नहीं करके शरीरको ही आत्मा मानता है। यही उसका घात है। और शुद्ध स्वरूपसे गिराकर रागी—द्वेषी मानना परमात्माका घात है। कहा है—'चित्तके बद्ध होनेपर आत्मा बँधता है और मुक्त होनेपर मुक्त होता है इसमें सन्देह नहीं है। क्योंकि आत्मा तो स्वभावसे निर्मल है, चित्तके मलिन होनेपर मलिन होता है। ऐसे निर्मल आत्मामें राग-द्वेषका आरोप करना ही उसका घात है ॥४१॥

अनादिकालसे लगी हुई अविद्याकी वासनाके वशसे चित्तमें इन्द्रियोंके द्वारा बारम्बार दुराशाएँ उत्पन्न हुआ करती हैं। अतः चित्तकी विषयोंकी प्रति आसक्तिको दूर करते हुए परमपदमें प्रतिष्ठित होनेकी योग्यताकी विधि बतलाते है—

तत्तद्गोचरभुक्तये निजमुखप्रेक्षीण्यमूनीन्द्रिया-
ण्यासेदुः क्रियसेऽभिमानघन भोश्चेतः कयाऽविद्यया।
पूर्या विश्वचरी कृतिन् किमिमकै रङ्कैस्तवाशा ततो
विश्वैश्वर्यचणे सजत्सवितरि स्वे यौवराज्यं भज ॥४२॥

निजमुखप्रेक्षीणि—मनःप्रणिधानाभावे चक्षुरादीनां स्वस्वविषयव्यापारानुपलम्भात्। आसेदुः—आसीदति तच्छील भवत्युपस्थातृ इत्यर्थः। विश्वचरी—सकलजगत्कवलनपरा। रङ्कैः—प्रतिनियतार्थोपभोगबद्धदुर्वारनिर्बन्धैः। विश्वैश्वर्यचणे—समस्तवस्तुविस्ताराधिपत्येन प्रतीते। यथाह—

'तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वकर्त्रे तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वभोक्त्रे।
तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वभर्त्रे, तुभ्यं नमः परमकारणकारणाय ॥' [ ]

सजत्—निर्व्याजभक्त्यानुरक्ततया तन्मयीभवत्। सवितरि—जनके। यौवराज्यं—शुद्धस्वानुभूतिलक्षणं कुमारपदम् ॥४२॥

अथ विषयाणामास्वादनक्षणरामणीयकानन्तरात्यन्तकटुकास्वादत्वप्रतिपादनपूर्वकमाविर्भावानन्तरोद्भावितत‍ृष्णापुनर्नवीभाव तिरोभावं भावयन् पृथग्जनानां तदर्थं स्वाभिमुखं विपदाकर्षणमनुशोचति—

सुधागर्वं खर्वन्त्यभिमुखहृषीकप्रणयिनः,
क्षणं ये तेऽप्यूर्ध्वं विषमपवदन्त्यङ्ग विषयाः।
त एवाविर्भूय प्रतिचितघनायाः खलु तिरो-
भवन्त्यन्धास्तेभ्योऽप्यहह किमु कर्षन्ति विपदः ॥४३॥

हे अहंकारके पुंज मन! मैं तुमसे पूछता हूँ कि ये इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिनियत विषयोंका अनुभव करनेमें स्वाधीन है किसी अन्यका मुख नहीं ताकतीं। किस अविद्याने तुम्हें इनका अनुगामी बना दिया है? हे गुण-दोषोंके विचार और स्मरण आदिमें कुशल मन! ये बेचारी इन्द्रियाँ तो सम्बद्ध वर्तमान प्रतिनियत अर्थको ही ग्रहण करनेमें समर्थ होनेसे अति दीन है और आपकी तृष्णा तो समस्त जगत्को अपना ग्रास बनाना चाहती है। क्या उसकी पूर्ति इन इन्द्रियोंसे हो सकती है? इसलिए समस्त वस्तुओंके अधिपति रूपसे प्रसिद्ध अपने पिता परम ब्रह्ममें निश्छल भक्तिसे तन्मय होकर यौवराज्य पदको—शुद्ध स्वात्मानुभूतिकी योग्यतारूप कुमार पदको—अर्थात् एकत्व-वितर्क प्रवीचार नामक शुक्लध्यानको ध्याओ ॥४२॥

विशेषार्थ—यदि मनका उपयोग उस ओर नहीं होता तो इन्द्रियाँ अपने विषयमें प्रवृत्त नहीं होतीं। इसीलिए उक्त उलाहना दिया गया है कि उधरसे हटकर मन परमात्माके गुणानुरागमें अनुरक्त होकर शुद्ध स्वात्मानुभूतिकी योग्यता प्राप्त करके स्वयं परमात्मस्वरूपमें रमण कर सके इससे उसकी विश्वको जानने-देखनेकी चिर अभिलाषा पूर्ण हो सकेगी ॥४२॥

ये विषय भोगते समय तो सुन्दर लगते हैं किन्तु बादको अत्यन्त कटु प्रतीत होते हैं। तथा ये तृष्णाको बढ़ाते हैं, जो विषय भोगमें आता है उससे अरुचि होने लगती है और नयेके प्रति चाह बढती है। फिर भी अज्ञानी जन विषयोंके चक्रमें फँसकर विपत्तियोंको बुलाते है। यही सब बतलाते हुए ग्रन्थकार अपना खेद प्रकट करते हैं—

हे मन! जो विषय ग्रहण करनेको उत्सुक इन्द्रियोंके साथ परिचयमें आनेपर अमृतसे भी मीठे लगते हैं वे भी परमोत्तम विषय उसके बाद ही विषसे भी बुरे प्रतीत होते हैं। तथा

खर्वन्ति—खण्डयन्ति। प्रणयिन. यथास्वं परिचयभाजः। विषयविषयिसन्निकर्षविशेषसूचिका श्रुतिर्यथा—

'पुट्ठं सुणोदि सद्दमपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं।
गंधं रसं च फासं बद्धं पुट्ठं वियाणादि ॥' [सर्वार्थ. (१।१९) में उद्धृत]

उद्भूवं—क्षणादनन्तरम्। प्रतिचितधनायाः—प्रतिवर्धितगृद्धय.। तिरोभवन्ति—उपभोगयोग्यतापारणत्या विनश्यन्ति। कर्षन्ति स्वाभिमुखमानयन्ति ॥४३॥

अथ विषयाणामिहामुत्र चात्यन्तं चैतन्याभिभवनिबन्धनत्वमभिधत्ते—

किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमभिभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते ॥४४॥

वे ही सुन्दर प्रतीत होनेवाले विषय अपनी झलक दिखाकर छिप जाते हैं और विषयतृष्णाको बढ़ा जाते हैं। खेद है कि उन विषयोंके रहस्यको न जाननेवाले विषयान्ध पुरुष उन विषयोंसे ही क्यों विपत्तियोंको अपनी ओर बुलाते हैं ॥४३॥

विशेषार्थ—पूज्यपाद स्वामीने कहा है—भोग-उपभोग प्रारम्भमें शरीर, मन और इन्द्रियोंको क्लेश देते हैं। अन्न आदि भोग्य द्रव्य उत्पन्न करनेमें किसानोंको कितना कष्ट उठाना पड़ता है इसे सब जानते हैं। तो भोगनेपर तो सुख देते होंगे, सो भी नहीं, क्योंकि इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होते ही तृष्णा पैदा होती है। कहा है—जैसे-जैसे संकल्पित भोग प्राप्त होते हैं वैसे-वैसे मनुष्योंकी तृष्णा विश्वमें फैलती है।

यदि ऐसा है तो भोगोंको खूब भोगना चाहिए जिससे तृष्णा शान्त हो। किन्तु भोगनेके बाद विषयोंको छोड़ना शक्य नहीं होता। कितना भी भोगनेपर मनको शान्ति नहीं मिलती। आचार्य वीरनन्दिने कहा है—तृण और काष्ठके ढेरसे अग्नि और सैकड़ों नदियोंसे समुद्र भले ही तृप्त हो जाये किन्तु कामसुखसे पुरुषकी तृप्ति नहीं होती। कर्मकी यह बलवत्ता अचिन्त्य है। ऐसे कामभोगको कौन बुद्धिमान् सेवन करता है? शायद कहा जाये कि 'तत्त्वके ज्ञाता भी भोग भोगते सुने जाते हैं तब यह कहना कि कौन बुद्धिमान् विषयोंको भोगता है' कैसे मान्य हो सकता है। उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि चारित्रमोहके उदयसे यद्यपि तत्त्वज्ञानी भी भोगोंका सेवन करते हैं किन्तु हेय मानते हुए ही सेवन करते हैं। जब मोहका उदय मन्द हो जाता है तो ज्ञान भावना और वैराग्यसे इन्द्रियोंको वशमें करके विरक्त हो जाते हैं ॥४३॥

आगे कहते हैं कि ये विषय इस लोक और परलोकमें चैतन्यशक्तिके अभिभवमें कारण हैं—

यह विषयरूपी विष कुछ अलौकिक ही रूपसे अत्यन्त कष्टदायक है क्योंकि उससे

---

१. 'आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः' ॥—इष्टोप., १७ श्लो.।

२. 'अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं प्रसर्पति' ॥ [ ]

३. 'दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतैः।
न तु कामसुखैः पुमानहो बलवत्ता खलु कापि कर्मण.' ॥—चन्द्रप्रभचरित १।७२।

स्पष्टम् ॥४४॥

अथैवमिन्द्रियपरिहारलक्षणमपहृतसंयममुत्तमप्रकारेण भावनाविषयीकृत्येदानीं तमेव मध्यमजघन्यप्रकाराभ्यां भावयितुमुपक्रमते—

साम्यायाक्षजयं प्रतिश्रुतवतो मेऽमी तदर्थाः सुखं
लिप्सोर्दुःखविभीलुकस्य सुचिराभ्यस्ता रतिद्वेषयोः।
व्युत्थानाय खलु स्युरित्यखिलशस्तानुत्सृजेद् दूरत-
स्तद्विच्छेदनिर्दयानथ भजेत्साधून्परार्थोद्यतान् ॥४५॥

प्रतिश्रुतवतः—अङ्गीकृतवतः। व्युत्थानाय—झगित्युद्बोधाय ॥४५॥

अथ स्वयं विषयदूरीकरणलक्षणं मध्यममपहृतसंयममेदं प्रत्युद्यमयति—

मोहाज्जगत्युपेक्षेऽपि छेत्तुमिष्टेतराशयम्।
तथाभ्यस्तार्थमुज्झित्वा तदन्यार्थं पदं व्रजेत् ॥४६॥

इष्टेतराशयं—इष्टानिष्टवासनाम्। तथाभ्यस्तार्थं—इष्टानिष्टतया पुनः पुनः सेवितविषयम्। पदं—वसत्यादिकमसंयमस्थानं वा ॥४६॥

बलपूर्वक अभिभूत हुआ अर्थात् वैभाविक भावको प्राप्त हुआ यह स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे स्पष्ट आत्मा जन्म-जन्मान्तरमे भी ज्ञान चेतनाको प्राप्त नहीं करता ॥४४॥

विशेषार्थ—लौकिक विषसे अभिभूत व्यक्ति तो उसी भवमें होशमें नहीं आता। किन्तु विषय रूपी विषसे अभिभूत चेतन अनन्त भवोंमें भी नहीं चेतता। यही इसकी अलौकिकता है। अतः ज्ञानचेतनारूपी अमृतको पीनेके इच्छुक जनोंको विषयसेवनसे विरत ही होना चाहिए ॥४४॥

इस प्रकार इन्द्रिय परिहाररूप अपहृत संयमको उत्तम रीतिसे भावनाका विषय बनाकर अब उसीको मध्यम और जघन्य प्रकारोंसे भावनाका विषय बनानेका उपक्रम करते हैं—

मैं दुःखोंसे विशेष रूपसे भयभीत हूँ और सुख चाहता हूँ। इसीलिए मैंने साम्यभावरूप उपेक्षा संयमकी सिद्धिके लिए इन्द्रियोंको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है। ये इन्द्रियोंके विषय अनादिकालसे मेरे सुपरिचित हैं। मैंने इन्हें बहुत भोगा है। ये तत्काल राग-द्वेषको उत्पन्न करते हैं। इसलिए इन समस्त विषयोंको दूरसे ही छोड़ देना चाहिए। यह मध्यम संयम भावना है। अथवा जो साधु मध्यम संयम भावनामें असमर्थ है, उसे परोपकारके लिए तत्पर और उन विषयोंको दूर करनेमें कठोर साधुओंकी सेवा करनी चाहिए। यह जघन्य इन्द्रियसंयम भावना है ॥४५॥

विशेषार्थ—मध्यम प्रकारकी विषय निवृत्तिमें विषयोंको बाह्य रूपसे अपनेसे दूर कर दिया जाता है, उत्तम प्रकारकी तरह अन्तर्वृत्तिसे विषयोंका त्याग नहीं किया जाता। और जघन्यमें आचार्यादिके द्वारा विषयोंको दूर किया जाता है ॥४५॥

आगे स्वयं विषयको दूर करने रूप मध्यम अपहृत संयमका पालन करनेके लिए साधुओंको प्रेरित करते हैं—

यह समस्त चराचर जगत् वास्तवमें उपेक्षणीय ही है। फिर भी अज्ञानसे इसमें इष्ट और अनिष्टकी वासना होती है। इस वासनाको नष्ट करनेके लिए इष्ट और अनिष्ट रूपसे

अथ मनोविक्षेपकारणकरणगोचरापसरणपरं गुर्वादिकमभिनन्दति—

चित्तविक्षेपिणोऽक्षार्थान् विक्षिपन् द्रव्यभावतः ।
विश्वाराट् सोऽयमित्यार्यैर्बहुमन्येत शिष्टराट् ॥४७॥

विश्वाराट्—जगन्नाथः । 'विश्वस्य वसुराटोः' इति दीर्घः ॥४७॥

अथ उत्तममध्यमाधमभेदात्त्रिप्रकारं प्राणिपरिहाररूपमपहृतसंयमं प्रपञ्चयन्नाह—

बाह्यं साधनमाश्रितो व्यसुवसत्यन्नादिमात्रं स्वसाद्-
भूतज्ञानमुखस्तदभ्युपसृतान् जन्तून्यतिः पालयन् ।
स्वं व्यावर्त्य ततः सतां नमसित. स्यात् तानुपायेन तु
स्वान्मार्जन् मृदुना प्रियः प्रतिलिखन्नप्यादृतस्तादृशा ॥४८॥

व्यसु—प्रासुकम् । स्वसाद्भूतज्ञानमुखः—स्वाधीनज्ञानचरणकरणः । तदभ्युपसृतान्—प्रासुकवसत्यादावुपनिपतितान् । व्यावर्त्य—तद्वस्तुत्यागेन वियोगोपघातादिचिन्तापरिहारेण वा प्रच्याव्य । ततः—तेभ्यो जन्तुभ्यः सोऽयमुत्तमः । स्वात्—आत्मदेहतः । मार्जन्—शोधयन् । प्रियः—इष्टः । सतामित्येव ॥४८॥

अथापहृतसंयमस्फारीकरणाय शुद्ध्यष्टकमुपदिशति—

भिक्षेर्याशयनासनाविनयव्युत्सर्गवाङ्मनस्तनुषु ।
तन्वन्नष्टसु शुद्धिं यतिरपहृतसंयमं प्रथयेत् ॥४९॥

बारम्बार सेवन किये गये विषयोंको त्यागकर उनसे भिन्न अनभ्यस्त अर्थोंवाले स्थानको प्राप्त करना चाहिए ॥४६॥

मनको विक्षिप्त करनेवाले इन्द्रिय विषयोंको दूर करनेमें तत्पर गुरु आदिका अभिनन्दन करते हैं—

राग-द्वेष आदिको उत्पन्न करके मनको व्याकुल करनेवाले इन्द्रिय विषयोंको द्रव्य और भावरूपसे त्याग करनेवाले शिष्टराट्—तत्त्वार्थके श्रवण और ग्रहणसे गुणोंको प्राप्त शिष्ट पुरुषोंके राजा, उत्तम पुरुषोंके द्वारा 'यह विश्वमें शोभायमान विश्वाराट् है' इस प्रकारसे बहुत माने जाते हैं ॥४७॥

विशेषार्थ—बाह्य विषयोंका त्याग द्रव्य त्याग है और अन्तर्वर्ती विषय सम्बन्धी विकल्पोंका त्याग भाव त्याग है। दोनों प्रकारसे त्याग करनेवाले विश्वपूज्य होते हैं ॥४७॥

आगे उत्तम, मध्यम, जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके प्राणीपरिहाररूप अपहृत संयमका कथन करते हैं—

स्वाधीन ज्ञान चारित्रका पालक मुनि उसके बाह्य साधन मात्र प्रासुक वसति, प्रासुक अन्न आदिको ही स्वीकार करता है। उनमें यदि कोई जीव-जन्तु आ जाता है तो वहाँसे स्वयं हटकर जीवोंकी रक्षा करता है। वह यति साधुओंके द्वारा पूजित होता है। यह उत्कृष्ट प्राणिसंयम है। और उन जन्तुओंको कोमल पिच्छिकासे अपने शरीर आदिसे दूर करनेवाला साधु सज्जनोंका प्रिय होता है। यह मध्यम प्राणिसंयम है। तथा मृदु पीछीके अभावमें उसीके समान कोमल वस्त्र आदिसे जीवोंकी प्रतिलेखना करनेवाला साधु सज्जनोंको आदरणीय होता है। यह जघन्य प्राणिसंयम है ॥४८॥

अपहृत संयमको बढ़ानेके लिए आठ शुद्धियोंका उपदेश करते हैं—

संयमके पालनके लिए तत्पर साधुको भिक्षा, ईर्या, शयन, आसन, विनय, व्युत्सर्ग,

भिक्षेत्यादि। भिक्षाशुद्धिः प्रागुक्ता, तत्परस्य मुनेरशनं गोचाराक्ष-म्रक्षणोदराग्निप्रशमन-भ्रमराहार-श्वभ्रपूरणनामभेदात् पञ्चधा स्यात्। तत्र गोर्बलीवर्दस्येव चारोऽभ्यवहारो गोचारः प्रयोक्तृ[1]ततसौन्दर्यनिरीक्षण-विमुखतया यथालाभमनपेक्षितस्वादोचितसंयोजनाविशेषं चाभ्यवहरणात्। तथा अक्षस्य शकटीचक्राधिष्ठान-काष्ठस्य म्रक्षणं स्नेहेन लेपनमक्षम्रक्षणम्। तदिवाशनमप्यक्षम्रक्षणमिति रूढम्। येन केनापि स्नेहेनेव निरवद्या-हारेणायुषोऽक्षस्येवाभ्यङ्गं प्रतिविधाय गुणरत्नभारपूरिततनुशकट्या. समाधीष्टदेशप्रापणनिमित्तत्वात् तथा भाण्डागारवदुदरे प्रज्वलितोऽग्निः प्रशम्यते येन शुचिनाऽशुचिना वा जलेनेव सरसेनारसेन वाऽशनेन तदुदराग्नि-प्रशमनमिति प्रसिद्धम्। तथा भ्रमरस्येवाहारो भ्रमराहारो दातृजनपुष्पपीडानवतारात् परिभाव्यते। तथा श्वभ्रस्य गर्तस्य येन केनचित् कचारेणेव स्वादुनेतरणेवाहारेणोदरगर्तस्य पूरणात् श्वभ्रपूरणमित्याख्यायते। ईर्या-व्युत्सर्ग-वाक्शुद्धय समितिषु व्याख्याताः। शयनासनविनयशुद्धी तु तप.सु वक्ष्येते। मन शुद्धिस्तु भावशुद्धि कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता च स्यात्। सैव च सर्वशुद्धीनामुपरि स्फुरति

वचन, मन, काय इन आठोंके विषयमें शुद्धिको विस्तारते हुए अपहृत संयमको बढ़ाना चाहिए ॥४९॥

विशेषार्थ—भिक्षाशुद्धि, ईर्याशुद्धि, शयनासनशुद्धि, विनयशुद्धि व्युत्सर्गशुद्धि, वचन-शुद्धि, मनशुद्धि और कायशुद्धि ये आठ शुद्धियाँ हैं। इनमें-से भिक्षाशुद्धिका कथन पिण्ड-शुद्धिमें किया गया है। भिक्षाशुद्धिमें तत्पर मुनि जो भोजन करता है उसके पाँच नाम हैं—गोचार, अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रमराहार और श्वभ्रपूरण। गो अर्थात् बैलके समान जो चार अर्थात् भोजन उसे गोचार कहते हैं। क्योंकि मुनि भोजन देनेवाले दाताके सौन्दर्यपर दृष्टि न डालते हुए, जो कुछ वह देता है, उसे स्वाद उचित सम्मिश्रण आदिकी अपेक्षा न करते हुए खाता है। गाड़ीके पहियोंका आधार जो काष्ठ होता है उसे अक्ष कहते हैं। उसे तेलसे लिप्त करनेको अक्षम्रक्षण कहते हैं। उसके समान भोजनको अक्षम्रक्षण कहते हैं। क्योंकि जैसे व्यापारी जिस किसी भी तेलसे गाड़ीको औंधकर रत्नभाण्डसे भरी हुई गाड़ीको इष्ट देशमें ले जाता है उसी प्रकार मुनि निर्दोष आहारके द्वारा आयुको सिंचित करके गुणोंसे भरी हुई शरीररूपी गाड़ीको समाधिकी ओर ले जाता है। तथा, जैसे मालघरमें आग लगनेपर पवित्र या अपवित्र जलसे उस आगको बुझाते है, उसी प्रकार पेटमें भूख लगनेपर मुनि सरस या विरस आहारसे उसे शान्त करता है। इसीको उदराग्नि प्रशमन कहते हैं। तथा भ्रमरके समान आहारको भ्रमराहार कहते हैं। जैसे भौरा फूलोंको पीड़ा दिये बिना मधुपान करता है वैसे ही साधु दाताजनोंको पीड़ा दिये बिना आहार ग्रहण करता है। तथा जैसे गड्ढेको जिस किसी भी कचरेसे भरा जाता है उसी तरह पेटके गड्ढेको स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट आहारसे भरनेको श्वभ्रपूरण कहते हैं। ईर्याशुद्धि, व्युत्सर्गशुद्धि और वचनशुद्धिका कथन समितियोंके कथनमें कर आये हैं। शयनासनशुद्धि और विनय-शुद्धिका कथन तपमें करेंगे। मनशुद्धि भावशुद्धिको कहते हैं। कर्मके क्षयोपशमसे वह उत्पन्न होती है। मोक्षमार्गमें रुचि होनेसे निर्मल होती है। रागादिके उपद्रवसे रहित होती है। यह मनशुद्धि या भावशुद्धि सब शुद्धियोंमें प्रधान है क्योंकि आचारके विकासका मूल भावशुद्धि ही है। कहा है[2]—सब शुद्धियोंमें भावशुद्धि ही प्रशंसनीय है। क्योंकि स्त्री

१. क्तृजनसौ—भ. कु. च.।

२. 'सर्वासामेव शुद्धीना भावशुद्धिः प्रशस्यते।
अन्यथाऽऽलिङ्ग्यतेऽपत्यमन्यथाऽऽलिङ्ग्यते पति' ॥ [ ]

तदेकमूलत्वादाचारप्रकाशायोः (-शोनाया.) । कायशुद्धिस्तु निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजाता मलधारिणी निराकृताङ्गविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्तिः[2] प्रशमं मूर्तमिव प्रदर्शयन्तीव स्यात्। तस्या च सत्यां न स्वतोऽन्यस्य नाप्यन्यतः स्वस्य भयमुद्भवति । स एष शुद्धयष्टकप्रपञ्चः समित्यादिभ्योऽपोद्धृत्य सूत्रे स्वाख्यायते[3] संयमस्यातिदुष्करतया परिपालने सुतरां बालाशक्तानगारवर्गस्य प्रयत्नप्रतिसंधानार्थमिति ॥४९॥

अथ उपेक्षासंयमपरिणतं लक्षयति—

तेऽमी मत्सुहृदः पुराणपुरुषा मत्कर्मक्लृप्तोदयैः
स्वैः स्वैः कर्मभिरीरितास्तनुमिमां मन्नेतृकां[1] मद्धिया ।
चक्षम्यन्त इमं न मामिति तदाबाधे त्रिगुप्तः परा-
क्लिष्टयोत्सृष्टवपुर्बुधः समतया तिष्ठत्युपेक्षायमी ॥५०॥

पुत्रका भी आलिंगन करती है और पतिका भी। किन्तु दोनोंके भावोंमें बड़ा अन्तर है। शरीरपर न कोई वस्त्र हो न आभूषण, न उसका संस्कार-स्नान, तेल मर्दन आदि किया गया हो, जन्मके समय जैसी स्थिति होती है वही नग्न रूप हो, मल लगा हो, किसी अंगमें कोई विकार न हो, सर्वत्र सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति हो, जिसे देखनेसे ऐसा प्रतीत हो, मानो मूर्तिमान प्रशमगुण है। इसे ही कायशुद्धि कहते हैं। इसके होनेपर न तो अपनेको दूसरोंसे भय होता है और न दूसरोंको अपनेसे भय होता है। क्योंकि संयमका पालन अत्यन्त दुष्कर है अतः उसके पालनमें जो मुनि बालक हैं या वृद्ध हैं उनको प्रयत्नशील बनानेके लिए इन आठ शुद्धियोंका समिति आदिसे उद्धार करके आगममें विस्तारसे कथन किया गया है ॥४९॥

उपेक्षा संयमका स्वरूप कहते हैं—

शरीर और आत्माके भेदको जाननेवाला उपेक्षा संयमी उपद्रव करनेवाले व्याघ्र आदि जीवोंके द्वारा कष्ट दिये जानेपर भी उनको कोई कष्ट नहीं देता, और मन-वचन-कायके व्यापारका अच्छी रीतिसे निग्रह करके शरीरसे ममत्व हटाकर समभावसे स्थिर रहता हुआ विचारता है कि ये व्याघ्र आदि जीव भी परमागममें प्रसिद्ध परमात्मा हैं, मेरे मित्र हैं, मेरे उपघात नामकर्मका उदय है और इनके परघात नामकर्मका उदय है। उसीसे प्रेरित होकर ये इस शरीरको ही मुझे मानकर खा रहे हैं क्योंकि मैं इस शरीरका नेता हूँ, जैसे कहार काँवरका होता है। किन्तु स्वयं मुझे नहीं खा सकते ॥५०॥

विशेषार्थ—उपेक्षा संयमका मतलब ही इष्ट और अनिष्ट विषयोंमें राग-द्वेष न करके समता भाव रखना है। अतः उपेक्षा संयमका अर्थ ही साम्यभाव है। यह साम्यभाव इतना उन्नत होता है कि व्याघ्रादिके द्वारा खाये जानेपर भी चलित नहीं होता। शेर भँभोड़-भँभोड़कर खा रहा है और उपेक्षा संयमी शेरकी पर्यायमें वर्तमान जीवकी दशा और स्वरूपका विचार करता है। परमागममें कहा है कि सभी जीव द्रव्यरूपसे परमात्मा हैं। कहा है[4]—इस सिद्ध पर्यायमें जो वैभव शोभित होता है बद्धदशामें भी यह सब वैभव पूरी तरहसे

१. भ. कु. च ।
२. प्रयत्न भ कु. च. ।
३. सूत्रेऽन्वाख्या—भ. कु. च. ।
४. 'सिद्धत्वे यदिह विभाति वैभवं वो बद्धत्वेऽप्यखिलतया किलेदमासीत् ।
बद्धत्वे न खलु तथा विभातमित्थं बीजत्वे तरुगरिमात्र किं विभाति ॥' [ ]

अमी—व्याघ्रादिरूपाः। मत्सुहृदः—मया सदृशाः अथवा अनादिसंसारे पित्रादिपर्यायेण ममोपकारकाः। यदाहुः—

'सर्वे तातादिसंबन्धा नासन् यस्याङ्गिनोऽङ्गिभिः।
सर्वैरनेकधा सार्धं नासावङ्ग्यपि विद्यते ॥' [ ]

पुराणपुरुषाः। पराक्लिष्टा परेषामुपद्रावकजीवानामनुपघातेन। उत्सृष्टवपुः—ममत्वव्यावर्तनेन परित्यक्तशरीरः। बुधः—देशकालविधानज्ञः ॥५०॥

अथ उपेक्षासंयमसिद्ध्यङ्गे तपोरूपे धर्मेऽनुष्ठातॄनुत्साहयन्नाह—

उपेक्षासंयमं मोक्षलक्ष्मीश्लेषविचक्षणम्।
लभन्ते यमिनो येन तच्चरन्तु परं तपः ॥५१॥

परं—उत्कृष्टं स्वाध्यायध्यानरूपमित्यर्थः ॥५१॥

था किन्तु बद्धदशामे वह वैसा शोभित नहीं था। क्या बीज पर्यायमें वृक्षकी गरिमा शोभित होती है? और भी कहा है—'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'। शुद्धनयसे सभी जीव शुद्ध-बुद्ध हैं। अतः ये सिंह आदि भी मेरे मित्र हैं। जो स्वरूप मेरी आत्माका है वही इनकी आत्माका है। पर्याय दृष्टिसे देखनेपर भी ये मेरे पूर्व बन्धु हो सकते हैं क्योंकि अनादि संसारमें कौन जीव किसका पिता-पुत्र आदि नहीं होता। कहा है—'जिस प्राणीके सब प्राणियोंके साथ सब पिता-पुत्र आदि अनेक सम्बन्ध नहीं रहे ऐसा कोई प्राणी ही नहीं है'।

दूसरे, खानेवाला शेर मुझे तो खा ही नहीं सकता। मैं तो टाँकीसे उकेरे हुएके समान ज्ञायक भावरूप स्वभाववाला हूँ। व्यवहारमें यदि यह खाता है तो खाये। वास्तवमें जो स्वात्म संवेदनमें लीन होता है उसे बाह्य दुःखका बोध नहीं होता। कहा है—जो योगी शरीर आदिसे हटाकर आत्माको आत्मामें ही स्थिर करता है और व्यवहार—प्रवृत्ति-निवृत्तिसे दूर रहता है, उसे स्वात्माके ध्यानसे वचनातीत आनन्द होता है। यह आनन्द निरन्तर प्रचुर कर्मरूपी ईंधनको जलाता है। तथा उस आनन्दमग्न योगीको परीषह उपसर्ग आदि बाह्य दुःखोंका बोध नहीं होता। इसीसे उसे कोई खेद नहीं होता। और भी कहा है—शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे आनन्दित योगी तपके द्वारा उदीर्ण किये गये घोर दुष्कर्मोंको भोगता हुआ भी खेदखिन्न नहीं होता ॥५०॥

इस तरह संयमका प्रकरण समाप्त होता है।

आगे उपेक्षा संयमकी सिद्धिके सहायक तपधर्ममें तपस्वियोंको उत्साहित करते हैं—

जिसके द्वारा साधुजन अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूप मोक्षलक्ष्मीका आलिंगन करानेमें चतुर दूतके समान उपेक्षा संयमको प्राप्त करते हैं उस उत्कृष्ट तपको करना चाहिए ॥५१॥

---

१. आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥
आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ —इष्टोपदे., ४७-४८ श्लोक।

२. आत्मदेहान्तरज्ञान-जनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥ —समाधितं. ३४ श्लो.।

अथ त्यागात्मकं धर्ममवगमयति—

शक्त्या दोषैकमूलत्वान्निवृत्तिरुपधेः सदा ।
त्यागो ज्ञानादिदानं वा सेव्यः सर्वगुणाग्रणी ॥५२॥

शक्तेत्यादि । अयमत्राभिप्रायः । परिग्रहनिवृत्तिरनियतकाला यथास्वशक्तिः त्यागः । कायोत्सर्गः पुनर्नियतकालः सर्वोत्सर्गरूपः । कर्मोदयवशादसन्निहितविषयगर्द्धोत्पत्तिनिषेधः शौचम् । त्यागः पुनः सन्निहितापाय इति शौचादप्यस्य भेदः । सर्वगुणाग्रणी । उक्तं च—

'अनेकाधेयदुष्पूर आशागर्तश्चिरादहो ।
चित्रं यत् क्षणमात्रेण त्यागेनैकेन पूर्यते ॥
कः पूरयति दुष्पूरमाशागर्तं दिने दिने ।
यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते ॥' [ ] ॥५२॥

अथ ज्ञानदानमहिमानमखिलदानमाहात्म्यन्यग्भावेन पुरस्कुर्वन्नाह—

विशेषार्थ—उपेक्षा संयमके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती और उपेक्षा संयमकी साधना उत्कृष्ट तपके द्वारा ही सम्भव है। वह उत्कृष्ट तप है स्वाध्याय और ध्यान। कहा है—'स्वाध्यायसे ध्यानका अभ्यास करना चाहिए और ध्यानसे स्वाध्यायको चरितार्थ करना चाहिए। तथा ध्यान और स्वाध्यायकी सम्प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता है। अर्थात् परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए स्वाध्याय और बहुत ध्यान उपयोगी हैं ॥५१॥

आगे त्यागधर्मका कथन करते हैं—

परिग्रह राग आदि दोषोंका प्रधान कारण है। इसलिए शक्तिके अनुसार उससे सदाके लिए जो निवृत्तिरूप परिणाम है उसे त्याग कहते हैं। अथवा ज्ञान आदिके दानको त्याग कहते हैं। वह सब गुणोंमें प्रधान है। साधुओंको उसका पालन करना चाहिए ॥५२॥

विशेषार्थ—त्याग और शौचमें यह अन्तर है कि शक्तिके अनुसार अनियत काल तक परिग्रहकी निवृत्तिको त्याग कहते है। नियत काल तक सब कुछ त्यागनेको कायोत्सर्ग कहते हैं। और कर्मके उदयके वश जो अपने पासमें नहीं है उसमें होनेवाली लालसाको रोकना शौच है। अर्थात् जो हमें प्राप्त नहीं है उस विषयकी तृष्णाको रोकना शौच है। और जो हमारे पास है उसे छोडना त्याग है। इस तरह शौचसे त्याग भिन्न है। तृष्णाकी पूर्ति होना असम्भव है। कहा है—'आशारूपी गर्त दुष्पूर है उसे कोई भर नहीं सकता। प्रतिदिन उसमें जो कुछ भरा जाता है वह आधेय न होकर आधार हो जाता है।'

किन्तु उसे भरनेका एक ही उपाय है और वह है त्याग। कहा है—'खेद है कि आशारूपी गर्त चिरकालसे अनेक प्रकारके आधेयोंसे भी नहीं भरता। किन्तु आश्चर्य है कि एक त्यागसे वह क्षण मात्रमें भर जाता है' ॥५२॥

आगे सब दानोंके माहात्म्यसे ज्ञानदानकी महिमाकी विशिष्टता बतलाते हैं—

१. यत्र समस्तमा—भ. कु. च. । चारित्रसारे उद्धृताविमौ श्लोकौ ।

२. 'स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ता ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।'—तत्त्वानु., ८१ श्लो. ।

दत्ताच्छर्म किलैति भिक्षुरभयाद्वा तद्भवाद्भेषजा-
द्वा रोगान्तरसंभवावधानतश्चैकर्थतस्तद्दिनम् ।
ज्ञानात्त्वाशुभवन्मुदो भवमुदां तृप्तोऽमृते मोदते
तद्दातृंस्तिरयन् प्रहानिव रविर्भातीतरान् ज्ञानदः ॥५३॥

आतद्भवात्—वर्तमानजन्म यावत् । आशुभवन्मुदः—सद्यः संजायमाना प्रीतिर्यस्मात् । भवमुदां—संसारसुखानाम् । अमृते—मोक्षे । तिरयन्—तिरस्कुर्वन् ॥५३॥

अथाकिञ्चन्यलक्षणधर्मानुष्ठायिनः परमाद्भुतफलप्रतिलम्भमभिधत्ते—

अकिंचनोऽहमित्यस्मिन् पथ्यक्षुण्णचरे चरन् ।
तददृष्टचरं ज्योतिः पश्यत्यानन्दनिर्भरम् ॥५४॥

अकिंचनः—नास्ति किंचनोपात्तमपि शरीरादिकं मम इत्यर्थः । उपात्तेष्वपि हि शरीरादिषु संस्कारादित्यागात् ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिंचन्यमिष्यते । अक्षुण्णचरे—पूर्वं कदाचिदप्यनवगाहिते । अदृष्टचरं—पूर्वं कदाचिदप्यनुपलब्धम् ॥५४॥

आगममें ऐसा सुना जाता है कि दिये गये अभयदानसे भिक्षु अधिकसे अधिक उसी भवमें सुखी रहता है। औषधदानसे अधिक से अधिक जबतक अन्य रोग उत्पन्न नहीं होता तबतक सुखी रहता है। भोजनदानसे अधिक से अधिक उसी दिन सुखी रहता है। किन्तु तत्काल आनन्दको देनेवाले ज्ञानदानसे सांसारिक सुखोंसे तृप्त होकर मोक्षमें सदा आनन्द करता है। अतः जैसे सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहोंको तिरस्कृत करता हुआ शोभता है उसी तरह ज्ञानदाता अभयदान आदि करनेवालोंको तिरस्कृत करता हुआ सुशोभित होता है ॥५३॥

विशेषार्थ—चारों प्रकारके दानोंमें ज्ञानदान सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि यदि कोई किसी भिक्षुको अभयदान देता है कि तुम किसीसे भी मत डरना, तो इससे वह भिक्षु केवल उसी भवमें निर्भय होकर रह सकता है। मरने पर तो अभयदान भी समाप्त हो जाता है। यदि कोई किसी रोगी भिक्षुको औषधि देकर नीरोग करता है तो उससे भी भिक्षु तभी तक सुखी रहता है जब तक उसे दूसरा रोग नहीं होता। जैसे किसी भिक्षुको ज्वर आता है। ज्वरनाशक औषधके देनेसे ज्वर चला गया। तो वह भिक्षु तभी तक सुखी रहता है जब तक उसे अन्य रोग उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार भिक्षुको भोजन देनेसे वह भिक्षु अधिक से अधिक उसी दिन सुखी रहता है। दूसरा दिन होते ही भूख सताने लगती है। किन्तु ज्ञानदानसे तत्काल चित्तमें शान्ति आती है और वह संसारके सुखोंसे उद्विग्न होकर शाश्वत आत्मिक सुखको प्राप्त करता है ॥५३॥

आगे कहते हैं कि आकिंचन्य धर्मके पालकको अद्भुत फलकी प्राप्ति होती है—

'मैं अकिंचन हूँ' इस पहले कभी भी न जाने हुए मार्गमें भावक—भावरूपसे प्रवृत्ति करनेवाला साधु आनन्दसे भरपूर और पहले कभी भी प्राप्त न हुई, टाँकीसे उकेरी हुईके समान ज्ञायकभाव-स्वभाव आत्मज्योतिका अनुभवन करता है ॥५४॥

विशेषार्थ—मेरा कुछ भी नहीं है इस प्रकारके भावको आकिंचन्य कहते हैं। शरीर वगैरह यद्यपि वर्तमान रहते हैं फिर भी उसमें ममत्वको त्यागकर 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायसे निवृत्त होना आकिंचन्य है। इस आकिंचन्य भावको भानेसे ही ज्ञायकभाव-स्वभाव आत्माका अनुभव होता है ॥५४॥

अथ ब्रह्मचर्यस्वरूपं धर्मं निरूपयन्नाह—

चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा ।
चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिन. ॥५५॥

वर्णिनः—ब्रह्मचारिणः ॥५५॥

अथ क्षमादिधर्माणां गुप्त्यादिभ्योऽपोद्धारव्यवहारपुरस्सरमुत्तमविशेषणं व्याचष्टे—

गुप्त्यादिपालनार्थं तत एवापोद्धृतैः प्रतिक्रमवत् ।
दृष्टफलनिर्व्यपेक्षैः क्षान्त्यादिभिरुत्तमैर्यतिर्जयति ॥५६॥

अपोद्धृतैः—पृथक्कृत्योक्तै. । दृष्टफलनिर्व्यपेक्षैः—लाभादिनिरपेक्षत्वादुत्तमैरित्यर्थ. ॥५६॥

अथ मुमुक्षूणामनुप्रेक्षाचिन्तनाधीनचेतसा बहुप्रत्यूहेऽपि मोक्षमार्गे कश्चित् प्रत्यवायो न स्यादित्युपदेश-पुरस्सरं नित्यं तच्चिन्तने तानुद्योगयन्नाह—

अब ब्रह्मचर्य धर्मका कथन करते है—

मैथुनसे निवृत्त ब्रह्मचारी जो स्वतन्त्रतापूर्वक परब्रह्ममें प्रवृत्ति करता है या गुरुके अधीन होकर आत्मामें प्रवृत्ति करता है उसे ब्रह्मचर्य कहते है ॥५५॥

विशेषार्थ—ब्रह्म शब्दका अर्थ है आत्मा या ज्ञान । उसमें प्रवृत्तिका नाम ब्रह्मचर्य है । लोकमें मैथुन सेवनसे निवृत्त होनेको ब्रह्मचर्य कहते है । मैथुन सेवी व्यक्ति आत्मामें प्रवृत्ति कर नहीं सकता । अतः जो चतुर्थ व्रत ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा लेकर व्यवहारसे आध्यात्मिक गुरुकी आज्ञानुसार और परमार्थसे स्वात्माधीन होकर प्रेमपूर्वक स्वात्मामें रमता है वही ब्रह्मचारी है । वह परम आत्मज्ञानका स्वच्छन्द होकर अनुभवन करता है ॥५५॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्यका कथन समाप्त होता है ।

आगे क्षमा आदि धर्मोंको गुप्ति आदिसे पृथक् करके कहनेका कारण बतलाते हुए उत्तम विशेषणको स्पष्ट करते है—

गुप्ति, समिति और व्रतोंकी रक्षाके लिए प्रतिक्रमणकी तरह गुप्ति आदिसे पृथक् करके क्षमा आदिको कहा है । तथा प्रत्यक्ष फल लाभ आदिकी अपेक्षा न होनेसे उन्हें उत्तम कहा है । इन उत्तम क्षमा आदिके द्वारा शुद्धोपयोगी मुनि जयवन्त होता है ॥५६॥

विशेषार्थ—जैसे लगे हुए दोषोंको दूर करनेके लिए प्रतिक्रमण कहा है, उसी तरह गुप्ति, समिति और व्रतोंमें दोष न लगे, इसलिए उत्तम क्षमा आदिका पृथक् कथन किया है । अन्यथा ये दस धर्म गुप्ति आदिमें ही समाविष्ट हो जाते है । तथा क्षमा, मार्दव आदि दसों धर्म उत्तम ही होते हैं । फिर भी उनके साथ उत्तम विशेषण इसलिए लगाया है कि किसी लौकिक फलकी अपेक्षासे पाले गये क्षमा आदि धर्म उत्तम नहीं होते । जैसे शत्रुको बलवान् जानकर क्षमाभाव धारण करना उत्तम क्षमा नहीं है । इसी तरह अन्य भी जानना । इस प्रकार उत्तम क्षमा आदि दस लक्षण धर्मका अधिकार समाप्त होता है । इन दस धर्मोंका विशेष कथन तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ के व्याख्या ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदिमें किया है । रत्न-करण्ड श्रावकाचारकी भाषा टीकामें पं. सदासुखजीने विशेष विस्तारसे कथन किया है ॥५६॥

मोक्षके मार्गमें बहुत विघ्न हैं । फिर भी उसमें कोई विघ्न न आवे, इसलिए बारह भावनाओंके चिन्तनमें संलग्न मुमुक्षुओंको नित्य उनके चिन्तनमें लगे रहनेकी प्रेरणा करते हैं—

बहुविघ्नेऽपि शिवाध्वनि यन्निघ्नधियश्चरन्त्यमन्दमुदः ।
ताः प्रयतैः संचिन्त्या नित्यमनित्याद्यनुप्रेक्षाः ॥५७॥

स्पष्टम् ॥५७॥

अथायुःकायेन्द्रियबलयौवनाना क्षणभङ्गुरत्वचिन्तनान्मोहोपमर्दमुपदिशति—

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदङ्गं,
करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च ।
स्फुटकुसुमवदेतत् प्रक्षयैकव्रतस्थं,
क्वचिदपि विमृशन्तः किं नु मुह्यन्ति सन्तः ॥५८॥

चुलुकजलवत्—प्रतिक्षणगलद्रूपत्वात् । सिन्धुवेलावत्—आरोहावरोहवत्त्वात् । अमित्रप्रेमवत्—युक्तोपचारेऽपि व्यभिचारप्रकाशनात् । स्फुटकुसुमवत्—सद्योविकारित्वात् । एतत्—आयुरादिचतुष्टयम् । प्रक्षयैकव्रतस्थं—अवश्यंभाविनिर्मूलप्रलयम् । क्वचिदपि—आयुरादीना लक्ष्म्यादीना च मध्ये एकस्मिन्नप्यर्थे । मुह्यन्ति—अनित्यताज्ञानहीना ममत्वाधीना वा भवन्ति ॥५८॥

यद्यपि मोक्षके मार्गमें बहुत बाधाएँ हैं। फिर भी जिन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनमें व्यस्त मुमुक्षु अति आनन्दपूर्वक मोक्षमार्गमें विहार करते हैं, प्रयत्नशील मुमुक्षुओंको उन अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओंका सतत चिन्तन करना चाहिए ॥५७॥

विशेषार्थ—स्थिर चित्तसे शरीर आदिके स्वरूपके चिन्तनको अनुप्रेक्षा कहते हैं। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षा हैं। मुमुक्षुको इनका सदा चिन्तन करना चाहिए। इससे मोक्षके मार्गमें आनेवाले विघ्न दूर होते हैं। मनको शान्ति मिलती है और सांसारिकतासे आसक्ति हटती है ॥५७॥

आगे उपदेश करते हैं कि आयु, शरीर, इन्द्रिय, बल और यौवनकी क्षणभंगुरताका विचार करनेसे मोहका मर्दन होता है—

आयु चुल्लूमें भरे जलके समान है, शरीर समुद्रके किनारेके तुल्य है, इन्द्रियोंकी अर्थग्रहण शक्ति शत्रुके प्रेमके तुल्य है, यौवन तत्काल खिले हुए पुष्पके समान है। इस तरह ये चारों विनाशशील हैं। इनका विचार करनेवाले सन्त पुरुष क्या किसीमें भी मोह कर सकते हैं, अर्थात् नहीं कर सकते ॥५८॥

विशेषार्थ—जैसे चुल्लूमें भरा जल प्रतिक्षण चूता है, उसी तरह भवधारणमें निमित्त आयुकर्म भी प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है। जैसे लवणसमुद्रका जल जहाँ तक ऊपर उठ सकता है उठता है फिर जहाँ तक नीचे जा सकता है जाता है, उसी तरह यह शरीर जब तक बढने योग्य होता है बढ़ता है फिर क्रमशः क्षीण होता है। कहा है—'सोलह वर्ष तककी अवस्था बाल्यावस्था कही जाती है। उसमें धातु, इन्द्रिय और ओजकी वृद्धि होती है। ७० वर्षकी उम्रके बाद वृद्धि नहीं होती, किन्तु क्षय होता है।'[1] इन्द्रियोंका बल पदार्थोंको ग्रहण करनेकी शक्ति है। वह शत्रुके प्रेमके समान है। जैसे उचित उपचार करनेपर भी शत्रुका स्नेह समय पाकर टूट जाता है वैसे ही योग्य आहार-विहार आदि करनेपर भी इन्द्रियोंकी

---

१. 'वयस्त्वा षोडशाद्बाल्यं तत्र धात्विन्द्रियौजसाम् ।
वृद्धिरासप्ततेर्मध्यं तत्रावृद्धिः परं क्षय.' ॥

अथ सम्पदादीनामनित्यताचिन्तनार्थमाह—

छाया माध्याह्निकी श्रीः पथि पथिकजनैः संगमः संगमः स्वैः,
खार्था स्वप्नेक्षितार्थाः पितृसुतदयिताज्ञातयस्तोयभङ्गाः।
सन्ध्यारागोऽनुरागः प्रणयरससृजां ह्लादिनीदाम भैश्यं
भावाः सैन्यादयोऽन्येऽप्यनुविदधति तान्येव तद्ब्रह्म दुह्मः ॥५९॥

स्वैः—बन्धुभि.। खार्थाः—इन्द्रियार्थाः। पितृसुत—माता च पिता च पितरौ, सुता च सुतश्च सुताविति ग्राह्यम्। तोयभङ्गाः—जलतरङ्गाः। ह्लादिनीदाम—विद्युन्माला। अन्ये—सौधोद्यानादयः। अनुविदधति—अनुहरन्ते। तद्ब्रह्म—शाश्वतं ज्ञानम्। दुह्मः—प्रपूरयामो वयमानन्दं वा स्रावयामः ॥५९॥

अर्थग्रहण शक्ति थोड़ा-सा भी व्यतिक्रम पाकर नष्ट हो जाती है। तथा यौवन खिले हुए फूलके समान है। जैसे खिला हुआ फूल कुछ समय तक सुन्दर दीखता है फिर मुरझा जाता है उसी तरह यौवन भी है। इस तरह इन चारोंका क्षय नियमसे होता है। इनके स्वरूपका सतत विचार करनेवाला कोई भी मुमुक्षु इनमें आसक्त नहीं हो सकता ॥५८॥

इस प्रकार आयु आदि अन्तरङ्ग पदार्थोंकी अनित्यताका चिन्तन करके संपत्ति आदि बाह्य पदार्थोंकी अनित्यताका चिन्तन करते हैं—

लक्ष्मी मध्याह्नकालकी छायाकी तरह चंचल है। बन्धुओंका संयोग मार्गमें मिलनेवाले पथिकजनोंके संयोगकी तरह अस्थायी है। इन्द्रियोंके विषय स्वप्नमें देखे हुए विषयोंकी तरह हैं। माता, पिता, पुत्री, पुत्र, प्रिया और कुटुम्बीजन जलकी लहरोंकी तरह हैं। मित्र आदि प्रियजनोंका अनुराग सन्ध्याके रागके समान हैं। आदर, सत्कार, ऐश्वर्य आदि बिजलीकी मालाकी तरह है। सेना, हाथी, घोड़े आदि अन्य पदार्थ भी उन्हींकी तरह अनित्य है। इसलिए हमें आत्मा और शरीरके भेदज्ञान रूप ब्रह्मको आनन्दसे पूरित करना चाहिए ॥५९॥

विशेषार्थ—जैसे मध्याह्नकी छाया क्षणमात्रतक रहकर लुप्त हो जाती है वैसे ही लक्ष्मी भी कुछ कालतक ठहरकर विलीन हो जाती है। तथा जैसे यहाँ-वहाँसे आकर मार्गमें बटोही किसी वृक्ष आदिके नीचे विश्राम करके अपने-अपने कार्यवश इधर-उधर चले जाते है वैसे ही बन्धुजन यहाँ-वहाँसे आकर कुछ समयतक एक स्थानपर ठहरकर चले जाते हैं। अथवा जैसे बटोही पूर्व आदि दिशाको जाते हुए मार्गमें पश्चिम आदि दिशासे आनेवाले बटोहियों-के साथ कुछ समयतक मिलकर बिछुड़ जाते हैं वैसे ही बन्धुजन भी मिलकर बिछुड़ जाते है। तथा जैसे स्वप्नावस्थामें देखे हुए पदार्थ तत्काल ही या जागनेपर कुछ भी अपना कार्य नहीं करते, उसी तरह स्त्री, चन्दनमाला आदि विषय भी भोगनेपर या भोगकर छोड़नेपर सन्ताप और तृष्णाकी शान्ति आदि कुछ भी नहीं करते। तथा जैसे जलमें लहरें उत्पन्न होकर शीघ्र ही विलीन हो जाती हैं उसी तरह पिता वगैरह भी कुछ कालतक ठहरकर चले जाते हैं। तथा जैसे सन्ध्याके समय कुछ कालतक लालिमा रहती है वैसे ही मित्र आदिकी प्रीति भी कुछ ही कालतक रहती है। इसी तरह सेना वगैरह भी बिजलीकी चमककी तरह देखते-देखते ही विलीन हो जाती है। इस तरह सभी प्रकारकी बाह्य वस्तुएँ क्षणिक हैं। अतः उनमें मन न लगाकर आत्मामें ही लगाना चाहिए। ऐसा विचार करते रहनेसे बाह्य संपत्तिमें आसक्ति नहीं होती, और जैसे पुष्पमालाको भोगकर छोड़ देनेपर दुःख नहीं होता वैसे ही संपत्ति तथा बन्धु-बान्धओंका वियोग होनेपर भी दुःख नहीं होता। इस प्रकार अनित्यानुप्रेक्षाका स्वरूप जानना ॥५९॥

अथाशरणं प्रणिधत्ते—

तत्तत्कर्मग्लपितवपुषां लब्धवल्लिप्सितार्थं,
मन्वानानां प्रसभमसुवत्प्रोद्यतं भक्तुमाशाम् ।
यद्वद्वार्यं त्रिजगति नृणां नैव केनापि दैवं,
तद्वन्मृत्युर्ग्रसनरसिकस्तद् वृथा त्राणदैन्यम् ॥६०॥

कर्म—कृष्यादि । प्रोद्यत—अभिमुखेनोद्युक्तम् ॥६०॥

अथ कालस्य चक्रीन्द्राणामप्यशक्यप्रतीकारत्वचिन्तनेन सर्वत्र बहिर्वस्तुनि निर्मोहतामालम्बयति—

सम्राजां पश्यतामप्यभिनयति न किं स्वं यमश्चण्डिमानं,
शक्राः सीदन्ति वीर्घे क्व न दयितवधूदीर्घनिद्रामनस्ये ।
आःकालव्यालदंष्ट्रां प्रकटतरतपोविक्रमा योगिनोऽपि,
व्याक्रोष्टुं न क्रमन्ते तदिह बहिरहो यत् किमप्यस्तु किं मे ॥६१॥

अब अशरण अनुप्रेक्षाका विचार करते हैं—

कृषि आदि उन-उन कार्योंने जिनके शरीरको सत्त्वहीन बना डाला है, और जो इच्छित पदार्थको ऐसा मानते हैं मानो वह हमारे हाथमें ही है, ऐसे मनुष्योंकी आशाको प्राणोंकी तरह ही बलपूर्वक नष्ट करनेके लिए तत्पर दैव जैसे तीनों लोकोंमें किसीके भी द्वारा नहीं रोका जाता, उसी तरह प्राणोंको हरनेकी प्रेमी मृत्युको भी कोई नहीं रोक सकता। अतः शरणके लिए दीनता प्रकट करना व्यर्थ ही है ॥६०॥

विशेषार्थ—संसारमें मनुष्य भविष्यके लिए अनेक आशाएँ करता है और उनकी प्राप्तिके लिए अनेक देवी-देवताओंकी आराधना भी करता है और ऐसा मान बैठता है कि मेरी आशा पूर्ण होनेवाली है। किन्तु पूर्वकृत कर्मोंका उदय उसकी आशाओंपर पानी फेर देता है। कहा है—पहले किये हुए अशुभ कर्म अपना समय आनेपर जब उदीरणाको प्राप्त होते हैं तो वे किसी चेतन इन्द्रादिके द्वारा और अचेतन मन्त्रादिके द्वारा या दोनोंके ही द्वारा रोके नहीं जा सकते। इसी तरह जब मृत्यु मनुष्यके प्राणोंको ग्रसनेके लिए तत्पर होती है तो उसे भी कोई नहीं रोक सकता। ऐसी स्थितिमें जब दैव और मृत्यु दोनों ही को रोकना शक्य नहीं है तब रक्षाके लिए दूसरोंके सामने गिड़गिड़ाना या अपनेको अशरण मानकर शोक आदि करना व्यर्थ ही है। सारांश यह है कि विवेकीजनोंको ऐसे समयमें धैर्यका ही अवलम्बन लेना उचित है ॥६०॥

आगे कहते हैं कि चक्रवर्ती, इन्द्र, और योगीन्द्र भी कालकी गतिको टालनेमें असमर्थ हैं ऐसा विचारकर मुमुक्षु सर्वत्र बाह्य वस्तुओंमें मोह नहीं करता—

समस्त पृथ्वीके स्वामी चक्रवर्ती राजाओंके देखते हुए भी क्या यमराज अपनी प्रचण्डताको व्यक्त नहीं करता? तथा क्या इन्द्र चिरकालसे चले आते हुए प्रिय पत्नीके मरणके दुःखसे दुःखी नहीं होते? अधिक क्या कहा जाये, जिनका तपका प्रभाव जगत्में विख्यात है वे तपस्वी योगी भी कालरूपी सर्प या व्याघ्रकी दाढ़को नष्ट करनेमें समर्थ नहीं हैं। इसलिए इन बाह्य वस्तुओंमें जो कुछ भी होओ, उससे मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ता ॥६१॥

१. कर्मण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति ।
प्रतिषेद्धुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥ [ ]

अभिनयति—अभिव्यनक्ति। चण्डिमानं—हठात् प्राणापहरणलक्षणं क्रूरत्वम्। दीर्घनिद्रामनस्यं—मरणदुःखम्। व्याक्रोष्टुं—प्रतिहन्तुम्। न क्रमन्ते—न शक्नुवन्ति। यत्किमपि—व्याधिमरणादिकम्। किं मे—देहादेरत्यन्तभिन्नत्वात् मम नित्यानन्दात्मकस्य न किमपि स्यादित्यर्थः।

यथाह—

'न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले॥' [इष्टोप., २९ श्लो.] ॥६१॥

अथ संसारमनुप्रेक्षितुमाह—

तच्चेद् दुःखं सुखं वा स्मरसि न बहुशो यन्निगोदाहमिन्द्र-
प्रादुर्भावान्तनीचोन्नत-विविधपदेष्वाभवाद्भुक्तमात्मन्।
तत्किं ते शाक्यवाक्यं हतक परिणतं येन नानन्तराति-
क्रान्ते भुक्तं क्षणेऽपि स्फुरति तदिह वा क्वास्ति मोहः सगर्हः ॥६२॥

निगोदेत्यादीनि—निगोतजन्मपर्यन्तेषु नीचस्थानेषु ग्रैवेयकोद्भवावसानेषु चोच्चस्थानेषु। उक्तं च—

विशेषार्थ—चक्रवर्ती राजाओंके देखते हुए भी मृत्यु उनके पुत्रोंको अपने मुखका ग्रास बना लेती है। इन्द्रोंकी आयु सागरों प्रमाण होती है और उनकी इन्द्राणियोंकी आयु पल्योपम प्रमाण होती है। अतः जैसे समुद्रके जलमें लहरे उत्पन्न होकर नष्ट होती हैं वैसे ही इन्द्रकी सागरोपम प्रमाण आयुमें पल्योपम प्रमाण आयुवाली इन्द्राणियाँ उत्पन्न होकर मर जाती हैं। उनके मरणसे इन्द्रोंको दुःख होता ही है। इस प्रकार कालका प्रतीकार चक्रवर्ती और इन्द्र भी नहीं कर सकते। तब क्या तपस्वी कर सकते हैं! किन्तु जगत्-विख्यात तपस्वी भी कालकी गतिको रोकनेमें असमर्थ होते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञ महर्षि विचारते हैं कि बाह्य वस्तु शरीरकी भले ही मृत्यु होती हो, किन्तु आत्मा तो शरीरसे अत्यन्त भिन्न है, नित्य और आनन्दमय है, उसका कुछ भी नहीं होता। कहा है—'मेरी मृत्यु नहीं होती, तब उससे भय क्यों? मुझे व्याधि नहीं होती, तब कष्ट क्यों? न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न जवान हूँ ये सब तो पुद्गलमें शरीरमें होते हैं।' और भी—जीव भिन्न द्रव्य है, यह तत्त्वका सार है। इससे भिन्न जो कुछ कहा जाता है वह इसीका विस्तार है। मुझसे शरीर वगैरह तत्त्व रूपसे भिन्न हैं और उनसे मैं भी तत्त्वरूपसे भिन्न हूँ—मैं जीव-तत्त्व हूँ और शरीर आदि अजीव-तत्त्व हैं। अतः न मैं इनका कुछ हूँ और न ये मेरे कुछ हैं।

ऐसा चिन्तन करनेसे 'मैं नित्य शरण रहित हूँ।' ऐसा जानकर यह जीव सांसारिक भावोंमें ममत्व नहीं करता, तथा सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए मार्गमें अनुराग करता है ॥६१॥

इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है।

अब संसार अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

हे आत्मन्! अनादिकालसे निगोदसे लेकर नव ग्रैवेयकतकके अहमिन्द्र पद पर्यन्त नीच और ऊँचे विविध स्थानोंमें तुमने जो अनन्तवार सुख और दुःख भोगा, यदि तुम उसका स्मरण नहीं करते हो तो हे अभागे! क्या बुद्धके वचनोंके साथ तुम्हारी एकरूपता हो गयी है जो अनन्तर अतीत क्षणमें भी भोगे हुए सुख-दुःखका भी तुम्हें स्मरण नहीं होता। अथवा ऐसा होना उचित ही है क्योंकि मोहको किसी भी प्राणीके विषयमें ग्लानि नहीं है अर्थात् संसारके सभी प्राणी मोहसे ग्रस्त हैं' ॥६२॥

'समभवमहमिन्द्रोऽनन्तशोऽनन्तवारान्
पुनरपि च निगोतोऽनन्तशोऽन्तविवर्तैः ।
किमिह फलमभुक्तं तद्यदद्यापि भोक्ष्ये
सकलफलविपत्तेः कारणं देव देयाः ॥' [ ]

तत्—निरन्वयक्षणिकवादरूपम् । शाक्यः—बुद्धः । तत्—सुखं दुःखं च । सगर्हः—जुगुप्सावान् । कमपि प्राणिनं ग्रसमानो न शूकायते इत्यर्थ. ॥६२॥

अथ संसारदुरवस्था सुतरा भावयन्नाह—

अनादौ संसारे विविधविपदातङ्कनिचिते
मुहुः प्राप्तस्तां तां गतिमगतिकः किं किमवहम् ।
अहो नाहं देहं कमथ न मिथो जन्यजनका-
द्युपाधिं केनागां स्वयमपि हहा स्वं व्यजनयम् ॥६३॥

आतङ्कः—क्षोभावेशः । तां तां—नरकादिलक्षणाम् । अगतिक.—गति· अपायनिवारणोपायस्त-ज्ज्ञान वा तद्रहित । किं किं—उत्सेहादिभेदेन नानाप्रकारम् । प्रायिकमेतत् । तेन सम्यक्त्वसहचारिपुण्योदय-

---

विशेषार्थ—यह जीव अनादिकालसे इस संसारमें भ्रमण करता है। इस भ्रमणका नाम ही ससार है। संसारमें भटकते हुए इस जीवने सबसे नीचा पद निगोद और सबसे ऊँचा पद ग्रैवेयकमें अनन्त बार जन्म लेकर सुख-दुःख भोगा है। नव-ग्रैवेयकसे ऊपर सम्यग्दृष्टि जीव ही जन्म लेते हैं। इसलिए यह जीव वहाँ नहीं गया। निगोद और ग्रैवेयकके मध्यके नाना स्थानोंमें भी इसने अनन्त बार जन्म लिया है और सुख-दुःख भोगा है। किन्तु इसे उसका स्मरण नहीं होता। इसपर-से ग्रन्थकार उसे ताना देते हैं कि क्या तू बौद्ध धर्मावलम्बी बन गया है। क्योंकि बौद्ध धर्म वस्तुको निरन्वय क्षणिक मानता है। क्षणिक तो जैन दर्शन भी मानता है क्योंकि पर्याय उत्पाद-विनाशशील हैं। किन्तु पर्यायोंके उत्पाद-विनाशशील होनेपर भी उनमें कथंचिद् ध्रौव्य भी रहता है। बौद्ध ऐसा नहीं मानता। इसीसे उसके मतमें अनन्तर अतीत क्षणमें अनुभूत सुख-दुःखका स्मरण नहीं होता। क्योंकि जो सुख-दुःख भोगता है वह तो उसी क्षणमें नष्ट हो जाता है। यह सब मोहकी ही महिमा है। उसीके कारण इस प्रकारके मत-मतान्तर प्रचलित हुए हैं। और उस मोहके चंगुलसे कोई बचा नहीं है ॥६२॥

आगे मुमुक्षु स्वयं संसारकी दुःखावस्थाका विचार करता है—

हे आत्मन्[1] इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगके द्वारा होनेवाली विपत्तियोंके कष्टसे भरे हुए इस अनादि संसारमें इन कष्टोंको दूर करनेका उपाय न जानते हुए मैंने बार-बार उन-उन नरकादि गतियोंमें जन्म लेकर वर्ण-आकार आदिके भेदसे नाना प्रकारके किन-किन शरीरोंको धारण नहीं किया? अर्थात् धारण करने योग्य सभी शरीरोंको धारण किया। इसी प्रकार किस जीवके साथ मैंने जन्य-जनक आदि उपाधियोंको नहीं पाया। बड़ा कष्ट इस बातका है कि मैंने स्वयं ही अपनेको इस अवस्थामें पहुँचाया ॥६३॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्वके उदयसे संसारमें भटकता हुआ जीव उन सभी पर्यायोंको धारण करता है जो सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यके उदयसे प्राप्त नहीं होती। सभी जीवोंके साथ उसका किसी न किसी प्रकारका सम्बन्ध बनता रहता है। वह किसीका पिता, किसीका

---

१. न्तर्निवृत्त' भ. कु च. मु.।

जन्यदेहानामप्रसङ्गः। अवहे—वहामि स्म। 'अहो' उद्बोधकं प्रति संबोधनमिदम्। जन्यजनकाद्युपाधि—उत्पाद्योत्पादक-पाल्यपालक-भोग्यभोजकादिविपरिणामम्। केन—जीवेन सह। अगां—गतः। व्यजनयं—विशेषेणोत्पादयामि ॥६३॥

अथैकत्वानुप्रेक्षाया भावनाविधिमाह—

किं प्राच्यः कश्चिदागाविह सह भवता येन साध्येत सध्र्यङ्-
प्रेत्येहत्योऽपि कोऽपि त्यज दुरभिमतिं संपदीवापदि स्वान्।
सध्रीचो जीव जीवन्ननुभवसि परं त्वोपकर्तुं सहैति,
श्रेयोंऽहश्चापकर्तुं भजसि तत इतस्तत्फलं त्वेककस्त्वम् ॥६४॥

पुत्र, किसीका पालक, किसीके द्वारा पाल्य आदि होता है। कहा भी है—जिस प्राणीका सभी प्राणियोंके साथ सभी पिता-पुत्रादि विविध सम्बन्ध नहीं है ऐसा कोई प्राणी ही नहीं है।

किन्तु यह कथन भी सार्वत्रिक नहीं है क्योंकि नित्य निगोदको छोड़कर अन्यत्र ही ऐसा होना सम्भव है। कहा है—'ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने त्रस पर्याय प्राप्त नहीं की। उनके भावपाप बड़े प्रचुर होते हैं जिससे वे निगोदवासको नहीं छोड़ते'। इस विषयमें मत-भेद भी है। गोमट्टसारके टीकाकारने उस मतभेदको स्पष्ट करते हुए कहा है कि निगोदको न छोड़नेमें कारण भावपापकी प्रचुरता है। अतः जबतक प्रचुरता रहती है तबतक निगोदको नहीं छोड़ते। उसमें कमी होनेपर नित्य निगोदसे निकलकर त्रस होकर मोक्ष भी चले जाते हैं। इस सब परिभ्रमणका कारण स्वयं जीव ही है दूसरा कोई नहीं है। अतः संसारकी दशा-का चिन्तन करनेवाला 'अहो' इस शब्दसे अपनेको ही उद्बोधित करते हुए अपनी प्रवृत्तिपर खेदखिन्न होता है। इस प्रकारकी भावना भानेसे जीव संसारके दुःखोंसे घबराकर संसार-को छोड़नेका ही प्रयत्न करता है। इस प्रकार संसार भावना समाप्त होती है ॥६३॥

अब एकत्वानुप्रेक्षाकी भावनाकी विधि कहते हैं—

हे जीव ! क्या पूर्वभवका कोई पुत्रादि इस भवमें तेरे साथ आया है ? जिससे यह अनुमान किया जा सके कि इस जन्मका भी कोई सम्बन्धी मरकर तेरे साथ जायेगा। अतः यह मेरे हैं इस मिथ्या अभिप्रायको छोड़ दे। तथा हे जीव ! क्या तूने जीते हुए यह अनुभव किया है कि जिनको तू अपना मानता है वे सम्पत्तिकी तरह विपत्तिमें भी सहायक हुए हैं ? किन्तु तेरा उपकार करनेके लिए पुण्यकर्म और अपकार करनेके लिए पापकर्म तेरे साथ जाते हैं। और इस लोक या परलोकमें उनका फल तू अकेला ही भोगता है ॥६४॥

विशेषार्थ—यदि परलोकसे कोई साथ आया होता तो उसे दृष्टान्त बनाकर परीक्षक जन यह सिद्ध कर सकते थे कि इस लोकसे भी कोई सम्बन्धी परलोकमें जीवके साथ जायेगा। किन्तु परलोकसे तो अकेला ही आया है। अतः चूँकि परलोकसे साथमें कोई नहीं आया अतः यहाँसे भी कोई साथ नहीं जायेगा। कहा[1] है—'जीव संसारमें अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही नाना योनियोंमें भ्रमण करता है।'

---

१. 'एकाकी जायते जीवो म्रियते च तथाविधः।
संसारं पर्यटत्येको नानायोनिसमाकुलम्' ॥ [ ]

प्राच्यः—पूर्वभवसंबन्धी । कश्चित्—पुत्रादिः । इह—अस्मिन् भवे । साध्येत—व्यवस्थाप्येत । सध्र्यङ्—सहगामी । इहत्यः—इह भवसंभवसंबन्धी । दुरभिमति—ममायमिति मिथ्याभिनिवेशम् । सध्रीचः—सहायान् । अनुभवसि—कावा नानुभवसीत्यर्थः । त्वा—त्वाम् । तत्फलं—सुखदुःखरूपम् ॥६४॥

अथात्मनस्तत्त्वतो न कश्चिदन्वयी स्यादित्यनुशास्ति—

यदि सुकृतममाहङ्कार-संस्कारमङ्गं,
पदमपि न सहैति प्रेत्य तत् किं परेऽर्थाः ।
व्यवहृतितिमिरेणैवार्पितो वा चकास्ति,
स्वयमपि मम भेवस्तत्त्वतोऽस्म्येक एव ॥६५॥

सुकृतः—जन्मप्रभृतिनिर्मित. । ममाहंकारो—ममेदमिति ममकारो अहमिदमिति अहंकारश्च । संस्कार.—दृढतमप्रतिपत्तिः । परे—पृथग्भूता. पृथक् प्रतीयमानाश्च । तिमिरं—नयनरोगः । चकास्ति—आत्मान दर्शयति । स्वयं—आत्मना आत्मनि वा । भेद.—ज्ञानसुखदु खादिपर्यायनानात्वम् । एकः—पूर्वापरानुस्यूतैकचैतन्यरूपत्वात् ॥६५॥

अथान्यत्वभावनाया फलातिशयप्रदर्शनेन प्रलोभयन्नाह—

दूसरे, मरनेकी बात तो दूर, जीवित अवस्थामें ही तेरे सगे-सम्बन्धी सुखमें ही साथ देते हैं, दुःख पड़नेपर दूर हो जाते है । किन्तु तू जो पुण्य या पाप कर्म करता है वह परलोकमें तेरे साथ जाता है और तुझे सुख या दुःख देता है । तथा तू अकेला ही उनका फल भोगता है । पुण्य और पापका फल सुख तथा दुःख भोगनेमें दूसरा कोई साझीदार नहीं होता ॥६४॥

वास्तवमें कोई भी आत्माके साथ जानेवाला नहीं है यह कहते हैं—

इस शरीरमें जन्मकालसे ही ममकार और अहंकारका संस्कार बना हुआ है । यदि मरनेपर यह शरीर एक पग भी जीवके या मेरे साथ नहीं जाता, तो मुझसे साक्षात् भिन्न दिखाई देनेवाले स्त्री, स्वर्ण आदि अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ? अथवा व्यवहारनयरूपी नेत्र रोगके द्वारा आरोपित मेरा स्वयं भी भेद आत्माका दर्शन कराता है । निश्चयनयसे तो मैं एक ही हूँ ॥६५॥

विशेषार्थ—जीवका सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध अपने शरीरसे होता है । शरीर जीवके साथ ही जन्म लेता है और मरण पर्यन्त प्रत्येक दशामें जीवके साथ रहता है । अतः शरीरमें जीवका ममकार और अहंकार बड़ा मजबूत होता है । ममकार और अहंकारका स्वरूप इस प्रकार कहा है—जो सदा ही अनात्मीय है, आत्माके नहीं हैं, तथा कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं उन अपने शरीर वगैरहमें 'ये मेरे हैं' इस प्रकारके अभिप्रायको ममकार कहते है । जैसे मेरा शरीर । और जो भाव कर्मकृत हैं, निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं उनमें आत्मत्वके अभिप्रायको अहंकार कहते हैं । जैसे, मैं राजा हूँ ।

फिर भी जब मरनेपर शरीर ही जीवके साथ नहीं जाता तब जो स्त्री, पुत्र, रुपया आदि साक्षात् भिन्न हैं उनके साथ जानेकी कल्पना ही व्यर्थ है । तथा आत्मामें होनेवाली ज्ञान, सुख-दुःख आदि पर्यायें ही मेरे अस्तित्वको बतलाती हैं । इन पर्यायोंके भेदसे आत्मामें भेदकी प्रतीति औपचारिक है । वास्तवमें तो आत्मा एक अखण्ड तत्त्व है । इस प्रकारका चिन्तन करनेसे इष्ट जनोंमें राग और अनिष्ट जनोंमें द्वेष नहीं होता ॥६५॥

अब अन्यत्व भावनाका विशिष्ट फल बतलाकर उसके प्रति मुमुक्षुओंका लोभ उत्पन्न करते हैं—

नैरात्म्यं जगत इवार्य नैर्जगत्यं निश्चिन्वन्ननुभवसिद्धमात्मनोऽपि ।
मध्यस्थो यदि भवसि स्वयं विविक्तं स्वात्मानं तदनुभवन् भवादपैषि ॥६६॥

नैरात्म्यम्—अनहंकारास्पदत्वात् । नैर्जगत्यं—पराकारशून्यत्वात् ।

उक्त च—

'परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कथंचन ।
नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथात्मनः ॥'　[तत्त्वानु. १७५ ।]

मध्यस्थः—रागद्वेषरहितोऽध्यात्मतत्त्वनिष्ठो वा । विविक्तं—देहादिभ्यः पृथग्भूतं शुद्धमित्यर्थः । अपैषि—प्रच्यवसे त्वम् ॥६६॥

अथान्यत्वभावनापरस्य ततोऽपुनरावृत्तिकामता कथयति—

हे आर्य ! जिस प्रकार जगत्‌का स्वरूप नैरात्म्य है उसी तरह आत्माका स्वरूप नैर्जगत्य—समस्त परद्रव्योंके ग्रहणसे रहित है । यह बात अनुभवसे—स्वसंवेदनसे सिद्ध है । अतः ऐसा निश्चय करके यदि तू रागद्वेषसे रहित होकर अध्यात्म तत्त्वमें निष्ठ होता है तो स्वयं शरीरादिसे भिन्न आत्माका अनुभव करते हुए संसारसे मुक्त हो सकता है ॥६६॥

विशेषार्थ—संसारमें दो ही मुख्य तत्त्व हैं—जड़ और चेतन । जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता और चेतन कभी जड़ नहीं हो सकता । अतः जगत्‌का स्वरूप नैरात्म्य है । 'मैं' इस रूपसे अनुभवमें आनेवाले अन्तस्तत्त्वको आत्मा कहते हैं । और आत्मासे जो रहित है उसे निरात्म कहते हैं और निरात्मके भावको नैरात्म्य कहते हैं । यह विश्व 'मैं' इस बुद्धिका विषय नहीं है, एक आत्माके सिवाय समस्त परद्रव्य अनात्मस्वरूप है । इसी तरह आत्माका स्वरूप भी 'नैर्जगत्य' है । 'यह' इस रूपसे प्रतीयमान समस्त बाह्य वस्तु जगत् है । और जगत्‌से जो निष्क्रान्त है वह निर्जगत् है उसका भाव नैर्जगत्य है । अर्थात् आत्मा समस्त परद्रव्योंके ग्रहणसे रहित है । आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माका परके आकारसे रहित रूपसे संवेदन होता है, उसे ही स्वसंवेदन कहते हैं । जो स्वसंवेदनसे सिद्ध है उसे अनुभवसिद्ध कहते हैं । कहा भी है—'सभी पदार्थ परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न हैं । अतः जैसे जगत्‌का स्वरूप नैरात्म्य है वैसे ही आत्माका स्वरूप नैर्जगत्य है ।'

ऐसे वस्तुस्वरूपका विचार करके सामायिक चारित्रका आराधक मुमुक्षु यदि मध्यस्थ रहे, किसीसे राग और किसीसे द्वेष न करके आत्मनिष्ठ रहे और शरीरादिसे भिन्न आत्माका अनुभवन करे तो संसारसे मुक्त हो सकता है । अतः मोक्षमार्गमें अन्यत्व भावनाका स्थान महत्त्वपूर्ण है । इसलिए मुमुक्षुको उसका चिन्तन करना चाहिए । कहा है—'कर्मसे और कर्मके कार्य क्रोधादि भावोंसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्माको नित्य भाना चाहिए । उससे नित्य आनन्दमय मोक्षपदकी प्राप्ति होती है' ॥६६॥

आगे कहते है कि जो अन्यत्व भावनामें लीन रहता है वह अपुनर्जन्मकी अभिलाषा करता है—

१. 'कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम्' ॥ [　　　]

बाह्याध्यात्मिकपुद्गलात्मकवपुर्युग्मं भृशं मिश्रणा-
द्धेम्नः किट्टककालिकाद्वयमिवाभाद्प्यदोऽनन्यवत् ।
मत्तो लक्षणतोऽन्यदेव हि ततश्चान्योऽहमर्थादत-
स्तद्भेदानुभवात्सदा मुदमुपैम्यन्वेमि नो तत्पुनः ॥६७॥

बाह्यं—रसादिधातुमयमौदारिकम्, आध्यात्मिकं—ज्ञानावरणादिमयं कार्मणम्। मिश्रणात्—कथंचिदेकत्वोपगमात्। आभादपि—आभासमानमपि। अनन्यवत्—दुःशक्यविवेचनत्वादभिन्नमिव। तथा चोक्तम्—

'ववहारणओ भासइ जीवो देहो य हवइ खलु एक्को।
ण उ णिच्छयस्स जीवो देहो य कयावि एकट्ठो ॥' [समय प्राभृत, गा. २७]

लक्षणत.—अन्योन्यव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्। तथेह देहस्य रूपादिमत्वमात्मनश्चोपयोग। जीवदेहावत्यन्तं भिन्नौ भिन्नलक्षणलक्षितत्वात्, जलानलवत्। अन्यो हि—भिन्न एव। तद्भेदानुभवात्—वपुर्युग्मादन्यत्वेनात्मनः स्वयं संवेदनात्। उक्तं च—

'वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येण चकासति।
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि ॥' [तत्त्वानु०, १६८ श्लो.]

बाह्य रसादि धातुमय औदारिक शरीर और आध्यात्मिक ज्ञानावरणादिमय कार्मण शरीर, ये दोनों पुद्गलात्मक हैं; स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णमय परमाणुओंसे बने हैं। जैसे स्वर्ण बाह्य स्थूलमल और सूक्ष्म अन्तर्मलसे अत्यन्त मिला होनेसे एकरूप प्रतीत होता है। उसी तरह ये दोनों शरीर भी आत्मासे अत्यन्त मिले होनेसे अभिन्नकी तरह प्रतीत होते हैं। किन्तु लक्षणसे ये दोनों मुझसे भिन्न ही हैं और मैं भी वास्तवमें उनसे भिन्न हूँ। इसलिए दोनों शरीरोंसे आत्माको भिन्न अनुभव करनेसे मैं सदा आनन्दका अनुभव करता हूँ। और अब इन शरीरोंको मैं पुनः धारण नहीं करूँगा ॥६७॥

विशेषार्थ—आत्माके साथ आभ्यन्तर कार्मण शरीर तो अनादि कालसे सम्बद्ध है किन्तु औदारिक आदि तीन शरीर अमुक-अमुक पर्यायोंमें ही होते हैं। ये सभी शरीर पौद्गलिक हैं। पुद्गल परमाणुओंसे बनते हैं। किन्तु आत्माके साथ इनका ऐसा मेल है कि उन्हें अलग करना कठिन है। अतः बुद्धिमान् तक दोनोंको एक समझ बैठते हैं। फिर भी लक्षणसे जीव और शरीरके भेदको जाना जा सकता है। परस्परमें मिले हुए पदार्थ जिसके द्वारा पृथक्-पृथक् जाने जाते हैं उसे लक्षण कहते हैं। शरीरका लक्षण रूपादिमान है और आत्माका लक्षण उपयोग है। अतः आत्मा और शरीर अत्यन्त भिन्न हैं क्योंकि दोनोंका लक्षण भिन्न है, जैसे जल और आग भिन्न है। समयसारमें कहा है—व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक हैं। किन्तु निश्चयनयसे जीव और शरीर कभी भी एक नहीं हो सकते। और भी कहा[1] है—'जो अतीत कालमें चेतता था, आगे चेतेगा, वर्तमानमें चेतता है वह मैं चेतन द्रव्य हूँ। जो कुछ भी नहीं जानता, न पहले जानता था और न भविष्यमें जानेगा वह शरीरादि है, मैं नहीं हूँ।'

---

१. 'यदचेतत्तथापूर्वं चेतिष्यति यदन्यदा।
चेततीत्थं यदत्राद्य तच्चिद् द्रव्यं समस्म्यहम् ॥
यन्न चेतयते किंचिन्नाऽचेतयत किंचन।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहम्' ॥—तत्त्वानु० १५६, १५५ श्लो.

मुदमुपैमि । उक्तं च—

'आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिस्थितेः ।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥' [इष्टोपदेश, श्लो. ४७]

अन्वेमि नो—नानुवर्तेऽहम् । उक्तं च—

'तथैव भावयेद्देहाद् व्यावर्त्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥' [समाधित., श्लो. ८२] ॥६७॥

अथ देहस्याशुचित्वं भावयन्नात्मनस्तत्पक्षपातमपवदति—

और भी कहा[1] है—'अज्ञानी मनुष्यके शरीरमें स्थित आत्माको मनुष्य जानता है, तिर्यंचके शरीरमें स्थित आत्माको तिर्यंच जानता है, देवके शरीरमें स्थित आत्माको नारकी जानता है किन्तु परमार्थसे ऐसा नहीं है। आत्मा तो अनन्त ज्ञान और अनन्तवीर्यसे युक्त है, स्वसंवेदनसे जाना जाता है और उसकी स्थिति अचल है।'

अतः आत्मा शरीरसे भिन्न है, शरीरके बिना ही उसका अनुभव होता है। कहा[2] है—'शरीरका प्रतिभास न होने पर भी यह ज्ञानरूप चेतना स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकाशमान होती है। यह स्वयं ही देखी जाती है।'

इसका अनुभवन करनेसे परमानन्दकी अनुभूति होती है। कहा है—'जो योगी आत्माके अनुष्ठानमें तत्पर है और व्यवहारसे बहिर्भूत है उसे योगके द्वारा अनिर्वचनीय परमानन्दकी प्राप्ति होती है।'

इस तरह शरीर और आत्माको भिन्न अनुभव करनेसे पुनः आत्मा शरीरसे बद्ध नहीं होता है। कहा भी है—शरीरसे भिन्न करके आत्माको आत्मामें उसी प्रकार भाना चाहिए जिससे आत्माको स्वप्नमें भी पुनः शरीरसे संयुक्त न होना पड़े। एकत्व अनुप्रेक्षासे अन्यत्व अनुप्रेक्षामें अन्तर यह है कि एकत्व अनुप्रेक्षामें 'मैं अकेला हूँ' इस प्रकार विधिरूपसे चिन्तन किया जाता है। और अन्यत्व अनुप्रेक्षामें 'शरीर आदि मुझसे भिन्न हैं, मेरे नहीं है' इस प्रकार निषेध रूपसे चिन्तन किया जाता है। ऐसा चिन्तन करनेसे शरीर आदिमें निरीह होकर सदा कल्याणमें ही तत्पर रहता है ॥६७॥

इस प्रकार अन्यत्व अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है।

आगे शरीरकी अपवित्रताका विचार करते हुए आत्माका शरीरके प्रति जो पक्षपात है उसकी निन्दा करते हैं—

१. 'नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः' ॥—समाधित., ८-९ श्लो. ।

२. 'वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येण चकासति ।
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वयं दृश्यत एव हि' ॥ [ ]

कोऽपि प्रकृत्यशुचिनीह शुचेः प्रकृत्या,
भूयान्वसेरकपदे तव पक्षपातः।
यद्विस्रसा रुचिरमर्पितमर्पितं द्राग्,
व्यत्यस्यतोऽपि मुहुरुद्विजसेऽङ्ग नाङ्गात् ॥६८॥

वसेरकपदे—पथिकनिशावासस्थाने। तेन च साधर्म्यमङ्गस्य परद्रव्यत्वादल्पकालाधिवास्यत्वाच्च। विस्रसा रुचिरं—निसर्गरम्यं श्रीचन्दनानुलेपनादि। द्राग् व्यत्यस्यतः—सद्यो विपर्यासं नयतः। ॥६८॥

अथ देहस्य त्वगावरणमात्रेणैव गृध्राद्यनुपघातं प्रदर्श्य तस्यैव शुद्धस्वरूपदर्शननिष्ठात्माधिष्ठानतामात्रेण पवित्रताकरणात् सर्वजगद्विशुद्ध्यङ्गतासम्पादनायात्मानमुत्साहयति—

निर्मायास्थगयिष्यवङ्गमनया वेधा न चेत्त्वचा,
तत् क्रव्यादभिरखण्डयिष्यत खरं दायादवत् खण्डशः।
तत्संशुद्धनिजात्मदर्शनविधावग्रेसरत्वं नयन्,
स्वस्थित्यैकपवित्रमेतदखिलत्रैलोक्यतीर्थं कुरु ॥६९॥

अस्थगयिष्यत्—आच्छादयिष्यत्। अनया—बाह्यया। क्रव्याद्भिः—मांसभक्षैर्गृध्रादिभिः। दायादवत्—दायादैरिव, सक्रोधमिथःस्पर्द्धासंरब्धत्वात् ॥६९॥

हे आत्मन्! यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है और पथिक जनोंके रात-भर ठहरनेके लिए बने स्थानके समान पराया तथा थोड़े समयके लिए है। किन्तु तुम स्वभावसे ही पवित्र हो, फिर भी तुम्हारा शरीरके प्रति कोई महान् अलौकिक पक्षपात है; क्योंकि शरीरपर बार-बार लगाये गये स्वभावसे सुन्दर चन्दन आदिको यह शरीर तत्काल गन्दा कर देता है फिर भी तुम इससे विरक्त नहीं होते ॥६८॥

विशेषार्थ—शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है क्योंकि यह रज और वीर्यसे बना है तथा रस, रुधिर आदि सप्त धातुमय है एवं मल-मूत्रका उत्पत्ति स्थान है। इसपर सुन्दरसे सुन्दर द्रव्य लगाये जानेपर भी यह उस द्रव्यको ही मलिन कर देता है। फिर भी यह आत्मा उसके मोहमें पड़ा हुआ है। कहा है—'इस शरीरपर जो भी सुन्दर वस्तु लगायी जाती है वही अपवित्र हो जाती है। हे जीव! इसकी छायासे ठगाये जाकर मलद्वारोंसे युक्त इस क्षणभंगुर शरीरका तू क्यों लालन करता है?'[1] ॥६८॥

यह शरीर चामसे आच्छादित होनेसे ही गृद्ध आदिसे बचा हुआ है। फिर भी वह शरीर शुद्ध स्वरूपको देखनेवाले आत्माका निवासस्थान होनेसे पवित्रताका कारण है। अतः ग्रन्थकार समस्त जगत्की विशुद्धिके लिए आत्माको उत्साहित करते हैं—

हे आत्मन्! यदि विधाताने शरीरको बनाकर इस त्वचासे न ढक दिया होता तो मांसभक्षी गृद्ध आदिके द्वारा यह उसी तरह टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया होता, जैसे पिता वगैरहकी जायदादके भागीदार भाई वगैरह उस वस्तुको टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं जिसका बँटवारा

१. 'आधीयते यदिह वस्तु गुणाय यान्तं
काये तदेव मुहुरेत्यपवित्रभावम्।
छायाप्रतारितमतिर्मलरन्ध्रबन्धं
किं जीव लालयसि भङ्गुरमेतदङ्गम्' ॥ [ ]

अथास्रवमनुप्रेक्ष्यमाणस्तद्दोषांश्चिन्तयन्नाह—

युक्ते चित्तप्रसत्त्या प्रविशति सुकृतं तद्भविन्यत्र योग-
द्वारेणाहृत्य बद्धः कनकनिगडवद्येन शर्माभिमाने।
मूर्छन् शोच्यः सतां स्यादसिचिरमयमेत्यात्तसंक्लेशभावे,
यत्वं हस्तेन लोहान्दुकवदवसितश्छिन्नमर्मेव ताम्येत् ॥७०॥

योगद्वारेण—कायवाड्मन.कर्ममुखेन। एति—आगच्छति, आस्रवतीति यावत्। आत्तसंक्लेशभावे—अप्रशस्तरागद्वेषमोहपरिणते भविनि। अवसितः—बद्धः। छिन्नमर्मा—

'विषमं स्पन्दनं यत्र पीडनं रुक् च मर्म तत्' ॥ [ ] ॥७०॥

शक्य नहीं होता। इसलिए आत्माका वासस्थान होनेसे परम पवित्र इस शरीरको सम्यक् रूपसे शुद्ध निज आत्माके दर्शनकी विधिमें प्रधान बनाकर सकल जगत्‌की विशुद्धिका अंग बनाओ ॥६९॥

विशेषार्थ—यद्यपि शरीर परम अपवित्र है तथापि उसमें आत्माका वास है इसीलिए वह पवित्र है। अब उस शरीरमें रहते हुए उसके द्वारा वह सब सत्कार्य करना चाहिए जिससे अपनी शुद्ध आत्माका दर्शन हो। और शुद्ध आत्माके दर्शन होनेपर धीरे-धीरे परमात्मा बनकर अपने विहारसे, दिव्योपदेशसे इस जगत्‌को तीर्थरूप बना डालो। इस तरह यह स्वयं अपवित्र शरीर पवित्र आत्माके योगसे सकल जगत् को पवित्र बनानेमें समर्थ होता है। इस प्रकार विचार करनेसे विरक्त हुआ मुमुक्षु अशरीरी होनेका ही प्रयत्न करता है ॥६९॥

अब आस्रवका विचार करनेके लिए उसके दोषोंका विचार करते हैं—

जिस समय यह संसारी जीव प्रशस्त राग, दयाभाव आदि परिणामसे युक्त होता है। उस समय मन या वचन या कायकी क्रियाके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योगके द्वारा पुण्यकर्मके योग्य पुद्‌गलोंका प्रवेश होता है। उस विशिष्ट शक्ति परिणाम रूपसे अवस्थित पुण्यकर्मसे यह जीव बलपूर्वक बँध जाता है। जैसे कोई राजपुरुष सोनेकी बेड़ियोंसे बाँधा जानेपर अपना बड़प्पन मानकर यदि सुखी होता है तो वस्तुस्थितिको समझनेवाले उसपर खेद ही प्रकट करते हैं, उसी तरह पुण्यकर्मसे बद्ध होनेपर 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकारका अहंकार करके पल्योपम आदि लम्बे काल तक मोहमें पड़े व्यक्तिपर तत्त्वदर्शी जन खेद ही प्रकट करते हैं। और जिस समय यह जीव अप्रशस्त राग-द्वेष आदि रूप परिणामोंसे युक्त होता है तो आत्म प्रदेश—परिस्पन्दरूप योगके द्वारापापकर्मके योग्य पुद्‌गलोंका प्रवेश होता है। विशिष्ट शक्ति परिणाम रूपसे अवस्थित उस पापकर्मसे चिरकाल तक बद्ध हुआ जीव उसी तरह कष्ट भोगता है जैसे कोई अपराधी लोहेकी साँकलसे बाँधे जानेपर मर्मस्थानके छिद जानेसे दुःखी होता है ॥७०॥

विशेषार्थ—मनोवर्गणा, वचनवर्गणा या कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्माके प्रदेशोंके हलनचलनको योग कहते हैं। इस योगके निमित्तसे ही जीवमें पौद्‌गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंका आस्रव अर्थात् आगमन होता है। जिस समय जीवके शुभ परिणाम होते हैं उस समय पुण्यकर्मोंमें स्थिति अनुभाग विशेष पड़नेसे पुण्यकर्मका आस्रव कहा जाता है और जिस समय संक्लेश परिणाम होते हैं उस समय पापकर्ममें विशेष स्थिति अनुभाग

अथास्रवं निरुन्धानस्यैव मुमुक्षोः क्षेमं स्यादन्यथा दुरन्तसंसारपात इत्युपदेष्टुमाह—

विभ्रातङ्कविमुक्तमुक्तिनिलयद्रङ्गाग्रिमाप्त्युन्मुखः,
सद्रत्नोच्चयपूर्णमुद्भटविपद्भीमे भवाम्भोनिधौ ।
योगच्छिद्रपिधानमावधदुरूद्योगः स्वपोतं नये-
न्नो चेन्मङ्क्ष्यति तत्र निर्भरविशत्कर्माम्बुभारादसौ ॥७१॥

द्रङ्गाग्रिमं—प्रसिद्धाधिष्ठानं समुद्रतटपत्तनादि । स्वपोतं—आत्मानं यानपात्रमिव भवार्णवोत्तारणप्रवणत्वात् ॥७१॥

अथ संवरगुणांश्चिन्तयति—

पड़नेसे पापकर्मका आस्रव कहा जाता है। अन्यथा केवल पुण्यकर्मका आस्रव नहीं होता क्योंकि घातिया कर्म पुण्यकर्मके साथ भी तबतक अवश्य बँधते हैं जबतक उनके बन्धका निरोध नहीं होता। पुण्यकर्मको सोनेकी साँकल और पापकर्मको लोहेकी साँकलकी उपमा दी गयी है। अज्ञानी जीव पुण्यकर्मके बन्धको अच्छा मानते हैं क्योंकि उसके उदयमें सुख-सामग्रीकी प्राप्ति होती है। यह सुख मानना वैसा ही है जैसे कोई राजपुरुष सोनेकी साँकलसे बाँधा जानेपर सुखी होता है। वस्तुतः बन्धन तो बन्धन ही है जैसे लोहेकी साँकलसे बँधा मनुष्य परतन्त्र होता है वैसे ही सोनेकी साँकलसे बँधा मनुष्य भी परतन्त्र होता है। इसीसे तत्त्वज्ञानी पुण्य-पापमें भेद नहीं करते, दोनोंको ही बन्धन मानते हैं ॥७०॥

जो मुमुक्षु आस्रवको रोक देता है उसीका कल्याण होता है। आस्रवको न रोकनेपर दुरन्त संसारमें भ्रमण करना पड़ता है, ऐसा उपदेश देते हैं—

यह संसार समुद्रके समान न टारी जा सकनेवाली विपत्तियोंके कारण भयंकर है। इस संसारसमुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ होनेसे अपना आत्मा जहाजके समान है। जैसे जहाजमें उत्तम रत्न आदि भरे होते हैं वैसे ही इस आत्मारूपी जहाजमें सम्यग्दर्शन आदि गुणोंका भण्डार भरा है। इसका संचालक महान् उद्योगी अप्रमत्त संयत मुनि है। उसे चाहिये कि योग रूपी छिद्रोंको बन्द करके इसे उस मुक्तिरूपी तटवर्ती नगरकी ओर ले जाये, जो जगत्के समस्त प्रकारके क्षोभोंसे रहित है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह आत्मारूपी जहाज उसमें तेजीसे प्रवेश करनेवाले कर्म रूपी जलके भारसे उसी संसार समुद्रमें डूब जायेगा ॥७१॥

विशेषार्थ—संसाररूपी समुद्रमें पड़े हुए इस आत्मारूपी जहाजमें योगरूपी छिद्रोंसे कर्मरूपी जल सदा आता रहता है। तत्त्वार्थ सूत्रके छठे अध्यायमें पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच पाप और पचीस क्रियाओंको साम्परायिक आस्रवका कारण कहा है। क्योंकि ये सब अतीन्द्रियज्ञान स्वभाव तथा रागादि विकल्पोंसे शून्य चैतन्यके घातक हैं। अतः इनको रोके बिना परमात्मपदरूपी उस तटवर्ती महान् नगर तक आत्मरूपी जहाज नहीं जा सकता। तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलंक देवने भी कहा है कि समुद्रमें छेद सहित जहाजकी तरह यह जीव इन्द्रियादिके द्वारा होनेवाले आस्रवोंके कारण संसार समुद्रमें डूब जाता है। ऐसा चिन्तन करनेसे उत्तम क्षमादि रूप धर्मोंमें 'ये कल्याणकारी हैं' इस प्रकारकी बुद्धि स्थिर होती है। इस प्रकार आस्रव भावनाका कथन किया ॥७१॥

अब संवरके चिन्तनके लिए उसके गुणोंका विचार करते हैं—

कर्मप्रयोक्तृपरतन्त्रतयात्मरङ्गे
प्रव्यक्तभूरिरसभावभरं नटन्तीम् ।
चिच्छक्तिमग्रिमपुमर्थसमागमाय
व्यासेधतः स्फुरति कोऽपि परो विवेकः ॥७२॥

कर्मप्रयोक्ता—ज्ञानावरणादिकर्मविपाको नाट्याचार्यः । रङ्गः—नर्तनस्थानम् । रसः—विभावादिभिरभिव्यक्तः स्थायीभावो रत्यादिभाव. देवादिविषया रतिः । व्यभिचारी च व्यक्तः । नटन्ती—अवस्यन्दमानाम् । जीवेन सह भेदविवक्षया चिच्छक्तेरेवमुच्यते । स एष आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणः कर्मास्रवकारणं योगो बोध्यः । उक्तं च—

'पोग्गलविवाइदेहोदएण मणवयणकायजुत्तस्स ।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥' [गो. जी , गा. २१५]

एतेन नर्तकीमुपमानमाक्षिपति । अग्रिमपुमर्थः—प्रधानपुरुषार्थो धर्मो मोक्षो वा । पक्षे, कामस्याग्रे भवत्वादर्थः । तस्यैव विजिगीषुणा यत्नतोऽर्जनीयत्वाद् विषयोपभोगस्य चेन्द्रियमन· प्रसादनमात्रफलत्वेन यथावसरमनुज्ञानात् । व्यासेधतः—निषेधतः सतः । परो विवेकः—शुद्धोपयोगेऽवस्थानं हिताहितविचारश्च । उक्तं च—

'विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः ॥' [ज्ञानार्णव २।१३८] ॥७२॥

अथ मिथ्यात्वाद्यास्रवप्रकारान् शुद्धसम्यक्त्वादिसंवरप्रकारैर्निरुन्धतो मुख्यमशुभकर्मसंवरणमानुषंगिकं च सर्वसंपत्प्राप्तियोग्यत्वफलमाह—

जैसे नर्तकी नृत्यके प्रयोक्ता नाट्याचार्यकी अधीनतामें रंगभूमिमें नाना प्रकारके रसो और भावोंको दर्शाती हुई नृत्य करती है, जो विजिगीषु कामके आगे होनेवाले पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए उस नृत्य करनेवाली नटीको रोक देते हैं उनमें कोई विशिष्ट हिताहित विचार प्रकट होता है, उसी तरह ज्ञानावरण आदि कर्मोंके विपाकके वशमें होकर आत्मारूपी रंगभूमिमें अनेक प्रकारके रसों और भावोंको व्यक्त करती हुई चित्शक्ति परिस्पन्द करती है । प्रधान पुरुषार्थ मोक्ष या धर्मकी प्राप्तिके लिए जो घटमान योगी मुनि उसे रोकते हैं उनके कोई अनिर्वचनीय उत्कृष्ट विवेक अर्थात् शुद्धोपयोगमें स्थिति प्रकट होती है ॥७२॥

विशेषार्थ—चेतनकी शक्तिको चित्शक्ति कहते हैं । जीवके साथ भेदविवक्षा करके उक्त प्रकारसे कथन किया है । अन्यथा चित्शक्ति तो जीवका परिणाम है वह तो द्रव्यके आश्रयसे रहती है । चित्शक्तिके चलनको ही आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योग कहते हैं जो कर्मोंके आस्रवका कारण है । कहा है—पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे मन-वचन-कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंके आनेमें कारण है उसे योग कहते हैं । चेतनकी इस शक्तिको रोककर शुद्धोपयोगमें स्थिर होनेसे ही परम संवर होता है । कहा है—कल्पना जालको दूर करके जब मन स्वरूपमें निश्चल होता है तभी ही मुनिके परम संवर होता है ॥७२॥

संवरके शुद्ध सम्यक्त्व आदि भेदोंके द्वारा जो आस्रवके मिथ्यात्व आदि भेदोंको रोकते हैं उन्हें अशुभ कर्मोंके संवर रूप मुख्य फलकी और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंको प्राप्त करनेकी योग्यता रूप आनुषंगिक फलकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं—

मिथ्यात्वप्रमुखद्विषद्बलमवस्कन्दाय दृप्यद्बलं,
रोद्धुं शुद्धसुदर्शनादिसुभटान् युञ्जन् यथास्वं सुधीः ।
दुष्कर्मप्रकृतीर्न दुर्गतिपरीवर्तैकपाकाः परं,
निःशेषाः प्रतिहन्ति हन्त कुरुते स्वं भोक्तुमुत्काः श्रियः ॥७३॥

अवस्कन्दाय—लक्षणया शुद्धात्मस्वरूपोपघाताय अतर्कितोपस्थितप्रपाताय च । दुष्कर्मप्रकृतीः—असद्वेद्यादीन् दुराचारानीत्यादीश्च । दुर्गतिः—नरकादिगति निर्द(निर्ध)नत्वं च ॥७३॥

अथ निर्जरानुप्रेक्षितुं तदनुग्रहं प्रकाशयन्नाह—

यः स्वस्याविश्य देशान् गुणविगुणतया भ्रश्यतः कर्मशत्रून्,
कालेनोपेक्षमाणः क्षयमवयवशः प्रापयंस्तप्तुकामान् ।
धीरस्तैस्तैरुपायैः प्रसभमनुव्रजत्यात्मसंपद्यजस्रं,
तं बाह्योकश्रियोऽङ्कं श्रितमपि रमयत्यान्तरश्रीः कटाक्षैः ॥७४॥

स्वस्य—स्वात्मनो नायकात्मनश्च । देशान्—चिदंशान् विषयांश्च । गुणाः—सम्यक्त्वादयः सन्धिविग्रहादयश्च । तेषां विगुणता पार्कया (?) प्रतिलोम्यं मिथ्यात्वादित्रयमुत्तरेषां च प्रयोगवैपरीत्यम् । अवयवशः—अशेन अंशेन । तप्तुकामान्—स्वफलदानोन्मुखान् उपद्रोतुमिच्छूंश्च । धीरः—योगीश्वर उदात्तनायकश्च । तैस्तैः—अनशनादितपोभिर्घाटकादिभिश्च । आत्मसंपदि—आत्मसंवित्तौ विजिगीषुगुणसामग्र्यां

शुद्ध आत्मस्वरूपका घात करनेके लिए मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपी शत्रुओंकी सेनाका हौसला बहुत बढ़ा हुआ है। उनको रोकनेके लिए जो विचारशील मुमुक्षु निरतिचार सम्यग्दर्शन आदि योद्धाओंको यथायोग्य नियुक्त करता है अर्थात् मिथ्यादर्शनको रोकनेके लिए सम्यग्दर्शनको, मिथ्याज्ञानको रोकनेके लिए सम्यग्ज्ञानको, अविरतिको रोकनेके लिए व्रतोंको, प्रमादको रोकनेके लिए उत्साहको, क्रोधके लिए क्षमाको, मानके लिए मार्दवको, मायाके लिए आर्जवको, लोभके लिए शौचको, राग-द्वेषके लिए समताको, मनोयोगके लिए मनोनिग्रहको, वचनयोगके लिए वचननिग्रहको, और काययोगके लिए कायनिग्रहको नियुक्त करता है, वह नारक, तिर्यंच, कुमानुष और कुदेव पर्यायोंमें भ्रमण करानेवाली समस्त असाता वेदनीय आदि पापकर्म प्रकृतियोंके बन्धको ही नहीं रोकता, किन्तु प्रसन्नताके साथ कहना पड़ता है कि देवेन्द्र-नरेन्द्र आदिकी विभूतियोंको अपने भोगके लिए उत्कण्ठित करता है। अर्थात् न चाहते हुए भी उस भाग्यशालीके पास इन्द्र आदिकी सम्पदा स्वयं आती है ॥७३॥

इस प्रकार संवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है।

अब निर्जराका विचार करनेके लिए उसके अनुग्रहको प्रकट करते हैं—

जो कर्मरूपी शत्रु सम्यक्त्व आदि गुणोंके मिथ्यात्व आदि परिणामरूप होनेसे आत्माके कर्मोंसे मलिन हुए अंशोंमें विशिष्ट शक्तिरूप परिणामसे स्थित होकर समयसे स्वयं पककर छूट जाते हैं उनकी जो उपेक्षा करता है, और जो कर्मशत्रु अपना फल देनेके उन्मुख हैं उनका अनशन आदि उपायोंके द्वारा बलपूर्वक अंश-अंश करके क्षय करता है, तथा परीषह उपसर्ग आदिसे न घबराकर निरन्तर आत्मसंवेदनमें लीन रहता है, तपके अतिशयकी ऋद्धिरूप बाह्य लक्ष्मीकी गोदमें बैठे हुए भी उस धीर मुमुक्षुको अनन्तज्ञानादिरूप अभ्यन्तर लक्ष्मी कटाक्षोंके द्वारा रमण कराती है ॥७४॥

च । वाहीकश्रियः—बाह्यलक्ष्म्यास्तपोतिशयर्द्धेः जनपदविभूतेश्च । आन्तरश्रोः—अनन्तज्ञानादिविभूतिः दुर्गमध्यगतसंपच्च । कटाक्षैः—अनुरागोद्रेकानुभावैः ॥७४॥

अथानादिप्रवृत्तबन्धसहभाविनिर्जरानुशयानुस्मरणपुरस्सरं संवरसहभाविनिर्जराप्रधानफलमात्मध्यानं प्रतिजानीते—

भोजं भोजमुपात्तमुज्झति मयि भ्रान्तेऽल्पशोऽनल्पशः,
स्वीकुर्वत्यपि कर्म नूतनमितः प्राक् को न कालो गतः ।
संप्रत्येष मनोऽनिशं प्रणिदधेऽध्यात्मं न विन्दन् बहि-
र्दुःखं येन निरास्रवः शमरसे मज्जन्भजे निर्जराम् ॥७५॥

भोजं भोजं—भुक्त्वा भुक्त्वा । भ्रान्ते—अनात्मीयातात्मभूतेष्वस्तिषु (?) ममाहमिति जायति सति । न विदन्—अचेतयमानः ॥७५॥

विशेषार्थ—कर्मबन्धका कारण है आत्माके सम्यक्त्व आदि गुणोंका मिथ्यात्व आदि रूपसे परिणमन, और इस परिणमनका कारण है कर्मबन्ध । बँधनेवाले कर्म आत्माके मलिन हुए अंशोंके साथ विशिष्ट शक्ति रूप परिणामसे स्थित होकर जब उनका स्थितिकाल पूरा होता है तो स्वयं झड़ जाते हैं । किन्तु जो कर्म अपना फल देनेके अभिमुख होते हैं, उनको तपके द्वारा निर्जीर्ण कर दिया जाता है । इस प्रकार संवरपूर्वक निर्जरा करनेवाला तथा आत्म-संवित्तिमें लीन मुमुक्षु शीघ्र ही मुक्ति लक्ष्मीका वरण करता है ॥७४॥

निर्जराके दो प्रकार हैं—एक बन्धके साथ होनेवाली निर्जरा और दूसरी संवरपूर्वक निर्जरा । पहली निर्जरा तो अनादि कालसे होती आती है अतः उसका पश्चात्तापपूर्वक स्मरण करते हुए संवरके साथ होनेवाली निर्जरा जिसका प्रधान फल है, उस आत्मध्यानकी प्रतिज्ञा करते हैं—

अनादि मिथ्यात्वके संस्कारवश शरीरको ही आत्मा मानते हुए मैंने संचित कर्मोंको भोग-भोगकर छोड़ा तो कम परिमाणमें, और नवीन कर्मोंका बन्ध किया बहुत अधिक परिमाणमें । ऐसा करते हुए इस वर्तमान समयसे पहले कितना काल नहीं बीता । अब स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष मैं (आत्मा) मनको आत्मामें ही लगाऊँगा, जिससे परीषह उपसर्गसे होनेवाले दुःखोंसे बेखबर होकर, अशुभ कर्मोंका संवर करके, प्रशमसुखमें निमग्न होकर एकदेश कर्मक्षयरूप निर्जराको कर सकूँ ॥७५॥

विशेषार्थ—अनादिकालसे कर्मबन्धपूर्वक निर्जरा तो होती ही है । जिन कर्मोंकी स्थिति पूरी हो जाती है वे अपना फल देकर झड़ जाते हैं । किन्तु उसके साथ ही जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उनसे बहुत अधिक कर्मोंका नवीन बन्ध भी होता है । इससे संसार-का अन्त नहीं आता । संवरपूर्वक जो निर्जरा होती है वही निर्जरा वस्तुतः निर्जरा है । ऐसी निर्जरा तप आदिके द्वारा ही होती है । तप करते हुए परीषह आदि आनेपर भी दुःखकी अनुभूति नहीं होती किन्तु आनन्दकी ही अनुभूति होती है और वह आनन्द कर्मोंको नष्ट करता है । कहा है—जब योगी प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहारसे रहित होकर आत्माके अनुष्ठान-में स्वरूपकी प्राप्तिमें लीन हो जाता है तब उसको परम समाधिरूप ध्यानसे किसी वचनातीत परमानन्दकी प्राप्ति होती है । यह आनन्द उस उग्र कर्मरूपी ईंधनको निरन्तर जलाता है । उस समय वह योगी बाह्य कारणोंसे होनेवाले कष्टोंके प्रति कुछ भी नहीं जानता । अतः वह उनसे खिन्न नहीं होता ।

अथ लोकालोकस्वरूपं निरूप्य तद्भावनापरस्य स्वात्मोपलब्धियोग्यतामुपदिशति—

जीवाद्यर्थचितो दिवर्धमुरजाकारस्त्रिवातीवृतः,
स्कन्धः खेऽतिमहाननादिनिधनो लोकः सदास्ते स्वयम् ।
नॄन् मध्येऽत्र सुरान् यथायथमधः श्वाभ्रांस्तिरश्चोऽभितः,
कर्मोर्वीश्वरुपप्लुतानधियतः सिद्ध्यै मनो धावति ॥७६॥

जीवाद्यर्थचितः—जीवपुद्गलधर्माधर्मकालैर्व्याप्तः । दिवर्धमुरजाकारः—अधोन्यस्तमृदङ्गोर्ध्वं मुखस्थापितोर्ध्वमृदङ्गसमसंस्थानः । इत्थं वा वेत्रासनमृदङ्गोच्चझल्लरीसदृशाकृतिः । अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च यथायोगमिति त्रिधा । त्रिवातीवृतः—त्रयाणां वाताना घनोदधि-घनवात-तनुवातसंज्ञाना भस्त्रा समाहारस्त्रिवाती । तया वृतो वृक्ष इव त्वक्त्रयेण वेष्टितः । स्कन्धः—समुदायरूपः ।

उक्तं च—

'समवाओ पंचण्हं समओ त्ति जिणुत्तमेहि पण्णत्तं ।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिदो अलोगो खं ॥' [पञ्चास्ति. गा. ३]

खे—अलोकाकाशे न वराहदंष्ट्रादौ । अनादिनिधनः—सृष्टिसंहाररहितः ।

उक्तं च—

'लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो ।
जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो ॥' [त्रिलो. सा. गा. ४]

इस तरह व्यवहारसे बाह्य होकर आत्मनिष्ठ होनेसे ही परमनिर्जरा होती है । परीषहोंको जीतनेपर ही यह कुशलमूला निर्जरा होती है । यह निर्जरा शुभानुबन्धा भी होती है और निरनुबन्धा भी होती है अर्थात् इसके साथ यदि बन्ध होता है तो शुभका बन्ध होता है या बन्ध बिलकुल ही नहीं होता । इस तरह निर्जराके गुण-दोषोंकी भावना करना निर्जरानुप्रेक्षा है । इसकी भावनासे चित्त निर्जराके लिए तत्पर होता है ॥७५॥

अब लोक और अलोकका स्वरूप बतलाकर लोकभावना भानेवालेके स्वात्माकी उपलब्धिकी योग्यता आती है, ऐसा उपदेश करते हैं—

यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंसे व्याप्त है । आधे मृदंगको नीचे रखकर उसके मुखपर पूरा मृदंग खड़ा करके रखनेसे जैसा आकार बनता है वैसा ही उसका आकार है । घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक तीन वातवलयोंसे वेष्टित है । द्रव्योंका समुदाय रूप है, अत्यन्त महान है, अनादिनिधन है तथा स्वयं अलोकाकाशके मध्यमें सदासे स्थित है । इसके मध्यमें मनुष्य, यथायोग्य स्थानोंमें देव, नीचे नारकी और सर्वत्र तिर्यंच निवास करते हैं । कर्मरूपी अग्निमें सदा जलनेवाले इन जीवोंका ध्यान करनेसे साधुका मन सिद्धिके लिए दौड़ता है ॥७६॥

विशेषार्थ—अनन्त आकाशके मध्यमें लोक स्थित है । जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जायें उसे लोक कहते हैं । वैसे आकाश द्रव्य सर्वव्यापी एक अखण्ड द्रव्य है । किन्तु उसके दो विभाग हो गये हैं । जितने आकाशमें जीव आदि पाँचों द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं और लोकके बाहरके अनन्त आकाशको अलोक कहते हैं । कहा है—जिनेन्द्रदेवने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशके समवायको समय कहा है । वही लोक है । उससे

---

१. ङ्गार्ध—भ. कु. च. ।

नृन् मध्ये—मनुष्यान् मानुषोत्तरापर्वतपर्यन्ते जम्बूद्वीप-लवणोद-धातकीखण्डद्वीप-कालोदसमुद्र-पुष्करवरद्वीपार्धरूपे मध्यदेशे। यथायथं—यथात्मीयस्थानम्। तत्र भवनवासिनां मुखे योजनशतानि विंशतिं[1] त्यक्त्वा खरभागे[2] पङ्कबहुलभागे त्वसुराणां राक्षसाना च स्थानानि। व्यन्तराणामधस्ताच्चित्रावज्रावनीसंधेरारभ्योपरिष्टान्मेरुं यावत्तिर्यक् च समन्तादास्पदानि। ज्योतिष्काणामतो भूमेर्नवत्यधिकसप्तशतयोजनान्याकाशे गत्वोर्द्ध्वं दशोत्तरशतयोजनावकाशे नभोदेशे तिर्यक् च घनोदधिवातवलयं यावद् विमानाधिष्ठानानि[3] विमानानि। वैमानिकाना पुनरुर्द्ध्वमृज्विमकादारभ्य सर्वार्थसिद्धि यावद् विमानपदानीति यथागमं विस्तरतश्चिन्त्यम्। अधः—अब्बहुलभागात् प्रभृति। अभितः—त्रसनाड्यां तथा बहिश्च। अधियतः—ध्यायतः। सिद्ध्यै—बहिः सिद्धिक्षेत्राय लोकाग्राय, अध्यात्मं च स्वात्मोपलब्धये ॥७६॥

बाहरका अनन्त आकाश अलोक है। और भी कहा है—यह लोक अकृत्रिम है, इसे किसीने बनाया नहीं है। स्वभावसे ही बना है। अतएव अनादिनिधन है, न उसका आदि है और न अन्त है। सदासे है और सदा रहेगा। इसमें जीव और अजीव द्रव्य भरे हुए हैं। यह समस्त आकाशका ही एक भाग है। इसका आकार आधे मृदंगके मुखपर पूरा मृदंग खड़ा करनेसे जैसा आकार बनता है वैसा ही है। या वेत्रासनके ऊपर झाँझ और झाँझपर मृदंग खड़ा करनेसे जैसा आकार बनता है वैसा है। वेत्रासनके आकारवाले नीचेके भागको अधोलोक कहते हैं उसमें नारकी जीवोंका निवास है। झाँझके आकारवाला मध्यलोक है। इसमें मनुष्योंका निवास है। पूर्ण मृदंगके आकार ऊर्ध्व लोक है इसमें देवोंका निवास है। यह लोक नीचेसे ऊपर तक चौदह राजु ऊँचा है। उत्तर-दक्षिणमें सर्वत्र इसकी मोटाई सात राजु है। पूरब पश्चिममें विस्तार लोकके नीचे सात राजू है। फिर दोनों ओरसे घटते हुए सात राजूकी ऊँचाईपर एक राजु विस्तार है। फिर दोनों ओरसे बढते हुए १०½ साढ़े दस राजूकी ऊँचाईपर पाँच राजू विस्तार है। फिर दोनों ओरसे घटते हुए १४ राजुकी ऊँचाई पर विस्तार एक राजु है। इस समस्त लोकका घनफल तीन सौ तेतालीस राजू है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सात राजूमें एक राजू जोड़कर आधा करनेसे ४ राजू आते हैं। उसे ऊँचाई ७ राजूसे गुणा करनेपर अधोलोकका क्षेत्रफल २८ आता है। तथा मृदंगके आकार ऊर्ध्वलोकका क्षेत्रफल इक्कीस राजू है जो इस प्रकार है—पाँच राजूमें एक राजू जोड़कर आधा करनेसे तीन राजू होते हैं। उसे ऊँचाई साढ़े तीन राजूसे गुणा करने पर साढ़े दस राजू होते हैं। यह आधे मृदंगाकारका क्षेत्रफल है। इसे दूना करनेसे इक्कीस राजू होते हैं। अट्ठाईसमें इक्कीस जोड़नेसे उनचास होते हैं। यह सम्पूर्ण लोकका क्षेत्रफल है। इसे लोककी मोटाई सात राजूसे गुणा करनेपर ४९ × ७ = ३४३ तीन सौ तेतालीस राजू घनफल आता है। यह लोक तीन वातवलयोंसे उसी तरह वेष्ठित है जैसे वृक्ष छालसे वेष्ठित होता है। इसीसे वातके साथ वलय शब्द लगा है। वलय गोलाकार चूड़ेको कहते हैं जो हाथमें पहननेपर हाथको सब ओरसे घेर लेता है। इसी तरह तीन प्रकारकी वायु लोकको सब ओरसे घेरे हुए है। उन्हींके आधार पर यह स्थिर है। इसे न शेषनाग उठाये हुए है और न यह सुअरकी दाढ़पर या गायके सींग पर टिका हुआ है। मध्यलोकके अन्तर्गत जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखण्ड

१. तिसृपर्यधश्चैकैकसहस्रं त्य—भ. कु. च.।
२. भागे नागादिनवानां कुमाराणां प—भ. कु. च.।
३. ष्ठानानि। वैमा—भ. कु. च.।

अथ सम्यग्लोकस्थितिभावनयाऽधिगतसंवेगस्य मुक्त्यर्थसामर्थ्यसमुद्भवं भावयति—

लोकस्थितिं मनसि भावयतो यथावद्
दुःखार्तदर्शनविजृम्भितजन्मभीतेः ।
सद्धर्मतत्फलविलोकनरञ्जितस्य
साधोः समुल्लसति कापि शिवाय शक्तिः ॥७७॥

स्थितिः—इत्थंभावनियमः । सद्धर्मः—शुद्धात्मानुभूतिः । तत्फलं—परमानन्दः ॥७७॥

अथ बोधिदुर्लभत्वं प्रणिधत्ते—

जातोऽत्रैकेन दीर्घं घनतमसि परं स्वानभिज्ञोऽभिजानन्
जातु द्वाभ्यां कदाचित्त्रिभिरहमसकृज्जातुचित्तैश्चतुर्भिः ।
श्रोत्रान्तैः कर्हिचिच्च क्वचिदपि मनसानेहसीवृङ्नरत्वं
प्राप्तो बोधिं कदार्यं तवलमिह यते रत्नवज्जन्मसिन्धौ ॥७८॥

द्वीप, कालोद समुद्र तथा अर्ध पुष्कर द्वीपमें मानुषोत्तर पर्यन्त मनुष्योंका निवास है। जिस पृथिवीपर हम निवास करते हैं उस रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग हैं। प्रथम खर भागमें नागकुमार आदि नौ प्रकारके भवनवासियोंका निवास है और पंक भागमें असुर कुमारोंका, राक्षसोंका आवास है। शेष व्यन्तर नीचे चित्रा और वज्रा पृथिवीकी सन्धिसे लेकर ऊपर सुमेरु पर्यन्त निवास करते हैं। इस भूमिसे ७९० योजन आकाशमें जानेपर ऊपर एक सौ दस योजन आकाशप्रदेशमें तथा तिर्यक् घनोदधिवातवलय पर्यन्त ज्योतिषी देवोंके विमान हैं। और वैमानिक देवोंके विमान ऊपर ऋजु नामक इन्द्रक विमानसे लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त हैं। नीचे प्रथम पृथिवीके अब्बहुल भागसे लेकर सातवीं पृथिवी पर्यन्त नारकियोंका निवास है। ये सभी जीव कर्मकी आगमें सदा जला करते हैं। इनका चिन्तन करनेसे साधुका मन संसारसे उद्विग्न होकर बाह्यमें लोकके अग्रभागमें स्थित मुक्तिस्थानको और अभ्यन्तरमें स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धिको प्राप्त करनेके लिए लालायित हो उठता है ॥७६॥

आगे कहते हैं कि जिस साधुको लोक भावनाके चिन्तनसे संवेग भावकी प्राप्ति होती है उसमें मुक्तिको प्राप्त करनेकी शक्ति प्रकट होती है—

जो साधु अपने मनमें सम्यक् रूपसे लोककी स्थितिका बार-बार चिन्तन करता है, और दुःखोंसे पीड़ित लोगोंको देखनेसे जिसे संसारसे भय हो जाता है तथा जो शुद्धात्मानुभूति रूप समीचीन धर्म और उसका फल परमानन्द देखकर उसमें अनुरक्त होता है उस साधुमें मोक्षकी प्राप्तिके लिए कोई अलौकिक शक्ति प्रकट होती है ॥७७॥

इस प्रकार लोकानुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है।

अब बोधिदुर्लभ भावनाका कथन करते हैं—

आत्मज्ञानसे विमुख हुआ मैं इस जगत्में बार-बार दीर्घ काल तक केवल एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा स्पर्श प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ मिथ्यात्वरूप गहन अन्धकारसे व्याप्त नित्यनिगोद आदिमें उत्पन्न हुआ। कभी दो इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श और रस प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ बारम्बार दोइन्द्रिय कृमि आदिमें दीर्घ काल तक जन्मा। कभी तीन इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श, रस और गन्ध प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ दीर्घ काल तक बार-बार चींटी आदिमें जन्मा। कभी चार इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श रस गन्ध और रूपवाले परद्रव्योंको जानता हुआ भौंरा आदिमें बार-बार दीर्घकाल तक जन्मा। कभी पाँच इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श-रस

एकेन, खैरिति स्पर्शनपरिणामेन, खेन—इन्द्रियेण स्पर्शनेन इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि नैयायिकसमयः। दीर्घं—चिरकालम्। घनतमसि—निबिडमोहे निगोदादिस्थाने जातोऽहमिति संबन्ध.। परं—परद्रव्यं स्पर्शप्रधानम्। स्वानभिज्ञो—आत्मज्ञानपराङ्मुखः। अभिजानन्—आभिमुख्येन परिछिन्दत्। द्वाभ्यां—स्पर्शनरसनाभ्याम्। परं—स्पर्शरसप्रधानम्। स्वानभिज्ञोऽभिजानन् कृम्यादिस्थाने दीर्घं जातोऽस्मीति संबन्ध.। एवं यथास्वमुत्तरत्रापि। त्रिभिः—स्पर्शनरसनघ्राणैः। चतुर्भिः—स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुभि.। अपि मनसा—मन षष्ठै पञ्चभिरिन्द्रियैरित्यर्थः। अनेहसि—काले। ईदृक्—सुजात्यादिसंपन्नम्। लब्धं (आपं)—लब्धवानहम्। इह—बोधौ ॥७८॥

अथ दुर्लभबोधिः (-धेः) प्रमादात् क्षणमपि प्रच्युतायास्तत्क्षणबद्धकर्मविपाकश्रमक्लेशसंक्लेशवेदनावशस्य पुनर्दुर्लभतरत्वं चिन्तयति—

दुष्प्रापं प्राप्य रत्नत्रयमखिलजगत्सारमुत्सारयेयं,
नोचेत् प्रज्ञापराधं क्षणमपि तदरं विप्रलब्धोऽक्षधूर्तैः।
तत्किंचित्कर्म कुर्यां यदनुभवभवत्क्लेशसंक्लेशसंविद्
बोधेर्विन्देय वार्तामपि न पुनरनुप्राणनास्याः कुतस्त्याः ॥७९॥

गन्ध-रूप और शब्द प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ दीर्घकाल तक बार-बार असंज्ञी पंचेन्द्रियोंमें जन्मा। कभी मनके साथ पाँच इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द तथा श्रुतके विषयभूत परद्रव्यको जानता हुआ बार-बार दीर्घकाल संज्ञी पंचेन्द्रियोंमें जन्मा। किन्तु इस प्रकारके जाति-कुल आदिसे सम्पन्न मनुष्यभवको पाकर मैंने कभी भी रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप बोधिको नहीं पाया। इसलिए जैसे कोई समुद्रके मध्यमें अत्यन्त दुर्लभ रत्नको पाकर उसके लिए अत्यन्त प्रयत्नशील होता है वैसे ही संसारमें अत्यन्त दुर्लभ बोधिको पाकर मैं उसीके लिए प्रयत्नशील होता हूँ ॥७८॥

विशेषार्थ—सारांश यह है कि संसार-भ्रमणका एकमात्र कारण अपने स्वरूपको न जानना है। आत्मज्ञान ही सम्यग् बोधि है। नरभव पाकर भी उसका प्राप्त होना दुर्लभ है अतः उसीके लिए प्रयत्नशील होनेकी आवश्यकता है। वह प्राप्त होनेसे रत्नत्रयकी प्राप्ति सुनिश्चित है। किन्तु उसके अभावमें रत्नत्रय हो नहीं सकता ॥७८॥

यदि प्राप्त दुर्लभ बोधि प्रमादवश एक क्षणके लिए भी छूट जाये तो उसी क्षणमें बँधे हुए कर्मोंका उदय आनेपर कष्टोंकी वेदनासे पीड़ित मेरे लिए बोधिकी प्राप्ति दुर्लभसे दुर्लभतर हो जाती है, ऐसा विचार करते हैं—

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय समस्त लोकमें उत्तम है। यह बड़े कष्टसे प्राप्त होता है। इसे प्राप्त करके एक क्षणके लिए भी यदि मैं अपने प्रमादपूर्ण आचरणको दूर न करूँ तो शीघ्र ही इन्द्रियरूपी धूर्तोंसे ठगा जाकर मैं कुछ ऐसा दारुण कर्म करूँगा जिस कर्मके उदयसे होनेवाले क्लेश और संक्लेशको भोगनेवाले मेरे लिए बोधिकी बात भी दुर्लभ है फिर उसकी पुनः प्राप्तिकी तो बात ही क्या है ? ॥७९॥

विशेषार्थ—रत्नत्रयकी प्राप्ति बड़े ही सौभाग्यसे होती है। अतः उसे पाकर सतत सावधान रहनेकी जरूरत है। एक क्षणका भी प्रमाद उसे हमसे दूर कर सकता है। और प्रमादकी सम्भावना इसलिए है कि मनुष्य पुराने संस्कारोंसे भ्रममें पड़ सकता है। कहा है—

---

१. -नामन्वविकृत्यः भ. कु. च.।

उत्सारयेयम्—दूरीकुर्यामहम् । प्रज्ञापराधं—प्रमादाचरणम् । उक्तं च—

'ज्ञात[1]मप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसंस्काराद् भ्रान्ति भूयोऽपि गच्छति ॥' [समाधि तन्त्र ४५]

क्लेशाः—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । संक्लेशाः—सुखदुःखोपभोगविकल्पाः । विन्देय—लभेय अहम् । अनुप्राणना—पुनरुज्जीव[2]नी । कुतस्त्या—कुतो भवा न कुतश्चित् प्राप्यत इत्यर्थः ॥७९॥

अथ केवलिप्रज्ञप्तत्रैलोक्यैकमङ्गललोकोत्तमस्य धर्मस्याविर्भावमाशंसति—

लोकालोके रविरिव करैरुल्लसन् सत्क्षमाद्यैः
खद्योतानामिव घनतमोद्योतिनां यः प्रभावम् ।
दोषोच्छेदप्रथितमहिमा हन्ति धर्मान्तराणां
स व्याख्यातः परमविशदख्यातिभिः ख्यातु धर्मः ॥८०॥

आत्मतत्त्वको जानकर भी और शरीरादिसे भिन्न उसका पुनः-पुनः चिन्तन करके भी पहले मिथ्या संस्कारोंसे पुनः भ्रममें पड़ जाता है । और यह क्षण-भरका प्रमाद इन्द्रियोंके चक्करमें डालकर मनुष्यको मार्गभ्रष्ट कर देता है । फलतः उस क्षणमें बँधे हुए कर्म जब उदयमें आते हैं तो मनुष्य क्लेश और संक्लेशसे पीड़ित हो उठता है । राग-द्वेषरूप भावोंको क्लेश कहते है और सुख-दुःखको भोगनेके विकल्पोंको संक्लेश कहते हैं । फिर तो मनुष्यके लिए बोधिकी प्राप्तिकी बात तो दूर उसका नाम भी सुनना नसीब नहीं होता । इस बोधिकी दुर्लभताका चित्रण करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक ९।७।९ में कहा है—एक निगोदिया जीवके शरीरमें सिद्ध राशिसे अनन्त गुणे जीवोंका निवास है । इस तरह समस्त लोक स्थावरकायिक जीवोंसे भरा हुआ है । अतः त्रसपना, पंचेन्द्रियपना, मनुष्यपर्याय, उत्तम देश, उत्तम कुल, इन्द्रिय सौष्ठव, आरोग्य और समीचीनधर्म ये उत्तरोत्तर बड़े कष्टसे मिलते हैं । इस तरह बड़े कष्टसे मिलनेवाले धर्मको पाकर भी विषयोंसे विरक्ति होना दुर्लभ है । विषयोंसे विरक्ति होनेपर तपकी भावना, धर्मकी प्रभावना, समाधिपूर्वक मरण दुर्लभ है । इस सबके होनेपर ही बोधिकी प्राप्ति सफल है ऐसा चिन्तन करना बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा है ॥७९॥

आगे केवलीके द्वारा कहे गये, तीनों लोकोंमें अद्वितीय मंगलरूप तथा सब लोकमें उत्तम धर्मके प्रकट होनेकी आशा करते हैं—

अपनी किरणोंसे सूर्यके समान उत्तम क्षमा आदिके साथ भव्य जीवोंकी अन्तर्दृष्टिमें प्रकाशमान होता हुआ जो गाढ़े अन्धकारमें चमकनेवाले जुगुनुओंकी तरह गहन मिथ्यात्वमें चमकनेवाले अन्य धर्मोंके प्रभावको नष्ट करता है, रागादि दोषोंका विनाश करनेके कारण जिसकी महिमा प्रसिद्ध है तथा जो समस्त विशेषोंको स्पष्ट प्रकाशन करनेवाले ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ देवके द्वारा व्यवहार और निश्चयसे कहा गया है वह वस्तुस्वभावरूप धर्म या चौदह मार्गणास्थानोंमें चौदह गुणस्थानोंका विचाररूप धर्म प्रकट होवे ॥८०॥

विशेषार्थ—सच्चा धर्म वही है जो राग-द्वेषसे रहित पूर्णज्ञानी सर्वज्ञके द्वारा कहा गया है । क्योंकि मनुष्य अज्ञानसे या राग-द्वेषसे असत्य बोलता है । जिसमें ये दोष नहीं हैं

---

१. जानन्नप्या—स. तं. ।
२. -वना भ. कु. च. ।

लोकालोके—भव्यजनान्तर्दृष्टौ चक्रवालगिरौ च । तमः—मिथ्यात्वमन्धकारश्च । धर्मान्तराणां—वेदाद्युक्तधर्माणाम् । स्वाख्यातः—सम्यगुक्तः । व्यवहारनिश्चयाभ्यां व्यवस्थापित इत्यर्थः । परमविशदख्यातिभिः—उत्कृष्टाशेषविशेषस्फुटप्रकाशनिष्ठज्ञानैः सर्वज्ञैरित्यर्थः । ख्यातु—प्रकटीभवतु । धर्मः—चतुर्दशगुणस्थानानां गत्यादिषु चतुर्दशमार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारणालक्षणो वस्तुयाथात्म्यरूपो वा ॥८०॥

अथाहिंसैकलक्षणस्य धर्मस्याक्षयसुखफलत्वं सुदुर्लभत्वं समग्रशब्दब्रह्मप्राणत्वं च प्रकाशयन्नाह—

सुखमचलमहिंसालक्षणादेव धर्माद्
भवति विधिरशेषोऽप्यस्य शेषोऽनुकल्पः ।
इह भवगहनेऽसावेव दूरं दुरापः
प्रवचनवचनानां जीवितं चायमेव ॥८१॥

विधिः—सत्यवचनादिः । अनुकल्पः—अनुगतं द्रव्यभावाभ्यामहिंसकत्वं कल्पयति समर्थयति । तदनुयायीत्यर्थः ॥८१॥

उसके असत्य बोलनेका कोई कारण नहीं है। वह धर्म निश्चय और व्यवहार रूपसे कहा जाता है, निश्चयसे वस्तुका जो स्वभाव है वही धर्म है। जैसे आत्माका चैतन्य स्वभाव ही उसका धर्म है। किन्तु संसार अवस्थामें वह चैतन्य-स्वभाव तिरोहित होकर गति इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओंमें चौदह गुणस्थानोंके द्वारा विभाजित होकर नाना रूप हो गया है। यद्यपि द्रव्य दृष्टिसे वह एक ही है। इसलिए चौदह मार्गणा-स्थानोंमें चौदह गुणस्थानोंके द्वारा जो उस स्वतत्त्वका विचार किया जाता है वह भी धर्म ही है। उसके बिना विविध अवस्थाओंमें जीवतत्त्वका परिज्ञान नहीं हो सकता। इसीसे भगवान् जिनेन्द्रदेवने जो धर्मोपदेश दिया है वह व्यवहार और निश्चयसे व्यवस्थापित है। इत्यादि रूपसे धर्मका चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है ॥८०॥

आगे कहते हैं कि धर्मका एकमात्र लक्षण अहिंसा है। इस अहिंसा धर्मका फल अविनाशी सुख है, किन्तु यह धर्म दुर्लभ है और समग्र परमागमका प्राण है—

धर्मका लक्षण अहिंसा है। अहिंसा धर्मसे ही अविनाशी सुखकी प्राप्ति होती है। बाकीकी सभी विधि इसीके समर्थनके लिए है। इस संसाररूपी घोर वनमें यह अहिंसारूप धर्म ही अत्यन्त दुर्लभ है। यही सिद्धान्तके वाक्योंका प्राण है ॥८१॥

विशेषार्थ—जिनागममें कहा है—राग आदिका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है। यह समस्त जिनागमका सार है। अहिंसाका यह स्वरूप बहुत ऊँचा है। लोकमें जो किसीके प्राण लेने या दुखानेको हिंसा और ऐसा न करनेको अहिंसा कहा जाता है वह तो उसका बहुत स्थूल रूप है। यथार्थमें तो जिन विकल्पोंसे आत्माके स्वभावका घात होता है वे सभी विकल्प हिंसा हैं और उन विकल्पोंसे शून्य निर्विकल्प अवस्था अहिंसा है। उस अवस्थामें पहुँचनेपर ही सच्चा स्थायी आत्मिक सुख मिलता है। यद्यपि उस अहिंसा तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जिनागमका सार यह अहिंसा ही है। आगममें अन्य जितने भी व्रतादि कहे हैं वे सब इस अहिंसाके ही पोषणके लिए कहे हैं। इसीसे जिस सत्य वचनसे दूसरेके प्राणोंका घात होता हो, उस सत्य वचनको भी हिंसा कहा है। ऐसा विचार करनेसे सदा धर्मसे अनुराग बना रहता है। इस प्रकार धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है ॥८१॥

अथानित्यताद्यनुप्रेक्षाणां यां कांचिदिष्टामनुध्याय निरुद्धेन्द्रियमनःप्रसरस्यात्मनात्मन्यात्मनः संवेदनात् कृतकृत्यतामापन्नस्य जीवन्मुक्तिपूर्विकां परममुक्तिप्राप्तिमुपदिशति—

इत्येतेषु द्विषेषु प्रवचनदृगनुप्रेक्षमाणोऽध्रुवादि-
ष्वद्धा यत्किंचिदन्तःकरणकरणजिद्वेत्ति यः स्वं स्वयं स्वे ।
उच्चैरुच्चैःपदाशाधरभवविधुराम्भोधिपाराप्तिराज-
त्कार्तार्थ्यः पूतकीर्तिः प्रतपति स परैः स्वैर्गुणैर्लोकमूर्ध्नि ॥८२॥

द्विषेषु—द्वादशसु । अनुप्रेक्ष्यमाणः—भावयन् । अध्रुवादिषु—अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वेषु । उच्चैरुच्चैःपदेषु—उन्नतोन्नतस्थानेषु नृपमहर्द्धिकदेवचक्रिसुरेन्द्राहमिन्द्रगणधरतीर्थंकरत्वलक्षणेषु । आशा—प्राप्त्यभिलाषः, तां धरति तया वा अधरो निन्द्यः शुभाशुभकर्मनिबन्धनत्वात् । कीर्त्यार्थ्या (कार्तार्थ्या)—कृतकृत्यता ।

उक्तं च—

'सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥' [पुरुषार्थ, श्लो ११]

कीर्ति.—वाक्यशःस्तुतिर्नाम वा । स्वैर्गुणैः—सम्यक्त्वादिभिरष्टभिः सिद्धगुणैः ।

अथ—

'अदुःखभावितं ज्ञानं हीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥' [समाधितं. १०२] ॥८२॥

आगे कहते हैं कि इन अनित्यता आदि अनुप्रेक्षाओंमें-से अपनेको प्रिय जिस किसी भी अनुप्रेक्षाका ध्यान करके जो साधु अपनी इन्द्रियों और मनके प्रसारको रोकता है तथा आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माका अनुभवन करके कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त करता है उसको प्रथम जीवन्मुक्ति, पश्चात् परममुक्ति प्राप्त होती है—

परमागम ही जिसके नेत्र हैं ऐसा जो मुमुक्षु अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्मस्वाख्यात तत्त्व इन बारह अनुप्रेक्षाओंमें-से यथारुचि किसी भी अनुप्रेक्षाका तत्त्वतः चिन्तन करता हुआ मन और इन्द्रियोंको वशमें करके आत्माको आत्मामें आत्माके द्वारा जानता है वह पूतकीर्ति अर्थात् पवित्र वाणी दिव्यध्वनिका धारी होकर राजा महर्द्धिक देव, चक्रवर्ती, सुरेन्द्र, अहमिन्द्र, गणधर, तीर्थंकर आदि ऊँचे-ऊँचे पदोंकी प्राप्तिकी अभिलाषाके कारण निन्दनीय संसारके दुःखसागरके पारको प्राप्त करके शोभमान कृतकृत्य होता है और लोकके मस्तकपर विराजमान होकर उत्कृष्ट आत्मिक गुणोंसे प्रदीप्त होता है ॥८२॥

विशेषार्थ—अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनसे मन एकाग्र होता है और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। मनके एकाग्र होनेसे स्व-संवेदनके द्वारा आत्माकी अनुभूति होती है। उसी आत्मानुभूतिके द्वारा जीवन्मुक्तदशा और अन्तमें परम मुक्ति प्राप्त होती है। उसी समय जीव कृतकृत्य कहलाता है। कहा है—जिस समय वह जीव समस्त विवर्तोंसे रहित निश्चल चैतन्यको प्राप्त करता है, सम्यक् पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति कर लेनेसे उस समय वह कृतकृत्य होता है। ऊपर ग्रन्थकार ने संसारको दुःखका समुद्र बतलाते हुए उसे इसलिए भी निन्द्य कहा है कि उसमें इन्द्र, अहमिन्द्र तथा तीर्थंकर आदि पदोंकी अभिलाषा लगी रहती है। ये पद शुभकर्मका बन्ध किये

इत्यभिप्रेत्य विशेषसंख्यागर्भं परीषहसामान्यलक्षणमाचक्षाणस्तज्जयाधिकारिणो निर्दिशति—

दुःखे भिक्षुरुपस्थिते शिवपथाद् भ्रश्यत्यदुःखश्रितात्
तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्धुं मुमुक्षुर्नवम्।
भोक्तुं च प्रतनं क्षुदादिवपुषो द्वाविंशति वेदनाः
स्वस्थो यत्सहते परीषहजयः साध्यः स धीरैः परम् ॥८३॥

तन्मार्गः—शिवपथप्राप्त्युपायः सद्ध्यानमिति यावत्। उक्त च—

'परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥' [इष्टोप २४]

प्रतनं—पुराणम्। क्षुदादिवपुषः—क्षुत्पिपासादंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनस्वभावा। वेदना—वेद्यन्तेऽनुभूयन्तेऽसद्वेद्योदयादिकर्मोदयपरतन्त्रैः प्राणिभिरिति वेदना अन्तर्बहिर्द्रव्यपरिणामाः शारीरमानसप्रकृष्टपीडाहेतवः। स्वस्थः—स्वस्मिन् कर्मविविक्ते आत्मनि तिष्ठन्। सहते—संक्लेशं दैन्य च विनाऽनुभवति। परीषहजय। अस्य संयमतपोविशेषत्वादिहोपदेश.। उक्त च—

'परिषोढव्या नित्यं दर्शनचारित्ररक्षणे नियता.।
सयमतपोविशेषास्तदेकदेशा. परीषहाख्याः स्यु॥' [ ] ॥८३॥

बिना मिलते नहीं हैं और बन्ध तो दुःखका ही कारण होता है। अतः इन पदोंकी आशा न रखनेवाला ही उस सर्वोच्च मुक्ति पदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥८२॥

आचार्य पूज्यपादने कहा है—दुःखोंका अनुभव किये बिना प्राप्त किया गया ज्ञान दुःख पड़नेपर नष्ट हो जाता है। इसलिए मुनिको शक्तिके अनुसार दुःखोंके साथ आत्माकी भावना करना चाहिए अर्थात् आत्मानुभवनके साथ दु.खोंको सहनेकी शक्ति भी होना चाहिए।

इसी अभिप्रायसे परीषहोंकी संख्याके साथ परीषह सामान्यका लक्षण कहते हुए ग्रन्थकार 'उसको जीतनेका अधिकारी कौन है' यह बतलाते हैं—

जिस साधुने सुखपूर्वक मोक्षमार्गकी साधना की है, दु.ख उपस्थित होनेपर वह साधु मोक्षमार्गसे च्युत हो जाता है। इसलिए मोक्षका मार्ग स्वीकार करनेपर नवीन कर्मबन्धको रोकनेके लिए और पुराने कर्मोंकी निर्जराके लिए भूख-प्यास आदि बाईस वेदनाओंको आत्मस्थ साधु जो सहता है उसे परीषहजय कहते हैं। वह परीषहजय केवल धीर वीर पुरुषोंके द्वारा ही साध्य है कायर उसे नहीं सह सकते ॥८३॥

विशेषार्थ—साधुको मोक्षमार्गकी साधना करते समय अचानक जो कष्ट उपस्थित हो जाते हैं उन्हें परीषह कहते है। उनको जीतना अर्थात् उन कष्टोंसे खेदखिन्न न होकर शान्त भावसे उन्हें सहना परीपहजय है। उन्हें वही साधु सह सकता है जिसे कष्टोंको सहनेका अभ्यास है। जिन्हें अभ्यास नहीं है वे सहन न कर सकनेसे मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं। इसीके लिए अनशन, कायक्लेश आदि तप बतलाये हैं। अतः परीषह भी संयम और तपका ही अंग है। इसीसे यहाँ उसका उपदेश किया जाता है। परीषहको जीतनेसे अन्य लाभ यह है कि नवीन कर्मोंका बन्ध रुकता है और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है। कहा है—भूख आदिकी वेदनाका अनुभव न करनेसे तथा आत्मामें आत्माका उपयोग लगानेसे शुभ-अशुभ कर्मोंकी संवरपूर्वक शीघ्र निर्जरा होती है ॥८३॥

अथ बालव्युत्पत्त्यर्थं पुनस्तत्सामान्यलक्षणं प्रपञ्चयति—

शारीरमानसोत्कृष्टबाधहेतून् क्षुदादिकान् ।
प्राहुरन्तर्बहिर्द्रव्य-परिणामान् परीषहान् ॥८४॥

अन्तरित्यादि । क्षुदादयोऽन्तर्द्रव्यपरिणामाः शीतोष्णादयो बहिर्द्रव्यपरिणामा इति यथासंभवं योज्यम् ॥८४॥

अथ कालत्रयेऽपि कार्यारम्भस्य सर्वेषां सप्रत्यवायत्वाद् विघ्नोपनिपातेऽपि श्रेयोऽर्थिभि प्रारब्धश्रेयोमार्गान्नोपसर्तव्यमिति शिक्षार्थमाह—

स कोऽपि किल नेहाभून्नास्ति नो वा भविष्यति ।
यस्य कार्यमविघ्नं स्यान्न्यक्कार्यो हि विधेः पुमान् ॥८५॥

किल—शास्त्रे लोके च श्रूयते । शास्त्रे यथा—'स किं कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य निष्प्रत्यवाय कार्यारम्भः' इति ।

लोके यथा—श्रेयांसि बहुविघ्नानीत्यादि । न्यक्कार्यः—अभिभवनीय । ततो विघ्ननिघ्नीभूय प्रेक्षापूर्वकारिभि न जातु प्रारब्धं श्रेयः साधनमुज्झितव्यम् । यद्बाह्या अप्याहुः—

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या. ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥'
[नीतिशतक ७२] ॥८५॥

अल्प बुद्धिवालोंको समझानेके लिए परीषहका सामान्य लक्षण फिरसे कहते हैं—

अन्तर्द्रव्य जीवके और बहिर्द्रव्य पुद्गलके परिणाम भूख आदिको, जो शारीरिक और मानसिक उत्कृष्ट पीडाके कारण हैं, उन्हें आचार्य परीषह कहते हैं ॥८४॥

विशेषार्थ—परीषह जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं जो जीवकी शारीरिक और मानसिक पीड़ाके कारण है। जैसे भूख और प्यास जीवके परिणाम हैं और सर्दी-गर्मी पुद्गलके परिणाम हैं। इसी तरह अन्य परीषहोंके सम्बन्धमें भी जान लेना चाहिए। ये जीवको दुःखदायक होते हैं। इन्हें ही परीषह कहते हैं ॥८४॥

आगे शिक्षा देते है कि सदा ही कार्य प्रारम्भ करनेपर सभीको विघ्न आते हैं। इसलिए विघ्न आनेपर भी कल्याणके इच्छुक मनुष्योंको प्रारम्भ किये गये कल्याण-मार्गसे हटना नहीं चाहिए—

तीनों लोकोंमें ऐसा कोई भी न हुआ, न है और न होगा, जिसके कार्यमें विघ्न न आये हों और कार्य निर्विघ्न हुआ हो। क्योंकि दैव पुरुषका तिरस्कार किया ही करता है ॥८५॥

विशेषार्थ—शास्त्रमें और लोकमें भी ऐसा ही सुना जाता है। शास्त्रमें कहा[1] है—

इस लोकमें क्या कोई भी ऐसा मनुष्य हुआ, या है, या होगा जिसके कार्यके आरम्भ में विघ्न न आये हों।

लोकमें भी सुना जाता[2] है—

---

१. 'स किं कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा बन्धयस्याप्रत्यवायः कार्यारम्भः ।'
२. 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।'

अथ क्लेशायासाभ्यां विह्वलीभवतो लोकद्वयेऽपि स्वार्थभ्रंशः स्यादिति भीतिमुद्भावयन्नाह—

विप्लवप्रकृतिर्यः स्यात् क्लेशाद्वायासतोऽथवा।
सिद्धस्तस्यात्रिकध्वंसादेवामुत्रिकविप्लवः ॥८६॥

क्लेशात्—व्याध्यादिबाधातः। आयासतः—प्रारब्धकर्मश्रमात्। सिद्धः—निश्चितो निष्पन्नो वा। आत्रिकध्वंसात्—इह लोके प्राप्याभीष्टफलस्य कर्मारम्भस्य परलोकफलार्थस्य वा तस्य विनाशात् ॥८६॥

अथ भृशं पौनःपुन्येन वाप्युपसर्पद्भिः परीषहोपसर्गैरविक्षिप्यमाणचित्तस्य निश्रेयसपदप्राप्तिमुपदिशति—

क्रियासमभिहारेणाप्यापतद्भिः परीषहैः।
क्षोभ्यते नोपसर्गैर्वा योऽपवर्गं स गच्छति ॥८७॥

उपसर्गैः—सुरनरतिर्यगचेतननिमित्तकैरसह्यपीडाविशेषैः ॥८७॥

अथ प्रागेवाभ्यस्तसमस्तपरीषहजयस्य महासत्त्वस्य क्रमक्षपितघात्यघातिकर्मणो लोकाग्रचूडामणित्वमुद्गृणाति[1]—

बड़े पुरुषोंके भी शुभकार्यमे बहुत विघ्न आते है। किन्तु विघ्नोंसे डरकर कार्यको नहीं छोड़ना चाहिए। किसीने कहा[2] है—

'नीच पुरुष तो विघ्नोंके भयसे कोई कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम पुरुष कार्यको प्रारम्भ करके विघ्न आनेपर छोड़ बैठते है। किन्तु उत्तम पुरुष विघ्नोंसे बारम्बार सताये जानेपर भी प्रारम्भ किये हुए कार्यको नहीं छोड़ते।'

अतः मोक्षके मार्गमें लगनेपर परीषहोंसे घबराकर उसे छोड़ना नहीं चाहिए ॥८५॥

जो साधु कष्टों और श्रमसे व्याकुल हो उठता है उसका यह लोक और परलोक दोनों ही नष्ट होते है, ऐसा कहते है—

जो मनुष्य व्याधि आदिकी बाधासे अथवा प्रारम्भ किये हुए कार्यके श्रमसे घबरा जाता है उसका इस लोक सम्बन्धी कार्यका विनाश होनेसे परलोक सम्बन्धी कार्यका विनाश तो सुनिश्चित ही है। अर्थात् इस लोकमें यदि कल्याण मार्गमें सफल होता तो परलोकमे भी अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती। जब इसी लोकमे कुछ नही कर सका तो परलोकमें किसका फल भोगेगा ॥८६॥

जिस साधुका मन बारम्बार आनेवाले तीव्र परीषहों और उपसर्गोंसे भी विचलित नहीं होता उसे ही मोक्षकी प्राप्ति होनेका उपदेश देते हैं—

अधिक रूपमें और बार-बार आ पड़नेवाले भूख-प्यास आदिकी परीषहोंसे तथा देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन पदार्थके निमित्तसे होनेवाले उपसर्गोंसे जो साधु घबराता नहीं है वही मोक्षको जाता है ॥८७॥

आगे कहते हैं कि जिसने पहलेसे ही समस्त परीषहोंको जीतनेका अभ्यास किया है वह धीर-वीर पुरुष ही क्रमसे घाति और अघाति कर्मोंका क्षय करके लोकके अग्र भागमें विराजमान होता है—

---

१. -द्‌वृणा—भ. कु. च.।

२. 'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति' ॥—नीति शतक, ७२ श्लोक.

सोढाशेषपरीषहोऽक्षतशिवोत्साहः सुदृग्वृत्तभाग्
मोहांशक्षपणोल्वणीकृतबलो निस्साम्परायं स्फुरन् ।
शुक्लध्यानकुठारकृत्तबलवत्कर्मद्रुमूलोऽपरं
ना प्रस्फोटितपक्षरेणुखगवद्यात्यूर्ध्वमस्त्वा रजः ॥८८॥

अक्षतशिवोत्साहः—अप्रमत्तसंयत इत्यर्थः । तल्लक्षणं यथा—

'णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलेहि मंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो ॥' [गो जी , गा. ४६]

सुदृग्वृत्तभाक्—क्षपकश्रेण्यारोहणोन्मुख इत्यर्थः । मोहांशेत्यादि—अपूर्वकरणादिगुणस्थानवर्तीत्यर्थः । नि सांपरायं स्फुरन्—लोभाभावेन द्योतमानः क्षीणमोह इत्यर्थः । शुक्लध्यानं—एकत्ववितर्कवीचाराख्यमत्र । बलवत्कर्माणि—ज्ञानदर्शनावरणान्तरायसंज्ञानि । अपरं—वेद्यायुर्नामगोत्ररूपमघातिकर्म । ना—द्रव्यतः पुमानेव । अस्त्वा—क्षिप्त्वा । रजोरेणुरिव—स्वरूपोपघातपरिहारेणैवोपश्लेषावस्थानात् ॥८८॥

जिसने सब परीषहोंको सहन करनेकी क्षमता प्राप्त की है, अर्थात् जो सब परीषहोंसे अभिभूत नहीं होता, जिसका मोक्षके प्रति उत्साह प्रतिक्षण बढ़ता हुआ है, जो क्षायिक सम्यक्त्व और सामायिक आदि चारित्रमें-से किसी एक चारित्रका आराधक है, चारित्र मोह के एकदेशका क्षय करनेसे जिसका बल बढ़ गया है, जो लोभका अभाव हो जानेसे प्रकाशमान है, जिसने शुक्लध्यानरूपी कुठारसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय जैसे बलवान् घातिकर्मरूपी वृक्षकी जड़को काट दिया है, ऐसा पुरुष ही वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र नामक अघाति कर्मरूपी रजको दूर करके जिसने अपने पंखोंपर पड़ी हुई धूलको झाड़ दिया है उस पक्षीकी तरह ऊपर लोकके अग्रभागमें जाता है ॥८८॥

विशेषार्थ—पहले दो विशेषणोंसे यहाँ अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण किया है। उसका लक्षण इस प्रकार है—'जिसके सब प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलसे शोभित है, ज्ञानी है, अभी न उपशमक है और न क्षपक है, मात्र ध्यानमें लीन है उसे अप्रमत्त संयत कहते हैं।'

सातवें गुणस्थानसे आगे उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि शुरू होती है। क्षपक श्रेणिपर चढ़नेवाला ही मोक्ष जाता है। उसके क्षायिक सम्यक्त्व होता है और सामायिक या छेदोपस्थापना चारित्र होता है। अतः तीसरे विशेषणसे उस अप्रमत्त संयतको क्षपक श्रेणिपर चढ़नेके लिए उद्यत लेना चाहिए। चतुर्थ विशेषणसे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्ती लेना चाहिए क्योंकि अप्रमत्त संयत मुनि क्षपकश्रेणिपर चढ़ते हुए क्रमशः आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें जाता है और फिर दसवेंके अन्तमें सूक्ष्म लोभ कषायका क्षय करके क्षीणमोह हो जाता है। अपूर्व करण आदि तीन गुणस्थानोंमें पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक पहला शुक्लध्यान होता है। बारहवें क्षीण मोह नामक गुणस्थानमें एकत्ववितर्कअवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यानके द्वारा शेष तीन घातिकर्मोंका क्षय करके जीवन्मुक्त सयोगकेवली हो जाता है।

चौदहवें गुणस्थानमें व्युपरत क्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानके द्वारा शेष अघाति कर्मोंको नष्ट करके मुक्त हो जाता है। यहाँ अघाति कर्मोंको रज अर्थात् धूल शब्दसे कहा है क्योंकि वे जीवके स्वरूपको न घातते हुए ही जीवसे सम्बद्ध रहते हैं ॥८८॥

अथ क्षुत्परीषहविजयविधानार्थमाह—

षट्कर्मीपरमादृतेरनशनाद्याप्तकृशिम्नोऽशन-
स्यालाभाच्चिरमप्यरं क्षुदनले भिक्षोर्दिधक्षत्यसून् ।
कारापञ्जरनारकेषु परवान् योऽभुक्षि तीव्राः क्षुध
का तस्यात्मवतोऽद्य मे क्षुदियमित्युज्जीव्यमोजो मुहुः ॥८९॥

षट्कर्मी—षडावश्यकक्रियाः । दिधिक्षति—दग्धु प्रवृत्त इत्यर्थ. ।

यद्वैद्या —

'आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः पचति ।
दोषक्षये च धातून् पचति च धातुक्षये प्राणान् ॥' [ ]

कारा—वन्दिकुटी । मनुष्यं प्रत्येषा । शेषौ तैर्यग्नैरयिकौ प्रति । परवान्—परायत्तः । अभुक्षि—अन्वभूवमहम् । आत्मवत—आत्मायत्तस्य । उज्जीव्यं—उद्दीप्यम् । ओजः—उत्साहो धातुतेजो वा ॥८९॥

अथ तृष्णापरीषहतिरस्कारार्थमाह—

पक्षीवानियतासनोदवसितः स्नानाद्यपासी यथा-
लब्धाशी क्षपणाध्वपित्तकृदवष्वाणज्वरोष्णादिजाम् ।
तृष्णां निष्कुषिताम्बरीशदहनां देहेन्द्रियोन्माथिनीं
सन्तोषोद्धकरीरपूरितवरध्यानाम्बुपानाज्जयेत् ॥९०॥

उदवसितं—गृहम् । स्नानाद्यपासी—अभिषेकावगाहपरिषेकशिरोलेपाद्युपचारपरिहारी । यथालब्धाशी—यथाप्राप्ताशनव्रतः । क्षपणं—उपवास. । अध्वा—मार्गचलनम् । पित्तकृदवष्वापा:—पित्तकराहार. कट्वम्ललवणादि । उष्ण.—ग्रीष्म. । आदिशब्दात् मरुदेशादि । निष्कुषिताम्बरीषदहनां—निर्जितभ्राष्ट्राग्निम् । उद्घकरीरः—माघमासिकाभिनवघट ॥९०॥

अब पहले विशेषणको स्पष्ट करनेकी भावनासे क्षुधापरीषहको जीतनेका कथन करते है—

छह आवश्यक कियाओंमें परम आदर भाव रखनेवाले और अनशन आदि तपोंको करनेसे कृशताको प्राप्त मुनिको बहुत काल तक भी भोजनके न मिलनेसे भूखकी ज्वाला यदि प्राणोंको जलाने लगे तो भिक्षुको बारम्बार इस प्रकारके विचारोंसे अपने उत्साहको बढाना चाहिए कि मैने मनुष्य पर्यायमें जेलखानेमे, पक्षीपर्यायमे पीजरेमें और नारक पर्यायमें पराधीन होकर जो तीव्र भूखकी वेदना सही है आज स्वाधीन अवस्थामें उसके सामने यह भूखकी वेदना कुछ भी नहीं है ॥८९॥

प्यासकी परीषहका तिरस्कार करते हैं—

पक्षीके समान साधुजनोंका न कोई नियत स्थान है न निवास है, स्नान आदि भी वे नहीं करते । श्रावकोंसे जैसा भोजन प्राप्त है खा लेते हैं । उन्हें उपवाससे, मार्गमें चलनेसे, कडुआ, खट्टा, नमकीन आदि पित्तवर्धक आहारसे, ज्वरसे या गर्मी आदिसे उत्पन्न हुई, भाडकी आगको भी जीतनेवाली और शरीर तथा इन्द्रियोंको मथनेवाली प्यास सतावे तो सन्तोषरूपी माघ मासके नये घटमें भरे हुए उत्कृष्ट ध्यानरूपी जलके पानसे जीतना चाहिए ॥९०॥

अथ शीतपरीषहनिग्रहोपायमाह—

विष्वक्चारिमरुच्चतुष्पथमितो धृत्येकवासाः पत-
त्यन्वङ्गं निशि काष्ठदाहिनि हिमे भावांस्तदुच्छेदिनः ।
अध्यायन्नधियन्नधोगतिहिमान्यर्तीर्दुरन्तास्तपो-
बर्हिस्तप्तनिजात्मगर्भगृहसंचारी मुनिर्मोदते ॥९१॥

अन्वङ्गं—अङ्गमङ्गं प्रति । तदुच्छेदिनः—पूर्वानुभूतान् शीतापनोदिनो गर्भगृहदीप्ताङ्गार-गन्ध-तैल-कुङ्कुमादीन् । अधोगतिहिमान्यर्तीः—नरकमहाशीतदुःखानि । दुरन्ताः—चिरकालभावित्वात् । बर्हिः—अग्निः ॥९१॥

अथोष्णपरीषहपरिसहनमाह—

अनियतविहृतिर्वनं तदात्वज्वलदनलान्तमितः प्रवृद्धशोषः ।
तपतपनकरालिताध्वखिन्नः स्मृतनरकोष्णमहार्तिरुष्णसाट् स्यात् ॥९२॥

तदात्वज्वलदनलान्तं—प्रवेशक्षण एव दीप्यमानोऽग्निःपर्यन्तेषु यस्य । शोषैः—सौम्यधातुक्षयो मुखशोषश्च । तपतपनः—ग्रीष्मादित्य. । स्मृतेत्यादि—नरकेऽत्यत्युष्णशीते यथा—

'षष्ठसप्तमयोः शीतं शीतोष्णं पञ्चमे स्मृतम् ।
चतुर्ष्वत्युष्णमाद्येषु नरकेष्विति भूगुणाः ॥' [वरागच. ५।२०]

इति चतसृषु भूषु पञ्चम्याश्च त्रिषु चतुर्भागेषूष्णनरकाणि ८२२५००० । शीतनरकाणि शेषाणि १७५००० । उष्णसाट्—उष्णं सहते विच् क्विपि प्राग्दीर्घः स्यात् ॥९२॥

अथ दंशमशकसहनमाह—

दंशादिदंशककृतां बाधामघजिघांसया ।
निःक्षोभं सहतो दंशमशकोर्मीक्षमा मुनेः ॥९३॥

दंशादि—आदिशब्दान्मशक-मक्षिका-पिशुक-पुत्तिका-मत्कुण-कीट-पिपीलिका वृश्चिकादयो ग्राह्याः । 'काकेभ्यो रक्ष्यता सर्पिः' इत्यादिवत् । दंशकप्राण्युपलक्षणार्थत्वात् दंशमशकोभयग्रहणस्य ॥९३॥

आगे शीतपरीषहको जीतनेका उपाय कहते हैं—

जहाँ चारों ओरसे हवा बहती है ऐसे चौराहेपर मुनि स्थित हैं, केवल सन्तोषरूपी वस्त्र धारण किये हुए हैं, रातका समय है, काष्ठको भी जला डालनेवाला हिम अंग-अंगपर गिर रहा है। फिर भी शीतको दूर करनेवाले पूर्वानुभूत अग्नि, गर्म वस्त्र आदिका स्मरण भी नहीं करते। चिरकाल तक नरकमें भोगी हुई शीतकी वेदनाका स्मरण करते हैं और तपरूपी अग्निसे तप्त अपने आत्मारूपी गृहमें निवास करते हुए आनन्दका अनुभव करते हैं ॥९१॥

उष्णपरीषहके सहनका कथन करते हैं—

अनियतविहारी और ग्रीष्मकालके सूर्यसे तपते हुए मार्गमें चलनेसे खिन्न साधु जैसे ही वनमें प्रवेश करते हैं वैसे ही वनमें आग लग जाती है, मुख सूख गया है। ऐसे साधु नरकोंमें उष्णताकी महावेदनाका स्मरण करते हुए उष्णपरीषहको सहते हैं ॥९२॥

दंशमशकपरीषहके सहनका कथन करते हैं—

डाँस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, खटमल, चींटी, बिच्छू आदि जितने डँसनेवाले क्षुद्र जन्तु हैं उनके काटनेकी पीड़ाको अशुभ कर्मके उदयको नष्ट करनेकी इच्छासे निश्चल चित्त होकर सहनेवाले मुनिके दंशमशकपरीषह सहन होता है ॥९३॥

अथ निर्जितनाग्न्यपरीषहमृषिं लक्षयति—

निर्ग्रन्थनिर्भूषणविश्वपूज्यनाग्न्यव्रतो दोषयितुं प्रवृत्ते ।
चित्तं निमित्ते प्रबलेऽपि यो न स्पृश्येत् दोषैर्जितनाग्न्यरुक् सः ॥९४॥

निर्ग्रन्थेत्यादि । उक्तं च—

'वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं ।
णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पुज्जं ॥' [मूलाचार गा. ३०]

दोषयितुं—विकृतिं नेतुम् । निमित्ते—वामदृष्टिशापाकर्णनकामिन्यालोकनादौ ॥९४॥

अथा

लोकापवादभयसद्व्रतरक्षणाक्ष-
रोधक्षुदादिभिरसह्यमुदीर्यमाणाम् ।
स्वात्मोन्मुखो धृतिविशेषहृतेन्द्रियार्थ-
तृष्णः शृणात्वरतिमाश्रितसंयमश्रीः ॥९५॥

लोकेत्यादि । यद्बाह्या अप्याहुः—

'सन्तः सच्चरितोदयव्यसनिनः प्रादुर्भवद्यन्त्रणाः
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युत्पन्नमतिः कृतेन न सता नैवासनाप्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥' [ ]

अपि च—

'विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥' [ ]

शृणातु—हिनस्तु ॥९५॥

नाग्न्यपरीषहको सहनेवाले साधुका स्वरूप कहते हैं—

वस्त्रादिसे रहित, भूषण आदिसे रहित तथा विश्वपूज्य नाग्न्य व्रतको स्वीकार करनेवाला जो साधु चित्तको दूषित करनेके लिए प्रबल निमित्त कामिनी आदिका अवलोकन आदि उपस्थित होनेपर भी दोषोंसे लिप्त नहीं होता वह नाग्न्यपरीषहको जीतनेवाला है ॥९४॥

अरतिपरीषहजयको कहते हैं—

संयमरूपी सम्पदाको स्वीकार करनेवाले और विशिष्ट सन्तोषके द्वारा विषयोंकी अभिलाषाको दूर करनेवाले तथा आत्मस्वरूपकी ओर अभिमुख साधु लोकापवादका भय, सद्व्रतकी रक्षा, इन्द्रियोंका जय तथा भूख आदिकी वेदनासे उत्पन्न हुई दुःसह अरतिको दूर करे ॥९५॥

विशेषार्थ—संयम एक कठोर साधना है, उसमें पद-पदपर लोकापवादका भय रहता है, व्रतोंकी रक्षाका महान् उत्तरदायित्व तो रहता ही है सबसे कठिन है इन्द्रियोंको जीतना ।

---

१. दयादन्यो भ. कु. च. ।

अथ स्त्रीपरीषहसहनमुपदिशति—

राागाद्युपप्लुतमतिं युवतीं विचित्रां-
श्चित्तं विकर्तुमनुकूलविकूलभावान् ।
संतन्वतीं रहसि कूर्मवदिन्द्रियाणि
संवृत्य लघ्वपवदेत गुरुक्तियुक्त्या ॥९६॥

रागाद्युपप्लुतमतिः—रागद्वेषयौवनदर्परूपमदविभ्रमोन्मादमद्यपानावेशाद्युपहतबुद्धिः । विकर्तुं—दूषयितुम् । अनुकूलाः—लिङ्गहर्षणालिङ्गनजघनप्रकाशनभ्रूविभ्रमादय. । विकूलाः—लिङ्गकदर्थनापहसनताडनावघट्टनादयः । संतन्वन्ती—सातत्येन कुर्वन्ती । संवृत्य—अन्तः प्रविश्य । अपवदेत्—निराकुर्यात् । गुरूक्तियुक्त्या—गुरुवचनप्रणिधानेन ॥९६॥

अथ चर्यापरीषहसहनमन्वाचष्टे—

बिभ्यद्भवाच्चिरमुपास्य गुरून्निरूढ-
ब्रह्मव्रतश्रुतशमस्तदनुज्ञयैकः ।
क्षोणीमटन् गुणरसादपि कण्टकादि-
कष्टे सहत्यनधियन् शिबिकादि चर्याम् ॥९७॥

निरूढाः—प्रकर्षं प्राप्ताः । एकः—असहायः । अटन्—ग्रामे एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं प्रकर्षेणावस्थातव्यमित्यास्थाय विहरन् । गुणरसान्—संवेगसंयमादिगुणान् । रागान् (?) । कण्टकादि—आदिशब्देन परुषशर्करा-मृत्कण्टकादिपरिग्रहः । शिबिकादि—पूर्वानुभूतयानवाहनादिगमनम् ॥९७॥

ऊपरसे भूख-प्यासकी वेदना आदिसे साधुको संयमसे विराग पैदा होता है । किन्तु धीर-वीर संयमी साधु उसे रोकता है ।

यहाँ कहा जा सकता है कि इस परीषहको अलगसे क्यों गिनाया, क्योंकि भूख-प्यास आदि सभी परीषह अरतिकी कारण है । इसका समाधान यह है कि कभी-कभी भूख-प्यासका कष्ट न होनेपर भी अशुभ कर्मके उदयसे संयमसे अरति होती है उसीको रोकनेके लिए इसका पृथक् कथन किया है ॥९५॥

आगे स्त्रीपरीषह सहनेका उपदेश देते हैं—

राग-द्वेष, यौवनका मद, रूपका घमण्ड, विलास, उन्माद या मद्यपानके प्रभावसे जिसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है, ऐसी युवती स्त्री यदि एकान्तमें साधुके चित्तको विकारयुक्त करनेके लिए नाना प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल भावोंको बराबर करती रहे अर्थात् कभी आलिंगन करे, अपने अंगोंका प्रदर्शन करे, हँसे, साधुके शरीरको पीड़ा दे, तो साधुको कछुएकी तरह अपनी इन्द्रियोंको संकुचित करके गुरुके द्वारा बतलायी गयी युक्तिसे शीघ्र ही उसका निराकरण करना चाहिए ॥९६॥

अब चर्या परीषहको सहनेका कथन करते हैं—

संसारसे भयभीत साधु चिरकाल तक गुरुओंकी उपासना करके ब्रह्मचर्य व्रत, शास्त्रज्ञान और समताभावमें दृढ़ होकर दर्शन विशुद्धि आदि गुणोंके अनुरागसे, गुरुकी आज्ञासे, पृथ्वीपर विहार करता है और पैरमें काँटा चुभने आदिका कष्ट होनेपर भी गृहस्थाश्रममें अनुभूत सवारी आदिका स्मरण भी नहीं करते हुए चर्यापरीषहको सहता है ॥९७॥

---

१. रसाद् भ. कु. च. ।

अथ निषद्यापरीषहं लक्षयति—

भीष्मश्मशानादिशिलातलादौ
विद्यादिनाऽजन्यगदाद्युदीर्णम् ।
शक्तोऽपि भङ्क्तुं स्थिरमङ्गिपीडां
त्यक्तुं निषद्यासहनः समास्ते ॥९८॥

स्मशानादि—प्रेतवनारण्य-शून्यायतन-गिरिगह्वरादि। विद्यादिना—विद्यामन्त्रौषधादिना। अजन्यं—उपसर्ग.। समास्ते—समाधिना तिष्ठति न चलति ॥९८॥

अथ शय्यापरीषहक्षमामुपदिशति—

शय्यापरीषहसहोऽस्मृतहंसतूल-
प्रायोऽविषादमचलन्नियमान्मुहूर्तम् ।
आवश्यकादिविधिखेदनुदे गुहादौ
त्र्यस्रोपलादिशबले शववच्छयीत ॥९९॥

हंसतूलप्राय:—प्रायशब्देन दुकूलास्तरणादि। अविषादं—व्याघ्रादिसकुलोऽयं प्रदेशोऽचिरादतो निर्गमनं श्रेय., कदा तु रात्रिर्विरमतीति विषादाभावेन। नियमात्—एकपार्श्वदण्डायतादिशयनप्रतिज्ञातो। त्र्यस्रोपलादिशबले—त्रिकोणपाषाणशर्कराकर्पराद्याकीर्णे। शववत्—परिवर्तनरहितत्वात् मृतकेन तुल्यम् ॥९९॥

अथाक्रोशपरीषहजिष्णुं व्याचष्टे—

निषद्यापरीषहका स्वरूप कहते है—

भयंकर श्मशान, वन, शून्यघर और पहाड़की गुफा आदिमें पत्थरकी शिला आदिपर बैठकर ध्यान करते समय उत्पन्न हुई व्याधि या उपसर्ग आदिको विद्या मन्त्र आदिके द्वारा दूर करनेकी शक्ति होते हुए भी प्राणियोंको पीड़ासे बचानेके लिए स्थिर ही बैठा रहता है, उस मुनिको निषद्यापरीषहका सहन करनेवाला जानना ॥९८॥

शय्यापरीषहको सहन करनेका उपदेश देते हैं—

शय्यापरीषहको सहन करनेवाले साधुको छह आवश्यक कर्म और स्वाध्याय आदिके करनेसे उत्पन्न हुए थकानको दूर करनेके लिए, तिकोने पाषाण, कंकर-पत्थरसे व्याप्त गुफा वगैरहमें बिना किसी प्रकारके विषादके एक मुहूर्त तक मुरदेकी तरह सोना चाहिए। तथा एक करवटसे दण्डकी तरह सीधे सोने आदिके नियमोंसे विचलित नहीं होना चाहिए। और गृहस्थ अवस्थामें उपयुक्त कोमल रुईके गद्दे आदिका स्मरण नहीं करना चाहिए ॥९९॥

विशेषार्थ—साधुको रात्रिमें दिन-भर संयमकी आराधनासे हुई थकान दूर करनेके लिए भूमिपर एक करवटसे या सीधे पैर फैलाकर एक मुहूर्त तक निद्रा लेनेका विधान है। न तो वह करवट ले सकता है और न घुटने पेटमें देकर सुकड़कर सो सकता है। सोते हुए न तो वह गृहस्थावस्थामें उपयुक्त कोमल शय्या आदिका स्मरण करता है और न यही सोचता है कि यह रात कब बीतेगी, कैसे यहाँसे छुटकारा होगा आदि। इस प्रकार शास्त्रविहित शयनके कष्टको सहन करना शय्यापरीषहजय है ॥९९॥

आक्रोशपरीषहको जीतनेवालेका स्वरूप कहते हैं—

मिथ्यादृशश्चण्डदुरुक्तिकाण्डैः प्रविध्यतोऽरूंषि मृधं निरोद्धुम् ।
क्षमोऽपि यः क्षाम्यति पापपाकं ध्यायन् स्वमाक्रोशसहिष्णुरेषः ॥१००॥

अरूंषि—मर्माणि । मृधं—शीघ्रम् ॥१००॥

अथ वधक्षमणमाह—

नृशंसेऽरं क्वचित्स्वैरं कुतश्चिन्मारयत्यपि ।
शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिवित्तः स्याद्वधमर्षणः ॥१०१॥

नृशंसे—क्रूरकर्मकारिणि । अरं—शीघ्रम् । स्वैरं—स्वच्छन्दम् । द्रव्यं—अविनाशिरूपम् । वित्तः—प्रतीतः । वित्तं वा धनम् ॥१०१॥

अथ याचनापरीषहसहनाय साधुमुत्साहयति—

भृशं कृशः क्षुन्मुखसन्नवीर्यः
शम्पेव दातॄन् प्रति भासितात्मा ।
ग्रासं पुटीकृत्य करावयाञ्चा
व्रतोऽपि गृह्णन् सह याचनार्तिम् ॥१०२॥

क्षुन्मुखसन्नवीर्यः—क्षुदध्वपरिश्रमतपोरोगादिग्लपितनैसर्गिकशक्तिः । शम्पेव—दुरुपलक्ष्यमूर्तित्वात् । भासितात्मा—दर्शितस्वरूपः । सकृन्मूर्तिसन्दर्शनव्रतकाल इत्यर्थः । अयाञ्चाव्रतः—प्राणात्ययेऽप्याहारवसतिभैषजानां दीनाभिधानमुखवैवर्ण्यांगसंज्ञादिभिरयाचनात् । सह—क्षमस्व त्वम् ॥१०२॥

अत्यन्त अनिष्ट दुर्वचनरूपी बाणोंके द्वारा मर्मको छेदनेवाले विरोधी मिथ्यादृष्टियोंको शीघ्र रोकनेमें समर्थ होते हुए भी जो अपने पापकर्मके उदयको विचारकर उन्हें क्षमा कर देता है वह मुनि आक्रोशपरीषहको सहनेवाला है ॥१००॥

आगे वधपरीषह सहनको कहते हैं—

किसी कारणसे कोई क्रूर कर्म करनेवाला चोर आदि स्वच्छन्दतापूर्वक शीघ्र मारता भी हो तो शुद्ध आत्मद्रव्यके परिज्ञानरूपी धनसे सम्पन्न साधुके वधपरीषह सहन है अर्थात् उस समय वह यह विचार करता है कि यह मारनेवाला मेरे इस दुःखदायी विनाशी शरीरका ही घात करता है मेरे ज्ञानादिक गुणोंका तो घात नहीं करता। यह विचार करते हुए वह वधको सहता है ॥१०१॥

आगे साधुको याचनापरीषह सहनेके लिए उत्साहित करते हैं—

'प्राण जानेपर भी मैं आहार, वसति, औषध आदि दीन वचनोंके द्वारा या मुखकी म्लानताके द्वारा या किसी प्रकारके संकेत द्वारा नहीं माँगूँगा' इस प्रकारके अयाचनाव्रती हे साधु! शरीरसे अत्यन्त कृश और भूख-प्यास, मार्गकी थकान, तप आदिके द्वारा शक्तिहीन हो जानेपर भी आहारके समय बिजलीकी चमककी तरह दाताओंको केवल अपना रूप दिखाकर गृहस्थके द्वारा दिये गये ग्रासको दोनों हाथोंको पुटाकार करके ग्रहण करते हुए याचनापरीषहको सहन कर ॥१०२॥

विशेषार्थ—भूख-प्यास और तपसे शरीरके सूख जानेपर प्राण भले ही चले जायें किन्तु दीन वचनोंसे, मुखकी म्लानतासे या हाथ आदिके संकेतसे आहार, औषधि आदि जो नहीं माँगता और भिक्षाके समय भी बिजलीकी चमककी तरह गृहस्थोंके घरके सामनेसे निकल जाता है वह साधु याचनापरीषहका जीतनेवाला कहा जाता है। किन्तु श्वेताम्बर

अथालाभपरीषहं दर्शयति—

निसङ्गो बहुदेशचार्यनिलवन्मौनी विकायप्रती-
कारोऽद्येदमिदं श्व इत्यविमृशन् ग्रामेऽस्तभिक्षः परे ।
बह्वोकः स्वपि बह्वहं मम परं लाभावलाभस्तपः
स्यादित्यात्तधृतिः पुरोः स्मरयति स्मार्तानलाभं सहन् ॥१०३॥

अविमृशन्—असंकल्पयन् । परे—तद्दिनभिक्षाविषयीकृताादन्यत्र । बह्वोकस्सु—बहुषु गृहेषु । बह्वहं—बहून्यपि दिनानि । पुरोः—आदिनाथस्य कर्मण्यत्र षष्ठी । स्मार्तान्—स्मृतिः परमागमार्थोद्धारशास्त्रम्, ता विदन्ति अधीयते वा ये तान् ॥१०३॥

अथ रोगसहनमाह—

तपोमहिम्ना सहसा चिकित्सितुं
शक्तोऽपि रोगानतिदुस्सहानपि ।
दुरन्तपापान्तविधित्सया सुधीः
स्वस्थोऽधिकुर्वीत सनत्कुमारवत् ॥१०४॥

तपोमहिम्ना—जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धिलब्ध्या । अधिकुर्वीत—प्रसहेत् ॥१०४॥

परम्परामें याचनाका अर्थ है माँगना। क्योंकि साधुको वस्त्र, पात्र, अन्न और आश्रय, सब दूसरोंसे ही प्राप्त करना होता है अतः साधुको अवश्य ही याचना करनी चाहिए। यही याचनापरीषहजय है अर्थात् माँगनेकी परीषहको सहना। और माँगनेपर भी न मिले तो असन्तुष्ट नहीं होना अलाभपरीषहजय है। (तत्त्वार्थ टी. सिद्ध ९-९) ॥१०२॥

अलाभपरीषहको बतलाते हैं—

वायुकी तरह निःसंग और मौनपूर्वक बहुत-से देशोंमें विचरण करनेवाला साधु अपने शरीरकी परवाह नहीं करता, 'इस घर आज भिक्षा लूँगा और इस घर कल प्रातः भिक्षा लूँगा' ऐसा संकल्प नहीं करता। एक ग्राममें भिक्षा न मिलनेपर दूसरे ग्राम जानेके लिए उत्सुक नहीं होता। 'बहुत दिनों तक बहुतसे घरोंमें आहार मिलनेकी अपेक्षा न मिलना मेरे लिए उत्कृष्ट तप है' ऐसा विचारकर सन्तोष धारण करता है। अलाभपरीषहको सहन करनेवाला वह साधु परमागमसे उद्धृत शास्त्रोंको पढ़नेवालोंको भगवान् आदिनाथका स्मरण कराता है अर्थात् जैसे भगवान् आदिनाथने छह मास तक अलाभपरीषहको सहन किया था उसी तरह उक्त साधु भी सहन करता है ॥१०३॥

रोगपरीषहको कहते हैं—

शरीर और आत्माको भिन्न माननेवाला साधु एक साथ हुए अत्यन्त दुःसह रोगोंका तपकी महिमासे प्राप्त ऋद्धियोंके द्वारा तत्काल इलाज करनेमें समर्थ होनेपर भी सनत्कुमार चक्रवर्तीकी तरह निराकुल होकर दुःखदायी पापकर्मोंका विनाश करनेकी इच्छासे सहता है ॥१०४॥

विशेषार्थ—सनत्कुमार चक्रवर्ती कामदेव थे। उन्हें अपने रूपका बड़ा मद था। दो देवताओंके द्वारा प्रबुद्ध होनेपर उन्होंने जिनदीक्षा ले ली। किन्तु उनके शरीरमें कुष्ट रोग हो गया। देवताओंने पुनः परीक्षा लेनेके लिए वैद्यका रूप धारण किया। किन्तु सनत्कुमार मुनिराजने उनकी उपेक्षा की और कुष्टरोगको धीरतापूर्वक सहा। यही रोगपरीषह सहन है ॥१०४॥

अथ तृणस्पर्शसहनमाह—

तृणादिषु स्पर्शखरेषु शय्यां भजन्निषद्यामथ खेदशान्त्यै ।
संक्लिश्यते यो न तदर्तिजातखर्जुस्तृणस्पर्शतितिक्षुरेषः ॥१०५॥

तृणादिषु—शुष्कतृणपत्रभूमिकटफलकशिलातलादिषु । खेदशान्त्यै—व्याधि-मार्गगमन-शीतोष्ण-जनितश्रमापनोदार्थम् । संक्लिश्यते—दुःखं चिन्तयन्ति(-ति) ॥१०५॥

अथ मलपरीषहसहनमाह—

रोमास्पदस्वेदमलोत्थसिध्मप्रायार्त्यवज्ञातवपुः कृपावान् ।
केशापनेतान्यमलाग्रहीता नैर्मल्यकामः क्षमते मलोर्मिम् ॥१०६॥

सिध्मप्रायाः—दुर्भिसक-कच्छु-दद्रु-प्रमुखाः । कृपावान्—बादरनिगोदप्रतिष्ठितजीवदयार्थमुद्वर्तनं जलजन्त्वादिरक्षार्थं च स्नानं त्यजन्निति भावः । केशापनेता—एतेन केशलुञ्चनेन तत्संस्काराकरणे च महाखेदः सजायते इति तत्सहनमपि मलधारणेऽन्तर्भवतीत्युक्तं स्यात् । अन्यमलाग्रहीता—परमलोपचयत्यागीत्यर्थः । नैर्मल्यकाम —कर्ममलपङ्कापनोदार्थी ॥१०६॥

अथ सत्कारपुरस्कारपरीषहजयमाह—

तुष्येन्न यः स्वस्य परैः प्रशंसया श्रेष्ठेषु चाग्रे करणेन कर्मसु ।
आमन्त्रणेनाथ विमानितो न वा रुष्येत्स सत्कारपुरस्क्रियोर्मिजित् ॥१०७॥

परैः—उत्कृष्टपुरुषैः । श्रेष्ठेषु—नन्दीश्वरादिपर्वयात्राधारमकक्रियादिषु ॥१०७॥

तृणस्पर्शपरीषहके सहनको कहते हैं—

सूखे तृण, पत्ते, भूमि, चटाई, लकड़ीका तख्ता, पत्थरकी शिला आदि ऐसे स्थानोंपर जिनका स्पर्श कठोर या तीक्ष्ण हो, रोग या मार्गमें चलने आदिसे उत्पन्न हुई थकानको दूर करनेके लिए सोनेवाला या बैठनेवाला जो साधु शुष्क तृण आदिसे होनेवाली पीड़ाके कारण खाज उत्पन्न होनेपर भी दुःख नहीं मानता, वह साधु तृणस्पर्शपरीषहको सहनेवाला है ॥१०५॥

मलपरीषह सहनको कहते हैं—

रोमोंसे निकलनेवाले पसीनेके मैलसे उत्पन्न हुए दाद-खाज आदिकी पीड़ा होनेपर जो शरीरकी परवाह नहीं करता, जिसने बादर निगोद प्रतिष्ठित जीवोंपर दया करनेके भावसे उद्वर्तनका और जलकायिक जीवोंकी रक्षाके लिए स्नानका त्याग किया है, केशोंका लोंच करता है, अन्य मलको ग्रहण नहीं करता, किन्तु कर्मरूपी मलको ही दूर करना चाहता है वह साधु मलपरीषहको सहता है ॥१०६॥

विशेषार्थ—केशोंका लोंच करनेमें और उनका संस्कार न करनेपर महान् खेद होता है अतः उसका सहना भी मलपरीषहमें आता है ॥१०६॥

सत्कार-पुरस्कारपरीषहजयको कहते हैं—

जो बड़े पुरुषोंके द्वारा अपनी प्रशंसा किये जानेसे और उत्तम कार्योंमें आगे किये जानेसे अथवा आमन्त्रणसे प्रसन्न नहीं होता और अवज्ञा करनेसे रुष्ट नहीं होता वह सत्कार पुरस्कार परीषहका जीतनेवाला होता है ॥१०७॥

विशेषार्थ—चिरकालसे ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला, महातपस्वी, स्वसमय और परसमयका ज्ञाता, हितोपदेश और कथावार्तामें कुशल तथा अनेक बार अन्य वादियोंको जीतनेवाला भी जो साधु अपने मनमें ऐसा नहीं विचारता कि मुझे कोई प्रणाम नहीं करता, कोई

अथ प्रज्ञापरीषहमाह—

विद्याः समस्ता यदुपज्ञमस्ताः प्रवादिनो भूपसभेषु येन ।
प्रज्ञोर्मिजित् सोऽस्तु मदेन विप्रो गरुत्मता यद्वदखाद्यमानः ॥१०८॥

यदुपज्ञं—यस्य उपज्ञा प्रथमोपदेशः । भूपसभेषु—बहुषु राजसभासु । विप्र इत्यादि—गरुडेन स्वमातृवाक्यान्निषादखादनावसरे तत्संवलितो मुखान्तर्गतो ब्राह्मणो यथा । तथा च माघकाव्यम्—

'सार्धं कथंचिदचितैः पिचुमन्दपत्रैरास्यान्तरालगतमाम्रदलं मदीयः।
दासेरकः सपदि संवलितं निषादैर्विप्रं पुरा पतगराडिव निर्जगाम ॥' ॥१०८॥

अथाज्ञानपरीषहजयमाह—

पूर्वेऽसिधन् येन किलाशु तन्मे चिरं तपोऽभ्यस्तवतोऽपि बोधः ।
नाद्यापि बोभोत्यपि तूच्यकेऽहं गौरित्यतोऽज्ञानरुजोऽपसर्पेत् ॥१०९॥

असिधन्—सिद्धाः । बोभोति—भृशं भवति । उच्यके—कुत्सितमुच्ये कुल्ये (?) अहं । गौः बलीवर्दो लोकैरिति शेष. ॥१०९॥

मेरी भक्ति नहीं करता, कोई मुझे आदरपूर्वक आसन नहीं देता, इससे तो विधर्मी ही उत्तम हैं जो अपने मूर्ख भी साधर्मीको सर्वज्ञके समान मानकर अपने धर्मकी प्रभावना करते है। प्राचीन कालमें व्यन्तर आदि देवता कठोर तप करनेवालोंकी सर्वप्रथम पूजा किया करते थे, यदि यह श्रुति मिथ्या नहीं है तो हमारे जैसे तपस्वियोंका भी ये साधर्मी क्यों अनादर करते हैं। जिनका चित्त इस प्रकारके विचारसे रहित होता है तथा जो मान और अपमानमें समभाव रखते हैं वे साधु सत्कार-पुरस्कारपरीषहके जेता होते हैं ॥१०७॥

आगे प्रज्ञापरीषहको कहते हैं—

जो अंग, पूर्व और प्रकीर्णकरूप समस्त विद्याओंका प्रथम उपदेष्टा है और जिसने अनेक राजसभाओंमें प्रवादियोंको पराजित किया है फिर भी जो गरुड़के द्वारा न खाये जानेवाले ब्राह्मणकी तरह मदसे लिप्त नहीं होता वह साधु प्रज्ञापरीषहको जीतनेवाला है ॥१०८॥

विशेषार्थ—हिन्दू पुराणोंमें कथा है कि गरुड़ने अपनी माताके कहनेसे निषादोंको खाना शुरु किया तो साथमें कोई ब्राह्मण भी मुखमें चला गया, किन्तु गरुड़ने उसे नहीं खाया। इसी तरह मद सबको होता है किन्तु प्रज्ञापरीषहके जेता साधुको अपने ज्ञानका मद नहीं होता ॥१०८॥

अज्ञानपरीषहके जयको कहते हैं—

जिस तपके प्रभावसे पूर्वकालमें अनेक तपस्वी शीघ्र ही सिद्धिको प्राप्त हुए सुने जाते हैं उसी तपका चिरकालसे अभ्यास करते हुए भी मुझे आज तक भी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। उल्टे मुझे लोग 'बैल' कहते हैं। इस प्रकारके अज्ञानपरीषहसे साधुको दूर रहना चाहिए ॥१०९॥

विशेषार्थ—सारांश यह है कि जो साधु 'यह मूर्ख है, पशुके समान कुछ भी नहीं जानता' इत्यादि तिरस्कारपूर्ण वचनोंको सहता है फिर भी निरन्तर अध्ययनमें लीन रहता है, मन, वचन, कायसे अशुभ चेष्टाएँ नहीं करता, महोपावास आदि करनेपर भी मेरे ज्ञानमें कोई अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसा मनमें नहीं विचारता। उस मुनिके अज्ञानपरीषहजय होता है ॥१०९॥

अदर्शनसहनमाह—

महोपवासादिजुषां मृषोद्याः, प्राक् प्रातिहार्यातिशया न होक्षे।
किंचित्तथाद्यापि तदवृथा, निष्ठेत्यसन् सद्दृगदर्शनासट् ॥११०॥ ३

मृषोद्याः—मिथ्या कथ्यते। प्राक्—पूर्वस्मिन् काले। ईक्षे—पश्याम्यहम्। असन्—अभवन्। सद्दृक्—दर्शनविशुद्धियुक्तः। अदर्शनासट्—अदर्शनपरीषहस्य सहिता स्यादित्यर्थः ॥११०॥

अदर्शनपरीषहके सहनको कहते हैं—

पूर्वकालमें पक्ष-मास आदिका उपवास करनेवालोंको प्रातिहार्य आदि अतिशय होते थे यह कथन मिथ्या है, क्योंकि महोपवास आदि करनेपर भी मुझे तो कुछ होता नहीं दिखाई देता। अतः यह तपस्या आदि करना व्यर्थ है। इस प्रकारकी भावना जिसे नहीं होती वह सम्यग्दृष्टि अदर्शनपरीषहका सहन करनेवाला है ॥११०॥

विशेषार्थ—आशय यह है कि जो साधु ऐसा विचार नहीं करता कि मैं दुष्कर तप करता हूँ, वैराग्य भावनामें तत्पर रहता हूँ, सकल तत्त्वोंको जानता हूँ, चिरकालसे व्रती हूँ फिर भी मुझे आज तक किसी ज्ञानातिशयकी प्राप्ति नहीं हुई। महोपवास आदि करनेवालोंके प्रातिहार्य विशेष प्रकट हुए ऐसा कहना कोरी बकवाद है। यह दीक्षा व्यर्थ है, व्रतोंका पालन निष्फल है, उस साधुके सम्यग्दर्शन विशुद्धिके होनेसे अदर्शनपरीषहका सहन होता है।

यहाँ परीषहोंके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डाला जाता है—ये सभी परीषह कर्मके उदयमें होती हैं। प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरणके उदयमें होती हैं। अदर्शन परीषह दर्शन मोहके उदयमें और अलाभ परीषह लाभान्तरायके उदयमें होती है। मान कषायके उदयमें नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह होती हैं। अरति मोहनीयके उदयमें अरतिपरीषह और वेद मोहनीयके उदयमें स्त्री परीषह होती है। वेदनीयके उदयमें क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल परीषह होती हैं। एक जीवके एक समयमें एकसे लेकर उन्नीस परीषह तक होती हैं क्योंकि शीत और उष्णमें-से एक समयमें एक ही परीषह होती है तथा शय्या, चर्या और निषद्यामें-से एक ही परीषह होती है। प्रज्ञा और अज्ञान परीषह एक साथ हो सकती हैं क्योंकि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञाका प्रकर्ष होनेपर अवधिज्ञान आदिका अभाव होनेसे अज्ञान परीषह हो सकती है। अतः इन दोनोंके एक साथ होनेमें विरोध नहीं है।

मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन सात गुणस्थानोंमें सब परीषह होती हैं। अपूर्वकरणमें अदर्शन परीषहके बिना इक्कीस परीषह होती हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके सवेद भागमें अरति परीषहके बिना बीस परीषह होती हैं। और अनिवृत्तिकरणके अवेद भागमें स्त्री परीषह न होनेसे उन्नीस होती हैं। उसी गुणस्थानमें मानकषायके उदयका क्षय होनेपर नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह नहीं होतीं। उनके न होनेसे अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय इन चार गुणस्थानोंमें चौदह परीषह होती हैं। क्षीण कषायमें प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीषह नष्ट हो जाती हैं। सयोगकेवलीके घातिकर्म नष्ट हो जानेसे अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाते हैं अतः अन्तराय कर्मका अभाव होनेसे निरन्तर शुभ पुद्गलोंका संचय होता रहता है। इसलिए वेदनीयकर्म विद्यमान होते हुए भी घातिकर्मोंकी सहायताका बल नष्ट हो जानेसे अपना कार्य करनेमें

अथैवं द्वाविंशतिक्षुदादिपरीषहजयं प्रकाश्य तदनुषङ्गप्राप्तमुपसर्गसहनमुदाहरणपुरस्सरं व्याहरन्नाह—

स्वध्यानाच्छिवपाण्डुपुत्रसुकुमालस्वामिविद्युच्चर-
प्रष्ठाः सोढविचिन्नृतिर्यगमरोत्थानोपसर्गाः क्रमात् ।
संसारं पुरुषोत्तमाः समहरंस्तत्तत्पदं प्रेप्सवो
लीनाः स्वात्मनि येन तेन जनितं घुन्वन्त्वजन्यं बुधाः ॥१११॥

शिवः—शिवभूतिर्नाम मुनिः । पृष्ठाः । पृष्टग्रहणात् चेतनकृतोपसर्गा एणिकापुत्रादयः, मनुष्यकृतोपसर्गा गुरुदत्तगजकुमारादयः, तिर्यक्कृतोपसर्गाः सिद्धार्थसुकोशलादयः । देवकृतोपसर्गाः श्रीदत्तसुवर्णभद्रादयो यथागममधिगन्तव्याः । उत्थानं—कारणम् । समहरन्—संहरन्ति स्म ॥१११॥

असमर्थ होता है । जैसे मन्त्र या औषधिके बलसे जिस विषकी मारण शक्ति नष्ट हो जाती है उसे खानेपर भी मरण नहीं होता । अथवा जैसे जिस वृक्षकी जड़ काट दी जाती है वह फूलता-फलता नहीं है । या जैसे, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म साम्परायमें मैथुन और परिग्रह संज्ञा कार्यकारी नहीं हैं या जैसे केवलीमें एकाग्रचिन्तानिरोधके अभावमें भी कर्मोंकी निर्जरा होनेसे उपचारसे ध्यान माना जाता है, वैसे ही भूख, रोग, वध आदि वेदनाका सद्भावरूप परीषहके अभावमें वेदनीयकर्मके उदयमें आगत द्रव्यको सहनेरूप परीषहका सद्भाव होनेसे जिनभगवान्में ग्यारह परीषह उपचारसे मानी गयी हैं। किन्तु घाति कर्मोंके बलकी सहायतासे रहित वेदनीय कर्म फलदाता नहीं होता। इसलिए जिनभगवान्में ग्यारह परीषह नहीं हैं । ऐसा होनेसे किसी अपेक्षा केवलीके परीषह होती हैं और किसी अपेक्षा नहीं होतीं इस तरह स्याद्वाद घटित होता है । शतकके प्रदेशबन्धमें वेदनीयके भागविशेषके कारणका कथन है[1] । अतः वेदनीय घातिकर्मोंके उदयके बिना फलदायक नही होता, यह सिद्ध हुआ । मार्गणाओंमें नरकगति और तिर्यंचगतिमें सब परीषह होती हैं । मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंकी तरह जानना । देवगतिमें घातिकर्मोंके उदयसे होनेवाली परीषहोंके साथ वेदनीयसे उत्पन्न क्षुधा, प्यास और वध परीषहके साथ चौदह परीषह होती हैं । इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणामें सब परीषह होती हैं। योगमार्गणामें वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्रमें देवगतिके समान जानना । तिर्यंच और मनुष्योंकी अपेक्षा बाईस तथा शेष योगों और वेदादि मार्गणाओंमें अपने-अपने गुणस्थानोंके अनुसार जानना ॥११०॥

इस प्रकार बाईस परीषहोंको जीतनेका कथन करके उनके सम्बन्धसे उदाहरणपूर्वक उपसर्ग सहनेका कथन करते हैं—

आत्मस्वरूपका ध्यान करनेसे शिवभूति मुनि, पाण्डव, सुकुमाल स्वामी और विद्युच्चर प्रमुख पुरुषश्रेष्ठोंने क्रमशः अचेतनकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत और देवकृत उपसर्गोंका सहन करके संसारका नाश किया । इसलिए उस पदको प्राप्त करनेके इच्छुक विद्वान् स्वात्मामें लीन होकर अचेतन आदिमें-से किसीके भी द्वारा होनेवाले उपसर्गको सहन करें ॥१११॥

विशेषार्थ—किसी भी बाह्य निमित्तसे अचानक आ जानेवाली विपत्तिको उपसर्ग कहते हैं । वह चार प्रकारका होता है—अचेतनकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत और देवकृत । इन उपसर्गोंको सहन करनेवालोंमें प्रमुख हुए हैं शिवभूति आदि । शिवभूति मुनिध्यानमें

---

१ 'जम्हा वेदणीयस्स सुखदुःखोवयं सणाणावरणादि उदयादि उपकारकारणं तम्हा वेदणीयं सेत्र पागडो सुहदुक्खोदयं दिस्सदे ।' इति

अथ प्रकृतमुपसंहरन् बाह्याभ्यन्तरतपश्चरणाय शिवपुरपान्थमुद्यमयितुमाह—

इति भवपथोन्माथस्थामप्रथिम्नि पृथूद्यमः,
शिवपुरपथे पौरस्त्यानुप्रयाणचणश्चरन् ।
मुनिरनशनाद्यस्त्रैरुग्रैः क्षितेन्द्रियतस्कर-
प्रसृतिरमृतं विन्दत्वन्तस्तपःशिबिकां श्रितः ॥११२॥

भवेत्यादि—मिथ्यात्वादित्रयोच्छेदार्थशक्तिविस्तारे। पौरस्त्यानुप्रयाणचणः—पूर्वाचार्यानुगमनप्रतीतः। अमृतः—मोक्षममृतपानसाहचर्यात् स्वर्गं वा। इति भद्रम्।

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां
षष्ठोऽध्यायः।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाण ससत्यधिकानि चत्वारि शतानि। अङ्कतः ४७० ॥

मग्न थे। बड़े जोरकी आँधी आयी। उससे पासमें लगा तृणपूलोंका बड़ा भारी ढेर मुनिपर आ पड़ा। शिवभूति आत्मध्यानसे च्युत नहीं हुए और मुक्त हुए। पाण्डव जब ध्यानमें मग्न थे तो उनके वैरी कौरवपक्षके मनुष्योंने लोहेकी साँकलें तपाकर आभूषणोंकी तरह पहना दीं। पाण्डव भी मुक्त हुए। सुकुमाल स्वामीको गीदड़ोंने कई दिनों तक खाया किन्तु वे ध्यानसे विचलित नहीं हुए। विद्युच्चर चोर था। जम्बूस्वामीके त्यागसे प्रभावित होकर अपने पाँच सौ साथियोंके साथ मुनि हो गया था। जब वे सब मथुराके बाहर एक उद्यानमें ध्यान-मग्न थे तो देवोंने महान् उपसर्ग किया। सबका प्राणान्त हो गया किन्तु कोई ध्यानसे विचलित नहीं हुआ। इसी प्रकारके उपसर्गसहिष्णु अन्य भी हुए हैं। जैसे अचेतनकृत उपसर्ग सहनेवाले एणिका पुत्र वगैरह, मनुष्यकृत उपसर्ग सहनेवाले गुरुदत्त, गजकुमार वगैरह, तिर्यंचकृत उपसर्ग सहनेवाले सिद्धार्थ, सुकोशल वगैरह, और देवकृत उपसर्ग सहनेवाले श्रीदत्त, सुवर्णभद्र वगैरह। इनकी कथाएँ आगमसे जाननी चाहिए ॥१११॥

परीषह और उपसर्गसहनका उपसंहार करते हुए मुमुक्षुको बाह्य और आभ्यन्तर तपको पालनेके लिए उत्साहित करते हैं—

इस प्रकार मोक्षनगरके मार्गमें विहार करते हुए पूर्व आचार्योंका अनुगमन करनेसे अनुभवी और संसारके मार्ग मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको नष्ट करनेके लिए शक्तिके विस्तारमें महान् उत्साही मुनि, अनशन अवमौदर्य आदि तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा इन्द्रियरूपी चोरोंके प्रसारको रोककर और अभ्यन्तर तपरूपी पालकीपर चढ़कर अमृतको—मोक्ष या स्वर्गको प्राप्त करे ॥११२॥

इस प्रकार पं. आशाधर विरचित अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका तथा ज्ञानदीपिका पंजिकाकी अनुसारिणी भाषा टीकामें मार्गमहोद्योग वर्णन नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तम अध्याय

अथातः सम्यक् तप आराधनामुपदेष्टुकामो मुक्तिप्रधानसाधनवैतृष्ण्यसिद्ध्यर्थं नित्यं तपोऽर्जयेदिति शिक्षयन्नाह—

ज्ञाततत्त्वोऽपि वैतृष्ण्यादृते नाप्नोति तत्पदम् ।
ततस्तत्सिद्धये धीरस्तपः तप्येत नित्यशः ॥१॥

वैतृष्ण्यात् ॥१॥

अथ तपसो निर्वचनमुखेन लक्षणमाह—

तपो मनोऽक्षकायाणां तपनात् सन्निरोधनात् ।
निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम् ॥२॥

निरुच्यते—निर्वचनगोचरीक्रियते ॥२॥

पुनर्भङ्ग्यन्तरेण तल्लक्षणमाह—

यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते ।
अर्जयत्यक्षमनसोस्तत्तपो नियमक्रिया ॥३॥

यहाँसे ग्रन्थकार सम्यक् तप आराधनाका उपदेश करनेकी इच्छासे सर्वप्रथम यह शिक्षा देते हैं कि मुक्तिका प्रधान साधन वैतृष्ण्य है। अतः उसकी सिद्धिके लिए सदा तप करना चाहिए—

यत: हेय उपादेयरूप वस्तुस्वरूपको जानकर भी वैतृष्ण्यके बिना अनन्तज्ञानादिचतुष्टय-के स्थानको प्राप्त नहीं होता। इसलिए उस वैतृष्ण्यकी सिद्धिके लिए परीषह उपसर्ग आदिसे न घबरानेवाले धीर पुरुषको नित्य तप करना चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ—जिसने हेय-उपादेयरूपसे वस्तुस्वरूपका निर्णय कर लिया है वह भी वैतृष्ण्यके बिना मुक्तिस्थानको प्राप्त नहीं कर सकता, फिर जिन्होंने तत्त्वको जाना ही नहीं है उनकी तो बात ही क्या है। जिसकी तृष्णा—चाह चली गयी है उसे वितृष्ण कहते हैं। अर्थात् वीतराग, वीतद्वेष और क्षायिक यथाख्यात चारित्रसे सम्पन्न मुनि वितृष्ण होता है। वितृष्णके भावको अर्थात् वीतरागताको वैतृष्ण्य कहते हैं ॥१॥

व्युत्पत्तिपूर्वक तपका लक्षण कहते हैं—

मन, इन्द्रियाँ और शरीरके तपनेसे अर्थात् इनका सम्यक् रूपसे निवारण करनेसे सम्यग्दर्शन आदिको प्रकट करनेके लिए इच्छाके निरोधको तप कहते हैं ॥२॥

विशेषार्थ—तप शब्दकी निरुक्ति है मन, इन्द्रिय और कषायोंका तपना अर्थात् इनकी प्रवृत्तियोंको अच्छी तरहसे रोकना। इसीके लिए तप किया जाता है। और तपका लक्षण है इच्छाको रोकना और उस रोकनेका उद्देश्य है रत्नत्रयकी प्राप्ति ॥२॥

प्रकारान्तरसे तपका लक्षण कहते हैं—

अथवा रत्नत्रयरूप मार्गमें किसी प्रकारकी हानि न पहुँचाते हुए ज्ञानावरण आदिका या शुभ-अशुभ कर्मोंका निर्मूल विनाश करनेके लिए जो तपा जाता है अर्थात् इन्द्रिय और

नियमक्रिया—विहिताचरणनिषिद्धपरिवर्जनविधानम् ॥३॥

पुनरपि शास्त्रान्तरप्रसिद्धं तपोलक्षणमन्वाख्याय तद्भेदप्रभेदसूचनपुरस्सरं तदनुष्ठानमुपदिशति—

संसारायतनान्निवृत्तिरमृतोपाये प्रवृत्तिश्च या
तद्वृत्तं मतमौपचारिकमिहोद्योगोपयोगौ पुनः।
निर्मायं चरतस्तपस्तदुभयं बाह्यं तथाभ्यन्तरं
षोढाऽत्राऽनशनादि बाह्यमितरत् षोढैव चेतुं चरेत् ॥४॥

संसारायतनानुबन्धात् तत्कारणाच्च मिथ्यादर्शनादित्रयात्। उक्तं च—

'स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥' [तत्त्वानु., ८ श्लो.]

'बन्धस्य कार्यं संसारः सर्वदुःखप्रदोऽङ्गिनाम्।
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन स चानेकविधः स्मृतः ॥' [तत्त्वानु., ७ श्लो.]

मनके नियमोंका अनुष्ठान है—करने योग्य आचरणको करनेका और न करने योग्य आचरणको न करनेका जो विधान है इसीका नाम तप है ॥३॥

विशेषार्थ—पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धि टीकामें तपका अर्थ यही किया है कि जो कर्मोंके क्षयके लिए तपा जाये वह तप है। धूप आदिमें खड़े होकर तपस्या करनेका भी उद्देश्य कर्मोंकी निर्जरा ही है किन्तु उसके साथमें इन्द्रिय और मनका निरोध आवश्यक है। उसके बिना बाह्य तप व्यर्थ है ॥३॥

फिर भी अन्य शास्त्रोंमें प्रसिद्ध तपका लक्षण कहकर उसके भेद-प्रभेदोंकी सूचनाके साथ उसको पालनेका उपदेश देते हैं—

संसारके कारणसे निवृत्ति और मोक्षके उपायमें जो प्रवृत्ति है वह औपचारिक अर्थात् व्यावहारिक चारित्र है। तथा मायाचारको छोड़कर साधु इस औपचारिक चारित्रमें जो उद्योग करता है और उसमें अपना उपयोग लगाता है वह भगवती आराधना शास्त्रके उपदेशानुसार तप है। उस तपके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। अनशन आदि छह बाह्य तप हैं और छह ही अभ्यन्तर तप है। अभ्यन्तर तपको बढ़ानेके लिए ही बाह्य तप करना चाहिए ॥४॥

विशेषार्थ—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन रूप संसारका कारण बन्ध है। यहाँ बन्धसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र लेना चाहिए, क्योंकि ये ही बन्धके कारण हैं अतः कारणमें कार्यका उपचार करके बन्धके कारणोंको बन्ध कहा है। कहा है—'बन्धका कार्य संसार है, वह प्राणियोंको सब दुःख देता है। तथा वह द्रव्य क्षेत्र आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है।'

संक्षेपमें बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं। अन्य सब इन्हींका विस्तार है। भगवती आराधनामें तपका स्वरूप इस प्रकार कहा है—'यह कर्तव्य है और

१ 'कायव्वमिणमकायव्वं इदि णादूण होदि परिहारो।
तं चेव हवदि णाणं तं चेव य होदि सम्मत्तं ॥
चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउञ्जणा य जा होदि।
सो चेव जिणेहि तवो भणिओ असढं चरंतस्स' ॥—गा. ९-१०।

अमृतोपाये—रत्नत्रये। औपचारिकं—व्यावहारिकम्। बाह्यं—बाह्यजनप्रकटत्वात्। अभ्यन्तरं—अभ्यन्तरजनप्रधानत्वात्। अनशनादि—अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान—रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशलक्षणम्। इतरत्—प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानलक्षणम्। चेतुं—वर्धयितुम् ॥४॥

अथानशनादेस्तपस्त्वे[1] युक्तिमाह—

देहाक्षतपनात्कर्मदहनादान्तरस्य च।
तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम् ॥५॥

स्पष्टम् ॥५॥

अथानशनादितपसो बाह्यत्वे युक्तिमाह—

बाह्यं वल्भाद्यपेक्षत्वात्परप्रत्यक्षभावतः।
परदर्शनिपाषण्डिगेहिकार्यत्वतश्च तत् ॥६॥

बाह्यं बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् बाह्याना प्रत्यक्षत्वात् बाह्यैः क्रियमाणत्वाच्च। एतदेव 'वल्भादि' इत्यादिना स्पष्टीकरोति स्म ॥६॥

यह अकर्तव्य है ऐसा जानकर अकर्तव्यका त्याग करना चारित्र है। वही ज्ञान है और वही सम्यग्दर्शन है। उस चारित्रमें जो उद्योग और उपयोग होता है, उसीको जिन भगवान्ने तप कहा है। अर्थात् चारित्रमें उद्योग करना और उसमें उपयोग लगाना ही तप है।'

इस तपके दो भेद हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। बाह्य तपके छह भेद हैं—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यात, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश। तथा अभ्यन्तर तपके भी छह भेद हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। बाह्य तप अभ्यन्तर तपको बढ़ानेके लिए ही किया जाता है।

कहा है—'हे भगवन्, आपने आध्यात्मिक तपको बढ़ानेके लिए अत्यन्त कठोर बाह्य तप किया।'[2]

आगे अनशन आदि क्यों तप हैं इसमें युक्ति देते हैं—

अनशन आदि करनेसे शरीर और इन्द्रियोंका दमन होता है, अशुभ कर्म भस्म होते हैं और अन्तरंग तपमें वृद्धि होती है इसलिए अनशन आदि तप है ॥५॥

अनशन आदि बाह्य तप क्यों हैं इसमें युक्ति देते हैं—

अनशन आदि तपोंको तीन कारणोंसे बाह्य कहा जाता है—प्रथम, इनके करनेमें बाह्य द्रव्य भोजनादिकी अपेक्षा रहती है। जैसे भोजनको त्यागनेसे अनशन होता है, अल्प भोजन लेनेसे अवमौदर्य होता है। दूसरे, अपने पक्ष और परपक्षके लोग भी इन्हें देख सकते हैं कि अमुक साधुने भोजन नहीं किया या अल्पभोजन किया। और तीसरे, ये तप ऐसे हैं जिन्हें अन्य दार्शनिक, बौद्धादि तथा कापालिक आदि साधु और गृहस्थ भी करते हैं। इसलिए इन्हें बाह्य तप कहा है ॥६॥

---

१. पस्त्वे यु—भ. कु. च.।

२. 'बाह्य तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।'—स्वयंभूस्तो. १७।३।

अथ बाह्यतपसः फलमाह—

कर्माङ्गतेजोरागाशाहानिर्ध्यानादिसंयमाः ।
दुःखक्षमासुखासङ्गब्रह्मोद्योताश्च तत्फलम् ॥७॥

कर्माङ्गतेजोहानिः—कर्मणां ज्ञानावरणादीनामङ्गतेजसश्च देहदीप्तेर्हानिरपकर्षः । अथवा कर्माङ्गाणां हिंसादीना तेजसश्च शुक्रस्य हानिरिति ग्राह्यम् । ध्यानादि—आदिशब्दात् स्वाध्यायारोग्य-मार्गप्रभावना-कषाय-मदमथन-परप्रत्ययकरण-दयाद्युपकारतीर्थायतनस्थापनादयो ग्राह्याः । उक्तं च—

'विदितार्थशक्तिचरितं कायेन्द्रियपापशोषकं परमम् ।
जातिजरामरणहरं सुनाकमोक्षाश्रं (–यं सुतपः) ॥' [ ] ॥७॥

बाह्यैस्तपोभिः कायस्य कर्शनादक्षमर्दने ।
छिन्नबाहो भट इव विक्रामति कियन्मनः ॥८॥

(तपस्यता) भोजनादिक तथा प्रयोक्तव्यं यथा प्रमादो न विजृम्भत इति शिक्षार्थमाह—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं तदस्य यस्येत् स्थितयेऽशनादिना ।
तथा यथाक्षाणि वशे स्युरुत्पथं न वानुधावन्त्यनुबद्धतृड्वशात् ॥९॥

अनशनादिना—भोजनशयनावस्थादिना । उत्पथं—निषिद्धाचरणम् । अनुबद्धतृड्वशात्—अनादि-सम्बद्धतृष्णापारतन्त्र्यात् । उक्तं च—

'वशे यथा स्युरक्षाणि नोतधावन्त्यनूत्पथम् ।
तथा प्रयतितव्यं स्याद्वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ॥' [ ] ॥९॥

बाह्य तपका फल कहते हैं—

अनशन आदि करनेसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी, शरीरके तेजकी, रागद्वेषकी और विषयोंकी आशाकी हानि होती है, उसमें कमी आती है, एकाग्रचिन्तानिरोध रूप शुभध्यान आदि और संयम होते हैं, दुःखको सहनेकी शक्ति आती है, सुखमें आसक्ति नहीं होती, आगमकी प्रभावना होती है अथवा ब्रह्मचर्यमें निर्मलता आती है। ये सब बाह्य तपके फल हैं ॥७॥

विशेषार्थ—ध्यानादिमें आदि शब्दसे स्वाध्याय, आरोग्य, मार्ग प्रभावना, कषाय, मद आदिका घटना, दया, दूसरोंका विश्वास प्राप्त होना आदि लेना चाहिए। कहा है—'सम्यक् तपका प्रयोजन, शक्ति और आचरण सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह तप शरीर इन्द्रिय और पापका परम शोषक है; जन्म, जरा और मरणको हरनेवाला है तथा स्वर्ग और मोक्षका आश्रय है।'

आगे कहते हैं कि बाह्य तप परम्परासे मनको जीतनेका कारण है—

जैसे घोड़ेके मर जानेपर शूरवीरका भी शौर्य मन्द पड़ जाता है वैसे ही बाह्य तपोंके द्वारा शरीरके कृश होनेसे तथा इन्द्रियोंके मानका मर्दन होनेपर मन कहाँ तक पराक्रम कर सकता है क्योंकि इन्द्रियाँ मनके घोड़ेके समान हैं ॥८॥

आगे शिक्षा देते हैं कि तप करते हुए भोजन आदि इस प्रकार करना चाहिए जिससे प्रमाद बढ़ने न पावे—

आगममें कहा है कि शरीर रत्नत्रयरूपी धर्मका मुख्य कारण है। इसलिए भोजन-पान आदिके द्वारा इस शरीरकी स्थितिके लिए इस प्रकारका प्रयत्न करना चाहिए जिससे इन्द्रियाँ वशमें रहें और अनादिकालसे सम्बद्ध तृष्णाके वशीभूत होकर कुमार्गकी ओर न जावें ॥९॥

---

१. अतोऽग्रे लिपिकारेणाष्टमो श्लोको दृष्टिदोषतो विस्मृत इति प्रतिभाति ।

अथेष्टमृष्टाद्याहारोपयोगे दोषमाह—

इष्टमृष्टोत्कटरसैराहारैरुद्भटीकृताः ।
यथेष्टमिन्द्रियभटा भ्रमयन्ति बहिर्मनः ॥१०॥

बहिः—बाह्यार्थेषु । उक्तं च—

'न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः ।
नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः ॥' [ ] ॥१०॥

अथानशनं तपः सभेदं लक्षयति—

चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवासोऽथवाऽऽमृतेः ।
सकृद्भुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोऽनशनमिष्यते ॥११॥

चतुर्थादीत्यादि—अहोरात्रमध्ये किल द्वे भक्तवेले । तत्रैकस्यां भोजनमेकस्यां च तत्त्याग । एकभक्तं—धारणकदिने पारणकदिने चैकभक्तमिति द्वयोर्भक्तवेलयो भोजनत्यागो द्वयोश्चोपवासदिने तत्त्याग इति चतसृषु भक्तवेलासु चतुर्विधाहारपरिहारश्चतुर्थ इति रूढः । एकोपवास इत्यर्थ । एवं षट्सु भक्तवेलासु भोजनत्यागः षष्ठो वा(द्वौ) उपवासौ । अष्टासु अष्टमस्त्रय उपवासाः । दशसु दशमश्चत्वार उपवासाः । द्वादशसु द्वादशः पञ्चोपवासाः । एवं चतुर्थ आदिर्यस्य षष्ठाद्युपवासस्य चतुर्थादि । अर्धवर्षं षण्मासा । तद्विषयस्तावदुपवासोऽप्यर्धवर्षमुच्यते । अर्धवर्षं षण्मासोपवासोऽन्त पर्यन्तो यस्य सोऽर्धवर्षान्तः । चतुर्थादिश्चासावर्धवर्षान्तश्च चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवास क्षपणं सकृद्भुक्तिश्चैकभक्तम् । इत्येवमवधृतकालमनशनं तप इष्यते । य पुनरामृतेर्मरणं यावदुपवासस्तदनवधृतकालम् । इत्यनशनं तपो द्विधाऽत्र सूत्रितं प्रतिपत्तव्यम् । उक्तं च ।

अपनेको रुचिकर स्वादिष्ट आहारके दोष कहते हैं—

इन इन्द्रियरूपी वीरोंको यदि इष्ट, मिष्ट और अत्यन्त स्वादिष्ट आहारसे अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया जाता है तो ये मनको बाह्य पदार्थोंमें अपनी इच्छानुसार भ्रमण कराती हैं ॥१०॥

विशेषार्थ—उक्त समस्त कथनका सारांश यही है कि भोजनका और इन्द्रियोंका खास सम्बन्ध है अतः साधुका भोजन इतना सात्त्विक होना चाहिए जिससे शरीररूपी गाडी तो चलती रहे किन्तु इन्द्रियाँ बलवान् न हो सके। अतः कहा है—'मध्यम मार्गको अपनाकर जिससे इन्द्रियाँ वशमें हों और कुमार्गकी ओर न जायें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।' तथा—'मुमुक्षुओंको न तो मात्र इस शरीरको सुखा डालना चाहिए और न मीठे रुचिकर और अति रसीले भोजनोंसे इसे पुष्ट ही करना चाहिए' ॥१०॥

आगे भेदसहित अनशन तपको कहते हैं—

मुक्ति अर्थात् कर्मक्षयके लिए चतुर्थ उपवाससे लेकर छह मासका उपवास करना, अथवा मरणपर्यन्त उपवास करना तथा एक बार भोजन करना अनशन नामक तप माना गया है ॥११॥

विशेषार्थ—दिन-भरमें भोजनकी दो वेलाएँ होती हैं। उनमें-से एकमें भोजन करना एक भक्त है। उपवाससे पहले दिनको धारणाका दिन कहते हैं और उपवास समाप्त होनेसे अगले दिनको पारणाका दिन कहते हैं। धारणा और पारणाके दिन एक बार भोजन करनेसे दो भोजन वेलाओंमें भोजनका त्याग करनेसे और उपवासके दिन दो वेला भोजनका त्याग करनेसे इस तरह चार भोजन वेलाओंमें चार प्रकारके आहारके त्यागको चतुर्थ कहते हैं। अर्थात् एक उपवास। इसी तरह छह भोजन वेलाओंमें भोजनके त्यागको षष्ठ या दो

'अद्धानशनं सर्वानशनं द्विविकल्पमनशनमिहोक्तम् ।
विहृतिभृतोद्धानशनं सर्वानशनं तनुत्यागे ॥'
'एकोपवासमूलः षण्मासक्षपणपश्चिमः सर्वः ।
अद्धानशनविभाग स एष वाञ्छानुगं चरतः ॥' [ ]

चशब्दो मध्यमजघन्योपवाससमुच्चयार्थः । नञो निषेधे ईषदर्थे च विवक्षितत्वात्, तेनानशनस्य भाव ईषदनशनं वाऽनशनमिति रूढम् । मुक्त्यर्थमिति कर्मक्षयार्थं दृष्टफलमंत्रसाधनाद्यनुद्दिश्येत्यर्थः । यच्च दण्डकाचारादिशास्त्रेषु संवत्सरातीतमप्यनशनं श्रूयते तदप्यर्धं च वर्षं चेत्यर्धवर्षे इत्येकस्य वर्षशब्दस्य लोपं कृत्वा व्याख्येयम् ॥११॥

अथोपवासस्य निरुक्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

[1]स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात् ।
उपवासोऽशनस्वाद्यखाद्यपेयविवर्जनम् ॥१२॥

स्वार्थात्—निजनिजविषयात् । उक्तं च—

'उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः ।
वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ॥' [अमित. श्रा., १२।११९]

उपवास कहते हैं। आठ वेलाओंमें भोजनके त्यागको अष्ट या तीन उपवास कहते हैं। दस वेलाओंमें भोजनके त्यागको दसम या चार उपवास कहते हैं। बारह वेलाओंमें भोजनके त्यागको द्वादश या पाँच उपवास कहते हैं। इस प्रकार चतुर्थसे लेकर षट्मासका उपवास अनशन तप है। इसे अवधृतकाल अनशन तप कहते हैं और मरणपर्यन्त भोजनके त्यागको अनवधृतकाल अनशन तप कहते हैं। इस तरह अनशन तपके दो भेद हैं। कहा है—'यहाँ अनशनके दो भेद कहे हैं—एक अद्धानशन और एक सर्वानशन। बिहार करनेवाले साधु अद्धानशन करते हैं और शरीर त्यागनेवाले सर्वानशन करते हैं। अर्थात् कालकी मर्यादापूर्वक चार प्रकारके आहारका त्याग अद्धानशन है और मरणपर्यन्त त्याग सर्वानशन है। एक उपवास प्रथम अद्धानशन है और छह मासका उपवास अन्तिम अद्धानशन है। एक उपवाससे लेकर छह मासके उपवासपर्यन्त सब अद्धानशनके भेद हैं। यह इच्छानुसार किया जाता है।' न अशनको अनशन कहते हैं। यहाँ 'न' निषेधके अर्थमें भी है और थोड़ेके अर्थमें भी है। इसलिए अशनके न करनेको या अल्प भोजनको अनशन कहते हैं। यह अनशन तभी तप है जब कर्मक्षयके लिए किया जाये। मन्त्र साधन आदि लौकिक फलके उद्देशसे किया जानेवाला अनशन तप नहीं है। कुछ शास्त्रोंमें एक वर्षसे अधिकका भी अनशन सुना जाता है अतः अर्धवर्षान्तका अर्थ 'अर्ध और वर्ष' ऐसा कर लेना चाहिए।

उपवासका निरुक्ति पूर्वक लक्षण कहते हैं—

अपने-अपने विषयोंसे हटकर इन्द्रियोंके राग-द्वेषसे रहित आत्मस्वरूपमें बसने अर्थात् लीन होनेसे अशन, स्वाद्य, खाद्य और पेय चारों प्रकारके आहारका विधिपूर्वक त्यागना उपवास है ॥१२॥

विशेषार्थ—उपवास शब्द उप और वास दो शब्दोंके मेलसे बना है। उसका अर्थ है आना अर्थात् इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे हटकर आना और वासका अर्थ है बसना,

---

१. 'शब्दादिग्रहण प्रतिनिवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः, चतुर्विधाहारपरित्यागः—सर्वार्थसि., ७।२१ ।

परे त्वेवमाहुः—

'उपावृत्तस्य दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः' [ ] ॥१२॥

अथानशनादीनां लक्षणमाह—

ओदनाद्यशनं स्वाद्यं ताम्बूलादि-जलादिकम् ।
पेयं खाद्यं त्वपूपाद्यं त्याज्यान्येतानि शक्तितः ॥१३॥

उक्तं च—

'मुद्गौदनाद्यमशनं क्षीरजलाद्यं मतं जिनैः पेयम् ।
ताम्बूलदाडिमाद्यं स्वाद्यं खाद्यं त्वपूपाद्यम् ॥'

अपि च—

'प्राणानुग्राहि पानं स्यादशनं दमनं क्षुधः ।
खाद्यते यत्नतः खाद्यं स्वाद्यं स्वादोपलक्षितम् ॥' [ ] ॥१३॥

अथोपवासस्योत्तमादिभेदात् त्रिप्रकारस्यापि प्रचुरदुष्कृताशुनिर्जराङ्गत्वाद्यथाविधि-विधेयत्वमाह—

उपवासो वरो मध्यो जघन्यश्च त्रिधापि सः ।
कार्यो विरक्तैर्विधिवद्बह्वागःक्षिप्रपाचनः ॥१४॥

आगः—पापम् ॥१४॥

लीन होना अर्थात् आत्मामें लीन होना। इसीको उपवास कहते हैं। कहा है—'जिसमें सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त होकर बसती हैं उसे विद्वान् उपवास कहते हैं।'

उसका अर्थ जो चार प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है, उसका कारण यह है कि आहार न मिलनेसे सब इन्द्रियाँ म्लान हो जाती हैं। वास्तवमें तो इन्द्रियोंका उपवासी होना ही सच्चा उपवास है और इन्द्रियाँ तभी उपवासी कही जायेंगी जब वे अपने विषयको ग्रहण न करें उधरसे उदासीन रहें। उसीके लिए चारों प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है।

अन्य धर्मोंमें उपवासकी निरुक्ति इस प्रकार की है—'दोषोंसे हटकर जो गुणोंके साथ बसना है उसे उपवास जानना चाहिए। उपवासमें समस्त भोगोंका त्याग होता है' ॥१२॥

अशन आदिका लक्षण कहते हैं—

भात-दाल आदि अशन है। पान-सुपारी आदि स्वाद्य है। जल, दूध आदि पेय है। पूरी, लड्डू आदि खाद्य है। इनको शक्तिके अनुसार छोड़ना चाहिए ॥१३॥

विशेषार्थ—अन्यत्र पान आदिका स्वरूप इस प्रकार कहा है—'जो प्राणोंपर अनुग्रह करता है, उन्हें जीवन देता है वह पान या पेय है। जो भूखको मिटाता है वह अशन है। जो यत्नपूर्वक खाया जाता है वह खाद्य है और जो स्वादयुक्त होता है वह स्वाद्य है ॥१३॥'

उत्तम आदिके भेदसे तीन प्रकारका भी उपवास प्रचुर पापोंकी शीघ्र निर्जरामें कारण है। अतः उसको विधिपूर्वक पालनेका उपदेश देते हैं—

उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीनों भी प्रकारका उपवास प्राणीसंयम और इन्द्रियसंयमके पालकोंको शास्त्रोक्त विधानके अनुसार करना चाहिए। क्योंकि वह शीघ्र ही बहुत-से पापोंकी निर्जराका कारण है ॥१४॥

अथोत्तमादिभेदानां लक्षणान्याह—

धारणे पारणे सैकभक्तो वर्यश्चतुर्विधः ।
साम्बुर्मध्योऽनेकभक्तः सोऽधमस्त्रिविधावुभौ ॥१५॥

चतुर्विधः—चतुर्विधसंज्ञक उपवासः । साम्बुः—सपानीयः, धारणे पारणे सैकभक्त इत्येवम् । अनेकभक्तः—धारणे पारणे चैकभक्तरहित. साम्बुरित्येवम् । त्रिविधौ—त्रिविधसंज्ञौ । उक्तं च—

'चतुर्णां तत्र भुक्तीनां त्यागे वर्यश्चतुर्विधः ।
उपवासः सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मतः ॥'
'भुक्तिद्वयपरित्यागे त्रिविधो गदितोऽधमः ।
उपवासस्त्रिधाऽप्येषः शक्तित्रितयसूचकः ॥' [अमित. श्रा. १२।१२३-१२४] ॥१५॥

अथाशक्तितो भोजनत्यागे दोषमाह—

यदाहारमयो जीवस्तदाहारविराधितः ।
नार्तरौद्रातुरो ज्ञाने रमते न च संयमे ॥१६॥

आहारमयः—आहारेण कवललक्षणेन निर्वृत्त इव । द्रव्यप्राणप्रधानोऽत्र प्राणी । आहारविराधितः—भोजनं हठात्त्याजित ॥१६॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेणाह—

उपवासके उत्तम आदि भेदोंका लक्षण कहते हैं—

धारणा और पारणाके दिन एक बार भोजनके साथ जो उपवास किया जाता है वह उत्तम है। उसका नाम चतुर्विध है। धारणा और पारणाके दिन एक बार भोजन करके जिस उपवासमें केवल जल लिया जाता है वह मध्यम है। तथा धारणा और पारणाके दिन दोनों बार भोजन करनेपर भी जिस उपवासमें केवल जल लिया जाता है वह अधम है। इन मध्यम और अधमका नाम त्रिविध है ॥१५॥

विशेषार्थ—भगवती आराधनामें (गा. २०९) अनशनके दो भेद किये हैं—अद्धानशन और सर्वानशन। संन्यास धारण करनेपर जो जीवनपर्यन्तके लिए अशनका त्याग किया जाता है वह सर्वानशन है और कुछ कालके लिए अशनके त्यागको अद्धानशन कहते हैं। आचार्य अमितगतिने इसके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेद कहे हैं। यथा 'चारों प्रकारके आहारका त्याग चतुर्विध नामक उत्तम उपवास है। पानी सहित उपवास त्रिविध नामक मध्यम उपवास है। अर्थात् धारणा और पारणा के दिन एक बार भोजन करे और उपवासके दिन केवल एक बार जल लेवे यह मध्यम त्रिविध नामक उपवास है। तथा धारणा और पारणाके दिन अनेक बार भोजन करके भी उपवास के दिन भी केवल जल ले तो यह अधम त्रिविध उपवास है। यह तीनों ही प्रकारका उपवास उत्तम, मध्यम और अधम शक्तिका सूचक है। शक्तिके अनुसार उपवास करना चाहिए।' श्वेताम्बर परम्परामें भी अनशनके यावज्जीवक तथा चतुर्थ भक्त आदि भेद हैं ॥१५॥

बिना शक्तिके भोजन त्यागनेमें दोष बतलाते हैं—

यतः प्राणी आहारमय है अर्थात् मानो आहारसे ही वह बना है। इसलिए आहार छुड़ा देनेपर उसे आर्त और रौद्रध्यान सताते हैं। अतः उसका मन न ज्ञानमें लगता है और न संयममें लगता है ॥१६॥

इसी बातको दूसरी तरहसे कहते हैं—

प्रसिद्धमन्नं वै प्राणा नृणां तत्त्याजितो हठात् ।
नरो न रमते ज्ञाने दुर्ध्यानार्तो न संयमे ॥१७॥

स्पष्टम् ॥१७॥

अथ दीर्घे सत्यायुषि नित्यनैमित्तिकांश्चोपवासान् यथाशक्ति विधाय तच्छेषमनेनैव नयेदिति शिक्षार्थमाह—

तन्नित्यनैमित्तिकभुक्तिमुक्ति-
विधीन् यथाशक्ति चरन् विलङ्घ्य ।
दीर्घं सुधीर्जीवितवर्त्म युक्त-
स्तच्छेषमत्ये त्वशनोज्झयैव ॥१८॥

नित्या—लुञ्चाद्याश्रयाः। नैमित्तिकाः—कनकावल्याद्याश्रया᳚। एतेषां लक्षणं टीकाराधनाया बोध्यम् । युक्तः—समाहितः सन् । अशनोज्झया—अनशनेन भक्तप्रत्याख्यानेङ्गिनीप्रायोपगमनमरणानामन्यतमेनेत्यर्थः । ॥१८॥

अथानशनतपसि प्ररोचनामुत्पादयन्नाह—

प्राञ्चः केचिदिहाप्युपोष्य शरदं कैवल्यलक्ष्म्याऽरुवन्
षण्मासानशनान्तवश्यविधिना तां चक्रुरुत्कां परे ।
इत्यालम्बितमध्यवृत्त्यनशनं सेव्यं सदार्यैस्तनुं
तप्तां शुद्ध्यति येन हेम शिखिना मूषामिवात्माऽऽवसन् ॥१९॥

प्राञ्चः—पूर्वपुरुषाः । केचित्—बाहुबल्यादयः । शरदं—संवत्सरं यावत् । पुरे—पुरुदेवादयः । शुद्ध्यति—द्रव्यभावकर्मभ्यां किट्टकालिकाभ्यां च मुच्यत इत्यर्थः ॥१९॥

मनुष्योंका प्राण अन्न ही है यह कहावत प्रसिद्ध है। जबरदस्ती उस अन्नको छुड़ा देनेपर खोटे ध्यानमें आसक्त मनुष्य न ज्ञानमें ही मन लगाता है और न संयममें मन लगाता है ॥१७॥

आगे यह शिक्षा देते हैं कि यदि आयु लम्बी हो तो यथाशक्ति नित्य-नैमित्तिक उपवास करके शेष आयुको उपवासपूर्वक ही बितावे—

यतः सिद्धान्तमें अनशन तपके गुण उक्त रूपसे कहे हैं अतः बुद्धिमान् साधुको शक्तिके अनुसार भोजनको त्यागनेके जो नित्य और नैमित्तिक विधियाँ हैं उन्हें पालते हुए लम्बे जीवनके मार्गको बितावे। उसके शेष भागको भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण या प्रायोपगमन-मरणमें-से किसी एक अनशनके द्वारा ही बितावे ॥१८॥

विशेषार्थ—केशलोंच आदिके दिन मुनिको उपवास करनेका जो नियम है वह नित्य-विधि है। तथा कनकावली, सिंहनिष्क्रीडित आदि जो अनेक प्रकारके व्रत कहे हैं वे नैमित्तिक है। जिनसेनके हरिवंशपुराणके ३४वें अध्यायमे उनका स्वरूप कहा है ॥१८॥

अनशन तपमें विशिष्ट रुचि उत्पन्न कराते हैं—

इसी भरत क्षेत्रमें बाहुबली आदि कुछ पूर्वपुरुष एक वर्ष तक उपवास करके केवलज्ञान-रूप लक्ष्मीसे सुशोभित हुए। दूसरे भगवान् ऋषभदेव वगैरहने चतुर्थभक्त उपवाससे लेकर छह महीनेके उपवासरूप वशीकरण प्रयोगके द्वारा ही उस केवलज्ञानरूप लक्ष्मीको उत्कण्ठित कर लिया। इसलिए मुमुक्षुओंको सदा मध्यमवृत्तिका आलम्बन लेकर अनशन करना चाहिए

---

१. मनशनेनैव भ कु. च.।

अथ स्वकारणचतुष्टयादुद्भवन्तीमाहारसंज्ञामाहारादिदर्शनादिप्रतिपक्षभावनया निगृह्णीयादित्यनुशास्ति—

भुक्त्यालोकोपयोगाभ्यां रिक्तकोष्ठतयाऽसतः ।
वेद्यस्योदीरणाच्चान्नसंज्ञामभ्युद्यतीं जयेत् ॥२०॥

भुक्त्यालोकोपयोगाभ्यां—आहारदर्शनेन तदुपयोगेन च । आहारं प्रति मनःप्रणिधानेनेत्यर्थः । असतः—असातसंज्ञस्य ॥२०॥

अथानशनतपोभावनायां नियुङ्क्ते—

शुद्धस्वात्मरुचिस्तमीक्षितुमपक्षिप्याक्षवर्गं भजन्
निष्ठासौष्ठवमङ्गनिर्ममतया दुष्कर्मनिर्मूलनम् ।
श्रित्वाऽब्दानशनं श्रुतार्पितमनास्तिष्ठन् धृतिन्यक्कृत-
द्वन्द्वः कर्हि लभेय दोर्बलितुलामित्यस्त्वनाश्वांस्तपन् ॥२१॥

अपक्षिप्य—विषयेभ्यो व्यावृत्य । श्रित्वा—प्रतिज्ञाय । तिष्ठन्—उद्भ्रः सन् । धृतिन्यक्कृतद्वन्द्वः—धृति आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविषया प्रसत्तिर्वा । तया न्यक्कृतानि अभिभूतानि द्वन्द्वानि परीषहा येन । कर्हि लभेय—कदा प्राप्नुयामहम् । दोर्बलितुलां—बाहुबलिकक्षाम् । तच्चर्या आर्षे यथा—

'गुरोरनुमतोऽधीती दधदेकविहारताम् ।
प्रतिमायोगमावर्षमातस्थे किल संवृतः ॥'
'स शंसितव्रतोऽनाश्वान् वनवल्लीततान्तिकः ।
वल्मीकरन्ध्रनिःसर्पत् सर्पैरासीद् भयानकः ॥' [महापु. ३६।१०६-१०७]

इत्यादि प्रबन्धेन । अनाश्वान्—अनशनव्रतः ॥२१॥

जिससे तप्त हुए शरीरमें रहनेवाला आत्मा आगसे तपी हुई मूषामें रखे हुए स्वर्णके समान शुद्ध हो जाता है। अर्थात् जैसे स्वर्णकारकी मूषामें रखा हुआ स्वर्ण आगकी गर्मीसे शुद्ध हो जाता है वैसे ही शरीरमें स्थित आत्मा अनशन तपके प्रभावसे शुद्ध हो जाता है ॥१९॥

आगे चार कारणोंसे उत्पन्न होनेवाली आहारसंज्ञाका प्रतिपक्ष भावनासे निग्रह करनेका उपदेश देते हैं—

भोजनको देखनेसे, भोजनकी ओर मन लगानेसे, पेटके खाली होनेसे तथा असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेसे उत्पन्न होनेवाली भोजनकी अभिलाषाको रोकना चाहिए ॥२०॥

विशेषार्थ—आगममें आहारसंज्ञाके ये ही चार कारण[1] कहे हैं—'आहारके देखनेसे, उसकी ओर मन लगानेसे, पेटके खाली होनेसे तथा असातावेदनीयकी उदीरणा होनेसे आहारकी अभिलाषा होती है' ॥२०॥

अनशन तपकी भावनामें साधुओंको नियुक्त करते हैं—

शुद्ध निज चिद्रूपमें श्रद्धालु होकर, उस शुद्ध निज आत्माका साक्षात्कार करनेके लिए, स्पर्शन आदि इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर चारित्रका सुचारुतासे पालन करते हुए, शरीरसे ममत्वको त्यागकर, अशुभ कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले एक वर्षके उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर, श्रुतज्ञानमें मनको लगाकर, खड़ा होकर, आत्मस्वरूपकी धारणाके द्वारा परीषहोंको निरस्त

१. 'आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए ।
वेदस्सुदीरणाए आहारे जायदे सण्णा' ।—गो. जीव. १३५ ।

अथावमौदर्यलक्षणं फलं चाह—

ग्रासोऽश्रावि सहस्रतन्दुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनं
पुंसो वैश्रसिकं स्त्रियो विचतुरास्तद्धानिरौचित्यतः ।
ग्रासं यावदथैकसिक्थमवमोदर्यं तपस्तच्चरे-
द्धर्मावश्यकयोगधातुसमतानिद्राजयाद्याप्तये ॥२२॥

अश्रावि—श्रावितः शिष्टैस्तेभ्यः श्रुतो वा । वैश्रसिकं—स्वाभाविकम् । विचतुराः—विगताश्चत्वारो येषा ते, अष्टाविंशतिर्ग्रासा इत्यर्थः । औचित्यतः—एकोत्तरश्रेण्या चतुर्थादिभागत्यागाद्वा । उक्तं च—

'द्वात्रिंशाः कवलाः पुंसः आहारस्तृप्तये भवेत् ।
अष्टाविंशतिरेवेष्टाः कवलाः किल योषितः ॥'
'तस्मादेकोत्तरश्रेण्या यावत्कवलमात्रकम् ।
ऊनोदरं तपो ह्येतद् भेदोऽपीदमिष्यते ॥' [ ]

अवमौदर्यं—अतृप्तिभोजनम् । तपः—तपोहेतुत्वाद् यूनतापरिहाररूपत्वात् । योगः—आतपनादिः सुध्यानादिश्च । धातुसमता—वाताद्यवैषम्यम् । निद्राजयादि, आदिशब्देन इन्द्रियप्रद्वेषनिवृत्त्यादिः । उक्तं च—

'धर्मावश्यकयोगेषु ज्ञानादावुपकारकृत् ।
दर्पहारीन्द्रियाणा च ज्ञेयमूनोदर तपः ॥' [ ] ॥२२॥

करके मैं बाहुबलीके समान अवस्थाको कब प्राप्त करूँगा, ऐसी भावनावाला अनशन तपका पालक होता है ॥२१॥

विशेषार्थ—स्वामी जिनसेनने बाहुबलीकी चर्याके सम्बन्धमें कहा है—'गुरुकी आज्ञासे एकाकी विहार करते हुए बाहुबली एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण करके स्थिर हो गये। प्रशंसनीय व्रती अनशन तपधारी बाहुबली वनकी लताओंसे आच्छादित हो गये। बाँबीके छिद्रोंसे निकलनेवाले साँपों-से वे बड़े डरावने लगते थे' ॥२१॥

इस प्रकार अनशन तपका विस्तारसे कथन किया।

अब अवमौदर्य तपका लक्षण और फल कहते हैं—

शिष्ट पुरुषोंसे सुना है कि एक हजार चावलका एक ग्रास होता है। पुरुषका स्वाभाविक भोजन ऐसे बत्तीस ग्रास है और स्त्रीका स्वाभाविक भोजन उससे चार ग्रास कम अर्थात् अट्ठाईस ग्रास है। उसमें-से यथायोग्य एक-दो-तीन आदि ग्रासोंको घटाते हुए एक ग्रास तक अथवा एक चावल तक ग्रहण करना अवमौदर्य तप है। यह तप उत्तम, क्षमा आदि रूप धर्मकी, छह आवश्यकोंकी, आतापन आदि योगकी प्राप्तिके लिए, वायु आदिकी विषमताको दूर करनेके लिए, निद्राको जीतने आदिके लिए किया जाता है ॥२२॥

विशेषार्थ—अवमोदर्य तपका स्वरूप अन्यत्र भी इसी प्रकार कहा है—'बत्तीस ग्रास प्रमाण आहार पुरुषकी तृप्तिके लिए होता है और स्त्रीकी तृप्तिके लिए अट्ठाईस ग्रास प्रमाण आहार होता है। उससे एक-दो-तीन आदिके क्रमसे घटाते हुए एक ग्रास मात्र लेना ऊनोदर तप है। ग्रासके अनुसार उसके भी भेद माने गये हैं।'

कहीं-कहीं ग्रास का प्रमाण मुर्गी के अण्डेके बराबर भी कहा[1] है। यथा—'मुर्गीके

---

१. कुक्कुटाण्डसमग्रासा द्वात्रिंशद्भोजनं मतम् ।
तदेकद्वित्रिभागोनमवमौदर्यमीर्यते ॥

अथ बह्वाशिनो दोषानाह—

बह्वाशी चरति क्षमादिदशकं दुष्यन्न नावश्यका-
न्यक्षूणान्यनुपालयत्यनुषजत्तन्द्रस्तमोऽभिद्रवन् ।
ध्यानाद्यर्हति नो समानयति नाप्यातापनाद्यन्वपुः
शर्मासक्तमनास्तदर्थमनिशं तस्यान्मिताशी वशी ॥२३॥

तमोऽभिद्रवन्—मोहमभिगच्छन् । समानयति—प्रत्यानयति सम्पूर्णीकरोति वा ॥२३॥

अथ मिताशनादिन्द्रियाणा प्रद्वेषाभावं वशवर्तित्वं च दर्शयति—

नाक्षाणि प्रद्विषन्त्यन्नप्रति क्षयभयान्न च ।
दर्पात् स्वैरं चरन्त्याज्ञामेवानूद्यन्ति भृत्यवत् ॥२४॥

अन्नप्रति—अन्नस्य मात्रया स्तोकाहारेण इत्यर्थः । उपवासादिन्द्रियाणां क्षयभयं स्यात् । 'अन्नप्रति' इत्यत्र 'स्तोके प्रतिना' इत्यनेन अव्ययीभावः । आज्ञामेवानु—आज्ञयैव सह । उद्यन्ति—उत्थानं कुर्वन्ति ॥२४॥

अथ मिताशिनो गुणविशेषमाह—

शमयत्युपवासोत्थवातपित्तप्रकोपजाः ।
रुजो मिताशी रोचिष्णु ब्रह्मवर्चसमश्नुते ॥२५॥

रोचिष्णु—दीपनशीलम् । ब्रह्मवर्चसं—परमात्मतेजः श्रुतज्ञानं वा ॥२५॥

अथ वृत्तिपरिसंख्यानतपसो लक्षणं तदाचरणफलं चोपदिशति—

अण्डे प्रमाण बत्तीस ग्रास भोजन माना है। उसमें एक या दो या तीन भाग कम करना अवमौदर्य है।

इसके लाभ बतलाते हुए कहा है—'यह ऊनोदर तप धर्म, आवश्यक, ध्यान और ज्ञानादिकी प्राप्तिमें उपकारी होता है तथा इन्द्रियोंके मदको दूर करता है' ॥२२॥

बहुत भोजन करनेके दोष कहते हैं—

बहुत अधिक भोजन करनेवाला साधु प्रमादी होकर उत्तम, क्षमादि रूप दस धर्मोंको नहीं पालता, न आवश्यकोंको निर्दोष और सम्पूर्ण रूपसे पालता है। उसे सदा तन्द्रा सताती है, इसलिए मोहसे अभिभूत होकर ध्यान, स्वाध्याय वगैरह भी नहीं करता। शारीरिक सुखमें मनके आसक्त होनेसे आतापनयोग, वर्षायोग आदिको भी पूरा नहीं करता। इसलिए धर्मादिकी पूर्तिके लिए मुनिको सदा मितभोजी होना चाहिए ॥२३॥

आगे कहते हैं कि परिमित भोजन करनेसे इन्द्रियाँ अनुकूल और वशमें रहती हैं—

अल्प आहारसे इन्द्रियाँ मानो उपवाससे इन्द्रियोंका क्षय न हो जाये, इस भयसे अनुकूल रहती हैं और मदके आवेशमें स्वच्छन्द नहीं होती है। किन्तु सेवककी तरह आज्ञानुसार ही चलती हैं ॥२४॥

मित भोजनके विशेष गुण कहते हैं—

उपवासके द्वारा वात-पित्त कुपित हो जानेसे उत्पन्न हुए रोग अल्पाहारसे शान्त हो जाते हैं। तथा परिमितभोजी प्रकाशस्वभाव परमात्म तेजको अथवा श्रुतज्ञानको प्राप्त करता है ॥२५॥

आगे वृत्तिपरिसंख्यान तपका लक्षण और उसका फल कहते हैं—

भिक्षागोचरचित्रदातृचरणामत्रान्नसद्मादिगात्
संकल्पाच्छ्रमणस्य वृत्तिपरिसंख्यानं तपोऽङ्गस्थितिः ।
नैराश्याय तदाचरेन्निजरसासृग्मांससंशोषण-
द्वारेणेन्द्रियसंयमाय च परं निर्वेदमासेदिवान् ॥२६॥

भिक्षेत्यादि—भिक्षणाश्रितनानाविधदायकादि-विषयमभिसन्धिमाश्रित्य यतेराहारग्रहणं वृत्तिपरिसंख्यानमित्याख्यायते इत्यर्थः । उक्तं च—

'गोयरपमाणदायकभायणणाणाविहाण जं गहणं ।
तह एसणस्स गहणं विविहस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥' [मूलाचार, गा ३५५]

भिक्षासे सम्बद्ध दाता, चलना, पात्र, अन्न, गृह आदि विषयक अनेक प्रकारके संकल्पसे श्रमणका शरीरके लिए वृत्ति करना वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप है। यह तप आशाकी निवृत्तिके लिए और अपने शरीरके रस, रुधिर और मांसको सुखानेके द्वारा इन्द्रिय संयमके लिए संसार, शरीर और भोगोंसे परम वैराग्यको प्राप्त मुमुक्षुको करना चाहिए ॥२६॥

विशेषार्थ—साधु जब भोजनके लिए निकलता है तो भिक्षासे सम्बद्ध दाता आदिके सम्बन्धमें कुछ संकल्प कर लेता है। जैसे—ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि और वह भी वृद्ध या बालक या युवा हुआ, अथवा जूते पहने हो या मार्गमें खड़ा हो या हाथी पर चढ़ा हो, या अन्य किसी प्रकारका दाता यदि आज मुझे पड़गाहेगा तभी मैं ठहरूँगा अन्यथा नहीं। इसी प्रकारका संकल्प स्त्रीके विषयमें भी जानना। इस प्रकार दाताविषयक अनेक संकल्प होते हैं। तथा जिस गलीसे जाऊँगा उसी गलीसे पीछे लौटनेपर यदि भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँगा अन्यथा नहीं। इसी तरह सीधी गलीसे या गोमूत्रके आकारवाली टेढ़ी-मेढ़ी गलीसे, या चौकोर आकारवाली गलीसे जानेपर भिक्षा मिलेगी तो लूँगा। या अन्दर जानेसे लेकर बाहर निकलने तक यदि पतंगोंके भ्रमणके आकारमें या गोचरीके आकारमें भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँगा। इस प्रकारके मार्ग विषयक अनेक संकल्प हैं। तथा यदि सुवर्णके या चाँदीके या मिट्टीके पात्रसे भिक्षा देगा तो स्वीकार करूँगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकारके पात्रविषयक संकल्प हैं। तथा यदि पिण्डभूत आहार या बहुत पतला पेय, या जौकी लपसी, या मसूर, चना, जौ आदि धान्य, अथवा शाक, कुलमाष आदिसे मिला हुआ भात या शाकके मध्यमें रखा हुआ भात, या चारों ओर व्यंजनके मध्यमें रखा हुआ अन्न, या व्यंजनके मध्यमें पुष्पावलीके समान रखाहुआ सिक्थक, अथवा शाक आदि व्यंजन मिलेगा तो भिक्षा लूँगा, अन्यथा नहीं। या जिससे हाथ लिप्त हो जाये ऐसा कोई गाढ़ा पेय या जो हाथको न लग सके ऐसा कोई खाद्य पेय, सिक्थक सहित पेय या सिक्थक रहित पेय मिलेगा तो आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। ये अन्नविषयक संकल्प हैं। तथा अमुक घरोंमें जाऊँगा या इतने घरोंमें जाऊँगा, इससे अधिकमें नहीं। यह घर विषयक संकल्प है। आदि शब्दसे मुहल्ला आदि लिये जाते हैं। यथा इसी मुहल्लेमें प्रवेश करनेपर भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँगा या एक ही मुहल्लेमें या दो ही मुहल्लेमें जाऊँगा। तथा अमुक घरके परिकर रूपसे लगी हुई भूमिमें जाकर भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँगा। इसे कुछ निवसन कहते हैं। दूसरे कुछ ग्रन्थकार कहते हैं कि पाटक (मुहल्ला) की भूमिमें ही प्रवेश करूँगा घरोंमें नहीं, इस प्रकारके संकल्पको पाटकनिवसन कहते हैं। अतः इन दोनोंको ही ग्रहण कर लेना चाहिए। तथा एक या दो ही भिक्षा ग्रहण करूँगा, यह भिक्षाविषयक संकल्प है। तथा एक दाताके

तद्यथा—ब्राह्मणः क्षत्रियादिर्वा सोऽपि वृद्धो [1]बाल्युवाद्यवस्थो वा [2]सोपानत्को मार्गस्थो हस्त्याद्यारूढो-ऽन्यथा वा यद्यद्य मां धरेत् तदानीं तिष्ठामि, नान्यथा । एवं स्त्रियामपि योज्यम् । एवंविधो बहुविधो दातृविषय-संकल्पः । तथा यया वीथ्या गच्छामि पूर्वं तयैव प्रत्यागच्छन् यदि भिक्षां लभेय तदा गृह्णीया नान्यथा । एवं प्राञ्जलं वीथ्यागच्छन् गोमूत्रिकाकारं वा चतुरस्राकारं वा अभ्यन्तरमारभ्य बहिर्निःसरणेन वा शलभमाला-भ्रमणाकारं वा गोचर्याकारं वा भ्राम्यन् यद्यद्य भिक्षां लभेय तदा गृह्णीयाम्—इत्यादिरनेकविधश्चरणविषयः । तथा यदि पिण्डभूतं द्रवबहुलतया पेयं वा यवागूं वा मसूरचणकयवादिधान्यं वा शाककुल्माषादिसंसृष्टं वा समन्ता-दवस्थितशाकमध्यावस्थितौदनं वा परित. स्थितव्यञ्जनमध्यस्थितान्नं वा व्यञ्जनमध्ये पुष्पावलीवदवस्थितसिक्थक वा निष्पावाद्यमिश्रितान्नं वा शाकव्यञ्जनादिकं वा हस्तलेपकारि [-तदलेपकारि वा] वा निसिक्थं ससिक्थं वा पानकं वाद्याभ्यवहरामि नान्यदित्यादिरन्नविषयः । तथा एतेष्वेतावत्सु वा गृहेषु प्रविशामि नान्येषु बहुषु इति सद्म-विषयः । आदिशब्दात्पाटकादयो गृह्यन्ते । तत्र इममेव पाटकं प्रविश्य लब्धा भिक्षां गृह्णामि नान्याम् । एकमेव पाटकं द्वयमेव वेति । तथा अस्य गृहस्य परिकरतयाऽवस्थितां भूमिं प्रविश्य गृह्णामि इत्यभिग्रहो निवसन-मित्युच्यते इति केचिद् वदन्ति । अपरे पाटकस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणीति संकल्पः पाटकनिवसन-मित्युच्यते इति कथयन्ति । तदुभयमपि च गृह्यते । तथा एका भिक्षां द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति भिक्षा-परिमाणम् । तथा एकेनैवादीयमानं द्वाभ्यामेवेति वा दातृक्रियापरिमाणम् । आनीतायामपि भिक्षायामियत एव ग्रासानियन्त्येव वा वस्तून्येतावन्तमेव कालमेतस्मिन्नेव काले गृह्णामीति वा परिमाणं गृह्यत इति । तदुक्तं—

'गत्वा प्रत्यागतमृजुविधिश्च गोमूत्रिका तथा पेटा ।
शम्बूकावर्तविधिः पतङ्गवीथी च गोचर्या ॥
पाटकनिवसन-भिक्षापरिमाण-दातृदेयपरिमाणम् ।
पिण्डाशनपानाशनखिच्चयवागूर्जतपशीतः (-गूर्वंतयति सः) ॥
संसृष्टफलकपरिखाः पुष्पोपहृतं च शुद्धकोपहृतम् ।
लेपकमलेपकं पानकं च निःसिक्थिकं ससिक्थं च ॥
पात्रस्य दायकादेरवग्रहो बहुविधः स्वसामर्थ्यात् ।
इत्येवमनेकविधा विज्ञेया वृत्तिपरिसंख्या ॥' [भ. आ., गा. २१८-२२१ का रूपान्तर] ॥२६॥

द्वारा या दो दाताओंके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करूँगा। यह दातृक्रियाका परिमाण है। लायी हुई भिक्षामें-से भी इतने ही ग्रास लूँगा या इतनी ही वस्तु लूँगा या इतने काल तक ही लूँगा या अमुक कालमें लूँगा इस प्रकारका भी परिमाण किया जाता है। श्वेताम्बर पर-म्परामें साधु पात्रमें भिक्षा ग्रहण करते हैं। अतः वृत्तिपरिसंख्यान तपमें वे नियम करते हैं कि एक बारमें या दो या तीन बारमें जितना देगा उतना ही लूँगा। हाथ से या करछुलसे उठाकर जो दिया जाता है उसे भिक्षा कहते हैं। उसकी भी गिनती गोचरीके लिए जाते हुए कर ली जाती है। इस तरह साधु अभिग्रहको करके भिक्षाके लिए भ्रमण करता है। यह अभिग्रह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे चार प्रकारका होता है। द्रव्यसे जैसे, सत्तू या कुल्माषमिश्रित अन्न या केवल भात या तक्र या आचाम्ल ग्रहण करूँगा। क्षेत्रसे जैसे, देहलीको दोनों जंघाओंके मध्यमें करके भिक्षा लूँगा। कालसे—जब सब भिक्षा लेकर लौट जायेंगे तब भिक्षा लूँगा। भावसे जैसे, यदि दाता हँसते हुए या रोते हुए देगा, या दाता साँकलसे बँधा होगा, तो भिक्षा ग्रहण करूँगा। इस प्रकार कोई एक द्रव्यादिका अभिग्रह करके शेषका त्याग करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। (तत्त्वार्थ टीका—सिद्धसेन गणि ९।१९) ॥२६॥

१. देखो, भग. आरा., गा.२१८-२२१ की विजयोदया टीका।

अथ रसपरित्यागलक्षणार्थमाह—

स्यागः क्षीरदधीक्षुतैलहविषां षण्णां रसानां च यः
कात्स्न्येंनावयवेन वा यदसनं सूपस्य शाकस्य च।
आचाम्लं विकटौदनं यदशनं शुद्धौदनं सिक्थवद्
रूक्षं शीतलमप्यसौ रसपरित्यागस्तपोऽनेकधा ॥२७॥

इक्षुः—गुडखण्डमत्स्यण्डिकादि। हविः—घृतम्। अवयवेन—एकद्वित्र्याद्यवच्छेदेन। असनं—वर्जनम्। आचाम्लं—असंस्कृतसौवीरमिश्रम्। विकटौदनं—अतिपक्वमुष्णोदकमिश्रं वा। शुद्धौदनं—केवलभक्तम्। सिक्थवत्—सिक्थाढ्यमल्पोदकमित्यर्थः। अपि—श्रेष्ठानामिष्टरूपरसगन्धस्पर्शोपितानां परमान्नपानफलभक्षौषधादीनां रूपबलवीर्यगृद्धिदर्पवर्धनानां स्वादूनामाहाराणां महारम्भप्रवृत्तिहेतूनामनाहरणसंग्रहणार्थः ॥२७॥

अथ यः संविग्नः सर्वज्ञाज्ञादृढबद्धादरस्तपःसमाधिकामश्च सल्लेखनोपक्रमात् पूर्वमेव नवनीतादिलक्षणाश्चतस्रो महाविकृतीर्यावज्जीवं त्यक्तवान् स एव रसपरित्यागं वपुःसल्लेखनाकामो विशेषेणाभ्यसितुमर्हतीत्युपदेशार्थं वृत्तद्वयमाह—

रसपरित्याग तपका लक्षण कहते हैं—

दूध, दही, इक्षु—गुड़, खाँड़, शर्करा आदि, तेल और घी इन छह रसोंका जो पूर्णरूपसे या इनमें-से एक-दो आदिका त्याग है उसे रसपरित्याग कहते हैं। मूँग आदिका और शाकका सर्वथा त्यागना या किसी दाल, शाक आदिके त्यागनेको भी रसपरित्याग कहते हैं। आचाम्लका, अति पके हुए और गरम जल मिले भातका, या केवल भातका, या अल्प जलवाले भातका, या रूक्ष आहारका, या शीतल आहारका खाना भी रसपरित्याग है। श्लोकके 'अपि' शब्दसे श्रेष्ठ, इष्ट रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे युक्त उत्तम अन्न, पान, फल, औषध आदि तथा रूप, बल, वीर्य, तृष्णा और मदको बढानेवाला तथा महान् आरम्भ और प्रवृत्तिके कारणभूत स्वादिष्ट आहारको ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस तरह रसपरित्याग अनेक प्रकारका होता है ॥२७॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना (गा. २१५-२१७) में रसपरित्यागमें उक्त प्रकारसे त्याग बतलाया है। तत्त्वार्थवार्तिक आदि सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें रसपरित्यागमें घी, दूध, दही, गुड़-शक्कर और तेलके त्यागका मुख्य रूपसे निर्देश मिलता है क्योंकि इनकी गणना इन्द्रियमदकारक वृष्य पदार्थोंमें है। उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (९-१९) में रसपरित्यागके अनेक भेद कहे हैं—जैसे मद्य, मांस, मधु और मक्खन इन विकारकारी रसोंका त्याग और विरस रूक्ष आदि आहारका ग्रहण। टीकाकार सिद्धसेन गणिने आदि पदसे दूध, दही, गुड़, घी और तेलका ग्रहण किया है। इससे प्रतीत होता है कि दोनों परम्पराओंमें 'रस' से इन पाँचोंका मुख्य रूपसे ग्रहण होता था। क्योंकि ये वृष्य हैं, इन्द्रियोंको उद्दीप्त करते हैं। पं. आशाधरजीने इनके साथ ही खट्टा, मीठा, तीता, कटुक, कसैला और लवण इन छह रसोंमें-से एक, दो या सबके त्यागको भी रसपरित्यागमें स्पष्ट कर दिया है। मिष्टरसके त्यागमें और इक्षुरसके त्यागमें अन्तर है। मिष्टरसका त्यागी मीठे फलोंका सेवन नहीं कर सकता किन्तु इक्षुरसका त्यागी कर सकता है ॥२७॥

जो संसारसे उद्विग्न है, सर्वज्ञके वचनोंमें दृढ आस्था रखता है, तप और समाधिका इच्छुक है, सल्लेखना प्रारम्भ करनेसे पहले ही मक्खन आदि चार महाविकृतियोंको जीवन

काङ्क्षाकृन्नवनीतमक्षमदसृण्मांसं प्रसङ्गप्रदं
मद्यं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं यच्चच चत्वार्यपि ।
सम्मूर्छालसवर्णजन्तुनिचितान्युच्चैर्मनोविक्रिया-
हेतुत्वादपि यन्महाविकृतयस्त्याज्यान्यतो धार्मिकैः ॥२८॥
इत्याज्ञां दृढमार्हतीं वधवधाद्भीतोऽत्यजत् तानि य-
श्चत्वार्येव तपःसमाधिरसिकः प्रागेव जीवावधि ।
अभ्यस्येत्स विशेषतो रसपरित्यागं वपुः संलिखन्
स्याद्दूषीविषवद्धि तन्वपि विकृत्यङ्गं न शान्त्यै श्रितम् ॥२९॥

काङ्क्षाकृत्—गृद्धिकरम् । अक्षमदसृट्—इन्द्रियदर्पकारि । प्रसङ्गप्रदं—पुनः पुनस्तत्र वृत्तिरगम्यागमनं वा प्रसङ्गस्तं प्रकर्षेण ददाति । असंयमार्थं—रसविषयकरागात्मक इन्द्रियासंयमः, रसजजन्तुपीडालक्षणश्च प्राणासंयमः । तन्निमित्तम् । संमूर्छालाः—सम्मूर्छनप्रभवाः । सवर्णाः—स्वस्य योनिद्रव्येण समानवर्णाः । उच्चैर्मनोविक्रियाहेतुत्वात्—महाचेतोविकारकारणत्वात् । धार्मिकैः—धर्ममहिंसालक्षणं चरद्भिः ॥२८॥

दृढं—सर्वज्ञाज्ञालङ्घनादेव दुरन्तसंसारपातो ममाभूद् भविष्यति च तदेनां जातुचिन्न लङ्घयेयमिति निर्बन्धं कृत्वेत्यर्थः । तपःसमाधिरसिकः—तपस्येकाग्रतां तपःसमाधौ वा नितान्तमाकाङ्क्षन् । उक्तं च—

'चत्तारि महाविगडीओ होंति णवणीदमज्जमंसमहू ।
कंखा-पसंग-दप्पासंजमकारीओ एदाओ ॥
आणाभिकंखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ।
ताओ जावज्जीवं णिव्वुढाओ पुरा चेव ॥' [मूलाचार, गा. ३५३-३५४]

दूषीविषवत्—मन्दप्रभावविषमिव । उक्तं च—

'जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ।
स्वभावतो वा न गुणैरुपेतं दूषीविषाख्यं विषमभ्युपैति ॥' [ ]

तन्वपि—अल्पमपि ॥२९॥

पर्यन्त छोड़ चुका है, वही शरीरको कृश करनेकी इच्छासे रसपरित्यागका विशेष रूपसे अभ्यास करनेका पात्र है, यह बात दो पद्योंसे कहते हैं—

नवनीत—मक्खन तृष्णाको बढ़ाता है, मांस इन्द्रियोंमें मद पैदा करता है। मद्य जो एक बार पी लेता है बार-बार पीना चाहता है। साथ ही, अभोग्य नारीको भी भोगनेकी प्रेरणा करता है। शहद असंयमका कारण है। असंयम दो प्रकारका होता है—इन्द्रिय असंयम और प्राणी असंयम। रसविषयक अनुरागको इन्द्रिय असंयम कहते हैं और रसमें रहनेवाले जीवोंको पीड़ा होना प्राणी असंयम है। शहदके सेवनसे दोनों असंयम होते हैं। दूसरी बात यह है कि इन चारोंमें ही उसी रंगके सम्मूर्च्छन जीव भरे हैं। तीसरी बात यह है कि ये उच्च मनोविकारमें कारण हैं। इनके सेवनसे मन अत्यधिक विकारयुक्त होता है। इसीलिए इन्हें महाविकृति कहा है। अतः अहिंसा धर्मके पालकोंको इन्हें त्यागना चाहिए। जिन भगवान्की इस आज्ञाको दृढ़ रूपसे धारण करता हुआ, पापसे भयभीत और तप तथा समाधिका अनुरागी जो मुमुक्षु पहले ही जीवनपर्यन्तके लिए उन चारोंका ही त्याग कर चुका है, वह शरीरको कृश करनेके लिए रसपरित्यागका विशेष रूपसे अभ्यास करे, क्योंकि जिस विषका प्रभाव मन्द हो गया है उस विषकी तरह थोड़ा भी विकारके कारणको अपनानेसे कल्याण नहीं होता ॥२८-२९॥

अथ विविक्तशय्यासनस्य तपसो लक्षणं फलं चोपदिशति—

विजन्तुविहितबलाद्यविषये मनोविक्रिया
निमित्तरहिते रतिं ददति शून्यसद्मादिके ।
स्मृतं शयनमासनाद्यथ विविक्तशय्यासनं
तपोऽतिहृतिवर्णिताश्रुतसमाधिसंसिद्धये ॥३०॥

विहितं—उद्गमादिदोषरहितम् । ते च पिण्डशुद्धयुक्ता यथास्वमत्र चिन्त्याः । अबलाद्यविषयः—स्त्रीपशु-नपुंसक-गृहस्थ-क्षुद्रजीवानामगोचरः । मनोविक्रियानिमित्तानि—अशुभसंकल्पकराः शब्दाद्यर्थाः । रतिं—मनसोऽन्यत्र गमनौत्सुक्यनिवृत्तिम् । सद्मादि—गृहगुहा-वृक्षमूलादि । आसनादि—उपवेशनोद्भावस्थानादि । अतिहृतिः—आबाधात्ययः । वर्णिता—ब्रह्मचर्यम् ॥३०॥

अथ विविक्तवसतिमध्युषितस्य साधोरसाधुलोकसंसर्गादिप्रभवदोषसंक्लेशाभावं भावयति—

असभ्यजनसंवासदर्शनोत्थैर्न मध्यते ।
मोहानुरागविद्वेषैर्विविक्तवसतिं श्रितः ॥३१॥

विविक्तवसतिम् । तल्लक्षणं यथा—

'यत्र न चेतोविकृतिः शब्दाद्येषु प्रजायतेऽर्थेषु ।
स्वाध्यायध्यानहतिर्न यत्र वसतिर्विविक्ता सा ॥'

अपि च—

"हिंसाकषायशब्दादिवारकं ध्यानभावनापथ्यम् ।
निर्वेदहेतुबहुलं शयनासनमिष्यते यतिभिः ॥"

तन्निवासगुणश्च—

'कलहो रोलं झञ्झा व्यामोहः संकरो ममत्वं च ।
ध्यानाध्ययनविघातो नास्ति विविक्ते मुनेर्वसतः ॥' [भ. आ , २३२ का रूपान्तर]

रोलः—शब्दबहुलता । झञ्झा—सक्लेशः । संकरः—असयतैः सह मिश्रणम् । ध्यानं—एकस्मिन् प्रमेये निरुद्धा ज्ञानसंततिः । अध्ययनं—अनेकप्रमेयसंचारी स्वाध्यायः ॥३१॥

आगे विविक्तशय्यासन नामक तपका लक्षण और फल कहते हैं—

अनेक प्रकारकी बाधाओंको दूर करनेके लिए तथा ब्रह्मचर्य, शास्त्रचिन्ता और समाधिकी सम्यक् सिद्धिके लिए, ऐसे शून्य घर, गुफा आदिमें, जो जन्तुओंसे रहित प्रासुक हो, उद्गम आदि दोषोंसे रहित हो, स्त्री, पशु, नपुंसक, गृहस्थ और क्षुद्र जीवोंका जहाँ प्रवेश न हो, जहाँ मनमें विकार उत्पन्न करनेके निमित्त न हों, तथा जो मनको अन्यत्र जानेसे रोकता हो, ऐसे स्थानमें शयन करना, बैठना या खड़ा होना आदिको विविक्तशय्यासन तप कहा है ॥३०॥

आगे कहते हैं कि एकान्त स्थानमें रहनेवाले साधुके असाधु लोगोंके संसर्गसे होनेवाले दोष और संक्लेश नहीं होते—

एकान्त स्थानमें वास करनेवाला साधु असभ्य जनोंके सहवास और दर्शनसे उत्पन्न होनेवाले मोह, राग और द्वेषसे पीड़ित नहीं होता ॥३१॥

विशेषार्थ—विविक्तवसतिका लक्षण इस प्रकार कहा है—'जिस स्थानमें शब्द आदि विषयोंसे चित्तमें विकार पैदा नहीं होता, अर्थात् जहाँ विकारके साधन नहीं हैं और जहाँ स्वाध्याय और ध्यानमें बाधा नहीं आती वह विविक्तवसति है।' ऐसे स्थानके गुण इस प्रकार

अथ कायक्लेशं तपो लक्षयित्वा तत्प्रतिनियुङ्क्ते—

ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रिमावग्रहैः ।
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः
कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत् ॥३२॥

ऊर्ध्वार्काद्ययनैः—शिरोगतादित्यादि—ग्रामान्तरगमनप्रत्यागमनैः। शवादिशयनैः—मृतकदण्डलगडैकपार्श्वादिशय्याभिः। वीरासनाद्यासनैः—वीरासनमकरमुखासनोत्कुटिकासनादिभिः। स्थानैः—कायोत्सर्गैः। एकपदाग्रगामिभिः—एकपदमग्रगामि पुरस्सरं येषां समपादप्रसारितभुजादीनां तानि तैः। अनिष्ठीवाग्रिमावग्रहैः—अनिष्ठीवो निष्ठीवनाकरणमग्रिमो मुख्यो येषामकण्डूयनादीनां तेऽनिष्ठीवाग्रिमास्ते च तेऽवग्रहाश्च धर्मोपकारहेतवोऽभिप्रायास्तैः। आतापनादिभिः—आतपनमातापनं ग्रीष्मे गिरिशिखरेऽभिसूर्यमवस्थानम्। एवं वर्षासु वृक्षमूलेषु शीतकाले चतुष्पथे संतापनम्। कायक्लेशं—कायक्लेशाख्यम्। उक्तं च—

'ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गहेहिं बहुगेहिं ।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो ॥' [मूलाचार, गा. ३५६]

अपि च—

'अनुसूर्यं प्रतिसूर्यं तिर्यक्सूर्यं तथोर्द्ध्वं सूर्यं च ।
उद्भ्रमकेनापि गतं प्रत्यागमनं पुनर्गत्वा ॥
साधारं[1] सविचारं ससन्निरोधं तथा विसृष्टाङ्गम् ।
समपादमेकपादं गृद्धस्थित्यायतेः स्थानम् ॥

हैं—ऐसे एकान्त स्थानमें रहनेसे साधुको कलह, हल्ला-गुल्ला, संक्लेश, व्यामोह, असंयमी जनोंके साथ मिलना-जुलना, ममत्वका सामना नहीं करना पड़ता और न ध्यान और स्वाध्यायमें बाधा आती है ॥३१॥

आगे कायक्लेशका लक्षण कहकर उसके करनेकी प्रेरणा करते हैं—

सूर्यके सिरपर या मुँहके सामने आदि रहते हुए अन्य ग्रामको जाना और वहाँसे लौटना, मृतकके समान या दण्डके समान आदि रूपमें शयन करना, वीरासन आदि आसन लगाना, एक पैर आगे करके या दोनों पैरोंको बराबर करके खड़े रहना, न थूकना, न खुजाना आदि; धर्मोपकारक अवग्रह पालना, आतापन आदि योग करना इत्यादिके द्वारा तपस्वी साधु जो शरीरको कष्ट देता है उसे कायक्लेश तप कहते हैं। यह कायक्लेश दुःख आ पड़नेपर समीचीन ध्यानकी सिद्धिके लिए करना चाहिए ॥३२॥

विशेषार्थ—अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योगके द्वारा शरीरको कष्ट देनेका नाम कायक्लेश तप है। इनके प्रभेदोंका स्वरूप इस प्रकार कहा है—सूर्यकी ओर पीठ करके गमन करना, सूर्यको सम्मुख करके गमन करना, सूर्यको बायीं ओर या दाहिनी ओर करके गमन करना, सूर्यके सिरके ऊपर होते हुए गमन करना, सूर्यको पार्श्वमें करके गमन करना, भिक्षाके लिए एक गाँवसे दूसरे गाँव जाना और फिर लौटना, ये सब अयन अर्थात् गमनके प्रकार हैं जिनसे कायको कष्ट दिया जा सकता है। स्तम्भ आदिका सहारा लेकर खड़े होना, एक देशसे दूसरे देशमें जाकर खड़े होना, निश्चल खड़े होना, कायोत्सर्ग सहित खड़े होना, दोनों पैर बराबर रखकर खड़े होना, एक पैरसे

---

१. साधारं स—भ. कु. च.।

समपर्यङ्कनिषद्योऽसमयुतगोदोहिकास्तथोत्कुटिका ।
मकरमुखहस्तिहस्तौ गोशय्या चार्धपर्यङ्कः ॥
वीरासनदण्डाद्या यतोर्ध्वशय्या च लगडशय्या च ।
उत्तानमवाक्शयन शवशय्या चैकपार्श्वशय्या च ॥
अभ्रावकाशशय्या निष्ठीवनवर्जनं न कण्डूया ।
तृणफलकशिलेलास्वापसेवनं केशलोचं वा ॥
स्वापवियोगो रात्रावस्नानमदन्तघर्षणं चैव ।
कायक्लेशतपोदः शीतोष्णातापनाप्रभृति ॥' [भ. आ., गा. २२२-२२७ का रूपान्तर]

साधारणं (साधारं) सावष्टम्भम्, स्तम्भादिकमाश्रित्येत्यर्थः । सविचारं ससंक्रमम् । देशा (–देशान्तरं गत्वा)। ससन्निरोधं निश्चलम् । विसृष्टाङ्गं सकायोत्सर्गम् । गृद्ध्रस्थित्या गृद्ध्रस्योर्ध्वगमनमिव बाहू प्रसार्य इत्यर्थः। समयुत स्फिकिपडसम करणेनासनम् । गोदूहिका गोदोहने आसनमिवासनम् । उत्कुटिका उद्धवं संकुचितमासनम् । मकरमुखं—मकरस्य मुखमिव पादौ कृत्वासनम् । हस्तिहस्तः हस्तिहस्तप्रसारणमिवैकं पादं प्रसार्यासनम् । हस्तं प्रसार्य इत्यपरे । गोशय्या गवामासनमिव । वीरासनं जङ्घे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनम् । लगडशय्या—संकुचितगात्रस्य शयनम् । अवाक् नीचमस्तकम् । अभ्रावकाशशय्या—बहिर्निरावरणदेशे शयनम् ॥३२॥

अथैवं षड्विधं बहिरङ्गं तपो व्याख्याय तत्तावदेवाभ्यन्तरं व्याकर्तुमिदमाह—

खड़े होना, जिस तरह गृद्ध ऊपरको जाता है उस तरह दोनों हाथ फैलाकर खड़े होना, ये स्थानके प्रकार हैं। उत्तम पर्यंकासनसे बैठना, कटिप्रदेशको सीधा रखकर बैठना, गोदूहिका (गो दुहते समय जैसा आसन होता है वैसा आसन), उत्कुटिकासन (दोनों पैरोंको मिलाकर भूमिको स्पर्श न करते हुए बैठना), मकरमुखासन (मगरके मुखकी तरह पैरोंको करके बैठना), हस्तिहस्तासन (हाथीकी सूँड़के फैलावकी तरह एक पैरको फैलाकर बैठना, किन्हींके मतसे हाथको फैलाकर बैठना), गवासन, अर्धपर्यंकासन, वीरासन, (दोनों जंघाओंको दूर रखकर बैठना), दण्डासन ये सब आसनके प्रकार हैं। ऊर्ध्वशय्या, लगडशय्या (शरीरको संकुचित करके सोना), उत्तान शयन, अवाक्शयन (नीचा मुख करके सोना), शवशय्या (मुर्दे की तरह सोना), एक करवटसे सोना, बाहर खुले स्थानमें सोना, ये शयनके प्रकार हैं। थूकना नहीं, खुजाना नहीं, तृण, लकड़ी, पत्थर और भूमिपर सोना, केशलोंच, रात्रिमें सोना ही नहीं, स्नान न करना, दन्तघर्षण न करना ये सब अवग्रहके प्रकार हैं। आतापन योग अर्थात् गर्मीमें पर्वतके शिखरपर सूर्यके सामने खड़े होकर ध्यान करना, इसी तरह वर्षाऋतुमें वृक्षके नीचे, शीतकालमें चौराहेपर ध्यान लगाना ये योगके प्रकार हैं। इनके करनेसे साधुको कष्टसहनका अभ्यास रहता है। उस अभ्यासके कारण यदि कभी कष्ट आ पड़ता है तो साधु ध्यानसे विचलित नहीं होता। यदि कष्टसहनका अभ्यास न हो तो ऐसे समय में साधु विचलित हो जाता है। इसीलिए कहा है—'सुखपूर्वक भावित ज्ञान दुःख आनेपर नष्ट हो जाता है। इसलिए मुनिको शक्तिके अनुसार कष्टपूर्वक आत्माकी भावना—आराधना करना चाहिए' ॥३२॥

इस प्रकार छह प्रकारके बहिरंग तपका व्याख्यान करके अब छह ही प्रकारके अन्तरंग तपका कथन करते हैं—

१. स्वावसे भ. कु. च.।

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वतः परैः ।
अनभ्यासात्तपः प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत् ॥३३॥

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात्—अन्तःकरणव्यापारप्रधानत्वात् । परैः—तैर्थिकान्तरैः ॥३३॥

अथ प्रायश्चित्तं लक्षयितुमाह—

यत्कृत्याकरणे वर्ज्याऽवर्जने च रजोऽर्जितम् ।
सोऽतिचारोऽत्र तच्छुद्धिः प्रायश्चित्तं दशात्म तत् ॥३४॥

वर्ज्यावर्जने—वर्ज्यस्याकर्तव्यस्य हिंसादेरवर्जनेऽत्यागे आवर्जने वा अनुष्ठाने । तच्छुद्धिः—तस्य शुद्धिः । शुद्धयत्यनयेति शोधनम् । तस्य वा शुद्धिरनेनेति तच्छुद्धीति ग्राह्यम् । उक्तं च—

'पायच्छित्तं ति तओ जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं ।
पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्तं दसविहं तु ॥' [मूलाचार, गा. ३६१]

'पायच्छित्तं पत्तोत्ति' प्रायश्चित्तमपराधं प्राप्तः सन् । परे त्वेवमाहुः—

'अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् ।
प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥' [ ] ॥३४॥

अथ किमर्थं प्रायश्चित्तमनुष्ठीयत इति पृष्ठो श्लोकद्वयमाह—

प्रमाददोषविच्छेदममर्यादाविवर्जनम् ।
भावप्रसादं निः(नै)शल्यमनवस्थाव्यपोहनम् ॥३५॥
चतुर्द्धाराधनं दाढर्यं संयमस्यैवमादिकम् ।
सिसाधयिषताऽऽचर्यं प्रायश्चित्तं विपश्चिता ॥३६॥

प्रायश्चित्त आदि अन्तरंग तप हैं क्योंकि इनमें बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा न होकर अन्तःकरणका व्यापार मुख्य है । दूसरे, ये आत्माके द्वारा ही जाने जाते हैं, दूसरोंको इनका पता नहीं चलता । तीसरे, अन्य धर्मोंमें इनका चलन नहीं है ॥३३॥

प्रायश्चित्त तपका लक्षण कहते हैं—

अवश्यकरणीय आवश्यक आदिके न करनेपर तथा त्यागने योग्य हिंसा आदिको न त्यागनेपर जो पाप लगता है उसे अतिचार कहते हैं । उस अतिचारकी शुद्धिको यहाँ प्रायश्चित्त कहते हैं । उसके दस भेद हैं ।

विशेषार्थ—कहा है—'जिसके द्वारा पूर्वकृत पापोंका शोधन होता है उसे प्रायश्चित्त नामक तप कहते हैं । उसके दस भेद हैं ।

प्रायश्चित्त का विधान अन्य धर्मोंमें भी पाया जाता है । कहा है—'जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्मको नहीं करता या निन्दित कर्म करता है और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है वह प्रायश्चित्तके योग्य है—उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए' ॥३४॥

प्रायश्चित्त क्यों किया जाता है, यह दो श्लोकोंसे बतलाते हैं—

चारित्रमें असावधानतासे लगे दोषोंको दूर करना, अमर्यादाका अर्थात् प्रतिज्ञात व्रतके उल्लंघनका त्याग यानी व्रतकी मर्यादाका पालन, परिणामोंकी निर्मलता, निःशल्यपना, उत्तरोत्तर अपराध करनेकी प्रवृत्तिको रोकना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारोंका उद्योतन आदि, तथा संयमकी दृढ़ता, इसी प्रकारके अन्य भी कार्योंको साधनेकी इच्छा करनेवाले दोषज्ञ साधुको प्रायश्चित्त तप करना चाहिए ॥३५-३६॥

अमर्यादा—प्रतिज्ञातलक्षणं ([1]प्रतिज्ञातव्रतलक्षणम्) । उक्तं च—

'महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा ।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पा[2]मप्युपेक्षिष्ठ मा क्षतिम् ॥' [ ]

अनवस्था—उपर्युपर्यपराधकरणम् ॥३५-३६॥

अथ प्रायश्चित्तशब्दस्य निर्वचनार्थमाह—

प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया ।
प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते ॥३७॥

यथाह—

'प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् ।
एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं प्रचक्षते ॥'

यथा वा—

'प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयसंयुतम् ।
तपो निश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तं निगद्यते ॥' [ ] ॥३७॥

विशेषार्थ—प्रमादसे चारित्रमें लगे दोषोंका यदि प्रायश्चित्त द्वारा शोधन न किया जाये तो फिर दोषोंको बाढ़ रुक नहीं सकती। एक बार मर्यादा टूटनेसे यदि रोका न गया तो वह मर्यादा फिर रह नहीं सकती। इसलिए प्रायश्चित्त अत्यन्त आवश्यक है। कहा भी है—'यह महातप रूपी तालाब गुणरूपी जलसे भरा है। इसकी मर्यादारूपी तटबन्दीमें थोड़ी सी भी क्षति की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। थोड़ी-सी भी उपेक्षा करनेसे जैसे तालाबका पानी बाहर निकलकर बाढ़ ला देता है वैसे ही उपेक्षा करनेसे महातपमें भी दोषोंकी बाढ़ आनेका भय है' ॥३५-३६॥

प्रायश्चित शब्दकी निरुक्ति करते हैं—

प्रायश्चित्त शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। उसमें 'प्राय' का अर्थ है लोक और चित्तका अर्थ है मन। यहाँ लोकसे अपने वर्गके लोग लेना चाहिए। अर्थात् अपने साधर्मी वर्गके मनको प्रसन्न करनेवाला जो काम है वह प्रायश्चित्त है। 'प्रायः' शब्द का अर्थ तप भी है और चित्तका अर्थ निश्चय। अर्थात् यथायोग्य उपवास आदि तपमें जो यह श्रद्धान है कि यह करणीय है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। यह प्रायश्चित्तका निरुक्तिगत अर्थ है ॥३७॥

विशेषार्थ—पूर्वशास्त्रोंमें प्रायश्चित्त शब्दकी दो निरुक्तियाँ पायी जाती हैं, उन दोनोंका संग्रह ग्रन्थकारने कर दिया है। आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें प्रायश्चित्त की कोई निरुक्ति नहीं दी। उमास्वाति के तत्त्वार्थ भाष्य में 'अपराधो वा प्रायस्तेन विशुद्ध्यति' आता है। अकलंकदेवने दो प्रकारसे व्युत्पत्ति दी है—'प्रायः साधुलोकः। प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं प्रायश्चित्तम्। अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तं—अपराधविशुद्धिरित्यर्थः।—(त. वा. ९।२०।१)' इसमें प्रायश्चित्तके दो अर्थ किये हैं—प्रायः अर्थात् साधुजन, उसका चित्त जिस काममें हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। और प्रायः अर्थात् अपराधको शुद्धि जिसके द्वारा हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। यथार्थमें प्रायश्चित्तका यही अभिप्राय

---

१. भ. कु. च.।
२. -ल्पामप्युपेक्षिष्ट भ. कु. च.।

अथ प्रायश्चित्तस्यालोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेदमूल-परिहार-श्रद्धानलक्षणेषु दशसु भेदेषु मध्ये प्रथममालोचनाख्यं तद्भेदं निर्दिशति—

सालोचनाद्यस्तद्भेदः प्रश्रयाद्धर्मसूरये।
यद्दशाकम्पिताद्यूनं स्वप्रमादनिवेदनम् ॥३८॥

प्रश्रयात्—विनयात्। उक्तं च—

'मस्तकविन्यस्तकरः कृतिकर्म विधाय शुद्धचेतस्कः।
आलोचयति सुविहितः सर्वान् दोषांस्त्यजन् रहसि॥' [ ] ॥३८॥

अथालोचनाया देशकालविधाननिर्णयार्थमाह—

प्राह्णेऽपराह्णे सद्देशे बालवत् साधुनाऽखिलम्।
स्वागस्त्रिराजवाद्वाच्यं सूरेः शोध्यं च तेन तत् ॥३९॥

सद्देशे—प्रशस्तस्थाने। यथाह—

'अर्हत्सिद्धसमुद्राब्जसरःक्षीरफलाकुलम्।
तोरणोद्यानसद्माहियक्षवेश्मबृहद्गृहम्॥
सुप्रशस्तं भवेत्स्थानमन्यदप्येवमादिकम्।
सूरिरालोचनां तत्र प्रतिच्छत्यस्य शुद्धये॥' [ ]

लिया जाता है। पूज्यपादने यही अर्थ किया है। उत्तरकालमें प्रायश्चित्तकी जो व्युत्पत्ति प्रचलित हुई उसमें यह अर्थ लिया गया है जैसा कि ग्रन्थके उक्त श्लोकसे स्पष्ट है। टीकामें ग्रन्थकारने दो व्युत्पत्तियाँ उद्धृत की हैं 'प्रायः लोकको कहते हैं उसका चित्त मन होता है। मनको शुद्ध करनेवाले कर्मको प्रायश्चित्त कहते हैं। इसमें अकलंकदेवकी दोनों व्युत्पत्तियोंका आशय आ जाता है।' 'प्रायः तपको कहते हैं और चित्तका अर्थ है निश्चय अर्थात् तप करना चाहिए ऐसा श्रद्धान। निश्चयके संयोगसे तपको प्रायश्चित्त कहते हैं।' ॥३७॥

प्रायश्चित्तके दस भेद हैं—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तपच्छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान। उनमें-से प्रथम आलोचन भेदको कहते हैं—

धर्माचार्यके सम्मुख विनयसे जो आकम्पित आदि दस दोषोंसे रहित, अपने प्रमादका निवेदन किया जाता है वह प्रायश्चित्तका आलोचना नामक प्रथम भेद है ॥३८॥

विशेषार्थ—आलोचनाके सम्बन्धमें कहा है—दोनों हाथ मस्तकसे लगाकर, कृतिकर्मको करके, शुद्धचित्त होकर सुविहित साधु समस्त दोषोंको त्यागकर एकान्तमें आलोचना करता है। एकान्तके सम्बन्धमें इतना विशेष वक्तव्य है कि पुरुष तो अपनी आलोचना एकान्तमें करता है उसमें गुरु और आलोचक दो ही रहते हैं। किन्तु स्त्रीको प्रकाशमें आलोचना करना चाहिए तथा गुरु और आलोचक स्त्रीके सिवाय तीसरा व्यक्ति भी होना ही चाहिए ॥३८॥

आगे आलोचनाके देश और कालके विधानका निर्णय करते हैं—

पूर्वाह्न या अपराह्नके समय प्रशस्त स्थानमें धर्माचार्यके आगे बालककी तरह सरलतासे तीन बार स्मरण करके अपना समस्त अपराध या पाप साधुको कहना चाहिए ॥३९॥

---

१. प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम्।—सर्वार्थ. ९।२०।

सद्देश इत्युपलक्षणात् सुलग्नेऽपि । तदुक्तम्—

'आलोयणादिआ पुण होदि पसत्थे वि शुद्धभावस्स ।
पुव्वण्हे अवरण्हे सोमतिहिरक्खवेलाए ॥' [भ. आरा., गा. ५५४]

बालवत् । उक्तं च—

'जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि ।
तह आलोचेदव्वं माया मोसं च मुत्तूण ॥' [मूलाचार., गा. ५६]

त्रिः—त्रीन् वारान् । स्मृत्वेत्यध्याहारः । उक्तं च—

'इय उजुभावमुवगदो सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो ।
लेस्साहि विसुज्झंतो उवेदि सल्लं समुद्धरिदुं ॥' [भग. आरा., गा. ५५३]

शोध्यं—मुनिरूपितप्रायश्चित्तदानेन निराकार्यम् ॥३९॥

अथैकादशविराधितमार्गेणाकम्पितादिदशदोषवर्जां पदविभागिकामालोचना कृत्वा तपोऽनुष्ठेयमस्मर्यमाणबहुदोषेण छिन्नव्रतेन वा पुनरौघीमिति श्लोकपञ्चकेनाचष्टे—

आकम्पितं गुरुच्छेदभयादावर्जनं गुरोः ।
तपःशूरस्तवात्तत्र स्वाशक्त्याख्यानुमापितम् ॥४०॥
यद् दृष्टं दूषणस्यान्यदृष्टस्यैव प्रथा गुरोः ।
बादरं बादरस्यैव सूक्ष्मं सूक्ष्मस्य केवलम् ॥४१॥
छन्नं कीदृक्चिकित्से दृग्दोषे पृष्ट्वेति तद्विधिः ।
शब्दाकुलं गुरोः स्वागः शब्दनं शब्दसंकुले ॥४२॥

विशेषार्थ—यहाँ आलोचना कब करना चाहिए और कहाँ करना चाहिए इसका निर्देश किया है। प्रातःकाल या दोपहरके पश्चात् प्रशस्त स्थानमें गुरुके सामने बालककी तरह सरल भावसे आलोचना करना चाहिए। जैसे बालक अच्छी और बुरी सब बातें सरल भावसे कहता है उसी तरह साधुको माया और झूठको छोड़कर आलोचना करना चाहिए। इससे उसकी विशुद्धि होती है। भ. आराधनामें (गा. ५५४) ऐसा ही कहा है—'विशुद्ध परिणामवाले क्षपककी आलोचना आदि प्रशस्त क्षेत्रमें दिनके पूर्व भाग या उत्तर भागमें शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभसमयमें होती है। अर्थात् आलोचनाके लिए परिणामोंकी विशुद्धिके साथ क्षेत्रशुद्धि और कालशुद्धि भी आवश्यक है ॥३९॥

जिस साधुने रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गकी एकदेश विराधना की है उसे आकम्पित आदि दस दोषोंसे रहित पदविभागिकी नामक आलोचना करके तपस्या करना चाहिए। और जिसे अपने बहुत-से दोषोंका स्मरण नहीं है, अथवा जिसने अपने व्रतको भंग कर लिया है उसे औघी आलोचना करना चाहिए, यह बात पाँच श्लोकोंसे कहते हैं—

महाप्रायश्चित्तके भयसे उपकरणदान आदिसे गुरुको अल्पप्रायश्चित्त देनेके लिए अपने अनुकूल करना आकम्पित नामक आलोचना दोष है। वे धन्य हैं जो वीर पुरुषोंके करने योग्य उत्कृष्ट तपको करते हैं इस प्रकार तपस्वी वीरोंका गुणगान करके तपके विषयमें गुरुके सामने अपनी अशक्ति प्रकट करना, इस तरह प्रार्थना करनेपर गुरु थोड़ा प्रायश्चित्त देकर मुझपर कृपा करेंगे इसलिए अनुमानसे जानकर अपना अपराध प्रकट करना अनुमापित दोष है। दूसरेके द्वारा देख लिये गये दोषको ही प्रकट करना और जो अपना दोष दूसरेने नहीं देखा उसे छिपाना यद्दृष्ट नामक दोष है। गुरुके सामने स्थूल दोषको ही प्रकट करना और

दोषो बहुजनं सूरिदत्ताप्यक्षुण्णतत्कृतिः ।
बालाच्छेवग्रहोऽव्यक्तं समात्तत्सेवितं त्वसौ ॥४३॥
दशेत्युज्झन् मलान्मूलाप्राप्तः पदविभागिकाम् ।
प्रकुर्यालोचनां मूलप्राप्तश्चौघीं तपश्चरेत् ॥४४॥ [पञ्चकम्]

गुरुच्छेदभयात्—महाप्रायश्चित्तशंकातः । आवर्जनं—उपकरणदानादिना आत्मनोऽल्पप्रायश्चित्तदानार्थमनुकूलनम् ।

तपःशूरस्तवात्—धन्यास्ते ये वीरपुरुषाचरितमुत्कृष्टं तपः कुर्वन्तीति व्यावर्णनात् । तत्र—तपसि । स्वाशक्त्याख्या—आत्मनोऽसामर्थ्यप्रकाशनं गुरोरग्रे । अनुमापितं—गुरु प्रार्थितः स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानु(-ग्रहं करीष्यतात्यनुमानेन) । स्यैव (बादरस्यैव)—स्थूलस्यैव दूषणस्य प्रकाशनं सूक्ष्मस्य तु आच्छादनमित्यर्थः ॥४१॥

छन्नमित्यादि—ईदृशे दोषे सति कीदृशं प्रायश्चित्तं क्रियत इति स्वदोषोद्देशेन गुरुं पृष्ट्वा तदुक्तं प्रायश्चित्तं कुर्वत. छन्नं नामालोचनादोषः । शब्दसंकुले—पक्षाद्यतीचारशुद्धिकालेषु बहुजनशब्दबहुले स्थाने ॥४२॥

सूरिरित्यादि—सूरिणा स्वगुरुणा दत्तं प्रथमं वितीर्णं पश्चादन्यै. प्रायश्चित्तकुशलैः क्षुण्णं चर्चितं तत्प्रायश्चित्तम् । तस्य कृतिः अनुष्ठानम् । बालात्—ज्ञानेन संयमेन वा हीनात् । समात्—आत्मसदृशात् पार्श्वस्थात् प्रायश्चित्तग्रहणम् । तत्सेवितं—तेन समेन प्रायश्चित्तदायिना पार्श्वस्थेन सेव्यमानत्वात् । असौ आलोचनादोष ॥४३॥

पदविभागिकां—विशेषालोचना, दीक्षाग्रहणात् प्रभृति यो यत्र यदा यथाऽपराधः कृतस्तस्य तत्र तदा तथा प्रकाशनात् । ओघी—सामान्यालोचना । उक्तं च—

ओघेन पदविभागेन द्वेधालोचना समुद्दिष्टा ।
मूलं प्राप्तस्यौघी पादविभागी ततोऽन्यस्य ॥

सूक्ष्म दोषको छिपाना बादर नामक दोष है। गुरुके आगे केवल सूक्ष्म दोषको ही प्रकट करना स्थूलको छिपाना सूक्ष्म नामक दोष है। ऐसा दोष होनेपर क्या प्रायश्चित्त होता है इस प्रकार अपने दोषके उद्देश्यसे गुरुको पूछकर उनके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करनेसे छन्न नामक आलोचना दोष होता है क्योंकि उसने गुरुसे अपना दोष छिपाया। जब अन्य साधु पाक्षिक आदि दोषोंकी विशुद्धि करते हों और इस तरह बहुत हल्ला हो रहा हो उस समय गुरुके सामने अपने दोषोंका निवेदन करना शब्दाकुल नामक आलोचना दोष है। अपने गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको अन्य प्रायश्चित्त कुशल साधुओंसे चर्चा करके स्वीकार करना बहुजन नामक आलोचना दोष है। अपनेसे जो ज्ञान और संयममें हीन है उससे प्रायश्चित्त लेना अव्यक्त नामक दोष है। अपने ही समान दोषी पार्श्वस्थ मुनिसे प्रायश्चित्त लेना तत्सेवित नामक दोष है। इस प्रकार इन दस दोषोंको त्यागकर आलोचना करना चाहिए। जिनसे मूलव्रतका सर्वोच्छेद नहीं हुआ है एकदेश छेद हुआ है उन्हें पदविभागिकी आलोचना करना चाहिए और जिनसे मूलका छेद हुआ है उन्हें औघी आलोचना करनी चाहिए ॥४०-४४॥

विशेषार्थ—आलोचनाके दो भेद कहे हैं—पदविभाग और ओघ। इनको स्पष्ट करते हुए अन्यत्र कहा है—'ओघ और पदविभागके भेदसे आलोचनाके दो भेद कहे हैं। जिसने व्रतका पूरा छेद किया है वह औघी अर्थात् सामान्य आलोचना करता है और जिसने

स्मरणपथमनुसरन्ती प्रायो नागांसि मे विपुण्यस्य ।
सर्वं छेदः समजनि ममेति वालोचयेदौघी ॥
प्रव्रज्यादिसमस्तं क्रमेण यद्यत्र येन भावेन ।
सेवितमालोचयतः पादविभागी तथा तत्तत् ॥

भ. आ. गा. ५३३–३५ का रूपान्तर] ॥४४॥

अथालोचना विना महदपि तपो न संवरसहभाविनी निर्जरा करोति । कृतायामपि चालोचनायां विहितमनाचरन्न दोषविजयी स्यादतः सर्वदालोच्यं गुरूक्तं च तदुचितमाचर्यमिति शिक्षणार्थमाह—

सामौषधवन्महदपि न तपोऽनालोचनं गुणाय भवेत् ।
मन्त्रवदालोचनमपि कृत्वा नो विजयते विधिमकुर्वन् ॥४५॥

सामौषधवत्—सामे दोषे प्रयुक्तमौषधं यथा । यथाहुः—

'यः पिबत्यौषधं मोहात् सामे तीव्ररुजि ज्वरे ।
प्रसुप्तं कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशेत् ॥' [ ]

गुणाय—उपकाराय । मंत्रवत्—पञ्चाङ्गं गुप्तभाषणं यथा ।

विधि.—विहिताचरणम् ॥४५॥

अथ सद्गुरुदत्तप्रायश्चित्तोचितचित्तस्य दोप्त्यतिशयं दृष्टान्तेनाचष्टे—

यथादोषं यथाम्नायं दत्तं सद्गुरुणा वहन् ।
रहस्यमन्तर्भात्युच्चैः शुद्धादर्श इवाननम् ॥४६॥

रहस्यं—प्रायश्चित्तम् ॥४६॥

व्रतका एकदेश छेद किया है वह पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना करता है। मुझ पापीको प्रायः अपराधोंका स्मरण नहीं रहा। अतः मेरा समस्त व्रत छिन्न हो गया ऐसा मानकर औघी आलोचना करना चाहिए। समस्त प्रव्रज्या आदिमें क्रमसे जहाँ जिस भावसे दोष लगा है उसकी आलोचना करनेवालेके पदविभागी आलोचना होती है' ॥४०–४४॥

आलोचनाके बिना महान् भी तप संवरके साथ होनेवाली निर्जराको नहीं करता। और आलोचना करनेपर भी गुरु जो प्रायश्चित्त बतावें उसे न करनेवाला दोषोंसे मुक्त नहीं होता। इसलिए सर्वदा आलोचना करना चाहिए और गुरु जो कहें वह करना चाहिए, यह शिक्षा देते हैं—

जैसे बिना विचारे सामदोषसे युक्त तीव्र ज्वरमें दी गयी महान् भी औषध आरोग्य-कारक नहीं होती, उसी प्रकार आलोचनाके बिना एक पक्षका उपवास आदि महान् तप भी उपकारके लिए अर्थात् संवरके साथ होनेवाली निर्जराके लिए नहीं होता। तथा जैसे राजा मन्त्रियोंसे परामर्श करके भी उनके द्वारा दिये गये परामर्शको कार्यान्वित न करनेपर विजयी नहीं होता, उसी प्रकार आलोचना करके भी विहित आचरणको न करनेवाला साधु दोषोंपर विजय प्राप्त नहीं कर सकता ॥४५॥

जिसका चित्त सद्गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तमें रमता है उसको अतिशय चमक प्राप्त होती है यह बात दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

सद्गुरुके द्वारा दोषके अनुरूप और आगमके अनुसार दिये गये प्रायश्चित्तको अपनेमें धारण करनेवाला तपस्वी वैसे ही अत्यन्त चमकता है जैसे निर्मल दर्पणमें मुख चमकता है ॥४६॥

अथ प्रतिक्रमणलक्षणमाह—

मिथ्या मे दुष्कृतमिति प्रायोऽपायैर्निराकृतिः ।
कृतस्य संवेगवता प्रतिक्रमणमागसः ॥४७॥

उक्तं च—आस्थितानां योगानां धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसन्निधानेन विस्मरणे सति पुनरनुष्ठायकस्य संवेगनिर्वेदपरस्य गुरुविरहितस्याल्पापराधस्य पुनर्न करोमि मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमादिभिर्दोषान्निवर्तनं प्रतिक्रमणमिति ॥४७॥

अथ तदुभयं लक्षयति—

[1]दुःस्वप्नादिकृतं दोषं निराकर्तुं क्रियेत यत् ।
आलोचनप्रतिक्रान्तिद्वयं तदुभयं तु तत् ॥४८॥

स्पष्टम् । किं च, आलोचनं प्रतिक्रमणपूर्वकं गुरुणाऽभ्यनुज्ञातं शिष्येणैव कर्तव्यं तदुभयं गुरुणैवानुष्ठेयम् ॥४८॥

इस प्रकार आलोचना तपका कथन हुआ।

अब प्रतिक्रमण को कहते हैं—

संसारसे भयभीत और भोगोंसे विरक्त साधुके द्वारा किये गये अपराधको 'मेरे दुष्कृत मिथ्या हो जाये, मेरे पाप शान्त हों' इस प्रकारके उपायोंके द्वारा दूर करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं ॥४७॥

विशेषार्थ—धर्मकथा आदिमें लग जानेसे यदि प्रतिज्ञात ध्यान आदि करना भूल जाये और पुनः करे तो संवेग और निर्वेदमें तत्पर अल्प अपराधी उस साधुका गुरुके अभावमें 'मैं ऐसी गलती पुनः नहीं करूँगा, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो', इत्यादि उपायोंसे जो दोषका निवर्तन करना है वह प्रतिक्रमण है। किन्हींका ऐसा कहना है कि दोषोंका उच्चारण कर-करके 'मेरा यह दोष मिथ्या हो' इस प्रकारसे जो उस दोषका स्पष्ट प्रतीकार किया जाता है वह प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण आचार्यकी अनुज्ञा प्राप्त करके शिष्यको ही करना चाहिए।।४७॥

तदुभय प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं—

खोटे स्वप्न, संक्लेश आदिसे होनेवाले दोषका निराकरण करनेके लिए जो आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों किये जाते हैं उसे तदुभय कहते हैं ॥४८॥

विशेषार्थ—आशय यह है कि किन्हीं दोषोंका शोधन तो आलोचना मात्रसे हो जाता है और कुछका प्रतिक्रमणसे। किन्तु कुछ महान् दोष ऐसे होते हैं जो आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंसे शुद्ध होते हैं जैसे दुःस्वप्न होना या खोटा चिन्तन करना आदि। इस तदुभय प्रायश्चित्तके विषयमें एक शंका होती है कि शास्त्रमें कहा है कि आलोचनाके बिना कोई भी प्रायश्चित्त कार्यकारी नहीं है। फिर कहा है कि कुछ दोष केवल प्रतिक्रमणसे ही शुद्ध होते हैं यह तो परस्पर विरुद्ध कथन हुआ। यदि कहा जाता है कि प्रतिक्रमणके पहले आलोचना

---

१. 'स्यात्तदुभयमालोचना प्रतिक्रमणद्वयम् । दुःस्वप्नदुष्टचिन्तादिमहादोषसमाश्रयम् ॥

—आचारसार ६।४२ ।

'एतच्चोभयं प्रायश्चित्तं सम्भ्रमभयातुरापत्सहसाऽनाभोगानात्मवशगतस्य दुष्टचिन्तितभाषणचेष्टावतश्च विहितम् ।—तत्त्वार्थ., टी. सिद्ध. गणि, ९।२२ ।

अथ विवेकलक्षणमाह—

संसक्तेऽन्नादिके दोषान्निवर्तयितुमप्रभोः ।
यत्तद्विभजनं साधोः स विवेकः सतां मतः ॥४९॥

संसक्ते—संबद्धे सम्मूर्छिते वा । अप्रभोः—असमर्थस्य । तद्विभजनं—संसक्तान्नपानोपकरणादेर्वियोजनम् ॥४९॥

अथ भङ्ग्यन्तरेण पुनर्विवेकं लक्षयति—

विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्राहणे वाऽपरस्य वा ।
प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम् ॥५०॥

अप्रासोः—सचित्तस्य । अपरस्य—प्रासुकस्य । उक्तं च—

'शक्त्यनिगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित् कारणादप्रासुकग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात् प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं विवेक इति [तत्त्वार्थवा०, पृ. ६२२] ॥५०॥

अथ व्युत्सर्गस्वरूपमाह—

स व्युत्सर्गो मलोत्सर्गाद्यतीचारेऽवलम्ब्य सत् ।
ध्यानमन्तर्मुहूर्तादि कायोत्सर्गेण या स्थितिः ॥५१॥

दुःस्वप्न-दुश्चिन्तन-मलोत्सर्जन-मूत्रातिचार-नदीमहाटवीतरणादिभिरन्यैश्चाप्यतीचारे सति ध्यानमवलम्ब्य कायमुत्सृज्य अन्तर्मुहूर्तदिवस-पक्ष-मासादिकालावस्थान व्युत्सर्ग इत्युच्यत इति ॥५१॥

की जाती है तब तदुभय प्रायश्चित्तका कथन व्यर्थ होता है। इसका समाधान यह है कि सब प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही होते हैं। किन्तु अन्तर यह है कि प्रतिक्रमण गुरुकी आज्ञासे शिष्य ही करता है और तदुभय गुरुके द्वारा ही किया जाता है ॥४८॥

विवेक प्रायश्चित्तका लक्षण कहते हैं—

संसक्त अन्नादिकमें दोषोंको दूर करनेमें असमर्थ साधु जो संसक्त अन्नपानके उपकरणादिको अलग कर देता है उसे साधुओंने विवेक प्रायश्चित्त माना है ॥४९॥

पुनः अन्य प्रकारसे विवेकका लक्षण कहते हैं—

भूलसे अप्रासुक अर्थात् सचित्तका स्वयं ग्रहण करने या किसीके द्वारा ग्रहण करानेपर उसके छोड़ देनेको विवेक प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा प्रासुक वस्तु भी यदि त्यागी हुई है और उसका ग्रहण हो जाये तो स्मरण आते ही उसको छोड़ देना विवेक प्रायश्चित्त है ॥५०॥

विशेषार्थ—यदि साधु भूलसे स्वयं अप्रासुक वस्तुको ग्रहण कर लेता है, या दूसरेके द्वारा ग्रहण कर लेता है तो स्मरण आते ही उसको त्याग देना विवेक प्रायश्चित्त है। इसी तरह यदि साधु त्यागी हुई प्रासुक वस्तुको भी भूलसे ग्रहण कर लेता है तो स्मरण आते ही त्याग देना विवेक प्रायश्चित्त है ॥५०॥

व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं—

मलके त्यागने आदिमें अतीचार लगनेपर प्रशस्तध्यानका अवलम्बन लेकर अन्तर्मुहूर्त आदि काल पर्यन्त कायोत्सर्गपूर्वक अर्थात् शरीरसे ममत्व त्यागकर खड़े रहना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है ॥५१॥

विशेषार्थ—अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ. ६२२) में कहा है—दुःस्वप्न आनेपर, खोटे विचार होनेपर, मलत्यागमें दोष लगनेपर, नदी या महाटवी (भयानक जंगल) को पार करनेपर या इसी प्रकारके अन्य कार्योंसे दोष लगनेपर ध्यानका अवलम्बन लेकर तथा कायसे

अथ तपःसंज्ञं प्रायश्चित्तं दर्शयति—

कृतापराधः श्रमणः सत्त्वादिगुणभूषणः ।
यत्करोत्युपवासादिविधिं तत्क्षालनं तपः ॥५२॥

उपवासादि—आदिशब्दादेकस्थानाचाम्लनिर्विकृत्यादिपरिग्रहः । क्षालनं—प्रायश्चित्तम् ॥५२॥

अथालोचनादिप्रायश्चित्तविधेर्विषयमाह—

भय-त्वरा-शक्त्यबोध-विस्मृतिव्यसनादिजे ।
महाव्रतातिचारेऽमुं षोढा शुद्धिविधिं चरेत् ॥५३॥

भयत्वरा—भीत्या पलायनम् । अमुं—आलोचनादिलक्षणम् । शुद्धिविधिं—शास्त्रोक्तप्रायश्चित्तम् ॥५३॥

ममत्व त्यागकर अन्तर्मुहूर्त या एक दिन या एक पक्ष या मास आदि तक खड़े रहना व्युत्सर्ग तप है। किन्हींका कहना है कि नियत काल तक मन-वचन-कायको त्यागना व्युत्सर्ग है ॥५१॥

आगे तप प्रायश्चित्तको कहते हैं—

शास्त्रविहित आचरणमें दोष लगानेवाला किन्तु सत्त्व धैर्य आदि गुणोंसे भूषित श्रमण जो प्रायश्चित्त शास्त्रोक्त उपवास आदि करता है वह तप प्रायश्चित है ॥५२॥

आगे बतलाते हैं कि ये आलोचनादि प्रायश्चित्त किस अपराधमें किये जाते हैं—

डरकर भागना, असामर्थ्य, अज्ञान, विस्मरण, आतंक और रोग आदिके कारण महाव्रतोंमें अतीचार लगनेपर आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप ये छह शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थ—यहाँ कुछ दोषोंका प्रायश्चित्त शास्त्रानुसार लिखा जाता है—आचार्यसे पूछे विना आतापन आदि करनेपर, दूसरेके परोक्षमें उसके पुस्तक-पीछी आदि उपकरण ले लेनेपर, प्रमादसे आचार्य आदिका कहा न करनेपर, संघके स्वामीसे पूछे बिना उसके कामसे कहीं जाकर लौट आनेपर, दूसरे संघसे पूछे विना अपने संघमें जानेपर, देश और कालके नियमसे यअवश्य कर्तव्य विशेष व्रतका धर्मकथा आदिके व्यासंगसे भूल जानेपर किन्तु पुनः उसको कर लेनेपर, इसी प्रकारके अन्य भी अपराधोंमें आलोचना मात्र ही प्रायश्चित्त है। छह इन्द्रियों और वचन आदिको लेकर खोटे परिणाम होनेपर, आचार्य आदिसे हाथ-पैर आदि-का धक्का लग जानेपर, व्रत, समिति और गुप्तिका पालन कम होनेपर, चुगुली, कलह आदि करनेपर, वैयावृत्य स्वाध्याय आदिमें प्रमाद करनेपर, गोचरीके लिए जानेपर यदि लिंगमें विकार उत्पन्न हो जाये तथा संक्लेशके अन्य कारण उपस्थित होनेपर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है। यह प्रतिक्रमण दिन और रात्रिके अन्तमें और भोजन, गमन आदिमें किया जाता है यह प्रसिद्ध है। केशलोंच, नखोंका छेदन, स्वप्नमें इन्द्रिय सम्बन्धी अतिचार या रात्रिभोजन करनेपर तथा पाक्षिक, मासिक और वार्षिक दोष आदिमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों किये जाते हैं। मौन आदिके बिना आलोचना करनेपर, पेटसे कीड़े निकलनेपर, हिम, डाँस, मच्छर आदि तथा महावायुसे संघर्षमें दोष लगनेपर, चिकनी भूमि, हरे तृण और कीचड़के ऊपरसे जानेपर, जंघा प्रमाण जलमें प्रवेश करनेपर, अन्यके निमित्तसे रखी वस्तुका अपने लिए उपयोग कर लेनेपर, नावसे नदी पार करनेपर, पुस्तक या प्रतिमाके गिरा देनेपर, पाँच स्थावर कायका घात होनेपर, बिना देखे स्थानमें मल-मूत्रादि करनेपर, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रियाके अन्तमें तथा व्याख्यान आदि करनेके अन्तमें कायोत्सर्ग करना ही

अथ छेदं निर्दिशति—

चिरप्रव्रजितादृप्तशक्तशूरस्य सागसः ।
दिनपक्षादिना दीक्षाहापनं छेदमादिशेत् ॥५४॥

स्पष्टम् ॥५४॥

अथ मूललक्षणमाह—

मूलं पार्श्वस्थसंसक्तस्वच्छन्देष्ववसन्नके ।
कुशीले च पुनर्दीक्षादानं पर्यायवर्जनात् ॥५५॥

पार्श्वस्थः—यो वसतिषु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी वा श्रमणाना पार्श्वे तिष्ठति । उक्तं च—

'वसदीसु अ पडिबद्धो अहवा उवकरणकारओ भणिओ ।
पासत्थो समणाणं पासत्थो णाम सो होई ॥' [ ]

संसक्तः—यो वैद्यकमन्त्रज्योतिषोपजीवी राजादिसेवकश्च स्यात् । उक्तं च—

'वेज्जेण व मंतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिबद्धो ।
रायादी सेवंतो संसत्तो णाम सो होई ॥' [ ]

स्वच्छन्दः—यस्त्यक्तगुरुकुलः एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्र इति यावत् । उक्तं च—

'आयरियकुलं मुच्चा विहरदि एगागिणो य जो समणो ।
जिणवयणं णिंदंतो सच्छंदो होई मिगचारी ॥' [ ]

प्रायश्चित्त है। थूकने या पेशाब आदि करनेपर कायोत्सर्ग किया ही जाता है ॥५३॥

छेद प्रायश्चितको कहते हैं—

जो साधु चिरकालसे दीक्षित है, निर्मद है, समर्थ है और शूर है उससे यदि अपराध हो जाये तो दिन, पक्ष या मास आदिका विभाग करके दीक्षा छेद देनेको छेद प्रायश्चित्त कहते हैं। अर्थात् उसकी दीक्षाके समयमें कमी कर दी जाती है। जैसे पाँच वर्षके दीक्षितको चार वर्षका दीक्षित मानना ॥५४॥

मूल प्रायश्चित्तका लक्षण कहते हैं—

पार्श्वस्थ, संसक्त, स्वच्छन्द, अवसन्न और कुशील मुनियोंको अपरिमित अपराध होनेसे पूरी दीक्षा छेदकर पुनः दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है ॥५५॥

विशेषार्थ—इनका लक्षण इस प्रकार है—जो मुनियोंकी वसतिकाओंके समीपमें रहता है, उपकरणोंसे आजीविका करता है उसे श्रमणोंके पासमें रहनेसे पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं। व्यवहारसूत्र (श्वे.) के प्रथम उद्देशमें इसे तीन नाम दिये हैं—पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पाशस्थ। दर्शन ज्ञान और चारित्रके पासमें रहता है किन्तु उसमें संलग्न नहीं होता इसलिए उसे पार्श्वस्थ[1] कहते हैं। और 'प्र' अर्थात् प्रकर्षसे ज्ञानादिमें निरुद्यमी होकर रहता है इसलिए प्रास्वस्थ[2] कहते हैं। तथा पाश बन्धनको कहते हैं। मिथ्यात्व आदि बन्धके कारण होनेसे पाश है। उनमें रहनेसे उसे पाशस्थ कहते हैं। भगवती आराधना (गा. १३००) में कहा है कि

---

१. ज्ञानादीना पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ इति व्युत्पत्तेः । २. प्रकर्षेण समन्तात् ज्ञानादिषु निरुद्यमतया स्वस्थः प्रास्वस्थ इति व्युत्पत्तेः ।

अवसन्नः यो जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानचरणभ्रष्टः करणालसश्च स्यात् । उक्तं च—

'जिणवयणमयाणंतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभट्ठो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥' [ ]

कुशीलः—यः क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैः परिहीणः संघस्यानयकारी च स्यात् । उक्तं च—

'कोहादिकलुसिदप्पा वयगुणसीलेहि चावि परिहीणो ।
संघस्स अणयकारी कुसीलसमणोत्ति णायव्वो ॥' [ ]

पर्यायवर्जनात्—अपरिमितापराधत्वेन सर्वपर्यायमपहाय इत्यर्थः ॥५५॥

अथ परिहारस्य लक्षणं विकल्पांश्चाह—

विधिवद्दूरात्त्यजनं परिहारो निजगणानुपस्थानम् ।
सपरगणोपस्थानं पारञ्चिकमित्ययं त्रिविधः ॥५६॥

निजगणानुपस्थानं—प्रमादादन्यमुनिसंबन्धिनमृषिं छात्रं गृहस्थं वा परपाषण्डिप्रतिबद्धचेतनाचेतनद्रव्यं वा परस्त्रियं वा स्तेनयतो मुनीन् प्रहरतो वा अन्यदप्येवमादि विरुद्धाचरितमाचरतो नवदशपूर्व-

---

पार्श्वस्थ मुनि इन्द्रिय कषाय और पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे पराभूत होकर चारित्रको तृणके समान मानता है। ऐसे चारित्रभ्रष्ट मुनिको पार्श्वस्थ कहते हैं। जो मुनि उनके पास रहते हैं वे भी वैसे ही बन जाते हैं। जो साधु वैद्यक, मन्त्र और ज्योतिषसे आजीविका करता है तथा राजा आदिकी सेवा करता है वह संसक्त है।

व्यवहारसूत्र (उ. ३) में कहा है कि संसक्त साधु नटकी तरह बहुरूपिया होता है। पार्श्वस्थोंमें मिलकर पार्श्वस्थ-जैसा हो जाता है, दूसरोंमें मिलकर उन-जैसा हो जाता है इसीसे उसे संसक्त नाम दिया है। जो गुरुकुलको छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द विहार करता है उसे स्वच्छन्द या यथाच्छन्द कहते हैं। कहा है—'आचार्यकुलको छोड़कर जो साधु एकाकी विहार करता है वह जिनवचनका दूषक मृगके समान आचरण करनेवाला स्वच्छन्द कहा जाता है।'

भगवती आराधना (गा. १३१०)में कहा है जो मुनि साधुसंघको त्याग कर स्वच्छन्द विहार करता है और आगमविरुद्ध आचारोंकी कल्पना करता है वह स्वच्छन्द है। श्वेताम्बर परम्परामें इसका नाम यथाच्छन्द है। छन्द इच्छाको कहते हैं। जो आगमके विरुद्ध इच्छानुकूल प्रवृत्ति करता है वह साधु यथाच्छन्द है। जो जिनागमसे अनजान है, ज्ञान और आचरणसे भ्रष्ट है, आलसी है उस साधुको अवसन्न कहते हैं। व्यवहारभाष्यमें कहा है कि जो साधु आचरणमें प्रमादी होता है, गुरुकी आज्ञा नहीं मानता वह अवसन्न है। तथा जो साधु कषायसे कलुषित और व्रत, गुण और शीलसे रहित होता है तथा संघका आदेश नहीं मानता वह कुशील है। इन पाँच प्रकारके साधुओंको पुरानी दीक्षा देकर नयी दीक्षा दी जाती है यह मूल प्रायश्चित्त है ॥५५॥

परिहार प्रायश्चित्तका लक्षण और भेद कहते हैं—

शास्त्रोक्त विधानके अनुसार दिवस आदिके विभागसे अपराधी मुनिको संघसे दूर कर देना परिहार प्रायश्चित्त है। इसके तीन भेद हैं—निजगुणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान और पारंचिक ॥५६॥

धरस्यादित्रिकसंहननस्य जितपरीषहस्य दृढधर्मणो धीरस्य भवभीतस्यैतत् प्रायश्चित्तं स्यात्। तेन ऋष्याश्रमाद् द्वात्रिंशद्दण्डान्तरविहितविहारेण बालमुनीनपि वन्दमानेन प्रतिवन्दनाविरहितेन गुरुणा सहालोचयता शेषजनेषु कृतमौनव्रतेन विधृतपराङ्मुखपिच्छेन जघन्यतः पञ्च पञ्चोपवासा उत्कृष्टतः षण्मासोपवासाः कर्तव्याः। उभयमप्याद्वादशवर्षादिति। दर्पात्पुनरनन्तरोक्तान् दोषानाचरतः परगणोपस्थापनं नाम प्रायश्चित्तं स्यात्। स सापराधः स्वगणाचार्येण परगणाचार्यं प्रति प्रहेतव्यः। सोऽप्याचार्यस्तस्यालोचनामाकर्ण्य प्रायश्चित्तमदत्वा आचार्यान्तरं प्रस्थापयति सप्तमं यावत्। पश्चिमश्च प्रथमालोचिताचार्यं प्रति प्रस्थापयति। स एव पूर्वोक्तप्रायश्चित्तेनैनमाचारयति। एवं परिहारस्य प्रथमभेदोऽनुपस्थापनाख्यो द्विविधः। द्वितीयस्त्वयं पारञ्चिकाख्य। स एष तीर्थंकरगणधरगणिप्रवचनसंघाद्यासादनकारकस्य नरेन्द्रविरुद्धाचरितस्य राजानभिमतामात्यादीनां दत्तदीक्षस्य नृपकुलवनितासेवितस्यैवमादिभिरन्यैश्च दोषैर्धर्मदूषकस्य स्यात्। तद्यथा, चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघः संभूय तमाहूय एष महापापी पातकी समयबाह्यो न वन्द्य इति घोषयित्वा दत्त्वाऽनुपस्थापनं प्रायश्चित्तं देशान्निर्घाटयति। सोऽपि स्वधर्मविरहितक्षेत्रे गणिदत्तं प्रायश्चित्तमाचरतीति ॥५६॥

विशेषार्थ—अपने संघसे निर्वासित करनेको निज गुणानुपस्थान कहते हैं। जो मुनि नौ या दस पूर्वका धारी है, जिसके आदिके तीन संहननोंमें-से कोई एक संहनन है, परीषहोंका जेता, दृढ़धर्मी, धीर और संसारसे भयभीत है फिर भी प्रमादवश अन्य मुनियोंसे सम्बद्ध ऋषि (?) अथवा छात्रको, अन्य धर्मावलम्बी साधुओंकी चेतन या अचेतन वस्तुओंको अथवा परस्त्रियोंको चुराता है, मुनियोंपर प्रहार करता है, अन्य भी इस प्रकारके विरुद्ध आचरण करनेवाले उस साधुको निजगुणानुपस्थान नामक प्रायश्चित्त होता है। इस प्रायश्चित्तके अनुसार वह दोषी मुनि मुनियोंके आश्रमसे बत्तीस दण्ड दूर रहकर विहार करता है, बाल मुनियोंकी भी वन्दना करता है, उसे बदलेमें कोई वन्दना नहीं करता, केवल गुरुसे आलोचना करता है, शेष जनोंसे वार्तालाप नहीं करता, मौन रहता है, पीछी उलटी रखता है, जघन्यसे पाँच-पाँच उपवास और उत्कृष्टसे छह मासका उपवास उसे करना चाहिए। ये दोनों बारह वर्ष पर्यन्त करना चाहिए। जो मुनि दर्पसे उक्त दोष करता है उसे परगणोपस्थापन प्रायश्चित्त होता है। उस अपराधीको उसके संघके आचार्य दूसरे संघके आचार्यके पास भेज देते हैं। दूसरे संघके आचार्य भी उसकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त नहीं देते और तीसरे आचार्यके पास भेज देते हैं। इस तरह वह सात आचार्योंके पास जाता है। पुनः उसे इसी प्रकार लौटाया जाता है अर्थात् सातवाँ आचार्य छठेके पास, छठा पाँचवेंके पास इस तरह वह प्रथम आचार्यके पास लौटता है। तब वह पहला आचार्य पूर्वोक्त प्रायश्चित्त उसे देता है। इस तरह परिहार प्रायश्चित्तके प्रथम भेद अनुपस्थापनाके दो भेद हैं। दूसरा भेद पारंचिक है। जो तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, प्रवचन, संघ आदिकी आसादना करता है, या राजविरुद्ध आचरण करता है, राजाकी स्वीकृतिके बिना उसके मन्त्री आदिको दीक्षा देता है, या राजकुलकी नारीका सेवन करता है और इसी प्रकारके अन्य कार्योंसे धर्मको दूषण लगाता है उसको पारंचिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। वह इस प्रकार है—चतुर्विध श्रमण संघ एकत्र होकर उसे बुलाता है। और कहता है यह पातकी महापापी है, जिनधर्म बाह्य है, इसकी वन्दना नहीं करना चाहिए। ऐसी घोषणा करके अनुपस्थान प्रायश्चित्त देकर देशसे निकाल देता है। वह भी अपने धर्मसे रहित क्षेत्रमें रहकर आचार्यके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको करता है। अभिधान राजेन्द्रकोशमें पारंचिकका विस्तारसे वर्णन है। उसके दो भेद हैं—आशातना पारंचिक और प्रतिसेवना पारंचिक। तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य

अथ श्रद्धानाख्यं प्रायश्चित्तविकल्पमाह—

गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्राहणं पुनः ।
तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि ॥५७॥

स्पष्टम् ॥५७॥

अथ प्रायश्चित्तविकल्पदशकस्य यथापराधं प्रयोगविधिमाह—

सैषा दशतयी शुद्धिर्बलकालाद्यपेक्षया ।
यथा दोषं प्रयोक्तव्या चिकित्सेव शिवार्थिभिः ॥५८॥

शुद्धिः—प्रायश्चित्तम् । कालादि । आदिशब्दात् सत्त्वसंहननादि । पक्षे दूष्यादि च । यथाह—

'दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः ।
सत्त्वं सात्म्यं तथाहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः ॥
सूक्ष्मसूक्ष्माः समीक्ष्यैका[1] दोषौषधिनिरूपणे ।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित् ॥' [ ]

दोषः—अतिचारो वातादिश्च ॥५८॥

और गणधरकी आशातना करनेपर जो पारंचिक दिया जाता है वह आशातना पारंचिक है। वह पारंचिक जघन्यसे छह मास और उत्कृष्ट बारह मास होता है। इतने कालतक अपराधी साधु गच्छसे बाहर रहता है। प्रतिसेवना पारंचिकवाला साधु जघन्यसे एक वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष गच्छसे बाहर रहता है। पारंचिक प्रायश्चित्त जिसे दिया जाता है वह नियमसे आचार्य ही होता है इसीलिए वह अन्य गणमें जाकर प्रायश्चित्त करता है। अपने गणमें रहकर करनेसे नये शिष्य साधु तुरन्त जान सकते हैं कि आचार्यने अपराध किया है। इसका उनपर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। परगणमें जानेपर यह बात नहीं रहती। वहाँ जाकर उसे जिनकल्पिककी चर्या करनी होती है और एकाकी ध्यान और श्रुतचिन्तनमें बारह वर्ष बिताना होते हैं। परगणके आचार्य उसकी देख-रेख रखते हैं। वीरनन्दिकृत आचारसारमें भी (६।५४-६४) इसका विशेष वर्णन है ॥५६॥

श्रद्धान नामक प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं—

जिसने अपना धर्म छोड़कर मिथ्यात्वको अंगीकार कर लिया है उसे पुनः दीक्षा देनेको श्रद्धान प्रायश्चित्त कहते हैं। इसको उपस्थापन भी कहते हैं ॥५७॥

विशेषार्थ—पुनः दीक्षा देनेको उपस्थापना कहते हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें[2] श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त नहीं आता। चारित्रसार[3] तथा आचारसारमें इसका कथन मिलता है ॥५७॥

दोषके अनुसार प्रायश्चित्तके इन दस भेदोंके प्रयोगकी विधि बतलाते हैं—

जैसे आरोग्यके इच्छुक दोषके अनुसार बल, काल आदिकी अपेक्षासे चिकित्साका प्रयोग करते हैं। वैसे ही कल्याणके इच्छुकोंको बल, काल, संहनन आदिकी अपेक्षासे अपराधके अनुसार उक्त दस प्रकारके प्रायश्चित्तोंका प्रयोग करना चाहिए ॥५८॥

---

१. क्ष्यौषां भ. कु. च.।
२. पृ. ६४।
३. ६।६५।

अथैवं दशधा प्रायश्चित्तं व्यवहारात् व्याख्याय निश्चयात्तद्भेदपरिमाणनिर्णयार्थमाह—

व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् ।
निश्चयात्तदसंख्येयलोकमात्रभिदिष्यते ॥५९॥

लोकः—प्रमाणविशेषः । उक्तं च—

'पल्लो सायर सूई पदरो य घणंगुलो य जगसेढी ।
लोगपदरो य लोगो अट्ठ पमाणा मुणेयव्वा ॥' [मूलाचार, गा. ११६] ॥५९॥

अथ विनयाख्यतपोविशेषलक्षणार्थमाह—

स्यात् कषायहृषीकाणां विनीतेर्विनयोऽथवा ।
रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः ॥६०॥

विनीतेः—विहिते प्रवर्तनात् सर्वथानिरोधाद्वा । तद्वति च—रत्नत्रययुक्ते पुंसि चकाराद् रत्नत्रयतद्भावकानुग्राहिणि नृपादौ च । अनुग्रहः—उपकारः ॥६०॥

अथ विनयशब्दनिर्वचनपुरस्सरं तत्फलमुपदर्शयंस्तस्यावश्यकर्तव्यतामुपदिशति—

इस प्रकार व्यवहारनयसे प्रायश्चित्तके दस भेदोंका व्याख्यान करके निश्चयनयसे उसके भेद करते हैं—

इस प्रकार व्यवहारनयसे प्रायश्चित्तके दस भेद हैं। निश्चयनयसे उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं ॥५९॥

विशेषार्थ—अलौकिक प्रमाणके भेदोंमें एक भेद लोक भी है। प्रमाणके आठ भेद हैं—पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगत् श्रेणी, जगत्प्रतर और लोक। निश्चयनय अर्थात् परमार्थसे प्रायश्चित्तके भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं। क्योंकि दोष प्रमादसे लगता है और आगममें व्यक्त और अव्यक्त प्रमादोंके असंख्यात लोक प्रमाण भेद कहे हैं। अतः उनसे होनेवाले अपराधोंकी विशुद्धिके भी उतने ही भेद होते हैं। अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें ९।२२ सूत्रके व्याख्यानके अन्तमें कहा है कि जीवके परिणामोंके भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं, अतः अपराध भी उतने ही होते हैं किन्तु जितने अपराधके भेद हैं उतने ही प्रायश्चित्तके भेद नहीं हैं। अतः यहाँ व्यवहारनयसे सामूहिक रूपसे प्रायश्चित्तका कथन किया है। 'चारित्रसार'में चामुण्डरायने भी अकलंक देवके ही शब्दोंको दोहराया है ॥५९॥

विनय नामक तपका लक्षण कहते हैं—

क्रोध आदि कषायों और स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध करनेको या शास्त्रविहित कर्ममें प्रवृत्ति करनेको अथवा सम्यग्दर्शन आदि और उनसे सम्पन्न पुरुष तथा 'च' शब्दसे रत्नत्रयके साधकोंपर अनुग्रह करनेवाले राजाओंका यथायोग्य उपकार करनेको विनय कहते हैं ॥६०॥

विनय शब्दकी निरुक्तिपूर्वक उसका फल बतलाते हुए उसे अवश्य करनेका उपदेश देते हैं—

---

१. थाविरो—भ. कु. च.।

यद्विनयत्यपनयति च कर्माऽसत्तं निराहुरिह विनयम् ।
शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्यः ॥६१॥

अपनयति च—विशेषेण स्वर्गापवर्गौ नयतीति चशब्देन समुच्चीयते । इह—मोक्षप्रकरणे ॥६१॥

अथ विनयस्य शिष्टाभीष्टगुणैकसाधनत्वमाह—

सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हती ।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः ॥६२॥

सारं—उपादेयमिष्टफलमिति यावत् । स्वमानुषत्वे—आर्यत्वकुलीनत्वादिगुणोपेते मनुष्यत्वे ॥६२॥

अथ विनयविहीनस्य शिक्षाया विफलत्वमाह—

शिक्षाहीनस्य नटवल्लिङ्गमात्मविडम्बनम् ।
अविनीतस्य शिक्षाऽपि खलमैत्रीव किंफला ॥६३॥

किंफला—निष्फला अनिष्टफला च ॥६३॥

'विनय' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'नी नयने' धातुसे बना है। तो 'विनयतीति विनयः'। विनयतिके दो अर्थ होते हैं—दूर करना और विशेष रूपसे प्राप्त कराना। जो अप्रशस्त कर्मोंको दूर करती है और विशेष रूपसे स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त कराती है वह विनय है। यह विनय जिनवचनके ज्ञानको प्राप्त करनेका फल है और समस्त प्रकारके कल्याण इस नियमसे ही प्राप्त होते हैं। अतः इसे अवश्य करना चाहिए ॥६१॥

विशेषार्थ—भारतीय साहित्यमें 'विद्या ददाति विनयम्' विद्यासे विनय आती है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। जब विद्यासामान्यसे विनय आती है तो जिनवाणीके अभ्याससे तो विनय आना ही चाहिए, क्योंकि जिनवाणीमें सद्गुणोंका ही आख्यान है। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध जिन सोलह कारणभावनाओंसे होता है उनमें एक विनयसम्पन्नता भी है। आज पाश्चात्य सभ्यताके प्रभावसे भारतमें विनयको दुर्गुण माना जाने लगा है और विनयीको खुशामदी। किन्तु विनय मतलबसे नहीं की जाती। गुणानुरागसे की जाती है। स्वार्थसे प्रेरित विनय विनय नहीं है ॥६१॥

आगे कहते हैं—इष्ट सद्गुणोंका एकमात्र साधन विनय है—

आर्यता, कुलीनता आदि गुणोंसे युक्त इस उत्तम मनुष्य पर्यायका सार अर्हद्रूप सम्पत्ति अर्थात् जिनरूप नग्नता आदिसे युक्त मुनिपद धारण करना है। और इस अर्हद्रूप सम्पदाका सार अर्हन्त भगवान्के द्वारा प्रतिपादित जिनवाणीकी शिक्षा प्राप्त करना है। इस आर्हती शिक्षाका सार सम्यक्विनय है। और इस विनयमें सत्पुरुषोंके द्वारा चाहने योग्य समाधि आदि गुण हैं। इस तरह विनय जैनी शिक्षाका सार और जैन गुणोंका मूल है ॥६२॥

आगे कहते हैं कि विनयहीनकी शिक्षा विफल है—

जैनी शिक्षासे हीन पुरुषका जिनलिंग धारण करना नटकी तरह आत्मविडम्बना मात्र है। जैसे कोई नट मुनिका रूप धारण कर ले तो वह हँसीका पात्र होता है वैसे ही जैन धर्मके ज्ञानसे रहित पुरुषका जिनरूप धारण करना भी है। तथा विनयसे रहित मनुष्यकी शिक्षा भी दुर्जनकी मित्रताके समान निष्फल है या उसका फल बुरा ही होता है ॥६३॥

अथ विनयस्य तत्त्वार्थमतेन चातुर्विध्यमाचारादिशास्त्रमतेन च पञ्चविधत्वं स्यादित्युपदिशति—

दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चौपचारिकः ।
चतुर्धा विनयोऽवाचि पञ्चमोऽपि तपोगतः ॥६४॥

औपचारिकः—उपचारे धार्मिकचित्तानुग्रहे भवस्तत्प्रयोजनो वा । विनेयादित्वात्[1] स्वार्थिको वा वणु (?) । पञ्चमोऽपि । उक्तं च—

'दंसणणाणे विणओ चरित्त तव, ओवचारिओ विणओ ।
पंचविधो खलु विणओ पंचमगइणाइगो भणिओ ॥' [मूलाचार, गा. ३६७] ॥६४॥

अथ सम्यक्त्वविनयं लक्षयन्नाह—

दर्शनविनयः शङ्काद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः ।
[2]भक्त्यर्चावर्णावर्णहृत्यनासादना जिनादिषु च ॥६५॥

शङ्काद्यसन्निधिः—शङ्का-काङ्क्षादिमलानां दूरीकरणं वर्जनमित्यर्थः । भक्तिः—अर्हदादीनां गुणानुरागः । अर्चा—द्रव्यभावपूजा । वर्णः—विदुषां परिषदि युक्तिबलाद्यशोजननम् । अवर्णहृतिः—माहात्म्यसमर्थनेनासद्भूतदोषोद्भावनाशनम् । अनासादना—अवज्ञानिवर्तनमादरकरणमित्यर्थः ॥६५॥

अथ दर्शनविनयदर्शनाचारयोर्विभागनिर्ज्ञानार्थमाह—

दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि ।
दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरुचौ यत्नो मलात्यये ॥६६॥

मलात्यये—शङ्काद्यभावे सति । सम्यग्दर्शनादीनां हि निर्मलीकरणे यत्नं विनयमाहु. । तेष्वेव च निर्मलीकृतेषु यत्नमाचारमाचक्षते ॥६६॥

आगे विनयके तत्त्वार्थसूत्रके मतसे चार और आचार शास्त्रके मतसे पाँच भेद कहते हैं—

तत्त्वार्थशास्त्रके विचारकोंने दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय, इस प्रकार चार भेद विनयके कहे है। और आचार आदि शास्त्रके विचारकोंने तपोविनय नामका एक पाँचवाँ भेद भी कहा है ॥६४॥

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्रमें विनयके चार भेद कहे हैं और मूलाचारमें पाँच भेद कहे हैं ॥६४॥

दर्शनविनयको कहते हैं—

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा इन अतीचारोंको दूर करना दर्शनकी विनय है। उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना गुणोंसे उसे युक्त करना भी दर्शनविनय है। तथा अर्हन्त सिद्ध आदिके गुणोंमें अनुरागरूप भक्ति, उनकी द्रव्य और भावपूजा, विद्वानोंकी सभामें युक्तिके बलसे जिनशासनको यशस्वी बनाना, उसपर लगाये मिथ्या लांछनोंको दूर करना, उसके प्रति अवज्ञाका भाव दूर कर आदर उत्पन्न करना ये सब भी सम्यग्दर्शनकी विनय है ॥६५॥

आगे दर्शनविनय और दर्शनाचारमें अन्तर बतलाते हैं—

सम्यग्दर्शनमें दोषोंको नष्ट करनेमें और गुणोंको लानेमें जो प्रयत्न किया जाता है वह विनय है, और दोषोंके दूर होनेपर तत्त्वार्थश्रद्धानमें जो यत्न है वह दर्शनाचार है। अर्थात्

१. 'विनयादेः' इत्यनेन स्वार्थिके ठणि सति ।—भ. कु. च. ।
२. भ. आरा., गा. ७४४ ।

अथाष्टधा ज्ञानविनयं विधेयतयोपदिशति—

शुद्धव्यञ्जनवाच्यतद्द्वयतया गुर्वादिनामाख्यया
योग्यावग्रहधारणेन समये तद्भाजि भक्त्यापि च ।
यत्काले विहिते कृताञ्जलिपुटस्याव्यग्रबुद्धेः शुचेः
सच्छास्त्राध्ययनं स बोधविनयः साध्योऽष्टधापीष्टदः ॥६७॥

शुद्धेत्यादि—शब्दार्थतदुभयावैपरीत्येन । गुर्वादिनामाख्यया—उपाध्यायचिन्तापकाध्येतव्यनामधेयकथनेन । योग्यावग्रहधारणेन—यो यत्र सूत्रेऽध्येतव्ये तपोविशेष उक्तस्तदवलम्बनेन । समये—श्रुते । तद्भाजि—श्रुतधरे । विहिते—स्वाध्यायवेलालक्षणे । सच्छास्त्राध्ययनं—उपलक्षणाद् गुणनं व्याख्यानं शास्त्रदृष्टयाचरणं च ॥६७॥

अथ ज्ञानविनयज्ञानाचारयोर्विभागनिर्णयार्थमाह—

सम्यग्दर्शन आदिके निर्मल करनेमें जो यत्न है वह विनय है और उनके निर्मल होनेपर उन्हें विशेष रूपसे अपनाना आचार है ॥६६॥

आगे आठ प्रकारकी ज्ञानविनयको पालनेका उपदेश देते हैं—

शब्द, अर्थ और दोनों अर्थात् शब्दार्थकी शुद्धतापूर्वक, गुरु आदिका नाम न छिपाकर तथा जिस आगमका अध्ययन करना है उसके लिए जो विशेष तप बतलाया है उसे अपनाते हुए, आगममें तथा आगमके ज्ञाताओंमें भक्ति रखते हुए स्वाध्यायके लिए शास्त्रविहित काल-में, पीछी सहित दोनों हाथोंको जोड़कर, एकाग्रचित्तसे मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक, जो युक्तिपूर्ण परमागमका अध्ययन, चिन्तन, व्याख्यान आदि किया जाता है वह ज्ञानविनय है। उसके आठ भेद हैं जो अभ्युदय और मोक्षरूपी फलको देनेवाले हैं। मुमुक्षुको उसे अवश्य करना चाहिए ॥६७॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यग्ज्ञानके भी आठ अंग हैं—व्यंजनशुद्धि, वाच्य-शुद्धि, तदुभयशुद्धि, अनिह्नव, उपधान, कालशुद्धि, विनय और बहुमान। व्यंजन अर्थात् शास्त्रवचन शुद्ध होना चाहिए, पढ़ते समय कोई अक्षर छूटना नहीं चाहिए, न अशुद्ध पढ़ना चाहिए। वाच्य अर्थात् शास्त्रका अर्थ शुद्ध करना चाहिए। तदुभयमें वचन और उसका अर्थ दोनों समग्र और शुद्ध होने चाहिए। जिस गुरुसे अध्ययन किया हो, जिनके साथ ग्रन्थका चिन्तन किया हो तथा जिस ग्रन्थका अध्ययन और चिन्तन किया हो उन सबका नाम न छिपाना अनिह्नव है। आचारांग आदि द्वादशांग और उनसे सम्बद्ध अंग बाह्य ग्रन्थोंके अध्य-यनकी जो विधि शास्त्रविहित है, जिसमें कुछ तप आदि करना होता है उसके साथ श्रुतका अध्ययन उपधान है। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे होते हैं जिनका स्वाध्याय कभी भी किया जाता है किन्तु परमागमके अध्ययनके लिए स्वाध्यायकाल नियत है। उस नियत समयपर ही स्वाध्याय करना कालशुद्धि है। मन-वचन-कायकी शुद्धि, दोनों हाथ जोड़ना आदि विनय है, जिनागममें और उसके धारकोंमें श्रद्धा भक्ति होना बहुमान है। इस तरह आठ अंग सहित सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥६७॥

आगे ज्ञानविनय और ज्ञानाचारमें क्या भेद है ? यह बतलाते हैं—

यत्नो हि कालशुद्धयादौ स्याज्ज्ञानविनयोऽत्र तु ।
सति यत्नस्तदाचारः पाठे तत्साधनेषु च ॥६८॥

अत्र—कालशुद्धयादौ सति । पाठे—श्रुताध्ययने । तत्साधनेषु—पुस्तकादिषु ॥६८॥

अथ चारित्रविनयं व्याचष्टे—

रुच्याऽरुच्यहृषीकगोचररतिद्वेषोज्झनेनोच्छलत्-
क्रोधादिच्छिदयाऽसकृत्समितिषूद्योगेन गुप्त्यास्थया ।
सामान्येतरभावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन्
धन्यः साधयते चरित्रविनयं श्रेयः श्रियः पारयम् ॥६९॥

रुच्याः—मनोज्ञा. । गुप्त्यास्थया—शुभमनोवाक्कायक्रियास्वादरेण । सामान्येतरभावना—सामान्येन माऽभूत् कोऽपीह दुःखीत्यादिना । विशेषेण च निगृह्णतो वाङ्मनसी इत्यादिना ग्रन्थेन प्रागुक्ता. । पारयं—समर्थं पोषकं वा ॥६९॥

अथ चारित्रविनयतदाचारयोर्विभागलक्षणार्थमाह—

समित्यादिषु यत्नो हि चारित्रविनयो मतः ।
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः ॥७०॥

स्पष्टम् ॥७०॥

कालशुद्धि, व्यंजनशुद्धि आदिके लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह ज्ञानविनय है। और कालशुद्धि आदिके होनेपर जो श्रुतके अध्ययनमें और उसके साधक पुस्तक आदिमें यत्न किया जाता है वह ज्ञानाचार है। अर्थात् ज्ञानके आठ अंगोंकी पूर्तिके लिए प्रयत्न ज्ञानविनय है और उनकी पूर्ति होनेपर शास्त्राध्ययनके लिए प्रयत्न करना ज्ञानाचार है ॥६८॥

चारित्रविनयको कहते हैं—

इन्द्रियोंके रुचिकर विषयोंमें रागको और अरुचिकर विषयोंमें द्वेषको त्याग कर, उत्पन्न हुए क्रोध, मान, माया और लोभका छेदन करके, समितियोंमें बारम्बार उत्साह करके, शुभ मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियोंमें आदर रखते हुए तथा व्रतोंकी सामान्य और विशेष भावनाओंके द्वारा अहिंसा आदि व्रतोंको निर्मल करता हुआ पुण्यात्मा साधु स्वर्ग और मोक्ष-लक्ष्मीकी पोषक चारित्र विनयको करता है ॥६९॥

विशेषार्थ—जिनसे चारित्रकी विराधना होती है या चारित्रको क्षति पहुँचती है उन सबको दूर करके चारित्रको निर्मल करना चारित्रकी विनय है। इन्द्रियोंके विषयोंको लेकर जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है उसीसे क्रोधादि कषाय उत्पन्न होती हैं। और ये सब चारित्रके घातक हैं। अतः सर्वप्रथम तो इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिपर अंकुश लगाना आवश्यक है। उसमें सफलता मिलनेपर क्रोधादि कषायोंको भी रोका जा सकता है। उनके साथ ही गुप्ति और समितियोंमें विशेष उद्योग करना चाहिए। और पहले जो प्रत्येक व्रतकी सामान्य और विशेष भावना बतलायी हैं उनका चिन्तन भी सतत रहना चाहिए। इस तरह ये सब प्रयत्न चारित्रकी निर्मलतामें कारण होनेसे चारित्रविनय कहा जाता है ॥६९॥

चारित्रविनय और चारित्राचारमें क्या भेद है? यह बतलाते हैं—

समिति आदिमें यत्नको चारित्रविनय कहते हैं। और समिति आदिके होनेपर जो महाव्रतोंमें यत्न किया जाता है वह चारित्राचार है ॥७०॥

अथ प्रत्यक्षपूज्यविषयस्यौपचारिक(विनयस्य) कायिकभेदं सप्तप्रकारं व्याकर्तुमाह—

अभ्युत्थानोचितवितरणोच्चासनाद्युज्झनानु-
व्रज्या पीठाद्युपनयविधिः कालभावाङ्गयोग्य- ।
कृत्याचारः प्रणतिरिति चाङ्गेन सप्तप्रकारः
कार्यः साक्षाद् गुरुषु विनयः सिद्धिकामैस्तुरीयः ॥७१॥

अभ्युत्थानं—आदरेणासनादेरुत्थानम् । उचितवितरणं—योग्यपुस्तकादिदानम् । उच्चासनादि—उच्चस्थानगमनादि । अनुव्रज्या—प्रस्थितेन सह किंचिद् गमनम् । कालयोग्यः—उष्णकालादिषु शीतादिक्रिया भावयोग्यः प्रेषणादिकरणम् । अङ्गयोग्यः—शरीरबलयोग्यं मर्दनादि । उक्तं च—

'पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूवकालकिरिया य ।
पेसणकरणं संथारकरणं उवकरणपडिलिहणं ॥' [मूलाचार, गा. ३७५]

प्रणतिरिति—इति शब्दादेवं प्रकारोऽन्योऽपि सम्मुखगमनादिः । सप्रकारः । उक्तं च—

'अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहो समासदो भणिओ ।
सत्त चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए ॥' [मूलाचार, गा. ३८१] ॥७१॥

अथ तद्वाचिकभेदमाह—

हितं मितं परिमितं वचः सूत्रानुवीचि च ।
ब्रुवन् पूज्यांश्चतुर्भेदं वाचिकं विनयं भजेत् ॥७२॥

हितं—धर्मसंयुक्तम् । मितं—अल्पाक्षरबह्वर्थम् । परिमितं—कारणसहितम् । सूत्रानुवीचि—

प्रत्यक्षमें वर्तमान पूज्य पुरुषोंकी काय सम्बन्धी औपचारिक विनयके सात भेद कहते हैं—

पूज्य गुरुजनोंके साक्षात् उपस्थित होनेपर स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिके इच्छुक साधुओंको शरीरसे सात प्रकारका औपचारिक विनय करना चाहिए—१. उनके आनेपर आदरपूर्वक अपने आसनसे उठना । २. उनके योग्य पुस्तक आदि देना । ३. उनके सामने ऊँचे आसनपर नहीं बैठना । ४. यदि वे जावें तो उनके साथ कुछ दूरी तक जाना । ५. उनके लिए आसन आदि लाना । ६. काल भाव और शरीरके योग्य कार्य करना अर्थात् गर्मीका समय हो तो शीतलता पहुँचानेका और शीतऋतु हो तो शीत दूर करनेका प्रयत्न करना । ७. प्रणाम करना । इसी प्रकारके अन्य भी कार्य कायिक उपचार विनय है ॥७१॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कहा है—गुरु आदिके शरीरके अनुकूल मर्दन आदि करना, इसकी विधि यह है कि गुरुके समीपमें जाकर उनकी पीछीसे उनके शरीरको तीन बार पोंछकर आगन्तुक जीवोंको बाधा न हो इस तरह आदर पूर्वक जितना गुरु सह सकें उतना ही मर्दन करे, तथा बाल वृद्ध अवस्थाके अनुरूप वैयावृत्य करे, गुरुकी आज्ञासे कहीं जाना हो तो जाये, घास वगैरहका सँथरा बिछावे और प्रातः सायं गुरुके उपकरणोंका प्रतिलेखन करे । यह सब कायिक विनय है ॥७१॥

वाचिक औपचारिक विनयके भेद कहते हैं—

पूज्य पुरुषोंकी चार प्रकारकी वाचिक विनय करना चाहिए—हित अर्थात् धर्मयुक्त वचन बोले, मित अर्थात् शब्द तो गिने चुने हों किन्तु महान् अर्थ भरा हो, परिमित अर्थात्

आगमविरुद्धं ([1]आगमार्थाविरुद्धम्)। चशब्दात् भगव-([2]न्नित्यादिपूजापुरस्सरं वचनं वाणिज्याद्यवर्णकं वाक्यं च) ॥७२॥

निरुन्धन्नशुभं भावं कुर्वन् प्रियहिते मतिम् ।
आचार्यादिरवाप्नोति मानसं विनयं द्विधा ॥७३॥

(अशुभं...सम्यक्त्ववि-) राधनप्राणिवधादिकम् । प्रियहिते—प्रिये धर्मोपकारके, हिते च सम्यक्त्वज्ञानादिके । आचार्यादेः—सूर्युपाध्यायस्थविरप्रवर्तकगणधरादेः ॥७३॥

अथ परोक्षगुर्वादिगोचरमौपचारिकविनयं त्रिविधं प्रति प्रयुङ्क्ते—

वाङ्मनस्तनुभिः स्तोत्रस्मृत्यञ्जलिपुटादिकम् ।
परोक्षेष्वपि पूज्येषु विदध्याद्विनयं त्रिधा ॥७४॥

अपि पूज्येषु—दीक्षागुरु-श्रुतगुरु-तपोधिकेषु । अपिशब्दात् तपोगुणवयः कनिष्ठेष्वार्येषु श्रावकेषु च यथार्हं विनयकरणं लक्षयति । यथाहु.—

'रादिणिए उणरादिणिए सु अ अज्जा सु चेव गिहिवग्गे ।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥' [मूलाचार, गा. ३८४]

रादिणिए—रात्र्यधिके दीक्षागुरौ श्रुतगुरौ तपोऽधिके चेत्यर्थ. । उण रादिणिएसु ऊनरात्रेषु तपसा गुणैर्वयसा च कनिष्ठेषु साधुष्वित्यर्थः ॥७४॥

कारण होनेपर ही बोले, तथा आगमसे अविरुद्ध बोले । 'च'शब्दसे भगवान्‌की नित्य पूजा आदिसे सम्बद्ध वचन बोले और व्यापार आदिसे सम्बद्ध वचन न बोले ॥७२॥

मानसिक औपचारिक विनयके भेद कहते हैं—

आचार्य आदिके विषयमें अशुभ भावोंको रोकता हुआ तथा धर्मोपकारक कार्योंमें और सम्यग्ज्ञानादिक विषयमें मनको लगाता हुआ मुमुक्षु दो प्रकारकी विनयको प्राप्त होता है । अर्थात् मानसिक विनयके दो भेद हैं—अशुभ भावोंसे निवृत्ति और शुभ भावोंमें प्रवृत्ति ॥७३॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कहा है—संक्षेपमें औपचारिक विनयके तीन भेद हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक । कायिकके सात भेद हैं, वाचिकके चार भेद हैं और मानसिकके दो भेद हैं । दशवैकालिक (अ. ९) में भी वाचिकके चार तथा मानसिकके दो भेद कहे हैं किन्तु कायिकके आठ भेद कहे हैं ॥७३॥

आगे परोक्ष गुरु आदिके विषयमें तीन प्रकारकी औपचारिक विनय कहते हैं—

जो दीक्षागुरु, शास्त्रगुरु और तपस्वी पूज्य जन सामने उपस्थित नहीं हैं, उनके सम्बन्धमें वचन, मन और कायसे तीन प्रकारकी विनय करनी चाहिए । वचनसे उनका स्तवन आदि करना चाहिए, मनसे उनके गुणोंका स्मरण-चिन्तन करना चाहिए और कायसे परोक्षमें भी उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम आदि करना चाहिए । 'अपि' शब्दसे तात्पर्य है कि जो अपनेसे तपमें, गुणमें और अवस्थामें छोटे हैं उन साधुओंमें तथा श्रावकोंमें भी यथायोग्य विनय करना चाहिए ॥७४॥

---

१. भ. कु. च. ।
२. भ. कु. च. । 'भगव' इत्यतोऽग्रे लिपिकारप्रमादेनाग्रिमश्लोकस्य भागः समागत इति प्रतिभाति ।
३. पडिरूवो खलु विणओ काइयजोए य वाय माणसिओ ।
अट्ठ चउव्विह दुविहो परूवणा तस्सिया होई ॥

अथ तपोविनयमाह—

यथोक्तमावश्यकमावहन् सहन् परीषहानग्रगुणेषु चोत्सहन्।
भजंस्तपोवृद्धतपांस्यहेलयन् तपोलघूनेति तपोविनीतताम् ॥७५॥

आवश्यकं—अवशस्य कर्म व्याध्यादिपरवशेनापि क्रियत इति कृत्वा। अथवा अवश्यस्य रागादिभिरनायत्तीकृतस्य कर्म इति विगृह्य 'द्वन्द्वमनोज्ञादेः' इत्यनेन वुञ्। अग्रगुणेषु—उत्तरगुणेष्वातपनादिषु संयमविशेषेषु वा उपरिमगुणस्थानेषु वा। तपोवृद्धाः—तपांसि वृद्धानि अधिकानि येषां न पुनस्तपसा वृद्धा इति, अलुक्प्रसंगात्। अहेडयन्—अनवजानन्। स्वस्मात्तपसा हीनानपि यथास्वं संभावयन्नित्यर्थः ॥७५॥

अथ विनयभावनाया फलमाह—

ज्ञानलाभार्थमाचारविशुद्धयर्थं शिवार्थिभिः।
आराधनादिसंसिद्धये कार्यं विनयभावनम् ॥७६॥

स्पष्टम् ॥७६॥

अथाराधनादीत्यत्रादिशब्दसंगृहीतमर्थजातं व्याकर्तुमाह—

द्वारं यः सुगतेर्गणेशगणयोर्यः कार्मणं यस्तपो-
वृत्तज्ञानर्जुत्वमार्दवयशःसौचित्यरत्नार्णवः।
यः संक्लेशदवाम्बुदः श्रुतगुरूद्योतैकदीपश्च यः
स क्षेप्यो विनयः परं जगदिनाज्ञापारवश्येन चेत् ॥७७॥

सुगतेः—मोक्षस्य। द्वारं सकलकर्मक्षयहेतुत्वात्। स्वर्गस्य वा प्रचुरपुण्यास्रवनिमित्तत्वात्। कार्मणं—वशीकरणम्। सौचित्यं—गुर्वाद्यनुग्रहेण वैमनस्यनिवृत्तिः। संक्लेशः—रागादि। श्रुतं—आचारोक्तक्रमशत्वं

विशेषार्थ—मूलाचारमें भी कहा है—जो अपनेसे बड़े दीक्षा गुरु, शास्त्रगुरु और विशिष्ट तपस्वी हैं, तथा जो तपसे, गुणसे और अवस्थासे छोटे हैं, आर्यिकाएँ हैं, गृहस्थ हैं। उन सबमें भी साधुको प्रमाद छोड़कर यथा योग्य विनय करना चाहिए ॥७४॥

तपोविनयका स्वरूप कहते हैं—

रोग आदि हो जानेपर भी जिनको अवश्य करना होता है अथवा जो कर्म रागादिको दूर करके किये जाते है उन पूर्वोक्त आवश्यकोंको जो पालता है, परीषहोंको सहता है, आतापन आदि उत्तर गुणोंमें अथवा ऊपरके गुणस्थानोंमें जानेका जिसका उत्साह है, जो अपनेसे तपमें अधिक हैं उन तपोवृद्धोंका और अनशन आदि तपोंका सेवन करता है तथा जो अपनेसे तपमें हीन हैं उनकी भी अवज्ञा न करके यथायोग्य आदर करता है वह साधु तप विनयका पालक है ॥७५॥

आगे विनय भावनाका फल कहते हैं—

मोक्षके अभिलाषियोंको ज्ञानकी प्राप्तिके लिए, पाँच आचारोंको निर्मल करनेके लिए और सम्यग्दर्शन आदिको निर्मल करना आदि रूप आराधना आदिकी सम्यक् सिद्धिके लिए विनयको बराबर करना चाहिए ॥७६॥

ऊपरके श्लोकमें 'आराधनादि'में आये आदि शब्दसे गृहीत अर्थको कहते हैं—

जो सुगतिका द्वार है, संघके स्वामी और संघको वशमें करनेवाली है, तप, चारित्र, ज्ञान, सरलता, मार्दव, यश और सौचित्यरूपी रत्नोंका समुद्र है। संक्लेशरूपी दावाग्निके लिए मेघके तुल्य है, श्रुत और गुरुको प्रकाशित करनेके लिए उत्कृष्ट दीपकके समान है। ऐसी विनयको भी यदि आत्मद्वेषी इसलिए बुरी कहते हैं कि विनयी पुरुष तीनों लोकोंके नाथकी

कल्पज्ञत्वं च । क्षेप्यः—कुत्स्यो व्यपोह्यो वा । जगदित्यादि—विनये हि वर्तमानो विश्वनाथाज्ञापरायत्तः स्यात् ॥७७॥

अथ निर्वचन (-लक्षित-) लक्षणे वैयावृत्त्ये तपसि मुमुक्षुं प्रयुङ्क्ते—

क्लेशसंक्लेशनाशायाचार्यादिदशकस्य यः ।
व्यावृत्तस्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्यमाचरेत् ॥७८॥

क्लेशः—कायपीडा । संक्लेशः—दुष्परिणामः । आचार्यादिदशकस्य—आचार्योपाध्यायतपस्वि-शैक्षग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम् । आचरन्ति यस्माद् व्रतानीत्याचार्यः । मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य यस्मादधीयत इति उपाध्यायः । महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी । शिक्षाशीलः शैक्षः । रुजा क्लिष्टशरीरो ग्लानः । स्थविरसन्ततिः गणः । दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायस्त्रीपुरुषसंतानरूपः कुलम् । चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संघः । चिरप्रव्रजितः साधुः । लोकसंमतो मनोज्ञः ॥७८॥

अथ वैयावृत्यफलमाह—

मुक्त्युद्युक्तगुणानुरक्तहृदयो यां कांचिदप्यापदं
तेषां तत्पथघातिनीं स्ववदवस्यन्योऽङ्गवृत्याऽथवा ।
योग्यद्रव्यनियोजनेन शमयत्युद्घोपदेशेन वा
मिथ्यात्वादिविषं विकर्षति स खल्वार्हन्त्यमप्यर्हति ॥७९॥

आज्ञाके पराधीन हो जाता है तो इसीसे सिद्ध है कि विनयको अवश्य करना चाहिए। अर्थात् त्रिलोकीनाथकी आज्ञाके अधीन होना ही विनयके महत्त्वको बतलाता है ॥७७॥

वैयावृत्य तपका निरुक्ति सिद्ध लक्षण बतलाते हुए ग्रन्थकार मुमुक्षुओंको उसके पालनके लिए प्रेरित करते हैं—

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकारके मुनियोंके क्लेश अर्थात् शारीरिक पीड़ा और संक्लेश अर्थात् आर्त रौद्ररूप दुष्परिणामोंका नाश करनेके लिए प्रवृत्त साधु या श्रावक जो कर्म—मन, वचन और कायका व्यापार करता है वह वैयावृत्य है, उसे करना चाहिए ॥७८॥

विशेषार्थ—व्यावृत्तके भावको वैयावृत्य कहते हैं अर्थात् उक्त दस प्रकारके साधुओंके कायिक क्लेश और मानसिक संक्लेशको दूर करनेमें जो प्रवृत्त होता है, उसका कर्म वैयावृत्य कहाता है। जिनसे मुनि व्रत लेते हैं वे आचार्य होते हैं। जिन मुनियोंके पास जाकर साधु आत्मकल्याणके लिए अध्ययन करते है वे उपाध्याय कहलाते हैं। महोपवास आदि करनेवाले साधु तपस्वी कहलाते है। नये दीक्षित साधुओंको शैक्ष कहते है। जिनके शरीरमें रोग है उन्हें ग्लान कहते हैं। स्थविर साधुओंकी परम्पराको गण कहते हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यकी शिष्य परम्पराको कुल कहते है। चार प्रकारके मुनियोंके समूहको संघ कहते हैं। जिस साधुको दीक्षा लिये बहुत काल बीत गया है उसे साधु कहते हैं। और जो लोकमान्य साधु हो उसे मनोज्ञ कहते हैं। इन दस प्रकारके साधुओंका वैयावृत्य करना चाहिए ॥७८॥

वैयावृत्यका फल कहते हैं—

जिस साधु या श्रावकका हृदय मुक्तिके लिए तत्पर साधुओंके गुणोंमें आसक्त है और जो इसीलिए उन साधुओंपर मुक्तिमार्गको घात करनेवाली दैवी, मानुषी, तैरश्ची अथवा

तेषां—मुमुक्षूणाम् । तत्पथघातिनी—मुक्तिमार्गोच्छेदिनी । अंगवृत्या—कायचेष्टया । अन्य- (योग्य) द्रव्यनियोजनेन—योग्यौषधाशनवसत्यादिप्रयोगेण । विकर्षति—दूरीकरोति ॥७९॥

अथ साधर्मिकविपदुपेक्षिणो दोषं प्रकाश्य वैयावृत्यस्य तपोहृदयत्वं समर्थयते—

सधर्मापदि यः शेते स शेते सर्वसंपदि ।
वैयावृत्यं हि तपसो हृदयं ब्रुवते जिनाः ॥८०॥

हृदयं—अन्तस्तत्त्वम् ॥८०॥

भूयोऽपि तत्साध्यमाह—

समाध्याध्यानसानाथ्ये तथा निर्विचिकित्सता ।
सधर्मवत्सलत्वादि वैयावृत्येन साध्यते ॥८१॥

साध्यते—लभ्यते ज्ञाप्यते वा । उक्तं च—

'गुणाढ्ये पाठके साधौ कृशे शैक्षे तपस्विनि ।
सपक्षे समनुज्ञाते संघे चैव कुले गणे ॥
शय्यायामासने चोपगृहीते पठने तथा ।
आहारे चौषधे कायमलोज्झस्थापनादिषु ॥
मारीदुर्भिक्षचौराध्वव्यालराजनदीषु च ।
वैयावृत्यं यतेरुक्तं सपरिग्रहरक्षणम् ॥
बालवृद्धाकुले गच्छे तथा गुर्वादिपञ्चके ।
वैयावृत्यं जिनैरुक्तं कर्तव्यं स्वशक्तितः ॥' [ ]

अचेतनकृत कोई विपत्ति आनेपर, उसे अपने ही ऊपर आयी हुई जानकर शारीरिक चेष्टासे अथवा संयमके अविरुद्ध औषधी, आहार, वसति आदिके द्वारा शान्त करता है, अथवा मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपी विषको प्रभावशाली शिक्षाके द्वारा दूर करता है वह महात्मा इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदोंकी तो गिनती ही क्या, निश्चयसे तीर्थंकर पदके भी योग्य होता है ॥७९॥

साधर्मियोंपर आयी विपत्तियोंकी उपेक्षा करनेवालेके दोष बतलाकर इस बातका समर्थन करते हैं कि वैयावृत्य तपका हृदय है—

जो साधर्मीपर आपत्ति आनेपर भी सोता रहता है—कुछ प्रतीकार नहीं करता, वह समस्त सम्पत्तिके विषयमें भी सोता है, अर्थात् उसे कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। क्योंकि अर्हन्त देवने वैयावृत्यको बाह्य और अभ्यन्तर तपोंका हृदय कहा है अर्थात् शरीरमें जो स्थिति हृदयकी है वही स्थिति तपोंमें वैयावृत्यकी है ॥८०॥

पुनः वैयावृत्यका फल बतलाते हैं—

वैयावृत्यसे एकाग्रचिन्ता निरोध रूप ध्यान, सनाथपना, ग्लानिका अभाव तथा साधर्मीवात्सल्य आदि साधे जाते हैं ॥८१॥

विशेषार्थ—किसी साधुपर ध्यान करते समय यदि कोई उपसर्ग या परीषह आ जाये तो उसे दूर करनेपर साधुका ध्यान निर्विघ्न होता है। इससे वह सनाथता अनुभव करता है कि उसकी भी कोई चिन्ता करनेवाला है। इसी तरह रोगी साधुकी सेवा करनेसे ग्लानि दूर होकर निर्विचिकित्सा अंगका पालन होता है। इन सबसे साधर्मिवात्सल्य तो बढ़ता ही है।

गुणाढ्ये—गुणाधिके । कृशे—व्याध्याक्रान्ते । शय्यायां—वसतौ । उपगृहीते—उपकारे आचार्यादिस्वीकृते वा । सपरिग्रहरक्षणं—संगृहीतरक्षणोपेतम् । अथवा गुणाढ्यादीनामागतानां संग्रहो रक्षा च कर्तव्येत्यर्थः । बालाः—नवकप्रव्रजिताः । वृद्धाः—तपोगुणवयोभिरधिकाः । गच्छे सप्तपुरुषसन्ताने गुर्वादिपञ्चके आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणधरेषु ॥८१॥

अथ मुमुक्षोः स्वाध्याये नित्याभ्यासविधिपूर्वकं निरुक्तिमुखेन तदर्थमाह—

नित्यं स्वाध्यायमभ्यस्येत्कर्मनिर्मूलनोद्यतः ।
स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाऽध्ययनं श्रुतेः ॥८२॥

हितः—संवरनिर्जराहेतुत्वात् । सम्यगित्यादि—सुसम्यगाकेवलज्ञानोत्पत्तेः श्रुतस्याध्ययनं स्वाध्याय-इत्यन्वर्थाश्रयणात् ॥८२॥

वैयावृत्यके सम्बन्धमें कहा है—गुणोंमें अधिक उपाध्याय, साधु, दुर्बल या व्याधिसे ग्रस्त नवीन साधु, तपस्वी, और संघ कुल तथा गणकी वैयावृत्य करना चाहिये। उन्हें वसतिकामें स्थान देना चाहिए, बैठनेको आसन देना चाहिए, पठनमें सहायता करनी चाहिए तथा आहार, औषधमें, सहयोग करना चाहिए। मल निकल जाये तो उसे उठाना चाहिए। इसी तरह मारी, दुर्भिक्ष, चोर, मार्ग, सर्पादि तथा नदी आदिमें स्वीकृत साधु आदिकी रक्षाके लिए वैयावृत्य कहा है। अर्थात् जो मार्गगमनसे थका है, या चोरोंसे सताया गया है, नदीके कारण त्रस्त है, सिंह, व्याघ्र आदिसे पीड़ित है, भारी रोगसे ग्रस्त है, दुर्भिक्षसे पीड़ित है उन सबका संरक्षण करके उनकी सेवा करनी चाहिए। बाल और वृद्ध तपस्वियोंसे आकुल गच्छकी तथा आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर इन पाचोंकी सर्वशक्तिसे वैयावृत्य करना चाहिये। ऐसा जिनदेवने कहा है ॥८१॥

अब मुमुक्षुको नित्य विधिपूर्वक स्वाध्यायका अभ्यास करनेकी प्रेरणा करते हुए स्वाध्यायका निरुक्तिपूर्वक अर्थ कहते हैं—

ज्ञानावरणादि कर्मोंके अथवा मन वचन कायकी क्रियाके विनाशके लिए तत्पर मुमुक्षुको नित्य स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि 'स्व' अर्थात् आत्माके लिए हितकारक परमागमके 'अध्याय' अर्थात् अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं। अथवा 'सु' अर्थात् सम्यक् श्रुतके जब तक केवलज्ञान उत्पन्न हो तब तक अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं ॥८२॥

विशेषार्थ—स्वाध्याय शब्दकी दो निरुक्तियाँ है—स्व+अध्याय और सु+अध्याय। अध्यायका अर्थ अध्ययन है। स्व आत्माके लिए हितकर शास्त्रोंका अध्ययन स्वाध्याय है क्योंकि समीचीन शास्त्रोंके स्वाध्यायसे कर्मोंका संवर और निर्जरा होती है। और 'सु' अर्थात् सम्यक् शास्त्रोंका अध्ययन स्वाध्याय है ॥८२॥

१. आइरियादिसु पंचसु सबालवुड्ढाउलेसु गच्छेसु ।
वैयावच्चं वुत्तं कादव्वं सव्वसत्तीए ॥
गुणाधिए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुब्बले ।
साहुगणे कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥
सेज्जोगासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहिदे ।
आहारोसहवायण विकिंचिणं वंदणादीहिं ॥—मूलाचार, ५।१९२-१९४

अथ सम्यक्शब्दार्थकथनपुरस्सरं स्वाध्यायस्याद्यं वाचनाख्यं भेदमाह—

शब्दार्थशुद्धता द्रुतविलम्बिताद्यूनता च सम्यक्त्वम् ।
शुद्धग्रन्थार्थोभयदानं पात्रेऽस्य वाचना भेदः ॥८३॥

द्रुतेत्यादि—द्रुतमपरिभाव्य झटित्युच्चरितम् । विलम्बितमस्थाने विश्रम्य विश्रम्योच्चरितम् । आदिशब्देनाक्षरपदच्युतादिदोषास्तद्हीनत्वम् । वाचना—वाचनाख्यः ॥८३॥

अथ स्वाध्यायस्य प्रच्छनाख्यं द्वितीयं भेदं लक्षयति—

प्रच्छनं संशयोच्छित्त्यै निश्चितद्रढनाय वा ।
प्रश्नोऽधीतिप्रवृत्त्यर्थत्वादधीतिरसावपि ॥८४॥

संशयोच्छित्त्यै—ग्रन्थेऽर्थे तदुभये वा किमिदमित्थमन्यथा वेति सन्देहमुच्छेत्तुम् । निश्चितदृढनाय—इदमित्थमेवेति निश्चितेऽर्थे बलमाधातुम् । अधीतीत्यादि—अध्ययनप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रश्नोऽप्यध्ययनमित्युच्यते, इति न सामान्यलक्षणस्याव्याप्तिरिति भावः ॥८४॥

अथवा मुख्य एव प्रश्ने स्वाध्यायव्यपदेश इत्याह—

किमेतदेवं पाठ्यं किमेषोऽर्थोऽस्येति संशये ।
निश्चितं वा द्रढयितुं पृच्छन् पठति नो न वा ॥८५॥

एतद्—अक्षरं पदं वाक्यादि । निश्चितं—पदमर्थं वा । पठति नो न—पठत्येवेत्यर्थः ॥८५॥

आगे 'सम्यक्' शब्दका अर्थ बतलाते हुए स्वाध्यायके प्रथम भेद वाचनाका स्वरूप कहते हैं—

शब्दकी शुद्धता, अर्थकी शुद्धता, बिना विचारे न तो जल्दी-जल्दी पढ़ना और न अस्थानमें रुक-रुककर पढ़ना, तथा 'आदि' शब्दसे पढ़ते हुए अक्षर या पद न छोड़ना ये सब सम्यक्त्व या समीचीनता है। और विनय आदि गुणोंसे युक्त पात्रको शुद्ध ग्रन्थ, शुद्ध उसका अर्थ और शुद्ध ग्रन्थ तथा अर्थ प्रदान करना स्वाध्यायका भेद वाचना है ॥८३॥

स्वाध्यायके दूसरे भेद प्रच्छनाका स्वरूप कहते हैं—

ग्रन्थ, अर्थ और दोनोंके विषयमें 'क्या यह ऐसा है या अन्यथा है' इस सन्देहको दूर करनेके लिए अथवा 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारसे निश्चितको भी दृढ करनेके लिए प्रश्न करना पृच्छना है। इसपर यह शंका हो सकती है कि स्वाध्यायका लक्षण तो अध्ययन कहा है। यह लक्षण प्रश्नमें कैसे घटित होता है। प्रश्न तो अध्ययन नहीं है ? इसके समाधानके लिए कहते हैं। प्रश्न अध्ययनकी प्रवृत्तिमें निमित्त है। प्रश्नसे अध्ययनको बल मिलता है इसलिए वह भी स्वाध्याय है ॥८४॥

विशेषार्थ—बहुत-से लोग स्वाध्याय करते हैं किन्तु कोई शब्द या अर्थ या दोनों समझमें न आनेसे अटक जाते हैं। यदि कोई समझानेवाला न हुआ तो उनकी गाड़ी ही रुक जाती है और स्वाध्यायका आनन्द जाता रहता है। अतः प्रश्न करना स्वाध्यायका मुख्य अंग है। मगर उस प्रश्न करनेके दो ही उद्देश होने चाहिए, अपने सन्देहको दूर करना और अपने समझे हुएको दृढ करना। यदि वह केवल विवादके लिए या पाण्डित्य प्रदर्शनके लिए है तो वह स्वाध्यायका अंग नहीं है ॥८४॥

आगे कहते हैं कि प्रश्नका स्वाध्याय नाम औपचारिक नहीं है मुख्य है—

क्या इसे ऐसे पढ़ना चाहिए ? क्या इस पदका यह अर्थ है ? इस प्रकारका संशय होनेपर या निश्चितको दृढ करनेके लिए पूछने वाला क्या पढ़ता नहीं है ? पढ़ता ही है ॥८५॥

अथानुप्रेक्षाख्यं तद्विकल्पं लक्षयति—

साऽनुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा।
स्वाध्यायलक्ष्म पाठोऽन्तर्जल्पात्माऽत्रापि विद्यते ॥८६॥

विद्यते—अस्ति प्रतीयते वा । आचारटीकाकारस्तु 'प्रच्छन्नशास्त्रश्रवणमनुप्रेक्ष्य वाऽनित्यत्वाद्यनुचिन्तनमिति व्याचष्टे ॥८६॥

अथाम्नायं धर्मोपदेशं च तद्भेदमाह—

आम्नायो घोषशुद्धं यद् वृत्तस्य परिवर्तनम् ।
धर्मोपदेशः स्याद्धर्मकथा संस्तुतिमङ्गला ॥८७॥

घोषशुद्धं—घोष उच्चारणं शुद्धो द्रुतविलम्बितादिदोषरहितो यत्र । वृत्तस्य—पठितस्य शास्त्रस्य । परिवर्तनं—अनूद्यवचनम् । संस्तुतिः—देववन्दना । मङ्गलं—पञ्चनमस्काराशीः शान्त्यादिवचनादि । उक्तं च—

'परियट्टणा य वायण पच्छणमणुपेहणा य धम्मकहा ।
थुदिमंगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ ॥' [मूलाचार, गा. ३९३]

धर्मकथेति त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरितानीत्याचारटीकायाम् ॥८७॥

अथ धर्मकथायाश्चातुर्विध्यं दर्शयन्नाह—

विशेषार्थ—इस शब्द, पद या वाक्यको कैसे पढ़ना चाहिये यह शब्दविषयक पृच्छा है और इस शब्द, पद या वाक्यका क्या अर्थ है, यह अर्थविषयक पृच्छा है। ग्रन्थकार कहते हैं जो ऐसा पूछता है क्या वह पढ़ता नहीं है, पढ़ता है तभी तो पूछता है। अतः प्रश्न करना मुख्य रूपसे स्वाध्याय है ॥८५॥

स्वाध्यायके भेद अनुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं—

जाने हुए या निश्चित हुए अर्थका मनसे जो बार-बार चिन्तवन किया जाता है वह अनुप्रेक्षा है। इस अनुप्रेक्षामें भी स्वाध्यायका लक्षण अन्तर्जल्प रूप पाठ आता है ॥८६॥

विशेषार्थ—वाचना वगैरहमें बहिर्जल्प होता है और अनुप्रेक्षामें मन ही मनमें पढ़ने या विचारनेसे अन्तर्जल्प होता है। अतः स्वाध्यायका लक्षण उसमें भी पाया जाता है। मूलाचारकी टीकामें (५।१९६) अनित्यता आदिके बार-बार चिन्तवनको अनुप्रेक्षा कहा है और इस तरह उसे स्वाध्यायका भेद स्वीकार किया है ॥८६॥

आगे स्वाध्यायके आम्नाय और धर्मोपदेश नामक भेदोंका स्वरूप कहते हैं—

पढ़े हुए ग्रन्थके शुद्धतापूर्वक पुनः पुनः उच्चारणको आम्नाय कहते हैं। और देव-बन्दनाके साथ मंगल पाठपूर्वक धर्मका उपदेश करनेको धर्मकथा कहते हैं ॥८७॥

विशेषार्थ—पठित ग्रन्थको शुद्धता पूर्वक उच्चारण करते हुए कण्ठस्थ करना आम्नाय है। मूलाचारकी टीकामें तेरसठ शलाका पुरुषोंके चरितको धर्मकथा कहा है अर्थात् उनकी चर्चा वार्ता धर्मकथा है ॥८७॥

आगे धर्मकथाके चार भेदोंका स्वरूप कहते हैं—

आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं समेक्षी, विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथार्हम् ।
संवेजनीं प्रथयितुं सुकृतानुभावं, निर्वेदनीं वदतु धर्मकथां विरक्त्यै ॥८८॥

समेक्षी—सर्वत्र तुल्यदर्शी उपेक्षाशील इत्यर्थः । सुकृतानुभावं—पुण्यफलसंपदम् । विरक्त्यै—भवभोगशरीरेषु वैराग्यं जनयितुम् ॥८८॥

अथ स्वाध्यायसाध्यान्यभिधातुमाह—

प्रज्ञोत्कर्षजुषः श्रुतस्थितिपुषश्चेतोऽक्षसंज्ञामुषः
संदेहच्छिदुराः कषायभिदुराः प्रोद्यत्तपोमेदुराः ।
संवेगोल्लसिताः सदध्यवसिताः सर्वातिचारोज्झिताः
स्वाध्यायात् परवाद्यशङ्कितधियः स्युः शासनोद्भासिनः ॥८९॥

धर्मकथाके चार भेद हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी। समदर्शी वक्ताको यथायोग्य अनेकान्त मतका संग्रह करनेवाली आक्षेपणी कथाको, एकान्तवादी मतोंका निग्रह करनेवाली विक्षेपणी कथाको, पुण्यका फल बतलानेके लिए संवेजनी कथाको और संसार शरीर और भोगोंमें वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए निर्वेदनी कथाको कहना चाहिए ॥८८॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना (गा-६५६-६५७) में धर्मकथाके उक्त चार भेद कहे हैं। जिस कथामें ज्ञान और चारित्रका कथन किया जाता है कि मति आदि ज्ञानोंको यह स्वरूप है और सामायिक आदि चारित्रका यह स्वरूप है उसे आक्षेपणी कहते हैं। जिस कथामें स्वसमय और परसमयका कथन किया जाता है वह विक्षेपणी है। जैसे वस्तु सर्वथा नित्य है, या सर्वथा क्षणिक है, या सर्वथा एक ही है, या सर्वथा अनेक ही है, या सब सत्स्वरूप ही है, या विज्ञानरूप ही है, या सर्वथा शून्य है इत्यादि। परसमयको पूर्वपक्षके रूपमें उपस्थित करके प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे उसमें विरोध बतलाकर कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक इत्यादि स्वरूपसमयका निरूपण करना विक्षेपणी कथा है। ज्ञान, चारित्र और तपके अभ्याससे आत्मामें कैसी-कैसी शक्तियाँ प्रकट होती हैं इसका निरूपण करनेवाली कथा संवेजनी है। शरीर अपवित्र है क्योंकि रस आदि सात धातुओंसे बना है, रज और वीर्य उसका बीज है, अशुचि आहारसे उसकी वृद्धि होती है और अशुचि स्थानसे वह निकलता है। और केवल अशुचि ही नहीं है असार भी है। तथा स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला-भोजन आदि भोग प्राप्त होनेपर भी तृप्ति नहीं होती। उनके न मिलनेपर या मिलनेके बाद नष्ट हो जानेपर महान् शोक होता है। देव और मनुष्य पर्याय भी दुःखबहुल है, सुख कम है। इस प्रकार शरीर और भोगोंसे विरक्त करनेवाली कथा निर्वेदनी है ॥८८॥

स्वाध्यायके लाभ बतलाते हैं—

स्वाध्यायसे मुमुक्षुकी तर्कणाशील बुद्धिका उत्कर्ष होता है, परमागमकी स्थितिका पोषण होता है अर्थात् परमागमकी परम्परा पुष्ट होती है। मन, इन्द्रियाँ और संज्ञा अर्थात् आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी अभिलाषाका निरोध होता है। सन्देह अर्थात् संशयका

---

१. आक्षेपिणी कथां कुर्यात् प्राज्ञः स्वमतसंग्रहे । विक्षेपिणी कथां तज्ज्ञः कुर्याद् दुर्मतनिग्रहे ॥
संवेदिनीं कथा पुण्यफलसम्पत्प्रपञ्चने । निर्वेदिनीं कथा कुर्याद् वैराग्यजननं प्रति ॥
—महापु. १।१३५-१३६ ।

संज्ञाः—आहाराद्यभिलाषाः। सदध्यवसिताः—प्रशस्ताध्यवसायाः। शासनोद्भासिनः—जिनमत-प्रभावकाः ॥८९॥

अथ स्तुतिलक्षणस्वाध्यायफलमाह—

शुद्धज्ञानघनार्हदद्भुतगुणग्रामग्रहव्यग्रधी-
स्तद्व्यक्त्युद्धुरनूतनोक्तिमधुरस्तोत्रस्फुटोद्गारगीः।
मूर्ति प्रश्रयनिर्मितामिव वधत्तां किंचिदुन्मुद्रय-
त्यात्मस्थाम कृती यतोरिजयिनां प्राप्नोति रेखां धुरि ॥९०॥

छेदन होता है, क्रोधादि कषायोंका भेदन होता है। दिनोदिन तपमें वृद्धि होती है। संवेग भाव बढ़ता है। परिणाम प्रशस्त होते हैं। समस्त अतीचार दूर होते हैं, अन्यवादियोंका भय नहीं रहता, तथा जिनशासनकी प्रभावना करनेमें मुमुक्षु समर्थ होता है ॥८९॥

विशेषार्थ—समस्त जिनागम चार अनुयोगोंमें विभाजित है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंका चरित वर्णित है तथा धार्मिक कथाएँ हैं वे सब ग्रन्थ प्रथमानुयोगमें आते हैं। ऐसे ग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेसे पुरातन इतिवृत्तका ज्ञान होनेके साथ पुण्य और पापके फलका स्पष्ट बोध होता है। उससे स्वाध्याय करनेवालेका मन पापसे हटकर पुण्यकार्योंमें लगता है। साथ ही पुण्यमें आसक्तिका भी बुरा फल देखकर पापकी तरह पुण्यको भी हेय मानकर संसारसे विरक्त होकर आत्मसाधनामें लगता है। जो प्रथम स्वाध्यायमें प्रवृत्त होते हैं उनके लिए कथा प्रधान ग्रन्थ बहुत उपयोगी होते हैं, उनमें उनका मन लगता है इससे ही इसे प्रथम अनुयोग कहा है। करण परिणामको कहते हैं और करण गणितके सूत्रोंको भी कहते हैं। अतः जिन ग्रन्थोंमें लोकरचनाका, मध्यलोकमें होनेवाले कालके परिवर्तनका, चारों गतियोंका तथा जीवके परिणामोंके आधारपर स्थापित गुणस्थानों, मार्गणास्थानों आदिका कथन होता है उन्हें करणानुयोग कहते हैं। करणानुयोगके आधारपर ही विपाकविचय और संस्थानविचय नामक धर्मध्यान होते हैं। और गुणस्थानोंके बोधसे जीव अपने परिणामोंको सुधारनेका प्रयत्न करता है। जिन ग्रन्थोंमें श्रावक और मुनिके आचारका वर्णन होता है उन्हें चरणानुयोग कहते हैं। मोक्षकी प्राप्तिमें चारित्रका तो प्रमुख स्थान है अतः मुमुक्षुको चारित्र प्रतिपादक ग्रन्थोंका तो स्वाध्याय करना ही चाहिए। उसके बिना चारित्रकी रक्षा और वृद्धि सम्भव नहीं है। तथा जीवाजीवादि सात तत्त्वोंका, नव पदार्थोंका, षट् द्रव्योंका जिसमें वर्णन हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। उसकी स्वाध्यायसे तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान होकर आत्मतत्त्वकी यथार्थ प्रतीति होती है। इसके साथ ही स्वाध्यायसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है, इन्द्रिय-मन आदिको वशमें करनेका बल मिलता है। दर्शन शास्त्रका अध्ययन करनेसे किसी अन्य मतावलम्बीसे भय नहीं रहता। आजके युगमें स्वाध्यायसे बढ़कर दूसरा तप नहीं है। अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ॥८९॥

आगे स्तुतिरूप स्वाध्यायका फल कहते हैं—

स्तुतिरूप स्वाध्यायमें प्रवृत्त मुमुक्षुकी मनोवृत्ति निर्मल ज्ञानघनस्वरूप अर्हन्त भगवान्‌के गुणोंके समूहमें आग्रही होनेके कारण आसक्त रहती है। उसकी वचनप्रवृत्ति भगवान्‌के गुणोंकी व्यक्तिसे भरे हुए और नयी-नयी उक्तियोंसे मधुर स्तोत्रोंके प्रकट उल्लासको लिये हुए होती है। तथा उसकी शरीरयष्टि ऐसी होती है मानो वह विनयसे ही बनी है। इस तरह

ग्रहः—अभिनिवेशः। आत्मस्थाम—स्ववीर्यम्। अरिजयिनां—मोहजेतॄणाम् ॥९०॥

अथ पञ्चनमस्कारस्य परममङ्गलत्वमुपपाद्य तज्जपस्योत्कृष्टस्वाध्यायरूपतां निरूपयति—

मलमखिलमुपास्त्या गालयत्यङ्गिनां य-
च्छिवफलमपि मङ्गं लाति यत्तत्पराध्यम्।
परमपुरुषमन्त्रो मङ्गलं मङ्गलानां
श्रुतपठनतपस्यानुत्तरा तज्जपः स्यात् ॥९१॥

अखिलं—उपात्तमपूर्वं च। उपास्त्या—वाङ्मनसजपकरणलक्षणाराधनेन। मङ्गं—पुण्यम्। उक्तं च—

'मलं पापमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात्।
तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥'

तथा—

'मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः।
तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थिभिः ॥' [ ]

वह ज्ञानी अपनी अनिर्वचनीय आत्मशक्तिको प्रकट करता है जिससे वह मोहको जीतनेवालोंकी अग्र पंक्तिको पाता है ॥९०॥

विशेषार्थ—भगवान् अर्हन्त देवके अनुपम गुणोंका स्तवन भी स्वाध्याय ही है। जो मन-वचन-कायको एकाग्र करके स्तवन करता है वह एक तरहसे अपनी आत्मशक्तिको ही प्रकट करता है। कारण यह है कि स्तवन करनेवालेका मन तो भगवान्‌के गुणोंमें आसक्त रहता है क्योंकि वह जानता है कि शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप परमात्माके ये ही गुण हैं। उसके वचन स्तोत्र पाठमें संलग्न रहते हैं। जिसमें नयी-नयी बातें आती हैं। स्तोत्र पढ़ते हुए पाठक विनम्रताकी मूर्ति होता है। इस तरह अपने मन-वचन-कायसे वह भगवान्‌का गुणानुवाद करते हुए उनके प्रति अपनी असीम श्रद्धा व्यक्त करके अपनेको तन्मय करता है। यह तन्मयता ही उसे मोहविजयी बनाती है क्योंकि शुद्धात्मा के गुणोंमें जो अनुराग होता है वह सांसारिक रागद्वेषका उन्मूलक होता है ॥९०॥

आगे पंचनमस्कार मन्त्रको परममंगल और उसके जपको उत्कृष्ट स्वाध्याय बतलाते हैं—

पैंतीस अक्षरोंके पंचनमस्कार मन्त्रकी वाचनिक या मानसिक जप करने रूप उपासनासे प्राणियोंका पूर्वबद्ध तथा आगामी समस्त पाप नष्ट होता है तथा अभ्युदय और कल्याणको करनेवाले पुण्यको लाता है इसलिए यह मंगलोंमें उत्कृष्ट मंगल है। तथा उसका जप उत्कृष्ट स्वाध्यायरूप तप है ॥९१॥

विशेषार्थ—मंगल शब्दकी निरुक्ति धवलाके प्रारम्भमें इस प्रकार की है—'मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम् ॥' [पु. १, पृ. ३२] जो मलका गालन करता है, विनाश करता है, जलाता है, घात करता है, शोधन करता है या विध्वंस करता है उसे मंगल कहते हैं। कहा है—उपचारसे पापको भी मल कहा है। उसका गालन करता है इसलिए पण्डितजन उसे मंगल कहते हैं।

दूसरी व्युत्पत्तिके अनुसार मंग शब्दका अर्थ सुख है, उसे जो लावे वह मंगल है। कहा है—यह मंग शब्द पुण्यरूप अर्थका कथन करता है, उसे लाता है इसलिए मंगलके

पराध्यं—प्रधानम् । यथाह—

'एसो पंच णमोकारो' इत्यादि । परमपुरुषमन्त्रः—पञ्चत्रिंशदक्षरोऽपराजितमन्त्रः । मलं गालयति मङ्गं च लाति ददातीति मङ्गलशब्दस्य व्युत्पादनात् । श्रुतपठनतपस्या—स्वाध्यायारम्यं तपः । अनुत्तरा—परमा । यथाह—

'स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पञ्चनमस्कृतेः ।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥' [तत्त्वानु. ८०] ॥९१॥

अथाशी.शान्त्यादिवचनरूपस्यापि मङ्गलस्यार्हद्ध्याननिष्ठस्य श्रेयस्करत्वं कथयति—

अर्हद्ध्यानपरस्यार्हन् शं वो दिश्यात् सदास्तु वः ।
शान्तिरित्याद्विरूपोऽपि स्वाध्यायः श्रेयसे मतः ॥९२॥

शान्तिः । तल्लक्षणं यथा—

'सुखतद्धेतुसंप्राप्तिर्दुःखतद्धेतुवारणम् ।
तद्धेतुहेतवश्चान्यदपीदृक् शान्तिरिष्यते ॥' [ ]

इत्यादि जयवादादि ॥९२॥

इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं। पंचनमस्कार मन्त्रकी वाचनिक या मानसिक जपसे समस्त संचित पापका नाश होता है और आगामी पापका निरोध होता है तथा सांसारिक ऐश्वर्य और मोक्षसुखकी भी प्राप्ति होती है इसीलिए इसे मंगलोंमें भी परम मंगल कहा है। आप्त-परीक्षाके प्रारम्भमें स्वामी विद्यानन्दने परमेष्ठीके गुणस्तवनको परम्परासे मंगल कहा है क्योंकि परमेष्ठीके गुणोंके स्तवनसे आत्मविशुद्धि होती है। उससे धर्मविशेषकी उत्पत्ति और अधर्मका प्रध्वंस होता है। पंचनमस्कार मन्त्रमें पंचपरमेष्ठीको ही नमस्कार किया गया है। उस मन्त्रका जप करनेसे पापका विनाश होता है और पुण्यकी उत्पत्ति होती है। पापोंका नाश करनेके कारण ही इसे प्रधान मंगल कहा है। कहा है—यह पंचनमस्कार मन्त्र सब पापोंका नाशक है और सब मंगलोंमें प्रथम मंगल है।

इसके साथ नमस्कार मन्त्रका जाप करना स्वाध्याय भी है। कहा भी है—'पंच-नमस्कार मन्त्रका जप अथवा एकाग्रचित्तसे जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रका पढ़ना परम स्वाध्याय है' ॥९१॥

आगे कहते हैं कि अर्हन्तके ध्यानमें तत्पर मुमुक्षुका आशीर्वाद रूप और शान्ति आदि रूप मंगल वचन कल्याणकारी होता है—

जो साधु प्रधान रूपसे अर्हन्तके ध्यानमें तत्पर रहता है उसके 'अर्हन्त तुम्हारा कल्याण करें' या तुम्हें सदा शान्ति प्राप्त हो, इत्यादि रूप भी स्वाध्याय कल्याणकारी मानी गयी है ॥९२॥

विशेषार्थ—'भी' शब्द बतलाता है कि केवल वाचना आदि रूप स्वाध्याय ही कल्याण-कारी नहीं है किन्तु जो साधु निरन्तर अर्हन्तके ध्यानमें लीन रहता है उसके आशीर्वाद रूप वचन, शान्तिपरक वचन और जयवादरूप वचन भी स्वाध्याय है। शान्तिका लक्षण इस प्रकार है—सुख और उसके कारणोंकी सम्यक् प्राप्ति तथा दुःख और उसके कारणोंका निवा-रण तथा इसी तरह सुखके कारणोंके भी कारणोंकी प्राप्ति और दुःखके कारणोंके भी कारणोंकी निवृत्तिको शान्ति कहते हैं। अर्थात् जिन वचनोंसे सुख और उसके कारण तथा कारणोंके भी

अथ व्युत्सर्गं द्विभेदमुक्त्वा द्विधैव तद्भावनामाह—

बाह्यो भक्तादिरुपधिः क्रोधादिश्चान्तरस्तयोः ।
त्यागं व्युत्सर्गमस्वन्तं मितकालं च भावयेत् ॥९३॥

बाह्यः—आत्मनाऽनुपात्तस्तेन सहैकत्वमनापन्न इत्यर्थः । भक्तादिः—आहारवसत्यादिः । अस्वन्तं—प्राणान्तं यावज्जीवमित्यर्थः । मितकालं—मुहूर्तादिनियतसमयम् ॥९३॥

अथ व्युत्सर्गशब्दार्थं निरुक्त्या व्यनक्ति—

बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधा बन्धहेतवः ।
यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते ॥९४॥

व्युत्सर्ग. विविधानां दोषाणामुत्तमः प्राणान्तिको लाभादिनिरपेक्षश्च सर्गः सर्जनं त्यजनम् ॥९४॥

कारण प्राप्त होते हैं तथा दुःख, उसके कारण और दुःखके कारणोंके भी कारण दूर होते हैं ऐसे शान्तिरूप वचन भी स्वाध्याय रूप है।

तथा जयवादरूप वचन इस प्रकारके होते हैं—'समस्त सर्वथा एकान्त नीतियोंको जीतनेवाले, सत्य वचनोंके स्वामी तथा शाश्वत् ज्ञानानन्दमय जिनेश्वर जयवन्त हों।'[1]

पूजनके प्रारम्भमें जो स्वस्तिपाठ पढ़ा जाता है वह स्वस्तिवचन है। जैसे तीनों लोकोके गुरु जिनश्रेष्ठ कल्याणकारी हों इस तरहके वचनोंको पढ़ना भी स्वाध्याय है।[2] सारांश यह है कि नमस्कार मन्त्रका जाप, स्तुतिपाठ आदि भी स्वाध्यायरूप है क्योंकि पाठक मन लगाकर उनके द्वारा जिनदेवके गुणोंमें ही अनुरक्त होता है। जिन शास्त्रोंमें तत्त्वविचार या आचार-विचार है उनका पठन-पाठन तथा उपदेश तो स्वाध्याय है ही। इस प्रकार स्वाध्यायका स्वरूप है ॥९२॥

आगे व्युत्सर्गके दो भेद कहकर दो प्रकारसे उनकी भावना कहते हैं—

व्युत्सर्गके दो भेद हैं—बाह्य और आन्तर। जिसका आत्माके साथ एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है ऐसे आहार, वसति आदिके त्यागको बाह्य व्युत्सर्ग कहते हैं। और आत्माके साथ एकरूप हुए क्रोधादिके त्यागको आन्तर व्युत्सर्ग कहते हैं। इस व्युत्सर्गकी भावना भी दो प्रकार है—एक जीवनपर्यन्त, दूसरे नियत काल तक। अर्थात् आहारादिका त्याग जीवनपर्यन्त भी किया जाता है और कुछ समयके लिए भी किया जाता है ॥९३॥

आगे निरुक्तिके द्वारा व्युत्सर्ग शब्दका अर्थ कहते हैं—

कर्मबन्धके कारण जो विविध बाह्य और अभ्यन्तर दोष हैं उनके उत्कृष्ट सर्गको—त्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं ॥९४॥

विशेषार्थ—व्युत्सर्ग शब्द वि + उत् + सर्गके मेलसे बना है। 'वि' का अर्थ होता है विविध, उत्का उत्कृष्ट और सर्गका अर्थ है त्याग। कर्मबन्धके कारण बाह्य दोष है स्त्री-पुत्रादिका सम्बन्ध, और आन्तर कारण है ममत्व भाव आदि। इन विविध दोषोंको उत्तम त्याग अर्थात् जीवनपर्यन्तके लिए लाभ आदिकी अपेक्षासे रहित त्याग व्युत्सर्ग है। कहा[3]

---

१. 'जयन्ति निर्जिताशेष-सर्वथैकान्तनीतयः ।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद् विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥' [प्रमाणपरीक्षाका मंगल श्लोक]

२. 'स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुङ्गवाय'

३. अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम् ।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकाङ्क्षी ॥ [आत्मानुशा. २३५ श्लो.]

अथ व्युत्सर्गस्वामिनमुत्कर्षतो निर्दिशति—

देहाद् विविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयीं श्रितः ।
स्वाङ्गेऽपि निस्पृहो योगी व्युत्सर्गं भजते परम् ॥९५॥

योगी—सद्ध्याननिष्ठो यतिः ॥९५॥

अथ प्रकारान्तरेणान्तरङ्गोपधिव्युत्सर्गमाह—

कायत्यागश्चान्तरङ्गोपधिव्युत्सर्गं इष्यते ।
स द्वेधा नियतानेहा सार्वकालिक इत्यपि ॥९६॥

नियतानेहा—परिमितकालः ॥९६॥

अथ परिमितकालस्य द्वौ भेदावाह—

तत्राप्याद्यः पुनर्द्वेधा नित्यो नैमित्तिकस्तथा ।
आवश्यकादिको नित्यः पर्वकृत्यादिकः परः ॥९७॥

आवश्यकादिकः—आदिशब्दात् मलोत्सर्गाद्याश्रयः । पर्वकृत्यादिकः—पार्वणक्रियानिषद्यापुरःसरः ॥९७॥

है—'यह समस्त संसार एकरूप है। किन्तु निवृत्तिका परम प्रकर्ष होनेपर समस्त जगत् अभोग्य ही प्रतीत होता है। और प्रवृत्तिका परम प्रकर्ष होनेपर समस्त जगत् भोग्य ही प्रतीत होता है। अतः यदि आप मोक्षके अभिलाषी हैं तो जगत्‌के सम्बन्धमें यह अभोग्य है और यह भोग्य है इस विकल्प बुद्धिकी निवृत्तिका अभ्यास करें ॥९४॥

उत्कृष्ट व्युत्सर्गके स्वामीको बतलाते हैं—

जो अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करता है, तीनों गुप्तियोंका पालन करता है और बाह्य अर्थकी तो बात ही क्या, अपने शरीरमें भी निस्पृह है वह सम्यक्‌ध्यानमें लीन योगी उत्कृष्ट व्युत्सर्गका धारक और पालक है ॥९५॥

अन्तरंग व्युत्सर्गका स्वरूप प्रकारान्तरसे कहते हैं—

पूर्व आचार्य कायके त्यागको भी अन्तरंग परिग्रहका त्याग मानते हैं। वह कायत्याग दो प्रकारका है—एक नियतकाल और दूसरा सार्वकालिक ॥९६॥

नियतकाल कायत्यागके दो भेद बतलाते हैं—

नियतकाल और सार्वकालिक कायत्यागमें से नियतकाल कायत्यागके दो भेद हैं—एक नित्य और दूसरा नैमित्तिक। आवश्यक करते समय या मलत्याग आदि करते समय जो कायत्याग है वह नित्य है। और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वोंमें क्रियाकर्म करते समय या बैठने आदिकी क्रियाके समय जो कायत्याग किया जाता है वह नैमित्तिक है ॥९७॥

विशेषार्थ—कायत्यागका मतलब है शरीरसे ममत्वका त्याग। प्रतिदिन साधुको जो छह आवश्यक कर्म करने होते हैं उस कालमें साधु शरीरसे ममत्वका त्याग करता है, यह उसका नित्य कर्तव्य है। अतः यह नित्य कायत्याग है। और पर्व आदिमें जो धार्मिक कृत्य करते समय कायत्याग किया जाता है वह नैमित्तिक कायत्याग है ॥९७॥

१. 'व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः। सद्विविधः—बाह्योपधित्यागोऽभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति। अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधिः। क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः। कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाऽभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते।'—सर्वार्थसि., ९।२६।

अथ प्राणान्तिककायत्यागस्य त्रैविध्यमाह—

भक्तत्यागेङ्गिनीप्रायोपयानमरणैस्त्रिधा ।
यावज्जीवं तनुत्यागस्तत्राद्योऽर्हादिभावभाक् ॥९८॥

इङ्गिनीमरणं—स्ववैयावृत्यसापेक्षपरवैयावृत्यनिरपेक्षम् । प्रायोपयानं—स्वपरवैयावृत्यनिरपेक्षम् । प्रायोपगमनमरणमित्यर्थः । अर्हादिभावाः । तद्यथा—

'अरिहे लिंगे सिक्खा विणयसमाही य अणियदविहारे ।
परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ॥
सल्लेहणा दिसा खामणा य अणुसिट्ठि परगणे चरिया ।
मग्गण सुट्ठिद उवसंपया य परिछा य पडिलेहा ॥
आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ।
सेज्जा संथारो वि य णिज्जवगपयासणा हाणी ॥
पच्चक्खाणं खामण खमणं अणुसट्ठि सारणाकवचे ।
समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाइं ॥' [भ. आरा., गा. ६७–७०]

अरिहे—अर्हः सविचारप्रत्याख्यानस्य योग्यः । लिंगे—चिह्नम् । शिक्षा—श्रुताध्ययनम् । विणय—विनयो मर्यादा ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया प्रागुक्ता । उपास्तिर्वा विनयः । समाही—समाधानं शुभोपयोगे शुद्धोपयोगे वा मनस एकताकरणम् । अणियदविहारो—अनियतक्षेत्रावास. । परिणामो—स्वकार्यपर्यालोचनम् । उवधिजहणा—परिग्रहपरित्यागः । सिदी—आरोहणम् । भावणा—अभ्यासः । सल्लेहणा—कायस्य कषायाणां च सम्यक्कृशीकरणम् । दिसा—एलाचार्यः । खामणा—पर-

प्राणोंके छूटने तक किये गये कायत्यागके तीन भेद कहते हैं—

जीवन पर्यन्त अर्थात् सार्वकालिक कायत्यागके तीन भेद हैं—भक्त प्रत्याख्यान मरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमन मरण। इन तीनोंमें से प्रथम भक्त प्रत्याख्यानमरणमें अर्हत् लिंग आदि भाव हुआ करते हैं ॥९८॥

विशेषार्थ—जिसमें भोजनके त्यागकी प्रधानता होती है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। जिसमें साधु अपनी सेवा स्वयं तो करता है किन्तु दूसरेसे सेवा नहीं कराता उस सन्यासमरणको इंगिनीमरण कहते हैं। इस सन्यास मरण करनेवाले साधु मौन रहते हैं। रोगादिककी पीड़ा होनेपर प्रतीकार नहीं करते। न भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि की ही वेदना का प्रतीकार करते हैं। [भगवती आरा., गा. २०६१-पर्यन्त]। प्रायोपगमन करनेवाले मुनि न तो स्वयं ही अपनी सेवा करते हैं और न दूसरोंको ही करने देते हैं। भक्त प्रत्याख्यानमें स्वयं भी अपनी सेवा कर सकते हैं और दूसरोंसे भी करा सकते हैं। किन्तु प्रायोपगमनमें नहीं। जिनका शरीर सूखकर हाड़चाम मात्र रह जाता है वे ही मुनि प्रायोपगमन सन्यास धारण करते हैं, अतः मल, मूत्र आदिका त्याग न स्वयं करते हैं और न दूसरेसे कराते हैं। यदि कोई उन्हें सचित्त पृथ्वी जल आदिमें फेंक दे तो आयु पूर्ण होने तक वहाँ ही निश्चल पड़े रहते हैं। यदि कोई उनका अभिषेक करे या पूजा करे तो उसे न रोकते हैं, न उसपर प्रसन्न होते हैं और न नाराज होते हैं। समस्त परिग्रहको त्यागकर चारों प्रकारके आहारके त्यागको 'प्राय' कहते हैं। जिस मरणमें प्रायका उपगमन अर्थात् स्वीकार हो उसे प्रायोपगमन कहते हैं। इसे पादोपगमन भी कहते हैं। क्योंकि इस संन्यासका इच्छुक मुनि संघसे निकलकर अपने पैरोंसे योग्य देशमें जाता है। इसको प्रायोपवेशन भी कहते हैं क्योंकि इसमें

क्षमापणा। अणुसिट्ठी—सूत्रानुसारेण शिक्षादानम्। परगणे चरिया—अन्यस्मिन् संघे गमनम्। मग्गणा—आत्मनो रत्नत्रयशुद्धिं समाधिमरणं च संपादयितुं समर्थस्य सूरेरन्वेषणम्। सुट्ठिदा—सुस्थित आचार्यः परोपकारकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक्स्थितत्वात्। उपसंपया—उपसंपत् आचार्यस्यात्मसमर्पणम्। परिच्छा—परीक्षा गणपरिचारिकादिगोचरा। पडिलेहणा—आराधनानिर्विघ्नसिद्ध्यर्थं देशराज्यादिकल्याणगवेषणम्। आपुच्छा—किमयमस्माभिरनुगृहीतव्यो न वेति संघं प्रति प्रश्नः। पडिच्छणमेगस्स—संघानुमतेनैकस्य क्षपकस्य स्वीकारः। आलोयणा—गुरोः स्वदोषनिवेदनम्। गुणदोसा—गुणा दोषाश्च प्रत्यासत्तेरालोचनाया एव। सेज्जा—शय्या वसतिरित्यर्थः। संथारो—संस्तरः। णिज्जवगा—निर्यापकाः आराधकस्य समाधि-सहायाः। पगासणा—चरमाहारप्रकटनम्। हाणी—क्रमेणाहारत्यागः। पच्चक्खाणं—त्रिविधाहारत्यागः।

मुनि समस्त परिग्रहके त्यागपूर्वक चतुर्विध आहारके त्यागरूप प्रायके साथ प्रविष्ट होता है। महापुराणमें वज्रनाभि मुनिराजके समाधिमरणका चित्रण करते हुए कहा है—आयुके अन्त समयमें बुद्धिमान् वज्रनाभिने श्रीप्रभ नामके ऊँचे पर्वतपर प्रायोपवेशन संन्यास धारण करके शरीर और आहारको छोड़ दिया। यतः इस संन्यासमें तपस्वी साधु रत्नत्रय-रूपी शय्यापर बैठता है इसलिए इसको प्रायोपवेशन कहते हैं इस तरह यह नाम सार्थक है। इस संन्यासमें अधिकतर रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है इसलिए इसको प्रायोपगम भी कहते हैं। अथवा इस सन्यासमें पाप कर्म समूहका अधिकतर अपगम अर्थात् नाश होता है इसलिए इसे प्रायोपगम कहते हैं। इसके जानकार मुनिश्रेष्ठोंने इसके प्रायोपगमन नामकी निरुक्ति इस प्रकार भी की है कि प्रायः करके इस संन्यासमें मुनि नगर ग्राम आदिसे हटकर अटवीमें चले जाते हैं। इस तरह इसके नामकी निरुक्तियाँ हैं। इन तीनों मरणोंमें-से भक्त प्रत्याख्यान मरणकी कुछ विशेषताएँ इस प्रकार कही हैं—अर्हका अर्थ योग्य है। यह क्षपक सविचार प्रत्याख्यानके योग्य है या नहीं, यह पहला अधिकार है। लिंग चिह्नको कहते हैं अर्थात् सम्पूर्णपरिग्रहके त्यागपूर्वक मुनि जो नग्नता धारण करते हैं वह लिंग है। भक्त प्रत्याख्यानमें भी वही लिंग रहता है। उसीका विचार इसमें किया जाता है। शिक्षासे ज्ञानादि भावना या श्रुताभ्यास लेना चाहिए। पहले कहा है कि स्वाध्यायके समान तप नहीं है। अतः लिंग ग्रहणके अनन्तर ज्ञानार्जन करना चाहिए और ज्ञानार्जनके साथ विनय होनी चाहिए। विनयके साथ समाधि-सम्यक् आराधना अर्थात् अशुभोपयोगसे निवृत्ति और शुभोपयोगमें मनको लगावे। इस प्रकार जो समाधि मरणके योग्य है, जिसने मुक्तिके उपायभूत लिंगको धारण किया है, शास्त्र स्वाध्यायमें तत्पर है, विनयी है और मनको वशमें रखता है उस मुनिको अनियत क्षेत्रमें निवास करना चाहिए। अनियत विहारके गुण भगवती आराधना

१. ततः कालात्यये धीमान् श्रीप्रभाद्रौ समुन्नते।
प्रायोपवेशनं कृत्वा शरीराहारमत्यजत्॥
रत्नत्रयमयीं शय्यामधिशय्य तपोनिधिः।
प्रायेणोपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थमाशिषत्॥
प्रायेणोपगमो यस्मिन् रत्नत्रितयगोचरः।
प्रायेणापगमो यस्मिन् दुरितारिकदम्बकान्॥
प्रायेणास्माज्जनस्थानादुपसृत्य गतोऽटवीः।
प्रायोपगमनं तज्ज्ञैः निरुक्तं श्रमणोत्तमैः॥—म. पु., ११।९४-९७।

खामणं—आचार्यादीनां क्षमाग्राहणम् । खमणं—स्वस्याप्यकृतापराधक्षमा । अणुसट्ठि—निर्यापकाचार्येणाराधकस्य शिक्षणम् । सारणा—दुःखाभिभवान्मोहमुपगतस्य चेतना प्रापणा । कवचे—धर्माद्युपदेशेन दुःखनिवारणम् । समदा—जीवितमरणादिषु रागद्वेषयोरकरणम् । झाणे—एकाग्रचिन्तानिरोधः । लेस्सा— ३
कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिः । फलं—आराधनासाध्यम् । विजहणा—आराधकशरीरत्यागः ॥९८॥

अथात्रत्येदानीतनसाधुवृन्दारकानात्मनः प्रशममर्थयते—

गा. १४३ आदिमें बतलाये हैं । इसके बाद परिणाम है । अपने कार्यकी आलोचनाको परिणाम कहते हैं । मैंने स्वपरोपकारमें काल बिताया अब आत्माके ही कल्याणमें मुझे लगना चाहिए इस प्रकारकी चित्तवृत्तिको परिणाम कहते हैं । इस प्रकार समाधिमरणका निर्णय करनेपर क्षपक एक पीछी, एक कमण्डलुके सिवाय शेष परिग्रहका त्याग करता है । उसके बाद श्रिति अधिकार आता है । श्रितिका मतलब है उत्तरोत्तर ज्ञानादिक गुणोंपर आरोहण करना । इसके बाद बुरी भावनाओंको छोड़कर पाँच शुभभावनाओंको भाता है । तब सम्यक् रूपसे काय और कषायको कृश करके सल्लेखना करता है । और अपने संघका भार योग्य शिष्यको सौंपता है । यह दिक् है । उसके बाद संघसे क्षमा-याचना करता है । फिर संघको आगमानुसार उसके कर्तव्यका उपदेश देता है । भगवती आराधनामें यह उपदेश विस्तारसे दर्शाया है । इसके पश्चात् क्षपक अपने संघसे आज्ञा लेकर समाधिके लिए परगणमें प्रवेश करते हैं क्योंकि स्वगणमें रहनेसे अनेक दोषोंकी सम्भावना रहती है । (गा. ४००) । इसके पश्चात् वह निर्यापकाचार्यकी खोजमें सैकड़ों योजन तक विहार करते हैं । यदि ऐसा करते हुए मरण हो जाता है तो उन्हें आराधक ही माना जाता है । इस प्रकार गुरुकी खोजमें आये क्षपकको देखकर परगणके मुनि उसके साथ क्या कैसा बरताव करते हैं उसका वर्णन आता है । इस सबको मार्गणा कहते हैं अर्थात् गुरुकी खोज । परोपकार करनेमें तत्पर सुस्थित आचार्यकी प्राप्ति, आचार्यको आत्मसमर्पण, आचार्य द्वारा क्षपककी परीक्षा, आराधनाके लिए उत्तम देश आदिकी खोज । तब आचार्य संघसे पूछते हैं कि हमें इस क्षपकपर अनुग्रह करना चाहिए या नहीं ? पुनः संघसे पूछकर आचार्य क्षपकको स्वीकार करते हैं, तब क्षपक आचार्यके सम्मुख अपने दोषोंकी आलोचना करता है । आलोचना गुण-दोष दोनोंकी की जाती है । तब समाधिमरण साधनेके योग्य वसतिका, और उसमें आराधकके योग्य शय्या दी जाती हैं । तब आराधककी समाधिमें सहायक वर्गका चुनाव होता है, उसके बाद आराधकके सामने योग्य विचित्र आहार प्रकट किये जाते हैं कि उसकी किसी आहारमें आसक्ति न रहे । तब क्रमसे आहारका त्याग कराया जाता है । इस तरह वह आहारका त्याग करता है । तब आचार्य आदि क्षमा-प्रार्थना करते हैं और क्षपक भी अपने अपराधोंकी क्षमा माँगता है । तब निर्यापकाचार्य आराधकको उपदेश करते हैं । यदि वह दुःखसे अभिभूत होकर मूर्च्छित हो जाता है तो उसे होशमें लाते हैं, और धर्मोपदेशके द्वारा दुःखका निवारण करते हैं । तब वह समता भाव धारण करके ध्यान करता है । लेश्याविशुद्धिके साथ आराधक शरीरको त्यागता है । इस तरह भक्त प्रत्याख्यान मरणका चालीस अधिकारोंके द्वारा कथन भगवती आराधना में किया है ॥९८॥

वर्तमान क्षेत्र और कालवर्ती साधुश्रेष्ठोंसे अपनी आत्मामें प्रशमभावकी प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं—

भक्तत्यागविधेः सिसाधयिषया येऽर्हाद्यवस्थाः क्रमा-
च्चत्वारिंशतमन्वहं निजबलादारोढुमुद्युञ्जते ।
चेष्टाजल्पनचिन्तनच्युतचिदानन्दामृतस्रोतसि
स्नान्तः सन्तु शमाय तेऽद्य यमिनामत्राग्रगण्या मम ॥९९॥

क्रमात्—एतेन दीक्षाशिक्षागणपोषणमात्मसंस्कारः सल्लेखना उत्तमार्थश्चेति षोढा कालक्रमं लक्षयति । आरोढुं—प्रकर्षं प्रापयितुम् । उद्युञ्जन्ते—उत्सहन्ते ॥९९॥

अथ कान्दर्प्यादिसंक्लिष्टभावनापरिहारेणात्मसंस्कारकाले तपःश्रुतसत्त्वैकत्वधृतिभावनाप्रयुञ्जानस्य परीषहविजयमुपदिशति—

कान्दर्पीप्रमुखाः कुदेवगतिदाः पञ्चापि दुर्भावना-
स्त्यक्त्वा दान्तमनास्तपःश्रुतसदाभ्यासादबिभ्यद् भृशम् ।
भीष्मेभ्योऽपि समिद्धसाहसरसो भूयस्तरां भावय-
न्नेकत्वं न परीषहैर्धृतिसुधास्वादे रतस्तप्यते ॥१००॥

कुदेवगतिदाः—भाण्डतौरिककाहारशौनिककुक्कुरप्रायदेवदुर्गतिप्रदाः । पञ्चापि । तथा चोक्तम्—

'कान्दर्पी कैल्विषी चैव भावना चाभियोगजा ।
दानवी चापि सम्मोहा त्याज्या पञ्चतयी च सा ॥
कन्दर्पं कौत्कुच्यं विहेडनं हासनर्मणी विदधत् ।
परविस्मयं च सततं कान्दर्पीं भावनां भजते ॥
केवलिधर्माचार्यश्रुतसाधूनामवर्णवादपरः ।
मायावी च तपस्वी कैल्विषकी भावना कुरुते ॥
मन्त्राभियोगकौतुक-भूतक्रीडादिकर्मकुर्वाणः ।
सातरसर्द्धिनिमित्तादभियोगां भावना भजते ॥

जीवनपर्यन्त व्रतधारी संयमी जनोंमें अग्रेसर जो साधु आज भी इस भरतक्षेत्रमें भक्त प्रत्याख्यानकी विधिको साधनेकी इच्छासे क्रमसे प्रतिदिन अपनी सामर्थ्यसे अर्हलिंग आदि चालीस अवस्थाओंकी चरम सीमाको प्राप्त करनेके लिए उत्साह करते हैं और मन-वचन-कायकी चेष्टासे रहित ज्ञानानन्दमय अमृतके प्रवाहमें अवगाहन करके शुद्धिको प्राप्त करते हैं वे मेरे प्रशमके लिए होवें अर्थात् उनके प्रसादसे मुझे प्रशम भावकी प्राप्ति हो ॥९९॥

जो साधु आत्मसंस्कारके समय कान्दर्प आदि संक्लिष्ट भावनाओंको छोड़कर तप, श्रुत, एकत्व और धृति भावनाको अपनाता है वह परीषहोंको जीतता है ऐसा उपदेश करते हैं—

कुदेव आदि दुर्गतिको देनेवाली कान्दर्पी आदि पाँच दुर्भावनाओंको छोड़कर, तप और श्रुतकी नित्य भावनासे मनका दमन करके जिसका साहसिक भाव निरन्तर जाग्रत् रहता है, अतः जो भयानक वैताल आदिसे भी अत्यन्त निडर रहता है, और बारम्बार एकत्व भावना भाता हुआ धैर्यरूपी अमृतके आस्वादमें लीन रहता है वह तपस्वी भूख-प्यास आदि परीषहोंसे सन्तप्त नहीं होता ॥१००॥

विशेषार्थ—इन भावनाओंका स्वरूप यहाँ भगवती आराधनासे दिया जाता है अर्थात् संक्लेश भावना पाँच हैं—कन्दर्पभावना, किल्विष भावना, अभियोग्यभावना, असुरभावना, सम्मोहभावना। रागकी उत्कटतासे हास्यमिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प है। रागकी

अनुबद्धरोगविग्रहसंसक्तया निमित्तसेवी ।
निष्करुणो निरनुशयो दानवभावं मुनिर्घत्ते ॥
सन्मार्गप्रतिकूलो दुर्मार्गप्रकटने पटुप्रज्ञः ।
मोहेन मोहयन्नपि सम्मोहां भावनां श्रयति ॥
आभिश्च भावनाभिर्विराधको देवदुर्गतिं लभते ।
तस्याः प्रच्युतमात्रः संसारमहोदधिं भ्रमति ॥' [ ]

तप इत्यादि । उक्तं च—

तपसः श्रुतस्य सत्त्वस्य भावनैकत्वभावना चैव ।
धृतिबलविभावनापि च सैषा श्रेष्ठाऽपि पञ्चविधा ॥
दान्तानि (-दि) सुभावनया तपसस्तस्येन्द्रियाणि यान्ति वशम् ।
इन्द्रिययोग्यं च मनः समाधिहेतुं समाचरति ॥' [ ]

इन्द्रियोग्यमिति इन्द्रियवश्यता परिकर्म ।

'श्रुतभावनया सिद्धयन्ति बोधचारित्रदर्शनतपांसि ।
प्रकृतां सन्धा तस्मात्सुखमव्यथितः समापयति ॥
रात्रौ दिवा च देवैर्विभीष्यमाणो भयानकै रूपैः ।
साहसिकभावरसिको वहति धुरं निर्भयः सकलाम् ॥

अतिशयतासे हँसते हुए दूसरोंको उद्देश्य करके अशिष्ट कायप्रयोग करना कौत्कुच्य है। इन दोनोंको पुनः-पुनः करना चलशील है। नित्य हास्यकथा कहनेमें लगना, इन्द्रजाल आदिसे दूसरोंको आश्चर्यमें डालना, इस तरह रागके उद्रेकसे हासपूर्वक वचनयोग और काययोग आदि करना कन्दर्पी भावना है। श्रुतज्ञान, केवली, धर्माचार्य, साधुका अवर्णवाद करनेवाला मायावी किल्विष भावनाको करता है। द्रव्यलाभके लिए, मिष्ट आहारकी प्राप्तिके लिए या सुखके लिए किसीके शरीरमें भूतका प्रवेश कराना, वशीकरण मन्त्रका प्रयोग करना, कौतुक प्रदर्शन करना, बालक आदिकी रक्षाके लिए झाड़ना-फूँकना ये सब अभियोग्य भावना हैं। जिसका तप सतत क्रोध और कलहको लिये हुए होता है, जो प्राणियोंके प्रति निर्दय है, दूसरोंको कष्ट देकर भी जिसे पश्चात्ताप नहीं होता वह आसुरी भावनाको करता है। जो कुमार्गका उपदेशक है, सन्मार्गमें दूषण लगाता है, रत्नत्रयरूप मार्गका विरोधी है, मोहमें पड़ा है वह सम्मोह भावनाका कर्ता है। इन भावनाओंसे देवोंमें जो कुदेव हैं उनमें उत्पन्न होता है और वहाँसे च्युत होकर अनन्त संसारमें भ्रमण करता है।

संक्लेश रहित भावना भी पाँच हैं—तपभावना—तपका अभ्यास, श्रुतभावना—ज्ञानका अभ्यास, सत्त्वभावना अर्थात् भय नहीं करना, एकत्व भावना और धृतिबल भावना। तप भावनासे पाँचों इन्द्रियाँ दमित होकर वशमें होती हैं और उससे समाधिमें मन रमता है। किन्तु जो साधु इन्द्रियसुखमें आसक्त होता है वह घोर परीषहोंसे डरकर आराधनाके समय विमुख हो जाता है। श्रुतभावनासे ज्ञान, दर्शन, तप और संयमसे युक्त होता है। मैं अपनेको ज्ञान, दर्शन, तप और संयममें प्रवृत्त करूँ इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके उसको सुखपूर्वक पूर्ण करता है। जिनवचनमें श्रद्धाभक्ति होनेसे भूख-प्यास आदिकी परीषह उसे मार्गसे च्युत नहीं करती। सत्त्वभावनासे देवोंके द्वारा पीड़ित किये जानेपर और भयभीत किये जानेपर भी वह निर्भय रहता है। जो डरता है वह मार्गसे च्युत हो जाता है

एकत्वभावरसिको न कामभोगे गणे शरीरे वा ।
सजति हि विरागयोगी स्पृशति सदानुत्तरं धर्मम् ॥
सकलपरीषहपृतनामागच्छन्ती सहोपसर्गौघैः ।
दुर्धरपथकरवेगा भयजननीमल्पसत्त्वानाम् ॥
धृतिनिबिडबद्धकक्षो विनिहन्ति निराकुलो मुनिः सहसा ।
धृतिभावनया शूरः संपूर्णमनोरथो भवति ॥' [ ] ॥१००॥

अथ भक्तप्रत्याख्यानस्य लक्षण सल्लेखनाया. प्रभृत्युत्कर्षतो जघन्यतश्च कालमुपदिशति—

यस्मिन् समाधये स्वान्यवैयावृत्यमपेक्षते ।
तद्द्वादशाब्दानीषेऽन्तर्मुहूर्तं चाशनोज्झनम् ॥१०१॥

अब्दात्—संवत्सरात् । ईषे—इष्टं पूर्वमाचार्यैरिति शेष. । अशनोज्झनं—भक्तप्रत्याख्यानमरणम् ॥१०१॥

अथ व्युत्सर्गतपसः फलमाह—

नैःसङ्ग्यं जीविताशान्तो निर्भयं दोषविच्छिदा ।
स्याद् व्युत्सर्गाच्छिवोपायभावनापरतादि च ॥१०२॥

निर्भयं—भयाभाव. ॥१०२॥

अथ दुर्ध्यानविधानपुरस्सरं सद्ध्यानविधानमभिधाय तेन विना केवलक्रिया निष्ठस्य मुक्त्यभावं भावयन्नाह—

अतः वह भयको अनर्थका मूल मानकर उसे भगाता है। जैसे युद्धोंका अभ्यासी वीर पुरुष युद्धसे नहीं डरता वैसे ही सत्त्वभावनाका अभ्यासी मुनि उपसर्गोंसे नहीं घबराता। 'मैं एकाकी हूँ, न कोई मेरा है न मैं किसीका हूँ' इस भावनाको एकत्वभावना कहते हैं। इसके अभ्याससे कामभोगमें, शिष्यादि वर्गमें और शरीर आदिमें आसक्ति नहीं होती। और विरक्त होकर उत्कृष्ट चारित्रको धारण करता है। पाँचवीं धृतिबल भावना है। कष्ट पड़नेपर भी धैर्यको न छोड़ना धृतिबल भावना है जो उसके अभ्याससे ही सम्भव है। इन पाँच शुद्ध भावनाओंके अभ्याससे मुनिवर आत्मशुद्धि करके रत्नत्रयमें निरतिचार प्रवृत्ति करते हैं ॥१००॥

आगे भक्तप्रत्याख्यानका लक्षण और सल्लेखनासे लेकर उसका जघन्य और उत्कृष्ट काल कहते हैं—

समाधिके इच्छुक मुनि जिसमें समाधिके लिए अपना वैयावृत्य स्वयं भी करते हैं और दूसरोंसे भी करा सकते हैं उस भक्तप्रत्याख्यानका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त पूर्वाचार्योंने माना है ॥१०१॥

आगे व्युत्सर्ग तपका फल कहते हैं—

व्युत्सर्ग तपसे परिग्रहोंका त्याग हो जानेसे निर्ग्रन्थताकी सिद्धि होती है, जीवनकी आशाका अन्त होता है, निर्भयता आती है, रागादि दोष नष्ट होते हैं और रत्नत्रयके अभ्यासमें तत्परता आती है ॥१०२॥

आगे खोटे ध्यानोंका कथन करनेके साथ सम्यक् ध्यानोंका स्वरूप कहकर उसके बिना केवल क्रियाकाण्डमें लगे हुए साधुको मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कथन करते हैं—

आर्तं रौद्रमिति द्वयं कुगतिदं त्यक्त्वा चतुर्धा पृथग्
धर्म्यं शुक्लमिति द्वयं सुगतिदं ध्यानं जुषस्वानिशम् ।
नो चेत् क्लेशनृशंसकीर्णजनुरावर्ते भवाब्धौ भ्रमन्
साधो सिद्धिवधूं विधास्यसि मुधोत्कण्ठामकुण्ठश्चिरम् ॥१०३॥

कुगतिदं—तिर्यग्नारककुदेवकुमानुषत्वप्रदम् । चतुर्धा—आज्ञापायविपाक(-संस्थान-)विचयविकल्पाच्चतुर्विधं धर्म्यम् । पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कवीचारं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवर्ति चेति शुक्लमपि चतुर्विधम् । एवमार्तरौद्रयोरपि चातुर्विध्यं प्रत्येकमागमादधिगन्तव्यम् । सुगतिदं—सुदेवत्वसुमानुषत्वमुक्तिप्रदम् । जुषस्व । नृशंसाः—क्रूरकर्मकृतो मकरादिजलचराः । अकुण्ठः—श्रेयोऽर्थक्रियासूद्यतः । तथा चोक्तम्—

'सपयत्थं तित्थयरमधिगदबुद्धिस्स सुत्तरोईस्स ।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपजुत्तस्स ॥' [पञ्चास्ति., गा. १७०] ॥१०३॥

चार प्रकारका आर्तध्यान और चार प्रकारका रौद्रध्यान, ये दोनों ही ध्यान कुगतिमें ले जानेवाले हैं इसलिए इन्हें छोड़, और चार प्रकारका धर्मध्यान और चार प्रकारका शुक्लध्यान ये दोनों सुगतिके दाता हैं अतः सदा इनकी प्रीतिपूर्वक आराधना करो। यदि ऐसा नहीं करोगे तो हे साधु! कल्याणकारी क्रियाओंमें तत्पर होते हुए क्लेशरूपी क्रूर जलचरोंसे भरे हुए जन्मरूपी भँवरोंसे व्याप्त संसारसमुद्रमें चिरकाल तक भ्रमण करते हुए उत्कण्ठित भी मुक्तिरूपी वधूकी उत्कण्ठाको विफल कर दोगे ॥१०३॥

विशेषार्थ—ध्यानके चार भेद हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनमें-से प्रारम्भके दो ध्यान नारक, तिर्यंच, कुदेव और कुमनुष्योंमें उत्पन्न कराते हैं और शेष दो ध्यान सुदेव, सुमनुष्य और मुक्ति प्रदान करते हैं। प्रत्येक ध्यानके चार भेद हैं। अनिष्टका संयोग होनेपर उससे छुटकारा पानेके लिए जो रात-दिन चिन्तन किया जाता है वह अनिष्टसंयोगज नामक प्रथम आर्तध्यान है। इष्टका वियोग होनेपर उसकी पुनः प्राप्तिके लिए जो सतत चिन्तन किया जाता है वह इष्टवियोगज नामक दूसरा आर्तध्यान है। कोई पीड़ा होनेपर उसको दूर करनेके लिए जो सतत चिन्तन होता है वह वेदना नामक तीसरा आर्तध्यान है। और आगामी भोगोंकी प्राप्तिके लिए जो चिन्तन किया जाता है वह निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान है। इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहके संरक्षणके चिन्तनमें जो आनन्दानुभूति होती है वह हिंसानन्दी, असत्यानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी नामक चार रौद्रध्यान है। धर्मध्यानके भी चार भेद हैं, आज्ञा विचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय। अच्छे उपदेष्टाके न होनेसे, अपनी बुद्धि मन्द होनेसे और पदार्थके सूक्ष्म होनेसे जब युक्ति और उदाहरणकी गति न हो तो ऐसी अवस्थामें सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे गये आगमको प्रमाण मानकर गहन पदार्थका श्रद्धान करना कि यह ऐसा ही है आज्ञाविचय है। अथवा स्वयं तत्त्वोंका जानकार होते हुए भी दूसरोंको उन तत्त्वोंको समझानेके लिए युक्ति दृष्टान्त आदिका विचार करते रहना, जिससे दूसरोंको ठीक-ठीक समझाया जा सके आज्ञाविचय है, क्योंकि उसका उद्देश्य संसारमें जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका प्रचार करना है। जो लोग मोक्षके अभिलाषी होते हुए भी कुमार्गमें पड़े हुए हैं उनका विचार करते रहना कि वे कैसे मिथ्यात्वसे छूटें, इसे अपायविचय कहते हैं। कर्मके फलका विचार करना विपाक विचय है। लोकके आकारका तथा उसकी दशाका विचार करना संस्थान विचय है। इसी तरह शुक्लध्यानके भी चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क वीचार, एकत्व वितर्क

अथ तपस उद्योतनाराधनापञ्चकं प्रपञ्चयंस्तत्फलमाह—

यस्त्यक्त्वा विषयाभिलाषमभितो हिंसामपास्यंस्तप-
स्यागूर्णो विशदे तदेकपरतां बिभ्रत्सदेवोद्गतिम् ।
नीत्वा तत्प्रणिधानजातपरमानन्दो विमुञ्चत्यसून्
स स्नात्वाऽमरमर्त्यशर्मलहरीष्वीर्ते परां निर्वृतिम् ॥१०४॥

अपास्यन्—उद्योतनोक्तिरियम् । आगूर्णः—उद्यतः । उद्द्यवनोपदेशोऽयम् । बिभ्रत्—निर्वहणभणितिरियम् । नीत्वा—साधनाभिधानमिदम् । विमुञ्चति—विधिना त्यजति । निस्तरणनिरूपणेयम् । लहरी—परम्परेति भद्रम् ॥१०४॥

इत्याशाधरदृब्धायां धर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञाया सप्तमोऽध्यायः ।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं षष्ठ्यधिकानि चत्वारिंशतानि अंकतः ४६० ।

अवीचार, सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निवर्ति। मुमुक्षुको आर्त और रौद्रको छोड़कर, धर्मध्यान और शुक्लध्यानका ही प्रीतिपूर्वक आलम्बन लेना चाहिए। इन्हींसे सुगतिकी प्राप्ति होती है। जो मुमुक्षु समीचीन ध्यान न करके शुभ कार्योंमें ही लगे रहते हैं, उनकी ओर उत्कण्ठा रखनेवाली भी मुक्तिरूपी वधू चिरकाल तक भी उन्हें प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वह तो एक मात्र आत्मध्यानसे ही प्राप्त होती है।

पंचास्तिकायमें कहा भी है—जो जीव वास्तवमें मोक्षके लिए उद्यत होते हुए तथा संयम और तपके अचिन्त्य भारको उठाते हुए भी परमवैराग्यकी भूमिका पर आरोहण करनेमें असमर्थ होता हुआ नौ पदार्थों और अरहन्त आदिमें रुचिरूप परसमय प्रवृत्तिको त्यागनेमें असमर्थ होता है उसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१०३॥

आगे तपके विषयमें उद्योतन आदि पाँच आराधनाओंका कथन करते हुए उसका फल कहते हैं—

इन्द्रियोंके विषयकी अभिलाषा छोड़कर तथा द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका भी सर्वथा परित्याग करके जो साधु निर्मल तपमें उद्यत होकर उसीमें लीन होता हुआ उस तपकी चरम अवस्था ध्यानको प्राप्त होता है और उसी निर्मल तपमें लीन होनेसे उत्पन्न हुए परमानन्दमें रमण करता हुआ प्राणोंको छोड़ता है वह साधु स्वर्गलोक और मनुष्यलोकके सुखोंको भोगकर अर्थात् जीवन्मुक्तिको प्राप्त करके परम मुक्तिको प्राप्त करता है ॥१०४॥

विशेषार्थ—तपके विषयमें भी पाँच आराधनाएँ कही हैं—उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण। विषयोंकी अभिलाषाको छोड़कर हिंसाको त्यागना उद्योतनको बतलाता है। निर्मल तपमें उद्यत होना, यह उद्यवनका कथन है। उसीमें लीन होना, यह निर्वहणका सूचक है। उसको उन्नत करते हुए ध्यान तक पहुँचना, साधन है। उससे उत्पन्न हुए आनन्दमें मग्न होकर प्राणत्याग यह निस्तरणको कहता है ॥१०४॥

इसप्रकार आशाधर रचित धर्मामृतमें अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुद चन्द्रिका नामक संस्कृत टीका तथा ज्ञानदीपिका नामक पंजिकाकी अनुगामिनी हिन्दी टीकामें तपस्याराधनाविधान नामक सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ।

अष्टम अध्याय

अथ तपसो विनयभावेनोपक्षिप्तं षडावश्यकानुष्ठानमासूत्रयति—

अयमहमनुभूतिरितिस्ववित्तिविषजत्तथेतिमतिरुषिते ।
स्वात्मनि निःशङ्कमवस्थातुमथावश्यकं चरेत् षोढा ॥१॥

अयं—स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणालम्ब्यमान. । विषजन्ती—संगच्छमाना । मतिः—श्रद्धा । निःशङ्कं—लक्षणया निश्चलं निश्चितसुखं वा । अथ मङ्गले अधिकारे वा ॥१॥

अब सातवें अध्यायमें (श्लो. ७५) तपके विनय रूपसे संकेतित छह आवश्यकोंके अनुष्ठानका कथन करते हैं—

जो स्वसंवेदन प्रत्यक्षका आधार है और 'मैं' इस उल्लेखसे जिसका अनुभव होता है कि 'यह मैं अनुभूति रूप हूँ' इस प्रकारका जो आत्मसंवेदन (स्वसंवेदन) है उसके साथ एकमेकरूपसे रिली-मिली 'तथा' इस प्रकारकी मति है। अर्थात् जिस शुद्ध ज्ञान घनरूपसे मेरा आत्मा अवस्थित है उसी रूपसे मैं उसका अनुभव करता हूँ। इस प्रकारकी मति अर्थात् श्रद्धाको 'तथा' इति मति जानना। उक्त प्रकारके स्वसंवेदनसे रिली-मिली इस श्रद्धासे युक्त आत्मामें निःशंक अवस्थानके लिए साधुको छह आवश्यक करना चाहिए। निःशंक शब्दके दो अर्थ हैं—जहाँ 'नि' अर्थात् निश्चित 'शं' अर्थात् सुख है वह निःशंक है। अथवा शंकासे सन्देहसे जो रहित है वह निःशंक है। लक्षणासे इसका अर्थ निश्चल होता है। अतः आत्म स्वरूपमें निश्चल अवस्थानके लिए साधुको छह आवश्यक करना चाहिए। 'अथ' शब्द मंगलवाची और अधिकारवाची है। यह बतलाया है कि यहाँसे आवश्यकका अधिकार है ॥१॥

विशेषार्थ—छह आवश्यक पालनेका एकमात्र उद्देश्य है आत्मामें निश्चल स्थिति। चारित्र मात्रका यही उद्देश्य है और चारित्रका लक्षण भी आत्मस्थिति ही है। किन्तु आत्मामें स्थिर होनेके लिए सर्वप्रथम उसकी अनुभूतिमूलक श्रद्धा तो होनी चाहिए। उसीको ऊपर कहा है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयंको 'मैं' कहता है। इस मैं का आधार न शरीर है न इन्द्रियाँ हैं। मुर्देका शरीर और उसमें इन्द्रियोंके होते हुए भी वह मैं नहीं कह सकता। अतः मैं का आधार वह वस्तु है जो मुर्देमें-से निकल गयी है। वही आत्मा है। स्वसंवेदन भी उसीको होता है। 'स्व'का अर्थात् अपना जो ज्ञान वह स्वसंवेदन है। तो इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षका अवलम्बन आत्मा है। 'मैं' से हम उसीका अनुभवन करते हैं। इसके साथ ही इस आत्मसंवेदनके साथमें यह श्रद्धा भी एकमेक हुई रहती है कि आत्माका जैसा शुद्ध ज्ञान घनस्वरूप बतलाया है उसी प्रकारसे मैं अनुभव करता हूँ। इस तरह आत्माके द्वारा आत्मामें श्रद्धा और ज्ञानका ऐसा एकपना रहता है कि उसमें भेद करना शक्य नहीं होता। ऐसी श्रद्धा और ज्ञानसे सम्पन्न आत्मामें स्थिर होनेके लिए ही मुनि छह आवश्यक कर्म करता है ॥१॥

अथ मुमुक्षोः षडावश्यककर्मनिर्माणसमर्थनार्थं चतुर्दशभिः पद्यैः स्थलशुद्धिं विधत्ते। तत्र तावदात्मदेहान्तरज्ञानेन वैराग्येण चाभिभूततत्सामर्थ्यो विषयोपभोगो न कर्मबन्धाय प्रभवतीति दृष्टान्तावष्टम्भेनाचष्टे—

मन्त्रेणेव विषं मृत्य्वै मध्वरत्या मदाय वा।
न बन्धाय हतं ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम् ॥२॥

अरत्या—अप्रीत्या। मधु त्येव (?) वा इवार्थे। अर्थसेवनं—विषयोपभोगः।

उक्तं च—

'जह विसमुपभुजंता विज्जापुरिसा दु ण मरणमुवेंति।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ॥
जह मज्जं पिवमाणो अरईभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥' [समय प्राभृत, गा. १९५-१९६]

अपि च—

'धात्रीबालाऽसतीनाथ पद्मिनीदलवारिवत्।
दग्धरज्जुवदाभासाद् भुञ्जन् राज्यं न पापभाक् ॥' [ ]

मुमुक्षुओंके छह आवश्यक कर्मोंके निर्माणके समर्थनके लिए चौदह पद्योंके द्वारा स्थलशुद्धि करते हुए, सर्वप्रथम दृष्टान्तके द्वारा यह बतलाते हैं कि शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे तथा वैराग्यसे विषयोपभोगकी शक्ति दब जाती है अतः उससे कर्मबन्ध नहीं होता—

मन्त्रके द्वारा जिसकी मारनेकी शक्ति नष्ट कर दी गयी है वह विष मृत्युका कारण नहीं होता। अथवा जैसे मद्यविषयक अरुचिके साथ पिया गया मद्य मदकारक नहीं होता, उसी प्रकार शरीर और आत्माके भेदज्ञानके द्वारा अथवा वैराग्यके द्वारा विषयभोगकी कर्मबन्धनकी शक्तिके कुण्ठित हो जानेपर विषयभोग करनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता ॥२॥

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टिका वैषयिक सुखमें रागभाव नहीं होता। इसका कारण है सम्यग्दर्शन। यह सम्यग्दर्शन आत्माकी ऐसी परिणति है कि सम्यग्दृष्टिकी सामान्य मनुष्योंकी तरह क्रिया मात्रमें अभिलाषा नहीं होती। जैसे प्रत्येक प्राणीका अपने अनुभूत रोगमें उपेक्षाभाव होता है कोई भी उसे पसन्द नहीं करता। उसी तरह सम्यग्दृष्टिका सब प्रकारके भोगोंमें उपेक्षाभाव होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जब किसीको यह ज्ञान हो जाता है कि यह मेरा नहीं है, पर है या पराया है तब वह परवस्तुकी अभिलाषा नहीं करता। अभिलाषाके बिना भी पराधीनतावश यदि कोई अनुचित काम करना पड़ता है तो वह उस क्रियाका कर्ता नहीं होता। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्व संचित कर्मोंके उदयसे प्राप्त हुए इन्द्रियभोगोंको भोगता है तो भी तत्सम्बन्धी रागभावका अभाव होनेसे वह उसका भोक्ता नहीं होता। किन्तु मिथ्यादृष्टि विषयोंका सेवन नहीं करते हुए भी रागभावके होनेसे विषयोंका सेवन करनेवाला ही कहा जाता है। जैसे कोई व्यापारी स्वयं कार्य न करके नौकरके द्वारा व्यापार कराता है। इस तरह वह स्वयं कार्य न करते हुए भी उसका स्वामी होनेके कारण व्यापार सम्बन्धी हानि-लाभका जिम्मेदार होता है। किन्तु नौकर व्यापार करते हुए भी उसके हानि-लाभका मालिक नहीं होता। यही स्थिति मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी है। मिथ्यादृष्टि मालिक है और सम्यग्दृष्टि नौकरके रूपमें कार्य करता है, हानिसे उसे खेद नहीं होता और लाभसे प्रसन्नता नहीं होती। यह स्वामित्वका अभाव भेदविज्ञान होनेपर ही होता है। तथा इस ज्ञानके साथ ही विषयोंकी ओरसे अरुचि हो जाती है उसे ही

तथा—

'बन्धो जन्मनि येन येन निविडं निष्पादितो वस्तुना
बाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मनः साम्प्रतम्।
तत्तत्तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो
दुर्बोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृतं कौशलम् ॥' [ ] ॥२॥

अथ ज्ञानिनो विषयोपभोगः स्वरूपेण सन्नपि विशिष्टफलाभावान्नास्तीति दृष्टान्तेन दृढयति—

ज्ञो भुञ्जानोऽपि नो भुङ्क्ते विषयांस्तत्फलात्ययात्।
यथा परप्रकरणे नृत्यन्नपि न नृत्यति ॥३॥

ज्ञः—आत्मज्ञानोपयुक्तः पुमान्। भुञ्जानः—चेष्टामात्रेणानुभवन्। नो भुङ्क्ते—उपयोगवैमुख्यान्नानुभवति। तत्फलं—बुद्धिपूर्वकरागादिजनितकर्मबन्धोऽयाहमेव लोके श्लाघ्यतमो यस्येदृक् कल्याणप्रवृत्तिरित्याभिमानिकरसानुविद्धप्रीत्यनुबन्धश्च। परप्रकरणे—विवाहादिपर्वणि।

विरागभाव कहते हैं। ऊपर ग्रन्थकारने जो दो दृष्टान्त दिये हैं। वे ही दृष्टान्त आचार्य कुन्द-कुन्दने समयसारमें दिये हैं। कहा है—जैसे कोई वैद्य विष खाकर भी सफल विद्याके द्वारा विषकी मारण शक्ति नष्ट कर देनेसे मरता नहीं है, वैसे ही अज्ञानियोंके रागादिका सद्भाव होनेसे जो पुद्गल कर्मका उदय बन्धका कारण होता है, उसीको भोगता हुआ भी ज्ञानी ज्ञानकी अव्यर्थ शक्तिके द्वारा रागादि भावोंका अभाव होनेसे कर्मके उदयकी नवीन बन्ध कारक शक्तिको रोक देता है। इसलिए उसके नवीन कर्मबन्ध नहीं होता। तथा जैसे कोई पुरुष मदिराके प्रति तीव्र अरुचि होनेसे मदिरापान करके भी मतवाला नहीं होता, उसी तरह ज्ञानी भी रागादि भावोंका अभाव होनेसे सब द्रव्योंके भोगमें तीव्र विराग भावके कारण विषयोंको भोगता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता। यह शंका हो सकती है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव विषयोंको भोगता है और जो उसे प्रिय होता है उसे वह चाहता भी है तब कैसे उसे विषयोंकी अभिलाषा नहीं है? यह शंका उचित है इसका कारण है उसका अभी जघन्य पदमें रहना, और इस जघन्य पदका कारण है चारित्र मोहनीय कर्मका उदय। चारित्र मोहके उदयसे जीव इन्द्रियोंके विषयोंमें रत होता है और यदि वह न हो तो वह शुद्ध वीतराग होता है। किन्तु दर्शनमोहका उदय न होनेसे यद्यपि वह भोगोंकी इच्छा नहीं करता तथापि चारित्रमोहका उदय होनेसे भोगकी क्रिया जबरदस्ती होती है। परन्तु केवल क्रियाको देखकर उसकी विरागतामें सन्देह करना उचित नहीं है। क्योंकि जैसे न चाहते हुए भी संसारके जीवोंको गरीबी आदिका कष्ट भोगना पड़ता है; वैसे ही कर्मसे पीड़ित ज्ञानीको भी न चाहते हुए भी भोग भोगना पड़ता है। अतः सम्यग्दृष्टी जीव भोगोंका सेवन करते हुए भी उनका सेवक नहीं है क्योंकि बिना इच्छाके किया गया कर्म विरागीके रागका कारण नहीं होता। (पञ्चाध्यायी, उत्तरार्द्ध २५१ आदि श्लोक) ॥२॥

ज्ञानीका विषयोपभोग स्वरूपसे सत् होते हुए भी विशिष्ट फलका अभाव होनेसे नहीं है, यह दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं—

जैसे दूसरेके विवाह आदि उत्सवमें बलात् नाचनेके लिए पकड़ लिया गया व्यक्ति नाचते हुए भी नहीं नाचता, वैसे ही ज्ञानी विषयोंको भोगता हुआ भी नहीं भोगता; क्योंकि विषयोपभोगके फलसे वह रहित है ॥३॥

उक्तं च—

'सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवओ को वि ।
३ पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥' [समयप्रा., गा. १९७] ॥३॥

अथ ज्ञान्यज्ञानिनोः कर्मबन्धं विविनक्ति—

नाबुद्धिपूर्वा रागाद्या जघन्यज्ञानिनोऽपि हि ।
६ बन्धायालं तथा बुद्धिपूर्वा अज्ञानिनो यथा ॥४॥

तथा—तेन अवश्यभोक्तव्यसुखदुःखफलत्वलक्षणेन प्रकारेण । यथाह—

'रागद्वेषकृताभ्यां........ताभ्यामेवेष्यते मोक्षः' ॥४॥

विशेषार्थ—विषय भोगका फल है बुद्धिपूर्वक रागादिसे होनेवाला कर्मबन्ध। परद्रव्यको भोगते हुए जीवके सुखरूप या दुःखरूप भाव नियमसे होते हैं। इस भावका वेदन करते समय मिथ्यादृष्टिके रागादिभाव होनेसे नवीन कर्मबन्ध अवश्य होता है। अतः कर्मके उदयको भोगते हुए जो पूर्वबद्ध कर्मोकी निर्जरा होती है वह वस्तुतः निर्जरा नहीं है क्योंकि उस निर्जराके साथ नवीन कर्मबन्ध होता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करते हुए ऐसा अनुभव करता है कि आज मैं धन्य हूँ जो इस तरहके उत्कृष्ट भोगोंको भोग रहा हूँ। किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानीके पर द्रव्यको भोगते हुए भी रागादि भावोंका अभाव होनेसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता केवल निर्जरा ही होती है। कहा है—'कोई तो विषयोंको सेवन करता हुआ भी नहीं सेवन करता है। और कोई नहीं सेवन करता हुआ भी सेवक होता है। जैसे किसी पुरुषके किसी कार्यको करनेकी चेष्टा तो है अर्थात् स्वयं नहीं करते हुए भी किसीके करानेसे करता है वह इस कार्यका स्वामी नहीं होता। ऐसी ही ज्ञानीकी भी स्थिति होती है। यहाँ ज्ञानीसे आशय है आत्मज्ञानमें उपयुक्त व्यक्ति' ॥३॥

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मबन्धमें विशेषता बतलाते हैं—

जैसे अज्ञानीके बुद्धिपूर्वक रागादि भाव बन्धके कारण होते हैं उस तरह मध्यमज्ञानी और उत्कृष्ट ज्ञानीकी तो बात ही क्या, जघन्यज्ञानी अर्थात् हीन ज्ञानवाले ज्ञानीके भी अबुद्धिपूर्वक रागादि भाव बन्धके कारण नहीं होते ॥४॥

विशेषार्थ—ज्ञानीके निचली दशामें अबुद्धिपूर्वक रागादि भाव होते हैं। पं. आशाधर जीने अबुद्धिका अर्थ किया है आत्मदृष्टि। अर्थात् आत्मदृष्टि पूर्वक होनेवाले भावको अबुद्धि पूर्वक भाव कहते हैं। समयसार गाथा १७२ की आत्म ख्यातिमें आचार्य अमृतचन्द्रजीने लिखा है—'जो निश्चयसे ज्ञानी है वह बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोहरूप आस्रव भावका अभाव होनेसे निरास्रव ही है। किन्तु इतना विशेष है कि वह ज्ञानी भी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट रूपसे देखने-जानने और आचरण करनेमें असमर्थ होता है और जघन्यरूपसे ही ज्ञान (आत्मा)को देखता है, जानता है, आचरण करता है तबतक उसके भी अनुमानसे अबुद्धिपूर्वक कर्ममल कलंकका सद्भाव ज्ञात होता है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो उस ज्ञानीके ज्ञानका जघन्य भाव होना संभव नहीं था। अतः उसके पौद्गलिक कर्मका बन्ध होता

१. रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम् ।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेष्यते मोक्षः ॥'—आत्मानुशा. १०८ श्लो.

है।' इसी बातको आचार्यने कलश द्वारा भी कहा है—अर्थात् आत्मा जब ज्ञानी होता है तब अपने बुद्धि पूर्वक समस्त रागको स्वयं ही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कालसे लेकर निरन्तर छोड़ता है। और अबुद्धिपूर्वक रागको जीतनेके लिए बारम्बार अपनी शुद्ध चैतन्यरूप शक्तिका स्वानुभव प्रत्यक्षरूपसे अनुभवन करता है। इसका आशय है कि ज्ञानी होते ही जब सब रागको हेय जाना तो बुद्धिपूर्वक रागका तो परित्याग कर दिया। रहा, अबुद्धिपूर्वक राग, उसके मेटनेका प्रयत्न करता है। इस कलशकी व्याख्या करते हुए पं. राजमल्लजीने लिखा है—'भावार्थ इस प्रकार है—मिथ्यात्व रागद्वेष रूप जो जीवके अशुद्ध चेतना रूप विभाव परिणाम, वे दो प्रकारके हैं—एक परिणाम बुद्धिपूर्वक है, एक परिणाम अबुद्धिपूर्वक है। बुद्धिपूर्वक कहनेपर जो परिणाम मनके द्वारा प्रवर्तते हैं, बाह्य विषयके आधारसे प्रवर्तते हैं। प्रवर्तते हुए वह जीव आप भी जानता है कि मेरा परिणाम इस रूप है। तथा अन्य जीव भी अनुमान करके जानते हैं जो इस जीवके ऐसे परिणाम हैं। ऐसा परिणाम बुद्धिपूर्वक कहा जाता है। सो ऐसे परिणामको सम्यग्दृष्टि जीव मेट सकता है क्योंकि ऐसा परिणाम जीवकी जानकारीमें है। अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहनेपर पाँच इन्द्रिय और मनके व्यापारके बिना ही मोहकर्मके उदयका निमित्त पाकर मोह रागद्वेषरूप अशुद्ध विभाव परिणामरूप आप स्वयं जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशोंमें परिणमता है सो ऐसा परिणमन जीवकी जानकारीमें नहीं है और जीवके सहाराका भी नहीं है। इसलिए जिस किसी प्रकार मेटा जाता नहीं है। अतएव ऐसे परिणामके मेटनेके लिए निरन्तरपने शुद्धस्वरूपको अनुभवता है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है।' आशय यह है कि बन्धके करनेवाले तो जीवके राग-द्वेष-मोहरूप भाव हैं। जब मिथ्यात्व आदिका उदय होता है तब जीवका राग-द्वेष-मोहरूप जैसा भाव होता है उसके अनुसार आगामी बन्ध होता है। और जब सम्यग्दृष्टि होता है तब यदि मिथ्यात्वकी सत्ताका ही नाश हो जाता है तो उसके साथ अनन्तानुबन्धी कषाय तथा उस सम्बन्धी अविरति और योगभाव भी नष्ट हो जाते हैं और तब उस सम्बन्धी राग द्वेष-मोह भी जीवके नहीं होते। तथा मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीका आगामी बन्ध भी नहीं होता और यदि मिथ्यात्वका उपशम ही होता है तो वह सत्तामें रहता है। किन्तु सत्ताका द्रव्य उदयके बिना बन्धका कारण नहीं है। और जो अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंकी परिपाटीमें चारित्रमोहके उदयको लेकर बन्ध कहा है उसे यहाँ बन्धमें नहीं गिना है क्योंकि ज्ञानी-अज्ञानीका भेद है। जबतक कर्मके उदयमें कर्मका स्वामीपना रखकर परिणमन करता है तबतक ही कर्मका कर्ता कहा है। परके निमित्तसे परिणमन करे और उसका मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहे तब ज्ञानी ही है, कर्ता नहीं है। ऐसी अपेक्षासे सम्यग्दृष्टि होनेपर चारित्रमोहके उदयरूप परिणामके होते हुए भी ज्ञानी ही कहा है। जबतक मिथ्यात्व-का उदय है तबतक उस सम्बन्धी रागद्वेष-मोहरूप परिणाम होनेसे अज्ञानी कहा है। ऐसे ज्ञानी और अज्ञानीका भेद समझना चाहिए। इसीसे बन्ध और अबन्धका भेद स्पष्ट होता है। कहा भी है—'राग और द्वेषसे की गयी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे जीवके बन्ध होता है और तत्त्वज्ञानपूर्वक की गयी वही प्रवृत्ति और निवृत्तिसे मोक्ष होता है ॥४॥'

१. 'संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं,
बारम्बारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।'

अथानादिसंतत्या प्रवर्तमानमात्मन. प्रमादाचरणमनुशोचति—

मत्प्रच्युत्य परेहमित्यवगमादाजन्म रज्यन् द्विषन्
प्राङ्मिथ्यात्वमुखैश्चतुर्भिरपि तत्कर्माष्टधा बन्धयन् ।
मूर्तैर्मूर्तमहं तदुद्भवभवैर्भावैरसंचिन्मयै-
र्योजं योजमिहाद्य यावदसदं ही मां न जात्वासदम् ॥५॥

मत्—मत्तश्चिच्चमत्कारमात्रस्वभावादात्मनः । प्रच्युत्य—पराङ्मुखीभूय । प्राङ्मिथ्यात्वमुखैः—पूर्वोपात्तमिथ्यात्वासंयमकषाययोगै. । चतुर्भिः. प्रमादस्याविरतावन्तर्भावात् । आत्मा प्रमुच्यते । अत्र कर्तरि तृतीया । उक्तं च—

'सामण्णपच्चया खलु चदुरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा ॥' [समयप्रा. १०९ गा.]

अपि इत्यादि । प्रतिसमयमायुर्वजं ज्ञानावरणादिसप्तविधं कर्म कदाचिदष्टप्रकारमपीत्यर्थ. । मूर्तैः—द्रव्यरूपत्वात् पौद्गलिकैः । भावैः—भावमिथ्यात्वरागादिभि. । असंचिन्मयैः—परार्थसंचेतनशून्यत्वेनाज्ञानमयैः । योजं योजं—परिणम्य परिणम्य । असदं—अवसादमगममहम् । आसदं—प्राप्तमहम् ॥५॥

अनादिकालसे जो आत्माका प्रमादजनित आचरण चला आता है उसपर खेद प्रकट करते हैं—

बड़ा खेद है कि चेतनाका चमत्कार मात्र स्वभाववाले अपने आत्मासे विमुख होकर और शरीरादिकमें 'यह मैं हूँ' ऐसा निश्चय करके अनादिकालसे इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोंसे द्वेष करता आया हूँ। और इसीसे पूर्वबद्ध मिथ्यात्व असंयम कषाय और योगरूप चार पौद्गलिक भावोंके द्वारा आठ प्रकारके उन प्रसिद्ध ज्ञानावरणादि रूप पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध करता आया हूँ। तथा उन मूर्त कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले अज्ञानमय मिथ्यात्व रागादि भावरूप परिणमन कर-करके इस संसारमें आज तक कष्ट उठा रहा हूँ ॥५॥

विशेषार्थ—जीव अनादिकालसे अपनी भूलके कारण इस संसारमें दुःख उठाता है। अपने चैतन्य स्वभावको भूलकर शरीरादिको ही 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है। जो वस्तुएँ उसे रुचती हैं उनसे राग करता है जो नहीं रुचतीं उनसे द्वेष करता है। ये रागद्वेष ही नवीन कर्मबन्धमें निमित्त होते हैं। कहा है—आत्मा संसार अवस्थामें अपने चैतन्य स्वभावको छोड़े बिना ही अनादि बन्धनके द्वारा बद्ध होनेसे अनादि मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध भावसे परिणमित होता है। वह जब जहाँ मोहरूप, रागरूप और द्वेषरूप अपने भावको करता है उसी समय वहाँ उसी भावको निमित्त बनाकर जीवके प्रदेशोंमें परस्पर अवगाह रूपसे प्रविष्ट हुए पुद्गल स्वभावसे ही कर्मपनेको प्राप्त होते हैं। अर्थात् जहाँ आत्मा रहता है वहाँ कर्मवर्गणाके योग्य पुद्गल पहलेसे ही रहते हैं और आत्माके मिथ्यात्व रागादिरूप परिणामोंको निमित्त बनाकर स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमन करते हैं। उन्हें कोई जबरदस्ती नहीं परिणमाता। प्रश्न होता है कि जीवके जो राग-द्वेषरूप भाव होते हैं क्या वे स्वयं होते हैं

१. 'अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं ।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥' पञ्चास्तिकाय ६५ गा.

अथाभेदविज्ञानाभावाद् व्यवहारादेव परं प्रत्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वे परमार्थतस्तु ज्ञातृत्वमात्रमनुचिन्त्य भेदविज्ञानाच्छुद्धस्वात्मानुभूतये प्रयत्नं प्रतिजानीते—

स्वान्यावप्रतियन् स्वलक्षणकलानैयत्यतोऽस्वेऽहमि- ३
त्यैक्याध्यासकृतेः परस्य पुरुषः कर्ता परार्थस्य च ।
भोक्ता नित्यमहंतयानुभवनाज्ज्ञातैव चार्थास्तयो-
स्तत्स्वान्यप्रविभागबोधबलतः शुद्धात्मसिद्धयै यते ॥६॥ ६

या उनका निमित्त कारण है। इसके उत्तरमें कहा है—निश्चयसे अपने चैतन्य स्वरूप रागादि परिणामोंसे स्वयं ही परिणमन करते हुए आत्माके पौद्गलिक कर्म निमित्त मात्र होते हैं। अर्थात् रागादिका निमित्त पाकर आत्माके प्रदेशोंके साथ बँधे पौद्गलिक कर्मोंके निमित्तसे यह आत्मा अपनेको भूलकर अनेक प्रकारके विभावरूप परिणमन करता है और इन विभावभावोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मोंमें ऐसी शक्ति होती है जिससे चेतन आत्मा विपरीत रूप परिणमन करता है। इस तरह द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्म होते हैं। इसीका नाम संसार है। बन्धके कारण तत्त्वार्थ सूत्रमें पाँच कहे हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग। किन्तु समयसारमें प्रमादका अन्तर्भाव अविरतिमें करनेसे चार ही कारण कहे हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये चारों द्रव्य प्रत्यय और भावप्रत्ययके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। भावप्रत्यय अर्थात् चेतनाके विकार और द्रव्यप्रत्यय अर्थात् जड़ पुद्गलके विकार। पुद्गल कर्मका कर्ता निश्चयसे पुद्गल द्रव्य ही होता है उसीके भेद मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं। जो पुद्गलके परिणाम हैं वे ज्ञानावरण आदि पुद्गलोंके आनेमें निमित्त हैं। तथा उनके भी निमित्त हैं राग-द्वेष-मोहरूप आत्म परिणाम। अतः आस्रवके निमित्तमें भी निमित्त होनेसे राग-द्वेष मोह ही बन्धके कारण हैं। सारांश यह है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंके आनेका कारण तो मिथ्यात्व आदि कर्मके उदयरूप पुद्गलके परिणाम हैं और उन कर्मोंके आनेके निमित्तका भी निमित्त राग द्वेष मोह रूप परिणाम है जो चेतनके ही विकार है और जीवकी अज्ञान अवस्थामें होते हैं। इस प्रकार आत्मा ही आत्माको बाँधकर दुःख उठाता है ॥५॥

आगे कहते हैं कि भेदविज्ञान होनेसे पहले यह जीव अपनेको परका कर्ता और भोक्ता मानता है। किन्तु यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व व्यवहारसे ही है परमार्थसे आत्मा केवल ज्ञातामात्र है, ऐसा विचारकर भेदविज्ञानसे शुद्ध स्वात्माकी अनुभूतिके लिए प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

जीव और अजीवका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रतिनियत है। उसको न जानकर अर्थात् अपने-अपने सुनिश्चित स्वरूपके द्वारा जीव और अजीवको न जानकर, अजीवमें 'यह मैं हूँ' इस प्रकारके एकत्वका आरोप करनेसे आत्मा परका कर्ता और कर्मादि फलका भोक्ता प्रतीत होता है। किन्तु परमार्थसे सर्वदा 'मैं' इस प्रकारका ज्ञान होनेसे जीव कर्म और कर्मफलका ज्ञाता ही है। अतः जीव और अजीवके भेदज्ञानके बलसे मैं निर्मल अपनी आत्माकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ ॥६॥

१. 'परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि' ॥—पुरुषार्थ. १३ ।

स्वान्यौ—आत्मानात्मानौ। अप्रतियन्—प्रतीतिविषयावकुर्वन्। स्वेत्यादि—प्रतिनियतस्वरूपविशेषनियमात्। अस्वे—परस्मिन् शरीरादौ। परस्य—कर्मादेः। परार्थस्य—कर्मादिफलस्य। अर्थात्—परमार्थतः। यथाह—

'मास्कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः,
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्मभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥' [समय., कलश, २०५]

स्वान्येत्यादि—अन्यच्छरीरमन्योऽहमित्यादिभेदज्ञानावष्टम्भात् ॥६॥

विशेषार्थ—जीव और अजीव दोनों ही अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह संयोगरूप मिले हुए हैं। और अनादिसे ही जीव और पुद्गलके संयोगसे अनेक विकार सहित अवस्थाएँ हो रही हैं। किन्तु यदि परमार्थसे देखा जाये तो न तो जीव अपने चैतन्य स्वभावको छोड़ता है और न पुद्गल अपने जड़पने और मूर्तिकपनेको छोड़ता है। परन्तु जो परमार्थको नहीं जानते वे जीव और पुद्गलके संयोगसे होनेवाले भावोंको ही जीव जानते हैं। जैसे मूर्तिक पौद्गलिक कर्मके सम्बन्धसे जीवको मूर्तिक कहा जाता है। यह कथन व्यवहारसे है निश्चयसे जीवमें रूप, रस, गन्ध आदि नहीं हैं ये तो पुद्गलके गुण हैं। इन गुणोंका पुद्गलके साथ ही तादात्म्य सम्बन्ध है, जीवके साथ नहीं। यदि जीवको भी रूपादि गुणवाला माना जाये तो वह भी पुद्गल कहलायेगा, जीव नहीं। सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्यके अपने-अपने परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं। कोई भी द्रव्य अपने परिणामको छोड़कर अन्य द्रव्यके परिणामको नहीं अपनाता। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणामका कर्ता होता है और वह परिणाम उसका कर्म है। अतः जीव अपने परिणामोंका कर्ता है और उसके परिणाम उसके कर्म है। इसी तरह अजीव अपने परिणामोंका कर्ता है और उसके परिणाम उसके कर्म हैं। अतः जीव और अजीवमें कार्यकारणभाव नहीं है। और इसलिए जीव परद्रव्यका कर्ता नहीं है। फिर भी उसके कर्मबन्ध होता है यह अज्ञानकी ही महिमा है। किन्तु जैनमतमें सांख्यमतकी तरह जीव सर्वथा अकर्ता नहीं है। सांख्यमतमें प्रकृतिको ही एकान्ततः कर्ता माना जाता है। उस तरह जैनमत नहीं मानता। समयसारकलशमें कहा है—अर्हत्‌के अनुयायी जैन भी आत्माको सांख्य मतवालोंकी तरह सर्वथा अकर्ता मत मानो। भेदज्ञान होनेसे पूर्व सदा कर्ता मानो। किन्तु भेदज्ञान होनेके पश्चात् उन्नत ज्ञानमन्दिरमें स्थिर इस आत्माको नियमसे कर्तापनेसे रहित अचल एक ज्ञाता ही स्वयं प्रत्यक्ष देखो।

आशय यह है कि सांख्यमत पुरुषको सर्वथा अकर्ता मानता है और जड़ प्रकृतिको कर्ता मानता है। ऐसा माननेसे पुरुषके संसारके अभावका प्रसंग आता है। और जड़ प्रकृतिको संसार सम्भव नहीं है क्योंकि वह सुख-दुःखका संवेदन नहीं कर सकती। यदि जैन भी ऐसा मानते हैं कि कर्म ही जीवको अज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरणके उदयके बिना अज्ञान भाव नहीं होता, कर्म ही आत्माको ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमके बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। कर्म ही आत्माको सुलाता है क्योंकि निद्रा नामक कर्मके उदय बिना निद्राकी प्राप्ति नहीं होती। कर्म ही आत्माको जगाता है क्योंकि निद्रा नामक कर्मके क्षयोपशमके बिना जागना सम्भव नहीं है। कर्म ही आत्माको दुःखी और सुखी करता है क्योंकि असाता वेदनीय और साता वेदनीय कर्मके उदयके बिना दुःख-सुख नहीं होता।

अथात्मनः सम्यग्दर्शनरूपतामनुसंधत्ते—

यदि टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मानम् ।
रागादिभ्यः सम्यग्विविच्य पश्यामि सुदृगस्मि ॥७॥

टङ्कोत्कीर्णः—निश्चलसुव्यक्ताकारः । एकः—कर्तृत्वभोक्तृत्वरहितः । रागादिभ्यः—रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्म-मनोवचनकायेन्द्रियेभ्य. ॥७॥

अथ रागादिभ्यः स्वात्मनो विभक्तत्वं समर्थयते—

ज्ञानं जानत्तया ज्ञानमेव रागो रजत्तया ।
राग एवास्ति न त्वन्यत्तच्चिद्रागोऽस्म्यचित् कथम् ॥८॥

कर्म ही आत्माको मिथ्यादृष्टि करता है क्योंकि मिथ्यात्व कर्मके उदयके बिना मिथ्यात्वकी प्राप्ति नहीं होती। कर्म ही आत्माको असंयमी करता है क्योंकि चारित्रमोहके उदयके बिना असंयम नहीं होता। इस प्रकार सभी बातें कर्म करता है और आत्मा एकान्तसे अकर्ता है। ऐसा माननेवाले जैन भी सांख्यकी तरह ही मिथ्यादृष्टि हैं। अतः जैनोंको सांख्योंकी तरह आत्माको सर्वथा अकर्ता नहीं मानना चाहिए। किन्तु जहाँ तक स्व और परका भेदज्ञान न हो वहाँ तक तो आत्माको रागादिरूप भावकर्मोंका कर्ता मानो और भेदविज्ञान होनेके पश्चात् समस्त कर्तृत्व भावसे रहित एक ज्ञाता ही मानो। इस तरह एक ही आत्मामें विवक्षावश कर्ता-अकर्ता दोनों भाव सिद्ध होते हैं ॥६॥

आगे आत्माको सम्यग्दर्शन स्वरूपका अनुभव कराते हैं—

सम्यक् रूपसे राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, इन्द्रियसे भिन्न करके टाँकीसे उकेरे गयेके समान कर्तृत्व, भोक्तृत्वसे रहित एक ज्ञायक स्वभाव आत्माका यदि मैं अनुभव करता हूँ तो मैं सम्यग्दर्शन स्वरूप हूँ ॥७॥

विशेषार्थ—अपनी सभी स्वाभाविक और नैमित्तिक अवस्थाओंमें व्याप्त वह आत्मा शुद्धनयसे एक ज्ञायक मात्र है उसको रागादि भावोंसे मन, वचन, काय, और इन्द्रियोंसे भिन्न करके अर्थात् ये मैं नहीं हूँ न ये मेरे हैं मैं तो एक कर्तृत्व भोक्तृत्वसे रहित ज्ञाता मात्र हूँ ऐसा अनुभवन करना ही सम्यग्दर्शन है। इसमें सातों तत्त्वोंका श्रद्धान समाविष्ट है क्योंकि सात तत्त्वोंके श्रद्धानके बिना स्व और परका सम्यक् श्रद्धान नहीं होता। जिसके सच्चा आपा परका श्रद्धान व आत्माका श्रद्धान होता है उसके सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होता ही है और जिसके सच्चा सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होता है उसके आपा परका और आत्माका श्रद्धान होता ही है। इसलिए आस्रवादिके साथ आपा परका व आत्माका श्रद्धान करना ही योग्य है। सातों तत्त्वार्थोंके श्रद्धानसे रागादि मिटानेके लिए परद्रव्योंको भिन्न माना है। तथा अपने आत्माको भाता है तभी प्रयोजनकी सिद्धि होती है। ऐसा करनेसे यदि उक्त प्रकारसे आत्मानुभूति होती है तो वह अपनेको सम्यग्दृष्टि मानता है। टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव रूप आत्माका अनुभवरूप सम्यग्दर्शन आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं है। आत्माका ही परिणाम है। अतः जो सम्यग्दर्शन है वह आत्मा ही है, अन्य नहीं है ॥७॥

आगे रागादिसे अपने आत्माकी भिन्नताका समर्थन करते हैं—

ज्ञानका स्वभाव जानना है अतः स्व और परका अवभासक स्वभाव वाला होनेसे ज्ञान ज्ञान ही है, ज्ञान रागरूप नहीं है। तथा इष्ट विषयमें प्रीति उत्पन्न करनेवाला होनेसे राग राग ही है ज्ञान रूप नहीं है। इसलिए स्व और परका अवभासक स्वभाव चिद्रूप

जानत्तया—स्वपरावभासकरूपतया। चित्—चिद्रूपोऽहं स्वपरावभासकज्ञानस्वभावत्वात्। अचित्—परस्वरूपसंचेतनशून्यत्वादचेतनः। कथम्। उपलक्षणमेतत्। तेन द्वेषादिभ्योऽप्येवमात्मा विवेच्यः ॥८॥

एतदेव स्पष्टयितुं दिङ्मात्रमाह—

नान्तरं वाङ्मनोऽप्यस्मि किं पुनर्बाह्यमङ्गगीः।
तत् कोऽङ्गसंगजेष्वेकत्वभ्रमो मेऽङ्गाङ्गजादिषु ॥९॥

वाङ्मनः—वाक् च मनश्चेति समाहारः। गणकृतस्यानित्यत्वान्न समासान्तः। अङ्गगीः—देहवाचम् ॥९॥

अथात्मनोऽष्टाङ्गदृष्टिरूपतामाचष्टे—

यत्कस्मादपि नो बिभेति न किमप्याशंसति क्वाप्युप-
क्रोशं नाश्रयते न मुह्यति निजाः पुष्णाति शक्तीः सदा।
मार्गान्न च्यवतेऽञ्जसा शिवपथं स्वात्मानमालोकते
माहात्म्यं स्वमभिव्यनक्ति च तदस्म्यष्टाङ्गसद्दर्शनम् ॥१०॥

कस्मादपि—इहपरलोकादेः। निःशङ्कितोक्तिरियम्। एवं क्रमेणोत्तरवाक्यैर्निःकाङ्क्षितत्वादीनि सप्त ज्ञेयानि। आशंसति—काङ्क्षति। क्वापि—जुगुप्स्ये द्रव्ये भावे वा। उपक्रोशं—जुगुप्सा, विचिकित्सा-

मैं स्वसंविदित होनेपर भी परके स्वरूपको जाननेमें अशक्त होनेसे अचित् राग रूप कैसे हो सकता हूँ ॥८॥

विशेषार्थ—ज्ञान आत्माका स्वाभाविक गुण है। किन्तु राग, द्वेष आदि वैभाविक अवस्थाएँ हैं अतः न ज्ञान राग है और न राग ज्ञान है। ज्ञान तो स्वपर प्रकाशक है किन्तु रागका स्वसंवेदन तो होता है परन्तु उसमें परस्वरूपका वेदन नहीं होता अतः वह अचित् है और ज्ञान चिद्रूप है। जो स्थिति रागकी है वही द्वेष, मोह क्रोधादिकी है ॥८॥

इसीको और भी स्पष्ट करते हैं—

वचन और मन आन्तरिक हैं, वचन अन्तर्जल्प रूप है मन विकल्प है। जब मैं आन्तरिक वचन रूप और मन रूप नहीं हूँ तब बाह्य शरीर रूप और द्रव्य वचन रूप तो मैं कैसे हो सकता हूँ। ऐसी स्थितिमें हे अंग! केवल शरीरके संसर्ग मात्रसे उत्पन्न हुए पुत्रादिकमें एकत्वका भ्रम कैसे हो सकता है ॥९॥

विशेषार्थ—यहाँ मन, वचन, काय और स्त्री-पुत्रादिकसे भिन्नता बतलायी है। भाव वचन और भावमन तो आन्तरिक हैं जब उनसे ही आत्मा भिन्न है तब शरीर और द्रव्य वचनकी तो बात ही क्या है वे तो स्पष्ट ही पौद्गलिक हैं। और जब शरीरसे ही मैं भिन्न हूँ तो जो शरीरके सम्बन्ध मात्रसे पैदा हुए पुत्रादि हैं उनसे भिन्न होनेमें तो सन्देह है ही नहीं। इस तरह मैं इन सबसे भिन्न हूँ ॥९॥

आगे आत्माको अष्टांग सम्यग्दर्शन रूप बतलाते हैं—

जो किसीसे भी नहीं डरता, इस लोक और परलोकमें कुछ भी आकांक्षा नहीं करता, किसीसे भी ग्लानि नहीं करता, न किसी देवताभास आदिमें मुग्ध होता है, सदा अपनी शक्तियोंको पुष्ट करता है, रत्नत्रयरूप मार्गसे कभी विचलित नहीं होता, और परमार्थसे मोक्षके मार्ग निज आत्मस्वरूपका ही अवलोकन किया करता है तथा जो सदा आत्मीय अचिन्त्य शक्ति विशेषको प्रकाशित किया करता है वह अष्टांग सम्यग्दर्शन मैं ही हूँ ॥१०॥

मित्यर्थः। न मुह्यति 'क्वापि' इत्यनुवृत्त्या देवताभासादौ न विपर्येति। निजाः—कर्मसंवरणनिर्जरण-मोक्षणाभ्युदयप्रापणदुर्गतिनिवारणादिलक्षणाः ॥१०॥

अथ आत्मनो ज्ञानविषयरत्यादिपरिणतिं परामृशति— 3

सत्याशीरनुभाव्यानीयन्ति चैव यावदिदम्।
ज्ञानं तदिहास्मि रतः संतुष्टः संततं तृप्तः ॥११॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके आठ अंग होते हैं। जैसे आठ अंगोंसे सहित शरीर परिपूर्ण और कार्य करनेमें समर्थ होता है वैसे ही आठ अंगोंसे सहित सम्यग्दर्शन पूर्ण माना जाता है। आचार्य समन्तभद्रने कहा है कि अंगहीन सम्यग्दर्शन संसारका छेद करनेमें समर्थ नहीं होता। इन आठों अंगोंका स्वरूप पहले कहा है उन्हींकी यहाँ सूचना की है। पहला अंग है निःशंकित। शंकाका अर्थ भय भी है। वे सात होते हैं—इस लोकका भय, परलोकका भय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय और आकस्मिक भय। सम्यग्दृष्टि इन सातों भयोंसे मुक्त होता है। क्योंकि वह जानता है कि इस आत्माका ज्ञान रूप शरीर किसीसे भी बाधित नहीं होता। वज्रपात होनेपर भी उसका विनाश नहीं होता। कहा है—निश्चल क्षायिक सम्यग्दृष्टि भयंकर रूपोंसे, हेतु और दृष्टान्तके सूचक वचनोंसे कभी भी विचलित नहीं होता। तथा वह इस जन्ममें भोगादिकी और परलोकमें इन्द्रादि पदकी कामना नहीं करता, यह निःकांक्षित अंग है। तथा सम्यग्दृष्टि वस्तुके धर्म, भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि भावोंमें तथा विष्ठा आदि मलिन द्रव्योंसे घृणा भाव नहीं रखता। यह निर्विचिकित्सा अंग है। तथा सम्यग्दृष्टि सब पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानता है इसलिए कुदेवों आदिके सम्बन्धमें भ्रममें नहीं पड़ता। यह अमूढदृष्टि अंग है। वह अपनी कर्मोंका संवरण करने रूप, निर्जीण करने रूप और मोक्षण करने रूप शक्तियोंको तथा दुर्गतिके निवारणरूप और अभ्युदयको प्राप्त करानेवाली शक्तियोंको बढ़ाता है, पुष्ट करता है यह उपबृंहण गुण है। सम्यग्दृष्टि निश्चयसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावरूप है इसलिए अपने रत्नत्रयरूप मार्गसे डिगते हुए आत्माको उसीमें स्थिर करता है। यह स्थितिकरण अंग है। तथा निश्चयदृष्टिसे अपना चिद्रूप ही मोक्षका मार्ग है, उसीमें वात्सल्य भाव रखनेसे वात्सल्य अंग है। अपनी आत्मिक शक्तिको प्रकट करके प्रभावना अंग पालता है। इस तरह आठ अंग युक्त होनेसे मैं अष्टांग सम्यग्दर्शन रूप हूँ ऐसा सम्यग्दृष्टि अवलोकन करता है। कहा है 'अधिक कहनेसे क्या, अतीत कालमें जो मनुष्यश्रेष्ठ मुक्त हुए और जो भव्य आगे सीझेंगे वह सब सम्यक्त्वका माहात्म्य जानो' ॥१०॥

आगे आत्माकी ज्ञानके विषयमें रति आदि रूप परिणतिको बतलाते हैं—

आत्मा, आशीः अर्थात् आगामी इष्ट अर्थकी अभिलाषा और अनुभवनीय पदार्थ ये तीनों ही सत्य हैं और ये उतने ही हैं जितना स्वयं प्रतीयमान ज्ञान है। इसलिए मैं ज्ञानमें सदा लीन हूँ, सदा सन्तुष्ट हूँ तथा तृप्त हूँ ॥११॥

१. 'रूपैर्भयङ्करैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तसूचिभिः।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः' ॥—अमित. पं. सं. १।२९३।

२. 'किं पलविएण बहुणा सिद्धा जे णरवरा गए काले।
सिज्झहहिं जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं' ॥—बारस अणु. ९०।

इयन्ति चेव—एतावन्त्येव । तथाहि—एतावानेव सत्य आत्मा यावदिदं स्वयं संवेद्यमानं ज्ञानम् । एवमेतावत्येवमात्मा (–वं सत्या) आशीरितावदेव च सत्यमनुभवनीयमित्यपि योज्यम् ॥११॥

अथ (भेदं–)ज्ञानादेव बन्धोच्छेदे सति मोक्षलाभानन्तं सुखं स्यादित्यनुशास्ति—

क्रोधाद्यास्रवविनिवृत्तिनान्तरीयकतदात्मभेदविदः ।
सिध्यति बन्धनिरोधस्ततः शिवं शं ततोऽनन्तम् ॥१२॥

नान्तरीयकी—अविनाभूता । तदित्यादि । स च क्रोधाद्यास्रव आत्मा च तदात्मानौ, तयोर्भेदो विवेकस्तस्य विद् ज्ञानं ततः । उक्तं च—

'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥' [सम. कल., श्लो. १३१]

शं—सुखम् ॥१२॥

विशेषार्थ—आत्मामें अनन्त गुण हैं किन्तु उनमें-से एक ज्ञान ही ऐसा गुण है जो स्वपर-प्रकाशक है । उसीके द्वारा स्व और परका संवेदन होता है । जो कुछ जाना जाता है वह ज्ञानसे ही जाना जाता है । अतः परमार्थसे आत्मा ज्ञानस्वभाव है, ज्ञान आत्मा ही है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है । क्योंकि ज्ञानका अभाव होनेसे अज्ञानीके व्रतादि मोक्षके कारण नहीं होते । तथा आत्माका ज्ञानस्वरूप होना ही अनुभूति है । अतः जितना स्वयं संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही आत्मा है, जितना स्वयं संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही आगामी इष्ट अर्थकी आकांक्षा है और जितना स्वयं संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही सत्य अनुभवनीय है । अर्थात् आत्मा आदि तीनोंका स्रोत ज्ञान ही है, ज्ञानसे ही आत्मा आदिकी सत्यताका बोध होता है । इसलिए मैं ज्ञानमें ही सदा सन्तृप्त हूँ ऐसा ज्ञानी मानता है । ज्ञानके बिना गति नहीं है ॥११॥

आगे कहते हैं कि भेदज्ञानसे ही कर्मबन्धका उच्छेद होनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है और मोक्षकी प्राप्ति होनेसे अनन्त सुखका लाभ होता है—

क्रोध आदि आस्रवोंकी विशेषरूपसे निवृत्ति अर्थात् संवरके साथ अविनाभावी रूपसे जो उन क्रोधादि आस्रवोंका और आत्माके भेदका ज्ञान होता है उसीसे कर्मोंके बन्धका निरोध होता है और बन्धका निरोध होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और मोक्षकी प्राप्तिसे अनन्त सुख होता है ॥१२॥

विशेषार्थ—जैसे आत्मा और ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे आत्मा निःशंक होकर ज्ञानमें प्रवृत्ति करता है । यह ज्ञानक्रिया आत्माकी स्वभावभूत है । अतः निषिद्ध नहीं है उसी तरह आत्मा और क्रोधादि आस्रवका तो संयोग सम्बन्ध होनेसे दोनों भिन्न हैं किन्तु अज्ञानके कारण यह जीव उस भेदको नहीं जानकर निःशंक होकर क्रोधमें आत्मरूपसे प्रवृत्ति करता है । क्रोधमें प्रवृत्ति करते हुए जो क्रोधादि किया है वह तो आत्मरूप नहीं है । किन्तु वह आत्मरूप मानता है अतः क्रोधरूप, रागरूप और मोहरूप परिणमन करता है । इसी प्रवृत्ति रूप परिणामको निमित्त करके स्वयं ही पुद्गल कर्मका संचय होता है और इस तरह जीव और पुद्गलका परस्पर अवगाहरूप बन्ध होता है । किन्तु वस्तु तो स्वभावमात्र है । 'स्व' का होना स्वभाव है । अतः ज्ञानका होना आत्मा है और क्रोधादिका होना क्रोधादि है । अतः

१-२. भ. कु. च. ।

अथ प्रकृतमुपसंहरन् शुद्धात्मसंवित्त्यभावतः क्रियामुरीकरोति—

इतीदृग्भेदविज्ञानबलाच्छुद्धात्मसंविदम् ।
साक्षात्कर्मोच्छिदं यावल्लभे तावद् भजे क्रियाम् ॥१३॥

क्रियां—सम्यग्ज्ञानपूर्वकमावश्यकम् । सैषा न्यग्भावितज्ञानभावितज्ञानक्रियाप्रधाना मुमुक्षोरधस्तनभूमिका परिकर्मतयोपदिष्टा । यथाहु:—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षतिः ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबन्धाय तत्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ [सम. कल., श्लो. ११०] ॥१३॥

क्रोधका परिणमन ज्ञान नहीं है और ज्ञानका परिणमन क्रोध नहीं है। क्रोधादि होनेपर क्रोधादि हुए प्रतीत होते हैं और ज्ञानके होनेपर ज्ञान हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार ये दोनों एक वस्तु नहीं हैं। जब इस तरह दोनोंके भेदको जानता है तब एकत्वका अज्ञान मिट जाता है और अज्ञाननिमित्तिक पुद्गल कर्मका बन्ध भी रुक जाता है। इस तरह भेदज्ञानसे बन्धका निरोध होनेपर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। कहा है—'जितने भी सिद्ध हुए हैं वे भेदज्ञानसे ही हुए हैं और जितने बँधे हैं वे सब भेदविज्ञानके अभावसे ही बँधे हैं।'

क्रोधादिमें आये आदि शब्दसे आत्माकी परतन्त्रतामें निमित्त राग-द्वेष-मोह, बादर-योग, सूक्ष्मयोग, अघातिकर्मोंका तीव्र तथा मन्द उदय और कालविशेषका ग्रहण किया है। इन सभीकी निवृत्ति होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥१२॥

आगे प्रकृत चर्चाका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि साधु शुद्ध आत्मज्ञानकी प्राप्ति होने तक क्रियाओंको भी पालन करनेकी प्रतिज्ञा करता है—

इस प्रकार आगममें प्रतिपादित भेदविज्ञानके बलसे साक्षात् घाति-अघाति कर्मोंको नष्ट करनेवाले शुद्ध आत्माके ज्ञानको जब तक प्राप्त करता हूँ तबतक सम्यग्ज्ञानपूर्वक आवश्यक क्रियाओंको मैं पालूँगा अर्थात् शुद्ध सर्वविवर्तरहित आत्माकी सम्प्राप्ति जबतक नहीं होती तबतक साधु आवश्यक कर्मोंको करता है ॥१३॥

विशेषार्थ—आगे सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकोंका कथन करेंगे। यह छह आवश्यक तभी तक किये जाते हैं जबतक मुनिको शुद्ध आत्माकी संवित्तिका लाभ नहीं होता। इन षट्कर्मोंसे कर्मबन्धनका उच्छेद नहीं होता। कर्मबन्धनका उच्छेद तो शुद्धात्माके संवेदनसे होता है। जो मुमुक्षु नीचेकी भूमिकामें स्थित है और ज्ञान तथा क्रियाको भेदकी प्रधानतासे ग्रहण करता है उसके अभ्यासके लिए षट्कर्म कहे हैं। कहा है—'जबतक कर्मका उदय है और ज्ञानकी सम्यक् कर्मविरति नहीं है तबतक कर्म और ज्ञानका समुच्चय—इकट्ठापना भी कहा है उसमें कुछ हानि नहीं है। किन्तु इतना विशेष यहाँ जानना कि इस आत्मामें कर्मके उदयकी परवशतासे आत्माके वशके बिना जो कर्मका उदय होता है वह तो बन्धके ही लिए है। किन्तु मोक्षके लिए तो परम ज्ञान ही है जो कर्मके करनेमें स्वामित्वरूप कर्तृत्वसे रहित है।' आशय यह है कि जबतक अशुद्ध परिणमन है तबतक जीवका विभावरूप परिणमन है। उस विभाव परिणमनका अन्तरंग निमित्त है जीवकी विभाव परिणमनरूप शक्ति, बहिरंग निमित्त मोहनीय कर्मका उदय। वह मोहनीय कर्म दो प्रकारका है—मिथ्यात्व मोहनीय और चारित्रमोहनीय।

ननु च मुमुक्षुरुच बन्धनिबन्धनक्रियापरश्चेति विप्रतिषिद्धमेतद् इत्यत्र समाधत्ते—

> सम्यगावश्यकविधेः फलं पुण्यास्रवोऽपि हि ।
> प्रशस्ताध्यवसायोंहश्छित् किलेति मतः सताम् ॥१४॥

अंहश्छित्—पापापनेता । उक्तं च—

> 'प्रशस्ताध्यवसायेन संचितं कर्म नाश्यते ।
> काष्ठं काष्ठान्तकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥' [अमित. श्रा. ८।५] ॥१४॥

जीवका एक सम्यक्त्व गुण है जो विभावरूप होकर मिथ्यात्वरूप परिणमा है। एक चरित्र गुण है जो विभावरूप होकर कषायरूप परिणमा है। जीवके पहले मिथ्यात्व कर्मका उपशम या क्षय होता है उसके बाद चारित्रमोहका उपशम या क्षय होता है। निकट भव्यजीवके काललब्धि प्राप्त होनेपर मिथ्यात्व कर्मका उपशम होता है तब जीव सम्यक्त्व गुणरूप परिणमता है। यह परिणमन शुद्धता रूप है। वही जीव जबतक क्षपक श्रेणीपर चढ़ता है तब-तक चारित्रमोहका उदय रहता है। उस उदयके रहते हुए जीव विषयकषायरूप परिणमता है वह परिणमन रागरूप होनेसे अशुद्ध रूप है। इस तरह एक जीवके एक ही समयमें शुद्धपना और अशुद्धपना रहता है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि क्रियासे विरत होता है उसका कर्ता अपनेको नहीं मानता फिर भी चारित्रमोहके उदयमें बलात् क्रिया होती है। जितनी क्रिया है वह कर्मबन्धका कारण है और एकमात्र शुद्ध चैतन्य प्रकाश मोक्षका कारण है। अर्थात् सम्यग्दृष्टिके एक ही कालमें शुद्ध ज्ञान भी है और क्रिया भी है। क्रियारूप परिणामसे केवल बन्ध होता है। तथा उसी समय शुद्ध स्वरूपका ज्ञान भी है उस ज्ञानसे कर्मक्षय होता है। इस तरह एक जीवके नीचेकी भूमिकामें ज्ञान और क्रिया दोनों एक साथ रहती है इसमें कोई विरोध नहीं है। अतः जबतक ज्ञानकी कर्मविरति परिपक्वताको प्राप्त नहीं होती तबतक ज्ञानी मुनि षट्कर्म करता है ॥१३॥

इसपर-से यह शंका होती है कि मुमुक्षु होकर ऐसी क्रियाएँ क्यों करता है जो कर्म-बन्धमें निमित्त पड़ती हैं ? इसका समाधान करते हैं—

आगममें ऐसा सुना जाता है कि प्रशस्त अध्यवसाय अर्थात् शुभपरिणाम पुण्यास्रवका कारण होनेपर भी पापकर्मके नाशक हैं। और वे शुभ परिणाम समीचीन आवश्यक विधिका फल हैं। अतः साधुओंको प्रशस्त अध्यवसाय मान्य है ॥१४॥

विशेषार्थ—आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें लिखा है—विशिष्ट परिणामसे बन्ध होता है और रागद्वेष तथा मोहसे युक्त परिणामको विशिष्ट कहते हैं। जो परिणाम मोह और द्वेषसे युक्त होता है वह अशुभ है और जो परिणाम रागसे युक्त होता है वह शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है।[1] तथा—अमृतचन्द्रजीने प्र. २-८९ टीकामें लिखा है—परिणाम दो प्रकारके हैं—एक परद्रव्यमें प्रवृत्त और एक स्वद्रव्यमें प्रवृत्त। जो परिणाम परद्रव्यमें प्रवृत्त होता है उसे विशिष्ट परिणाम कहते हैं और स्वद्रव्यमें प्रवृत्त परिणाम परसे उपरक्त न होनेसे अविशिष्ट कहा जाता है। विशिष्ट परिणामके दो भेद हैं—शुभ और अशुभ।

---

१. 'सुह परिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये' ॥—प्रवचन. २।८९।

ननु मुमुक्षोः पापबन्धवत् पुण्यबन्धोऽपि कथमनुरोद्धव्यः स्यादिति वदन्तं प्रत्याह—

मुमुक्षोः समयाकर्तुः पुण्यादभ्युदयो वरम् ।
न पापाद्दुर्गतिः सह्यो बन्धोऽपि ह्यक्षयश्रिये ॥१५॥

समयाकर्तुः—कालं यापयतः । उदासीनज्ञानाकरणशीलस्य वा । वरं—मनागिष्टः । दुर्गतिः—नरकादिगतिर्मिथ्याज्ञानं दारिद्र्यं वा ।

पुण्य पौद्गलिक कर्मोंके बन्धमें निमित्त होनेसे शुभ परिणामको पुण्य कहते हैं और पाप-कर्मोंके बन्धमें कारण होनेसे अशुभ परिणामको पाप कहते हैं। और अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होनेसे एक रूप ही है। उसीसे दुःखोंका क्षय होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

तत्त्वार्थ सूत्र (६।३) में भी 'शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्य' लिखकर उक्त कथनका ही पोषण किया है। उसकी टीका सर्वार्थसिद्धि आदिमें भी यही कहा है। उसमें यह शंका की गयी है कि जो शुभ कर्मोंका कारण है वह शुभयोग है और जो अशुभ कर्मोंका कारण है वह अशुभ योग है। यदि ऐसा लक्षण किया जाये तो क्या हानि है? इसके समाधानमें कहा है—यदि ऐसा लक्षण किया जायेगा तो शुभयोगका ही अभाव हो जायेगा। क्योंकि आगममें कहा है कि जीवके आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोंका आस्रव सदा होता है। अतः शुभ-योगसे भी ज्ञानावरण आदि पापकर्मोंका बन्ध होता है। उक्त कथन घाति कर्मोंकी अपेक्षासे नहीं है अघाति कर्मोंकी अपेक्षा है। अघाति कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकार है। सो उनमें-से शुभयोगसे पुण्यकर्मका और अशुभसे पापकर्मका आस्रव होता है। शुभ परिणामसे होनेवाले योगको शुभ और अशुभ परिणामसे होनेवाले योगको अशुभ कहते हैं। इस तरह शुभ परिणामके द्वारा पुण्य प्रकृतियोंमें तीव्र अनुभागबन्ध और पाप प्रकृतियोंमें मन्द अनु-भागबन्ध होता है। इसीसे शुभ परिणामको पुण्यास्रवका कारण और पापका नाशक कहा है। आ. अमितगतिने कहा है—'किन्हींका कहना है कि आवश्यक कर्म नहीं करना चाहिए क्योंकि उनका करना निष्फल है। यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आवश्यकका फल प्रशस्त अध्यव-साय है और प्रशस्त अध्यवसायसे संचित कर्म उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे अग्निसे काष्ठ।' यह कथन आपेक्षिक है। आवश्यक करते समय यदि कर्ताकी वृत्ति केवल बाह्य क्रियाकी ओर ही उन्मुख है तो उस प्रशस्त अध्ययसायसे कर्मोंका विनाश सम्भव नहीं है। ऊपर कहा है कि दो तरहके परिणाम होते हैं स्वद्रव्यप्रवृत्त और परद्रव्यप्रवृत्त। परद्रव्य-प्रवृत्त परिणामके भेद ही अशुभ और शुभ परिणाम हैं। बाह्य क्रिया करते हुए भी कर्ताका जो परिणाम आत्मोन्मुख होता है वही परिणामांश संचित कर्मके विनाशमें हेतु होता है। उसके साहचर्यसे परद्रव्य प्रवृत्त शुभ परिणामको भी कर्मक्षयका कारण कह दिया जाता है। वस्तुतः वह पुण्यबन्धका ही कारण होता है॥१४॥

इसीसे यह शंका होती है कि पुण्यबन्ध भी तो बन्ध ही है। अतः जो मुमुक्षु है—बन्धसे छूटना चाहता है उससे पापबन्धकी तरह पुण्यबन्धका भी अनुरोध नहीं करना चाहिए। इसके समाधानमें कहते हैं—

वीतराग विज्ञानरूप परिणमन करनेमें असमर्थ मुमुक्षुके लिए पुण्यबन्धसे स्वर्ग आदिकी प्राप्ति उत्तम है, पापबन्ध करके दुर्गतिकी प्राप्ति उत्तम नहीं है। क्योंकि जो बन्ध अर्थात् पुण्यबन्ध शाश्वत लक्ष्मीकी ओर ले जाता है वह बन्ध होनेपर भी सहन करनेके योग्य है॥१५॥

यथाह—

'वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम् ।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥' [इष्टोप. श्लो. ३]

सह्य इत्यादि । अयमत्राभिप्रायः—यथा निर्व्याजभक्तिभाजोऽनुजीविनः स्वामिना कथमपि निगडिताः सन्तः पुनस्ततः शाश्वती-श्रियमिच्छन्तस्तद्भक्तिमेवोपचिन्वन्ति । तथा मुमुक्षवोऽपि शुद्धस्वात्मानुभूतिमविन्दन्तो जिनभक्तिभाविताः सन्तस्तदुपदिष्टां क्रिया चरन्तस्तन्निबन्धनं पुण्यबन्धमपवर्गलक्ष्मीसिद्धयङ्गध्यानसाधनसमर्थोत्तमसंहननादिनिमित्तत्वादभ्युपगच्छन्ति ॥१५॥

अथैवं कर्तव्यतया व्यवस्थापितस्यावश्यकस्य निर्वचनद्वारेणावतार्य लक्षणमुपलक्षयति—

**यद्व्याध्याविवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन तत् ।
आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिकं मुनेः ॥१६॥**

विशेषार्थ—यद्यपि पापबन्धकी तरह ही बन्ध होनेसे पुण्यबन्ध भी उपादेय नहीं है तथापि जो मुमुक्षु अपनेको वीतरागविज्ञानतामें स्थापित करनेमें असमर्थ होता है वह पुण्यबन्धके कारणभूत कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। जैसे निष्कपट भक्ति करनेवाले सेवक स्वामीके द्वारा किसी भी प्रकारसे बन्धनमें डाल दिये जानेपर भी उससे शाश्वत लक्ष्मीकी प्राप्तिकी इच्छा रखते हुए उसकी भक्ति ही करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षु भी शुद्ध स्वात्मानुभूतिको न प्राप्त करनेपर जिनभक्तिमें तत्पर होते हुए जिन भगवान्के द्वारा कही गयी क्रियाओंको करते हैं और उससे होनेवाले पुण्यबन्धको इसलिए स्वीकार करते हैं कि पुण्यबन्धके निमित्तसे उत्तम संहनन आदि प्राप्त होते हैं जो मोक्षरूपी लक्ष्मीकी सिद्धिके कारण ध्यानकी साधनामें समर्थ होते हैं। अर्थात् सांसारिक सुखकी चाहसे पुण्यबन्ध निकृष्ट है किन्तु मुक्ति सुखकी चाहसे हुआ पुण्यबन्ध निकृष्ट नहीं है। यद्यपि मोक्षमार्गमें लगनेपर भी अयाचित पुण्यबन्ध होता है क्योंकि नीचेकी भूमिकामें स्थित मुमुक्षु सर्वदा स्वात्मोन्मुख नहीं रह सकता अतः वह अशुभोपयोगसे बचनेके लिए शुभोपयोग करता है और उससे पुण्यबन्ध होता है। इस पुण्यबन्धसे भी वह यही चाहता है कि उसे उत्तम कुल, उत्तम जाति, मनुष्य जन्म, श्रावक कुल आदि प्राप्त हो जिससे मैं मोक्षकी साधना कर सकूँ। अतः पुण्यबन्धके साथ यह भावना उत्तम है। इसीसे सम्यग्दृष्टिके पुण्यको परम्परासे मोक्षका कारण कहा है। किन्तु पुण्यबन्धसे मोक्ष नहीं होता, मोक्ष तो पुण्यबन्धके निरोधसे होता है। पुण्यकी उपादेयता केवल पापसे बचनेके लिए है। इष्टोपदेशमें कहा है—'व्रतोंका आचरण करके उसके द्वारा होनेवाले पुण्यबन्धसे मरकर स्वर्गमें देवपद पाना श्रेष्ठ है किन्तु व्रतोंको न अपनाकर हिंसा आदि कार्योंके द्वारा पापकर्म करके नरकमें नारकी होना उत्तम नहीं है। छायामें बैठकर दूसरेकी प्रतीक्षा करनेवाले और धूपमें खड़े होकर दूसरेकी प्रतीक्षा करनेवाले मनुष्योंमें बड़ा भारी अन्तर है।' कुन्दकुन्दाचार्यने मोक्षपाहुड (गा. २५) में भी ऐसा ही कहा है। अतः पुण्यबन्धके भयसे व्रतादिका पालन न करना उचित नहीं है ॥१५॥

इस प्रकार मुनिके लिए आवश्यक करना आवश्यक है यह स्थापित करके निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं—

रोग आदिसे पीड़ित होनेपर भी इन्द्रियोंके अधीन न होकर मुनिके द्वारा जो दिन-रात के कर्तव्य किये जाते हैं उन्हें आवश्यक कहते हैं। जो 'वश्य' अर्थात् इन्द्रियोंके अधीन नहीं होता है उसे अवश्य कहते हैं। और अवश्यके कर्मको आवश्यक कहते हैं ॥१६॥

अवश्यस्य—व्याध्युपसर्गाद्यभिभूतस्य इन्द्रियानायत्तस्य वा ॥१६॥

अथावश्यकभेदोद्देशार्थमाह—

सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दना प्रतिक्रमणम् ।
प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चावश्यकस्य षड्भेदाः ॥१७॥

स्पष्टम् ॥१७॥

अथ निक्षेपरहितं शास्त्रं व्याख्यायमानं वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति नामादिषु षट्सु पृथक् निक्षिप्तानां सामायिकादीनां षण्णामप्यनुष्ठेयतामुपदिशति—

नामस्थापनयोर्द्रव्यक्षेत्रयोः कालभावयोः ।
पृथग्निक्षिप्य विधिवत्साध्याः सामायिकादयः ॥१८॥

विधिवत्—आवश्यकनिर्युक्तिनिरूपितविधानेन ॥१८॥

विशेषार्थ—यहाँ 'आवश्यक' शब्दकी निरुक्ति और लक्षण दोनों कहे हैं। वश्य उसे कहते है जो किसीके अधीन होता है और जो ऐसा नहीं होता उसे अवश्य कहते हैं और उसके कर्मको आवश्यक कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने भी कहा है—जो अन्यके वशमें नहीं है उसके कर्मको आवश्यक कहते हैं। जो मुनि अन्यके वशमें होता है वह अशुभ भावरूपसे वर्तन करता है उसका कर्म आवश्यक नहीं हो सकता। अर्थात् जो श्रमणाभास द्रव्यलिंगी राग आदि अशुभभाव रूपसे वर्तन करता है वह परद्रव्यके वशमें होता है। वह केवल भोजनके लिए द्रव्यलिंग ग्रहण करके आत्मकार्यसे विमुख हो, तपश्चरण आदिसे भी उदासीन होकर जिनमन्दिर और उसकी भूमि आदिका स्वामी बन बैठता है यह नियमसारकी टीकामें पद्मप्रभ मलधारि देवने लिखा है जो उनके समयके मठाधीश साधुओंकी ओर संकेत है। अतः इन्द्रियोंके अधीन जो नहीं है ऐसा साधु जो जिनेन्द्रके द्वारा कथित आवश्यकोंका आचरण करता है उन्हें आवश्यक कहते हैं ॥१६॥

आवश्यकके भेद कहते हैं—

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये आवश्यकके छह भेद हैं ॥१७॥

निक्षेपके बिना किया गया शास्त्रका व्याख्यान वक्ता और श्रोता दोनोंको ही उन्मार्गमें ले जाता है। अतः नाम आदि छह निक्षेपोंमें पृथक्-पृथक् निक्षेप करके सामायिक आदि छह आवश्यकोंका व्याख्यान करनेका उपदेश करते हैं—

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें पृथक्-पृथक् निक्षेप करके सामायिक आदि छह आवश्यकोंका आवश्यकनिर्युक्तिमें कही हुई विधिके अनुसार व्याख्यान करना चाहिए ॥१८॥

---

१. 'सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं ।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ॥'—मूलाचार गा. ५१६ ।

२. 'णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य ।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेवो छव्विहो णेओ ॥'—मूला. ५१८ गा. ।

३. 'ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा ॥'—नियमसार १४२ गा. ।
'जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥'—नियमसार १४१ गा. ।

अथ सामायिकस्य निरुक्त्या लक्षणमालक्षयति—

रागाद्यबाधबोधः स्यात् समायोऽस्मिन्निरुच्यते ।
भवं सामायिकं साम्यं नामादौ सत्यसत्यपि ॥१९॥

समाय इत्यादि । समो रागद्वेषाभ्यामबाध्यमानोऽयो बोधः समायः । अस्मिन्—समाये उपयुक्त नोआगमभावसामायिकाख्ये भवं सामायिकं तत्परिणतनोआगमभावसामायिकाख्यम् । निरुच्यते—अर्थानुगतं कथ्यत इत्यर्थः । साम्यं—समस्य कर्म, शुद्धचिन्मात्रसंचेतनम् । सति—प्रशस्ते । असति—अप्रशस्ते । तथाहि—नामसामायिकं शुभाशुभनामानि श्रुत्वा रागद्वेषवर्जनम् । स्थापनासामायिकं यथोक्तमानोन्मानादिगुणमनोहरास्वितरासु च स्थापनासु रागद्वेषनिषेधः । द्रव्यसामायिकं सुवर्णमृत्तिकादिद्रव्येषु रम्यारम्येषु समदर्शित्वम् । क्षेत्रसामायिकमारामकण्टकवनादिषु च शुभाशुभक्षेत्रेषु समभावः । कालसामायिकं वसन्तग्रीष्मादिषु

विशेषार्थ—आगममें किसी भी वस्तुका व्याख्यान निक्षेपपूर्वक करनेका विधान है। उससे अप्रकृतका निराकरण होकर प्रकृतका निरूपण होता है। जैसे सामायिकके छह प्रकार होते हैं—नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक। इसी तरह चतुर्विंशतिस्तव आदिके भी छह निक्षेपोंकी अपेक्षा छह-छह प्रकार होते हैं। ये सब मिलकर छत्तीस प्रकार होते हैं। जहाँ जिसकी विवक्षा हो वहाँ उसका ग्रहण करना चाहिए ॥१८॥

सामायिकका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं—

राग द्वेषसे अबाध्यमान ज्ञानको समाय कहते हैं। उसमें होनेवाले साम्यभावको सामायिक कहते हैं। प्रशस्त और अप्रशस्त नाम स्थापना आदिमें राग द्वेष न करना साम्य है ॥१९॥

विशेषार्थ—सामायिक शब्द सम और अयके मेलसे निष्पन्न हुआ है। समका अर्थ होता है राग और द्वेषसे रहित। तथा अयका अर्थ होता है ज्ञान। अतः राग द्वेषसे रहित ज्ञान समाय है और उसमें जो हो वह सामायिक है। यह सामायिक शब्दका निरुक्ति परक अर्थ है। इसे साम्य भी कहते हैं। समके कर्मको साम्य कहते हैं। वह है शुद्ध चिन्मात्रका संचेतन या अनुभवन। राग द्वेषके दूर हुए विना शुद्ध चिन्मात्रका संचेतन हो नहीं सकता। कहा है—जिसका मन रूपी जल राग द्वेष आदि लहरोंसे रहित है वह आत्माके तत्त्वका अनुभवन करता है और जिसका मन राग द्वेषसे आकुल है वह आत्मतत्त्वका अनुभवन नहीं कर सकता। अच्छी या बुरी वस्तुओंके विषयमें राग द्वेष न करना साम्य है। जाति, द्रव्य, गुण, क्रियाकी अपेक्षा विना किसीका नाम सामायिक रखना नाम सामायिक निक्षेप है। अच्छे बुरे नामोंको सुनकर राग द्वेष न करना नाम सामायिक है। जो मनुष्य सामायिक आवश्यकमें संलग्न है उसके आकारवाली या उसके समान आकार न रखनेवाली किसी वस्तुमें उसकी स्थापना स्थापना सामायिक निक्षेप है। और वह स्थापना यदि समीचीन में हो तो उससे राग नहीं करना और असुन्दर वस्तुमें हो तो उससे द्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है। जो भविष्यमें सामायिक रूपसे परिणत होगा या हो चुका है उसे द्रव्य सामायिक निक्षेप कहते हैं। उसके दो भेद हैं—आगम द्रव्य सामायिक और नोआगम

---

१. 'रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः ॥'—समाधितं., ३५ श्लो. ।

ऋतुषु दिनरात्रिसितासितपक्षादिषु च यथास्वं चार्वचारुषु रागद्वेषानुद्भवः। भावसामायिकं सर्वजीवेषु मैत्रीभावोऽशुभपरिणामवर्जनं वा। तथा 'अपि'शब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादयमप्यर्थो वक्तव्यः। जातिद्रव्यक्रियागुणनिरपेक्षं संज्ञाकरणं सामायिकशब्दमात्रं नामसामायिकम्। सामायिकावश्यकपरिणतस्य तदाकारेऽतदाकारे वा वस्तुनि गुणारोपणं स्थापनासामायिकम्। द्रव्यसामायिकं भविष्यत्परिणामाभिमुखमतीततत्परिणामं वा वस्तु द्रव्यं तस्य सामायिकम्। तच्च द्विविधमागमद्रव्यसामायिकं नोआगमद्रव्यसामायिकं चेति। सामायिकवर्णकप्राभृतज्ञायी जीवोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यसामायिकम्। नोआगमद्रव्यसामायिकं तु त्रिविधं सामायिकवर्णकप्राभृतज्ञायकशरीर-भाविजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन। ज्ञातुः शरीरं त्रिधा भूतवर्तमानभविष्यद्भेदात्। भूतमपि त्रिधा च्युतं च्यावितं त्यक्तं चेति। पक्वफलमिवायुषः क्षयेण पतितं च्युतम्। कदलीघातेन पतितं च्यावितम्। त्यक्तं पुनस्त्रिधा भक्तप्रत्याख्यानेङ्गिनीपादोपगमनमरणैः। भक्तप्रत्याख्यानमपि त्रिधा उत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात्। उत्कृष्टभक्तत्यागस्य प्रमाणं द्वादशवर्षाणि। जघन्यस्यान्तर्मुहूर्तम्। तयोरन्तराल मध्यमस्य। भाविकाले सामायिकप्राभृतज्ञायिजीवो भाविनोआगमद्रव्यसामायिकम्। तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनोकर्मभेदेन। सामायिकपरिणतजीवेनार्जितं तीर्थंकरादिशुभप्रकृतिस्वरूपं नोआगमतद्व्यतिरिक्तं द्रव्यसामायिकम्। नोकर्मतद्व्यतिरिक्तं तु द्रव्यसामायिकं तु त्रिविधं सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्। सचित्तमुपाध्यायः। अचित्तं पुस्तकम्। उभयस्वरूप मिश्रम्। क्षेत्रसामायिकं सामायिकपरिणतजीवाधिष्ठितं स्थानमूर्जयन्तचम्पापुरादि। कालसामायिकं यस्मिन् काले सामायिकस्वरूपेण परिणतो जीवः स कालः पूर्वाह्णापराह्णमध्याह्नादिभेदभिन्नः। भावसामायिकं

द्रव्य सामायिक। जिस शास्त्रमें सामायिकका वर्णन है उस शास्त्रका ज्ञाता जब उसमें उपयुक्त नहीं होता तब उसे आगम द्रव्य सामायिक कहते हैं। नोआगम द्रव्य सामायिकके तीन भेद हैं—सामायिकका वर्णन करनेवाले शास्त्रके ज्ञाताका शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। ज्ञाताका शरीर भूत, वर्तमान और भविष्यके भेदसे तीन प्रकार है। भूत शरीरके भी तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। पके हुए फलकी तरह आयुका क्षय होनेसे जो शरीर स्वयं छूट गया उसे च्युत कहते हैं। जो शरीर अकालमें मरणसे छूटा उसे च्यावित कहते हैं। त्यक्त शरीरके भक्त प्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण, पादोपगमनमरणके भेदसे तीन भेद हैं। भक्त प्रत्याख्यानके भी तीन भेद हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। भोजनत्यागका उत्कृष्टकाल बारह वर्ष है, जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और दोनोंके बीचका काल मध्यम है। जो जीव भविष्यमें सामायिक विषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा वह भावि नोआगम द्रव्य सामायिक है। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं—कर्म और नोकर्म। सामायिक करते हुए जीवके द्वारा उपार्जित तीर्थंकर आदि शुभ प्रकृतियोंको नोआगम द्रव्य कर्म तद्व्यतिरिक्त कहते हैं। नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नामक द्रव्य सामायिक निक्षेपके तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। उपाध्याय सचित्त है, पुस्तक अचित्त है और जो दोनों रूप हो वह मिश्र है। यह सब द्रव्य सामायिक निक्षेपके भेद हैं। सुवर्ण, मिट्टी आदि सुन्दर और असुन्दर द्रव्योंमें राग-द्वेष न करना द्रव्य सामायिक है। सामायिक करते हुए जीवोंसे युक्त स्थान चम्पापुर, गिरिनार आदि क्षेत्र सामायिक है। तथा उद्यान, कँटीला जंगल आदि रमणीक और अरमणीक क्षेत्रोंमें राग-द्वेष न करना क्षेत्र सामायिक है। जिस कालमें सामायिक की जाती है वह काल सामायिक है। वह प्रातः, मध्याह्न और शामके भेदसे तीन प्रकार है। तथा वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओंमें, दिन-रातमें, शुक्ल और कृष्णपक्ष आदिमें राग-द्वेष न करना कालसामायिक है। वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं। उसकी सामायिक भाव सामायिक निक्षेप है। उसके दो भेद हैं—आगम भाव सामायिक और नोआगम भाव सामायिक। सामायिक विषयक शास्त्रका जो

वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः। तस्य सामायिकं (-भावसामायिकं तच्च-) द्विविधमागमभावसामायिकं नोआगमभावसामायिकं चेति। सामायिकवर्णकप्राभृतकज्ञायक उपयुक्तो जीव आगमभावसामायिकम्। नोआगमभावसामायिकं द्विविधमुपयुक्ततत्परिणतभेदात्। (सामायिकप्राभृतकेन विना सामायिकार्थेषूपयुक्तो जीवः उपयुक्तनोआगमभाव-) सामायिकम्। रागद्वेषाद्यभावस्वरूपेण परिणतो जीवस्तत्परिणतनोआगमभाव-सामायिकम्। एष न्यायो यथास्वमुत्तरेष्वपि योज्यः। अथैषां षण्णामपि मध्ये आगमभावसामायिकेन नोआगम-भावसामायिकेन च प्रयोजनमिति ॥१९॥

निरुक्त्यन्तरेण पुनर्भावसामायिकं लक्षयन्नाह—

समयो दृग्ज्ञानतपोयमनियमादौ प्रशस्तसमगमनम्।
स्यात् समय एव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठणा ॥२०॥

समयः—अत्र समितिप्राशस्त्य एकीभावे च विवक्षित.। अय इति गमने। नियमादौ आदिशब्देन परीषहकषायेन्द्रियजयसंज्ञादुर्लेश्यादुर्ध्यानवर्जनादिपरिग्रहः। समं समानमेकत्वेनेत्यर्थः। ठाणा 'विनयादेष्ठण्' इत्यनेन विहितेन। उक्तं च—

'सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयं तु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणे ॥' [मूलचार. गा. ५१९] इत्यादि ॥२०॥

ज्ञाता उसमें उपयुक्त है वह आगम भाव सामायिक है। नोआगम भाव सामायिकके दो भेद हैं—उपयुक्त और तत्परिणत। सामायिक विषयक शास्त्रके बिना सामायिकके अर्थमें उपयुक्त जीवको उपयुक्त नोआगम भाव सामायिक कहते हैं। तथा राग-द्वेषके अभाव रूपसे परिणत जीव तत्परिणत नोआगम भाव सामायिक है। तथा सब जीवोंमें मैत्रीभाव और अशुभ परिणामका त्याग भाव सामायिक है। यहाँ उक्त छह प्रकारकी सामायिकोंमें-से आगम भाव सामायिक और नोआगमभाव सामायिकसे प्रयोजन है ॥१९॥

आगे अन्य प्रकारसे निरुक्ति करके भाव सामायिकका लक्षण कहते हैं—

दर्शन, ज्ञान, तप, यम, नियम आदिके विषयमें प्रशस्त एकत्व रूपसे गमन करनेको समय कहते हैं। और समय ही सामायिक है इस प्रकार समय शब्दसे स्वार्थमें ठण् प्रत्यय होकर सामायिक शब्द बनता है ॥२०॥

विशेषार्थ—सम् और अयके मेलसे समय शब्द निष्पन्न होता है। सम् शब्दके दो अर्थ होते हैं—प्रशस्तता और एकत्व। तथा अयका अर्थ होता है गमन। 'आदि' शब्दसे परीषह, कषाय और इन्द्रियोंको जीतना, संज्ञा, खोटा ध्यान, अशुभ लेश्याओंका त्याग आदि लेना चाहिए। अतः दर्शन, ज्ञान, तप, यम, नियम, परीषहजय, कषायजय, इन्द्रियजय आदि-के विषयमें प्रशस्त एकत्वरूपसे परिणत होना अर्थात् राग-द्वेष आदि न करना समय है और समय ही सामायिक है इस तरह संस्कृत व्याकरणके अनुसार समय शब्दसे स्वार्थमें ठण् प्रत्यय करके और ठण्के स्थानमें इक् होकर सामायिक शब्द बनता है।

मूलाचारमें कहा है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम और तपके साथ जो एकमेकपना है अर्थात् जीवका उन रूपसे परिणमन है उसे समय कहते हैं और समयको ही सामायिक जानो ॥२०॥

१-२. भ. कु. च.।

अथ पञ्चदशभिः श्लोकैः सामायिकाध्ययनविधिमभिधातुकामः प्रथमं तावन्नामसामायिकं भावयन्नाह—

शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहतः।
स्वमवाग्लक्षणं पश्यन्न रतिं यामि नारतिम् ॥२१॥

अवाग्लक्षणं—लक्ष्यते इति लक्षणं लक्षणीयं विषय इति यावत्। वाचा लक्षणं वाग्लक्षणम्। न तथा, वाचामविषय इत्यर्थः।

यथाह—

'यज्जानन्नपि बुद्धिमानपि गुरुः शक्तो न वक्तुं गिरा
प्रोक्तं चेन्न तथापि चेतसि नृणां सम्माति चाकाशवत्।
यत्र स्वानुभवस्थितेऽपि विरला लक्ष्यं लभन्ते चिरात्
तन्मोक्षैकनिबन्धनं विजयते चित्तत्वमत्यद्भुतम् ॥' [पद्म. पञ्च. १०।१]

अथवा न वाक्शब्दो लक्षणं स्वरूपं यस्य सोऽवाग्लक्षणस्तम्, अशब्दात्मकमित्यर्थः। यथाह—अरसमरूवमित्यादि ॥२१॥

अथ स्थापनासामायिकं भावयन्नाह—

यदियं स्मरयत्यर्चा न तदप्यस्मि किं पुनः।
इयं तदस्यां सुस्थेति धीरसुस्थेति वा न मे ॥२२॥

आगे पन्द्रह श्लोकोंसे सामायिक करनेकी विधिको कहनेकी इच्छासे सर्वप्रथम नाम सामायिकको कहते हैं—

अज्ञानवश किसी मित्रके द्वारा प्रशस्त नाम लिये जानेपर मैं उससे राग नहीं करूँगा और शत्रुके द्वारा बुरा नामका प्रयोग किये जानेपर उससे द्वेष नहीं करूँगा क्योंकि मैं वचनके गोचर नहीं हूँ। यह नाम सामायिक है ॥२१॥

विशेषार्थ—प्रायः मनुष्य किसीके द्वारा अपना नाम आदरपूर्वक लिये जानेपर प्रसन्न होते हैं और निरादरपूर्वक लिये जानेपर नाराज होते हैं। ऐसा न करना नाम सामायिक है क्योंकि आत्मा तो शब्दका विषय नहीं है। पद्म. पञ्च. में कहा है—'जिस चेतन तत्त्वको जानता हुआ भी और बुद्धिमान् भी गुरु वाणीके द्वारा कहनेके लिए समर्थ नहीं है, तथा यदि कहा भी जाये तो भी जो आकाशके समान मनुष्योंके हृदयमें समाता नहीं है, तथा जिसके स्वानुभवमें स्थित होते हुए भी विरले ही मनुष्य दीर्घकालके पश्चात् लक्ष्य मोक्षको प्राप्त कर पाते हैं, वह मोक्षका एकमात्र कारण आश्चर्यजनक चेतन तत्त्व जयवन्त होवे।'

'अवाग्लक्षण'का दूसरा अर्थ यह भी होता है कि उसका लक्षण शब्द नहीं है अर्थात् अशब्दात्मक है। आचार्य कुन्दकुन्दने कहा भी है—जीव रस-रूप और गन्धसे रहित है, अव्यक्त है, चेतना गुणसे युक्त है, शब्दरूप नहीं है, किसी चिह्नसे उसका ग्रहण नहीं होता, तथा उसका आकार कहा नहीं जा सकता ॥२१॥

स्थापना सामायिककी भावना कहते हैं—

यह सामने विराजमान प्रतिमा मुझे जिस अर्हन्त स्वरूपका स्मरण कराती है मैं उस अर्हन्त स्वरूप भी नहीं हूँ तब इस प्रतिमास्वरूप तो मैं सर्वथा ही नहीं हूँ। इसलिये मेरी बुद्धि इस प्रतिमामें न तो सम्यक् रूपसे ठहरी ही हुई है और न उससे विपरीत ही है ॥२२॥

---

१. 'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं'॥—समयसार, ४९ गा.

यत्—अर्हदादिस्वरूपम् । अर्चा—प्रतिमा । सुस्था—यथोक्तमानोन्मानादियुक्तत्वात् ॥२२॥

अथ द्रव्यसामायिकं भावयन्नाह—

साम्यागमज्ञतद्देहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ ।
तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद्ग्रहः ॥२३॥

साम्यागमज्ञः—

'जीवियमरणे लाहालाहे संजोयविप्पओए य ।
बंधु अरि सुह दुहे वि य समदा सामाइयं णाम ॥' [मूलाचार, गा. २३]

इत्यादि सामायिकप्राभृतकस्य ज्ञाता जीवस्तदनुपयुक्तः । तद्विपक्षौ—भाविजीवः कर्मनोकर्मद्वयं च । तत्राद्यो ज्ञास्यमानसाम्यागमः । कर्म पुनः साम्ययुक्तेनार्जितं तीर्थकरादिकम् । नोकर्म तु साम्यागमोपाध्यायस्तत्पुस्तकस्तद्युक्तोपाध्यायश्चेत्यादि । यादृशौ तादृशौ—शुभावशुभौ वेत्यर्थः । स्तां—भवताम् । स्वद्रव्यवत् । अन्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा दृष्टान्तोऽयम् । आरब्धयोगस्यैव हि स्वद्रव्यमात्रेऽभिनिवेशोऽभ्यनुज्ञायते । निष्पन्नयोगस्य तु तत्रापि तत्प्रतिषेधात् ।

तथा चोक्तम्—

'मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कर्मजालकलितोऽहमित्यपि ।
निर्विकल्पपदवीमुपाश्रयन् संयमी हि लभते परं पदम् ॥' [पद्म. पञ्च. १०।१८]

अपि च—

'यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत्तत्तदेव सहसा परित्यजेत् ।
इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पदं तदा ॥' [पद्म पञ्च., १०।१६]

विशेषार्थ—अर्हन्तकी प्रतिमाके शास्त्रोक्त रूपको देखकर उससे राग नहीं करना और विपरीत रूपको देखकर द्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है। उसीकी भावना ऊपर कही है। सुन्दर आकार विशिष्ट प्रतिमाको देखकर दर्शकको अर्हन्तके स्वरूपका स्मरण होता है किन्तु दर्शक तो अभी अर्हन्तस्वरूप नहीं है, और प्रतिमास्वरूप तो वह है ही नहीं क्योंकि प्रतिमा तो जड़ है। इस तरह वह प्रतिमामें अपनी बुद्धिको न तो स्थिर ही करता है और न उससे हटाता ही है अर्थात् प्रतिमाको देखकर रागाविष्ट नहीं होता ॥२२॥

आगे द्रव्य सामायिककी भावना कहते हैं—

सामायिक विषयक शास्त्रका ज्ञाता किन्तु उसमें अनुपयुक्त जीव और उसका शरीर तथा उनके विपक्षी भावि जीव और कर्म-नोकर्म, ये जैसे अच्छे या बुरे हों, रहें, मुझे उनसे क्या, क्योंकि वे तो परद्रव्य हैं। स्वद्रव्यकी तरह परद्रव्यमें मेरा अभिनिवेश कैसे हो सकता है ? ॥२३॥

विशेषार्थ—ऊपर द्रव्य सामायिकके दो भेद कहे हैं—आगम द्रव्य सामायिक और नोआगम द्रव्य सामायिक। सामायिकविषयक शास्त्रका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त नहीं है वह आगम द्रव्य सामायिक है। उसका शरीर नोआगम द्रव्य सामायिकका एक भेद है। इनके विपक्षी हैं नोआगम द्रव्य सामायिकके शेष भेद भाविजीव, जो आगे सामायिकविषयक शास्त्रको जानेगा। तथा कर्म नोकर्म। सामायिकके द्वारा उपार्जित तीर्थंकरत्व आदि कर्म है तथा सामायिक विषयक आगमको पढ़ानेवाला उपाध्याय, पुस्तक आदि नोकर्मतद्व्यतिरिक्त है। इनमें किसी प्रकारका अच्छा या बुरा अभिनिवेश न करना द्रव्य सामायिक है। क्योंकि ये सब परद्रव्य हैं। सामायिक करते हुए के परद्रव्यमें अभिनिवेश कैसा ? यहाँ

तथा—

'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगतः कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना ।
आसितव्यमनिशं प्रयत्नतः स्वं परं सदृशमेव पश्यता ॥' [पद्म. पञ्च. १०।४४]

ग्रहः—शुभाशुभाभिनिवेशः ॥२३॥

अथ क्षेत्रसामायिकं भावयन्नाह—

राजधानीति न प्रीये नारण्यानीति चोद्विजे ।
देशो हि रम्योऽरम्यो वा नात्मारामस्य कोऽपि मे ॥२४॥

प्रीये—रज्याम्यहम् । अरण्यानी—महारण्यम् । उद्विजे—उद्वेगं याम्यहम् । आत्मारामस्य—आत्मैव आराम उद्यानं रतिस्थानं यस्य, अन्यत्र गतिप्रतिबन्धकत्वात् । यथाह—

'यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम् ।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥' [इष्टोप. श्लो. ४३]

तथा—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मना निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥' [समा. तन्त्र, श्लो. ७३]

अथवा आत्मनोऽप्यारामो निवृत्तिर्यस्येति ग्राह्यम् ॥२४॥

जो 'स्वद्रव्यवत्' दृष्टान्त दिया है वह अन्वय रूपसे भी घटित होता है और व्यतिरेक रूपसे भी घटित होता है। जो योगका अभ्यासी होता है वह तो स्वद्रव्यमें अभिनिवेश रखता है किन्तु जो उसमें परिपक्व हो जाता है उसके लिए स्वद्रव्यमें अभिनिवेश भी त्याज्य है। पद्म. पञ्च. में कहा है—वास्तवमें 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा विकल्प भी नहीं करना चाहिए और मैं कर्मोंके समूहसे वेष्टित हूँ ऐसा भी विकल्प नहीं करना चाहिए। क्योंकि संयमी निर्विकल्प पदवीको प्राप्त करके ही मोक्षको प्राप्त करता है। और भी कहा है—जो-जो विकल्प मनमें आकर ठहरता है उस-उसको तत्काल ही छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार जब यह विकल्पोंके त्यागकी पूर्णता हो जाती है तब मोक्षपद भी प्राप्त हो जाता है। सब कर्मोंकी सिद्धि अन्तरंग और बहिरंग योगसे होती है। इसलिए योगीको निरन्तर प्रयत्नपूर्वक स्व और परको समदृष्टिसे देखना चाहिए ॥२३॥

क्षेत्र सामायिककी भावना कहते हैं—

यह राजधानी है, इसमें राजा रहता है ऐसा मानकर मैं राग नहीं करता और यह बड़ा भारी वन है ऐसा मानकर मैं द्वेष नहीं करता। क्योंकि मेरा आत्मा ही मेरा उद्यान है अतः अन्य कोई देश न मेरे लिए रमणीक है और न अरमणीक ॥२४॥

विशेषार्थ—वास्तवमें प्रत्येक द्रव्यका क्षेत्र उसके अपने प्रदेश हैं, निश्चयसे उसीमें उस द्रव्यका निवास है। बाह्य क्षेत्र तो व्यावहारिक है, वह तो बदलता रहता है, उसके विनाशसे आत्माकी कुछ भी हानि नहीं होती। अतः उसीमें रति करना उचित है। पूज्यपाद स्वामीने कहा है—'जिन्हें आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई उनका निवास गाँव और वनके भेदसे दो प्रकारका है। किन्तु जिन्हें आत्मस्वरूपके दर्शन हुए हैं उनका निवास रागादिसे रहित निश्चल आत्मा ही है।'

'जो जहाँ रहता है वह वहीं प्रीति करता है। और जो जहाँ प्रीति करता है वह वहाँसे अन्यत्र नहीं जाता। अतः जिसका रतिस्थान आत्मा ही है वह बाह्य देशमें रति या अरति

[इतः परं त्रिंशत्संख्यकश्लोकपर्यन्तं टीका नास्ति]

नामूर्तत्वाद्धिमाद्यात्मा कालः किं तर्हि पुद्गलः ।
तथोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहम् ॥२५॥
सर्वे वैभाविका भावा मत्तोऽन्ये तेष्वतः कथम् ।
चिच्चमत्कारमात्रात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम् ॥२६॥
जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये ।
बन्धावरौ सुखे दुःखे साम्यमेवाभ्युपैम्यहम् ॥२७॥

नहीं करता।' अथवा आराम शब्दका अर्थ निवृत्ति भी होता है। अतः आत्मासे भी जिसकी निवृत्ति है वह आत्माराम है ऐसा अर्थ भी लिया जाता है क्योंकि वास्तवमें स्वात्मामें भी रति रागरूप होनेसे मोक्षके लिए प्रतिबन्धक है अतः मुमुक्षु स्वात्मामें भी रति नहीं करता ॥२४॥

काल सामायिककी भावना कहते हैं—

कालद्रव्य हेमन्त, ग्रीष्म या वर्षाऋतुरूप नहीं है क्योंकि वह तो अमूर्तिक है उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है। किन्तु लोग मूर्त पुद्गल द्रव्यमें कालका व्यवहार करते हैं। उस मूर्त पुद्गल द्रव्यका विषय मैं कभी भी नहीं हूँ ॥२५॥

विशेषार्थ—निश्चय कालद्रव्य तो अमूर्तिक है। अतः लोकमें जो शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु आदिको काल कहा जाता है वह तो उपचरित व्यवहार काल है, जो ज्योतिषी देवोंके गमन आदिसे और पौद्गलिक परिवर्तनसे जाना जाता है। अतः पौद्गलिक है। पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवाला होनेसे मूर्तिक है। अतः यह आत्मा उससे सम्बद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा चित्स्वरूप है। द्रव्यसंग्रहमें कहा है कि शुद्ध निश्चयनयसे सब जीव सिद्ध समान शुद्ध होते हैं। ऐसी स्थितिमें ऋतुओंमें रागद्वेष कैसे किया जा सकता है। वह तो पुद्गलोंका परिवर्तन है ॥२५॥

इस प्रकार क्रमसे नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक और काल सामायिकको कहकर भाव सामायिकको कहते हैं—

तत्त्वदृष्टिसे मेरा स्वरूप तो चेतनाका चमत्कार मात्र है। शेष सभी औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव वैभाविक होनेसे मुझसे भिन्न हैं। अतः मैं उनमें कैसे रागद्वेष कर सकता हूँ ॥२६॥

विशेषार्थ—जीवके पाँच भावोंमें स्वाभाविक भाव केवल एक पारिणामिक है शेष चारों भाव औपाधिक हैं। उनमें औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव तो कर्मजनित हैं। क्षायिक भाव केवलज्ञानादि रूप जीवका यद्यपि स्वभाव है फिर भी कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेसे उपचारसे कर्मजनित कहा जाता है। एक शुद्ध पारिणामिक ही साक्षात् कर्म निरपेक्ष है ॥२६॥

आगे नौ श्लोकोंसे भावसामायिकका ही विस्तारसे कथन करते हैं—

मैं जीवनमें, मरणमें, लाभमें, अलाभमें, संयोगमें, वियोगमें, बन्धुमें, शत्रुमें और सुखमें, दुःखमें साम्य भाव ही रखता हूँ ॥२७॥

विशेषार्थ—रागद्वेषके त्यागको साम्यभाव कहते हैं। अतः मैं जीवनमें राग और मरणमें द्वेषका त्याग करता हूँ। लाभमें राग और अलाभमें द्वेषका त्याग करता हूँ। इष्ट संयोगमें

कायकारान्दुकायाऽहं स्पृहयामि किमायुषे।
तद्दुःखक्षणविश्रामहेतोर्मृत्योर्बिभेमि किम् ॥२८॥
लाभे दैवयशःस्तम्भे कस्तोषः पुम्भवस्पदे।
को विषादस्त्वलाभे मे दैवलाघवकारणे ॥२९॥
योगो ममेष्टैः संकल्पात् सुखोऽनिष्टैर्वियोगवत्।
कष्टश्चेष्टैर्वियोगोऽन्यैर्योगवन्न तु वस्तुतः ॥३०॥

वस्तुतः अन्यैः अनिष्टैः ॥३०॥

राग और इष्ट वियोगमें द्वेषका त्याग करता हूँ। उपकारक मित्रमें राग और अपकारक शत्रुमें द्वेषका त्याग करता हूँ। तथा सुखमें राग और दुःखमें द्वेषका त्याग करता हूँ ॥२७॥

आगे जीवनकी आशा और मरणके भयका निराकरण करते हैं—

भवधारणमें कारण आयुकर्म शरीररूपी जेलखानेमें रोके रखनेके लिए लोहेकी साँकलके समान है, उसकी मैं क्यों इच्छा करूँगा। और मृत्यु उस शरीररूपी जेलखानेके कष्टसे क्षण-भरके लिए विश्रामका कारण है। उससे मैं क्यों डरूँगा ॥२८॥

विशेषार्थ—आयुकर्मके बिना जीवन नहीं रहता। अतः जीवनकी इच्छा प्रकारान्तरसे आयुकर्मकी ही इच्छा करना है। उसीके कारण यह जीव इस शरीररूपी जेलखानेमें बन्द रहता है। अतः कौन बुद्धिमान् ऐसे कर्मकी इच्छा करेगा। मृत्यु ही ऐसा मित्र है जो इस जेलखानेके कष्टसे कुछ क्षणोंके लिए छुटकारा दिलाती है क्योंकि जब जीव पूर्व शरीरको छोड़कर नया शरीर धारण करनेके लिए विग्रह गतिसे गमन करता है तो एक मोड़ा लेनेपर एक समय तक, दो मोड़े लेनेपर दो समय तक और तीन मोड़े लेनेपर तीन समय तक औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके न रहनेसे शरीररूपी जेलखानेसे मुक्ति रहती है। अतः मृत्युसे डरनेका कोई कारण नहीं है ॥२८॥

लाभ और अलाभमें हर्ष और विषादका निषेध करते हैं—

जो लाभ दैवका कीर्तिस्तम्भ और पुरुषकी निन्दाका घर है उसके होनेपर हर्ष कैसा? और जिस अलाभके होनेपर दैवकी अर्थात् पूर्व संचित पापकर्मकी हानि होती है उसमें विषाद कैसा? ॥२९॥

विशेषार्थ—पूर्व जन्ममें संचित शुभ और अशुभ कर्मको दैव कहते हैं। पुण्यकर्मके उदयसे लाभ और पापकर्मके उदयसे अलाभ होता है। यदि किसी व्यक्तिको लाभ होता है तो लोग उसके पौरुषकी प्रशंसा न करके दैवकी ही प्रशंसा करते हैं। अतः लाभ पुरुषके प्रयत्नको गिरानेवाला और दैवकी महिमा बढ़ानेवाला है अतः उससे सन्तुष्ट होना व्यर्थ है। इसके विपरीत पुरुषके प्रयत्न करनेपर भी यदि लाभ नहीं होता तो लोग यही कहते हैं कि बेचारेने मेहनत तो बड़ी की किन्तु पापकर्मका उदय होनेसे लाभ नहीं हुआ। इस तरह अलाभमें सारा दोष दैवके ही सिर पड़ता है तब अलाभसे खेद क्यों? कहा है—सब लोगोंमें चमत्कार करनेवाले, अपार साहसके धनी मनुष्यकी यदि इष्ट सिद्धि नहीं होती है तो यह दुर्दैवका ही अपयश है उस मनुष्यका नहीं ॥२९॥

आगे विचार करते हैं कि इष्ट पदार्थके संयोगको सुखका और वियोगको दुःखका

---

१. 'असमसाहससुव्यवसायिनः सकललोकचमत्कृतिकारिणः।
यदि भवन्ति न वाञ्छितसिद्धयो हतविधेरयशो न नरस्य तत्' ॥—शंकुक कवि।

अथ बन्धुशत्रुविषयौ रागद्वेषौ निषेधयन्नाह—

ममकारग्रहावेशमूलमन्त्रेषु बन्धुषु ।
को ग्रहो विग्रहः को मे पापघातिष्वरातिषु ॥३१॥

ग्रहः—रागः । निग्रहः—द्वेषः । पापघातिषु—दुःखोत्पादनद्वारेण पापक्षपणहेतुषु ॥३१॥

अथैन्द्रियकसुखदुःखे प्रतिक्षिपन्नाह—

कृतं तृष्णानुषङ्गिण्या स्वसौख्यमृगतृष्णया ।
खिद्ये दुःखे न दुर्वारकर्मारिक्षययक्ष्मणि ॥३२॥

कृतं—पर्याप्तं धिगिमामित्यर्थः । तृष्णा—वाञ्छा पिपासा वा । खिद्ये—दैन्यं यामि । यक्ष्मा—क्षयव्याधिः ॥३२॥

तथा अनिष्ट पदार्थके संयोगको दुःखका और उसके वियोगको सुखका कारण मानना केवल मनकी कल्पना है—

जिस प्रकार मुझे अनिष्ट वस्तुओंका वियोग सुखकर मालूम होता है उसी प्रकार इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति भी सुखकर मालूम होती है। तथा जिस प्रकार मुझे अनिष्ट संयोग दुःखदायक मालूम होता है उसी तरह इष्ट वियोग भी दुःखदायक मालूम होता है किन्तु यह सब कल्पना है वास्तविक नहीं। अर्थात् पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करके उन्हें सुख या दुःखकारक मानना कल्पना मात्र है। वास्तवमें न कोई पदार्थ इष्ट होता है और न अनिष्ट तथा न कोई परपदार्थ सुखदायक होता है और न कोई दुःखदायक ॥३०॥

आगे मित्रोंसे राग और शत्रुओंसे द्वेषका निषेध करते हैं—

ये बन्धु-बान्धव ममतारूपी भूतके प्रवेशके मूलमन्त्र हैं अतः इनमें कैसा राग ? और शत्रु पापकर्मकी निर्जरा कराते हैं अतः इनसे मेरा कैसा द्वेष ? ॥३१॥

विशेषार्थ—ये मेरे उपकारी हैं इस प्रकारकी बुद्धि एक प्रकारके ग्रहका आवेश है क्योंकि जैसे कोई मनुष्य शरीरमें किसी भूत आदिका प्रवेश होनेपर खोटी चेष्टाएँ करता है उसी प्रकार ममत्व बुद्धिके होनेपर भी करता है। इसका मूलमन्त्र हैं बन्धु-बान्धव, क्योंकि उन्हें अपना उपकारी मानकर ही उनमें ममत्व बुद्धि होती है। और उसीके कारण मनुष्य मोहपाशमें फँसकर क्या-क्या कुकर्म नहीं करता। ऐसे बन्धु-बान्धवोंमें कौन समझदार व्यक्ति राग करेगा जो उसके भावि दुःखके कारण बनते हैं। तथा शत्रु दुःख देते हैं और इस तरह पूर्व संचित पापकर्मकी निर्जरा कराते हैं। उनसे द्वेष कैसा, क्योंकि पापकर्मकी निर्जराके कारण होनेसे वे तो भला ही करते हैं। ऐसा विचार कर राग-द्वेष नहीं करता ॥३१॥

आगे इन्द्रिय जन्य सुख-दुःखका तिरस्कार करते हैं—

तृष्णाको बढ़ानेवाली इन्द्रिय सुख रूपी मृगतृष्णासे बहुत हो चुका, इसे धिक्कार है। तथा जिसको दूर करना अशक्य है उन कर्मरूपी शत्रुओंका क्षय करनेमें यक्ष्माके तुल्य दुःखसे मैं खिन्न नहीं होता ॥३२॥

विशेषार्थ—रेतीले प्रदेशमें मध्याह्नके समय सूर्यकी किरणोंसे जलका भ्रम होता है। प्यासे मृग जल समझकर उसके पास आते हैं किन्तु उनकी प्यास पानीकी आशासे और बढ़ जाती है, शान्त नहीं होती। उसी तरह इन्द्रिय जन्य सुखसे भोगकी तृष्णा बढ़ती ही है शान्त नहीं होती। ऐसे सुखको कौन समझदार चाहेगा। इसके विपरीत दुःखको सहन करनेसे पूर्व संचित कर्मकी निर्जरा होती है। जब कर्मका विपाक काल आता है वह पककर अपना

अथ प्रेक्षावतां दुःसहसंसारदुःखानुभव एव रत्नत्रयानुबन्धाय स्यादित्युपदेशार्थमाह—

दवानलीयति न चेज्जन्मारामेऽत्र धीः सताम् ।
तर्हि रत्नत्रयं प्राप्तुं त्रातुं चेतुं यतेत कः ॥३३॥

दवानलीयति—दवाग्नाविवाचरति । जन्मारामे—जन्मसंसार आराम इव, मूढात्मनां प्रीतिनिमित्त-विषयबहुलत्वात् ॥३३॥

अथ साम्यस्य सकलसदाचारमूर्धाभिषिक्तत्वात् तस्यैव भावनायामात्मानमासञ्जयन्नाह—

सर्वसत्त्वेषु समता सर्वेष्वाचरणेषु यत् ।
परमाचरणं प्रोक्तमतस्तामेव भावये ॥३४॥

स्पष्टम् ॥३४॥

अथैवं भावसामायिकमवश्यसेव्यतया संप्रधार्य तदारूढमात्मानं स्थापयन्नाह—

[1]मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित् ।
सर्वसावद्यविरतोऽस्मीति सामायिकं श्रयेत् ॥३५॥

सावद्याः—हिंसादिपातकयुक्ता मनोवाक्कायव्यापाराः । इति—शुभेऽशुभे वा केनापीत्यादिप्रबन्धोक्तेन प्रकारेण ॥३५॥

फल देता है तब उसको टालना अशक्य होता है। ऐसे दुर्वार कर्मरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिए दुःख यक्ष्मा रोगके समान है। अतः ऐसे दुःखसे खेदखिन्न कौन होगा ॥३२॥

बुद्धिमान् मनुष्योंके लिए संसारके दुःसह दुःखोंका अनुभव ही रत्नत्रयकी प्रीतिका कारण होता है ऐसा उपदेश देते हैं—

यदि बुद्धिमानोंकी बुद्धि इस संसाररूपी उद्यानमें वैसा ही आचरण न करती जैसा जंगलकी आगमें घिर जानेपर करती है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको प्राप्त करनेका, उसकी रक्षा करनेका और उसको बढ़ानेका कौन प्रयत्न करता? ॥३३॥

विशेषार्थ—संसारको उद्यानकी उपमा इसलिए दी है कि उसमें मूढ़ पुरुषोंकी प्रीतिके लिए अनेक विषय रहते हैं। किन्तु विवेकी ज्ञानी उससे उसी तरह बचनेके लिए प्रयत्नशील रहता है मानो वह वनमें लगी आगसे घिर गया हो ॥३३॥

साम्यभाव समस्त सदाचारका शिरोमणि है। अतः आत्माको उसीकी भावनामें लगनेकी प्रेरणा करते हैं—

सब प्राणियोंमें अथवा सब द्रव्योंमें साम्यभाव रखना सब आचरणोंमें उत्कृष्ट आचरण कहा है। अतः उसीको बार-बार चित्तमें धारण करता हूँ ॥३४॥

इस प्रकार भावसामायिकको अवश्य करने योग्य निर्धारित करके उसमें आरूढ़ आत्माके भाव बतलाते हैं—

समस्त प्राणियोंमें मेरा मैत्रीभाव है, किसीसे भी मेरा वैर नहीं है। मैं समस्त सावद्य-से—हिंसा आदि पातकोंसे युक्त मन-वचन कायके व्यापारसे—निवृत्त हूँ। इस प्रकार मुमुक्षुको सामायिक करना चाहिए ॥३५॥

विशेषार्थ—सामायिकमें यही भाव रहना चाहिए। इसी भावका नाम भावसामायिक है ॥३५॥

१. 'खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि ॥'—मूलाचार, ४३ गा. ।

अथानन्यसामान्यं सामायिकमाहात्म्यमावर्णयंस्तत्प्रति सुधयः प्रयतेरन्निति शिक्षार्थमाह—

एकत्वेन चरन्निजात्मनि मनोवाक्कायकर्मच्युतेः
कैश्चिद्विक्रियते न जातु यतिवद्यद्भागपि श्रावकः ।
येनार्हच्छ्रुतलिङ्गवानुपरिमग्रैवेयकं नीयते-
ऽभव्योऽप्यद्भुतवैभवेऽत्र न सजेत् सामायिके कः सुधीः ॥३६॥

एकत्वेनेत्यादि । आगमभावसामायिकाभ्यासपूर्वकं नोआगमभावसामायिकेन परिणममानस्य स्वविषयेभ्यो विनिवृत्ति (निवृत्य) कायवाड्मनःकर्मणामात्मना सह वर्तनादित्यर्थः । कैश्चित्—बाह्यैरभ्यन्तरैर्वा विकारकारणैः । यतिवत्—हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्तचित्तोऽभ्यन्तरप्रत्याख्यानसंयमघातिकर्मोदयजनितमन्दाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रत इत्युपचर्यत इति कृत्वा यतिना तुल्य वर्तमान. । यथाह—

'सामाइयम्हि दु कदे समणो इव सावओ हवदि जम्हा ।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥' [मूलाचार., गा. ५३१]

येनेत्यादि । उक्तं च चारित्रसारे—'एवं कृत्वाऽभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिण एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालनादसंयमभावस्यापि उपरिमग्रैवेयकविमानवासिता उपपन्ना भवतीति ॥३६॥

सामायिकका असाधारण माहात्म्य बतलाकर बुद्धिमानोंको उसके लिए प्रयत्न करनेकी शिक्षा देते हैं—

संयमी मुनिकी तो बात ही क्या, जिस सामायिकका पालक देश संयमी श्रावक भी मन-वचन-कायके व्यापारसे निवृत्त होकर अपनी आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्व भावसे रहित एक ज्ञायक भावसे प्रवृत्त होता हुआ मुनिकी तरह किन्हीं भी अभ्यन्तर या बाह्य विकारके कारणोंसे कभी भी विकारको प्राप्त नहीं होता। तथा जिस सामायिकके प्रभावसे एकादशांगका पाठी और द्रव्यनिर्ग्रन्थ जिनलिंगका धारी अभव्य भी आठ ग्रैवेयक विमानोंसे ऊपर और नौ अनुदिश विमानोंके नीचे स्थित ग्रैवेयकमें जन्म लेता है, उस आश्चर्यजनक प्रभावशाली सामायिकमें कौन विवेकी ज्ञानी अपनेको न लगाना चाहेगा ॥३६॥

विशेषार्थ—यहाँ देशविरत श्रावकको सर्वविरत मुनिके तुल्य कहा है क्योंकि श्रावकका चित्त भी हिंसा आदि सब पापोंमें अनासक्त रहता है तथा यद्यपि उसके संयमको घातनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है किन्तु वह मन्द उदय होता है इसलिए उसके उपचारसे महाव्रत भी मान लिया जाता है। आचार्य समन्तभद्रने कहा है—प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय मन्द होनेसे चारित्रमोहरूप परिणाम अतिमन्द हो जाते हैं कि उनका अस्तित्व जानना भी कठिन होता है। उसीसे महाव्रतकी कल्पना की जाती है। अतः सामायिक श्रावकके लिए भी आवश्यक है। वह पहले आगमभाव सामायिकका अभ्यास करता है अर्थात् सामायिक विषयक शास्त्रोंका अभ्यास करता है। फिर नोआगमभाव सामायिकमें लगता है अर्थात् सामायिक करता है। मूलाचारमें कहा भी है—'सामायिक करनेपर यत. श्रावक मुनिके तुल्य होता है अतः बार-बार सामायिक करना चाहिए।'

सामायिकके प्रभावसे ही जिनागमका पाठी और जिनलिंगका धारी अभव्य भी नवम ग्रैवेयक तक मरकर जाता है—चारित्रसार (पृ. ११) में कहा है—'ऐसा होनेसे निर्ग्रन्थ

---

१. 'प्रत्याख्यानतनुत्वात् मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः ।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥'—रत्नकरण्ड श्रा. ७१

अथैवं सामायिकं व्याख्यायेदानीं चतुर्विंशतिस्तवं नवभिः पद्यैर्व्याख्यातुकामः पूर्वं तल्लक्षणमाह—

कीर्तनमर्हत्केवलिजिनलोकोद्योतधर्मतीर्थकृताम् ।
भक्त्या वृषभादीनां यत्स चतुर्विंशतिस्तवः षोढा ॥३७॥

कीर्तनं—प्रशंसनम् । अर्हन्तः—अरेर्मोहनस्य हन्तृत्वात् पूजार्हत्वाच्च । उक्तं च—

'अरिहंति वंदणणमंसाणि अरिहंति पूयसक्कारं ।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरिहंता तेण उच्चंति ॥' [मूलाचार, ५६२ गा.]

केवलिनः—सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिणः । जिनाः—अनेकभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जितवन्तः । लोकोद्योताः—नामादिनवप्रकारलोकस्य भावेनोद्योतका ज्ञातार इत्यर्थः । नवधा लोको यथा—

'नामट्ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसाय लोओ य ।
भवलोग भावलोगो पज्जयलोगो य णायव्वो ॥' [मूलाचार, गा. ५४१]

अत्र यानि कान्यपि लोके शुभान्यशुभानि वा नामानि स नामलोकः । तथा यत् किंचिल्लोके कृत्रिममकृत्रिमं वाऽस्ति स स्थापनालोकः । तथा षड्द्रव्यप्रपञ्चो द्रव्यलोकः । उक्तं च—

'परिणामि जीव मुत्तं सपदेसं एय खेत्त किरिया य ।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदिदरम्हि य पएसो ॥' [मूलाचार, गा. ५४५]

लिंगका धारी और ग्यारह अंगोंका पाठी अभव्य भी भावसे असंयमी होते हुए भी महाव्रतोंका पालन करनेसे उपरिम ग्रैवेयकके विमानमें उत्पन्न होता है ॥३६॥

इस प्रकार सामायिकका कथन करके अब नौ पद्योंसे चतुर्विंशतिस्तवका कथन करते हुए पहले उसका लक्षण कहते हैं—

अर्हत्, केवली, जिन, लोकका उद्योत करनेवाले अर्थात् ज्ञाता तथा धर्मतीर्थके प्रवर्तक ऋषभदेव आदि तीर्थंकरोंका भक्तिपूर्वक स्तवन करनेको चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं। उसके छह भेद हैं ॥३७॥

विशेषार्थ—अरिहन्त और अर्हन्त ये दोनों प्रकारान्तरसे एक ही अवस्थाके वाचक हैं। मोहनीय कर्म जीवका प्रबल शत्रु है क्योंकि समस्त दुःखोंकी प्राप्तिमें निमित्त है। यद्यपि मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेपर भी कुछ काल तक शेष कर्मोंका सत्त्व रहता है किन्तु मोहनीयके नष्ट हो जानेपर शेष कर्म जन्ममरणरूपी संसारको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाते हैं। अतः उनका होना न होनेके बराबर है। इसलिए तथा आत्माके केवलज्ञान आदि समस्त आत्मगुणोंके प्रकट होनेमें प्रबल रोधक होनेसे मोहनीय कर्म अरि है उसे घातनेसे अरिहन्त कहलाते हैं। तथा सातिशय पूजाके योग्य होनेसे उन्हें अर्हन्त कहते हैं। कहा है—यतः वे नमस्कार और वन्दनाके योग्य हैं, पूजा और सत्कारके योग्य हैं, तथा मुक्तिमें जानेके योग्य हैं इसलिए उन्हें अर्हन्त कहते हैं। तथा सब द्रव्यों और सब पर्यायोंका प्रत्यक्ष ज्ञाता—द्रष्टा होनेसे केवली कहे जाते हैं। अनेक भवोंके भयंकर कष्टोंके कारण कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे जिन कहे जाते हैं। नाम आदिके भेदसे नौ प्रकारके लोकके भावसे उद्योतक अर्थात् ज्ञाता होते हैं। लोकके नौ प्रकार इस तरह कहे हैं—'नामलोक, स्थापनालोक, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, चिह्नलोक, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक ये नौ भेद लोकके हैं।' लोकमें जो भी शुभ या अशुभ नाम है वह नामलोक है। लोकमें जो भी अकृत्रिम अर्थात् स्वतः स्थापित और कृत्रिम (स्थापित) है वह स्थापनालोक है। छह द्रव्योंका समूह द्रव्य लोक है। कहा है—परिणाम अन्यथाभाव (परिवर्तन) को कहते हैं। यहाँ व्यंजन पर्याय

परिणामोऽन्यथाभावः। स चात्र व्यञ्जनपर्यायः। तद्वन्तौ जीवपुद्गलावेव तिर्यगादिगतिषु भ्रमणोपलम्भात्, लोष्ठादिभावेन परिणमनप्रतीतेश्च। शेषाणि चत्वारि धर्माधर्मादिद्रव्याण्यपरिणामीनि व्यञ्जनपर्यायाभावात्। अर्थपर्यायापेक्षया पुनः षडपि परिणामीन्येव। जीवश्चेतनालक्षण आत्मैव ज्ञातृत्वदृष्टृत्वात्। पञ्चाऽन्येऽजीवाः। मूर्तं पुद्गलद्रव्यं रूपादिमत्त्वात्। पञ्चान्ये त्वमूर्ताः। सप्रदेशा जीवादय पञ्च प्रदेशबहुत्वदर्शनात्। कालाणवः परमाणुश्चाप्रदेशाः प्रचयबंधाभावात्। एकरूपाणि धर्माधर्माकाशानि सर्वदा प्रदेशविघटनाभावात्। संसारिजीवपुद्गलकालास्त्वनेकरूपाः प्रदेशानां भेदोपलम्भात्। क्षेत्रमाकाशं सर्वेषामाधारत्वात्। पञ्चान्येऽक्षेत्राण्यवगाहनलक्षणाभावात्। क्रिया जीवपुद्गलयोर्गतिमत्त्वात्। अन्ये त्वक्रियाः। नित्या धर्माधर्माकाशकाला व्यञ्जनपर्यायापेक्षया विनाशाभावात्। अन्यावनित्यौ। कारणानि जीववर्जानि पञ्च जीवं प्रति उपकारकत्वात्। जीवस्त्वकारणं स्वतन्त्रत्वात्। कर्ता जीवः शुभाशुभफलभोक्तृत्वात्। पञ्चान्येऽकर्तारः। सर्वगतमाकाशम्। पञ्चान्ये त्वसर्वगताः। इतरेष्वप्यपरिणामित्वादिधर्मेषु जीवादीनां प्रवेशो व्याख्यात एव। सप्रदेशमधस्तिर्यगूर्ध्वलोकविभक्तमाकाशं क्षेत्रलोकः। द्रव्यगुणपर्यायाणा संस्थानं चिह्नलोकः। क्रोधादय उदयमागताः कषायलोकः। नारकादियोनिगताः सत्त्वा भवलोकः। तीव्ररागद्वेषादयो भावलोकः। द्रव्यगुणादिभेदाच्चतुर्धा पर्यायलोकः। उक्तं च—

लेना चाहिए। ऐसे परिणामी जीव और पुद्गल ही हैं क्योंकि जीवका तिर्यंच आदि गतिमें भ्रमण पाया जाता है और पुद्गलका लोष्ठ आदि रूपसे परिणमन देखा जाता है। शेष चार धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य अपरिणामी हैं क्योंकि उनमें व्यंजन पर्याय नहीं होती। किन्तु अर्थ पर्यायकी अपेक्षा छहों द्रव्य परिणामी हैं। चेतना लक्षणवाला आत्मा ही जीव है। क्योंकि वह ज्ञाता-द्रष्टा है। शेष पाँच द्रव्य अजीव हैं। मूर्त पुद्गल द्रव्य है क्योंकि उसमें रूप आदि पाये जाते हैं। शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश सप्रदेशी हैं, क्योंकि उनमें बहुप्रदेशीपना है। कालाणु और परमाणु अप्रदेशी हैं। धर्म, अधर्म, आकाश एकरूप हैं क्योंकि उनके प्रदेशोंका कभी भी विघटन नहीं होता। संसारी जीव, पुद्गल और काल अनेकरूप हैं क्योंकि उनके प्रदेशोंमें भेद देखा जाता है। क्षेत्र आकाश है क्योंकि सबका आधार है। शेष पाँच द्रव्य अक्षेत्र हैं क्योंकि उनमें अवगाहनरूप लक्षणका अभाव है। क्रिया जीव और पुद्गलमें है क्योंकि वे क्रियावान् हैं। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल नित्य हैं क्योंकि व्यंजन पर्यायका अभाव होनेसे उसकी अपेक्षा उनका विनाश नहीं होता। शेष द्रव्य अनित्य हैं क्योंकि उनमें व्यंजन पर्याय होती हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश कारण हैं क्योंकि जीवका उपकार करते हैं। जीव कारण नहीं है क्योंकि वह स्वतन्त्र है। शुभ-अशुभ फलका भोक्ता होनेसे जीव कर्ता है। शेष द्रव्य शुभ-अशुभ फलका भोक्ता न होनेसे अकर्ता हैं। आकाश सर्वत्र पाया जाता है अतः सर्वगत है, शेष द्रव्य सर्वत्र न पाये जानेसे असर्वगत हैं। इस प्रकार परिणामी, अपरिणामी आदि रूपसे द्रव्यलोक होता है। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकसे विभक्त सप्रदेशी आकाश क्षेत्रलोक है। द्रव्य गुण पर्यायोंके संस्थानको चिह्नलोक कहते हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म द्रव्योंका लोकाकार रूपसे संस्थान, आकाशका केवलज्ञानरूपसे संस्थान, लोकाकाशका घर, गुफा आदि रूपसे संस्थान, पुद्गल द्रव्यका लोकस्वरूपसे अथवा द्वीप, नदी, समुद्र, पर्वत, पृथिवी आदि रूपसे संस्थान तथा जीव द्रव्यका समचतुरस्र आदि रूपसे संस्थान द्रव्यसंस्थान है। गुणोंका द्रव्याकार रूपसे

१. संस्थापनं भ. कु. च.।

ो य भावपरिणामो ।

जाण चउव्विहभेयं पज्जयलोगं समासेण ॥' [मूलाचार, गा. ५५१]

तत्र द्रव्यगुणा जीवस्य ज्ञानादयः, पुद्गलस्य स्पर्शादयो धर्माधर्माकाशकालानां च गतिस्थित्यवगाहहेतुत्ववर्तनादयः । क्षेत्रपर्याया रत्नप्रभा-जम्बूद्वीपर्जुविमानादयः । भवानुभाव आयुषो जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पः । भावपरिणामोऽसंख्येयलोकप्रमाणशुभाशुभजीवभावः कर्मादानपरित्यागसमर्थ इति । धर्मतीर्थकृतः—धर्मस्य वस्तुयाथात्म्यस्योत्तमक्षमादेर्वा तीर्थं शास्त्रं कृतवन्त उपदिष्टवन्तः । चतुर्विंशतिस्तवः—अनेकतीर्थकरदेवगुणव्यावर्णनं चतुर्विंशतिशब्दस्यानेकोपलक्षणत्वात् ॥३७॥

अथ नामादिस्तवभेदो व्यवहारनिश्चयाभ्यां विभजन्नाह—

स्युर्नामस्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-कालाश्रयाः स्तवाः ।
व्यवहारेण पञ्चार्षाविको भावस्तवोऽर्हताम् ॥३८॥

स्पष्टम् ॥३८॥

अथ नामस्तवस्वरूपमाह—

अष्टोत्तरसहस्रस्य नाम्नामन्वर्थमर्हताम् ।
वीरान्तानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः ॥३९॥

नाम्नां—श्रीमदादिसंज्ञानाम् । तानि चार्षे पञ्चविंशतितमे पर्वणि—

'श्रीमान्स्वयंभूर्वृषभः शंभवः शम्भुरात्मभूः ।
स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥'

इत्यादिना

'शुभंयुः सुखसाद्भूतः पुण्यराशिरनामयः ।
धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥' [महापु. २५।१००-२१७]

संस्थान गुणसंस्थान है । पर्यायोंका दीर्घ, ह्रस्व, गोल, नारक, तिर्यंच आदि रूपसे संस्थान पर्यायसंस्थान है । ये सब चिह्नलोक हैं । उदयप्राप्त क्रोधादि कषायलोक हैं । नारक आदि योनियोंमें वर्तमान जीव भवलोक है । तीव्र राग-द्वेष आदि भावलोक है ।

पर्याय लोकके चार भेद हैं—जीवके ज्ञानादि, पुद्गलके स्पर्श आदि, धर्म, अधर्म, आकाश कालके गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, अवगाहहेतुता और वर्तना आदि ये द्रव्योंके गुण, रत्नप्रभा पृथिवी, जम्बूद्वीप, ऋजु विमान आदि क्षेत्र पर्याय, आयुके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद, जीवके असंख्यात लोक प्रमाण शुभ अशुभ भाव, जो कर्मोंके ग्रहण और त्यागमें समर्थ होते हैं, ये संक्षेपमें पर्याय लोकके चार भेद हैं । इस प्रकार अर्हन्तोंका, केवलियोंका, जिनोंका, लोकके उद्योतकोंका, और धर्मतीर्थके कर्ता ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोंका भक्तिपूर्वक गुणकीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है ॥३७॥

आगे व्यवहार और निश्चयसे स्तवके भेद कहते हैं—

चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन व्यवहारसे नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र और कालके आश्रयसे पाँच प्रकारका है । और परमार्थसे एक भावस्तव है ॥३८॥

नाम स्तवका स्वरूप कहते हैं—

भगवान् ऋषभदेवसे लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोंका एक हजार आठ नामोंके द्वारा जो अर्थानुसारी निरुक्ति की जाती है उसे उक्त स्तवोंमें से नामस्तव कहते हैं ॥३९॥

इत्येतेन प्रबन्धेनोक्तानि प्रतिपत्तव्यानि। अन्वर्थं—[1]अभिधेयानुगतम्। तद्यथा—श्रीः अन्तरङ्गाऽनन्तज्ञानादिलक्षणा बहिरङ्गा च समवसरणाष्टमहाप्रातिहार्यादिस्वभावा लक्ष्मीरस्यातिशयेन हरिहराद्यसंभवित्वेनास्तीति श्रीमान्। स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्ध्यानुष्ठाय चानन्तचतुष्टयरूपतया भवतीति स्वयंभूः। तथा, वृषेण धर्मेण भातीति वृषभः। तथा, शं—सुखं भवत्यस्माद् भव्यानामिति शंभवः। एवमन्येषामपि यथाम्नायमन्वर्थता चिन्त्या। तथाहि—

'ध्यानद्रुघणनिर्भिन्नघनघातिमहातरुः।
अनन्तभवसंतानजयादासीरनन्तजित्॥
त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दर्पमतिदुर्जयम्।
मृत्युराजं विजित्यासीज्जिनमृत्युंजयो भवान्॥' [महापु., २५।६९-७०]

इत्यादि।

व्यावहारिकत्वं च नामस्तवस्य (-स्तुत्य[2]स्य-) परमात्मनो वाचामगोचरत्वात्।

तथा चोक्तमार्षे—

'गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मतः।
स्तोतुस्तथाप्यसंदिग्धं त्वत्तोऽभीष्टफलं भवेत्॥' [महापु. २५।२१९]

तथा—

'संज्ञासंज्ञद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने।
नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये॥' [महापु. २५।९५]

वीरान्तानां—वृषभादिवर्धमानान्ताना तीर्थंकराणा चतुर्विंशतेः। सामान्यविवक्षया चायं नामस्तवश्चतुर्विंशतिरपि तीर्थकृता श्रीमदादिसंज्ञावाच्यत्वाविशेषात्। विशेषापेक्षया तु वृषभादिचतुर्विंशते।पृथङ्नाम्नां निर्वचनमुच्चारणं वा नामस्तवः। यथा सर्वभक्तिभाक् 'थोस्सामि' इत्यादि स्तवः। 'चउवीस तित्थयरे' इत्यादिर्वा। 'ऋषभोऽजितनामा च' इत्यादिर्वा॥३९॥

विशेषार्थ—महापुराणके पच्चीसवें पर्वमें एक हजार आठ नामोंके द्वारा भगवान् ऋषभ देवकी जो स्तुति की गयी है वह नामस्तव है। यह स्तव अन्वर्थ है। जैसे भगवान्‌को श्रीमान् स्वयम्भू, वृषभ। सम्भव आदि कहा गया है। सो भगवान् तीर्थंकर ऋषभदेवके अन्तरंग ज्ञानादि रूप और बहिरंग समवसरण अष्ट महा प्रतिहार्यादि रूप श्री अर्थात् लक्ष्मी होती है इसलिए उनका श्रीमान् नाम सार्थक है। तथा भगवान् परके उपदेशके विना स्वयं ही मोक्षमार्गको जानकर और उसका अनुष्ठान करके अनन्त चतुष्टय रूप होते हैं इसलिए उन्हें स्वयम्भू कहते हैं। वे वृष अर्थात् धर्मसे शोभित होते हैं इसलिए उन्हें वृषभ कहते हैं। उनसे भव्य जीवोंको सुख होता है इसलिए सम्भव कहते है। इसी तरह सभी नाम सार्थक हैं।

इस प्रकारका नाम स्तव व्यावहारिक है क्योंकि स्तुतिके विषय परमात्मा तो वचनोंके अगोचर हैं। जिनसेन स्वामीने कहा है—हे भगवन्! इन नामोंके गोचर होते हुए भी आप वचनोंके अगोचर माने गये हैं। फिर भी स्तवन करनेवाला आपसे इच्छित फल पा लेता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। सामान्यकी विवक्षा होनेपर यह नामस्तव चौबीसों ही तीर्थंकरोंका है क्योंकि सभी तीर्थंकर 'श्रीमान् आदि नामोंके द्वारा कहे जा सकते हैं। विशेषकी अपेक्षा चौबीसों तीर्थंकरका भिन्न-भिन्न नामोंसे स्तवन करना भी नामस्तव है॥३९॥

---

१. अर्थमनुगतम् भ. कु. च.।
२. भ. कु. च.।

अथ स्थापनास्तवमाह—

कृत्रिमाकृत्रिमा वर्णप्रमाणायतनादिभिः ।
व्यावर्ण्यन्ते जिनेन्द्रार्चा यदसौ स्थापनास्तवः ॥४०॥

आयतनं—चैत्यालयः । आदिशब्देन संस्थानदीप्त्यादयः । जिनेन्द्रार्चाः—जिनेन्द्राणां तीर्थंकराणां चतुर्विशतेरपरिमितानां वा अर्चाः प्रतिमाः । तत्र चतुर्विशतेः कृत्रिमा (इतरेषां चाकृतिमा) इति योज्यम् । उक्तं चाचारटीकायाम्—'चतुर्विंशतितीर्थकराणामपरिमितानां वा कृत्रिमाकृत्रिमस्थापनानां स्तवनं चतुर्विशतिस्थापनास्तव इति अथवा अकृत्रिमा इत्युपचारादुभयत्रापि योज्यम् ॥४०॥

अथ द्रव्यस्तवमाह—

वपुर्लक्ष्मगुणोच्छ्रायजनकादिमुखेन या ।
लोकोत्तमानां संकीर्तिश्चित्रो द्रव्यस्तवोऽस्ति सः ॥४१॥

लक्ष्माणि—श्रीवृक्षादिलक्षणानि वृषभादिलाञ्छनानि च । तत्राष्टोत्तरशतं लक्षणानि व्यञ्जनानि च नवशतानि आर्षे पञ्चदशे पर्वणि । तानि 'श्रीवृक्षशंखाब्ज' इत्यादिना 'व्यञ्जनान्यपराण्यासन् शतानि नवसंख्यया' इत्यन्तेन प्रबन्धेनोक्तानि वेदितव्यानि । चिन्हानि यथा—

'गौर्गजोऽश्वः कपिः काकः सरोजं स्वस्तिकः शशी ।
मकरः श्रीयुतो वृक्षो गण्डो महिषसूकरौ ॥'
'सेधा वज्रं मृगश्छागः पाठीनः कलशस्तथा ।
कच्छपश्चोत्पलं शंखो नागराजश्च केशरी ॥
इत्येतान्युक्तदेशेषु लाञ्छनानि प्रयोजयेत् ।' [ ]

स्थापना स्तवको कहते हैं—

चौबीस अथवा अपरिमित तथंकरोंकी कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओंका जो रूप, ऊँचाई चैत्यालय आदिके द्वारा स्तवन किया जाता है उसे स्थापना स्तव कहते हैं। यहाँ इतना विशेष जानना कि चौबीस तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ तो कृत्रिम होती हैं किसीके द्वारा बनायी जाती हैं। शेष अकृत्रिम होती हैं ॥४०॥

द्रव्य स्तवको कहते हैं—

शरीर, चिह्न, गुण, ऊँचाई और माता पिता आदि की मुख्यता से जो लोकोत्तम तीर्थंकरोंका स्तवन किया जाता है वह आश्चर्यकारी अथवा अनेक प्रकारका द्रव्य स्तव है ॥४१॥

विशेषार्थ—शरीरके द्वारा स्तवनका उदाहरण इस प्रकार है—नौ सौ व्यंजन और एक सौ आठ लक्षणोंके द्वारा शोभित और जगत्को आनन्द देनेवाला अर्हन्तोंका शरीर जयवन्त होओ। मैं उन जिनेन्द्रोंको नमस्कार करता हूँ जिनके मुक्त होनेपर शरीरके परमाणु बिजलीकी तरह स्वयं ही विशीर्ण हो जाते हैं।

१. 'सनवव्यञ्जनशतैरष्टाग्रशतलक्षणैः ।
विचित्रं जगदानन्दि जयतादर्हतां वपुः ॥
जिनेन्द्रान्नौमि तान्येषां शारीराः परमाणवः ।
विद्युतामिव मुक्तानां स्वयं मुञ्चन्ति संहतिम् ॥' [ ]

गुणाः—निःस्वेदत्वादयो वर्णादयश्च । वर्णमुखेन यथा—

'श्रीचन्द्रप्रभनाथपुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छवी,
रक्ताम्भोजपलाशवर्णवपुषौ पद्मप्रभद्वादशौ ।
कृष्णौ सुव्रतयादवौ च हरितौ पार्श्वः सुपार्श्वश्च वै,
शेषाः सन्तु सुवर्णवर्णवपुषो मे षोडशाऽघच्छिदे ॥' [ ]

उच्छ्रायः—उत्सेधः । तन्मुखेन यथा—

'नाभेयस्य शतानि पञ्चधनुषां मानं परं कीर्तितं
सद्भिस्तीर्थकराष्टकस्य निपुणैः पञ्चाशदूनं हि तत् ॥
पञ्चानां च दशोनकं भुवि भवेत् पञ्चोनकं चाष्टके
हस्ताः स्युर्नव सप्त चान्त्यजिनयोर्येषां प्रभा नौमि तान् ॥' [ ]

जनकादि—जनकश्च जननी च जनकौ मातापितरौ । मातृद्वारेण यथा—

यहाँ शरीरपर पाये जाने वाले तिल, मसक आदि चिह्नोंको व्यंजन कहते हैं और शंख, कमल आदिको लक्षण कहते हैं। महापुराणके पन्द्रहवें सर्ग में एक सौ आठ लक्षणोंको तथा नौ सौ व्यंजनोंको बताया है ॥४१॥

तीर्थंकरोंके चिह्न इस प्रकार कहे हैं—बैल, हाथी, घोड़ा, बन्दर, चकवा, कमल, स्वस्तिक, चन्द्रमा, गैण्डा, भैंसा, शूकर, सेही, वज्र, मृग, बकरा, मत्स्य, कलश, कछुआ, नीलकमल, शंख, सर्प और सिंह ये क्रमसे चौबीस तीर्थंकरोंके चिह्न हैं। पसीना न आना आदि गुणके द्वारा स्तवन इस प्रकार होता[2] है—'कभी पसीना न आना, मल मूत्रका न होना समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराच संहनन, अत्यन्त सुगन्ध, उत्कृष्ट सौन्दर्य, एक हजार आठ लक्षण और व्यंजन, अनन्तवीर्य, हित रूप प्रिय वचन, श्वेत वर्णका रक्त ये अर्हन्तके शरीरमें दश स्वाभाविक अतिशय होते हैं।'

वर्णके द्वारा स्तुतिका उदाहरण इस प्रकार है—श्रीचन्द्रप्रभनाथ और पुष्पदन्तके शरीरका वर्ण कुन्द पुष्पके समान श्वेत है। पद्म प्रभके शरीरका वर्ण लाल कमलके समान और वासुपूज्यका पलाशके समान लाल है। मुनि[3] सुव्रत नाथ और नेमिनाथके शरीरका रंग काला है। पार्श्व और सुपार्श्वका शरीर हरितवर्ण है। शेष सोलह तीर्थंकरोंका शरीर सुवर्णके समान है। ये सभी तीर्थंकर मेरे पापोंका नाश करें।

---

१. तिलोयपण्णत्ति (४।६०४) में सुपार्श्वनाथका चिह्न नन्द्यावर्त, और शीतलनाथका चिह्न 'सोतीय' कहा है जिसका अर्थ स्वस्तिक किया गया है। तथा अरहनाथका चिह्न तगर कुसुम कहा है जिसका अर्थ मत्स्य किया है। श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने शीतलनाथका चिह्न श्रीवत्स, अनन्तनाथका चिह्न श्येन और अरहनाथका चिह्न नन्द्यावर्त कहा है। इस तरह चिह्नोंमें मतभेद है।

२. 'निःस्वेदत्वमनारतं विमलता संस्थानमाद्यं शुभम् ।
तद्वत्संहननं भृशं सुरभिता सौरूप्यमुच्चैः परम् ।
सौलक्षण्यमनन्तवीर्यमुदितिः पथ्या प्रियाऽसृक् च यः ।
शुभ्रं चातिशया दशेह सहजाः सन्त्वर्हदङ्गानुगा. ॥ [ ]

३. तिलोयपण्णत्ति (४।५८८) में मुनिसुव्रत और नेमिनाथको नीलवर्ण कहा है। तथा हेमचन्द्रने मल्लि और पार्श्वको नीलवर्ण कहा है। हरितवर्ण किसी भी तीर्थंकरको नहीं कहा, सुपार्श्वको शेष सोलहमें लिया है।

'मात्रा तीर्थङ्कराणां परिचरणपरश्रोप्रभृत्योङ्कवादि-
श्रीसंमेदाग्रदूता रजनिविरमणे स्वप्नमालेक्षिता ये ।
श्रीभोक्षेभारिमालाशशधररविझषकुम्भाब्जयुग्माब्धिपीठ-
ध्योयानाशीविषौको वसुचयशिखिनः सन्तु ते मङ्गलं नः ॥' [ ]

आदिशब्देन कान्त्यादिद्वारेण यथा—

'कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात् क्षरन्तोऽमृतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥' [समयसारकलश, २४ श्लो.]

तथा—

'येऽभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नैः शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुतपादपद्माः ।
ते मे जिनाः प्रवरवंशजगत्प्रदीपास्तीर्थंकराः सततशान्तिकरा भवन्तु ॥'
'जैनेन्द्राक्षौमिताऽन्येषां शारीराः परमाणवः ।
विद्युतामिव मुक्तानां स्वयं मुञ्चति संहतिम् ॥' [ ]

शरीरकी ऊँचाईको लेकर नमस्कार करनेका उदाहरण यथा—आदिनाथके शरीरकी ऊँचाई ५०० धनुष, अजितनाथकी ४५० धनुष, सम्भवनाथकी ४०० धनुष, अभिनन्दननाथकी ३५० धनुष, सुमतिनाथकी ३०० धनुष, पद्मप्रभकी २५० धनुष, सुपार्श्वनाथकी २०० धनुष, चन्द्रप्रभकी १५० धनुष, पुष्पदन्तकी १०० धनुष, शीतलनाथकी ९० धनुष, श्रेयांसनाथकी ८० धनुष, वासुपूज्यकी ७० धनुष, विमलनाथकी ६० धनुष, अनन्तनाथकी ५० धनुष, धर्मनाथकी ४५ धनुष, शान्तिनाथकी ४० धनुष, कुन्थुनाथकी ३५ धनुष, अरहनाथकी ३० धनुष, मल्लिनाथकी २५ धनुष, मुनिसुव्रतनाथकी २० धनुष, नमिनाथकी १५ धनुष, नेमिनाथकी १० धनुष, पार्श्वनाथकी ९ हाथ और महावीर स्वामीकी ७ हाथ ऊँचाई है। मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ।

माताके द्वारा स्तवनका उदाहरण—'क्षायिक सम्यग्दृष्टि और उत्कृष्ट बुद्धिशाली कुलकरोंका जो वंश हुआ उसमें, तथा आदि ब्रह्मा आदिनाथने कर्मभूमिके प्रारम्भमें जिन इक्ष्वाकु, कुरु, उग्रनाथ, हरिवंशकी स्थापना की थी, जो वंश गर्भाधान आदि विधिकी परम्परासे लोकपूज्य हैं, उनको जन्म देनेवाली आर्यभूमिके स्वामी जिनके जीवननाथ हैं तथा जिनका जन्म उत्तम कुलमें हुआ है वे जैनतीर्थंकरोंकी माताएँ जयवन्त हों।'

माताके द्वारा देखे गये स्वप्नोंके द्वारा किया गया स्तवन भी द्रव्यस्तवन है। जैसे—श्री आदि देवियोंके द्वारा सेवित तीर्थंकरोंकी माताने रात्रिके पिछले पहरमें ऐरावत हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, माला, चन्द्रमा, सूर्य, मीन, कलश, कमलवन, समुद्र, सिंहासन, देव विमान, नागेन्द्रका भवन, रत्नराशि तथा निर्धूम वह्नि ये सोलह स्वप्न देखे, जो तीर्थंकरोंके जन्म आदि अतिशयोंके सूचक अग्रदूतके समान हैं, वे स्वप्न हमारे लिए मंगलकारक हों।

शरीरकी कान्ति आदिके द्वारा तीर्थंकरोंके स्तवनका उदाहरण—जो अपने शरीरकी कान्तिसे दस दिशाओंको स्नान कराते हैं, अपने तेजसे उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यके भी तेजको रोक देते हैं, अपने रूपसे मनुष्योंके मनको हर लेते हैं, अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा भव्यजीवोंके कानोंमें साक्षात् सुखरूप अमृतकी वर्षा करते हैं, वे एक हजार आठ लक्षणोंके धारी

लोकोत्तमानां—परभागप्राप्तप्रभुत्वभाक्त्वात्तीर्थकृताम् । यदाह—

'तित्थयराण पहुत्तं णेहो बलदेव-केसवाणं च ।
दुक्खं च सवत्तीणं तिण्णि वि परभागपत्ताइं ॥' [ ] ॥४१॥

अथ क्षेत्रस्तवमाह—

क्षेत्रस्तवोऽर्हतां स स्यात्तत्स्वर्गावतरादिभिः ।
पूतस्य पूर्वनाद्र्याद्यैर्यत्प्रदेशस्य वर्णनम् ॥४२॥

पुरित्यादि—पुरोऽयोध्यादयः । वनानि सिद्धार्थादीनि । अद्रयः—कैलासादयः । आदिशब्देन नद्यादि-परिग्रहः ॥४२॥

अथ कालस्तवमाह—

कालस्तवस्तीर्थकृतां स ज्ञेयो यदनेहसः ।
तद्गर्भावतराद्युद्धक्रियादृप्तस्य कीर्तनम् ॥४३॥

स्पष्टम् ॥४३॥

तीर्थंकर वन्दनीय हैं। तथा—इन्द्र आदि देवगणोंने जन्मकल्याणकके समय जिनको मुकुट, कुण्डल और रत्नहारसे भूषित किया तथा चरणकमलोंकी स्तुति की, उत्तम वंश तथा जगत्के लिए दीपकके तुल्य तीर्थंकर जिनेन्द्र मुझे सदा शान्तिदायक होवें।

दीक्षा वृक्षोंके द्वारा भगवान्की स्तुतिका उदाहरण—वट, सप्तच्छद, शाल, सरल, प्रियंगु, शिरीष, नागकेशर, साल, पाकर, श्रीवृक्ष, तेंदुआ, पाटला, जामुन, पीपल, कैंत, नन्दीवृक्ष, नारंगवृक्ष, आम्र, अशोक, चम्पक, बकुल, वांशिक, धव, शाल ये चौबीस तीर्थंकरोंके दीक्षावृक्ष हैं। इन वृक्षोंके नीचे उन्होंने दीक्षा धारण की थी। 'लोकोत्तम' शब्दसे तीर्थंकर ही लिये जाते हैं क्योंकि उनकी प्रभुता सर्वोत्कृष्ट होती है। कहा है—तीर्थंकरोंका प्रभुत्व, बलदेव और नारायणका स्नेह और सपत्नीका दुःख ये तीनों सर्वोत्कृष्ट होते हैं। यह द्रव्यस्तवका स्वरूप है ॥४१॥

आगे क्षेत्रस्तवको कहते हैं—

तीर्थंकरोंके स्वर्गावतरण, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाणकल्याणकोंसे पवित्र अयोध्या आदि नगर, सिद्धार्थ आदि वन और कैलास आदि पर्वत प्रदेशका जो स्तवन है वह क्षेत्रस्तव है ॥४२॥

कालस्तवको कहते हैं—

तीर्थंकरोंके गर्भावतरण, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाणकल्याणकोंकी प्रशस्त क्रियाओंसे गर्वयुक्त हुए कालका वर्णन तीर्थंकरोंका कालस्तव है अर्थात् जिन समयोंमें कल्याणकी क्रियाएँ हुई उनका स्तवन कालस्तव है ॥४३॥

१. पद्मपुराण २०।३६-६०।
'न्यग्रोधो मदगन्धिसर्जमुशनश्यामे शिरीषोऽर्हता-
मेते ते किल नागसर्जजटिनः श्रीतिन्दुकः पाटलः ।
जम्ब्वश्वत्थकपित्थ नन्दिकविटाम्राकञ्जुलश्चम्पको
जीयासुर्वकुलोऽत्र वांशिकधवौ शालश्च दीक्षाद्रुमाः ॥'—आशाधर प्रतिष्ठापाठ।

अथ भावस्तवमाह—

वर्ण्यन्तेऽनन्यसामान्या यत्कैवल्यादयो गुणाः ।
भावकैर्भावसर्वस्वदिशां भावस्तवोऽस्तु सः ॥४४॥

भावसर्वस्वदिशां—जीवादिपदार्थाश्रितद्रव्यगुणपर्यायसंपदुपदेशिनाम् । भावस्तवः । स स्वयंकृतो यथा—

'विवर्तैः स्वैर्द्रव्यं प्रतिसमयमुद्यद् व्ययदपि
स्वरूपादुल्लोलैर्जलमिव मनागप्यविचलत् ।
अनेहोमाहात्म्याहितनवनवीभावमखिलं
प्रमिन्वानाः स्पष्टं युगपदिह नः पान्तु जिनपाः ॥' [ ]

एष एव भगवतां वास्तवस्तवः केवलज्ञानादिगुणानां तद्वतां चाव्यतिरेकादैक्यसंभवात् । यथाह—

'तं णिच्छए ण जुंजइ ण सरीरगुणा हि हुंति केवलिणो ।
केवलिगुणे थुणइ जो सो तच्चं केवली थुणइ ॥' [समयप्रा., गा. २९] ॥४४॥

भावस्तवको कहते हैं—

भावनामें लीन भव्योंके द्वारा जो केवलज्ञान आदि असाधारण गुणोंका वर्णन किया जाता है वह जीवादि पदार्थोंके आश्रित द्रव्य-गुण-पर्यायरूप सम्पदाका उपदेश देनेवालोंका भावस्तव है ॥४४॥

विशेषार्थ—तीर्थंकर अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा जीवादि पदार्थोंके स्वरूपका उपदेश करते समय द्रव्य-गुण-पर्यायका विवेचन करते हैं। वे जीवकी शुद्ध दशा और अशुद्ध दशाका विभेद करके शुद्ध जीवके स्वरूपका कथन करते हैं। शुद्ध जीवके असाधारण गुणोंका स्तवन भावस्तव है।

आशाधरजीने अपनी टीकामें इसका एक स्वरचित उदाहरण दिया है जिसका भाव है—'जैसे जलमें प्रतिसमय लहरें उठती हैं और विलीन होती हैं फिर भी जल स्वभावसे निश्चल ही रहता है उसी तरह द्रव्य भी प्रतिसमय अपनी पर्यायोंसे उत्पन्न होता और नष्ट होता हुआ भी स्वभावसे रंचमात्र भी विचलित नहीं होता सदा एकरूप ही रहता है। इस प्रकार कालके प्रभावसे होनेवाले समस्त उत्तरोत्तर नये-नयेपनेको एक साथ स्पष्ट रूपसे जाननेवाले जिनदेव हमारी रक्षा करें।'

वास्तवमें भावस्तव ही यथार्थ स्तव है क्योंकि केवलज्ञानादि गुणका शुद्धात्माके साथ अभेद है। क्षेत्र, काल, शरीर आदि तो सब बाह्य हैं।

आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—शरीरादिके स्तवनसे केवलीका स्तवन निश्चय दृष्टिसे ठीक नहीं है क्योंकि शरीरके गुण केवलीके गुण नहीं हैं अतः जो केवलीके गुणोंका स्तवन करता है वही वास्तवमें केवलीका स्तवन करता है ॥४४॥

१. 'विवर्तैः स्वैर्द्रव्यं प्रतिसमयमुद्यद् व्ययदपि
स्वरूपादुल्लोलैर्जलमिव मनागप्यविचलत् ॥
अनेहोमाहात्म्याहितनवनवीभावमखिलं
प्रमिन्वानाः स्पष्टं युगपदिह नः पान्तु जिनपाः ॥'—अनगा. धर्म. टी.।

अथ व्यवहारनिश्चयस्तवयोः फलविभागं प्रपूरयन्नुपयोगाय प्रेरयति—

लोकोत्तराभ्युदयशर्मफलां सृजन्त्या
पुण्यावलीं भगवतां व्यवहारनुत्या ।
चित्तं प्रसाद्य सुधियः परमार्थनुत्या
स्तुत्ये नयन्तु लयमुत्तमबोधसिद्धयै ॥४५॥

स्तुत्ये—शुद्धचिद्रूपस्वरूपे ॥४५॥

अथ एकादशभिः पद्यैर्वन्दनां व्याचिख्यासुरादितस्तावत्तल्लक्षणमाह—

वन्दना नतिनुत्याशीर्जयवादादिलक्षणा ।
भावशुद्धया यस्य तस्य पूज्यस्य विनयक्रिया ॥४६॥

जयवादादि । आदिशब्देन नामनिर्वचनगुणानुध्यान-बहुवचनोच्चारणसकृद्वन्दनाद्यर्चनादि । प्रणतिर्वन्दनेति कश्चित् । उक्तं च—

'कर्मारण्यहुताशनां परानां परमेष्ठिनाम् ।
प्रणतिर्वन्दनाऽवादि त्रिशुद्धा त्रिविधा बुधैः ॥' [अमित , श्रा. ८।३३]

यस्य तस्य—अर्हदादीनां वृषभादीना चाऽन्यतमस्य । विनयक्रिया—विनयकर्म ।

उक्तं च—

'किदियम्मं चिदियम्मं पूजाकम्मं च विणयकम्मं च ।' [मूलाचार गा ५७६] ॥४६॥

आगे व्यवहारस्तव और निश्चयस्तवके फलमें भेद बतलाकर उसमें लगनेकी प्रेरणा करते हैं—

तीर्थंकरोंके ऊपर कहे गये नामस्तव आदि रूप व्यवहारस्तवनसे पुण्यकी परम्परा प्राप्त होती है जिसके फलस्वरूप अलौकिक सांसारिक अभ्युदयका सुख प्राप्त होता है। उसके द्वारा चित्तको सन्तुष्ट करके बुद्धिमानोंको निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए तीर्थंकरोंके निश्चयस्तवनके द्वारा शुद्ध चित्स्वरूपमें चित्तको लीन करना चाहिए ॥४५॥

विशेषार्थ—ऊपर जो चतुर्विंशतिस्तवके भेद कहे हैं उनमें एक भाव स्तव ही परमार्थसे स्तव है क्योंकि उसमें तीर्थंकरोंके आत्मिक गुणोंका स्तवन होता है। इस भावस्तवके द्वारा ही शुद्ध चिद्रूपमें चित्तको लीन किया जा सकता है। और शुद्ध चिद्रूपमें चित्तके लीन होनेसे ही निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है। किन्तु द्रव्यस्तव, क्षेत्रस्तव, कालस्तव आदिसे पुण्यबन्ध होता है। वह पुण्यबन्ध भी तभी होता है जब लौकिक सुखकी कामनाको छोड़कर स्तवन किया जाता है। लौकिक सुखकी कामनासे स्तवन करनेसे तो पुण्यबन्ध भी नहीं होता ॥४५॥

आगे ग्यारह श्लोकोंसे वन्दनाका स्वरूप कहनेकी इच्छा रखकर प्रथम ही वन्दनाका लक्षण कहते हैं—

अर्हन्त, सिद्ध आदि या चौबीस तीर्थंकरोंमें-से किसी भी पूजनीय आत्माका विशुद्ध परिणामोंसे नमस्कार, स्तुति, आशीर्वाद-जयवाद आदिरूप विनयकर्मको वन्दना कहते हैं ॥४६॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें वन्दनाके नामान्तर इस प्रकार कहे हैं 'किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च ।'—७।७९। अर्थात् जिस अक्षरसमूहसे या परिणामसे या क्रियासे आठों कर्मोका कर्तन या छेदन होता है उसे कृतिकर्म कहते हैं अर्थात् पापके विनाशके उपायका नाम कृतिकर्म है। जिससे तीर्थंकर आदि पुण्यकर्मका संचय होता है उसे चिति-

अथ को विनय इत्याह—

हिताहितासिलुप्त्यर्थं तदङ्गानां सदाञ्जसा।
यो माहात्म्योद्भवे यत्नः स मतो विनयः सताम् ॥४७॥

तदङ्गानां—हितप्राप्त्यहितछेदनसाधनानाम्। अञ्जसा—निर्व्याजम्। माहात्म्योद्भवे—शक्ति-विशेषस्योत्पादे उल्लासे वा ॥४७॥

अथ विनयस्य पञ्चविधत्वमनुवर्ण्य मोक्षार्थस्य तस्य निर्जरार्थिनामवश्यकर्तव्यतामुपदिशति—

लोकानुवृत्तिकामार्थभयनिश्रेयसाश्रयः।
विनयः पञ्चधावश्यकार्योऽन्त्यो निर्जरार्थिभिः ॥४८॥

लोकानुवृत्तिः—व्यवहारिजनानुकूलाचरणम्। उक्तं च—

'लोकानुवर्तनाहेतुस्तथा कामार्थहेतुकः।
विनयो भवहेतुश्च पञ्चमो मोक्षसाधनः ॥'
उत्थानमञ्जलिः पूजाऽतिथेरासनढौकनम्।
देवपूजा च लोकानुवृत्तिकृद् विनयो मतः ॥
भाषाच्छन्दानुवृत्तिं च प्रदानं देशकालयोः।
लोकानुवृत्तिरर्थाय विनयश्चाञ्जलिक्रिया ॥

कर्म अर्थात् पुण्य संचयका कारण कहते हैं। जिससे अर्हत् आदिकी पूजा की जाती है उसे पूजाकर्म कहते हैं। जिससे कर्मोंका संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि होकर निराकरण किया जाता है उसे विनयकर्म कहते हैं। ये सब वन्दनाके नामान्तर हैं। आ. अमितगतिने भी कहा है—कर्मरूपी जंगलको जलानेके लिए अग्निके समान पाँच परमेष्ठियोंका मन-वचन-कायकी शुद्धि पूर्वक नमस्कार करनेको विद्वान् वन्दना कहते हैं। मन-वचन-कायसे करनेसे उसके तीन भेद होते हैं ॥४६॥

आगे विनयका स्वरूप कहते हैं—

हितकी प्राप्ति और अहितका छेदन करनेके लिए, जो हितकी प्राप्ति और अहितके छेदन करनेके उपाय हैं उन उपायोंका सदा छल-कपटरहित भावसे माहात्म्य बढ़ानेका प्रयत्न करना, उन उपायोंकी शक्तिको बढ़ाना, इसे साधुजन विनय कहते हैं ॥४७॥

आगे विनयके पाँच भेद बताकर निर्जराके अभिलाषियोंको पाँचवें भेद मोक्षार्थ विनयको अवश्य पालनेका उपदेश देते हैं—

विनयके पाँच भेद कहते हैं—लोकानुवृत्तिहेतुक विनय, कामहेतुक विनय, अर्थहेतुक विनय, भयहेतुक विनय और मोक्षहेतुक विनय। व्यवहारीजनोंके अनुकूल आचरण करना लोकानुवृत्तिहेतुक विनय है। जिससे सब इन्द्रियाँ प्रसन्न हों उसे काम कहते हैं। जिस विनयका आश्रय काम है वह कामहेतुक विनय है। जिससे सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं उसे अर्थ कहते हैं। अर्थमूलक विनय अर्थहेतुक विनय है। भयसे जो विनय की जाती है वह भयहेतुक विनय है। और जिस विनयका आश्रय मोक्ष है अर्थात् मोक्षके लिए जो विनय की जाती है वह मोक्षहेतुक विनय है। जो मुमुक्षु कर्मोंकी निर्जरा करना चाहते हैं उन्हें मोक्षहेतुक विनय अवश्य करना चाहिए ॥४८॥

१. भवहे—भ. कु. च.।

कामतन्त्रे भये चैव ह्येवं विनय इष्यते ।
विनयः पञ्चमो यस्तु तस्यैषा स्यात्प्ररूपणा ॥' [   ]

अन्त्यः—मोक्षविनयः । स च दर्शनादिभेदात् पञ्चधा प्राक् प्रपञ्चितः ॥४८॥

अथ नामादिनिक्षेपभेदात् षोढा वन्दनां निर्दिशन्नाह—

नामोच्चारणमर्चाङ्गकल्याणावन्यनेहसाम् ।
गुणस्य च स्तवाश्चैकगुरोर्नामादिवन्दना ॥४९॥

अर्चा—प्रतिमा । कल्याणावन्यनेहसो—गर्भादिकल्याणानां भूमिः कालश्च ॥४९॥

अथावान्तरवन्द्यान् वन्दारुं च निर्दिशति—

सूरि-प्रवर्त्युपाध्याय-गणि-स्थविर-रात्निकान् ।
यथार्हं वन्दतेऽमानः संविग्नोऽनलसो यतिः ॥५०॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें (७८३-८६) विनयके पाँच भेद बताकर उनका स्वरूप इस प्रकार कहा है—किसीके आनेपर अपने आसनसे उठकर दोनों हाथ जोड़ना, अतिथिको आसन देना, उसका सत्कार करना, मध्याह्नकालमें साधुके या अन्य किसी धार्मिकके आनेपर उसका बहुमान करना, अपने विभवके अनुसार देवपूजा करना ये सब लोकानुवृत्ति नामक विनय है । अतिथिके मनके अनुकूल बोलना, उसके अनुकूल आचरण करना, देश-कालके योग्य दान देना यह सब भी लोकानुवृत्ति विनय है, लोगोंको अपने अनुकूल करनेके लिए की जाती है । इसी तरह अर्थके लिए जो विनय की जाती है वह अर्थहेतु विनय है । जैसे पैसेके लिए धनीकी खुशामद करना । कामशास्त्रमें जो स्त्रीको अपने अनुकूल करनेके लिए विनय कही है वह कामहेतुक विनय है । किसी भयसे जो विनय की जाती है वह भयहेतुक विनय है । और पहले जो दर्शन विनय आदि पाँच प्रकारकी विनय कही है वह मोक्षहेतुक विनय है । मुमुक्षुको वह विनय अवश्य पालना चाहिए उसके बिना कर्मोंकी निर्जरा नहीं हो सकती ॥४८॥

आगे नाम आदि निक्षेपके भेदसे छह प्रकारकी वन्दना कहते हैं—

वन्दनाके नामादि निक्षेपोंकी अपेक्षा छह भेद हैं—नामवन्दना, स्थापनावन्दना, द्रव्यवन्दना, कालवन्दना, क्षेत्रवन्दना और भाववन्दना । अर्हन्त आदिमें-से किसी भी एक पूज्य पुरुषका नाम उच्चारण अथवा स्तवन आदि नामवन्दना है । जिनप्रतिमाका स्तवन स्थापनावन्दना है । जिन भगवान्‌के शरीरका स्तवन द्रव्यवन्दना है । जिस भूमिमें कोई कल्याणक हुआ हो, उस भूमिका स्तवन क्षेत्रवन्दना है । जिस कालमें कोई कल्याणक हुआ हो उस कालका स्तवन कालवन्दना है । और भगवान्‌के गुणोंका स्तवन भाववन्दना है ॥४९॥

आगे अन्य वन्दनीय पुरुषोंको बतलाकर वन्दना करनेवाले साधुका स्वरूप बतलाते हैं—

संसारसे भयभीत, निरालसी श्रमण आचार्य, प्रवर्तक, उपाध्याय, गणी, स्थविर तथा रत्नत्रयके विशेष रूपसे आराधकोंको मानरहित होकर यथायोग्य वन्दना करता है ॥५०॥

विशेषार्थ—जो संघका पोषक, रक्षण और अनुग्रह तथा निग्रह करते हैं वे आचार्य कहे जाते हैं । जो आचार आदिमें प्रवृत्ति कराते हैं उन्हें प्रवर्तक कहते हैं । जिनके पास

सूरिः—सारणवारणकारो । प्रवर्ती—प्रवर्तकः । गणी—गणरक्षको राजसभोविदितः[1] । स्थविरः—मर्यादाकारकः । रात्निकः—रत्नत्रयाधिकः । अमानः—अगर्वः ॥५०॥

अथ विधिवन्दनाया विप्रकर्षवशाद् विषयविभागार्थमाह—

> गुरौ दूरे प्रवर्ताद्या वन्द्या दूरेषु तेष्वपि ।
> संयतः संयतैर्वन्द्यो विधिना दीक्षया गुरुः ॥५१॥

गुरौ—आचार्ये । दूरे—देशान्तरिते । गुरुः—ज्येष्ठः ॥५१॥

अथ सागारेतरयत्योरवन्दनीयान्निर्दिशति—

> श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाऽप्यसंयताः ।
> कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपि संयतैः ॥५२॥

श्रावकेणापि—यथोक्तानुष्ठाननिष्ठेन सागारेणापि किं पुनरनगारेणेत्यपि शब्दार्थः । गुरू—दीक्षागुरुः शिक्षागुरुश्च । कुलिङ्गिनः—तापसादयः पार्श्वस्थादयश्च । कुदेवाः—रुद्रादयः शासनदेवतादयश्च । सोऽपि—शास्त्रोपदेशा[2]दिकारी श्रावकोऽपि ॥५२॥

मुनिजन शास्त्राध्ययन करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। गणके रक्षक साधुको गणी कहते हैं। मर्यादाके कारक साधुओंको स्थविर कहते हैं। इन सभीकी वन्दना साधुओंको करना चाहिए ॥५०॥

आगे आचार्य आदिके दूर रहनेपर वन्दनाके विषयविभागको बतलाते हैं—

यदि आचार्य देशान्तरमें हों तो मुनियोंको कर्मकाण्डमें कही गयी विधिके अनुसार प्रवर्तक आदिकी वन्दना करनी चाहिए। यदि वे भी दूर हों तो मुनियोंको जो अपनेसे दीक्षामें ज्येष्ठ मुनि हों, उनकी वन्दना करनी चाहिए ॥५१॥

देश संयमी श्रावकों और मुनियोंको जिनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए उनका निर्देश करते हैं—

मुनिकी तो बात ही क्या, यथोक्त अनुष्ठान करते हुए श्रावकको भी माता-पिता, शिक्षा-गुरु, दीक्षा-गुरु और राजा यदि असंयमी हों तो उनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए। तथा तापस आदि और पार्श्वस्थ आदि कुलिंगियोंकी व रुद्र आदि और शासन देवता आदि कुदेवोंकी भी वन्दना नहीं करनी चाहिए। और श्रावक यदि शास्त्रोपदेशका अधिकारी भी हो तो भी उसकी वन्दना मुनिको नहीं करनी चाहिए ॥५२॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें श्रावकके लिए इनकी वन्दनाके निषेधका कथन नहीं है। उसमें केवल मुनिके द्वारा जो अवन्दनीय हैं उन्हींका निर्देश है[3]। यथा—टीकाकार आचार्य वसुनन्दीने उसका अर्थ इस प्रकार किया है—मुनि होकर मोहवश असंयमी माता-पिता या अन्य किसीकी स्तुति नहीं करनी चाहिए। भय या लोभसे राजाकी स्तुति न करें। ग्रह आदिकी पीड़ाके भयसे सूर्य, चन्द्र, नाग, यक्ष आदिको न पूजे। शास्त्र आदिके लोभसे अन्य धर्मियोंकी स्तुति न करे। आहार आदिके निमित्त श्रावककी स्तुति न करे। या श्रावक शास्त्र आदिका पण्डित हो तो भी उसकी वन्दना न करे। अपना गुरु भी यदि भ्रष्ट हो गया हो तो

---

१. -भाविदि—भ. कु. च. ।

२. देशाधिका—भ. कु. च. ।

३. 'णो वंदेज्ज अविरदं मादा पिदु गुरु णरिंदं अण्णतित्थं व ।
देशविरद देवं वा विरदो पासत्थ पणगं च ॥'—मूलाचार, ७।९५ ।

अथ संयतेऽपि वन्दनाविधिनियमार्थमाह—

वन्द्यो यतोऽप्यनुज्ञाप्य काले साध्वासितो न तु ।
व्याक्षेपाहारनीहारप्रमादविमुखत्वयुक् ॥५३॥

अनुज्ञाप्य—भगवन् वन्देऽहमिति विज्ञापनया वन्द्यस्येदनुज्ञां कारयित्वा इत्यर्थः। साध्वासितः—सम्यगुपविष्टः। उक्तं च—

'आसने ह्यासनस्थं च शान्तचित्तमुपस्थितम् ।
अनुज्ञाप्यैव मेधावी कृतिकर्म निवर्तयेत् ॥' [ ]

नेत्यादि। उक्तं च—

'व्याक्षिप्तं च पराचीनं मा वन्दिष्ठाः प्रमादिनम् ।
कुर्वन्तं सन्तमाहारं नीहारं चापि संयतम् ॥' [ ] ॥५३॥

अथ काल इति व्याचष्टे—

वन्द्या दिनादौ गुर्वाद्या विधिवद्विहितक्रियैः ।
मध्याह्ने स्तुतदेवैश्च सायं कृतप्रतिक्रमैः ॥५४॥

विहितक्रियैः—कृतप्राभातिकानुष्ठानैः। स्तुतदेवैश्च, चशब्दोऽत्र नैमित्तिकक्रियानन्तरं विधिवन्दनासमुच्चयार्थः ॥५४॥

उसकी वन्दना न करे। अन्य भी कोई अपना उपकारी यदि असंयमी हो तो उसकी वन्दना न करे। तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच भ्रष्ट मुनियोंकी वन्दना न करें। पं. आशाधरजीने मूलाचारके इस कथनको श्रावक पर लगाया है क्योंकि उन्होंने शायद सोचा होगा मुनि तो ऐसा करेगा नहीं। श्रावक ही कर सकता है ॥५२॥

आगे संयमियोंकी भी वन्दनाकी विधिके नियम बताते हैं—

संयमी साधुको संयमी साधुकी वन्दना भी वन्दनाके योग्य कालमें जब वन्दनीय साधु अच्छी तरह से बैठे हुए हों, उनकी अनुज्ञा लेकर, करना चाहिए। यदि वन्दनीय साधु किसी व्याकुलतामें हों, या भोजन करते हों, या मल-मूत्र त्याग करते हों, या असावधान हों या अपनी ओर उन्मुख न हों तो वन्दना नहीं करनी चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थ—वन्दना उचित समय पर ही करनी चाहिए। साथ ही जिन साधुकी वन्दना करनी हो उनको सूचित करके कि भगवन्! मैं वन्दना करता हूँ, उनकी अनुज्ञा मिलने पर वन्दना करनी चाहिए। कहा है—जब वन्दनीय साधु एकान्त प्रदेशमें पर्यंक आदि आसनसे बैठे हों, उनका चित्त स्वस्थ हो तब वन्दना करनी चाहिए। तथा वन्दना करनेसे पहले उनसे निवेदन करना चाहिए कि मैं आपकी वन्दना करना चाहता हूँ। यदि वे कार्य व्यग्र हों, उनका ध्यान उस ओर न हो तो ऐसी अवस्थामें वन्दना नहीं करनी चाहिए। कहा है—'जब उनका चित्त ध्यान आदिमें लगा हो, या वह उधरसे मुँह मोड़े हुए हों, प्रमादसे ग्रस्त हों, आहार करते हों या मलमूत्र त्यागते हों तो ऐसी अवस्थामें वन्दना नहीं करनी चाहिए'॥५३॥

आगे वन्दनाका काल कहते हैं—

प्रातःकालमें प्रातःकालीन अनुष्ठान करनेके पश्चात्, क्रियाकाण्डमें कहे हुए विधानके अनुसार, आचार्य आदिकी वन्दना करनी चाहिए। मध्याह्नमें देव वन्दनाके पश्चात् वन्दना करनी चाहिए। और सन्ध्याके समय प्रतिक्रमण करके वन्दना करनी चाहिए। 'च' शब्दसे प्रत्येक नैमित्तिक क्रियाके अनन्तर वन्दना करनी चाहिए ॥५४॥

अथाचार्यशिष्ययोः शेषयतीनां च वन्दनाप्रतिवन्दनयोर्विभागनिर्णयार्थमाह[1]—

सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दनाप्रतिवन्दने ।
गुरुशिष्यस्य साधूनां तथा मार्गादिदर्शने ॥५५॥

गुरुशिष्यस्य—गुरुश्च शिष्यश्चेति समाहारः । मार्गादि—आदिशब्दान्मलोत्सर्गोत्तरकालं कायोत्सर्गानन्तरदर्शनेऽपि ॥५५॥

अथ सामायिकादित्रयस्य व्यवहारानुसारेण प्रयोगविधिं दर्शयति—

सामायिकं णमो अरहंताणमिति प्रभृत्यथ स्तवनम् ।
थोसामीत्यादि जयति भगवानित्यादिवन्दनां युञ्ज्यात् ॥५६॥

जयति भगवानित्यादि । अत्रैक आदिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तेन अर्हत्सिद्धादिवन्दना गृह्यते ॥५६॥

अथ प्रतिक्रमणस्य लक्षणविकल्पनिर्णयार्थमाह—

आगे आचार्य और शिष्यमें तथा शेष संयमियोंमें वन्दना और प्रतिवन्दनाका निर्णय करते हैं—

सभी नित्य और नैमित्तिक कृतिकर्मके प्रारम्भमें शिष्यको आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए और उसके उत्तरमें आचार्यको शिष्यकी वन्दना करनी चाहिए। इसके सिवाय मार्गमें अन्य यतियोंको देखनेपर परस्परमें वन्दना-प्रतिवन्दना करनी चाहिए। आदि शब्दसे मलत्यागके पश्चात् तथा कायोत्सर्गके पश्चात् यतियोंको देखनेपर परस्परमें वन्दना-प्रतिवन्दना करनी चाहिए ॥५५॥

विशेषार्थ—मूलाचार (७।१०२) में कहा है कि आलोचना करते समय, छह आवश्यक करते समय, प्रश्न करते समय, पूजा करते समय, स्वाध्याय करते समय और क्रोध आदि अपराध होनेपर आचार्य आदिकी वन्दना करनी चाहिए ॥५५॥

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दनाका वर्णन करनेके पश्चात् व्यवहारके अनुसार इन तीनोंकी प्रयोग विधि बतलाते हैं—

संयमी साधुओंको और देशसंयमी श्रावकोंको 'णमो अरहंताणं' इत्यादि सामायिक-दण्डकपूर्वक प्रथम सामायिक करना चाहिए। उसके पश्चात् 'थोस्सामि' इत्यादि स्तव-दण्डक पूर्वक चतुर्विंशतिस्तव करना चाहिए। उसके पश्चात् 'जयति भगवान्' इत्यादि चैत्यभक्तिपूर्वक वन्दना करनी चाहिए ॥५६॥

विशेषार्थ—दशभक्ति नामक शास्त्रके प्रारम्भमें सामायिक दण्डक दिया है। इसमें णमोकार मन्त्र चत्तारि मंगल आदि दण्डक देकर कृतिकर्म करनेकी प्रतिज्ञा आदि है। इस सबको भाव सहित पढ़कर सामायिक करना चाहिए। इसके पश्चात् 'थोस्सामि हं जिणवरे' इत्यादि स्तुति तीर्थंकरोंकी है इस दण्डकको पढ़कर चतुर्विंशतिस्तव करना चाहिए। चैत्य-भक्तिके प्रारम्भमें 'जयति भगवान्' इत्यादि चैत्यभक्ति है इसे पढ़कर वन्दना करनी चाहिए। यह इनकी विधि है। आदि शब्दसे अर्हन्त, सिद्ध आदिकी भी वन्दना की जाती है ॥५६॥

आगे चतुर्थ आवश्यक प्रतिक्रमणके भेद और लक्षण कहते हैं—

१. -योर्विषयवि—भ. कु. च.।

अहर्निशापक्षचतुर्मासाब्देर्योत्तमार्थभूः ।
प्रतिक्रमस्त्रिधा ध्वंसो नामाद्यालम्बनागसः ॥५७॥

अहरित्यादि । अहः, संवत्सरः, ईर्यापथः । उत्तमार्थः निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्गविसर्गसमर्थो यावज्जीवं चतुर्विधाहारपरित्यागः । अहरादिषु सप्तसु भवत्यहरादयो वा सप्त भुवो विषया यस्येत्याह्निकादिभेदात् सप्तविध इत्यर्थः । उक्तं च—

'ऐर्यापथिकरात्र्युत्थं प्रतिक्रमणमाह्निकम् ।
पाक्षिकं च चतुर्मासवर्षोत्थं चोत्तमार्थिकम् ॥' [ ]

तथालोचनापूर्वकत्वात्प्रतिक्रमणाया. सापि तद्वत् सप्तधा स्यादित्यपि बोद्धव्यम् । उक्तं च—

'आलोचणं दिवसियं राइय इरियावहं च बोद्धव्वं ॥
पक्खय-चाउम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥' [मूलाचार, गा. ६१९]

त्रिधा—मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतैश्च । अथवा निन्दनगर्हणालोचनैर्मनोवाक्कायैर्वा । ध्वंसः—आत्मनोऽपसारणमिति ग्राह्यम् ।

नामस्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आलम्बनसे उत्पन्न हुए अपराधके अथवा संचित हुए पापके मन-वचन-काय, अथवा कृत, कारित, अनुमोदनाके द्वारा दूर करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं। दिन, रात, पक्ष, चतुर्मास, वर्ष, ईर्यापथ और उत्तमार्थके भेदसे प्रतिक्रमणके सात भेद हैं ॥५७॥

विशेषार्थ—प्रतिक्रमण कहते हैं लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिको। दोष लगनेके आलम्बन हैं नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। अतः उनके शोधनको नामप्रतिक्रमण, स्थापना-प्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण कहते हैं। कहा है—'प्रमादसे लगे हुए दोषोंसे अपनेको दूर करके गुणोंकी ओर प्रवृत्ति करना प्रतिक्रमण है। अथवा किये हुए दोषोंकी विशुद्धिको प्रतिक्रमण कहते हैं। यह दोषविशुद्धि निन्दा, आलोचना और गर्हणासे की जाती है। अर्थात् अपराधी व्यक्ति अपने किये गये दोषोंके लिए अपनी निन्दा और गर्हा करता है, गुरुसे अपने दोषको कहता है। इस तरह अन्तरंगसे पश्चात्ताप करनेसे किये हुए दोषोंकी विशुद्धि होती है।' इसीसे सामायिक पाठमें कहा है—'जैसे वैद्य मन्त्रके गुणोंसे समस्त विषको नष्ट कर देता है वैसे ही मैं विनिन्दा, आलोचना और गर्हाके द्वारा मन-वचन-काय और कषायके द्वारा किये गये पापको, जो सांसारिक दुःखोंका कारण है, नष्ट करता हूँ।' यह प्रतिक्रमण दिनमें, रातमें, पन्द्रह दिनमें, चार-चार मासमें तथा वर्ष आदिमें किया जाता है इससे उसके सात प्रकार हैं। दिनके समय नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे होनेवाले कृत कारित और अनुमत दोषका मन-वचन कायसे शोधन करना दैवसिक प्रतिक्रमण है। रात्रिके समयमें होनेवाले छह प्रकारके कृत-कारित और अनुमत दोषोंका मन-वचन-कायसे शोधन करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। छह कायके जीवोंके विषयमें लगे हुए दोषोंका विशोधन करना ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है। पन्द्रह दिन-रातोंमें छह नामादिके आश्रयसे हुए कृत, कारित, अनुमत दोषका मन-वचन-कायसे शोधन करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। इसी प्रकार चार-चार मासमें हुए दोषोंका विशोधन चातुर्मासिक और एक वर्षमें हुए दोषोंका विशोधन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है। समस्त दोषोंकी आलोचना करके जीवनपर्यन्तके लिए चारों प्रकारके आहारका त्याग

'विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं मनोवचःकायकषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥'
[द्वात्रिंशतिका]

नामेत्यादि—नामस्थापनादिषट्काश्रितस्यापराधस्य पापस्य वेत्यर्थः । तदेतत् प्रतिक्रमणलक्षणम् । उक्तं च—

'प्रमादप्राप्तदुःखेभ्यः प्रत्यावृत्य गुणावृतिः ।
स्यात्प्रतिक्रमणा यद्वा कृतदोषविशोधना ॥' [ ] ॥५७॥

अथैवमाचारशास्त्रमतेन सप्तविधं प्रतिक्रमणमभिधाय शास्त्रान्तरोक्ततद्भेदान्तराणामत्रैवान्तर्भावप्रकाशनार्थमाह—

सोऽन्त्ये गुरुत्वात् सर्वातीचारदीक्षाश्रयोऽपरे ।
निषिद्धिकेर्यालुञ्चाशदोषार्थश्च लघुत्वतः ॥५८॥

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। इसमें सब दोषोंके प्रतिक्रमणका अन्तर्भाव हो जाता है। ये सभी प्रतिक्रमण साधुके लिए यथासमय करणीय होते हैं।

श्वेताम्बरीय स्थानांग सूत्र (स्था॰ ६ठा) में छह प्रतिक्रमण कहे हैं—उच्चार, प्रश्रवण, इत्वर, यावत्कथिक, यत्किंचन मिथ्या और स्वापनान्तिक। मलत्याग करनेके बाद जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह उच्चार प्रतिक्रमण है। मूत्रत्याग करके जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह प्रश्रवण प्रतिक्रमण है। अल्पकालीन प्रतिक्रमणको इत्वर कहते हैं इसमें दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण आ जाते हैं। यावज्जीवनके लिए भोजनका त्याग यावत्कथिक प्रतिक्रमण है। नाक, कफ आदि त्यागनेमें जो दोष लगता है वह मिथ्या हो इस प्रकारके प्रतिक्रमणको यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण कहते हैं। सोते समय हुए दोषोंके लिए या स्वप्नमें किये हिंसा आदि दोषोंको दूर करनेके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमणको स्वापनान्तिक कहते हैं। आवश्यक सूत्रमें दैवसिक, रात्रिक, इत्वर, यावत्कथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ भेद कहे हैं। उसकी टीकामें यह प्रश्न किया गया है कि जब प्रतिदिन किये जानेवाले प्रतिक्रमणसे ही दोषोंकी विशुद्धि हो जाती है तब पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणोंकी क्या आवश्यकता है। इसके उत्तरमें घरका दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे घरकी सफ़ाई प्रतिदिन की जाती है फिर भी पक्ष आदि बीतनेपर विशेष रूपसे सफ़ाई की जाती है वैसे ही प्रतिक्रमणके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए ॥५७॥

इस प्रकार आचारशास्त्रके मतसे सात प्रकारके प्रतिक्रमणको कहकर अन्य शास्त्रोंमें कहे गये प्रतिक्रमणके भेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव दिखलाते हैं—

सर्वातिचार सम्बन्धी और दीक्षा सम्बन्धी प्रतिक्रमण अन्तके उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत होते हैं क्योंकि उन प्रतिक्रमणोंमें भक्ति उच्छ्वास और दण्डकपाठ बहुत हैं। तथा निषिद्धिका गमन, केशलोंच, गोचरी और दुःस्वप्न आदि अतीचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणोंका अन्तर्भाव ऐर्यापथिक आदि प्रतिक्रमणोंमें होता है, क्योंकि इनमें भक्ति उच्छ्वास और दण्डकपाठ अल्प होते हैं ॥५८॥

---

१. 'पडिकमणं देवसिअ राइअं च इत्तरिअमावकहियं च ।
पक्खिअ चाउम्मासिअ संवच्छरि उत्तमट्ठे अ' ॥—आवश्यक ४।२१ ।

स इत्यादि । सः—प्रतिक्रमः । अन्त्ये—उत्तमार्थे । गुरुत्वात्—भक्त्युच्छ्वासदण्डकपाटबहुत्वात् । सर्वातिचाराः—दीक्षाग्रहणात् प्रभृति संन्यासग्रहणं यावत् कृता दोषाः । दीक्षा—व्रतादानम् । सर्वातिचारप्रतिक्रमणा व्रतारोपणप्रतिक्रमणा चोत्तमार्थप्रतिक्रमणायां गुरुत्वादन्तर्भवत इत्यर्थः । एतेन बृहत्प्रतिक्रमणाः सप्त स्युरित्युक्तं स्यात् । ताश्च यथा—व्रतारोपणी पाक्षिकी कार्तिकान्तचातुर्मासी फाल्गुनान्तचातुर्मासी आषाढान्तसांवत्सरी सार्वातिचारी उत्तमार्थी चेति । आतिचारी त्रिविधाहारव्युत्सर्जनी [1]तां वीतयो (?) [2]रेवान्तर्भवतः । तथा पञ्चसंवत्सरान्ते विधेया यौगान्ती प्रतिक्रमणा सांवत्सरप्रतिक्रमणायामन्तर्भवति । उक्तं च—

'व्रतादाने च पक्षान्ते कार्तिके फाल्गुने शुचौ ।
स्यात् प्रतिक्रमणा गुर्वी दोषे संन्यासने मृते ॥' [ ]

अपर इत्यादि । अपरे—अन्यत्र आह्निकादौ प्रतिक्रमणे । निषिद्धिकेर्या—निषेधिका(णिषिद्धिका)-गमनम् । लुञ्चो—दीक्षाग्रहणोत्तरकाल द्वित्रिचतुर्मासविधेयं हस्तेन केशोत्पाटनम् । आशः—भोजनम् । दोषः—दुस्वप्नाद्यतीचारः । निषिद्धकेर्या च लुञ्चश्चाशश्च दोषश्च । ते चत्वारोऽर्था निमित्तानि यस्य स तथोक्तः । इदमत्र तात्पर्यं निषिद्धिकागमनप्रतिक्रमणा लुञ्चप्रतिक्रमणा चेत्यर्थः ॥५८॥

विशेषार्थ—दीक्षा लेनेके समयसे लेकर संन्यास ग्रहण करनेके समय तक जो दोष होते हैं उन सबकी विशुद्धिके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमणको सर्वातीचार प्रतिक्रमण कहते हैं । व्रत ग्रहण करनेमें लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमणको व्रतारोपण प्रतिक्रमण कहते हैं । ये दोनों ही प्रतिक्रमण गुरु हैं, प्रतिक्रमणके लिए जो भक्ति आदि करनी होती है वह इनमें अधिक करनी होती है । अतः इन दोनोंका अन्तर्भाव उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमें होता है । अतः बृहत् प्रतिक्रमण सात होते हैं, यह निष्कर्ष निकलता है । वे इस प्रकार हैं—व्रतारोपण, पाक्षिक, कार्तिकान्त चातुर्मासिक, फाल्गुनान्त चातुर्मासिक, आषाढान्त वार्षिक, सर्वातीचार सम्बन्धी और उत्तमार्थ । अतिचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणका अन्तर्भाव सर्वातीचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणमें होता है । और जिसमें तीन प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है उसका अन्तर्भाव उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमें होता है । तथा पाँच वर्षके अन्तमें किये जानेवाले युगान्त प्रतिक्रमणका अन्तर्भाव वार्षिक प्रतिक्रमणमें होता है । इस तरह बृहत् प्रतिक्रमण सात हैं । कहा है—'व्रत ग्रहण करनेपर, पक्षके अन्तमें, कार्तिक मास, फाल्गुन मास और आषाढ़ मासके अन्तमें, दोष लगनेपर तथा समाधिपूर्वक मरणमें गुरु प्रतिक्रमण होता है' ॥५८॥

निषिद्धिकामें गमन करनेको निषिद्धिकागमन कहते हैं । दीक्षा ग्रहण करनेके बाद दो मास, तीन मास, या चार मास बीतनेपर जो हाथसे केश उखाड़े जाते हैं उसे लोंच कहते हैं । भोजनको अशन या गोचर कहते हैं । दुःस्वप्न आदि अतीचारको दोष कहते हैं । इन चारोंको लेकर भी प्रतिक्रमण किया जाता है । अतः उन्हें निषिद्धिकागमन प्रतिक्रमण, लुंच प्रतिक्रमण, गोचार प्रतिक्रमण और अतीचार प्रतिक्रमण कहते हैं । ये चारों प्रतिक्रमण लघु होनेसे इनका अन्तर्भाव ईर्यापथ आदि प्रतिक्रमणोंमें होता है । उनमेंसे प्रथमका अन्तर्भाव ऐर्यापथिक प्रतिक्रमणमें और अन्तिमका अन्तर्भाव रात्रि प्रतिक्रमणमें तथा

१. -री सार्वातिचार्यां त्रि—भ. कु. च. ।

२. नी चोत्तमार्थ्यां प्रतिक्रमणायामन्त—भ. कु. च. ।

अथ प्रतिक्रान्तिक्रियायाः कर्तृकर्मकरणाधिकरणकारकाणि लक्षयति—

स्यान्नामादिप्रतिक्रान्तिः परिणामनिवर्तनम् ।
दुर्नामस्थापनाभ्यां च सावद्यद्रव्यसेवनात् ॥५९॥
क्षेत्रकालाश्रिताद्रागाद्याश्रिताच्चातिचारतः ।
परिणामनिवृत्तिः स्यात् क्षेत्रादीनां प्रतिक्रमः ॥६०॥
स्यात् प्रतिक्रमकः साधुः प्रतिक्रम्यं तु दुष्कृतम् ।
येन यत्र च तच्छेदस्तत्प्रतिक्रमणं मतम् ॥६१॥

प्रतिक्रमकः—प्रतिक्रमति प्रतिगच्छति द्रव्यादिविषयादतिचारान्निवर्तते दोषनिर्हरणे वा प्रवर्तत इति प्रतिक्रमकः । पञ्चमहाव्रतादिश्रवणधारणदोषनिर्हरणतत्पर इत्यर्थः । प्रतिक्रम्यं—परित्याज्यम् । दुष्कृतं—मिथ्यात्वाद्यतिचाररूपं पापं तन्निमित्तद्रव्यादिकं वा । येन—मिथ्यादुष्कृताभिधानाभिव्यक्तपरिणामेनाक्षरकदम्बकेन वा । यत्र—यस्मिन् व्रतशुद्धिपूर्वकव्रतस्वरूपे[1] व्रतशुद्धिपरिणते वा जीवे । उक्तं च—

शेष दो का अन्तर्भाव दैवसिक प्रतिक्रमणमें होता है। इस तरह लघु प्रतिक्रमण भी सात होते हैं। कहा है—केशलोंच, रात्रि, दिन, भोजन, निषिद्धिकागमन, मार्ग और दोषको लेकर सात लघु प्रतिक्रमण होते हैं। प्रतिक्रमणमें दोषोंके अनुसार भक्तिपाठ, कायोत्सर्ग आदि किया जाता है। जिन दोषोंकी विशुद्धिके लिए ये अधिक किये जाते हैं उनके प्रतिक्रमणको गुरु कहते हैं और जिनकी विशुद्धिके लिए ये कम किये जाते हैं उन्हें लघु कहते हैं ॥५८॥

आगे दो श्लोकोंके द्वारा नाम आदि छह प्रतिक्रमणोंको कहते हैं—

नाम प्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण, क्षेत्र प्रतिक्रमण, काल प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण ये छह प्रतिक्रमण हैं। जो नाम पापके कारण हैं उनके उच्चारण आदिसे परिणामोंकी निवृत्तिको नाम प्रतिक्रमण कहते हैं। सरागी देवोंकी स्थापनामूलक परिणामोंसे निवृत्तिको स्थापना प्रतिक्रमण कहते हैं। जो भोज्य आदि वस्तु हिंसा आदि पापसे युक्त है उसके सेवनसे परिणामोंकी निवृत्तिको द्रव्य प्रतिक्रमण कहते हैं। क्षेत्र सम्बन्धी दोषोंसे परिणामोंकी निवृत्तिको क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं। काल सम्बन्धी दोषोंसे परिणामोंकी निवृत्तिको काल प्रतिक्रमण कहते हैं। और राग-द्वेष-मोह सम्बन्धी परिणामोंकी निवृत्तिको भाव प्रतिक्रमण कहते हैं ॥५९-६०॥

आगे प्रतिक्रमणरूप क्रियाके कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण कारक बताते हैं—

पाँच महाव्रत आदिके श्रवण और धारणमें लगनेवाले दोषोंको दूर करनेमें तत्पर साधु प्रतिक्रमणका कर्ता होता है। मिथ्यात्व आदि दोषरूप पाप अथवा उसमें निमित्त द्रव्यादि, जो कि छोड़ने योग्य होते हैं वे प्रतिक्रमणरूप क्रियाके कर्म हैं। 'मेरे समस्त पाप मिथ्या होवें' इस प्रकारके शब्दोंसे प्रकट होनेवाले जिस परिणामसे अथवा प्रतिक्रमण पाठके जिन अक्षरसमूहसे पापोंका छेद होता है वे करण हैं। और जिस व्रतशुद्धि पूर्वकरूपमें अथवा व्रत शुद्धिरूप परिणत जीवमें दोषोंका छेद होता है वे प्रतिक्रमणके अधिकरण हैं ॥६१॥

---

१. -व्रतस्वरूपे भ. कु. च. ।
२. 'लुञ्चे रात्रौ दिने भुक्ते निषेधिकागमने पथि ।
स्यात् प्रतिक्रमणा लघ्वी तथा दोषे तु सप्तमी ॥' [ ]

'जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य ।
पडिगच्छदि जेण जहिं तं तस्स भवे पडिक्कमणं ॥'
पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं तिविहं ।
खेत्तं च गिहादीयं कालो दिवसादिकालम्हि ॥
मिच्छत्तपडिक्कमणं तहेव असंजमे पडिक्कमणं ।
कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु ॥ [मूलाचार, गा. ६१५-६१७] ॥६१॥

अथ प्रतिक्रमणप्रयोगमाह—

निन्दा-गर्हालोचनाभियुक्तो युक्तेन चेतसा ।
पठेद्वा शृणुयाच्छुद्धयै कर्मघ्नान्नियमान् समान् ॥६२॥

निन्देत्यादि । कृतदोषस्यात्मसाक्षिकं 'हा दुष्टं कृतमिति चेतसि भावनं निन्दा । तदेव गुरुसाक्षिकं गर्हा । गुणदोषनिवेदनमालोचनम् । तेष्वभियुक्तोऽभ्युत्थित उद्यत इति यावत् । तैर्वा अभि समन्ताद् युक्तः परिणतः । भावप्रतिक्रमणसमाहित इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

'आलोयणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए ।
तं भावपडिक्कमणं सेसं पुण दव्वदो भणिदं ॥' [मूलाचार, गा. ६२३]

विशेषार्थ—जो प्रतिक्रमण करता है वह कर्ता होता है। वह जिन दोषोंका प्रतिक्रमण करता है वे दोष उसके कर्म होते हैं। जिन परिणामोंसे अथवा पाठादिसे दोषोंकी शुद्धि की जाती है वे परिणामादि उसके करण होते हैं और प्रतिक्रमणका आधार व्रतादि या व्रतधारी जीव अधिकरण होता है। इस तरह प्रतिक्रमणरूप क्रियाके ये कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण होते हैं, इनके बिना क्रिया नहीं हो सकती। मूलाचारमें कहा है—आहार, पुस्तक, औषध, उपकरण आदि द्रव्यके विषयमें, शयन, आसन, स्थान गमन आदिके विषयभूत क्षेत्रके विषयमें, घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, सन्ध्या, पर्व आदि कालके विषयमें, राग द्वेष आदि रूप भावके विषयमें, लगे दोषोंको और उनके द्वारा आगत कर्मोंको नष्ट करनेमें तत्पर जीव प्रतिक्रमणका कर्ता होता है। जिस परिणामके द्वारा व्रत-विषयक अतीचारका शोधन करके पूर्वव्रतोंकी शुद्धि की जाती है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त द्रव्य, दिन, मुहूर्त, वर्षा आदि काल, घर नगर आदि क्षेत्र प्रतिक्रमणके योग्य हैं। अर्थात् जिस क्षेत्र काल और द्रव्यसे पापका आगमन होता है वह द्रव्य क्षेत्र काल त्यागने योग्य हैं। अथवा जिस कालमें प्रतिक्रमण कहा है उसी कालमें करना चाहिए। अर्थात् अप्रासुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव त्यागने योग्य है और उनके द्वारा लगे दोषोंका शोधन करना चाहिए। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और अशुभयोग सम्बन्धी दोषोंका शोधन करना भाव प्रतिक्रमण है ॥६१॥

आगे प्रतिक्रमणकी विधि कहते हैं—

निन्दा, गर्हा और आलोचनामें तत्पर साधुको सावधान चित्तसे सब कर्मोंका घात करनेवाले सब प्रतिक्रमण पाठोंको दोषोंकी शुद्धिके लिए पढ़ना चाहिए या आचार्य आदिसे सुनना चाहिए ॥६२॥

विशेषार्थ—अपनेसे जो दोष हुआ हो उसके लिए स्वयं ही अपने मनमें ऐसी भावना होना कि खेद है मुझसे ऐसा दोष हो गया' इसे निन्दा कहते हैं। यदि ऐसी भावना गुरु के सामने की जाये तो इसे गर्हा कहते हैं और गुरुसे दोष निवेदन करने को आलोचना कहते

युक्तेन समाहितेन तदर्थनिष्ठेनेत्यर्थः। पठेत्—उच्चरेत्। शुद्धये—विपुलकर्मनिर्जरार्थम्। उक्तं च—

'भावयुक्तोऽर्थतन्निष्ठः सदा सूत्रं तु यः पठेत्।
स महानिर्जरार्थाय कर्मणो वर्तते यतिः ॥' [ ]

नियमान्—प्रतिक्रमणदण्डकान्। समान्—सर्वान्। व्यवहाराविरोधेन पठेदिति संबन्धः। आवृत्या समान् कर्मघ्नानित्यपि योज्यम्, सर्वेषां कर्मणां हन्तृत्वोपदेशार्थम्। इयमत्र तात्पर्यं, यस्मादिदंयुगीना दुषमाकालानुभावाद् वक्रजडीभूताः स्वयमपि कृतं व्रताद्यतिचारं न स्मरन्ति चलचित्तत्वाच्चासकृत्प्रायशोऽपराध्यन्ति तस्मादीर्यादिषु दोषो भवतु वा मा भवतु तैः सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं सर्वप्रतिक्रमणदण्डकाः प्रयोक्तव्याः। तेषु यत्र क्वचिच्चित्तं स्थिरं भवति तेन सर्वोऽपि दोषो विशोध्येत। ते हि सर्वेऽपि कर्मघातसमर्थाः। तथा चोक्तम्—

'सप्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः।
अपराधे प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम् ॥
यदोपजायते दोष आत्मन्यन्यतरत्र वा।
तदैव स्यात् प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम् ॥
ईर्यागोचरदुःस्वप्नप्रभृतौ वर्ततां न वा।
पौरस्त्यपश्चिमाः सर्वे प्रतिक्रामन्ति निश्चितम् ॥
मध्यमा एकचित्ता यदमूढदृढबुद्धयः।
आत्मनानुष्ठितं तस्माद् गर्हमाणाः सृजन्ति तम् ॥
पौरस्त्यपश्चिमा यस्मात्समोहाश्चलचेतसः।
ततः सर्वप्रतिक्रान्तिरन्धोऽश्वोऽत्र निदर्शनम् ॥' [ ] ॥६२॥

हैं। इनसे युक्त साधु भावप्रतिक्रमणसे युक्त होता है। मूलाचारमें कहा है—'आलोचना, निन्दा और गर्हामें तत्पर होकर पुनः दोष न लगानेको भावप्रतिक्रमण कहते हैं। उसके बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमण है। इस भावप्रतिक्रमणसे युक्त होकर दोषोंकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण सम्बन्धी पाठोंको मन लगाकर पढ़ना या सुनना चाहिए।' इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है। कहा है—'जो साधु भावप्रतिक्रमणसे युक्त होकर और उसके अर्थमें मन लगाकर सदा प्रतिक्रमण सूत्रको पढ़ता है वह कर्मोंकी महान् निर्जरा करता है।'

तात्पर्य यह है कि इस युगके साधु पंचम कालके प्रभावसे वक्रजड़ होते हैं अर्थात् अज्ञानी होनेके साथ कुटिल भी होते हैं। इससे वे अपने ही द्वारा व्रतादिमें लगाये दोषोंको भूल जाते हैं उन्हें उनका स्मरण नहीं रहता। तथा चंचल चित्त होनेसे प्रायः बार-बार दोष लगाते हैं। इसलिए गमनादिमें दोष लगे या न लगे, उन्हें समस्त दोषोंकी विशुद्धिके लिए सभी प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढ़ना चाहिए। उनमें-से जिस किसीमें भी चित्त स्थिर होता है उससे सभी दोषोंकी विशुद्धि हो जाती है क्योंकि वे सभी प्रतिक्रमणदण्डक कर्मोंका घात करनेमें समर्थ हैं किन्तु उनमें चित्त स्थिर होना चाहिए। मूलाचारमें कहा भी है—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीरका धर्म प्रतिक्रमण सहित था। अपराध हुआ हो या न हुआ हो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। किन्तु अजितनाथसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त मध्यम तीर्थंकरोंके धर्ममें अपराध होनेपर ही प्रतिक्रमण किया जाता था। जिस व्रतमें अपनेको या दूसरोंको दोष लगता था उसीका प्रतिक्रमण मध्यम तीर्थंकरोंके साधु करते थे।

अथ प्रतिक्रमणादेरधस्तनभूमिकायामनुष्ठाने मुमुक्षोरुपकारः स्यादननुष्ठाने चापकारो भवेत् । उपरिमभूमिकायामनुष्ठाने अपकार एव भवेदित्युपदेशार्थमाह—

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहरणं धारणा निवृत्तिश्च ।
निन्दा गर्हा शुद्धिश्चामृतकुम्भोऽन्यथापि विषकुम्भः ॥६३॥

प्रतिक्रमणं—दण्डकोच्चारणलक्षणं द्रव्यरूपम् । प्रतिसरणं—गुणेषु प्रवृत्तिलक्षणा सारणा । परिहरणं—दोषेभ्यो व्यावृत्तिलक्षणा हारणा । धारणा चित्तस्थिरीकरणम् । निवृत्तिः—अन्यत्र गतचित्तस्य पुनर्व्यावर्तनम् । शुद्धिः प्रायश्चित्तादिनाऽऽत्मनः शोधनम् । अमृतकुम्भः—प्रतिक्रमणाद्यष्टकमधस्तनभूमिकायाममृतकुम्भ इव चित्तप्रसादाह्लादविधानात् । अन्यथा—अप्रतिक्रमणादिप्रकारेण यतेर्वृत्तिविषकुम्भः पापानुबन्धनिबन्धनत्वेन मोहसंतापादिविधानात् । अपिशब्दादुपरितनभूमिकाया प्रतिक्रमणादिरपि विषकुम्भः पुण्यास्रवणकारणत्वेन मन्दमतिमोहादिविधानात् । यदाहुः—

'पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइमोहो ।
मइ मोहेण वि पापं तं पुण्णं अम्ह मा होउ ॥' [परमात्मप्र., २।६०]

किं च, प्रतिक्रमणमित्यत्र ककाररेफसंयोगपरत्वेन प्रागिकारस्य गुरुत्वादार्याछन्दोभङ्गो न शङ्कयः शिथिलोच्चारणस्य विवक्षितत्वात् यथेह—

'वित्तैर्येषां प्रतिपदमियं पूरिता भूतधात्री,
निर्जित्यैतद् भुवनवलयं ये विभुत्वं प्रपन्नाः ।
तेऽप्येतस्मिन् गुरु[1]भवह्रदे बुद्बुदस्तम्बलीलां
धृत्वा धृत्वा सपदि विलयं भूभुजः संप्रयाताः ॥' [ ]

यथा वा 'जिनवरप्रतिमानं भावतोऽहं नमामि' इत्यादि ॥६३॥

जबकि आदि और अन्तिम तीर्थंकरके साधु एक दोष लगनेपर सब प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढ़ते हैं । ईर्या, गोचर, स्वप्न आदि सबमें अतीचार लगे या न लगे, भगवान् ऋषभनाथ और भगवान् महावीरके शिष्य नियमसे सभी प्रतिक्रमणदण्डकोंको पढ़ते हैं । इसका कारण यह है कि मध्यम तीर्थंकरोंके शिष्य भूलते नहीं थे, स्थिरचित्त थे, प्रत्येक क्रिया समझ-बूझकर करते थे । अतः वे जो दोष करते थे, उस दोषकी गर्हा करनेसे शुद्ध हो जाते थे । किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य चंचल चित्त थे, बार-बार समझानेपर भी नहीं समझते थे । इसलिए उन्हें सभी प्रतिक्रमणदण्डक करने होते हैं जिससे एकमें मन स्थिर न हो तो दूसरे या तीसरेमें हो सके ॥६२॥

आगे कहते हैं कि नीचेकी भूमिकामें प्रतिक्रमण आदि करनेपर मुमुक्षुका उपकार होता है, न करने पर अपकार होता है । किन्तु ऊपरकी भूमिकामें तो प्रतिक्रमण आदि करनेपर अपकार ही होता है—

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि ये आठ नीचेकी भूमिकामें अमृतके घटके समान हैं और नहीं करनेपर विषके घड़ेके समान हैं । किन्तु ऊपरकी भूमिकामें प्रतिक्रमण आदि भी विषकुम्भके समान हैं ॥६३॥

विशेषार्थ—दण्डकोंका पाठ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण है । गुणोंमें प्रवृत्तिको प्रतिसरण या सारण कहते हैं । दोषोंसे निवृत्तिको परिहरण या हारण कहते हैं । चित्तके स्थिर करनेको धारणा कहते हैं । चित्तके अन्यत्र जाने पर उसे वहाँसे लौटाने को निवृत्ति कहते हैं । निन्दा

---

१. गुरुवबह्लदे भ. कु. च. ।

अथ मुमुक्षोः सकलकर्मसंन्यासभावनाप्रमुखं सकलकर्मफलसंन्यासभावनामभिनयति—

प्रतिक्रमणमालोचं प्रत्याख्यानं च कर्मणाम् ।
भूतसद्भाविनां कृत्वा तत्फलं व्युत्सृजेत् सुधीः ॥६४॥

प्रतिक्रमणं—भूतकर्मणा पूर्वोपार्जितशुभाशुभकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यः स्वात्मानं विनिवर्त्यात्मना तत्कारणभूतप्राक्तनकर्मनिवर्तनम् । आलोचनं—सत्कर्मणा वर्तमानशुभाशुभकर्मविपाकानामात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलम्भनम् । प्रत्याख्यानं—भाविकर्मणा शुभाशुभस्वपरिणामनिमित्तोत्तरकर्मनिरोधनं कृत्वा । तथाहि—यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च 'तन्मिथ्या मे दुष्कृतं' इत्येवं समस्तव्यस्तैः करणै- (-रेकोन्नपञ्चाशता-) क्रियापदैश्चावर्तनीयम् । यथाह—

और गर्हाका स्वरूप पहले कहा है । प्रायश्चित्त आदिके द्वारा आत्माके शोधनको शुद्धि कहते हैं । नीचेके गुणस्थानोंमें ये आठ अमृतकुम्भके तुल्य माने हैं क्योंकि इनके करनेसे दोषोंका परिमार्जन होकर चित्त विशुद्ध होता है । यदि उस स्थितिमें इन्हें न किया जाये तो इनका न करना अर्थात् अप्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ है क्योंकि दोषोंका परिमार्जन न होनेसे पापका बन्ध होता है । किन्तु अष्टम आदि गुणस्थानोंमें प्रतिक्रमण आदि भी विषकुम्भ माने जाते हैं क्योंकि शुभोपयोग रूप होनेसे ये पुण्यास्रवके कारण होते हैं और पुण्यबन्ध वैभवका कारण होनेसे मनुष्यकी मतिको विकृत करता है । परमात्मप्रकाशमें कहा है—'पुण्यसे वैभव मिलता है । वैभव पाकर मद होता है, मदसे बुद्धि मूढ़ हो जाती है । बुद्धिके मूढ़ होनेसे प्राणी पाप करने लगता है । ऐसा पुण्य हमें नहीं चाहिए ।'

अतः ऊपरकी भूमिकामें आत्मध्यानसे ही दोषोंका परिमार्जन हो जाता है ॥६३॥

आगे मुमुक्षुको समस्त कर्मोंके त्यागकी भावनापूर्वक समस्त कर्मफलके त्यागकी भावनाकी ओर प्रेरित करते हैं—

सम्यग्ज्ञानकी भावनामें लीन साधुको भूत, वर्तमान और भावि कर्मोंका प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान करके उनके फलोंका भी त्याग करना चाहिए ॥६४॥

विशेषार्थ—पूर्वकृत दोषोंकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। वर्तमान दोषोंकी शुद्धिके लिए आलोचना की जाती है और आगामी कालमें लगनेवाले दोषोंसे बचनेके लिए प्रत्याख्यान किया जाता है । समयसारमें कहा है—'जो आत्मा पूर्वमें उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मके उदयसे हुए भावोंसे अपनेको हटाता है अर्थात् तद्रूप नहीं होता वह उन भावोंके कारणभूत पूर्वकृत कर्मोंका प्रतिक्रमण करता है । आगामी कालमें जो शुभ और अशुभ कर्म जिस भावके होनेपर बँधते हैं, उस भावसे जो अपनेको निवृत्त करता है वह प्रत्याख्यान है । वर्तमानमें जो शुभ-अशुभ कर्म अपने अनेक प्रकारके विस्तार विशेषको लिये हुए उदयमें आया है उसको जो अपनेसे अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है वह आलोचना है । इस प्रकार यह आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, नित्य प्रत्याख्यान करता हुआ और नित्य आलोचना करता हुआ, पूर्व उपार्जित कर्मके कार्य और आगामी कालमें बँधनेवाले कर्मोंके कारणभूत भावोंसे अत्यन्त निवृत्त होता हुआ, तथा वर्तमान कर्मोदयको अपनेसे अत्यन्त भिन्न जानता हुआ अपने ज्ञानस्वभावमें निरन्तर चरण करनेसे स्वयं चारित्र होता है ।

---

१. भ. कु. च. ।

'कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचःकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥' [सम. कल. २२५ श्लो.]

अपि च—

'मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥' [सम. कल. २२६ श्लो.]

तथा, न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्य समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेत्यादि

आशय यह है कि पहले लगे हुए दोषसे आत्माका निवर्तन करना प्रतिक्रमण है। आगामी दोषोंसे बचनेका नाम प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोषसे आत्माका पृथक् होना आलोचना है। व्यवहारमें इनके लिए प्रतिक्रमण दण्डक पाठ, बाह्य वस्तुओंका त्याग और गुरुसे दोषोंका निवेदन आदि किया जाता है जैसा पहले बतलाया है। किन्तु परमार्थसे जिन भावोंके कारण पहले दोष लगे, वर्तमानमें लगते हैं और आगामी कालमें लगेंगे उन भावोंसे आत्माकी निवृत्ति ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना है। अतः ऐसा आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना है। अर्थात् समस्त कर्म और कर्मफलका त्याग मुमुक्षुको करना चाहिए। इसका खुलासा इस प्रकार है—ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमें ऐसा अनुभव करना कि 'यह मैं हूँ' यह अज्ञान चेतना है। उसके दो भेद हैं—कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंका कर्ता अपनेको मानना कर्म चेतना है और ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंका भोक्ता अपनेको मानना कर्मफल चेतना है। ये दोनों ही चेतना संसारके बीज हैं। क्योंकि संसारके बीज हैं आठ प्रकारके कर्म और उन कर्मोंका बीज है अज्ञान चेतना। इसलिए मुमुक्षुको अज्ञान चेतनाके विनाशके लिए सकल कर्म संन्यास भावना और सकल कर्म फल संन्यास भावनाको भाकर स्वभावभूत ज्ञान चेतनाका ही अनुवर्तन करना चाहिए। सबसे प्रथम सकल कर्म संन्यास भावना भाना चाहिए—सकल कर्मोंके त्यागके कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन कायको लेकर ४९ भंग होते हैं। यथा—जो मैंने अतीत कालमें कर्म किया, कराया, दूसरे करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे, कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने किया, कराया, अन्य करते हुएका अनमोदन किया मनसे, वचनसे, वह दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने किया, कराया, अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। इस प्रकार मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके सात-सात संयोगी भंग होते हैं। दोनोंको परस्परमें मिलानेसे ४९ भंग होते हैं। समयसार कलशमें आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है—'अतीत अनागत वर्तमान काल सम्बन्धी सभी कर्मोंको कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन कायसे छोड़कर मैं उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्थाका अवलम्बन करता हूँ। इस प्रकार ज्ञानी सब कर्मोंके त्यागकी प्रतिज्ञा करता है।' और भी—मैंने जो मोहके वशीभूत होकर कर्म किये हैं उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मामें आत्मासे ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ऐसा ज्ञानी अनुभव करता है। आशय यह है कि भूतकालमें किये गये कर्मको ४९ भंग पूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानीके ज्ञान स्वरूप आत्मामें लीन होकर निरन्तर चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करनेकी यह विधि है। मिथ्या कहनेका मतलब यह है कि जैसे किसीने पहले धन कमाकर जमा किया था। उसने उसके प्रति ममत्व जब छोड़ दिया तब उसे भोगनेका उसका अभिप्राय नहीं रहा। अतः उसका भूतकालमें कमाया हुआ धन

पूर्ववत्। यथाह—

'मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥' [सम. कल. २२७ श्लो.]

तथा न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन च इत्यादि पूर्ववत्। यथाह—

'प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥' [स. कल. २२८ श्लो.]

एवं चेदमभ्यसनीयम्—

'समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥ [सम. कल. २२९ श्लो.]

न कमानेके ही समान हुआ। इसी प्रकार जीवने पहले जो कर्मबन्ध किया था, जब उसे अहित रूप जानकर उसके प्रति ममत्व भाव छोड़ दिया और उसके फलमें लीन नहीं हुआ तब भूतकालमें बाँधा हुआ कर्म नहीं बाँधनेके समान मिथ्या हो गया। इस प्रकार प्रतिक्रमण हुआ। इसी प्रकार आलोचना होती है—

मैं वर्तमानमें कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे। इस प्रकार प्रतिक्रमणके समान आलोचना भी ४९ भंग पूर्वक की जाती है। अर्थात् मोहके विलाससे फैला हुआ जो यह उदयागत कर्म है, उस सबकी आलोचना करके मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मामें आत्मासे ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

आशय यह है कि वर्तमानमें उदयमें आये कर्मके प्रति ज्ञानी विचार करता है कि मैंने पहले जो कर्म बाँधा था उसका यह कार्य है, मेरा नहीं। मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ। उसकी प्रवृत्ति तो ज्ञान दर्शन रूप है। अतः मैं तो उदयागत कर्मका ज्ञाता द्रष्टा हूँ। इस प्रकार आलोचना करता है।

इसी प्रकार प्रत्याख्यानका भी क्रम जानना। मैं भविष्यमें कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे, वचनसे, कायसे इत्यादि पूर्ववत् ४९ भंगोंसे आगामी कर्मका प्रत्याख्यान किया जाता है। कहा है—भविष्यके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान करके, मोहसे रहित होता हुआ मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मामें आत्मासे निरन्तर वर्त रहा हूँ।

आशय यह है कि व्यवहार चारित्रमें जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान होता है। किन्तु निश्चय चारित्रमें शुद्धोपयोगसे विपरीत सर्वकर्म आत्माके दोषरूप हैं। अतः उन समस्त कर्म चेतना स्वरूप परिणामोंका तीन कालके कर्मोंका प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्वकर्म चेतनासे भिन्न अपने शुद्धोपयोग रूप आत्माके ज्ञान श्रद्धान द्वारा तथा उसमें स्थिर होनेका संकल्प करता है। कहा है—पूर्वोक्त प्रकारसे तीनों कालोंके समस्त कर्मोंको दूर करके शुद्धनयका अवलम्बन करनेवाला और मिथ्यात्वरूपी मोहसे रहित मैं सर्व विकारोंसे रहित चैतन्य मात्र आत्माका अवलम्बन करता हूँ।

इस तरह कर्मसंन्यास करके कर्मफलके संन्यासकी भावना करता है—मैं मति ज्ञाना-

तत्फलं—ज्ञानावरणादिकर्मफलम् । व्युत्सृजेत्—विविधमुत्कृष्टं त्यजेत् । तथाहि—नाहं मतिज्ञानावरणीयफलं भुञ्जे चैतन्यमात्मानमेव संचेतये । एवं नाहं श्रुतज्ञानावरणीयफलमित्यादि समस्तकर्मप्रकृतिष्वावर्तनीयम् । यथाह—

'विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥' [सम. कल., २३० श्लो.]

अपि च—

'निःशेषकर्मफलसंन्यसनात् ममैवं सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तिवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥'
[सम. क. २३१ श्लो.]

वरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। इसी तरह मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्मका फल नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। मैं अवधि ज्ञानावरणीय कर्मका फल नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। इसी प्रकार समस्त कर्मोंकी समस्त प्रकृतियोंमें समझना चाहिए। कहा है—कर्मरूपी विषवृक्षके फल मेरे द्वारा बिना भोगे ही खिर जावें, मैं चैतन्य स्वरूप आत्माका निश्चयरूपसे संचेतन करता हूँ। अर्थात् ज्ञानी कहता है कि जो कर्म उदयमें आता है उसके फलको मैं ज्ञाता द्रष्टा रूपसे मात्र देखता हूँ उसका भोक्ता नहीं होता। इसलिए मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें। मैं अपने चैतन्य स्वरूप आत्मामें लीन होता हुआ उसका ज्ञाता द्रष्टा ही रहूँ। यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिए कि अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत दशामें इस प्रकारका ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है। जब जीव अप्रमत्त दशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है। आशय यह है कि जब जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होता है तब उसे यह ज्ञान-श्रद्धान तो होता ही है कि मैं शुद्धनयसे समस्त कर्म और कर्मके फलसे रहित हूँ। परन्तु पूर्व बद्ध कर्म उदय आनेपर उनसे होनेवाले भावोंका कर्तृत्व छोड़कर त्रिकाल सम्बन्धी ४९, ४९ भंगोंके द्वारा कर्म चेतनाके त्यागकी भावना करके एक चैतन्य स्वरूप आत्माको भोगना ही शेष रह जाता है। अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत जीवके ज्ञान श्रद्धानमें निरन्तर यह भावना तो है ही। जब वह अप्रमत्त दशाको प्राप्त करके एकाग्रचित्तसे ध्यान लगाकर—केवल चैतन्य मात्र अवस्थामें उपयोग लगाकर—शुद्धोपयोगरूप होता है तब श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। उस समय उस भावनाका फल जो कर्मचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञान चेतना रूप परिणमन है, वह होता है। पश्चात् आत्मा अनन्त कालतक ज्ञान चेतना ही रहता हुआ परमानन्दमें मग्न होता है। कहा है—समस्त कर्मोंके फलका त्याग करके ज्ञान चेतनाकी भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त कर्मोंके फलका संन्यास करनेसे मैं चैतन्य लक्षणवाले आत्मतत्त्वको ही अतिशय रूपसे भोगता हूँ। इसके सिवाय अन्य उपयोगकी क्रिया तथा बाह्य क्रियामें प्रवृत्तिसे रहित अचल हूँ। सो मेरी यह अनन्त कालावलीतक आत्मतत्त्वके उपयोगमें ही प्रवृत्ति रहे, अन्यमें न जावे'। जो पुरुष पूर्वकालमें किये कर्मरूपी विषवृक्षके उदयरूप फलको स्वामी होकर नहीं भोगता और अपने आत्मस्वरूपमें ही तृप्त है वह पुरुष कर्मोंसे रहित स्वाधीन सुखमयी उस दशाको प्राप्त होता है जो वर्तमान कालमें रमणीय है और उत्तर

उक्तं च समयसारे—

'कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्मि बज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥
जं सुहमसुहमुदीण्णं संपदि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं पडिक्कमइ जो य ।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥' [गा. ३८३-३८६]

इयं चात्र भावार्थसंग्रहकारिका नित्यमध्येतव्या—

'ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥'

[स. कलश, श्लो. २२४] ॥६४॥

कालमें भी रमणीय है। ज्ञानीजन कर्म तथा कर्मके फलसे अत्यन्त विरत भावनाको निरन्तर भाकर, और समस्त अज्ञान चेतनाके विनाशको अच्छी तरहसे नचाकर, अपने निजरससे प्राप्त स्वभावरूप ज्ञान चेतनाको सानन्द पूर्ण करके नृत्य कराते हुए आगे प्रशमरसको सदा काल पीते रहें।

इसी अभिप्रायका संग्रह नीचे लिखे श्लोकोंमें है। अतः उनका नित्य चिन्तन करना चाहिए। उनमें कहा है—जो सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र रूप पुण्य-कर्म, तथा ज्ञानावरणादि रूप पापकर्म समस्त या व्यस्त कारणोंसे जीवने योग और कषायके वशसे बाँधा है, उसका जो सदा प्रतिक्रमण करता है अर्थात् 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' इत्यादि उपायोंसे उदयमें आनेसे पहले ही निराकरण कर देता है वह 'अहं' प्रत्ययसे संवेद्य चिन्मात्र आत्मा स्वयं चारित्र है। अर्थात् अखण्ड ज्ञान स्वभाव रूप अपनेमें ही निरन्तर चरण करनेसे चारित्र है। तथा स्वयं चारित्ररूप होता हुआ अपने ज्ञान मात्रका संचेतन करनेसे स्वयं ही ज्ञान चेतना होता है। तथा जो पूर्वबद्ध शुभाशुभ कर्म वर्तमानमें उदयमें आ रहा है उसकी जो सदा आलोचना करता है अर्थात् अपनेसे अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है वह चिन्मात्र आत्मा स्वयं चारित्र है। तथा जो शुभाशुभ कर्म भविष्यमें बँधनेवाला है उसका प्रत्याख्यान करनेवाला स्वयं चिन्मात्र आत्मा चारित्र है। उसीको स्पष्ट करते हैं—समस्त मन, वचन, कायसे या इनमें-से एक या दो से, कृत कारित अनुमत रूप शुभाशुभ कर्मको निष्फल करनेके लिए मैं नित्य प्रतिक्रमण करता हूँ। तथा उदयमें आते हुए पूर्वबद्ध कर्मको मैं अपनेसे अत्यन्त भिन्न नित्य अनुभव करता हूँ। तथा आगामीमें बँधनेवाले कर्मको नित्य रोकता हूँ।

१. सर्वथाऽऽत्तं प्रतिक्रामन्नुद्यदालोचयन् सदा ।
प्रत्याख्यान् भावि सदसत्कर्मारिमावृत्तमस्मि चित् ॥
नैष्फल्याय क्षिपेत्त्रेधा कृतकारितसम्मतम् ।
कर्म स्वान्येतयेऽत्यन्तभिदोद्यद्रुन्ध उत्तरम् ॥
अहमेवाहमित्येव ज्ञानं तच्छुद्धये भजे ।
शरीराद्यहमित्येवाज्ञानं तच्छेत्तु वर्जये ॥ [ ]

अथ पञ्चभिः पद्यैः प्रत्याख्यानं व्याख्यातुकामो नामादिषड्विधनिक्षेपविभक्तं तत्तावल्लक्षयन्नाह—

निरोद्धुमागो यन्मार्गच्छिदो निर्मोक्षुरुज्झति ।
नामादीन् षडपि त्रेधा तत्प्रत्याख्यानमामनेत् ॥६५॥

मार्गच्छिदः—रत्नत्रयविरोधिनः । तथा चोक्तम्—

'नामादीनामयोग्यानां षण्णां त्रेधा विवर्जनम् ।
प्रत्याख्यानं समाख्यातमागम्यागोनिषिद्धये ॥'

निर्मोक्षः—मोक्षार्थी । तत्—अयोग्यनामाद्युज्झनलक्षणम् । तथाहि—अयोग्यानि पापकारणानि नामानि न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि, नानुमन्तव्यानीति नामप्रत्याख्यानं प्रत्याख्याननाममात्रं वा । तथा पापबन्धहेतुभूता मिथ्यात्वादिप्रवर्तिका मिथ्यादेवतादिस्थापनाः पापकारणद्रव्यप्रतिरूपाणि च न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि नानुमन्तव्यानीति स्थापनाप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानपरिणतप्रतिबिम्बं वा सद्भावासद्भावरूपं तत्स्यात् । पापार्थं सावद्यं द्रव्यं निरवद्यमपि च तपोऽर्थं त्यक्तं न भोज्यं न भोजयितव्यं नानुमन्तव्यमिति द्रव्यप्रत्याख्यानम् । अथवा प्रत्याख्यानप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भाविजीवस्तद्व्यतिरिक्तं च तत्स्यात् । असंयमादिहेतुभूतस्य क्षेत्रस्य त्यजनं त्याजनं त्यज्यमानस्यानुमोदनं च क्षेत्रप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितः प्रदेशो वा । असंयमादिनिमित्तस्य कालस्य त्यजनादिकं कालप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवितः कालो वा । मिथ्यात्वादीना

तथा ज्ञानकी शुद्धिके लिए 'मैं' शब्दसे वाच्य आत्मा ही मैं हूँ, शरीर आदि मैं नहीं हूँ, इस ज्ञानकी ही मैं आराधना करता हूँ। तथा ज्ञानकी शुद्धिको भ्रष्ट करनेवाला जो अज्ञान है कि 'शरीरादि पर द्रव्य मैं हूँ' इसे मैं छोड़ता हूँ। इत्यादि। इसका विस्तार अमृतचन्द्र रचित समयसार टीका (गाथा ३८३-३८९) में देखना चाहिए ॥६४॥

आगे पाँच पद्योंसे प्रत्याख्यानका कथन करते हैं। उसके छह निक्षेपोंकी अपेक्षा छह भेद हैं। प्रथम उसका लक्षण कहते हैं—

पापकर्मोंका निवारण करनेके लिए मुमुक्षु भव्य जो रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके विरोधी छहों अयोग्य नाम स्थापना आदिका मन, वचन, कायसे त्याग करता है उसे आचार्य प्रत्याख्यान कहते हैं ॥६५॥

विशेषार्थ—प्रत्याख्यानमें छह निक्षेप इस प्रकार होते हैं—नाम प्रत्याख्यान, स्थापना प्रत्याख्यान, द्रव्य प्रत्याख्यान, क्षेत्र प्रत्याख्यान, काल प्रत्याख्यान और भाव प्रत्याख्यान। अयोग्य अर्थात् पापके हेतु नामोंको न करना चाहिए, न कराना चाहिए और न अनुमोदन करना चाहिए। यह नाम प्रत्याख्यान है। अथवा 'प्रत्याख्यान' इस नाममात्रको नाम प्रत्याख्यान कहते हैं। पापबन्धके कारणभूत और मिथ्यात्व आदिमें प्रवृत्ति करानेवाली स्थापनाको अयोग्य स्थापना कहते हैं। मिथ्या देवता आदि-के प्रतिबिम्ब, जो पापके कारण द्रव्य रूप हैं उन्हें न करना चाहिए, और न कराना चाहिये और न उनकी अनुमोदन करना चाहिये। यह स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान की सद्भाव या असद्भाव रूप प्रतिबिम्ब स्थापना प्रत्याख्यान है। जो सावद्य द्रव्य पापबन्धका कारण है अथवा निर्दोष होने पर भी तपके लिये त्याग दिया गया है उसे न स्वयं सेवन करना चाहिए, न अन्यसे सेवन कराना चाहिए और कोई सेवन करता हो तो उसकी अनुमोदना नहीं करनी चाहिए। यह द्रव्य प्रत्याख्यान है। अथवा जो मनुष्य प्रत्याख्यान विषयक आगमका ज्ञाता है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है उसे आगम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं। प्रत्याख्यान विषयक ज्ञाताका शरीर, उसके कर्म नोकर्म तथा जो जीव भविष्यमें प्रत्याख्यान विषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा,

मनोवाक्कायैस्त्यजनादिकं भावप्रत्याख्यानम् । अथवा प्रत्याख्यानप्राभृतज्ञायकस्तद् विज्ञानं जीवप्रदेशा वेति । किं च, 'भविष्यद्वर्तमानकालविषयातीचारनिर्हरणं प्रत्याख्यानम्' इत्याचारटीकाकारेण यत्प्रत्याख्यानलक्षणमाख्यायि तदपि निरोद्धुमाग इति सामान्यनिर्देशादिह संगृहीतमुन्नेयम् ॥६५॥

एतदेव संगृह्णन्नाह—

> तन्नाम स्थापनां तां तद्द्रव्यं क्षेत्रमञ्जसा ।
> तं कालं तं च भावं न श्रयेन्न श्रेयसेऽस्ति यत् ॥६६॥

अञ्जसा—परमार्थेन, भावेनेत्यर्थः । एतेनोपसर्गादिवशादयोग्याश्रयणेऽपि न प्रत्याख्यानहानिरिति बोधयति ॥६६॥

अथ योग्यनामादिसेविनः परम्परया रत्नत्रयाराधकत्वमवश्यंतया प्रकाशयन्नाह—

> यो योग्यनामाद्युपयोगपूतस्वान्तः पृथक् स्वात्तमुपैति मूर्तेः ।
> सदाऽस्पृशन्नप्यपराधगन्धमाराधयत्येव स वर्त्म मुक्तेः ॥६७॥

उपयोग.—सेवनम् । स्वान्तं—आत्मस्वरूपम् । अपराधगन्धं—राधः संसिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरित्यर्थ. । अपगतो राधो अपराधः—परद्रव्यग्रहः । तस्य गन्धमपि प्रमादलेशमपीत्यर्थः ॥६७॥

ये सब नोआगम द्रव्य प्रत्याख्यान हैं। असंयम आदिके कारणभूत क्षेत्रका स्वयं त्याग करना, दूसरेसे त्याग कराना तथा कोई अन्य त्याग करता हो तो उसकी अनुमोदना करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है। अथवा जिस क्षेत्रपर प्रत्याख्यान किया गया हो वह क्षेत्र प्रत्याख्यान है। असंयम आदिमें निमित्त कालका स्वयं त्याग करना, दूसरेसे त्याग कराना और कोई अन्य उसका त्याग करता हो तो उसकी अनुमोदना करना काल प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान करनेवालेके द्वारा सेवित कालको काल प्रत्याख्यान कहते हैं। मन वचन कायसे मिथ्यात्व आदिका त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान विषयक शास्त्रका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त है उसे, उसके प्रत्याख्यान विषयक ज्ञानको और जीव प्रदेशोंको भाव प्रत्याख्यान कहते हैं। इस प्रकार प्रत्याख्यानके विषयमें छह प्रकारका निक्षेप होता है। मूलाचारके टीकाकार वसुनन्दि आचार्यने गाथा ७।१३५ की टीकामें उक्त छह निक्षेपोंका वर्णन करके अन्तमें भविष्यत् और वर्तमानकाल सम्बन्धी अतीचारोंके निरोधको प्रत्याख्यान कहा है। ऊपरके श्लोकमें 'निरोद्धुमागः' इस सामान्य कथनसे उसका भी संग्रह इस ग्रन्थके रचयिताने किया है ॥६५॥

उसीको संगृहीत करते हुए कहते हैं—

जो मोक्षके साधनमें उपयोगी नहीं है उस नामको, उस स्थापनाको, उस द्रव्यको, उस क्षेत्रको, उस कालको और उस भावको परमार्थसे सेवन नहीं करना चाहिए। 'परमार्थसे' कहनेसे यह ज्ञान कराया है कि उपसर्ग आदिके कारण अयोग्यका सेवन होनेपर भी प्रत्याख्यानमें हानि नहीं होती ॥६६॥

जो योग्य नाम आदिका सेवन करता है वह परम्परासे अवश्य ही रत्नत्रयका आराधक होता है, यह प्रकट करते हैं—

जो नामादि योग अर्थात् शुद्धोपयोगमें सहायक होते हैं उन्हें योग्य कहते हैं। जिस साधुने ऐसे योग्य नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भावके सेवनसे अपने मनको पवित्र किया है, और शरीरसे आत्माको भिन्न मानता है, सदा अपराधकी गन्धसे दूर रहनेवाला वह साधु मोक्षके मार्गका अवश्य ही आराधक होता है ॥६७॥

अथ द्रव्यप्रत्याख्यानविशेषं व्यवहारोपयोगितया प्रपञ्चयन् प्रत्याख्येयविशेषं प्रत्याख्यातारं च लक्षयति—

> सावद्येतरसच्चित्ताचित्तमिश्रोपधींस्त्यजेत् ।
> चतुर्धाहारमप्यादिमध्यान्तेष्वाज्ञयोत्सुकः ॥६८॥

त्यजेत् । प्रत्याख्यानोक्तिरियम् । उपध्याहारौ तु प्रत्याख्येयौ । अपि—अनुक्तसमुच्चये । तेन त्रिविधाहारादिरपि प्रत्याख्येयो विज्ञेयः । आदौ—प्रत्याख्यानग्रहणकाले । मध्ये—मध्यकाले । अन्ते—समाप्तौ । आज्ञयोत्सुकः—अर्हदाज्ञागुरुनियोगयोरुपयुक्तो जिनमतं श्रद्दधत् । गुरुव्रतेन प्रत्याचक्षाण इत्यर्थः । उक्तं च—

> 'आज्ञाज्ञापनयोर्दक्ष आदिमध्यावसानतः ।
> साकारमनाकारं च सुसन्तोषोऽनुपालयन् ॥
> प्रत्याख्याता भवेदेषः प्रत्याख्यानं तु वर्जनम् ।
> उपयोगि तथाहारः प्रत्याख्येयं तदुच्यते ॥'[1] [ ] ॥६८॥

अथ बहुविकल्पमुपवासादिप्रत्याख्यानं मुमुक्षोः शक्त्यनतिक्रमेणावश्यकर्तव्यतयोपदिशति—

विशेषार्थ—राधका अर्थ होता है संसिद्धि अर्थात् स्वात्मोपलब्धि, अतः अपराधका अर्थ होता है परद्रव्यका ग्रहण; क्योंकि वह स्वात्मोपलब्धिका विरोधी है। उसकी गन्धको भी जो नहीं छूता अर्थात् जिसके प्रमादका लेश भी नहीं रहता। ऐसा साधु अवश्य ही मोक्षमार्गका आराधक होता है ॥६७॥

द्रव्य प्रत्याख्यान व्यवहारमें उपयोगी होता है अतः उसका विशेष कथन करते हुए प्रत्याख्येय—छोड़ने योग्य विषयोंके विशेषके साथ प्रत्याख्याताका स्वरूप कहते हैं—

अर्हन्त देवकी आज्ञा और गुरुके नियोगमें दत्तचित्त होकर अर्थात् जिनमतके श्रद्धान पूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय, उसके मध्यमें तथा उसकी समाप्ति होनेपर सावद्य और निरवद्य दोनों ही प्रकारकी सचेतन, अचेतन और सचेतन अचेतन परिग्रहोंका तथा चारों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए ॥६८॥

विशेषार्थ—ऊपर श्लोकमें केवल 'आज्ञा' पद है उससे अर्हन्तदेवकी आज्ञा और गुरुका नियोग दोनों लेना चाहिए। जिसमें हिंसा आदि होते हैं उसे सावद्य और जिसमें हिंसा आदि नहीं होते उसे निरवद्य कहते हैं। यहाँ परिग्रह आदिका त्याग प्रत्याख्यान है और परिग्रह भोजन वगैरह प्रत्याख्येय—त्यागने योग्य द्रव्य हैं। कहा है—अर्हन्तकी आज्ञासे, गुरुके उपदेशसे और चारित्रकी श्रद्धासे जो दोषके स्वरूपको जानकर व्रतका ग्रहण करते समय उसके मध्यमें और उसकी समाप्ति पर सविकल्पक या निर्विकल्प चारित्रका पालन करता है वह वृद्ध धैर्यशील तो प्रत्याख्याता—प्रत्याख्यान करनेवाला होता है। और तपके लिए सावद्य या निरवद्य द्रव्यका त्याग या त्यागरूप परिणामका होना प्रत्याख्यान है। और सचित्त अचित्त और सचित्ताचित्त उपाधि, क्रोधादिरूप परिणाम और आहारादि प्रत्याख्येय हैं, इनका प्रत्याख्यान किया जाता है ॥६८॥

आगे उपदेश देते हैं कि मुमुक्षुको अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारके उपवास आदि प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए—

---

१. 'आणाय जाणणा विय उवजुत्तो मूल मज्झणिद्देसे ।
आगारमणागारं अणुपालेंतो दढधिदीओ ॥'—मूलाचार ७।१३७।

अनागतादिदशभिद् विनयादिचतुष्कयुक् ।
क्षपणं मोक्षुणा कार्यं यथाशक्ति यथागमम् ॥६९॥

अनागतादिदशभित्—अनागतादयो दश संख्या भिदो यस्य । तद्यथा—

'अनागतमतिक्रान्तं कोटीयुतमखण्डितम् ।
साकारं च निराकारं परिमाणं तथेतरत् ॥
नवमं वर्तनीयातं दशमं स्यात् सहेतुकम् ।
प्रत्याख्यानविकल्पोऽयमेवं सूत्रे निरुच्यते ॥' [ ]

अनागतं चतुर्दश्यादिषु कर्तव्यमुपवासादिकं यत् त्रयोदश्यादिषु क्रियते । अतिक्रान्तं चतुर्दश्यादिषु कर्तव्यमुपवासादिकं यत् प्रतिपदादिषु क्रियते । कोटियुतं श्वस्तने दिने स्वाध्यायवेलायामतिक्रान्तायां यदि शक्तिर्भविष्यति तदोपवासं करिष्यामि, नो चेन्न करिष्यामीत्यादि संकल्पसमन्वितं यत् क्रियते । अखण्डितमवश्यकर्तव्यपाक्षिकादिषूपवासकरणम् । साकारं सर्वतोभद्रकनकावल्याद्युपवासविधिभेदसहितम् । निराकारं स्वेच्छयोपवासादिकरणम् । परिमाणं षष्ठाष्टमादिकालपरिच्छेदेनोपवासादिकरणम् । परिमाणविषयत्वात्तथोक्तम् । इतरत् यावज्जीवं चतुर्विधाहारादित्यागोऽपरिशेषमित्युच्यते । वर्तनीयातमध्वगतं नाम अटवीनद्यादिनिष्क्रमणद्वारेणोपवासादिकरणम् । सहेतुकमुपसर्गादिनिमित्तापेक्षमुपवासादिकरणम् । विनयादिचतुष्कयुक्—विनयादिचतुष्टयविशुद्धम् ।

यथाह—

'कृतिकर्मोपचारश्च विनयो मोक्षवर्त्मनि ।
पञ्चधा विनयाच्छुद्धं प्रत्याख्यानमिदं भवेत् ॥
गुरोर्वचोऽनुभाष्यं चेच्छुद्धं स्वरपदादिना ।
प्रत्याख्यानं तथा मूतमनुवादामलं भवेत् ॥

मुमुक्षुको अपनी शक्तिके अनुसार और आगमके अनुसार अनागत आदिके भेदसे दस भेद रूप और विनय आदि चारसे युक्त क्षपण अवश्य करना चाहिए ॥६९॥

विशेषार्थ—जिससे शरीर और इन्द्रियोंको तथा अशुभ कर्मको कृश किया जाता है उसे क्षपण अर्थात् उपवासादि प्रत्याख्यान कहते हैं। साधुको यथाशक्ति और आगमोक्त विधिके अनुसार उपवास आदि अवश्य करना चाहिए। उसके दस प्रकार कहे हैं—चतुर्दशी आदिके दिन कर्तव्य उपवास आदिको त्रयोदशी आदिमें करना अनागत है। चतुर्दशी आदि में कर्तव्य उपवास आदिको प्रतिपदा आदिमें करना अतिक्रान्त है। कल स्वाध्यायका समय बीत जानेपर यदि शक्ति होगी तो उपवास आदि करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा, इस प्रकार के संकल्प पूर्वक किया गया प्रत्याख्यान कोटिसहित है। अवश्य कर्तव्य पाक्षिक आदि अवसरोंपर उपवास आदि अवश्य करना अखण्डित है। जो सर्वतोभद्र, कनकावली आदि उपवासविधि भेदपूर्वक कहे हैं उन्हें करना साकार या सभेद प्रत्याख्यान है। स्वेच्छासे कभी भी उपवास आदि करना अनाकार या निराकार प्रत्याख्यान है। षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादशम, पक्ष, अर्धपक्ष, मास आदि कालका परिमाण करके उपवास आदि करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है। जीवन पर्यन्तके लिए चार प्रकारके आहारादिका त्याग अपरिशेष प्रत्याख्यान है। मार्गमें अटवी, नदी आदि पार करनेपर किया गया उपवास आदि अध्वगत प्रत्याख्यान है। उपसर्ग आदि आनेपर किया गया उपवास सहेतुक प्रत्याख्यान है। ये दस प्रत्याख्यानके भेद हैं। तथा वे प्रत्याख्यान विनय आदिसे युक्त होने चाहिए। विनयके पाँच

अमातङ्कोपसर्गेषु दुर्भिक्षे काननेऽपि वा ।
प्रपालितं न यद्भग्नमनुपालनयाऽमलम् ॥
रागद्वेषद्वयेनान्तर्यद् भवेन्नैव दूषितम् ।
विज्ञेयं भावशुद्धं तत् प्रत्याख्यानं जिनागमे ॥' [ ]

क्षपणं—क्षप्यतेऽपकृष्यते देहेन्द्रियादिकमशुभकर्म वा अनेनेति क्षपणमिहोपवासादिप्रत्याख्यानमाख्यायते ॥६९॥

अथ सप्तभिः पद्यैः कायोत्सर्गं व्याचिख्यासुस्तल्लक्षणप्रयोक्तृहेतुविकल्पनिर्णयार्थमिदमादौ निर्दिशति—

मोक्षार्थी जितनिद्रकः सुकरणः सूत्रार्थविद् वीर्यवान्
शुद्धात्मा बलवान् प्रलम्बितभुजायुग्मो यदास्तेऽचलम् ।
ऊर्ध्वज्ञुश्चतुरङ्गुलान्तरसमाग्राङ्घ्रिर्निषिद्धाभिधा-
द्याचारात्ययशोधनादिह तनूत्सर्गः स षोढा मतः ॥७०॥

सुकरणः—शोभना क्रिया परिणामो वाऽस्य । शुद्धात्मा—असंयतसम्यग्दृष्ट्यादिभव्यः । उक्तं च—

'मोक्षार्थी जितनिद्रो हि सूत्रार्थज्ञः शुभक्रियः ।
बलवीर्ययुतः कायोत्सर्गी भावविशुद्धिभाक् ॥' [ ]

अचलं—निश्चलपादहस्ताधरभ्रूनेत्रादिसर्वाङ्गम् । ऊर्ध्वज्ञुः—ऊर्ध्वजानु । ऊर्ध्वं परलोकं जानानश्च । उक्तं च—

प्रकार हैं—सिद्ध भक्ति, योगभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग करना कृतिकर्म विनय है। दोनों हस्तपुट संयुक्त करके मस्तकसे लगाना, पिच्छिकासे वक्षस्थलका भूपित होना इत्यादि उपचार विनय है। ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनयका स्वरूप पहले कहा गया है। इन पाँच प्रकारकी विनयसे युक्त प्रत्याख्यान विनय शुद्ध होता है। गुरुने प्रत्याख्यानके अक्षरोंका पाठ जैसा किया हो, स्वर व्यंजन आदिसे शुद्ध वैसा ही उच्चारण करना अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान है। अचानक किसी रोगका आक्रमण होनेपर, उपसर्ग आनेपर, अत्यन्त श्रमसे थके होनेपर, दुर्भिक्ष होनेपर, विकट वन आदि भयानक प्रदेशमें पहुँचनेपर भी, इन सबमें भी प्रत्याख्यानका पालन करना और उसमें किंचित् भी त्रुटि न होने देना अनुपालन शुद्ध प्रत्याख्यान है। जो प्रत्याख्यान राग द्वेष रूप परिणामोंसे दूषित नहीं है वह भाव विशुद्ध प्रत्याख्यान है। [मूलाचार ७।१४२-१४६] इस प्रकार प्रत्याख्यानका स्वरूप कहा ॥६९॥

आगे सात श्लोकोंके द्वारा कायोत्सर्गका व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार प्रारम्भमें कायोत्सर्गका लक्षण, उसका करनेवाला, प्रयोजन और भेद कहते हैं—

मुक्तिका इच्छुक, निद्राको जीत लेनेवाला, शुभ क्रिया और परिणामोंसे युक्त, आगमके अर्थका ज्ञाता, वीर्यवान्, बलवान् असंयत सम्यग्दृष्टि आदि भव्य दोनों हाथोंको नीचे लटकाकर, और दोनों चरणोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर देकर तथा उनके अग्रभागोंको बिलकुल सम रूपमें रखते हुए निश्चल खड़ा होता है उसे इस आवश्यक प्रकरणमें कायोत्सर्ग कहते हैं। यह कायोत्सर्ग आगममें निषिद्ध नाम आदिके आचरणसे लगनेवाले दोषोंकी विशुद्धिके लिए किया जाता है। तथा उसके छह भेद हैं ॥७०॥

विशेषार्थ—यहाँ कायोत्सर्ग करनेवालेका स्वरूप, कायोत्सर्गका लक्षण, प्रयोजन और भेद कहे हैं। कायोत्सर्ग करनेका पात्र शुद्धात्मा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि भव्य जीव ही होता है। वह भी मुमुक्षु निद्राजयी, आगमका अभिप्राय जाननेवाला और अच्छे परिणामसे

'वोसरिदबाहुजुयलो चउरंगुलमंतरेण समपादो।
सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥' [मूलाचार गा. ६५०]

निषिद्धेत्यादि—खरपरुषादिनामसावद्यस्थापनाद्यनुष्ठानजातातिचारशुद्धिहेतोः। उक्तं च—

'आगःशुद्धितपोवृद्धिकर्मनिर्जरणादयः।
कायोत्सर्गस्य विज्ञेया हेतवो व्रतवर्तिना ॥'

इह—आवश्यकप्रकरणे। तनूत्सर्गः—तनोः कायस्य तात्स्थ्यात्तनुममत्वस्योत्सर्गस्त्यागः। उक्तं च—

'ममत्वमेव कायस्थं तात्स्थ्यात् कायोऽभिधीयते।
तस्योत्सर्गस्तनूत्सर्गो जिनबिम्बाकृतेर्यतेः ॥' [ ]

स—मोक्षार्थित्वादिगुणस्य प्रलम्बितभुजायुग्माद्यवस्थानलक्षणः। षोढा—नामादिभेदेन षट्प्रकारः। तथाहि—सावद्यनामकरणागतदोषविशुद्धयर्थं कायोत्सर्गो नामकायोत्सर्गः कायोत्सर्गनाममात्रं वा। पापस्थापनाद्वारागतदोषोच्छेदाय कायोत्सर्गः स्थापनाकायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतप्रतिबिम्बं वा। सावद्यद्रव्यसेवनद्वारेणानागतातीचारनिर्हरणाय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भाविजीवस्तद्व्यतिरिक्तो वा द्रव्यकायोत्सर्गः। सावद्यक्षेत्रद्वारागतदोषध्वंसनाय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसेवितक्षेत्रं वा

युक्त होना चाहिए। साथ ही उसमें नैसर्गिक शक्तिके साथ शारीरिक शक्ति भी होना चाहिए। ये सब कायोत्सर्ग करनेवालेके लिए आवश्यक हैं। वह दोनों हाथोंको नीचे लटकाकर इस प्रकार खड़ा होता है कि उसके दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रहे तथा दोनों पैर एक सीधमें हों, आगे पीछे नहीं। यह कायोत्सर्गकी मुद्रा है। इस मुद्रामें खड़े होकर शरीरके प्रति ममत्वके त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं। यह कायोत्सर्गका लक्षण है। यहाँ काय शब्दसे कायका ममत्व लेना चाहिए। उसके उत्सर्ग अर्थात् त्यागको ही कायोत्सर्ग कहते हैं। मूलाचारमें कहा है—'दोनों भुजाओंको नीचे लटकाकर, चार अंगुलके अन्तरसे दोनों पैरोंको एक सीधमें रखकर, हाथ-पैर, सिर-गरदन, आँख-भौ आदिको निश्चल रखना विशुद्ध कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्गकी इस मुद्रामें स्थित होकर जो शरीरके प्रति ममत्व भाव छोड़ा जाता है वह वस्तुतः कायोत्सर्ग है'। कहा है—'शरीरमें रहनेवाले ममत्वको ही काय कहा है क्योंकि वह मोह शरीरको लेकर होता है। जिनबिम्बके समान मुद्रा धारण करनेवाले साधुके उस ममत्व त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं।'

वह कायोत्सर्ग दोषोंकी विशुद्धि, तपकी वृद्धि और कर्मोंकी निर्जराके लिए किया जाता है, कहा है—

'व्रती पुरुषको कायोत्सर्गका प्रयोजन दोषोंकी विशुद्धि, तपकी वृद्धि और कर्मोंकी निर्जरा आदि जानना चाहिए।'

कायोत्सर्गके भी छह निक्षेपोंकी अपेक्षा छह भेद हैं—सावद्य नाम करनेसे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नामकायोत्सर्ग है। अथवा किसीका नाम कायोत्सर्ग रखना नामकायोत्सर्ग है। पापपूर्ण स्थापनासे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह स्थापनाकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्गपरिणत प्रतिबिम्ब स्थापनाकायोत्सर्ग है। सावद्य द्रव्यके सेवनसे लगे अतीचारकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह द्रव्यकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्गका वर्णन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाता जो उसमें उपयुक्त नहीं है वह आगम द्रव्यकायोत्सर्ग है। उस ज्ञाताका शरीर, तथा उसके कर्म, नोकर्म और भविष्यमें कायोत्सर्गका होनेवाला ज्ञाता जीव

क्षेत्रकायोत्सर्गः । सावद्यकालाचरणद्वारागतदोषपरिहाराय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसहितकालो वा कालकायोत्सर्गः । मिथ्यात्वाद्यतीचारशोधनाय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञ उपयुक्तस्तज्ज्ञानं जीवप्रदेशा वा भावकायोत्सर्ग इति ॥७०॥

अथ कायोत्सर्गस्योत्तममध्यमजघन्यपरिणामनिरूपणार्थमाह—

कायोत्सर्गस्य मात्रान्तर्मुहूर्तोऽल्पा समोत्तमा ।
शेषा गाथात्र्यंशचिन्तात्मोच्छ्वासैर्नैकधा मिता ॥७१॥

अन्तर्मुहूर्तः—समयाधिकामावलिकामादिं कृत्वा समयोनमुहूर्तं यावत्कालः । अल्पा—जघन्या । समा—वर्षम् । गाथेत्यादि—गाथायाः 'णमो अरहंताणं' इत्यादिकायाः त्र्यंशस्त्रिभागो द्वे द्वे एकं च नमस्कारपदं तच्चिन्ता आत्मा स्वरूपं यस्यासौ गाथात्र्यंशचिन्तात्मा स चासावुच्छ्वासश्च । तत्र 'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं' इति पदद्वयचिन्तनमेक उच्छ्वासः । एवं 'णमो आयरियाणं णमो उवज्झायाणं' इति चिन्तनं द्वितीय. । तथा 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इति चिन्तनं तृतीयः । एव गाथायास्त्रिधा चिन्तने त्रय उच्छ्वासाः । नवधा चिन्तने सप्तविंशतिरित्यादिकल्पनया परिगणनीयम् । उक्तं च—

'सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमाः ।
सन्ति पञ्चनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥' [अमित. श्राव. ८।६९]

ये नोआगम द्रव्यकायोत्सर्ग हैं। सावद्य क्षेत्रके सेवनसे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह क्षेत्रकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्ग करनेवाले महर्षियोंसे सेवित क्षेत्र क्षेत्रकायोत्सर्ग है। सावद्य कालमें आचरण करनेसे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए किया गया कायोत्सर्ग कालकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्ग करने वालोंसे सहित कालको कालकायोत्सर्ग कहते हैं। मिथ्यात्व आदि सम्बन्धी अतिचारोंके शोधनके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह भावकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्गका वर्णन करनेवाले शास्त्रका जो ज्ञाता उस शास्त्रमें उपयुक्त है वह आगम भावकायोत्सर्ग है। उसका ज्ञान या उस जीवके प्रदेश नोआगम भावकायोत्सर्ग है। इस तरह छह भेद हैं ॥७०॥

आगे कायोत्सर्गके उत्तम, मध्यम और जघन्य परिमाणको कहते हैं—

कायोत्सर्गका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल एक वर्ष प्रमाण है। शेष अर्थात् मध्यकालका प्रमाण गाथाके तीन अंशोंके चिन्तनमें लगनेवाले उच्छ्वासोंके भेदसे अनेक प्रकार है ॥७१॥

विशेषार्थ—एक समय अधिक आवलीसे लेकर एक समय कम मुहूर्तको अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। यह कायोत्सर्गका जघन्य काल है और उत्कृष्ट काल एक वर्ष है जैसा बाहुबलीने किया था। मध्यमकाल अन्तर्मुहूर्त और वर्षके मध्यकालकी अपेक्षा दो मुहूर्त, एक पहर, एक दिन आदिके रूपमें अनेक प्रकार है। कहा है—कायोत्सर्गका उत्कृष्ट काल एक वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। शेष कायोत्सर्ग शक्तिकी अपेक्षा अनेक स्थानोंमें होते हैं। वह अनेक भेद इस प्रकार होते हैं—णमोकार मन्त्र गाथारूप होनेसे गाथासे णमोकार मन्त्र लेना चाहिए। उसके तीन अंश हैं—णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं एक, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं दो और णमो लोए सव्वसाहूणं तीन। इनमें से प्रत्येकके चिन्तनमें एक उच्छ्वास

1. 'संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि ।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ॥'—मूलाचार ७।१५९

नैकधा—द्विमुहूर्तप्रहरदिवसाद्यपेक्षया कार्यकालद्रव्यक्षेत्रभावाद्यपेक्षया वा अनेकप्रकारा मध्यमावित्यर्थः । यदाह—

'अस्ति वर्षं समुत्कृष्टो जघन्योऽन्तर्मुहूर्ततः ।
कायोत्सर्गः पुनः शेषा अनेकस्थानैमागताः ॥' ॥७१॥

अथ दैवसिकादिप्रतिक्रमणकायोत्सर्गेयूच्छ्वाससंख्याविशेषनिर्णयार्थमाह—

उच्छ्वासाः स्युस्तनूत्सर्गे नियमान्ते दिनादिषु ।
पञ्चस्वष्टशतार्धत्रिचतुःपञ्चशतप्रमाः ॥७२॥

नियमान्ते—वीरभक्तिकरणकाले । अष्टशतं—अष्टाभिरधिकं शतम् । अर्धं—चतुःपञ्चाशत् । उक्तं च—

'आह्निकेऽष्टशतं रात्रिभवेऽर्धं पाक्षिके तथा ।
नियमान्तेऽस्ति संस्तेयैमुच्छ्वासानां शतत्रयम् ॥
चतुःपञ्चशतान्याहुश्चतुर्मासाब्दसंभवे ।
इत्युच्छ्वासास्तनूत्सर्गे पञ्चस्थानेषु निश्चिताः ॥' [ ] ॥७२॥

लगता है। अतः पूरे मन्त्रका एक बार चिन्तन तीन उच्छ्वासोंमें होता है। नौ बार चिन्तन करनेमें सत्ताईस उच्छ्वास होते हैं। आचार्य अमितगतिने कहा है—'नौ बार पंच नमस्कार मन्त्रका चिन्तन करनेपर सत्ताईस उच्छ्वास संसारका उन्मूलन करनेमें समर्थ हैं।' उच्छ्वास अर्थात् प्राणवायुका लेना निकालना। उच्छ्वासका यह लक्षण कायोत्सर्गके उत्कृष्ट और जघन्य प्रमाणमें भी यथासम्भव लगा लेना चाहिए॥७१॥

दैनिक आदि प्रतिक्रमण और कायोत्सर्गोंमें उच्छ्वासोंकी संख्याका निर्णय करते हैं—

दैवसिक आदि पाँच प्रतिक्रमणोंके अवसरपर वीरभक्ति करते समय जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उनमें क्रमशः एक सौ आठ, चउवन, तीन सौ, चार सौ, पाँच सौ उच्छ्वास होते हैं। अर्थात् दिन सम्बन्धी कायोत्सर्गमें एक सौ आठ, रात्रि सम्बन्धी कायोत्सर्गमें चउवन, पाक्षिकमें तीन सौ, चातुर्मासिकमें चार सौ और वार्षिकमें पाँच सौ उच्छ्वास होते हैं॥७२॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कहा है—दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्गमें एक सौ आठ उच्छ्वास करने चाहिए। रात्रिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्गमें चउवन उच्छ्वास करने चाहिए। पाक्षिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्गमें तीन सौ उच्छ्वास करने चाहिए। ये वीरभक्तिके अन्तमें प्रमादरहित होकर करना चाहिए। चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें चार सौ उच्छ्वास और वार्षिक प्रतिक्रमणमें पाँच सौ उच्छ्वास होते हैं। इस प्रकार पाँच स्थानोंमें

---

१. तंगः भ. कु. च.।
२. नगा मताः भ. कु. च.।
३. संस्थेय—भ. कु. च.।
४. 'अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णि सया।
उस्सासा कायव्वा णियमंते अप्पमत्तेण ॥
चाउम्मासे चउरो सदाइं संवत्यरे य पंचसदा।
काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा ॥'—मा. ७।१६०-१६१।

अथ प्रस्रावादिप्रतिक्रमणार्स्वर्हच्छय्यादिवन्दनायां स्वाध्यायादिषु च कायोत्सर्गोच्छ्वाससंख्याविशेषनिश्चयार्थमाह—

पञ्चाग्रा विंशतिस्ते स्युः स्वाध्यायादौ च सप्तयुक् ॥७३॥

उच्चारः—पुरीषोत्सर्गः। अध्वा—ग्रामान्तरगमनम्। भक्तं—गोचारः। अर्हच्छय्या—जिनेन्द्र-निर्वाण-समवसृति-केवलज्ञानोत्पत्ति-निष्क्रमण-जन्मभूमिस्थानानि। साधुशय्याः—श्रमणनिषिद्धिकास्थानानि। स्वाध्यायादौ—आदिशब्देन ग्रन्थादिप्रारम्भे प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्तौ वन्दनाया मनोविकारे च तत्क्षणोत्पन्ने। उक्तं च—

'ग्रामान्तरेऽन्नपानेऽर्हत्साधुशय्याभिवन्दने।
प्रस्रावे च तथोच्चारे उच्छ्वासाः पञ्चविंशतिः॥
स्वाध्यायोद्देशनिर्देशे प्रणिधानेऽथ वन्दने।
सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गेऽभिसंमताः॥' [ ]

कायोत्सर्गोंके उच्छ्वास जानने चाहिए। इतने उच्छ्वासपर्यन्त कायोत्सर्ग किया जाता है। श्वेताम्बरीय आवश्यक भाष्यमें कहा है कि इन पाँचोंमें कायोत्सर्गके उच्छ्वासोंका प्रमाण नियत है शेषमें अनियत है॥७२॥

मूत्र त्याग आदि करके जो प्रतिक्रमण किया जाता है उस समय, अथवा अर्हत् शय्या आदिकी वन्दनाके समय और स्वाध्याय आदिमें किये जानेवाले कायोत्सर्गके उच्छ्वासोंकी संख्या बतलाते हैं—

मूत्र और मलका त्याग करके, एक गाँवसे दूसरे गाँव पहुँचनेपर, भोजन करनेपर, अर्हत् शय्या और साधुशय्याकी वन्दना करते समय जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उसका प्रमाण पचीस उच्छ्वास है। स्वाध्याय आदिमें जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसके उच्छ्वासोंका प्रमाण सत्ताईस होता है॥७३॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कहा है—खान पान सम्बन्धी प्रतिक्रमणके विषयमें जब साधु गोचरीसे लौटे तो उसे पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। एक गाँवसे दूसरे गाँव जानेपर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। अर्हत् शय्या अर्थात् जिनेन्द्रके निर्वाणकल्याणक, समवसरण, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान, तपकल्याणक और जन्म भूमिके स्थानपर वन्दनाके लिए जानेपर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। साधुशय्या अर्थात् किसी साधुके समाधिस्थानपर जाकर लौटनेपर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। तथा मूत्रत्याग या मलत्याग करने पर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। किसी ग्रन्थको प्रारम्भ करते समय प्रारम्भ किये हुए

१. 'देसिअ-राईअ-पक्खिअ चाउम्मासिय तहेव वरिसे अ।
एएसु होंति निअया उस्सग्गा अनियया सेसा॥'—२३४।

२. 'भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंतसयण सेज्जासु।
उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा॥
उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिधाणे।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा॥'—मूला. ७।१६३-१६४।

उद्देशो ग्रन्थादिप्रारम्भः । निर्देशः प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्तिः । प्रणिधानं मनोविकारोऽशुभपरिणाम-स्तत्क्षणोत्पन्न इत्यर्थः । यत्तु—

'जन्तुघातानृतादत्तमैथुनेषु परिग्रहे ।
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासाः कायोत्सर्गाः प्रकीर्तिताः ॥' [ ]

इति सूत्रे वचस्तच्चशब्देन समुच्चीयते ॥७३॥

अथ व्रतारोपण्यादिप्रतिक्रमणासूच्छ्वाससंख्यानिर्देशार्थमाह—

या व्रतारोपणी सार्वातिचारिक्यातिचारिकी ।
औत्तमार्थी प्रतिक्रान्तिः सोच्छ्वासैराह्निकी समा ॥७४॥

आह्निकी समा । वीरभक्तिकालेऽष्टोत्तरशतोच्छ्वासकायोत्सर्गे इत्यर्थः ॥७४॥

अथाहोरात्रस्वाध्यायादि-विषयकायोत्सर्गसंख्यासंग्रहार्थमाह—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे ।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः ॥७५॥

अहोरात्रगोचराः । सर्वे मिलिता अष्टाविंशतिः । एते च विभागेनोत्तरत्र व्यवहरिष्यन्ते ॥७५॥

अथ कायोत्सर्गे ध्यानविशेषमुपसर्गपरीषहसहनं च नियमयन् कर्मनिर्जरणातिशयं फलत्वेनोपदिशति—

ग्रन्थकी समाप्ति होनेपर, सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। इसी तरह स्वाध्याय और वन्दनामें भी सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। मनमें विकार उत्पन्न होनेपर तत्क्षण सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। प्राणि-वध सम्बन्धी, असत्यालाप सम्बन्धी, चोरीसम्बन्धी, मैथुनसम्बन्धी और परिग्रहसम्बन्धी दोष लगनेपर १०८ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए।

मूलाचारके इस कथनका ग्रहण ग्रन्थकारने च शब्दसे किया है ॥७३॥

आगे व्रतारोपण आदि सम्बन्धी प्रतिक्रमणोंमें उच्छ्वासकी संख्या बतलाते हैं—

व्रतारोपण सम्बन्धी, सर्वातिचार सम्बन्धी, अतिचार सम्बन्धी और उत्तमार्थ सम्बन्धी प्रतिक्रमणोंमें उच्छ्वासोंकी संख्या दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी उच्छ्वासोंके समान १०८ होती है ॥७४॥

विशेषार्थ—पहले श्लोक ५८ में प्रतिक्रमणके सात भेद कहे हैं। इनका स्वरूप वहाँ बतलाया है। उन्हींके उच्छ्वासोंका प्रमाण यहाँ दैवसिक प्रतिक्रमणकी तरह १०८ कहा है ॥७४॥

आगे दिन-रातमें स्वाध्याय आदि सम्बन्धी कायोत्सर्गोंकी संख्याको बतलाते हैं—

स्वाध्यायमें बारह, वन्दनामें छह, प्रतिक्रमणमें आठ और योगभक्तिमें दो, इस तरह दिन-रातमें अट्ठाईस कायोत्सर्ग आचार्योंने माने हैं ॥७५॥

विशेषार्थ—इनका विभाग ग्रन्थकार आगे करेंगे ॥७५॥

आगे कर्मोंकी सातिशय निर्जरा रूप फलके लिए कायोत्सर्गमें ध्यान विशेषका तथा उपसर्ग और परीषहोंको सहनेका उपदेश करते हैं—

---

१. 'पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव ।
अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गम्हि कादव्वा ॥' —मूलाचार ७।१६२

व्युत्सृज्य दोषान् निःशेषान् सद्ध्यानी स्यात्तनूत्सृतौ।
सहेताऽप्युपसर्गोर्मीन् कर्मैवं भिद्यते तराम् ॥७६॥

दोषान्—ईर्यापथाद्यतीचारान् कायोत्सर्गमलान् वा। सद्ध्यानी—धर्म्यं शुक्लं वा ध्यानमाश्रितः। एतेनालस्याद्यभाव उक्तः स्यात्।

उक्तं च—

'कायोत्सर्गस्थितो धीमान् मलमीर्यापथाश्रयम्।
निःशेषं तत्समानीय धर्म्यं शुक्लं च चिन्तयेत् ॥' [ ]

भिद्यतेतराम्। स्तवाद्यपेक्षया प्रकर्षोऽत्र। उक्तं च—

'उपसर्गस्तनूत्सर्गं श्रितस्य यदि जायते।
देवमानवतिर्यग्भ्यस्तदा सह्यो मुमुक्षुणा ॥
साधोस्तं सहमानस्य निष्कम्पीभूतचेतसः।
पतन्ति कर्मजालानि शिथिलीभूय सर्वतः ॥
यथाङ्गानि विभिद्यन्ते कायोत्सर्गविधानतः।
कर्माण्यपि तथा सद्यः संचितानि तनूभृताम् ॥
यमिनां कुर्वतां भक्त्या तनूत्सर्गमदूषणम्।
कर्म निर्जीर्यते सद्यो भवकोटि-भ्रमार्जितम् ॥' [ ] ॥७६॥

अथ नित्यनैमित्तिककर्मकाण्डनिष्ठस्य योगिनः परम्परया निःश्रेयसप्रतिलम्भमभिधत्ते—

नित्येनेत्थमथेतरेण दुरितं निर्मूलयन् कर्मणा
योऽभ्यासेन विपाचयत्यमलयन् ज्ञानं त्रिगुप्तिश्रितः।
स प्रोद्बुद्धनिसर्गशुद्धपरमानन्दानुविद्धस्फुरद्-
विश्वाकारसमग्रबोधशुभगं कैवल्यमास्तिघ्नुते ॥७७॥

समस्त ईर्यापथादिक अतिचारों अथवा कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोषोंको पूर्ण रीतिसे त्यागकर कायोत्सर्गमें स्थित मुमुक्षुको प्रशस्त धर्मध्यान या शुक्लध्यान ही करना चाहिए। और उपसर्ग तथा परीषहोंको सहना चाहिए। ऐसा करनेसे ज्ञानावरणादि कर्म स्वयं ही विगलित हो जाते हैं ॥७६॥

विशेषार्थ—यदि कायोत्सर्ग करते समय देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत कोई उपसर्ग आ जाये तो उसे सहना चाहिए और ऐसे समयमें भी धर्मध्यान या शुक्लध्यान ही ध्याना चाहिए। जो साधु परीषह और उपसर्गसे विचलित न होकर उसे धीरता पूर्वक सहन करता है उसका कर्मबन्धन शिथिल होकर छूट जाता है। जो साधु भक्तिपूर्वक निर्दोष कायोत्सर्ग करते हैं उनके पूर्वभवोंमें अर्जित कर्म शीघ्र ही निर्जीर्ण हो जाते हैं अतः कायोत्सर्ग साव-धानीसे करना चाहिए ॥७६॥

आगे कहते हैं कि नित्य और नैमित्तिक क्रियाकाण्डमें निष्ठ योगी परम्परासे मोक्ष लाभ करता है—

ऊपर कहे अनुसार नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके द्वारा पापका मूलसे निरसन करते हुए तीनों गुप्तियोंके आश्रयसे अर्थात् मन वचन और कायके व्यापारको सम्यक् रूपसे निगृहीत करके जो अभ्यासके द्वारा ज्ञानको निर्मल बनाते हुए परिपक्व करता है वह योगी प्रोद्बुद्ध अर्थात् अपुनर्जन्मरूप लक्षणके द्वारा अभिव्यक्त, स्वभावसे ही निर्मल, और परम आनन्दसे

इतरेण—नैमित्तिकेन । अभ्यासेन । कर्तरि तृतीया ॥७७॥

अथ षडावश्यकशेषं संगृह्णन् कृतिकर्मसेवायां श्रेयोर्थिनं व्यापारयति—

योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति ।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥७८॥

योग्याः—समाधये प्रभवन्त्यः । यथाविहिता इत्यर्थः । तथैवोत्तरप्रबन्धेनानुपूर्वशो व्याख्यास्यन्ते । यथाजातः—बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः । संयमग्रहणक्षणे निर्ग्रन्थत्वेन पुनरुत्पादात् । कृतिकर्म—कृते. पापकर्मछेदनस्य कर्म अनुष्ठानम् ॥७८॥

अनुविद्ध तथा जिसमें समस्त लोकालोकके आकार प्रतिबिम्बित हैं ऐसे समग्र द्रव्यपर्यायोंसे निबद्ध ज्ञानसे रमणीय कैवल्यको—निर्वाणको प्राप्त करता है ॥७७॥

विशेषार्थ—जबतक साधु अभ्यास दशामें रहता है तबतक दोषोंकी विशुद्धिके लिए उसे नित्य और नैमित्तिक कर्म करने होते हैं। किन्तु ये कर्म कर्मके लिए नहीं किये जाते, अकर्मा होनेके लिए किये जाते हैं। इसीलिए इन नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते हुए मन, वचन और कायके समग्र व्यवहारको निगृहीत करके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिका अवलम्बन लेना होता है। यदि ऐसा न हो तो कोरे क्रियाकाण्डसे पापका निरसन नहीं हो सकता। क्रियाकाण्डके समयमें भी साधुके कर्मचेतनाकी प्रधानता नहीं होती ज्ञानचेतनाकी ही प्रधानता होती है उसीसे पापका क्षय होता है। ज्यों-ज्यों ज्ञानचेतनाकी प्रधानता होती जाती है त्यों-त्यों ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय होकर ज्ञानमें निर्मलता आती जाती है। उसीसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होकर निर्वाणकी प्राप्ति होती है। निर्वाण दशामें समग्र द्रव्यपर्यायोंको जाननेवाला केवलज्ञान अनन्त सुखके साथ रिला-मिला हुआ रहता है उससे मुक्तावस्थामें परम प्रशान्तिरूप प्रमोदभाव रहता है। इसके साथ ही मुक्त आत्माको जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा मिल जाता है। अतः मोक्षका लक्षण पुनर्जन्मका न होना भी है। अतः योगीको साधक दशामें नित्य-नैमित्तिक कृत्य अवश्य विधेय है। अन्य दर्शनोंमें भी ऐसा ही कहा है ॥७७॥

इस प्रकार आवश्यक प्रकरण समाप्त होता है।

आगे षडावश्यकसे अवशिष्ट कृतिकर्मका संग्रह करते हुए अपने कल्याणके इच्छुक मुमुक्षुओंको कृतिकर्मका सेवन करनेकी प्रेरणा करते हैं—

यथाजात अर्थात् संयम ग्रहण करते समय बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहकी चिन्तासे मुक्त निर्ग्रन्थ रूपको धारण करनेवाले साधुको समाधिके लिए उपयोगी काल, आसन, स्थान, मुद्रा, आवर्त और शिरोनति-नमस्कारसे युक्त बत्तीस दोष रहित कृतिकर्मको विनयपूर्वक करना चाहिए ॥७८॥

विशेषार्थ—कृति अर्थात् पापकर्मके छेदनके, कर्म अर्थात् अनुष्ठानको कृतिकर्म कहते हैं। यह कृतिकर्म बत्तीस दोष टालकर करना चाहिए। तथा योग्य काल, आसन आदि उसके अंग हैं। आगे इनका कथन करेंगे ॥७८॥

---

१. 'नित्यनैमित्तकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः ।'—प्रशस्तपादभाष्य—व्योमवती टीका, पृ. २० ।

अथ नित्यदेववन्दनायां त्रैकाल्यपरिमाणमाह—

तिस्रोऽह्नोऽन्त्या निशश्चाद्या नाड्यो व्यत्यासितास्च ताः ।
मध्याह्नस्य च षट्कालास्त्रयोऽमी नित्यवन्दने ॥७९॥

निशः—रात्रेः । व्यत्यासिताः—दिवसस्य प्रथमास्तिस्रो घटिका रात्रेश्च पश्चिमास्तिस्र इति । पूर्वाह्णदेववन्दनायामुत्कर्षेण घटिकाषट्ककालः । एवं मध्याह्नदेववन्दनाया मध्यदिनघटिकाषट्कम् । अपराह्णदेववन्दनायां च दिवसस्यान्त्यास्तिस्रो घटिका रात्रेश्चाद्यास्तिस्र इति घटिकाषट्कमुत्कर्षतः कालः कल्पनीयः । उक्तं च—

'मुहूर्तत्रितयं कालः सन्ध्यानां त्रितये बुधैः ।
कृतिकर्मविधिर्नित्यः परो नैमित्तिको मतः ॥' [ ] ॥७९॥

अथ कृतिकर्मणि योग्यासनावसायार्थमाह—

वन्दनासिद्धये यत्र येन चास्ते तदुद्यतः ।
तद्योग्यमासनं देशः पीठं पद्मासनाद्यपि ॥८०॥

यत्र—देशे पीठे च । येन—पद्मासनादिना । उक्तं च—

'आस्यते स्थीयते यत्र येन वा वन्दनोद्यतैः ।
तदासनं विबोद्धव्यं देशपद्मासनादिकम् ॥' [अमि. श्रा. ८।३८] ॥८०॥

सर्व प्रथम नित्य देववन्दनाके सम्बन्धमें तीनों कालोंका परिमाण कहते हैं—

नित्यवन्दनाके तीन काल हैं—पूर्वाह्न, अपराह्न और मध्याह्न। इनका परिमाण इस प्रकार है— दिनके आदिकी तीन घड़ी और रात्रिके अन्तकी तीन घड़ी, इस तरह छह घड़ी पूर्वाह्नवन्दनाका काल है। दिनके अन्तकी तीन घड़ी और रात्रिके आदिकी तीन घड़ी, इस तरह छह घड़ी अपराह्नवन्दनाका काल है तथा मध्याह्नकी छह घड़ी मध्याह्नवन्दनाका काल है ॥७९॥

विशेषार्थ—यह वन्दनाका उत्कृष्ट काल है। एक घड़ीमें चौबीस मिनिट होते हैं अतः छह घड़ीमें एक घण्टा चवालीस मिनिट होते हैं। तीनों सन्ध्याकालोंमें दिन और रातकी सन्धिके समय ७२-७२ मिनिट दोनोंके लेकर देववन्दना करनी चाहिए। अर्थात् प्रातःकालके समय जब रात्रि तीन घड़ी शेष हो तब देववन्दना प्रारम्भ करनी चाहिए। और सायंकालके समय जब दिन तीन घड़ी शेष हो तब देववन्दना प्रारम्भ करनी चाहिए। इसी तरह मध्याह्नमें जब पूर्वाह्नका काल तीन घड़ी शेष हो तब देववन्दना प्रारम्भ करनी चाहिए। कहा है—'तीनों सन्ध्याओंमें नित्य कृतिकर्म विधिका उत्कृष्ट काल तीन-तीन मुहूर्त माना है' ॥७९॥

आगे कृतिकर्ममें योग्य आसनका निर्णय करते हैं—

वन्दनाके लिए उद्यत साधु वन्दनाकी सिद्धिके लिए जिस देश और पीठपर बैठता है उसके योग्य आसनको देश और पीठ कहते हैं। तथा वह साधु जिस आसनसे बैठता है उस पद्मासन आदिको भी आसन कहते हैं ॥८०॥

विशेषार्थ—आसनसे यहाँ बैठनेका देश तथा उसमें बैठनेके लिए रखा गया आसन तो लिया ही गया है साथ ही वन्दना करनेवाला अपने पैरोंको जिस तरह करके बैठता है उस पद्मासन आदिको भी लिया गया है। कहा है—'वन्दनाके लिए तत्पर साधु जहाँ बैठता है और जिस रीतिसे बैठता है उस देश और पद्मासन आदिको आसन जानना चाहिए' ॥८०॥

अथ वन्दनायोग्यं प्रदेशमुपदिशति—

विविक्तः प्रासुकस्त्यक्तः संक्लेशक्लेशकारणैः ।
पुण्यो रम्यः सतां सेव्यः श्रेयो देशः समाधिचित् ॥८१॥

संक्लेशाः—रागद्वेषाद्याः । क्लेशाः—परीषहोपसर्गाः । पुण्यः—सिद्धक्षेत्रादिरूपः । रम्यः—चित्तनिर्वृत्तिकरः । सतां—मुमुक्षूणाम् । समाधिचित्—प्रशस्तध्यानवर्धकः । उक्तं च—

'संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्तृणपांश्वादिदूषितः ।
विक्षोभको हृषीकाणां रूपगन्धरसादिभिः ॥
परीषहकरो दंशशीतवातातपादिभिः ।
असंबद्धजनालापः सावद्यारम्भगर्हितः ॥
आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्टः समाधाननिषूदकः ।
योऽशिष्टजनसंचारः प्रदेशं तं विवर्जयेत् ॥
विविक्तः प्रासुकः सेव्यः समाधानविवर्धकः ।
देवर्जुदृष्टिसंपातवर्जितो देवदक्षिणः ॥
जनसंचारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुलः ।
नासन्नो नातिदूरस्थः सर्वोपद्रववर्जितः ॥' [अमि. श्रा. ८।३९-४२] ॥८१॥

अथ कृतिकर्मयोग्यं पीठमाचष्टे—

आगे वन्दनाके योग्य देशको कहते हैं—

वन्दनाके लिए उद्यत साधुको वन्दनाकी सिद्धिके लिए ऐसे प्रदेशको अपनाना चाहिए जो शुद्ध होनेके साथ अवांछनीय व्यक्तियोंसे रहित हो, निर्जन्तुक हो, संक्लेशके कारण राग-द्वेष आदिसे तथा कष्टके कारण परीषह-उपसर्ग आदिसे रहित हो, सिद्धक्षेत्र आदि पुण्यभूमि हो, चित्तको शान्तिकारक हो, मुमुक्षुओंके द्वारा सेवनीय हो और प्रशस्त ध्यानको बढ़ानेवाला हो ॥८१॥

विशेषार्थ—अमितगति श्रावकाचार (८।३९-४२) में वन्दनाके योग्य देशका वर्णन कुछ विस्तारसे किया है। लिखा है—'जहाँ स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ हो, साँप आदिके बिलोंकी बहुतायत हो, घास-फूस-धूल आदि से दूषित हो, रूप-रस-गन्ध आदि के द्वारा इन्द्रियोंको क्षोभ करनेवाला हो, डाँस-मच्छर-शीत, वायु-घाम आदिसे परीषहकारक हो, जहाँ मनुष्योंका असम्बद्ध वार्तालाप चलता हो, जो पापयुक्त आरम्भसे निन्दनीय हो, गीला हो, मनके लिए अनिष्ट हो, चित्तकी शान्तिको नष्ट करनेवाला हो, जहाँ असभ्य जनोंका आवागमन हो ऐसे प्रदेशमें वन्दना नहीं करनी चाहिए। जो स्थान एकान्त हो, प्रासुक हो, सेवन योग्य हो, समाधानको बढ़ानेवाला हो, जहाँ जिनबिम्ब आदिकी सीधी दृष्टि नहीं पड़ती हो, उसके दक्षिण ओर हो, मनुष्यों के आवागमन से रहित हो, न अतिनिकट हो और न अतिदूर हो, समस्त प्रकारके उपद्रवोंसे रहित हो, ऐसा निराकुल देश अपनाने योग्य है' ॥८१॥

आगे कृतिकर्मके योग्य पीठ बतलाते हैं—

विजन्त्वशब्दमच्छिद्रं सुखस्पर्शमकीलकम् ।
स्थेयस्तार्णाद्यधिष्ठेयं पीठं विनयवर्धनम् ॥८२॥

स्थेयः—निश्चलम् । तार्णादि—तृणकाष्ठशिलादिमयम् ॥८२॥

अथ वन्दनायोग्यं पद्मासनादित्रयं लक्षयति—

पद्मासनं श्रितौ पादौ जङ्घाभ्यामुत्तराधरे ।
ते पर्यङ्कासनं न्यस्तावूर्वो वीरासनं क्रमौ ॥८३॥

श्रितौ—संश्लिष्टौ । उत्तराधरे—उत्तराधर्येण स्थापिते । ते—जङ्घे । ऊर्वोः—सक्थ्नोरुपरि ।

उक्तं च—

'त्रिविधं पद्मपर्यङ्कवीरासनस्वभावकम् ।
आसनं यत्नतः कार्यं विदधानेन वन्दनाम् ॥
तत्र पद्मासनं पादौ जङ्घाभ्यां श्रयतो यतेः ।
तयोरुपर्यधोभागे पर्यङ्कासनमिष्यते ॥
ऊर्वोरुपरि कुर्वाणः पादन्यासं विधानतः ।
वीरासनं यतिर्धत्ते दुष्करं दीनदेहिनः ॥' [ ]

वन्दनाकी सिद्धिके लिए तत्पर साधुको तृण, काष्ठ या पाषाणसे बना ऐसा आसन लेना चाहिए जिसमें खटमल आदि जन्तु न हों, न उसपर बैठनेसे चरमर आदि शब्द हो, छिद्र रहित हो, स्पर्श सुखकर हो, कील-काँटा न गड़ता हो, स्थिर हो—हिलता-डुलता न हो तथा विनयको बढ़ानेवाला हो अर्थात् न बहुत ऊँचा हो और न ऊपरको उठा हुआ हो ॥८२॥

आगे वन्दनाके योग्य तीन आसनोंका स्वरूप कहते हैं—

जिसमें दोनों पैर जंघासे मिल जाये उसे पद्मासन कहते हैं। और दोनों जंघाओंको ऊपर-नीचे रखनेपर पर्यंकासन होता है। तथा दोनों जंघाओंसे ऊपर दोनों पैरोंके रखनेपर वीरासन होता है ॥८३॥

विशेषार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने महापुराणमें पर्यंकासन और कायोत्सर्गको सुखासन कहा है और इनसे भिन्न आसनोंको विषमासन कहा है। साथ ही यह भी कहा है कि ध्यान करनेवाले मुनिके इन दोनों आसनोंकी प्रधानता रहती है। और उन दोनोंमें भी पर्यंकासन अधिक सुखकर माना जाता है। किन्तु उन्होंने पर्यंकासनका स्वरूप नहीं बतलाया।

सोमदेव सूरिने आसनोंका स्वरूप इस प्रकार कहा है[3]—जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनोंसे नीचे दोनों जंघाओंपर रहते हैं वह पद्मासन है। जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनोंसे

१. 'स्थेयोऽच्छिद्रं सुखस्पर्शं विशब्दमप्यजन्तुकम् । तृणकाष्ठादिकं ग्राह्यं विनयस्योपबृंहकम् ॥'—अमि.श्रा ८।४४

२. 'वैमनस्ये च किं ध्यायेत् तस्मादिष्टं सुखासनम् ।
कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कस्ततोऽन्यद्विषमासनम् ॥
तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्यं ध्यायतो यतेः ।
प्रायस्तत्रापि पल्यङ्कमामनन्ति सुखासनम् ॥'—महापु. २१।७१-७२ ।

३. 'संन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः ।
भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्मवीरसुखासनम् ॥'—उपासकाध्ययन ७३२ श्लोक ।

अन्ये त्वाहुः—

'जङ्घाया जङ्घयाश्लिष्टे मध्यभागे प्रकीर्तितम् ।
पद्मासनं सुखाधायि सुसाधं सकलैर्जनैः ॥
बुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि ।
समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम् ॥
ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति ।
वीरासनं चिरं कर्तुं शक्यं धीरैर्न कातरैः ॥' [अमि. श्रा. ८।४५-४७]

अपि च—

'जङ्घाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जङ्घया ।
पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः ॥' [योगशास्त्र ४।१२९]
'स्याज्जङ्घयोरधोभागे पादोपरि कृते सति ।
पर्यङ्को नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिकः ॥
वामोऽङ्घ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं वामोरुपरि दक्षिणः ।
क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं हितम् ॥' [योगशास्त्र ४।१२५-१२६] ॥८३॥

ऊपर रहते हैं वह वीरासन है। और जिसमें दोनों पैरोंकी गाँठ बराबरमें रहती हैं वह सुखासन है।

आचार्य अमितगतिने कहा है—समभागमें जंघासे जंघाका गाढ़ सम्बन्ध पद्मासन है। यह सुखकारक होनेसे सब लोगोंके द्वारा सरलतासे किया जा सकता है। समस्त दोनों जंघाओंको ऊपर-नीचे रखनेपर पर्यंकासन होता है। दोनों पैरोंको दोनों ऊरुपर रखनेपर वीरासन होता है। इसे वीर पुरुष ही चिरकाल तक कर सकते हैं, कायर नहीं कर सकते। आचार्य हेमचन्द्र (श्वे.) ने कहा है—दोनों जंघाओंके नीचेके भागको दोनों पैरोंके ऊपर रखनेपर तथा दोनों हाथोंको नाभिके पास ऊपरको करके बायें हाथपर दाहिना हाथ रखना पर्यंकासन है। जिसमें बायाँ पैर दक्षिण ऊरुके ऊपर और दाहिना पैर बायें ऊरुके ऊपर रखा जाता है उसे वीरासन कहते हैं। यह वीरोंके योग्य है। और जिसमें जंघाका दूसरी जंघाके साथ मध्य भागमें गाढ़ सम्बन्ध होता है, उसे पद्मासन कहते हैं।

पं. आशाधरजीने उक्त मतोंको अपनी टीकामें 'अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं' ऐसा लिखकर उद्धृत किया है। और अपने लक्षणोंके समर्थनमें कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं।

पं. आशाधरजीने इन्हीं तीनों लक्षणोंको एक श्लोकमें निबद्ध किया है। इनमें वीरासनके लक्षणमें तो मतभेद नहीं है। सभीने दोनों पैरोंको दोनों घुटनोंसे ऊपर जो ऊरु है उसपर रखकर बैठनेको वीरासन कहा है। शेष दोनों आसनोंके लक्षणोंमें मतभेद प्रतीत होता है। सोमदेवने पर्यंकासनको ही सुखासन कहा है ऐसा प्रतीत होता है। अमितगति पद्मासनको सुखसाध्य बतलाते हैं। उन्होंने उसका जो लक्षण किया है वह है भी सुखसाध्य। दोनों जंघाओंको मिलाकर बैठना सरल है। कठिनता तो पैरोंको जंघाओंके ऊपर रखनेमें होती है। हेमचन्द्र भी पद्मासनका यही लक्षण करते हैं। आजकल जो जिनमूर्तियाँ देखी जाती हैं उनके आसनको पर्यंकासन कहा जाता है। उनके दोनों चरण दोनों जंघाओंके ऊपर स्थित होते हैं। किन्तु यह आसन सुखासन नहीं है। दोनों आँखोंको परस्परमें संश्लिष्ट करके बैठना

अथ वन्दनायां स्थानविशेषनिर्णयार्थमाह—

स्थीयते येन तत्स्थानं वन्दनायां द्विधा मतम् ।
उद्भीभावो निषद्या च तत्प्रयोज्यं यथाबलम् ॥८४॥

निषद्या—उपवेशनम् । उक्तं च—

'स्थीयते येन तत्स्थानं द्विप्रकारमुदाहृतम् ।
वन्दना क्रियते यस्मादुद्भीभूयोपविश्य वा ॥' [ ] ॥८४॥

अथ कृतिकर्मयोग्यं मुद्राचतुष्टयं व्याचिख्यासुर्जिनमुद्रायोगमुद्रयोर्लक्षणमुन्मुद्रयति—

मुद्राश्चतस्रो व्युत्सर्गस्थितिर्जैनीह यौगिकी ।
न्यस्तं पद्मासनाद्यङ्के पाण्योरुत्तानयोर्द्वयम् ॥८५॥

व्युत्सर्गस्थितिर्जैनी । प्रलम्बितभुजेत्यादिना प्रागुक्ता जिनमुद्रा ।

उक्तं च—

'जिनमुद्रान्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम् ।
ऊर्ध्वजानोरवस्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम् ॥' [अमि. श्रा. ८।५३]

यौगिकी—योगमुद्रा । उक्तं च—

'जिनाः पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम् ।
उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रा बभाषिरे ॥' [अमि. श्रा. ८।५५] ॥८५॥

अथ वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिमुद्रा च निर्दिशति—

स्थितस्याध्युदरं न्यस्य कूर्परौ मुकुलीकृतौ ।
करौ स्याद् वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिर्युताङ्गुली ॥८६॥

स्थितस्य—उद्भस्य । अध्युदरं—उदरस्योपरि । युताङ्गुली । मुकुलीकृतौ करावेव संलग्नाङ्गुलिकौ स्थितस्य पूर्ववत् मुक्ताशुक्तिर्नाम मुद्रा । उक्तं च—

सरल होता है। या बायें पैरके ऊपर दायाँ पैर रखकर बैठना सुखासन है जैसा सोमदेवने कहा है ॥८३॥

आगे वन्दनाके स्थान-विशेषका निर्णय करते हैं—

वन्दना करनेवाला जिस रूपसे स्थिर रहता है उसे स्थान कहते हैं। वे स्थान दो माने गये हैं। एक खड़े होना, दूसरा बैठना। वन्दना करनेवालेको उनमें-से अपनी शक्तिके अनुसार कोई एक स्थानका उपयोग करना चाहिए ॥८४॥

कृतिकर्मके योग्य चार मुद्राएँ होती हैं। उनमें-से जिनमुद्रा और योगमुद्राका लक्षण कहते हैं—

मुद्रा चार होती हैं। उनमें-से कायोत्सर्गसे खड़े होना जिनमुद्रा है। तथा पद्मासन या पर्यंकासन या वीरासनसे बैठकर गोदमें दोनों हथेलियोंको ऊपरकी ओर करके स्थापित करना योगमुद्रा है ॥८५॥

विशेषार्थ—कृतिकर्मके योग्य मुद्राओंमें-से यहाँ दो मुद्राओंका स्वरूप कहा है। अमितगति आचार्यने भी कहा है—दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर तथा दोनों हाथोंको नीचेकी ओर लटकाकर खड़े होना जिनमुद्रा है ॥८५॥

आगे वन्दनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्राका स्वरूप कहते हैं—

खड़े होकर दोनों कोहनियोंको पेटके ऊपर रखकर तथा दोनों हाथोंको मुकुलित करना

'मुकुलीकृतमाधाय जठरोपरि कूर्परम् ।
स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्वं निवेदितम् ॥' [अमि. श्रा. ८।५४]

तथा—

'मुक्ता शुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम् ।
ऊर्ध्वजानोः करद्वन्द्वं संलग्नांगुलि सूरिभिः ॥' [अमि. श्रा. ८।५६] ॥८६॥

अथ मुद्राणां यथाविषयं प्रयोगनिर्णयार्थमाह—

स्वमुद्रा वन्दने मुक्ताशुक्तिः सामायिकस्तवे ।
योगमुद्रास्यया स्थित्या जिनमुद्रा तनूज्झने ॥८७॥

स्वमुद्रा—वन्दनामुद्रा प्रयोक्तव्येत्युपस्कारः । सामायिकस्तवे—सामायिकं च णमो अरहंताणमित्यादि दण्डकः, स्तवश्च थोस्सामीत्यादि दण्डकः । (सामायिकं च स्तवश्च) सामायिकस्तवस्तस्मिन् । आस्यया—उपवेशनेन । तनूज्झने—क्रियमाणे । स्थित्या—उद्भीभावेन । ॥८७॥

अथावर्तस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

शुभयोगपरावर्तानावर्तान् द्वादशाहुराद्यन्ते ।
साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोङ्गगोःसंयतं परावर्त्यम् ॥८८॥

शुभयोगपरावर्तान्—शुभा हिंसादिरहितत्वात् प्रशस्ता योगा मनोवाक्कायव्यापारास्तेषां परावर्ताः पूर्वावस्थात्यागेनावस्थान्तरप्रापणानि । आद्यन्ते—आरम्भे समाप्तौ च । साम्यस्य—णमो अरहंताणमित्यादि सामायिकदण्डकस्य । स्तवस्य—थोस्सामीत्यादिदण्डकस्य । मनोङ्गगोः—चित्तकायवाचम् । संयतं—निरुद्धपापव्यापारम् । मनोङ्गगोःसंयतमिति वा समस्तम् । तत्र मनोङ्गगिरां संयतं संयमनमिति विग्रहः । परावर्त्यं—अवस्थान्तरं नेतव्यं वन्दनोद्यतैरिति शेषः । तद्यथा—सामायिकस्यादौ क्रियाविज्ञापनं विकल्पत्यागेन तदुच्चारणं प्रति मनसः प्रणिधानं संयतमनःपरावर्तनमुच्यते । तथा भूमिस्पर्शलक्षणावनतिक्रियावन्दनामुद्रात्यागेन पुनरुत्थितस्य मुक्ताशुक्तिमुद्राङ्कितहस्तद्वयपरिभ्रमणत्रयं संयतकायपरावर्तनमाख्यायते ।

वन्दनामुद्रा है । तथा इसी स्थितिमें दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको परस्परमें मिलाना मुक्ताशुक्तिमुद्रा है ॥८६॥

आगे इन चार मुद्राओंमें-से कब किस मुद्राका प्रयोग करना चाहिए, यह बताते हैं—

आवश्यक करनेवालेको वन्दना करते समय वन्दनामुद्राका प्रयोग करना चाहिए। 'णमो अरहंताणं' इत्यादि सामायिक दण्डक तथा 'थोस्सामि' इत्यादि चतुर्विंशतिस्तवके समय मुक्ताशुक्तिमुद्राका प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा और खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्राको धारण करना चाहिए ॥८७॥

विशेषार्थ—आवश्यक करते समय मुद्राका प्रयोग करना आवश्यक है। हिन्दू पुराणोंमें तो मुद्राके अनेक भेद कहे हैं और लिखा है कि जो दैविक कर्म बिना मुद्राके किया जाता है वह निष्फल होता है (देखो—शब्दकल्पद्रुममें 'मुद्रा' शब्द) ॥८७॥

आगे आवर्तका स्वरूप कहते हैं—

शुभयोगके परावर्तनको आवर्त कहते हैं। वे आवर्त बारह होते हैं। क्योंकि वन्दना करनेवालोंको सामायिक और स्तवके आदि और अन्तमें मन, वचन और कायको पापाचारसे रोककर शुभ आचारमें लगाना चाहिए ॥८८॥

विशेषार्थ—मन, वचन और कायके व्यापारको योग कहते हैं। हिंसा आदिसे रहित होनेसे प्रशस्त योगको शुभयोग कहते हैं। उनके परावर्तको अर्थात् पूर्व अवस्थाको त्यागकर

प्रतिभ्रामरि वार्चादिस्तुतौ दिश्येकशश्चरेत् ।
त्रीनावर्तान् शिरश्चैकं तदाधिक्यं न दुष्यति ॥९१॥

प्रतिभ्रामरि—एकैकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे । अर्चादिस्तुतौ—चैत्यादिभक्तौ । दिश्येकशः—एकैकस्यां पूर्वादिदिशि । शिरः—करमुकुलाङ्कितशिरःकरणम् । उक्तं च—

'चतुर्दिक्षु विहारस्य परावर्तास्त्रियोगगाः ।
प्रतिभ्रामरि विज्ञेया आवर्ता द्वादशापि च ॥' [ ]

तदाधिक्यं—आवर्तानां शिरसा चोक्तप्रमाणादधिकीकरणं प्रदक्षिणात्रये तत्संभवात् । उक्तं च चारित्रसारे—एकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे चैत्यादीनामभिमुखीभूतस्यावर्तत्रयैकावनमने कृते चतसृष्वपि दिक्षु द्वादशावर्ताश्चतस्रः शिरोवनतयो भवन्ति । आवर्तनानां शिरः प्रणतीनामुक्तप्रमाणादाधिक्यमपि न दोषायेति ॥९१॥

अथोक्तस्यैव समर्थनार्थमाह—

दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि ।
वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा ॥९२॥

स्पष्टम् ॥९२॥

अथ स्वमतेन परमतेन च नतिनिर्णयार्थमाह—

अथवा चैत्यआदि भक्तिमें प्रत्येक प्रदक्षिणामें एक-एक दिशामें तीन आवर्त और दोनों हाथोंको मुकुलित करके मस्तकसे लगाना इस प्रकार एक शिर करना चाहिए। इस तरह करनेसे आवर्त और शिरोनतिका आधिक्य दोषकारक नहीं होता ॥९१॥

विशेषार्थ—ऊपर दो प्रकार बतलाये हैं। एक प्रकार है सामायिक और स्तवके आदि और अन्तमें तीन आवर्त और एक शिरोनति करना। इस तरहसे बारह आवर्त और चार शिरोनति होते हैं। दूसरा इस प्रकार है चारों दिशाओंमें-से प्रत्येक दिशामें प्रदक्षिणाके क्रमसे तीन आवर्त और एक शिरोनति। इस तरह एक प्रदक्षिणामें बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं। किन्तु इस तरह तीन प्रदक्षिणा करनेपर आवर्तों और शिरोनतिकी संख्या बढ़ जाती है। किन्तु इसमें कोई दोष नहीं है। चारित्रसारमें ऐसा लिखा है जो हम पहले लिख आये हैं ॥९१॥

आगे इसीका समर्थन करते हैं—

क्योंकि चैत्यवन्दना, निर्वाणवन्दना, योगिवन्दना, और नन्दीश्वर वन्दना करते समय उन-उन भक्तियोंको पढ़ते हुए साधुगण प्रदक्षिणा दिया करते हैं ॥९२॥

विशेषार्थ—चैत्यवन्दना करते समय चैत्यभक्ति, निर्वाणवन्दना करते समय निर्वाणभक्ति, योगिवन्दना करते समय योगिभक्ति और नन्दीश्वर वन्दना करते समय नन्दीश्वर भक्ति साधुगण पढ़ते हैं। और पढ़ते हुए प्रदक्षिणा करते हैं जिससे चारों दिशाओंमें स्थित चैत्य आदिकी वन्दना हो सके। अतः प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त और एक नमस्कार करते हैं। तीन प्रदक्षिणा करनेपर आवर्तों और नमस्कारकी संख्या तिगुनी हो जाती है जो दोष नहीं है ॥९२॥

आगे ग्रन्थकार अपने और दूसरे आचार्योंके मतसे शिरोनतिका निर्णय करते हैं—

द्वे साम्यस्य स्तुतेश्चादौ शरीरनमनान्नती ।
वन्दनाद्यन्तयोः कैश्चिन्निविश्य नमनान्मते ॥९३॥

शरीरनमनात्—पञ्चाङ्गप्रणमनात् भूमिस्पर्शादित्यर्थः । कैश्चित्—स्वामिसमन्तभद्रादिभिः । मते द्वे नतो इष्टे । यथाहुस्तत्रभवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकायां चतुरावर्तस्त्रितय इत्यादिसूत्रे 'द्विनिषद्य' इत्यस्य व्याख्याने देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समासौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्य इति ॥९३॥ १

सामायिक दण्डक और चतुर्विंशतिस्तवके आदिमें पंचांग नमस्कारपूर्वक दो नमस्कार करना चाहिए। किन्तु स्वामी समन्तभद्र आदिने वन्दनाके आदि और अन्तमें बैठकर नमस्कार करनेसे दो नति मानी हैं ॥९३॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कहा है—एक कृतिकर्ममें दो नति, यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर और तीन शुद्धियाँ होती हैं। इन सबका स्पष्टीकरण पहले किया गया है। श्वेताम्बर आगममें भी दो नति, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर, तीन गुप्तिके अतिरिक्त दो प्रवेश और एक निष्क्रमण इस तरह सब २५ आवश्यक कृतिकर्ममें बतलाये हैं। यह गुरु-वन्दनाके क्रममें बतलाये गये हैं। षट्खण्डागमके वर्गणा खण्डमें भी क्रियाकर्मके नामसे आता है—'तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरिया-कम्मं णाम"—पु. १३, पृ. ८८। धवलामें जो इसकी व्याख्या दी है उसका आवश्यक अनुवाद दिया जाता है—आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार अवनति, चार शिर, बारह आवर्त ये सब क्रियाकर्म हैं।

आत्माधीन होना आदिके भेदसे क्रियाकर्म छह प्रकारका है। उनमें-से क्रियाकर्म करते समय आत्माधीन होना पराधीन न होना आत्माधीन है। वन्दना करते समय गुरु, जिन, जिनालयकी प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है। प्रदक्षिणा और नमस्कार आदिका तीन बार करना त्रिकृत्वा है। अथवा एक ही दिनमें जिन, गुरु और ऋषियोंकी वन्दना तीन बार की जाती है इसलिए त्रिकृत्वा कहा है। 'ओणद'का अर्थ अवनमन या भूमिमें बैठना है। यह तीन बार किया जाता है इसलिए तीन बार अवनमन कहा है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—शुद्धमन होकर, पैर धोकर, और जिनेन्द्रके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे पुलकित वदन होकर जो जिनदेवके आगे बैठना यह प्रथम अवनमन है। जो उठकर जिनेन्द्र आदि-की विनति करके बैठना यह दूसरा अवनमन है। फिर उठकर सामायिक दण्डकके द्वारा आत्मशुद्धिपूर्वक कषायसहित शरीरका त्याग करके, जिनेन्द्रदेवके अनन्त गुणोंका ध्यान करके, चौबीस तीर्थंकरोंकी वन्दना करके, फिर जिन-जिनालय और गुरुओंकी स्तुति करके भूमिमें बैठना यह तीसरा अवनमन है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्ममें तीन ही अवनमन होते हैं। सब क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सामायिकके आदिमें जिनेन्द्रदेवको सिर नमाना एक सिर है। उसीके अन्तमें सिर नवाना दूसरा सिर है। त्थोस्सामिदण्डकके आदिमें सिर नवाना तीसरा सिर है। उसीके अन्तमें सिर नवाना

१. 'दुओ णदं जहाजाद बारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे ॥'—७।१०४ ।

२. 'दुओ णयं जहाजायं किइकम्मं बारसावयं ।
चउस्सिरं तिगुत्तं च दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥'—बृहत्कल्पसूत्र ३।४४७० ।

अथ प्रणामभेदनिर्णयार्थं श्लोकद्वयमाह—

योगैः प्रणामस्त्रेधाऽर्हज्ज्ञानादेः कीर्तनात्त्रिभिः ।
कं करौ ककरं जानुकरं ककरजानु च ॥९४॥
नम्रमेकद्वित्रिचतुःपञ्चाङ्गः कायिकः क्रमात् ।
प्रणामः[1] पञ्चधावाचि यथास्थानं क्रियते सः ॥९५॥

कं—मस्तकम् । नम्रमेकाङ्ग इत्यादि । योश्च (?) ककरं—कं च करौ चेति द्वन्द्वः ॥९४॥ सः ।
उक्तं च—

'मनसा वचसा तन्वा कुरुते कीर्तनं मुनिः ।
ज्ञानादीना जिनेन्द्रस्य प्रणामस्त्रिविधो मतः ॥ [ ]
एकाङ्गो नमने मूर्ध्नो द्व्यङ्गः स्यात् करयोरपि ।
त्र्यङ्गः करशिरोनामे प्रणामः कथितो जिनैः ॥ [ ]

चौथा सिर है। इस प्रकार एक क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। अथवा सभी क्रियाकर्म चतुःशिर अर्थात् चतुःप्रधान होता है क्योंकि अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्मको प्रधान करके सब क्रियाकर्मोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। सामायिक और त्थोस्मामि दण्डकके आदि और अन्तमें मन-वचन-कायकी विशुद्धि परावर्तनके वार बारह होते हैं। इसलिए एक क्रियाकर्मको बारह आवर्तवाला कहा है। इस सबका नाम क्रियाकर्म है। स्वामी समन्तभद्रने उक्त कथनों-को ही दृष्टिमें रखकर सामायिक प्रतिमाका स्वरूप कहा है—उसमें भी बारह आवर्त, चतुः-शिर, यथाजात, त्रिशुद्धपद ता समान हैं। धवलामें तिक्खुत्तोका एक अर्थ दिनमें तीन बार किया है। यहाँ भी 'त्रिसन्ध्यमभिवन्दी' कहा है। केवल 'द्विनिषद्यः' पद ऐसा है जो उक्त दोनों सूत्रोंमें नहीं है। रत्नकरण्डके टीकाकार प्रभाचन्द्रने उसका अर्थ किया है—दो निषद्या—उपवेशन हैं जिसमें, अर्थात् देववन्दना करनेवालेको प्रारम्भमें और अन्तमें बैठकर प्रणाम करना चाहिए। इसीका मतभेदके रूपमें उल्लेख ग्रन्थकार आशाधरजीने ऊपर किया है। षट्खण्डागमसूत्रमें भी इस दृष्टिसे भिन्न मत है। उसमें 'तियोणदं' अर्थात् तीनबार अवनमन कहा है। अवनमनका अर्थ है भूमिस्पर्श। निषद्याका भी अभिप्राय उसीसे है। इस तरह क्रियाकर्मकी विधिमें मामूली-सा मतभेद है ॥९३॥

आगे दो श्लोकोंके द्वारा प्रणामके भेद कहते हैं—

मन, वचन और कायकी अपेक्षा प्रणामके तीन भेद हैं, क्योंकि अर्हन्त सिद्ध आदिके ज्ञानादि गुणोंका कीर्तन मन वचन काय तीनोंके द्वारा किया जाता है। उनमें-से शारीरिक प्रणामके पाँच प्रकार हैं—मस्तकका नम्र होना एकांग प्रणाम है। दोनों हाथोंका नम्र होना दोअंग प्रणाम है। दोनों हाथोंका मस्तकके साथ नम्र होना तीन अंगी प्रणाम है। दोनों हाथों

१. 'एकद्वित्रिचतुःपञ्चदेहांशप्रतैर्मतः । प्रणामः पञ्चधा देवैः पादानतनरामरैः ।
एकाङ्ग शिरसो नामे सद्व्यङ्गः करयोर्द्वयो । त्रयाणां मूर्द्धहस्ताना सत्र्यङ्गो नमने मतः ॥
चतुर्णां करजानूना नमने चतुरङ्गक । करमस्तकजानूनां पञ्चाङ्गः पञ्चधा (?) नते ॥'
—अमित. श्रा. ८।६२-६४ ।

२. 'चतुरावर्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजात' ।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥—रत्नकरण्डश्रा., १३९ श्लो. ।

करजानुविनामेऽसौ चतुरङ्गो मनीषिभिः ।
करजानुशिरोनामे पञ्चाङ्गः परिकीर्त्यते ॥
प्रणामः कायिको ज्ञात्वा पञ्चधेति मुमुक्षुभिः ।
विधातव्यो यथास्थानं जिनसिद्धादिवन्दने ॥' [ ] ॥९५॥

अथ क्रियाप्रयोगविधिं नियमयन्नाह—

कालुष्यं येन जातं तं क्षमयित्वैव सर्वतः ।
सङ्गाच्च चिन्तां व्यावर्त्य क्रिया कार्या फलार्थिना ॥९६॥

कालुष्यं—क्रोधाद्यावेशवशाच्चित्तस्य क्षोभः । येनेति करणे सहार्थे वा तृतीया । यथाह—

'येन केनापि संपन्नं कालुष्यं दैवयोगतः ।
क्षमयित्वैव तं त्रेधा कर्तव्यावश्यकक्रिया ॥' [ ] ॥९६॥

अथ अमलमिति विशेषणं व्याचष्टे—

दोषैर्द्वात्रिंशता स्वस्य यद्व्युत्सर्गस्य चोज्झितम् ।
त्रियोगशुद्धं क्रमवन्निर्मलं चितिकर्म तत् ॥९७॥

स्वस्य देववन्दनात्मनो । दोषैः—अनादृतादिभिः । व्युत्सर्गस्य—कायोत्सर्गस्य । दोषैः—घोटकादिभिः । क्रमवत्—प्रशस्तक्रमम् । क्रमविशुद्धमित्यर्थः । चितिकर्म—चितेस्तीर्थकरत्वादिपुण्यार्जनस्य कर्म क्रिया जिनादिवन्दनेत्यर्थः ॥ उक्तं च—

'दुओणदं जहाजादं वारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउज्जदे ॥
तिविहं तियरणसुद्धं मयरहियं दुविहट्ठाण पुणरुत्तं ।
विणएण कमविसुद्धं किदियम्मं होदि कायव्वं ॥' [मूलाचार गा. ६०१-२]

और दोनों घुटनोंका नम्र होना चार अंगी प्रणाम है। दोनों हाथोंको मस्तकसे लगाकर दोनों घुटनोंके साथ नम्र होना पंचांगी प्रणाम है। अर्थात् शरीरके एक अंग मस्तक, दो अंग दोनों हाथ, तीन अंग दोनों हाथ और मस्तक, चार अंग दोनों हाथ और दोनों घुटने तथा पाँच अंग दोनों हाथ मस्तकसे लगाकर दोनों घुटनोंको भूमिसे लगाना ये एकांग, दो अंग, तीन अंग, चार अंग और पंचांग प्रणाम हैं। यह शारीरिक प्रणाम कृतिकर्म करनेवाले यथास्थान करते हैं ॥९४-९५॥

आगे कृतिकर्मके प्रयोगकी विधि बताते हैं—

कर्मोंकी निर्जरारूप फल और तीर्थंकरत्व आदि पुण्यका उपार्जन करनेके इच्छुक मुमुक्षुको जिसके साथ क्रोध आदिके आवेशसे चित्तको क्षोभ उत्पन्न हुआ हो उससे क्षमा कराकर तथा समस्त परिग्रहसे मनको हटाकर कृतिकर्म करना चाहिए ॥९६॥

पहले इसी अध्यायके ७८वें श्लोकमें कृतिकर्मको अमल कहा है उस अमल विशेषणको स्पष्ट करते हैं—

जो अपने बत्तीस दोषोंसे और कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोषोंसे रहित हो, मन-वचन-कायकी शुद्धिको लिये हो, क्रमसे विशुद्ध हो, उसे पूर्वाचार्य निर्मल चितिकर्म कहते हैं ॥९७॥

विशेषार्थ—जिन आदिकी बन्दनासे पुण्यकर्मका अर्जन होता है इसलिए उसे चितिकर्म भी कहते हैं। जो चितिकर्म अपने बत्तीस दोषोंसे तथा कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोषोंसे रहित होता है, मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक होता है और जिसमें क्रमभंग नहीं होता,

'किदियम्म पि कुणंतो ण होदि किदियम्मणिज्जराभागी ।
बत्तीसाणण्णदरं साहुट्ठाणं विराहंतो ॥' [मूलाचार गा ६०८] ॥९७॥

अथ चतुर्दशभिः श्लोकैर्द्वात्रिंशद् वन्दनादोषांल्लक्षयति—

अनादृतमतात्पर्यं वन्दनायां मदोद्धृतिः ।
स्तब्धमत्यासन्नभावः प्रविष्टं परमेष्ठिनाम् ॥९८॥
हस्ताभ्यां जानुनोः स्वस्य संस्पर्शः परिपीडितम् ।
दोलायितं चलन् कायो दोलावत् प्रत्ययोऽथवा ॥९९॥
भालेऽङ्कुशवदङ्गुष्ठविन्यासोऽङ्कुशितं मतम् ।
निषेदुषः कच्छपवद्रिङ्खा कच्छपरिङ्गितम् ॥१००॥
मत्स्योद्वर्तं स्थितिर्मत्स्योद्वर्तवत् त्वेकपार्श्वतः ।
मनोदुष्टं खेदकृतिर्गुर्वाद्युपरि चेतसि ॥१०१॥
वेदिबद्धं स्तनोत्पीडो दोर्भ्यां वा जानुबन्धनम् ।
भयं क्रिया सप्तभयाद्बिभ्यता बिभ्यतो गुरोः ॥१०२॥
भक्तो गणो मे भावीति वन्दारोर्ऋद्धिगौरवम् ।
गौरवं स्वस्य महिमन्याहारादावथ स्पृहा ॥१०३॥

अनादृतं—मल इति मध्यदीपकेन दोष इत्यन्तदीपकेन वा योज्यम् ॥९८॥ दोलावत्—दोलायामिव दोलारूढस्येव वा । प्रत्यय । चलन्—इत्येव चलन्ती प्रतीतिः संशय इत्यर्थः ॥९९॥ रिङ्खा—रिङ्खणम् । कच्छपरिङ्गितं—कूर्मवच्चेष्टितम् ॥१००॥ मत्स्योद्वर्तवत् । एकपार्श्वतः स्थितिः—कटिभागोद्वर्तनेनावस्थानम् ॥१०१॥ वेदिबद्धं—वेदिकाबद्ध नाम दोष. । स्तनोत्पीडः—स्तनयो. प्रपीडनम् । जानुबन्धनं—

जिसके पश्चात् जो क्रिया करनी चाहिए वही क्रिया की जाती है वह कृतिकर्म निर्दोष माना गया है। मूलाचारमें कहा है—ग्रन्थ, अर्थ और दोनोंके भेदसे अथवा दो नति, बारह आवर्त और चार शिरके भेदसे, अथवा कृत-कारित अनुमोदनाके भेदसे अथवा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और वन्दनाके भेदसे अथवा पंचनमस्कार, ध्यान और चतुर्विंशतिस्तवके भेदसे कृतिकर्मके तीन भेद हैं। मन-वचन-कायकी विशुद्धिसे युक्त अथवा दो नति बारह आवर्त और चतुःशिर क्रियासे विशुद्ध, जाति आदिके मदसे रहित, पर्यंक और कायोत्सर्ग रूपमें पुनरुक्त—जिसमें बार-बार वही क्रिया की जाती है, और जो क्रमसे विशुद्ध है ऐसे कृतिकर्मको विनयपूर्वक करना चाहिए। किन्तु यदि साधु बत्तीस दोषोंमें-से किसी भी एक दोषसे विराधना करता है तो वह साधु कृतिकर्म करते हुए भी कृतिकर्मसे होनेवाली निर्जराका अधिकारी नहीं होता ॥९७॥

आगे चौदह श्लोकोंके द्वारा बत्तीस दोषोंको कहते हैं—

समस्त आदर भावसे रहित वन्दना करना अनादृत नामक प्रथम दोष है। जाति आदिके भेदसे आठ प्रकारके मदसे युक्त होना स्तब्ध नामक दूसरा दोष है। अर्हन्त आदि परमेष्ठियोंके अतिनिकट होना प्रविष्ट नामका तीसरा दोष है ॥९८॥

अपने हाथोंसे घुटनोंका संस्पर्श करना परिपीडित नामक चतुर्थ दोष है। झूलनेकी तरह शरीरको आगे-पीछे करते हुए वन्दना करना दोलायित नामक पाँचवाँ दोष है। अथवा जिसकी स्तुति करता हो उसमें, स्तुतिमें अथवा उसके फलमें सन्देह होना दोलायित दोष है ॥९९॥

योगपट्टरूपेण । सप्तभयात्—मरणादिभयसप्तकाद् हेतोः । बिभ्यतः कर्म बिभ्यद्दोष इत्यर्थः ॥१०२॥ गणः—चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघः । भावी—भविष्यति । वन्दारोः—वन्दनां साधुत्वेन कुर्वतः । गौरवं शेषगौरवमित्यर्थः ॥१०३॥

स्याद् वन्दने चोरिकया गुर्वादेः स्तेनितं मलः ।
प्रतिनीतं गुरोराज्ञाखण्डनं प्रतिकूल्यतः ॥१०४॥
प्रदुष्टं वन्दमानस्य द्विष्टेऽकृत्वा क्षमां त्रिधा ।
तर्जितं तर्जनान्येषां स्वेन स्वस्याथ सूरिभिः ॥१०५॥
शब्दो जल्पक्रियाऽन्येषामुपहासादि हेलितम् ।
त्रिवलितं कटिग्रीवा हृद्भङ्गे भ्रुकुटिर्नवा ॥१०६॥
करामर्शोऽथ जान्वन्तः क्षेपः शीर्षस्य कुञ्चितम् ।
दृष्टं पश्यन् दिशः स्तौति पश्यत्स्वन्येषु सुष्टु वा ॥१०७॥

अपने मस्तकपर अकुंशकी तरह अँगूठा रखकर वन्दना करना अंकुशित नामका छठा दोष है। वन्दना करते समय बैठे-बैठे कछुएकी तरह सरकना, कटिभागको इधर-उधर करना कच्छपरिंगित नामका सातवाँ दोष है ॥१००॥

जैसे मछली एक पार्श्वसे उछलती है उसी तरह कटिभागको उचकाकर वन्दना करना मत्स्योद्वर्त नामक आठवाँ दोष है। गुरु आदिके ऊपर चित्तमें आक्षेप करना मनोदुष्ट नामक नौवाँ दोष है ॥१०१॥

वेदीके आकारमें दोनों हाथोंसे बायें और दायें स्तनप्रदेशोंको दबाते हुए वन्दना करना या दोनों हाथोंसे दोनों घुटनोंको बाँधते हुए वन्दना करना वेदिकाबद्ध नामक दसवाँ दोष है। सात प्रकारके भयोंसे डरकर वन्दना करना भय नामक ग्यारहवाँ दोष है। आचार्यके भयसे कृतिकर्म करना बारहवाँ बिभ्यत्ता नामक दोष है ॥१०२॥

चार प्रकारके मुनियोंका संघ मेरा भक्त बन जायेगा यह भावना रखकर वन्दना करनेवाले साधुके ऋद्धिगौरव नामक बारहवाँ दोष होता है। अपने माहात्म्यकी इच्छासे या आहार आदिकी इच्छासे वन्दना करना गौरव नामक चौदहवाँ दोष होता है ॥१०३॥

गुरु आदिकी चोरीसे छिपकर वन्दना करनेपर स्तेनित नामक पन्द्रहवाँ दोष होता है। प्रतिकूल वृत्ति रखकर गुरुकी आज्ञा न मानना प्रतिनीत नामक सोलहवाँ दोष है ॥१०४॥

लड़ाई-झगड़ेके द्वारा यदि किसीके साथ द्वेषभाव उत्पन्न हुआ हो तो मन, वचन, कायसे उससे क्षमा न माँगकर या उसे क्षमा न करके वन्दना करनेपर प्रदुष्ट नामक सतरहवाँ दोष है। अपनी तर्जनी अंगुलि हिला-हिलाकर शिष्य आदिको भयभीत करना अथवा आचार्य आदिके द्वारा अपनी तर्जना होना तर्जित नामक अठारहवाँ दोष है ॥१०५॥

वार्तालाप करते हुए वन्दना करना शब्द नामक उन्नीसवाँ दोष है। दूसरोंका उपहासादि करना या आचार्य आदिका वचनसे तिरस्कार करके वन्दना करना हेलित नामक बीसवाँ दोष है। मस्तकमें त्रिवली डालकर वन्दना करना इक्कीसवाँ त्रिवलित दोष है ॥१०६॥

विशेषार्थ—मूलाचार ७।१०८ की संस्कृत टीकामें शब्ददोषके स्थानमें पाठान्तर मानकर शाठ्य दोष भी गिनाया है। शठतासे अथवा प्रपंचसे वन्दना करना शाठ्य दोष है ॥१०६॥

कुंचित हाथोंसे सिरका स्पर्श करते हुए वन्दना करना अथवा दोनों घुटनोंके बीचमें

अदृष्टं गुरुदृग्मार्गत्यागो वाऽप्रतिलेखनम् ।
विष्टिः संघस्येयमिति धीः संघकरमोचनम् ॥१०८॥
उपध्याप्त्या क्रियालब्धमनालब्धं तदाशया ।
हीनं न्यूनाधिकं चूला चिरेणोत्तरचूलिका ॥१०९॥
मूको मुखान्तर्वन्दारोर्हुंकाराद्यथ कुर्वतः ।
[1]दुर्दरो ध्वनिनान्येषां स्वेनच्छादयतो ध्वनीन् ॥११०॥
द्वात्रिंशो वन्दने गीत्या दोषः सुललिताह्वयः ।
इति दोषोज्झिता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना ॥१११॥

द्विष्ठे—कलहादिना द्वेषविषयीकृते । अकृत्वा क्षमां—स्वयं क्षन्तव्यमकृत्वा तमक्षमयित्वा वा । कृतापराधस्य मनसि क्षमामनुत्पाद्येत्यर्थः । तर्जना—प्रदेशनीपरावर्तनेन भयोत्पादनम् । सूरिभिः—आचार्यादिभि. ॥१०५॥ जल्पक्रिया—वार्तादिकथनम् । उपहासादि । आदि शब्देनोद्घट्टनादि । भङ्गः—मोटनम् । भ्रकुटि.—ललाटे वलित्रयकरणम् ॥१०६॥ करामर्शः—हस्ताभ्यां परामर्शः । पश्यन् । यादित्यध्याहार्यम् । पश्यत्सु । अपश्यत्सु न स्तौमीति भावः । सुष्ठु वा । परेषु पश्यत्सु सोत्साहं वन्दत इत्यर्थः ॥१०७॥ विष्टिः—

सिर करके संकुचित होकर वन्दना करना बाईसवाँ कुंचित दोष है। दिशाकी ओर देखते हुए वन्दना करना दृष्टदोष है अथवा आचार्य आदिके देखते रहनेपर तो वन्दना ठीक करना अन्यथा दिशाकी ओर ताकना तेईसवाँ दृष्टदोष है ॥१०७॥

गुरुकी आँखोंसे ओझल होकर वन्दना करना अथवा प्रतिलेखना न करके वन्दना करना अदृष्ट दोष है। यह संघकी बड़ी जबरदस्ती है कि हठसे क्रिया करायी जाती है ऐसा भाव रखकर वन्दना करना पचीसवाँ संघकरमोचन नामक दोष है ॥१०८॥

विशेषार्थ—मूलाचार (७।१०९) की संस्कृत टीकामें संघको कर चुकाना मानकर वन्दना करनेको संघकर मोचन दोष कहा है। अमितगति श्रावकाचार (८।८३) में भी 'करदानं गणेमत्वा'से यही लक्षण किया गया है ॥१०८॥

उपकरण आदिके लाभ होनेसे आवश्यक क्रियाका करना आलब्ध नामक छब्बीसवाँ दोष है। उपकरण आदिकी इच्छासे आवश्यक क्रिया करना अनालब्ध नामका सत्ताईसवाँ दोष है। ग्रन्थ अर्थ और कालके प्रमाणके अनुसार वन्दना न करना हीन नामक अठाईसवाँ दोष है। वन्दनाको तो थोड़े ही समयमें करना और उसकी चूलिकारूप आलोचना आदिमें बहुत समय लगाना उत्तरचूलिका नामक उनतीसवाँ दोष है ॥१०९॥

वन्दना करनेवाला मूककी तरह यदि मुखके ही भीतर पाठ करता है, जो किसीको सुनाई नहीं देता अथवा जो वन्दना करते हुए हुंकार या अंगुलि आदिसे संकेत करता है उसके मूक नामक तीसवाँ दोष होता है। अपनी आवाजसे दूसरोंके शब्दोंको दबाकर जो जोरसे वन्दना करता है उसके दर्दुर नामक इकतीसवाँ दोष होता है ॥११०॥

वन्दना करते समय पाठको गाकर पंचमस्वरसे पढ़ना सुललित नामक बत्तीसवाँ दोष है। निर्जराके अभिलाषीको इस प्रकारके दोषोंसे रहित वन्दना करनी चाहिए। अथवा यहाँ 'इति' शब्द प्रकारवाची है। अतः क्रियाकाण्ड आदिमें कहे गये इस प्रकारके अन्य वन्दना-दोष भी त्यागने चाहिए। जैसे शिरको नीचा करके या ऊँचा करके वन्दना करना, मस्तकके

१. 'दर्दुरो' इति सम्यक् प्रतिभाति । तथा च 'मूगं च दद्दुरं चापि' इति मूलाचारे ७।११०।

हठात् कर्मविषापनम् ॥१०८॥ उपध्याप्त्या—उपकरणादिलाभेन। हीनं मात्राहीनत्वात्। चूला चिरेण—वन्दनां स्तोककालेन कृत्वा तच्चूलिकाभूतस्यालोचनादेर्महता कालेन करणम् ॥१०९॥ मूकः—मूकाख्यो दोषः ॥११०॥ गीत्या—पञ्चमादिस्वरेण। इति प्रकारार्थोऽयम्। तेनैवं प्रकाराः क्रियाकाण्डाद्युक्ताः। शिरोनामोन्नामभूर्ध्वोपरिकरभ्रमणगुर्वादिरग्रतो भूत्वा पाठोच्चारणादयोऽपि त्याज्याः ॥१११॥

अथैकादशभिः श्लोकैः कायोत्सर्गदोषान् द्वात्रिंशतं व्याचष्टे—

कायोत्सर्गमलोऽस्त्येकमुत्क्षिप्याङ्घ्रिं वराश्ववत्।
तिष्ठतोऽश्वो मरुद्धूतलतावच्चलतो लता ॥११२॥
स्तम्भः स्तम्भाद्यवष्टम्य पट्टकः पट्टकादिकम्।
आरुह्य मालो मालादि मूर्ध्नालम्ब्योपरि स्थितिः ॥११३॥
शृङ्खलाबद्धवत् पादौ कृत्वा शृङ्खलितं स्थितिः।
गुह्यं कराभ्यामावृत्य शबरीवच्छबर्यपि ॥११४॥
लम्बितं नमनं मूर्ध्नस्तस्योत्तरितमुन्नमः।
उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः स्तनदावत्स्तनोन्नतिः ॥११५॥

ऊपर दोनों हाथोंको घुमाना, गुरुसे आगे होकर पाठका उच्चारण करना आदि। ऐसे सभी दोष त्यागने योग्य हैं ॥१११॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें अन्तिम दोषका नाम चुलुलित है। संस्कृत टीकाकारने इसका संस्कृतरूप चुरुलित किया है और लिखा है—एक प्रदेशमें स्थित होकर हाथोंको मुकुलित करके तथा घुमाकर जो सबकी वन्दना करता है अथवा जो पंचम आदि स्वरसे वन्दना करता है उसके चुरुलित दोष होता है ॥१११॥

आगे ग्यारह इलोकोंसे कायोत्सर्गके बत्तीस दोष कहते हैं—

जैसे उत्तम घोड़ा एक पैरसे पृथ्वीको न छूता हुआ खड़ा होता है उस तरह एक पैर ऊपरको उठाकर खड़े होना कायोत्सर्गका घोटक नामक प्रथम दोष है। तथा जो वायुसे कम्पित लताकी तरह अंगोंको चलाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके लता नामक दूसरा दोष होता है ॥११२॥

स्तम्भ, दीवार आदिका सहारा लेकर कायोत्सर्गसे खड़े होना स्तम्भ नामका तीसरा दोष है। पटा और चटाई आदिपर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना पट्टक नामक चतुर्थ दोष है। सिरके ऊपर माला, रस्सी आदिका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करना माला नामक पाँचवाँ दोष है ॥११३॥

पैरोंको साँकलसे बँधे हुए-की तरह करके कायोत्सर्गसे खड़े होना शृंखलित नामक छठा दोष है। भीलनीकी तरह दोनों हाथोंसे गुह्य प्रदेशको ढाँककर कायोत्सर्ग करना शबरी नामक सातवाँ दोष है ॥११४॥

विशेषार्थ—मूलाचार (७।१७१) की संस्कृत टीकामें भीलनीकी तरह दोनों जंघाओंसे जघन भागको दबाकर कायोत्सर्ग करनेको शबरी दोष कहा है। किन्तु अमितगतिश्रावकाचारमें दोनों हाथोंसे जघन भागको ढाँकते हुए खड़े होनेको शबरी दोष कहा है।—यथा 'कराभ्यां जघनाच्छादः किरातयुवतेरिव'—८।९० ॥११४॥

सिरको नीचा करके कायोत्सर्ग करना लम्बित नामक आठवाँ दोष है। सिरको ऊपर

वायसो वायसस्येव तिर्यगीक्षा खलीनितम् ।
खलीनार्ताश्ववद्दन्तघृष्टघोर्ध्वाधश्चलच्छिरः ॥११६॥
ग्रीवां प्रसार्यावस्थानं युगार्तगववद्युगः ।
मुष्टिं कपित्थवद् बद्ध्वा कपित्थः शीर्षकम्पनम् ॥११७॥
शिरःप्रकम्पितं संज्ञा मुखनासाविकारतः ।
मूकवन्मूकितालयः स्यादङ्गुलीगणनाङ्गुली ॥११८॥
भ्रूक्षेपो भ्रूविकारः स्याद् घूर्णनं मदिरार्तवत् ।
उन्मत्त ऊर्ध्वं नयनं शिरोधेर्बहुधाप्यधः ॥११९॥
निष्ठीवनं वपुस्पर्शो न्यूनत्वं दिगवेक्षणम् ।
मायाप्रायास्थितिश्चित्रा वयोपेक्षाविवर्जनम् ॥१२०॥

उठाकर कायोत्सर्ग करना उत्तरित नामक नौवाँ दोष है। शिशुको स्तन पिलानेवाली स्त्रीकी तरह छातीको ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना स्तनोन्नति नामक दसवाँ दोष है ॥११५॥

विशेषार्थ—मूलाचारकी (७।१७१) संस्कृत टीकामें कायोत्सर्ग करते हुए अपने स्तनोंपर दृष्टि रखना स्तनदृष्टि नामक दोष कहा है। किन्तु अमितगति श्रावकाचारमें (८।९१) ऊपरकी तरह ही कहा है ॥११५॥

कायोत्सर्गमें स्थित होकर कौएकी तरह तिरछे देखना वायस नामक ग्यारहवाँ दोष है। तथा लगामसे पीड़ित घोड़ेकी तरह दाँत कटकटाते हुए सिरको ऊपर-नीचे करना खलीनित नामक बारहवाँ दोष है ॥११६॥

विशेषार्थ—वायस कौएको कहते हैं और खलीन लगामको कहते हैं।

जुएसे पीड़ित बैलकी तरह गरदनको लम्बी करके कायोत्सर्गसे स्थित होना युग नामक तेरहवाँ दोष है। कैथकी तरह मुट्ठी करके कायोत्सर्गसे खड़े होना कपित्थ नामक चौदहवाँ दोष है। कायोत्सर्गसे स्थित होकर सिर हिलाना शिरप्रकम्पित नामक पन्द्रहवाँ दोष है। कायोत्सर्गसे स्थित होकर गूँगेकी तरह मुख, नाकको विकृत करना मूक नामक सोलहवाँ दोष है। कायोत्सर्गसे स्थित होकर अँगुलीपर गणना करना अँगुली नामक सतरहवाँ दोष है ॥११७-११८॥

कायोत्सर्गसे स्थिर होकर भ्रुकुटियोंको नचाना भ्रूक्षेप नामक अठारहवाँ दोष है। शराबीकी तरह घूमते हुए कायोत्सर्ग करना घूर्णन नामक उन्नीसवाँ दोष है। गरदनको अनेक प्रकारसे ऊँचा उठाना ऊर्ध्वनयन नामक बीसवाँ दोष है। गरदनको अनेक प्रकारसे नमाना अधोनयन नामक इक्कीसवाँ दोष है ॥११९॥

कायोत्सर्गसे स्थित होकर थूकना, खखारना आदि निष्ठीवन नामक बाईसवाँ दोष है। शरीरका स्पर्श करना वपुस्पर्श नामक तेईसवाँ दोष है। प्रमाणसे कम करना न्यूनता नामक चौबीसवाँ दोष है। दिशाओंकी ओर ताकना दिगवेक्षण नामक पचीसवाँ दोष है। मायाचारको लिये हुए विचित्र रूपसे कायोत्सर्ग करना जिसे देखकर आश्चर्य हो यह छब्बीसवाँ दोष है। वृद्धावस्थाके कारण कायोत्सर्ग छोड़ देना सत्ताईसवाँ दोष है ॥१२०॥

व्याक्षेपासक्तचित्तत्वं कालापेक्षाव्यतिक्रमः ।
लोभाकुलत्वं मूढत्वं पापकर्मैकसर्गता ॥१२१॥
योज्येति यत्नाद् द्वात्रिंशद्दोषमुक्ता तनूत्सृतिः ।
सा हि मुक्त्यङ्गसद्ध्यानशुद्धयै शुद्धैव संमता ॥१२२॥

घोटकाख्यः । चलतः—कम्पमानस्य ॥११२॥ स्तम्भादि । आदिशब्देन कुड्यादि ॥११३॥ शबरी । दोषनामेदम् ॥११४॥ उन्नमः—उन्नमनम् । इभन्तादल् । स्तनदावत्—शिशोः स्तनदायिन्या स्त्रिया यथा ॥११५॥ दन्तघृष्ट्या—दन्तकटकटायनेन सह ॥११६॥ युगार्तगववत्—स्कन्धारूढयुगस्य बलीवर्दस्य यथा ॥११७॥ अङ्गुली । दोषनामेदम् ॥११८॥ अप्यधः—अधस्तादपि ग्रीवाया नयनम् । एतौ ग्रीवोर्ध्वनयनं ग्रीवाधोनयनं चेति द्वौ दोषौ ॥११९॥ निष्ठीवनमित्यादि । अत्र उत्तरत्र च संज्ञा एव लक्षणानि स्पष्टत्वात् ॥१२०॥ मूढत्वं—कृत्याकृत्याविवेचकत्वम् । एकसर्गः—उत्कृष्टोत्साहः ॥१२१॥ शुद्धैव । उक्तं च—

'सदोषा न फलं दत्ते निर्दोषायास्तनूत्सृतेः ।
किं कूटं कुरुते कार्यं स्वर्णं सत्यस्य जातुचित् ॥' [ ] ॥१२२॥

अथोत्थितोत्थितादिभेदभिन्नायाश्चतुर्विधायास्तनूत्सृतेरिष्टानिष्टफलत्वं लक्षयति—

सा च द्वयोष्टा सद्ध्यानादुत्थितस्योत्थितोत्थिता ।
उपविष्टोत्थिता चोपविष्टस्यान्यान्यथा द्वयी ॥१२३॥

चित्तका इधर-उधर होना अट्ठाईसवाँ दोष है। समयकी अपेक्षासे कायोत्सर्गके विविध अंशोंमें कमी करना उनतीसवाँ दोष है। कायोत्सर्ग करते समय लोभवश आकुल होना तीसवाँ दोष है। कृत्य-अकृत्यका विचार न करना मूढ़ता नामक इकतीसवाँ दोष है। पापके कार्योंमें उत्कृष्ट उत्साह होना बत्तीसवाँ दोष है ॥१२१॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कायोत्सर्गके दोषोंकी संख्या कण्ठोक्त नहीं बतलायी है। दसों दिशाओंके अवलोकनको दस दोषोंमें लेनेसे संख्या यद्यपि पूरी हो जाती है। अमितगति श्रावकाचार (८।८८-९८) में उनकी संख्या बत्तीस गिनायी है। अन्तके कुछ दोष ग्रन्थकारने श्रावकाचारके अनुसार कहे हैं। मूलाचारमें तो उनके सम्बन्धमें कहा है—धीर पुरुष दुःखों-के विनाशके लिए कपटरहित, विशेषसहित, अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुरूप कायोत्सर्ग करते हैं ॥१२१॥

इस प्रकार मुमुक्षुको प्रयत्नपूर्वक बत्तीस दोषोंसे रहित कायोत्सर्ग करना चाहिए। क्योंकि मुक्तिके कारण धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी सिद्धिके लिए शुद्ध कायोत्सर्ग ही आचार्योंको मान्य है ॥१२२॥

कायोत्सर्गके उत्थितोत्थित आदि चार भेद हैं, उनके इष्ट और अनिष्ट फलको बतलाते हैं—

धर्मध्यान और शुक्लध्यानको लेकर कायोत्सर्गके दो भेद आचार्योंको मान्य हैं। खड़े होकर ध्यान करनेवालेके कायोत्सर्गको उत्थितोत्थित कहते हैं और बैठकर ध्यान करने-वालेके कायोत्सर्गको उपविष्टोत्थित कहते हैं। इसके विपरीत आर्त-रौद्रध्यानको लेकर

---

१. 'णिक्कूडं सविसेसं बलाणुरूवं वयाणुरूवं च ।
काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ॥'—(७-१७४)

उत्थितस्य—उद्भीभूतस्य। अन्येत्यादि। उपविष्टस्योत्थितस्य आर्तरौद्रचिन्तनलक्षणाद्दुर्ध्यानादुपविष्टोपविष्टा च उत्थितोपविष्टा च द्वयो तनूत्सृतिरनिष्टानिष्टफलत्वादित्यर्थः। उक्तं च—

'त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता।
उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥
आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥
धर्म्यशुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
उपविष्टोत्थितां सन्तस्ता वदन्ति तनूत्सृतिम् ॥
आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
तामुत्थितोपविष्टाख्या निगदन्ति महाधियः ॥
धर्म्यशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।
उत्थितोत्थितनामानं तां भाषन्ते विपश्चितः ॥' [अमि. श्रा. ८।५७–६१] ॥१२३॥

अथ कायममत्वापरित्यागिनोऽनशनव्रतस्यापि मुमुक्षोः स्वेष्टसिद्धिप्रतिबन्ध दर्शयति—

कायोत्सर्ग करनेवाला यदि बैठकर दुर्ध्यान करता है तो उसे उपविष्टोपविष्ट और खड़े होकर दुर्ध्यान करता है तो उसे उत्थितोपविष्ट कहते हैं ॥१२३॥

विशेषार्थ—यहाँ शुभ और अशुभ ध्यानको लेकर कायोत्सर्गके चार भेद किये हैं—उत्थितोत्थित, उपविष्टोत्थित, उत्थितोपविष्ट और उपविष्टोपविष्ट। इन चारोंका स्वरूप मूलाचारमें इस प्रकार कहा है—'जो खड़े होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसके इस कायोत्सर्गको उत्थितोत्थित कहते हैं। उत्थितका अर्थ है खड़ा हुआ। ऐसा सम्यग्ध्यानी बाह्य रूपसे तो खड़ा ही है अन्तरंग रूपसे भी खड़ा है अतः उत्थितोत्थित है। जो खड़े होकर आर्त और रौद्रध्यानको ध्याता है उसके कायोत्सर्गको उत्थितोपविष्ट कहते हैं क्योंकि यद्यपि वह बाह्य रूपसे खड़ा है किन्तु अन्तरंगसे तो बैठा हुआ ही है। जो बैठकर धर्मध्यान या शुक्लध्यानको ध्याता है उसके कायोत्सर्गको उपविष्टोत्थित कहते हैं क्योंकि यद्यपि वह बाह्य रूपसे बैठा है किन्तु अन्तरंगसे खड़ा ही है। जो बैठकर आर्त-रौद्रध्यानको ध्याता है उसके कायोत्सर्गको उपविष्टोपविष्ट कहते हैं क्योंकि वह अन्तरंग और बाह्य दोनों हीसे बैठा है' ॥१२३॥

आगे कहते हैं कि शरीरसे ममत्व त्यागे बिना उपवास करनेपर भी इष्टसिद्धि नहीं होती—

---

१. 'धम्मं सुक्क च दुवे ज्झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो।
एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम ॥
अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो सतो।
एसो काओसग्गो उट्ठिदणिविट्ठिदो णाम ॥
धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो उवट्ठिद उट्ठिदो णाम ॥
अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो णिसण्णिदणिसण्णिदो णाम ॥'—मूलाचार–७।१७७-१८०।

जीवद्देहममत्वस्य जीवत्याशाप्यनाशुषः
जीवदाशस्य सद्ध्यानवैधुर्यात्तत्पदं कुतः ॥१२४॥

अप्यनाशुषः—अनशनव्रतस्यापि ॥१२४॥

अथातीचारविशुद्ध्यर्थं क्रियाविशेषसिद्ध्यर्थं वा यथोक्तकालं कायोत्सर्गं कृत्वा परतोऽपि शक्त्या तत्करणे न दोषः स्यात् । किं तर्हि । गुण एव भवेदित्युपदेशार्थमाह—

हृत्वाऽपि दोषं कृत्वाऽपि कृत्यं तिष्ठेत् तनूत्सृतौ ।
कर्मनिर्जरणाद्यर्थं तपोवृद्ध्यै च शक्तितः ॥१२५॥

स्पष्टम् ॥१२५॥

अथ त्रियोगशुद्धे कृतिकर्मण्यधिकारिणं लक्षयति—

यत्र स्वान्तमुपास्य रूपरसिकं पूतं च योग्यासना—
द्यप्रत्युक्तगुरुक्रमं वपुरनुज्येष्ठोद्धपाठं वचः ।
तत् कर्तुं कृतिकर्म सज्जतु जिनोपास्त्योत्सुकस्तात्त्विकः
कर्मज्ञानसमुच्चयव्यवसितः सर्वंसहो निःस्पृहः ॥१२६॥

उपास्याः—आराध्या. सिद्धादय. । पूतम् । एतेन त्रयमपि विशेष्टव्यम् । गुरुक्रमः—दीक्षा ज्येष्ठाना पुराक्रिया कुर्वतामानुपूर्व्यम् । योग्यासनादिभिरप्रयुक्तोऽनिराकृतोऽसौ येन तत्तथोक्तम् । अनुज्येष्ठोद्धपाठं—ज्येष्ठानुक्रमेण प्रशस्तोच्चारणम् । उत्सुकः—सोत्कण्ठाभिलाषः । उक्तं च—

जिसका शरीरके प्रति ममत्वभाव वर्तमान है अतएव जिसकी इहलोक सम्बन्धी आशाएँ भी जीवित हैं, वह यदि अनशन व्रत भी करे तो उसे मोक्ष पद कैसे मिल सकता है क्योंकि उसके धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अभाव है ॥१२४॥

विशेषार्थ—सच्चा मुमुक्षु वही है जो संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होता है। घर-बार छोड़कर साधु बन जानेपर भी यदि शरीरके प्रति आसक्ति है तो उसकी सांसारिक अभिलाषाएँ मिटी नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें उसका अनशन केवल कायक्लेश है। ऐसे व्यक्तिके धर्मध्यान सम्भव नहीं है तब उसे मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥१२४॥

आगे कहते हैं कि दोषोंकी विशुद्धिके लिए और क्रिया विशेषकी सिद्धिके लिए कायोत्सर्गका जितना काल कहा है उतने काल तक कायोत्सर्ग करनेके बाद भी यदि कायोत्सर्ग करता है तो उसमें कोई दोष नहीं है, बल्कि लाभ ही है—

दोषोंको दूर करनेके लिए और आवश्यक कृत्यके लिए कायोत्सर्ग करनेके बाद भी कर्मोंकी निर्जरा तथा संवरके लिए और तपकी वृद्धिके लिए शक्तिके अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥१२५॥

आगे मन-वचन-कायसे शुद्ध कृतिकर्मके अधिकारीका लक्षण कहते हैं—

जिस कृतिकर्ममें मन आराधनीय सिद्ध आदिके स्वरूपमें अतिशय अनुरागी होनेके साथ विशुद्ध भावोंसे युक्त होता है, शरीर बाह्य शुद्धिके साथ गुरुजनोंके द्वाराकी जानेवाली पुरःक्रियाके क्रमका उल्लंघन न करके अपने योग्य आसन स्थान आदिको लिये हुए होता है, तथा वचन वर्ण पद आदिकी शुद्धिको लिये हुए होनेके साथ ज्येष्ठ जनोंके अनुक्रमसे प्रशस्त उच्चारणसे युक्त होता है, उस कृतिकर्मको करनेके लिए वही समर्थ होता है जो अर्हन्तकी उपासनाके लिए उत्सुक हो, परमार्थको समझता हो, शास्त्रोक्त क्रिया और आत्मज्ञान दोनोंमें

'स व्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने ।
जायते यस्य संतोषो जिनवक्तृविलोकने ॥
परीषहसहः शान्तो जिनसूत्रविशारदः ।
सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्तः प्रियंवदः ॥
आवश्यकमिदं धीरः सर्वकर्मनिसूदनम् ।
सम्यक् कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता ॥' [अमि. श्रा. ८।१९–२१]॥१२६॥

अथ मन्दमतिसुखप्रतिपत्तये क्रमवदिति विशेषण विवृण्वन्नाह—

प्रेप्सुः सिद्धिपथं समाधिमुपविश्यावेद्य पूज्यं क्रिया-
मानम्याविलयभ्रमत्रयशिरोनामं पठित्वा स्थितः ।
साम्यं त्यक्ततनुर्जिनान् समवृशः स्मृत्वावनम्य स्तवं
युक्त्वा साम्यवदुक्तभक्तिरुपविश्यालोचयेत् सर्वतः ॥१२७॥

उत्साहयुक्त हो, परीषह, उपसर्ग आदिको सह सकता हो तथा जिसे सांसारिक विषयोंकी अभिलाषा न हो ॥१२६॥

विशेषार्थ—कृतिकर्म करनेके योग्य कौन होता है उसमें क्या विशेषताएँ होनी चाहिए इसको यहाँ स्पष्ट किया है । उसका मन, वचन, काय पवित्र होना चाहिए । मनकी पवित्रताके लिए परिणामोंका विशुद्ध होना आवश्यक है । यदि मनमें भोगाकांक्षा है या अन्य सांसारिक कठिनाईयोंको दूर करनेका अभिप्राय है तो मन विशुद्ध नहीं हो सकता । उसके लिए निष्काम भावनासे अर्हन्त सिद्ध आदि उपासनीय पवित्र आत्माओंके स्वरूपमें मनका अत्यन्त अनुरागी होना चाहिए । यह अनुराग तभी होता है जब सांसारिक विषयोंके प्रति विरक्ति होती है । वचनकी शुद्धिके लिए जो पाठ पढ़ा जाये वह शुद्ध पढ़ा जाना चाहिए, उसमें अक्षर, पद आदिका उच्चारण शुद्ध हो, गुरुजनोंके साथ पढ़ना हो तो अपना बड़प्पन प्रकट करनेकी भावना नहीं होनी चाहिए । उनकी ज्येष्ठताको रखते हुए ही धीर-गम्भीर रूपमें पढ़ना चाहिए । शरीरकी शुद्धिके लिए बाह्य शुद्धि तो आवश्यक है ही, साथ ही अपनेसे आयुमें, ज्ञानमें, आचारमें जो ज्येष्ठ हैं उनको उच्चस्थान देते हुए ही अपने योग्य आसनपर बैठना चाहिए । साधुसंघमें सब साधु मिलकर कृतिकर्म करते हैं उसीको दृष्टिमें रखकर यह कथन है । इन तीन शुद्धियोंके सिवाय कृतिकर्मका अधिकारी वही होता है जिसकी दृष्टि कृतिकर्मके केवल बाह्य रूपपर ही नहीं होती किन्तु जो बाह्य क्रियाके साथ आत्मज्ञानकी ओर भी संलग्न होकर दोनोंका ही संग्रही होता है । इसीलिए उसे तात्त्विक होना चाहिए, तत्त्वको जानने-वाला-समझनेवाला होना चाहिए क्योंकि उसके बिना कोरे क्रियाकाण्डसे कोई लाभ नहीं है । जो ऐसा होता है वह निस्पृही तो होता ही है । तथा कृतिकर्मके अधिकारीको कृतिकर्म करते हुए कोई उपसर्ग-परीषह आदि आ जावे तो उसे सहन करनेकी क्षमता होनी चाहिए । कष्टसे विचलित होनेपर कृतिकर्म पूरा नहीं हो सकता । जिस-किसी तरह आकुल चित्तसे पूरा भी किया तो व्यर्थ ही कहा जायेगा ॥१२६॥

आगे मन्दबुद्धि जनोंको सरलतासे ज्ञान करानेके लिए कृतिकर्मकी क्रमविधि बतलाते हैं—

जो साधु या श्रावक मोक्षके उपायभूत रत्नत्रयकी एकाग्रतारूप समाधिको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें इस प्रकार कृतिकर्म करना चाहिए । सर्वप्रथम बैठकर पूज्य गुरु आदिसे

आवेद्य—चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहमित्यादिरूपेण सप्रश्रयं विज्ञाप्य। आनम्य स्थितः—शरीरावनतिं कृत्वा पुनरुद्धीभूतः सन्नित्यर्थः। आदित्यादि—आरम्भे समाप्तौ चावर्तत्रयानन्तरप्रयुक्तमेकं शिरोनमनं यत्रेत्यर्थः। उक्तभक्तिः—पठितवन्दनाकल्पः। आलोचयेत्—'इच्छामि भंते चेइयभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउं' इत्यादि प्रसिद्धनिगदमुच्चारयंस्तदर्थं मनसा विचिन्तयेत्। सर्वतः—सर्वासु भक्तिषु। ॥१२७॥

अथ सम्यक् षडावश्यकानुष्ठातुश्चिह्ननिर्णयार्थमाह—

शृण्वन् हृष्यति तत्कथां घनरवं केकीव मूकेडतां
तद्गर्हेऽङ्गति तत्र यस्यति रसे वादीव नास्कन्दति।
क्रोधादीन् जिनवस्र वैद्यपतिवद् व्यत्येति कालक्रमं
निन्द्यं जातु कुलीनवन्न कुरुते कर्ता षडावश्यकम् ॥१२८॥

तत्कथां—षडावश्यकवार्ताम्। मूकेडता—मौनं बधिरत्वं च। अङ्गति—गच्छति। तद्गर्हे—स्वयं न गर्हते षडावश्यकं नाप्यन्येन गर्ह्यमाणं शृणोतीत्यर्थः। यस्यति—प्रयतते। वादी—धातुवादी। जिनवत्—क्षीणकषायो यथा। कर्ता—साधुत्वेन कुर्वाण.। उक्तं च—

'तत्कथाश्रवणानन्दो निन्दाश्रवणवर्जनम्।
अलुब्धत्वमनालस्यं निन्द्यकर्मव्यपोहनम् ॥
कालक्रमाव्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्जवम्।
विज्ञेयानीति चिह्नानि षडावश्यककारिणः ॥' [ ] ॥१२८॥

सविनय नमस्कारपूर्वक निवेदन करना चाहिए कि मैं चैत्यभक्ति कायोत्सर्गको करता हूँ। फिर खड़े होकर आदि और अन्तमें तीन-तीन आवर्त और एक नमस्कारपूर्वक सामायिक दण्डकको पढ़े। अर्थात् सामायिक दण्डक प्रारम्भ करनेसे पहले तीन आवर्त पूर्वक एक नमस्कार करे और दण्डक समाप्त होनेपर भी तीन आवर्तपूर्वक एक नमस्कार करे। फिर कायोत्सर्गपूर्वक पंचपरमेष्ठीका स्मरण करे। फिर सामायिक दण्डककी तरह ही अर्थात् आदि-अन्तमें तीन-तीन आवर्त और एक नमस्कारपूर्वक 'थोस्सामि' इत्यादि स्तवदण्डकको पढ़कर वन्दना पाठ करे। फिर बैठकर 'इच्छामि भंते चेइयभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउं' इत्यादि पढ़कर आलोचना करे ॥१२७॥

सम्यक् रीतिसे छह आवश्यकोंको करनेवालेके चिह्नोंको बतलाते हैं—

जैसे मयूर मेघके शब्दको सुनकर नाचने लगता है वैसे ही छह आवश्यकोंका पालक भी छह आवश्यकोंकी चर्चा-वार्ता सुनकर आनन्दित होता है। यदि कोई उनकी निन्दा करता है तो गूँगा-बहरा हो जाता है अर्थात् न तो वह स्वयं छह आवश्यकोंकी निन्दा करता है और यदि दूसरा कोई करता है तो उसे सुनता भी नहीं है। तथा जसे धातुवादी पारेमें यत्नशील रहता है वैसे ही वह छह आवश्यकोंमें सावधान रहता है। तथा जैसे क्षीण कषाय, क्रोध आदि नहीं करता वैसे ही वह भी क्रोध आदि नहीं करता। तथा जैसे वैद्य रोगी और निरोगीके प्रति वैद्यक शास्त्रमें कहे गये काल और क्रमका उल्लंघन नहीं करता वैसे ही छह आवश्यकोंका पालक भी शास्त्रोक्त काल और विधिका उल्लंघन नहीं करता। तथा जैसे कुलीन पुरुष कभी भी निन्दनीय कार्य नहीं करता वैसे ही छह आवश्यकोंका पालक भी लोक और आगमके विरुद्ध कार्य नहीं करता ॥१२८॥

अथ संपूर्णेतरषडावश्यकसम्यग्विधाने पुरुषस्य निःश्रेयसाभ्युदयप्राप्तिं फलतयोपदिशति—

समाहितमना मौनी विधायावश्यकानि ना ।
संपूर्णानि शिवं याति सावशेषाणि वै दिवम् ॥१२९॥

ना—द्रव्यतः पुमानेव । सावशेषाणि—कतिपयानि हीनानि च अशक्त्यपेक्षयैतत् । यद्वृद्धाः—

'जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तं च सद्दहणं ।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरट्ठाणं ॥' [　　　]

वै—नियमेन । उक्तं च—

'सर्वैरावश्यकैर्युक्तो सिद्धो भवति निश्चितम् ।
सावशेषैस्तु संयुक्तो नियमात् स्वर्गगो भवेत् ॥' [　　　] ॥१२९॥

अथ षडावश्यकक्रिया इव सामान्या अपि क्रिया नित्यं साधुना कार्या इत्युपदिशति—

आवश्यकानि षट् पञ्च परमेष्ठिनमस्क्रियाः ।
निःसही चासही साधोः क्रियाः कृत्यास्त्रयोदश ॥१३०॥

स्पष्टम् ॥१३०॥

अथ भावतो अर्हदादिनमस्कारपञ्चकस्य फलमाह—

योऽर्हत्सिद्धाचार्याध्यापकसाधून् नमस्करोत्यर्थात् ।
प्रयतमतिः खलु सोऽखिलदुःखविमोक्षं प्रयात्यचिरात् ॥१३१॥

स्पष्टम् ॥१३१॥

अथ निसह्यसहीप्रयोगविधिमाह—

वसत्यादौ विशेत् तत्स्थं भूतादिं निसहीगिरा ।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासहीगिरा ॥१३२॥

आपृच्छ्य—संवाद्य । उक्तं च—

'वसत्यादिस्थभूतादिमापृच्छ्य निसहीगिरा ।
वसत्यादौ विशेत्तस्मान्निर्गच्छेत् सोऽसहीगिरा ॥' [　　　] ॥१३२॥

आगे सम्पूर्ण छह आवश्यकोंका सम्यक् पालन करनेवालेको मोक्षकी और एकदेश पालन करनेवालेको अभ्युदयकी प्राप्तिरूप फल बतलाते हैं—

एकाग्रचित्त और मौनपूर्वक सामायिक आदि सम्पूर्ण आवश्यकोंका सम्यक् रीतिसे पालन करनेवाला पुरुष मोक्ष जाता है और अशक्त होनेके कारण कुछ ही आवश्यकोंका सम्यक् रीतिसे पालन करनेवाला महर्धिक कल्पवासी देव होता है ॥१२९॥

आगे कहते हैं कि साधुको छह आवश्यक क्रियाओंकी तरह सामान्य क्रिया भी नित्य करनी चाहिए—

छह आवश्यक, पाँच परमेष्ठियोंको नमस्कार रूप पाँच, एक निःसही और एक आसही ये तेरह क्रियाएँ साधुको करनी चाहिए ॥१३०॥

भावपूर्वक अर्हन्त आदि पाँचको नमस्कार करनेका फल बतलाते हैं—

जो प्रयत्नशील साधु या श्रावक अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुको भावपूर्वक नमस्कार करता है वह शीघ्र ही चार गति सम्बन्धी सब दुःखोंसे छूट जाता है ॥१३१॥

आगे निःसही और असहीके प्रयोगकी विधि बतलाते हैं—

मठ, चैत्यालय आदिमें रहनेवाले भूत, यक्ष आदिको निःसही शब्दके द्वारा पूछकर

अथ परमार्थतो निसह्यासह्यौ लक्षयति—

आत्मन्यात्मासितो येन त्यक्त्वा वाऽऽशास्य भावतः ।
निसह्यसह्यौ स्तोऽन्यस्य तदुच्चारणमात्रकम् ॥१३३॥

आसितः—स्थापितः । सितो वा बद्धः । अन्यस्य—बहिरात्मनः । आशावतश्च । उक्तं च—

'स्वात्मन्यात्मा सितो येन निषिद्धो वा कषायतः ।
निसही भावतस्तस्य शब्दोऽन्यस्य हि केवलः ॥
आशां यस्त्यक्तवान् साधुरसही तस्य भावतः ।
त्यक्ताशा येन नो तस्य शब्दोच्चारो हि केवलः ॥' [ ]

अथवा—

'निषिद्धचित्तो यस्तस्य भावतोऽस्ति निषिद्धिका ।
अनिषिद्धस्य तु प्रायः शब्दतोऽस्ति निषिद्धिका ॥
आशया विप्रमुक्तस्य भावतोस्त्यासिका मता ।
आशया त्वविमुक्तस्य शब्द एवास्ति केवलम् ॥' [ ] ॥१३३॥

अथ प्रकृतमुपसंहरन्नित्यनैमित्तिककृतिकर्मप्रयोगं नियमयन्नाह—

इत्यावश्यकनिर्युक्ता उपयुक्तो यथाश्रुतम् ।
प्रयुञ्जीत नियोगेन नित्यनैमित्तिकक्रियाः ॥१३४॥

आवश्यकनिर्युक्तौ—आवश्यकानां निरवशेषोपाये । यथाश्रुतं—कृतिकर्मशास्त्रस्य गुरुपर्वक्रमायातोपदेशस्य चानतिक्रमेण । नियोगेन—नियमेन । नित्येत्यादि—नित्यक्रियाश्च नैमित्तिकक्रियाश्चेति विगृह्य प्रथमक्रियाशब्दस्य गतार्थत्वादप्रयोग । इति भद्रम् ॥१३४॥

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायामष्टमोऽध्यायः ।
अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं पञ्चसप्तत्यधिकानि षट्शतानि । अंकत. ६७५ ।

प्रवेश करना चाहिए और 'आसही' शब्दके द्वारा उससे पूछकर ही वहाँसे बाहर जाना चाहिए ॥१३२॥

आगे परमार्थ दृष्टिसे निसही और आसहीका अर्थ बतलाते हैं—

जिस साधुने अपने आत्माको अपने आत्मामें ही स्थापित किया है उसके निश्चयनयसे निसही है। तथा जिसने इस लोक आदिकी अभिलाषाओंको त्याग दिया है उसके निश्चयनयसे आसही है। किन्तु जो बहिरात्मा है और जिन्हें इस लोक आदि सम्बन्धी आशाओंने घेरा हुआ है उनका निसही और आसही कहना तो शब्दका उच्चारण मात्र करना है ॥१३३॥

अन्तमें प्रकृत विषयका उपसंहार करते हुए साधुओंको नित्य और नैमित्तिक कृतिकर्मको करनेकी प्रेरणा करते हैं—

उक्त प्रकारसे आवश्यकोंके सम्पूर्ण उपायोंमें सावधान साधुको कृतिकर्मका कथन करनेवाले शास्त्र तथा गुरुपरम्परासे प्राप्त उपदेशके अनुसार नियमसे नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंको करना चाहिए ॥१३४॥

इस प्रकार आशाधर विरचित स्वोपज्ञ धर्मामृतके अन्तर्गत अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका-टीका तथा ज्ञानदीपिका पंजिका अनुसारिणी हिन्दी टीकामें आवश्यक-निर्युक्त नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ ।

नवम अध्याय

अथ चतुश्चत्वारिंशता पद्यैर्नित्यक्रियाप्रयोगविधौ मुनिमुद्यमयन्नाह—

> **शुद्धस्वात्मोपलम्भाग्रसाधनाय समाधये ।**
> **परिकर्म मुनिः कुर्यात् स्वाध्यायादिकमन्वहम् ॥१॥**

परिकर्म—योग्यतोत्पादनाय प्राग्विधेयमनुष्ठानम् ॥१॥

अथ स्वाध्यायप्रतिष्ठापननिष्ठापनयोर्विधिमुपदिशति—

> **स्वाध्यायं लघुभक्त्यात्तं श्रुतसूर्योरहर्निशे ।**
> **पूर्वेऽपरेऽपि चाराध्य श्रुतस्यैव क्षमापयेत् ॥२॥**

लघुभक्त्या—लघ्वी अञ्चलिकामात्रपाठरूपा भक्तिर्वन्दना । सा च श्रुतस्य यथा—'अर्हद्वक्त्रप्रसूतम्' इत्यादिका । एवमाचार्यादीनामपि यथाव्यवहारमसाववसेया । आत्त—गृहीत प्रतिष्ठापितमित्यर्थः । अहर्निशे—दिने रात्रौ च । पूर्वेऽपरेऽपि—पूर्वाह्णेऽपराह्णे पूर्वरात्रेऽपररात्रे चेत्यर्थः । एतेन गोसर्गिकापराह्णिकप्रादोषिक-वैरात्रिकाश्चत्वारः स्वाध्याया इत्युक्तं स्यात् । यथाह—

> 'एकः प्रादोषिको रात्रौ द्वौ च गोसर्गिकस्तथा ।
> स्वाध्यायाः साधुभिः सार्द्धैः कर्तव्याः सन्त्यतन्द्रितैः ।' [ ]

आगे चवालीस श्लोकोंके द्वारा मुनियोंको नित्य क्रियाके पालनकी विधिमें उत्साहित करते हैं—

निर्मल निज चिद्रूपकी प्राप्तिका प्रधान कारण समाधि है। उस समाधिके लिए योग्यता प्राप्त करनेको मुनिको प्रतिदिन स्वाध्याय आदि करना चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ—संसारका परित्याग करके मुनिपद धारण करनेका एकमात्र उद्देश शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धि है उसे ही मोक्ष कहते है। कहा भी है—'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः'। किन्तु उस निर्मल चिद्रूपकी प्राप्तिका प्रधान कारण है समाधि। समाधि कहते हैं आत्मस्वरूप-में अपनी चित्तवृत्तिका निरोध। उसे योग और ध्यान भी कहते हैं। सब ओरसे मनको हटाकर स्वरूपमें लगाये बिना सच्चा ध्यान सम्भव नहीं है और उसके बिना स्वरूपकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। किन्तु वैसा ध्यान अभ्याससे ही सम्भव है। उस प्रकारका ध्यान करनेकी योग्यता लानेके लिए पहले कुछ आवश्यक कार्य करने होते हैं। उन्हींको कहते हैं ॥१॥

सबसे प्रथम स्वाध्यायके प्रारम्भ और समापनकी विधि कहते हैं—

स्वाध्यायका प्रारम्भ दिन और रात्रिके पूर्वभाग और अपरभागमें लघु श्रुत भक्ति और लघु आचार्य भक्तिका पाठ करके करना चाहिए। और विधिपूर्वक करके लघु श्रुत भक्तिपूर्वक समाप्त करना चाहिए ॥२॥

---

१. -भिः सर्वे क—भ कु च. ।

प्रदोषः प्रत्यासन्नकालः। प्रदोषोऽपराह्णस्तत्र भवः प्रादोषिक अपराह्णिक इत्यर्थः। आराध्य—विधिवद् विधाय। क्षमापयेत्—लघ्व्या श्रुतभक्त्या निष्ठापयेदित्यर्थः ॥२॥

अथ स्वाध्यायाना ग्रहण-क्षमापण-कालेयत्तानिरूपणार्थमाह—

ग्राह्यः प्रगे द्विघटिकादूर्ध्वं स प्राक्ततश्च मध्याह्ने।
क्षम्योऽपराह्णपूर्वापररात्रेष्वपि विगेवंव ॥३॥

ग्राह्यः—प्रतिष्ठाप्यः। प्रगे—प्रभाते। द्विघटिकात्—द्वयोर्घटिकयोः समाहारो द्विघटिकं तस्मात्। प्राक् ततः—घटिकाद्वयात् पूर्वं, घटिकाद्वयोने मध्याह्ने सम्पन्ने सतीत्यर्थः। अपराह्णेत्यादि—अपराह्णे घटिकाद्वयाधिकमध्याह्नादूर्ध्वं प्रतिष्ठाप्यो घटिकाद्वयशेषे दिनान्ते निष्ठाप्यः। तथा घटिकाधिके प्रदोषे ग्राह्यो घटिकाद्वयहीनेऽर्धरात्रे निष्ठाप्यः। तथा घटिकाद्वयाधिकेऽर्धरात्रे ग्राह्यो द्विघटिकावशेषे निशान्ते क्षम्य इत्यर्थ. ॥३॥

अथ स्वाध्यायं लक्षयित्वा विधिवत्तद्विधानस्य फलमाह—

सूत्रं गणधराद्युक्तं श्रुतं तद्वाचनादयः।
स्वाध्याय. स कृतः काले मुक्त्यै द्रव्यादिशुद्धितः ॥४॥

सूत्रमित्यादि। उक्तं च—

'सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिन्नदसपुव्विकथिदं च ॥
तं पढिदुमसज्झाए ण य कप्पदि विरदि इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए ॥
आराधणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती असग्गहत्थुदीओ।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ ॥' [मूलाचार गा. २७७–२७९]

विशेषार्थ—आगममें स्वाध्यायके चार समय माने हैं—पूर्वाह्ण, अपराह्ण, पूर्व रात्रि और अपररात्रि। इन चार कालोंमें साधुको आलस्य त्यागकर स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्यायके प्रारम्भमें लघु श्रुत भक्ति और लघु आचार्य भक्ति करना चाहिए। और समाप्तिपर लघु श्रुतभक्ति पढ़ना चाहिए ॥२॥

आगे स्वाध्यायके प्रारम्भ और समाप्तिके कालका प्रमाण बताते हैं—

प्रातःकाल सूर्योदयसे दो घड़ी दिन चढ़नेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए अर्थात् तीसरी घड़ी शुरू होनेपर स्वाध्याय शुरू करना चाहिए और मध्याह्नमें दो घड़ी काल शेष रहनेपर समाप्त कर देना चाहिए। यही उपदेश अपराह्ण, पूर्वरात्रि और अपररात्रिके भी सम्बन्धमें जानना। अर्थात् अपराह्णमें मध्याह्नसे दो घड़ी काल बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और दिनकी समाप्तिमें दो घड़ी काल शेष रहनेपर समाप्त करना चाहिए। पूर्वरात्रिमें दिनकी समाप्तिसे दो घड़ी काल बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और अर्धरात्रिमें दो घड़ी काल शेष रहनेपर समाप्त करना चाहिए। अपररात्रिमें आधी रातसे दो घड़ी काल बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और रात्रि बीतनेमें दो घड़ी शेष रहनेपर समाप्त करना चाहिए ॥३॥

स्वाध्यायका लक्षण और विधिपूर्वक उसके करनेका फल कहते हैं—

गणधर आदिके द्वारा रचित शास्त्रको सूत्र कहते हैं। उसकी वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशको स्वाध्याय कहते हैं। योग्य कालमें द्रव्य आदिकी शुद्धिपूर्वक की गयी स्वाध्याय कर्मक्षयपूर्वक मोक्षके लिए होती है ॥४॥

द्रव्यादिशुद्धित:—द्रव्यादिशुद्धया ह्यधीतं शास्त्रं कर्मक्षयाय स्यादन्यथा कर्मबन्धायेति भावः। अत्रायमागमः—

'दिसिदाह उक्कपडणं विज्जुवउक्काऽसणिदघणुयं च।
दुग्गंध संज्झदुद्दिण चंदगहा सूरराहु जुद्धं च॥
कलहादिधूमकेदू धरणीकंपं च अब्भगज्जं च।
इच्चेयमाइ बहुगा सज्झाए वज्जिदा दोसा॥
रुधिरादिपूयमंसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं।
कोधादि संकिलेसा भावविसोही पढणकाले॥' [मूलाचार गा. २७४–२७६]

दव्वे—आत्मशरीरे परशरीरे च। सदहत्थपरिमाणे—चतसृषु दिक्षु हस्तशतचतुष्टयमात्रेण रुधिरादीनि वर्ज्यानीत्यर्थः॥४॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें स्वाध्यायके कालादिका वर्णन इस प्रकार किया है—किसी उत्पातसे जब दिशाएँ आगके समान लालिमाको लिये हुए हों, आकाशसे उल्कापात हुआ हो, बिजली चमकती हो, वज्रपात हो, ओले गिरते हों, इन्द्रधनुष उगा हो, दुर्गन्ध फैली हो, सन्ध्या हो, दुर्दिन—वर्षा होती हो, चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण हो, कलह होता हो, भूचाल हो, मेघ गरजते हों, इत्यादि बहुत-से दोषोंमें स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। इस तरह कालशुद्धि होनेपर जो शास्त्र स्वाध्यायके योग्य हैं वे इस प्रकार है—सर्वज्ञके मुखसे अर्थ ग्रहण करके गौतम आदि गणधरोंके द्वारा रचित द्वादशांगको, प्रत्येक बुद्ध श्रुतकेवली तथा अभिन्न दस पूर्वियोंके द्वारा रचितको सूत्र कहते हैं। संयमी स्त्री-पुरुषोंको अर्थात् मुनि और आर्यिकाओंको अस्वाध्यायकालमें नहीं पढ़ना चाहिए। इन सूत्र ग्रन्थोंके सिवाय जो अन्य आचार्यरचित ग्रन्थ हैं उन्हें अस्वाध्यायकालमें भी पढ़ सकते हैं। जैसे भगवती आराधना, जिसमें चारों आराधनाओंका वर्णन है, सतरह प्रकारके मरणका कथन करनेवाले ग्रन्थ, संग्रहरूप पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ, स्तुतिरूप देवागम आदि स्तोत्र, आहार आदिका या सावद्य द्रव्योंके त्यागका कथन करनेवाले ग्रन्थ, सामायिक आदि छह आवश्यकोंके प्रतिपादक ग्रन्थ, धर्मकथावाले पुराण चरित आदि ग्रन्थ, या कार्तिकेयानुप्रेक्षा-जैसे ग्रन्थोंको अस्वाध्यायकालमें भी पढ़ सकते हैं। श्वेताम्बरीय आगम, व्यवहारसूत्र, स्थानांग आदिमें भी स्वाध्याय और अस्वाध्यायके ये ही नियम विस्तारसे बतलाये हैं जिन्हें अभिधान राजेन्द्रके सज्झाय और असज्झाय शब्दोंमें देखा जा सकता है। यथा—'णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए तं जहा—पढमाए, पच्छिमाए, मज्झण्हे अड्ढरत्तो। कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा चउक्कालं सज्झायं करेत्तए—पुव्वण्हे अवरण्हे पओसे पच्चूसे।—स्था. ४ ठ. २ उ.। अर्थात् निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियोंको चारों सन्ध्याओंमें स्वाध्याय नहीं करना चाहिए—प्रथम, अन्तिम, मध्याह्न और अर्धरात्रि। तथा निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियोंको चार कालमें स्वाध्याय करना चाहिए—पूर्वाह्न, अपराह्न, प्रदोष और प्रत्यूष (प्रभात)।

इसी तरह स्थानांग १० में वे दस अवस्थाएँ बतलायी हैं जिनमें स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। जैसे चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उल्कापात, मेघगर्जन, बिजलीकी चमक आदिके समय। स्तुति, धर्मकथा आदिको सन्ध्याकालमें भी पढ़ सकते हैं। उत्तराध्ययन (२६।१२) में कहा है कि दिनके चार भाग करके प्रथममें स्वाध्याय, दूसरेमें ध्यान, तीसरेमें भिक्षाचर्या और

अथ विनयाधीतश्रुतस्य माहात्म्यमाह—

श्रुतं विनयतोऽधीतं प्रमादादपि विस्मृतम् ।
प्रेत्योपतिष्ठतेऽनूनमावहत्यपि केवलम् ॥५॥

प्रेत्य—भवान्तरे । उक्तं च—

'विणएण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुअवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥' [मूलाचार गा. २८६] ॥५॥

अथ तत्त्वावबोधादिसाधनं विज्ञानं जिनशासन एवास्तीत्युपदिशति—

तत्त्वबोधमनोरोधश्रेयोरागात्मशुद्धयः ।
मैत्रीद्योतश्च येन स्युस्तज्ज्ञानं जिनशासने ॥६॥

श्रेयोरागः—श्रेयसि चारित्रेऽनुरागः । आत्मशुद्धिः—आत्मनो जीवस्य शुद्धिः—रागाद्युच्छित्तिः परिच्छित्तिश्च । तथा चावाचि—

'जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥
जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मित्ति पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥' [मूलाचार गा. २६७–६८]

चौथेमें स्वाध्याय करे । इसी तरह रात्रिके चार भाग करके प्रथममें स्वाध्याय, दूसरेमें ध्यान, तीसरेमें शयन और चौथेमें स्वाध्याय करना चाहिए ॥४॥

विनयपूर्वक श्रुतके अध्ययन करनेका माहात्म्य बताते हैं—

विनयपूर्वक पढ़ा हुआ श्रुत यदि प्रमादवश विस्मृत भी हो जाता है तो भी जन्मान्तरमें पूराका पूरा उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञानको उत्पन्न करता है ॥५॥

विशेषार्थ—श्रुतका विनयपूर्वक अध्ययन व्यर्थ नहीं जाता । यदि वह भूल भी जाये तो उसका संस्कार जन्मान्तरमें भी रहता है । और श्रुतज्ञानकी भावना ही केवलज्ञानके रूपमें प्रकट होती है । उसके बिना केवलज्ञान सम्भव नहीं है ॥५॥

आगे कहते है कि तत्त्वबोध आदिका साधन विज्ञान जिनशासनमें ही हैं—

जिसके द्वारा तत्त्वका बोध, मनका रोध, कल्याणकारी चारित्रमें अनुराग, आत्मशुद्धि और मैत्रीभावनाका प्रकाश होता है वह ज्ञान जिनशासनमें ही है ॥६॥

विशेषार्थ—तत्त्व तीन प्रकारका होता है—हेय, उपादेय और उपेक्षणीय । हेयका—छोड़ने योग्यका हेय रूपसे, उपादेयका—ग्रहण करने योग्यका उपादेय रूपसे और उपेक्षा करने योग्यका उपेक्षणीय रूपसे होनेवाले बोधको तत्त्वबोध या तत्त्वज्ञान कहते हैं । मन जिस समय ज्यों ही विषयोंकी ओर जावे उसी समय उसे उधर जानेसे रोकनेको या उस विषयका ही त्याग कर देनेको मनोरोध कहते है । कहा भी है—

'यद्यदैव मनसि स्थितं भवेत् तत्तदैव सहसा परित्यजेत् ।' अर्थात् जैसे ही जो विषय मनमें घुले उसे तत्काल छोड़ दे । ज्ञानके बाद जीवका कल्याणकारी है ज्ञानको आचरणके रूपमें उतारना । उसे ही चारित्र कहते हैं । उस कल्याणकारी चारित्रमें अनुरागको अर्थात् तन्मय हो जानेको श्रेयोराग कहते हैं । जिसमें 'मैं' इस प्रकारका अनुपचरित प्रत्यय होता है वही आत्मा है । उस आत्मासे रागादिको दूर करना आत्मशुद्धि है । मित्रके भावको मैत्री कहते है अर्थात् दूसरोंको किसी भी प्रकारका दुःख न हो ऐसी भावना मैत्री है । उस मैत्रीका

अत्र पूर्वसूत्रेण सम्यक्त्वसहचारि ज्ञानमुत्तरसूत्रेण च चारित्रसहचारिज्ञानं सूत्रकारेणोपवर्णितमवसेयम् ॥६॥

अथ साधोरपररात्रे स्वाध्यायप्रतिष्ठापननिष्ठापने प्रतिक्रमणविधानं रात्रियोगनिष्ठापनं च यथाक्रममवश्यकर्तव्यतयोपदिशति—

क्लमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया
लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके ।
स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिका-
शेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत् ॥७॥

क्लमं—शरीरग्लानिम् । नियम्य—निवर्त्य । क्षणयोगनिद्रया—योगः शुद्धचिद्रूपे यथाशक्ति चिन्तानिरोधः । योगो निद्रेव इन्द्रियात्ममनोमरुत्सूक्ष्मावस्थारूपत्वात् । योगश्चासौ निद्रा च योगनिद्रा । क्षणोऽत्र कालाल्पत्वम् । तच्चोत्कर्षतो घटिकाचतुष्टयमस्वाध्याययोग्यम् । क्षणभाविनी योगनिद्रा क्षणयोगनिद्रा तया ।

यदाहु —

'यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी ।
विहितहितमिताशीः क्लेशजालं समूलं
दहति निहितनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥' [आत्मानु., श्लो २२५]

बुद्धिमानोंके चित्तमें महत्त्व प्रकट करना मैत्रीद्योत है। ये सब सम्यग्ज्ञानके फल हैं। ऐसा सम्यग्ज्ञान जिनशासनमें ही मिलता है। जिन अर्थात् वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तात्मक मतमें उसीको विज्ञान कहते हैं जिसकी परिणति उक्त पाँच रूपमें होती है। मूलाचारमें कहा है—'जिससे तत्त्वका—वस्तुकी यथार्थताका जानना होता है, जिससे मनका व्यापार रोका जाता है अर्थात् मनको अपने वशमें किया जाता है और जिससे आत्माको वीतराग बनाया जाता है वही ज्ञान जिनशासनमें प्रमाण है। जिसके द्वारा जीव राग, काम, क्रोध आदिसे विमुख होता है, जिससे अपने कल्याणमें लगता है और जिससे मैत्री भावसे प्रभावित होता है वही ज्ञान जिनशासनमें प्रमाण है ॥६॥

आगे कहते हैं कि साधुको रात्रिके पिछले भागमें स्वाध्यायकी स्थापना, फिर समाप्ति, फिर प्रतिक्रमण और अन्तमें रात्रियोगका निष्ठापन ये कार्य क्रमानुसार अवश्य करना चाहिए—

थोड़े समयकी योगनिद्रासे शारीरिक थकानको दूर करके अर्धरात्रिके बाद दो घड़ी बीतनेपर प्रारम्भ की गयी स्वाध्यायको जब रात्रिके बीतनेमें दो घड़ी बाकी हों तो समाप्त करके प्रतिक्रमण करे, और उसके बाद रात्रियोगको पूर्ण कर दे ॥७॥

विशेषार्थ—साधु प्रतिदिन रात्रिमें रात्रियोगको धारण करते हैं। और प्रातः होनेपर उसे समाप्त कर देते हैं। पं० आशाधरजीने अपनी टीकामें योगका अर्थ शुद्धोपयोग किया है। अर्थात् रात्रिमें उपयोगकी शुद्धताके लिए साधु रात्रियोग धारण करते हैं। उस रात्रियोगमें वे अधिकसे अधिक चार घड़ी सोते हैं जो स्वाध्यायके योग्य नहीं हैं। अर्थात् अर्धरात्रि होनेसे पहलेकी दो घड़ी और अर्धरात्रि होनेके बादकी दो घड़ी इन चार घटिकाओंमें साधु निद्रा लेकर अपनी थकान दूर करते हैं। उनकी इस निद्राको योगनिद्रा कहा है। योग कहते हैं शुद्ध चिद्रूपमें यथाशक्ति चिन्ताके निरोधको। निद्रा भी योगके तुल्य है क्योंकि निद्रामें

अपि च—

'स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥' [तत्त्वानु., श्लो.]

एतदेव च स्वयमप्यन्वाख्यं सिद्धचक्रमहाकाव्ये, यथा—

'परमसमयसाराभ्याससानन्दसर्पत्
सहजमहसि सायं स्वे स्वयं स्वं विदित्वा ।
पुनरुदयदविद्यावैभवाः प्राणचार-
स्फुरदरुणविभूता योगिनो यं स्तुवन्ति ॥'

लातं—गृहीतम् । निशीथे—अर्धरात्रे ॥७॥

अथ परमागमव्याख्यानाद्युपयोगस्य लोकोत्तर माहात्म्यमुपवर्णयति—

खेद-संज्वर-संमोह-विक्षेपाः केन चेतसः ।
क्षिप्येरन् मङ्क्षु जैनी चेन्नोपयुज्येत गोः सुधा ॥८॥

सञ्ज्वरः—संतापः । बाह्या अप्याहुः—

'क्लान्तमपोज्झति खेदं तप्तं निर्वाति बुध्यते मूढम् ।
स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषितं चेतः ॥' [ ] ॥८॥

अथ प्रतिक्रमणमाहात्म्यमनुसंधत्ते—

इन्द्रिय, आत्मा, मन और श्वास सूक्ष्म अवस्था रूप हो जाते हैं। निद्राका यही लक्षण कहा है—'इन्द्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः'। शयनसे उठते ही साधु स्वाध्यायमें लग जाते हैं और जब दो घड़ी रात बाकी रहती है तो स्वाध्याय समाप्त करके किये दोषोंकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण करते हैं। उसके बाद रात्रियोग समाप्त करते है। आचार्य गुणभद्रने इसका वर्णन करते हुए लिखा है—जो यम और नियममें तत्पर रहते है, जिनकी आत्मा बाह्य विषयोंसे निवृत्त हो चुकी है, जो निश्चल ध्यानमें निमग्न रहते हैं, सब प्राणियोंके प्रति दयालु हैं, आगममें विहित हित और मित भोजन करते हैं, अतएव जिन्होंने निद्राको दूर भगा दिया है, और जिन्होंने अध्यात्मके सार शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव किया है, ऐसे मुनि कष्ट समूहको जड़मूल सहित नष्ट कर देते हैं—

पूज्य रामसेनजीने भी कहा है—मुनिको स्वाध्यायसे ध्यानका अभ्यास करना चाहिए और ध्यानसे स्वाध्यायको चरितार्थ करना चाहिए। ध्यान और स्वाध्यायकी प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता है अर्थात् स्वाध्याय और ध्यान ये दोनों परस्परमें एक दूसरेके सहायक हैं। और इन दोनोंके सहयोगसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है ॥७॥

आगे परमागमके व्याख्यान आदिमें उपयोग लगानेका अलौकिक माहात्म्य कहते हैं—

यदि जिन भगवान्की वाणीरूपी अमृतका पान तत्काल न किया जाये तो चित्तका खेद, सन्ताप, अज्ञान और व्याकुलता कैसे दूर हो सकते हैं? अर्थात् इनके दूर करनेका सफल उपाय शास्त्रस्वाध्याय ही है ॥८॥

आगे प्रतिक्रमणका माहात्म्य बतलाते हैं—

---

१. विजृम्भा यो—भ. कु. च.।

दुर्निवार-प्रमादारि-प्रयुक्ता दोषवाहिनी।
प्रतिक्रमणदिव्यास्त्रप्रयोगादाशु नश्यति ॥९॥

उक्तं च—

'जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषा यस्मात् प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
तस्मात्तदर्थममलं मुनिबोधनार्थं वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम् ॥' [ ] ॥९॥

अथ प्रमादस्य महिमानमुदाहरणद्वारेण स्पष्टयति—

त्र्यहादवैयाकरणः किलैकाहादकार्मुकी।
क्षणादयोगी भवति स्वभ्यासोऽपि प्रमादतः ॥१०॥

किल—लोके ह्येवं श्रूयते। अकार्मुकी—अधानुष्कः ॥१०॥

अथ प्रतिक्रमणाया रात्रियोग-प्रतिष्ठापन-निष्ठापनयोश्च प्रयोगविधिमभिधत्ते—

भक्त्या सिद्ध-प्रतिक्रान्तिवीरद्विद्वादशार्हताम्।
प्रतिक्रामेन्मलं योगं योगिभक्त्या भजेत् त्यजेत् ॥११॥

द्विद्वादशार्हतः—चतुर्विंशतितीर्थंकरा। योगं—अद्य रात्रावत्र वसत्या स्थातव्यमिति नियमविशेषम्। भजेत्—प्रतिष्ठापयेत्। त्यजेत्—निष्ठापयेत्।

उक्तं च—

दुर्निवार प्रमादरूपी शत्रुसे प्रेरित अतीचारोंकी सेना प्रतिक्रमणरूपी दिव्य अस्त्रके प्रयोगसे शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥९॥

विशेषार्थ—अच्छे कार्योंमें उत्साह न होनेको प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद शत्रुके समान है क्योंकि जीवके स्वार्थ उसके कल्याणके घातक है। जब यह प्रमाद दुर्निवार हो जाता है, उसे दूर करना शक्य नहीं रहता तब इसीकी प्रेरणासे व्रतादिमें दोषोंकी बाढ़ आ जाती है—अतीचारोंकी सेना एकत्र हो जाती है। उसका संहार जिनदेवके द्वारा अर्पित प्रतिक्रमण रूपी अस्त्रसे ही हो सकता है। प्रतिक्रमण कहते ही हैं—लगे हुए दोषोंके दूर करनेको। कहा है—'क्योंकि जीवमें प्रमादसे उत्पन्न हुए बहुतसे उत्कृष्ट दोष प्रतिक्रमणसे नष्ट हो जाते हैं। इसलिए मुनियोंके बोधके लिए और नाना प्रकारके सांसारिक कर्मोंकी शुद्धिके लिए प्रतिक्रमण कहा है ॥९॥

आगे उदाहरणके द्वारा प्रमादकी महिमा बतलाते हैं—

लोकमें ऐसी कहावत है कि प्रमाद करनेसे व्याकरणशास्त्रमें अच्छा अभ्यास करनेवाला भी वैयाकरण तीन दिनमें अवैयाकरण हो जाता है अर्थात् केवल तीन दिन व्याकरणका अभ्यास न करे तो सब भूल जाता है। एक दिनके अभ्यास न करनेसे धनुष चलानेमें निपुण धनुर्धारी नहीं रहता, और योगका अच्छा अभ्यासी योगी यदि प्रमाद करे तो एक ही क्षणमें योगीसे अयोगी हो जाता है ॥१०॥

आगे प्रतिक्रमण और रात्रियोगके स्थापन और समाप्तिकी विधि बतलाते हैं—

सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति और चौबीस तीर्थंकरभक्तिके द्वारा अतीचारकी विशुद्धि करनी चाहिए। और 'मैं आज रात्रिमें इस वसतिकामें ठहरूँगा' इस रात्रियोगको योगिभक्तिपूर्वक ही स्थापित करना चाहिए और योगिभक्तिपूर्वक ही समाप्त करना चाहिए ॥११॥

'सिद्धनिषेधिकावीर-जिनभक्तिप्रतिक्रमे ।
योगिभक्तिः पुनः कार्या योगग्रहणमोक्षयोः ॥' [ ] ॥११॥

अथ साधून् प्राभातिकदेववन्दनां प्रति प्रोत्साहयन्नाह—

योगिध्यानैकगम्यः परमविशदवृग्विश्वरूपः स तच्च
स्वान्तस्येम्नैव साध्यं तदमलमतयस्तत्पथध्यानबीजम् ।
चित्तस्थैर्यं विधातुं तदनवधिगुणग्रामगाढानुरागं
तत्पूजाकर्म कर्मच्छिदुरमिति यथासूत्रमासूत्रयन्तु ॥१२॥

सः—परमागमप्रसिद्धः । तद्यथा—

'केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गम सुजणियपरमप्पववएसो ॥
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तो त्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥' [गो. जी., गा. ६३–६४]

विशेषार्थ—प्रतिक्रमण सिद्धभक्ति आदि चार भक्तिपाठ पूर्वक किया जाता है और रात्रियोगधारण करते समय योगिभक्ति की जाती है। और समाप्ति भी योगिभक्तिपूर्वक की जाती है ॥११॥

आगे साधुओंको प्रातःकालीन देववन्दनाके लिए उत्साहित करते हैं—

'जिसके अत्यन्त स्पष्ट केवलज्ञानमें लोक और अलोकके पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वह परमात्मा योगियोंके एकमात्र ध्यानके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। और योगियोंका वह ध्यान चित्तकी स्थिरता के द्वारा ही साधा जा सकता है। इसलिए निर्मल बुद्धिवाले साधुजन परमात्मपदकी प्राप्तिके उपायभूत धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बीजरूप चित्तकी स्थिरताको करनेके लिए जिनेन्द्रके अनन्त गुणोंके समूहमें दृढ भक्तिको लिये हुए आगमके अनुसार उस पूजा कर्मको इसलिए कर क्योंकि वह मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोधक होनेसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंका भी एकदेशसे छेदक होता है।'

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान्‌की वन्दनाको या विनयको ही पूजा कहते हैं। साधुगण भावपूजा ही करते हैं। भावपूजाका लक्षण इस[1] प्रकार है—'समस्त आत्माओंमें पाये जानेवाले विशुद्ध जैन गुणोंका जिनेन्द्रदेवके गुणोंको अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिपूर्वक चिन्तन करनेको भावपूजा कहते हैं' ॥१२॥

इस भावपूजाके द्वारा परमात्माके गुणोंका भक्तिपूर्वक चिन्तन करनेसे मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोध होनेके साथ चित्त स्थिर होता है और चित्तके स्थिर होनेसे ही साधु उस धर्मध्यान और शुक्लध्यानको करनेमें समर्थ होता है जिस एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यानके द्वारा परमात्माका ध्यान करते हुए स्वयं परमात्मा बन जाता है। उस परमात्माका स्वरूप इस प्रकार कहा है—'केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे जिनका अज्ञानभाव पूरी तरह नष्ट हो गया है, और नौ केवललब्धियोंके प्रकट होनेसे जिन्हें 'परमात्मा' नाम प्राप्त हो गया है। उनका ज्ञान और दर्शन आत्माके सिवाय इन्द्रिय आदि किसी भी अन्यकी

१. 'व्यापकानां विशुद्धानां जैनानामनुरागतः ।
गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते ॥' [ ]

तच्च—योगिध्यानम् । स्वान्तस्थेम्ना—मनःस्थैर्येण । यथाह—

'ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
गुरूपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥' [तत्त्वानु. श्लो. २१८]

अपि च—

'यद्विद्रमानं भुवनान्तराले धर्तुं न शक्यं मनुजामरेन्द्रैः ।
तन्मानसं यो विदधाति वश्यं ध्यानं स धीरो विदधाति वश्यम् ॥' [ ]

तत्पथः—परमात्मप्राप्त्युपायभूतम् । तत्पूजाकर्म—जिनेन्द्रवन्दनाम् । कर्मछिदुरं—कर्मणा ज्ञानावरणादीना मनोवाक्कायक्रियाणा वा छिदुरं छेदनशीलमेकदेशेन तदपनेतृत्वात् । आसूत्रयन्तु रचयन्तु ॥१२॥

अथ त्रैकालिकदेववन्दनायाः प्रयोगविधिमाह—

त्रिसंध्यं वन्दने युञ्ज्याच्चैत्यपञ्चगुरुस्तुती ।
प्रियभक्तिं बृहद्भक्तिष्वन्ते दोषविशुद्धये ॥१३॥

त्रिसन्ध्यमित्यादि । यत्पुनर्वृद्धपरम्परा व्यवहारोपलम्भात् सिद्धचैत्यपञ्चगुरुशान्तिभक्तिभिर्यथावसरं भगवन्तं वन्दमाना सुविहिताचारा अपि दृश्यन्ते तत्केवलं भक्तिपिशाचीदुर्ललितमिव मन्यामहे सूत्रातिवर्तनात् । सूत्रे हि पूजाभिषेकमङ्गल एव तच्चतुष्टयमिष्टम् । तथा चोक्तम्—

'चैत्यपञ्चगुरुस्तुत्या नित्या सन्ध्यासु वन्दना ।
सिद्धभक्त्यादिशान्त्यन्ता पूजाभिषेकमङ्गले ॥' [ ]

सहायतासे रहित है इसलिए वे केवली कहे जाते हैं और योगसे युक्त होनेसे सयोगी कहे जाते है । इस तरह अनादिनिधन आगममें उन्हें सयोगिजिन कहा है ।'

साधुगण इन्हीं परमात्माके अनन्त ज्ञानादि गुणोंकी भक्तिपूर्वक प्रातःकाल वन्दना करते हैं । इस वन्दनाके द्वारा वे अपने मन-वचन-कायको स्थिर करके अपने चित्तको ध्यानके योग्य बनाते है और फिर ध्यानके द्वारा स्वयं परमात्मा बन जाते हैं । अतः साधुओंको भी नित्य देववन्दना—भावपूजा अवश्य करनी चाहिए। द्रव्यपूजामें आरम्भ होता है वह उनके लिए निषिद्ध है । उनका तो मुख्य कार्य स्वाध्याय और ध्यान ही है । स्वाध्यायसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानकी स्थिरताका ही नाम ध्यान है । तथा ध्यानकी स्थिरताको ही समाधि कहते हैं । यही समाधि साधुकी साधनाका लक्ष्य होती है । इसी समाधिसे उसे वह सब प्राप्त हो सकता है जो वह प्राप्त करना चाहता है ॥१२॥

त्रैकालिक देव वन्दनाकी विधि कहते हैं—

देववन्दना करते हुए साधुको तीनों सन्ध्याओंमें चैत्यवन्दना और पंचगुरुवन्दना करनी चाहिए। और वन्दनासम्बन्धी दोषोंकी या रागादि दोषोंकी विशुद्धिके लिए वन्दनाके अन्तमें बृहत् भक्तियोंमें से समाधिभक्ति करनी चाहिए ॥१३॥

विशेषार्थ—पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें लिखा है कि आचारशास्त्रके अनुसार आचारका पालन करनेवाला सुविहिताचारी मुनि भी वृद्धपरम्पराके व्यवहारमें पाया जानेसे भगवान्की वन्दना करते समय सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्तिपूर्वक वन्दना करते हुए देखे जाते है इसे हम भक्तिरूपी पिशाचीका दुर्विलास ही मानते हैं

१. 'ज्ञानमेव स्थिरीभूतं ध्यानमित्युच्यते बुधैः ।'
'ध्यानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति कथ्यते ।' [ ]

अपि च—

जिणदेववंदणाए चेदियभत्तीय पंचगुरुभत्ती ।

तथा—

अहिसेयवंदणा सिद्धचेदिय पंचगुरु संति भत्तीहिं ।

प्रियभक्ति—समाधि भक्ति । दोषाः—वन्दनातिचारा रागादयो वा ।

उक्तं च—

ऊनाधिक्यविशुद्ध्यर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिकाः ॥१३॥

अथ कृतिकर्मणः षड्विधत्वमाचष्टे—

स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ताः ।
द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम् ॥१४॥

परीतिस्त्रयी—प्रदक्षिणास्तिस्र इत्यर्थः । त्रयो निषद्या—आवृत्त्या त्रीण्युपवेशनानि क्रियाविज्ञापन-चैत्यभक्तिपञ्चगुरुभक्त्यनन्तरालोचनाविषयाणि । त्रिवारं—चैत्यपञ्चगुरुसमाधिभक्तिषु त्रिःकायोत्सर्गविधानात् । शिरांसि—मूर्धावनतयो वन्दना प्रधानभूता वा अर्हत्सिद्धसाधुधर्माः । उक्तं च सिद्धान्तसूत्रे—

'आदाहिणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तिऊणदं चदुस्सिरं ।
बारसावत्तं चेदि ॥' [षट्खण्डा. पु. १३, पृ. ८८] ॥१४॥

क्योंकि इससे आगमकी मर्यादाका अतिक्रमण होता है। आगममें पूजा और अभिषेकमंगलके समय ही ये चारों भक्तियाँ कही हैं—'जो तीनों सन्ध्याओंमें नित्य देववन्दना की जाती है वह चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्तिपूर्वक की जाती है। किन्तु पूजा और अभिषेकमंगलमें सिद्धभक्तिसे लेकर शान्तिभक्ति पर्यन्त चार भक्तियाँ की जाती हैं।' और भी कहा है—'जिनदेवकी वन्दनामें चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति की जाती है। तथा अभिषेक वन्दना, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्तिपूर्वक होती है।'

इससे प्रकट होता है कि पं. आशाधरजीके समयमें शास्त्रानुकूल आचारका पालन करनेवाले ऐसे भी मुनि थे जो देववन्दनामें चार भक्तियाँ करते थे। इसे पं. आशाधरजीने भक्तिरूपी पिशाचोंका दुर्विलास कहा है। आजके कुछ मुनियोंमें तो ये दुर्विलास और भी बढ़ गया है, वे प्रतिदिन पंचामृताभिषेक कराते हैं। ऊपर जो पूजा अभिषेकमें चार भक्ति कही हैं वे श्रावकोंकी दृष्टिसे कही हैं। श्रावकोंका कृतिकर्म मुनियोंसे सर्वथा भिन्न नहीं था। चारित्रसारमें कहा है—ऊपर जो क्रिया कही हैं उन्हें यथायोग्य जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट श्रावकोंको और मुनियोंको करनी चाहिए।[1] शास्त्रविहित कृतिकर्म त्यागियोंमें भी विस्मृत हो चुका है। पूजाके अन्तमें विसर्जनके नामसे जो शान्तिपाठ पढ़ा जाता है वह शान्तिभक्ति ही है ॥१३॥

कृतिकर्मके छह भेद कहते हैं—

पूर्वाचार्योंने छह प्रकारका कृतिकर्म माना है—स्वाधीनता, परीति—प्रदक्षिणा तीन, तीन निषद्या, बारह आवर्त, और चार शिरोनति ॥१४॥

विशेषार्थ—वन्दना करनेवाला स्वाधीन होना चाहिए। वन्दनामें तीन प्रदक्षिणा तथा तीन निषद्या अर्थात् बैठना तीन बार होता है। क्रिया विज्ञापनके अनन्तर, चैत्यभक्तिके

---

१. 'एवमुक्ताः क्रिया यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तमश्रावकैः संयतैश्च करणीयाः ।'

अथ जिनचैत्यवन्दनायाः प्रचुरपुण्यास्रवणपूर्वपुण्योदयस्फारीकरणप्राक्तनपापविपाकापकर्षणापूर्वपातकसंवरणलक्षणा फलचतुष्टयी प्रतिपाद्य सर्वदा तत्र त्रिसन्ध्यं मुमुक्षुवर्गमुद्यमयन्नाह—

दृष्ट्वार्हत्प्रतिमां तदाकृतिमरं स्मृत्वा स्मरंस्तद्गुणान्
रागोच्छेदपुरःसरानतिरसात् पुण्यं चिनोत्युच्चकैः ।
तत्पाकं प्रथयत्यघं कशयते पाकाद् रुणद्धयास्रवत्
तच्चैत्यान्यखिलानि कल्मषमुषां नित्यं त्रिशुद्धया स्तुयात् ॥१५॥

तदाकृति—अर्हन्मूर्तिम् । तल्लक्षणं यथा—

'शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः ।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥' [ ]

अरं—झटिति । अर्हत्प्रतिमादर्शनान्तरमेव । स्मरन्नित्यादि । उक्तं च—

'वपुरेव तवाचष्टे भगवन् वीतरागताम् ।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वलः ॥' [ ]

अघमित्यादि—पापपाकमल्पीकरोतीत्यर्थः । रुणद्धयास्रवत्—पापं संवृणोतीत्यर्थः । कल्मषमुषां—घातिचतुष्टयलक्षण स्वपापमपहृतवताम् वन्दारुभव्यजनानां वा दुष्कृतमपहरताम् ॥१५॥

अनन्तर और पंच गुरु भक्तिके अनन्तर आलोचना करते समय बैठना होता है। क्योंकि चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और समाधिभक्तिमें तीन कायोत्सर्ग किये जाते हैं। तथा एक कृतिकर्ममें बारह आवर्त और चार शिरोनति होती है। इनके सम्बन्धमें पहले लिख आये हैं॥१४॥

आगे जिनचैत्यवन्दनाके चार फल बतलाकर उसमें सर्वदा तीनों सन्ध्याओंको प्रवृत्त होनेका मुमुक्षु वर्गसे आग्रह करते हैं—

अर्हन्तकी प्रतिमाको देखकर तत्काल अर्हन्तकी शरीराकृतिका स्मरण होता है। उसके साथ ही भक्तिके उद्रेकसे अर्हन्त भगवान्‌के वीतरागता, सर्वज्ञता, हितोपदेशिता आदि गुणोंका स्मरण होता है। उनके स्मरणसे सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंका बहुतायतसे बन्ध होता है, जो पुण्य प्रकृतियाँ उदयमें आनेवाली हैं उनमें अनुभागकी वृद्धि होती है, बँधे हुए पापकर्मोंमें स्थिति अनुभागकी हानि होती है। नवीन पापबन्ध रुकता है। अतः जिन्होंने अपने चार घातिकर्म रूपी पापको दूर कर दिया है और जो वन्दना करनेवाले भव्य जीवोंके भी पापको दूर करते हैं उन-उन अर्हन्तोंकी कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओंकी मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक नित्यवन्दना करनी चाहिए॥१५॥

विशेषार्थ—जो चार घातिकर्मोंका नष्ट करके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्त चतुष्टयसे सहित होते हैं उन्हें अर्हन्त कहते हैं। अर्हन्तकी प्रतिमाको देखते ही सबसे प्रथम साक्षात् अर्हन्तके शरीरका और फिर उनके आत्मिक गुणोंका स्मरण आता है और दर्शकका मन आनन्दसे गद्गद और शरीर रोमांचित होता है। उसके मनकी ऐसी गुणानुराग दशा होनेसे चार कार्य उसकी अन्तरात्मामें होते हैं—प्रथम उसके सातिशय पुण्यका बन्ध होता है, उदयमें आनेवाले पापके फलमें कमी होती है और पुण्यमें वृद्धि होती है, तथा नवीन पापकर्मोंका आस्रव नहीं होता। ऐसा होनेसे ही वन्दना करनेवालेके कष्टोंमें कमी होती है, सांसारिक सुखमें वृद्धि होती है, उसके मनोरथ पूर्ण होते हैं। इसे ही अज्ञानी कहते हैं कि भगवान्‌ने हमें यह दिया। किन्तु यदि वन्दना करनेवाला भावपूर्वक वन्दना नहीं करता तो उक्त चारों कार्य न होनेसे उसके मनोरथ सफल नहीं होते।

अथ स्वाधीनतेत्यस्यार्थं व्यतिरेकमुखेन समर्थयते—

नित्यं नारकवद्दीनः पराधीनस्तदेव न।
क्रमते लौकिकेऽप्यर्थे किमङ्गास्मिन्नलौकिके ॥१६॥

नित्यमित्यादि। उक्तं च—'को नरकः परवशता।' इति। क्रमते—अप्रतिहतं प्रवर्तते उत्सहते वा। लौकिके—लोकविदिते स्नानभोजनादौ।

यल्लोके—

'परार्थानुष्ठाने श्लथयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः।
परार्थश्चेत् स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥' [ ]

अङ्ग—पुनः। अस्मिन्—प्रकृते सर्वज्ञाराधने ॥१६॥

अथ चतुर्दशभिः पद्यैर्देववन्दनादिक्रियाणां प्रयोगानुपूर्वीमुपदेष्टुकामः प्रथमं तावद् व्युत्सर्गान्तिक्रमप्रकाशनाय पञ्चश्लोकीमाचष्टे—

श्रुतदृष्ट्यात्मनि स्तुत्यं पश्यन् गत्वा जिनालयम्।
कृतद्रव्यादिशुद्धिस्तं प्रविश्य निसही गिरा ॥१७॥

श्रुतदृष्ट्या—परमागमचक्षुषा। आत्मनि—विश्वरूपे स्वचिद्रूपे। स्तुत्यं—भावरूपमर्हदादि ॥१७॥

चैत्यालोकोद्यदानन्दगलद्बाष्पस्त्रिरानतः।
परीत्य दर्शनस्तोत्रं वन्दनामुद्रया पठन् ॥१८॥

तब अज्ञानी भगवान्‌को दोष देता है, अपनेको नहीं देखता। भगवान् तो वीतरागी हैं। वे न किसीको कुछ देते हैं न लेते हैं। न वे स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं और न निन्दासे नाराज। स्वामी समन्तभद्रने कहा है—'हे नाथ! आप वीतराग हैं अतः आपको अपनी पूजासे प्रयोजन नहीं है। और वीतद्वेष हैं इसलिए निन्दासे प्रयोजन नहीं है। फिर भी आपके पवित्र गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पापकी कालिमासे बचावे इसी लिए आपकी वन्दना करते हैं ॥१५॥

कृतिकर्मके प्रथम अंग स्वाधीनताका व्यतिरेक मुखसे समर्थन करते हैं—

पराधीन मनुष्य नारकीके समान सदा दीन रहता है। इसलिए वह लौकिक खान-पान आदि कार्योंको करनेमें भी बे-रोक प्रवृत्त नहीं होता, तब सर्वज्ञकी आराधना जैसे अलौकिक कार्योंकी तो बात ही क्या है? ॥१६॥

आगे ग्रन्थकार चौदह श्लोकोंके द्वारा देववन्दना आदि क्रियाओंको करनेका क्रम बतलाना चाहते हैं। अतः पहले पाँच श्लोकोंके द्वारा व्युत्सर्ग पर्यन्त क्रियाओंका क्रम बतलाते हैं—

आगमरूपी चक्षुसे अपने आत्मामें भावरूप अर्हन्त आदिका दर्शन करते हुए जिनालयको जावे। वहाँ जाकर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी शुद्धिपूर्वक निःसही शब्दका उच्चारण करते हुए प्रवेश करे। जिनबिम्बके दर्शनसे उत्पन्न हुए आनन्दसे हर्षके आँसू बहाते हुए

---

१. 'न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥'—स्वयंभू. स्तोत्र., ५७ श्लो.

कृत्वेर्यापथसंशुद्धिमालोच्यानम्रकाङ्घ्रिदोः ।
नत्वाऽऽश्रित्य गुरोः कृत्यं पर्यङ्कस्थोऽग्रमङ्गलम् ॥१९॥
उक्त्वाऽऽत्तसाम्यो विज्ञाप्य क्रियामुत्थाय विग्रहम् ।
प्रह्वीकृत्य त्रिभ्रमैकशिरोविनतिपूर्वकम् ॥२०॥

दर्शनस्तोत्रं—दर्शने भगवदवलोकनविषये दर्शनाय वा सम्यक्त्वाय दर्शनवद्वा सामान्यविषयत्वात् । स्तोत्रं—स्तवन 'दृष्टं जिनेन्द्रभवनं' इत्यादि सामान्यस्तवनजातम् ॥१८॥ ईर्यापथसंशुद्धि—ऐर्यापथिकदोषविशुद्धिम् । 'पडिक्कमामि' इत्यादिदण्डकेन कृत्वा । आलोच्य—'इच्छामि' इत्यादिदण्डकेन निन्दागर्हारूपामालोचना कृत्वा । आनम्रकाङ्घ्रिदोः—समन्तात् साधुत्वेन नमन्मस्तकपादहस्तम् क्रियाविशेषणं चैतत् । आश्रित्य गुरोः कृत्यम्—गुरोर्धर्माचार्यस्य तद्दूरे देवस्याप्यग्रे देववन्दना प्रतिक्रमणादिकं वा कृत्यमाश्रित्य 'नमोऽस्तु देववन्दना करिष्यामि' इत्यादिरूपेणाङ्गीकृत्य । अग्रमङ्गलं—मुख्यमङ्गलं जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं 'सिद्धं सम्पूर्णभव्यार्थम्' इत्यादिरूपम् ॥१९॥ आत्तसाम्यः—'खम्मामि सव्व जीवाण' इत्यादिसूत्रोच्चारणेन प्रतिपन्नसामायिक. ॥२०॥

मुक्ताशुक्त्यङ्कितकरः पठित्वा साम्यदण्डकम् ।
कृत्वावर्तत्रयशिरोनती भूयस्तनुं त्यजेत् ॥२१॥

भूयः—पुन., साम्यदण्डकपाठान्तेऽपीत्यर्थ. ॥२१॥

अथ श्लोकद्वयेन व्युत्सर्गध्यानविधिमुपदिशति—

जिनेन्द्रमुद्रया गाथां ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे ।
हृत्पङ्कजे प्रवेश्यान्तर्निरुध्य मनसाऽनिलम् ॥२२॥
पृथग् द्विद्व्येकगाथांशचिन्तान्ते रेचयेच्छनै. ।
नवकृत्वः प्रयोक्तैवं दहत्यंहः सुधीर्महत् ॥२३॥

तीन बार नमस्कार करे और तीन प्रदक्षिणा करे। फिर वन्दना मुद्रा पूर्वक जिनदर्शन सम्बन्धी कोई स्तोत्र पढ़े। फिर 'पडिक्कमामि' मैं प्रतिक्रमण करता हूँ इत्यादि दण्डकको पढ़कर ईर्यापथ शुद्धि करे अर्थात् मार्गमे चलनेसे जो जीवोंकी विराधना हुई है उसकी शुद्धि करे, फिर 'इच्छामि' इत्यादि दण्डकके द्वारा निन्दा गर्हारूप आलोचना करे। फिर मस्तक, दोनों हाथ, दोनों पैर इन पाँच अंगोंको नम्र करके गुरुको नमस्कार करके उनके आगे अपने कृत्यको स्वीकार करे कि भगवन्! मैं देववन्दना करता हूँ या प्रतिक्रमण करता हूँ। यदि गुरु दूर हों तो जिनदेवके आगे उक्त कार्य स्वीकार करना चाहिए। फिर पर्यंकासनसे बैठकर जिनेन्द्रके गुणोंका स्तवन पढ़कर 'खम्भामि सव्व जीवाणं' मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूँ इत्यादि पढ़कर साम्यभाव धारण करना चाहिए। फिर वन्दना क्रियाका ज्ञापन करके खड़े होकर शरीरको नम्र करके दोनों हाथोंकी मुक्ताशुक्ति मुद्रा बनाकर तीन आवर्त और एक नमस्कार पूर्वक सामायिक दण्डक पढ़ना चाहिए। सामायिक दण्डकके पाठ समाप्ति पर पुनः तीन आवर्त और एक नमस्कार (दोनों हाथ मुद्रापूर्वक मस्तकसे लगाकर) करना चाहिए। इसके बाद शरीरसे ममत्व त्याग रूप कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥१७-२१॥

आगे दो श्लोकोंके द्वारा कायोत्सर्गमें ध्यानकी विधि बतलाते हैं—

कायोत्सर्गमें आनन्दसे विकसनशील हृदयरूपी कमलमें मनके साथ प्राणवायुका प्रवेश कराकर और उसे वहाँ रोककर जिनमुद्राके द्वारा 'णमोअरहंताणं' इत्यादि गाथाका ध्यान करे। तथा गाथाके दो-दो और एक अंशका अलग-अलग चिन्तन करके अन्तमें

मनसा। सहार्थे करणे वा तृतीया ॥२२॥ द्वीत्यादि—गाथाया द्वावंशौ 'णमो अरहंताणं णमोसिद्धाण-मि'ति। पुनर्द्वौ 'णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं' इति। एकस्त्वंशो 'णमो लोए सव्वसाहूणं' इति। यथाह—

'शनैः शनैः मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना।
प्रविश्य हृदयाम्भोजे कर्णिकायां नियन्त्रयेत् ॥
विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते।
अन्तःस्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥' [ज्ञानार्णव २६।५०-५१]
'स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम्।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥' [ज्ञानार्णव २६।५४]
'स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुः स्थैर्यम्।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सन्देहः ॥' [ ]

अपि च—

'दोपक्खभुआ दिट्ठी अंतमुही सिवसरूव संलीणा।
मणपवणक्खविहूणा सहजावत्था स णायव्वा ॥
जत्थ गया सा दिट्ठी तत्थ मणं तत्थ संठिय पवणं।
मणवयणुभेए सुन्न तहिं च जं फुरइ तं ब्रह्म ॥ [ ] ॥२३॥

वायुको धीरे-धीरे बाहर निकाले। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि संयमी नौ बार प्राणायाम करके बड़े-से-बड़े पापको भस्म कर देता है ॥२२-२३॥

विशेषार्थ—ध्यानकी सिद्धि और चित्तकी स्थिरताके लिए प्राणायाम प्रशंसनीय है। उसके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। तालुके छिद्रसे बारह अंगुल तक श्वास द्वारा वायुको खींचकर शरीरके भीतर पूरण करनेको पूरक कहते हैं। उस पूरक पवनको नाभि-कमलमें स्थिर करके घड़ेकी तरह भरनेको कुम्भक कहते हैं। और उस रोकी हुई वायुको धीरे-धीरे बड़े यत्नसे बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। पूरा णमोकार मन्त्र एक गाथा रूप है। उसके तीन अंश करके कायोत्सर्गके समय चिन्तन करना चाहिए। 'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं' के साथ प्राणवायुको अन्दर लेजाकर उसका चिन्तन करे और चिन्तनके अन्तमें वायु धीरे-धीरे बाहर निकाले। फिर 'णमो आइरियाणं' 'णमो उवज्झायाणं' के साथ प्राणवायुको अन्दर लेजाकर हृदय कमलमें इनका चिन्तन करे और चिन्तनके अन्तमें धीरे-धीरे वायु बाहर निकाले। फिर 'णमो लोए सव्व साहूणं' के साथ प्राण वायु अन्दर ले जावे और चिन्तनके अन्तमें धीरे-धीरे बाहर निकाले। इस विधिसे २७ स्वासोच्छ्वासोंमें नौ बार नमस्कार मन्त्रका चिन्तन करनेसे पापका विध्वंस होता है। कहा भी है—'निरालसी ध्याताको धीरे-धीरे वायुके साथ मनको निरन्तर हृदय रूपी कमलकी कर्णिकामें प्रवेश कराकर रोकना चाहिए। वहाँ चित्त स्थिर होनेपर संकल्प-विकल्प उत्पन्न नहीं होते, विषयोंकी आशा दूर होती है और अन्तरंगमें ज्ञानका स्फुरण होता है। जो प्राणायाम करते हैं उनके चित्त स्थिर हो जाते हैं और समस्त जगत्‌का वृत्तान्त प्रत्यक्ष जैसा दीखता है। जो योगी वायुके संचारमें चतुर होता है अर्थात् प्राणायाममें निपुण होता है वह कामरूपी विष पर

---

१. –णलए भ. कु. च.।

अथाशक्तान् प्रत्युपांशु वाचनिकं पञ्चनमस्कारजपमनुज्ञाय तस्य मानसिकस्य च पुण्यप्रसूतावन्तरमभिधत्ते—

वाचाऽप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः ।
पुण्यं शतगुणं चैत्तः सहस्रगुणमावहेत् ॥२४॥

वाचापि—अपिशब्दोऽसक्तान् प्रत्यनुज्ञां द्योतयति । उपांशु—यथाऽन्यो न शृणोति, स्वसमक्षमेवेत्यर्थः । जप्यः—सर्वेनसामपध्वंसी पञ्चनमस्कारजप इत्यर्थः । शतगुणं—दण्डकोच्चारणादेः सकाशात् । यथाह—

'वचसा वा मनसा वा कार्यो जप्यः समाहितस्वान्तैः ।
शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्रगुणितं द्वितीये तु ॥' [सोम. उपा., ६०२ श्लो]

पुनरप्याह—

'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥' [मनुस्मृति २।८५] ॥२४॥

अथ पञ्चनमस्कारमाहात्म्यं श्रद्धानोद्दीपनार्थमनुवदति—

अपराजितमन्त्रो वै सर्वविघ्नविनाशनः ।
मङ्गलेषु च सर्वेषु प्रथमं मङ्गलं मतः ॥२५॥

स्पष्टम् ॥२५॥

मनके द्वारा विजय प्राप्त करता है, उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं, और शरीर स्थिर हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥२२-२३॥

जो उक्त प्रकारसे पंचनमस्कारमन्त्रका ध्यान करनेमें असमर्थ हैं उन्हें वाचनिक जप करनेकी अनुज्ञा देते हुए दोनोंसे होने वाले पुण्यबन्धमें अन्तर बताते हैं—

जो साधु उक्त प्राणायाम करनेमें असमर्थ हैं उन्हें कायोत्सर्गमें दूसरा न सुन सके इस प्रकार वचनके द्वारा भी पंच नमस्कारमन्त्रका जप करना चाहिए । किन्तु दण्डक आदिके पाठसे जितने पुण्यका संचय होता है उसकी अपेक्षा यद्यपि वाचिक जापसे सौगुणा पुण्य होता है तथापि मानसिक जप करनेसे हजार गुणा पुण्य होता है ॥२४॥

विशेषार्थ—आचार्य सोमदेवने भी वाचनिक जपसे मानसिक जपका कई गुणा अधिक फल कहा है । यथा—'स्थिरचित्तवालोंको वचनसे या मनसे जप करना चाहिए । किन्तु पहलेमें सौगुणा पुण्य होता है तो दूसरेमें हजार गुणा पुण्य होता है ।'

मनुमहाराजका भी यही मत है । यथा—'विधियज्ञसे जपयज्ञ दसगुना विशिष्ट होता है । किन्तु जपयज्ञ भी यदि वचनसे किया जाये तो सौगुना और मनसे किया जाये तो हजार गुना विशिष्ट माना गया है ॥२४॥

आगे मुमुक्षुजनोंके श्रद्धानको बढ़ानेके लिए पंचनमस्कार मन्त्रका माहात्म्य बतलाते हैं—

यह पंचनमस्कार मन्त्र स्पष्ट ही सब विघ्नोंको नष्ट करनेवाला है और सब मंगलोंमें मुख्य मंगल माना है ॥२५॥

विशेषार्थ—मंगल शब्दके दो अर्थ होते हैं—'म' मलको जो गालन करता है—दूर करता है उसे मंगल कहते हैं । और मंग अर्थात् सुख और उसके कारण पुण्यको जो लाता है उसे मंगल कहते हैं । ये दोनों अर्थ पंचनमस्कार मन्त्रमें घटित होते हैं । उससे पापका

अथैकैकस्यापि परमेष्ठिनो विनयकर्मणि लोकोत्तरं महिमानमावेदयति—

नेष्टं विहन्तुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः ।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदर्हदादेः ॥२६॥ ३

रसविपाकः ॥२६॥

विनाश भी होता है और पुण्यका संचय भी होता है। कहा है—यह पंचनमस्कार सब पापोंको नाश करनेवाला है और सब मंगलोंमें मुख्य मंगल है।

श्वेताम्बरीय लघु नवकार फलमें इसे जैन शासनका सार और चौदह पूर्वोंका उद्धार कहा है—जो जिनशासनका सार है और चौदह पूर्वोका उद्धार रूप है ऐसा नवकार मन्त्र जिसके मनमें है संसार उसका क्या कर सकता है? और भी उसीमें कहा है—यह काल अनादि है, जीव अनादि है, जिनधर्म अनादि है। तभीसे वे सब इस नमस्कार मन्त्रको पढ़ते हैं। जो कोई भी कर्म फलसे मुक्त होकर मोक्षको गये, जाते हैं और जायेंगे, वे सब नमस्कार मन्त्रके प्रभावसे ही जानने चाहिए ॥२५॥

आगे एक-एक परमेष्ठीकी भी विनय करनेका अलौकिक माहात्म्य बतलाते हैं—

अन्तराय कर्मकी इष्टको घातनेकी शक्ति जब शुभ परिणामोंके द्वारा नष्ट कर दी जाती है तो वह वांछित वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न डालनेमें असमर्थ हो जाता है। इसलिए गुणोंमें अनुरागवश कर्ता अपनी इच्छानुसार अर्हन्त, सिद्ध आदिका जो स्तवन, नमस्कार आदि करता है उससे इच्छित प्रयोजनकी सिद्धि होती है ॥२६॥

विशेषार्थ—जब अर्हन्त आदि स्तुतिसे प्रसन्न नहीं होते और निन्दासे नाराज नहीं होते तब उनके स्तवन आदि करनेसे मनुष्योंके इच्छित कार्य कैसे पूरे हो जाते हैं यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। उसीके समाधानके लिए कहते हैं कि मनुष्यके प्रयत्न करनेपर भी जो उसके मनोवांछित कार्य पूर्ण नहीं होते इसमें उस मनुष्यके द्वारा पूर्वमें बाँधे गये अन्तराय कर्मका तीव्र अनुभागबन्ध रुकावट डालता है। पंचपरमेष्ठीमें-से किसीके भी गुणोंमें श्रद्धा करके जो कर्ता स्तवनादि करता है उससे होनेवाले शुभ परिणामोंसे पूर्वबद्ध अन्तराय कर्मके तीव्र अनुभागमें मन्दता आती है। उसके कारण अन्तराय कर्मकी शक्ति क्षीण होनेसे कर्ताका मनोरथ पूर्ण हो जाता है। नासमझ समझ लेते हैं कि भगवान्ने हमारा मनोरथ पूर्ण किया। यदि कर्ताका अन्तराय कर्म तीव्र हो और कर्ता विशुद्ध भावोंसे आराधना न करे तो कार्यमें सफलता नहीं मिलती। नासमझ इसका दोष भगवान्को देते हैं और अपने परिणामोंको नहीं देखते। ग्रन्थकार कहते हैं कि अर्हन्त आदिका स्तवन, पूजन आदि उनके गुणोंमें अनुरागवश ही किया जाना चाहिए। तभी कार्यमें सफलता मिलती है। केवल अपने मतलबसे स्तवन आदि करनेसे सच्चा लाभ नहीं होता ॥२६॥

१. 'जिणसासणस्स सारो चउदस पुव्वाण जो समुद्धारो ।
जस्स मणे नवकारो संसारो तस्स किं कुणइ ? ॥'

२. 'एसो अणाइ कालो अणाइ जीवो अणाइ जिणधम्मो ।
तइया वि ते पढंता एसुच्चिय जिणणमुक्कारं ॥
जे केई गया मोक्खं गच्छंति य के वि कम्मफलमुक्का ।
ते सव्वे वि य जाणसु जिणणवकारप्पभावेण ॥'—लघुनवकारफल १६-१७ गा. ।

अथ कायोत्सर्गानन्तरं कृत्यं श्लोकद्वयेनाह—

प्रोच्य प्राग्वत्ततः साम्यस्वामिनां स्तोत्रदण्डकम् ।
वन्दनामुद्रया स्तुत्वा चैत्यानि त्रिप्रदक्षिणम् ॥२७॥
आलोच्य पूर्ववत्पञ्चगुरून् नुत्वा स्थितस्तथा ।
समाधिभक्त्याऽस्तमलः स्वस्य ध्यायेद् यथाबलम् ॥२८॥

प्राग्वत्—विग्रहमित्याद्युक्तविधिना । साम्यस्वामिनां—सामायिकप्रयोक्तॄणां चतुर्विंशतितीर्थकराणाम् ॥२७॥

आलोच्य—'इच्छामि भंते चेइयभत्तिकाउसग्गो कओ' इत्यादिना पूर्ववत् । आनम्रकाङ्घ्रिदोरित्यर्थः । उद्धः चैत्यभक्तिवदत्र प्रदक्षिणानभ्युपगमात् । तथा—तेन विज्ञाप्यक्रियामित्यादि प्रबन्धोक्तेन प्रकारेण । स्वस्य ध्यायेत्—आत्मध्यानं विदध्यादित्यर्थ ॥२८॥

अथात्मध्यानमन्तरेण केनचिन्मोक्षो न स्यादित्युपदिशति—

नात्मध्यानाद्विना किंचित्मुमुक्षोः कर्महीष्टकृत् ।
किंत्वस्त्रपरिकर्मेव स्यात् कुण्ठस्याततायिनी ॥२९॥

इष्टकृत्—मोक्षसाधकम् । आततायिनि—हन्तुमुद्यते शत्रौ ।

इस प्रकार कायोत्सर्ग तककी क्रियाओंको बताकर उसके पश्चात्के कार्यको दो श्लोकोंसे कहते हैं—

चैत्यभक्ति और कायोत्सर्ग करनेपर पहले शरीरको नम्र करके आदि जो विधि कही है उसीके अनुसार सामायिकके प्रयोक्ता चौबीस तीर्थंकरोंकी भक्तिमें तन्मय होकर 'थोस्सामि' इत्यादि स्तोत्रदण्डकको पढ़कर तीन प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना-मुद्रासे जिनप्रतिमाका स्तवन करे। फिर पहलेकी तरह पंचांग नमस्कार करके खड़े होकर 'इच्छामि भंते पचगुरुभत्तिकाओसग्गो कओ तस्स आलोचेउं' हे भगवन्, मैंने पंचगुरुभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग किया, मैं उसकी आलोचना करना चाहता हूँ, इत्यादि बोलकर आलोचना करे। फिर क्रियाकी विज्ञापना आदि करके वन्दनामुद्रापूर्वक पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करके समाधि भक्तिके द्वारा वन्दना सम्बन्धी अतीचारोंको दूर करे। फिर यथाशक्ति आत्मध्यान करे ॥२७-२८॥

आगे कहते हैं कि आत्मध्यानके बिना किसीको भी मोक्ष नहीं होता—

आत्मध्यानके बिना मोक्षके इच्छुक साधुकी कोई भी क्रिया मोक्षकी साधक नहीं हो सकती। फिर भी मुमुक्षु जो आत्मध्यानको छोड़कर अन्य क्रियाएँ करता है वह उसी तरह है जैसे मारनेके लिए तत्पर शत्रुके विषयमें आलसी मनुष्य शास्त्राभ्यास करता है ॥२९॥

विशेषार्थ—मोक्षका साधक तो आत्मध्यान ही है। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब आत्मध्यान ही मोक्षका साधक है तो मुमुक्षुको आत्मध्यान ही करना चाहिए वन्दना भक्ति आदि क्रियाओंकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मध्यानसे पहले मुमुक्षुको उसके अभ्यासके लिए चित्तको एकाग्र करनेके लिए बाह्य क्रियाएँ करनी होती हैं। साधु और गृहस्थके लिए षट् कर्म आवश्यक बतलाये हैं वह इसी दृष्टिसे आवश्यक बतलाये है। वे साधुको निरुद्यमी या आलसी नहीं होने देते। आज ऐसे भी मुमुक्षु हैं जो क्रियाकाण्ड व्यर्थ समझकर न तो आत्मसाधना ही करते हैं न क्रियाकर्म ही करते हैं। और ऐसे भी मुमुक्षु साधु हैं जो आत्माकी बात भी नहीं करते और श्रावकोचित क्रियाकाण्डमें ही फँसे रहते हैं। ये दोनों ही प्रकारके मुमुक्षु परमार्थसे मुमुक्षु नहीं हैं। अमृत

उक्तं च—

'मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यत्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्त. स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥'

—[समय. कलश १११, श्लो.] ॥२९॥

अथ समाधिमहिम्नोऽशक्यस्तवनत्वमभिधत्ते—

यः सूते परमानन्दं भूर्भुवः स्वर्भुजामपि ।
काम्यं समाधिः कस्तस्य क्षमो माहात्म्यवर्णने ॥३०॥

भूर्भुवः स्वर्भुजां—अधोमध्योर्ध्वलोकपतीनाम् ॥३०॥

अथ प्राभातिकदेववन्दनानन्तरकरणीयामाचार्यादिवन्दनामुपदिशति—

लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वन्द्यो गवासनात् ।
सैद्धान्तोऽन्तःश्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं विना ॥३१॥

गवासनात्—गवासने उपविश्य । सैद्धान्तः—सिद्धान्तविद् गणी । अन्तःश्रुतस्तुत्या—अन्तर्मध्ये कृता श्रुतस्तुतिर्यस्या' सिद्धगणिस्तुते. लघ्वीभिः सिद्धश्रुताचार्यभक्तिभिस्तिसृभिरित्यर्थ. । तथेत्यादिआचार्या-

---

चन्द्राचार्यने कहा है—जो कर्मनयके अवलम्बनमें तत्पर हैं, उसके पक्षपाती हैं वे भी डूबते हैं। जो ज्ञानको तो जानते नहीं और ज्ञानके पक्षपाती हैं, क्रियाकाण्डको छोड़ स्वच्छन्द हो स्वरूपके विषयमें आलसी हैं वे भी डूबते हैं। किन्तु जो स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप हुए कर्मको तो नहीं करते और प्रमादके भी वश नहीं होते, वे सब लोकके ऊपर तैरते हैं।

जो ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानते भी नहीं और व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप क्रियाकाण्डके आडम्बरको ही मोक्षका कारण जान उसीमें लगे रहते हैं उन्हें कर्मनयावलम्बी कहते हैं वे संसार-समुद्रमें डूबते हैं। तथा जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको तो जानते नहीं और उसके पक्षपातवश व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्रको निरर्थक जानकर छोड़ बैठते हैं ऐसे ज्ञाननयके पक्षपाती भी डूबते हैं; क्योंकि वे बाह्य क्रियाको छोड़कर स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और स्वरूपके विषयमें आलसी रहते हैं। किन्तु जो पक्षपातका अभिप्राय छोड़कर निरन्तर ज्ञानरूपमें प्रवृत्ति करते हैं, कर्मकाण्ड नहीं करते, किन्तु जबतक ज्ञानरूप आत्मामें रमना शक्य नहीं होता तबतक अशुभ कर्मको छोड़ स्वरूपके साधनरूप शुभ क्रियामें प्रवृत्ति करते हैं, वे कर्मोंका नाश करके संसारसे मुक्त हो लोकके शिखरपर विराजमान होते हैं ॥२९॥

आगे कहते हैं कि समाधिकी महिमा कहना अशक्य है—

जो समाधि अधोलोक, मध्यलोक और स्वर्गलोकके स्वामियोंके लिए भी चाहने योग्य परम आनन्दको देती है, उस समाधिका माहात्म्य वर्णन करनेमें कौन समर्थ है? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है ॥३०॥

आगे प्रातःकालीन देववन्दनाके पश्चात् आचार्य आदिकी वन्दना करनेका उपदेश देते हैं—

साधुको गवासनसे बैठकर लघुसिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्तिसे आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। यदि आचार्य सिद्धान्तके ज्ञाता हों तो लघुसिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति

वन्द्यो यतिराचार्यभक्ति विना लघुसिद्धभक्त्या वन्द्यः । स एव च सैद्धान्तो लघुसिद्धश्रुतभक्तिभ्यां वन्द्य इत्यर्थः । उक्तं च—

'सिद्धभक्त्या बृहत्साधुर्वन्द्यते लघुसाधुना ।
लघ्व्या सिद्धश्रुतस्तुत्या सैद्धान्तः प्रप्रणम्यते ॥
सिद्धाचार्यलघुस्तुत्या वन्द्यते साधुभिर्गणी ।
सिद्धश्रुतगणिस्तुत्या लघ्व्या सिद्धान्तविद्गणी ॥' [　　　] ॥३१॥

अथ धर्माचार्यपर्युपास्ति माहात्म्यं स्तुवन्नाह—

यत्पादच्छायमुच्छिद्य सद्यो जन्मपथक्लमम् ।
वर्वर्ष्टि निर्वृतिसुधां सूरिः सेव्यो न केन सः ॥३२॥

वर्वर्ष्टि—भृशं पुनःपुनर्वा वर्षति । निर्वृतिः—कृतकृत्यतासन्तोषः ॥३२॥

अथ ज्येष्ठयतिवन्दनानुभावं भावयति—

येऽनन्यसामान्यगुणाः प्रीणन्ति जगदञ्जसा ।
तान्महन्महतः साधूनिहामुत्र महीयते ॥३३॥

महन्—पूजयन् । महतः—दीक्षाज्येष्ठानिन्द्रादिपूज्यान्वा । महीयते—पूज्यो भवति ॥३३॥

अथ प्राभातिककृत्योत्तरकरणीयमाह—

प्रवृत्त्यैवं दिनादौ द्वे नाड्यौ यावद्यथाबलम् ।
नाडीद्वयोनमध्याह्नं यावत् स्वाध्यायमावहेत् ॥३४॥

स्पष्टम् ॥३४॥

अथ निष्ठापितस्वाध्यायस्य मुनेः प्रतिपन्नोपवासस्यास्वाध्यायकाले करणीयमुपदिशति—

और आचार्यभक्तिसे उनकी वन्दना करनी चाहिए। तथा आचार्यसे अन्य साधुओंकी वन्दना आचार्य भक्तिके बिना सिद्ध भक्तिसे करनी चाहिए। किन्तु यदि साधु सिद्धान्तके वेत्ता हों तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक उनकी वन्दना करनी चाहिए ॥३१॥

आगे धर्माचार्यकी उपासनाके माहात्म्यकी प्रशंसा करते हैं—

जिनके चरणोंका आश्रय तत्काल ही संसारमार्गकी थकानको दूर करके निर्वृतिरूपी अमृतकी बारम्बार वर्षा करता है, उन आचार्यकी सेवा कौन नहीं करेगा अर्थात् सभी मुमुक्षुओंके द्वारा वे सेवनीय हैं ॥३२॥

अपनेसे ज्येष्ठ साधुओंकी वन्दनाके माहात्म्यको बताते हैं—

दूसरोंसे असाधारण गुणोंसे युक्त जो साधु परमार्थसे जगत्को सन्तृप्त करते हैं उन दीक्षामें ज्येष्ठ अथवा इन्द्रादिके द्वारा पूज्य साधुओंकी पूजा करनेवाला इस लोक और परलोकमें पूज्य होता है ॥३३॥

आगे प्रातःकालीन कृत्यके बादकी क्रिया बताते हैं—

उक्त प्रकारसे प्रभातसे दो घड़ी पर्यन्त देववन्दना आदि करके, दो घड़ी कम मध्याह्नकाल तक यथाशक्ति स्वाध्याय करना चाहिए ॥३४॥

स्वाध्याय कर चुकनेपर यदि मुनिका उपवास हो तो उस अस्वाध्यायकालमें मुनिको क्या करना चाहिए, यह बताते हैं—

ततो देवगुरू स्तुत्वा ध्यानं वाराधनादि वा ।
शास्त्रं जपं वाऽस्वाध्यायकालेऽभ्यसेदुपोषितः ॥३५॥

स्पष्टम् ॥३५॥

अथाप्रतिपन्नोपवासस्य भिक्षोर्मध्याह्नकृत्यमाह—

प्राणयात्राचिकीर्षायां प्रत्याख्यानमुपोषितम् ।
न वा निष्ठाप्य विधिवद् भुक्त्वा भूयः प्रतिष्ठयेत् ॥३६॥

प्राणयात्राचिकीर्षाया—भोजनकरणेच्छाया जातायाम् । निष्ठाप्य—पूर्वदिने प्रतिपन्नं क्षमयित्वा । प्रतिष्ठयेत्—प्रत्याख्यानमुपोषितं वा यथासामर्थ्यमात्मनि स्थापयेत् ॥३६॥

अथ प्रत्याख्यानादिनिष्ठापनप्रतिष्ठापयोस्तत्प्रतिष्ठापनानन्तरमाचार्यवन्दनायाश्च प्रयोगविधिमाह—

हेयं लघ्व्या सिद्धभक्त्याशनादौ
प्रत्याख्यानाद्याशु चादेयमन्ते ।
सूरौ तादृग् योगिभक्त्यग्रया तद्
ग्राह्यं वन्द्यः सूरिभक्त्या स लघ्व्या ॥३७॥

आदेयं—लघ्व्या सिद्धभक्त्या प्रतिष्ठाप्यम् । आचार्या सन्निधाविदम् । अन्ते—प्रक्रमाद् भोजनस्यैव । सूरौ—आचार्यसमीपे । तादृग्योगिभक्त्यग्रया—लघुयोगिभक्त्यधिकया लघ्व्या सिद्धभक्त्या । उक्तं च—

'सिद्धभक्त्योपवासश्च प्रत्याख्यानं च मुच्यते ।
लघ्व्यैव भोजनस्यादौ भोजनान्ते च गृह्यते ॥
सिद्धयोगिलघुभक्त्या प्रत्याख्यानादि गृह्यते ।
लघ्व्या तु सूरिभक्त्यैव सूरिर्वन्द्योऽथ साधुना ॥' [ ] ॥३७॥

उपवास करनेवाले साधुको पूर्वाह्नकालकी स्वाध्याय समाप्त होनेपर अस्वाध्यायके समयमें देव और गुरुकी वन्दना करके या तो ध्यान करना चाहिए, या चार आराधनाओंका अथवा अन्य किसी शास्त्रका अभ्यास करना चाहिए, या पंचनमस्कार मन्त्रका जप करना चाहिए ॥३५॥

उपवास न करनेवाले साधुको मध्याह्नकालमें क्या करना चाहिए, यह बताते हैं—

यदि भोजन करनेकी इच्छा हो तो पहले दिन जो प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण किया था उसकी विधिपूर्वक क्षमापणा करके शास्त्रोक्त विधानके अनुसार भोजन करे। और भोजन करनेके पश्चात् पुनः अपनी शक्तिके अनुसार प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण करे ॥३६॥

आगे प्रत्याख्यान आदिकी समाप्ति और पुनः प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करनेकी तथा प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करनेके अनन्तर आचार्यवन्दना करनेकी विधि कहते हैं—

पहले दिन जो प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण किया था, भोजनके प्रारम्भमें लघु सिद्ध-भक्तिपूर्वक उसकी निष्ठापना या समाप्ति करके ही साधुको भोजन करना चाहिए और भोजनके समाप्त होते ही लघु सिद्धभक्तिपूर्वक पुनः प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण करना चाहिए। किन्तु यदि आचार्य पासमें न हों तभी साधुको स्वयं प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करना चाहिए। आचार्यके होनेपर उनके सम्मुख लघु आचार्य भक्तिके द्वारा वन्दना करके फिर लघु सिद्ध भक्ति और लघु योगि भक्ति बोलकर प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करना चाहिए ॥३७॥

अथ सद्यः प्रत्याख्यानाग्रहणे दोषमल्पकालमपि तद्ग्रहणे च गुणं दर्शयति—

प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायुः स्याद् विराधकः ।
तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थपृथु चण्डवत् ॥३८॥

अर्थपृथु—फलेन बहु भवति । चण्डवत्—चण्डनाम्नो मातङ्गस्य । चर्मवरत्रानिर्मातुः क्षणं मांसमात्र-निवृत्तस्य यथा । उक्तं च—

'चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः किल मांसनिवृत्तितः ।
अप्यल्पकालभाविन्याः प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥' [सोम. उपा., ३१३ श्लो] ॥३८॥

अथ प्रत्याख्यानादिग्रहणानन्तरकरणीयं दैवसिकप्रतिक्रमणादिविधिमाह—

प्रतिक्रम्याथ गोचारदोषं नाडीद्वयाधिके ।
मध्याह्ने प्राह्णवद्वृत्ते स्वाध्यायं विधिवद् भजेत् ॥३९॥

भोजनके अनन्तर तत्काल ही प्रत्याख्यान ग्रहण न करनेपर दोष और थोड़ी देरके लिए भी उसके ग्रहण करनेमें लाभ बतलाते हैं—

प्रत्याख्यानके बिना पूर्वमें बद्ध आयुकर्मके वश यदि आयु क्षीण हो जाये अर्थात् मरण हो जाये तो वह साधु रत्नत्रयका आराधक नहीं रहता। तथा थोड़े भी समयके लिए थोड़ा भी प्रत्याख्यान चण्ड नामक चाण्डालकी तरह बहुत फलदायक होता है ॥३८॥

विशेषार्थ—बिना त्यागके सेवन न करनेमें और त्यागपूर्वक सेवन न करनेमें आकाश-पातालका अन्तर है। यद्यपि साधुके मूलगुणोंमें ही एक बार भोजन निर्धारित है। फिर भी साधु प्रतिदिन भोजन करनेके अनन्तर तत्काल दूसरे दिन तकके लिए चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देते हैं। इससे दो लाभ हैं—एक तो त्याग कर देनेसे मन भोजनकी ओर नहीं जाता, वह बँध जाता है। दूसरे यदि कदाचित् साधुका मरण हो जाये तो सद्गति होती है अन्यथा साधु रत्नत्रयका आराधक नहीं माना जाता। अतः थोड़ी देरके लिए थोड़ा-सा भी त्याग फलदायक होता है। जैसे उज्जैनीमें चण्ड नामक चाण्डाल था। वह चमड़ेकी रस्सी बाटता था और एक ओर शराब रख लेता था दूसरी ओर मांस। जब रस्सी बाटते हुए शराबके पास आता तो शराब पीता और मांसके पास पहुँचता तो मांस खाता। एक दिन आकाशमार्गसे मुनि पधारे। उस दिन उसकी शराबमें आकाशसे विषैले जन्तुके गिरनेसे शराब जहरीली हो गयी थी। चण्डने मुनिराजसे व्रत ग्रहण करना चाहा तो महाराजने उससे कहा कि जितनी देर तुम मांससे शराबके पास और शराबसे मांसके पास जाते हो उतनी देरके लिए शराब और मांसका त्याग कर दो। उसने ऐसा ही किया और रस्सी बटते हुए जब वह मांसके पास पहुँचा तो उसने मांस खाया और जबतक पुनः लौटकर मांसके पास न आवे तबतकके लिए मांसका त्याग कर दिया। जैसे ही वह शराबके पास पहुँचा और उसने जहरीली शराब पी उसका मरण हो गया और वह मरकर यक्षोंका मुखिया हुआ। कहा है—'अवन्ति देशमें चण्ड नामक चाण्डाल बहुत थोड़ी देरके लिए मांसका त्याग करनेसे मरकर यक्षोंका प्रधान हुआ' ॥३८॥

प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करनेके पश्चात् करने योग्य भोजन सम्बन्धी प्रतिक्रमण आदिकी विधि कहते हैं—

प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करनेके अनन्तर भोजनमें लगे दोषोंका प्रतिक्रमण करना

प्राह्णवत्—पूर्वाह्णे यथा ॥३९॥

अथ स्वाध्यायनिष्ठापनानन्तरकरणीयं दैवसिकप्रतिक्रमणादिविधिमाह—

नाडीद्वयावशेषेऽह्नि तं निष्ठाप्य प्रतिक्रमम् ।
कृत्वाह्निकं गृहीत्वा च योगं वन्द्यो यतैर्गणी ॥४०॥

स्पष्टम् ॥४०॥

अथाचार्यवन्दनानन्तरविधेयं देववन्दनादिविधिमाह—

स्तुत्वा देवमथारम्य प्रदोषे सद्विनाडिके ।
मुञ्चेन्निशीथे स्वाध्यायं प्रागेव घटिकाद्वयात् ॥४१॥

स्पष्टम् ॥४१॥

अथ रात्रौ निष्ठापितस्वाध्यायस्य निद्राजयोपायमाह—

ज्ञानाद्याराधनानन्दसान्द्रः संसारभीरुकः ।
शोचमानोऽर्जितं चैनो जयेन्निद्रां जिताशनः ॥४२॥

शोचमानः—ताच्छील्येन शोचन् । जिताशनः—आहारेणाग्लपितः । दन्त्यसकारको वा पाठः । तत्र पर्यङ्काद्यासनेनासंजातखेद इत्यर्थः ।

उक्तं च—

'ज्ञानाद्याराधने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः ।
पापे पूर्वार्जिते शोकं निद्रां जेतुं सदा कुरु ॥' [ ] ॥४२॥

चाहिए। उसके बाद दो घड़ी मध्याह्न बीतनेपर पूर्वाह्णकी तरह विधिपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए ॥३९॥

मध्याह्नकालकी स्वध्यायके अनन्तर दिन सम्बन्धी प्रतिक्रमण आदिकी विधि बताते हैं—

संयमियोंको जब दिनमें दो घड़ी काल बाकी रहे तब स्वाध्यायको समाप्त करके दिन सम्बन्धी दोषोंकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण करना चाहिए। उसके बाद रात्रियोग ग्रहण करके आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए ॥४०॥

आगे आचार्यवन्दनाके अनन्तर करने योग्य देववन्दना आदिकी विधि बताते हैं—

आचार्यवन्दनाके अनन्तर देववन्दना करके रात्रिका प्रारभ हुए दो घड़ी बीतनेपर स्वाध्यायका आरम्भ करे और आधी रातमें दो घड़ी शेष रहनेके पूर्व ही स्वाध्यायको समाप्त कर दे ॥४१॥

रात्रिमें स्वाध्याय समाप्त करके निद्राको जीतनेके उपाय बताते हैं—

ज्ञान आदिकी आराधनासे उत्पन्न हुए आनन्द रससे परिपूर्ण, संसारसे भीरु, पूर्व संचित पापका शोक करनेवाला और अशन अर्थात् भोजनको जीतनेवाला या आसनको जीतनेवाला ही निद्राको जीत सकता है ॥४२॥

विशेषार्थ—निद्राको जीतनेके चार उपाय हैं—ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्राराधना और तप आराधनाके करनेसे जो प्रगाढ़ आनन्द होता है उस आनन्दमें निमग्न साधु निद्राको जीत सकता है। संसारसे भय भी निद्राको जीतनेमें सहायक होता है। पूर्वसंचित पापकर्मका शोक करनेसे भी निद्राको भगाया जा सकता है। चौथा कारण है

अथ स्वाध्यायकरणेऽशक्तस्य च देववन्दनाकरणे वि

सप्रतिलेखनमुकुलितवत्सोत्सङ्गितकरः सपर्यङ्कः ।
कुर्यादेकाग्रमनाः स्वाध्यायं वन्दनां पुनरशक्त्या ॥४३॥

वत्सोत्सङ्गितौ—वक्षोमध्यस्थापितौ । सपर्यङ्कः उपलक्षणाद् वीरासनादियुक्तोऽपि । उक्तं च—

'पलियंकणिसेज्जगदो पडिलेहिय अंजलीकदपणामो ।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥' [मूलाचार गा. २८१]

अशक्त्या—उद्भो यदि वन्दितुं न शक्नुयादित्यर्थ. ॥४३॥

अथ प्रतिक्रमणे योगग्रहणे तन्मोक्षणे च कालविशेषो व्यवहारादेव पूर्वोक्त. प्रतिपत्तव्य. । धर्मकार्या-दिव्यासङ्गेन ततोऽन्यदापि तद्विधाने दोषाभावादित्युपदेशार्थमाह—

अल्प और सात्त्विक भोजन, क्योंकि भरपेट पौष्टिक भोजन करनेसे नींद अधिक सताती है। श्लोकमें 'जिताशन' पाठ है तालव्य 'श' के स्थानमें दन्ती स करनेसे अर्थ होता है पर्यंक आदि आसनसे बैठनेसे खेद न होना। अर्थात् रात्रिमें आसन लगाकर बैठनेसे निद्राको जीता जा सकता है। थककर लेटने पर तो निद्रा आये बिना नहीं रह सकती। कहा भी है—'हे मुनि! तू निद्राको जीतनेके लिए ज्ञानादिकी आराधनामें प्रीति, संसारके दुःखसे भय और पूर्व संचित पापकर्मोंका शोक सदा किया कर ॥४२॥

जो स्वाध्याय करनेमें असमर्थ हैं उनके लिए देववन्दनाका विधान करते हैं—

पीछी सहित दोनों हाथोंको अंजली बद्ध करके और छातीके मध्यमें स्थापित करके पर्यंकासन या वीरासन आदिसे एकाग्रमन होकर स्वाध्याय करना चाहिए। यदि स्वाध्याय करनेमें असमर्थ हो तो उसी प्रकारसे वन्दना करनी चाहिए ॥४३॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें स्वाध्यायकी विधि इस प्रकार कही है—'पर्यंक या वीर आसनसे बैठकर चक्षुसे पुस्तकका, पीछीसे भूमिका और शुद्ध जलसे हाथ-पैरका सम्मार्जन करके दोनों हाथोंको मुकुलित करके प्रणाम करे। और सूत्र तथा अर्थके योगसे युक्त अपनी शक्तिसे स्वाध्याय करे। इस प्रकार साधुको स्वाध्याय करना आवश्यक है, क्योंकि स्वाध्याय भी दूसरी समाधि है। कहा है—मनको ज्ञानके अधीन, अपने शरीरको विनयसे युक्त, वचनको पाठके अधीन और इन्द्रियोंको नियन्त्रित करके, जिन वचनोंमें उपयोग लगाकर स्वाध्याय करनेवाला आत्मा कर्मोंका क्षय करता है, इस प्रकार यह स्वाध्याय दूसरी समाधि है। किन्तु जो मुनि स्वाध्याय करनेमें असमर्थ होता है वह उसी विधिसे देववन्दना करता है। यद्यपि देववन्दना खड़े होकर की जाती है किन्तु अशक्त होनेसे बैठकर कर सकता है ॥४३॥

प्रतिक्रमणके द्वारा योगके ग्रहण और त्यागमें पहले कहा हुआ काल विशेष व्यवहारके अनुसार ही जानना। किन्तु धर्मकथा आदिमें लग जानेसे यदि उस कालमें योगधारण और प्रतिक्रमण न करके अन्यकालमें करता है तो उसमें कोई दोष नहीं है, यह कहते हैं—

---

१. 'मनो बोधाधीनं विनयविनियुक्तं निजवपु-
र्वच. पाठायत्तं करणगणमाधाय नियतम् ।
दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने,
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम्' ॥ [ ]

योगप्रतिक्रमविधिः प्रागुक्तो व्यावहारिकः ।
कालक्रमनियामोऽत्र न स्वाध्यायादिवद्यतः ॥४४॥

स्वाध्यायादिवत्—स्वाध्याये देववन्दनायां भक्तप्रत्याख्याने च ॥४४॥

अथोत्तरप्रबन्धेन नैमित्तिकक्रियां व्याकर्तुकामः प्रथमं तावच्चतुर्दशीक्रियाप्रयोगविधिं मतद्वयेनाह—

त्रिसमयवन्दने भक्तिद्वयमध्ये श्रुतनुतिं चतुर्दश्याम् ।
प्राहुस्तद्भक्तित्रयमुखान्तयोः केऽपि सिद्धशान्तिनुती ॥४५॥

त्रिसमयेत्यादि—एतेन नित्यत्रिकालदेववन्दनायुक्तैव चतुर्दशी क्रिया कर्तव्येति लक्षयति । प्राहुः—प्राकृतक्रियाकाण्डचारित्रमतानुसारिणः सूरयः प्रणिगदन्ति । यथाह क्रियाकाण्डे—

'जिनदेववन्दणाए चेदियभत्ती य पंचगुरुभत्ती ।
चउदसियं तं मज्झे सुदभत्ती होइ कायव्वा ॥' [ ]

चारित्रसारेऽप्याह—'देवतास्तवनक्रियायां चैत्यभक्तिं पञ्चगुरुभक्तिं च कुर्यात् । चतुर्दशीदिने तयोर्मध्ये श्रुतभक्तिर्भवति ।' इति ।

केऽपि—संस्कृतक्रियाकाण्डमतानुसारिणः । तत्पाठो यथा—

'सिद्धे चैत्ये श्रुते भक्तिस्तथा पञ्चगुरुश्रुतिः ।
शान्तिभक्तिस्तथा कार्या चतुर्दश्यामिति क्रिया ॥' [ ] ॥४५॥

पहले जो रात्रियोग और प्रतिक्रमणकी विधि कही है वह व्यवहार रूप है । क्योंकि स्वाध्याय आदिकी तरह योग और प्रतिक्रमण विधिमें कालक्रमका नियम नहीं है । अर्थात् जैसे स्वाध्याय, देववन्दना और भक्त प्रत्याख्यानमें कालक्रमका नियम है कि अमुक समयमें ही होना चाहिए वैसा नियम रात्रियोग और प्रतिक्रमणमें नहीं है । समय टालकर भी किये जा सकते हैं ॥४४॥

इस प्रकार नित्य क्रियाके प्रयोगका विधान जानना ।

आगे नैमित्तिक क्रियाका वर्णन करते हुए प्रथम ही चतुर्दशीके दिन करने योग्य क्रिया की विधि कहते हैं—

प्राकृत कियाकाण्ड और चारित्रसार नामक ग्रन्थोंके मतानुसार प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकालके समय देववन्दनाके अवसरपर जो नित्य चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति की जाती है, चतुर्दशीके दिन उन दोनों भक्तियोंके मध्यमें श्रुतभक्ति भी करनी चाहिए । किन्तु संस्कृत क्रियाकाण्डके मतानुसार चतुर्दशीके दिन उन तीनों भक्तियोंके आदि और अन्तमें क्रमसे सिद्धभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥४५॥

विशेषार्थ—चतुर्दशीके दिन किये जानेवाले नैमित्तिक अनुष्ठानमें मतभेद है । प्राकृत क्रियाकाण्डमें कहा है—'जिनदेवकी वन्दनामें प्रतिदिन चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति की जाती है । किन्तु चतुर्दशीके दिन इन दोनों भक्तियोंके मध्यमें श्रुतभक्ति करनी चाहिए ।'

इसी तरह चारित्रसारमें कहा है—'देववन्दनामें चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिए किन्तु चतुर्दशीके दिन उन दोनों भक्तियोंके मध्यमें श्रुतभक्ति भी करनी चाहिए ।'

इस तरह प्राकृत क्रियाकाण्ड और चारित्रसारका मत एक है ।

किन्तु संस्कृत क्रियाकाण्डमें कहा है—'चतुर्दशीमें क्रमसे सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए' ॥४५॥

अथ कार्यवशाच्चतुर्दशीक्रियाव्यतिक्रमे प्रतिविधानमाह—

चतुर्दशीक्रिया धर्मव्यासङ्गादिवशान्न चेत् ।
कर्तुं पार्येत पक्षान्ते तर्हि कार्याष्टमीक्रिया ॥४६॥

व्यासङ्गादि—आदिशब्देन क्षपकनिर्यापणादि । पक्षान्ते—अमावस्यापौर्णमास्ययोः । उक्तं च चारित्रसारे—

'चतुर्दशीदिने धर्मव्यासङ्गादिना क्रिया कर्तुं न लभ्येत चेत् पाक्षिकेऽष्टम्याः क्रिया कर्तव्येति ।'

क्रियाकाण्डेऽपि—

'जदि पुण धम्मव्वासंगा ण कया होज्ज चउद्दसी किरिया ।
तो पुण्णिमाइदिवसे कायव्वा पक्खिया किरिया ॥' ॥४६॥

अथाष्टम्याः पक्षान्तस्य च क्रियाविधिं चारित्रभक्त्यनन्तरभाविनं सर्वत्रालोचनाविधिं चोपदिशति—

स्यात् सिद्धश्रुतचारित्रशान्तिभक्त्याष्टमीक्रिया ।
पक्षान्ते साऽश्रुता वृत्तं स्तुत्वालोच्यं यथायथम् ॥४७॥

अश्रुता—श्रुतवर्ज्या । उक्तं च चारित्रसारे—'अष्टम्यां सिद्धश्रुतचारित्रशान्तिभक्तयः । पाक्षिके सिद्धचारित्रशान्तिभक्तयः ।' इति ।

यत्पुनः संस्कृतक्रियाकाण्डे—

'सिद्धश्रुतसुचारित्रचैत्यपञ्चगुरुस्तुतिः ।
शान्तिभक्तिश्च षष्ठीयं क्रिया स्यादष्टमीतिथौ ॥
सिद्धचारित्रचैत्येषु भक्तिः पञ्चगुरुष्वपि ।
शान्तिभक्तिश्च पक्षान्ते जिने तीर्थे च जन्मनि ॥' [ ] इति ।

श्रूयते, तन्नित्यदेववन्दनायुक्तयोरेतयोर्विधानमुक्तमिति वृद्धसंप्रदायः ॥४७॥

यदि कार्यवश चतुर्दशीको उक्त क्रिया करनेमें भूल हो जाये तो उसका उपाय बतलाते हैं—

किसी धार्मिक कार्यमें फँस जानेके कारण यदि साधु चतुर्दशीकी क्रिया न कर सके तो उसे अमावस्या और पूर्णमासीको अष्टमी क्रिया करनी चाहिए ॥४६॥

विशेषार्थ—इस विषयमें चारित्रसार और प्राकृत क्रियाकाण्डमें भी ऐसी ही व्यवस्था है। यथा—यदि चतुर्दशीके दिन धर्मकार्यमें फँस जाने आदिके कारण क्रिया न कर सके तो पक्षान्तमें अष्टमीकी क्रिया करनी चाहिए ॥४६॥

आगे अष्टमी और पक्षान्तकी क्रियाविधिको तथा चारित्रभक्तिके अनन्तर होनेवाली आलोचना विधिको कहते हैं—

सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्तिके साथ अष्टमी क्रिया की जाती है। पाक्षिकी क्रिया इनमें-से श्रुतभक्तिके बिना बाकी तीन भक्तियोंसे की जाती है। तथा साधुओंको चारित्रभक्ति करके यथायोग्य आलोचना करनी चाहिए ॥४७॥

विशेषार्थ—चारित्रसार (पृ. ७१) में भी ऐसा ही कहा है कि अष्टमीमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति की जाती हैं और पाक्षिकमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति की जाती है। किन्तु संस्कृत क्रियाकाण्डमें कहा है—'अष्टमीको सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और छठी शान्तिभक्ति करनी चाहिए। और पक्षान्त अर्थात् अमावस्या और पूर्णमासीको तथा तीर्थंकरके जन्मकल्याणक-

अथ सिद्धप्रतिमायां तीर्थंकरजन्मन्यपूर्वजिनचैत्ये च क्रियोपदेशार्थमाह—

सिद्धभक्त्यैकया सिद्धप्रतिमायां क्रिया मता।
तीर्थकृज्जन्मनि जिनप्रतिमायां च पाक्षिकी ॥४८॥

स्पष्टम् ॥४८॥

अथापूर्वचैत्यवन्दनानित्यदेववन्दनाभ्यामष्टम्यादिक्रियासु योगे चिकीर्षिते चैत्यपञ्चगुरुभक्त्योः प्रयोगस्थानमाह—

दर्शनपूजात्रिसमयवन्दनयोगोऽष्टमीक्रियादिषु चेत्।
प्राक् तर्हि शान्तिभक्तेः प्रयोजयेच्चैत्यपञ्चगुरुभक्ती ॥४९॥

दर्शनपूजा—अपूर्वचैत्यवन्दना। उक्तं च चारित्रसारे—'अष्टम्यादिक्रियासु दर्शनपूजात्रिकालदेववन्दनायोगे शान्तिभक्तितः प्राक् चैत्यभक्ति पञ्चगुरुभक्ति च कुर्यात् इति ॥४९॥

अथैकत्र स्थानेऽनेकापूर्वचैत्यदर्शने क्रियाप्रयोगविषये पुनस्तद्दर्शने तदपूर्वत्वकालेयत्तां चोपदिशति—

दृष्ट्वा सर्वाण्यपूर्वाणि चैत्यान्येकत्र कल्पयेत्।
क्रियां तेषां तु षष्ठेऽनुश्रूयते मास्यपूर्वता ॥५०॥

एकत्र—एकस्मिन्नभिरुचिते जिनचैत्यविषये। अनुश्रूयते—व्यवहर्तृजनपारंपर्येणाकर्ण्यते ॥५०॥

के दिन सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए।

इसके सम्बन्धमें ग्रन्थकार पं. आशाधरजीने अपनी संस्कृत टीकामें लिखा है कि संस्कृत क्रियाकाण्डका यह विधान नित्य देववन्दनाके साथ अष्टमी-चतुर्दशीकी क्रियाको करनेवालोंके लिए है ऐसा वृद्ध सम्प्रदाय है ॥४७॥

आगे सिद्ध प्रतिमा, तीर्थंकर भगवान्‌का जन्मकल्याणक और अपूर्व जिनप्रतिमाके विषयमें करने योग्य क्रिया कहते हैं—

सिद्ध प्रतिमाकी वन्दनामें एक सिद्धभक्ति ही करनी चाहिए। और तीर्थंकरके जन्मकल्याणकमें तथा अपूर्व जिनप्रतिमामें पाक्षिकी क्रिया अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥४८॥

अपूर्व चैत्यवन्दना और नित्यदेववन्दनाको यदि अष्टमी आदि क्रियामें मिलाना इष्ट हो तो चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति कब करनी चाहिए, यह बतलाते हैं—

यदि अष्टमी आदि क्रियाओंके साथ अपूर्व चैत्यवन्दना और त्रैकालिक नित्यदेववन्दना करनेका योग उपस्थित हो तो शान्तिभक्तिसे पहले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिए ॥४९॥

विशेषार्थ—चारित्रसारमें ऐसा ही विधान है। यथा—'अष्टमी आदि क्रियाओंके साथ अपूर्व चैत्यवन्दना और त्रिकालदेववन्दनाका योग होनेपर शान्तिभक्तिसे पहले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिए।' ॥४९॥

एक ही स्थानपर अनेक अपूर्व प्रतिमाओंका दर्शन होनेपर क्रिया प्रयोगकी विधि तथा कितने कालके बाद उन्हीं प्रतिमाओंका दर्शन होनेपर उन्हें अपूर्व माना जाये यह बतलाते हैं—

यदि एक ही स्थानपर अनेक अपूर्व प्रतिमाओंका दर्शन हो तो उन सब प्रतिमाओंका दर्शन करके उनमें-से जिसकी ओर मन विशेष रूपसे आकृष्ट हो उसीको लक्ष्य करके पहले

अथ क्रियाविषयतिथिनिर्णयार्थमाह—

त्रिमुहूर्तेऽपि यत्रार्क उदेत्यस्तमयत्यथ ।
स तिथिः सकलो ज्ञेयः प्रायो धर्म्येषु कर्मसु ॥५१॥

प्रायः—देशकालादिवशादन्यथापि । बहुधा व्यवहर्तृणां प्रयोगदर्शनादेतदुच्यते ॥५१॥

अथ प्रतिक्रमणाप्रयोगविधिं श्लोकपञ्चकेनाचष्टे—

पाक्षिक्यादि-प्रतिक्रान्तौ वन्देरन् विधिवद् गुरुम् ।
सिद्धवृत्तस्तुती कुर्याद् गुर्वीं चालोचनां गणी ॥५२॥
देवस्याग्रे परे सूरेः सिद्धयोगिस्तुती लघू ।
सवृत्तालोचने कृत्वा प्रायश्चित्तमुपेत्य च ॥५३॥

पाक्षिक्यादिप्रतिक्रान्तौ—पाक्षिक्यां चातुर्मासिक्यां सांवत्सरिक्यां च प्रतिक्रमणायां क्रियमाणायाम् । विधिवद्—लघ्व्या सिद्धेत्यादिपूर्वोक्तविधिना । गणि उणादाविदं तोयं (?) गुर्वी 'इच्छामि भंते अट्ठमियंहि आलोचेउमित्यादि । दण्डकस्कन्धसाध्यां सैषा सूरेः शिष्याणां च साधारणी क्रिया ॥५२॥ देवस्याग्रे गणीकृत्वेति

कहे अनुसार क्रिया करनी चाहिए। तथा व्यवहारी जनोंकी परम्परासे सुना जाता है कि उन प्रतिमाओंकी अपूर्वता छठे मासमें होती है अर्थात् इतने कालके बाद उनका दर्शन करनेपर वे प्रतिमा अपूर्व मानी जाती हैं ॥५०॥

आगे क्रियाओंके विषयमें तिथिका निर्णय करते हैं—

जिस दिन तीन मुहूर्त भी सूर्यका उदय अथवा अस्त हो वह सम्पूर्ण तिथि प्रायः करके धार्मिक कार्योंमें मान्य होती है ॥५१॥

विशेषार्थ—सिंहनन्दिके व्रततिथिनिर्णयमें कहा है कि जैनोंके यहाँ उदयकालमें छह घड़ी प्रमाण तिथिका मान व्रतके लिए मान्य है। छह घड़ी तीन मुहूर्त प्रमाण होती है। यहाँ 'प्रायः' पद दिया है। ग्रन्थकार पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें लिखा है कि देशकालके कारण इससे अन्यथा भी व्यवहार हो सकता है। बहुधा व्यवहारी जनोंका ऐसा ही व्यवहार देखा जाता है इसलिए ऐसा कहा है। सिंहनन्दिने भी अपने ग्रन्थमें किन्हीं पद्मदेवके ऐसे ही कथनपर-से यही शंका की है और उसका समाधान भी यही किया है। यथा—यहाँ कोई शंका करता है कि पद्मदेवने तिथिका मान छह घड़ी बतलाते हुए कहा है कि प्रायः धर्मकृत्योंमें इसीको ग्रहण करना चाहिए। यहाँ 'प्रायः' शब्दका क्या अर्थ है? उत्तर देते हैं कि देश-काल आदिके भेदसे तिथिमान ग्रहण करना चाहिए। इसके लिए 'प्रायः' कहा है ॥५१॥

आगे प्रतिक्रमणके प्रयोगकी विधि पाँच श्लोकोंसे कहते हैं—

पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण करनेपर शिष्यों और सधर्माओंको पहले बतलायी हुई विधिके अनुसार आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। इसके अनन्तर अपने शिष्यों और सधर्माओंके साथ आचार्यको गुरुसिद्धभक्ति और गुरुचारित्रभक्ति करनी चाहिए। तथा अर्हन्तदेवके सम्मुख बड़ी आलोचना करनी चाहिए। उसके बाद आचार्यके आगे शिष्यों और सधर्माओंको लघुसिद्धभक्ति, लघु योगिभक्ति, चारित्रभक्ति

१. 'अत्र संशयं करोति पद्मदेवैः 'प्रायो धर्मेषु कर्मसु' इत्यत्र प्राय इत्यव्ययं कथितम् । तस्य कोऽर्थः ? उच्यते देशकालादिभेदात् तिथिमानं ग्राह्यम् ।'—[व्रततिथिनिर्णय, पृ. १८२]

संबन्धः। सूरेः—आचार्यस्याग्रे कृत्वेति संबन्धः।' सवृत्तालोचने—इच्छामि भंते चरित्तायारो इत्यादि दण्डकपञ्चकसाम्यया चारित्रालोचनया युङ्क्ते ॥५३॥

वन्दित्वाचार्यमाचार्यभक्त्या लघ्व्या ससूरयः।
प्रतिक्रान्तिस्तुतिं कुर्युः प्रतिक्रामेत्ततो गणी ॥५४॥
अथ वीरस्तुतिं शान्तिचतुर्विंशतिकीर्तनाम्।
सवृत्तालोचनां गुर्वीं सगुर्वालोचनां यताः ॥५५॥
मध्यां सूरिनुतिं तां च लघ्वीं कुर्युः परे पुनः।
प्रतिक्रमा बृहन्मध्यसूरिभक्तिद्वयोज्झिताः ॥५६॥

वन्दित्वा, शिष्याः आचार्यस्तु देवमेव वयीकृत्याचार्यवन्दनामिति शेषः। प्रतिक्रामन्—प्रतिक्रमणदण्डकान् पठेत् ॥५४॥ शान्तीत्यादि—शान्तिकीर्तनां विधेयरक्षामित्यादिकम्। चतुर्विंशतिकीर्तनं—'चउवीसं तित्थयरे' इत्यादिकम्। सवृत्तालोचनां—लघ्व्या चारित्रालोचनया सहिताम्। गुर्वीं—सिद्धस्तुत्यादिकाम्। चारित्रालोचनासहितबृहदाचार्यभक्तिमित्यर्थः। सगुर्वालोचनां—देसकुलजाइ इत्यादिका बृहदालोचनासहित-मध्याचार्यभक्तिमित्यर्थः ॥५५॥ तां लघ्वीं 'प्राज्ञः प्राप्त' इत्यादिकां क्षुल्लकाचार्यभक्तिरित्यर्थः। परव्रता-रोपणादिविषयाश्चत्वारः। उक्तं च—

'सिद्धचारित्रभक्तिः स्याद् बृहदालोचना ततः।
देवस्य गणिनो वाग्रे सिद्धयोगिस्तुती लघू ॥
चारित्रालोचना कार्या प्रायश्चित्तं ततस्तथा।
सूरिभक्त्यास्ततो लघ्व्या गणिनं वन्दते यतिः ॥

और आलोचना करके तथा प्रायश्चित्त लेकर लघु आचार्यभक्तिके द्वारा आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। फिर आचार्य सहित शिष्य और सधर्मा मुनि प्रतिक्रमणभक्ति करें। फिर आचार्य प्रतिक्रमण दण्डकका पाठ करें। फिर साधुओंको वीरभक्ति करनी चाहिए। फिर आचार्यके साथ शान्तिभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति करनी चाहिए। फिर चारित्रकी आलोचनाके साथ बृहत् आचार्यभक्ति करनी चाहिए। उसके बाद बृहत् आलोचनाके साथ मध्य आचार्यभक्ति तथा लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिए। अन्य प्रतिक्रमणोंमें बृहद् आचार्यभक्ति और मध्य आचार्यभक्ति नहीं की जाती ॥५२–५६॥

विशेषार्थ—यहाँ पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमणके समय की जानेवाली विधिका वर्णन है। ये प्रतिक्रमण आचार्य, शिष्य तथा अन्य साधु सम्मिलित रूपसे करते हैं। सबसे प्रथम आचार्यकी वन्दना की जाती है। आचार्य-वन्दनाकी विधि पहले बतला आये हैं कि आचार्यकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्ति पढ़कर गवासनसे करनी चाहिए। यदि आचार्य सिद्धान्तविद् हो तो सिद्ध श्रुत और आचार्यभक्तिके द्वारा उसकी वन्दना करनी चाहिए। इन तीनों भक्तियोंको पढ़ते समय प्रत्येक भक्तिके प्रारम्भमें अलग-अलग तीन वाक्य बोले जाते हैं। सिद्ध भक्तिके प्रारम्भमें 'नमोऽस्तु प्रतिष्ठापनसिद्ध-भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' 'नमस्कार हो, मैं प्रतिष्ठापन सिद्धभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ' यह वाक्य बोला जाता है, तब सिद्धभक्ति की जाती है। इसी प्रकार श्रुतभक्तिके प्रारम्भमें 'नमोऽस्तु प्रतिष्ठापनश्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' वाक्य और आचार्य भक्तिके प्रारम्भमें 'निष्ठापनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह वाक्य बोला जाता है। इसके पश्चात् अपने शिष्यों और सधर्माओंके साथ आचार्य इष्टदेवको नमस्कार करके

स्यात्प्रतिक्रमणा भक्तिः प्रतिक्रामेत्ततो गणी ।
वीरस्तुतिर्जिनस्तुत्या सह•शान्तियुतिर्मता ॥
वृत्तालोचनया सार्द्धं गुर्वी सूरिनुतिस्ततः ।
गुर्व्यालोचनया सार्द्धं मध्याचार्यस्तुतिस्तथा ॥

'समता सर्वभूतेषु' इत्यादि पढ़कर 'सिद्धानुद्धूतकर्म' इत्यादि बड़ी सिद्धभक्ति और 'येनेन्द्रान्' इत्यादि बड़ी चारित्रभक्ति करते हैं। तथा अर्हन्त भगवान्के सम्मुख 'इच्छामि भंते! पक्खियम्मि आलोचेऊं' से लेकर 'जिणगुणसंपत्ति होऊ मज्झं' पर्यन्त बृहती आलोचना करते हैं। यह आचार्य, शिष्य तथा सधर्माओंकी क्रिया समान है। किन्तु इतना अन्तर है। यहाँ सिद्धभक्तिके प्रारम्भमें यह वाक्य बोलना होता है—'सर्वातिचारविशुद्धयर्थं पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।' अर्थात् मैं सब दोषोंको विशुद्धिके लिए इस पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रियामें पूर्वाचार्योंके अनुसार समस्त कर्मोंके क्षयके लिए भावपूजा, वन्दना-स्तुतिके साथ सिद्धभक्ति कायोत्सर्ग करता हूँ। इसी तरह चारित्रभक्तिके पहले यह वाक्य बोलना चाहिए—'सर्वातिचारविशुद्धयर्थं····आलोचनाचारित्रभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।' किन्तु आचार्य 'णमो अरहंताणं' इत्यादि नमस्कार मन्त्रके पाँचों पदोंको पढकर कायोत्सर्ग करके 'थोस्सामि' इत्यादि पढ़कर फिर 'तवसिद्ध' इत्यादि गाथाको अंचलिका सहित पढकर, पूर्वोक्त विधि करते हैं। फिर 'प्रावृट्काले' इत्यादि योगिभक्तिको अंचलिका सहित पढ़कर 'इच्छामि भंते चारित्ताचारो तेरसविहो' इत्यादि पाँच दण्डकोंको पढकर तथा 'वदसमिदिंदिय' इत्यादिसे लेकर 'छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं' तक तीन बार पढ़कर देवके आगे अपने दोषोंकी आलोचना करते हैं। तथा दोषके अनुसार प्रायश्चित्त लेकर 'पंच महाव्रतम्' इत्यादि पाठको तीन बार पढ़कर योग्य शिष्य आदिसे अपने प्रायश्चित्तको कहकर देवके प्रति गुरुभक्ति करते हैं। यहाँ भी 'नमोऽस्तु सर्वातिचारविशुद्धयर्थं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' तथा 'नमोऽस्तु सर्वातिचारविशुद्धयर्थं आलोचनायोगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' तथा 'नमोऽस्तु निष्ठापनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' ये तीनों वाक्य क्रमसे उच्चारण किये जाते है। इसके बाद जब आचार्य प्रायश्चित्त कर लें तो उनके आगे शिष्य और सधर्मा साधु लघुसिद्धभक्ति, लघुयोगिभक्ति, चारित्रभक्ति तथा आलोचना करके अपने-अपने दोषोके अनुसार प्रायश्चित्त ले फिर 'श्रुतजलधि' इत्यादि लघुआचार्यभक्तिके द्वारा आचार्यकी वन्दना करें। फिर आचार्य, शिष्य, सधर्मा सब मिलकर प्रतिक्रमण भक्ति करें। अर्थात् 'सर्वातिचारविशुद्धयर्थं पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं प्रतिक्रमणभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह बोलकर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दण्डकको पढ़कर कायोत्सर्ग करना चाहिए। लघुसिद्धभक्ति आदि तो साधुओंकी भी आचार्यके समान जानना। किन्तु आचार्यकी वन्दना होनेके बाद आचार्यको 'थोस्सामि' इत्यादि दण्डकको पढ़कर और

१. यह सामायिक दण्डक है।
२. यह चतुर्विंशतिस्तव है। ये सब दण्डक और भक्तियाँ पं. पन्नालालजी सोनीके द्वारा संगृहीत क्रियाकलापमें हैं।

लघ्वी सूरिस्तुतिश्चेति पाक्षिकादौ प्रतिक्रमे।
ऊनाधिका विशुद्धयर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिका॥
वृत्तालोचनया सार्धं गुर्व्यालोचनया क्रमात्।
सूरिद्वयस्तुतिं मुक्त्वा शेषाः प्रतिक्रमाः क्रमात्॥' १

गणधरवलयको पढ़कर प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढ़ना चाहिए। शिष्य और सधर्माको तबतक कायोत्सर्गमें रहकर प्रतिक्रमण दण्डकोंको सुनना चाहिए।

इसके पश्चात् साधुओंको 'थोस्सामि' इत्यादि दण्डकको पढ़कर आचार्यके साथ 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढ़कर वीरस्तुति करनी चाहिए। अर्थात्—'सर्वातिचार-विशुद्ध्यर्थं पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दना-स्तवसमेतं निष्ठितकरणवीरभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।' यह पढ़कर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दण्डकको पढ़कर कायोत्सर्गमें कहे हुए उच्छ्वासोंको करके फिर 'थोस्सामि' इत्यादि दण्डकको पढ़े। फिर 'चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं' इत्यादि स्वयम्भूको पढ़कर 'यः सर्वाणि चराचराणि' इत्यादि वीरभक्तिको अंचलिकाके साथ पढ़कर 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढ़ना चाहिए। इसके पश्चात् आचार्यसहित सब संयमियोंको—'सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं शान्तिचतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह कहकर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दण्डकको पढ़कर कायोत्सर्ग करके 'थोस्सामि' इत्यादि दण्डकको पढ़कर शान्तिनाथकी 'विधाय रक्षां' इत्यादि स्तुति तथा 'चउवीसं तित्थयरे' इत्यादि चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करके अंचलिका सहित 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढ़ना चाहिए। उसके बाद 'सर्वा-तिचारविशुद्धयर्थं चारित्रालोचनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह पढ़कर 'इच्छामि भन्ते चारित्ताचारो तेरहविहो परिहारविदो' इत्यादि दण्डकके द्वारा साध्य लघु चारित्रा-लोचनाके साथ बृहत् आचार्यभक्ति करनी चाहिए।

इसके बाद 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढ़कर 'सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं बृहदा-लोचनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह पढ़कर फिर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दण्डकको पढकर 'इच्छामि भन्ते पक्खियम्हि आलोचेउं पण्णारसाणं दिवसाणं' इत्यादि बृहत् आलोचनासे सहित 'देसकुलजाइसुद्धा' इत्यादि मध्य बृहदाचार्य भक्ति करनी चाहिए।

इसके बाद आचार्यसहित साधुओंको 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढ़कर 'सर्वा-तीचारविशुद्धयर्थं क्षुल्लकालोचनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह उच्चारण करके पूर्ववत् दण्डक आदि पढ़कर 'प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः' से लेकर 'मोक्षमार्गोपदेशकाः' पर्यन्त लघुआचार्य भक्ति करनी चाहिए। इसके बाद सब अतीचारोंकी विशुद्धिके लिए सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, निष्ठितकरण, वीरभक्ति, शान्तिभक्ति, चतु-र्विंशतितीर्थंकरभक्ति, चारित्रभक्ति, आलोचना सहित आचार्यभक्ति, बृहद् आलोचना सहित आचार्यभक्ति, क्षुल्लक आलोचना सहित आचार्यभक्ति करके उनमें हीनता, अधिकता आदि दोषोंकी विशुद्धिके लिए समाधिभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए। और पूर्ववत् दण्डक आदि पढ़कर 'शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः' इत्यादि प्रार्थना करनी चाहिए। अन्य ग्रन्थोंमें भी ऐसा ही विधान है। यथा—

'पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणमें अरहन्त देव अथवा आचार्यके सम्मुख सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और बृहद् आलोचनाके बाद लघुसिद्धभक्ति और लघुयोगिभक्ति की जाती

चारित्रसारेऽप्युक्तम्—पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिकप्रतिक्रमणे सिद्धचारित्रप्रतिक्रमणनिष्ठितकरण-चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिचारित्रालोचनागुरुभक्तयो बृहदालोचनागुरुभक्तिर्लघीयस्याचार्यभक्तिश्च करणीया इति ॥५६॥

अथ यतीनां श्रावकाणां च श्रुतपञ्चमीक्रियाप्रयोगविधिं श्लोकद्वयेनाह—

बृहत्या श्रुतपञ्चम्यां भक्त्या सिद्धश्रुतार्थया।
श्रुतस्कन्धं प्रतिष्ठाप्य गृहीत्वा वाचनां बृहन् ॥५७॥
क्षम्यो गृहीत्वा स्वाध्यायः कृत्या शान्तिनुतिस्ततः।
यमिनां गृहिणां सिद्धश्रुतशान्तिस्तवाः पुनः ॥५८॥

श्रुतपञ्चम्यां—ज्येष्ठशुक्लपञ्चम्याम्। वाचनां—श्रुतावतारोपदेशम् ॥५७॥ क्षम्यः—बृहच्छ्रुतभक्त्या निष्ठाप्य इत्यर्थः। गृहीत्वा—बृहच्छ्रुताचार्यभक्तिभ्यां प्रतिष्ठाप्य इत्यर्थः। एतच्च बृहन्निति विशेषणाल्लभ्यते। गृहिणां—स्वाध्यायाग्राहिणा श्रावकाणाम्। उक्तं च चारित्रसारे—पञ्चम्यां सिद्धश्रुतभक्तिपूर्विका

है। फिर चारित्रालोचनापूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद साधुओंको लघु-आचार्यभक्तिपूर्वक आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। फिर आचार्य सहित सब साधुओंको प्रतिक्रमणभक्ति करनी चाहिए। तब आचार्य प्रतिक्रमण करते हैं। उसके बाद वीरभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्तिके साथ शान्तिभक्ति करनी चाहिए। फिर चारित्रालोचनाके साथ बृहत् आचार्यभक्ति करनी चाहिए। फिर बृहत् आलोचनाके साथ मध्य आचार्यभक्ति करनी चाहिए। फिर लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिए। अन्तमें हीनता और अधिकता दोषकी विशुद्धिके लिए समाधिभक्ति करनी चाहिए'। चारित्रसारमें भी कहा है—'पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमणमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, प्रतिक्रमण, निष्ठितकरण, चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति, चारित्रालोचना, आचार्यभक्ति, बृहत् आलोचना, बृहत् आचार्य-भक्ति और लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिए।'

ग्रन्थकार पं. आशाधरजीने अपनी संस्कृत टीकामें अन्तमें लिखा है, यहाँ तो हमने दिशामात्र बतलायी है। किन्तु साधुओंको प्रौढ़ आचार्यके पासमें विस्तारसे सब जान-देखकर करना चाहिए। साधुओंके अभाव या उनकी विरलताके कारण प्रतिक्रमणकी विधिका ज्ञान हीन होता गया ऐसा लगता है। आजके साधु तो साधु, आचार्योंमें भी प्रतिक्रमणकी विधि-का ज्ञान अत्यल्प है। अस्तु, व्रतारोपण आदि विषयक प्रतिक्रमणोंमें गुरुआचार्यभक्ति और मध्यआचार्यभक्ति नहीं की जाती। कहा है—'शेष प्रतिक्रमणोंमें चारित्रालोचना, बृहत् आलोचना और दोनों आचार्यभक्तियोंको छोड़कर शेष विधि क्रमसे होती है ॥५२-५६॥

आगे मुनियों और श्रावकोंके लिए श्रुत पंचमीके दिनकी क्रियाका विधान कहते हैं—

साधुओंको ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन बृहत् सिद्धभक्ति और बृहत् श्रुतभक्तिपूर्वक श्रुतस्कन्धकी स्थापना करके वाचना अर्थात् श्रुतके अवतारका उपदेश ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और श्रुत-भक्तिपूर्वक स्वाध्यायको समाप्त करना चाहिए। समाप्तिपर शान्तिभक्ति करनी चाहिए। किन्तु जिन्हें स्वाध्यायको ग्रहण करनेका अधिकार नहीं है उन श्रावकोंको सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥५७-५८॥

विशेषार्थ—ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको श्रुतपंचमी कहते हैं क्योंकि उस दिन आचार्य भूतबलीने षट्खण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकारूढ़ करके उसकी पूजा की थी। तभीसे

वाचनां गृहीत्वा तदनु स्वाध्यायं गृह्णतः श्रुतभक्तिमाचार्यभक्तिं च कृत्वा गृहीतस्वाध्यायः कृतश्रुतभक्तयः स्वाध्यायं निष्ठाप्य समाप्तौ शान्तिभक्तिं कुर्युरिति ॥५८॥

अथ सिद्धान्तादिवाचनाक्रियातिदेशार्थं तदर्थाधिकारविषयकायोत्सर्गोपदेशार्थं च श्लोकद्वयमाह—

कल्प्यः क्रमोऽयं सिद्धान्ताचारवाचनयोरपि ।
एकैकार्थाधिकारान्ते व्युत्सर्गास्तन्मुखान्तयोः ॥५९॥
सिद्धश्रुतगणिस्तोत्रं व्युत्सर्गाश्चातिभक्तये ।
द्वितीयादिदिने षट् षट् प्रदेया वाचनावनौ ॥६०॥

कल्प्य इत्यादि । सिद्धान्तवाचनां वृद्धव्यवहारादाचारवाचनां वा सिद्धश्रुतभक्तिभ्यां प्रतिष्ठाप्य बृहत्स्वाध्यायं च श्रुताचार्यभक्तिभ्यां प्रतिपद्य तद्वाचना दीयते । ततश्च स्वाध्यायं श्रुतभक्त्या निष्ठाप्य शान्तिभक्त्या क्रियां निष्ठापयेदिति भावः । एकैकेत्यादि । उक्तं च चारित्रसारे—'सिद्धान्तस्यार्थाधिकाराणां समाप्तौ एकैकं कायोत्सर्गं कुर्यादिति । तन्मुखान्तयोः—एकैकस्यार्थाधिकारस्यारम्भे समाप्तौ च निमित्तभूते । उत्तरेण संबन्धोऽस्य कर्तव्यः ॥५९॥

अतिभक्तये—सिद्धान्ताद्यर्थाधिकाराणां तु बहुमान्यत्वादेतदुक्तम् । द्वितीयादिदिने तत्क्रियैव कार्येति भावः ॥६०॥

अथ संन्यासक्रियाप्रयोगविधिं श्लोकद्वयेनाह—

वह दिन श्रुतपंचमीके नामसे प्रसिद्ध है । उस दिन साधु श्रुतस्कन्धकी स्थापना करके स्वाध्याय ग्रहण करते हैं । मगर गृहस्थको द्वादशांगरूप सूत्रका स्वाध्याय करनेका अधिकार नहीं है इसलिए वह केवल भक्ति करता है । द्वादशांगरूप श्रुत तो नष्ट हो चुका है । षट्खण्डागम, कसायपाहुड और महाबन्ध सिद्धान्त ग्रन्थ तो आचार्यप्रणीत ग्रन्थ हैं इनका स्वाध्याय श्रावक भी कर सकते है । उसीकी विधि ऊपर कही है । चारित्रसारमें भी कहा है कि श्रुत पंचमीके दिन सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक वाचनाको ग्रहण करके उसके बाद स्वाध्यायको ग्रहण करते समय श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पूर्वक स्वाध्यायको ग्रहण करे । और श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको समाप्त करके अन्तमें शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥५७-५८॥

सिद्धान्त आदिकी वाचना सम्बन्धी क्रियाकी विशेष विधि बतानेके लिए और उसके अर्थाधिकारोंके सम्बन्धमें कायोत्सर्गका विधान करनेके लिए दो श्लोक कहते हैं—

ऊपर श्रुतपंचमीके दिन जो विधि बतलायी है वही विधि सिद्धान्त वाचना और आचारवाचनामें भी करनी चाहिए । अर्थात् सिद्धान्तवाचना और वृद्ध साधुओंके अनुसार आचारवाचनाको सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक स्थापित करके और श्रुतभक्ति तथा आचार्यभक्तिपूर्वक बृहत् स्वाध्यायको स्वीकारके उसकी वाचना दी जाती है । उसके बाद श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको समाप्त करके शान्तिभक्तिपूर्वक उस क्रियाको पूर्ण किया जाता है । तथा सिद्धान्तके प्रत्येक अर्थाधिकारके अन्तमें कायोत्सर्ग करना चाहिए । तथा प्रत्येक अर्थाधिकारके अन्तमें और आदिमें सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति करनी चाहिए । वाचनाके दूसरे-तीसरे आदि दिनोंमें वाचनाके स्थानपर छह-छह कायोत्सर्ग करना चाहिए । सिद्धान्त आदिके अर्थाधिकारोंके अत्यन्त आदरणीय होनेसे उनके प्रति अति भक्ति प्रदर्शित करनेके लिए उक्त क्रिया की जाती है ॥५९-६०॥

आगे संन्यासपूर्वक मरणकी विधि दो श्लोकोंसे कहते हैं—

संन्यासस्य क्रियादौ सा शान्तिभक्त्या विना सह ।
अन्तेऽन्यदा बृहद्भक्त्या स्वाध्यायस्थापनोज्झने ॥६१॥
योगेऽपि शेयं तत्रात्तस्वाध्यायैः प्रतिचारकैः ।
स्वाध्यायाग्राहिणां प्राग्वत् तदाद्यन्तदिने क्रिया ॥६२॥

आदौ—संन्यासस्यारम्भे । सा—श्रुतपञ्चम्युक्ता । केवलमत्र सिद्धश्रुतभक्तिभ्यां श्रुतस्कन्धवत् संन्यासः प्रतिष्ठाप्य. । अन्ते—क्षपकेऽतीते संन्यासो निष्ठाप्य इति भावः । अन्यदा—आद्यन्तदिनाभ्यामन्येषु दिनेषु । बृहदित्यादौ कर्तव्य इत्युपस्कार ॥६१॥

योगेऽपि—रात्रियोगे वर्षायोगेऽपि वा अन्यत्र गृहीतेऽपि सति । शेयं—शयितव्यम् । तत्र—संन्यासवसतौ । प्रतिचारकैः—क्षपकशुश्रूषकैः । प्राग्वत्—श्रुतपञ्चमीवत् । तदित्यादिसंन्यासस्यारम्भदिने समाप्तिदिने च सिद्धश्रुतशान्तिभक्तिभिर्गृहस्थैः क्रिया कार्येति भावः ॥६२॥

अथ अष्टाह्निकक्रियानिर्णयार्थमाह—

कुर्वन्तु सिद्धनन्दीश्वरगुरुशान्तिस्तवैः क्रियामष्टौ ।
शुच्यूर्जतपस्यसिताष्टम्यादिदिनानि मध्याह्ने ॥६३॥

कुर्वन्तु—अत्र बहुत्वनिर्देशः संभूय सघेनैव क्रिया कार्येति ज्ञापनार्थ. । शुचिः—आषाढः । ऊर्जः—कार्तिकः । तपस्यः—फाल्गुनः ॥६३॥

अथाभिषेकवन्दनाक्रिया मङ्गलगोचरक्रिया च लक्षयति—

संन्यासके आदिमें शान्तिभक्तिके बिना शेष सब क्रिया श्रुतपंचमीकी तरह करनी चाहिए। अर्थात् श्रुतस्कन्धकी तरह केवल सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक संन्यासमरणकी स्थापना करनी चाहिए। तथा संन्यासके अन्तमें वही क्रिया शान्तिभक्तिके साथ करनी चाहिए। अर्थात् समाधिमरण करनेवालेका स्वर्गवास हो जानेपर संन्यासकी समाप्ति शान्तिभक्ति सहित उक्त क्रियाके साथ की जाती है। तथा संन्यासके प्रथम और अन्तिम दिनको छोड़कर शेष दिनोंमें स्वाध्यायकी स्थापना बृहत् श्रुतभक्ति और बृहत् आचार्यभक्ति करके की जाती है और उसकी समाप्ति बृहत् श्रुतभक्ति पूर्वक की जाती है। तथा जो समाधिमरण करनेवाले क्षपककी सेवा करनेवाले साधु हैं और जिन्होंने वहाँ प्रथम दिन स्वाध्यायकी स्थापना की है उन्हें उसी वसतिकामें सोना चाहिए जिसमें संन्यास लिया गया है। यदि उन्होंने रात्रियोग और वर्षायोग अन्यत्र भी लिया हो तो भी उन्हें वहीं सोना चाहिए। किन्तु जो गृहस्थ परिचारक स्वाध्याय ग्रहण नहीं कर सकते हैं उन्हें संन्यासके प्रथम और अन्तिम दिन श्रुतपंचमीकी तरह सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक ही क्रिया करनी चाहिए ॥६१-६२॥

आगे अष्टाह्निका पर्वकी क्रिया कहते हैं—

आषाढ, कार्तिक और फाल्गुनमासके शुक्ल पक्षकी अष्टमीसे लेकर पौर्णमासी पर्यन्त प्रतिदिन मध्याह्नमें प्रातःकालके स्वाध्यायको ग्रहण करनेके बाद सिद्धभक्ति, नन्दीश्वर चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्तिके साथ आचार्य आदि सबको मिलकर क्रिया करनी चाहिए ॥६३॥

आगे अभिषेकवन्दना क्रिया और मंगलगोचर क्रियाको कहते हैं—

सा नन्दीश्वरपदकृतचैत्या त्वभिषेकवन्दनास्ति तथा ।
मङ्गलगोचरमध्याह्नवन्दना योगयोजनोज्झनयोः ॥६४॥

सा—नन्दीश्वरक्रिया । अभिषेकवन्दना—जिनस्नपनदिवसे वन्दना ।
उक्तं च—

'अहिसेयवंदणा सिद्धचेदि पंचगुरुसंतिभत्तीहिं ।
कीरइ मंगलगोयर मज्झण्हियवंदणा होइ ॥' [ ] ॥६४॥

अथ मंगलगोचरबृहत्प्रत्याख्यानविधिमाह—

लात्वा बृहत्सिद्धयोगिस्तुत्या मङ्गलगोचरे ।
प्रत्याख्यानं बृहत्सूरिशान्तिभक्ती प्रयुञ्जताम् ॥६५॥

प्रयुञ्जताम् । अत्र बहुवचननिर्देशः सर्वैर्मिलित्वा कार्योऽयं विधिरिति बोधयति ॥६५॥

अथ वर्षायोगग्रहणमोक्षणविध्युपदेशार्थं श्लोकद्वयमाह—

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती ।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीर्गुरुस्तुतिम् ॥६६॥
शान्तिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम् ।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ॥६७॥

पूर्वरात्रे—प्रथमप्रहरोद्देशे । परीत्या—प्रदक्षिणया । अल्पा—लघ्वी । अर्थाच्चतस्र. । तद्यथा—यावन्ति जिनचैत्यानीत्यादिश्लोकं पठित्वा वृषभाजितस्वयंभूस्तवमुच्चार्य चैत्यभक्ति चूलिकां पठेदिति पूर्वदिक् चैत्यालयवन्दना । एवं दक्षिणादिदिक्षु त्रयेऽपि, नवरमुत्तरोत्तरौ द्वौ द्वौ स्वयंभूस्तवौ प्रयोक्तव्यौ । गुरुस्तुति—पञ्चगुरुभक्तिम् ॥६६॥ पश्चाद्रात्रौ—पश्चिमयामोद्देशे ॥६७॥

ऊपर जो नन्दीश्वर क्रिया कही है वही क्रिया जिस दिन जिन भगवान्‌का महाभिषेक हो, उस दिन करना चाहिए । अन्तर केवल इतना है कि नन्दीश्वर चैत्यभक्तिके स्थानमें केवल चैत्यभक्ति की जाती है । तथा वर्षायोगके ग्रहण और त्यागके समय भी यह अभिषेक वन्दना ही मंगलगोचर मध्याह्नवन्दना होती है ॥६४॥

आगे मंगलगोचर बृहत् प्रत्याख्यानकी विधि कहते हैं—

मंगलगोचर क्रियामें बृहत् सिद्धभक्ति और बृहत् योगिभक्ति करके भक्त प्रत्याख्यानको ग्रहण करना चाहिए और फिर बृहत् आचार्यभक्ति और बृहत् शान्तिभक्ति करनी चाहिए । यह क्रिया आचार्यादि सबको मिलकर करनी चाहिए । इसीसे 'प्रयुञ्जताम्' इस बहुवचनका प्रयोग किया है ॥६५॥

आगे वर्षायोगके ग्रहण और त्यागकी विधि कहते हैं—

भक्त प्रत्याख्यान ग्रहण करनेके पश्चात् आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशीकी रात्रिके प्रथम पहरमें पूर्व आदि चारों दिशाओंमें प्रदक्षिणा क्रमसे लघु चैत्यभक्ति चार बार पढ़कर सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करते हुए आचार्य आदि साधुओंको वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए । और कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके पिछले पहरमें इसी विधिसे वर्षायोगको छोड़ना चाहिए ॥६६-६७॥

विशेषार्थ—चारों दिशाओंमें प्रदक्षिणा क्रमसे चैत्यभक्ति करनेकी विधि इस प्रकार है । पूर्व दिशाको मुख करके 'यावन्ति जिनचैत्यानि' इत्यादि श्लोक पढ़कर ऋषभदेव और अजितनाथकी स्वयंभू स्तुति पढ़कर अंचलिका सहित चैत्यभक्ति पढ़ना चाहिये । ऐसा करने-

अथ तच्छेषविधिं श्लोकद्वयेनाह—

मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत् ।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लङ्घयेत् ॥६८॥
नभश्चतुर्थीं तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपञ्चमीम् ।
यावन्न गच्छेत्तच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत् ॥६९॥

वासः कर्तव्य इति शेषः । अन्यदा—हेमन्तादिऋतुषु । शुचौ—आषाढे । मार्गे—मार्गशीर्षमासे ॥६८॥ नभो—श्रावण. । तद्याने—योगक्षेत्रगमने । न गच्छेत्—स्थानान्तरे न विहरेत् । तच्छेदे—योगातिक्रमे । कथंचित्—दुर्निवारोपसर्गादिना । छेदं—प्रायश्चित्तम् ॥६९॥

अथ वीरनिर्वाणक्रियानिर्णयार्थमाह—

योगान्तेऽर्कोदये सिद्धनिर्वाणगुरुशान्तयः ।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे कृत्यातो नित्यवन्दना ॥७०॥

योगान्ते—वर्षायोगनिष्ठापने कृते सति । अतः—एतत् क्रियानन्तरम् ॥७०॥

से पूर्व दिशाके चैत्मालयोंकी वन्दना हो जाती है। फिर दक्षिण दिशामें संभव और अभिनन्दन जिनकी स्तुतियाँ पढ़कर अंचलिका सहित चैत्यभक्ति पढ़ना चाहिये। इसी तरह पश्चिम दिशामें सुमतिजिन और पद्मप्रभजिन तथा उत्तर दिशामें सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ भगवान्‌के स्तवन पढना चाहिये। इस प्रकार अपने स्थान पर स्थित रहकर ही चारों दिशामें भाव वन्दना करना चाहिये। उन-उन दिशाओंकी ओर उठने की आवश्यकता नहीं है ॥६६-६७॥

आगे दो श्लोकोंके द्वारा शेष विधि कहते हैं—

वर्षा योगके सिवाय अन्य हेमन्त आदि ऋतुओंमें श्रमणोंको एक स्थान नगर आदिमें एक मास तक ही निवास करना चाहिए। तथा मुनि संघको आषाढमें वर्षायोगके स्थानको चले जाना चाहिए। और मार्गशीर्ष महीना बीतने पर वर्षायोगके स्थानको छोड़ देना चाहिए। कितना ही प्रयोजन होनेपर भी वर्षायोगके स्थानमें श्रावण कृष्णा चतुर्थी तक अवश्य पहुँचना चाहिए। इस तिथिको नहीं लाँघना चाहिए। तथा कितना ही प्रयोजन होनेपर भी कार्तिक शुक्ला पंचमी तक वर्षायोगके स्थानसे अन्य स्थानको नहीं जाना चाहिए। यदि किसी दुर्निवार उपसर्ग आदिके कारण वर्षायोगके उक्त प्रयोगमें अतिक्रम करना पड़े तो साधु संघको प्रायश्चित्त लेना चाहिए ॥६८-६९॥

विशेषार्थ—श्वे. दशाश्रुत स्कन्ध निर्युक्तिमें कहा है कि वर्षावास आषाढकी पूर्णिमासे प्रारम्भ होकर मार्गशीर्ष मासकी दसमी तिथिको पूर्ण होता है। यदि इसके बाद भी वर्षा होती हो या मार्गमें अत्यधिक कीचड़ हो तो साधु इस कालके बाद भी उसी स्थान पर ठहर सकते हैं ॥६८-६९॥

वीरभगवान्‌के निर्वाणकल्याणकके दिन की जानेवाली क्रियाको बताते हैं—

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम पहरमें वर्षायोगका निष्ठापन करनेके बाद सूर्यका उदय होनेपर भगवान् महावीर स्वामीकी निर्वाण क्रियामें सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए। उसके पश्चात् नित्यवन्दना करना चाहिए ॥७०॥

अथ कल्याणकपञ्चकक्रियानिश्चयार्थमाह—

साद्यन्तसिद्धशान्तिस्तुतिजिनगर्भजनुषोः स्तुयाद् वृत्तम् ।
निष्क्रमणे योग्यन्तं विदि श्रुताद्यपि शिवे शिवान्तमपि ॥७१॥

साद्यन्तेत्यादि—क्रियाविशेषणमिदम् । जिनगर्भजनुषोः—तीर्थकृतां गर्भावतरणे जन्मनि च । पुनर्जन्मकल्याणक्रियाप्रतिपादनं पञ्चानामप्येकत्र संप्रत्ययार्थम् । योग्यन्तं—सिद्धचारित्रयोगिशान्तिभक्तयः कार्या इत्यर्थः । विदि ज्ञानकल्याणे । श्रुताद्यपि—सिद्धश्रुतचारित्रयोगि[1]निर्वाणशान्तिभक्तयः कार्या इत्यर्थः ॥७१॥

अथ पञ्चत्वप्राप्तऋष्यादीना काये निषेधिकायां च क्रियाविशेषनिर्णयमार्यायुग्मेन विधत्ते—

वपुषि ऋषेः स्तौतु ऋषीन् निषेधिकायां च सिद्धशान्त्यन्तः ।
सिद्धान्तिनः श्रुतादीन् वृत्तादीनुत्तरव्रतिनः ॥७२॥
द्वियुजः श्रुतवृत्तादीन् गणिनोऽन्तगुरून् श्रुतादिकानपि तान् ।
समयविदोऽपि यमादींस्तनुक्लिशो द्वयमुखानपि द्वियुजः ॥७३॥

ऋषे —सामान्यसाधोरर्थान्मृतस्य । ऋषीन्—योगिनः । सिद्धशान्त्यन्तः—सिद्धभक्तिशान्तिभक्त्योर्मध्ये योगिभक्ति कुर्यादित्यर्थः । सिद्धान्तिनः श्रुतादीन् । अत्रोत्तरत्र च वपुषीत्याद्यनुवर्तनीयम् । ततोऽयमर्थः । कथं सैद्धान्तस्य ऋषे. काये निषेधिकायां च सिद्धशान्त्योर्मध्ये श्रुतमृषींश्च स्तुयात् । सिद्धश्रुतयोगिशान्तिभक्ती. कुर्यादित्यर्थ. । वृत्तादीन्—सिद्धचारित्रयोगिशान्तिभक्तीर्विदध्यादित्यर्थः ॥७२॥ द्वियुजः—सिद्धान्तोत्तरव्रतभाजः । श्रुतवृत्तादीन्—सिद्धश्रुतचारित्रयोगिशान्तिभक्तीः प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । अन्तगणीन् अन्तगणिनाऽऽचार्यस्तुत्यतया तान् । अन्तगणीन् ऋषीन् । सिद्धश्रुतयोग्याचार्यशान्तिभक्तीः कुर्यादित्यर्थः । समयविदः—सिद्धान्तज्ञस्याचार्यस्य च ऋषेः । अपि यमादीन्—चारित्रादीनपि अन्तगणिऋषीन् स्तुयात् । सिद्धचारित्रयोग्याचार्यशान्तिभक्ती रावहेदित्यर्थः । तनुक्लिश.—कायक्लेशिनः आचार्यस्य च ऋषेः । द्वयमुखानपि सिद्धश्रुतचारित्रयोग्याचार्यशान्तिभक्ती रचयेदित्यर्थ. । द्वियुजः—सैद्धान्तस्य कायक्लेशिनश्चाचार्यस्य ऋषेः । उक्तं च—

'काये निषेधिकायां च मुनेः सिद्धर्षिशान्तिभिः ।
उत्तरव्रतिनः सिद्धवृत्तर्षिशान्तिभिः क्रियाः ॥

पंचकल्याणकके दिनोंमें की जाने योग्य क्रिया बताते है—

तीर्थंकरोंके गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणकके समय श्रमणों और श्रावकोंको सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक क्रिया करनी चाहिए। तपकल्याणकमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए। ज्ञानकल्याणकमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए। तथा निर्वाण कल्याणकमें और निर्वाण क्षेत्रकी वन्दनामें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, निर्वाणभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए। इन भक्तियोंके साथ उस उस कल्याणक सम्बन्धी क्रिया करनी चाहिए ॥७१॥

मरणको प्राप्त ऋषि आदिके शरीर तथा निषेधिका (समाधिस्थान) के विषयमें की जानेवाली क्रियाओंको दो पद्योंसे कहते हैं—

सामान्य साधुका मरण होनेपर उसके शरीर तथा समाधिभूमिकी वन्दना सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्तिको क्रमसे पढ़कर की जाती है। यदि सिद्धान्तवेत्ता सामान्य

---

1. योगिशा—भ. कु. च.

सैद्धान्तस्य मुनेः सिद्धश्रुतर्षिशान्तिभक्तिभिः ।
उत्तरव्रतिनः सिद्धश्रुतवृत्तर्षिशान्तिभिः ॥
सूरेर्निषेधिकाकाये सिद्धर्षिसूरिशान्तिभिः ।
शरीरक्लेशिनः सिद्धवृत्तर्षिगणिशान्तिभिः ॥
सैद्धान्ताचार्यस्य सिद्धश्रुतर्षिसूरिशान्तयः ।
अन्ययोगे सिद्धश्रुतवृत्तर्षिगणिशान्तयः ॥' ॥७३॥

अथ स्थिरचलजिनबिम्बप्रतिष्ठाया. क्रियाविधि तच्चतुर्थस्नपनक्रियाविशेषं चोपदिशति—

स्यात्सिद्धशान्तिभक्तिः स्थिरचलजिनबिम्बयोः प्रतिष्ठायाम् ।
अभिषेकवन्दना चलतुर्यस्नाने तु पाक्षिकी त्वपरे ॥७४॥

अभिषेकवन्दना—सिद्धचैत्यपञ्चगुरुशान्तिभक्तिलक्षणा । पाक्षिकी—सिद्धचारित्रभक्ती बृहदालोचना शान्तिभक्तिश्चेत्येषा । स्वाध्यायाग्राहिणा पुनर्गृहिणां सैवालोचनारहिता । अपरे—अन्यस्मिन् स्थिरजिनप्रतिमा-चतुर्थस्नान इत्यर्थः । उक्तं च—

'चलाचलप्रतिष्ठायां सिद्धशान्तिस्तुतिर्भवेत् ।
वन्दना चाभिषेकस्य तुर्यस्नाने मता पुनः ॥
सिद्धवृत्तनुतिं कुर्याद् बृहदालोचनां तथा ।
शान्तिभक्तिं जिनेन्द्रस्य प्रतिष्ठायां स्थिरस्य तु ॥' ॥७४॥

साधुका मरण हो तो उसके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़कर की जाती है। यदि उत्तर व्रतोंको धारण करनेवाले साधुका मरण हो तो उसके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, चारित्र-भक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़कर की जाती है। यदि मरनेवाला साधु सिद्धान्त-वेत्ता होनेके साथ उत्तर गुणोंका भी पालक हो तो उसके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़कर की जाती है। यदि आचार्यका मरण हो जाये तो उनके शरीरकी और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़कर करनी चाहिए। यदि सिद्धान्तवेत्ता आचार्यका मरण हो तो उनके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़कर करनी चाहिए। किन्तु ऐसे ऋषिका मरण हो जो आचार्य होनेके साथ कायक्लेश तपके धारी हों तो उनके शरीर और निषद्या भूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्य-भक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक करनी चाहिए। यदि मरणको प्राप्त ऋषि आचार्य होनेके साथ सिद्धान्तवेत्ता और कायक्लेशतपके धारक हों तो उनके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक करनी चाहिए ॥७२-७३॥

स्थिर जिनबिम्ब और चल जिनबिम्बकी प्रतिष्ठाके समयकी विधि तथा चल जिन-बिम्बके चतुर्थ दिन किये जानेवाले अभिषेकके समयकी क्रियाविधि कहते हैं—

स्थिर प्रतिमाकी प्रतिष्ठा या चल जिनबिम्बकी प्रतिष्ठामें सिद्धभक्ति और शान्तिभक्ति पढ़कर वन्दना करनी चाहिए। किन्तु चल जिनबिम्बकी प्रतिष्ठाके चतुर्थ दिन अभिषेकके समय अभिषेक वन्दना की जाती है अर्थात् सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और

अथाचार्यपदप्रतिष्ठापनक्रियाविधिमाह—

सिद्धाचार्यस्तुती कृत्वा सुलग्ने गुर्वनुज्ञया ।
लात्वाचार्यपदं शान्ति स्तुयात्साधुः स्फुरद्गुणः ॥७५॥

आचार्यपदम् । अद्य प्रभृति भवता रहस्यशास्त्राध्ययनदीक्षादानादिकमाचार्यकार्यमाचर्यमिति गणसमक्षं भाषमाणेन गुरुणा समर्प्यमाणपिच्छग्रहणलक्षणम् । उक्तं च चारित्रसारे—'गुरूणामनुज्ञायां विज्ञानवैराग्यसंपन्नो विनीतो धर्मशीलः स्थिरश्च भूत्वाऽऽचार्यपदव्या योग्यः साधुर्गुरुसमक्षे सिद्धाचार्यभक्ति कृत्वाऽऽचार्यपदवीं गृहीत्वा शान्तिभक्ति कुर्यादिति ॥७५॥

अथाचार्यस्य षट्त्रिंशतं गुणान् दिशति—

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादशस्थितेः ।
कल्पा दशाऽऽवश्यकानि षट् षट् त्रिंशद्गुणा गणेः ॥७६॥

शान्तिभक्ति पूर्वक वन्दना की जाती है। किन्तु स्थिर जिन प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके चतुर्थ दिन होनेवाले अभिषेकके समय पाक्षिकी क्रिया की जाती है अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, बृहत् आलोचना और शान्तिभक्ति की जाती है। और स्वाध्यायको ग्रहण न करनेवाले श्रावक बृहत् आलोचनाको छोड़कर शेषभक्ति पढ़कर किया करते हैं ॥७४॥

आगे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित करनेकी विधि कहते हैं—

जिसके छत्तीस गुण संघके चित्तमें चमत्कार पैदा करते हैं उस साधुको गुरुकी अनुमतिसे शुभ मुहूर्तमें सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति करके आचार्यपद ग्रहण करना चाहिए तब शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥७५॥

विशेषार्थ—चारित्रसारमें भी कहा है कि गुरुकी आज्ञा होनेपर ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न, विनयी, धर्मशील और स्थिरमति जो साधु आचार्यपदके योग्य होता है वह गुरुके सन्मुख सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति पूर्वक आचार्य पदवीको ग्रहण करता है, तब शान्तिभक्ति करता है। आचार्यपद प्रदानसे आशय यह है कि गुरु संघके समक्ष यह कहकर कि आजसे आप प्रायश्चित्तशास्त्रके अध्ययन, दीक्षादान आदि आचार्यकार्यको करें, पिच्छिका समर्पित करते हैं। उसका ग्रहण ही आचार्यपदका ग्रहण है ॥७५॥

आगे आचार्यके छत्तीस गुणोंको कहते हैं—

आचारवत्त्व आदि आठ, बारह तप, दस स्थितिकल्प और छह आवश्यक ये छत्तीस गुण आचार्यके होते हैं ॥७६॥

विशेषार्थ—दोनों ही जैन परम्पराओंमें आचार्यके छत्तीस गुण कहे हैं किन्तु संख्यामें एकरूपता होते हुए भी भेदोंमें एकरूपता नहीं है। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार—पाँच इन्द्रियोंको जो वशमें करता है, नौ बाड़से विशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालता है, पाँच महाव्रतोंसे युक्त होता है, पाँच आचारोंको पालनमें समर्थ है, पाँच समिति और तीन गुप्तिका पालक है,

---

१. 'पंचिंदिय संवरणो तह नवविहबंभचेर गुत्तिधरो ।
पंच महव्वयजुत्तो पंचविहाचारपालणसमत्थो ॥
पंचसमिइ तिगुत्तो इइ अट्ठारस गुणेहिं संजुत्तो ।
चउव्विहकसायमुक्को छत्तीस गुणो गुरु मज्झ ॥

स्थितेः—निष्ठासौष्ठवस्य । कल्पाः—विशेषाः ॥७६॥

चार प्रकारकी कषायोंसे मुक्त है इस तरह छत्तीस गुणोंसे युक्त गुरु होता है। ये ५+९+५ +५+५+३+४=३६ गुण होते हैं। दिगम्बर परम्परामें भी एकरूपता नहीं है। विभिन्न ग्रन्थकारोंने विभिन्न प्रकारसे छत्तीस गुण गिनाये हैं—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस स्थितिकल्प, बारह तप,छ आवश्यक ८+१०+१२+६=३६ ये छत्तीस गुण होते हैं। पं. आशाधरजीने इसीके अनुसार ऊपर छत्तीस गुण गिनाये हैं। किन्तु भगवती आराधनाकी अपनी टीकामें पं. आशाधरजीने उक्त गाथाके सम्बन्धमें लिखा है—भ. आ. के अनुसार छत्तीस गुण इस प्रकार हैं—आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकारका तप, पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ ये भगवती आराधनाकी संस्कृत टीकाके अनुसार छत्तीस गुण हैं। प्राकृत टीकामें अट्ठाईस मूल गुण और आचारवत्त्व आदि आठ ये छत्तीस गुण हैं। अथवा दस आलोचनाके गुण, दस प्रायश्चित्तके गुण, दस स्थितिकल्प और छह जीतगुण ये छत्तीस गुण हैं। ऐसी स्थितिमें भगवती आराधनामें सुनी गयी यह गाथा प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है।' भगवती आराधना पर विजयोदया टीकाके रचयिता अपराजित सूरिने इस गाथा पर टीका नहीं की है। अतः यह गाथा किसीने छत्तीस गुण गिनानेके लिए उद्धृत की है और वह मूलमें सम्मिलित हो गयी है। इसमें जो दस स्थितिकल्पों और छह जीतगुणोंको आचार्यके गुणोंमें गिनाया है वह विचारणीय प्रतीत होता है।

बोधपाहुडकी गाथा २ की संस्कृत[3] टीकामें आचार्यके छत्तीस गुण इस प्रकार कहे हैं—आचारवान्, श्रुताधारी, प्रायश्चित्तदाता, गुण दोषका प्रवक्ता किन्तु दोषको प्रकट न करने वाला, अपरिस्रावी, साधुओंको सन्तोष देनेवाले निर्यापक, दिगम्बर वेषी, अनुद्दिष्ट भोजी अशय्यासनी, अराजभुक्, क्रियायुक्त, व्रतवान्, ज्येष्ठसद्गुणी, प्रतिक्रमण करनेवाला, षट्मासयोगी द्विनिषद्यावाला, बारहतप, छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण आचार्यके है। इस तरह आचार्यके छत्तीस गुणोंमें विविध मत मिलते हैं ॥७६॥

१. 'आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो ।
बारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥'—भ. आ. गा. ५२६ ।

२. 'षट्त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ ज्ञानाचारा, अष्टौ दर्शनाचाराश्च, तपो द्वादशविधं पञ्चसमितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकायाम् । प्राकृतटीकायां तु अष्टाविंशति मूलगुणा. आचारवत्त्वादयश्चाष्टौ इति षट्त्रिंशत् । यदि वा दस आलोचना गुणा., दश प्रायश्चित्तगुणाः, दश स्थितिकल्पाः, षड् जीतगुणाश्चेति षट्त्रिंशत् । एवं सति सूत्रेऽनुश्रूयमाणेयं गाथा प्रक्षिप्तैव लक्ष्यते ।'

३. 'आचारश्रुताधारः प्रायश्चित्तासनादिदः ।
आयापायकथी दोषाभाषकोऽस्रावकोऽपि च ॥
सन्तोषकारी साधूना निर्यापक इमेऽष्ट च ।
दिगम्बरवेष्यनुद्दिष्टभोजी शय्यासनीति च ॥
अराजभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः ।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी तद्द्विनिषद्यकः ॥
द्विषट् तपास्तथा षट्चावश्यकानि गुणा गुरोः ।

अथाचारवत्त्वादिस्वरूपोद्देशार्थमाह—

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः ।
आयापायविदुत्पीडोऽपरिस्रावी सुखावहः ॥७७॥

अथाचारपदादिलक्षणनिर्णयार्थं श्लोकद्वयमाह—

पञ्चाचारकृदाचारी स्यादाधारी श्रुतोद्धुरः ।
व्यवहारपटुस्तद्वान् परिचारी प्रकारकः ॥७८॥
गुणदोषप्रवक्ताऽऽयापायविग् दोषवामकः ।
उत्पीलको रहोऽभेत्ताऽस्रावी निर्वापकोऽष्टमः ॥७९॥

पञ्चाचारकृत्—पञ्चानां ज्ञानाद्याचाराणामाचरिता आचारयिता उपदेष्टा च । उक्तं च—

'आचारं पञ्चविधं चरति च चारयति यो निरतिचारम् ।
उपदिशति सदाचारं भवति स आचारवान् सूरिः ॥' [ ]

श्रुतोद्धुरः—अनन्यसामान्यश्रुतज्ञानसंपन्नः । उक्तं च—

'नवदशचतुर्दशानां पूर्वाणां वेदिता मतिसमुद्रः ।
कल्पव्यवहारधरः स भवत्याधारवान्नाम ॥' [ ]

आगे आचारवत्त्व आदि आठ गुणोंका निर्देश करते हैं—

आचार्य आचारी, आधारी, व्यवहारी, प्रकारक, आय और अपायदर्शी, उत्पीडक, अपरिस्रावी और सुखकारी होता है ॥७७॥

आगे दो श्लोकोंके द्वारा इन आचारी आदिका स्वरूप कहते हैं—

जो पाँच ज्ञानादि आचारोंका स्वयं आचरण करता है दूसरोंसे आचरण कराता है और उनका उपदेश देता है उसे आचारी या आचार्यवान् कहते हैं। जो असाधारण श्रुतज्ञानसे सम्पन्न हो उसे आधारी कहते हैं। जो व्यवहारपटु हो, अर्थात् प्रायश्चित्तका ज्ञाता हो, जिसने बहुत बार प्रायश्चित्त देते हुए देखा हो और स्वयं भी उसका प्रयोग किया हो, उसे व्यवहारी कहते हैं। जो क्षपककी सेवा करता है उसे प्रकारक कहते हैं। जो आलोचनाके लिए उद्यत क्षपकके गुणों और दोषोंका प्रकाशक हो उसे आयापायदिक् कहते हैं। जो व्रत आदिके गूढ़ अतिचारोंको बाहर निकालनेमें समर्थ है उसे उत्पीलक कहते हैं। जो एकान्तमें प्रकाशित दोषको प्रकट नहीं करता उसे अपरिस्रावी कहते हैं। जो भूख-प्यास आदिके दुःखोंको शान्त करता हो उसे सुखकारी कहते हैं। इन आठ गुणोंसे युक्त आचार्य होता है ॥७८-७९॥

विशेषार्थ—आचार्य शब्द आचारसे ही बना है। और आचार हैं पाँच—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। जो इन पाँच आचारोंका स्वयं पालन करता है, दूसरोंसे पालन कराता है और उनका उपदेश देता है उसे आचार्य कहते हैं। भगवती आराधना और मूलाचारका वही आशय है जो ऊपर कहा है। दूसरा गुण है आधारवत्त्व। उसका आगमिक स्वरूप इस प्रकार कहा है—जो चौदह पूर्व या दस पूर्व या

१. चोद्दस-दस-णवपुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो ।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥—भ. आरा., ४२८ गा. ।

व्यवहारपटु:—प्रायश्चित्तस्य ज्ञाता बहुशो दीयमानस्य द्रष्टा तत्प्रयोक्ता च। तद्वान् व्यवहारवान्। उक्तं च—

'पञ्चविधं व्यवहारं यो मनुते तत्त्वतः सविस्तारम्।
कृतकारितोपलब्धप्रायश्चित्तस्तृतीयस्तु ॥' [ ]
'आगमश्च श्रुतं चाज्ञाधारणाजीत एव च।
व्यवहारा भवन्त्येते निर्णयस्तत्र सूत्रतः ॥' [ ]

आगम एकादशाङ्गोक्तं प्रायश्चित्तं तदेव चतुर्दशपूर्वोक्तं श्रुतम्। उत्तमार्थोद्यत् आचार्यो जङ्घाबलपरिहीणः स्थानान्तरस्थितः सुस्थिताचार्यसमीपे स्वतुल्यं ज्येष्ठशिष्यं प्रेष्यं तन्मुखेन तस्याग्रे स्वदोषानालोच्य तन्निर्दिष्टं प्रायश्चित्तं यच्चरति तदाज्ञेति व्यपदिश्यते। स एवासहायः सन् संजातदोषस्तत्रैव स्थितः पूर्वावधारित-प्रायश्चित्तं यत्करोति सा धारणा नाम। द्वासप्ततिपुरुषजातस्वरूपमपेक्ष्य यदुक्तं प्रायश्चित्तं तज्जीत इत्युच्यते। संप्रत्याचार्या येन व्यवहरन्ति स प्रकारः। परिचारी—क्षपकशुश्रूषाकारी ॥७८॥ गुणेत्यादि। उक्तं च—

नौ पूर्वका ज्ञाता हो, महाबुद्धिशाली हो, सागरकी तरह गम्भीर हो, कल्प व्यवहारका ज्ञाता हो उसे आधारवान् कहते हैं, इस तरह आचार्यको शास्त्र समुद्रका पारगामी होना चाहिए। तीसरे प्रायश्चित्तके प्रयोगमें कुशल अनुभवी होना चाहिए। प्रायश्चित्तको ही व्यवहार कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। कहा है—'जो पाँच प्रकारके व्यवहार या प्रायश्चित्तको यथार्थ रूपमें विस्तारसे जानता है, जिसने बहुतसे आचार्योंको प्रायश्चित्त देते देखा है और स्वयं भी प्रायश्चित्त दिया है उसे व्यवहारी कहते हैं। व्यवहारके पाँच भेद हैं—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। इनका विस्तारसे कथन सूत्रोंमें है। इसकी टीकामें अपराजित सूरिने लिखा है कि 'प्रायश्चित्तका कथन सबके सामने नहीं किया जाता। इसीलिए यहाँ उनका कथन नहीं किया है,'। अपने इस कथनके समर्थनमें उन्होंने एक गाथा भी उद्धृत की है—जिसमें कहा है 'सभी श्रद्धालु पुरुषोंको जिन वचन सुनना चाहिए। किन्तु छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका अर्थ सबके लिए जानने योग्य नहीं है।' श्वेताम्बरीय सूत्रोंमें व्यवहारके इन पाँच प्रकारोंका कथन है। व्यवहार सूत्रमें विस्तारसे कथन है। मुमुक्षुकी प्रवृत्ति-निवृत्तिको व्यवहार कहते हैं। आगमसे केवलज्ञान, मनःपर्यय, अवधि, चौदह पूर्व, दस पूर्व और नौ पूर्व लिये जाते हैं। शेषको श्रुत कहते हैं। यद्यपि नव आदि पूर्व भी श्रुत हैं, किन्तु वे केवलज्ञानकी तरह अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमें विशिष्ट ज्ञान कराते हैं इसलिए उन्हें आगममें लिया है। किन्तु पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें ग्यारह अंगोंमें प्रतिपादित प्रायश्चित्तको आगम और चौदह

---

१. पंचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं।
बहुसो य दिट्ठ कयपट्ठवणो ववहारवं होइ ॥
आगम सुद आणा धारणा य जीदेहिं होंति ववहारा।
एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिद्दिट्ठा ॥—भ. आरा. ४४८-४९ गा.।

२. सव्वेण वि जिणवयणं सोदव्वं सड्ढदेण पुरिसेण।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण णादव्वो ॥

३. 'पंचविहे ववहारे पण्णत्ते, तं जहा-आगमे, सुए।
आणा, धारणा, जीए।'—स्थानांग ५।२।४२१ सू.।

'गुणदोषाणां प्रथकः क्षपकस्य विशेषमालुलोचयिषोः।
अनृजोरालोचयितो दोषविशेषं प्रकाशयति ॥' [ ]

दोषवामकः—व्रताद्यतीचारस्यान्तर्गूढस्य स बहिर्निष्क्रामकः। उक्तं च—

'ओजस्वी तेजस्वी वाग्मी च प्रथितकीर्तिराचार्यः।
हरिरिव विक्रमसारो भवति समुत्पीलको नाम ॥' [ ]

रहोऽभेत्ता—गोप्यदोषस्य रहस्यालोचितस्याप्रकाशकः। उक्तं च—

'आलोचिताः कलङ्का यस्या यः पीततोयसंछायाः।
न परिश्रवन्ति कथमपि स भवत्यपरिश्रवः सूरिः ॥'

निर्वापकः—क्षुदादिदुःखोपशमकः। यथाह—

'गम्भीरस्निग्धमधुरामतिहृद्यां श्रवःसुखाम्।
निर्वापकः कथा कुर्यात् स्मृत्यानयनकारणम् ॥' [ ] ॥७९॥

पूर्वोंमें प्रतिपादित प्रायश्चित्तको श्रुत कहा है। कोई आचार्य समाधि लेना चाहते हैं किन्तु पैरोंमें चलनेकी शक्ति नहीं है, वे देशान्तरमें स्थित किसी प्रायश्चितवेदी अन्य आचार्यके पास अपने तुल्य ज्येष्ठ शिष्यको भेजकर और उसके मुखसे अपने दोषोंकी आलोचना कराकर उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्तको यदि स्वीकार करते हैं तो आज्ञा है। वही अशक्त आचार्य दोष लगनेपर वहीं रहते हुए पूर्वमें अवधारित प्रायश्चित यदि करते हैं वह धारणा है। बहत्तर पुरुषोंके स्वरूपको देखकर जो प्रायश्चित्त कहा जाता है वह जीत है। श्वे. टीकाकारोंके अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और व्यक्तिके दोषके अनुसार संहनन, सहनशीलता आदिमें कमी देखते हुए जो प्रायश्चित्त दिया जाय वह जीत है। इन पाँचों प्रकारके प्रायश्चित्तमेंसे यदि आगम विद्यमान है तो आगमके अनुसार ही प्रायश्चित्त देना चाहिए। आगम न हो तो श्रुतके अनुसार प्रायश्चित्त देना चाहिए। इस तरह क्रमिक ही प्रायश्चित्त देनेका विधान है। आचार्यको इस व्यवहारका ज्ञाता होना चाहिए। तथा आचार्यको समाधि लेने वालेकी सेवामें तत्पर होना चाहिए। जब वह बाहर जाये या बाहरसे अन्दर आये तो उसको हस्तावलम्ब देना चाहिए, उसकी वसतिका, संथरा, उपकरणकी सफाई करनी चाहिए। मलत्यागमें उसके लिए भक्तपानकी व्यवस्थामें सावधान रहना चाहिए। ये सब कार्य बड़े आदर-भक्तिसे करना चाहिए (भग. आ. ४५५-५७)। क्षपकको आचार्यके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करनी चाहिए। किन्तु क्षपक अपने दोषोंको कहते हुए सकुचाता है। उसे भय है कि मेरे दोष प्रकट होनेपर सब मेरा निरादर करेंगे या मेरी निन्दा करेंगे। ऐसे समयमें आयापायविद् आचार्य बड़ी कुशलतासे समझा-बुझाकर उसके गुण-दोषोंको प्रकट कराते हैं। (भग. आ. ४५९-४७३ गा.)। कोई-कोई क्षपक आलोचनाके गुण-दोषोंको जानते हुए भी अपने दोषोंको प्रकट करनेके लिए तैयार नहीं होता। तब उत्पीलक गुणके धारी आचार्य समझा-बुझाकर जबरन दोषोंको बाहर निकालते हैं। जैसे, माता बच्चेकी हितकारिणी होती है वह बच्चेके रोनेपर भी उसका मुख खोलकर दवा पिलाती है वैसे ही आचार्य भी दोषोंको निकालते हैं—(भ. आ. ४७४-४८५ गा.)। जैसे तपा लोहा चारों ओरसे पानीको सोख लेता है वह पानीको बाहर नहीं निकालता। उसी तरह जो आचार्य क्षपकके दोषोंको सुनकर पचा जाते हैं, किसी

१. सस्थायाः मु. भ. कु. च.।

अथ स्थितिकल्पदशकं गीतिद्वयेन निर्दिशति—

आचेलक्योद्देशिकशय्याधरराजकीयपिण्डोज्झाः ।
कृतिकर्मव्रतारोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥
मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः ।
तन्निष्ठं पृथुकीर्तिः क्षपकं निर्यापको विशोधयति ॥८०-८१॥

आचेलक्यं—वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नग्नत्वमात्रं वा । तच्च संयमशुद्धीन्द्रियजय-कषायाभावध्यान-स्वाध्यायनिर्विघ्नता-निर्ग्रन्थत्व-वीतरागद्वेषता - शरीरानादर-स्ववशत्व-चेतोविशुद्धि-प्राकट्य-निर्भयत्व-सर्वत्रविश्रब्धत्व-प्रक्षालनोद्वेष्टनादिपरिकर्मवर्जनविभूषामूर्छा-लाघवतीर्थकराचरितत्वानिगूढ-बलवीर्यताद्यपरिमित-गुणग्रामोपलम्भात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम् । एतच्च श्रीविजयाचार्य-विरचित-मूलाराधनाटीकायां सूत्रे विस्तरतः समर्थितं द्रष्टव्यमिह न प्रपञ्च्यते ग्रन्थगौरवभयात् । अत एव श्रीपद्मनन्दिपादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमधिजगे—

'म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते
तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥' [पद्म. पञ्च., १।४१]

दूसरेसे नहीं कहते वे अपरिस्रावी कहलाते हैं। यदि आचार्य स्वयं अपने साधुओंके दोषोंको प्रकट कर उन्हें दूषित करेंगे तो लोक उनकी निन्दा ही करेंगे (गा. ४९५ पर्यंत)। यदि क्षपककी परिचर्यामें त्रुटि हो तो उसको कष्ट होता है, वह क्रुद्ध भी होता है किन्तु निर्वापक गुणके धारी आचार्य मृदुवाणी सुन्दर हितोपदेशसे उसे प्रसन्न ही रखनेकी चेष्टा करते हैं (गा ४९६-५२०) इस प्रकार ये आठ गुण आचार्यके होते हैं ॥७८-७९॥

आगे दो पद्योंसे दस स्थितिकल्पोंको कहते हैं—

१ आचेलक्य अर्थात् वस्त्र आदि परिग्रहका अभाव या नग्नता। २ श्रमणोंके उद्देशसे बनाये गये भोजन आदिका त्याग। ३ वसतिको बनानेवाले या उसकी मरम्मत आदि कराने वाले या वहाँके व्यवस्थापकको शय्याधर कहते हैं। उसके भोजन आदिको ग्रहण न करना। ४ राजाके घरका भोजन ग्रहण न करना। ५ छह आवश्यकोंका पालन। ६ व्रतोंके आरोपणकी योग्यता। ७ ज्येष्ठता। ८ प्रतिक्रमण। ९ एक मास तक ही एक नगरमें वास। १० वर्षाके चार महीनोंमें एक ही स्थान पर वास। ये दस स्थितिकल्प हैं ॥८०-८१॥

विशेषार्थ—आचार्यके छत्तीस गुणोंमें दस स्थितिकल्प बतलाये हैं उन्हींका यह कथन है। भगवती आराधनामें आचार्यके आचारवत्त्व गुणका प्रकारान्तरसे कथन करते हुए इन दस कल्पोंका कथन किया है। कहा[1] है जो दस स्थितिकल्पोंमें स्थित है वह आचार्य आचारवत्त्व गुणका धारक है और आठ प्रवचन माताओंमें संलग्न है।

श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक साहित्यमें इन स्थितिकल्पोंका बहुत विस्तारसे वर्णन मिलता है। उनमें इनका आचार्यके आचारवत्त्वसे सम्बन्ध नहीं है। ये तो सर्वसाधारण हैं, शास्त्रोक्त साधु समाचारको कल्प कहते हैं और उसमें स्थितिको कल्पस्थिति कहते हैं। ये

---

१. 'दसविहठिदि कप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥'—भ. आ., ४२० गा.।

तथैव श्रीसोमदेवपण्डितैरप्यवादि—

'विकारे विदुषां दोषो नाविकारानुवर्तने ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ।।
नैष्किञ्चन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् ।
ते सङ्गाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ।।' [सोम. उपा., श्लो. १३१-१३२]

औद्देशिकपिण्डोज्झा—श्रमणमुद्दिश्य कृतस्य भक्तादेर्वर्जनम् । शय्याधरपिण्डोज्झा—वसते. कारक संस्कारकोऽत्रास्वेति सम्पादकश्चेति त्रयः शय्याधरशब्देनोच्यन्ते । तेषामयं तत आगतो वा शय्याधरे-

---

कल्पस्थिति दस है। इनमेंसे चार कल्प तो स्थित हैं और छह अस्थित हैं। १. शय्यातर पिण्डका त्याग, २ व्रत, ३ ज्येष्ठ और कृतिकर्म ये चार अवस्थित हैं। सभी तीर्थंकरोंके समयके सभी साधु इन चारोंका पालन अवश्य करते हैं। शेष छह कल्प अस्थित हैं। अर्थात् प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरोंको छोड़कर शेष बाईस तीर्थंकरोंके साधु तथा विदेहके साधु इन्हें पालते भी हैं और नहीं भी पालते। इस तरह श्वेताम्बर परम्परामें इन दस कल्पोंका सम्बन्ध आचार्यके आचारवत्त्वके साथ नहीं है ये तो सभी साधुओंके लिये करणीय हैं।

अब प्रत्येक कल्पका स्वरूप कहते हैं—अचेलकके भावको आचेलक्य कहते हैं। चेल कहते हैं वस्त्रको, वस्त्रादि परिग्रहका अभाव या नग्नताका नाम आचेलक्य है। प्रत्येक साधुको नग्न ही रहना चाहिए। भगवती आराधना, गा. ४२१ की संस्कृत टीकामें अपराजित सूरिने इसका समर्थन किया है और श्वेताम्बरीय शास्त्रोंके आधारसे ही उनकी मान्यताका विरोध दिखलाया है। क्योंकि श्वेताम्बर परम्पराके भाष्यकारों और टीकाकारोंने अचेलका अर्थ अल्प चेल या अल्पमूल्यका चेल किया है। और इस तरहसे नग्नताको समाप्त ही कर दिया है। किन्तु अचेलतामें अनेक गुण हैं। वस्त्रमें पसीनेसे जन्तु पैदा हो जाते हैं और उसके धोनेसे उनकी मृत्यु हो जाती है। अतः वस्त्रके त्यागसे संयममें शुद्धि होती है। शरीरमें उत्पन्न होनेवाले विकारको रोकनेके प्रयत्नसे इन्द्रियजयका अभ्यास होता है। चोरों आदिका भय न होनेसे कषाय घटती है। वस्त्र रखनेसे उसके फट जानेपर नया वस्त्र माँगना होता है या उसे सीनेके लिए सुई माँगनी होती है और इससे स्वाध्याय और ध्यानमें बाधा आती है। वस्त्र आदि परिग्रहका मूल अन्तरंग परिग्रह है। वस्त्र त्याग देनेसे अभ्यन्तर परिग्रहका भी त्याग होता है। तथा अच्छे और बुरे वस्त्रोंके त्यागसे राग-द्वेष भी नहीं होते। वस्त्रके अभावमें हवा, धूप, शीत आदिके सहन करनेसे शरीरमें आदरभाव नहीं रहता। देशान्तरमें जानेके लिए किसी सहायककी अपेक्षा न रहनेसे स्वावलम्बन आता है। लँगोटी आदि न रखनेसे चित्तकी विशुद्धि प्रकट होती है। चोरोंके मार-पीट करनेका भय न रहनेसे निर्भयता आती है। पासमें हरण करने लायक कुछ भी न रहनेसे विश्वसनीयता आती है। कहा भी है—'वस्त्रके मलिन होनेपर उसके धोनेके लिए पानी आदिका आरम्भ

१. रः पिण्ड उपलक्षणाद्भक्तो—भ. कु. च.।
२. 'सिज्जायरपिंडे या चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।
कितिकम्मस्स य करणे चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ।।
आचेलक्कुद्देसिय सपडिक्कमणे य रायपिंडे य ।
मासं पज्जोसवणा छप्पेतऽणवट्ठिता कप्पा ।।—बृहत्कल्पसूत्र, गा. ६३६१-६२ ।

पिण्डो भक्तोपकरणाद्युपयोगिद्रव्यं तद्वर्जनम् । सति शय्याधरपिण्डग्रहणे प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारादिकं धर्मफललोभात् । यो वा आहारं दातुमक्षमो दरिद्रो लुब्धो वा नासौ वसति प्रयच्छेत् । सति वसतिदाने च लोका मा निन्दन्ति स्थिता वसतावस्य यतय. न वाउनेन मन्दभाग्येन तेषामाहारो दत्त इति । आहारं वसति च प्रयच्छति । तस्मिन् बहूपकारितया यते. स्नेहश्च स्यादिति दोषाः स्युः । अन्ये पुनः शय्यागृहपिण्डत्याग इति पठित्वा एवं व्याचक्षते 'मार्गं व्रजता यत्र गृहे रात्रौ सुप्यते तत्रैवान्यदिने भोजनपरिहारो वसतिसंबन्धिद्रव्यनिमित्तपिण्डस्य वा त्याग इति । राजकीयपिण्डोज्झा—अत्र राजशब्देनेक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जातो राज तं प्रकृतिं रञ्जयतीति वा राजा राज्ञा सदृशो महर्द्धिको वा भण्यते । तत्स्वामिकभक्तादिवर्जनम् । तद्गृहप्रवेशे हि यतेः स्वच्छन्दचित्रकुक्कुराद्यपघातः । तद्भूषावलोकनाद् वरतुरगादीना त्रास. । तं प्रति गर्वितदासाद्युपहास· । अवरुद्धाभि.

करना पड़ता है। ऐसी स्थितिमें संयम कैसे रह सकता है। वस्त्रके नष्ट होनेपर महान् पुरुषोंका भी चित्त व्याकुल हो जाता है और उन्हें दूसरोंसे वस्त्रकी याचना करनी पड़ती है। दूसरोंके द्वारा लँगोटीके भी चुरा लिये जानेपर तत्काल क्रोध उत्पन्न होता है। इसीसे संयमी जनोंका वस्त्र दिगम्बरत्व है जो नित्य पवित्र है और रागभावको दूर करता है।'

आचार्य सोमदेवने भी कहा है—'विद्वान् विकारसे द्वेष करते हैं, अविकारतासे नहीं। ऐसी स्थितिमें प्राकृतिक नग्नतासे कैसा द्वेष? यदि मुनिजन पहननेके लिए वल्कल, चर्म या वस्त्रकी इच्छा रखते हैं तो उनमें नैष्किंचन्य अर्थात् मेरा कुछ भी नहीं, ऐसा भाव तथा अहिंसा कैसे सम्भव है ?'

इस तरह आचेलक्यका वास्तविक अर्थ नग्नता ही है और वह प्रथम स्थितिकल्प है। दूसरा है श्रमणोंके उद्देश्यसे बनाये गये भोजन आदिको ग्रहण न करना। बृहत्कल्पसूत्र (गा. ६३७६) में कहा है कि ओघरूपसे या विभाग रूपसे श्रमणों और श्रमणियोंके कुल, गण और संघके संकल्पसे जो भोजन आदि बनाया गया है वह ग्राह्य नहीं है। यह नियम केवल प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके साधुओंके लिए है। शेष बाईस तीर्थंकरोंके साधु और महाविदेहके साधु यदि किसी एक व्यक्ति विशेषके उद्देशसे भोजन बनाया गया है तो वह भोजन उस व्यक्तिविशेषके लिए अग्राह्य है अन्य साधु उसे स्वीकार करते हैं। तीसरा स्थितिकल्प है शय्याधर पिण्ड त्याग। शय्याधर शब्दसे यहाँ तीन लिये गये हैं—जिसने वसतिका बनवायी है, जो वसतिकाकी सफाई आदि करता है तथा जो वहाँका व्यवस्थापक है। उनके भोजन आदिको ग्रहण न करना तीसरा स्थितिकल्प है। उनका भोजन आदि ग्रहण करने पर वे धर्म फलके लोभसे छिपाकर भी आहार आदिकी व्यवस्था कर सकेंगे। तथा जो आहार देनेमें असमर्थ है, दरिद्र या लोभी है वह इसलिए रहनेको स्थान नहीं देगा कि स्थान देनेसे भोजनादि भी देना होगा। वह सोचेगा कि अपने स्थान पर ठहराकर भी यदि मैं आहारादि नहीं दूँगा तो लोग मेरी निन्दा करेंगे कि इसके घरमें मुनि ठहरे और इस अभागेने उन्हें आहार नहीं दिया। दूसरे, मुनिका उसपर विशेष स्नेह हो सकता है कि यह हमें वसतिके साथ भोजन भी देता है। किन्तु उसका भोजन ग्रहण न करनेपर उक्त दोष नहीं होते। अन्य कुछ ग्रन्थकार 'शय्यागृह पिण्डत्याग' ऐसा पाठ रखकर उसका यह व्याख्यान करते हैं कि मार्गमें जाते हुए जिस घरमें रातको सोये उसी घरमें दूसरे दिन भोजन नहीं करना अथवा वसतिकाके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले द्रव्यसे बना भोजन ग्रहण नहीं करना। राजपिण्डका ग्रहण न करना चतुर्थ स्थितिकल्प है। यहाँ राजा शब्दसे जिसका जन्म इक्ष्वाकु आदि कुलमें हुआ है, अथवा जो प्रजाको प्रिय शासन देता है या राजाके समान ऐश्वर्यशाली है उसका

स्त्रीभिर्मैथुनसंज्ञया बाध्यमानाभिः पुत्रार्थिनीभिर्वा बलात्तस्य स्वगृहे प्रवेशनमुपभोगार्थम्। विप्रकीर्णरत्नसुवर्णादिकस्यान्यैः स्वयं चोरितस्य संयत आयात इति तत्र तच्चोरिकाध्यारोपणम्। राजाऽस्य विश्वस्तो राज्यं नाशयिष्यतीति क्रुद्धैरमात्यादिभिर्वधबन्धादिकं च स्यात्। तथाऽऽहाराविशुद्धिः क्षीरादिविकृतिसेवाऽनर्घ्यरत्नादेर्लोभाच्चोरणं वरस्त्रीदर्शनाद् रागोद्रेको लोकोत्तरविभूतिदर्शनाच्च तन्निदानकरणं संभवेत्। एतद्दोषाभावेऽन्यत्रभोजनासंभवे च श्रुतविच्छेदपरिहारार्थं राजपिण्डोऽपि न प्रतिषिध्यते। कृतिकर्म—षडावश्यकानुष्ठानं गुरूणा विनयकरण वा। व्रतारोपणयोग्यत्वम्-अचेलतायां स्थित-औद्देशिकादि-पिण्डत्यागोद्यतो गुरुभक्तिमान् विनीतश्च व्रतारोपणयोग्यः स्यात्। उक्तं च—

'आचेलक्के य ठिदो उद्देसादीय परिहरदि दोसे।
गुरुभत्तिमं विणीदो होदि वदाणं स अरिहो दु॥' [ ]

ग्रहण किया है। उसके भोजनादिको राजपिण्ड कहते है। उसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि। खाद्य आदिके भेदसे आहारके चार प्रकार हैं। चटाई, पट्टा वगैरह अनाहार है, पीछी वगैरह उपधि है। इनके ग्रहण करनेमें अनेक दोष हैं—प्रथम राजभवनमें मन्त्री, श्रेष्ठी, कार्यवाहक आदि बराबर आते-जाते रहते हैं, भिक्षाके लिए राजभवनमें प्रविष्ट भिक्षुको उनके आने-जानेसे रुकावट हो सकती है। उनके कारण साधुको रुकना पड़ सकता है। हाथी, घोड़ोंके आने-जानेसे भूमि शोधकर नहीं चल सकता। नंगे साधुको देखकर और उसे अमंगल मानकर कोई बुरा व्यवहार कर सकता है, कोई उसे चोर भी समझ सकता है। क्योंकि राजकुलसे यदि कोई चोरी हो जाये तो लोग साधुको उसकी चोरी लगा सकते हैं। कामवेदनासे पीड़ित स्त्रियाँ बलात् साधुको उपभोगके लिए रोक सकती हैं। राजासे प्राप्त सुस्वादु भोजनके लोभसे साधु अनेषणीय भोजन भी ग्रहण कर सकता है। इत्यादि अनेक दोष है। किन्तु जहाँ इस प्रकारके दोषोंकी सम्भावना न हो और अन्यत्र भोजन सम्भव न हो तो राजपिण्ड भी ग्राह्य हो सकता है। पाचवाँ स्थितिकल्प है कृतिकर्म। छह आवश्यकोंका पालनक गुरुजनोंकी विनय कृतिकर्म है। बृहत्कल्पभाष्य (गा ६३९८–६४००) में कहा है कि चिरकालसे भी दीक्षित साध्वीको एक दिनके भी दीक्षित साधुकी विनय करना चाहिए। क्योंकि सभी तीर्थंकरोंके धर्ममें पुरुषकी ही ज्येष्ठता है, धर्मके प्रणेता तीर्थंकर गणधर आदि पुरुष ही होते हैं। वे ही धर्मकी रक्षा करनेमें भी समर्थ हैं जो अचेल है, अपने उद्देश्यसे बनाये गये भोजनादिका तथा राजपिण्डका त्यागी है, गुरुभक्त और विनीत है वही व्रतारोपणके योग्य होता है। यह छठा स्थितिकल्प है।

बृहत्कल्प भाष्य (गा. ६४०२–७) में कहा है कि प्रथम तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकरके धर्ममें तो पाँच यम (महाव्रत) थे किन्तु शेष बाईस तीर्थंकरोंका धर्म चतुर्याम था। उसमें मैथुन त्यागको परिग्रह त्यागमें ही ले लिया था। इसका कारण बताते हुए कहा है कि भगवान् ऋषभदेवके समयके साधु ऋजुजड़ थे। इसलिए यदि परिग्रहव्रतमें ही अन्तर्भाव करके मैथुन व्रतका साक्षात् उपदेश न दिया जाता तो वे जड होनेसे यह नहीं समझ सकते थे कि हमें मैथुन भी छोड़ना चाहिए। जब पृथक् स्पष्ट रूपसे मैथुनका निषेध किया गया तो उन्होंने सरलतासे उसका त्याग कर दिया। भगवान् महावीरके समयके साधु

१. 'सव्वाहि संजतीहि कितिकम्मं संजताण कायव्वं।
पुरिसुत्तरितो धम्मो सव्वजिणाणं पि तित्थम्मि'॥—बृ. कल्पभाष्य., ६३९९ गा.।

ज्येष्ठता—मातापितृगृहस्थोपाध्यायार्यिकादिभ्यो महत्त्वमनुष्ठानेन वा श्रेष्ठत्वम् ॥८०॥ मासैकवासिता—त्रिंशदहोरात्रमेकत्र ग्रामादौ वसति तद्भवस्तद्व्रतेः। एकत्र हि चिरावस्थाने उद्गमादिदोषपरिहाराक्षमत्वं क्षेत्रप्रतिबद्धता शातगुरुतालसता सौकुमार्यभावना ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः स्युरिति मूलाराधनाटीकायाम्। तट्टिप्पणके तु योगग्रहणादौ योगावसाने च तस्मिन् स्थाने मासमात्रं तिष्ठतीति मासं नाम नवमः स्थितिकल्पो व्याख्यातः। उक्तं च—

'पडिबंधो लहुयत्तं ण जणुवयारो ण देसविण्णाणं।
णाणादीण अबुद्धी दोसा अविहारपक्खम्मि ॥' [ ]

योगश्चेत्यादि—वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानम्। स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिरिति तदा भ्रमणे हि महानसंयमः। वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना। पतेद्वा वाप्यादिषु, स्थाणुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यते। इति त्रिंशत्यधिकदिवसशतमेकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः।

वक्रजड़ हैं। अतः मैथुनका साक्षात् निषेध न करने पर यह जानते हुए भी कि परिग्रहमें मैथुन भी आता है, वक्र होनेसे पराई स्त्रीका सेवन कर लेते और पूछने पर कह देते कि यह हमारी परिग्रह नहीं है। इसलिए भगवान् ऋषभ और महावीरने पंचयाम धर्मकी स्थापना की, किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके साधु ऋजु प्राज्ञ थे। अतः परिग्रहका निषेध कर देनेपर प्राज्ञ (बुद्धिमान् विद्वान्) होनेसे उपदेश मात्रसे ही समस्त हेय उपादेयको समझ लेते थे। अतः उन्होंने विचार किया कि बिना ग्रहण किये स्त्रीको नहीं भोगा जा सकता अतः मैथुनका सेवन भी त्याज्य है। इस प्रकार मैथुनको परिग्रहमें अन्तर्भूत करके चतुर्याम धर्मका उपदेश मध्यके बाईस तीर्थंकरोंने दिया। सातवाँ कल्प है पुरुषकी ज्येष्ठता। माता, पिता, गृहस्थ, उपाध्याय आदिसे महाव्रती ज्येष्ठ होता है या आचार्य सबसे ज्येष्ठ होते हैं आठवाँ स्थितिकल्प है प्रतिक्रमण। दोष लगनेपर उसका शोधन करना प्रतिक्रमण है। इसका पहले कथन कर आये हैं। जैसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर तथा शेष बाईस तीर्थंकरोंके समयके साधुओंको लक्ष्यमें रखकर श्वेताम्बरीय साहित्यमें पंचयाम और चतुर्याम धर्मका भेद कहा है, वैसा ही भेद प्रतिक्रमणको लेकर भी है और मूलाचारमें भी उसका कथन उसी आधार पर किया गया है। लिखा है कि प्रथम और अन्तिम जिनका धर्म सप्रतिक्रमण है अर्थात् दोष लगे या न लगे, प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके समयके साधु दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते थे क्योंकि वे ऋजुप्राज्ञ थे—सरल और बुद्धिमान् थे। परन्तु प्रथमजिनके साधु ऋजुजड़ और अन्तिम जिनके साधु वक्रजड़ हैं। तथा—बृहत्कल्प भाष्य (गाथा ६४२५) में भी यही कहा है—इसकी टीकामें लिखा है कि प्रथम और अन्तिम जिनके तीर्थमें सप्रतिक्रमण धर्म है—दोनों समय नियमसे छह आवश्यक करने होते हैं। क्योंकि उनके साधु प्रमाद बहुल होनेसे शठ होते हैं। किन्तु मध्यम जिनोंके तीर्थमें उस प्रकारका अपराध होने पर ही प्रतिक्रमणका विधान है क्योंकि उनके साधु प्रमादी नहीं हैं, शठ नहीं हैं। अस्तु।

---

१ 'सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं' ॥—मूलाचार ७।१२९।

२ 'सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स इ पच्छिमस्सय जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाण कारणजाए पडिक्कमण ॥' [ ]

कारणापेक्षया हीनमधिकं वाऽवस्थानम् । संयतानामाषाढशुद्धदशम्याः प्रभृति स्थितानामुपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानम् । वृष्टिबहुलतां श्रुतग्रहणं शक्त्यभावं वैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्यावस्थानमेकत्रेत्युत्कृष्टः कालः । मार्यां दुर्भिक्षे ग्रामजनपदचलने वा गच्छन्निमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति यावच्चत्वारो दिवसाः । एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य । एष दशमः स्थितिकल्प इत्याराधनाटीकायाम् । तट्टिप्पणके तु द्वाभ्यां द्वाभ्या मासाभ्या निषिद्धिका द्रष्टव्येति पाद्यो नाम दशमः स्थितिकल्पः व्याख्यातः । उक्तं च—

छह ऋतुओंमें एक स्थान पर एक ही मास रहना अन्य समयमें विहार करना यह नौवाँ स्थितिकल्प है । पं आशाधरजीने दसवें कल्पका नाम वार्षिक योग कहा है । वर्षाकालके चार मासोंमें एक ही स्थानपर रहना दसवाँ स्थिति कल्प है क्योंकि वर्षा ऋतुमें पृथ्वी स्थावर और जंगम जीवोंसे भरी होती है । उस समय भ्रमण करनेमें महान् असंयम होता है । इसके साथ ही वर्षासे तथा शीत झंझावातसे अपनी भी विराधना होती है । जलाशय वगैरहमें गिरनेका भय रहता है । पानीमें छिपे ठूँठ काँटे वगैरहसे भी तथा कीचड़से भी बाधा होती है । इस समयमें एक सौ बीस दिन तक एक स्थानपर रहना चाहिए यह उत्सर्ग है । विशेष कारण होनेपर अधिक और कम दिन भी ठहर सकते हैं । अर्थात् जिन मुनियोंने आषाढ शुक्ला दसमीसे चतुर्मास किया है वे कार्तिककी पूर्णमासीके बाद तीस दिन तक आगे भी उसी स्थानपर ठहर सकते हैं । ठहरनेके कारण हैं वर्षाकी अधिकता, शास्त्राभ्यास, शक्तिका अभाव या किसीकी वैयावृत्य करना । यह ठहरनेका उत्कृष्ट काल है । यदि दुर्भिक्ष पड़ जाये, महामारी फैल जाये, गाँव या प्रदेशमें किसी कारणसे उथल-पुथल हो जाये तो मुनि देशान्तरमें जा सकते हैं । क्योंकि ऐसी स्थितिमें वहाँ ठहरनेसे रत्नत्रयकी विराधना होगी । इस प्रकार आषाढकी पूर्णमासी बीतनेपर प्रतिपदा आदिके दिन जा सकते हैं ।

पं. आशाधरजीने दस कल्पोंकी व्याख्या अपनी संस्कृत टीकामें भगवती आराधनाकी अपराजित सूरि कृत टीकाके अनुसार ही की है । किन्तु वर्षावासमें हीन दिनोंके प्रमाणमें दोनोंमें अन्तर है । दोनों लिखते हैं कि आषाढी पूर्णिमा बीतनेपर प्रतिपदादिको जा सकते हैं किन्तु आशाधरजी चार दीन हीन करते हैं यथा—'पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति यावच्चत्वारो दिवसाः । एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य ।' और अपराजित सूरि बीस दिन कम करते है । यथा—'यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्यहीनता कालस्य ।' श्वेताम्बर परम्परामें भी वर्षायोगका उत्कृष्ट काल आषाढ़ पूर्णिमासे लेकर कार्तिक पर्यन्त चार मास कहा है । और जघन्य काल भाद्र शुक्ला पंचमीसे कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त सत्तर दिनरात कहा है[1] । इसके सिवाय इस दसवें स्थितिकल्पके नाममें भी अन्तर है । दस कल्पोंके नामोंको बतलानेवाली गाथा दोनों सम्प्रदायोंमें भिन्न नहीं है । उसका अन्तिम चरण है 'मासं पज्जोसवणकप्पो,' श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार दसवें कल्पका नाम 'पज्जोसवण' है । इसका संस्कृत रूप होता है 'पर्युषणा कल्प' । अर्थात् साधु जो वर्षायोग करते हैं वह पर्युषणा कल्प है । दिगम्बर परम्परामें इसीसे भाद्रमासके अन्तिम दस दिनोंके पर्वको पर्युषण पर्व भी कहा जाता है । किन्तु भगवती आराधना और मूलाचारमें पज्जो और सवणको अलग-अलग मानकर अर्थ किया गया है । भगवती आराधनाके टीकाकार

१. 'चाउम्मासुक्कोसे सत्तरिराइंदिया जहण्णेण ।'—बृ. कल्पसूत्र भाष्य—६४३६ गा. ।

'आचेलक्योद्देशिकशय्यागृहराजपिण्डकृतिकर्मं ।
ज्येष्ठव्रतप्रतिक्रममासं पाद्यं श्रमणकल्पः ॥
एतेषु दशसु नित्यं समाहितो नित्यवाच्यताभीरुः ।
क्षपकस्य विशुद्धिमसौ यथोक्तचर्यां समुद्दिशति ॥' [　　　] ॥८१॥

अथ प्रतिमायोगस्थितस्य मुनेः क्रियाविधिमाह—

लघीयसोऽपि प्रतिमायोगिनो योगिनः क्रियाम् ।
कुर्युः सर्वेऽपि सिद्धर्षिशान्तिभक्तिभिरादरात् ॥८२॥

अपराजित सूरिने तो लिखा है—'पज्जो समण कप्पो नाम दशमः,' वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेसु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। इनके अर्थमें भेद नहीं है। किन्तु इससे आगेके ग्रन्थकारोंने दसवें कल्पका नाम केवल 'पज्जो' ही समझ लिया। पं. आशाधरजीने अपनी मूलाराधनामें 'पज्जो'का ही अर्थ वर्षाकालके चार मासोंमें एक जगह रहना किया है। किन्तु यह पूरा अर्थ 'पज्जोसवण'से निष्पन्न होता है। 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'वस्'से प्राकृतका पज्जोसवण शब्द बना है। मूलाचारके टीकाकार वसुनन्दि आचार्यने 'मासं पज्जो'का विचित्र ही अर्थ किया है—'मासोः योगग्रहणात् प्राङ्मासमात्रमवस्थानं कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योगं समाप्य मासमात्रमवस्थानं कर्तव्यम्।' अर्थात् 'वर्षायोग ग्रहण करनेसे पहले एक मास ठहरना चाहिए। उसके बाद वर्षाकाल आनेपर योग ग्रहण करना चाहिए। तथा योगको समाप्त करके एक मास ठहरना चाहिए।'

ऐसा क्यों करना चाहिए यह बतलाते हुए वह लिखते हैं—लोगोंकी स्थिति जाननेके लिए और अहिंसा आदि व्रतोंके पालनेके लिए वर्षायोगसे पहले एक मास ठहरना चाहिए और वर्षायोग बीतनेपर भी एक मास और ठहरना चाहिए जिससे श्रावक लोगोंको मुनि वियोगका दुःख न हो। आगे अथवा देकर दूसरा अर्थ करते हैं कि प्रत्येक ऋतुमें एक-एक मास मात्र ठहरना चाहिए और एक मास विहार करना चाहिए। यह मास नामक श्रमण कल्प है। इसके बाद अथवा करके तीसरा अर्थ करते हैं—अथवा वर्षाकालमें योग ग्रहण करना और चार-चार मासमें नन्दीश्वर करना यह मास श्रमणकल्प है।

इस तरह वसुनन्दिजीने दसवें कल्पका जो अर्थ है उसे नवम कल्पका ही अर्थ मान लिया है। अब दसवेंका अर्थ करते हैं—'पज्जो—पर्या पर्युपासनं निषद्यकायाः पञ्चकल्याण-स्थानानां च सेवनं पर्युत्युच्यते, *श्रमणस्य श्रामणस्य* वा कल्पो विकल्पः श्रमणकल्पः।' अर्थात् 'पज्जो' का संस्कृत रूप होता है 'पर्या'। उसका अर्थ है अच्छी तरह उपासना करना अर्थात् निषद्याओंका और पंचकल्याण स्थानोंका सेवन करना। यह पज्जो नामक श्रमणोंका कल्प है। इस तरह 'पज्जोसवणकप्पो' में-से पज्जोको अलग करके और 'सवण'को श्रमण मानकर दसवें कल्पके नामका विपर्यास हो गया है।

पं. आशाधरजी तो वसुनन्दिके पश्चात् हुए हैं किन्तु उन्होंने मासकल्पका अर्थ आगमानुकूल ही किया है। तथा दसवें कल्पका नाम योग अर्थात् वर्षायोग रख दिया है। इस तरह वसुनन्दी आचार्यकी तरह उनके अभिप्रायमें अन्तर नहीं है॥८०-८१॥

आगे प्रतिमायोगसे स्थित मुनिकी क्रियाविधि कहते हैं—

दिन-भर सूर्यकी तरफ मुख करके कायोत्सर्गसे स्थित रहनेको प्रतिमायोग कहते हैं। प्रतिमायोग धारण करनेवाला साधु यदि दीक्षामें लघु हो, तब भी सभी अन्य साधुओंको

प्रतिमायोगिनः—दिनं यावदभिसूर्यं कायोत्सर्गावस्थायिनः। सर्वेऽपि—श्रमणाः। उक्तं च—

'प्रतिमायोगिनः साधोः सिद्धानागारशान्तिभिः।
विधीयते क्रियाकाण्डं सर्वसंघैः सुभक्तितः॥' ॥८२॥

अथ दीक्षाग्रहणलुञ्चनक्रियाविधिमाह—

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम्।
लुञ्चाख्यानाग्न्यपिच्छात्म क्षम्यतां सिद्धभक्तितः॥८३॥

अर्प्यतां—आरोप्यताम्। आख्या—नामकरणम्। क्षम्यतां—लिङ्गार्पणविधानं समाप्यताम् ॥८३॥

अथ दीक्षादानोत्तरकर्तव्यं पद्ययुगलेनाह—

व्रतसमितीन्द्रियरोधाः पञ्च पृथक् क्षितिशयो रदाघर्षः।
स्थितिसकृदशने लुञ्चावश्यकषट्के विचेलताऽस्नानम्॥
इत्यष्टाविंशतिं मूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते।
संक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात् प्रतिक्रमम्॥८४-८५॥

पञ्च पृथक्—पञ्च पञ्चेत्यर्थः। रदाघर्षः—अदन्तधावनम्।
स्थितिसकृदशने—उद्भोजित्वमेकभक्तं चेत्यर्थः। अस्नानं—जलावगाहनोद्वर्तनाद्यभावः ॥८४॥

आदरके साथ सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्तिपूर्वक उनकी क्रियाविधि करनी चाहिए ॥८२॥

आगे दीक्षाग्रहण और केशलोंचकी क्रियाविधि कहते हैं—

केशलोंच, नामकरण, नग्नता और पीछी ये ही जिनलिंगके रूप हैं। अर्थात् मुनिदीक्षा धारण करते समय केशलोंच करना होता है, वस्त्रका सर्वथा त्याग करना होता है, नवीन नाम रखा जाता है तथा पीछी-कमण्डलु लिया जाता है। ये सब जिनलिंग है। ये लिंग बृहत् सिद्ध भक्ति और बृहत् योगिभक्तिपूर्वक देना चाहिए और सिद्धभक्तिके साथ लिंगदानके इस विधानको समाप्त करना चाहिये ॥८३॥

दीक्षादानके बादकी क्रिया दो गाथाओंसे कहते हैं—

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँचों इन्द्रियोंको वशमें करना, पृथ्वीपर सोना, दन्त-धावन न करना, खड़े होकर भोजन करना तथा दिनमें एक ही बार भोजन करना, केशलोंच, छह आवश्यक, वस्त्र मात्रका त्याग और स्नान न करना ये अट्ठाईस मूलगुण हैं। तथा चौरासी लाखगुण और अठारह हजार शील हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यको दीक्षित साधुमें संक्षेपसे इन उत्तरगुणों और शीलोंके साथ अट्ठाईस मूलगुणोंकी स्थापना करनेके बाद प्रतिक्रमण करना चाहिए ॥८४–८५॥

विशेषार्थ—साधु जीवन बड़ा पवित्र जीवन होता है। उसके इस मानदण्डको बनाये रखनेके लिए साधु जीवनमें प्रवेश करनेवालोंसे कुछ वैशिष्ट्यकी अपेक्षा की जाती है। इसलिए कुछ व्यक्तियोंको साधु बननेके अधिकारसे वंचित रखा गया है—बाल, वृद्ध, नपुंसक, रोगी, अंगहीन, डरपोक, बुद्धिहीन, डाकू, राजशत्रु, पागल, अन्ध, दास, धूर्त, मूढ़, कर्जदार, भागा हुआ, गर्भिणी, प्रसूता। बौद्ध महावग्गमें भी सैनिक, रोगी, चोर, जेल तोड़कर भागनेवाला, डाकू, कर्जदार, दास और तपे लोहेसे दागे हुए व्यक्तिको संघमें सम्मिलित करनेका अनधिकारी कहा है। प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें कहा है कि यदि दुःखसे छूटना चाहते हो तो मुनिधर्मको स्वीकार करो। जो मुनिधर्म स्वीकार करना चाहता है

प्रतिक्रमं—व्रतारोपणप्रतिक्रमणम् । तस्मिन्नेव दिने सूरिः कुर्यात् । सुलग्नाद्यभावे कतिपयदिवसव्यवधानेऽपि ॥८५॥

अथान्यद्यतनलोचकालक्रियानुष्ठाननिर्णयार्थमाह—

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः ॥८६॥

लघुप्राग्भक्तिभिः—लघुसिद्धयोगिभक्तिभ्यां प्रतिष्ठाप्य. लघुसिद्धभक्त्या निष्ठाप्यः इत्यर्थ. । उक्तं च—

'लोचो द्वित्रिचतुर्मासैः सोपवासप्रतिक्रमः ।
लघुसिद्धर्षिभक्त्यान्यः क्षम्यते सिद्धभक्तितः ॥' [ ] ॥८६॥

अथादिमान्तिमतीर्थकरावेव व्रतादिभेदेन सामायिकमुपदिशतः स्म नाजितादयो द्वाविंशतिरिति सहेतुकं व्याचष्टे—

दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा ।
दुष्पालं वक्रजडैरिति साम्यं नापरे सुपटु शिष्याः ॥८७॥

उसे सबसे प्रथम परिवारसे पूछना चाहिए और जब माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि मुक्त कर दें तो किसी गुणसम्पन्न विशिष्ट कुलरूप और वयसे युक्त आचार्यके पास जाकर प्रार्थना करे। उनकी अनुज्ञा मिलनेपर वह विधिपूर्वक दीक्षा लेकर नग्न दिगम्बर हो जाता है। वह अन्तरंग और बाह्यलिंग धारण करके गुरुको नमस्कार करके उनसे सर्वसावद्य योगके त्यागरूप एक महाव्रतको जानकर अट्ठाईस मूलगुणपूर्वक सामायिक संयमको धारण करके श्रमण बन जाता है। श्वे. ज्ञाताधर्मकथा नामक अगमें दीक्षाविधिका विस्तारसे वर्णन मिलता है ॥८४-८५॥

मुनिदीक्षाके समय तो केशलोंच किया ही जाता है। उसके बाद केशलोंचका काल और क्रियाविधि कहते हैं—

केशलोंचके तीन प्रकार है—उत्कृष्ट, मध्यम और अधम। जो दो माहके बाद किया जाता है वह उत्कृष्ट है। तीन मासके बाद किया जाये तो मध्यम और चार मासके बाद किया जाये तो अधम है। यह अवश्य करना चाहिए। इसका प्रारम्भ लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति पूर्वक होता है और समाप्तिपर लघु सिद्धभक्ति की जाती है। तथा उस दिन उपवास और केशलोंच सम्बन्धी क्रियाका प्रतिक्रमण भी करना चाहिए ॥८६॥

विशेषार्थ—श्वेताम्बर साहित्यमें भी लोंचके सम्बन्धमें ऐसा ही विधान पाया जाता है ॥८६॥

आगे कहते हैं कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरने ही व्रतादिके भेदसे सामायिकका उपदेश दिया, अजितनाथ आदि बाईस तीर्थंकरोंने नहीं तथा उसका कारण भी कहते हैं—

भगवान् आदिनाथके शिष्य ऋजुजड़ थे अर्थात् सरल होनेपर भी अज्ञानी थे अतः वे भेद किये बिना साम्यभावरूप सामायिक चारित्रको नहीं समझ सकते थे। इसलिए भगवान आदिनाथने भेदरूप सामायिक संयमका उपदेश दिया। भगवान् महावीरके शिष्य वक्रजड़ थे, अज्ञानी होनेके साथ हृदयके सरल नहीं थे अतः भगवान् महावीरने भी भगवान् आदिनाथकी तरह ही भेद सहित सामायिक चारित्रका उपदेश किया। किन्तु मध्यके बाईस

पुरुरिव—आदिनाथो यथा। सुपटुशिष्याः—ऋजुवक्रजडत्वाभावात् सुष्ठु पटवो शिष्या येषाम् ॥८७॥

अथ जिनमुद्रायोग्यतास्थापनामुपदिशति—

सुदेशकुलजात्यङ्गे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि।
निष्कलङ्के क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम् ॥८८॥

निष्कलङ्के—ब्रह्महत्याद्यपवादरहिते[1]। क्षमे—बालत्ववृद्धत्वादिरहिते। उक्तं च—

'ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये सुदेशकुलजातिजे।
अर्हतः स्थाप्यते लिङ्गं न निन्द्यबालकादिषु ॥
पतितादेर्न सा देया जैनीमुद्रा बुधार्चिता।
रत्नमाला सता योग्या मण्डले न विधीयते ॥

तीर्थंकरोंके शिष्य सरल होनेके साथ बुद्धिमान् थे। सामायिक कहनेसे समझ जाते थे। अतः बाईस तीर्थंकरोंने व्रतादिके भेदपूर्वक सामायिकका कथन नहीं किया ॥८७॥

विशेषार्थ—असलमें सर्व सावद्य योगके प्रत्याख्यानरूप एक महाव्रतके ही भेद अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं और उसीके परिकर पाँच समिति आदि शेष मूलगुण हैं। इस तरह ये निर्विकल्प सामायिक संयमके ही भेद हैं। जब कोई मुनिदीक्षा लेता है तो निर्विकल्प सामायिक संयम ही पर आरूढ होता है। किन्तु अभ्यास न होनेसे जब उससे च्युत होता है तब वह भेदरूप व्रतोंको धारण करता है और वह छेदोपस्थापक कहलाता है। इस छेदोपस्थापना चारित्रका उपदेश केवल प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरने ही दिया क्योंकि प्रथम तीर्थंकरके साधु अज्ञानी होनेसे और अन्तिम तीर्थंकरके साधु अज्ञानी होनेके साथ कुटिल होनेसे निर्विकल्प सामायिक संयममें स्थिर नहीं रह पाते थे तब उन्हें व्रतोंको छेदकर दिया जाता है। कहा है[2]—बाईस तीर्थंकर केवल सामायिक संयमका ही उपदेश करते हैं किन्तु भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर छेदोपस्थापनाका भी कथन करते हैं ॥८७॥

जिनलिंग धारण करनेकी योग्यता बतलाते हैं—

जिनमुद्रा इन्द्रादिके द्वारा पूज्य है। अतः धर्माचार्योंको प्रशस्त देश, प्रशस्त वंश और प्रशस्त जातिमें उत्पन्न हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको, जो निष्कलंक है, ब्रह्महत्या आदिका अपराधी नहीं है तथा उसे पालन करनेमें समर्थ है अर्थात् बाल और वृद्ध नहीं है उसे ही जिनमुद्रा प्रदान करना चाहिए। वही साधु पदके योग्य है ॥८८॥

विशेषार्थ—जिनमुद्राके योग्य तीन ही वर्ण माने गये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। आचार्य सोमदेवने भी ऐसा ही कहा है—आचार्य जिनसेनने[3] कहा है—जिसका कुल और

१. ब्राह्मणहत्याद्यपराधरहिते भ. कु. च.।

२. 'बावीसं तित्थयरा सामायिय संजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य' ॥—मूलाचार ७।३६

३. 'विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः।
दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः' ॥—महापु. ३९।१५८

न कोमलाय बालाय दीयते व्रतमर्चितम् ।
न हि योग्ये महोक्षस्य भारे वत्सो नियोज्यते ॥' [ ]

३ न च मुमुक्षूणां दीक्षादानादिकं विरुध्यते । सरागचरितानां तद्विधानात् ।

यदाह—

गोत्र विशुद्ध है, चारित्र उत्तम है, रूप सुन्दर है और बुद्धि सन्मार्गकी ओर है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहणके योग्य है ।

पिताकी अन्वय शुद्धिको कुल और माताकी अन्वय शुद्धिको जाति कहते हैं । अर्थात् जिसका मातृकुल और पितृकुल शुद्ध है वही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दीक्षाका पात्र माना गया है । केवल जन्मसे ब्राह्मण आदि होनेसे ही दीक्षाका पात्र नहीं होता । कहा है—जाति, गोत्र आदि कर्म शुक्लध्यानके कारण हैं । जिनमें वे होते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहे जाते हैं । शेष सब शूद्र हैं' कुल और जातिके साथ सुदेशमें जन्मको भी जिनदीक्षाके योग्य बतलाया है । जैनसिद्धान्तमें भरतक्षेत्रको दो भागोंमें विभक्त किया है—कर्मभूमि और अकर्मभूमि । जिनमुद्राका धारण कर्मभूमिमें ही होता है अकर्मभूमिमें नहीं, क्योंकि वहाँ धर्म-कर्मकी प्रवृत्तिका अभाव है । किन्तु अकर्मभूमिज मनुष्यके संयम माना है । यह कैसे सम्भव है ? इस चर्चाको जयधवलासे दिया जाता है—उसमें कहा है—'कम्मभूमियस्स' ऐसा कहनेसे पन्द्रह कर्मभूमियोंके मध्यके खण्डोंमें उत्पन्न हुए मनुष्यका ग्रहण करना चाहिए । भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें विनीत नामवाले मध्य खण्डको छोड़कर शेष पाँच खण्डोंमें रहनेवाला मनुष्य यहाँ अकर्मभूमिया कहा गया है क्योंकि इन खण्डोंमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति असम्भव होनेसे अकर्मभूमिपना बनता है । शंका—यदि ऐसा है तो वहाँ संयमका ग्रहण कैसे सम्भव है ? समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है । क्योंकि दिग्विजय करनेमें प्रवृत्त चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जो म्लेच्छ राजा मध्यम खण्डमें आ जाते हैं और वहाँ चक्रवर्ती आदिके साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता है उनके संयम ग्रहण करनेमें कोई विरोध नहीं है । अथवा उनकी जो कन्याएँ चक्रवर्ती आदिके साथ विवाही जाती हैं उनके गर्भसे उत्पन्न बालक यहाँ मातृपक्षकी अपेक्षा अकर्मभूमियाँ कहे गये हैं । इसलिए कोई विरोध नहीं है क्योंकि इस प्रकारके मनुष्योंके दीक्षा योग्य होनेमें कोई निषेध नहीं है ।

इस तरह म्लेच्छ कन्याओंसे उत्पन्न कर्मभूमिज पुरुषोंको भी दीक्षाके योग्य माना गया है । किन्तु उनका कुल आदि शुद्ध होना चाहिए । कहा भी है—उत्तम देश, कुल और

---

१. जाति-गोत्रादि-कर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः ।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः ॥—महापु ७४।४९३

२. 'कम्मभूमियस्से त्ति वुत्ते पण्णरस कम्मभूमीसु मज्झिम-खंड समुप्पण्णस्स गहणं कायव्वं । को अकम्मभूमिओ णाम ? भरहेरावयविदेहेसु विणीद-मण्णिद-मज्झिमखंडं मोत्तूण सेसपंचखंडनिवासी मणुओ एत्थाकम्मभूमिओ त्ति विवक्खिओ, तेसु धम्मकम्म पवुत्तीए असंभवेण तब्भावोववत्तीदो । जइ एवं कुदो तत्थ संजमग्गहण संभवोत्ति णासंकणिज्जं, दिसाविजयपयट्ट-चक्कवट्टि खंधावारेण सह मज्झिम खंडमागयाणं मिलेच्छरायाणं तत्थ चक्कवट्टिआदीहिं सहजादवेवाहियसंबंधाणं संजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो । अथवा तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्नमातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिता. । ततो न किंचिद् विप्रतिषिद्धं, तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ।'

'दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरायाणं जिणिंदपूजोवएसो य ॥' [प्रवचनसार ३।४८] ॥८८॥

अथ महाव्रतविहीनस्य केवलेनैव लिङ्गेन दोषविशुद्धिर्न स्यादिति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

महाव्रतावृते दोषो न जीवस्य विशोध्यते ।
लिङ्गेन तोयावूषेण वसनस्य यथा मलः ॥८९॥

स्पष्टम् ॥८९॥

अथ लिङ्गयुक्तस्य व्रतं कषायविशुद्धये स्यादिति निदर्शनेन दृढयति—

मृद्यन्त्रकेण तुष इव दलिते लिङ्गग्रहेण गार्हस्थ्ये ।
मुशलेन कणे कुण्डक इव नरि शोध्यो व्रतेन हि कषायः ॥९०॥

कणे—कलमादिधान्यंशे । कुण्डकः—अन्तर्वेष्टनमलः । शोध्यः—शोधयितुं शक्य. ॥९०॥

जातिमें जन्मे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको जिनलिंग धारण कराया जाता है, निन्दनीय पुरुषों और बालकोंको नहीं। विद्वानोंसे पूजनीय जिनमुद्रा पतित जनोंको नहीं देना चाहिए। सत्पुरुषोंके योग्य रत्नमालाको कुत्तेके गलेमें नहीं पहनाया जाता। पूजनीय जिनलिंग कोमलमति बालकको नहीं दिया जाता। उत्तम बैलके योग्य भारको वहन करनेमें बछड़ेको नहीं लगाया जाता। शायद कोई कहे कि मुमुक्षुओंको दीक्षा देना आदि कार्य विरुद्ध पड़ता है क्योंकि जो मुमुक्षु हैं उन्हें इन बातोंसे क्या प्रयोजन। उसे तो मात्र आत्महितमें ही लगना चाहिए। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो मुमुक्षु मुनिपद धारण करके भी कषायका लेश जीवित होनेसे शुद्धोपयोगकी भूमिकापर आरोहण करनेमें असमर्थ होते हैं वे शुद्धोपयोगकी भूमिकाके पासमें निवास करनेवाले शुभोपयोगी भी मुनि होते हैं क्योंकि शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थ समवाय है। अतः शुभोपयोगियोंके भी धर्मका सद्भाव होता है। शुभोपयोगी मुनि दीक्षा दान आदि करते हैं। कहा है—दूसरोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छापूर्वक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके उपदेशमें प्रवृत्ति, शिष्योंके संग्रहमें प्रवृत्ति, उनके पोषणमें प्रवृत्ति और जिनेन्द्रकी पूजाका उपदेश ये शुभोपयोगी श्रमणोंकी चर्या हैं। किन्तु शुभोपयोगी श्रमण जो भी प्रवृत्ति करता है वह सर्वथा संयमके अविरोधपूर्वक ही करता है क्योंकि प्रवृत्ति संयमके लिए ही की जाती है ॥८८॥

आगे कहते हैं कि जो महाव्रतोंका आचरण नहीं करता उसके दोषोंकी विशुद्धि केवल जिनलिंग धारणसे नहीं होती—

जैसे, जलके बिना केवल खारी मिट्टीसे वस्त्रका मैल दूर नहीं होता, उसी प्रकार महाव्रतका पालन किये बिना केवल बाह्य लिंगसे अर्थात् नग्न रहने, केशलोंच करने आदिसे जीवके रागादि दोष दूर नहीं होते ॥८९॥

किन्तु जैसे केवल बाह्य चिह्न धारण करनेसे दोषोंकी विशुद्धि नहीं होती, वैसे ही बाह्य लिंगके बिना केवल महाव्रतसे भी दोषोंकी विशुद्धि नहीं होती। किन्तु लिंगसे युक्त व्रतसे ही दोषोंकी विशुद्धि होती है, यह आगे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

जैसे मिट्टीसे बने यन्त्र-विशेषसे जब धानके ऊपरका छिलका दूर कर दिया जाता है तब उसके भीतरकी पतली झिल्लीको मूसलसे छड़कर दूर किया जाता है। उसी तरह व्रतको

१. 'दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाण जिणिंदपूजोवदेसो य ॥'—प्रवचनसार, २४८ गा.।

अथ भूमिशयनविधानमाह—

अनुत्तानोऽनवाङ् स्वप्याद् भूदेशेऽसंस्तृते स्वयम् ।
स्वमात्रे संस्तृतेऽल्पं वा तृणादिशयनेऽपि वा ॥९१॥

अनवाङ्—अनधोमुखः अन्यथा स्वप्नदर्शनरेतश्च्यवनादिदोषाम्नायात् । स्वप्यात्—दण्डवद् धनुर्वद्वा एकपार्श्वेन शयीतेत्यर्थ । अल्प—गृहस्थादियोग्यं प्रच्छादनरहित इत्यर्थः । तृणादि—आदिशब्देन काष्ठ-शिलादिशयने । तत्रापि भूमिप्रदेशवदसंस्तृतेऽल्पसंस्तृते वा ।

उक्तं च—

'फासुयभूमिपदेसे अप्पमसंथारिदम्हि पच्छण्णे ।
दंडधणुव्व सेज्जं खिदिसयण एयपासेण ॥' [मूलाचार गा ३२] ॥९१॥

अथ स्थितिभोजनविधिकालावाह—

तिस्रोऽपास्याद्यन्तनाडीर्मध्येऽन्ह्याद्यात् स्थितः सकृत् ।
मुहूर्तमेकं द्वौ त्रीन्वा स्वहस्तेनानपाश्रयः ॥९२॥

अनपाश्रयः—भित्तिस्तम्भाद्यवष्टम्भरहित । उक्तं च—

'उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि ।
एकम्हि दुय तिए वा मुहुत्तकालेयभत्त तु ॥

प्रकट करनेवाले बाह्य चिह्नोंका स्वीकार करनेसे जब गार्हस्थ्य अवस्थाको दूर कर दिया जाता है तब व्रतोंको धारण करनेसे कषायको दूर किया जाता है। अर्थात् गृहस्थ अवस्थामें ही रहते हुए महाव्रतका धारण नहीं हो सकता। अत बाह्य लिंग पूर्वक व्रत धारणसे ही आत्माकी विशुद्धि हो सकती है ॥९०॥

आगे भूमिपर सोनेकी विधि कहते हैं—

साधुको तृण आदिके आच्छादनसे रहित भूमिप्रदेशमें अथवा अपने द्वारा मामूली-सी आच्छादित भूमिमें, जिसका परिमाण अपने शरीरके बराबर हो, अथवा तृण आदिकी शय्यापर, न ऊपरको मुख करके और न नीचेको मुख करके सोना चाहिए ॥९१॥

विशेषार्थ—साधुके अट्ठाईस मूल गुणोंमें एक भूमिशयन मूल गुण है इसीका स्वरूप यहाँ बतलाया है। भूमि तृण आदिसे ढकी हुई न हो, या शयन करनेवालेने स्वयं अपने हाथसे भूमिपर मामूली-सी घास आदि डाल ली हो और वह भी अपने शरीर प्रमाण भूमिमें ही या तृण, काठ और पत्थरकी बनी शय्यापर साधुको सोना चाहिए। किन्तु न तो ऊपरको मुख करके सीधा सोना चाहिए और न नीचेको मुख करके एकदम पेटके बल सोना चाहिए; क्योंकि इस तरह सोनेसे स्वप्नदर्शन तथा वीर्यपात आदि दोषोंकी सम्भावना रहती है। अतः एक करवटसे या तो दण्डकी तरह सीधा या धनुषकी तरह टेढ़ा सोना चाहिए। मूलाचार (गाथा ३२) में भी ऐसा ही विधान है। उसे करवट नहीं बदलना चाहिए ॥९१॥

खड़े होकर भोजन करनेकी विधि और कालका प्रमाण कहते हैं—

दिनके आदि और अन्तकी तीन-तीन घड़ी काल छोड़कर, दिनके मध्यमें खड़े होकर और भीत, स्तम्भ आदिका सहारा न लेकर एक बार एक, दो या तीन मुहूर्त तक अपने हाथसे भोजन करना चाहिए ॥९२॥

विशेषार्थ—साधुके अट्ठाईस मूलगुणोंमें एक मूलगुण स्थिति भोजन है और एक मूल गुण एक भक्त है। यहाँ इन दोनोंका स्वरूप मिलाकर कहा है। किन्तु मूलाचारमें दोनोंका

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥' [मूलाचार गा. ३५, ३४]

अत्रेयं टीकोक्ता विशेषव्याख्या लिख्यते—'समपादाञ्जलिपुटाभ्यां न सर्व एकभक्तकालस्त्रिमुहूर्तमात्रोऽपि विशिष्यते किन्तु भोजनं मुनेर्विशिष्यते। तेन त्रिमुहूर्तकालमध्ये यदा यदा भुङ्क्ते तदा तदा समपादं कृत्वाञ्जलिपुटेन भुञ्जीत। यदि पुनर्भोजनक्रियायां प्रारब्धायां समपादौ न विशिष्यते अञ्जलिपुटं च न विशिष्यते हस्तप्रक्षालने कृतेऽपि तदानी जानूपरिव्यतिक्रमो योऽयमन्तरायः पठितः स न स्यात्। नाभेरधो निर्गमनं योऽन्तरायः सोऽपि न स्यात्। अतो ज्ञायते त्रिमुहूर्तमध्ये एकत्र भोजनक्रिया प्रारभ्य केनचित् कारणान्तरेण हस्तौ प्रक्षाल्य मौनेनान्यत्र गच्छेद् भोजनाय यदि पुनः सोऽन्तरायो भुञ्जानस्यैकत्र भवतीति मन्यते जानूव्यतिक्रमविशेषणमनर्थकं स्यात्। एवं विशेषणमुपादीयेत। समपादयोर्मनागपि चलितयोरन्तरायः स्यात्। नाभेरधो निर्गमनं दूरत एव न संभवतीति। अन्तरायपरिहारार्थमनर्थकं ग्रहणं स्यात्। तथा पादेन किञ्चिद्ग्रहणमित्येवमादीन्यन्तरायव्यापकानि सूत्राणि अनर्थकानि स्युः। तथाञ्जलिपुटं यदि न भिद्यते करेण किंचिद् ग्रहणमन्तरायस्य विशेषणमनर्थकं स्यात्। गृह्णातु वा मा वा अञ्जलिपुटभेदेनान्तरायः स्यादित्येवमुच्यते। तथा जान्वधःपरामर्श सोऽप्यन्तरायस्य विशेषणं न स्यात्। एवमन्येऽप्यन्तरायाः न स्युरिति ॥९२॥

स्वरूप दो गाथाओंसे पृथक्-पृथक् कहा है। और टीकाकारने अपनी टीकामें विस्तारसे प्रकाश डाला है वह यहाँ लिखा जाता है। पहले स्थिति भोजनका स्वरूप कहा है—जिस भूमि-प्रदेशपर आहार लेनेवाला खड़ा हो, जिस भूमि-प्रदेशपर आहार देनेवाला खड़ा हो और उन दोनोंके बीचका जो भूमि-प्रदेश है जिसपर जूठन गिरती है ये तीनों भूमि-प्रदेश जीव हिंसा आदिसे रहित होने चाहिए। ऐसे परिशुद्ध भूमि-प्रदेशपर भीत आदिका सहारा न लेते हुए दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखते हुए खड़े होकर अपने हाथोंकी अंजलि बनाकर जो भोजन किया जाता है उसे स्थिति भोजन नामक व्रत कहते हैं। एक भोजनका काल तीन मुहूर्त है। किन्तु साधु तीन मुहूर्त तक समपाद होकर अंजलिपुटके साथ खड़ा नहीं रहता। इसका सम्बन्ध भोजनके साथ है। अतः तीन मुहूर्त कालमें जब साधु भोजन करता है तब दोनों पैरोंको बराबर रखकर अंजलिपुटसे भोजन करता है। यदि समपाद और अंजुलिपुट भोजनके विशेषण न हों तो भोजनकी क्रिया प्रारम्भ होनेपर हाथ धो लेनेपर जो जानुपरिव्यतिक्रम और नाभिअधोनिर्गमन नामक अन्तराय कहा है वे नहीं हो सकते। इससे ज्ञात होता है कि तीन मुहूर्तके भीतर एक जगह भोजनकी क्रिया प्रारम्भ करनेपर हाथ धोनेपर किसी कारणवश भोजनके लिए मुनि मौनपूर्वक अन्यत्र जाता है तभी उक्त दोनों अन्तराय हो सकते हैं। यदि यह अन्तराय एक ही स्थानपर भोजन करते हुए होता है ऐसा मानते हो तो जानूपरिव्यतिक्रम—अर्थात् घुटने प्रमाण ऊँची किसी वस्तुको लांघकर जाना—विशेषण व्यर्थ होता है। तब ऐसा कहना चाहिए था यदि दोनों समपाद किंचित् भी चलित हो जायें तो भोजनमें अन्तराय होता है। इसी तरह नाभिसे नीचे होकर निकलना अन्तराय भी भोजन करते समय सम्भव नहीं है। अतः उसका भी ग्रहण व्यर्थ होता है। तथा 'पैरसे कुछ ग्रहण करना' यह अन्तराय भी नहीं बनता। तथा यदि भोजनके समय अंजुलिपुट नहीं छूटता तो 'हाथसे कुछ ग्रहण करना' यह अन्तराय नहीं बनता। ऐसी स्थितिमें तो हाथसे कुछ ग्रहण करे या न करे, अंजुलिपुटके छूटनेसे अन्तराय होता है इतना ही कहना चाहिए था। इसी तरह 'जानुसे नीचे छूना' यह अन्तराय भी नहीं बनता इसी तरह अन्य भी अन्तराय नहीं बनते। सिद्धभक्ति करनेसे पहले यदि इस प्रकारके

अथ किमर्थं स्थितिभोजनमनुष्ठीयत इत्याह—

यावत्करौ पुटीकृत्य भोक्तुमुद्भः क्षमेऽद्म्यहम् ।
तावन्नैवान्यथेत्यागूसंयमार्थं स्थिताशनम् ॥९३॥

पुटीकृत्य—भाजनीकृत्य संयोज्य वा। क्षमे—शक्नोम्यहम् । अधि—भुञ्जे। आगूसंयमार्थं—एवंविधप्रतिज्ञार्थमिन्द्रियप्राणसंयमार्थं च । उक्तं चाचारटीकायाम्—'यावद् हस्तपादौ मम संवहतस्तावदाहारग्रहणं योग्यं नान्यथेति ज्ञापनार्थं स्थितस्य हस्ताभ्यां भोजनम् । उपविष्टः सन् भाजनेनान्यहस्तेन वा न भुञ्जेऽहमिति प्रतिज्ञार्थं च । अन्यच्च स्वकरतलं शुद्धं भवति । अन्तराये सति बहोर्विसर्जनं च न भवति । अन्यथा पात्रीं सर्वाहारपूर्णां त्यजेत् । तत्र च दोषः स्यात् । इन्द्रियसंयमप्राणिसंयमपरिपालनार्थं च स्थितस्य भोजनमुक्तमिति ।'—मूलाचार टी. गा. ४४ ।

एतदेव चान्यैरप्यन्वाख्यायि—

'यावन्मे स्थितिभोजनेऽस्ति दृढता पाण्योश्च संयोजने,
भुञ्जे तावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यते. ।
कायेऽप्यस्पृहचेतसोऽन्त्यविधिषु प्रोल्लासिना सम्मते-
र्न ह्येतेन दिवि स्थितिर्न नरके संपद्यते तद्विना ॥' [पद्म पञ्च १।४३] ॥९३॥

अन्तराय होते हैं तो उन्हें अन्तराय नहीं माना जाता। यदि वैसा माना जावे तो साधुको भोजन ही करना दुर्लभ हो जाये। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जबतक साधु सिद्धभक्ति नहीं करता तबतक बैठकर और पुनः खड़ा होकर भोजन कर सकता है, मांस आदि देख लेनेपर तथा रोदन आदिका शब्द सुनकर भी भोजन कर सकता है अर्थात् ऐसी घटनाएँ यदि सिद्धभक्ति करनेसे पहले होती हैं तो उन्हें अन्तराय नहीं माना गया। दूसरे मूलगुण एकभक्तके सम्बन्धमें ग्रन्थकार आगे स्वयं विशेष कथन करेंगे ॥९२॥

आगे खड़े होकर भोजन करनेका क्या कारण है, यह बतलाते हैं—

दोनों हाथोंको मिलाकर तथा खड़े होकर भोजन करनेमें जबतक मैं समर्थ हूँ तबतक भोजन करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा, इस प्रकारकी प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए तथा इन्द्रिय-संयम और प्राणिसंयमके लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते हैं ॥९३॥

विशेषार्थ—मूलाचार (गा. ३४) की टीकामें कहा है—जबतक मेरे हाथ-पैर समर्थ हैं तबतक मैं आहार ग्रहण करनेके योग्य हूँ अन्यथा नहीं, यह बतलानेके लिए खड़े होकर हाथमें भोजन करना कहा है। तथा मैं बैठकर पात्रमें या दूसरेके हाथसे भोजन नहीं करूँगा, इस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिए भी उक्त प्रकारसे भोजन कहा है। दूसरे अपनी हथेली शुद्ध होती है। यदि भोजनमें अन्तराय हो जाये तो बहुत जूठन छोड़ना नहीं होता। भोजन पात्रमें करनेपर यदि अन्तराय आ जाये तो भरी थाली भी छोड़नी पड़ सकती है। और इसमें बहुत दोष है। इसके साथ ही इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमका पालन करनेके लिए भी खड़े होकर भोजन करना कहा है। बैठकर आरामसे भोजन करनेपर अधिक भोजन भी हो सकता है। और ऐसी अवस्थामें अन्नका मद इन्द्रियोंको सशक्त बना सकता है। पद्म. पंच. में कहा है—'जबतक मुझमें खड़े होकर भोजन करने तथा दोनों हाथोंको जोड़कर रखनेकी दृढ़ता है तबतक मैं भोजन करूँगा, अन्यथा आहारको छोड़ दूँगा। यह मुनिकी प्रतिज्ञा होती है। क्योंकि मुनिका चित्त अपने शरीरमें भी निस्पृह होता है और

अथ स्थितिभोजनविधिमाह—

प्रक्षाल्य करौ मौनेनान्यत्रार्थाद् व्रजेद्यदैवाद्यात् ।
चतुरङ्गुलान्तरसमक्रमः सहाञ्जलिपुटस्तदैव भवेत् ॥९४॥

अर्थात्—कीटिकाविसर्पणादिनिमित्तमाश्रित्य ॥९४॥

अथैकभक्तैकस्थानयोर्भेदनिर्णयार्थमाह—

शुद्धे पादोत्सृष्टपातपरिवेषकभूत्रये ।
भोक्तुः परेऽप्येकभक्तं स्यात्त्वेकस्थानमेकतः ॥९५॥

शुद्धे—जीववधादिविरहिते । परेऽपि—यत्रादौ भोजनक्रिया प्रारब्धा ततोऽन्यत्रापि ॥९५॥

अथैकभक्तान्मूलगुणादेकस्थानस्योत्तरगुणत्वेनाप्यन्तरमाह—

अकृत्वा पादविक्षेपं भुञ्जानस्योत्तरो गुणः ।
एकस्थानं मुनेरेकभक्तं त्वनियतास्पदम् ॥९६॥

समाधिपूर्वक मरणमें वह आनन्दका अनुभव करता है। इस विधिके द्वारा मरण करके वह स्वर्ग जाता है और इसके विरुद्ध आचरणसे नरकमें जाना होता है' ॥९३॥

खड़े होकर भोजन करनेकी विशेष विधि कहते हैं—

हाथ धोकर यदि भोजनके स्थानपर चींटी आदि चलते-फिरते दिखाई दें, या इसी प्रकारका कोई अन्य निमित्त उपस्थित हो तो साधुको मौनपूर्वक दूसरे स्थानपर चले जाना चाहिए। तथा जिस समय भोजन करे उसी समय दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर तथा हाथोंकी अंजलि बनाकर खड़े होवे। अर्थात् ये दोनों विशेषण केवल भोजनके समयके लिए हैं। जितने समय तक साधु भोजन करे उतने समय तक ही उन्हें इस विधिसे खड़े रहना चाहिए ॥९४॥

आगे एकभक्त और एकस्थानमें भेद बतलाते हैं—

जहाँ मुनि अपने दोनों पैर रखकर खड़ा होता है, जिस भूमिमें आहार देनेवाला खड़ा होता है तथा उन दोनोंके मध्यकी जिस भूमिमें जूठन गिरती है ये तीनों भूमि-प्रदेश शुद्ध होने चाहिए, वहाँ किन्हीं जीव-जन्तुओंका विचरण नहीं होना चाहिए जिससे उनका घात हो। ऐसे स्थानपर हाथ धोकर खड़े होनेपर यदि साधु देखता है कि ये भूमियाँ शुद्ध नहीं हैं तो वहाँसे दूसरे शुद्ध स्थानपर जाकर उक्त विधिसे भोजन करता है। ऐसे भोजनको एकभक्त कहते हैं। किन्तु यदि उसे दूसरे स्थानपर जाना नहीं पड़ता और प्रथम स्थान ही शुद्ध मिलता है तो उस भोजनको एकस्थान कहते हैं ॥९५॥

विशेषार्थ—एकस्थान और एकभक्तमें पादसंचार करने न करनेसे भेद है। एक स्थानमें तीन मुहूर्त कालके भीतर पादसंचार न करके भोजन करना एकस्थान है और तीन मुहूर्त कालमें एक क्षेत्रके अवधारणसे रहित होकर भोजन एकभक्त है। यदि दोनोंको एक माना जायेगा तो मूलगुण और उत्तरगुणमें भेद नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, ऐसा होनेपर प्रायश्चित्त शास्त्रसे विरोध आता है। प्रायश्चित्त शास्त्रमें एकस्थानको उत्तरगुण और एकभक्तको मूलगुण कहा है ॥९५॥

आगे ग्रन्थकार स्वयं इसी बातको कहते हैं—

एक स्थानसे दूसरे स्थानपर न जाकर एक ही स्थानपर भोजन न करनेवाले मुनिका एकस्थान उत्तरगुण है। और जहाँ भोजनका स्थान अनियत होता है, निमित्तवश एक

स्पष्टम् ॥९६॥

अथ लुञ्चस्य लक्षणं फलं चोपदिशति—

नैसङ्गयाऽयाचनाऽहिंसादुःखाभ्यासाय नाग्न्यवत् ।
हस्तेनोत्पाटनं श्मश्रुमूर्धजानां यतेर्मतम् ॥९७॥

उक्तं च—

'काकिण्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते,
चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम् ।
हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थने-
वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ॥' [पद्म. पञ्च. १।४२] ॥९७॥

अथास्नानसमर्थनार्थमाह—

न ब्रह्मचारिणामर्थो विशेषादात्मदर्शिनाम् ।
जलशुद्धयाथवा यावद्दोषं सापि मतार्हतैः ॥९८॥

उक्तं च श्रीसोमदेवपण्डितैः —

'ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् ।
मुनीनामस्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥

स्थानसे दूसरे स्थानपर जाकर भी मुनि भोजन कर सकते हैं वह एकभक्त मुनिका मूलगुण है ॥९६॥

आगे केशलोंचका लक्षण और फल कहते हैं—

नग्नताकी तरह निःसंगता, अयाचना, अहिंसा और दुःख सहनके अभ्यासके लिए मुनिका अपने सिर और दाढ़ीके बालोंको अपने हाथसे उखाड़ना केशलोंच माना है ॥९७॥

विशेषार्थ—जिस तरह नग्नताके चार प्रयोजन हैं उसी तरह अपने हाथोंसे अपने सिर और दाढ़ीके बालोंको उखाड़नेके भी चार प्रयोजन हैं। पहला प्रयोजन है नैस्संग्य। साधु सर्वथा अपरिग्रही होता है उसके पास एक कौड़ी भी नहीं होती तब वह दूसरेसे क्षौर कर्म कैसे करावे। दूसरेसे करानेपर उसे देनेके लिए यदि किसीसे पैसा माँगता है तो दीनता व्यक्त होती है। यदि जटा बढ़ाता है तो उसमें जूँ पैदा होनेसे अहिंसाका पालन सम्भव नहीं है। और सबसे आवश्यक बात यह है कि इससे साधुको कष्ट सहनका अभ्यास होता है और सुखशील व्यक्ति इस मार्गसे दूर रहते हैं। कहा भी है—'मुनिजन अपने पास कौड़ी मात्रका भी संग्रह नहीं करते जिससे क्षौर कर्म कराया जा सके। उसके लिए वे अपने पास उस्तरा, कैंची आदि अस्त्र भी नहीं रखते; क्योंकि उनसे चित्तमें क्षोभ पैदा होता है। वे जटाओंको भी धारण नहीं कर सकते क्योंकि जटाओंमें जूँ पड़नेसे उनकी हिंसा अनिवार्य है। इसीलिए किसीसे न माँगनेका व्रत लेनेवाले साधु वैराग्य आदि बढ़ानेके लिए केशोंका लोंच करते हैं' ॥९७॥

आगे अस्नान नामक मूलगुणका समर्थन करते हैं—

जो ब्रह्मचर्य व्रतके पालक हैं उन्हें जलके द्वारा शुद्धि करनेसे क्या प्रयोजन, क्योंकि अशुद्धिका कारण ही नहीं है। फिर जो ब्रह्मचारी होनेके साथ विशेष रूपसे आत्मदर्शी हैं उन्हें तो जलशुद्धिसे कोई प्रयोजन ही नहीं है। अथवा दोषके अनुसार जैन लोग जलशुद्धि भी करते हैं ॥९८॥

संगे कापालिकात्रेयीचण्डालशबरादिभिः ।
आप्लुत्य दण्डवत् स्नायाज्जपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥
एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके ।
दिने शुद्धयन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियाः ॥' [सो. उपा. १२६–१२८ श्लो.]

अपि च—

'रागद्वेषमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः ।
न ते कालेन शुद्धयन्ति स्नातास्तीर्थशतैरपि ॥' ॥९८॥

अथोक्तक्रियाणां यथावदनुष्ठाने फलमाह—

नित्या नैमित्तिकीश्चेत्यवितथकृतिकर्माङ्गबाह्यश्रुतोक्ता,
भक्त्या युङ्क्ते क्रिया यो यतिरथ परमः श्रावकोऽन्योऽथ शक्त्या ।
स श्रेयःपवित्रमाप्रित्रिदशनरसुखः साधुयोगोज्झिताङ्गो
भव्यः प्रक्षीणकर्मा व्रजति कतिपयैर्जन्मभिर्जन्मपारम् ॥९९॥

अन्यः—(श्रावकः) मध्यमो जघन्यो वा । श्रेयःपवित्रमां—पुण्यपाकेन निर्वृत्तम् । अग्रं—प्रधानोऽर्थः । योगः—समाधिः । कतिपयैः—द्वित्रैः सप्ताष्टैर्वा । उक्तं च—

'आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाए जं सारं ।
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वट्ठणिवासिणो होंति ॥

विशेषार्थ—स्नान शारीरिक शुद्धिके लिए किया जाता है। गृहस्थाश्रममें शारीरिक अशुद्धिके कारण रहते हैं किन्तु गृहत्यागी, वनवासी, ब्रह्मचारी साधुकी आत्मा इतनी निर्मल होती है कि उनकी शारीरिक अशुद्धिका प्रसंग ही नहीं आता। रहा शरीरकी मलिनता। उस ओर ध्यान देना और उसको दूर करना विलासिताके चिह्न हैं। आत्मदर्शी साधुका लक्ष उस ओर जाता ही नहीं। फिर भी यदि कोई शारीरिक अशुद्धि कभी होती है तो जलसे शुद्धि करते भी हैं। कहा है—'ब्रह्मचर्यसे युक्त और आत्मिक आचारमें लीन मुनियोंके लिए स्नानकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, यदि कोई दोष लग जाता है तो उसका विधान है। यदि मुनि वाममार्गी कापालिकोंसे, रजस्वला स्त्रीसे, चाण्डाल और म्लेच्छ वगैरहसे छू जाये तो उन्हें स्नान करके, उपवासपूर्वक कायोत्सर्गके द्वारा मन्त्रका जप करना चाहिए। व्रती स्त्रियाँ ऋतुकालमें एकाशन अथवा तीन दिनका उपवास करके चौथे दिन स्नान करके निःसन्देह शुद्ध हो जाती हैं। किन्तु जो राग-द्वेषके मदसे उन्मत्त है और स्त्रियोंके वशमें रहते हैं वे सैकड़ों तीर्थोंमें स्नान करनेपर भी कभी शुद्ध नहीं होते' ॥९८॥

आगे उक्त क्रियाओंके शास्त्रानुसार पालन करनेका फल कहते हैं—

जो मुनि अथवा उत्कृष्ट या मध्यम या जघन्य श्रावक सच्चे कृतिकर्म नामक अंगबाह्य श्रुतमें कही हुई इन नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंको अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक करता है वह भव्य जीव पुण्य कर्मके विपाकसे इन्द्र और चक्रवर्तीके सुखोंको भोगकर और सम्यक् समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर दो-तीन या सात-आठ भवोंमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंको सर्वथा नष्ट करके संसारके पार अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करता है ॥९९॥

विशेषार्थ—मुमुक्षुको चाहे वह मुनि हो या उत्कृष्ट, मध्यम अथवा जघन्य श्रावक हो, उसे आत्मिक धर्म साधनाके साथ नित्य-नैमित्तिक क्रियाओंको भी करना चाहिए। ये

जेसिं होज्ज जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं ।
सत्तट्ठभवे गंतुं ते वि य पावंति णिव्वाणं ॥'

[आराधनासार गा. १०८–१०९] ॥९९॥

अथोक्तलक्षणस्य यतिधर्मस्य जिनागमोद्धृतत्वेनाविसंवादित्वाच्छ्रद्धानगोचरीकृतस्य शश्वदनुष्ठानेऽभ्युदयनिश्श्रेयसफलसंपादकत्वमाह—

इदं सुरुचयो जिनप्रवचनाम्बुधेरुद्धृतं
सदा य उपयुञ्जते श्रमणधर्मसारामृतम् ।
शिवास्पदमुपासितक्रमयमाः शिवाशाधरैः
समाधिविधुतांहसः कतिपयैर्भवैर्यान्ति ते ॥१००॥

उपासितक्रमयमाः—आराधितचरणयुगलाः । अथवा उपासितः—सेवितः क्रम आनुपूर्वी यमश्च संयमो येषा । शिवाशाधरैः—मुमुक्षुभिः ।

इति भद्रम् ॥१००॥

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञाया
नवमोऽध्यायः ।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं पञ्चचत्वारिंशदधिकानि चत्वारि शतानि ।

अंकतः ४४५ ।

नवाध्यायामेतां श्रमणवृषसर्वस्वविषया
निबन्धप्रव्यक्तामनवरतमालोचयति यः ।
स सद्वृत्तोदर्चि क खित क लिक श्रो क्षयसुखं
अयत्यक्षार्थाशाधरपरमदूरं शिवपदम् ॥

इत्याशाधरदृब्धायां स्वोपज्ञधर्मामृतपञ्जिकाया प्रथमो यतिस्कन्धः
समाप्त. ।

क्रियाएँ कृतिकर्म नामक अंग-बाह्य श्रुतमें वर्णित है वहींसे उनका वर्णन इस शास्त्रमें भी किया गया है। नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ मुनि सर्वदेशसे नियमित रूपसे करते हैं और श्रावक अपने पदके अनुसार करता है। मुनियोंके इस शास्त्रमें जो क्रियाएँ कही गयी हैं वे सब केवल मुनियोंके लिए ही कही गयीं ऐसा मानकर श्रावकोंको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि श्रावक दशामें अभ्यास करनेसे ही तो मुनिपद धारण करनेपर उनका पालन किया जा सकता है ॥९९॥

आगे कहते हैं कि इस ग्रन्थमें जो मुनिधर्मका वर्णन किया है वह जिनागमसे लेकर ही किया है इसलिए उसमें कोई विवाद आदि नहीं है वह प्रमाण है। इसलिए उसपर पूर्ण श्रद्धा रखकर सदा पालन करनेसे अभ्युदय और मोक्षकी प्राप्ति होती है—

जिनागमरूपी समुद्रसे निकाले गये इस मुनिधर्मके साररूप अमृतका जो निर्मल सम्यग्दृष्टि सदा सेवन करते हैं, मोक्षकी आशा रखनेवाले श्रमण और इन्द्रादि उनके चरण युगलोंकी आराधना करते हैं। अथवा क्रमपूर्वक संयमकी आराधना करनेवाले वे निर्मल

सं पंडितं ग्रन्थप्रमाणमष्टचत्वारिंशच्छतानि । अंकतः ४८०० ।

सम्यग्दृष्टि धर्म और शुक्लध्यानके द्वारा शुभाशुभ कर्मोंको नष्ट करके दो-तीन या सात-आठ भवोंमें मोक्ष स्थानको गमन करते हैं ॥१००॥

इस प्रकार आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत अनगारधर्मकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका
तथा ज्ञानदीपिका पंजिकाकी अनुसारिणी हिन्दी टीकामें नित्यनैमित्तिक
क्रिया विधान नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्लोकानुक्रमणिका

□

अनगारधर्मामृत-पञ्जिका तथा टिप्पणमें उद्धृत-वाक्योंका अनुक्रमणिका

[वाक्योंके आगे दिये गये अंक पृष्ठांक हैं तथा ग्रन्थ-निर्देशमें दिये गये अंक गाथाङ्क या श्लोकाङ्क हैं]

इ

ई

उ

श

ष

स

□

पारिभाषिक शब्द-सूची

